उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त
(Advanced Economic Theory)

व्यष्टिपरक एवं समष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण
(Micro and Macro-Economic Analyses)

—

एम० ए० के विद्यार्थियों के लिए

लेखक
एच० एल० आहूजा
एम० ए०, पी० एच० डी० (दिल्ली)
अर्थशास्त्र विभाग
ज़ाकिर हुसैन कॉलेज
दिल्ली यूनिवर्सिटी
दिल्ली।

तृतीय संस्करण
(संशोधित एवं परिवर्द्धित)

1995
एस० चन्द एण्ड कम्पनी लि०
रामनगर, नई दिल्ली-110055

एस. चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड

मुख्य कार्यालय : रामनगर, नई दिल्ली-110 055

शाखाएँ

नं 6 आहूजा चेम्बर्स, फर्स्ट क्रॉस, कुमार कुप्पा रोड, बंगलौर - 560 001 Ph 2268048
क्नैरी हाऊस, 103/5, वालचन्द हीराचन्द मार्ग, बम्बई - 400 001 Ph 2610881, 2610885
285/जे, विपिन बिहारी गांगुली स्ट्रीट, कलकत्ता - 700 012 Ph 267459, 273914
हाऊस नं 670 सैक्टर 8 बी , चण्डीगढ़ - 160 008 Ph 692680
पान बाजार, गुवाहाटी - 781 001 Ph 522155
सुल्तान बाजार, हैदराबाद 500 195 Ph 551135
613-7, महात्मा गांधी रोड, एर्नाकुलम, कोची - 682 035, Ph 366740
महावीर मार्केट, 25 ग्वाइन रोड, अमीनाबाद, लखनऊ - 226 001 Ph 226801
152, आन्ना सलाए, मद्रास 600 002 Ph 8522026
3, गांधी सागर ईस्ट, नागपुर - 440 002 Ph 723901
104, सिटिसेंटर अशोक, गोविन्द मित्रा रोड, पटना - 800 004 Ph 651366

By the same Author

1 Advanced Economic Theory
2. Principles of Micro-Economics
3 A Textbook of Economic Organisation
4 आर्थिक प्रणालियां एवं व्यष्टिअर्थशास्त्र
5 आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त (सहलेखक डा के के डयूवेट)
6 समष्टि अर्थशास्त्र विश्लेषण एवं नीति

प्रथम संस्करण 1974
बाद के संस्करण तथा पुन मुद्रित 1978, 81, 84, 85, 87, 89, 90 92, 93, 94
पुन मुद्रित 1995

I S B N 81-219-0616-4

एस चन्द एण्ड कम्पनी लि , रामनगर, नई दिल्ली 110 055 द्वारा प्रकाशित
तथा राजेन्द्र रवीन्द्र प्रिन्टर्स (प्रा) लि , रामनगर, नई दिल्ली 110 055 द्वारा मुद्रित ।

श्रद्धा एवं स्नेह सहित
आदरणीया जननी
निहाल बाई
की पुण्य स्मृति मे
समर्पित

तृतीय संस्करण की प्रस्तावना

इस पुस्तक के गत संस्करण मे हमने अनेक महत्त्वपूर्ण संशोधन किए थे जिनमे उल्लेखनीय हैं, रेखीय प्रायोजना (Linear Programming), आगत-निर्गत विश्लेषण (Input Output Analysis), तथा कल्याणकारी अर्थशास्त्र (Welfare Economics) के विषयो के अध्ययन को जोडना। इसके अतिरिक्त पिछले संस्करण ही मे व्यष्टि आर्थिक सिद्धान्त मे पूर्ण लागत कीमत सिद्धान्त (Full-Cost Pricing Theory), बॉमोल का विक्रय अधिकतम सिद्धान्त (Baumol's Sales Maximization Model), द्वि पक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण (Pricing under Bilateral Monopoly) की विवेचना सम्मिलित की गयी थी।

प्रस्तुत तृतीय संस्करण मे हमने व्यष्टि अर्थशास्त्र के विषय मे और आर्थिक सुधार किए हैं। रेखीय प्रायोजना के अध्याय को अधिक ज्ञानवर्धक एव सरल बनाया गया है। रेखीय प्रायोजना के अध्याय 16 मे हमने अनुकूलतम प्रक्रिया के चयन का अधिक विस्तार से अध्ययन किया है, जिसमे रेखीय प्रायोजना की दृष्टि से अनेक अनुकूलतम हल, अनुकूलतम प्रक्रिया के चयन के परिणामस्वरूप, साधन के अप्रयुक्त रहने, पूँजी प्रधान तकनीक क श्रम-प्रधान तकनीक की तुलना मे अधिक कुशल होने की स्थिति मे प्रक्रिया के चयन को स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त रेखीय प्रायोजना द्वारा अनुकूलतम आहार (Linear Programming Solution to the Diet Problem) की समस्या की सुबोध व्याख्या की गयी है।

कल्याणकारी अर्थशास्त्र (Welfare Economics) के भाग मे भी महत्त्वपूर्ण सुधार किए गए हैं। प्रथम, परेटो अनुकूलतम की द्वितीय क्रम की (Second Order Conditions) तथा समस्त दशाओ (Total Conditions) को स्पष्ट किया गया है। इसके अलावा परेटो मानदण्ड तथा परेटो अनुकूलतम (Pareto Criterion and Pareto Optimality) की अवधारणा की आलोचनात्मक समीक्षा की गई है। नव कल्याण-कारी अर्थशास्त्र के कैल्डर-हिक्स-सिकटावस्की के कल्याणकारी मानदण्डो (Kaldor Hicks Scitovsky Welfare Criteria) की भी विस्तार से विवेचना की गयी है। इस भाग मे एक नया अध्याय जोडा गया है जिसमे पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तगत परेटो अनुकूलतम अथवा अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति कहाँ तक होती है, की परीक्षा की गयी है।

हमे आशा है, कि इस संस्करण मे उपर्युक्त संशोधनो से यह पुस्तक एम० ए०, एम० कॉम० की कक्षाओ के विद्यार्थियो तथा प्रतियोगी परीक्षाओं मे बैठने वाले विद्यार्थियो के लिए पहले से अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

हरबंस लाल आहूजा

दीपावली 4 नवम्बर 1983

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

हाल के वर्षों मे उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त मे अनेक मौलिक परिवर्तन हुए हैं परन्तु सामान्य प्रवृत्ति इसको अत्यधिक गणितीय बनाने की रही है। भारतीय विश्वविद्यालयों के एम० ए० स्तर के अर्थशास्त्र के विद्यार्थियो विशेषकर हिन्दी माध्यम से परीक्षा देने वालो को गणित सम्बन्धी इतनी जानकारी न होने के कारण पश्चिमी लेखकों द्वारा अंग्रेजी मे रचित उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त विषयक पुस्तकों और लेखों को समझना बड़ा कठिन है। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रभाषा हिन्दी में तो स्नातकोत्तर की आर्थिक सिद्धान्त विषयक पुस्तको का बिल्कुल अभाव है। अतएव राष्ट्रभाषा हिन्दी म आर्थिक साहित्य मे इस अभाव की पूर्ति के लिए प्रस्तुत पुस्तक की रचा गया है और इसमे आर्थिक सिद्धान्तो की नवीनतम तथा आधुनिक प्रवृत्तियो तथा दृष्टिकोणो की विश्लेषणात्मक व्याख्या की गई है, परन्तु उच्चतर गणित की बजाय इसमे सरल बीजगणित तथा ज्यामिति की सहायता से आर्थिक सिद्धान्त के कठिन विषय को समझाने का प्रयास किया गया है।

यह पुस्तक मेरी अंग्रेजी मे पुस्तक '*Advanced Economic Theory*' का शाब्दिक अनुवाद मात्र नहीं है, अपितु इसे मूल रूप से हिन्दी में लिखा गया है। इसके अतिरिक्त, मेरी अंग्रेजी पुस्तक मे केवल व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त का विश्लेषण किया गया है। परन्तु चूँकि हिन्दी-भाषी राज्यो की यूनिवर्सिटियो मे एम० ए० के उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त के विषय मे व्यष्टिपरक तथा समष्टिपरक (Micro and Macro) दोनो प्रकार के सिद्धान्तो का अध्ययन शामिल किया गया है, इसलिए प्रस्तुत पुस्तक मे इन दोनो प्रकार के सिद्धान्तों की विवेचना की गई है। अत इसमे न केवल माँग, उत्पादन व लागत, कीमत निर्धारण व वितरण के सिद्धान्तों का बल्कि केन्ज (Keynes) द्वारा प्रतिपादित आय तथा रोजगार के सिद्धान्त का भी सविस्तार विश्लेषण किया गया है।

मुझे आशा है कि प्रस्तुत पुस्तक उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त पर हिन्दी भाषा मे विश्वसनीय और प्रामाणिक पुस्तकों के अभाव की पूर्ति करने के अपने उद्देश्य मे सफल होगी और इस प्रकार एम० ए० स्तर के विद्यार्थियो तथा प्राध्यापकगण के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। इस पुस्तक के सुधार के लिए प्राध्यापक बन्धुओं की सम्मति और सुझावो का मैं स्वागत करूंगा।

1 जनवरी, 1974 — एच० एल० आहूजा

विषय-सूची

भाग 1

आर्थिक सिद्धांत का स्वरूप तथा पद्धति
(Nature and Technique of Economic Analysis)

भाग 2

माँग का सिद्धांत
(Theory of Demand)

भाग 5

अपूर्ण प्रतियोगिता मे पदार्थों की कीमतों का निर्धारण
(Product Pricing under Imperfect Competition)

भाग 6

वितरण का सिद्धांत
(Theory of Distribution)
अथवा
साधनो का कीमत-निर्धारण
(Factor Pricing)

भाग 1

आर्थिक सिद्धान्त का स्वरूप एवं पद्धति

(NATURE AND TECHNIQUE OF ECONOMIC THEORY)

1

आर्थिक सिद्धान्त की विषय-वस्तु
(NATURE OF ECONOMIC THEORY)

अर्थशास्त्र अथवा आर्थिक सिद्धान्त की विषय वस्तु के विषय में अर्थशास्त्रियो में बहुत मतभेद रहा है। समय समय पर अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र की अनेक परिभाषाएँ की है। ऐडम स्मिथ (Adam Smith), जो कि अर्थशास्त्र के जन्मदाता कहे जाते हैं ने अर्थशास्त्र को 'राष्ट्रो के धन के स्वरूप तथा उसके कारणो की खोज' (*An Enquiry into Nature and Causes of Wealth of Nations*) कहा है अर्थात् एडम स्मिथ के अनुसार अर्थशास्त्र एक धन का विज्ञान है। अत एडम स्मिथ के अनुसार अर्थशास्त्री अपने सिद्धान्तो में इस बात का परीक्षण करते है कि मनुष्य धन का उत्पादन तथा उपभोग किस प्रकार करते है अर्थात् आर्थिक सिद्धान्त धन विषयक नियमो का प्रतिपादन करता है। एक और प्रसिद्ध प्रतिष्ठित (Classical) अर्थशास्त्री डेविड रिकार्डो (*David Ricardo*) ने धन के उत्पादन तथा उपभोग की अपेक्षा धन के वितरण (distribution of wealth) पर अधिक बल दिया। उसके विचारानुसार अर्थशास्त्र की मुख्य समस्या उत्पादित धन अथवा राष्ट्रीय आय के भू-स्वामियो, श्रमिको तथा पूंजीपतियो मे वितरण सम्बन्धी नियमो को निर्धारित करना है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो द्वारा धन के अध्ययन पर अधिक बल देने से अर्थशास्त्र के विषय में कई भ्रामक विचार उत्पन्न हो गए। इससे यह समझा जाने लगा कि आर्थिक सिद्धान्त मनुष्य को धन अथवा मुद्रा से मोह करने वाला व्यक्ति बतलाता है जिसका प्रमुख उद्देश्य धन-सम्पदा तथा आर्थिक शक्ति को बढाना है। इसलिए कारलाईल (Carlyle) और रस्किन (Ruskin) जैसे प्रसिद्ध अग्रेज लेखको ने अर्थशास्त्र को कुबेर पथ (*Mammon Worship*) तथा घृण्य विज्ञान (*Dismal Science*) कह कर इसका अनादर किया। परन्तु अर्थशास्त्र पर ऐसे आरोप लगाना अनुचित है। अर्थशास्त्र मनुष्य को धन से मोह अथवा उसकी पूजा करना नही सिखाता और न ही उसे यह स्वार्थी और कृपण बनाता है। वास्तव में अर्थशास्त्र में धन से अभिप्राय उन वस्तुओ से होता है जो मनुष्य के जीवन-निर्वाह का साधन हैं अर्थात् मनुष्य द्वारा धन-अर्जन और उसका इच्छुक होने का तात्पर्य है उसका अपनी जीवन-निर्वाह की आधारभूत समस्या का समाधान करना और इसलिए यदि अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि मनुष्य अपनी जीविका की समस्या किस प्रकार हल करता है तो इसमें कोई निकृष्ट अथवा नीच बात नही है।

परन्तु अर्थशास्त्र धन का अध्ययन है, इससे हम पूरी तरह सहमत नही है। उपर्युक्त परिभाषाओ में धन को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है जो कि ठीक नही

है। अर्थशास्त्र को केवल धन का विज्ञान कह कर मनुष्य की उपेक्षा की गई। यही कारण है कि एक सुप्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्री अल्फ्रेड मार्शल (Alfred Marshall) ने अर्थशास्त्र में मनुष्य और उसके आर्थिक कल्याण पर बल दिया। वास्तव में धन केवल एक साधन मात्र है और मनुष्य का कल्याण साध्य (end) है। धन साधन इसलिए है कि उसके उपभोग व उपयोग से मनुष्य के आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है अर्थात् धन के उपभोग से मनुष्य की सन्तुष्टि होती है। अतः धन की तुलना में साध्य अर्थात् मनुष्य का कल्याण अधिक महत्त्वपूर्ण है। मार्शल ने ठीक ही कहा है कि "अर्थशास्त्र एक ओर धन का अध्ययन है और दूसरी ओर जो कि अधिक महत्त्वपूर्ण है यह मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।"[1] अतएव अब अर्थशास्त्र में धन की तुलना में मनुष्य को अधिक महत्त्व दिया जाता है। मनुष्य का स्थान प्रधान है और धन का गौण। धन मनुष्य के लिए है न कि मनुष्य धन के लिए।

मार्शल ने अर्थशास्त्र के अध्ययन में मनुष्य के भौतिक कल्याण पर बल दिया और अर्थशास्त्र की इस प्रकार से परिभाषा की "अर्थशास्त्र जीवन की साधारण दिनचर्या में मानव के कार्यों का अध्ययन है। यह व्यक्ति तथा समाज के कार्यों के उस भाग की परीक्षा करता है जो सुख व कल्याण के लिए आवश्यक भौतिक साधनों की प्राप्ति और उनके उपयोग से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।" (Economics is a study of mankind in the ordinary business of life it examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of material requisites of well-being)"[2]।

मार्शल की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र मनुष्य के उन कार्यों का अध्ययन करता है जो वह जीवन की साधारण दिनचर्या (ordinary business of life) में करता है। जैसा कि हम जानते है कि मनुष्य अपनी साधारण दिनचर्या में आय अर्जन करने तथा उसका उपभोग करने में लगा रहता है अतएव मार्शल की अर्थशास्त्र की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि मनुष्य किस प्रकार आय कमाता है तथा उसका उपयोग किस प्रकार करता है। इसके अतिरिक्त मार्शल की परिभाषा में वर्णित "सुखी जीवन के लिए आवश्यक भौतिक साधन" (material requisites of well being) से स्पष्ट होता है कि उसने अर्थशास्त्र के अध्ययन में मनुष्य के भौतिक कल्याण पर बल दिया है। अतएव मार्शल के अनुसार अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मानव कल्याण के केवल भौतिक भाग से है अभौतिक कल्याण से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य का भौतिक कल्याण से अभिप्राय उस सन्तुष्टि से है जो उसको भौतिक वस्तुओं के उपभोग से प्राप्त होती है। मार्शल के अतिरिक्त कई अन्य प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों जैसे कि पीगू (Pigou), कैनन (Cannon), बैवरिज (Beveridge) आदि ने भी अर्थशास्त्र को मनुष्य के भौतिक कल्याण का अध्ययन कहा है। परन्तु एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री लार्ड रॉबिन्स (Robbins) ने भौतिक कल्याण सम्बन्धी अर्थशास्त्र की कटु आलोचना की और एक नवीन और वैज्ञानिक परिभाषा दी जिसे अधिक समय तक उपयुक्त और श्रेष्ठ माना जाता रहा है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री रॉबिन्स की परिभाषा को भी अर्थशास्त्र की सही और उपयुक्त परिभाषा नहीं मानते। इसलिए हम पहले रॉबिन्स द्वारा प्रस्तुत की गई परिभाषा की आलोचनात्मक विवेचना करेंगे। उसके पश्चात् हम अर्थशास्त्र की कुछ आधुनिक परिभाषाओं का अध्ययन करेंगे।

क्या रॉबिन्स की परिभाषा आर्थिक सिद्धान्त के विषय को ठीक रूप से प्रकट करती है? (Does Robbins' Definition correctly indicate the subject matter of Economics?)

ब्रिटेन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री लार्ड रॉबिन्स (Lord Robbins) ने अर्थशास्त्र की परिभाषा अपनी पुस्तक '*Nature and Significance of Economic Science*' में दी जो कि बहुत समय तक सही और ठीक

---

1 'Economics is on the one side a study of wealth and on the other and more important side a part of the study of man'

—Marshall, *Principles of Economics*, 8th edition, p 1

2 *Ibid*, p 1

मानी जाती रही है। परन्तु आजकल यह समझा जाता है कि रॉबिन्स की परिभाषा भी आर्थिक सिद्धान्त की विषय-वस्तु को ठीक तथा पर्याप्त रूप से व्यक्त नहीं करती। रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र के स्वरूप के प्रचलित दृष्टिकोण को चुनौती दी। हमने ऊपर उनके कुछ विरोधों का उल्लेख किया है। वह अपने से पूर्व की स्वीकृत और विख्यात अर्थशास्त्र की परिभाषाओं को वर्गीकृत (classificatory) तथा अवैज्ञानिक (unscientific) कहते हैं। उनके मतानुसार "भौतिक" शब्द ने अर्थशास्त्र को अनावश्यक रूप में सीमित कर दिया है और अर्थशास्त्र को कल्याण की धारणा में व्यापकता और सूक्ष्मता नहीं है। रॉबिन्स का दृढ़ विश्वास है कि उसकी परिभाषा में इनमें से कोई भी त्रुटि नहीं पायी जाती। रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार की है

'अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो अनेक उद्देश्यों और वैकल्पिक उपयोगों वाले दुर्लभ साधनों के सम्बन्ध मे मानव व्यवहार का अध्ययन करता है।" (Economics is a science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses '.)।

उपर्युक्त परिभाषा में "उद्देश्यों' (ends) से अभिप्राय मानवीय आवश्यकताओ अथवा इच्छाओ से है जो कि असीमित हैं। परन्तु आवश्यकताओं की तुष्टि करने वाले साधन दुर्लभ है। साधनो से अभिप्राय रुपए, समय, वस्तुओ तथा उत्पादन के साधनो से है। जब मनुष्य के साधन सीमित होते हैं और उनसे उसकी सभी आवश्यकताएं पूर्ण नहीं हो सकती, तो उसके लिए यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि वह किन आवश्यकताओं की पूर्ति करे और किनको अपूर्ण रहने दे। अतएव मनुष्य को आवश्यकताओं में चुनाव (choice) करना पड़ता है। रॉबिन्स के अनुसार मनुष्य की यही मूल आर्थिक समस्या है और इसी का अर्थशास्त्र में अध्ययन किया जाता है।

रॉबिन्स द्वारा की गई उक्त परिभाषा अधिक प्रचलित रही है और यह अर्थशास्त्र का सार और इसके सारे सिद्धान्तों की आधार-भूमि मानी जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि इसकी सविस्तार व्याख्या की जाए। इसे ध्यानपूर्वक पढ़ने से पता चलेगा कि यह तीन निम्नलिखित तथ्यो पर आधारित है—

(क) असीमित आवश्यकताएँ (Unlimited Wants)—पहला महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मानव की आवश्यकताएँ अनगिनत अथवा असीमित हैं, मनुष्य किसी भी तरह इन सबको पूरा नहीं कर सकता। यदि कोई एक आवश्यकता सन्तुष्ट होती है तो तुरन्त कोई दूसरी आवश्यकता उठ खड़ी होती है। इस परिभाषा में जो शब्द उद्देश्य (ends) आता है, उसका अर्थ मानवीय इच्छाएँ तथा आवश्यकताएँ है। यदि कहीं हमारी इच्छाएँ सीमित होतीं, तो फिर कोई आर्थिक समस्या नहीं होती। तब पशुओं की भाँति हम भी अपनी प्राथमिक आवश्यकताओं (primary wants) की पूर्ति करके बिल्कुल सन्तुष्ट हो जाते और हमें जीविका सम्बन्धी कोई अधिक प्रयास या श्रम न करना पड़ता।

(ख) दुर्लभ साधन (Scarce Means)—दूसरा तथ्य यह है कि हमारे पास अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो साधन हैं, वे दुर्लभ अथवा सीमित हैं। यदि कहीं साधन भी हमारी इच्छाओं की भाँति असंख्य होते, तब तो कोई आर्थिक समस्या उत्पन्न न होती। साधनों के असीमित होने की स्थिति में तो जब और जहाँ कहीं हम जो चाहते, किसी भी मात्रा में पा लेते, क्योंकि ऐसी दशा में समस्त वस्तुएँ निर्मूल्य अथवा नैसर्गिक पदार्थ (free goods) होतीं। किन्तु वास्तव में अधिकतर वस्तुएँ जिनकी हमें इच्छा होती है, दुर्लभ हैं और उन्हें पाने के लिए हमें कीमत चुकानी पड़ती है अथवा परिश्रम करना पड़ता है।

जब हम कहते हैं कि साधन दुर्लभ हैं, तो हमारा अभिप्राय केवल उनकी गिनती या मात्रा से नहीं। गेहूँ, कोयला आदि पदार्थ बहुत बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं, परन्तु उनके लिए हमारी माँग उनकी मात्रा से कहीं अधिक है। यही कारण है कि ऐसे पदार्थों को दुर्लभ अथवा सीमित माना जाता है।

उपर्युक्त दो तथ्यों से आर्थिक समस्या उत्पन्न होती है। जब आवश्यकताओं की तुलना में साधन दुर्लभ है तो मनुष्य को यह चुनाव करना पड़ता है कि किन आवश्यकताओं की तुष्टि की जाए और किन को असन्तुष्ट छोड़ दिया जाए।

(ग) साधनों के वैकल्पिक उपयोग (Alternative Uses of the Means)—तीसरा तथ्य यह है कि हमारे सभी साधन केवल अल्प अथवा दुर्लभ ही नहीं वरन् प्रत्येक साधन के कई एक वैकल्पिक (alternative) उपयोग (uses) भी हैं, अर्थात् उनमें से प्रत्येक को हम कई भिन्न-भिन्न कार्यों में प्रयोग कर सकते हैं, जैसे कि कोयला खाना पकाने, कारखाने तथा रेलगाडियाँ चलाने और कई अन्य कार्यों में उपयोग होता है। यदि किसी वस्तु का केवल एक ही उपयोग है तो तब कोई चुनाव की समस्या उत्पन्न नहीं होगी क्योंकि चुनाव तब करना होता है जब वस्तु के कई वैकल्पिक उपयोग हो। जब वस्तु का उपयोग ही एक हो तो वह उसी उपयोग के लिए प्रयोग होगी। जब साधनो का कई वैकल्पिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपयोग हो सके तो चुनाव करना पडता है कि दुर्लभ साधनों को किन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयोग में लाया जाये।

जब तक ये तीनों परिस्थितियाँ न हो तब तक कोई *आर्थिक समस्या उत्पन्न नहीं होगी।* केवल आवश्यकताओं का असीमित होना अथवा साधनों की दुर्लभता अथवा केवल दुर्लभ साधनों की वैकल्पिक प्रयोजनीयता अकेले ही आर्थिक समस्या उत्पन्न नहीं कर सकती। परन्तु जब साध्य की प्राप्ति के लिए समय और साधन सीमित तथा वैकल्पिक *प्रयोगों के योग्य* होते हैं और साध्य महत्त्व की दृष्टि से विभेद-योग्य होते हैं तब व्यवहार अवश्य ही चुनाव (choice) का रूप धारण कर लेता है। यह आर्थिक समस्या (economic problem) है और इसका अध्ययन करना ही अर्थशास्त्र का विषय है।

रॉबिन्स के मतानुसार, आर्थिक क्रिया अनेक साध्यों को पूरा करने के लिए मनुष्य के दुर्लभ साधनों का उपयोग है। साधनों का अभिप्राय समय, द्रव्य अथवा किसी अन्य प्रकार की सम्पत्ति से है। ये सब सीमित हैं।

रॉबिन्स की तरह कई अन्य अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र की परिभाषा दुर्लभ साधनों से आवश्यकताओं की अधिकतम सम्भव तुष्टि की प्राप्ति के रूप में की है। '**अर्थशास्त्र उन नियमों का अध्ययन है जिनके अनुसार एक समाज के साधन इस प्रकार व्यवस्थित तथा सगठित किए जाएँ जिनसे सामाजिक लक्ष्य बिना अपव्यय के प्राप्त हो सकें।**'[1] (विक्स्टीड)।

इसी प्रकार स्टिगलर (Stigler) के शब्दों में, "*अर्थशास्त्र उन सिद्धान्तों का अध्ययन है जो प्रतिस्पर्धी* **लक्ष्यों में दुर्लभ साधनों के बँटवारे को निर्धारित करते हैं जब कि बँटवारे का उद्देश्य लक्ष्यों (आवश्यकताओं) को अधिकतम सम्भव प्राप्ति करना है।**"[2]

इस प्रकार रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र के भौतिक कल्याण पर आधारित ढाँचे को तोड कर इसे एक नया स्वरूप दिया है जिसके तीन आधार हैं आवश्यकताओं का असीमित होना, साधनों का दुर्लभ होना तथा दुर्लभ साधनों का कई वैकल्पिक उपयोगों में काम आ सकना। इन तीन तथ्यों को जोडकर हम कह सकते हैं कि रॉबिन्स की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें हम देखते हैं कि मनुष्य अल्प साधनों का किस प्रकार प्रयोग करके अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। अर्थशास्त्र हमें बताता है कि हम अल्प साधनों से *किस प्रकार अधिकतम लाभ उठा सकते हैं।*

रॉबिन्स का दृढ़ विश्वास है कि उनकी परिभाषा अन्य परिभाषाओं से *श्रेष्ठ* है। उनके विचार में यह अधिक वैज्ञानिक है। यह इसके क्षेत्र को बढाती है जब कि भौतिक परिभाषा अर्थशास्त्र को सकुचित करती है। यह कुछ ऐसे नियम सामने रखती है जो हर समय प्रत्येक स्थान पर सही हैं। जैसा कि विक्स्टीड (Wicksteed) *का कथन है,* "*अर्थशास्त्र के नियम जीवन के* नियमों की भाँति हैं और उन क्षेत्रों में भी सत्य उतरते हैं जिनका कार्य-व्यवसाय तथा धन-उत्पादन से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।"

---

1 Economics is "Study *of those principles on which the resources of a community should be so regulated and administered as to secure communal ends without waste* "
—Wicksteed

2 Economics is the study of the "principles governing the allocation of scarce *means among competing ends when the objective of allocation is to maximise the attainment of the ends* "
—G J Stigler, *Theory of Price* (1947), p 12

जब अर्थशास्त्र की इस प्रकार परिभाषा की जाती है तब इस पर नीचता, धन से मोह अथवा कुबेर की पूजा का कोई आरोप नही लगाया जा सकता। इसको अब एक निकृष्ट (*dismal*) विज्ञान भी नही कहा जा सकता। इस पर साध्यो के चुनाव का कोई उत्तर-दायित्व नही है। साध्य अच्छे हो या बुरे, इसका अर्थ-शास्त्र से कोई सम्बन्ध नही है। जहाँ कही साध्य अनेक हैं तथा साधन न्यून हैं वहाँ अर्थशास्त्र का सीधा सम्बन्ध है।

रॉबिन्स की परिभाषा का आलोचनात्मक मूल्यांकन (A Critical Evaluation of Robbins' Definition of Economics)

परन्तु रॉबिन्स की परिभाषा के भी समालोचक हैं। मार्शल की विचारधारा का अभी अन्त नही हुआ है। डरबिन (*Durbin*), फ्रेजर (*Fraser*), वूटन (Wootton) बैवरिज (Beveridge) जैसे अर्थशास्त्रियो ने मार्शल के अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो का बडा समर्थन किया है। वूटन (Wootton) का कथन है कि "अर्थशास्त्रियो के लिए यह बहुत ही कठिन है कि वे अर्थशास्त्र के विवेचन से उद्देश्यो व आदर्शों को पूर्ण रूप से हटा दें।" फ्रेजर के अनुसार, "अर्थशास्त्र मूल्य-सिद्धान्त (Value Theory) अथवा सन्तुलन विश्लेषण (Equilibrium Analysis) से कही अधिक है।" यद्यपि रॉबिन्स की अर्थशास्त्र की धारणा अधिक वैज्ञानिक है पर इसने अर्थ-शास्त्र को अव्यक्तिगत (*impersonal*) और नीरस (*colourless*) तथा उद्देश्यो के प्रति तटस्थ बना दिया है। रॉबिन्स के विचार मे सन्तुलन केवल सन्तुलन ही है (Equilibrium is just an equilibrium)। यह भी कहा जाता है कि रॉबिन्स ने अर्थशास्त्र को केवल मूल्य निर्धारण का सिद्धात ही बना दिया और अर्थ-शास्त्र के अध्ययन के अन्य भागो की उपेक्षा की है। रॉबिन्स की परिभाषा पर निम्न आलोचनाएँ की गई हैं।

प्रथम, यह कहा जाता है कि राबिन्स ने अर्थशास्त्र का जन-कल्याण से सम्बन्ध जोडने का बडा विरोध किया है परन्तु उसकी अपनी परिभाषा में जन-कल्याण का विचार निहित है। यदि राबिन्स की अर्थशास्त्र की परिभाषा का विश्लेषण किया जाय तो यह कहना होगा कि इसके अनुसार व्यक्ति तथा समाज अपनी अनेक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अपने दुर्लभ साधनो का उपयोग किस प्रकार करता है जिससे उसे अधिकतम सन्तुष्टि (maximum satisfaction) प्राप्त हो सके। अधिकतम सन्तुष्टि का अर्थ अधिकतम कल्याण ही है। दुर्लभ साधनो का अनेक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए आवण्टन (*allocation*) इस प्रकार किया जाना है जिससे आवश्यकताओ की अधिकतम सम्भव तुष्टि हो सके। व्यक्ति अथवा समाज की तुष्टि और कल्याण का विचार किए बिना दुर्लभ साधनो के उप-युक्त उपयोग की चर्चा नही हो सकती।

दूसरे, राबिन्स की इस बात पर भी कटु आलो-चना की जाती है कि अर्थशास्त्र उद्देश्यो अथवा साध्यो (ends) के प्रति तटस्थ है। बहुत से अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि यदि अर्थशास्त्र को सामाजिक कल्याण तथा प्रगति का साधन बनाना है तो इसे क्या अच्छा है और क्या बुरा के विषय में निर्णय देना होगा अर्थात् यदि अर्थशास्त्र को मानव की समृद्धि को बढाने का साधन बनना है तो इसे साध्यो अथवा लक्ष्यो के प्रति निष्पक्षता को त्यागना होगा। अर्थशास्त्रियों को यह बताना होगा कि कौन से लक्ष्य अथवा साध्य अच्छे हैं और उनकी प्राप्ति किस प्रकार की जानी चाहिए और कौन-से लक्ष्य अथवा साध्य बुरे हैं जिनको प्राप्त करने का यत्न नही करना चाहिए। प्रो० थामस ने ठीक ही कहा है कि "*अर्थशास्त्री का कर्त्तव्य केवल विश्लेषण व खोज करना ही नहीं है बल्कि प्रशसा और निन्दा करना भी है*" ("The function of economist is not only to analyse and explore but also to advocate and condemn'.)।

राबिन्स की परिभाषा पर एक बडी आपत्ति यह भी की जाती है कि इससे तो अर्थशास्त्र केवल मूल्य-सिद्धान्त (Value Theory) ही रह गया है अर्थात् इसमे केवल इस बात का अध्ययन करना रह गया है कि विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन मे साधनो का वितरण किस प्रकार होता है और परिणामस्वरूप इन वस्तुओ व साधनो के मूल्य अथवा कीमतें किस प्रकार निर्धारित होती हैं। परन्तु वास्तव में अर्थशास्त्र का क्षेत्र साधनो के आवण्टन (allocation of resources) और मूल्य-

सिद्धान्त से कहीं अधिक विस्तृत है। आजकल तो समष्टिपरक अर्थशास्त्र (macro-economics) का महत्त्व बहुत बढ़ गया है जिसमें यह अध्ययन किया जाता है कि देश की कुल राष्ट्रीय आय तथा कुल रोजगार के स्तर किस प्रकार निर्धारित होते है। परन्तु कुल राष्ट्रीय आय व रोजगार के स्तर का निर्धारण रॉबिन्स की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आता। स्पष्ट है कि रॉबिन्स की परिभाषा में अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु (subject-matter) बहुत कम रह जाती है।

हाल ही में आर्थिक विकास के सिद्धान्त (Theory of Economic Growth) का महत्त्व बहुत बढ़ गया है जिसमें यह अध्ययन किया जाता है कि देश की राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि किन तत्त्वों पर निर्भर करती है। आर्थिक विकास से देश में उत्पादन क्षमता, राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय तथा रोजगार बढ़ते हैं। दूसरे शब्दों में, आर्थिक विकास से साधनों की दुर्लभता को कम करने (to reduce scarcity of resources) का प्रयत्न किया जाता है। थोड़े से चिन्तन से ज्ञात होगा कि आर्थिक विकास के विषय का समावेश रॉबिन्स की परिभाषा में नहीं होता क्योंकि इसमें तो साधनों को निश्चित मानकर उनके केवल वितरण अथवा आवण्टन (allocation) की बात कही गई है।

भारत जैसे अल्प-विकसित देशों के लिए आर्थिक विकास का विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उनके लोग बहुत गरीब हैं और वे आर्थिक विकास द्वारा अपना जीवन-स्तर ऊँचा करना चाहते हैं। अल्प-विकसित देशों में आर्थिक विकास लाने तथा उसकी गति को तीव्र करने के लिए अभी हाल ही में कई सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। अतएव रॉबिन्स की परिभाषा की यह बड़ी त्रुटि है कि इसमें आर्थिक विकास जैसे महत्त्वपूर्ण विषय की उपेक्षा की गई है।

रॉबिन्स की परिभाषा में बेरोजगारी की समस्या की व्याख्या नहीं हो सकती। श्रम अथवा जन शक्ति (manpower) उत्पादन का एक आवश्यक साधन है और इसके बेरोजगार रहने का तात्पर्य है श्रमिकों अथवा जन शक्ति की बहुलता न कि दुर्लभता। अर्थशास्त्रियों का कर्त्तव्य है कि बेरोजगारी जैसी भीषण समस्या के कारणों की व्याख्या करें और उसको दूर करने के उपाय सुझाएँ।

रॉबिन्स की इस बात पर भी आलोचना की जाती है कि उसने अर्थशास्त्र को सामाजिक विज्ञान (social science) के स्थान पर मानवीय विज्ञान (human science) बना दिया है। एक साधु जो हिमालय की गुफा में रहता है उसे भी अपने निश्चित समय को विभिन्न प्रयोजनों में बाँटना होता है अर्थात् उसे भी चुनाव की समस्या का सामना करना होता है और इसलिए वह रॉबिन्स की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र के अध्ययन के अन्तर्गत आ जाता है। परन्तु बहुत से अर्थशास्त्रियों का यह विचार है कि अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है और इसमें उस चुनाव की समस्या का अध्ययन करना चाहिए जिसका सामाजिक पक्ष हो अर्थात् जब एक व्यक्ति द्वारा चुनाव समाज के अन्य व्यक्तियों पर प्रभाव डाले।

अर्थशास्त्र की कुछ आधुनिक परिभाषाएँ (Some Modern Definitions of Economics)

रॉबिन्स की परिभाषा बहुत समय तक सही मानी जाती रही परन्तु अब यह स्वीकार किया जाता है कि रॉबिन्स की परिभाषा अर्थशास्त्र के विषय क्षेत्र को पूर्ण तथा सही रूप से प्रकट नहीं करती। जैसा कि हम ऊपर पढ़ आए हैं कि रॉबिन्स की परिभाषा में न तो राष्ट्रीय आय व रोजगार के स्तर के निर्धारण का और न ही आर्थिक विकास के सिद्धान्त का समावेश है। इसलिए अब कई अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र की नई परिभाषाएँ प्रस्तुत की है। बेनहम (Benham) के अनुसार, **"अर्थशास्त्र उन तत्त्वों का अध्ययन है जो रोजगार और जीवनस्तर को प्रभावित करते हैं।"** (Economics is the study of factors affecting employment and standards of living)[1] इस परिभाषा के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय तथा रोजगार का निर्धारण तथा आर्थिक विकास के सिद्धान्त आ जाते हैं परन्तु इसमें दुर्लभ साधनों के आवण्टन (allocation of scarce resources) का विषय प्रत्यक्ष रूप से नहीं आता। हाँ, दुर्लभ साधनों के वितरण का विषय अप्रत्यक्ष रूप से इसके अन्तर्गत आ जाता है कि वह भी लोगों के

1 Benham, *Economics* (6th ed), p 17.

जीवन-स्तर तथा रोजगार की मात्रा को निर्धारित करता है। परन्तु बेनहम (Benham) की परिभाषा मे राष्ट्रीय आय का समाज के विभिन्न व्यक्तियो मे वितरण किस प्रकार होता है, इस विषय का समावेश नही है। इस वितरण समस्या (distribution problem) को रिकार्डो, मार्क्स आदि अर्थशास्त्रियो ने बहुत महत्त्व दिया है।

श्री हेनरी स्मिथ (Henry Smith) ने अर्थशास्त्र की अधिक सही परिभाषा की है। उसके अनुसार अर्थशास्त्र "**यह अध्ययन करता है कि एक सभ्य समाज मे कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों द्वारा उत्पादित पदार्थों से किस प्रकार अपना भाग प्राप्त करता है और कैसे समाज के कुल उत्पादन मे परिवर्तन होता है और कि कैसे कुल उत्पादन का निर्धारण होता है।**" (Economics is the study of how in a Civilised Society, one obtains a share in what other people have produced and of how the total product of society changes and is determined ')[1] सभ्य समाज से उद्देश्य उस समाज से है जिसमे कानूनी व्यवस्था द्वारा सम्पत्ति सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के अधिकार निश्चित हो।

हेनरी स्मिथ द्वारा प्रस्तुत अर्थशास्त्र की उपर्युक्त परिभाषा पर विचार करने से ज्ञात होगा कि इसमे अर्थशास्त्र की तीन मुख्य समस्याओ का समावेश है। प्रथम, समाज के विभिन्न व्यक्तियो मे राष्ट्रीय उत्पादन तथा आय का वितरण किस प्रकार होता है। द्वितीय, कुल उत्पादन अथवा राष्ट्रीय आय का निर्धारण कैसे होता है। स्मरण रहे कि देश मे रोजगार का स्तर बहुत सीमा तक उस देश के कुल उत्पादन पर निर्भर करता है, यदि उत्पादन की तकनीक अथवा श्रम उत्पादकता समान रहे तो जितना अधिक उत्पादन होगा, उतने ही अधिक व्यक्तियो को रोजगार अथवा काम प्राप्त होगा। तीसरे, समाज के कुल उत्पादन मे परिवर्तन कैसे होता है अर्थात् देश का आर्थिक विकास किन तत्त्वो पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दो मे, राष्ट्रीय उत्पादन का वितरण, राष्ट्रीय आय व रोजगार का निर्धारण तथा आर्थिक विकास अर्थशास्त्र के महत्त्वपूर्ण विषय हैं जिनका समावेश अर्थशास्त्र की परिभाषा मे होना आवश्यक है।

परन्तु हाल के अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र की सही और पर्याप्त परिभाषा के सम्बन्ध मे वाद विवाद करना त्याग दिया है। बहुत से आधुनिक अर्थशास्त्रियो का विचार है कि अर्थशास्त्र क्या है, इसके बारे मे परिभाषा देने की आवश्यकता नही है। उदाहरण के लिए प्रो० मिरडल (Myrdal) का मत है कि ऐसी परिभाषाएँ अनावश्यक तथा अवाछनीय हैं। आधुनिक मतानुसार, अर्थशास्त्र क्या है, इस विषय की पूर्ण और सही जानकारी उसकी विषय-वस्तु के विवेचन से प्राप्त होती है। आजकल विषय वस्तु को दो भागो मे विभक्त किया जाता है। एक है **व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र** (Micro Economics) और दूसरा है **समष्टिपरक अर्थशास्त्र** (Macro Economics)। इन दो प्रकार के आर्थिक सिद्धान्तो मे अन्तर की विस्तार से विवेचना हम अगले अध्याय मे करेंगे।

आर्थिक सिद्धांत की विषय-वस्तु तथा इसमे विवेचित किये जाने वाले मुख्य प्रश्न (Subject matter of and Major Issues in Economic Theory)

वस्तुत अर्थशास्त्र की अनेक परस्पर विरोधी परिभाषाओ के कारण अर्थशास्त्र के सही स्वरूप और क्षेत्र के विषय मे अधिक अस्पष्टता आ गई है। जे० एन० केन्ज ने लिखा था कि 'अर्थशास्त्र ने अपने को परिभाषाओ के फदे मे फँसा रखा है।" (Economics is said to have strangled itself with definitions)।

वर्तमान लेखक के विचार मे अर्थशास्त्र के विज्ञान की विषय-वस्तु इतनी अधिक विस्तुत हो गई है कि इसे एक परिभाषा मे बाँधना प्रतीव कठिन है। यही कारण है कि अब आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र की परिभाषाएँ करना बन्द कर दिया है। उनके विचार मे अर्थशास्त्र को परिभाषित करने की चेष्टा एक व्यर्थ और निरर्थक प्रयास है। उनके मतानुसार अर्थशास्त्र क्या है इसका पता हमे उन समस्याओ अथवा

1 Henry Smith, *A Prospect of Political Economy* (1968), p 20

प्रश्नों को जान लेने मे लग सकता है जिनकी चर्चा अर्थशास्त्री करते हैं। अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु की थोडे शब्दो मे परिभाषा करने की कठिनाइयो के कारण ही प्रोफेसर जैकब वाइनर (Jacob Viner) ने कहा है कि **अर्थशास्त्र वह है जो अर्थशास्त्री करते हैं।** (Economics is what economists do)। दूसरे शब्दों मे, उनके विचार मे अर्थशास्त्र क्या है, इसकी अच्छी जानकारी हमे यह जानने मे मिल सकती है कि अर्थशास्त्री क्या कहते और करते हैं अर्थात् अर्थशास्त्री किस प्रकार के प्रश्न उठाते हैं और उनके क्या उत्तर देते है। अत अर्थशास्त्र क्या है अथवा आर्थिक सिद्धान्त की विषय-वस्तु क्या है, इसकी अच्छी जानकारी हमे उन प्रश्नो की व्याख्या करने से मिल सकती है जो अर्थशास्त्री उठाते हैं। हम नीचे उन प्रश्नों को लिखते हैं जो कि समय-समय पर अर्थशास्त्रियों ने उठाए हैं और आज भी वे उन्ही की चर्चा करते है। यह स्मरण रहे कि ये सभी समस्याएँ दुर्लभता की मूल समस्या के कारण उत्पन्न होती है। विभिन्न प्रश्न इस प्रकार हैं

1 समाज मे कौन-सी वस्तुएँ उत्पादित की जाती है और कितनी मात्रा में। अर्थात् विभिन्न वस्तुओ का उत्पादन करने मे उत्पादन के ससाधनो का किस प्रकार आवण्टन होता है।

2 क्या उपलब्ध उत्पादन के साधन (मानवीय साधनो सहित) पूरी तरह से उपयोग होते हैं अथवा क्या उनमे से कुछ बेरोजगार और अप्रयुक्त हैं।

3 विभिन्न वस्तुएँ किस प्रकार उत्पादित की जाती हैं अर्थात् विभिन्न वस्तुओ मे उत्पादन मे कौन सी उत्पादन तकनीकों का प्रयोग किया जाता है।

4 कुल उत्पादित वस्तुओ और सेवाओ का समाज के विभिन्न सदस्यों मे वितरण किस प्रकार होता है?

5 क्या देश के उत्पादन साधन पूरी कुशलता अथवा दक्षता से प्रयोग किए जा रहे हैं?

6 क्या अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता अथवा राष्ट्रीय आय बढ रही है, घट रही है अथवा स्थिर है?

उपर्युक्त छ प्रश्न समय-समय पर आर्थिक सिद्धान्त का विषय रहे हैं। जैसा कि हमने ऊपर बताया है कि ये सभी प्रश्न दुर्लभता की मूल समस्या के कारण उत्पन्न होते है। सभी अर्थव्यवस्थाएँ चाहे वे पूँजीवादी हों चाहे समाजवादी और चाहे मिश्रित प्रकार की, उन्हे इन प्रश्नो के विषय मे निर्णय लेने पडते हैं। आर्थिक सिद्धान्त इस बात का अध्ययन करता है कि विभिन्न प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं मे ये निर्णय किस प्रकार किए जाते हैं। हमारा आर्थिक सिद्धान्त अधिकाशत पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत विकसित किया गया है जहाँ कि उपर्युक्त समस्याओ के हल करने मे कीमत प्रणाली महत्त्वपूर्ण भाग लेती है। इसलिए आर्थिक सिद्धान्त बहुधा मुक्त मार्किट प्रणाली की पूर्व-धारणा करता है और उसके द्वारा उपर्युक्त छ समस्याएँ किस प्रकार तथा कितनी कुशलता से हल की जाती हैं, का विवेचन करता है। हम नीचे उपर्युक्त छ प्रश्नो की विस्तारपूर्वक व्याख्या करेंगे और यह बताएँगे कि ये दुर्लभता (scarcity) की आधारभूत समस्या मे किस प्रकार सम्बन्धित है।

1. क्या समस्त उपलब्ध साधनों का पूर्ण रूप से उत्पादन के लिए प्रयोग हो रहा है? साधनों के पूर्ण प्रयोग अथवा रोजगार की समस्या (Are all the resources being fully used? The Problem of Full Employment of Resources)

हमने ऊपर देखा कि समाज के पास देश के सभी व्यक्तियों की आवश्यकताओ और इच्छाओं की तुष्टि के लिए पर्याप्त मात्रा मे साधन उपलब्ध नही होते। इसलिए उपलब्ध साधनों की दुर्लभता को दृष्टि मे रखते हुए, यह एक अद्भुत बात प्रतीत होती है कि अर्थशास्त्री इस प्रश्न की चर्चा करें कि क्या समाज के समस्त साधनो का पूर्ण रूप से प्रयोग किया जा रहा है या नही, क्योंकि जब साधन दुर्लभ हो तो यह अपेक्षित है कि उत्पादन हेतु समस्त उपलब्ध साधनो का प्रयोग किया जाएगा जिससे समाज के लोगो की अधिकतम सम्भव सतुष्टि हो सके। प्राय एक समाज अपने उपलब्ध साधनो को स्वेच्छा से निष्प्रयोग पड़े रहने की आज्ञा नही दे सकता। परन्तु पूँजीवादी देश मे मन्दी के समय कुछ इस प्रकार की व्यवस्था होती है कि भारी मात्रा मे श्रम-शक्ति तथा अन्य उत्पादन के साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं होता जिससे एक ओर श्रमिकों मे भीषण

बेरोजगारी फैल जाती है तथा दूसरी ओर औद्योगिक फैक्टरियो, खानो जैसे उत्पादन के साधन या तो बद हो जाते है या अपनी उत्पादन क्षमता से कम स्तर पर उत्पादन करते है। मन्दी के समय, बड़ी सख्या मे श्रमिक बेकार पाए जाते हैं। वे काम तो करना चाहते है परन्तु उन्हे काम मिल नही पाता। इसी प्रकार मदी के समय औद्योगिक फैक्टरियाँ जो उत्पादन बढाकर श्रमिको को रोजगार उपलब्ध करा सकती है वास्तव मे ऐसा करती नही है। अत पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओ मे मन्दी के समय उपलब्ध दुर्लभ साधनो का पूर्ण उपयोग नही किया जाता। 1929-33 की अवधि मे पूँजीवादी देशो को भीषण मन्दी का सामना करना पडा जिससे एक ओर श्रमिक बेरोजगार और दूसरी ओर फैक्टरियाँ बेकार रहने का कटु तथ्य इतना अधिक उभर कर सामने आया कि उसकी उपेक्षा नही की जा सकती थी। इगलैण्ड के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री जे० एम० केन्ज का धन्यवाद हो जिसने अपनी विख्यात कृति "*General Theory of Employment, Interest and Money*" मे जो कि 1936 मे प्रकाशित हुई, साधनो की इतनी बडी मात्रा मे बेकारी के कारणो पर प्रकाश डाला। केन्ज ने पूँजीवादी देशो मे पाई जाने वाली श्रमिको मे बेरोजगारी तथा उद्योगो मे अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता (excess or idle productive capacity) का कारण समस्त माँग (aggregate demand) का घट जाना बताया। 1939 के पश्चात् जब द्वितीय महायुद्ध के दौरान मुद्रास्फीति अथवा मूल्यवृद्धि (inflation) की समस्या उत्पन्न हो गई तो केन्ज ने अपने उसी सिद्धान्त को लागू करते हुए बताया कि इस मुद्रास्फीति का कारण समस्त माँग का अत्यधिक बढ़ जाना है। केन्ज के विश्लेषण से हमारे आर्थिक सिद्धान्त का विषय-क्षेत्र बहुत विस्तृत हुआ तथा पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली के कार्यकरण के सम्बन्ध मे हमारी जानकारी बढ़ी। केन्ज द्वारा प्रेरित आर्थिक सिद्धान्त की यह शाखा जिसमे समूची अर्थव्यवस्था मे कुल रोजगार, राष्ट्रीय आय तथा सामान्य कीमत-स्तर के निर्धारण के विषय का अध्ययन किया जाता है, को समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त (Macro Economic Theory) कहते हैं। इस समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त मे उन तत्त्वो की विवेचना की जाती है जो अर्थव्यवस्था मे साधनो की बेरोजगारी को उत्पन्न करते है, राष्ट्रीय आय मे कमी अथवा वृद्धि करते है तथा सामान्य मूल्य-स्तर निर्धारित करते हैं। हम इस पुस्तक के अन्तिम भाग मे इस *समष्टिपरक सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे।*

2. साधनो से किन वस्तुओ का तथा कितनी-कितनी मात्रा मे उत्पादन किया जाता है : साधनों के आवण्टन की समस्या (What goods are produced by the resources The Problem of Allocation of Resources)

प्रत्येक अर्थव्यवस्था को यह निर्णय करना होता है कि क्या उत्पादन किया जाय (What to Produce ?)। 'क्या उत्पादन किया जाय'—का अर्थ यह है किन वस्तुओ का उत्पादन किया जाय और कितनी मात्रा मे। 'क्या उत्पादन किया जाय' की समस्या को दो सम्बद्ध प्रश्नो मे विभाजित किया जा सकता है। पहला, किन वस्तुओ का उत्पादन किया जाय और किन का नही, और दूसरा, उन वस्तुओ को कितनी कितनी मात्रा मे पैदा किया जाय जिनके उत्पादन करने का निश्चय कर लिया गया है। यदि हमारे पास उत्पादन के साधन असीमित होते तो हम वस्तुओ का जितनी मात्रा मे चाहते, उत्पादन कर सकते थे और इसलिए यह प्रश्न उठता ही नही कि "किन वस्तुओ का उत्पादन किया जाय और किन का नही।" किन्तु चूँकि साधन *वास्तव मे मनुष्य की आवश्यकताओ की अपेक्षा कम* मात्रा मे उपलब्ध हैं, अर्थव्यवस्था को वस्तुओ और सेवाओ मे से चयन करना ही पडता है कि किन वस्तुओ को उत्पादित किया जाय और किन को नही। समाज जिन वस्तुओ का उत्पादन न करने का निर्णय करता है उन वस्तुओ के लिए आवश्यकताएँ अतृप्त रहेगी। दूसरे शब्दो में, समस्या यह है—किन आवश्यकताओ की तृप्ति या पूर्ति की जाय और किन की नहीं ?

यदि समाज किसी वस्तु का ज्यादा मात्रा मे उत्पादन करना चाहता है तो उसे अन्य दूसरी वस्तुओं के उत्पादन से कुछ साधन हटा लेने होंगे। दूसरे शब्दो मे, यदि अर्थव्यवस्था एक वस्तु को पहले से अधिक मात्रा मे उत्पादित करने का निश्चय करती है तो उसे किन्ही दूसरी वस्तुओ का उत्पादन कम करना होगा। उदाहरण के लिए, युद्ध के समय जब एक देश युद्ध सम्बन्धी

वस्तुओं जैसे बन्दूकों जेट वायुयान तथा अन्य हथियारों के उत्पादन बढ़ाने का निश्चय करता है तो उसे असैनिक वस्तुओं और सेवाओं के निर्माण में से कुछ साधन हटा कर उन्हें युद्ध-सामग्री के निर्माण पर लगाने होंगे। हम अधिक बन्दूकें और अधिक मक्खन (अर्थात् खाने-पीने की वस्तुएँ) प्राप्त नहीं कर सकते, अधिक बन्दूकों के लिए कुछ 'मक्खन' का त्याग करना अनिवार्य होता है।

किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाय, इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए समाज को किसी-न-किसी प्रकार असंख्य वस्तुएँ जैसे कारें, चिकित्सालय स्कूल मकान रेडियो, टेलीविजन, परमाणु बम गेहूँ चावल, कपड़ा, मशीनें, साबुन, लिपस्टिक, टैरीलीन नाइलन आदि में से चयन करना होता है। किन्तु यह चयन भी काम का केवल आधा भाग है। समाज जब एक बार यह निर्णय कर चुकता है कि किन वस्तुओं का उत्पादन किया जाएगा, तो उसे उत्पादन के लिए चुनी गई वस्तुओं में से प्रत्येक को कितनी कितनी मात्रा में उत्पादित किया जाय के बारे में भी निर्णय करना होता है। मान लीजिए कि समाज ने उपर्युक्त वस्तुओं में से गेहूँ, अस्पताल, स्कूल और कपड़ा उत्पादित करने का निर्णय किया है। साधन दुर्लभ होने के कारण समाज इन चुनी हुई वस्तुओं का भी असीमित रूप में उत्पादन नहीं कर सकता। इसलिए समाज को इसका निर्णय अवश्य करना चाहिए कि कितना गहूँ, कितने अस्पताल, कितने स्कूल और कितने गज कपड़ा उत्पादित किया जाए। वास्तव में उपर्युक्त वस्तुओं में से अधिकांश वस्तुओं के उत्पादन करने का निर्णय किया जाएगा और इसलिए केवल इस प्रश्न को हल करना होता है कि प्रत्येक वस्तु को कितनी मात्रा में तैयार किया जाय अर्थात् किन वस्तुओं को कम मात्रा में उत्पादित किया जाय और किन को ज्यादा मात्रा में। स्पष्ट है कि किन-किन वस्तुओं का तथा कितनी-कितनी मात्रा में उत्पादन करना है, का प्रश्न दुर्लभ साधनों के वैकल्पिक प्रयोगों में आवण्टन (allocation of scarce resources between the alternative uses) का प्रश्न है।

विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में साधनों का आवण्टन कैसे निर्धारित होता है, के प्रश्न पर अर्थशास्त्री अर्थशास्त्र के आरम्भ से ही विचार करते रहे हैं। अर्थव्यवस्था किसी प्रकार की क्यों न हो, अर्थात् चाहे यह पूँजीवादी हो, समाजवादी हो अथवा मिश्रित प्रकार की, साधनों के आवण्टन के बारे में निर्णय लेना ही पड़ता है। एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में, साधनों के आवण्टन के बारे में निर्णय, अथवा, दूसरे शब्दों में, क्या वस्तुएँ उत्पादित करनी हैं तथा कितनी कितनी मात्रा में के सम्बन्ध में निर्णय स्वतन्त्र मार्किट पद्धति (Free Market Mechanism) अथवा कीमत प्रणाली (Price Mechanism) के माध्यम द्वारा लिए जाते हैं। एक पूँजीवादी अथवा स्वतन्त्र मार्किट अर्थव्यवस्था वस्तुओं के उत्पादन में साधनों का आवण्टन निर्धारित करने के लिए माँग और पूर्ति की शक्तियों का प्रयोग करती है। स्वतन्त्र-मार्किट अर्थव्यवस्था में उत्पादक, जो कि लाभ कमाने के उद्देश्य से उत्पादन-कार्य करते हैं, किन वस्तुओं को उत्पादित करना है तथा कितनी मात्रा में, के सम्बन्ध में निर्णय, विभिन्न वस्तुओं की सापेक्ष कीमतों (relative prices) को ध्यान में रख कर करते हैं। इसलिए वस्तुओं की सापेक्ष कीमतें जो कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में माँग और पूर्ति की शक्तियों के स्वतन्त्र रूप में कार्य करने के परिणाम-स्वरूप निर्धारित होती हैं, अन्तत: वस्तुओं का उत्पादन तथा साधनों का आवण्टन निर्धारित करती हैं।

आर्थिक सिद्धान्त का वह भाग, जिसमें वस्तुओं की सापेक्ष कीमतों के निर्धारण का और इसके फलस्वरूप साधनों के आवण्टन का अध्ययन किया जाता है, को कीमत सिद्धान्त (Price Theory) अथवा व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त (Micro-Economic Theory) कहा जाता है और यह बहुत पहले से ही अर्थशास्त्रियों की चर्चा का विषय रहा है।

3. वस्तुओं का उत्पादन कैसे किया जाय? उत्पादन-तकनीकों के चुनाव की समस्या (How goods are produced? The Problem of Choice of Techniques)

'उत्पादन कैसे किया जाय' का अर्थ है वस्तुओं का उत्पादन किस विधि अथवा तकनीक से किया जाय। समाज जब एक बार यह निर्णय ले चुकता है कि किन वस्तुओं और सेवाओं का कितनी मात्रा में उत्पादन करना है तो फिर उसे यह निश्चय करना

होता है कि उन चुनी हुई वस्तुओं का उत्पादन कैसे करना चाहिए। वस्तु-उत्पादन की अनेक वैकल्पिक तकनीक होती है और अर्थव्यवस्था को उन्ही मे से कुछ तकनीक चुननी होती है। जैसे, कपडे का उत्पादन, स्वचालित करघो (automatic looms) से या विद्युत्-करघो (power looms) से या हथकरघो (hand looms) से किया जा सकता है। खेतो की सिंचाई (जिसमे गेहूँ का उत्पादन किया जाता है) छोटे सिंचाई कार्यों जैसे नलकूपो और तालाबो से की जा सकती है अथवा नहरो और बाँधो के निर्माण द्वारा। अर्थव्यवस्था को यह निर्णय करना होता है कि कपडा हथकरघे द्वारा तैयार किया जाय या विद्युत्-करघे द्वारा अथवा स्वचालित करघे द्वारा। इसी प्रकार उसे निश्चय करना है कि खेतो की सिंचाई छोटे सिंचाई-कार्यों द्वारा की जाय अथवा बडी नहरो द्वारा। स्पष्टत यह उत्पादन के तकनीक मे चयन की समस्या (the problem of the choice of techniques) है। उत्पादन की विभिन्न तकनीकों में विभिन्न साधनो का प्रयोग भिन्न-भिन्न मात्रा मे किया जाता है। हथकरघे द्वारा कपडे के उत्पादन मे अधिक श्रम और कम पूँजी का प्रयोग किया जाता है। इसलिए हथकरघे द्वारा उत्पादन *श्रम-प्रधान तकनीक (labour-intensive technique) कहलाती है।* विद्युत्-करघे अथवा स्वचालित करघे द्वारा कपडे के उत्पादन मे कम श्रम और अधिक पूँजी का प्रयोग किया जाता है। इसलिए विद्युत्-करघे द्वारा उत्पादन को कपडे के उत्पादन की 'पूँजी प्रधान तकनीक' (capital intensive technique) कहते हैं। अत समाज मे इसका चयन करना होता है कि उत्पादन श्रम-प्रधान तकनीक द्वारा किया जाय अथवा पूँजी प्रधान तकनीक द्वारा।

अधिक स्पष्ट रूप से हम कह सकते हैं कि 'उत्पादन कैसे किया जाय' का अर्थ है एक वस्तु के उत्पादन के लिए साधनों के कौन से संयोग (combination) का प्रयोग करना है अथवा उत्पादन की कौन-सी तकनीको को अपनाना है। साधनो की दुर्लभता यह आवश्यक कर देती है कि वस्तुओ का उत्पादन अधिक कुशलता से किया जाय। यदि अर्थव्यवस्था अपने साधनों का अकुशल रूप से प्रयोग करती है, तो उत्पादन कम होगा। स्पष्टत विभिन्न तकनीकों में से कौन-सी तकनीक चुनी जाएगी यह उत्पादन के विभिन्न साधनो की पूर्ति तथा उनकी कीमतो पर निर्भर करेगा। प्राय उत्पादन की वह तकनीक चुनी जाएगी जिसमे उत्पादन लागत कम-से-कम हो।

हमने ऊपर बताया कि माँग की तुलना मे आर्थिक साधन दुर्लभ हैं। किन्तु आर्थिक साधन असमान रूप से दुर्लभ हैं अर्थात् कुछ साधन दूसरो की अपेक्षा अधिक दुर्लभ हैं। अत यह समाज के हित मे है कि उत्पादन के वे तरीके अपनाए जाएँ जो अपेक्षाकृत पर्याप्त साधनो का अधिकतम उपयोग करें और अपेक्षाकृत दुर्लभ साधनो का न्यूनातिन्यून प्रयोग करें।

उत्पादको द्वारा उत्पादन की किस तकनीक का चयन किया जाय और क्यो के विषय का उत्पादन सिद्धान्त (theory of production) के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है। उत्पादन के सिद्धान्त मे हम साधनो (inputs) और उत्पादन (output) के बीच भौतिक सम्बन्ध की विवेचना करते हैं। साधनो तथा उत्पादन मे यह भौतिक सम्बन्ध वस्तुओ की उत्पादन लागत को निर्धारित करता है। यह उत्पादन लागत वस्तुओ की पूर्ति को निश्चित करती है जो कि वस्तुओ की माँग से क्रिया द्वारा वस्तुओ की कीमतो को निर्धारित करती है। इस प्रकार उत्पादन सिद्धान्त कीमत के सिद्धान्त अथवा व्यष्टिपरक सिद्धान्त का आवश्यक अंग है।

4 समाज में वस्तुओं का वितरण किस प्रकार हो? राष्ट्रीय उत्पादन के वितरण की समस्या (The problem of distribution of National Product)

समाज के सदस्यो म राष्ट्रीय उत्पादन का वितरण किस प्रकार किया जाय, एक अतीव महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इसका अर्थ यह है कि वस्तुओ और सेवाओं की कुल उत्पादित राशि से किस किस को कितना कितना मिले। राष्ट्रीय उत्पादन का प्रश्न ऐडम स्मिथ (Adam Smith) और डेविड रिकार्डो के समय से ही अर्थशास्त्रियों के चिन्तन का विषय रहा है। ऐडम स्मिथ और रिकार्डो ने स्वतन्त्र मार्किट पूँजीवादी अर्थव्यवस्था म समाज के विभिन्न वर्गो जैसे कि पूँजीपतियों, श्रमिकों तथा भू-स्वामियों में राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय के वितरण की व्याख्या की। देश के विभिन्न व्यक्तियों तथा वर्गो मे राष्ट्रीय उत्पादन तथा आय के वितरण के

निर्धारण के सिद्धान्त में हाल में अर्थशास्त्रियों की रुचि बहुत बढ़ गई है।

यह बात समझने योग्य है कि राष्ट्रीय उत्पादन का वितरण मुद्रा आय के वितरण पर निर्भर करता है। जिनकी मुद्रा आय अधिक है उनकी अधिक खरीदने की क्षमता होगी और इसलिए वे वस्तुओं और सेवाओं को अधिक मात्रा में खरीद या प्राप्त करेंगे। जिनकी मुद्रा आय कम है उनकी वस्तुओं को खरीदने की शक्ति कम होगी और इसलिए राष्ट्रीय उत्पादन से उन्हें कम हिस्सा प्राप्त होगा। मुद्रा आय का जितनी अधिक समता से विभाजन होगा, उत्पादन भी उतने ही सम रूप में वितरित होगा। इसके विपरीत मुद्रा आय का जितना अधिक असमान वितरण होगा, राष्ट्रीय उत्पादन का भी उतना ही अधिक विषम रूप से वितरण होगा।

किन्तु अब प्रश्न उठता है कि समाज के विभिन्न व्यक्तियों में मुद्रा आय का विभाजन कैसे हो अर्थात् विभिन्न व्यक्तियों को मुद्रा आय का कितना-कितना भाग मिले। एक सिद्धान्त तो यह है कि समाज के सभी व्यक्तियों को सम-भाग प्राप्त हो, अर्थात् राष्ट्रीय मुद्रा आय का पूर्णतया समान वितरण हो। दूसरा सिद्धान्त यह है कि विभिन्न व्यक्तियों को राष्ट्रीय मुद्रा आय का उतना भाग मिले जितना कि वे राष्ट्रीय आय उत्पादित करने में योगदान देते हैं। (Everybody should get according to the contribution he makes to the National Product)। इस सिद्धान्त के लागू करने से राष्ट्रीय आय के वितरण में असमानता पैदा होगी, परन्तु यह एक न्यायपूर्ण बात है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके द्वारा राष्ट्रीय उत्पादन में किए गए प्रदादान के अनुसार आय प्राप्त हो। आम तौर पर यह कहा जाता है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आय के वितरण में यही सिद्धान्त लागू होता है। परन्तु ऐसा समझना गलत है क्योंकि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में एक व्यक्ति को केवल उतना ही नहीं मिलता जितना कि वह राष्ट्रीय आय उत्पादित करने में अपने श्रम (labour) का प्रदादान देता है बल्कि उस साथ में उसके द्वारा अपनी सम्पत्ति (property) व उत्पादन-साधनों की सेवाओं का उत्पादन प्रक्रिया में योग देने से भी काफी आय मिलती है। चूंकि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में सम्पत्ति और भौतिक उत्पादन के साधनों का बहुत असमान वितरण होता है इसलिए आय का वितरण भी बहुत विषम रूप में होता है जो कि अन्यायपूर्ण है।

राष्ट्रीय आय के वितरण का एक और सिद्धान्त है जिसे साम्यवाद के जन्मदाता कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने प्रस्तुत किया और जिसे साम्यवादी या मार्क्सवादी सिद्धान्त कहते हैं। यह सिद्धान्त है "प्रत्येक व्यक्ति से काम तो उसकी शक्ति व योग्यता के अनुसार लिया जाय पर उसे आय उसकी जरूरतों या आवश्यकताओं के अनुसार दी जाय" (From each according to his ability, to each according to his needs)। समाजवादी व साम्यवादी विचार के लोग वितरण के इस सिद्धान्त को आदर्श (ideal) मानते हैं, परन्तु व्यावहारिक जीवन में इस सिद्धान्त को लागू करने में बहुत कठिनाइयाँ हैं।

उत्पादन या आय के वितरण का प्रश्न न केवल अर्थशास्त्र के क्षेत्र में, अपितु राजनीति में भी वाद-विवाद का विषय रहा है। सारे अर्थशास्त्र में शायद कोई दूसरा ऐसा विषय नहीं है, जिस पर इतनी गर्मागर्म बहस हुई हो जितनी कि राष्ट्रीय उत्पादन या आय के वितरण के विषय में। राष्ट्रीय उत्पादन या आय के वितरण के प्रश्न में मुख्य कठिनाई यह है कि वितरण के औचित्य और न्याय-पहलू (equity aspect) को प्रोत्साहन-पहलू (incentive aspect) के साथ कैसे समन्वित (reconciliation) किया जाय। न्याय की दृष्टि से पूर्ण समानता के आधार पर राष्ट्रीय उत्पादन या आय का वितरण श्रेष्ठतम हो सकता है। किन्तु समस्या यह है कि राष्ट्रीय उत्पादन या आय का पूर्ण समान रूप से, वितरण, अधिक उत्पादन तथा कार्य करने के लिए प्रोत्साहन (incentive to produce or work more) पर कुप्रभाव डालता है। यदि समानता बनाए रखने के परिणामस्वरूप अधिक उत्पादन करने के प्रोत्साहन को नष्ट किया गया या उसे अधिक हानि पहुँचाई गई तो वितरण के लिए उपलब्ध कुल राष्ट्रीय उत्पादन कम हो जाएगा जिससे सभी लोगों का जीवन-स्तर गिर जाएगा। अतः राष्ट्रीय आय व उत्पादन में कितनी

असमानता हो, इस बात का निर्णय प्रत्येक अर्थव्यवस्था को करना होता है।

जैसे कि हमने ऊपर बताया कि आय को या तो कोई कार्य करके या भूमि, पूँजी आदि सम्पत्ति को किराये पर देकर अर्जित किया जा सकता है। श्रम भूमि और पूँजी उत्पादन के विभिन्न साधन है और राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय को उत्पादित करने मे अपना-अपना योगदान देते है और अपने इस योगदान के बदले मे कीमत अथवा पारिश्रमिक (remuneration) प्राप्त करते हैं। यह प्रश्न कि उत्पादन के साधनो की कीमतें किस प्रकार निर्धारित होती है वितरण के सिद्धान्त (Theory of Distribution) की विषय-वस्तु है। आर्थिक सिद्धान्त मे सीमान्तवादी विचारधारा (Marginalist School) के प्रचलित होने पर वितरण का सिद्धान्त वास्तव मे साधनो की कीमत-निर्धारण का सिद्धान्त (*Theory of Factor Pricing*) बनकर रह गया है। आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त मे साधनो का भूमि, श्रम व पूँजी आदि मे परम्परागत वर्गीकरण तो अभी किया जाता है परतु इन साधनो का सामाजिक वर्गों अर्थात् भू-स्वामियो, श्रमिको और पूँजीपतियो के साथ जो प्रतिष्ठित (Classical) अर्थशास्त्रियो ने सम्बन्ध जोड़ा था, त्याग दिया गया है। उत्पादन के साधनो की कीमतो के रूप मे वितरण का सिद्धान्त वस्तुओं के कीमत-निर्धारण के सिद्धान्त का एक विस्तृत भाग है। प्रो० ए० के० दास गुप्ता (*A K. Das Gupta*) ठीक ही कहते हैं कि आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त में 'वितरण कीमत सिद्धान्त का एक विस्तृत भाग ही है क्योकि यह केवल उत्पादन के साधनो की कीमत निर्धारण की ही समस्या है। आर्थिक समस्या के इन दो पहलुओ को जोड़कर एक एकीकृत तथा युक्तिसगत व्यवस्था अथवा सिद्धान्त को प्राप्त किया जाता है। वस्तुओ का मूल्य अन्तत तुष्टिगुण पर आधारित माना जाता है तथा साधनो का मूल्य उनके द्वारा वस्तुओ के उत्पादन मे योगदान अर्थात् उनकी उत्पादकता पर आधारित माना जाता है। साधनो का भूमि, श्रम और पूँजी मे पुरातन वर्गीकरण तो अभी भी मौजूद है परन्तु उनका सामाजिक वर्गों से स्थापित सम्बन्ध अब नहीं रहा है। साधनो को सस्थागत व्यवस्था (institutional framework) से स्वतन्त्र केवल उत्पादक अभिकरण के रूप मे माना जाता है।"[1]

स्पष्ट है कि साधनो की कीमत सिद्धान्त के रूप मे वितरण सिद्धान्त आय के कार्यात्मक वितरण (functional distribution of income) का विवेचन करता है न कि आय के वैयक्तिक वितरण (personal distribution of income) का, क्योकि इसमे केवल इस बात की व्याख्या की जाती है कि साधनो की कीमतें जैसे कि श्रमिकों की मजदूरी, भूमि का लगान, पूँजी पर ब्याज तथा उद्यमकर्त्ता के लाभ किस प्रकार निर्धारित होते हैं। लेकिन प्रश्न, जोकि आरम्भ म ऊपर उठाया गया है अर्थात् 'समाज के विभिन्न व्यक्तियो मे राष्ट्रीय उत्पादन का वितरण किस प्रकार होता है" का उत्तर कार्यात्मक वितरण के सिद्धान्त म नही मिलता। यह आय का वैयक्तिक वितरण ही है जोकि निश्चित करता है कि राष्ट्रीय उत्पादन मे से किस-किस को कितना कितना प्राप्त होगा। एक व्यक्ति की आय न केवल उसके साधन की कीमत तथा उसके द्वारा किये गए काम पर निर्भर करती है बल्कि इस बात पर भी कि वह कितनी मात्रा मे भूमि, पूँजी आदि

---

1 'Distribution appears an extension of the theory of value being just a problem of pricing of factors of production The two aspects of the economic problem are then integrated into a unified and logically self-consistent system Value of commodities is derived in the ultimate analysis from utility, and value of factors derived from productivity imputed by the commodities which they help in producing The old tripartite division of factors into land, labour and capital is retained but their old association with social classes is lost Factors are conceived as just productive agents independently of the institutional framework within which they operate' in *Tendencies in Economic Theory*, Presidential Address to the 43rd Annual Conference of Indian Economic Association held at Chandigarh, December 1960

सम्पत्ति का स्वामी है। उत्पादन के साधनों का निजी स्वामित्व व अधिकार (private ownership of the means of production) मे होना पूंजीवादी प्रणाली का प्रमुख अंग है। इसलिये समाज मे सम्पत्ति का वितरण आय के वैयक्तिक वितरण को विशद रूप से प्रभावित करता है। एक व्यक्ति, जिसके पास बड़ी मात्रा मे सम्पत्ति होती है, अधिक आय अर्जित कर सकता है। पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं म सपत्ति के वितरण मे अत्यधिक विषमताओं के कारण आय के वितरण मे भी बड़ी असमानताएँ पाई जाती हैं। परिणामस्वरूप, पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं मे विभिन्न व्यक्तियों म राष्ट्रीय उत्पादन का विभाजन अतीव असमान होता है। अभी हाल के वर्षों मे संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन आदि पूंजीवादी देशों मे वहाँ की सरकारों ने आय और सम्पत्ति की असमानताओं को कम करने के लिये कई कदम उठाए हैं जिसका राष्ट्रीय उत्पादन के वितरण पर प्रभाव पड़ा है। सम्पत्ति का वितरण एक संस्थागत कारक है, इसलिये प्रस्तुत पुस्तक मे इसकी विवेचना नही की जाएगी। हम यहाँ केवल विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्त की ही व्याख्या करेंगे। अतः हम यहाँ केवल *आय के कार्यात्मक वितरण की ही व्याख्या करेंगे* जोकि कीमत सिद्धान्त अथवा व्यष्टिपरक सिद्धान्त का अटूट भाग है।

5 क्या साधनों का कुशलता से प्रयोग हो रहा है—आर्थिक कुशलता प्राप्त करने अथवा कल्याण अधिकतम करने की समस्या (Are the resources being used efficiently—The Problem of Economic Efficiency)

चूँकि साधन दुर्लभ और न्यून हैं, इसलिये यह वांछनीय है कि उनका अधिकतम कुशलता (maximum efficiency) से प्रयोग हो। इसलिए यह जानना महत्त्वपूर्ण होता है कि क्या अर्थव्यवस्था कुशलता मे कार्य कर रही है अथवा नही। दूसरे शब्दों मे, क्या अर्थव्यवस्था राष्ट्रीय आय का उत्पादन एव वितरण कुशल प्रकार मे कर रही है अथवा नही। यह प्रश्न उपर्युक्त प्रश्न 2, 3 और 4 से उत्पन्न होता है। यह पूछे जाने के बाद कि क्या वस्तुएँ उत्पादित करनी हैं तथा कैसे, और फिर उत्पादित वस्तुओं का वितरण किस प्रकार किया जाना है, यह प्रश्न उठाया जाना उचित ही है कि क्या अर्थव्यवस्था द्वारा वस्तुओं का उत्पादन एव वितरण कुशलतापूर्वक हुआ है। उत्पादन "कुशल" (efficient) तब कहा जाता है जबकि उत्पादन के साधनों को वस्तु-उत्पादन के लिये इस प्रकार प्रयोग किया जा रहा है कि उनके विभिन्न वस्तुओं मे पुनराबण्टन (reallocation) मे किसी एक वस्तु के उत्पादन को बढ़ाना किसी अन्य के उत्पादन को घटाए बिना, असम्भव हो। उत्पादन अथवा साधनों का आवण्टन अकुशल (inefficient) होगा यदि विभिन्न वस्तुओं के *उत्पादन मे साधनों का पुनरावण्टन करके किसी अन्य* वस्तु के उत्पादन को घटाए बिना, किसी वस्तु के उत्पादन को बढ़ाया जाना सम्भव हो। इसी प्रकार, राष्ट्रीय उत्पादन का वितरण 'अकुशल' होता है यदि व्यक्तियों मे वस्तुओं के पुनर्वितरण से किसी व्यक्ति की सन्तुष्टि को किसी अन्य की सन्तुष्टि को घटाए बिना, बढ़ाया जा सकता हो।

प्रायः यह माना जाता है कि उत्पादन तथा वितरण की अकुशलताएँ (inefficiencies) सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं मे पाई जाती हैं। यदि इन अकुशलताओं को दूर किया जाए तो राष्ट्रीय उत्पादन तथा लोगों के कल्याण (welfare) अथवा सन्तुष्टि मे वृद्धि की जा सकती है। परन्तु इन अकुशलताओं को हटाने के लिये कुछ लागत उठानी पड़ेगी। यदि इन अकुशलताओं को हटाने की लागत, उनके दूर होने से प्राप्त अतिरिक्त लाभ अथवा अतिरिक्त सन्तुष्टि की अपेक्षा अधिक है तो इन्हे हटाना हितकर न होगा। परन्तु अर्थव्यवस्था मे पाई जाने वाली इन अकुशलताओं के सही परिमाण के सम्बन्ध मे हम नहीं जानते। इसलिये क्या इन अकुशलताओं को दूर किया जाए अथवा नहीं का स्पष्ट एव दृढ़ उत्तर नहीं दिया जा सकता। आर्थिक सिद्धान्त का वह भाग, जिसमे समाज मे उत्पादन तथा वितरण की कुशलताओं एव अकुशलताओं के सम्बन्ध मे विवेचना की जाती है, को **कल्याणवादी अर्थशास्त्र** (Welfare Economics) कहते हैं।

6 क्या अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता मे वृद्धि हो रही है? आर्थिक विकास की समस्या (Is the economy's productive capacity increasing?—The Problem of Economic Growth)

यह जानना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि क्या अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता बढ रही है स्थिर है अथवा घट रही है। यदि अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता बढ रही है, तो यह वस्तुओ तथा सेवाओ का उत्तरोत्तर अधिक उत्पादन कर सकेगी जिसके फलस्वरूप देश के लोगो का जीवन-स्तर ऊँचा होगा। उत्पादन क्षमता का बढना और परिणामस्वरूप कुल राष्ट्रीय उत्पाद (Gross National Product or GNP) अथवा राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होने को आर्थिक विकास (economic growth) कहा जाता है। उन कारकों तथा तत्त्वो का विश्लेषण जिन पर कि आर्थिक विकास निर्भर करता है ऐडम स्मिथ (Adam Smith) से लेकर अर्थशास्त्रियो के चिन्तन का विषय रहा है। ऐडम स्मिथ ने अपनी प्रख्यात पुस्तक "राष्ट्रो के धन की प्रकृति एव कारणो की जाँच" '*An Enquiry into the Nature and Causes of the Wealth of Nations*' मे आर्थिक विकास के कुछ कारको पर प्रकाश डाला। परन्तु प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के पश्चात् और अर्थशास्त्र मे सीमान्तवाद (marginalism) के प्रचलित होने पर आर्थिक विकास के विषय मे अर्थशास्त्रियो की रुचि बहुत घट गई और सापेक्ष कीमतो व साधनो के आवण्टन (relative prices and resource allocation) के सीमान्तवादी सिद्धान्त को, जिसमे दुर्लभता व चयन की समस्या पर अधिक बल दिया गया था, बहुत समय तक आर्थिक सिद्धात मे प्रमुख स्थान प्राप्त रहा। वर्तमान शताब्दी के तृतीय दशक मे और केन्ज के रोजगार, ब्याज और मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त—'*General Theory of Employment, Interest and Money*' के प्रकाशित होने से अर्थशास्त्री मन्दी (depression) तथा व्यापार-चक्रो (trade cycles) की समस्याओ के विश्लेषण करने और उचित समाधान सुझाने मे व्यस्त रहे।

परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पूँजीवादी विकसित देशो मे अग्रम निर्भर विकास के केन्जोत्तर विकास-मॉडलो (Post-Keynesian Growth Models) के प्रतिपादित होने से तथा अल्पविकसित देशो मे, जिन्हे विदेशी दासता से स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, आर्थिक विकास द्वारा भीषण दरिद्रता व बेरोजगारी को हटाने के लिए प्रबल इच्छा जाग्रत हुई। फलस्वरूप विकसित तथा अल्पविकसित दोनो प्रकार के देशो मे आर्थिक विकास की आवश्यकता और इच्छा के कारण इस विषय मे अर्थशास्त्रियो की रुचि बहुत बढ गई है और अनेक विकास मॉडल प्रतिपादित किये गए है। कुछ विकास-मॉडल जैसे कि हैरड एव डोमर मॉडल (Harrod-Domar Model) सोलो (Solow) और स्वान (Swan) के नव-प्रतिष्ठित मॉडल (New-Classical Models of Growth of Solow and Swan) कैल्डर और जोन रॉबिन्सन के कैम्ब्रिज विकास मॉडल, इत्यादि विकसित देशो मे विकास की समस्या का विश्लेषण करते हैं।[1] इसी प्रकार अल्पविकसित देशो मे आर्थिक विकास प्रोत्साहित करने के लिए कई विकास सिद्धान्त व मॉडलो की रचना की गई है। इस सम्बन्ध मे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं (क) रगनार नर्क्स (Ragnar Nurkse) द्वारा रचित अल्पविकसित देशों मे पूजी-निर्माण की समस्याएँ— '*Problems of Capital Formation in Underdeveloped Countries*' जिसम उन्होने सन्तुलित विकास (Balanced Growth) तथा प्रच्छन्न बेरोजगारी (Disguised Unemployment) मे पूँजी निर्माण के लिए सम्भाव्य बचत के सिद्धान्त प्रस्तुत किए। (ख) हर्शमैन (Hirschman) द्वारा रचित आर्थिक विकास की प्रविधि—"*Strategy of Economic Development*' जिसमे उन्होने असन्तुलित विकास का सिद्धान्त (Theory of Unbalanced Growth) प्रतिपादित किया। (ग) आर्थर ल्यूस (Arthur Lewis) द्वारा प्रस्तुत "श्रम की असीमित पूर्ति से आर्थिक विकास— '*Economic Development with Unlimited Supplies of Labour*" (घ) ए० के० सेन द्वारा रचित तकनीक का चयन (*Choice of Techniques*) और (ड) एस० चक्रवर्ती (S Chakra-

---

1 जो विद्यार्थी विकसित देशो के सम्बन्ध मे मुख्य विकास मॉडलो की विस्तृत जानकारी प्राप्त करना चाहे वे प्रो० ए० के० सेन द्वारा सकलित पुस्तक '*Growth Economics*' (प्रकाशक Penguin Books) को पढ़ें।

varty) द्वारा लिखी विनियोग-आयोजन की युक्ति (*Logic of Investment Planning*) ।[1]

स्पष्ट है कि हाल के वर्षों में आर्थिक विकास के सिद्धांत के परिमाण व विषय-वस्तु में बहुत ही वृद्धि हुई। अत विकास के सिद्धान्त के लिए एक पृथक् पुस्तक की रचना ही आवश्यक और वांछनीय है और इसलिये हम प्रस्तुत पुस्तक में इसका विश्लेषण नहीं करेंगे।

हम यहाँ पर केवल इतना स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आर्थिक विकास की समस्या का सम्बन्ध इस बात से बहुत है कि कुल राष्ट्रीय आय का कितना भाग लोगों द्वारा उपभोग कर लिया जाय और कितना बचाया जाए ताकि उसे विनियोग कार्यों में लगाया जा सके। किसी वर्ष जितनी राष्ट्रीय आय उत्पादित की जाय और यदि वह सारी-की-सारी उपभोग कर ली जाय और कुछ न बचाया जाय तो विनियोग बिल्कुल नहीं होगा। विनियोग के न होने का अर्थ है कि पूंजी-निर्माण का न होना अर्थात् पूंजीगत पदार्थों जैसे मशीनरी, फैक्ट्रियाँ उपकरण व औजार आदि के भंडार में वृद्धि न होना। पूंजी-निर्माण की दर शून्य हो जाने से केवल आर्थिक विकास रुक ही नहीं जाएगा अपितु भविष्य में राष्ट्रीय उत्पादन और आय घट जायेंगे। राष्ट्रीय उत्पादन व आय को बढाने के लिए, दूसरे शब्दों में अर्थव्यवस्था के विकास के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय का कुछ अंश बचाकर विनियोग के कार्यों में लगाया जाए।

उपभोग और विनियोग के बारे में निर्णय करने का अर्थ है कि वर्तमान वर्ष में उपलब्ध उत्पादन क्षमता अथवा उत्पादन के साधनों की उपलब्ध मात्रा का कितना भाग उपभोक्ता पदार्थों के बनाने में लगाया जाय और कितना भाग पूंजीगत पदार्थों के बनाने में। दूसरे शब्दों में, अर्थव्यवस्था को इस बात का निश्चय करना होता है कि कितनी मात्रा में कुल उपभोक्ता पदार्थ बनाए जाएँ और कितनी मात्रा में कुल पूंजी पदार्थ। जितनी ही अधिक किसी देश में पूंजी पदार्थों में नियत (net) वृद्धि की जाती है, भविष्य में राष्ट्रीय उत्पादन एवं आय उतनी ही तेजी से बढ़ेगी।

चूंकि उत्पादन के साधन दुर्लभ है, इसलिए जब पूंजीगत पदार्थ अधिक पैदा करने का अर्थात् विनियोग की दर बढ़ाने का निर्णय किया जाता है तो कुछ साधन उपभोक्ता पदार्थों से निकालकर पूंजी पदार्थों के बनाने में लगाने होंगे। ऐसा करने से वर्तमान में उपभोक्ता पदार्थों का उत्पादन व उपभोग कम हो जाएगा। अत स्पष्ट है कि पूंजी पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि करने के लिए अथवा विनियोग को बढाने के लिए कुछ वर्तमान उपभोग का त्याग करना पड़ता है।

यह बात समझने योग्य है कि उपभोग और बचत (विनियोग) के निर्णय में वर्तमान और भविष्य के चयन की समस्या (the problem of choice between present and future) निहित है। हमने ऊपर बताया है कि पूंजी पदार्थों का उत्पादन बढ़ाने के लिये वर्तमान उपभोग को कम करना होता है। परन्तु पूंजी पदार्थों की मात्रा बढ जाने से भविष्य में उपभोग बढ़ जाएगा। पूंजी पदार्थ बनाए ही इसलिए जाते है ताकि उनका उपभोक्ता पदार्थों के उत्पादन के लिये प्रयोग करके उनका उत्पादन बढ़ाया जा सके। अत भविष्य में उपभोग बढ़ाने अर्थात् जीवन-स्तर ऊँचा करने के लिये कुछ वर्तमान उपभोग को कम करना आवश्यक होता है।

आर्थिक सिद्धांत तथा प्रस्तुत पुस्तक की संरचना (Economic Theory and the Structure of the Present Book)

जैसा कि ऊपर बता आए है, हम इस पुस्तक में व्यष्टिपरक तथा समष्टिपरक सिद्धान्तों का विश्लेषण करेंगे। आर्थिक विकास के सिद्धान्त की विवेचना इसमें नहीं की जाएगी। विभिन्न आर्थिक प्रश्नों के विवरण

---

1. अल्पविकसित देशों की विकास समस्या के सम्बन्ध में बृहद् जानकारी प्रो० डा० एन० अग्रवाल और एस० पी० सिंह द्वारा सकलित निम्नलिखित दो पुस्तकों से प्राप्त की जा सकती है

(1) A N Aggarwal and S P Singh (ed) *"The Economics of Underdevelopment"*, Oxford University Press, 1958

(2) A N Aggarwal & S P Singh (ed) *Accelerating Investment in Under-developed Countries*, Oxford University Press 1969

से स्पष्ट है कि व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त का सम्बन्ध अर्थव्यवस्था मे वस्तुओ तथा साधनो की सापेक्ष कीमतों के निर्धारण तथा उसके फलस्वरूप साधनो के आवण्टन से है। किसी वस्तु अथवा साधन की कीमत उसके लिए माँग और पूर्ति पर निर्भर करती है। इसलिए वस्तुओ की कीमत निर्धारण की व्याख्या से पहले माँग और पूर्ति के पक्षो का विश्लेषण करना आवश्यक होता है। वस्तुओं के लिए माँग का अध्ययन "माँग सिद्धान्त" (Theory of Demand) के अन्तर्गत किया जाता है, जिसका हाल के वर्षों मे बहुत विस्तार हुआ है। उपभोक्ता की माँग का विश्लेषण क्रमश सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण (Marginal Utility Analysis), हिक्स और ऐलन की अनधिमान वक्र पद्धति, सेमुलसन का उद्घाटित अधिमान सिद्धान्त (Samuelson's Revealed Preference Theory) द्वारा किया गया है जिनकी व्याख्या एव समीक्षा हम विस्तार से इस पुस्तक मे करेंगे। माँग की लोच अथवा मूल्यसापेक्षता का कीमत सिद्धान्त मे बहुत महत्त्व है और इसका भी विशद रूप से अध्ययन किया जाएगा। दूसरी ओर, उत्पादन तथा लागत के सिद्धान्त वस्तुओ की पूर्ति निर्धारित करने वाले तत्त्वो की व्याख्या करते हैं। इसलिए माँग सिद्धान्त के विश्लेषण के बाद हम उत्पादन तथा लागत के सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे।

माँग सिद्धान्त और उत्पादन एव लागत सिद्धान्त पढ़ चुकने के बाद हम वस्तुओ अथवा पदार्थों की कीमतो के निर्धारण का विश्लेषण करेंगे। इस विषय मे सर्वप्रथम हम फर्म और उद्योग के सन्तुलन की धारणा की व्याख्या करेंगे और यह स्पष्ट करेंगे कि उनके सन्तुलनों के लिए कौन-सी शर्तें आवश्यक होती हैं। इसके पश्चात् पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition) की दशा मे वस्तुओ की कीमतो के निर्धारण का विस्तार से विवेचन किया जाएगा।

लगभग 40 वर्ष पहले अर्थशास्त्री यह समझते थे कि माँग और पूर्ति की आर्थिक शक्तियाँ स्वतन्त्र रूप से कार्य करती हैं जिससे पूर्ण प्रतियोगिता की दशा का सन्तुलन स्थापित होने की प्रवृत्ति होती है। वे उस समय एकाधिकार (monopoly) को एक अपवाद के रूप में मानते थे। फलस्वरूप उस समय एकाधिकार तथा अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं मे कीमत निर्धारण और साधन आवण्टन की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया। सन् 1933 मे ग्रेट ब्रिटेन मे जोन राबिन्सन द्वारा प्रकाशित "अपूर्ण प्रतियोगिता का अर्थशास्त्र"—"*Economics of Imperfect Competition*" तथा अमेरिका मे प्रकाशित "एकाधिकारिक प्रतियोगिता का सिद्धान्त" "*Theory of Monopolistic Competition*" से अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं में कीमतों के निर्धारण व साधन-आवण्टन का, जो कि वास्तविक स्थिति के अधिक निकट है, का अधिकाधिक विश्लेषण किया जाने लगा। अत अपूर्ण अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता के सिद्धान्त से कीमत सिद्धान्त अधिक वास्तविक और यथार्थ बन गया। अपूर्ण प्रतियोगिता के अनेक रूप हैं जोकि इस बात पर निर्भर करते हैं कि विभिन्न दशाओं मे एकाधिकार और प्रतियोगिता के कितने-कितने अश वर्तमान होते हैं। एकाधिकार (जिसको अपूर्ण प्रतियोगिता की चरम सीमा कहा जाता है), पदार्थ विभिन्नता सहित तथा उसके बिना अल्पाधिकार (Oligopoly with and *without product differentiation*) और एकाधिकारिक प्रतियोगिता आदि सभी अपूर्ण प्रतियोगिता के विभिन्न रूप हैं। अपूर्ण प्रतियोगिता के सिद्धान्त का प्रस्तुत पुस्तक मे विस्तारपूर्वक विवेचन किया जाएगा।

पदार्थों की कीमतों के निर्धारण की व्याख्या के बाद हम उत्पादन के साधनो की कीमतो का अध्ययन करेंगे। चूँकि प्रत्येक साधन की कीमत जैसे कि मजदूरी, लगान, ब्याज और लाभ के निर्धारण की विशिष्ट समस्याएँ हैं तथा उनकी पृथक्-पृथक् व्याख्या की गई है, इसलिए हम वितरण के सामान्य सिद्धान्त के विश्लेषण के पश्चात् उनकी अलग-अलग व्याख्या भी करेंगे। आजकल वितरण के समष्टिपरक सिद्धान्त (*Macro Theory of Distribution*) जो कि राष्ट्रीय आय में मजदूरी, लाभ आदि के सापेक्ष भागों (*relative shares*) का विवेचन करते हैं, का आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त में महत्त्व बढ़ गया है और इसकी भी व्याख्या विस्तार से की जाएगी। व्यष्टिपरक सिद्धान्त की व्याख्या के अन्त मे हम कल्याणवादी अर्थशास्त्र (Welfare Economics) के विभिन्न दृष्टिकोणों तथा सिद्धान्तों का विश्लेषण करेंगे।

व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त का अध्ययन पूरा कर चुकने के पश्चात् हम समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त का अध्ययन आरम्भ करेंगे। जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त का सम्बन्ध राष्ट्रीय आय और रोजगार के निर्धारण में है जिसकी एक पूंजीवादी विकसित देश के लिए उचित व्याख्या इंग्लैण्ड के प्रमुख अर्थशास्त्री जे० एम० कीन्ज (J. M. Keynes) ने की। इसलिए समष्टिपरक सिद्धान्त में हम आय और रोजगार सम्बन्धी कैन्जियन विश्लेषण का सविस्तार अध्ययन करेंगे। इस विषय में हम यह भी स्पष्ट करेंगे कि कैन्ज का आय और रोजगार सिद्धान्त किस सीमा तक भारत जैसे अल्पविकसित देशों में लागू होता है।

2

व्यष्टिपरक तथा समष्टिपरक अर्थशास्त्र
(MICROECONOMICS AND MACROECONOMICS)

अर्थशास्त्र की विषय-सामग्री को दो भागो मे विभाजित किया गया है : व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र (Microeconomics) तथा समष्टिपरक अर्थशास्त्र (Macroeconomics)। इन शब्दो का सर्वप्रथम निर्माण व प्रयोग रगनार फ्रीश (Ragnar Frisch) ने किया था और उसके पश्चात् विश्व भर के अर्थशास्त्री इनका प्रयोग कर रहे हैं। आज आपको सम्भवत. ही अर्थशास्त्र की कोई ऐसी पाठ्य पुस्तक मिले जिसमे आधुनिक आर्थिक विश्लेषण को दो भागो मे विभाजित न किया गया हो : एक जिसमे व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र का वर्णन हो और दूसरे जिसमे समष्टिपरक अर्थशास्त्र का। अग्रेजी का 'माइक्रो-इकनामिक्स' शब्द ग्रीक शब्द 'माइक्रोज' (Mikros) से बना है जिसका अर्थ है 'लघु' (small) और मेक्रो-इकनामिक्स शब्द ग्रीक शब्द 'मेक्रोज' (Makros) से जिसका अर्थ है 'विशाल' (large)। इस प्रकार व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र मे अर्थव्यवस्था मे वर्तमान लघु इकाइयो, जैसे व्यक्तिगत उपभोक्ताओ, व्यक्तिगत फर्मों तथा व्यक्तिगत इकाइयो के छोटे-छोटे समूहो जैसे उद्योग व बाजारो, का अध्ययन किया जाता है। इसके दूसरी ओर, समष्टिपरक अर्थशास्त्र मे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था तथा इसके विशाल समूहो जैसे कुल राष्ट्रीय उत्पाद तथा आय, कुल रोजगार, कुल उपभोग, कुल विनियोग (investment) का आर्थिक विश्लेषण किया जाता है। इस प्रकार, जैसा कि बोल्डिंग (Boulding) ने लिखा है : "व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र मे विशिष्ट फर्मों, विशिष्ट परिवारो, व्यक्तिगत कीमतो, मजदूरियो, आयो, व्यक्तिगत उद्योगो और विशिष्ट वस्तुओ का अध्ययन किया जाता है।"[1] समष्टिपरक अर्थशास्त्र के सम्बन्ध मे उनका कथन है— "समष्टिपरक अर्थशास्त्र व्यक्तिगत मात्राओ का अध्ययन नहीं करता बल्कि इन मात्राओ के समूहो का अध्ययन करता है, व्यक्तिगत आयो का नही बल्कि राष्ट्रीय आय का; व्यक्तिगत कीमतो का नही बल्कि कीमत स्तर का; व्यक्तिगत उत्पादनो का नही बल्कि राष्ट्रीय उत्पादन का।"[2]

उपर्युक्त वर्णन से आपको व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र तथा समष्टिपरक अर्थशास्त्र के अन्तर की कुछ जानकारी हो गयी होगी। निम्न वर्णन के अध्ययन से इन दोनो का विश्लेषणात्मक अन्तर भी स्पष्ट हो जाएगा।

व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र (Micro-Economics)

जैसा कि ऊपर बताया गया है, व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र मे व्यक्तिगत इकाइयो तथा लघु समूहो की आर्थिक

1. K. E Boulding : *A Reconstruction of Economics* (1950), p 30.

2. K E Boulding : *Economic Analysis*, p 25.

क्रियाओं तथा उनके व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। आर्थिक व्यष्टिपरक सिद्धान्त मे हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि आर्थिक जीवी (economic organism) के विभिन्न कोश (cells) अर्थात् अर्थव्यवस्था की विभिन्न इकाइयाँ, जैसे कि सहस्रों उपभोक्ता सहस्रों उत्पादक अथवा फर्में सहस्रों श्रमिक तथा अन्य साधनों के विक्रेता, किस प्रकार अपनी आर्थिक क्रियाएँ करती हैं तथा किस प्रकार सन्तुलन की स्थिति को प्राप्त करती हैं। अन्य शब्दों मे, व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र मे हम अर्थव्यवस्था का सूक्ष्म अध्ययन करते हैं। ध्यान रहे कि व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र मे हम अर्थव्यवस्था का अध्ययन समूचे रूप मे नहीं करते। इसके विपरीत, व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र में अर्थव्यवस्था की अनगिनत इकाइयों के सन्तुलन का पृथक-पृथक अध्ययन किया जाता है और साथ ही इन इकाइयों के अन्तर-सम्बन्धों (inter relationships) की विवेचना भी की जाती है। प्रोफेसर लरनर (Lerner) ने ठीक ही कहा है "व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र मे अर्थशास्त्र को माइक्रोस्कोप से देखा जाता है जिससे पता चल सके कि आर्थिक जीवी के लाखों कोश (cells)—व्यक्ति तथा परिवार उपभोक्ताओं के रूप में तथा व्यक्ति तथा फर्में उत्पादकों के रूप मे—सम्पूर्ण आर्थिक जीवी के कार्यचालन मे अपना योगदान किस प्रकार दे रहे हैं।"[1] उदाहरण के लिए, व्यष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण मे हम एक पदार्थ के लिए एक व्यक्ति की माँग का अध्ययन करते हैं और इसकी सहायता से उस पदार्थ की बाजार माँग का पता लगाते हैं (अर्थात् एक विशिष्ट पदार्थ का उपभोग करने वाले विभिन्न व्यक्तियों के समूह की माँग का)। इसी प्रकार व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त म व्यक्तिगत फर्मों के कीमत तथा उत्पादन निर्धारण सम्बन्धी व्यवहारों का अध्ययन किया जाता है और पता लगाया जाता है कि माँग व पूर्ति की दशाओं मे परिवर्तनों का उनकी क्रियाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है। इस अध्ययन की सहायता से हम एक उद्योग की कीमत तथा उत्पादन के निर्धारण की क्रियाओं का अध्ययन करते हैं (उद्योग का अर्थ है एक समान पदार्थ का उत्पादन करने वाली विभिन्न फर्मों का समूह)। इस प्रकार व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त मे हम उस प्रक्रिया का अध्ययन करते हैं जिसके द्वारा विभिन्न आर्थिक इकाइयाँ सन्तुलन की स्थिति को प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं। इस अध्ययन मे हम व्यक्तिगत इकाइयों के अध्ययन से संकुचित रूप से परिभाषित समूहों (narrowly defined groups) अर्थात् बाजारों (markets) तथा उद्योगों (industries) जैसे समूहों के सन्तुलन के अध्ययन की ओर चलते हैं। व्यष्टिपरक विश्लेषण मे इन लघु आर्थिक समूहों का अध्ययन किया जाता है क्योंकि इस अध्ययन का सम्बन्ध किसी विशिष्ट आर्थिक क्रिया से सम्बन्धित अर्थव्यवस्था की समस्त इकाइयों के सामूहिक व्यवहार (totality of behaviour of all units in the economy for any particular economic activity) से नहीं है। दूसरे शब्दों म, व्यष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण मे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का अध्ययन नहीं किया जाता।

व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त में हम यह पूर्वकल्पना कर लेते हैं कि साधनों की मात्रा निश्चित है और इसलिए मुख्य समस्या साधनों के विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में आवण्टन (allocation) की है। साधनों के आवण्टन से ही यह निश्चित होता है कि किन वस्तुओं का तथा किस प्रकार उत्पादन किया जाएगा। एक स्वतन्त्र-बाजार अर्थव्यवस्था (free market economy) के विभिन्न उत्पादन के साधनों का आवण्टन विभिन्न वस्तुओं तथा उत्पादन-साधनों की कीमतों पर निर्भर करता है। अत साधनों के आवण्टन का अध्ययन करने के लिए व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र में पहले वस्तुओं और साधनों की सापेक्ष कीमतों (relative prices) के निर्धारण की समस्या पर विचार किया जाता है। इस प्रकार पदार्थ-कीमत सिद्धान्त (Theory of Product Pricing) तथा साधन-कीमत सिद्धान्त (Theory of Factor Pricing) दोनों ही व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे सम्मिलित हैं। पदार्थ-कीमत सिद्धान्त से हमको पता लगता है कि विभिन्न वस्तुओं, जैसे कपड़ा, खाद्यान्न, जूट, केरोसीन तेल, वनस्पति घी तथा सहस्रों अन्य वस्तुओं की सापेक्ष कीमतें (relative prices) किस प्रकार निर्धारित होती हैं। साधन-कीमत सिद्धान्त

---

1 Abba P Lerner Microeconomic Theory, printed in *Perspectives in Economics* edited by Brown Neuberger, and Palmatier (Preliminary Edition 1965) p. 21.

अथवा वितरण का सिद्धान्त (theory of distribution) यह बताता है कि मजदूरियों (श्रम के प्रयोग की कीमत), लगान (भूमि के उपयोग के लिए दी गई कीमत), ब्याज (पूंजी के प्रयोग की कीमत) तथा लाभ (उद्यमकर्त्ता का पारितोषिक) का निर्धारण किस प्रकार होता है। अत पदार्थ-कीमत सिद्धान्त तथा साधन-कीमत सिद्धान्त व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र की दो शाखाएँ हैं।

पदार्थों की कीमतें उस वस्तु की माँग व पूर्ति की शक्तियों पर निर्भर करती हैं। वस्तु की माँग उपभोक्ताओं के व्यवहार-ढाँचे (behaviour pattern) पर निर्भर करती है तथा वस्तु की पूर्ति उत्पादन तथा लागत की दशाओं और फर्मों या उद्यमकर्त्ताओं के व्यवहार-ढाँचे द्वारा निर्धारित होती है। इसलिए पदार्थों और साधनों की कीमतों के निर्धारण को स्पष्ट करने के लिए माँग व पूर्ति की दशाओं का विश्लेषण करना होता है। अत माँग सिद्धान्त तथा उत्पादन-सिद्धान्त, कीमत-सिद्धान्त के दो उपविभाग हैं।

विभिन्न साधनों तथा वस्तुओं की कीमत-निर्धारण तथा कीमत-प्रक्रिया के द्वारा साधन-आवण्टन का विश्लेषण करने के अतिरिक्त, व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र में यह भी बताया जाता है कि साधनों का आवण्टन दक्ष (efficient) है अथवा नहीं। साधनों के आवंटन में दक्षता (efficiency) को तब प्राप्त किया जाता है जबकि विभिन्न साधनों का आवण्टन इस प्रकार से किया जाय कि व्यक्तियों को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो। इस आर्थिक दक्षता (economic efficiency) में तीन दक्षताएँ सम्मिलित होती हैं - उत्पादन में दक्षता, व्यक्तियों में वस्तुओं के वितरण से सम्बन्धित दक्षता (इसको उपभोग दक्षता भी कहा जाता है) तथा सर्वांगीण (overall) दक्षता जिसका अर्थ है उत्पादन निदेशन (direction of production) में दक्षता। व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र से पता चलता है कि इन दक्षताओं को किन दशाओं में प्राप्त किया जा सकता है। व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र से यह भी पता चलता है कि इन दक्षताओं के प्राप्त न होने पर व्यक्तियों को प्राप्त होने वाली सन्तुष्टियों में किस प्रकार कमी हो जाती है।

उत्पादन दक्षता (efficiency in production) का तात्पर्य यह है कि निश्चित साधनों से विभिन्न वस्तुओं की अधिकतम मात्रा का उत्पादन किया जाय। जब इस प्रकार की उत्पादन-दक्षता को प्राप्त कर लिया जाता है तो विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं में पुनराबण्टन करके, बिना किसी वस्तु के उत्पादन में कमी किए, किसी अन्य वस्तु के उत्पादन में वृद्धि करना सम्भव नहीं होता। उपभोग-दक्षता (efficiency in consumption) का अर्थ है कि समस्त उपभोक्ताओं में वस्तुओं और सेवाओं का वितरण इस प्रकार से किया जाय कि समाज की कुल सन्तुष्टि अधिकतम हो। इस प्रकार की कुशलता को प्राप्त कर लेने पर, वस्तुओं के पुनर्वितरण द्वारा, कुछ व्यक्तियों को दुखी[1] बनाए बिना, अन्य व्यक्तियों को सुखी[2] नहीं बनाया जा सकता। सर्वाङ्गीण आर्थिक दक्षता (overall economic efficiency) अथवा उत्पादन के अनुकूलतम निदेशन (optimum direction of production) का अर्थ है उन वस्तुओं का उत्पादन करना तथा उतनी-उतनी मात्रा में जो कि समाज के लोगों की इच्छाओं के अनुरूप हों अर्थात् उत्पादन का निदेशन इस प्रकार का हो कि व्यक्तियों की अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो।

दूसरे शब्दों में, सर्वाङ्गीण आर्थिक कुशलता का तात्पर्य यह है कि उत्पादन-ढाँचे अर्थात् देश में विभिन्न वस्तुओं एव सेवाओं का उत्पादन व्यक्तियों के उपभोग-ढाँचे के अनुसार होना चाहिए। यह सभव है कि उपभोग तथा उत्पादन दक्षताएँ प्राप्त कर लेने पर भी उन वस्तुओं का उत्पादन व वितरण न हो जिनकी इच्छा व्यक्तियों ने की है। कुछ इस प्रकार की वस्तुएँ हो सकती हैं जिनकी इच्छा व्यक्तियों को अधिक है परन्तु जिनका उत्पादन नहीं किया गया है तथा इसका विलोम क्रम (vice versa)। सक्षेप में, सर्वाङ्गीण दक्षता (उत्पादन का अनुकूलतम निदेशन) को उस समय प्राप्त किया जाता है जब विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में साधनों का आवंटन इस प्रकार किया जाय कि व्यक्तियों को अधिकतम संतुष्टि प्राप्त हो। एक बार इस स्थिति को प्राप्त कर लेने के पश्चात् यदि साधनों का पुनर्बण्टन

1. कुछ व्यक्तियों को दुखी बनाने का अर्थ है उनकी सतुष्टि में कमी करना।

2. कुछ व्यक्तियों को सुखी बनाने का अर्थ है उनकी सतुष्टि में वृद्धि करना।

किया जाय और कुछ वस्तुएँ कम व अधिक उत्पादित की जायें तो इससे संतुष्टि तथा दक्षता घट जायेगी। आर्थिक दक्षता की समस्या सैद्धान्तिक कल्याणकारी अर्थशास्त्र (Welfare Economics) की विषय-वस्तु है जो व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र की एक महत्वपूर्ण शाखा है। व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र के दक्षता तथा कल्याण की समस्या से निकटतम रूप से सम्बन्धित होने का ज्ञान एक विख्यात अमेरिकन अर्थशास्त्री ए० पी० लरनर के निम्न कथन से होता है, "व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र में हम उस अदक्षता (inefficiency) या अपव्यय को बचाने के बारे में अध्ययन करते हैं जो उत्पादन के अधिकतम कुशल तरीके से संगठित न होने के कारण उत्पन्न होते हैं। इस अदक्षता का अर्थ यह है कि वस्तुओं का जिस प्रकार उत्पादन व उपभोग किया जा रहा है उसे पुनर्व्यवस्थित करके अन्य दुर्लभ वस्तुओं की मात्रा में कोई कमी किए बिना किसी दुर्लभ वस्तु का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है या वर्तमान वस्तु के स्थान पर किसी अधिक इच्छित वस्तु का प्रतिस्थापन किया जा सकता है। व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र दक्षताओं की दशाओं को (समस्त अदक्षताओं को दूर करना) बताता है और उनको प्राप्त करने के सम्बन्ध में सुझाव देता है। ये दशाएँ (जिनको 'पेरेटो-आपटीमल' (Pareto Optimal) दशाएँ कहा जाता है) जनसंख्या के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाने में अत्यधिक सहायक होती हैं।"[1]

प्रथम अध्याय में जिन छः आधारभूत आर्थिक समस्याओं का वर्णन किया गया है, उनमें से चार, जो कि ये हैं : (1) किन वस्तुओं का कितनी मात्रा में उत्पादन किया जायगा, (2) उनका उत्पादन किस प्रकार किया जाएगा, (3) उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं का वितरण किस प्रकार किया जाय, तथा (4) वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन व वितरण कुशल अथवा दक्ष है अथवा नहीं, व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र के क्षेत्र में ही आते हैं। व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र के सम्पूर्ण क्षेत्र को निम्न तालिका से स्पष्ट कर सकते हैं।

1 Abba P. Lerner Microeconomic Theory, printed in *Perspectives in Economics*, edited by Brown, Neuberger and Palmatier (Preliminary Edition, 1968) p 30

व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र

- पदार्थ कीमत निर्धारण
  - माँग का सिद्धान्त
  - उत्पादन व लागत सिद्धान्त
- साधन-कीमत निर्धारण [वितरण का सिद्धान्त]
  - लगान
  - मजदूरी
  - ब्याज
  - लाभ
- आर्थिक कल्याण सिद्धान्त
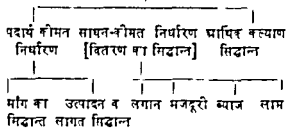
सामान्यतः यह समझा जाता है कि व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र का सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं है और व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र तथा समष्टिपरक अर्थशास्त्र में मुख्य अन्तर यही है कि प्रथम का सम्बन्ध सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से नहीं है जबकि समष्टिपरक अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का ही अध्ययन किया जाता है। परन्तु यह सत्य नहीं है। व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र का सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से भी सम्बन्ध है, यह इस तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें समाज के उत्पादन-साधनों में आवण्टन तथा उनकी दक्षता से सम्बन्धित समस्या का अध्ययन किया जाता है। व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र तथा समष्टिपरक अर्थशास्त्र दोनों ही सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का विश्लेषण करते हैं परन्तु दोनों अर्थव्यवस्था का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से करते हैं। व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का सूक्ष्म अध्ययन (microscopic analysis) किया जाता है अर्थात् इसमें अर्थव्यवस्था की व्यक्तिगत आर्थिक इकाइयों के व्यवहार, उनके परस्पर सम्बन्ध तथा अनुमन समायोजन का विश्लेषण किया जाता है जिसमें समाज में साधनों के आवंटन का निर्धारण होता है। इसको सामान्य सन्तुलन विश्लेषण (General Equilibrium Analysis) भी कहा जाता है।

निस्सन्देह, व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र विशिष्ट या आंशिक सन्तुलन विश्लेषण (Particular or Partial Equilibrium Analysis) भी करता है जिसका अर्थ है अन्य दशाओं को स्थिर मान कर, व्यक्तिगत आर्थिक इकाइयों के सन्तुलन का अध्ययन। परन्तु व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र जैसा कि ऊपर बताया गया है, सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के सामान्य सन्तुलन विश्लेषण का भी अध्ययन करता है जिसमें यह स्पष्ट किया जाता है कि समस्त आर्थिक इकाइयों, विभिन्न साधन बाजार, विभिन्न

पदार्थ बाजार, मुद्रा व पूँजी बाजार, किस प्रकार एक दूसरे से सम्बन्धित है तथा एक दूसरे पर निर्भर हैं और किस प्रकार अपने परिवर्तनो मे विभिन्न समायोजनो तथा पुन समायोजनो के द्वारा वे सामान्य सन्तुलन को प्राप्त करते है अर्थात् प्रत्येक अपने व्यक्तिगत तथा अन्य के साथ मिलकर सामूहिक सतुलन को किस प्रकार प्राप्त करता है। प्रो० ए० पी० लरनर ने ठीक ही कहा है 'वास्तव मे समष्टिपरक अर्थशास्त्र की तुलना मे व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र का सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से घनिष्ठ सम्बन्ध है और कहा जा सकता है कि यह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का सूक्ष्म अध्ययन करता है। हम यह देख चुके है कि आर्थिक दक्षता को उस समय किस प्रकार प्राप्त किया जाता है जबकि आर्थिक सरचना के कोश, परिवार तथा फर्म, अपने व्यवहार का समायोजन क्रय-विक्रय की जा रही वस्तुओ की कीमतो से कर लेते है। तब प्रत्येक कोश को 'सन्तुलन मे' कहा जाता है। परन्तु ये समायोजन, आगे प्रदत्त माग व पूर्ति को प्रभावित करते है जिनसे उनकी कीमतें प्रभावित होती है। इसका अर्थ हुआ कि समायोजित कोशो को फिर से स्वय को समायोजित करना होता है। इससे अन्य का समायोजन अस्त व्यस्त हो जाता है और यह क्रम चलता रहता है। व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण कार्य यह पता लगाना है कि विभिन्न कोश क्यो और किस प्रकार एक साथ समायोजित होते है। आशिक सन्तुलन या विशिष्ट सतुलन की तुलना मे इसको सामान्य सन्तुलन कहते है। सामान्य सन्तुलन विश्लेषण सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के विभिन्न भागो के अन्तर सम्बन्धो का सूक्ष्म अध्ययन है। सर्वांगीण आर्थिक दक्षता इस विश्लेषण का एक विशेष पक्ष है।"[1]

व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र का महत्व तथा उपयोग (Importance and Uses of Microeconomics)

अर्थशास्त्र मे व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र का महत्वपूर्ण स्थान है और इसका सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक महत्त्व है। इसकी सहायता से उन आर्थिक नीतियो को निर्धारित किया जा सकता है जिनसे जनता के कल्याण मे वृद्धि हो। कुछ समय पूर्व मुख्यत केन्जियन क्रान्ति (Keynesian Revolution) से पूर्व अर्थशास्त्र का प्रमुख भाग व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र ही था। आज के युग मे समष्टिपरक अर्थशास्त्र की बढती हुई लोकप्रियता के बावजूद व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र के सैद्धान्तिक एव व्यावहारिक महत्व मे कोई कमी नही आई है। व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र से ही हमे पता चलता है कि मुक्त बाजार अर्थात् पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था जिसमे लाखो उत्पादक तथा उपभोक्ता होते है, किस प्रकार हजारो वस्तुओ और सेवाओ मे साधनो का आवण्टन करती है। जैसा कि प्रोफेसर वाटसन (Watson) ने लिखा है "समष्टिपरक अर्थशास्त्र कुल उत्पादन के गठन अथवा आवण्टन को बताता है, कुछ वस्तुएँ अन्य की तुलना मे अधिक क्यो उत्पादित की जाती है।'[2] वे आगे लिखते है कि

---

1 "Actually microeconomics *is much more intimately concerned with the economy as a whole* than is macroeconomics, and can even be said *to examine the whole economy microscopically* We have seen how economic efficiency is obtained when the 'cells' of the economic organism, the households and firms have adjusted their behaviour to the prices of what they buy and sell Each cell is then said to be 'in equilibrium But these adjustments in turn affect the quantities supplied and demanded and therefore also their prices This means that the adjusted cells then have to readjust themselves This in turn upsets the adjustment of others again and so on An important part of microeconomics is *examining* whether and how *all* the different cells get adjusted at the same time This is called *general equilibrium analysis* in contrast with *particular equilibrium* or *partial equilibrium analysis* General equilibrium analysis is the microscopic examination of the inter relationship of parts within the economy as a whole *Overall economic efficiency* is only a special aspect of this analysis" Abba P Lerner *op cit* pp , 36 37

2 D S Watson, *Price Theory and Its Uses* (1963) p 5

व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र के "विभिन्न उपयोग हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण तो यह है कि इससे हम मुक्त निजी उद्यम अर्थव्यवस्था के कार्य-चालन को भली प्रकार से समझ सकते हैं।"[1] इसके अतिरिक्त, इससे हमें यह भी पता चलता है कि कीमत या बाजार प्रक्रिया के माध्यम से उपभोग के लिए विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं का वितरण किस प्रकार होता है। इससे पता चलता है कि विभिन्न पदार्थों तथा साधनों की सापेक्ष कीमतें किस प्रकार निर्धारित होती हैं, अर्थात् कपड़े की जो कीमत है वह क्यों है और इंजीनियर को जो वेतन मिल रहा है, उसको उतना ही वेतन क्यों मिल रहा है, कम या अधिक क्यों नहीं आदि-आदि। इसके अतिरिक्त, जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त उपभोग तथा उत्पादन में दक्षता की दशाओं को स्पष्ट करता है तथा उन कारकों को बताता है जिनके कारण दक्षता अथवा आर्थिक अनुकूलतम (Economic Optimum) प्राप्त नहीं हो पाता। इसके आधार पर व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त उपयुक्त नीतियों का सुझाव देता है जिससे समाज की आर्थिक दक्षता तथा उनके कल्याण में वृद्धि हो। इस प्रकार व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त केवल अर्थव्यवस्था के वास्तविक कार्यचालन का ही वर्णन नहीं करता अपितु इसका कार्य आदर्शवादी (normative) भी है क्योंकि यह उन नीतियों का भी सुझाव देता है जिससे व्यक्तियों के कारण या उनकी सन्तुष्टि को अधिकतम करने के लिए आर्थिक व्यवस्था में से अदक्षता को दूर किया जा सके। व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र के उपयोग व महत्त्व का सुन्दर वर्णन प्रोफेसर लरनर ने निम्न शब्दों में किया है "व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त लाखों तथ्यों की अति जटिल स्थिति को, उन व्यवहारों के सरल मॉडल बना कर, समझने में सहायता करता है जो वास्तविक जगत के पर्याप्त निकट हैं। ये मॉडल साथ ही, अर्थशास्त्रियों को यह समझाने में सहायक हैं कि वास्तविक तथ्य किस सीमा तक उन आदर्श स्थितियों से भिन्न हैं जो व्यक्तिगत तथा सामाजिक उद्देश्यों को पूर्ण रूप से प्राप्त कर सकती हैं। इस प्रकार ये केवल वास्तविक आर्थिक स्थितियों का वर्णन ही नहीं करते अपितु उन नीतियों का भी सुझाव देते हैं जिनसे अपेक्षित परिणामों को अधिक सफलता तथा कुशलता से प्राप्त किया जा सकता है और वे इन नीतियों तथा घटनाओं के परिणामों को पूर्वानुमानित करते हैं। इस प्रकार अर्थशास्त्र के वर्णनात्मक (descriptive), आदर्शवादी (normative) तथा पूर्वानुमान सम्बन्धी पक्ष हैं।"[1]

ऊपर हमने बताया कि व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र यह बताता है कि विकेन्द्रित व्यवस्था वाली मुक्त, निजी उद्यम अर्थव्यवस्था (Private Free-Enterprise Economy) किस प्रकार बिना किसी केन्द्रीय नियन्त्रण के कार्य करती है। यह इस तथ्य पर भी प्रकाश डालती है कि पूर्णतया केन्द्र नियन्त्रित अर्थव्यवस्था (Centrally Controlled Economy) का कुशल कार्यचालन असम्भव है। आधुनिक अर्थव्यवस्था इतनी जटिल है कि केन्द्रीय नियोजन अधिकारी के लिए साधनों के अनुकूलतम आवण्टन तथा हजारों उत्पादन इकाइयों, जिनकी अपनी स्वय की विभिन्न विशिष्ट समस्याएँ हैं को उनके साधनों के कुशल उपयोग के लिए निदेशन देने के लिए आवश्यक सूचना एकत्र करना कठिन है। प्रो० लरनर के ही शब्दों में, "व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र हमको बताता है कि अर्थव्यवस्था का केन्द्र द्वारा पूर्णतया 'प्रत्यक्ष' कार्यचालन असम्भव है क्योंकि एक आधुनिक अर्थव्यवस्था इतनी जटिल है कि कोई भी केन्द्रीय आयोजन सस्था इसके कुशल चालन के लिए समस्त तथ्यों आँकड़ों को एकत्र करके आवश्यक निदेशन नहीं दे सकती। इसमें, लाखों उत्पादक साधनों तथा माध्यमिक पदार्थों की उपलब्ध मात्राओं प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक वस्तु में उत्पादन के उन तरीकों जिनका पता है तथा उन विभिन्न वस्तुओं की मात्राओं और किस्मों जिनका उपभोग करना है या जिनको समाज की उत्पादन साज-सज्जा में सम्मिलित करना है, में होने वाले निरन्तर परिवर्तनों में समायोजन करने के लिए आवश्यक निदेशनों को सम्मिलित करना होगा। इस विशाल कार्य को केवल विकेन्द्रित व्यवस्था को विकसित करके ही प्राप्त किया जा सकता है और भूतकाल में इसी प्रकार से इसको प्राप्त भी किया गया है। इस व्यवस्था में लाखों उत्पादक एव उपभोक्ता सामाजिक हित के

1 *Ibid*, p 11

1 A P Lerner, *op cit*, p 29

लिए कार्य करने के लिए प्रेरित होते हैं, बिना किसी केन्द्रीय सस्था के हस्तक्षेप के जोकि *क्या तथा कैसे* उत्पादन किया जाय तथा किस वस्तु का उपभोग किया जाय के निदेश देती हो।"[1]

व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र बताता है कि कल्याण अनुकूलतम (welfare optimum) अथवा आर्थिक कुशलता (economic efficiency) को तब प्राप्त किया जा सकता है जबकि *पदार्थ तथा साधन बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता* हो। पूर्ण प्रतियोगिता तब होती है जबकि बाजार मे क्रेताओ और विक्रेताओ की सख्या इतनी अधिक हो कि कोई भी एक क्रेता अथवा विक्रेता पदार्थ अथवा साधन की कीमत को प्रभावित न कर सके। पूर्ण प्रतियोगिता को त्याग देने मे कल्याण के स्तर मे गिरावट आ जाती है और आर्थिक दक्षता कम हो जाती है। इसी सन्दर्भ मे व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धात के अधिकाश भाग मे यह बताने का प्रयत्न किया जाता है कि किस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता और इसलिये अनुकूलतम (आर्थिक दक्षता) से दूर हटने की प्रकृति होती है तथा किस प्रकार उत्पादन व कीमत पर एक बडी फर्म या फर्मों के समूह के नियन्त्रण मे एकाधिकार की समस्या उत्पन्न हो जाती है। व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र बताता है कि एकाधिकारी स्थिति के कारण किस प्रकार साधनो का आवण्टन ठीक नही होता जिसके कारण आर्थिक दक्षता या अधिकतम कल्याण मे कमी आ जाती है। यह आर्थिक दक्षता या अधिकतम कल्याण को प्राप्त करने के लिए एकाधिकार को नियन्त्रित करने के लिए महत्वपूर्ण तथा उपयोगी नीति सम्बन्धी सुझाव भी देता है। एकाधिकार के समान, क्रेताधिकार (monopsony) (जबकि एक बडा क्रेता या क्रेताओ का समूह कीमत को नियन्त्रित करता है) के कारण भी कल्याण मे कमी आती है और इसलिए इसको भी नियन्त्रित करने की आवश्यकता है। इसी प्रकार व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र *अल्पाधिकार (oligopoly) या अल्प-क्रेताधिकार* (oligopsony), जिसकी मुख्य विशेषता यह है कि व्यक्तिगत विक्रेता (या क्रेता), अपनी क्रियाओ से सम्बन्धित निर्णय लेते समय इस बात का भी ध्यान रखता है कि उसके प्रतियोगियो की कीमत, पदार्थ तथा विज्ञापन नीति पर उसके निर्णयो की क्या प्रतिक्रिया होगी, *के कल्याण सम्बन्धी प्रभावो पर भी विचार करता है।*

कल्याण अनुकूलतम (welfare optimum) से एक दूसरे प्रकार का विचलन 'बाह्यताओं' (externalities) की समस्या है। बाह्यताऐं तब कही जाती हैं जबकि किसी वस्तु का उपभोग व उत्पादन उन से भिन्न व्यक्तियो को प्रभावित करता है जो उस वस्तु का उत्पादन, उपभोग या विक्रय कर रहे होते हैं। ये बाह्यताएँ या तो बाह्य मितव्ययताओ (external economies) के रूप मे हो सकती हैं, या बाह्य अमितव्ययताओ के रूप मे। बाह्य मितव्ययताएँ तब होती है जबकि एक व्यक्ति द्वारा किया जा रहा एक वस्तु का उपभोग या उत्पादन अन्य व्यक्तियो को लाभ पहुचाये और *बाह्य अमितव्ययताएँ* (external diseconomies) तब कही जाती हैं जब उनके द्वारा उत्पादित या उपभोग की गई वस्तु से दूसरे व्यक्ति को हानि होती हो। व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त बताता है कि जब बाह्यताऐं विद्यमान होती है तो कीमत-प्रक्रिया (price mechanism) के माध्यम से आर्थिक दक्षता को प्राप्त नही किया जा सकता क्योकि यह उन लाभो या हानियो को ध्यान मे नही लेती जो व्यक्तिगत उपभोक्ताओ और उत्पादको के लिए बाह्य हैं। अधिकतम सामाजिक कल्याण को प्राप्त करने के उद्देश्य से, जब बाह्यताएँ विद्यमान हो, सरकार को कीमत-प्रक्रिया की अपूर्णताओं (imperfections) को दूर करने के लिए हस्तक्षेप करना पडता है।

व्यष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण का उपयोगी प्रयोग अर्थशास्त्र की व्यावहारिक शाखाओ (Applied Branches) जैसे लोकवित्त, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, मे भी किया जाता है। व्यष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण की सहायता ही से उन कारको की व्याख्या की जाती है जो उत्पादको अथवा विक्रेताओ तथा क्रेताओ के मध्य किसी पदार्थ पर लगे कर के भार (incidence of tax) के वितरण को बताते है। इसके अतिरिक्त, व्यष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण मे सामाजिक कल्याण या आर्थिक दक्षता म हो रही उस हानि को स्पष्ट किया जा सकता है जो करारोपण के कारण होती है। यदि यह मान लिया जाय कि करारोपण से पूर्व साधनो का

1 A P Lerner, *op cit*, p 33

अनुकूलतम आवण्टन (optimum allocation of resources) या अथवा सामाजिक कल्याण अधिकतम था तो व्यष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण की सहायता से यह स्पष्ट किया जा सकता है कि इस करारोपण से सामाजिक कल्याण को कितनी हानि होगी। किसी वस्तु पर करारोपण (अर्थात् अप्रत्यक्ष कर) से सामाजिक कल्याण में हानि होती है क्योंकि साधनों का आवण्टन कुशलतम नहीं रहता, जबकि प्रत्यक्ष करारोपण (जैसे आय कर) से साधनों का कुशलतम आवटन प्रभावित नहीं होता और इस कारण इससे सामाजिक कल्याण में कमी नहीं होती। व्यष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण का प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों (gains from international trade) को बताने के लिए भी किया जाता है। साथ ही यह उन कारकों का भी वर्णन करता है जो इस लाभ को, व्यापार में भाग ले रहे देशों में विभाजित करता है। इसके अतिरिक्त व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की विभिन्न समस्याओं के विवेचन करने तथा सुलझाने में सहायता करता है। भुगतान सन्तुलन में उत्पन्न हो रहे असन्तुलन को दूर करने में अवमूल्यन (devaluation) सफल होगा अथवा नहीं, यह आयात व निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की माग व पूर्ति की मूल्यसापेक्षताओं (elasticities) पर निर्भर करता है। किसी मुद्रा की विनिमय दर का निर्धारण, यदि यह परिवर्तनशील है, उस मुद्रा की माँग व पूर्ति पर निर्भर करेगा।

अतः स्पष्ट हो जाता है कि व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त की एक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण शाखा है।

समष्टिपरक अर्थशास्त्र (Macroeconomics)

अब हम समष्टिपरक अर्थशास्त्र की विषय-वस्तु (contents) तथा दृष्टिकोण की व्याख्या करेंगे। जैसे ऊपर बताया जा चुका है, अंग्रेजी का 'मैक्रो' (Macro) ग्रीक शब्द 'मक्रोज' (Makros) से बना है जिसका अर्थ है 'विशाल' (Large) और इसलिए समष्टिपरक अर्थशास्त्र का सम्बन्ध विशाल आर्थिक क्रियाओं से है। समष्टिपरक अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था का अध्ययन सम्पूर्ण रूप में किया जाता है। दूसरे शब्दों में, समष्टिपरक अर्थशास्त्र विशाल समूहों, जैसे कुल रोजगार, कुल राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय, सामान्य कीमत-स्तर आदि की क्रियाओं का अध्ययन करता है। इसलिए ही समष्टिपरक अर्थशास्त्र को सामूहिक अर्थशास्त्र (Aggregative Economics) भी कहा जाता है। समष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण इन समूहों में फलन सबधों (functional relationship) का विश्लेषण व स्थापना करता है। इस सबध में प्रोफेसर बोलडिंग (Boulding) का कथन है, "समष्टिपरक अर्थशास्त्र व्यक्तिगत मात्राओं का अध्ययन नहीं करता बल्कि इन मात्राओं के समूहों का अध्ययन करता है, व्यक्तिगत आयों का नहीं अपितु राष्ट्रीय आय का, व्यक्तिगत कीमतों का नहीं अपितु सामान्य कीमत-स्तर का, व्यक्तिगत उत्पादन का नहीं अपितु राष्ट्रीय उत्पादन का।"[1] अपनी दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक आर्थिक विश्लेषण—*Economic Analysis* में भी उसने इसी प्रकार लिखा, "समष्टिपरक अर्थशास्त्र विषय का वह भाग है जो विशाल समूहों तथा औसतों का अध्ययन करता है, समूची व्यवस्था का अध्ययन करता है, उसकी व्यक्तिगत इकाइयों का नहीं और इन समूहों को उपयोगी तरीके से परिमापित करके उनके परस्पर सबधों की जाँच करने का प्रयत्न करता है।"[2] प्रोफेसर गार्डनर ऐक्ले (Prof Gardner Ackley) ने दोनों प्रकार के अर्थशास्त्रों में स्पष्ट अन्तर करते हुए लिखा है, "समष्टिपरक अर्थशास्त्र का सबध, एक अर्थव्यवस्था में उत्पादन की समस्त मात्रा जैसे चरों (variables), साधनों का किस सीमा तक प्रयोग किया जा रहा है, राष्ट्रीय आय के आकार तथा 'सामान्य कीमत-स्तर' से है। दूसरी ओर, व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र में कुल

---

1 'Macroeconomics deals not with individual quantities as such but with the aggregates of these quantities, not with individual incomes but with the national income, not with individual prices but with the price level, not with individual output but with the national output" K F Boulding *A Reconstruction of Economics* (19..), p 3

2 K F Boulding *Economic Analysis*, p 259

उत्पादन के विभिन्न उद्योगो, पदार्थों तथा फर्मों मे विभाजन तथा साधनो का विभिन्न प्रयोगों में आवण्टन किस प्रकार होता है, का अध्ययन किया जाता है। यह आय वितरण की समस्या पर भी ध्यान देता है। इसकी रुचि विशेष वस्तुओ और सेवाओं की सापेक्ष कीमतो (relative prices) मे है।[1]

समष्टिपरक अर्थशास्त्र का व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र से सावधानीपूर्वक अन्तर किया जाना चाहिए। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र मे भी समूहो *(aggregates) का अध्ययन किया जाता* है। परन्तु ये समूह उन समूहो से भिन्न होते है जिनका सबध समष्टिपरक अर्थशास्त्र से है। व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र मे एक उद्योग की पदार्थ-कीमत, उसकी उत्पादन व रोजगार निर्धारण सबधी क्रियाओ का अध्ययन किया जाता है और एक उद्योग विभिन्न फर्मों का समूह है जो समान वस्तुओ का उत्पादन कर रही होती है। इसी प्रकार व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त बाजार माँग व पूर्ति की परस्पर क्रियाओ द्वारा एक पदार्थ के कीमत-निर्धारण की व्याख्या करता है। किसी पदार्थ की बाजार माँग उन विभिन्न उपभोक्ताओ की व्यक्तिगत *माँगो का योग है जो उस पदार्थ का क्रय करने के लिए* तैयार हैं और बाजार पूर्ति उसी पदार्थ का उत्पादन करने वाली विभिन्न फर्मों के उत्पादन का योग है। इसी प्रकार एक नगर के एक उद्योग मे श्रम की माँग व पूर्ति सामूहिक धारणाएँ (aggregative concepts) है। परन्तु समष्टिपरक अर्थशास्त्र जिन समूहो का वर्णन करता है वे भिन्न प्रकृति के होते हैं। समष्टिपरक अर्थ-*शास्त्र उन समूहो की व्याख्या करता है जिनका सबध* सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से है।

समष्टिपरक अर्थशास्त्र सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित विशाल समूहों (large aggregates) के *उप-समूहो को भी व्याख्या करता है,* परन्तु ये उप-समूह भी व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र के समूहो से भिन्न हैं। जबकि व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र के समूहो का सबध एक विशेष पदार्थ, एक विशेष उद्योग या एक विशेष बाजार से होता है, समष्टिपरक अर्थव्यवस्था के उप-समूह समस्त पदार्थों तथा उद्योगो से सम्बन्धित होते है। उदाहरण के लिए, *उपभोक्ता वस्तुओ का कुल* उत्पादन (अर्थात् कुल उपभोग) तथा पूंजीगत वस्तुओ का कुल उत्पादन (अर्थात् कुल विनियोग) दो उप-समूह हैं जिनका वर्णन समष्टिपरक अर्थशास्त्र मे किया जाता है परन्तु इन *समूहो का सम्बन्ध किसी एक पदार्थ या किसी एक* उद्योग से नही है बल्कि इनका तात्पर्य उन सब उद्योगो से है जो क्रमश उपभोक्ता वस्तुओ तथा पूंजीगत वस्तुओ का उत्पादन कर रहे होते है। इसके साथ ही समष्टिपरक अर्थशास्त्र मे *वर्णित उप-समूहों के योगी-*करण से सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित समूह का पता चल जाता है। उदाहरण के लिए, कुल उपभोग *तथा कुल विनियोग, जो कि समष्टिपरक अर्थशास्त्र के* दो महत्त्वपूर्ण उप-समूह हैं, के योग से ही कुल राष्ट्रीय उत्पाद (Total National Product) की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार, कुल मजदूरी आय (श्रम का *कुल भाग) तथा कुल लाभ (जिनको कुल सम्पत्ति आय* भी कहते हैं) के योग से भी राष्ट्रीय आय प्राप्त हो जाती है। प्रोफेसर ऐकले (Ackley) का इस सम्बन्ध *में कथन है, "समष्टिपरक अर्थशास्त्र मे भी सम्पूर्ण* अर्थव्यवस्था से छोटे समूहो का प्रयोग किया जाता है, परन्तु इनकी प्रकृति इस प्रकार की होती है कि वे पूर्ण अर्थव्यवस्था के योग के उप-विभाग बन जाते है। *व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र भी समूहो का प्रयोग करता है* परन्तु पूर्ण अर्थव्यवस्था के योग के सन्दर्भ मे नहीं।"[2]

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, व्यष्टिपरक अर्थ-शास्त्र की विषय-वस्तु मे पदार्थों तथा साधनों की सापेक्ष कीमतों का निर्धारण तथा *उन पर आधारित* साधनो के आवण्टन की व्याख्या सम्मिलित है। दूसरी ओर, समष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण की विषय-वस्तु

1 Gardner Ackley, *Macroeconomic Theory* (1961), p 4

2 "Macroeconomics *also uses aggregates* smaller than for the whole economy, but only in a context which makes them sub-divisions of an economy-wide total Micro economics also uses aggregates but not in a context which *relates them to an* economy wide total" Gardner Ackley, *Macro-economic Theory*, 1961 p 5

यह व्याख्या करती है कि राष्ट्रीय आय तथा रोजगार का स्तर किस प्रकार निर्धारित होता है तथा राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार में उच्चावचन किन कारणों से होते हैं। साथ-ही, यह इस बात की भी व्याख्या करता है कि दीर्घकाल में राष्ट्रीय आय में वृद्धि किन तत्त्वों पर निर्भर है। अन्य शब्दों में, समष्टिपरक अर्थशास्त्र समस्त आर्थिक क्रिया (अर्थात् राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार) के स्तर, उच्चावचन (व्यापार चक्र) तथा वृद्धि (विकास) के निर्धारण का विश्लेषण करता है।

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि ऐडम स्मिथ (Adam Smith), रिकार्डो (Ricardo), माल्थस (Malthus) तथा जे० एस० मिल आदि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने जिस आर्थिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था वह मुख्यत समष्टिपरक विश्लेषण था क्योंकि उन्होंने राष्ट्रीय आय तथा सम्पत्ति में वृद्धि के निर्धारण, राष्ट्रीय आय का विभिन्न सामाजिक वर्गों में वितरण (अर्थात् राष्ट्रीय आय का कुल मजदूरी, कुल लगान तथा कुल लाभ में विभाजन), सामान्य कीमत-स्तर का निर्धारण तथा तकनॉलोजी में प्रगति तथा जनसंख्या-वृद्धि के विकास पर प्रभावों का वर्णन किया। इसके विपरीत नव-प्रतिष्ठित (Neo Classical) अर्थशास्त्र जिसमें पीगू तथा मार्शल की कृतियाँ प्रमुख हैं, मुख्यत व्यष्टिपरक विश्लेषण है। नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने यह कल्पना की कि अर्थव्यवस्था में साधन पूर्ण रोजगार की अवस्था में होते हैं और मुख्यत इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया कि विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए साधनों का आवण्टन किस प्रकार होता है तथा पदार्थों तथा साधनों की सापेक्ष कीमतें किस प्रकार निर्धारित होती हैं। अपनी पूर्ण रोजगार की कल्पना के कारण ही ये अर्थशास्त्री यह नहीं समझ पाये कि निजी मुक्त-उद्यम वाले अथवा पूँजीवादी देशों में मंदी-काल के दौरान अनैच्छिक बेरोजगारी (involuntary unemployment) क्यों होती है और उत्पादन क्षमता का पूरा-पूरा प्रयोग क्यों नहीं किया जाता। इस प्रकार वे निजी उद्यम अर्थव्यवस्था में व्यापार-चक्रों के प्रचलन की उचित व्याख्या नहीं कर पाये। सबसे बुरी बात तो यह है कि व्यक्तिगत उद्योग पर जो आर्थिक नियम (economic generalisations) लागू होते हैं उनको ही नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था तथा समष्टिपरक आर्थिक चरों (macroeconomic variables) पर भी लागू करने का प्रयत्न किया।

उदाहरण के लिए पीगू (Pigou) ने इस बात पर बल दिया कि मंदी काल में बड़ी मात्रा में फैल जाने वाली बेरोजगारी को मजदूरी में कमी करके दूर किया जा सकता है तथा रोजगार का विस्तार किया जा सकता है। यह पूर्णतया गलत है। यद्यपि यह सत्य है कि मजदूरी में कमी करके एक उद्योग में रोजगार के स्तर को बढ़ाया जा सकता है। परन्तु यदि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में मजदूरी को कम कर दिया जायगा तो श्रमिक वर्ग को प्राप्त होने वाली आय गिर जाएगी और इससे समस्त माँग (aggregate demand) का स्तर गिर जाएगा, समस्त माँग में गिरावट आने से रोजगार का स्तर बढ़ने के स्थान पर गिर जाएगा।

निःसन्देह केन्ज (Keynes) से पूर्व में व्यापार-चक्र तथा सामान्य कीमत स्तर के सिद्धान्त समष्टि-परक प्रकृति के थे। परन्तु स्वर्गीय जे० एम० केन्ज (J M Keynes) ने समष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण को अधिक महत्त्व दिया और 1936 में प्रकाशित अपनी क्रांतिकारी पुस्तक *'A General Theory of Employment, Interest and Money'* में आय व रोजगार के सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। केन्ज का सिद्धान्त वास्तविक रूप में नव-प्रतिष्ठित (neoclassical) सिद्धान्त से भिन्न था जिसने आर्थिक चिन्तन में इतना मूलभूत व अत्यधिक परिवर्तन किया कि उसका समष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण केन्जियन क्रांति (Keynesian Revolution) तथा नए अर्थशास्त्र (New Economics) के नाम से प्रसिद्ध हो गया। केन्ज ने अपने विश्लेषण में नव-प्रतिष्ठित से के बाजार नियम (Say's law), जिसके आधार पर नव-प्रतिष्ठितों अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण रोजगार की कल्पना की थी, तीव्र आलोचना की और नव-प्रतिष्ठितों की इस धारणा को चुनौती दी कि निजी उद्यम अर्थ-व्यवस्था में अनैच्छिक बेरोजगारी नहीं हो सकती। उसने यह बताया कि कुल माँग व कुल पूर्ति के द्वारा

राष्ट्रीय आय तथा रोजगार का सन्तुलन स्तर किस प्रकार निर्धारित होता है और कि मुक्त-निजी उद्यम अर्थव्यवस्था मे आय व रोजगार का सन्तुलन स्तर पूर्ण रोजगार स्तर से नीचे कैसे निर्धारित हो सकता है जिसके कारण एक ओर तो श्रमिको मे अनैच्छिक बेरोजगारी फैल जाती है और दूसरी ओर अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता (excess capacity) अर्थात् वर्तमान पूँजी का क्षमता से कम उपयोग उत्पन्न हो जाता है। उसके समष्टिपरक आर्थिक मॉडल से पता लगता है कि उप भोग फलन, विनियोग फलन, तरलता अधिमान फलन की परस्पर क्रियाओ द्वारा आय, रोजगार, ब्याज तथा सामान्य कीमत-स्तर का निर्धारण किस प्रकार होता है।

इस प्रकार यह बताने से पहले कि आय व रोज-गार का स्तर किस प्रकार निर्धारित होता है हमको उप-भोग फलन (consumption function) तथा विनियोग फलन (investment function) के निर्धारक कारको का अध्ययन करना होता है। उपभोग फलन तथा विनि-योग फलन का विश्लेषण समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण विषय हैं। एक देश मे आय व रोजगार के स्तर के निर्धारण मे समस्त माँग के स्तर का विशेष महत्त्व है जो कुल उपभोग माँग तथा कुल विनियोग माग का योग है।

अर्थव्यवस्था मे आय व रोजगार के स्तर के निर्धा-रणं के अध्ययन के अतिरिक्त, समष्टिपरक अर्थशास्त्र कीमत: के सामान्य स्तर के निर्धारण का भी अध्ययन करता है। यह सिद्ध करके कि मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होने पर कीमतो मे सदा वृद्धि नही होती, केन्ज ने मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money) मे महत्त्वपूर्ण सुधार किया। इस क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण विषय मुद्रा-स्फीति (inflation) के कारणो को स्पष्ट करना है। केन्ज ने द्वितीय महायुद्ध से पूर्व यह स्पष्ट किया कि अनैच्छिक बेरोजगारी तथा मन्दी समस्त माग मे कमी के कारण उत्पन्न होती हैं। युद्ध-काल मे जबकि कीमतें बहुत अधिक बढ़ गईं तो उन्होने एक पुस्तक '*How to Pay for War*' मे बताया कि जिस प्रकार समस्त मांग मे कमी के कारण बेरोजगारी व मन्दी फैलती हैं, उसी प्रकार मुद्रा-स्फीति अत्यधिक समस्त मांग के कारण होती है। केन्ज के पश्चात् मुद्रा-स्फीति के सिद्धान्त का अधिक विकास हुआ है और विभिन्न कारणो पर आधारित विभिन्न प्रकार की मुद्रा-स्फीतियो का वर्णन किया गया है। मुद्रा-स्फीति आजकल एक गम्भीर समस्या बन गई है जोकि अल्प-विकसित तथा विकसित दोनो प्रकार के देशो मे पाई जाती है। मुद्रा-स्फीति का सिद्धात समष्टिपरक अर्थ-शास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

समष्टिपरक अर्थशास्त्र की एक और महत्त्वपूर्ण शाखा, जिसका विकास अभी हाल ही मे हुआ है, आर्थिक विकास का सिद्धान्त है जिसको संक्षेप मे 'विकास अर्थशास्त्र' (Growth Economics) कहा जाता है। विकास की समस्या एक दीर्घकालीन समस्या है और केन्ज ने इस पर विचार नही किया था। वस्तुत केन्ज ने तो कहा था कि "दीर्घकाल मे हम सब मर जायगे।" परन्तु केन्ज के इस कथन से हमे यह नही समझ लेना चाहिए कि उन्होने दीर्घकाल को बिल्कुल महत्त्वहीन समझा। इस कथन से तो उन्होने आर्थिक क्रियाओ के उच्चावचन की अल्पकालीन समस्या अर्थात् अनैच्छिक चक्रीय बेरोजगारी, मदी, मुद्रा-स्फीति के महत्त्व पर अधिक बल दिया। हेरड[1] (Harrod) तथा डोमर[2] (Domar) ने केन्ज के विश्लेषण को विकास की दीर्घकालीन समस्याओ पर लागू किया। उन्होने विनियोग के द्वैत पक्षो (dual aspects) के महत्त्व को बताया—एक आय सर्जन का, जिस पर केन्ज ने विचार किया था, और दूसरे उत्पादन क्षमता मे वृद्धि का (increase in capacity) जिसकी केन्ज ने अवज्ञा की थी क्योकि वह अल्पकाल की समस्याओ को सुल-झाने मे ही व्यस्त था। इस बात को ध्यान मे रखते हुए कि विनियोग से उत्पादन क्षमता (पूंजी भण्डार) मे वृद्धि होती है, यदि स्थिरता के साथ विकास अर्थात् बिना सुदीर्घकालीन मदी (secular stagnation) अथवा सुदीर्घकालीन मुद्रा-स्फीति (secular inflation) के प्राप्त करना है तो आय या मांग मे इस दर से अवश्य

1. R F. Harrod, *Towards a Dynamic Economics* (1948).

2. E. D Domar, Expansion and Employment, *American Economic Review* (March 1947)

वृद्धि होनी चाहिए कि बढ़ती हुई उत्पादन क्षमता का पूरा-पूरा प्रयोग किया जा सके। इस प्रकार हैरड (Harrod) तथा डोमर (*Domar*) के *समष्टिपरक मॉडल* आय की उन विकास दरों को बताते हैं जो अर्थव्यवस्था के स्थायी विकास के लिए आवश्यक हैं। हैरड तथा डोमर के उपरान्त विकास के अर्थशास्त्र का अधिक विकास तथा विस्तार किया गया है। यद्यपि एक सामान्य विकास सिद्धान्त, विकसित तथा अल्प-विकसित दोनों अर्थव्यवस्थाओं पर लागू होना है परन्तु उन विशेष सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया गया है जो अल्प-विकास के कारणों अथवा अल्प-विकसित देशों में निर्धनता की व्याख्या करते हैं तथा इन देशों में विकास को प्रारम्भ करने तथा तीव्र करने के लिए आवश्यक प्रविधियों *अथवा स्ट्रैटिजी (Strategies) का सुझाव भी* देते हैं।

समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त का एक और महत्वपूर्ण विषय कुल राष्ट्रीय आय में से समाज के विभिन्न वर्गों, मुख्यतः श्रमिकों तथा पूंजीपतियों, के सापेक्ष भागों (relative shares) के निर्धारण का विश्लेषण करना है। इस विषय में रुचि रिकार्डो (Ricardo) के समय से है। रिकार्डो ने केवल यह ही नहीं बताया कि भूमि की उपज का समाज के तीन वर्गों—भूस्वामियों, *श्रमिकों तथा पूंजीपतियों में विभाजन अर्थशास्त्र की* प्रमुख समस्या है बल्कि कुल राष्ट्रीय आय में लगान, मजदूरियों तथा लाभों के सापेक्ष भागों के निर्धारण के सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया। रिकार्डो के समान मार्क्स (Marx) ने भी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में साधनों के सापेक्ष हिस्सों के निर्धारण में विशेष रुचि दिखाई। परन्तु मार्क्स के बाद अर्थशास्त्रियों की रुचि इस विषय में कम हो गई और वितरण के सिद्धान्त का वर्णन मुख्यतः व्यष्टिपरक रूपों में किया जाने लगा, अर्थात्, वितरण का सिद्धान्त केवल साधनों की कीमतों के निर्धारण की व्याख्या करने लगा, सामाजिक वर्गों के सापेक्ष सामूहिक हिस्सों की नहीं। एम० कलेकी (M Kalecki) तथा निकोलस केल्डर (Nicholas Kaldor) का धन्यवाद हो जिनके कारण वितरण के समष्टिपरक सिद्धान्त (macro-theory of distribution) में पुनः रुचि जाग्रत हुई। कलेकी *ने यह विचार प्रस्तुत किया कि राष्ट्रीय आय में मज*-दूरियों तथा लाभों के सापेक्ष हिस्से अर्थव्यवस्था में एकाधिकार की मात्रा (degree of monopoly) पर निर्भर करते हैं। दूसरी ओर, केल्डर ने केन्जियन विश्लेषण का प्रयोग करके बताया कि राष्ट्रीय आय में मजदूरियों तथा लाभों का सापेक्ष हिस्सा अर्थव्यवस्था में उपभोग प्रवृत्ति तथा विनियोग की दर पर निर्भर करता है।

हमने, संक्षेप में, समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त के *सब पक्षों का वर्णन कर दिया है।* समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त के विभिन्न पहलुओं को निम्न चार्ट में दिखाया गया है
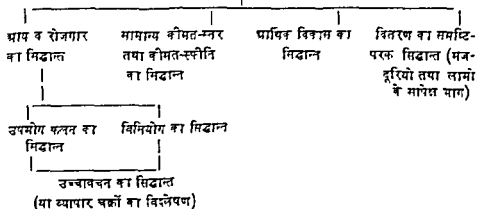
समष्टिपरक अर्थशास्त्र का पृथक् अध्ययन क्यों? (Why a separate study of Macroeconomics?)

अब एक महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे सम्मुख आता है कि सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था या इसके विशाल समूहों के पृथक् अध्ययन की आवश्यकता क्यों है? क्या यह सम्भव नहीं है कि अर्थशास्त्र द्वारा निर्मित उन नियमों के द्वारा, जो व्यक्तिगत इकाइयों के व्यवहारों को स्पष्ट करते हैं, से ही सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था या समस्त उपभोग, समस्त बचत, समस्त विनियोग आदि विशाल समूहों के व्यवहारों का भी विवेचन किया जाए। दूसरे शब्दों में क्या हम व्यक्तिगत फर्मों व उद्योगों के व्यवहारों से प्राप्त निष्कर्षों को जोड़ कर, गुणा करके या उनके औसत निकाल कर समष्टिपरक अर्थशास्त्र के चरों (variables) जैसे कुल राष्ट्रीय उत्पादन, कुल रोजगार, कुल आय, कीमत-स्तर आदि को नियंत्रित करने वाले नियमों को प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था या समष्टिपरक समूह (macroeconomic aggregate) के व्यवहार को समूह की इकाइयों की क्रियाओं को केवल जोड़कर या गुणा करके या उनमें औसत निकाल कर ही प्राप्त नहीं किया जा सकता है। वास्तव में जो अर्थव्यवस्था की इकाइयों के बारे में सत्य है, आवश्यक नहीं कि वह समूह के बारे में भी सत्य हो। इसलिए व्यष्टिपरक तरीके से सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था या समष्टिपरक समूहों के व्यवहारों का विवेचन करना गलत है और इससे भ्रामक निष्कर्ष निकल सकते हैं। जब आर्थिक नियम व्यक्तिगत इकाइयों पर तो लागू होते हैं परन्तु सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर नहीं तो इससे बहुत से विरोधाभास (paradoxes) उत्पन्न हो जाते हैं। बोल्डिंग (Boulding) ने इन विरोधाभासों को समष्टिपरक आर्थिक विरोधाभास (Macroeconomis paradoxes) कहा है। इन समष्टिपरक आर्थिक विरोधाभासों के कारण ही सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अथवा इसके विशाल आर्थिक समूहों के व्यवहार के समष्टिपरक विश्लेषण को न्यायोचित ठहराया जाता है। अतः प्रोफेसर बोल्डिंग का कथन ठीक है कि 'किसी भी अन्य कारक से बढ़ कर ये विरोधाभास ही हैं जो समस्त आर्थिक व्यवस्था के पृथक् अध्ययन को न्यायोचित ठहराते हैं।'[1] बोल्डिंग ने अर्थव्यवस्था की तुलना एक जंगल से तथा व्यक्तिगत फर्मों या उद्योगों की तुलना जंगल के वृक्षों से करके अपने तर्क को और विकसित किया। उन्होंने बताया है कि जंगल वृक्षों का समूह है, परन्तु इसकी विशेषताएँ तथा व्यवहार-कलाप व्यक्तिगत वृक्षों के समान नहीं हैं। बल्कि उनसे भिन्न हैं। अतः व्यक्तिगत वृक्षों को नियन्त्रित करने वाले नियमों के आधार पर जंगल के व्यवहार का अनुमान करना भ्रामक होगा।

आर्थिक क्षेत्र से समष्टिपरक विरोधाभासों (अर्थात् जो नियम इकाइयों के लिए सत्य हैं परन्तु समस्त समूह के लिए नहीं) के अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। यहाँ हम बचत तथा मजदूरी से सम्बन्धित दो उदाहरण देंगे जिनके आधार पर केन्ज ने व्यष्टिपरक विश्लेषण से भिन्न समष्टिपरक विश्लेषण के विकास व प्रयोग पर बल दिया।

प्रथम हम बचत को लेते हैं। बचत एक व्यक्ति के लिए सदा ठीक है क्योंकि वह बचत किसी उद्देश्य से करता है, जैसे वृद्धावस्था के लिए अपने बच्चों की शिक्षा के लिए मकान, कार आदि टिकाऊ पदार्थों (Durable Goods) के खरीदने के लिए, व्यापार के प्रारम्भ अथवा विस्तार के लिए, द्रव्य एकत्र करने तथा बैंक व अन्य को ऋण देने के लिए जिससे ब्याज प्राप्त हो सके। परन्तु समूचे समाज के लिए बचत को सदा अच्छा नहीं कहा जा सकता। यदि एक अर्थव्यवस्था मंदी के चक्र में फंसी हुई है और समस्त समर्थ माँग (aggregate effective demand) की कमी के कारण बेरोजगारी फैली हुई है, तो व्यक्तियों द्वारा अधिक बचत किए जाने पर (जो उनके लिए लाभदायक है) समाज की समस्त माँग और घट जाएगी जिसके परिणामस्वरूप मंदी व बेरोजगारी और अधिक फैल जाएगी। अतः बचत जोकि एक व्यक्ति के लिए सदा एक सद्गुण है, समाज के लिए, बेरोजगारी एवं मंदी

1 "It is these paradoxes more than any other factor, which justify the separate study of the system as a whole, not merely as an inventory or list of particular items, but as a complex of aggregates —K E Boulding, *A Reconstruction of Economics* (1952), p 173

काल में, अवगुण बन जाती है। इसी को बचत-विरोधाभास (paradox of thrift) कहा गया है।

यह सिद्ध करने के लिए कि जो एक व्यक्ति के लिए ठीक है परन्तु पूरे समाज के लिए ठीक नहीं, एक सामान्य उदाहरण मजदूरी-रोजगार सम्बन्ध का दिया जाता है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, प्रतिष्ठित व नव प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों, मुख्यत ए० सी० पीगू का विचार था कि मंदी व बेरोजगारी के काल में मौद्रिक मजदूरियों में कमी से रोजगार में वृद्धि होगी तथा बेरोजगारी व मंदी की अवस्थाएँ दूर हो जाएंगी। यद्यपि यह सत्य है कि एक व्यक्तिगत उद्योग में मजदूरी गिरने से उस उद्योग में रोजगार का स्तर बढ़ जाता है (यह व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र का सरलतम निष्कर्ष है कि यदि श्रम की माँग दी हुई है तो कम मजदूरी पर अधिक श्रमिकों की माँग होगी), परन्तु पूरे समाज या अर्थव्यवस्था के लिए यह निष्कर्ष अत्यधिक भ्रामक है। यदि अर्थव्यवस्था में मजदूरी की दरों में सामान्य रूप से कमी कर दी जाये, जैसा कि पीगू व उसके समर्थक अर्थशास्त्रियों ने एक उद्योग में मजदूरी-रोजगार में सम्बन्ध के आधार पर सुझाया था, तो समाज में वस्तुओं और सेवाओं की समस्त माँग घट जाएगी क्योंकि समाज में अधिकांश व्यक्तियों को मजदूरी से ही आय प्राप्त होती है। समस्त माँग में गिरावट के कारण बहुत से उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग में कमी हो जाएगी। श्रम की माँग व्युत्पन्न माँग (derived demand) होने के कारण वस्तुओं की समस्त माँग में कमी होने से श्रम की माँग भी कम हो जायेगी जिससे रोजगार बढ़ने के स्थान पर घट जायेगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जो नियम व्यक्तिगत उपभोक्ता, फर्म या उद्योग के व्यवहार के बारे में ठीक हैं, उनको यदि समूची अर्थव्यवस्था के व्यवहार पर लागू किया जाय तो भ्रामक व गलत निष्कर्ष प्राप्त होंगे। इस प्रकार यह संरचना की भ्रान्ति (fallacy of composition) है। ऐसा व्यक्तिगत इकाइयों के सम्बन्ध में जो सत्य है वह सम्पूर्ण समूह पर लागू न होने के कारण होता है। जैसा ऊपर बताया गया, इनको समष्टिपरक आर्थिक विरोधाभास (macroeconomic paradoxes) कहा जाता है और इन्हीं विरोधाभासों के कारण सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था या सामूहिक अध्ययन आवश्यक है।

समष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण उन बहुत से सम्बन्धों पर विचार करता है जो कि व्यक्तिगत इकाइयों पर लागू नहीं होते। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति जितना विनियोग करता है उससे अधिक बचत कर सकता है अथवा जितनी बचत करता है उससे अधिक विनियोग कर सकता है परन्तु पूर्ण अर्थव्यवस्था में वास्तविक बचत सदा वास्तविक विनियोग के बराबर होती है और यह सम्भवतः ही केन्जियन समष्टिपरक अर्थशास्त्र का महत्त्वपूर्ण नियम है। इसी प्रकार एक व्यक्ति की आय उसके व्यय से कम या अधिक हो सकती है परन्तु अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय आय सदा राष्ट्रीय व्यय के बराबर होती है। वस्तुत राष्ट्रीय आय व राष्ट्रीय व्यय एक ही तथ्य के दो पहलू हैं। इसी प्रकार पूर्ण रोजगार की स्थिति में एक व्यक्तिगत उद्योग अन्य उद्योगों से श्रमिकों को आकृष्ट करके अपने उत्पादन व रोजगार की मात्रा में वृद्धि कर सकता है, परन्तु एक अर्थव्यवस्था इस प्रकार से अपने उत्पादन व रोजगार के स्तर में वृद्धि नहीं कर सकती है। अत व्यक्तिगत उद्योग पर जो नियम लागू होता है यह प्राय सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर लागू नहीं होता।

अत यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यदि हम सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के वास्तविक कार्यचालन को समझना चाहते हैं तो इसके लिए एक पृथक् तथा विशेष समष्टिपरक आर्थिक विश्लेषण आवश्यक है। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त बिलकुल बेकार है और इसलिए इसको त्याग देना चाहिए। वास्तव में, समष्टिपरक अर्थशास्त्र तथा व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं, प्रतियोगी नहीं। ये दो सिद्धान्त विभिन्न विषयों का अध्ययन करते हैं, एक मुख्यत वस्तुओं और सेवाओं की सापेक्ष कीमतों की व्याख्या करता है और दूसरा मुख्यत समाज में आय व रोजगार के, अल्पकाल में, निर्धारण की तथा इसके दीर्घकालीन विकास की। इस प्रकार समष्टिपरक व व्यष्टिपरक दोनों अर्थशास्त्रों का अध्ययन आवश्यक है। प्रोफेसर सेम्युलसन (Samuelson) ने ठीक लिखा है कि "वास्तव में व्यष्टिपरक तथा समष्टिपरक अर्थशास्त्र

मे कोई विरोध नही है। दोनों अत्यावश्यक हैं। यदि आप एक से अनभिज्ञ रह कर केवल दूसरे को ही समझने का प्रयत्न करेंगे तो आप अर्ध-शिक्षित रहेंगे।"[1]

समष्टिपरक तथा व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र का परस्पर सम्बन्ध (Interdependence between Macro- and Micro-Economics)

वास्तव मे व्यष्टिपरक तथा समष्टिपरक अर्थशास्त्र परस्पर निर्भर हैं। कुछ समष्टिपरक आर्थिक समूहो (सब नही) के व्यवहार सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त व्यक्तिगत व्यवहार के सिद्धान्तो से ही निकलते अथवा व्युत्पादित (derive) किए जाते हैं। उदाहरण के लिए विनियोग का सिद्धान्त जोकि समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है, व्यक्तिगत उद्यमकर्त्ता के व्यवहार मे व्युत्पादित किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्तिगत उद्यमकर्ता अपनी विनियोग सम्बन्धी क्रियाओं मे, एक ओर, प्रत्याशित लाभ की दर और दूसरी ओर ब्याज की दर से प्रभावित होता है। यही बात समस्त विनियोग फलन (aggregate investment function) के बारे मे सत्य है। इसी प्रकार, समस्त उपभोग फलन (aggregate consumption function) व्यक्तिगत उपभोक्ताओं के व्यवहार-कलाप पर आधारित है। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि समस्त विनियोग फलन तथा उपभोग फलन, व्यक्तिगत इकाइयो की क्रियाओं का योगीकरण हैं क्योकि इस संदर्भ मे व्यक्तिगत इकाइयो का व्यवहार-कलाप समूह के व्यवहार से भिन्न नही है। इसके अतिरिक्त हम इन समूहो के व्यवहार को तभी व्युत्पन्न कर सकते हैं जबकि या तो समूहों का गठन स्थिर हो या गठन मे किसी नियमित रूप से परिवर्तन हो जब समूह के आकार मे परिवर्तन होता है। इससे यह नही समझना चाहिए कि समस्त समष्टिपरक आर्थिक सम्बन्धो की व्यवहार-विधि उनका गठन करने वाली इकाइयो के व्यवहार-कलापो के अनुरूप होती है। जैसा कि हमने ऊपर देखा कि एक अर्थव्यवस्था मे बचत विनियोग सम्बन्ध तथा मजदूरी-रोजगार सबंध व्यक्तिगत भागो के सपूरक सम्बन्धो से भिन्न होते हैं।

व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धात समष्टिपरक आर्थिक सिद्धात को एक और प्रकार से भी सहायता प्रदान करता है। सामान्य कीमत-स्तर के निर्धारण की व्याख्या के लिए पदार्थों तथा साधनो की सापेक्ष कीमतो का सिद्धात आवश्यक है।

केन्ज ने भी देश मे मुद्रा-पूर्ति मे वृद्धि के परिणामस्वरूप कीमत-वृद्धि को स्पष्ट करने के लिए व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धात का सहारा लिया। केन्ज के अनुसार जब मुद्रा-पूर्ति और तदनुरूप समस्त माँग मे वृद्धि के परिणामस्वरूप अधिक उत्पादन किया जाता है तो उत्पादन लागत मे वृद्धि हो जाती है। उत्पादन लागत मे वृद्धि के कारण कीमत बढ जाती है। केन्ज के अनुसार, उत्पादन लागत दो कारणो से बढती है: (1) ह्रासमान प्रतिफल का नियम (Law of Diminishing Returns) के लागू होने के कारण तथा (2) अर्थव्यवस्था के पूर्ण रोजगार स्तर के निकट पहुँचने के कारण कच्चे माल की कीमतें तथा मजदूरियाँ बढ जाने के कारण। उत्पादन लागत, ह्रासमान प्रतिफल आदि का कीमत निर्धारण पर प्रभाव व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र का ही भाग है।

केवल समष्टिपरक अर्थशास्त्र ही व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र पर निर्भर नही करता बल्कि व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र भी कुछ सीमा तक, समष्टिपरक अर्थशास्त्र पर निर्भर है। लाभ की दर तथा ब्याज की दर का निर्धारण व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र के सुप्रसिद्ध विषय हैं, परन्तु समष्टिपरक समूहो पर इनकी निर्भरता अत्यधिक है। व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धात मे, लाभो को अनिश्चितता वहन करने का पारितोषिक माना जाता है, परन्तु व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त यह स्पष्ट नही कर पाता कि उद्यमकर्त्ता को प्राप्त होने वाले लाभो के आकार को कौन सी आर्थिक शक्तियाँ निर्धारित करती हैं और इनमे उच्चावचन क्यो होते हैं। लाभो का आकार अर्थव्यवस्था मे समस्त माँग के स्तर, राष्ट्रीय आय और सामान्य कीमत-स्तर पर निर्भर करता है। हम जानते

---

1. "There is really no opposition between micro- and macro economics Both are absolutely vital And you are only half educated if you understand the one while being ignorant of the other." Samuelson, Paul A, *Economics*

हैं कि मंदी काल में जबकि समस्त माँग, राष्ट्रीय आय तथा सामान्य कीमत-स्तर निम्न होते हैं तो अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में उद्यमकर्त्ताओं को हानि होती है। दूसरी ओर, जब समस्त माँग, राष्ट्रीय आय तथा सामान्य कीमत-स्तर में वृद्धि होती है और तेजी की दशाएँ प्रचलित होती हैं तो उपक्रमियों को अत्यधिक लाभ होते हैं।

अब ब्याज की दर का उदाहरण लीजिए। वास्तव में ब्याज की दर का सिद्धांत अब समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त का ही विषय बन गया है। ब्याज का आंशिक सन्तुलन सिद्धांत (partial equilibrium theory) उन सब शक्तियों का वर्णन नहीं करता जो ब्याज की दर का निर्धारण करती हैं। केन्ज ने स्पष्ट किया कि ब्याज की दर अर्थव्यवस्था में तरलता अधिमान फलन (liquidity preference function) तथा मुद्रा के भण्डार (पूर्ति) से निर्धारित होती है। अर्थव्यवस्था में तरलता अधिमान फलन तथा मुद्रा का भण्डार (stock) समष्टिपरक आर्थिक धारणाएँ हैं। निस्सन्देह इस सम्बन्ध में केन्ज के सिद्धान्त को अनिर्दिष्ट (indeterminate) बताया गया है परन्तु ब्याज के आधुनिक सिद्धान्त में तरलता अधिमान तथा मुद्रा-पूर्ति की सामूहिक धारणाएँ ब्याज के निर्धारण की व्याख्या में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इसके अतिरिक्त, ब्याज के आधुनिक सिद्धान्त (अर्थात् *LM* तथा *IS* वक्रों द्वारा ब्याज का निर्धारण) में तरलता अधिमान तथा मुद्रा की पूर्ति के साथ-साथ दो अन्य शक्तियाँ, जो कि ब्याज का निर्धारण करती हैं, वे बचत व विनियोग फलन हैं जिनका वर्णन भी *सामूहिक अथवा समष्टिपरक मदों में किया जाता है।*

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है समष्टिपरक अर्थशास्त्र के उपकरणों तथा धारणाओं के बिना मामों व ब्याज की दरों के निर्धारण को स्पष्ट नहीं किया जा सकता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र तथा समष्टिपरक अर्थशास्त्र विभिन्न विषयों का अध्ययन करते हैं, परन्तु इन दोनों में गहन परस्पर निर्भरता है। विभिन्न आर्थिक तथ्यों की व्याख्या में समष्टिपरक व व्यष्टिपरक अर्थशास्त्रों के उपकरणों (tools) तथा धारणाओं (concepts) का प्रयोग करना होता है। परस्पर निर्भरता के सम्बन्ध में प्रोफेसर ऐक्से का कथन महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार, "समष्टिपरक अर्थशास्त्र तथा व्यक्तिगत व्यवहार के सिद्धान्त के सम्बन्ध में दो ओर यातायात (two-way traffic) है। एक ओर व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त हमारे सामूहिक सिद्धान्तों के लिए *निर्माण व्याज प्रदान करता है।* दूसरी ओर समष्टिपरक अर्थशास्त्र व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र को समझने में सहायक है। उदाहरण के लिए यदि हमें ज्ञात हो कि अनुभवमूलक (empirically) स्थायी समष्टिपरक नियम जो कि व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्तों में मल नहीं खाता या व्यवहार के उस पहलू का वर्णन करता है जिसकी व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र ने अवहेलना की है तो समष्टिपरक अर्थशास्त्र व्यक्तिगत व्यवहार को समझने में हमारी सहायता कर सकता है।"[1]

केन्ज के समष्टिपरक अर्थशास्त्र की अल्पविकसित देशों के लिए प्रासंगिकता (*The Relevance of Keynesian Macro-Economics for Underdeveloped Countries*)

अन्त में, यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि औद्योगिक विकसित देशों में विकसित समष्टिपरक अर्थशास्त्र का भारत जैसे अल्प-विकसित देशों में सीमित प्रयोग है। केन्ज ने जिस समष्टिपरक अर्थशास्त्र का विकास किया वह मुख्यतः समस्त माँग की कमी के कारण उत्पन्न मंदी तथा बेरोजगारी से पीड़ित अर्थव्यवस्था के लिए था। इन देशों में पूँजी के भण्डार (stock of capital) की कोई कमी नहीं होती। इनमें समस्त माँग में गिरावट से क्षमता-आधिक्य (excess capacity) अर्थात् वर्तमान पूँजी भण्डार का सम्पूर्ण क्षमता से कम प्रयोग की समस्या उत्पन्न हो जाती है और इससे बेरोजगारी फैलती है। परन्तु भारत के समान अल्प-विकसित देशों में समस्या एकदम भिन्न है। यहाँ बड़ी मात्रा में बेरोजगारी है तथा पूँजी की कमी अथवा न्यून उत्पादन क्षमता के कारण राष्ट्रीय आय का स्तर निम्न होता है। भारत जैसे अल्प-विकसित देशों में जनसंख्या में वृद्धि की दर की तुलना में पूँजी-संचय की दर बहुत कम है। आधुनिक काल में उपकरण, मशी-

1. *Gardner Ackley, op cit*

नरी फैक्टरियों आदि के समान पूँजीगत वस्तुएं व्यक्तियों को उत्पादक क्रियाओं में रोजगार उपलब्ध कराने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जनसंख्या वृद्धि की दर के पूँजी-निर्माण की दर से अपेक्षाकृत अत्यन्त निम्न होने के कारण, व्यक्तियों के लिए रोजगार-सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं की जा सकी हैं। इसके परिणामस्वरूप इन देशों में बेरोजगारी तथा अर्ध-रोजगारी विशाल मात्रा में विद्यमान है। जब व्यक्तियों को पूँजी-निर्माण तथा औद्योगीकरण की निम्न दरों के कारण कृषि के बाहर अधिक मात्रा में रोजगार नहीं मिल पाता, तो वे कृषि-कार्यों में ही संलग्न रहते हैं और इससे भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ता रहता है। इसके परिणामस्वरूप कृषि में प्रच्छन्न बेरोजगारी (disguised unemployment) उत्पन्न हो गई है जिसका तात्पर्य यह है कि कृषि में इतने अधिक लोग लगे हुए हैं कि श्रम की सीमान्त उत्पादकता (marginal productivity) शून्य हो गई है। इन दशाओं में यदि कुछ श्रमिकों को भूमि पर से हटा लिया जाए तो कुल कृषि उत्पादन में कोई कमी नहीं आएगी।

अल्प-विकसित देशों में पूँजी स्टाक—औद्योगिक फैक्टरियाँ, मशीनें, उपकरण, कृषि-भूमि, परिवहन के साधन, सिंचाई कार्यक्रम आदि के कम मात्रा में उपलब्ध होने के कारण ही इन देशों में उत्पादन-क्षमता का स्तर निम्न है और राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय कम है। इस प्रकार हम देखते हैं कि औद्योगिक रूप से विकसित देशों तथा अल्प-विकसित देशों की प्रकृति तथा ढाँचे में बहुत अन्तर है। इसलिए अल्पविकसित देशों पर लागू समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त आवश्यक रूप से उन समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्तों से भिन्न होंगे जो उन्नत देशों के लिए निर्धारित किए गए हैं।

3

आर्थिक स्थैतिकी तथा प्रावैगिकी
(ECONOMIC STATICS AND DYNAMICS)

अर्थशास्त्र की अध्ययन विधि में आर्थिक स्थैतिकी तथा प्रावैगिकी की पद्धतियों का विशेष महत्त्व है। आर्थिक सिद्धान्त के एक बहुत बड़े भाग का विकास आर्थिक स्थैतिकी की पद्धति की सहायता से ही किया गया है। परन्तु पिछले 50 वर्षों (1925 से लेकर) मे आर्थिक सिद्धान्त के विभिन्न क्षेत्रो मे प्रावैगिकी की पद्धति का अधिकाधिक प्रयोग किया गया है। जे० एम० क्लार्क (J. M Clark) के त्वरण सिद्धान्त (Principle of Acceleration) तथा अफ्तालियन (Aftalion) का व्यावसायिक उच्चावचन का सिद्धान्त (Theory of Business Fluctuations), प्रावैगिक मॉडल के कुछ उदाहरण हैं जिनका उदय 1925 से पहले हुआ। परन्तु 1925 से पहले, प्रावैगिक विश्लेषण (कुछ अपवादो को छोड कर) का मुख्य कार्य व्यावसायिक उच्चावचनो की व्याख्या करना था। 1925 के पश्चात् प्रावैगिक विश्लेषण का प्रयोग केवल व्यावसायिक उच्चावचनो की व्याख्या करने के लिए ही नही किया गया है बल्कि विस्तृत रूप से, आय निर्धारण, विकास तथा कीमत सिद्धान्तों की व्याख्या करने के लिए भी किया गया है। रगनार फ्रिश (Ragnar Frisch), सी० एफ० रोस (C F Roos), जे० टिनबर्जन (J Tinbergen), कलेस्की (Kalecki) तथा अन्य बहुत से अर्थशास्त्रियो ने व्यापार चक्रो की व्याख्या के लिए अनेक प्रावैगिकी मॉडल बनाये हैं।

आय विश्लेषण के क्षेत्र म अंग्रेज अर्थशास्त्रियो जैसे राबर्टसन (Robertson), केन्ज (Keynes), हबरलर (Haberler), कॉहन (Kahan) तथा स्वीडिश अर्थशास्त्रियो जैसे मिरडल (Myrdal), ओहलीन (Ohlin), लिडाल (Lindal), तथा लुडबर्ग (Lundberg) ने आर्थिक प्रावैगिकी को विशेष महत्त्व दिया। हाल के कुछ वर्षों मे सेम्युलसन (Samuelson), गुडविन (Goodwin), स्मीथीज (Smithies), डोमर (Domer), मेटजलर (Metzler), हवेलमो (Haavelmo), क्लीन (Klein), हिक्स (Hicks), लाग (Lange), कूपमेन्स (Koopmans), तथा टिनटर (Tinter) ने प्रावैगिक मॉडलो का विस्तार व विकास किया। इन मॉडलो का सम्बन्ध किसी भी सतुलन बिन्दु अथवा पथ (path) के चारो ओर उच्चावचन तथा स्थिरता से है तथा इनमे आर्थिक सिद्धांत के चार प्रमुख क्षेत्र सम्मिलित हैं, जिनके नाम हैं, चक्र, आय-निर्धारण, आर्थिक विकास तथा कीमत सिद्धान्त।

अब हम आर्थिक स्थैतिकी तथा प्रावैगिकी तथा तुलनात्मक स्थैतिकी (Comparative Statics) के

अर्थ तथा उनकी प्रकृति का अध्ययन करके उनके अन्तरो का वर्णन करेंगे। इनमे मुख्यत आर्थिक प्रावैगिकी के वास्तविक अर्थ तथा प्रकृति के विषय मे बहुत वाद विवाद है।

स्थैतिकी की प्रकृति
(Nature of Statics)

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, आर्थिक स्थैतिकी की अध्ययन विधि बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योकि आर्थिक सिद्धात क एक बडे भाग का विकास इसी की सहायता म किया गया है। इसके अतिरिक्त आर्थिक स्थैतिकी के विषय म ज्ञान हुए बिना आर्थिक प्रावैगिकी की धारणा को ठीक से नही समझा जा सकता क्योकि आर्थिक प्रावैगिकी के बारे मे एक बात निश्चित है कि यह 'स्थैतिकी' नही है। जे० आर० हिक्स (J R Hicks) ने ठीक लिखा है आर्थिक प्रावैगिकी की परिभाषा आर्थिक स्थैतिकी की परिभाषा से ही निकलती है एक की परिभाषा करन पर दूसरे की परिभाषा स्वय हो जाती है।[1]

आर्थिक स्थैतिकी तथा प्रावैगिकी की प्रकृति के अन्तरो को स्पष्ट करने के लिए आवश्यक है कि दो अवस्थाओ, स्थिर (stationary) तथा गत्यात्मक (changing) के अन्तरो को समझा जाय। अर्थशास्त्र म एक चर (variable) को तब स्थिर माना जाता है जबकि समय परिवर्तन होने पर भी उस चर के मूल्य मे कोई कमी न आए अर्थात् समय के दौरान उसकी मात्रा स्थिर रहे। उदाहरण के लिए, यदि समय मे परिवर्तन होने पर किसी वस्तु की कीमत मे परिवर्तन न हो तो कीमत को स्थिर कहा जाएगा। इसी प्रकार राष्ट्रीय आय स्थिर कही जाती है यदि समय के साथ साथ इसकी मात्रा परिवर्तित न हो। इसके दूसरी ओर, चर को परिवर्तनशील (अस्थिर) माना जाता है यदि समय के साथ-साथ इसकी मात्रा मे भी परिवर्तन हो। इस प्रकार समूची अर्थव्यवस्था को स्थिर माना जा सकता है यदि इस अर्थव्यवस्था मे समय के साथ-साथ समस्त महत्त्वपूर्ण चरो (variables) की मात्राओ मे परिवर्तन न हो। इसके विपरीत अर्थव्यवस्था को गत्यात्मक (changing) माना जाता है यदि इसके महत्त्वपूर्ण चरो मे समय के साथ परिवर्तन हो रहा हो। यह ध्यान देने योग्य है कि विभिन्न आर्थिक चर जिनके व्यवहार का समय के दौरान अध्ययन किया जाता है, वे हैं वस्तुओ की कीमतें, पूर्ति-मात्राएँ, माँग-मात्राएँ, राष्ट्रीय आय व रोजगार का स्तर, जनसंख्या का आकार, विनियोग का स्तर आदि।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि यह सम्भव है कि एक चर व्यष्टिपरक दृष्टिकोण से परिवर्तनशील हो परन्तु समष्टिपरक दृष्टिकोण से स्थिर हो। इस प्रकार व्यक्तिगत वस्तुओ की कीमतो मे परिवर्तन हो सकता है, कुछ की कीमतें गिर रही हो और कुछ की बढ रही हो, परन्तु समय के दौरान सामान्य कीमत-स्तर स्थिर रह सकता है। इसी प्रकार, एक देश की राष्ट्रीय आय स्थिर हो सकती है जबकि विभिन्न उद्योगो द्वारा उत्पादित आय परिवर्तित हो रही हो। दूसरी ओर, विशिष्ट चर स्थिर हो सकते हैं जबकि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था परिवर्तनशील हो। उदाहरणत अर्थव्यवस्था मे यदि निवल (net) विनियोग का स्तर स्थिर भी हो तो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का स्थिरता की दशा मे होना अनिवार्य नही है। अर्थव्यवस्था मे जब निवल विनियोग स्थिर दर से हो रहा होता है तो अर्थव्यवस्था विकसमान (गत्यात्मक अथवा प्रावैगिक) होती है क्योकि इसके पूजी के भण्डार अथवा उत्पादन क्षमता मे वृद्धि हो रही होती है।

इस पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना चाहिए कि स्थिर तथ्य (stationary phenomenon) तथा आर्थिक स्थैतिकी (economic statics) एव गत्यात्मक तथ्य (changing phenomenon) तथा आर्थिक प्रावैगिकी (economic dynamics) मे कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है। यद्यपि आर्थिक प्रावैगिकी का सबध, निहित रूप से, केवल गत्यात्मक अथवा परिवर्तनशील तथ्य से ही है, परन्तु फिर भी परिवर्तनशील तथ्यों की व्याख्या के लिए स्थैतिक विश्लेषण का विस्तृत प्रयोग किया जाता है। स्थैतिकी तथा प्रावैगिकी मे अन्तर दो विभिन्न तथ्यो का अन्तर नही है बल्कि दो विभिन्न विश्लेषण पद्धतियो का अन्तर है। प्रो० टिनबरजन ने

1. J R Hicks, *Capital and Growth* (Oxford Clarendon Press) 1965, p 7

ठीक ही कहा है "स्थैतिकी तथा प्रावैगिकी मे जो अन्तर है वह दो तथ्यो मे होने वाले अन्तर के समान नहीं है बल्कि दो विभिन्न सिद्धांतो मे होने वाले अन्तर के समान है अर्थात् ये दो विभिन्न विचारधाराएं हैं। तथ्य स्थिर या परिवर्तनशील हो सकता है परन्तु सिद्धांत (विश्लेषण) स्थैतिक अथवा प्रावैगिक।'[1]

आर्थिक सिद्धात का प्रमुख कार्य आर्थिक चरो के मध्य मे फलन सम्बन्धो (functional relations) की व्याख्या करना है। इन सम्बन्धो का दो विभिन्न तरीको से अध्ययन किया जा सकता है। यदि फलन सम्बन्ध उन चरों (variables) के मध्य स्थापित किया गया है जिनके मूल्यों का सम्बन्ध एक ही समय या एक ही समय अवधि से है तो इस विश्लेषण को स्थैतिक कहा जाता है। अन्य शब्दो मे, स्थैतिक विश्लेषण या स्थैतिक सिद्धात विभिन्न चरो के स्थैतिक सबधो का अध्ययन है। चरो मे फलन सम्बन्धो को स्थैतिक तब माना जाता है जबकि विभिन्न आर्थिक चरो का सम्बन्ध उसी समय बिन्दु अथवा उसी समय अवधि से हो। आर्थिक चरो तथा उन पर आधारित सिद्धांतो या नियमों के स्थैतिक सम्बन्धो को स्पष्ट करने के लिए अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। उदाहरणत अर्थशास्त्र में किसी भी निश्चित समय मे एक वस्तु की माँग-मात्रा तथा उसी वस्तु की कीमत में फलन सबध को स्थापित करने के लिए माँग का नियम बनाया गया। इस नियम के अनुसार, अन्य बातें समान रहने पर किसी समय मे माँग मात्रा मे कीमत परिवर्तन की विपरीत दिशा में परिवर्तन होता है। इसी प्रकार, वस्तु की कीमत तथा पूर्ति-मात्रा मे स्थैतिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है। दोनों चरो का सम्बन्ध एक ही समय से होने के कारण इन सम्बन्धो का विश्लेषण स्थैतिकी विश्लेषण बन जाता है।

सामान्यत, अर्थशास्त्रियो की रुचि चरो के सन्तुलन मूल्यो म होती है जिनको विभिन्न चरो के परस्पर समायोजन के कारण प्राप्त किया जाता है। यही कारण है कि कई बार आर्थिक सिद्धात को सन्तुलन विश्लेषण (Equilibrium Analysis) की सज्ञा भी दी जाती है। अभी हाल तक सम्पूर्ण कीमत सिद्धात का, जिसमे हम विभिन्न बाजार स्थितिया म पदार्थों तथा साधनों की सन्तुलन कीमता के निर्धारण का अध्ययन करते है, स्थैतिक विश्लेषण के माध्यम से अध्ययन किया जाता था क्योकि इसम विभिन्न चरो जैसे माँग पूर्ति कीमत आदि का सम्बन्ध एक ही बिन्दु अथवा समय अवधि से था। इस प्रकार, कीमत सिद्धात के अनुसार पूर्ण प्रतियोगिता म किसी भी निश्चित समय पर सन्तुलन, माग फलन तथा पूर्ति फलन की अन्तर्क्रिया द्वारा निश्चित होता है (जिसम चरो के
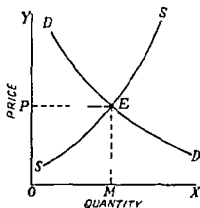
रेखाकृति 3 1 व्यष्टिपरक स्थैतिक सन्तुलन

मूल्यो का सम्बन्ध उसी समय बिन्दु से है)। इस प्रकार रेखाकृति 3 1 मे DD माँग फलन है तथा SS पूर्ति फलन। इन दोनो से OP सन्तुलन कीमत निर्धारित होती है। सन्तुलन माँग मात्रा तथा पूर्ति मात्रा OM है। यह कीमत निर्धारण का स्थैतिक विश्लेषण है क्योंकि यहाँ समस्त चरों जैसे पूर्ति-मात्रा, माँग मात्रा तथा कीमत, एक ही समय बिन्दु से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त, सन्तुलन कीमत तथा मात्रा, जो वि

---

1 "The distinction between Statics and Dynamics is not a distinction between two parts of phenomena but a distinction between two sorts of theories, i e, between two ways of thinking The phenomena may be stationary or changing The theory (the analysis) may be Static or Dynamic" Tinbergen Significant Developments in General Economic Theory, *Econometrica*, 1934

माग व पूर्ति फलनो की अन्तर्क्रिया से निर्धारित होती हैं, भी उसी समय-बिन्दु से सम्बन्धित हैं जिससे निर्धारक चर।

स्थैतिक विश्लेषण के उदाहरण समष्टिपरक आर्थिक सिद्धात से भी दिये जा सकते हैं। राष्ट्रीय आय के स्तर के निर्धारण का केन्जियन मॉडल मुख्यत स्थैतिक है। इस मॉडल के अनुसार, राष्ट्रीय आय का स्तर समस्त मांग वक्र (Aggregate Demand Curve) तथा समस्त पूर्ति वक्र (Aggregate Supply Curve) के प्रतिच्छेद द्वारा निर्धारित होता है। इसको रेखाकृति 3 2 मे दर्शाया गया है जिसमे Y-अक्ष पर समस्त पूर्ति तथा समस्त मांग (उपभोग मांग तथा

Macro-Static Equilibrium
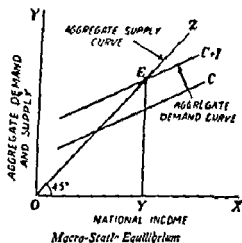
रेखाकृति 3 2 समष्टिपरक स्थैतिक सन्तुलन

विनियोग मांग, $C+I$) को मापा गया है तथा X-अक्ष पर राष्ट्रीय आय के स्तर को। समस्त माग तथा समस्त पूर्ति E बिन्दु पर बराबर हैं और इसलिये OY राष्ट्रीय आय निर्धारित होती है। यह स्थैतिक विश्लेषण है क्योंकि समस्त मांग (उपभोग तथा विनियोग मांग) तथा उत्पादन की समस्त पूर्ति का सम्बन्ध एक ही समय-बिन्दु से है तथा व्यवस्था (*system*) मे विभिन्न चरो के परस्पर समायोजन का अध्ययन करने मे समय-तत्त्व पर ध्यान नही दिया जाता। अन्य शब्दो मे, इस विश्लेषण का सम्बन्ध सम्बन्धित चरों के तात्कालिक या समय रहित समायोजन द्वारा राष्ट्रीय आय के सन्तुलन स्तर के निर्धारण से है।

प्रो० शूम्पीटर (Schumpeter) ने स्थैतिक विश्लेषण के अर्थ को निम्न शब्दो मे लिखा है: "स्थैतिक विश्लेषण से हमारा तात्पर्य आर्थिक तथ्यो की उस अध्ययन-विधि से है जिसमे वह आर्थिक व्यवस्था के उन विभिन्न तत्त्वो—कीमतो तथा वस्तुओ के सम्बन्धों को स्थापित करने का प्रयत्न करती है जो एक ही समय तत्त्व पर आधारित है अर्थात् एक ही समय-बिन्दु से जिनका सम्बन्ध होता है। प्रत्येक पाठ्यपुस्तक मे वर्णित मांग व पूर्ति का साधारण सिद्धात, जो बाजार में व्यक्तिगत वस्तु से सम्बन्धित है, इसका एक उदाहरण है: इसका सम्बन्ध उस माग, पूर्ति व कीमत से है जो किसी समय मे प्रचलित होती है।"[1]

स्थैतिक विश्लेषण के सम्बन्ध मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें कुछ निर्धारक दशाओं तथा कारको को स्थिर मान लिया जाता है जब किसी समय मे सम्बन्धित चरो के सम्बन्धो तथा उनके परस्पर समायोजन के परिणामो की व्याख्या की जा रही होती है। इस प्रकार, ऊपर वर्णित पूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत निर्धारण के विश्लेषण मे कुछ कारकों, जैसे व्यक्तियो की आय, उनकी रुचियो व अधिमान, अन्य सम्बन्धित वस्तुओ की कीमतो जो दी हुई वस्तु की माग को प्रभावित करती हैं, को स्थिर मान लिया जाता है। इसी प्रकार, उत्पादक साधनो की कीमतों तथा उत्पादन तकनीको, जिनका प्रभाव उत्पादन लागतों तथा पूर्ति फलन पर पड़ता है, को स्थिर मान लिया जाता है। ये कारक अथवा चर समय के साथ-साथ परिवर्तित होते रहते हैं और उनमे परिवर्तन के कारण मांग व पूर्ति फलन विवर्तित हो जाते हैं और इस प्रकार कीमतो को प्रभावित करते हैं। परन्तु चूंकि स्थैतिक विश्लेषण मे हमारा कार्य, दिये हुए समय-बिन्दु पर, कुछ दिये हुए चरो मे सम्बन्धों का निर्धारण करना तथा उनमे परस्पर समायोजन की स्थापना करना है, इसलिए हम यह कल्पना कर लेते हैं कि अन्य निर्धारक कारकों तथा दशाओ मे परिवर्तन नहीं होता। हम अर्थशास्त्र मे प्रदत्त निर्धारक दशाओं के लिए प्रदत्त सामग्री (*data*) शब्द का प्रयोग करते हैं। इस

1. J A Schumpeter, *History of Economic Analysis*

over time is determined by functional equations in which variables at different points of time are involved in an essential way")।[1] प्रावैगिकी विश्लेषण का अर्थ स्पष्ट करते हुए उन्होंने आगे लिखा है कि इसमें "हम दिये हुए समय-बिन्दु में आर्थिक मात्राओं की जाँच करके उनके परस्पर सम्बन्धों पर विचार ही नहीं करते, परन्तु हम विभिन्न समय-बिन्दुओं में अनेक चरों की मात्राओं पर भी विचार करते हैं तथा हम विभिन्न समीकरणों का अध्ययन करते हैं जिसमें एक ही समय पर वे बहुत-सी मात्राएँ सम्मिलित होती हैं जिनका सम्बन्ध विभिन्न समय-बिन्दुओं से होता है। यह प्रावैगिक सिद्धान्त की प्रमुख विशेषता है। केवल इसी प्रकार के सिद्धान्त की सहायता से हम यह बता सकते हैं कि एक स्थिति में से दूसरी स्थिति किस प्रकार उत्पन्न होती है।"[2]

व्यष्टिपरक तथा समष्टिपरक आर्थिक क्षेत्रों से प्रावैगिक सम्बन्धों के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। यदि हम मान लें कि किसी दिये हुए समय (t) में बाजार में किसी वस्तु की पूर्ति (S) पूर्व समय ($t-1$) में प्रचलित कीमत पर निर्भर होती है, तो कीमत तथा पूर्ति के इस सम्बन्ध को प्रावैगिक कहा जाएगा। इस प्रावैगिक फलन सम्बन्ध को निम्न प्रकार लिखा जा सकता है

$$S_t = f(P_{t-1})$$

इस समीकरण में S_t दिए हुए समय में वस्तु की पूर्ति-मात्रा के लिए है तथा P_{t-1} पूर्व समय में प्रचलित कीमत के लिये। इसी प्रकार, यदि हम यह स्वीकार कर लें कि एक वस्तु की माँग-मात्रा (D) वर्तमान समय t में आगामी समय ($t+1$) की सम्भावी कीमत का फलन है तो माँग व कीमत के इस सम्बन्ध को प्रावैगिक कहा जाएगा और इस सम्बन्ध के विश्लेषण को प्रावैगिक सिद्धान्त या आर्थिक प्रावैगिकी।

इसी प्रकार, प्रावैगिक सम्बन्धों के उदाहरण समष्टिपरक आर्थिक क्षेत्र में भी दिये जा सकते हैं। यदि हम यह मान कर चलते हैं कि अर्थव्यवस्था में किसी दिये हुए समय में उपभोग पूर्व समय ($t-1$) की आय पर निर्भर करता है तो हम प्रावैगिक सम्बन्ध की कल्पना कर रहे होंगे। इसको निम्न प्रकार से लिखा जा सकता है

$$C_t = f(Y_{t-1})$$

जहाँ C_t किसी समय में उपभोग को दर्शाता है Y_{t-1} पूर्व समय की आय को।

जब समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त (आय, रोजगार तथा विकास सिद्धान्त) पर प्रावैगिक दृष्टिकोण से विचार किया जाता है अर्थात् जब समष्टिपरक प्रावैगिक सम्बन्धों का विश्लेषण किया जाता है तो इस सिद्धान्त को 'समष्टिपरक प्रावैगिकी' (Macro dynamics) कहा जाता है। सैम्युलसन, कलेस्की तथा कैंजोपरांत (Post-Keynesian) अर्थशास्त्रियों जैसे हैरड तथा हिक्स ने केन्ज के समष्टिपरक आर्थिक सिद्धांत का प्रवेगीकरण किया।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्रावैगिक व्यवस्था में परिवर्तन या गति अन्तर्गत (endogenous) होती है अर्थात् इस पर बाह्य परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, एक परिवर्तन में से ही दूसरा परिवर्तन निकलता है। प्रारम्भ में कोई बाह्य परिवर्तन हो सकता है परन्तु इस प्रारम्भिक बाह्य परिवर्तन के उत्तर में, प्रावैगिक व्यवस्था बिना किसी अन्य बाह्य परिवर्तन के स्वतन्त्र रूप से बढ़ती चली जाती है और विगत स्थितियों में से उत्तरोत्तर नई स्थितियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। अन्य शब्दों में, प्रावैगिक प्रक्रिया का विकास स्वय-जनित (self generated) होता है। इस प्रकार सैम्युलसन के अनुसार, "यह ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रत्येक प्रावैगिक व्यवस्था, समय के दौरान, स्वय के व्यवहार को जनित करती है जो या तो 'प्रारम्भिक दशाओं' के प्रति स्वतन्त्र प्रतिक्रिया होती है या कुछ परिवर्तनशील बाह्य दिशाओं के उत्तर में होती है। समय के दौरान स्वयं जनित विकास (self generating development) ही प्रत्येक प्रावैगिक प्रक्रिया की महत्वपूर्ण विशेषता

---

1 2 Ragnar Frisch, Propagation Problems and Impulse Problems in Dynamic Economics, *Economic Essays in Honour of Gustav Cassel* (George Allen and Unwin Ltd, London, 1933) pp 171 172

है।"[1] इसी प्रकार प्रोफेसर जे० के० मेहता ने लिखा है, "सरल शब्दों मे एक आर्थिक व्यवस्था को तब प्रावैगिक व्यवस्था कहा जा सकता है जबकि किसी भी समय इसके विभिन्न चरो जैसे उत्पादन, माँग, कीमतो आदि का मूल्य किसी अन्य समय के मूल्य पर निर्भर करता हो। यदि आप किसी एक समय बिन्दु मे, इनके मूल्यो को जानते हैं तो उत्तरोत्तर समयो मे इनके मूल्यो को भी ज्ञात कर सकते हैं। विशुद्ध प्रावैगिक व्यवस्था मे वस्तुओ की कीमतें बहिर्जनित (exogenous) कारणो पर निर्भर नही करती। एक प्रावैगिक व्यवस्था स्वय-पूर्ण (self contained) तथा स्वय-धारी (self sustained) होती है।"[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रावैगिक विश्लेषण की प्रमुख विशेषता यह बताना है कि प्रावैगिक प्रक्रिया अथवा व्यवस्था किस प्रकार से स्वय जनित है, इसमे पूर्व स्थिति में से एक स्थिति किस प्रकार निकलती है अथवा इस प्रक्रिया मे एक स्थिति किस प्रकार दूसरी स्थिति को उत्पन्न करती है और इस प्रकार बाह्य दबावो से प्रभावित हुए बिना यह व्यवस्था स्वतन्त्र रूप से आगे बढती रहती है। एक जर्मन अर्थशास्त्री डा० शिनडर ने इसको स्पष्ट रूप मे निम्न प्रकार लिखा है "एक प्रावैगिक सिद्धान्त यह बताता है कि कालान्तर मे आर्थिक व्यवस्था की एक दशा किस प्रकार अपने से पूर्व की आर्थिक व्यवस्था की दशा से उत्पन्न होती है। विश्लेषण की यह पद्धति आर्थिक विकास की प्रक्रिया, चाहे वह अल्पकालीन हो या दीर्घकालीन, का अध्ययन करने के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है।" ("A dynamic theory shows how in the course of time a condition of the economic system has grown out of its condition in the previous period of time It is this form of analysis which has the central importance for the study of the process of economic development be they short run or long run processes")[3]

प्रावैगिक विश्लेषण का एक रेखा चित्र यहाँ दिया जा सकता है। जैसा कि ऊपर बताया गया राष्ट्रीय आय का स्तर समस्त माँग वक्र तथा समस्त पूर्ति वक्र के सन्तुलन द्वारा निर्धारित होता है। अब यदि समस्त माँग मे वृद्धि हो जाय जो कि आय विनियोग मे वृद्धि के कारण होती है, तो समस्त माग वक्र ऊपर की ओर को विवर्तित हो जाएगा जिसके कारण एक नया सन्तुलन बिन्दु स्थापित होगा और राष्ट्रीय आय का स्तर बढ जाएगा। स्थैतिक विश्लेषण मे, नया सन्तुलन तुरन्त (समय रहित) स्थापित हो जाता है और इसमे इस बात पर कोई ध्यान नही दिया जाता कि समस्त
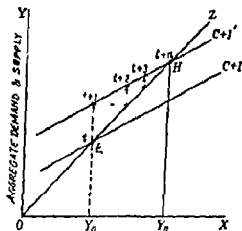
रेखाकृति 3 3 समष्टिपरक प्रावैगिक सन्तुलन

1 "It is important to note that each dynamic system generates its own behaviour over time either as an autonomous response to a set of "initial conditions" or as a response to some changing external conditions *This feature of self generating development over time is the crux of every dynamic process* " Paul A Samuelson, Dynamic Process Analysis, in *The Collected Scientific Papers of Paul A Samuelson*, Vol I, edited by Joseph E Stiglitz (MIT Press 1966) p 590 (Italics supplied)

2 J K Mehta *Lectures on Modern Economic Theory*, 3rd Edition 1967, p 212

3 Dr Schneider *Pricing and Equilibrium An Introduction to Static and Dynamic Analysis* 2nd Edition (1962) p 230

माँग में वृद्धि के कारण आय सन्तुलन की नई स्थिति प्रारम्भिक स्थिति में से कालान्तर में किस प्रकार विकसित हुई है। इसके विपरीत प्रावैगिक विश्लेषण उस सम्पूर्ण पथ का पता लगाने का प्रयत्न करता है जिस पर से होकर व्यवस्था नए सन्तुलन तक पहुँचती है। रेखाकृति 3·3 में आय निर्धारण का एक सामान्य समष्टिपरक मॉडल प्रदर्शित किया गया है। समस्त माँग $C+I$ वक्र द्वारा व्यक्त की गई है और t समय में OY_o राष्ट्रीय आय निर्धारित होती है। अब मान लीजिये कि समस्त माँग वक्र t समय के दौरान, विनियोग में वृद्धि के कारण, ऊपर को विवर्तित हो जाता है। परिणामस्वरूप आय बढ़नी प्रारम्भ हो जाती है परन्तु इसको नई सन्तुलन स्थिति तक पहुँचने में समय लगेगा। t समय में जैसे विनियोग में वृद्धि होती है, तो $t+1$ समय में विनियोग की मात्रा के बराबर राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी, अब यह आय-वृद्धि उपभोग माँग को बढ़ायेगी। इस बढ़ी हुई उपभोग माँग को पूरा करने के लिए उत्पादन में वृद्धि की जाएगी जिससे $t+2$ समय में आय में और वृद्धि हो जाएगी। इस आय में वृद्धि से उपभोग में और वृद्धि प्रेरित होगी जिसके परिणामस्वरूप बढ़ी हुई माँग को पूरा करने के लिये अधिक उत्पादन किया जाएगा और इस प्रकार $t+3$ समय में आय में और वृद्धि हो जाएगी। इस प्रकार, आय में निरन्तर वृद्धि होती रहेगी, एक वृद्धि दूसरी वृद्धि को जन्म देती जायेगी और अन्त में $t+n$ समय में अन्तिम सन्तुलन बिन्दु H को प्राप्त कर लिया जाएगा जिसमें OY_n आय निर्धारित होती है। समय के दौरान आय में वृद्धि जिस पथ में होती है उसको बिन्दुओं वाले तीर चिन्हों द्वारा रेखाकृति 3·3 में दिखाया गया है। समष्टिपरक अर्थशास्त्र का यह चित्रण इस बात को स्पष्ट कर देता है कि किस प्रकार प्रावैगिक विश्लेषण में, एक समय में चरों की मात्राएँ पूर्व समय के चरों की मात्राओं पर निर्भर होती हैं।

आर्थिक प्रावैगिकी की अध्ययन-विधि के अर्थ की उपरोक्त व्याख्या के संदर्भ में प्रोफ़ेसर जे० आर० हिक्स की पुस्तक मूल्य और पूँजी (*Value and Capital*) में वर्णित प्रावैगिकी की परिभाषा का उल्लेख करना आवश्यक है। प्रोफ़ेसर हिक्स का कहना है "मैं आर्थिक स्थैतिकी, आर्थिक सिद्धान्त के उस भाग को कहता हूँ जहाँ हम समय-निर्धारण का कष्ट नहीं करते। आर्थिक प्रावैगिकी वह भाग है जहाँ प्रत्येक मात्रा का समय-निर्धारण आवश्यक है।" (I call Economic Statics those parts of economic theory where we do not trouble about dating *Economic Dynamics are those parts where every quantity must be dated*"[1] प्रावैगिकी की परिभाषा देने का यह सबसे सरल तरीका है। जब चरों की मात्राओं में समय के साथ-साथ परिवर्तन नहीं होता तो चरों के समय निर्धारण की आवश्यकता नहीं होती। परन्तु हमारे दृष्टिकोण से यह आर्थिक प्रावैगिकी की सन्तोषजनक परिभाषा नहीं है। एक व्यवस्था स्थैतिकी हो सकती है, परन्तु यदि उसमें समय-निर्धारण वर्तमान हो जाए तो हिक्स की परिभाषा के अनुसार वह प्रावैगिकी हो जायगी। इस प्रकार चरों का समय-निर्धारण करके स्थैतिकी व्यवस्था को हिक्सीयन प्रावैगिकी में परिवर्तित किया जा सकता है। परन्तु यह आर्थिक प्रावैगिकी का सही अर्थ, जैसा कि सामान्यतः समझा जाता है, नहीं है। चरों का केवल समय-निर्धारण ही पर्याप्त नहीं है। जैसा कि फ्रिश ने स्पष्ट किया है, एक वास्तविक प्रावैगिकी व्यवस्था में विभिन्न चरों का सम्बन्ध विभिन्न समयों या समय बिन्दुओं से होना आवश्यक है।

दूसरे, जैसा कि सेम्युलसन ने कहा है हिक्स द्वारा दी गई परिभाषा अत्यधिक सामान्य तथा अपर्याप्त है। ऐतिहासिक रूप से गतिमान स्थैतिक व्यवस्था में निश्चित रूप से, चरों का समय-निर्धारण आवश्यक है परन्तु इससे यह प्रावैगिक नहीं बन जाएगी।[2] चरों की व्यवस्था को प्रावैगिकी कहलाने के लिए आवश्यक है कि विभिन्न चरों में फलन

---

1 J R Hicks *Value and Capital* (1931) p 115

2 Paul A Samuelson, Dynamics, Statics and Stationary State, *printed in The Collected Essays of Paul A Samuelson* (Vol I) edited by Joseph E Stiglitz, p 201

सम्बन्ध हो, अर्थात् एक समय-बिन्दु मे एक चर को दूसरे समय-बिन्दुओ के चरो पर निर्भर होना चाहिए। अत प्रोफेसर सेम्युलसन के अनुसार, "एक व्यवस्था प्रावैगिकी होती है यदि इसका व्यवहार, समय के साथ उन फलन समीकरणो द्वारा निर्धारित होता है जिनमे विभिन्न समय-बिन्दुओ के चर अनिवार्य रूप से सम्मिलित होते हैं।"[1]

इस प्रकार सेम्युलसन ने एक व्यवस्था के प्रावैगिक होने के लिए विभिन्न समय-बिन्दुओ के साथ-साथ फलन सम्बन्धो (functional relationship) को भी महत्त्व प्रदान किया। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रावैगिक व्यवस्था मे विभिन्न समय बिन्दुओ पर चरो के मध्य फलन सम्बन्ध होते हैं। ऐतिहासिक रूप से गतिमान व्यवस्था के लिए यह आवश्यक नही है कि चरो के मध्य विभिन्न ऐतिहासिक समयो मे फलन सम्बन्ध हो। एक व्यवस्था के ऐतिहासिक गतिमान का प्रावैगिक होना आवश्यक नही है। उदाहरण के लिए, जैसे कि सेम्युलसन ने बताया है, यदि मानसून के कारण एक फसल बहुत अच्छी होती है तथा दूसरी फसल मानसून खराब होने के कारण बहुत गिर जाती है तथा यह क्रम चलता रहता है तो व्यवस्था स्थैतिक होगी परन्तु स्थिर नही।

आर्थिक प्रावैगिकी की विधि की जिस धारणा का प्रस्तुतीकरण हमने ऊपर किया है उसका सर्वप्रथम स्पष्टीकरण फ्रिश (Frisch) ने 1929 मे किया था। उसके विचार के अनुसार, स्थैतिक विश्लेषण के समान, आर्थिक प्रावैगिकी आर्थिक तथ्य की व्याख्या करने का एक विशिष्ट तरीका है। आर्थिक तथ्य स्थिर या परिवर्तनशील हो सकते है। यद्यपि प्रावैगिक विश्लेषण की विधि का परिवर्तनशील व विकसमान अर्थव्यवस्था मे अधिक प्रयोग सम्भव होता है, किन्तु इसको स्थिर तथ्यो पर भी लागू किया जा सकता है। एक व्यवस्था व तथ्य तब स्थिर होता है जब कि इससे सम्बन्धित आर्थिक चरो के मूल्यों मे कालान्तर मे कोई परिवर्तन न हो। परन्तु, यदि किसी समय चरो के मूल्य किसी दूसरे समय के मूल्यो पर निर्भर हैं तब प्रावैगिक विश्लेषण का प्रयोग सम्भव है। परन्तु, जैसा कि ऊपर बताया गया आर्थिक प्रावैगिकी का विस्तृत प्रयोग परिवर्तनशील तथा विकसमान अर्थव्यवस्था मे ही सम्भव है। डा० शिनडर (Dr Schneider) ने एक ओर स्थैतिकी तथा प्रावैगिकी मे तथा दूसरी ओर स्थिर व परिवर्तनशील तथ्यो के अन्तर को, निम्न शब्दो मे, भली प्रकार स्पष्ट किया है, 'यह समझना आवश्यक है कि आधुनिक सिद्धान्त मे 'स्थैतिकी' तथा 'प्रावैगिकी' का अभिप्राय किसी तथ्य का अध्ययन करने की **एक विशिष्ट अध्ययन विधि या विश्लेषण के तरीके** से है, जब कि 'स्थिर' व गत्यात्मक (परिवर्तनशील) शब्द वास्तविक आर्थिक तथ्य को बताते हैं। **एक स्थैतिक या प्रावैगिक सिद्धान्त आर्थिक तथ्यों की विशिष्ट प्रकार की व्याख्या है, और वास्तव मे, दोनों स्थिर व गत्यात्मक दशाओ की स्थैतिक या प्रावैगिक किसी भी विश्लेषण विधि से व्याख्या की जा सकती है।**"[2]

हैरड की आर्थिक प्रावैगिकी की धारणा (Harrod's Conception of Economic Dynamics)

ऊपर हमने रगनार फ्रिश द्वारा प्रतिपादित आर्थिक प्रावैगिकी की धारणा की विवेचना की है, हालाकि इसका विवेचन अन्य अर्थशास्त्रियो ने भी किया है। प्रो० आर० एफ० हैरड (Harrod) ने, जो कि कैम्ब्रिज के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हैं, अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "*Towards a Dynamic Economics*" मे आर्थिक प्रावैगिकी की धारणा को भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया है। हैरड के अनुसार आर्थिक प्रावैगिकी का सम्बन्ध परिवर्तन की दरो (rates of change) से है। किसी

1. *Ibid* p 59

2 It is essential to understand that modern 'statics' and 'dynamics' refer to a *particular mode of treatment or type of analysis* of the phenomenon observed while the adjectives 'stationary' and 'changing' describe the actual economic phenomena A static or dynamic theory is a particular kind of explanation of economic phenomena, and, indeed stationary and changing phenomena can be submitted either to a static or to a dynamic analysis *op cit*, p 228

विश्लेषण या सिद्धान्त को तब प्रावैगिक माना जाता है जबकि कुछ चरों (variables) के परिवर्तन की दरें अन्य चरों की परिवर्तन की दरों पर निर्भर हों। उनके विचार में प्रावैगिकी उन "अर्थव्यवस्था का अध्ययन है जिसमें उत्पादन की दरों में परिवर्तन हो रहा होता है" (Dynamic studies of an economy in which rates of output are changing)।[1] उन्होंने आर्थिक प्रावैगिकी की परिभाषा देते हुए कहा कि यह वह अध्ययन है जिसमें विकसमान अर्थव्यवस्था के विभिन्न तत्वों की वृद्धि की दरों के आवश्यक सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है।[2] (Economic dynamics is the study of the necessary relation between the rates of growth of the different elements in a growing economy)। वे आगे कहते हैं कि प्रावैगिकी का विकसमान अर्थव्यवस्था की विशेष प्रकृति के फलस्वरूप उत्पन्न निरन्तर परिवर्तनों पर विचार करना चाहिए।

हैरड (Harrod) द्वारा वर्णित आर्थिक प्रावैगिकी की धारणा, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि इस धारणा में आर्थिक प्रावैगिकी की अध्ययन विधि (method) तथा क्षेत्र (scope) दोनों को सम्मिलित किया गया है। उनके अनुसार एक विधि के रूप में आर्थिक प्रावैगिकी कुछ विशिष्ट चरों के परिवर्तनों की दरों (rates of change) पर विचार करती है और देखती है कि वे अन्य चरों के परिवर्तनों की दरों से किस प्रकार सम्बन्धित हैं। विकसमान तथा परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था में ही चरों की मात्राओं में परिवर्तन आने के कारण आर्थिक प्रावैगिकी केवल विकसमान व परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था (growing and changing economy) का अध्ययन करती है। अतः हैरड की आर्थिक प्रावैगिकी का क्षेत्र विकसमान तथा परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था तक ही सीमित है और स्थिर अर्थव्यवस्था इसके क्षेत्र से बाहर है। इसीलिए वह प्रावैगिकी तथा विकसमान अथवा परिवर्तनशील तथ्य (growing or changing phenomenon) में अन्तर नहीं मानता। अन्य शब्दों में, वह प्रावैगिकी की अध्ययन-विधि तथा क्षेत्र में कोई अन्तर नहीं करता। उसकी धारणा में ये दोनों घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। प्रावैगिकी धारणा के फलस्वरूप प्रोफेसर हैरड ने विकसमान अर्थव्यवस्था के लिए प्रावैगिक समष्टिपरक आर्थिक मॉडल का भी विकास किया जिसमें उन्होंने बताया कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के स्थायी तथा निरन्तर विकास के लिए उचित वृद्धि की दर क्या होनी चाहिए।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि फिश (Frisch) की धारणा के विपरीत, हैरड की प्रावैगिकी धारणा में कोई समय अन्तर (time lag) नहीं है। हैरड की प्रावैगिकी में गतिमान सन्तुलन (moving equilibrium) है, जिसमें सम्बन्धित चरों में सदा एक दूसरे से सन्तुलन सम्बन्ध है।

आधुनिक सिद्धांत में फ्रिश व हैरड दोनों की आर्थिक प्रावैगिकी की धारणाओं को स्वीकार किया जाता है। अतः आधुनिक अर्थशास्त्र में आर्थिक प्रावैगिकी का सम्बन्ध या तो विभिन्न समय-बिन्दुओं के चरों में फलन सम्बन्धों की स्थापना करना है अथवा विकसमान अर्थव्यवस्था में चरों में परिवर्तनों की दरों तथा उनके परस्पर सम्बन्धों पर विचार करना है। प्रथम प्रकार के अध्ययन को काल विश्लेषण (Period Analysis) कहते हैं और दूसरी प्रकार के अध्ययन को परिवर्तन की दरों का विश्लेषण (Rates of Change Analysis)। इस प्रकार फ्रिश व हैरड की प्रावैगिकी की धारणाओं में समन्वय करते हुए, सेम्युलसन[3] की प्रावैगिक आर्थिक प्रक्रियाओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, (a) असतत प्रक्रियाएँ (Discrete Processes) जिनका अध्ययन 'काल-विश्लेषण' के अन्तर्गत किया जाता है, तथा (b) निरन्तर प्रक्रियाएँ (Continuous Processes) जिनका सम्बन्ध प्रवाहों (flows) से है और जिनका अध्ययन 'दर विश्लेषण' के अन्तर्गत किया जाता है। गणितीय रूप में, काल विश्लेषण अन्तर-समीकरण (Difference equations)

1. R. F. Harrod, *Towards a Dynamic Economics* (1948), p. 4
2. R. F. Harrod, *Op Cit*, p. 19.
3. Paul A. Samuelson, *Dynamic Process Analysis, op cit*, p. 354.

की श्रेणी मे आता है तथा दर-विश्लेषण अवकल समीकरण (Differential equations) की श्रेणी मे।'[1] सक्षेप मे, हम कह सकते है कि फ्रिश की प्रावैगिकी धारणा का सम्बन्ध विभिन्न चरो के अन्तर-समीकरण से है, जब कि हैरड की प्रावैगिकी का सम्बन्ध परिवर्तनशील चरो के अवकल-समीकरण से है। यहाँ दोनो प्रकार के समीकरणो का एक एक उदाहरण दे देने से प्रावैगिकी की दोनो धारणाएँ स्पष्ट हो जायेंगी।

अन्तर-समीकरण का सबसे अच्छा उदाहरण राबर्टसन (Robertson) का यह काल विश्लेषण है जिसमे उन्होने उपभोग तथा आय के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। राबर्टसन के अनुसार आज (अर्थात चालू काल) का उपभोग पूर्व काल की आय (अर्थात् गत वर्ष की आय) पर निर्भर करता है, जबकि चालू काल की आय चालू वर्ष के उपभोग व विनियोग व्यय से निर्धारित होती है। इस प्रकार उनके विश्लेषण मे उपभोग तथा आय मे एक काल का अन्तर है। अन्तर समीकरण (जिसको lag समीकरण भी कहा जाता है) जो कि इससे सम्बन्धित है तथा राष्ट्रीय आय के स्तर को निर्धारित करता है निम्न है (यहाँ t चालू काल के लिए है, और $t-1$ पूर्व काल के लिए होगा।)

$$Y_t = C_t + I_t$$
$$C_t = c(Y_{t-1})$$
$$Y_t = c(Y_{t-1}) + I_t$$

यहाँ c उपभोग प्रवृत्ति को दर्शाता है। उपरोक्त समीकरण मे यह बताया गया है कि आज की आय (Y_t) आज के उपभोग व्यय (C_t) तथा विनियोग व्यय (I_t) से निर्धारित होती है। परतु उपभोग व्यय मे एक-काल अन्तर (One-period lag) है, अर्थात् आज का उपभोग (C_t) कल की आय (Y_{t-1}) पर निर्भर है। काल विश्लेषण (फ्रिश की प्रावैगिक धारणा) को आर्थिक सिद्धान्त के बहुत से क्षेत्रो मे लागू किया गया है, जैसे आय सिद्धान्त, कीमत सिद्धान्त, व्यापार चक्र सिद्धान्त तथा आर्थिक विकास।

अब हम हैरड की प्रावैगिकी की व्याख्या करते है। हैरड का एक विकसमान अर्थव्यवस्था के लिए प्रावैगिक मॉडल देना अधिक अच्छा होगा। हैरड की मुख्य रुचि विकसित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के स्थायी विकास के पथ मे उत्पन्न होने वाली अस्थिरता की सम्भावना को दर्शाना है। उसका माडल यह बताता है कि वृद्धि अथवा विकास की वह कौन सी अपेक्षित दर (Warranted Rate of Growth) है जिससे विकसमान अर्थव्यवस्था मे निरन्तर सतुलन निश्चित हो जाता है (अर्थात् वह दर जिससे स्थायी विकास सम्भव हो)। यदि C पूँजी-उत्पादन अनुपात (Capital-output ratio)[2] को दर्शाता है। किसी t काल म विनियोग I_t, t काल म उत्पादन म अनुमानित वृद्धि के C गुणा के बराबर होगा। उत्पादन मे अनुमानित वृद्धि काल t मे उत्पादन की अनुमानित माग तथा पूर्व काल मे वास्तविक उत्पादन के अन्तर के बराबर होगी। यदि X_t काल t मे उत्पादन की अनुमानित माँग को दर्शाता है तथा Y_{t-1} पूर्व काल म वास्तविक उत्पादन को तब उत्पादन मे अनुमानित वृद्धि $X_t - Y_{t-1}$ के बराबर होगी।

$$\text{अत}\quad I_t = C\,(X_t - Y_{t-1}) \qquad (1)$$

गुणक (Multiplier) के कार्यचालन के कारण काल t म वास्तविक माँग या उत्पादन (Y_t), गुणक की मात्रा (जो कि सीमान्त बचत प्रवृत्ति के व्युत्क्रम (reciprocal) के बराबर होता है) तथा विनियोग I_t के गुणनफल के बराबर होगा।

$$\text{अत}\quad Y_t = \frac{I}{S}\; I_t \qquad (2)$$

$C\,(X_t - Y_{t-1})$ को I_t से प्रतिस्थापित करके हमे निम्न समीकरण प्राप्त होता है

$$Y_t = \frac{C}{S}\,(X_t - Y_{t-1})$$

---

1 *Ibid* p 354

2 यदि पूँजी उत्पादन अनुपात 3 1 है, तो इसका अर्थ होगा कि उत्पादन मे एक रुपये की वृद्धि से तीन रुपये का विनियोग प्रोत्साहित होगा। हैरड के विश्लेषण मे पूँजी उत्पादन अनुपात को त्वरक के समान माना गया है क्योंकि उत्पादन मे एक इकाई की वृद्धि के कारण विनियोग मे कई गुणा वृद्धि होती है। यह वृद्धि पूंजी उत्पादन-अनुपात की मात्रा पर निर्भर है।

उपर्युक्त समीकरण के दोनों पक्षों को X_t से भाग देने पर प्राप्त होता है

$$\frac{Y_t}{X_t} = \frac{C}{S} \quad \frac{(X_t - Y_{t-1})}{X_t} \qquad (3)$$

व्यजक $\frac{(X_t - Y_{t-1})}{X_t}$ विकास की अनुमानित दर (expected rate of growth) है। उपर्युक्त समीकरण (3) से यह पता चलता है कि उत्पादन के लिए वास्तविक माँग से अनुमानित माँग का अनुपात $\left(i.e., \frac{Y_t}{X_t}\right)$ विकास की अनुमानित दर तथा $\frac{C}{S}$ के गुणनफल के बराबर है। यदि काल t मे विकास की अनुमानित दर के लिए g_t का प्रयोग किया जाय तो उपर्युक्त समीकरण (3) निम्न रूप ले लेता है।

$$\frac{Y_t}{X_t} = \frac{C}{S}\, g_t \qquad (4)$$

अब यदि g_t अनुमानित विकास की दर $\frac{S}{C}$ के बराबर है, तब उत्पादन के लिए अनुमानित माँग (X_t) उत्पादन की वास्तविक माँग (Y_t) के बराबर होगी। (ऐसा इसलिए है क्योंकि यदि g_t बराबर है $\frac{S}{C}$ के तो व्यजक (expression) $\frac{C}{S} g_t$ एक (one) के बराबर होगा, जिसका अर्थ, यदि समीकरण (4) के सदर्भ मे देखा जाय, तो यह होगा कि $\frac{Y_t}{X_t}$ एक (one) के बराबर है। और $\frac{Y_t}{X_t}$ एक के बराबर तब हो सकता है जबकि $Y_t = X_t$ हो। इससे स्पष्ट है कि यदि g_t विकास की अनुमानित दर सदा $\frac{S}{C}$ के बराबर हो तो उद्यमकर्त्ताओं की आकांक्षाओं की पूर्ति हो जायगी और अर्थव्यवस्था $\frac{S}{C}$ के बराबर स्थायी दर (steady rate) से विकास करेगी। $\frac{S}{C}$ के बराबर विकास-दर को हैरड ने अपेक्षित विकास की दर (warranted rate of growth) की सज्ञा दी है। यदि विकास की वास्तविक दर इस अपेक्षित दर के समान हो तो अर्थव्यवस्था निरन्तर प्रावैगिक सन्तुलन की स्थिति मे रहेगी और इसका स्थाई दर से विकास होता रहेगा। परन्तु यदि विकास की दर $\left(\frac{S}{C}\right)$ अपेक्षित दर से कम या अधिक होगी तो अर्थव्यवस्था मे अस्थायित्व उत्पन्न हो जाएगा।

हैरड के समान अन्य अर्थशास्त्रियों जैसे सेम्युलसन, हेनसन, हिक्स, केलडर, कलेस्की आदि ने भी समष्टिपरक प्रावैगिक माडल बनाए है जो विकासशील अर्थव्यवस्था मे विकास एव उच्चावचन (प्रवृत्ति तथा चक्र) की व्याख्या करते है। ये विभिन्न मॉडल एक दूसरे से कई बातों मे भिन्न है।

आर्थिक प्रावैगिकी की आवश्यकता तथा महत्त्व (Need and Significance of Economic Dynamics)

यदि हम अपने सिद्धान्त को वास्तविक बनाना चाहते है तो प्रावैगिक विश्लेषण का उपयोग आवश्यक है। वास्तविक ससार मे विभिन्न आधारभूत चरो जैसे वस्तुओं की कीमतें, वस्तुओं का उत्पादन, व्यक्तियों की आय, उपभोग व विनियोजन आदि मे समय के साथ परिवर्तन होते रहते हैं। फ्रिश तथा हैरड दोनो के प्रावैगिक विश्लेषणो मे इन चरो के परिवर्तन को बताया गया और व्याख्या की गई है कि विभिन्न चरो की एक-दूसरे पर प्रतिक्रियाएँ किस प्रकार होती हैं और इन प्रतिक्रियाओं के क्या परिणाम निकलते है। बहुत-से आर्थिक चरो को अन्य चरो म हो रहे परिवर्तन के अनुकूल अपने आप को समायोजित करने मे समय लगता है। अन्य शब्दो मे, कुछ चरो मे दूसरे चरो के प्रत्युत्तर मे जो परिवर्तन होते है उसमे समय अन्तर होता है जिस कारण उनका प्रावैगिक विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। हम देख चुके है कि एक काल मे आय मे परिवर्तन का प्रभाव आगे आने वाले काल के उपभोग पर पड़ता है। इसी प्रकार के समष्टिपरक तथा व्यष्टिपरक क्षेत्र से बहुत उदाहरण दिए जा सकते है।

इसके साथ ही, वास्तविक संसार के अनुभव से यह पता चलता है कि कुछ चरो के मूल्य अन्य चरो की वृद्धि की दर (rate of growth) पर निर्भर करते हैं। उदाहरण के लिए, हमने विकसमान अर्थव्यवस्था के हैरड मॉडल मे यह देखा कि विनियोग उत्पादन की अनुमानित वृद्धि की दर पर निर्भर करता है। इसी प्रकार एक वस्तु की मांग कीमतो मे परिवर्तन की दर पर निर्भर करती है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते है। उन स्थितियो मे, जहाँ कुछ चर अन्य चरो में परिवर्तन की दर पर निर्भर होते हैं, काल-विश्लेषण (period analysis) तथा परिवर्तन की दर-विश्लेषण (rate of change analysis) दोनो का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। ऐसा उनके वास्तविक व्यवहार को समझने के लिए आवश्यक है।

अभी हाल तक प्रावैगिक विश्लेषण का मुख्य सबंध व्यापार चक्रो अथवा आर्थिक उतार-चढावो की व्याख्या करने से था। परन्तु हैरड[1] तथा डोमर[2] के महत्त्वपूर्ण योगदानो के उपरान्त, अर्थशास्त्रियो की विकास की समस्याओ में रुचि पुन जाग्रत हो गई है। विकास के अध्ययन मे ही प्रावैगिक विश्लेषण की आवश्यकता अत्यधिक हो जाती है। आजकल ससार के विकसित तथा अल्प विकसित देशो के अर्थशास्त्री अनुकूलतम विकास के प्रावैगिक मॉडल (dynamic models of optimum growth) बनाने मे व्यस्त हैं। अत हाल के वर्षों में प्रावैगिक विश्लेषण मे अधिक बल चक्रो या उतार चढावो की व्याख्या करने पर नही दिया जाता बल्कि विकास की व्याख्या पर दिया जाता है। प्रो० हेनसन (Hansen) का यह कथन ठीक है, 'मेरे विचार से केवल उतार-चढाव आर्थिक प्रावैगिकी के अपेक्षाकृत अमहत्त्वपूर्ण भाग का प्रतिनिधित्व करता है। आर्थिक प्रावैगिकी के अध्ययन की विषय वस्तु, उतार-चढ़ाव नही बल्कि विकास है। विकास का सम्बन्ध तकनीक मे परिवर्तन तथा जनसख्या मे वृद्धि से है। चक्र साहित्य (और चक्र सिद्धान्त प्रावैगिकी अर्थशास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है) का वह भाग जिसका मुख्य सम्बन्ध केवल उतार-चढाव से है वास्तव में व्यर्थ है।'[3]

आशंसाएँ तथा प्रावैगिकी
(Expectations and Dynamics)

ऊपर हमने बताया कि आर्थिक प्रावैगिकी का प्रमुख कार्य प्रावैगिक सम्बन्धों की व्याख्या करना है, अर्थात् विभिन्न समय-बिन्दुओ से सम्बन्धित चरो मे फलन सम्बन्ध स्थापित करना। वर्तमान चर भूत या भविष्य चरो पर निर्भर हो सकते हैं। अत जब विभिन्न समान बिन्दु से सम्बन्धित आर्थिक चरो के सम्बन्धो पर विचार किया जाता है, अथवा जब विकसमान अर्थव्यवस्था की कुछ राशियो की परिवर्तन दरो पर विचार किया जा रहा है तो सैद्धान्तिक चित्र मे भविष्य का प्रश्न स्वय आ जाता है। आर्थिक इकाइयो (जैसे उपभोक्ता, उत्पादक तथा उद्यमकर्त्ता) को अपने वर्तमान के व्यवहार के विषय मे निर्णय लेना होता है। उपभोक्ताओ को तय करना होता है कि वे किन वस्तुओ को कितनी मात्रा मे खरीदें। इसी प्रकार उत्पादको को तय करना होता है कि वे किन वस्तुओ का उत्पादन करें, किन साधनो का प्रयोग करें और किन तकनीको से वस्तुओं को उत्पादित करें। आर्थिक इकाइयाँ अपने वर्तमान कार्यों के बारे मे, अपने आर्थिक चरों के अनुमानित मूल्यो के आधार पर निर्णय लेती हैं। जब उनकी आशसाएँ पूर्ण हो जाती हैं, तो वे उसी प्रकार से व्यवहार करती रहती हैं और प्रावैगिक व्यवस्था सन्तुलन मे होती है। अन्य शब्दो में, जब आर्थिक इकाइयो की आशसाएँ पूर्ण हो जाती है तो व्यवहार के

1 R F Harrod, *Towards a Dynamic Economics*, Macmillan & Co Ltd, (London) 1948

2 E Domer, *Capital Expansion, Rate of Growth and Employment*, *Econometrica*, vol 14, 1946, p p 137 47

3 "In my own view mere oscillation represents a relatively unimportant part of economic dynamics Growth, not oscillation, is the primary subject-matter for study in economic dynamics Growth involves changes in technique and increases in population Indeed that part of cycle literature (and cycle theories are a highly significant branch of dynamic economics) which is concerned merely with the oscillations is rather sterile" See Alvin H Hansen, *A Guide to Keynes*, pp 46 50

वर्तमान ढाचे की पुनरावृत्ति करती रहती है और इससे प्रावैगिक सन्तुलन (dynamic equilibrium) की स्थापना हो जाती है। यह तब तक स्थापित रहता है जब तक कोई बाहरी धक्का या असन्तुलनकारी शक्ति प्रावैगिक व्यवस्था को बदल नही देती।

आर्थिक इकाइयों की भविष्य के प्रति आशसाओ या पूर्वानुमानो का आर्थिक प्रावैगिकी म महत्त्वपूर्ण स्थान है। विशुद्ध स्थैतिक सिद्धान्त म भविष्य के प्रति आशसाओ का कोई स्थान नही होता क्योकि स्थैतिक सिद्धात का मुख्य कार्य एक समय विन्दु पर रुचियो, तकनीको तथा साधनो को स्थिर मान कर सन्तुलन दशाओ की व्याख्या करना है। अत स्थैतिक सिद्धांत मे भावी आशसाओं का कोई महत्त्व नही होता क्योकि इसमे कालान्तर मे होने वाली प्रक्रियाओ पर कोई ध्यान नही दिया जाता। दूसरी ओर, चूँकि प्रावैगिक विश्लेषण का सम्बन्ध कालान्तर की प्रावैगिक प्रक्रियाओ अर्थात् समय के साथ परिवर्तनशील चरो की एक दूसरे पर क्रियाओ व प्रतिक्रियाओ से है, इसलिए आर्थिक इकाइयो की भावी आशसाओ व पूर्वानुमानो का इस विश्लेषण मे विशेष महत्त्व होता है।

किन्तु प्रावैगिकी तथा आशसाओ मे घनिष्ठ सबध से यह नही समझ लेना चाहिए कि स्थैतिक विश्लेषण मे केवल आशसाओ के प्रयोग से ही यह विश्लेषण प्रावैगिक बन जाएगा। विश्लेषण प्रावैगिक है अथवा नही यह इस बात पर निर्भर करता है कि विभिन्न समय विदुओ से सम्बन्धित विभिन्न चरो के सबधो या कुछ चरो के कालावधि, परिवर्तन की दरो पर विचार किया जा रहा है या नही। इसलिए लेखक को प्रो० जे० के० महता के इस विचार से सहमति नही है, "इस प्रकार, सक्षेप म आशसाएँ ही वर्तमान का भविष्य म सम्बन्ध स्थापित करके स्थैतिकी को प्रावैगिकी म परिवर्तित कर देती हैं। अत, व्यवस्था म केवल एक ओर चर अर्थात् आर्थिक इकाइयो म आशसाओ के प्रयोग करने से अर्थव्यवस्था के स्थैतिक विश्लेषण को अर्थव्यवस्था के प्रावैगिक अध्ययन म बदला जा सकता है।"[1] जर्मन अर्थशास्त्री शिनडर (Schneider) न जिनके स्थैतिकी तथा प्रावैगिकी सम्बन्धी विचारो का वणन ऊपर किया जा चुका है, प्रावैगिकी तथा आशसाओ क सम्बन्धो पर विचार करते हुए लिखा है "एक सिद्धात को प्रावैगिक केवल इसलिए नहीं माना जाता क्योकि इसम आशसाओ का प्रयोग किया गया है। वास्तव म सिद्धात का प्रावैगिक होना अथवा न होना इस बात पर निभर करता है कि विभिन्न चरो क अनुमानित मूल्यो का सम्बन्ध विभिन्न समय-अवधियो या समय बिन्दुओ स है अथवा नही।"[2]

इसके अतिरिक्त, ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कोई सिद्धान्त तभी वास्तविक रूप म प्रावैगिक बनता है जबकि इसमे दी गई आशसाएँ चरो का रूप लेती है दी हुई सामग्री (given data) का नहीं। अन्य शब्दो म एक वास्तविक प्रावैगिक सिद्धात म आशसाओ को कालान्तर म स्थिर न मान कर परिवर्तनशील मानना चाहिए। एक प्रावैगिक सिद्धांत को यह बताना चाहिए कि यदि आर्थिक इकाइयो की आशसाओ *की पूर्ति हो जाये तो क्या परिणाम निकलेंगे* और उनके सत्य न होने पर क्या। हमने हैरड के समष्टिपरक प्रावैगिकी मॉडल जो कि विकसमान अर्थव्यवस्था के लिए है, म देखा कि यदि उद्यमकर्त्ता यह अनुमान करते हैं कि उत्पादन मे वृद्धि की दर $\frac{S}{C}$ के बराबर होगी तो उनकी आशसाओ की पूर्ति *हो जायेगी* और इसके *परिणामस्वरूप व्यवस्था म* सम्बन्धित चर कालान्तर म सन्तुलन म रहेगे तथा अर्थव्यवस्था म स्थायी दर से विकास होगा। यदि उत्पादन म वृद्धि की दर की आशसाएँ $\frac{S}{C}$ से कम या अधिक हैं तो उनको प्राप्त नही किया जा सकेगा और इसके परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था म अस्थिरता आ जायेगी।

1 J K Mehta, *Lectures on Modern Economic Theory* (1967), 214

2 "A theory is not to be considered as dynamic simply because it introduces expectations, *whether that is the case or not* depends simply on whether or not the expected values of the single variables relate to different periods or points of time"—Dr Schneider, *op cit*, p. 228

जबकि व्यक्तियो की प्राशसाएँ गलत सिद्ध हो जाती है तो वे इन प्राशसाम्रो को बदल देते हैं। प्राशसाम्रो की इस बदलती हुई प्रकृति के कारण ही प्रावैगिक सिद्धान्त मे इनको प्रदत्त सामग्री (Given Data) के रूप मे स्वीकार नही करना चाहिए। प्राशसाम्रो को प्रदत्त सामग्री मानने का अर्थ यह होगा कि हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि यदि ये गलत भी सिद्ध हो जायें तो इनमे उद्यमकर्ताम्रो द्वारा कोई परिवर्तन नही किया जाता। इसका अर्थ यह हुआ कि उद्यमकर्ता वास्तविक घटनाम्रो के प्राशसाम्रो से भिन्न होने पर भी वे पूर्ववत् प्राशसाम्रो मे विश्वास करते रहेगे। परन्तु ऐसा होना अतर्कपूर्ण व्यक्तिगत व्यवहार होगा। अत, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एक प्रावैगिक व्यवस्था मे प्राशसाम्रो को परिवर्तनशील मानना चाहिए, दी हुई निश्चित सामग्री नही। हम प्रो॰ विनोद दूबे (Prof Vinod Dubey) से सहमत है जिनके अनुसार, "प्राशसाएँ एक सिद्धात को तभी प्रावैगिक बना सकती है जबकि उनको परिवर्तनशील मान लिया जाय, दी हुई सामग्री (given data) मे से एक नही। यद्यपि प्राशसाम्रो को सम्मिलित करने से ही कोई स्थैतिक सिद्धान्त प्रावैगिक नही बन जाता, परन्तु बिना प्राशसाम्रो के किसी प्रावैगिक सिद्धान्त की कल्पना करना अतर्कपूर्ण है ... एक प्रावैगिक सिद्धान्त, जिसमे प्राशसाम्रो को प्राधारभूत प्रदत्त सामग्री (basic data) माना गया है, अतर्कपूर्ण है। समस्त प्रावैगिक सिद्धात मे भावी प्राशसाम्रो को प्रदत्त सामग्री के रूप मे नही बल्कि ऐसा तत्त्व जिसमे समय के साथ परिवर्तन होता रहता है, के रूप मे सम्मिलित करना चाहिए।"[1]

तुलनात्मक स्थैतिकी
(Comparative Statics)

हमने ऊपर सन्तुलन अवस्था के स्थैतिक तथा प्रावैगिक विश्लेषणो की व्याख्या की है। सक्षेप मे, स्थैतिक विश्लेषण एक दी हुई प्राधार-सामग्री (given data) की स्थिति मे सन्तुलन मूल्यो के निर्धारण की व्याख्या करता है जबकि प्रावैगिक विश्लेषण यह व्याख्या करता है कि प्राधार-सामग्री मे परिवर्तन (change in data) के परिणामस्वरूप व्यवस्था किस प्रकार एक सन्तुलन अवस्था से अन्य सन्तुलन अवस्था को कालातर मे प्राप्त करती है। तुलनात्मक स्थैतिकी (Comparative Statics) स्थैतिक तथा प्रावैगिक विश्लेषणो के मध्य की अध्ययन विधि है। तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण एक प्रारम्भिक सन्तुलन अवस्था की उस अन्य सन्तुलन अवस्था जोकि प्राधार-सामग्री के परिवर्तित होने के फलस्वरूप अन्तत प्राप्त होती है से तुलना करता है। तुलनात्मक स्थैतिकी उस समस्त पथ का विश्लेषण नही करती जिसमे कोई व्यवस्था एक सतुलन स्थिति से चल कर दूसरी सन्तुलन स्थिति को प्राप्त करती है। तुलनात्मक स्थैतिकी केवल प्रारम्भिक सन्तुलन अवस्था की अन्तिम सन्तुलन अवस्था, जोकि सामग्री मे परिवर्तन के फलस्वरूप अन्तत प्राप्त होती है, से तुलना करती है। इस प्रकार तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण विभिन्न प्राधार सामग्री के अनुसार भिन्न-भिन्न सन्तुलन अवस्थाम्रो की तुलना करता है (In comparative static analysis, equilibrium positions corresponding to different sets of data are compared)

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि परिवर्तनशील व्यवस्था को भली-भांति समझने के लिए तुलनात्मक स्थैतिकी एक समय मे सामग्री के केवल एक ही चर (variable) मे परिवर्तन का सन्तुलन अवस्था पर प्रभाव का अध्ययन करती है न कि प्रदत्त प्राधार-सामग्री के अनेक अथवा समस्त चरो मे परिवर्तन का। एक समय मे सामग्री के केवल एक ही चर मे परिवर्तन के सन्तुलन अवस्था पर प्रभाव का विश्लेषण करके परिवर्तनशील तथ्यो के महत्त्वपूर्ण पक्षो के अध्ययन को सरल एव उपयोगी बनाना सम्भव होता है। शिनडर (Schneider) का कथन ठीक है, "कालान्तर मे सामग्री (data) मे परिवर्तन हो जाता है और प्रत्येक नई सामग्री के अनुसार नई सन्तुलन अवस्था होती है। इसलिए विभिन्न सामग्री समूहो के अनुसार विभिन्न सन्तुलन स्थितियो की तुलना करना (to compare different

1 Vinod Dubey, "Static and Dynamic Equilibrium," printed in *Studies in Economic Theory* (1956) by the Staff of Economics Department, University of Allahabad p 106

equilibrium positions corresponding to different sets of data) आर्थिक दृष्टि से बहुत रुचिकर है। सामग्री में परिवर्तन के सन्तुलन अवस्था पर प्रभाव को समझने के लिए एक समय में केवल एक ही चर में परिवर्तन करना चाहिए। इसी प्रकार व्यक्तिगत सामग्री (individual data) में परिवर्तन के प्रभाव को भली-भाँति समझना भी सम्भव होता है। इस प्रकार के दो सन्तुलन अवस्थाओं के सन्तुलन मूल्यों की परस्पर तुलना करते हैं। इस प्रकार के दो सन्तुलन अवस्थाओं के तुलनात्मक विश्लेषण को तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि यह प्रदत्त आधार-सामग्री के एक चर में परिवर्तन के फलस्वरूप सन्तुलन अवस्था में परिवर्तन का अध्ययन करता है।"[1]

व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त से तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण के कई उदाहरण दिए जा सकते हैं। जैसा कि विदित है कि एक ओर उपभोक्ताओं की रुचियों, उनकी आय, अन्य पदार्थों की कीमतें और दूसरी ओर तकनालॉजी, मशीनें तथा कच्चे माल की लागत तथा श्रमिकों की मजदूरी दी हुई होने पर निश्चित माँग तथा पूर्ति फलन प्राप्त होंगे जो कि परस्पर अन्त क्रिया से पदार्थ की कीमत निर्धारित करेंगे। कल्पना कीजिए कि अन्य बातें स्थिर रहने पर उपभोक्ताओं की आयों में वृद्धि होती है। आयों में वृद्धि से माँग फलन (वक्र) ऊपर की ओर विवर्तित हो जाएगा। इस माँग में वृद्धि के फलस्वरूप पूर्ति में परिवर्तन होगा और अन्तत नई सन्तुलन अवस्था प्राप्त होगी। इस नई सन्तुलन अवस्था की व्याख्या करना तथा यह प्रारम्भिक सन्तुलन अवस्था से किस प्रकार भिन्न है का अध्ययन ही तुलनात्मक स्थैतिकी का विषय है। रेखाकृति 3 4 में आरम्भ में माँग और पूर्ति के फलन क्रमश DD तथा SS हैं जिनकी परस्पर क्रिया द्वारा पदार्थ की कीमत OP_1 निर्धारित होती है। जब आय में वृद्धि के कारण माँग वक्र ऊपर को विवर्तित होकर $D'D'$ हो जाता है जो प्रदत्त पूर्ति वक्र SS को बिंदु E_2 पर काटता है जिससे नई कीमत OP_2 निर्धारित होती है। तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण में हम
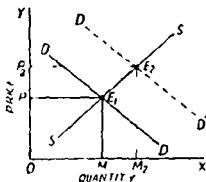
रेखाकृति 3 4 . तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण

नई सन्तुलन अवस्था E_2 की व्याख्या करते हैं तथा इसकी तुलना अवस्था E_1 से करते हैं। व्यवस्था किस पथ पर चलकर सन्तुलन अवस्था E_1 से सन्तुलन अवस्था E_2 तक पहुँचती है की व्याख्या इसमें नहीं की जाती। जैसा कि हम अगले अध्यायों में पढ़ेंगे कि मार्शल (Marshall) ने पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य-निर्धारण के लिए अपने कालावधि विश्लेषण (time period analysis) में तुलनात्मक स्थैतिकी का अधिक प्रयोग किया। निस्सन्देह वास्तविक जगत के परिवर्तनशील तथ्यों (changing phenomena) का अधिक वास्तविक एवं पूर्ण विश्लेषण प्रावैगिक विश्लेषण ही होगा। किन्तु तुलनात्मक स्थैतिकी भी परिवर्तनशील तथ्यों तथा उनके महत्त्वपूर्ण पक्षों की सरल व्याख्या करने के लिए बहुत उपयोगी पद्धति है। शिनाइडर (Schneider) के कथनानुसार, "आधार-सामग्री (data) के परिवर्तन के प्रभाव के तुलनात्मक स्थैतिक विश्लेषण की अपेक्षा प्रावैगिक विश्लेषण बहुत विस्तृत एवं ज्ञानवर्धक है, किन्तु तुलनात्मक स्थैतिक व्याख्या विनिमय प्रणाली के महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डालती है।"[2]

1. Erich Schneider, *Pricing and Equilibrium*, George Allen and Unwin Ltd , 1962 pp. 235-36.

2 Schneider, *op cit* , p 236

भाग 2
मांग का सिद्धान्त
(THEORY OF DEMAND)

सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण
(MARGINAL UTILITY ANALYSIS)

एक वस्तु की कीमत उस वस्तु की मांग व पूर्ति पर निर्भर करती है। पुस्तक के इस भाग मे हमारा सम्बन्ध मांग के नियम से है जो कि मांग की व्याख्या करके यह बताता है कि वस्तुओ की मांग किस प्रकार निर्धारित होती है। एक वस्तु की मांग पर बहुत से कारको का प्रभाव पडता है। इसकी मांग को प्रभा-वित करने वाले कारक हैं वस्तु की कीमत, व्यक्ति की आय तथा सम्बन्धित वस्तुओ की कीमतें। फल-नात्मक (functional) रूप मे इसको निम्न प्रकार से लिखा जा सकता है।

$$D_x = f(P_x, I, P_y, P_z \text{ आदि})$$

यहाँ D_x वस्तु 'X' की मांग के लिए है, P_x वस्तु 'X' की कीमत के लिए, I व्यक्ति की आय के लिए तथा P_y, P_z आदि सम्बन्धित वस्तुओ की कीमतो के लिए। परन्तु मांग के निर्धारक कारको मे अर्थशास्त्री वस्तु की कीमत को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते है। वास्तव मे, मांग सिद्धान्त का कार्य वस्तु की मांग मात्रा तथा उसकी कीमत मे सम्बन्ध स्थापित करके उसकी व्याख्या करना है। समय-समय पर उपभोक्ता की मांग की व्याख्या करने के लिए विभिन्न सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है और उनसे मांग सिद्धान्त बनाया गया है। सीमांत तुष्टिगुण सिद्धांत मांग का सबसे पुरातन सिद्धान्त है जो किसी वस्तु की उपभोक्ता द्वारा मांग की व्याख्या करता है और मांग के उस नियम का पता लगाता है जो वस्तु की मांग-मात्रा तथा कीमत में विलोम सम्बन्ध स्थापित करता है। हाल में, सीमान्त तुष्टिगुण दृष्टिकोण की तीव्र आलोचना हुई है जिसके परिणामस्वरूप अनेक वैकल्पिक सिद्धान्तो, जैसे अनधि-मान वक्र विश्लेषण, सेम्युलसन का उद्‌घाटित अधिमान सिद्धान्त, हिक्स का नया "मांग का तार्किक क्रमबद्धता सिद्धान्त" (Logical Ordering Theory of De-mand) का प्रतिपादन किया गया है। अगले कुछ अध्यायो मे हम इन सिद्धान्तो की विवेचना करेंगे परन्तु यहाँ हमारा सम्बन्ध मांग के सीमान्त तुष्टिगुण विश्ले-षण से ही रहेगा। यद्यपि मांग के सिद्धान्त का सीमांत तुष्टिगुण के दृष्टिकोण से अध्ययन का ढंग बहुत पुराना है परन्तु इसको अन्तिम रूप मार्शल द्वारा प्रदान किया गया। अत यहाँ हम मांग के मार्शल द्वारा प्रति-पादित तुष्टिगुण विश्लेषण पर ही विचार करेंगे।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि आर्थिक सिद्धान्त में, तुष्टिगुण परिकल्पना केवल मांग-सिद्धान्त का ही आधार नहीं है बल्कि कल्याणवादी अर्थशास्त्र का भी आधार है। कल्याणवादी अर्थशास्त्र के प्रतिष्ठित तथा नवप्रतिष्ठित सिद्धान्त तुष्टिगुण परिकल्पना पर ही आधारित हैं। कल्याणवादी अर्थशास्त्र इस पुस्तक का एक अलग भाग है, इसलिए इस अध्याय मे हम

तुष्टिगुण परिकल्पना का प्रयोग माग सिद्धान्त के क्षेत्र मे ही करेंगे और कल्याणवादी अर्थशास्त्र मे इसके प्रयोग को इस पुस्तक के अन्तिम भाग के लिए छोड देते है।

सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण की आधारभूत मान्यताएँ (Basic Assumptions or Premises of Marginal Utility Analysis)

सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण के प्रतिपादको ने तुष्टिगुण को **गणनावाचक धारणा** (Cardinal Concept) माना। अन्य शब्दो मे उनका विचार यह है कि तुष्टिगुण का परिमाणात्मक माप सम्भव है और इसको गणनावाचक अको मे व्यक्त किया जा सकता है। उनके अनुसार कोई व्यक्ति किसी वस्तु के उपभोग से प्राप्त सन्तुष्टि या तुष्टिगुण को गणनावाचक अको मे व्यक्त कर सकता है। इस प्रकार एक व्यक्ति यह कह सकता है कि उसको अ वस्तु की एक इकाई का उपभोग करने से दस इकाइयो के समान तुष्टिगुण प्राप्त हो रहा है तथा ब वस्तु की इकाई के उपभोग से बीस इकाइयो के समान। इसके अतिरिक्त तुष्टिगुण के गणनावाचक माप का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति इस बात की तुलना कर सकता है कि एक तुष्टिगुण के स्तर का एक आकार दूसरे तुष्टिगुण के आकार से किस प्रकार भिन्न है अर्थात् एक व्यक्ति यह कह सकता है कि ब वस्तु की एक इकाई का उपभोग करने से उसको, अ वस्तु की एक इकाई के उपभोग की तुलना मे दुगुना तुष्टिगुण प्राप्त हो रहा है।

तुष्टिगुण के मापयोग्य होने के दो अर्थ है।[1] प्रथम *तुष्टिगुण को केवल सिद्धान्त से माप-योग्य (measurable only in principle)* माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि तुष्टिगुण के मात्रात्मक आकार की केवल कल्पना ही की जा सकती है। इस अर्थ मे तुष्टिगुण को वास्तविक व्यवहार मे नही मापा जा सकता। दूसरे, **तुष्टिगुण की माप-योग्यता केवल सैद्धान्तिक ही नहीं है बल्कि व्यावहारिक भी है,** अर्थात् व्यवहार मे तुष्टिगुण को अको मे मापा जा सकता है। यह केवल काल्पनिक मात्रा ही नही है। इस प्रकार मार्शल का विचार यह है कि सीमान्त तुष्टिगुण को जो कि सैद्धान्तिक रूप से माप योग्य है **वास्तविक रूप मे भी मुद्रा में मापा जा सकता है।** मुद्रा सामान्य क्रयशक्ति का प्रतिनिधित्व करती है और इसीलिए तुष्टिगुण प्रदान करने वाली समस्त वैकल्पिक वस्तुओ पर इसका अधिकार होता है। मार्शल के मतानुसार किसी वस्तु के उपयोग से वचित रहने के स्थान पर व्यक्ति किसी वस्तु की एक इकाई को प्राप्त करने के लिए जो मुद्रा देने को तैयार रहता है उसी को उस वस्तु से प्राप्त तुष्टिगुण माना जा सकता है। इस प्रकार उनके अनुसार मुद्रा तुष्टिगुण का मापदण्ड है।

कुछ अर्थशास्त्री ने, जो कि तुष्टिगुण की गणनावाचक रूप से मापनीयता पर विश्वास करते है, तुष्टिगुण को काल्पनिक इकाइयो मे मापते है जिसको उन्होने यूटिल्स (Utils) का नाम दिया है। वे यह मानते हैं कि उपभोक्ता यह बता सकता है कि उसको एक सेब से चार यूटिल्स (Utils) के बराबर तुष्टिगुण मिल रहा है। इस प्रकार वह बता सकता है कि सेब से सन्तरे की तुलना मे दुगुना तुष्टिगुण मिल रहा है।

गणनावाचक तुष्टिगुण विश्लेषण की दूसरी प्रमुख विशेषता यह परिकल्पना है कि **तुष्टिगुण स्वतन्त्र होते हैं** (Utilities are independent)। इस परिकल्पना के आधार पर किसी वस्तु से उपभोक्ता को जो तुष्टिगुण प्राप्त होता है वह पूर्णतया उस वस्तु की मात्रा पर निर्भर होता है। दूसरे शब्दो मे, *उपभोक्ता को एक वस्तु से जो तुष्टिगुण प्राप्त होता है* वह उपभोग की गई अन्य वस्तुओ की मात्रा पर निर्भर नही होता बल्कि वह तो केवल उस वस्तु की क्रय की गई अपनी मात्रा पर ही आधारित है। इस मान्यता के आधार पर एक व्यक्ति द्वारा क्रय की गई समस्त वस्तुओ के समूह मे जो कुल तुष्टिगुण प्राप्त होता है वह विभिन्न वस्तुओ से प्राप्त इकाइयो का योगीकरण मात्र है। इस प्रकार गणनावाचक विचारधारा तुष्टिगुण को योगात्मक (additive) मानती है जिसका अर्थ है कि विभिन्न वस्तुओ से प्राप्त तुष्टिगुणो को जोड

1. T N Majumdar, *Measurement of Utility*

कर क्रय की गई समस्त वस्तुओं के कुल तुष्टिगुण को प्राप्त किया जा सकता है।

द्रव्य के सीमान्त तुष्टिगुण की स्थिरता (Constancy of the Marginal Utility of Money)—सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण की अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण को स्थिर मानना है जब कि सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण में यह मान लिया गया है कि जैसे-जैसे किसी वस्तु की अधिक इकाइयों का क्रय अथवा उपभोग किया जाता है वैसे वैसे उस वस्तु से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण कम होता जाता है। परन्तु जब कि वह व्यक्ति उस वस्तु पर द्रव्य व्यय कर रहा है जिससे उसके पास मुद्रा की मात्रा कम होती जा रही है तब भी मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण स्थिर रहता है। इस मान्यता का सर्वप्रथम प्रतिपादन बौर-नौयिली (Bournoulli) ने किया था परन्तु बाद में मार्शल ने इसको अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त (*Principles of Economics*) में अपना लिया। जैसाकि ऊपर बताया जा चुका है, मार्शल ने सीमान्त तुष्टिगुणों को मुद्रा म मापा। परन्तु वस्तुओं के सीमान्त तुष्टिगुणों को मुद्रा में मापना तभी सम्भव है जब कि मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण स्वयं स्थिर रहे। अतएव मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता मार्शल के विश्लेषण में बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि बिना इसके मार्शल वस्तुओं के सीमान्त तुष्टिगुणों को मुद्रा म नही माप सकता था। यदि मुद्रा जो कि स्वयं मापने की इकाई है, म मापने की क्रिया के साथ परिवर्तन होता रहे तो वस्तु से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण का सही सही माप सम्भव नही हो सकता। प्रो॰ मजूमदार ने इस सम्बन्ध में ठीक लिखा है- 'यदि मुद्रा को इकाई का मापदण्ड बनना है तो जैसा कि अन्य मापदण्डों की दशा में होता है, इसकी इकाई में कोई परिवर्तन नही होना चाहिए। समस्त परिस्थितियों में इसको तुष्टिगुण की समान मात्रा का माप करना चाहिए।"[1]

वस्तु की कीमत गिरने पर उपभोक्ता की वास्तविक आय में वृद्धि हो जाती है तो मुद्रा से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण में भी कमी हो जानी चाहिए, परन्तु मार्शल ने इसकी उपेक्षा की और माना कि कीमत में परिवर्तन के परिणामस्वरूप मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण में परिवर्तन नही होता। इसी प्रकार जब कि वस्तु की कीमत बढ जाती है तो उसकी वास्तविक आय में कमी होने के कारण मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण बढ जाना चाहिए। परन्तु मार्शल ने इसकी भी अवहेलना की और माना कि मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण समान रहता है। मार्शल ने इस मान्यता का पक्ष इस आधार पर लिया कि किसी एक वस्तु पर उपभोक्ता अपने कुल व्यय का बहुत ही कम भाग व्यय करता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि कीमत परिवर्तन के होने पर भी मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण को स्थिर मानकर मार्शल ने कीमत परिवर्तन के आय प्रभाव की अवहेलना की। हम आगे यह बतायेंगे कि मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता के कारण ही मार्शल गिफन विरोधाभास का सतोषजनक समाधान प्रस्तुत नही कर सका। यह भी स्मरण योग्य है कि मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण की स्थिरता के कारण ही किसी वस्तु का सीमान्त तुष्टिगुण वक्र (जो कि किसी वस्तु के सीमान्त तुष्टिगुण को मुद्रा में बताता है) उस वस्तु का माँग वक्र भी बन जाता है। यदि मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण स्थिर नही रहता तो वस्तु का माँग वक्र कीमत के गिरने पर सीमान्त तुष्टिगुण वक्र से ऊपर होगा और कीमत के बढ़ने पर उसके नीचे।

अन्तर्विश्लेषणात्मक पद्धति (Introspective Method)—सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण की अन्य मुख्य परिकल्पना सीमान्त तुष्टिगुण के व्यवहार की जाँच करने के लिये अन्तर्विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग है। "अन्तर्विश्लेषण अवलोकनकर्ता की वह योग्यता है जिससे वह आत्म अवलोकन की सहायता से यह अनुमान लगा सकता है कि दूसरे व्यक्ति का मस्तिष्क किस प्रकार से कार्य कर रहा है। यह केवल, अन्तर्ज्ञान कल्पना अथवा दीर्घकालीन अनुभव का परिणाम हो सकता है।"[2] इस प्रकार अर्थशास्त्री अपने

1 Majumdar, *op cit*

2 Emil Kauder *A History of Marginal Utility Theory* (Princeton New Jersey, 1965), p 120

अनुभव के आधार पर यह अनुमान लगाते हैं कि अन्य व्यक्तियो के मस्तिष्क में अनुभव की कैसी प्रवृत्ति होती है ? कुछ शक्तियो के प्रति अपनी प्रतिक्रिया तथा अनुभव व अवलोकन द्वारा कोई व्यक्ति यह अनुमान लगा सकता है कि समान परिस्थितियो मे अन्य व्यक्ति का मस्तिष्क किस प्रकार कार्य करेगा । संक्षेप मे, अन्त-विश्लेषण पद्धति मे हम अपने मन के विषय मे जो जानते हैं वह दूसरे व्यक्ति पर लागू कर देते हैं । दूसरे शब्दो मे, अपने मन मे झाँक कर हम दूसरे व्यक्तियो के मन मे क्या हो रहा है, इसको जान लेने का दावा करते हैं । इस प्रकार ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण का नियम अन्तर्विश्लेषण पर आधारित है । हमे अपने अनुभव से पता है कि एक वस्तु की अधिक मात्रा के प्राप्त होने पर उसकी अतिरिक्त इकाई से कम तुष्टिगुण प्राप्त होगा । इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि अन्य व्यक्ति का मन भी इसी प्रकार से कार्य करेगा अर्थात् एक वस्तु की अधिक इकाइयों के होने पर उसको वस्तु से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण कम हो जाएगा ।

कई अर्थशास्त्री अन्तर्विश्लेषण पद्धति को दोषपूर्ण बताते हैं क्योंकि उनका कहना है कि अन्य व्यक्तियो के मस्तिष्क में क्या हो रहा है, यह हम नहीं जान सकते। उनका यह भी कहना है कि अन्तर्विश्लेषण द्वारा जो परिणाम प्राप्त होते हैं वे अपूर्ण होते हैं और उनको उचित नही माना जा सकता। उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन करने के लिए जिस वैकल्पिक तरीके को अपनाया गया है उसको *व्यवहारवाद* (Behaviourism) कहते हैं। "व्यवहारवादी अन्त-*विश्लेषण को अमान्य ठहराते हैं, उनकी सामाजिक* चेतना पूर्णतया परीक्षण तथा नियंत्रित अवलोकन पर आधारित है ।"[1] (The behaviourist rejects introspection, his social insight is based entirely on experiment and controlled observation) । व्यवहारवादी पद्धति मे, दी हुई कीमत-आय परिस्थितियों मे हम उपभोक्ता के वास्तविक व्यवहार का अवलोकन करके ही उपभोक्ताओं के व्यवहार के सम्बन्ध मे निष्कर्ष निकालते हैं और कीमत तथा आय मे परिवर्तनो के कारण उसके क्रय पर पड़ने वाले प्रभावो की जाँच करते हैं । *व्यवहार-वादियो का दावा है कि उनकी पद्धति अधिक वैज्ञानिक* है जिससे पूर्ण परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं और इस पद्धति की पुष्टता को सिद्ध किया जा सकता है ।

सीमान्त तुष्टिगुण ह्रास नियम
(Law of Diminishing Marginal Utility)

सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण का मुख्य सम्बन्ध सीमान्त तुष्टिगुण अथवा उपयोगिता के व्यवहार से है। सीमान्त उपयोगिता के जाने पहचाने व्यवहार का वर्णन सीमान्त तुष्टिगुण ह्रास नियम मे किया गया है जिसके *अनुसार जब कोई व्यक्ति एक वस्तु की अधिक इकाइयो* का उपभोग करता है तो वस्तु से प्राप्त सीमान्त तुष्टि-गुण कम होता जाता है । अन्य शब्दो मे, जब एक उपभोक्ता एक वस्तु की अधिक इकाइयो को प्राप्त करता है तो वस्तु की अतिरिक्त इकाई से प्राप्त संतुष्टि या अतिरिक्त तुष्टिगुण गिरता जाता है । यहाँ यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि एक वस्तु के उपभोग मे *वृद्धि से सीमान्त तुष्टिगुण मे कमी आती है, कुल तुष्टिगुण मे नही* । ह्रासमान तुष्टिगुण नियम का अर्थ यह है कि कुल तुष्टिगुण मे वृद्धि होती है परन्तु घटती हुई दर से ।

मार्शल, जोकि सीमान्त तुष्टिगुण (उपयोगिता) विश्लेषण का सुप्रसिद्ध प्रतिपादक था, ने इस नियम का *प्रतिपादन निम्न शब्दो मे किया* "*एक वस्तु के स्टॉक मे वृद्धि होने से व्यक्ति को जो अतिरिक्त लाभ प्राप्त होता है वह स्टाक में हुई प्रत्येक वृद्धि से कम होता जाता है* ।" (The additional benefit which a person derives from a given increase of his stock of a thing diminishes with every increase in the stock that he already has')

यह नियम दो मुख्य तथ्यो पर आधारित है—प्रथम, जबकि व्यक्ति की समस्त आवश्यकताएँ असीमित हैं किन्तु किसी एक आवश्यकता को पूर्ण रूप मे सन्तुष्ट किया जा सकता है । इसलिए जब एक उप-

भोक्ता एक वस्तु की अधिकाधिक इकाइयों का उपभोग करता है तो उस वस्तु के लिये उसकी आवश्यकता की तीव्रता घटती जाती है और अन्त में एक ऐसी स्थिति पहुंच जाती है जिस पर वह उपभोक्ता उस वस्तु की कोई भी इकाई स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। यहाँ पर वह पूर्ण सन्तुष्टि की स्थिति में पहुंच जाता है और उस वस्तु से प्राप्त सीमांत तुष्टिगुण शून्य हो जाता है। किसी वस्तु के शून्य सीमान्त तुष्टिगण का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति को उस वस्तु की जितनी मात्रा की आवश्यकता थी वह उसे प्राप्त हो चुकी है। दूसरा तथ्य जिस पर यह नियम आधारित है, यह है कि विभिन्न विशिष्ट आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये विभिन्न वस्तुएँ पूर्ण प्रतिस्थापन नहीं हैं। जब एक व्यक्ति एक वस्तु की अधिकाधिक इकाइयों का प्रयोग करता है तो उस वस्तु के लिए उस विशिष्ट आवश्यकता की तीव्रता कम हो जाती है परन्तु यदि इस वस्तु की इकाइयाँ अन्य आवश्यकताओं की सन्तुष्टि में प्रयुक्त की जा सकती और उनसे उतनी ही सन्तुष्टि प्राप्त होती जितनी प्रथम आवश्यकता की पूर्ति से हुई है तो उस वस्तु का सीमान्त तुष्टिगुण कभी कम नहीं होगा।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि सीमान्त तुष्टिगुण ह्रास नियम मानवीय प्रकृति की सुपरिचित और आधारभूत प्रवृत्ति का वर्णन करता है। यह नियम अन्तर्विश्लेषण (introspection) द्वारा तथा अवलोकन (observation) करके कि व्यक्ति किस प्रकार व्यवहार करते हैं—प्राप्त किया गया है। माँग के सिद्धान्त के लिये सीमान्त तुष्टिगुण ह्रास नियम का महत्त्व यह है कि इससे यह पता चलता है कि कीमत गिरने पर किसी वस्तु की माँग मात्रा बढ़ती है तथा कीमत के बढ़ने पर माग-मात्रा घट जाती है। अन सीमान्त तुष्टिगुण ह्रास नियम के कारण ही माँग वक्र की ढाल नीचे की ओर होती है। इसका विस्तृत अध्ययन इस अध्याय में आगे किया जाएगा।

यदि ठीक प्रकार से समझा जाए तो यह नियम आवश्यकता की समस्त वस्तुओं पर जिनमें मुद्रा भी सम्मिलित है, लागू होता है। परन्तु यह बताना आवश्यक है कि सामान्यतः कभी भी मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण शून्य या ऋणात्मक नहीं होता। मुद्रा सामान्य क्रयशक्ति की द्योतक है जिससे समस्त वस्तुओं का क्रय किया जा सकता है अर्थात् यदि व्यक्ति के पास पर्याप्त मुद्रा हो तो वह अपनी समस्त भौतिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट कर सकता है। चूँकि मनुष्य की आवश्यकताएँ वास्तव में असीमित हैं इसलिये मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण कभी भी गिर कर शून्य नहीं हो सकता।

ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण का स्पष्टीकरण

सारणी 4 1 में एक उपभोक्ता द्वारा एक दिन में केले के उपभोग से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण को दिखाया गया है। सारणी में यह देखा जायेगा कि उपभोक्ता द्वारा केले की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई के उपभोग से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण घटता जाता है, यहाँ तक कि केले की छठी इकाई के उपभोग में सीमान्त तुष्टिगुण ऋणात्मक (negative) हो जाता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि केलों के उपभोग से उपभोक्ता को प्राप्त कुल तुष्टिगुण में छठी इकाई तक निरन्तर वृद्धि हुई है किन्तु यह वृद्धि घटती

सारणी 4 1 ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण

एक दिन में केलों के उपभोग की मात्रा	कुल तुष्टिगुण (यूटिल्स में)	सीमान्त तुष्टिगुण
1	12	12
2	22	10
3	30	8
4	36	6
5	40	4
6	41	1
7	39	—2
8	40	—5

दर से हुई है। छठी इकाई से अधिक उपभोग करने पर केलों से प्राप्त कुल तुष्टिगुण घटने लगता है अर्थात् सीमान्त तुष्टिगुण ऋणात्मक हो जाता है। एक दिन में केलों के सर्वाधिक उपभोग से पेट में गड़बड़ी उत्पन्न हो सकती है जिससे सीमान्त तुष्टिगुण धनात्मक के स्थान पर ऋणात्मक प्राप्त होता है।

ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण नियम को रेखाकृति 4 1 द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इस रेखाकृति के X-अक्ष पर केलो की इकाइयो को, Y-अक्ष पर उनसे प्राप्त तुष्टिगुण को मापा गया है। X-अक्ष पर केले की
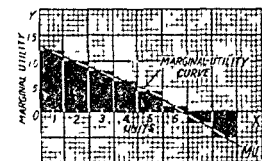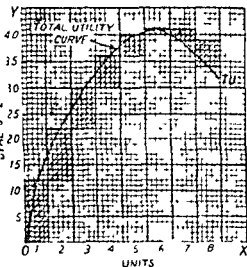
रेखाकृति 4 1 ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण

प्रथम इकाई के ऊपर एक आयताकार (rectangle) निर्मित किया गया है जो कि प्रथम इकाई से प्राप्त होने वाले कुल तुष्टिगुण को दर्शाता है। इसी प्रकार केलो की प्रत्येक उपभोग की गयी क्रमिक इकाई से प्राप्त होने वाले कुल तुष्टिगुण को विभिन्न आयताकारो द्वारा दर्शाया गया है। जैसे-जैसे केलो का उपभोग 6 इकाइयो तक बढाया जाता है, ये अतिरिक्त आयताकार बडे होते जाते है। छह इकाइयो तक कुल तुष्टिगुण म वृद्धि होती है। छठी इकाई से अधिक उपभोग करने पर कुल तुष्टिगुण घटने लगता है जिससे सातवी और आठवी इकाइया पर निर्मित आयताकारो की लबाई उत्तरोत्तर कम हो गई है।

रेखाकृति 4 1 (ऊपर के भाग) म अधिक महत्त्वपूर्ण बात देखने की यह है कि कुल तुष्टिगुण म घटती हुई दर से वृद्धि होती है। केलो की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त तुष्टिगुण अर्थात् सीमान्त तुष्टिगुण को आयताकारो के रेखाकित (shaded) भागा द्वारा व्यक्त किया गया है। रेखाकृति 4 1 के ऊपर के भाग से स्पष्ट है कि ये रेखाकित भाग जो प्रत्येक केले के सीमान्त तुष्टिगुण को व्यक्त करते है उत्तरोत्तर छोटे होते जाते है जिसका यह अर्थ है कि कुल तुष्टिगुण घटती दर से बढ रहा है अर्थात् सीमान्त तुष्टिगुण घट रहा है। इस रेखाकृति के निचले भाग मे केवल सीमान्त तुष्टिगुण को ही दिखाया गया है जिसमे यह देखा जायेगा कि प्रत्येक अतिरिक्त केले से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण को व्यक्त करता हुआ आयताकार छोटा होता जाता है जिससे पता चलता है कि सीमान्त तुष्टिगुण घटता जाता है।

केलो की इकाइयाँ बडी होती है। यदि कोई वस्तु बहुत छोटी इकाइयो मे उपलब्ध है तो उसके आयताकार पतले होगे। यदि यह मान लिया जाय कि केला अथवा कोई अन्य वस्तु पूर्णतया विभाज्य (divisible) है तो आयताकार इतने पतले हो जायेंगे कि उन्हे एक रेखा द्वारा दर्शाया जा सकेगा। अब यदि रेखाकृति 4 1 के ऊपर के भाग मे ऐसी आस-पास रेखाओ के सिरे आपस मे मिला दिय जायें तो एक ऐसा वक्र प्राप्त होगा जो कुल तुष्टिगुण को व्यक्त करेगा। इस प्रकार रेखाकृति के ऊपर भाग मे हमे कुल तुष्टिगुण वक्र *TU* प्राप्त हुआ है जो ऊपर की ओर चढता है परन्तु अत मे नीचे की ओर मुडता है।

इसी प्रकार रेखाकृति 4 1 के निचले भाग मे सीमान्त तुष्टिगुण को व्यक्त करने वाले आयताकारो

के ऊपर के बिंदुओं को मिलाने से सीमान्त तुष्टिगुण वक्र MU वक्र प्राप्त हुआ है जिससे स्पष्ट है कि केलों का उपभोग बढ़ाने पर सीमान्त तुष्टिगुण घटता जाता है और एक मात्रा के पश्चात् ऋणात्मक हो जाता है। जब केले की 6 इकाइयों से उपभोग बढ़ता है तो सीमान्त तुष्टिगुण ऋणात्मक हो जाता है और सीमान्त तुष्टिगुण वक्र (MU) X-अक्ष के नीचे चला जाता है।

ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण नियम के उपयोग (Applications and Uses of Law of Diminishing Marginal Utility)

ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण नियम के आर्थिक सिद्धान्त तथा नीतियों में अनेक उपयोग है। पदार्थों के मूल्य-निर्धारण में सीमान्त तुष्टिगुण की धारणा का महत्त्वपूर्ण योग है। सीमान्त तुष्टिगुण की धारणा की खोज से **मूल्य विरोधाभास** (*Paradox of Value*) की व्याख्या करने में बहुत सहायता मिली। ऐडम स्मिथ इस तथ्य की व्याख्या करने में असमर्थ रहा कि जल जैसी मानवीय जीवन के लिए अति उपयोगी एवं अनिवार्य वस्तुओं की कीमतें बहुत कम है (वस्तुत कई ऐसी वस्तुओं की कीमतें शून्य है) जबकि हीरे जैसे पदार्थ जो अनावश्यक है, की कीमतें बहुत ऊँची है। अर्थात् ऐडम स्मिथ इस जल-हीरे विरोधाभास (Water-diamond paradox) की व्याख्या न कर सका। किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री सीमान्त तुष्टिगुण की धारणा द्वारा इस विरोधाभास की समुचित व्याख्या कर सकते है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार किसी पदार्थ की कीमत उससे प्राप्त कुल तुष्टिगुण द्वारा निर्धारित नहीं होती अपितु यह सीमान्त तुष्टिगुण ही है जो किसी पदार्थ की कीमत निश्चित करता है। जल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने के कारण इसका सापेक्ष तुष्टिगुण बहुत कम अथवा शून्य होता है। अतएव इसकी कीमत भी बहुत कम अथवा शून्य होती है। दूसरी ओर हीरे दुर्लभ (scarce) होते हैं और इसलिये उनका सापेक्ष (relative) सीमान्त तुष्टिगुण बहुत अधिक होता है और इस कारण उनकी कीमतें भी ऊँची होती है। प्रो० सेम्युलसन मूल्य विरोधाभास की व्याख्या निम्न शब्दों में करते है 'पदार्थ की पूर्ति जितनी अधिक होती है उसकी अन्तिम इकाई की सापेक्ष इच्छा अथवा तुष्टिगुण उतना ही कम होता है हालांकि उससे प्राप्त कुल तुष्टिगुण वस्तु की मात्रा में वृद्धि से बढ़ता जाता है। अतएव यह स्पष्ट है कि जल जिसकी प्रचुर मात्रा उपलब्ध होती है की कीमत बहुत कम क्यों होती है तथा क्यों वायु की कोई कीमत नहीं होती जबकि इसकी उपयोगिता इतनी अधिक है। अनेक अन्तिम इकाइयां वस्तु की सभी इकाइयों की कीमतों को घटा देती है।'[1]

ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण का एक अन्य महत्त्व यह है कि इसकी सहायता से हम माँग के नियम की व्युत्पत्ति करने में समर्थ है तथा इस तथ्य की व्याख्या करने में कि माग वक्र नीचे की ओर क्यों गिरता हुआ होता है। इसके अतिरिक्त मार्शल द्वारा प्रतिपादित उपभोक्ता की बचत की धारणा भी ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण पर आधारित है।

ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण का अन्य महत्त्वपूर्ण उपयोग राजकोषीय नीति (*Fiscal policy*) के क्षेत्र में है। आधुनिक कल्याणकारी राज्य में सरकार जनता
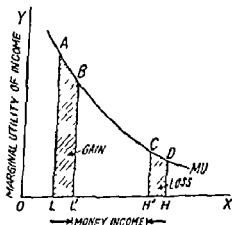
रेखाकृति 4.2 सामाजिक कल्याण में वृद्धि के लिए आय का पुनर्वितरण

के कल्याण में वृद्धि करने के उद्देश्य से आय का पुनर्वितरण करती है। धनी वर्ग पर आरोही (progressive) आय कर लगा कर तथा उससे प्राप्त धन को

1 P Samuelson, *Economics*, McGraw Hill 8th edition, p 417

निर्धन लोगो के लिए सामाजिक सेवाओं पर व्यय करना ही ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण पर निर्भर है। ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण की धारणा से यह सिद्ध होता है कि धनी वर्ग से कुछ आय प्राप्त करके उसको निर्धन वर्गों को दे देने से समाज के आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होती है। जैसा कि ऊपर बताया गया ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण का नियम मुद्रा पर भी लागू होता है अर्थात् जैसे किसी व्यक्ति की मुद्रा आय म वृद्धि होती है उसका मुद्रा के लिये सीमान्त तुष्टिगुण भी घट जाता है।

आय के पुनर्वितरण से किस प्रकार समाज के कल्याण मे वृद्धि होगी, को रेखाकृति 4 2 मे दर्शाया गया है। इस रेखाकृति के X-अक्ष पर मुद्रा आय (money income) को तथा Y-अक्ष पर आय के सीमान्त तुष्टिगुण (marginal utility of income) को मापा गया है। MU वक्र मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण वक्र है जो कि नीचे की ओर झुका हुआ है। कल्पना कीजिए कि OL एक निर्धन व्यक्ति की आय है और OH एक धनी व्यक्ति की। यदि धनी व्यक्ति पर कर लगा कर उससे HH' के बराबर मुद्रा ले ली जाये और उसके समान आय LL' $(HH'=LL')$ निर्धन व्यक्ति को दे दी जाये तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि इससे समाज के कल्याण मे वृद्धि होगी। आय के इस पुनर्वितरण से धनी व्यक्ति की आय मे HH' के समान कमी होगी और निर्धन व्यक्ति की आय म LL' के बराबर वृद्धि होगी $(HH'=LL')$। रेखाकृति 4 2 मे स्पष्ट है कि HH' के समान आय के घटने से धनी व्यक्ति की सन्तुष्टि अथवा तुष्टिगुण मे $HDCH'$ के क्षेत्रफल के समान कमी होगी जबकि निर्धन व्यक्ति की LL' के समान आय बढने से $LABL'$ के क्षेत्रफल के समान तुष्टिगुण म वृद्धि होगी। रेखाकृति 4 2 पर दृष्टि डालने से ज्ञात होगा कि आय के पुनर्वितरण से निर्धन व्यक्ति के तुष्टिगुण म वृद्धि (gain) धनी व्यक्ति के तुष्टिगुण म कमी (loss) से अधिक है। परिणामस्वरूप आय के पुनर्वितरण से दो व्यक्तियों के सम्मिलित रूप से कुल तुष्टिगुण अथवा कल्याण म वृद्धि होगी। अतएव ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण के आधार पर अनेक अर्थशास्त्रियो तथा राजनीति शास्त्र के वैज्ञानिको ने समाज के आर्थिक कल्याण मे वृद्धि करने के लिए सरकार द्वारा आय मे पुनर्वितरण का समर्थन किया है। किन्तु कुछ अर्थशास्त्री आय मे पुनर्वितरण द्वारा सामाजिक कल्याण मे वृद्धि लाने का खण्डन करते हैं। इन अर्थशास्त्रियो के मतानुसार सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण विभिन्न व्यक्तियो के तुष्टिगुणो की तुलना (interpersonal comparison of utility) पर निर्भर है जो उनके विचार मे अमान्य एव अवैज्ञानिक है। उनका तर्क यह है कि विभिन्न व्यक्तियो मे धन तथा वस्तुओ से आनन्द लेने की क्षमता (capacity to enjoy goods) भिन्न-भिन्न होती है और इसलिए विभिन्न व्यक्तियो के तुष्टिगुण-वक्रो की आकृति के विषय मे सही व पूर्ण जानकारी होना कठिन है। इसलिए उनका विचार है कि आय के पुनर्वितरण के फलस्वरूप निर्धन तथा धनी व्यक्तियो के तुष्टिगुण मे क्रमश वृद्धि तथा कमी सही प्रकार से मापी नही जा सकती और न ही उनमे तुलना की जा सकती है।

सम-सीमान्त तुष्टिगुण सिद्धान्त : उपभोक्ता-सन्तुलन

(Principle of Equi-marginal Utility · Consumer's Equilibrium)

सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण मे सम-सीमान्त तुष्टिगुण सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। इस नियम की सहायता से ही उपभोक्ता के सन्तुलन को समझाया जाता है। एक उपभोक्ता के पास निश्चित आय होती है जिसको वह विभिन्न वस्तुओ पर व्यय करना चाहता है। अब प्रश्न यह उठता है कि वह अपनी मौद्रिक आय को विभिन्न वस्तुओं पर किस प्रकार वितरित करे, अर्थात् विभिन्न वस्तुओ के क्रय सम्बन्ध म उसकी सतुलन स्थिति क्या होगी। यहाँ यह बताना आवश्यक है कि उपभोक्ता को 'विवेकशील' (rational) माना जाता है जिसका अर्थ है कि वह तुष्टिगुण अथवा सतुष्टि को अधिकतम करने के लिए बहुत सोच-समझ कर तथा गणना करके एक वस्तु का प्रतिस्थापन दूसरी वस्तु से करता है।

मान लीजिए कि उपभोक्ता निश्चित आय को जिन वस्तुओं पर व्यय करना चाहता है वे केवल दो हैं, X तथा Y। उपभोक्ता का व्यवहार दो बातों से प्रभावित होगा, एक तो वस्तुओं से प्राप्त होने वाले सीमान्त तुष्टिगुण तथा दूसरे वस्तुओं की कीमतें। मान लीजिए कि दोनों वस्तुओं की कीमतें उपभोक्ता के लिए निश्चित हैं। सम-सीमान्त तुष्टिगुण, इस दशा में, यह बताता है कि उपभोक्ता अपनी मौद्रिक आय को विभिन्न वस्तुओं में इस प्रकार वितरित करता है कि प्रत्येक वस्तु पर व्यय किए गए अन्तिम रुपए से प्राप्त तुष्टिगुण समान हो। अन्य शब्दों में, उपभोक्ता उस समय सन्तुलन की स्थिति में होता है जब प्रत्येक वस्तु पर व्यय की गई मुद्रा से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण समान हो। एक वस्तु पर किए गए मौद्रिक व्यय से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण को उस वस्तु की एक इकाई से प्राप्त तुष्टिगुण को उसकी कीमत से विभाजित करके ज्ञात किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में

$$MU_E = \frac{MU_x}{P_x}$$

यहाँ MU_E मौद्रिक व्यय का सीमान्त तुष्टिगुण है तथा MU_x वस्तु X से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण है तथा P_x वस्तु X की कीमत है। इस प्रकार, सम-सीमान्त तुष्टिगुण नियम की परिभाषा, निम्न शब्दों में की जा सकती है : उपभोक्ता अपनी मौद्रिक आय को विभिन्न वस्तुओं पर इस प्रकार से व्यय करेगा कि विभिन्न वस्तुओं से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुणों तथा उनकी कीमतों के अनुपात में समानता हो। अतः उपभोक्ता उस समय सन्तुलन में होता है जबकि

$$\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y}$$

अब यदि $\frac{MU_x}{P_x}$ तथा $\frac{MU_y}{P_y}$ समान नहीं हैं तथा $\frac{MU_x}{P_x}$ अधिक है $\frac{MU_y}{P_y}$ से, तो उपभोक्ता वस्तु X का वस्तु Y से प्रतिस्थापन करेगा। इस प्रतिस्थापन के कारण, वस्तु X का सीमान्त तुष्टिगुण गिरेगा और वस्तु Y का सीमान्त तुष्टिगुण बढ़ेगा। उपभोक्ता वस्तु X का प्रतिस्थापन वस्तु Y से तब तक करता रहेगा जब तक कि $\frac{MU_x}{P_x}$ तथा $\frac{MU_y}{P_y}$ परस्पर समान नहीं हो जाते। जब $\frac{MU_x}{P_x}$ तथा $\frac{MU_y}{P_y}$ परस्पर समान हो जाते हैं तो उपभोक्ता सन्तुलन में होता है।

परन्तु $\frac{MU_x}{P_x}$ तथा $\frac{MU_y}{P_y}$ की समानता को केवल एक नहीं बल्कि व्यय के विभिन्न स्तरों पर प्राप्त किया जा सकता है। प्रश्न यह उठता है कि उपभोक्ता दोनों वस्तुओं को कितनी मात्राओं में क्रय करेगा। यह उसकी मौद्रिक आय की मात्रा पर निर्भर करता है। एक निश्चित आय पर, एक रुपये से उपभोक्ता को कुछ निश्चित तुष्टिगुण प्राप्त होता है और यह ही उसके लिए मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण है। चूंकि सीमान्त तुष्टिगुण ह्रासमान नियम मौद्रिक आय पर भी लागू होता है इसीलिए उसकी मौद्रिक आय जितनी अधिक होगी उसके लिए मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण उतना ही कम होगा। उपभोक्ता तब तक वस्तुओं का क्रय करता रहेगा जब तक प्रत्येक वस्तु से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण मुद्रा से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण के समान नहीं हो जाता। अतः उपभोक्ता उस दशा में सन्तुलन में होगा जबकि निम्न समीकरण ठीक है

$$\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y} = MU_m$$

यदि उपभोक्ता दो से अधिक वस्तुओं पर अपनी आय व्यय कर रहा है तो भी सब पर उपर्युक्त समीकरण लागू होगा।

हम गणितात्मक सारणी 4 2 की सहायता से, जो आगे दी गई है, सम-सीमान्त तुष्टिगुण नियम की व्याख्या कर सकते हैं।

मान लीजिए कि X तथा Y की कीमतें क्रमशः दो रुपए तथा तीन रुपए हैं। वस्तु X के सीमान्त तुष्टिगुणों (MU_x) को 2 से तथा वस्तु Y के सीमान्त तुष्टिगुणों (MU_y) को तीन से विभाजित करके सारणी 4 3 को प्राप्त किया जा सकता है।

सारणी 4.2 वस्तुओं से प्राप्त सीमांत तुष्टिगुण

इकाइयाँ	MU_x यूटिल्स	MU_y यूटिल्स
1	20	24
2	18	21
3	16	18
4	14	15
5	12	9
6	10	3

सारणी 4.3 मुद्रा से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण

इकाइयाँ	$\frac{MU_x}{P_x}$	$\frac{MU_y}{P_y}$
1	10	8
2	9	7
3	8	6
4	7	5
5	6	3
6	5	1

उपभोक्ता की निश्चित आय पर मान लीजिए कि उसका मुद्रा का सीमांत तुष्टिगुण एक रुपया=6 यूटिल्स पर स्थिर है। सारणी 4.3 से यह स्पष्ट है कि जब उपभोक्ता वस्तु X की पाँच इकाइयाँ खरीदता है तो $\frac{MU_x}{P_x}$ 6 यूटिल्स के बराबर है तथा वस्तु Y की तीन इकाइयाँ खरीदने पर $\frac{MU_y}{P_y}$ भी 6 यूटिल्स के बराबर है। इस प्रकार जब उपभोक्ता वस्तु X की पाँच इकाइयाँ तथा वस्तु Y की 3 इकाइयों का क्रय करेगा तो वह सन्तुलन में होगा और इन पर उन्नीस रुपए (2रु० × 5 + 3रु० × 3) व्यय करेगा।

उपभोक्ता के सन्तुलन को रेखाकृति 4.3 की सहायता से चित्रित किया गया है। विभिन्न वस्तुओं का सीमान्त तुष्टिगुण वक्र नीचे को गिरता हुआ होता है, अतः $\frac{MU_x}{P_x}$ तथा $\frac{MU_y}{P_y}$ को प्रदर्शित करने वाले वक्र भी नीचे को गिरते हुए होंगे। उपभोक्ता की आय को निश्चित मानते हुए मान लीजिए कि रेखाकृति 4.3 में उपभोक्ता के लिए मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण OM यूटिल्स पर स्थिर है। $\frac{MU_x}{P_x}$ मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण OM के तब बराबर है जबकि वस्तु X की OH मात्रा खरीदी जाती है। $\frac{MU_y}{P_y}$ मुद्रा के सीमांत तुष्टिगुण OM के तब बराबर है जबकि वस्तु Y की OK मात्रा का क्रय किया जाता है। इस प्रकार जब उपभोक्ता वस्तु X की OH मात्रा तथा वस्तु Y की OK मात्रा खरीद रहा है तो—

$$\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y} = MU_m$$

अतः उपभोक्ता उस समय सन्तुलन में होगा जबकि वह वस्तु X की OH मात्रा तथा वस्तु Y की OK मात्रा खरीद रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी
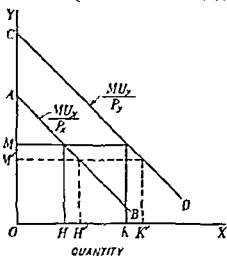
रेखाकृति 4.3 उपभोक्ता का सन्तुलन

क्रय उसको इससे अधिक तुष्टिगुण प्रदान नहीं करेगा। अब यदि उपभोक्ता की मौद्रिक आय में वृद्धि हो जाती है तो उसका मुद्रा के लिए सीमान्त तुष्टिगुण घट जाएगा। मान लीजिए कि उसका मुद्रा के लिए नया सीमान्त तुष्टिगुण OM' के बराबर है। इस दशा में उपभोक्ता X तथा Y वस्तुओं की क्रमशः OH' तथा OK' मात्राएँ खरीदेगा।

सम-सीमात तुष्टिगुण के नियम को एक अन्य प्रकार के चित्र से भी दर्शाया जा सकता है। रेखाकृति 4.4 पर विचार कीजिए। कल्पना कीजिए कि एक उपभोक्ता के पास OO' के समान मुद्रा आय है जो उसे दो वस्तुओ X और Y पर व्यय करनी है। इस रेखाकृति मे MU_x वक्र रुपयो का वस्तु X पर व्यय करने से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण व्यक्त करता है (इसके लिए उद्गम बिन्दु O है।) MU_y वक्र रुपयो को वस्तु Y पर व्यय करने से प्राप्त सीमांत तुष्टिगुण को दर्शाता है (इसके लिए उद्गम बिन्दु O' है)। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रेखाकृति 4.4 म X-अक्ष पर हम बायें से दायी ओर वस्तु X पर व्यय किए गए रुपयो की मात्रा को मापते है तथा दायें मे बायी ओर वस्त Y पर व्यय किए गए
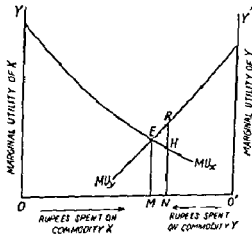
रेखाकृति 4.4 : सम-सीमान्त तुष्टिगुण नियम तथा उपभोक्ता का सन्तुलन

रुपयो की मात्रा को। रेखाकृति 4.4 मे देखा जाएगा कि दो वक्र MU_x तथा MU_y जो क्रमश. वस्तु X तथा वस्तु Y पर व्यय किए गए रुपयो से प्राप्त सीमात तुष्टिगुणो को दर्शाते हैं, परस्पर बिन्दु E पर काटते हैं अर्थात् बिन्दु E पर वस्तु X पर व्यय किए गए रुपयो का सीमात तुष्टिगुण (MU_x) तथा वस्तु Y पर व्यय किए गए रुपयो का सीमांत तुष्टिगुण (MU_y) परस्पर समान हैं, अतएव जब वस्तु X पर आय की OM मात्रा तथा वस्तु Y पर मुद्रा-आय की शेष मात्रा $O'M$ व्यय की जा रही है तो दो वस्तुओ पर व्यय किए गए रुपयो का सीमात तुष्टिगुण समान है और यह ही दी हुई मुद्रा आय को दो वस्तुओ पर व्यय करने की उपभोक्ता की सन्तुलन स्थिति है अर्थात् सन्तुलन अवस्था मे उपभोक्ता मुद्रा की OM मात्रा वस्तु X पर तथा $O'M$ मात्रा वस्तु Y पर व्यय करेगा और इससे उसको अपनी दी हुई आय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होगी। यह सिद्ध किया जा सकता है कि यदि उपभोक्ता दो वस्तुओ पर भिन्न प्रकार से व्यय करे अर्थात् एक वस्तु पर कुछ कम और दूसरी पर कुछ अधिक तो उसके द्वारा प्राप्त सन्तुष्टि अथवा कुल तुष्टिगुण घट जाएगा। उदाहरणत यदि उपभोक्ता उपर्युक्त सन्तुलन अवस्था की तुलना मे वस्तु X पर मु' की MN मात्रा अधिक तथा वस्तु Y पर मुद्रा की MN मात्रा कम व्यय करता है तो ऐसा करने से उसकी सन्तुष्टि मे वृद्धि $MEHN$ तथा कमी $MERN$के क्षेत्र के बराबर होगी। रेखाकृति 4.4 से स्पष्ट है कि MN मुद्रा की मात्रा वस्तु X पर अधिक व्यय करने तथा वस्तु Y पर कम व्यय करने के फलस्वरूप सन्तुष्टि मे कमी (क्षेत्र $MERN$) सन्तुष्टि मे वृद्धि (क्षेत्र $MEHN$) से अधिक है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि तब प्राप्त करता है जबकि वह विभिन्न वस्तुओ मे मुद्रा-व्यय को इस प्रकार वितरित कर रहा होता है कि उन पर व्यय की गई मुद्रा से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण समान होता है।

सन्तुलन अवस्था के लिए सम-सीमात तुष्टिगुण की शर्त को निम्न तीन विधियों से लिया जा सकता है।

(1) उपभोक्ता सन्तुलन की स्थिति मे होता है जबकि समस्त वस्तुओ के भारित (weighted) सीमात तुष्टिगुणो (अर्थात् प्रत्येक वस्तु का सीमान्त तुष्टिगुण उसकी कीमत द्वारा भारित) को समान कर रहा होता है। अन्य शब्दो मे, जब

$$\frac{MU_x}{P_x}=\frac{MU_y}{P_y}=\frac{MU_n}{P_n}=MU_m$$

(2) एक उपभोक्ता तब सन्तुलन अवस्था मे होता है जब वह वस्तुओ के सीमात तुष्टिगुणो के

जाती है तो उसकी माँग-मात्रा घट जाती है। यह मार्शल का प्रसिद्ध माँग का नियम है। अब तक के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि माँग के नियम की प्रत्यक्ष व्युत्पत्ति सीमान्त तुष्टिगुण ह्रासमान नियम से होती है। नीचे को गिरते हुए सीमान्त तुष्टिगुण वक्र को नीचे गिरते माँग वक्र मे परिवर्तित किया जा सकता है। रेखाकृति 4.5 मे (जिसमे कीमत को Y-अक्ष पर मापा गया है) सीमान्त तुष्टिगुण वक्र MU माँग वक्र ही बन जाता है। इसका यह तात्पर्य है कि माँग के नियम अथवा माँग-वक्र के पीछे कार्य करने वाली शक्ति घटता हुआ सीमान्त तुष्टिगुण है।

2. अब हम सम-सीमान्त तुष्टिगुण नियम की सहायता से माँग के नियम तथा माँग वक्र की प्रकृति का वर्णन करेंगे।[1] एक ऐसे उपभोक्ता का उदाहरण लीजिए जिसमे एक उपभोक्ता के पास एक निश्चित राशि है जिसे उसको विभिन्न वस्तुओ पर व्यय करना है। सम-सीमान्त तुष्टिगुण नियम के अनुसार एक उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओ के क्रय के सम्बन्ध मे तब सन्तुलन मे होता है जबकि विभिन्न वस्तुओ से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण तथा उसकी कीमतें समानुपातिक हो। इस प्रकार उपभोक्ता उस समय संतुलन मे होगा जबकि वह जिन दो वस्तुओ का क्रय कर रहा है वे निम्न समानुपातिकता नियम के अनुकूल हैं :

$$\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y} = MU_m$$

जहाँ MU_m मौद्रिक आय की सीमान्त तुष्टिगुण (उपयोगिता) को दर्शाता है।

सामान्यत. एक निश्चित आय पर उपभोक्ता को मुद्रा से एक निश्चित सीमान्त तुष्टिगुण (MU_m) प्राप्त होगा। सतुलन अवस्था को प्राप्त करने के लिए उपर्युक्त समानुपातिकता नियम के अनुसार उपभोक्ता मुद्रा के सामान्य सीमान्त तुष्टिगुण तथा प्रत्येक वस्तु के सीमान्त तुष्टिगुण व कीमत के अनुपात मे समानता स्थापित करेगा। इसका तात्पर्य है कि एक विवेकशील उपभोक्ता द्रव्य के सामान्य सीमान्त तुष्टिगुण (MU_m) की समानता वस्तु X के $\frac{MU_x}{P_x}$ तथा वस्तु Y के $\frac{MU_y}{P_y}$ आदि से स्थापित करेगा। अन्य बातें समान रहने पर,
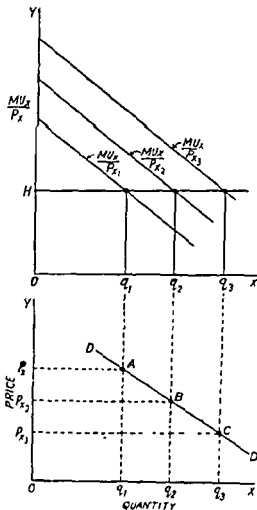
रेखाकृति 4.6 : माँग वक्र की व्युत्पत्ति (**Derivation of Demand Curve**)

मान लीजिए कि वस्तु X की कीमत गिर जाती है परन्तु वस्तु Y की कीमत, उपभोक्ता की आय तथा उसकी रुचियो मे कोई परिवर्तन नहीं होता। वस्तु X की कीमत मे परिवर्तन से $\frac{MU_x}{P_x}$ की $\frac{MU_y}{P_y}$ से

1. यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिए कि ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण का नियम अधिक आधारभूत है क्योंकि सम-सीमान्त तुष्टिगुण नियम भी ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण के नियम पर आधारित है।

तथा सामान्य MU_m से समानता भग हो जायेगी। वस्तु X की पहले से कम कीमत होने पर $\frac{MU_x}{P_x}$, $\frac{MU_y}{P_y}$ अथवा MU_m से अधिक हो जाएगा (यहाँ यह मान लिया गया है कि एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने से मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण मे कोई परिवर्तन नही होता)। समानता को स्थापित करने के लिए आवश्यक है कि MU_x अर्थात् वस्तु X के सीमान्त तुष्टिगुण को कम किया जाय। और वस्तु X के सीमान्त तुष्टिगुण MU_x को कम करने के लिए आवश्यक है कि उपभोक्ता वस्तु X की अधिक मात्रा का क्रय करे। समानुपातिकता नियम से यह स्पष्ट है कि जब किसी वस्तु की कीमत गिरती है तो, अन्य बातें समान रहने पर, इस वस्तु की माँग-मात्रा मे वृद्धि हो जाती है। इससे माँग वक्र की ढाल नीचे की ओर होती है। कीमत के गिरने पर माँग-मात्रा मे किस प्रकार वृद्धि होती है तथा माँग-वक्र की व्युत्पत्ति किस प्रकार की जाती है इसको रेखाकृति 4 6 मे चित्रित किया गया है। रेखाकृति के ऊपर वाले भाग मे, वस्तु X की कीमत Px_1 दी हुई होने पर $\frac{MU_x}{Px_1}$ वक्र बनाया गया है। उपभोक्ता की निश्चित आय पर उसकी मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण OH है। वस्तु X की Px_1 कीमत पर वह वस्तु X की Oq_1 मात्रा क्रय कर रहा है क्योकि इस मात्रा पर मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण (OH), $\frac{MU_x}{Px_1}$ के बराबर है। वस्तु X की कीमत के गिर कर Px_2 हो जाने पर वक्र ऊपर की ओर को विवर्तित होकर $\frac{MU_x}{Px_2}$ स्थिति धारण कर लेता है। मुद्रा के सीमात तुष्टिगुण (OH) को नये $\frac{MU_x}{Px_2}$ के समान करने के लिये आवश्यक है कि उपभोक्ता माँग-मात्रा को बढ़ा कर Oq_2 कर दे। अत वस्तु X की कीमत के गिरने पर उपभोक्ता इसको अधिक मात्रा मे खरीदता है। इस प्रकार वस्तु X की कीमत के घट कर Px_3 हो जाने पर $\frac{\text{सीमान्त तुष्टिगुण}}{\text{कीमत}}$ का वक्र और ऊपर की ओर विवर्तित होकर $\frac{MU_x}{Px_3}$ की स्थिति को पहुच जाता है। रेखाकृति 4 6 से स्पष्ट है कि मुद्रा का स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण OH वस्तु X की मात्रा Oq_3 पर $\frac{MU_x}{Px_3}$ के समान है। अतएव Px_3 कीमत पर उपभोक्ता वस्तु X की Oq_3 मात्रा क्रय करेगा।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वस्तु X की कीमत के घटने से उपभोक्ता की वास्तविक आय मे जो वृद्धि होगी उसको ध्यान मे नही रखा गया है। कारण यह है कि यदि वास्तविक आय मे वृद्धि को भी ध्यान में लिया जाय तो इससे मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण (marginal utility of money) घट जायेगा जिसका प्रभाव वस्तुओ की क्रय की जाने वाली मात्राओ पर पड़ेगा। किन्तु सीमान्त तुष्टिगुण सिद्धान्त के विश्लेषण-कर्त्ताओ ने जिनमे मार्शल प्रमुख था, वस्तुओ की कीमतों के परिवर्तन के समय मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण को स्थिर माना और इस प्रकार कीमत परिवर्तन से जो वास्तविक आय मे परिवर्तन होता है उसकी उपेक्षा की। वस्तुत मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण केवल दो अवस्थाओ में स्थिर रहता है। प्रथम, जब सीमान्त तुष्टिगुण वक्र की लोच (अर्थात् माँग की मूल्य-मापेक्षता) इकाई के बराबर हो जिससे वस्तु की कीमत के गिरने के फलस्वरूप उसकी माँग मात्रा में वृद्धि पर उस वस्तु विशेष पर कुल व्यय मे कोई परिवर्तन नही होता। द्वितीय, मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण तब भी समान रहेगा जब उपभोक्ता के बजट मे बहुत कम महत्त्वपूर्ण वस्तुओं (अर्थात् जिन पर उपभोक्ता अपने बजट का अत्यन्त नगण्य भाग व्यय करता है) की कीमत मे परिवर्तन हो। इन अत्यन्त कम महत्त्वपूर्ण वस्तुओं की कीमतो मे कमी से वास्तविक आय मे वृद्धि नगण्य (negligible) होगी जिसकी उपेक्षा की जा सकती है।

रेखाकृति 4 6 के नीचे वाले भाग मे वस्तु X के माँग वक्र को व्युत्पादित किया गया है। ऊपर वाले भाग के समान नीचे वाले भाग मे भी X-अक्ष पर माँग-मात्रा को मापा गया है और Y-अक्ष पर कीमत को। जबकि वस्तु X की कीमत Px_1 है तो

$\frac{\text{सीमान्त तुष्टिगुण}}{\text{कीमत}}$ का सबंधित वक्र $\frac{MU_x}{Px_1}$ है जिसको ऊपर वाले भाग में दिखाया गया है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, $\frac{MU_x}{Px_1}$ के होने पर उपभोक्ता वस्तु X की Oq_1 मात्रा खरीदता है। नीचे वाले भाग में Oq_1 माँग-मात्रा को Px_1 कीमत पर प्रत्यक्ष रूप से दिखाया गया है। जब वस्तु X की कीमत गिर कर Px_2 हो जाती है, तो $\frac{\text{सीमान्त तुष्टिगुण}}{\text{कीमत}}$ वक्र ऊपर को विवर्तित होकर $\frac{MU_x}{Px_2}$ की स्थिति धारण कर लेता है। $\frac{MU_x}{Px_2}$ के होने पर उपभोक्ता वस्तु X की Oq_2 मात्रा खरीदता है। नीचे वाले भाग में Px_2 कीमत पर Oq_2 माँग-मात्रा को प्रत्यक्ष रूप से दिखाया गया है। इसी प्रकार OP_3 कीमत पर वस्तु X की Oq_3 मात्रा की माँग है जिसको नीचे वाले भाग में प्रत्यक्ष रूप से दिखाया गया है। अतः A, B तथा C बिन्दुओं को मिला देने से हमको DD माँग-वक्र प्राप्त हो जाता है जिसके नीचे की ओर को ढालू होने से पता चलता है कि कीमत में कमी होने पर माँग-मात्रा में वृद्धि हो जायेगी।

माँग वक्र की व्युत्पत्ति : एक वैकल्पिक विधि

हम माँग-वक्र तथा माँग के नियम के व्युत्पादन को एक अन्य ढंग से भी स्पष्ट कर सकते हैं जो कि पहले वाले तरीके से कुछ भिन्न है। जैसा कि ऊपर बताया गया, समानुपातिकता नियम के अनुसार उपभोक्ता उस समय संतुलन में होता है जबकि $\frac{MU_x}{P_x} = MU_m$

इसको इस प्रकार से भी लिखा जा सकता है :

$$MU_x = P_x MU_m$$

अतः उपभोक्ता उस समय सन्तुलन में होता है जबकि क्रय की गई प्रत्येक वस्तु से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण मुद्रा के सामान्य सीमान्त तुष्टिगुण तथा वस्तु की कीमत के गुणनफल के बराबर हो। यदि वस्तु X की कीमत P_x से गिर कर P_x' हो जाय तो पहले वाली MU_m मुद्रा के सामान्य सीमान्त तुष्टिगुण और P'_x कीमत के गुणा से अधिक हो जायेगी। इससे उपर्युक्त समानता तथा उपभोक्ता का सन्तुलन भंग हो जाएगा। किसी भी वस्तु के सीमान्त तुष्टिगुण वक्र के नीचे की ओर ढाल होने के कारण, सन्तुलन की पुनः प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि वस्तु X की अधिक मात्रा का क्रय किया जाय जिससे कि इसका सीमान्त तुष्टिगुण घट कर नई कीमत (P'_x) तथा मुद्रा के सामान्य सीमान्त तुष्टिगुण (MU_m) के गुणनफल के बराबर हो जाय। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी वस्तु की कीमत के घटने पर उपभोक्ता उस वस्तु की अधिक मात्रा का क्रय करता है।

यदि हम $P_x.MU_m$ को Y-अक्ष पर मापें तथा वस्तु की मात्रा को X-अक्ष पर, तो हम ग्राफ पर माँग के नियम या माँग वक्र के व्युत्पादन को चित्रित कर सकते हैं। इसको रेखाकृति 4·7 में दर्शाया गया है। रेखाकृति 4·7 के ऊपर वाले भाग में वस्तु X का सीमान्त तुष्टिगुण वक्र बनाया गया है। जब वस्तु
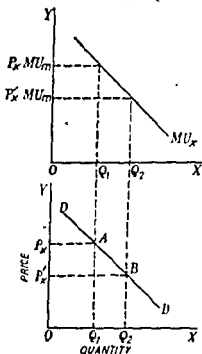
रेखाकृति 4·7 माँग वक्र की व्युत्पत्ति : एक वैकल्पिक तरीका

X की कीमत P_x है तब कीमत तथा मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण का गुणनफल $P_x MU_m$ होगा। रेखाकृति 4.7 के ऊपर वाले भाग से स्पष्ट है कि $P_x MU_m$ पर उपभोक्ता वस्तु की OQ_1 मात्रा खरीदता है क्योंकि इस मात्रा पर $P_x MU_m$ वस्तु X के सीमान्त तुष्टिगुण के बराबर है। कीमत के गिर कर P_x' हो जाने पर नई कीमत तथा मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण का गुणनफल $P'_x MU_m$ के बराबर होगा जो कि $P_x MU_m$ से कम है। $P'_x MU_m$ पर उपभोक्ता वस्तु X की OQ_2 मात्रा का क्रय करेगा क्योंकि OQ_2 पर वस्तु X का सीमान्त तुष्टिगुण P_x' MU_m के बराबर है। अत वस्तु X की कीमत P_x से गिर कर P_x' हो जाने पर इसकी क्रय-मात्रा मे वृद्धि हो जाती है।

रेखाकृति 4.7 के निचले भाग मे X-अक्ष पर वस्तु X की कीमत को लिया गया है। ऊपर वाले भाग के समान X-अक्ष पर वस्तु X की मात्रा को मापा गया है। ऊपर वाले भाग से स्पष्ट है कि P_x कीमत पर वस्तु की OQ_1 मात्रा का क्रय किया जाता है, नीचे वाले भाग मे यह प्रत्यक्ष रूप से दिखाया गया है कि P_x कीमत पर OQ_1 मात्रा की माँग की जाती है। इसी प्रकार, ऊपर वाले भाग से यह पता चलता है कि X की कीमत P_x' होने पर माँग-मात्रा OQ_2 होगी। इसी को प्रत्यक्ष रूप से नीचे वाले भाग मे दिखाया गया है। कीमत मे और परिवर्तन करके हम पता कर सकते है कि विभिन्न कीमतों पर माग-मात्रा कितनी होगी (ऊपर वाले भाग मे) और फिर इसको प्रत्यक्ष रूप से निचले भाग मे दिखाया जा सकता है। A तथा B जैसे बिन्दुओ को मिलाकर हम माग-वक्र बना सकते है।

सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of Marginal Utility Analysis)

माँग के तुष्टिगुण विश्लेषण, जिसका हमने ऊपर अध्ययन किया है, की अनेक दृष्टिकोणो से आलोचना की गयी है। तुष्टिगुण विश्लेषण की निम्न त्रुटियो तथा दोषो को बताया गया है।

1. तुष्टिगुण की गणनावाचक मापनीयता अवास्तविक है—माँग का सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि तुष्टिगुण को निरपेक्ष, वस्तुपरक तथा परिमाणात्मक रूप मे मापा जा सकता है। अन्य शब्दो मे, इस विश्लेषण की यह मान्यता है कि तुष्टिगुण गणनावाचक रूप में मापनीय है। इसके अनुसार एक उपभोक्ता वस्तुओ से कितना तुष्टिगुण प्राप्त करता है, इसे 1, 2, 3, 4 इत्यादि जैसी गणनावाचक सख्याओ मे व्यक्त किया जा सकता है। किन्तु वास्तविक व्यवहार में तुष्टिगुण को इस प्रकार के परिमाणात्मक अथवा गणनावाचक रूप मे मापा नही जा सकता है। चूंकि तुष्टिगुण एक मानसिक अनुभूति तथा व्यक्तिपरक तथ्य है, इसे परिमाणात्मक रूप मे मापा नही जा सकता है। वास्तविक जीवन मे उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओ अथवा वस्तुओ के विभिन्न सयोगों से प्राप्त होने वाले सन्तोष की केवल तुलना करने मे ही समर्थ होते हैं। अन्य शब्दो मे, वास्तविक जीवन में उपभोक्ता केवल यही कह सकता है कि एक वस्तु अथवा वस्तुओ का एक सयोग अन्य सयोग की तुलना मे उसे अधिक अथवा कम अथवा समान सन्तोष प्रदान करता है। इस प्रकार जे० आर० हिक्स जैसे अर्थशास्त्रियो का मत है कि तुष्टिगुण की गणनावाचक मापनीयता की मान्यता अवास्तविक है और इसलिए इसे त्याग दिया जाना चाहिए।

2. स्वतन्त्र तुष्टिगुणों की परिकल्पना असत्य है—तुष्टिगुण विश्लेषण की यह भी मान्यता है कि विभिन्न वस्तुओ से प्राप्त तुष्टिगुण स्वतन्त्र होते हैं। इसका अर्थ है कि एक उपभोक्ता किसी वस्तु से जो तुष्टिगुण प्राप्त करता है वह केवल उसी वस्तु की मात्रा पर निर्भर करता है। अन्य शब्दो में, स्वतन्त्र तुष्टिगुणों का अभिप्राय है कि एक उपभोक्ता किसी वस्तु से जो तुष्टिगुण प्राप्त करता है वह उपभोग की गयी अन्य वस्तुओ की मात्रा पर निर्भर नहीं करता है, यह केवल उसी वस्तु की खरीदी गयी मात्रा पर निर्भर करता है। इस मान्यता के आधार पर एक व्यक्ति स्वय द्वारा खरीदी गयी वस्तुओं के समस्त समूह से जो कुल तुष्टिगुण प्राप्त करता है, वह सरल रूप मे वस्तु के पृथक् तुष्टिगुणो का कुल योगफल होता

है। अन्य शब्दो मे, तुष्टिगुण फल यौगात्मक है। जेवस, मेजर, वालस तथा मार्शल जैसे नवप्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने माना कि तुष्टिगुण फलन योगात्मक होते हैं। किन्तु वास्तविक जीवन मे यह ऐसा नहीं है। वास्तविक जीवन मे एक वस्तु से प्राप्त होने वाला तुष्टिगुण अथवा सन्तोष किन्ही अन्य वस्तुओ की प्राप्ति पर निर्भर करता है जो या तो किसी के लिए स्थानापन्न अथवा परस्पर एक दूसरे की पूरक हो सकती है। उदाहरणार्थ एक कलम से प्राप्त होने वाला तुष्टिगुण इस बात पर निर्भर करता है कि स्याही उपलब्ध है अथवा नही।

इसके विपरीत यदि आप के पास केवल चाय है तो उससे प्राप्त तुष्टिगुण अपेक्षाकृत अधिक होगा, किंतु यदि चाय के साथ आपके पास कहवा (coffee) भी है तो आपको चाय का तुष्टिगुण अपेक्षाकृत कम होगा क्योंकि कलम तथा स्याही एक दूसरे के पूरक तथा चाय एव कहवा एक दूसरे के लिए स्थानापन्न हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विभिन्न वस्तुएं इस अर्थ मे एक दूसरे से सम्बन्धित हैं कि कुछ एक दूसरे की पूरक तथा कुछ एक दूसरे के लिए स्थानापन्न हैं। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न वस्तु से प्राप्त होने वाले तुष्टिगुण अन्योन्याश्रित होते हैं अर्थात् वे एक दूसरे पर निर्भर होते है। अत एक वस्तु से प्राप्त तुष्टिगुण केवल उसी के ही परिमाण का फलन नही वरन् अन्य सबधित वस्तुओ (पूरक या स्थानापन्न) के अस्तित्व या उपभोग पर भी निर्भर करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मार्शल तथा सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण के अन्य समर्थकों द्वारा तुष्टिगुणों की स्वतन्त्रता की मान्यता उनके विश्लेषण का बहुत बडा दोष है। जैसा कि हम नीचे देखेंगे, मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता के साथ स्वतन्त्र तुष्टिगुणो की परिकल्पना मार्शल के मांग प्रमेय की वैधता (Validity of Demand Theorem) को एक वस्तु प्रतिदर्श तक ही सीमित कर देती है।

3 मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता तर्कसगत नहीं है—सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण की एक महत्वपूर्ण मान्यता है कि जब एक उपभोक्ता एक अथवा विभिन्न वस्तुओ पर विभिन्न मात्रा व्यय करता है अथवा जब एक वस्तु की कीमत परिवर्तित होती है तो मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण अपरिवर्तित रहता है। किन्तु वास्तविक व्यवहार मे यह ठीक नही है। एक उपभोक्ता अपनी मौद्रिक आय को जैसे-जैसे वस्तुओ पर व्यय करता है उसके पास शेष मौद्रिक आय घटती जाती है। विभिन्न वस्तुओ पर व्यय मे वृद्धि के परिणामस्वरूप उपभोक्ता की मौद्रिक आय मे कमी होने से उसके लिए मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण मे वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त जब किसी वस्तु की कीमत परिवर्तित होती है तो उपभोक्ता की वास्तविक आय भी परिवर्तित हो जाती है। वास्तविक आय मे इस परिवर्तन से मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण परिवर्तित होगा तथा उपभोक्ता को प्राप्त कुल मौद्रिक आय पूर्ववत् रहने पर भी विचारगत वस्तु की मांग पर इसका प्रभाव पडेगा। किन्तु तुष्टिगुण विश्लेषण इन सब की उपेक्षा करता है तथा वास्तविक आय मे परिवर्तनो तथा किसी वस्तु की कीमत मे परिवर्तन से वस्तुओ की मांग पर पडने वाले इसके प्रभाव की ओर ध्यान नही देता। जैसा कि हम नीचे देखेंगे, मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता के कारण मार्शल ने कीमत परिवर्तन के आय प्रभाव की उपेक्षा की तथा इसने मार्शल को कीमत प्रभाव के मिश्रित स्वभाव (अर्थात् कीमत प्रभाव, प्रतिस्थापन प्रभाव तथा आय प्रभाव का योग है) को समझने मे बाधा उत्पन्न की। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम बाद म देखेंगे, स्वतन्त्र तुष्टिगुणो की परिकल्पना के साथ मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता मार्शल के मांग प्रमेय को केवल एक वस्तु के सम्बन्ध मे ही तर्कसगत सिद्ध करती है। इसके अतिरिक्त, मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण और इसलिए मार्शल द्वारा आय प्रभाव की उपेक्षा के कारण वे गिफन विरोधाभास (Giffen Paradox) की व्याख्या नही कर सके।

जैसा कि पहले व्याख्या की जा चुकी है, मार्शल के अनुसार एक वस्तु से तुष्टिगुण मुद्रा के रूप मे मापा जा सकता है (अर्थात् एक उपभोक्ता एक वस्तु के लिए कितनी मुद्रा त्याग करने के लिए तैयार है)। किन्तु मुद्रा के रूप मे तुष्टिगुण को मापने मे समर्थ

होने के लिए स्वय मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण को स्थिर रहना चाहिए । अत मुद्रा की स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता मार्शल के माँग विश्लेषण मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता के आधार पर मार्शल दृढतापूर्वक कह सके कि तुष्टिगुण न केवल सिद्धान्त मे *मापनीय (measurable in principle)* है वरन् "वास्तव मे मापनीय" (measurable in fact) है । किन्तु जैसा कि हम नीचे देखेंगे कि यदि उपभोक्ता को अपनी मौद्रिक आय को अनेक सख्या मे वस्तुओ पर वितरित (व्यय) करना है तो वस्तु की कीमत मे प्रत्येक परिवर्तन के साथ मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण मे सशोधन करने की आवश्यकता होती है । अन्य शब्दो मे बहुवस्तु प्रतिदर्श (multi-commodity model) मे मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण अपरिवर्तित या स्थिर नही रहता है । अब, जब यह अनुभव किया जाता है कि मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण स्थिर नही रहता तो मार्शल का विश्वास कि तुष्टिगुण मुद्रा के रूप मे 'वास्तव मे मापनीय' है सत्य सिद्ध नही होता । किन्तु यदि *सीमान्त तुष्टिगुण* विश्लेषण मे तुष्टिगुण को 'सिद्धात मे मापनीय' माना जाता है वास्तविकता मे नही तो यह व्यावहारिक रूप मे तुष्टिगुण के *गणनावाचक माप को त्याग* देता है तथा तुष्टिगुण के क्रमवाचक माप के निकट आ जाता है ।

4 एक वस्तु की दशा को छोड़कर मार्शल का माँग प्रमेय प्रामाणिक रूप मे व्युत्पादित नहीं किया जा सकता—जे० आर० हिक्स तथा तपस मजुमदार ने आगे मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण की इस आधार पर आलोचना की है कि मुद्रा के स्थिर सीमात तुष्टिगुण की मान्यता का खण्डन किये बिना एक वस्तु प्रतिदर्श को छोड कर, सीमान्त तुष्टिगुण परिकल्पना से मार्शल का माँग प्रमेय प्रामाणिक रूप मे व्युत्पादित नही किया जा सकता ।"[1] अन्य शब्दो मे, मार्शल का माँग प्रमेय तथा मुद्रा का स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण, केवल एक वस्तु की दशा को छोड कर, असगत है । इसके परिणामस्वरूप मार्शल का माँग प्रमेय प्रामाणिक रूप मे उस स्थिति मे नही व्युत्पादित किया जा सकता है जबकि उपभोक्ता अपनी मुद्रा एक से अधिक वस्तुओ पर व्यय करता है । इस दृढ कथन की सत्यता को ज्ञात करने के लिए एक उपभोक्ता पर विचार कीजिए जिसके पास दी हुई कीमतो पर कुछ वस्तुओ पर व्यय के लिए मौद्रिक आय की मात्रा दी हुई है । तुष्टिगुण विश्लेषण के अनुसार, उपभोक्ता तब सन्तुलन मे होगा जब वह मुद्रा को वस्तुओ पर इस प्रकार से व्यय करे कि प्रत्येक वस्तु का सीमान्त तुष्टिगुण उसकी कीमत के आनुपातिक हो । कल्पना कीजिए कि इस सन्तुलन की दशा मे उपभोक्ता P_1 कीमत पर वस्तु X की q_1 मात्रा खरीद रहा है । चूँकि उपभोक्ता P_1 कीमत पर वस्तु X की q_1 मात्रा खरीद रहा है, उस पर वह मुद्रा की P_1q_1 मात्रा व्यय कर रहा होगा । अब माना कि वस्तु X की कीमत P_1 से बढकर P_2 हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप माँगी गयी मात्रा q_1 से घटकर q_2 हो जाती है तो नवीन व्यय P_2q_2 होगा । अब महत्त्वपूर्ण बात यह देखना है कि वस्तु X पर नवीन व्यय P_2q_2, P_1q_1 की अपेक्षा अधिक, कम अथवा बराबर है । यह सीमान्त तुष्टिगुण वक्र (माँग की कीमत सापेक्षता) की लोच पर निर्भर करता है । यदि वस्तु X की सीमान्त तुष्टिगुण वक्र की कीमत सापेक्षता इकाई के बराबर है तो वस्तु X की P_1 से P_2 कीमत मे वृद्धि होने के पश्चात् X वस्तु पर नवीन व्यय (अर्थात् P_2q_2) प्रारम्भिक व्यय के समान होगा । जब कीमत मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप वस्तु पर किया गया मौद्रिक व्यय स्थिर रहता है तो मार्शल का माँग सिद्धान्त मान्य है । किंतु कीमत परिवर्तन होने से स्थिर मौद्रिक व्यय दुर्लभ बात है । यदि कीमत मे वृद्धि के पश्चात् नवीन व्यय P_2q_2 समान होने के बजाय प्रारम्भिक व्यय P_1q_1 की अपेक्षा अधिक अथवा कम हो जाता है तो मार्शल का *माँग सिद्धान्त नष्ट हो जाता है ।* यदि सीमान्त तुष्टिगुण वक्र की कीमत सापेक्षता एक से अधिक है (अर्थात् वस्तु के लिए कीमत माँग लोचदार है) तो P_1 से P_2

1. "Marshallian demand theorem cannot genuinely be derived from the marginal utility hypothesis except in a one commodity model without contradicting the assumption of constant marginal utility of money".
—Tapas Majumdar, *Measurement of Utility*

को कीमत में वृद्धि होने के पश्चात् नवीन व्यय P_2q_2 प्रारम्भिक व्यय P_1q_1 की अपेक्षा कम होगा। दूसरी ओर यदि सीमान्त तुष्टिगुण वक्र की कीमत सापेक्षता इकाई से कम है तो कीमत में वृद्धि होने के पश्चात् नवीन व्यय P_2q_2 प्रारम्भिक व्यय P_1q_1 की अपेक्षा अधिक होगा।

अब, यदि वस्तु X पर नवीन व्यय P_2q_2 उस पर प्रारम्भिक व्यय P_1q_1 की अपेक्षा कम है तो इसका अर्थ है उपभोक्ता के पास वस्तु X के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर व्यय के लिए अपेक्षाकृत अधिक मुद्रा शेष रहेगी। और यदि वस्तु X पर नवीन व्यय P_2q_2 उस पर प्रारम्भिक व्यय p_1q_1 की अपेक्षा अधिक है तो उसके पास X के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर व्यय के लिए अपेक्षाकृत कम मुद्रा शेष रहेगी। यदि उपभोक्ता अपनी प्राप्त आय की सम्पूर्ण मात्रा व्यय करता है तो वस्तु X पर नवीन व्यय P_2q_2 उस पर प्रारम्भिक व्यय P_1q_1 की अपेक्षा अधिक अथवा कम होने की स्थिति में X के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं पर व्यय तथा इसलिए उनके लिए उपभोक्ता की माँग परिवर्तित हो जायेगी। किन्तु मार्शल के सैद्धान्तिक ढाँचे में X के अतिरिक्त *अन्य* वस्तुओं पर उपभोक्ता के व्यय में पुनः समायोजन तभी हो सकता है यदि तुष्टिगुण माप की इकाई अर्थात् मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण संशोधित अथवा परिवर्तित किया जाता है। किन्तु मार्शल मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण को स्थिर मानते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब उपभोक्ता को अपनी मौद्रिक आय को अनेक संख्या में वस्तुओं पर वितरित करना होता है। मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण को स्थिर नहीं माना जा सकता है। 'मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण को स्थिर रखते हुए एक से अधिक वस्तु की स्थिति में मार्शल का माँग प्रमेय प्रामाणिक रूप में व्युत्पादित नहीं किया जा सकता। यदि मार्शल के माँग विश्लेषण में "मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण को त्याग कर इस कठिनाई से बचाव किया जाता है तो *मुद्रा अधिक समय तक मापदण्ड प्रदान नहीं कर* सकती और हम एक वस्तु के सीमान्त तुष्टिगुण को मुद्रा की इकाइयों में व्यक्त नहीं कर सकते। यदि हम सीमान्त तुष्टिगुण को सामान्य गणनसंख्या (Numeraire) के रूप में व्यक्त नहीं कर सकते हैं (जिसके लिए मुद्रा को परिमापित किया गया है) तो तुष्टिगुण की गणनावाचकता किसी क्रियात्मक महत्त्व से विहीन होगी।"[1]

केवल एक वस्तु की स्थिति में ही जिस पर उपभोक्ता को अपनी मुद्रा व्यय करनी होती है मान्य मार्शलीय *माँग प्रमेय प्रामाणिक रूप में व्युत्पादित किया जा* सकता है। निष्कर्ष रूप में मजूमदार के शब्दों में, "अतः केवल एक वस्तु विश्व को छोड़कर मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता मार्शल के माँग प्रमेय से असंगत होगी। माप की एक अपरिवर्तनशील (invariant) इकाई की मान्यता के अभाव में मापनीयता का दृढ़ कथन पूर्णतया निरर्थक होगा। कीमत में प्रत्येक परिवर्तन होने से तुष्टिगुण माप की इकाई के संशोधन की आवश्यकता तथा सम्भावना की मार्शलीय सिद्धांत में 'अन्य बातें पूर्ववत् रहने पर' के वाक्यांश के जोड़ने के कारण उपेक्षा की गई।

5. सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण कीमत प्रभाव को प्रतिस्थापन प्रभाव तथा आय प्रभाव में विभाजित नहीं करता है—सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण का तीसरा दोष है कि यह 'कीमत परिवर्तन' के 'आय प्रभाव' तथा 'प्रतिस्थापन प्रभाव' में अन्तर नहीं करता है। हम जानते हैं कि जब एक वस्तु की कीमत घटती है तो उपभोक्ता पहले की अपेक्षा अधिक *धनी हो जाता है* अर्थात् एक वस्तु की कीमत में कमी उपभोक्ता की वास्तविक आय में वृद्धि करती है। अन्य शब्दों में, यदि कीमत में कमी से उपभोक्ता पहले के समान ही वस्तु की मात्रा खरीदता है तो उसके पास कुछ आय शेष रहेगी। इस आय से वह इस वस्तु तथा अन्य वस्तुओं की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा खरीदने की स्थिति में होगा। यह कीमत में कमी का वस्तु की माँगी गयी मात्रा पर आय प्रभाव है। इसके अतिरिक्त, जब एक वस्तु की कीमत घटती है तो यह अन्य वस्तुओं की अपेक्षा सस्ती हो जाती है और परिणामस्वरूप उपभोक्ता उस वस्तु को अन्य वस्तुओं के लिए प्रतिस्थापित करने के लिए

1 Tapas Majumdar, *op. cit*

2 *Ibid*

प्रेरित होता है। यह उस वस्तु की माँगी गयी मात्रा मे वृद्धि के रूप मे परिणत होता है। यह वस्तु की माँगी गयी मात्रा पर कीमत परिवर्तन का प्रतिस्थापन प्रभाव है।

एक वस्तु की कीमत मे कमी होने से आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण उसकी माँगी गयी मात्रा मे वृद्धि होती है। किन्तु सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण कीमत परिवर्तन के आय तथा प्रतिस्थापन प्रभाव के मध्य अन्तर स्पष्ट नही करता है। वास्तव मे मार्शल तथा सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण के अन्य प्रवर्तको ने मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण की स्थिरता की मान्यता द्वारा कीमत परिवर्तन के आय प्रभाव की उपेक्षा की। इस प्रकार डॉ० तपस मजूमदार के अनुसार, "मुद्रा की स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता के कारण अत्यधिक सरल कीमत-माँग सम्बन्ध के वास्तविक मिश्रित स्वभाव तक मार्शल की अन्तर्दृष्टि न पहुँच सकी।"[1] उन्होने एक वस्तु की कीमत मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप माँग मे परिवर्तन की व्याख्या उस पर प्रतिस्थापन प्रभाव के आधार पर की। इस प्रकार सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण हमे इस विषय मे नही बताता है कि एक वस्तु की कीमत मे कमी के परिणामस्वरूप माँगी गयी मात्रा, कितनी आय प्रभाव के कारण तथा कितनी प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण बढती है। प्रो० जे० आर० हिक्स ठीक ही टिप्पणी करते है कि "गणना-वाचक सिद्धान्त द्वारा कीमत परिवर्तन के 'आय प्रभाव' तथा प्रतिस्थापन प्रभाव' के मध्य अन्तर स्पष्ट न करना खाली बॉक्स के समान है जो मरे जाने के लिए चिल्ला रहा है।"[2] उसी प्रकार डॉ० तपस मजूमदार कहते है कि "कीमत परिवर्तन के 'आय' तथा 'प्रतिस्थापन' प्रभावो के मध्य हिक्स-एलेन दृष्टिकोण जिस कुशलता तथा सूक्ष्मता से अन्तर कर सकता है, वह गणनावादी तर्क को वास्तव मे बहुत निर्बल दशा मे छोड देता है।"[3]

6. मार्शल गिफन विरोधाभास (Giffen Paradox) की व्याख्या नहीं कर सके—कीमत प्रभाव को आय तथा प्रतिस्थापन प्रभाव के सयोग के रूप मे न देखने तथा कीमत परिवर्तन के आय प्रभाव की उपेक्षा करने के कारण मार्शल गिफन विरोधाभास की व्याख्या नही कर सके। उन्होने इसे केवल अपने माँग के नियम के अपवाद के रूप मे माना। इसके विपरीत अनधिमान वक्र विश्लेषण गिफन वस्तु की दशा को सन्तोषजनक रूप मे व्याख्या करने मे समर्थ हुआ है। अनधिमान वक्र विश्लेषण के अनुसार गिफन विरोधाभास या गिफन वस्तु की दशा मे कीमत परिवर्तन का ऋणात्मक आय-प्रभाव प्रतिस्थापन प्रभाव की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होता है। अत जब एक गिफन वस्तु की कीमत घटती है तो ऋणात्मक आय प्रभाव, प्रतिस्थापन प्रभाव का अधिक हो जाता है परिणामस्वरूप उसकी माँगी गयी मात्रा घट जाती है। इस प्रकार गिफन वस्तु की दशा मे माँगी गयी मात्रा कीमत के साथ प्रत्यक्ष रूप से परिवर्तित होती है तथा मार्शल का माँग का नियम सत्य नही होता है। मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण तथा इसलिए कीमत परिवर्तन के आय प्रभाव की उपेक्षा के कारण मार्शल व्याख्या नही कर सके कि गिफन वस्तु की माँगी गयी मात्रा क्यो घटती है जब उसकी कीमत घटती है तथा क्यों बढती है जब कीमत बढती है। मार्शल के माँग के तुष्टिगुण विश्लेषण मे यह एक गम्भीर कमी है।

7. सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण अत्यधिक मान्यता करता है तथा बहुत कम व्याख्या करता है—सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण की इस आधार पर भी आलोचना की जाती है कि यह अनधिमान वक्र तकनीक के क्रम-वाचक तुष्टिगुण विश्लेषण की अपेक्षा अधिक सख्या मे तथा अधिक प्रतिबन्धात्मक मान्यताओ को स्वीकार करता है अर्थात् सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण यह मानता है कि तुष्टिगुण गणनावाचक रूप म मापनीय है तथा यह भी कि मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण स्थिर रहता है। हिक्स-एलेन अनधिमान वक्र विश्लेषण इन मान्यताओ को स्वीकार नही करता और फिर भी यह न केवल उन समस्त प्रमेयो का निगमन करने मे समर्थ है जो कि गणनावाचक तुष्टिगुण विश्लेषण कर सकता

1 *Op cit*
2. *A Revision of Demand Theory*, Oxford University Press, 1956
3 *Op cit*

हैं वरन् माँग के अपेक्षाकृत अधिक सामान्य प्रमेय का भी निगमन करता है। अन्य शब्दों में, अनधिमान वक्र विश्लेषण न केवल उतना ही विश्लेषण करता है जितना कि गणनावाचक तुष्टिगुण विश्लेषण वरन् उससे भी आगे जाता है, तिस पर भी कम प्रतिबन्धात्मक मान्यताओं के साथ। तुष्टिगुण के क्रमवाचक माप की अपेक्षाकृत कम प्रतिबन्धात्मक मान्यताओं को स्वीकार करते हुए तथा मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण को बिना स्थिर माने हुए अनधिमान वक्र विश्लेषण उपभोक्ता के सन्तुलन अर्थात् वस्तुओं के मध्य कीमत अनुपात की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के साथ समानता की दशा को प्राप्त करने में समर्थ है जो मार्शल की आनुपातिकता के नियम के समान है। इसके अतिरिक्त, चूँकि अनधिमान वक्र विश्लेषण मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण को स्थिर नहीं मानता, यह एक से अधिक वस्तु की दशा में तर्कसंगत माँग प्रमेय व्युत्पन्न करने में समर्थ है।

अगले कुछ अध्यायों में व्याख्या की जायगी कि अनधिमान वक्र विश्लेषण गिफन विरोधाभास की व्याख्या करने में समर्थ है जिसकी मार्शल अपने सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण से व्याख्या नहीं कर सके। अन्य शब्दों में, अनधिमान वक्र विश्लेषण स्पष्ट रूप से व्याख्या करता है कि गिफन वस्तुओं की दशा में कीमत वृद्धि से माँगी गयी मात्रा में वृद्धि तथा कीमत में कमी होने से *(माँगी गयी मात्रा में) कमी क्यों होती है।* अनधिमान वक्र विश्लेषण साधारण हीन वस्तुओं (गिफन वस्तुओं के अतिरिक्त) की भी दशा की अपेक्षाकृत अधिक विश्लेषणात्मक *ढंग से व्याख्या करता है।* यह ध्यान देने योग्य है कि यदि मार्शल की परिकल्पना से तर्कसंगत माँग प्रमेय व्युत्पन्न किया भी जा सके तो भी उसे अस्वीकार कर दिया जायगा क्योंकि अनधिमान-अधिमान विश्लेषण का "श्रेष्ठतर सिद्धांत" प्राप्त है जो *कम संख्या में, कम प्रतिबन्धात्मक* तथा अधिक वास्तविक मान्यताओं से अपेक्षाकृत अधिक सामान्य माँग प्रमेय (गिफन वस्तुओं की दशा को सम्मिलित करते हुए) का प्रतिपादन कर सकता है।

उपरोक्त दावों के कारण आधुनिक सिद्धान्त में तुष्टिगुण विश्लेषण का त्याग कर दिया गया है तथा माँग की व्याख्या अनधिमान वक्रों से की जाती है जिसकी व्याख्या हम अगले अध्याय में करेंगे।

5

मांग का अनधिमान वक्र विश्लेषण
(INDIFFERENCE CURVES ANALYSIS OF DEMAND)

हमने गत अध्याय मे मांग के विषय मे सीमान्त तुष्टिगुण विश्लेषण की व्याख्या की। प्रस्तुत अध्याय मे हम मांग विश्लेषण का आधुनिक ढंग जिसे अनधिमान वक्र विश्लेषण कहते हैं, की व्याख्या करेंगे। अनधिमान वक्रों की तकनीक सर्वप्रथम एजवर्थ (Edgeworth) ने निकाली थी किन्तु उसने अनधिमान वक्रो की सहायता से मांग का विश्लेषण नही किया। एजवर्थ के अतिरिक्त फिशर (Fisher), परेटो (Pareto), जॉनसन (Johnson) ने भी अनधिमान वक्रो का प्रयोग किया। किन्तु अनधिमान वक्रो को अधिक विस्तृत रूप से उपभोक्ता की मांग का विश्लेषण करने के लिए जे० आर० हिक्स और आर० जी० डी० एलन ने प्रयोग किया। उन्होंने संयुक्त रूप से एक निबन्ध प्रकाशित किया जिसमे उन्होंने मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण की कटु आलोचना की और उसके स्थान पर अनधिमान वक्रो द्वारा उपभोक्ता की मांग का विश्लेषण करने के लिए प्रबल समर्थन किया। सन् 1939 मे हिक्स ने अपनी 'वैल्यू एण्ड कैपीटल' (*Value and Capital*) नामक पुस्तक मे अनधिमान वक्रो की सहायता से उपभोक्ता की मांग की पहले से अधिक विस्तृत और गहन रूप से व्याख्या की। आजकल उपभोक्ता की मांग की व्याख्या करने के लिए अनधिमान वक्रो की पद्धति को मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण से अधिक श्रेष्ठ तथा उत्कृष्ट माना जाता है।

अनधिमान वक्र पद्धति
(Technique of Indifference Curves)

अनधिमान वक्र पद्धति की महत्वपूर्ण धारणा यह है कि हम तुष्टिगुण का माप गणनावाचक (cardinal) रूप से नही कर सकते। तुष्टिगुण अथवा संतुष्टि एक मानसिक वृत्ति है जिसको मापना असम्भव है। इस लिए अनधिमान वक्र पद्धति तुष्टिगुण को मापने की चेष्टा नही करती। अनधिमान वक्रो के समर्थक केवल यह मानते है कि तुष्टिगुणो की केवल तुलना ही की जा सकती है अर्थात केवल यह कहा जा सकता है कि क्या एक वस्तु अथवा वस्तुओ के एक संयोग (combination) मे किसी दूसरी वस्तु अथवा वस्तुओ के किसी अन्य संयोग से सन्तुष्टि बराबर मिलती है, कम मिलती है या अधिक मिलती है। अत अनधिमान वक्रो के समर्थको के अनुसार उपभोक्ता वस्तु से प्राप्त तुष्टिगुणो का सही माप करने मे असमर्थ होता है परन्तु वह उनमे तुलना आसानी से कर सकता है और यह बता सकता है क्या उसका तुष्टिगुण अथवा संतुष्टि का स्तर किसी अन्य वस्तु अथवा जोड से कम है,

अधिक है या उसके बराबर है। इसके अनुसार उपभोक्ता विभिन्न वस्तुओं अथवा वस्तुओं के विभिन्न संयोगों में एक अधिमान क्रम (scale of preferences) रखता है अर्थात् विभिन्न वस्तुओं अथवा वस्तुओं के विभिन्न संयोगों को उनसे प्राप्त संतुष्टि के अनुसार एक क्रम दे सकता है। यदि वस्तुओं के विभिन्न संयोग A, B, C D आदि हों तो उपभोक्ता यह बता सकता है कि क्या वह A को B की तुलना में अधिक चाहता है अथवा B को A की तुलना में अथवा। और B में वह उदासीन और तटस्थ है। A और B में उपभोक्ता का उदासीन होना इस बात का सूचक है कि उनसे उसे समान संतुष्टि प्राप्त होती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपभोक्ता केवल यह ही बता सकता है कि उसको किसी अन्य वस्तु अथवा जोड़ से संतुष्टि कम, अधिक या समान मिलती है। वह यह नहीं बता सकता कि कम मिलती है तो कितनी कम और अधिक मिलती है तो कितनी अधिक। दूसरे शब्दों में, अनधिमान वक्र पद्धति के अनुसार उपभोक्ता विभिन्न संतुष्टि के स्तरों में परिमाणात्मक (quantitative) अन्तर नहीं बता सकता। वह तो केवल यह ही कह सकता है कि उसका संतुष्टि का स्तर किसी अन्य संतुष्टि के स्तर से अधिक है, कम है, अथवा उसके समान है। इस प्रतिस्थापन अनधिमान वक्र पद्धति के समर्थकों का विचार है कि हमें माँग का विश्लेषण करने के लिए यह आवश्यक ही नहीं है कि उपभोक्ता हमें बता सके कि उसको किसी वस्तु अथवा जोड़ से किसी अन्य वस्तु अथवा जोड़ की अपेक्षा कितनी अधिक अथवा कितनी कम संतुष्टि मिलती है। अनधिमान वक्र पद्धति उपभोक्ता की माँग का विश्लेषण केवल इस बात से ही कर लेती है कि उपभोक्ता यह कह सके कि एक वस्तु अथवा वस्तुओं के एक जोड़ से उसे किसी अन्य की अपेक्षा अधिक, समान अथवा कम संतुष्टि प्राप्त होती है।

यहाँ पर यह भी ध्यान में समझ लेना चाहिए कि उपभोक्ता का अधिमान क्रम वस्तुओं की मार्किट में प्रचलित कीमतों से स्वतन्त्र रूप से बनाया जाता है। उपभोक्ता का अधिमान क्रम केवल वस्तुओं तथा उनके विभिन्न जोड़ों से प्राप्त होने वाली संतुष्टियों की आशाओं के आधार पर बनाया जाता है। उपभोक्ता के अधिमान क्रम में वस्तुओं के कुछ जोड़ समान स्तर ग्रहण करेंगे, कुछ जोड़ अन्य जोड़ों से अधिक स्तर पर होंगे और कुछ अन्यों से कम स्तर पर होंगे। इसके अतिरिक्त अनधिमान वक्र विश्लेषण की एक और महत्त्वपूर्ण धारणा यह है कि उपभोक्ताओं के अधिमान (preference) तथा अनधिमान (indifference) संगत (consistent) होते हैं। अधिमान अथवा अनधिमान की संगति का अर्थ यह है कि यदि एक उपभोक्ता वस्तु A को B की अपेक्षा अधिक पसंद करता है और वस्तु B को C की अपेक्षा अधिक चाहता है तो वह वस्तु A को C की अपेक्षा अवश्य ही अधिक चाहेगा और इसी प्रकार यदि उपभोक्ता वस्तु A और वस्तु B में उदासीन है और वस्तु B और C में भी उदासीन है तो वह वस्तु A और C में भी उदासीन होगा।

अनधिमान वक्र क्या हैं ?
(What are Indifference Curves ?)

अब हम हिक्स (Hicks) और ऐलन (Allen) के माँग विश्लेषण के प्रमुख साधन अनधिमान वक्र का अर्थ समझायेंगे। एक अनधिमान वक्र दो वस्तुओं के उन संयोगों को व्यक्त करता है जो उपभोक्ता को समान संतुष्टि देते हैं। चूँकि एक अनधिमान वक्र पर स्थित सभी संयोग उपभोक्ता को समान संतुष्टि देते हैं वह उनमें उदासीन (indifferent) अथवा तटस्थ होगा, अर्थात् उसके लिए यह उदासीनता की बात होगी कि अनधिमान वक्र पर स्थित कोई भी वस्तुओं का संयोग उसे मिल जाये। दूसरे शब्दों में, एक अनधिमान वक्र पर स्थित वस्तुओं के सभी संयोग उसके लिए समान वांछनीय अथवा समान अधिमान वाले होंगे क्योंकि एक अनधिमान वक्र पर स्थित वस्तुओं के सभी संयोग उपभोक्ता को समान संतुष्टि प्रदान करते हैं। इसलिए अनधिमान वक्रों को सम-सन्तुष्टि वक्र (Iso Utility Curves) भी कहा जाता है। अनधिमान वक्रों की प्रकृति को समझने के लिए पहले अनधिमान अनुसूचियों (indifference schedules) को समझ लेना श्रेयस्कर है। सारणी 5.1 में दो अनधिमान अनुसूचियाँ

बनाई गई हैं। प्रत्येक अनुसूची मे वस्तु X और वस्तु Y की मात्राएँ प्रत्येक संयोग मे इस प्रकार ली गई हैं कि प्रत्येक अनुसूची मे उपभोक्ता की सतुष्टि समान रहती है। अनुसूची I मे आरम्भ मे उपभोक्ता के पास वस्तु X की एक इकाई है और वस्तु Y की बारह इकाइयाँ हैं। अब उपभोक्ता से यह पूछा जाता है कि वस्तु X की एक अतिरिक्त इकाई प्राप्त करने के लिए वह वस्तु Y की कितनी इकाइयाँ त्यागने के लिए सहमत होगा जिससे उसकी सतुष्टि समान रहे। यदि वस्तु X की एक अतिरिक्त इकाई प्राप्त करने के लिए वह वस्तु Y की चार इकाइयाँ त्यागना चाहता है और ऐसा करने से उसकी सतुष्टि समान ही रहती है तो अग्रिम सयोग जिसमे वस्तु X की दो इकाइयाँ और वस्तु Y की आठ इकाइयाँ हैं उसे इतनी ही सतुष्टि देगा जितनी कि उसे पहले सयोग से प्राप्त होती है। इसी प्रकार उपभोक्ता से और आगे पूछने पर कि वह वस्तु X की और अतिरिक्त इकाइयो के लिए वस्तु Y की कितनी मात्रा देना चाहेगा जिससे उसकी सतुष्टि मे अन्तर न आए तो हमे क्रमश $3X$ और $5Y$, $4X$ और $3Y$, $5X$ और $2Y$ के सयोग प्राप्त होते हैं जो पहले दो सयोगो के समान सतुष्टि देते हैं।

चूंकि एक अनधिमान अनुसूची मे उपभोक्ता की सतुष्टि समान रहती है चाहे उसमे वस्तुओ का कोई भी सयोग उसे दिया जाए, वह एक अनुसूची मे बनाए गए वस्तुओ के विभिन्न सयोगो मे उदासीन होगा।

अनुसूची II मे उपभोक्ता के पास आरम्भ मे X की दो इकाइयाँ और Y की चौदह इकाइयाँ हैं। अब उपभोक्ता से पूछने पर कि वह X की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई के लिए वस्तु Y की कितनी इकाइयाँ देने को तैयार होगा ताकि उसकी सतुष्टि समान रहे, हम वस्तुओ के अन्य सयोग $3X+10Y$, $4X+7Y$, $5X+5Y$, और $6X+4Y$ प्राप्त करते हैं जो उपभोक्ता को प्रारम्भिक सयोग $2X+14Y$ के समान सतुष्टि देते है। अनुसूची II मे दो वस्तुओ का दिखाया गया प्रत्येक सयोग उपभोक्ता को समान रूप से वांछनीय होगा और इसलिए वह उनमे तटस्थ अथवा उदासीन होगा। लेकिन यह समझ लेना चाहिए कि

सारिणी 5·1 : अनधिमान अनुसूचियाँ
(Indifference Schedules)

I		II	
वस्तु X	वस्तु Y	वस्तु X	वस्तु Y
1	12	2	14
2	8	3	10
3	5	4	7
4	3	5	5
5	2	6	4

अनुसूची II मे दिया गया कोई भी सयोग अनुसूची I मे दिये गए प्रत्येक सयोग की तुलना मे उपभोक्ता को अधिक सतुष्टि देगा। दूसरे शब्दो मे, उपभोक्ता अनुसूची II मे दिए गए किसी भी सयोग को अनुसूची I मे दिखाए गए किसी भी सयोग की अपेक्षा अधिक चाहेगा। इसका कारण यह है कि हमने यह मान लिया है कि वस्तु की अधिक मात्रा उसकी कम मात्रा से उपभोक्ता को अधिक सतुष्टि देती है। अनुसूची II के
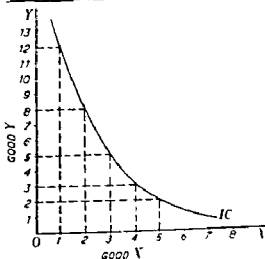
रेखाकृति 5·1 अनधिमान वक्र

प्रारम्भिक सयोग मे अनुसूची I के प्रारम्भिक सयोग की अपेक्षा दोनो वस्तुओ की मात्रा अधिक है, इसलिए अनुसूची II का प्रारम्भिक सयोग अनुसूची I के प्रारम्भिक सयोग से अधिक सतुष्टि देगा। चूंकि अनुसूची II का अन्य प्रत्येक सयोग प्रारम्भिक सयोग ($2X+14Y$) के बराबर सतुष्टि देता है और अनुसूची I मे

भी अन्य प्रत्येक संयोग उसके प्रारम्भिक संयोग ($1X + 12Y$) के समान सतुष्टि देता है, इसलिए उपभोक्ता अनुसूची *II* के किसी भी संयोग को अनुसूची *I* के किसी भी संयोग से अधिक प्राथमिकता देगा अथवा उसे अधिक चाहेगा। 1

अब हम उपर्युक्त अनधिमान अनुसूचियो को उनम बनाए गए विभिन्न सयोगो को एक ग्राफ पत्र पर अंकित करके अनधिमान वक्रो म प्रकट कर सकते हैं। रेखाकृति 5 1 म अनधिमान अनुसूची *I* के विभिन्न सयोगो को अंकित करके अनधिमान वक्र *IC* बनाया गया है। इस रेखाकृति मे वस्तु *X* की मात्रा को अक्ष-*X* पर मापा गया है और वस्तु *Y* की मात्रा को अक्ष-*Y* पर मापा गया है। अनधिमान अनुसूची की तरह एक अनधिमान वक्र पर दिखाए गए वस्तुओ के प्रत्येक संयोग से उपभोक्ता को समान सतुष्टि प्राप्त होती है। अनधिमान वक्र के सतत (continuous) होने का अर्थ यह है कि वस्तुओ को पूर्णतया विभाज्य (divisible) माना गया है। यदि अनुसूची *II* को भी अनधिमान वक्र द्वारा प्रकट किया जाए तो यह अनधिमान वक्र *IC* से ऊँचे स्थान पर स्थित होगा।

ऊँचे अनधिमान वक्र पर वस्तुओ का कोई भी सयोग नीचे के अनधिमान वक्र के किसी भी सयोग से अधिक सतुष्टि देगा। इससे स्पष्ट है कि यदि कोई भी अनधिमान वक्र किसी भी अन्य अनधिमान वक्र के ऊपर अथवा दायी ओर स्थित होगा तो वह उससे अधिक सतुष्टि को प्रकट करेगा। यह बात ध्यान देने योग्य है कि जबकि एक अनधिमान वक्र दो वस्तुओ के ऐसे जोडो को व्यक्त करता है जो उपभोक्ता को समान सतुष्टि प्रदान करते है, यह इस बात को नही बताता कि उनसे उपभोक्ता को कितनी मात्रा मे सतुष्टि प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि अनधिमान वक्र पद्धति तुष्टिगुण को मापनीय (measurable) नही मानती और इसलिए वह सतुष्टि अथवा तुष्टिगुण को मापने की चेष्टा नही करती। इसीलिए अनधिमान वक्रो पर उनके द्वारा प्रदान की जाने वाली सतुष्टि की मात्राओ को नही लिखा जाता।

उपभोक्ता की रुचियो तथा अनधिमानो का पूर्ण विवरण एक अनधिमान चित्र (Indifference map) द्वारा व्यक्त किया जा सकता है जिसमे कई अनधिमान वक्र बनाए जाते है। रेखाकृति 5 2 मे एक अनधिमान मानचित्र बनाया गया है जिसमें 5 अनधिमान वक्र दिखाए गए है। उपभोक्ता को अनधिमान वक्र *I* पर सभी सयोग समान सतुष्टि देंगे। इसी प्रकार अनधिमान वक्र *II* पर स्थित सभी सयोग उपभोक्ता को बराबर सतुष्टि देंगे। लेकिन अनधिमान वक्र *II* पर के सयोग अनधिमान वक्र *I* पर स्थित सयोगो से अधिक सतुष्टि देंगे। ऐसा क्यो है, यह हम ऊपर बता आए हैं। इसी तरह अन्य ऊँचे अनधिमान वक्र *III*, *IV* और *V* क्रमश अधिक सतुष्टि देने वाले है। यह ध्यान देने योग्य है कि उपभोक्ता ऊँचे अनधिमान वक्र पर किसी भी सयोग को नीचे के अनधिमान वक्र के किसी भी सयोग की अपेक्षा अधिक प्राथमिकता देगा, किन्तु कितनी अधिक प्राथमिकता देगा यह नही कहा जा सकता। दूसरे शब्दो मे, एक ऊँचा अनधिमान वक्र एक नीचे के अनधिमान वक्र की अपेक्षा अधिक सतुष्टि को व्यक्त करता है, लेकिन कितनी अधिक यह नही बताता। इसका कारण यह है कि अनधिमान वक्र पद्धति क्रमवाचक तुष्टिगुण (Ordinal Utility) की धारणा पर आधारित है जिसके अनुसार उपभोक्ता केवल सतुष्टि के विभिन्न स्तरो की तुलना कर सकता है उनमें परिमाणात्मक स्तरो को नही बता सकता अर्थात् कितनी कम और कितनी अधिक सतुष्टि के बारे मे वह नही कह सकता। इसलिए एक अनधिमान मानचित्र मे किसी भी बढते हुए क्रम से अनधिमान वक्रो को दिखाया जा सकता है अर्थात् एक अनधिमान मानचित्र मे विभिन्न अनधिमान वक्रो को बढते हुए क्रम जैसे कि 1, 3, 7, 9 · अथवा 1, 4, 6, 8, 13 ·· अथवा 1, 2, 5, 8, 10 आदि द्वारा लिखा जा सकता है। किन्तु यह याद रहे कि इन सख्याओ का कोई मात्रासूचक अर्थ नहीं है, वे तो केवल क्रम को ही प्रकट करती हैं। यही कारण है कि अनधिमान वक्रो को प्राय क्रमवाचक सख्याओ जैसे कि *I*, *II*, *III*, *IV* आदि द्वारा व्यक्त किया जाता है और ऐसा ही हमने रेखाकृति 5 2 मे किया है। एक उपभोक्ता का अनधि-

मान मानचित्र दो वस्तुओं तथा उनके विभिन्न संयोगों में उसकी रुचियों और अधिमानों को प्रकट करता है। दूसरे शब्दों में, एक अनधिमान मानचित्र उपभोक्ता के अधिमान क्रम (scale of preferences) का चित्र प्रस्तुत करता है। अनधिमान वक्रों की पद्धति का यह अधिमान क्रम मार्शल की तुष्टिगुण अनुसूची का स्थान
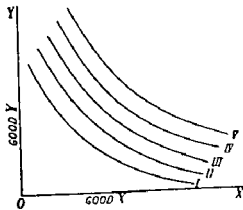
रेखाकृति 5 2 · अनधिमान मानचित्र

लेता है। जब तक उपभोक्ता की रुचियाँ अथवा अधिमान समान रहते हैं तब तक उसका समस्त अनधिमान मानचित्र वही रहेगा। यदि उपभोक्ता की रुचियाँ अथवा अधिमान में कोई परिवर्तन होता है तो उसका अनधिमान मानचित्र बदल जाएगा और अब उसकी नई रुचियों और अधिमानों के अनुसार नया अनधिमान मानचित्र बनाना होगा। उदाहरण के लिए यदि वस्तु Y अण्डे हैं और वस्तु X रोटी है और यदि डाक्टर उपभोक्ता को किसी रोग-मुक्ति के लिए पहले से अधिक अण्डे खाने का परामर्श देता है तो उपभोक्ता के अनधिमान वक्रों की आकृति बदल जाएगी और उसका अनधिमान मानचित्र नए सिरे से बनाना होगा क्योंकि डाक्टर के परामर्श के कारण उपभोक्ता का अधिमान अण्डों के लिए बढ़ जाएगा।

जब किसी व्यक्ति के अधिमान क्रम पर आधारित अनधिमान वक्रों का समूह दिया गया हो, तो हम उस समूह को अर्थशास्त्र में अनधिमान मानचित्र या अनधिमान चित्र (Indifference Map) कहते हैं। आपने समाचार-पत्रों में या भूगोल की एटलसों में मौसम के नक्शे तथा समुद्र-तट से ऊँचाई की रेखाओं वाले नक्शे (Maps giving contour lines) देखे होंगे। मौसम के नक्शों में उन सब स्थानों को एक वक्र द्वारा मिला दिया जाता है जहाँ एक जैसा तापमान (temperature) हो। इस प्रकार विभिन्न तापमानों के अलग वक्र होते हैं। ये सम-तापमान सूचक रेखाएं (Isotherm lines) कहलाती हैं। इसी प्रकार हवा के दबाव की भी रेखाएँ खींची जाती हैं। समुद्र-तट पर से बराबर ऊँचाई वाले स्थानों को मिलाने वाली रेखाओं को Contour Lines कहते हैं। जैसे किसी एक Contour रेखा पर स्थित सभी स्थानों की ऊँचाई एक-सी होती है, उसी प्रकार एक अनधिमान वक्र पर सब बिन्दुओं वाले संयोगों से एक जितनी संतुष्टि प्राप्त होगी। परन्तु Contour रेखाओं और अनधिमान वक्रों में एक बड़ा अन्तर है। Contour रेखाओं पर जहाँ हम ऊँचाई फुटों या मीटरों में दे सकते हैं, वहाँ अनधिमान वक्र पर प्राप्त संतुष्टि की मात्रा नहीं बताई जा सकती क्योंकि संतुष्टि मापी नहीं जा सकती।

अनधिमान वक्रों की निम्नलिखित चार मुख्य विशेषताएँ हैं

1 अनधिमान वक्रों की ढाल बायें से दायें नीचे की ओर होती है अर्थात् अनधिमान वक्र बायें से दायें नीचे की ओर झुके हुए होते हैं।

2 अनधिमान वक्र मूल बिन्दु की ओर उत्तल (Convex) होते हैं।

3 कोई भी दो अनधिमान वक्र एक दूसरे को काट नहीं सकते।

4 ऊँचा अनधिमान वक्र एक नीचे के अनधिमान-वक्र से अधिक सन्तुष्टि को व्यक्त करता है।

प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Marginal Rate of Substitution)

प्रतिस्थापन की सीमान्त दर यह बताती है कि जब किसी उपभोक्ता के पास दो वस्तुएँ हों तो वह एक के स्थान पर दूसरी को किस दर पर त्यागने या लेने पर तैयार होता है, जिससे कि उसकी कुल सन्तुष्टि वही-

की-वही रहे। यह अनधिमान वक्र का विश्लेषण ढंग का एक महत्वपूर्ण उपकरण (tool) है और प्रो० मार्शल के माँग के विश्लेषण में प्रयुक्त होने वाली सीमान्त तुष्टिगुण की धारणा की जगह लेता है अर्थात् माँग विश्लेषण में जो काम सीमान्त तुष्टिगुण की धारणा देती है वही काम अनधिमान वक्र की सहायता से किए गए माँग के विश्लेषण में यह नयी धारणा प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (marginal rate of substitution) करती है। अब इस सीमान्त दर को नीचे दी गई अनधिमान अनुसूची (indifference schedule) की सहायता से समझिए—

सारिणी 5.2 प्रतिस्थापन की सीमान्त दर

संयोग	वस्तु X	वस्तु Y	स्थानापत्ति की सीमान्त दर (MRS_{xy})
A	1	12	
			4
B	2	8	
			3
C	3	5	
			2
D	4	3	
			1
E	5	2	

उपर्युक्त अनधिमान अनुसूची में, प्रारम्भ में संयोग A में उपभोक्ता के पास वस्तु X की एक इकाई और वस्तु Y की बारह इकाइयाँ हैं। अब वह उपभोक्ता वस्तु X की एक और इकाई प्राप्त करने के लिए वस्तु Y की चार इकाइयाँ त्यागने को तैयार होता है अर्थात् वह संयोग A के बजाय संयोग B को प्राप्त करने के लिए वस्तु X की एक इकाई के बदले वस्तु Y की चार इकाइयाँ दे देता है और ऐसा करने में उसकी सन्तुष्टि में कोई परिवर्तन नहीं होता। अर्थात् इस अवस्था में वस्तु Y को वस्तु X में बदलने की दर चार है। इस अनधिमान वक्र पद्धति में कहते हैं कि उपभोक्ता की वस्तु X की वस्तु Y के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर चार है। इस प्रकार हम प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की परिभाषा यों दे सकते हैं वस्तु X की वस्तु Y के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर वस्तु Y की वह मात्रा है जिसको वस्तु X की एक इकाई प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता त्याग देने को तैयार होता है जिसमें उसकी सन्तुष्टि का स्तर स्थिर रहे (Marginal rate of substitution of X for Y is the amount of Y which the consumer is prepared to give up for the gain of one additional unit of X so that his level of satisfaction remains the same)।

सारणी 5.2 में जब उपभोक्ता अपनी अनधिमान अनुसूची में संयोग B से संयोग C को जाता है तो वह वस्तु X की एक अतिरिक्त इकाई प्राप्त करने के लिए वस्तु Y की तीन इकाइयाँ त्यागने को तैयार होता है। अतः अब उसकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) तीन है। इसी तरह जब वह अपनी अनधिमान अनुसूची में संयोग C से संयोग D को और जब संयोग D से संयोग E को प्राप्त करता है तो प्रतिस्थापन की सीमान्त दर क्रमशः दो और एक है।

अब प्रश्न यह है कि प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को अनधिमान वक्र के किसी बिन्दु पर कैसे जाना और मापा जाय। रेखाकृति 5.3 (a) पर विचार कीजिए जिसमें एक अनधिमान वक्र IC खींचा गया है। इस अनधिमान वक्र IC पर जब उपभोक्ता बिन्दु A से बिन्दु B को आता है तो वह वस्तु X की SB मात्रा के लिए वस्तु Y की AS मात्रा त्यागता है तथा ऐसा करने से वह समान अनधिमान वक्र पर ही रहता है अर्थात् उसकी सन्तुष्टि समान रहती है। इसका अर्थ यह है कि उपभोक्ता को वस्तु Y की AS मात्रा त्यागने से जो सन्तुष्टि में कमी होती है वह वस्तु X की SB मात्रा के बढ़ने से सन्तुष्टि में वृद्धि के समान है। दूसरे शब्दों में X की Y के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) $\frac{AS}{SB}$ के बराबर है। वस्तु Y की मात्रा में थोड़े से परिवर्तन जैसे कि रेखाकृति 5.3 (a) में AS को ΔY और वस्तु X में थोड़े परिवर्तन को ΔX लिखा जा सकता है। इस प्रकार ΔY वस्तु Y की उस मात्रा को दर्शाता है जो उपभोक्ता वस्तु X के ΔX के बदले में त्यागने को तैयार होता है और जिससे उसकी सन्तुष्टि समान रहती है। अतः स्पष्ट

6

पूरक तथा स्थानापन्न पदार्थों की मांग

(DEMAND FOR COMPLEMENTARY AND SUBSTITUTE GOODS)

पूरक एवं स्थानापन्न पदार्थों की एजवर्थ-परेटो द्वारा दी गयी परिभाषा

मार्शल ने अपने माँग-विश्लेषण में कहीं भी पूरक एवं स्थानापन्न पदार्थों की परिभाषा नहीं दी। किंतु मार्शल से पूर्व एजवर्थ (Edgeworth) तथा परेटो (Pareto) नामक अर्थशास्त्रियों ने पूरक एवं स्थानापन्न पदार्थों की परिभाषा सीमान्त उपयोगिता की सहायता से की थी। एजवर्थ-परेटो की परिभाषा के अनुसार, "यदि X वस्तु की पूर्ति बढ़ जाने पर (जबकि Y स्थिर रहे) Y वस्तु की सीमान्त उपयोगिता में वृद्धि हो जाय, तो उपभोक्ता के बजट में Y वस्तु, X वस्तु की पूरक है, यदि X वस्तु की पूर्ति बढ़ जाने पर (जबकि X स्थिर रहे) Y वस्तु की सीमान्त उपयोगिता कम हो जाय, तो Y वस्तु, X वस्तु की प्रतिस्पर्धी है (अथवा X के लिए स्थानापन्न है)।" [Y is complementary with X in the consumer's budget if an increase in the supply of X (Y constant) raises the marginal utility of Y, Y is competitive with X (or is a substitute for X) if an increase in the supply of X (Y constant) lowers the marginal utility of Y."[1]]

एजवर्थ-परेटो की उपरोक्त परिभाषा के अनुसार पूरक एवं स्थानापन्न सम्बन्ध उत्क्रमणीय (Reversible) होते हैं, अर्थात् यदि Y वस्तु X वस्तु की पूरक है तो X वस्तु भी Y वस्तु की पूरक होगी, और यदि Y वस्तु X की स्थानापन्न है तो X भी Y की स्थानापन्न होगी। दूसरे, यह यदि मान लिया जाय कि मुद्रा

---

1 J. R. Hicks, *Value and Capital*, second edition 1946, p. 42

की सीमान्त उपयोगिता यथावत् है तो उपरोक्त परिभाषा से यह अभिप्राय निकलता है कि यदि X वस्तु के मूल्य में कमी हो जाने के फलस्वरूप X वस्तु की माँग में वृद्धि हो जाय यदि X और Y आपस में पूरक हैं तो इससे Y वस्तु की सीमान्त उपयोगिता में वृद्धि हो जायेगी और इस तरह अन्तत Y वस्तु की माँग में वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि X एवं Y वस्तुएँ एक दूसरे की स्थानापन्न हैं तो एजवर्थ परेटो की परिभाषा के अनुसार X वस्तु के मूल्य में कमी तथा उसके फलस्वरूप X की माँग में वृद्धि Y वस्तु की सीमान्त उपयोगिता को घटायेगी और इस प्रकार Y वस्तु की माँग में कमी उत्पन्न कर देगी। अत इससे यह स्पष्ट होता है कि एजवर्थ-परेटो ने इसी रूप में परस्पर निर्भर वस्तुओं—पूरक एवं स्थानापन्न वस्तुओं—की माँग की व्याख्या की है।

तथापि परेटो ने जब अनधिमान वक्रों के सन्दर्भ में पूरक एवं स्थानापन्न वस्तुओं की परिभाषा को व्यक्त करने का प्रयत्न किया तो उसे कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसका विचार था कि दो पूरक वस्तुओं के अनधिमान वक्र (उपरोक्त परिभाषा के अनुसार) अधिक कोण वाले होते हैं जैसा कि रेखाकृति
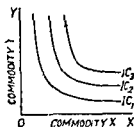
रेखाकृति 6 1 पूरक वस्तुएँ

6 1 में दर्शाया गया है, तथा दो स्थानापन्न वस्तुओं (उपरोक्त परिभाषा के अनुसार) से सम्बन्धित अनधिमान वक्र अधिक सपाट (very flat) होते हैं। (देखिये रेखाकृति 6 2)। इस तरह हम देखते हैं कि परेटो ने पूरक वस्तुओं तथा अधिक कोण वाली आकृति के अनधिमान वक्रों के बीच, और स्थानापन्न वस्तुओं एवं सपाट आकृति वाले अनधिमान वक्रों के बीच सादृश्य (Parallelism) स्पष्ट किया है। परन्तु एक ओर जहाँ कि इस परिभाषा से पूरक एवं स्थानापन्न वस्तुओं के बीच भेद स्पष्ट रूप में प्रकट हो जाता है वहीं दूसरी तरफ अनधिमान वक्रों के माध्यम से प्रदर्शित इन वस्तुओं के बीच भेद अस्पष्ट अनिश्चित एवं अयथार्थ है। इसका कारण यह है कि रेखाकृति 6 1 एवं 6 2 में दिये गये अनधिमान वक्रों के मध्य अन्तर किस्म का उतना नहीं है जितना कि श्रेणी का है। इन दोनों रेखाकृतियों में अन्तर केवल अनधिमान वक्रों की वक्रता (curvature) का है, रेखाकृति 6 1 के अनधिमान वक्रों की वक्रता रेखाकृति 6 2 के अनधिमान वक्रों की अपेक्षा अधिक है। इस सम्बन्ध में अब यह प्रश्न उठता है कि अनधिमान वक्रों की किस श्रेणी की वक्रता पूरक एवं स्थानापन्न वस्तुओं के बीच विभाजन-रेखा बनेगी। इसलिये परेटो की आलोचना करते हुए प्रो० हिक्स कहते है, इस प्रकार का सादृश्य (Parallelism) बिल्कुल ठीक नहीं है क्योंकि यह खोज करना
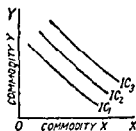
रेखाकृति 6 2 स्थानापन्न वस्तुएँ

असम्भव है कि अनधिमान वक्रों की किस श्रेणी की वक्रता पूरक एवं स्थानापन्न वस्तुओं के बीच के अन्तर के अनुरूप है—जो कि उपरोक्त परिभाषा के आधार पर पूर्णतया भिन्न-भिन्न होनी चाहिए" (The parallelism is not at all exact, as is made evident at once by the impossibility of discovering what degree of curvature of the indifference curves corresponds to the distinction between complementary and substitute goods—which ought, on the

above definition, to be perfectly clear cut distinction")[1]

इसके अतिरिक्त एजवर्थ-परेटो की पूरक एव स्थानापन्न वस्तुओ की उपरोक्त परिभाषा इस पूर्व-धारणा पर आधारित है कि उपयोगिता मापनीय है। परन्तु परेटो ने उपयोगिता को गणनावाचक (cardinal) रूप मे अमापनीय माना है। इस तरह से परेटो ने पूरक एव स्थानापन्न वस्तुओ की परिभाषा को मापनीय उपयोगिता के अर्थ मे देकर स्वय अपने ही विचारो का खण्डन किया। प्रो० हिक्स के शब्दों मे, "एजवर्थ-परेटो की परिभाषा स्वय परेटो के उपयोगिता अमापनीय सिद्धान्त के प्रति घात करती है। यदि उपयोगिता एक मात्रा नही है बल्कि केवल उपभोक्ता के अधिमान क्रम की सूचक है तो उसकी पूरक वस्तुओ की परिभाषा का कोई ठीक-ठीक अर्थ नही निकलता है। पूरक एव प्रतियोगी वस्तुओ के बीच भेद, उपयोगिता के लिए अपनाये गये मनमान माप के अनुसार भिन्न होगा।" ("Edgeworth-Pareto definition sins against Pareto's own principle of immeasurability of utility If utility is not a quantity, but only an index of the consumer's scale of preferences, his definition of complementary goods has no precise meaning The distinction between complementary and competitive goods will differ according to the arbitrary measure of utility which is adopted")[2]

पूरक एवं स्थानापन्न पदार्थ—हिक्स की व्याख्या

प्रो० हिक्स ने माँग के अनधिमान वक्र विश्लेषण, (जिसमे मूल्य प्रभाव को प्रतिस्थापन प्रभाव एव आय प्रभाव मे विभाजित किया गया है), की सहायता से पूरक एव स्थानापन्न वस्तुओ से सम्बन्धित व्याख्या अधिक सन्तोषप्रद ढग से प्रस्तुत की है। हिक्स के पूर्व पूरक एव स्थानापन्न वस्तुओ की व्याख्या सामान्यतया सम्पूर्ण 'कीमत प्रभाव" के अर्थ मे की जाती थी, (या अन्य शब्दो मे माँग की प्रति सापेक्षता (cross elasticity of demand) की धारणा से)। इस कुल 'कीमत-प्रभाव' रीति के अनुसार यदि X वस्तु के मूल्य मे कमी होती है, तथा इसके फलस्वरूप X वस्तु की माँग की मात्रा मे वृद्धि और Y वस्तु की माँग की मात्रा मे कमी होती है, तो ऐसी दशा मे Y वस्तु, X वस्तु की स्थानापन्न होगी। इसके विपरीत यदि X वस्तु के मूल्य मे कमी के फलस्वरूप X वस्तु की माँग की मात्रा मे वृद्धि के साथ Y वस्तु का माँग भी बढ जाती है, तो Y, वस्तु X की पूरक होगी।

अब, प्रो० हिक्स के अनुसार, यदि आय-प्रभाव पर विचार करें, तो X वस्तु के मूल्य मे यदि कमी होती है, तो Y वस्तु की माँग की मात्रा मे वृद्धि हो सकती है, फिर भी Y वस्तु X की पूरक या स्थानापन्न वस्तु हो सकती है। (क्योकि X के मूल्य मे कमी उपभोक्ता की आय को बढाती है, और पिछले अध्यायो मे आप पढ चुके हैं कि यदि वस्तु निम्न पदार्थ (inferior good) नही है तो आय प्रभाव धनात्मक होता है।)

यह तब होता है जब कि X वस्तु के मूल्य मे कमी का "आय-प्रभाव" इतना अधिक प्रबल होता है कि वह प्रतिस्थापन प्रभाव को भी समाप्त कर देता है। X वस्तु के मूल्य मे कमी के 'आय-प्रभाव' की प्रवृत्ति Y वस्तु की माँग को बढाने की होती है (X की माँग भी बढती है), एव X वस्तु के मूल्य मे कमी का 'प्रतिस्थापन-प्रभाव' X वस्तु के पक्ष मे, (अर्थात् X वस्तु की माँग मे वृद्धि की प्रवृत्ति रखना है) तथा Y वस्तु के विरुद्ध क्रियाशील रहता है (अर्थात् Y वस्तु की माँग मे कमी करने की प्रवृत्ति रखता है)। जब यह 'आय प्रभाव' Y वस्तु के लिए प्रतिस्थापन प्रभाव की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है, तो दोनो वस्तुओं के स्थानापन्न होने पर भी, X वस्तु के मूल्य मे कमी के फलस्वरूप Y की माँग मे वृद्धि होती है। अन्त जब आय-प्रभाव इतना प्रबल होता है कि वह Y वस्तु, जो कि X-वस्तु के मूल्य मे कमी के कारण सापेक्ष रूप से महँगी हो गयी है, के प्रतिस्थापन प्रभाव से अधिक

1 J R Hicks, *op cit* p 42
2 *Op cit*, p 43

है तो X वस्तु के मूल्य मे कमी से X तथा Y दोनो वस्तुओ की खरीदी गयी मात्रा मे वृद्धि होगी। ऐसी स्थिति मे यदि कुल कीमत प्रभाव को लिया जाय तो इसके आधार पर इन वस्तुओ को पूरक वस्तुएँ कहा जायगा, जब कि वास्तव मे ये स्थानापन्न होती हैं। हिक्स के अनुसार, केवल 'प्रतिस्थापन प्रभाव' या 'अधिमान-फलन' के आधार पर ही वस्तुओ का पूरक या स्थानापन्न वस्तु की श्रेणी मे वर्गीकरण अधिक सही रूप मे किया जा सकता है। इस तरह हिक्स की राय मे हम पूरक एव स्थानापन्न वस्तुओ की सही एव ठीक-ठीक परिभाषा तभी दे सकते हैं जब कि आय म क्षतिपूरक परिवर्तन करके, मूल्य परिवर्तन का 'आय-प्रभाव' अलग कर दें। इस प्रकार जब मूल्य म परिवर्तन के साथ आय मे भी क्षतिपूरक परिवर्तन कर दिया जाता है, तो जो प्रभाव शेष बचता है, वह प्रतिस्थापन-प्रभाव है।

चूँकि अनाधिमान वक्र विश्लेषण 'कीमत प्रभाव' को आय प्रभाव एव प्रतिस्थापन प्रभाव मे विभाजित करता है अत यह 'पूरकता' एव 'प्रतिस्थापन' के सम्बन्धो के विश्लेषण मे अत्यधिक सहायक हो सकता है। X तथा Y दो वस्तुओ को लीजिए, यदि Y वस्तु की कीमत के यथावत् रहने पर X वस्तु की कीमत म कमी हो जाय, तो X वस्तु की माँग मे 'आय-प्रभाव' एव 'प्रतिस्थापन प्रभाव' के कारण वृद्धि होगी (हम मान लेते हैं कि X वस्तु 'निकृष्ट' अथवा 'हीन वस्तु' नहीं है)। अब यदि आय मे क्षतिपूरक परिवर्तन के द्वारा उपभोक्ता की आय इतनी कम कर दी जाय कि X वस्तु के मूल्य मे कमी के बाद उसकी स्थिति पूर्व की अपेक्षा न अच्छी हो और न खराब, तो X वस्तु की माँग की मात्रा मे वृद्धि तथा Y वस्तु की माँग की मात्रा में कमी होगी। ऐसी स्थिति मे यह कहा जा सकता है कि 'Y वस्तु', 'X' की स्थानापन्न वस्तु है। इस दशा मे X वस्तु के मूल्य मे सापेक्ष कमी से X वस्तु को Y वस्तु के लिए प्रतिस्थापित किया जाता है। साथ ही आय मे क्षतिपूरक परिवर्तन के कारण उपभोक्ता की सतुष्टि का स्तर पहले के समान ही रहता है।

अब यदि X वस्तु के मूल्य में कमी होती है तथा आय म क्षतिपूरक परिवर्तन के उपरान्त Y वस्तु की माँग म प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण वृद्धि और साथ ही X वस्तु की माँग म भी वृद्धि हो जाती है तो 'Y' वस्तु 'X' वस्तु की पूरक है। अत पूरक वस्तुओ की इस दशा म दोनो वस्तुओ की खरीदी गयी मात्रा म वृद्धि होती है, और दोना वस्तुएँ किसी अन्य वस्तु को प्रतिस्थापित करती हैं। चूँकि आय म क्षतिपूरक परिवर्तन कर दिया गया है अत उपभोक्ता पहल से अच्छी स्थिति म नहीं है, और इसी कारण दोना पूरक वस्तुओ की खरीदी गयी मात्राओ म वृद्धि केवल प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण हुई है। उपरोक्त विश्लेषण को ध्यान म रखते हुए प्रो॰ हिक्स 'पूरक' एव 'स्थानापन्न' वस्तुओ की परिभाषा निम्न प्रकार देते हैं।

"यदि X वस्तु के मूल्य मे कमी होने से Y वस्तु के उपभोग मे भी कमी हो जाय तो मैं कहूँगा कि Y वस्तु, X की स्थानापन्न है, यदि X वस्तु के मूल्य मे कमी Y वस्तु के उपभोग मे वृद्धि करती है तो Y वस्तु, X की पूरक है। इन दोनो दशाओ मे आय मे क्षतिपूरक परिवर्तन किया जाता है। अत X वस्तु के मूल्य मे कमी के साथ-साथ आय म क्षतिपूरक परिवर्तन कर दिया जाय, तो इसकी प्रवृत्ति निश्चित रूप से X वस्तु के उपभोग मे वृद्धि करने की होगी (प्रथम प्रतिस्थापन प्रमेय द्वारा) तथा साथ ही पूरक वस्तुओ के उपभोग मे भी वृद्धि होगी किन्तु स्थानापन्न वस्तुओं के उपभोग म कमी होने की प्रवृत्ति होगी।" [I shall say Y is a substitute of X, if a fall in the price of X leads to a fall in the consumption of Y; Y is a complement of X if a fall in the price of X leads to a rise in the consumption of Y, a compensating variation in income being made of course in each case Thus a fall in the price of X, combined with a compensated variation in income which must tend to increase the consumption of X itself (by the first substitution Theorem) will increase the consumption

of compliments but diminish the consumption of substitutes "][1]

ऊपर हमने यह देखा है कि 'प्रतिस्थापन' एव 'पूरकता' के सम्बन्धो का स्वरूप मूलत प्रतिस्थापन प्रभाव पर निर्भर होता है। यदि उपभोक्ता को अपनी कुल मौद्रिक आय को केवल दो वस्तुओ पर ही व्यय करना हो, तो प्रतिस्थापन प्रभाव का निर्धारण काफी सरल हो जाता है। हम जानते है कि X वस्तु के मूल्य मे कमी सदैव X वस्तु का अन्य वस्तुओ के स्थान पर प्रतिस्थापन सभव बनाती है, और यदि बाजार मे Y ही एक मात्र अन्य उपलब्ध वस्तु है, तो X वस्तु के मूल्य मे कमी का प्रतिस्थापन प्रभाव निश्चित रूप से Y की माग की मात्रा को कम कर देगा। किन्तु जब दो से अधिक वस्तुएँ बाजार मे उपलब्ध होती है, तो X वस्तु के मूल्य मे कमी से Y की माँग मे भी कमी हो, यह आवश्यक नही है। वास्तविक तथ्य यह है कि यदि X और Y परस्पर पूरक है तो Y की खरीदी गयी मात्रा बढ़ जाएगी। इस दशा मे X और Y दोनो वस्तुएँ किन्ही अन्य वस्तुओ के स्थान पर प्रतिस्थापित की जाएंगी।

उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थानापन्न एव पूरक वस्तुओ की सही परिभाषा एव विश्लेषण के लिये कम से कम तीन वस्तुओ का होना जरूरी है। यही कारण है कि प्रो० जे० आर० हिक्स अपनी पुस्तक '*Value and Capital*' मे इन वस्तुओ की परिभाषा तीन वस्तुओ X, Y तथा मुद्रा को लेकर सीमात प्रतिस्थापन की धारणा के सन्दर्भ मे करते है। यह याद रखना चाहिए कि मुद्रा अन्य सभी वस्तुओ का सम्मिलित रूप है और इसे 'सयुक्त वस्तु' (composite commodity) कहा जाता है। हिक्स ने अपनी पुस्तक '*Value and Capital*' मे स्थानापन्न एव पूरक वस्तुओ को निम्न प्रकार परिभाषित किया है—

"यदि Y की मुद्रा के लिये प्रतिस्थापन की सीमात दर उस समय कम हो जाती है जब X को मुद्रा के स्थान पर इस तरह प्रतिस्थापित किया जाता है कि उपभोक्ता पूर्व की अपेक्षा श्रेष्ठतर स्थिति मे न रहे तो Y, वस्तु X की स्थानापन्न है।"

"यदि Y की मुद्रा के लिये प्रतिस्थापन की सीमात दर उस समय बढ़ जाती है, जब मुद्रा के लिए X वस्तु का प्रतिस्थापन इस तरह किया जाता है कि उपभोक्ता पहले से श्रेष्ठतर स्थिति मे न हो तो Y, वस्तु X की पूरक है।" ["Y is a substitute for X if the marginal rate of substitution of Y for money is diminished when X is substituted for money in such a way as to leave the consumer no better off than before"

"Y is complementary with X if the marginal rate of substitution of Y for money is increased when X is substituted for money in such a way as to leave the consumer no better off than before"][2]

उपरोक्त परिभाषाओ को समझने के लिये हम यह मान लें कि उपभोक्ता वस्तु X, Y एवं मुद्रा के बीच सतुलन की स्थिति मे है, जिससे इनके बीच प्रतिस्थापन की सीमात दर उनके सम्बन्धित मूल्यो के बराबर है। मान लीजिए X वस्तु के मूल्यो मे कमी हो जाती है, तथा Y वस्तु एव मुद्रा का मूल्य यथावत् रहता है (मुद्रा का मूल्य=unity)। X वस्तु के मूल्य मे कमी से उपभोक्ता मुद्रा के स्थान पर X को प्रतिस्थापित करेगा, जिसके फलस्वरूप X वस्तु की मात्रा बढ़ेगी और मुद्रा की मात्रा घटती जायेगी क्योकि X वस्तु को मुद्रा के लिये प्रतिस्थापित किया जाता है। इसका परिणाम यह होगा कि Y वस्तु के मूल्य यथावत् रहने पर, Y वस्तु एव मुद्रा के बीच प्रतिस्थापन की सीमात दरो की समानता मे गड़बड़ी उत्पन्न होगी। यदि इससे मुद्रा के लिए Y वस्तु की सीमात प्रतिस्थापन की दर मे कमी हो जाती है, तो निश्चय ही उपभोक्ता Y वस्तु के उपभोग को कम कर देगा (अर्थात् वह Y के स्थान पर या तो X वस्तु को या मुद्रा को प्रतिस्था

1 J R Hicks, *A Revision of Demand Theory*, Oxford University Press, 1956 p. 128

2 *op cit*, p 44

पित करेगा) जिससे उपभोक्ता की मुद्रा के लिये Y की प्रतिस्थापन की सीमांत दर उस स्तर तक ऊँची उठ जाय, जहाँ वह Y वस्तु एवं मुद्रा के बीच पहले के अपरिवर्तित मूल्य अनुपात में थी। अतः इस स्थिति में Y वस्तु, X की स्थानापन्न होगी, क्योंकि X वस्तु के मूल्य में कमी तथा फलस्वरूप X की माँग में वृद्धि से Y वस्तु की मात्रा में कमी आ जाती है।

दूसरी ओर यदि X वस्तु के मूल्य में कमी हो जाती है और उपभोक्ता X वस्तु को मुद्रा के स्थान पर प्रतिस्थापित करता है, और इसके फलस्वरूप मुद्रा की Y के लिये प्रतिस्थापन की सीमांत दर बढ़ जाती है, तो उपभोक्ता Y के उपभोग में वृद्धि करेगा (यहाँ वह Y को मुद्रा के लिए प्रतिस्थापित करेगा) जिससे उपभोक्ता की मुद्रा के लिये Y की प्रतिस्थापन की सीमांत दर घटकर मुद्रा एवं Y वस्तु के बीच अपरिवर्तित कीमत अनुपात के स्तर पर आ जाएगी। अतः इस दशा में Y वस्तु, X की पूरक होगी, क्योंकि X वस्तु के मूल्य में कमी तथा इसके फलस्वरूप X की मांग में वृद्धि से Y वस्तु की माँग भी बढ़ जाती है।
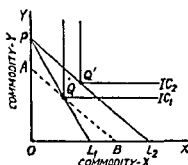
रेखाकृति 6.3

इस तरह हम देखते हैं कि जहाँ "स्थानापन्न वस्तुओं" से सम्बन्धित विश्लेषण को दो अक्ष वाले अनधिमान वक्र की रेखाकृति द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है, वहीं पूरक वस्तुओं को दो अक्ष वाले रेखाचित्र पर नहीं बताया जा सकता, क्योंकि दो पूरक वस्तुओं के बीच सम्बन्ध का विश्लेषण करने में कम से कम एक ऐसी अन्य वस्तु को भी रखना होगा जिसके स्थान पर दो पूरक वस्तुओं का प्रतिस्थापन होता है। इसलिए दो अक्षों वाली अनधिमान वक्र रेखाकृति पर पूरक वस्तुओं को नहीं दर्शाया जा सकता। अनधिमान वक्र विश्लेषण में दो पूरक वस्तुओं की दशा की व्याख्या समकोण वाले अनधिमान वक्रों के द्वारा ही की जा सकती है। इसका अर्थ यह होता है कि ये दोनों वस्तुएँ हमेशा एक निश्चित अनुपात में ही उपभोग में लायी जाती हैं। फिर भी समकोण वाले अनधिमान वक्र पूरक वस्तुओं की सही प्रकृति को प्रकट करने में असमर्थ होते हैं। जब एक पूरक वस्तु के मूल्य में गिरावट आती है, और आय में क्षतिपूरक परिवर्तन कर दिया जाता है, तो दोनों पूरक वस्तुओं की मात्राएँ यथावत् रहती हैं। अर्थात् उनके बीच प्रतिस्थापन प्रभाव शून्य रहता है रेखाकृति 6.3 में देखिये, X वस्तु के मूल्य में कमी होने से मूल्य रेखा PL_1 से बदल कर PL_2 हो जाती है और उपभोक्ता संतुलन-बिंदु Q को त्याग कर Q' पर आ जाता है। उपभोक्ता की आय में क्षतिपूरक परिवर्तन लाने के लिए AB रेखा खींची गयी है (PA, Y वस्तु के रूप में आय का क्षतिपूरक परिवर्तन है) रेखाचित्र में यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि मूल्य रेखा AB अनधिमान वक्र IC_1 को उसी Q बिंदु पर स्पर्श करती है जहाँ पर X वस्तु के मूल्य में कमी होने के पूर्व उपभोक्ता सन्तुलन में था। अतः इसमें प्रतिस्थापन प्रभाव शून्य है।

किन्तु जैसा कि हमने ऊपर की व्याख्या में देखा है, दो पूरक वस्तुओं की दशा में, न केवल उनके बीच प्रतिस्थापन प्रभाव शून्य होता है बल्कि जब आय में क्षतिपूरक कमी के पश्चात् एक वस्तु की खरीदी गयी मात्रा में वृद्धि होती है, तो दूसरी वस्तु की खरीदी गयी मात्रा बढ़ भी जाती है और ये दोनों वस्तुएं किसी अन्य वस्तु का प्रतिस्थापन करती हैं। इसके अलावा उपभोक्ता को दो स्थितियों के बीच उदासीन या तटस्थ रहने के लिए यह आवश्यक है कि जब, दो पूरक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु की आय में क्षतिपूरक कमी के फलस्वरूप, दोनों की खरीदी गयी मात्रा में वृद्धि होती है, तो किसी अन्य वस्तु की

खरीदी गयी मात्रा मे कमी अवश्य हो। यही वह वस्तु है जिसके स्थान पर दोनो पूरक वस्तुओ का प्रतिस्थापन होता है। इसलिये पूरकता की दशा केवल उस समय ही उत्पन्न हो सकती है जबकि दो से अधिक वस्तुएँ उपलब्ध हो अर्थात् कम से-कम तीन वस्तुएँ होनी चाहिए जिनमे से दो पूरक एव एक उन दोनो की स्थानापन्न हो।

उपरोक्त विश्लेषण का तात्पर्य यह निकलता है कि प्रतिस्थापन की दशा की उत्पत्ति दो ही वस्तुओ के बीच सम्भव है, परन्तु पूरक वस्तुएँ इस तरह की दशा मे नही हो सकती। यदि उपभोक्ता को अपनी आय को दो वस्तुओ पर ही खर्च करना है तो प्रतिस्थापन प्रभाव सदैव उस वस्तु के, जिसका मूल्य घटता है, पक्ष मे तथा दूसरी वस्तु के विपक्ष मे क्रियाशील रहता है (अर्थात यह एक वस्तु की खरीदी गयी मात्रा मे वृद्धि तथा दूसरी वस्तु की मात्रा मे कमी करने की ओर प्रवृत्त रहता है)। अतएव जिन वस्तुओ पर उपभोक्ता अपनी आय खर्च करता है, यदि उनकी सख्या केवल दो है, तो व दोनो वस्तुएँ अवश्य ही स्थानापन्न वस्तुएँ होगी। इस प्रकार पूरकता की स्थिति तभी उत्पन्न होगी, जब कम से कम तीन वस्तुएँ हो। जे० आर० हिक्स के अनुसार उपभोक्ता यदि अपनी आय को दो वस्तुओ को खरीदने मे ही विभाजित करता है और इन दो वस्तुओ के अतिरिक्त कदाचित् अन्य कोई वस्तु क्रय नही करता तो इन दो वस्तुओ के बीच प्रतिस्थापन सम्बन्ध के अतिरिक्त अन्य सम्बन्ध हो ही नही सकता, क्योकि उनम से एक की अधिक मात्रा लेकर भी यदि वह पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर नही हो पाता, तो उसे दूसरी वस्तु की कम ही मात्रा लेनी पड़ेगी। परन्तु जब वह अपनी आय को दो से अधिक वस्तुओ पर विभाजित करता है तो अन्य प्रकार के सम्बन्धो की भी सम्भावना हो सकती है।"[1]

1 J R Hicks, *Value and Capital*, p 46-47

इसी प्रकार प्रो० जे० आर० हिक्स ने अपनी पुस्तक *A Revision of Demand Theory*" मे भी लिखा है

'यदि आय केवल दो वस्तुओ पर ही खर्च की जाती है तो यह असम्भव है कि ये दोनो वस्तुएँ पूरक हो। चूँकि X वस्तु के मूल्य मे कमी से X के उपभोग मे वृद्धि की प्रवृत्ति होगी (प्रथम प्रतिस्थापन प्रमेय के द्वारा), यदि इससे Y का उपभोग भी बढ जाता है, एव साथ ही उपभोक्ता के बजट मे अन्य कोई वस्तु नही है, तो वह ऐसी स्थिति मे पहुँचा जायेगा जहाँ उसके पास Y-वस्तु की मात्रा पहले से अधिक होगी, जबकि X-वस्तु की मात्रा पहले की अपेक्षा कम नही हुई होगी। सगति के सिद्धान्त (Consistency Theory) के अनुसार यह स्थिति उपभोक्ता की पूर्व की स्थिति के प्रति तटस्थता की नही हो सकती। अत दो वस्तुओ की दशा मे दोनो वस्तुओ के बीच सम्बन्ध निश्चय ही प्रतिस्थापन का होगा, एक क्षतिपूरित कीमत परिवर्तन, यदि इसका कुछ भी प्रभाव है, तो यह निश्चित रूप से एक वस्तु के अधिक उपभोग एव दूसरी वस्तु की कम मात्रा मे उपभोग को प्रोत्साहित करेगा।" ("If income is being spent upon two goods only, *it is impossible that these two goods* should be complements For a fall in the price of X must tend to increase the consumption of X (by the first substitution theorem), if it increases the consumption of Y and there are no other goods in the budget, the consumer will have moved to a position in which case he has more Y and no less X by the consistency theory this cannot be indifferent with his initial position Thus in the two goods case, the relation between the two goods must be that of substitution, a compensated price change, if it has any effect at all, must lead to more consumption of one good and less of the other ")[2]

2 J R Hicks, *A Revision of Demand Theory*, p 129

स्थानापत्ति (Substitutability) के सम्बन्धों के बारे में ध्यान देने योग्य एक विशेष बात यह है कि उपभोक्ता के बजट में सम्मिलित सभी वस्तुएँ एक दूसरे की स्थानापन्न हो सकती हैं, परन्तु सभी एक दूसरे की पूरक नहीं हो सकतीं। मान लीजिए कि X वस्तु के मूल्य में कमी होती है, तथा आय प्रभाव को समाप्त करने के लिए, आय में क्षतिपूरक परिवर्तन करके उपभोक्ता की मौद्रिक आय में कमी कर दी गयी है। इस क्षतिपूरित कीमत में कमी के परिणामस्वरूप उपभोक्ता द्वारा खरीदी गयी X वस्तु की मात्रा में वृद्धि होगी, एवं किन्हीं अन्य वस्तुओं की खरीदी गयी मात्रा में ह्रास होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि X वस्तु का प्रतिस्थापन किन्हीं अन्य पदार्थों के लिए होगा। ये 'कुछ अन्य पदार्थ' जिनका उपभोग X वस्तु की क्षतिपूरित कीमत में कमी के कारण घट जाता है, X वस्तु के स्थानापन्न पदार्थ है। सम्भावना वैसे इस बात की भी रहती है कि X वस्तु की इस क्षतिपूरित कीमत में कमी के कारण कुछ अन्य वस्तुओं की खरीदी गयी मात्रा में वृद्धि हो जाय। ऐसी वस्तुएँ X वस्तु की पूरक होती हैं। जबकि यह सम्भव है कि अन्य सभी वस्तुएँ X की स्थानापन्न हो सकती हैं, लेकिन अन्य सभी वस्तुएँ X वस्तु की पूरक नहीं हो सकतीं क्योंकि उपलब्ध अन्य सभी वस्तुओं में से कम-से-कम एक वस्तु तो ऐसी अवश्य होनी चाहिए जिसके लिए X वस्तु का प्रतिस्थापन किया जाएगा। पुन हिक्स के ही शब्दों में, 'यह अभी भी सम्भव है कि 'अन्य सभी वस्तुएँ' इनमें से एक (मान लीजिए X) की स्थानापन्न है। X वस्तु की पूर्ति बढ़ने पर यह तभी घटित होगा जब अन्य वस्तुओं की मात्राओं में कमी करनी पड़े। X के अनुकूल प्रतिस्थापन यहाँ पर, प्रत्येक वस्तु को पृथक पृथक लेने पर, उनके प्रतिकूल प्रतिस्थापन है। परन्तु इससे कुछ अन्य वस्तुओं—जो X की पूरक है—में वृद्धि अवश्य हो जाना सम्भव है। स्पष्टत उपभोग की जाने वाली सभी वस्तुएँ X की पूरक नहीं हो सकती, क्योंकि यह नहीं हो सकता कि उपभोक्ता सभी वस्तुओं की अधिक मात्रा भी प्राप्त करे, और पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर भी न हो।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि वस्तुओं में एक समूह में पूरकता केवल उसी हालत में सम्भव है, जबकि पूरक वस्तुओं के समूह से अलग कम से कम एक वस्तु ऐसी अवश्य हो जिसके बदले पूरक समूह के पक्ष में प्रतिस्थापन सम्भव हो सके। दूसरे शब्दों में उपभोक्ता के बजट में प्रदर्शित वस्तुओं में से कम से कम एक वस्तु उनकी स्थानापन्न अवश्य हो, जबकि अन्य सभी एक दूसरे की पूरक हो सकती है। पूरकता की यही अधिकतम सभव चरम सीमा है। दूसरी चरम सीमा वह होगी जहाँ कोई भी पूरक वस्तु उपस्थित न हो, अर्थात् सभी वस्तुएँ एक दूसरे की स्थानापन्न हों। प्रो० स्टोनियर एवं हेग के अनुसार, "जब कई वस्तुएं (N) होती हैं, तो उनमें से कम से कम एक वस्तु तो अवश्य हमारी चर्चा की वस्तु की प्रतियोगी होनी चाहिए। लेकिन इस बात की भी कल्पना की जा सकती है कि शेष समस्त N-2 वस्तुएँ इसकी पूरक हों यद्यपि ऐसा शायद ही कहीं होता है। इसके विपरीत वास्तव में N पदार्थों के समूह में से $N—1$ पदार्थ शेष एक पदार्थ के प्रतियोगी हो सकते है।"[2]

---

1 *Op cit* p 47 यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'पहले से श्रेष्ठतर स्थिति में न होना' अथवा दूसरे शब्दों में 'सन्तुष्टि अथवा वास्तविक आय का यथास्थिर स्तर' पूरकता एवं प्रतिस्थापन के सम्बन्धों को ज्ञात करने के लिए आवश्यक है। जैसा कि ऊपर बताया गया है ये सम्बन्ध केवल प्रतिस्थापन प्रभाव के सम्बन्ध द्वारा ही तय किये जाते है तथा वह भी उपभोक्ता की आय में क्षतिपूरक परिवर्तन के द्वारा 'आय-प्रभाव' को पृथक् करने के बाद हो। हिक्स के प्रतिस्थापन प्रभाव के अन्तर्गत, जैसा कि पहले बताया गया है, उपभोक्ता की सन्तुष्टि पूर्ववत् ही रहती है। अर्थात् वह न तो पहले से श्रेष्ठतर होता है और न खराब स्थिति में।

2 Stonier and Hague, *A Textbook of Economic Theory*, 4th edition, 1973, p 100

7

मार्शल का तुष्टिगुण विश्लेषण बनाम अनधिमान वक्र विश्लेषण

(MARSHALLIAN UTILITY ANALYSIS VS. INDIFFERENCE CURVE ANALYSIS)

अनधिमान वक्र विश्लेषण तथा मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण में समानता

(Similarity between Indifference Curve Analysis and Marshallian Utility Analysis)

अब हम इस स्थिति में है कि मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण की तुलना अनधिमान वक्र विश्लेषण से कर सकते है। डेनिस रॉबर्टसन (Dennis Robertson), डब्ल्यू० ई० आर्मस्ट्रांग (W E Armstrong), एफ० एच० नाईट (F H Knight) आदि-कुछ अर्थशास्त्रियो को छोडकर अब यह व्यापक विश्वास है कि मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण की तुलना मे अनधिमान वक्र विश्लेषण नि सदेह श्रेष्ठ है। यह कहा गया है कि मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण मे मान्यताएँ अधिक है और यह कम बातो की 'व्याख्या' करता है। इसके विपरीत अनधिमान वक्र विश्लेषण मे कम और वास्तविक मान्यताओ के आधार पर अधिक व्याख्या की गई है। यद्यपि उपभोक्ता की माँग का अध्ययन करने के लिए ये दोनो विश्लेषण एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न है परन्तु फिर भी इनमे कुछ समान बातें है जिनका वर्णन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

1. दोनो विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित हैं कि उपभोक्ता तर्कपूर्ण है तथा वह तुष्टिगुण या सन्तुष्टि को अधिकतम करना चाहता है। अनधिमान वक्र विश्लेषण की यह मान्यता कि उपभोक्ता उच्चतम अनधिमान वक्र पर पहुँच कर सन्तुष्टि के अधिकतम स्तर को प्राप्त करना चाहता है, मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण की इस मान्यता के समान है कि उपभोक्ता अधिकतम तुष्टिगुण प्राप्त करना चाहता है।

2 मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण मे उपभोक्ता के सन्तुलन की शर्त यह है कि विभिन्न वस्तुओ के सीमान्त तुष्टिगुण कीमतो के समानुपाती हैं। अन्य शब्दो मे, एक उपभोक्ता तब सन्तुलन मे होता है जबकि वह अपनी मौद्रिक आय को विभिन्न वस्तुओ पर इस प्रकार व्यय करता है कि—

$$\frac{\text{वस्तु } X \text{ का सीमान्त तुष्टिगुण } (MU)}{\text{वस्तु } X \text{ की कीमत}}$$

$$= \frac{\text{वस्तु } Y \text{ का सीमांत तुष्टिगुण } (MU)}{\text{वस्तु } Y \text{ की कीमत}}$$

तथा इसी प्रकार

अनधिमान वक्र विश्लेषण के अनुसार उपभोक्ता तब सन्तुलन में होता है जबकि दो वस्तुओं के मध्य प्रतिस्थापन की सीमांत दर उनकी कीमतों में अनुपात के बराबर हो अर्थात् निम्न शर्त की पूर्ति होती हो

$$MRS_{xy} = \frac{\text{वस्तु } X \text{ की कीमत}}{\text{वस्तु } Y \text{ की कीमत}}$$

सीमांत प्रतिस्थापन दर व कीमत अनुपातों की समानता मार्शल के विश्लेषण की इस शर्त के बराबर है कि सीमान्त तुष्टिगुण उनकी कीमतों के समानुपातिक है। इसको निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :

अनधिमान वक्रों में सन्तुलन,

वस्तु X की वस्तु Y के लिए प्रतिस्थापन की सीमांत

$$\text{दर } (MRS_{xy}) = \frac{\text{वस्तु } X \text{ की कीमत}}{\text{वस्तु } Y \text{ की कीमत}} \qquad (i)$$

परन्तु हिक्स ने वस्तु X की वस्तु Y के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) की परिभाषा दो वस्तुओं के बीच सीमांत तुष्टिगुणों के अनुपातों के रूप में की।

अतः

वस्तु X की वस्तु Y के लिए $MRS =$

$$\frac{\text{वस्तु } X \text{ की } MU}{\text{वस्तु } Y \text{ की } MU} \qquad (ii)$$

यहाँ MU वस्तुओं के सीमांत तुष्टिगुण का द्योतक है।

(i) तथा (ii) से निम्न सूत्र निकलता है

$$\frac{\text{वस्तु } X \text{ की } MU}{\text{वस्तु } Y \text{ की } MU} = \frac{\text{वस्तु } X \text{ की कीमत}}{\text{वस्तु } Y \text{ की कीमत}}$$

इसको निम्न प्रकार भी लिखा जा सकता है

$$\frac{X \text{ की } MU}{X \text{ की कीमत}} = \frac{Y \text{ की } MU}{Y \text{ की कीमत}} \qquad (iii)$$

यह स्पष्ट है कि स्थिति (iii) मार्शल द्वारा प्रतिपादित उपभोक्ता सन्तुलन की समानुपातिकता शर्त ही है।

3 दोनों प्रकार के विश्लेषणों में तीसरी समानता यह है कि दोनों में, किसी न किसी रूप में, ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण (diminishing marginal utility) की कल्पना की गई है। हिक्स के अनधिमान वक्र विश्लेषण में अनधिमान वक्रों को उद्गम के उन्नतोदर (convex to the origin) माना गया है। अनधिमान वक्रों की उन्नतोदरता का अभिप्राय यह है कि जब वस्तु X की अधिकाधिक इकाइयों का प्रतिस्थापन वस्तु Y से किया जाता है तो X की Y के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर गिरती जाती है। ह्रासमान सीमान्त प्रतिस्थापन दर का सिद्धांत मार्शल द्वारा प्रतिपादित ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण नियम के समरूप ही है।

4 दोनों दृष्टिकोणों में एक अन्य समानता यह है कि दोनों में मनोवैज्ञानिक अथवा अन्तर्विश्लेषणात्मक (introspective) विधियों को अपनाया गया है। अन्तर्विश्लेषण विधि में, जैसा पहले देखा जा चुका है, हम अपने मस्तिष्क में प्रतिक्रिया के आधार पर उपभोक्ता की मनोवैज्ञानिक भावनाओं की कल्पना कर लेते हैं। मार्शल के विश्लेषण में, माँग के नियम की व्याख्या ह्रासमान तुष्टिगुण के मनोवैज्ञानिक नियम, जो कि अन्तर्विश्लेषण पर आधारित है, के आधार पर की जाती है। हिक्स-ऐलन अनधिमान पद्धति में, अनधिमान वक्र मनोवैज्ञानिक अन्तर्विश्लेषण की विधि द्वारा प्राप्त किए जाते हैं। यद्यपि कुछ अर्थशास्त्रियों ने उपभोक्ता व्यवहार से सम्बन्धित अवलोकित आँकड़ों के आधार पर अनधिमान वक्रों को बनाने का प्रयत्न किया है परन्तु उनको अधिक सफलता नहीं मिली है। जैसे कि स्थिति है, हिक्स ऐलन के अनधिमान विश्लेषण में, अनधिमान वक्रों को काल्पनिक परीक्षण के आधार पर प्राप्त किया जाता है। अतः अनधिमान वक्र विश्लेषण मूलतः मनोवैज्ञानिक तथा अन्तर्विश्लेषण की विधि पर आधारित है। "हिक्स-ऐलन की मूल अध्ययन विधि वही है जो मार्शल की सीमान्त तुष्टिगुण परिकल्पना में है, अर्थात् कहना चाहिए कि यह मुख्यतः अन्तर्विश्लेषण की है।"[1]

1 Tapas Majumdar, *Measurement of Utility*, p 10

अनधिमान वक्र विश्लेषण की श्रेष्ठता
(Superiority of Indifference Curves Analysis)

अब तक हमने दोनों प्रकार के विश्लेषणों की समानताओं का वर्णन किया है। अब हम दोनों के अन्तरों का वर्णन करेंगे और बताएँगे कि अनधिमान वक्र विश्लेषण किस प्रकार से मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण से श्रेष्ठ है।

1. गणनावाचक बनाम क्रमवाचक तुष्टिगुण (Cardinal Vs Ordinal Measurability of Utility)—सर्वप्रथम मार्शल ने तुष्टिगुण का गणनावाचक (Cardinal) माप सम्भव माना। अन्य शब्दों में, *उनका विश्वास था कि तुष्टिगुण, सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों में परिमाणात्मक रूप से मापनीय है।* इसके अनुसार एक उपभोक्ता जब एक वस्तु या कई वस्तुओं का उपभोग करता है तो वह विभिन्न वस्तुओं से प्राप्त तुष्टिगुणों को स्पष्ट गणनावाचक सख्याओं में वर्णित कर सकता है। इसके अतिरिक्त इन तुष्टिगुणों को उसी प्रकार से प्रयुक्त किया जा सकता है जिस प्रकार से भार, लम्बाइयों, ऊँचाइयों आदि को। अन्य शब्दों में, तुष्टिगुणों को मापा जा सकता है तथा उनकी तुलना की जा सकती है। मान लीजिए, उदाहरण के लिए, उपभोक्ता को वस्तु A की इकाई के उपभोग से जो तुष्टिगुण प्राप्त होता है वह 15 के समान है तथा वस्तु B से प्राप्त तुष्टिगुण 45 के समान। हम कह सकते हैं कि उपभोक्ता वस्तु A की तुलना में वस्तु B को तीन गुणा अधिक पसन्द करता है तथा दोनों वस्तुओं की एक-एक इकाई से प्राप्त तुष्टिगुण 60 के समान है। इसी प्रकार विभिन्न वस्तुओं से प्राप्त तुष्टिगुणों की तुलना की जा सकती है जिससे हम यह बता सकते हैं कि वस्तु A की तुलना में वस्तु B को दुगुना पसंद किया जाता है तथा C व D को एक समान।

आलोचकों के अनुसार, मार्शल की तुष्टिगुण की गणनावाचक मापनीयता की मान्यता बहुत अवास्तविक है, वह मानव मस्तिष्क से बहुत अधिक अपेक्षा करता है। उनका विचार है कि तुष्टिगुण एक मनोवैज्ञानिक भावना है और तुष्टिगुण को गणनावाचक सख्याओं में मापनीय मानना अव्यावहारिक है।

अनधिमान वक्र विश्लेषण के प्रवर्त्तकों के अनुसार तुष्टिगुण केवल क्रमवाचक (Ordinal) है गणनावाचक रूप से मापयोग्य नहीं। अन्य शब्दों में, अनधिमान वक्र विश्लेषण में '**तुष्टिगुण की क्रमवाचक रूप से मापनीयता**' (Ordinal measurement of utility) की कल्पना की गई है। इसके अनुसार उपभोक्ता के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसको विभिन्न वस्तुओं या वस्तुओं के सयोगों से जो तुष्टिगुण प्राप्त हो रहे हैं उनको निश्चित मात्राओं में व्यक्त करे बल्कि यह कल्पना कर ली जाती है कि वह विभिन्न *तुष्टिगुणों की तुलना कर सकता है। वह बता सकता है कि सन्तुष्टि का एक स्तर दूसरे स्तर के समान है कम है या अधिक है। वह यह नहीं बता सकता कि सन्तुष्टि का एक स्तर किसी दूसरे स्तर की तुलना में कितना कम या अधिक है।* यही कारण है कि अनधिमान वक्रों को प्रायः क्रमवाचक अंकों (Ordinal numbers) जैसे *I, II III, IV* आदि से दर्शाया जाता है जो कि सन्तुष्टि के उत्तरोत्तर उच्चतर स्तरों को बताते है। अनधिमान वक्र विश्लेषण के समर्थकों का कहना है कि उपभोक्ता व्यवहार की व्याख्या करने के उद्देश्य से तथा माँग सिद्धान्त की व्युत्पत्ति के लिए यह मान लेना पर्याप्त है कि उपभोक्ता अपने अधिमानों को सगति से क्रमबद्ध कर सकता है।

यह स्पष्ट है कि तुष्टिगुण की क्रम सख्यात्मक मापनीयता की मान्यता कम कठोर है तथा यह मार्शल की तुष्टिगुण की गणनावाचक मापनीयता की मान्यता की तुलना में अधिक व्यावहारिक है। इससे पता चलता है कि माँग का अनधिमान वक्र विश्लेषण जो कि क्रमवाचक तुष्टिगुण की मान्यता पर आधारित है मार्शल के गणनावाचक विश्लेषण से श्रेष्ठ है। अनधिमान वक्र विश्लेषण की श्रेष्ठता यह है कि यह केवल मार्शल के गणनावाचक सिद्धान्त जितनी ही व्याख्या नहीं करता परन्तु जहाँ तक माँग नियम का सम्बन्ध है उससे भी अधिक की व्याख्या करता है।

2 द्रव्य के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण सम्बन्धी मान्यता के बिना मांग का विश्लेषण (Analysis of Demand without the Assumption of Constant Marginal Utility of Money)--माँग की अनधिमान वक्र पद्धति की दूसरी महत्त्वपूर्ण श्रेष्ठता यह है कि मार्शल के समान यह उपभोक्ता के व्यवहार की व्याख्या करती है तथा मुद्रा की स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता (assumption) के बिना भी मांग नियम की व्युत्पत्ति करती है। अनधिमान वक्र विश्लेषण में मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण को स्थिर मानना आवश्यक नहीं है। जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है, मार्शल ने यह माना था कि जब किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन होता है तो मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण स्थिर रहता है। यह भी गत अध्याय में बता दिया गया था कि मुद्रा के स्थिर तुष्टिगुण की मान्यता पर आधारित मार्शल का मांग विश्लेषण स्वय-सगत (self consistent) नहीं है। अन्य शब्दों में, 'केवल एक वस्तु मॉडल को छोडकर, मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता का उल्लंघन किये बिना सीमान्त तुष्टिगुण परिकल्पना के आधार पर मार्शल के मांग सिद्धान्त को ठीक प्रकार से व्युत्पन्न नही किया जा सकता।'[1] इसका अर्थ है "जहाँ उपभोक्ता को एक से अधिक वस्तुओं पर व्यय करना होता है, वहाँ मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण की स्थिरता मांग सिद्धान्त के प्रमाण के साथ मेल नहीं खाती।'[2] मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण की इस कठिनाई को दूर करने के लिए यदि मुद्रा की स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता न ली जाय, तो मुद्रा का प्रयोग तुष्टिगुण के मापदण्ड के रूप में नहीं किया जा सकता तथा हम किसी वस्तु के सीमान्त तुष्टिगुण का माप द्रव्य की इकाइयों में नहीं कर सकते। इस प्रकार मार्शल का गणनावाचक तुष्टिगुण सिद्धान्त (Cardinal Utility Theory) अपने आप को कठिनाई में पाता है, यदि वह मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण की स्थिरता की मान्यता को बनाए रखता है, जैसा कि यह करता है तो इसमें स्वय-विरोध (contradiction) की स्थिति उत्पन्न होती है और यदि यह मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता को त्याग देता है तो वस्तुओं का तुष्टिगुण द्रव्य में मापा नहीं जा सकता और सम्पूर्ण विश्लेषण टूट जाता है। दूसरी ओर अनधिमान वक्र विश्लेषण, मुद्रा की स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण मान्यता के बिना क्रमवाचक तुष्टिगुण परिकल्पना के आधार पर मांग सिद्धान्त का व्युत्पादन कर सकता है। वास्तव में जैसा कि हम आगे देखेंगे, मुद्रा की स्थिर तुष्टिगुण मान्यता को त्याग देने के कारण अनधिमान वक्र विश्लेषण द्वारा एक अधिक *सामान्य (more general) मांग सिद्धान्त का प्रतिपादन* किया गया है।

3 कीमत प्रभाव को आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव में विभाजित करना (Breaking up Price Effect into Income and Substitution Effect)—अनधिमान वक्र विश्लेषण की श्रेष्ठता इस तथ्य से भी स्पष्ट होती है कि यह आय तथा प्रतिस्थापन प्रभावों में भेद करके वस्तु की कीमत में परिवर्तन के कारण मांग पर पड़ने वाले प्रभावों का विस्तार से अध्ययन करता है। अनधिमान पद्धति कीमत प्रभाव को दो भागों में विभक्त कर देती है—प्रतिस्थापन प्रभाव तथा आय प्रभाव। कीमत प्रभाव के प्रतिस्थापन व आय प्रभावों में भेद करने से कीमत में परिवर्तन के कारण वस्तु की माग में हुए परिवर्तनों को समझना सरल हो जाता है। वस्तु की कीमत में गिरावट होने पर इसकी माँग-मात्रा में वृद्धि दो कारणों से होती है। एक तो कीमत में कमी होने से व्यक्ति की वास्तविक आय में वृद्धि हो जाती है (आय प्रभाव) और, दूसरे, जिस वस्तु की कीमत गिर जाती है, वह अन्य वस्तुओं की तुलना में सस्ती हो जाती है और इसलिए उपभोक्ता अन्य वस्तुओं के स्थान पर इस वस्तु का प्रयोग करता है (प्रतिस्थापन प्रभाव)। अनधिमान वक्र पद्धति में आय

---

1 'The Marshallian demand theory cannot genuinely be derived from the marginal utility hypothesis except in one commodity model, without contradicting the assumption of constant marginal utility of money" Tapas Majumdar, *op cit* p 64

2 *Ibid* p 65

मे क्षतिपूरक परिवर्तन तरीके का प्रयोग करके कीमत परिवर्तन के आय प्रभाव को इसके प्रतिस्थापन प्रभाव से पृथक् कर दिया जाता है।

परन्तु मार्शल ने मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण को स्थिर मान कर कीमत परिवर्तन के आय प्रभाव की उपेक्षा की। वह कीमत परिवर्तन के प्रभाव की मिश्रित प्रकृति (composite character) को समझने मे असमर्थ रहा। प्रो० तपस मजूमदार का कहना ठीक है कि "द्रव्य की स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता ने मार्शल को अत्यधिक सरल माँग-कीमत सम्बन्ध की मिश्रित प्रकृति, जोकि वास्तविक है, को समझने मे असमर्थ कर दिया।"[1] इस सम्बन्ध मे हिक्स द्वारा कहे गए शब्द महत्वपूर्ण है "कीमत परिवर्तन के प्रत्यक्ष व परोक्ष प्रभावो के भेद को गणनावाचक सिद्धान्त ने उस रिक्त डिब्बे के समान छोड दिया है जोकि भर जाने के लिए चिल्ला रहा है और इसको भरा जा सकता है। वास्तविक रूप से महत्वपूर्ण बात जिसका आविष्कार 1915 मे स्लट्स्की (Slutsky) ने किया और जिसको मैंने तथा ऐलन ने 1930 मे पुन आवि-ष्कृत किया, यह है कि इस भेद को स्पष्ट किया जा सकता है यदि इसका सबध आय मे होने वाले वास्त-विक परिवर्तनो से कर दिया जाए। इससे प्रतिस्थापन प्रभाव कीमत परिवर्तन के कारण उत्पन्न प्रत्यक्ष प्रभाव बन जाता है तथा आय परिवर्तन का प्रभाव परोक्ष प्रभाव।"[2]

मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण पर हिक्स-ऐलन द्वारा किए गए सुधार पर टिप्पणी करते हुए प्रो० तपस मजूमदार ने कहा है, 'हिक्स ऐलन दृष्टिकोण ने जिस कुशलता तथा सूक्ष्मता से कीमत परिवर्तन के 'आय' व 'प्रतिस्थापन' प्रभावो मे भेद किया है, उसके कारण गणनावाचक सिद्धान्त मानने योग्य नही रहता है।"[3]

1. *Ibid*, p 76

2 J R Hicks, *The Revision of Demand Theory*, p. 14

3 Tapas Majumdar *op cit*, p 76

4 अधिक सामान्य तथा समुचित माँग-नियम की व्याख्या (Enunciation of a More General and Adequate Theorem of Demand) अनधिमान वक्र विश्लेषण द्वारा प्रयुक्त कीमत परिवर्तन के प्रभावो को आय व प्रतिस्थापन प्रभावो मे विभाजित करने की पद्धति का एक विशिष्ट लाभ यह है कि यह मार्शल के माँग के नियम की तुलना मे अधिक सामान्य तथा समुचित माँग-नियम की व्याख्या करने मे सहायक है। इस ससार मे अधिकाश सामान्य वस्तुओ के सम्बन्ध मे आय व प्रतिस्थापन प्रभाव एक ही दिशा मे क्रिया-शील होते है, अर्थात् कीमत मे गिरावट होने पर इनके कारण वस्तु की माँग-मात्रा मे वृद्धि हो जाती है। आय प्रभाव के कारण जब भी किसी वस्तु की कीमत गिरती है तो उपभोक्ता इस वस्तु की अधिक मात्रा का क्रय करता है क्योंकि वह ऐसा कर सकने मे समर्थ होता है। प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण भी वह वस्तु की अधिक मात्रा खरीदता है क्योंकि यह वस्तु अपेक्षाकृत अधिक सस्ती हो जाती है और अन्य वस्तुओ के स्थान पर इसका प्रयोग करना अधिक लाभदायक होता है। इस प्रकार यह सामान्य वस्तुओ के सम्बन्ध मे कीमत और माँग मे विलोम सम्बन्ध (मार्शल द्वारा प्रतिपादित माँग के नियम) को स्पष्ट करता है।

जब कोई उपभोक्ता किसी वस्तु को हीन अथवा निम्न (inferior) समझता है तो वह आय के बढने पर इसका उपभोग कम कर देता है। इसलिए जब भी हीन वस्तु की कीमत गिरती है तो जो आय प्रभाव उत्पन्न होता है वह प्रतिस्थापन प्रभाव के विपरीत दिशा मे क्रियाशील होता है। परन्तु जब तक घटिया वस्तु, जिसका उपभोक्ता उपभोग करता है, पर उपभोक्ता की आय का बहुत बडा भाग व्यय नही होता है तब तक आय प्रभाव इतना शक्तिशाली नही होगा कि प्रतिस्थापन प्रभाव को दबा दे। इस दशा मे भी कीमत के गिरने के कारण वस्तु की माँग-मात्रा मे वृद्धि हो जाएगी। इससे स्पष्ट है कि मार्शल का माँग नियम निम्न अथवा हीन वस्तुओ पर उसी प्रकार लागू होता है जिस प्रकार सामान्य वस्तुओ पर।

परन्तु यह भी सम्भव है कि कोई हीन वस्तु इस प्रकार की हो कि उसकी कीमत में परिवर्तन के आय प्रभाव का परिमाण प्रतिस्थापन प्रभाव के परिमाण से अधिक हो। ऐसा गिफ्न वस्तुओं (Giffen goods) के सम्बन्ध में होता है जिन पर मार्शल का माँग-नियम लागू नहीं होता। इन वस्तुओं के सम्बन्ध में ऋणात्मक आय प्रभाव प्रतिस्थापन प्रभाव से अधिक शक्तिशाली होने के कारण कीमत प्रभाव का निवल प्रभाव माँग में कमी हो जाना होता है। इस प्रकार गिफ्न वस्तु की माँग में परिवर्तन उसी दिशा में होते हैं जिस दिशा में कीमत का।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि कीमत प्रभाव को आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव में विभक्त करके अनधिमान वक्र विश्लेषण के द्वारा हम एक सामान्य तथा समुचित माँग के सिद्धान्त की निम्न मिश्रित-प्रकृति प्राप्त करते हैं[1]

1 एक वस्तु की माँग में कीमत परिवर्तन के विपरीत दिशा में परिवर्तन होता है जबकि उस वस्तु के लिए कीमत परिवर्तन का आय प्रभाव शून्य अथवा धनात्मक हो।

2 एक वस्तु की माँग में कीमत परिवर्तन के विपरीत दिशा में परिवर्तन होते हैं जबकि कीमत परिवर्तन का आय प्रभाव ऋणात्मक होता है परन्तु यह ऋणात्मक आय प्रभाव प्रतिस्थापन प्रभाव से कम होता है।

3 एक वस्तु की माँग में परिवर्तन कीमत परिवर्तन के समान दिशा में होते हैं जबकि माँग का आय प्रभाव ऋणात्मक हो तथा कीमत परिवर्तन का यह ऋणात्मक आय प्रभाव प्रतिस्थापन प्रभाव से अधिक हो।

प्रथम और द्वितीय दशाओं में मार्शल का माँग-नियम भी लागू होता है परन्तु तीसरी दशा में, जिसको गिफ्न दशा कहा जाता है, मार्शल का नियम लागू नहीं होता। मार्शल 'गिफ्न विरोधाभास' (Giffen paradox) की व्याख्या नहीं कर सका क्योंकि मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण को स्थिर मान कर उसने कीमत परिवर्तन के आय प्रभाव की उपेक्षा की। अनधिमान वक्र विश्लेषण कीमत परिवर्तन के आय व प्रतिस्थापन प्रभावों में भेद करके गिफ्न स्थिति की व्याख्या करने में सफल हुआ है। इसके अनुसार गिफ्न विरोधाभास उस हीन वस्तु के सम्बन्ध में लागू होता है जिसमें कीमत परिवर्तन का ऋणात्मक आय प्रभाव इतना शक्तिशाली होता है कि यह प्रतिस्थापन प्रभाव को दबा देता है। इसलिए जब गिफ्न वस्तु की कीमत में गिरावट आती है तो इसकी माँग भी बढ़ने के स्थान पर गिर जाती है। अत हिक्स-ऐलन अनधिमान वक्र विश्लेषण की एक महत्वपूर्ण श्रेष्ठता यह है कि यह गिफ्न स्थिति की व्याख्या करता है, जबकि मार्शल ऐसा करने में असमर्थ रहा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि हिक्स-ऐलन अनधिमान वक्र विश्लेषण यद्यपि न्यून तथा कम कठोर मान्यताओं (less restrictive assumptions) पर आधारित है परन्तु यह हमको एक अधिक सामान्य माँग नियम प्रतिपादित करने में सहायता प्रदान करता है जिसमें गिफ्न स्थिति भी सम्मिलित है। इस सम्बन्ध में प्रो० तपस मजूमदार के इन विचारों का वर्णन किया जा सकता है, "क्रम-वाचक सिद्धान्त वस्तु की कीमत में हुए परिवर्तन तथा इसकी माँग में मिश्रित रूप के सम्बन्ध को, जिसमें आय व प्रतिस्थापन प्रभाव में स्पष्ट भेद किया गया है, समझने में सहायक है। इसने मार्शल द्वारा प्रतिपादित माँग के नियम में विद्यमान वास्तविक खाई को पाट दिया है।"

5 कीमत परिवर्तन के आय एवं कल्याण सम्बन्धी परिणामों की बेहतर व्याख्या (Better Explanation of the Income and Welfare Implications of a Price Change)—हिक्स-ऐलन द्वारा प्रतिपादित क्रमवाचक सिद्धान्त की अन्य उत्कृष्टता यह है कि इसमें कीमत परिवर्तन के कल्याण-परिणामों को आय परिवर्तन के परिणामों में परिवर्तित किया जा सकता है। जैसा कि ऊपर देखा गया, किसी वस्तु की कीमत में गिरावट के कारण उपभोक्ता कल्याण (या सन्तुष्टि) के निम्न स्तर से उठ कर उच्च स्तर पर पहुँच

1 Tapas Majumdar, *op cit*, p 75

जाता है। इसी प्रकार, किसी वस्तु की कीमत में वृद्धि के कारण उपभोक्ता निचले अनधिमान वक्र पर आ जाएगा और इससे उसका कल्याण का स्तर भी गिर जाएगा। इसका अर्थ यह हुआ कि कीमत में गिरावट के कारण उपभोक्ता के कल्याण में जो परिवर्तन होते हैं वे वास्तव में आय में वृद्धि के कारण हुए परिवर्तनों के समतुल्य हैं। अन्य शब्दों में, उपभोक्ता कल्याण के उच्च स्तर पर पहुंचने की कल्पना वस्तु की कीमत में गिरावट के स्थान पर आय में वृद्धि के परिणामस्वरूप भी कर सकता है। रेखाकृति 7.1 में वस्तु X की कीमत PL_1 से गिर कर PL_2 हो जाने पर उपभोक्ता IC_1 अनधिमान वक्र को त्याग कर IC_2 अनधिमान वक्र पर चला जाता है जिससे उसके कल्याण के स्तर में वृद्धि हो जाती है। अब यदि कीमत में गिरावट के स्थान पर (PL_1 से PL_2) उपभोक्ता की आय में PA
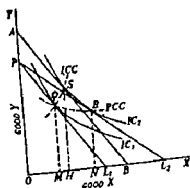
रेखाकृति 7.1

या L_1B के बराबर वृद्धि हो जाती है तो भी वह IC_2 अनधिमान वक्र पर पहुंच जाएगा। अतः आय में PA या L_1B के बराबर हुई वृद्धि के कारण उपभोक्ता के कल्याण में जो वृद्धि हुई है वह उस कल्याण में वृद्धि के बराबर है जो वस्तु X की कीमत PL_1 से गिर कर PL_2 हो जाने के कारण हुई है। "कीमत परिवर्तन के समतुल्य आय में परिवर्तन एक महत्वपूर्ण खोज है जिसको क्रमवाचक विश्लेषण ने प्राप्त किया है।" ("The equivalence of a given change in price to a suitable change in income is a major discovery of ordinal utility analysis)[1] गणनावाचक तुष्टिगुण विश्लेषण में एक वस्तु-मॉडल तथा मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण के कारण यह आधारभूत सम्बन्ध अस्पष्ट रहा।

कीमत में परिवर्तन के कारण उत्पन्न कल्याण में परिवर्तन के समतुल्य मुद्रा आय में परिवर्तनों के विचार से हिक्स के लिए मार्शल के उपभोक्ता की बचत की धारणा का विस्तार करना सम्भव हो गया। मार्शल की उपभोक्ता की बचत इस मान्यता पर आधारित है कि तुष्टिगुण का गणनावाचक माप (Cardinal Measure) सम्भव है और जब किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन होता है तो मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण स्थिर रहता है। हिक्स ने उपभोक्ता की बचत की धारणा को इन व्यर्थ की मान्यताओं से मुक्त कर दिया तथा क्रमवाचक तुष्टिगुण परिकल्पना के साथ तथा इस खोज के कारण कि कीमत परिवर्तन के कल्याण प्रभाव को आय के उचित परिवर्तनों में रूपान्तरित किया जा सकता है उन्होंने उपभोक्ता की बचत की धारणा की न केवल पुनः स्थापना की अपितु इसका आगे विस्तार भी किया।

6 **स्वतन्त्र तुष्टिगुणों की परिकल्पना का त्याग** (Hypothesis of Independent Utilities Given Up)—मार्शल का गणनावाचक विश्लेषण स्वतन्त्र तुष्टिगुणों की परिकल्पना पर आधारित है। इसका अर्थ यह है कि उपभोक्ता को एक वस्तु से जो तुष्टिगुण प्राप्त होता है वह केवल उसी वस्तु की मात्रा पर ही निर्भर करता है। अन्य शब्दों में एक उपभोक्ता को एक वस्तु के उपभोग से जो तुष्टिगुण प्राप्त होता है वह अन्य वस्तुओं से प्राप्त तुष्टिगुणों पर निर्भर नहीं होता। तुष्टिगुणों को स्वतन्त्र मानकर मार्शल ने विभिन्न वस्तुओं के प्रतिस्थापन तथा पूरक सम्बन्धों (relation of substitution and complementarity between commodities) की एकदम उपेक्षा की।

1 Tapas Majumdar, *op cit*, P 79

स्वतन्त्र तुष्टिगुणो की परिकल्पना पर आधारित माँग विश्लेषण, जिसका वर्णन गत अध्याय में किया गया, इस निष्कर्ष तक पहुँचाता है कि "केवल एक वस्तु की कीमत मे कमी होने की दशा मे या तो अन्य सभी वस्तुओ की माँग मे विस्तार हो जाएगा अथवा सभी वस्तुओ की माँग म सकुचन ।" परन्तु यह सामान्य जीवन मे पाई जाने वाली दशाओ के बिल्कुल विपरीत है। वास्तविक जीवन म यह देखा गया है कि एक वस्तु की कीमत मे गिरावट होने पर कुछ वस्तुओ की माँग मे विस्तार होता है जबकि कुछ अन्य वस्तुओ की माँग सकुचित हो जाती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि 'स्वतन्त्र तुष्टिगुण' पर आधारित मार्शल का विश्लेषण विभिन्न वस्तुओ के *प्रतिस्थापन तथा पूरक सबधो* पर ध्यान नहीं देता । मार्शल के गणनावाचक तुष्टिगुण विश्लेषण मे यह एक बडी कमी है ।

दूसरी ओर हिक्स-ऐलन क अनधिमान वक्र विश्लेषण मे यह कमी नही है । इस विश्लेषण मे तुष्टिगुणो को स्वतन्त्र नही माना गया है और विभिन्न वस्तुओ के पूरक व प्रतिस्थापन सम्बधो को ठीक प्रकार से स्वीकार किया गया है । हिक्स-ऐलन के अनधिमान वक्र विश्लेषण मे एक से अधिक वस्तुओ के मॉडल को लेकर तथा विभिन्न तुष्टिगुणो के परस्पर सम्बन्धो को स्वीकार करके सम्बन्धित वस्तुओ (related goods) की व्याख्या अधिक अच्छी प्रकार से की गई है। इस कारण यह विश्लेषण पूरक (complementary) तथा स्थानापन्न (substitute) वस्तुओ की परिभाषा व व्याख्या अधिक अच्छी प्रकार से कर सकता है । हिक्स के अनुसार वस्तु Y, वस्तु X की स्थानापन्न होगी यदि वस्तु X की कीमत के गिरने के कारण आय मे क्षतिपूरक परिवर्तन कर देने के पश्चात् वस्तु Y का उपभोग घट जाय । वस्तु Y, वस्तु X की पूरक होगी यदि वस्तु X की कीमत मे गिरावट के कारण वस्तु Y के उपभोग मे वृद्धि हो जाय जबकि आय मे क्षतिपूरक परिवर्तन कर दिया गया हो ।

क्या अनधिमान वक्र विश्लेषण 'नई बोतल मे पुरानी शराब' की तरह है ? (Is Indifference Curve Analysis 'Old Wine in a New Bottle" ?)

ऊपर यह बताया गया है कि हिक्स-ऐलन अनधिमान वक्र सिद्धात तथा मार्शल का गणनावाचक सिद्धात *उपभोक्ता सन्तुलन की एक ही शर्त पर पहुँचते हैं।* उपभोक्ता सन्तुलन को प्राप्त करने के लिए हिक्स ऐलन की शर्त यह है कि सीमान्त प्रतिस्थापन की दर कीमत अनुपात के बराबर हो । यह मार्शल के उपभोक्ता सन्तुलन के समानुपातिकता नियम (proportionality rule) के समान ही है । परन्तु यहाँ भी अनधिमान वक्र का क्रमवाचक दृष्टिकोण मार्शल के गणनावाचक सिद्धान्त पर एक सुधार है क्योकि इसमे न्यून तथा कम कठोर मान्यताओ (fewer and less restrictive assumptions) के आधार पर सतुलन दशा को प्राप्त किया जाता है । तुष्टिगुण के गणनावाचक माप, मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण के स्थिर रहने तथा विभिन्न वस्तुओ के तुष्टिगुणो के स्वतन्त्र होने जैसी व्यर्थ की मान्यताओ को, जिन पर मार्शल का गणनावाचक सिद्धान्त आधारित है, इस सिद्धात मे त्याग दिया गया है ।

परन्तु कुछ अर्थशास्त्री जिनमे नाईट (Knight), आर्मस्ट्राग (Armstrong), राबर्टसन (Robertson) आदि सम्मिलित है, अनधिमान वक्र सिद्धात की श्रेष्ठता स्वीकार नही करते है । प्रो० नाईट का विचार है कि माग का **अनधिमान वक्र विश्लेषण वास्तव मे एक कदम आगे नहीं है, किन्तु वस्तुत यह एक कदम पीछे है** (Indifference Curve analysis of demand is not a step forward it is in fact a step backward) । प्रो० रॉबर्टसन का कहना है कि अनधिमान विश्लेषण **'नई बोतल मे पुरानी शराब है ।'** उनके अनुसार अनधिमान वक्र विश्लेषण मे केवल पुरानी धारणाओ और समीकरणो के स्थान पर नई धारणाओ और समीकरणो को प्रयुक्त किया गया है जबकि दोनों विश्लेषणों के मूलभूत दृष्टिकोण मे कोई अन्तर नहीं है । 'तुष्टिगुण' की धारणा के स्थान पर, अनधिमान वक्र तकनीक मे 'अधिमान' तथा 'अधिमान क्रम' का प्रयोग किया गया है । *गणनावाचक सख्याओ जैसे* एक, दो, तीन आदि, जो कि उपभोक्ता द्वारा प्राप्त तुष्टिगुणो को मापती हैं, के स्थान पर अनधिमान वक्रो मे क्रमवाचक सख्याओ जैसे पहली, दूसरी, तीसरी आदि का प्रयोग किया गया है जो उपभोक्ता के अनधिमान

क्रम के विषय मे बताती है। सीमान्त तुष्टिगुण की धारणा के स्थान पर प्रतिस्थापन की सीमात दर का प्रयोग किया गया है और उपभोक्ता सतुलन प्राप्त करने के लिए मार्शल द्वारा प्रतिपादित समानुपातिकता नियम के स्थान पर अनधिमान वक्र दृष्टिकोण ने प्रतिस्थापन की सीमान्त दर तथा कीमत अनुपात म समानता के नियम का प्रयोग किया है।

प्रो० रॉबर्टसन के इस विचार पर कि अनधिमान वक्र विश्लेषण मे प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की धारणा माँग-विश्लेषण की सीमात तुष्टिगुण धारणा के ही समान है पर और विचार करना वाछनीय है। प्रो० राबर्टसन का कहना है हिक्स ने अपनी पहली पुस्तक *"Value aud Capital"* मे अनधिमान वक्रो के सम्बन्ध मे उन्नतोदरता की मान्यता का वणन किया था जो हममे से कुछ को प्रच्छन्न रूप मे सीमात तुष्टिगुण के समान लगी।"[1] इस प्रकार यह विश्वास हो गया कि प्रतिस्थापन की सीमात दर के प्रयोग के कारण **अनधिमान वक्र विश्लेषण मे भी गणनावाचक तत्व प्रवेश कर गया है।** (The use of marginal rate of substitution implies the presence of cardinal element in indifference curve technique)। अनधिमान वक्र पर एक सयोग से दूसरे सयोग पर जाने पर, हम यह कल्पना कर लेते हैं कि उपभोक्ता यह बता सकता है कि एक सीमान्त इकाई की हानि के लिए कितनी क्षतिपूर्ति की आवश्यकता है। दूसरे शब्दो मे, उपभोक्ता एक वस्तु की दूसरी वस्तु के लिए प्रतिस्थापन की सीमात दर का वणन कर सकता है। हिक्स व कई अन्य अथशास्त्रियो ने प्रतिस्थापन की सीमात दर का वर्णन दो वस्तुओ के सीमात तुष्टिगुणो के अनुपात के रूप मे किया है

$$\left(MRS_{xy} = \frac{\text{वस्तु } X \text{ का सीमात तुष्टिगुण } (MU)}{\text{वस्तु } Y \text{ का सीमात तुष्टिगुण } (MU)}\right)।$$

परन्तु आलोचको के अनुसार, अनुपात को तब तक नही मापा जा सकता जब तक कि कम से कम सैद्धातिक रूप से, दो सीमात तुष्टिगुणो को मापनीय न माना जाय। कोई भी व्यक्ति यदि मान ले कि दो सीमात तुष्टिगुण जैसे कि भाज्य (numerator) तथा हर (denominator) अमापनीय राशियाँ है तो वह अनुपात का वणन नही कर सकता। अत यह कहा जाता है कि प्रतिस्थापन की सीमात दर की धारणा तथा इस पर आधारित अनधिमान का विचार तुष्टिगुण की गणनावाचक रूप मे मापनीयता को सिद्धात रूप मे स्वीकार करना है।

इसके विपरीत हिक्स का विचार है कि प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को जानने के लिए यह आवश्यक नही कि सैद्धान्तिक रूप से सीमान्त तुष्टिगुणो को गणना वाचक रूप मे मापनीय माना जाय। उनका कहना है, हम जो कुछ मापने मे सफल होगे वह वही है जो क्रमवाचक सिद्धान्त मापनीय मानता है—अर्थात् एक वस्तु के सीमान्त तुष्टिगुण का दूसरी वस्तु के सीमान्त तुष्टिगुण से अनुपात।' इसका अर्थ यह है कि प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS) को सीमान्त तुष्टिगुणा को गणनावाचक रूप से मापे बिना भी ज्ञात किया जा सकता है। यदि उपभोक्ता, जब उससे पूछा जाय, वस्तु Y की चार X की एक इकाई के स्थान पर वस्तु Y की चार इकाइया लेने को तैयार है तो X की Y के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर 4 1 होगी। इस प्रकार यह पता करके कि वस्तु X की सीमान्त इकाई की हानि की क्षतिपूर्ति के लिए उपभोक्ता वस्तु Y की कितनी इकाइयाँ स्वीकार करने को तैयार होगा, हम प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS) प्राप्त कर सकते हैं। इस पर अपने विचार प्रकट करते हुए तपस मजूमदार ने कहा है 'प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि यह सीमात तुष्टिगुण से स्वतन्त्र हो। यदि सीमात तुष्टिगुणो को मापयोग्य मान लिया जाय, तब नि सदेह उनके अनुपात से प्रतिस्थापन की सीमात दर को ज्ञात किया जा सकता है। यदि सीमात तुष्टिगुणो को मापयोग्य नही माना जाता तो भी क्षतिपूर्ति सिद्धान्त की सहायता से प्रतिस्थापन की सीमात दर को व्युत्पादित करके इसको एक अर्थपूर्ण धारणा का रूप दिया जा सकता है।" (The marginal rate of substitution in any

---

1 D Robertson *Lectures on Economic Principles*, Fountain Library, 1963, p 85

case can be so defined as to make its meaning independent of the meaning of marginal utility If marginal utilities are taken to be quantifiable then their ratios certainly give the marginal rate of substitution, if the marginal utilities are not taken to be quantifiable the marginal rate of substitution can still be derived as a meaningful concept from the logic of compensation principle')[1] अत यह कहना कि प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के द्वारा सामान्य तुष्टिगुण (जो गणनावाचक धारणा है) की प्रच्छन्न रूप मे पुन स्थापना की गई है उचित नही है। उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि हम सिद्धान्त रूप मे यह स्वीकार न करें कि सीमान्त तुष्टिगुण मापनीय है तब भी हम प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को प्राप्त कर सकते हैं यह क्रम-वाचक सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण लाभ है।'[2]

रॉबर्टसन तथा आर्मस्ट्राग का भाग विचार यह है कि मार्शल द्वारा प्रतिपादित सीमान्त तुष्टिगुण तथा सीमान्त तुष्टिगुण के ह्रासमान नियम की सहायता के बिना हिक्स द्वारा प्रतिपादित प्रतिस्थापन की ह्रासमान सीमान्त दर के सिद्धांत (Principle of diminishing marginal rate of substitution) तक पहुँचना सम्भव नही है। यह पूछा जाता है कि जब वस्तु 'Y' के स्थान पर वस्तु X का प्रतिस्थापन अधिक मात्रा मे किया जाता है तो X की Y के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर गिरती क्यों जाती है। आलोचकों का कथन है कि प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) के गिरने तथा अनधिमान वक्र अधिक उत्तल (Convex) बनते जाने का कारण यह है कि जब उपभोक्ता के पास वस्तु X का स्टॉक बढ़ जाता है तो वस्तु X का सीमान्त तुष्टिगुण गिरता जाता है तथा वस्तु 1 का सीमान्त तुष्टिगुण बढ़ जाता है। अत उनका विश्वास है कि सीमान्त तुष्टिगुण ह्रासमान नियम के बिना हिक्स तथा ऐलन प्रतिस्थापन की ह्रासमान सीमान्त दर के नियम का प्रतिपादन करने मे सफल नही हो पाये हैं। उनका कहना है कि केवल शब्दावली के हेर-फेर के द्वारा सीमान्त तुष्टिगुण की धारणा को पृष्ठभूमि मे डाल दिया गया है परन्तु यह अब भी वर्तमान है। अत उनका विश्वास है कि प्रतिस्थापन की ह्रासमान सीमान्त दर (diminishing marginal rate of substitution) का नियम भी उतना ही निर्दिष्ट या अनिर्दिष्ट है जितना सीमान्त तुष्टिगुण का ह्रासमान नियम।" (It is asserted that the principle of diminishing marginal rate of substitution is as much determinate or indeterminate as the poor law of diminishing marginal utility") परन्तु मार्शल की गणनावाचक तुष्टिगुण की धारणा के समर्थकों द्वारा अनधिमान वक्र विश्लेषण पर लगाया गया यह आक्षेप ठीक नहीं है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की व्युत्पत्ति सीमान्त तुष्टिगुण के गणनावाचक माप पर निर्भर नही है, जबकि सीमान्त तुष्टिगुण ह्रासमान नियम गणना-वाचक धारणा (अर्थात् तुष्टि परिमाणात्मक रूप से मापयोग्य है) पर आधारित है, प्रतिस्थापन की ह्रासमान सीमान्त दर का सिद्धांत क्रमवाचक परिकल्पना (तुष्टिगुण केवल क्रमयोग्य है) पर आधारित है। उपभोक्ता जैसे-जैसे वस्तु X की अधिक इकाइयाँ प्राप्त करता जाता है, इन इकाइयों के लिए उसकी इच्छा की तीव्रता (यद्यपि इसको हम माप नही सकते) गिरती जाती है और वह वस्तु X की सीमान्त इकाई को प्राप्त करने के लिए वस्तु Y की कम इकाइयाँ देने को तैयार होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रतिस्थापन की ह्रासमान सीमान्त दर का सिद्धांत पूर्णतया क्रम-वाचक परिकल्पना पर आधारित है और इसकी व्युत्पत्ति तुष्टिगुण की गणनावाचक धारणा से स्वतन्त्र है, यद्यपि यह सत्य है कि दोनों एक से ही तथ्यों का वर्णन करते हैं। क्रम-वाचक परिकल्पना का प्रयोग करके प्रतिस्थापन की ह्रासमान सीमान्त दर का पता लगाना, जो कि सीमान्त तुष्टिगुण की धारणा पर निर्भर नही है, अनधिमान वक्र विश्लेषण की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। अत हम प्रो० हिक्स से सहमत हैं जिसका दावा है कि "सीमान्त

1 Tapas Majumdar, *Measurement of Utility*

2 *Ibid*

तुष्टिगुण ह्रासमान नियम के स्थान पर प्रतिस्थापन की ह्रासमान सीमान्त दर के नियम का प्रयोग केवल रूपातरण मात्र नही है। यह उपभोक्ता मांग के सिद्धात मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है।" ("The replacement of the principle of diminishing marginal utility by the principle of diminishing marginal rate of substitution is not a mere translation It is a positive change in the theory of consumer's demand")

इसके अतिरिक्त, क्रमवाचक अनधिमान वक्र विश्लेषण के पक्ष मे कई बार यह कहा जाता है कि यह अधिक अच्छा है क्योकि गणनावाचक सिद्धान्त उपभोक्ता की मांग के विषय मे विभिन्न बातो की अधिक मान्यताओ की सहायता से व्याख्या करता है। अनधिमान वक्र विश्लेषण कम मान्यताओ का प्रयोग करके उनकी व्याख्या करता है। एक प्रसिद्ध गणित-अर्थशास्त्री एन० जार्जस्क्यू-रोजन (N Georgescue Rogen) का तर्क है कि यह दृष्टिकोण वैज्ञानिक रूप से बहुत कमजोर है। उनका कथन है, "क्या इस मान्यता के आधार पर कि चलने के लिए केवल दो पैर काफी हैं हम उन पशुओ पर विचार करने के लिए अस्वीकार कर सकते है जिनके दो से अधिक पैर हैं।" ("Could we refuse to take account of animals with more than two feet on the ground that only two feet are needed for walking)"। परन्तु, यहाँ यह बना दिया जाना आवश्यक है कि अनधिमान वक्र केवल इसलिए श्रेष्ठ नही माना जाता कि इसम कम मान्यताओ का प्रयोग किया जाता है बल्कि इसकी श्रेष्ठता का कारण अधिक वास्तविक तथा कम कठोर मान्यताएँ (realistic and less restrictive assumptions) भी हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है अनधिमान वक्र सिद्धान्त इसलिए भी श्रेष्ठ है क्योकि यह गणनावाचक सिद्धान्त की तुलना मे मांग सम्बन्धी अधिक बातो की व्याख्या करता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मांग का अनधिमान वक्र विश्लेषण मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण से कही अधिक अच्छा है और यह कहना कि अनधिमान विश्लेषण मे भी गणनावाचक तत्त्व वर्तमान है, आधारहीन है। यह सत्य है कि अनधिमान वक्र विश्लेषण मे भी कमियाँ है और जैसा कि आगे बताया जायगा, इसकी विभिन्न प्रकार से आलोचना की गई है परन्तु जहाँ तक अनधिमान वक्र पद्धति और मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण मे तुलना का प्रश्न है, अनधिमान वक्र पद्धति मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण से नि सन्देह उत्तम है।

अनधिमान वक्र विश्लेषण की आलोचना (Criticisms of Indifference Curve Analysis)

अनधिमान वक्र विश्लेषण की आलोचना विभिन्न प्रकार से की गई है। सर्वप्रथम, तुष्टिगुण को गणनावाचक रूप से मापने के स्थान पर अनधिमान वक्र दृष्टिकोण ने यह अवास्तविक मान्यता निर्धारित की कि उपभोक्ता को अपने अनधिमान मानचित्र अथवा अधिमान क्रम (scale of preferences) की पूर्ण जानकारी होती है। हम कह सकते हैं कि तुष्टिगुण के गणनावाचक रूप से मापनीयता को अस्वीकार करके और इसके स्थान पर उपभोक्ता द्वारा समूचे अधिमान क्रम अथवा सम्पूर्ण अनधिमान-मानचित्र की जानकारी की मान्यता करना, अनधिमान दृष्टिकोण खाई से कुएँ मे कूद पड़ने के समान है। अनधिमान वक्र विश्लेषण एक ऐसे उपभोक्ता की कल्पना करता है, जिसको सदा वस्तुओ के विभिन्न सयोगो तथा उनके सापेक्ष अधिमानो का पूर्ण ज्ञान होता है। यह कहा गया है कि एक साधारण व्यक्ति के लिए इस ज्ञान को अपने मस्तिष्क मे भरे रखना क्या असम्भव नही है? हिक्स ने स्वय इस दोष को स्वीकार किया जब उसने अनधिमान वक्रो पर आधारित अपने मांग सिद्धान्त की पुनरावृत्ति करते हुए लिखा, 'पुराने सिद्धान्त मे ज्यामिति सादृश्य द्वारा जनित सबसे विचित्र मान्यता यह थी कि उपभोक्ता उन विभिन्न सयोगो को जिनकी कल्पना की जा सकती है, स्मरण रख सकता है अर्थात् वह उन सब बिन्दुओ को कल्पना कर सकता है जो उसके अनधिमान मानचित्र

पर है। यह मान्यता इतनी अव्यावहारिक थी कि इसका सिद्धांत के लिए बाधक होना अनिवार्य हो गया।"[1] हिक्स द्वारा अपनी पुस्तक *'Revision of Demand Theory'* में अनधिमान वक्रो को त्याग देने का यह एक मुख्य कारण था।

अनधिमान वक्र विश्लेषण में एक और अव्यावहारिक तत्त्व वर्तमान है। यह बताया जा चुका है कि इन वक्रों में ऐसे व्यर्थ के सयोगों को भी सम्मिलित कर लिया जाता है जो कि उनके व्यावहारिक सयोगों से बहुत दूर होते है। उदाहरण के लिए, यह तुलना, कि जूतों के तीन जोडा व छ कमीजों से, उपभोक्ता को उतनी ही सन्तुष्टि प्राप्त होगी जितनी जूतो के दो जोडो व सात कमीजो से तो पूर्ण रूप से ठीक लगती है, परन्तु उपभोक्ता इसकी तुलना जूतों के आठ जोडो व एक कमीज के सयोग से, जो कि व्यर्थ का सयोग है, करने मे सफल नही होगा। जिस प्रकार से अनधिमान वक्रो को प्राय बनाया जाता है उनमे व्यर्थ के सयोगो, जैसे कि अभी बताया गया, को भी सम्मिलित कर लिया जाता है।

अनधिमान वक्र पद्धति मे अगली कमी यह है कि यह केवल सरल दशाओ मे ही, मुख्यत जहाँ दो वस्तुओं मे ही चुनाव करना होता है, उपभोक्ता के व्यवहार का प्रभावी रूप मे विवेचन कर सकती है। तीन वस्तुओं की दशा मे उपभोक्ता के व्यवहार की व्याख्या करने के लिए त्रि-विधा चित्रा (Three dimensional diagrams) की आवश्यकता होती है जिनको समझना व जिनका प्रयोग करना कठिन होता है। परन्तु यदि वस्तुओं की सख्या तीन से भी बढ़ जाय तो ज्यामिति भी सहायता नही करती और जटिल गणित का सहारा लेना पडता है जिसके प्रयोग से कई बार आर्थिक दृष्टिकोण पूर्णतया लोप हो जाता है। प्रो० हिक्स ने अनधिमान वक्र पद्धति के इस दोष को भी स्वीकार किया है।

अपनी ज्यामिति प्रकृति के कारण अनधिमान वक्र विश्लेषण की अन्य कमी यह है कि यह 'निरन्तरता की मान्यता' (assumption of continuity) पर आधारित है।" यह विशेषता ज्यामिति क्षेत्र मे तो विद्यमान होती है परन्तु सामान्यत आर्थिक क्षेत्र मे नही। वास्तविक आर्थिक क्षेत्र म निरन्तरहीनता की प्रवृत्ति पाई जाती है और इसको स्वीकार न करना पूर्णतया अव्यावहारिक तथा विश्लेषणात्मक दृष्टि से भ्रामक होगा। इसीलिए हिक्स ने *Revision of Demand Theory* म निरन्तरता की मान्यता का भी परित्याग कर दिया।

प्रो० आर्मस्ट्राग ने अनधिमान वक्र पद्धति मे निहित सक्रामकता (Transitivity) की मान्यता की भी आलोचना की है। उनका विचार है कि अधिकतर दशाओं मे उपभोक्ता की उदासीनता अथवा अनधिमान (indifference) का कारण उसकी वस्तुओं के विभिन्न वैकल्पिक सयोगों मे बहुत न्यून अन्तर होता है जिसको जानने मे वह असमर्थ होता है। अन्य शब्दो मे, विभिन्न सयोगों जिनमें भिन्नता बहुत कम होती है, के प्रति उपभोक्ता की उदासीनता का कारण यह नही है कि उन सबमे उसको समान सतुष्टि मिलती है परन्तु यह है कि विभिन्न सयोगों मे भिन्नता इतनी कम है कि
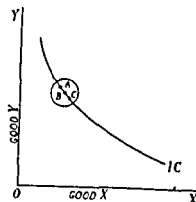
रेखाकृति 7 2 – आर्मस्ट्रांग द्वारा प्रतिपादित उदासीनता की धारणा।

वह उसका आभास नही कर पाता। यदि उदासीनता (अनधिमान) की इस धारणा को स्वीकार कर लिया

1. J R Hicks, *Revision of Demand Theory*, p 20

जाय तो उदासीनता का सम्बन्ध अ-सक्रामक (non-transitive) बन जाता है। उदासीनता सबंध के असक्रामक होने से अनधिमान वक्रो की सपूर्ण व्यवस्था तथा इस पर आधारित मांग विश्लेषण अस्त व्यस्त हो जाता है। प्रो० आर्मस्ट्राग (Armstrong) के विचार को रेखाकृति 7 2 मे स्पष्ट किया गया है। इस रेखाकृति मे सयोग A, B तथा C अनधिमान वक्र IC पर क्रमानुसार हैं। हिक्स ऐलन के अनधिमान वक्र विश्लेषण के अनुसार उपभोक्ता A व B के मध्य तथा B व C के मध्य उदासीन होगा और सक्रामकता (transitivity) की मान्यता के आधार पर वह A तथा C के मध्य भी उदासीन होगा। प्रो० आर्मस्ट्राग के अनुसार उपभोक्ता सयोग A तथा B के मध्य इसलिए उदासीन नही है क्योकि दोनो से उसको समान सन्तुष्टि प्राप्त हो रही है परन्तु वह इसलिए उदासीन है क्योंकि दोनो से प्राप्त कुल सन्तुष्टियो मे अन्तर इतना कम है कि उपभोक्ता उसको महसूस नही कर पाता। परन्तु यदि हम A तथा C सयोगो की तुलना करें तो कुल तुष्टिगुणो मे अन्तर इतना हो जाता है कि उपभोक्ता उसको महसूस कर सकता है। अत वह A तथा C के मध्य उदासीन नही रहेगा, वह A की तुलना मे C को पसन्द करेगा या C की तुलना मे A को। इस प्रकार आर्मस्ट्राग की धारणा के अनुसार A और B या B और C के मध्य जो उदीसनता का सम्बन्ध है, जिसका कारण तुष्टिगुणो के अन्तर का महसूस न होना है, वह A और C के मध्य लागू नही होगा क्योकि इनसे तुष्टिगुणो मे अन्तर महसूस होने लगता है। यदि प्रो० आर्मस्ट्राग के विचार को स्वीकार कर लिया जाय तो उदासीनता सम्बन्ध असक्रामक (non-transitive) बन जाता है और अनधिमान वक्र पर आधारित उपभोक्ता मांग का सिद्धान्त एकदम गलत सिद्ध हो जाता है।

परन्तु, यहाँ यह बता दिया जाय कि प्रो० आर्मस्ट्राग के उदासीनता के विषय मे विचार से हम सहमत नही है। वास्तव मे, क्रमवाचक सिद्धात मे उदासीनता का सम्बन्ध गणनावाचक रूप मे 'समानता' के एकदम समान है। उदाहरण के लिए उपभोक्ता को A और B सयोगो के मध्य इसलिए उदासीन नही माना जाता है कि दोनो सयोगो मे अन्तर अति न्यून है बल्कि इसीलिए माना जाता है कि दोनो से समान तुष्टिगुण प्राप्त होता है। यदि यह सत्य है तो क्रमवाचक उदासीनता की सक्रामकता (transitivity) स्वय ही सिद्ध हो जाती है और यह वाद-विवाद का उसी प्रकार से विषय नही बनी रहती जिस प्रकार से गणितीय समानता की बात।

प्रो० चार्ल्स कनेडी (Charles Kennedy) द्वारा सुझाई गई उदासीनता की साख्यिकीय परिभाषा (statistical definition)[1] को स्वीकार करके भी आर्मस्ट्राग के तर्क को गलत सिद्ध किया जा सकता है। साख्यिकी परिभाषा के अनुसार उपभोक्ता दो सयोगो के मध्य तब उदासीन कहा जाता है जब कि उसको दो विभिन्न सयोगो मे से बार-बार चुनाव करने के लिए कहा जाय और वह 50 प्रतिशत बार एक सयोग का चयन करे और 50 प्रतिशत बार दूसरे का। यद्यपि इस साख्यिकीय परिभाषा को स्वीकार करने में कुछ गम्भीर कठिनाइयाँ हैं किन्तु यदि इस परिभाषा को स्वीकार कर लिया जाय तो भी A और B, B और C तथा C और D के मध्य उदासीनता सम्बन्ध सक्रामक बन जाता है और प्रो० आर्मस्ट्राग का विचार ठीक नही रहता।

अनधिमान वक्र की एक अन्य आलोचना प्रो० राबर्टसन ने की है जिनका कहना है कि अनधिमान वक्र विश्लेषण मे तुष्टिगुण का गणनावाचक माप निहित रूप से सम्मिलित है। उन्होने बताया है कि पेरेटो (Pareto) तथा उनके समकालीन समर्थक जिन्होंने क्रम सख्यात्मक अनधिमान वक्र विश्लेषण का प्रतिपादन किया, पूरक व स्थानापन्न वस्तुओ के सम्बन्ध मे ह्रास-मान सीमान्त तुष्टिगुण के नियम का प्रयोग करते रहे। राबर्टसन के अनुसार मांग के अनधिमान वक्र के विश्लेषण के लिए "केवल यह मानना ही अनिवार्य नही है कि उपभोक्ता एक स्थिति की तुलना दूसरी

---

1 Charles Kennedy, "The Common Sense of Indifference Curves," *Oxford Economic Papers*, Jan 1950, pp 123-31

स्थिति से करने में समर्थ है बल्कि स्थिति के एक परिवर्तन की तुलना स्थिति के दूसरे परिवर्तन से करने में भी समर्थ है।" ("You have got to assume not only that the consumer is capable of regarding one situation as preferable to another situation but that he is capable of regarding *one change in situation* as preferable to *another change in situation*"[1]) उनके अनुसार यद्यपि पहली नहीं, परन्तु दूसरी मान्यता हमको यह मानने के लिए बाध्य कर देती है कि तुष्टिगुण केवल क्रमवाचक धारणा ही नहीं है बल्कि गणनावाचक मापयोग्य भी है। उसने इस स्थिति को रेखाकृति 7 3 से समझाया है। उनके अनुसार उपभोक्ता स्थिति के एक परिवर्तन की तुलना यदि स्थिति के दूसरे परिवर्तन से कर सकता है अर्थात् यह बता सकता है कि वह *BC* परिवर्तन की तुलना में *AB*
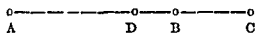
रेखाकृति 7 3

परिवर्तन को अधिक प्राथमिकता देता है। यदि ऐसा है तो ऐसे बिन्दु *D* को प्राप्त करना सदा सम्भव होगा जिससे वह *AD* परिवर्तन को भी उतना ही महत्त्व प्रदान करेगा जितना *DC* परिवर्तन को। यह प्रो० राबर्टसन के अनुसार "ऐसा कहने के समान लगता है कि *AC* दूरी *AD* दूरी से दुगुनी है और इससे हम गणनावाचक माप के संसार में वापस आ जाते हैं।" किन्तु प्रो० राबर्टसन का विचार कहाँ तक ठीक है इस पर प्रत्येक के विचार अलग अलग हो सकते हैं।

अनधिमान वक्र विश्लेषण की आलोचना इसकी सीमित अनुभवाश्रित प्रकृति (limited empirical nature) के कारण भी की गई है। अनधिमान वक्र-विश्लेषण न तो पूर्ण रूप से काल्पनिक तथा व्यक्तिपरक तुष्टिगुण फलनों पर आधारित है और न ही पूर्ण रूप से व्यावहारिक तरीका से व्युत्पन्न अनधिमान फलनों पर। इसी बात के कारण प्रो० शुम्पीटर ने अनधिमान वक्र विश्लेषण को मध्य की स्थिति (a midway house)[2] बताया है। यदि अनधिमान वक्र विश्लेषण उपभोक्ता के बाजार में प्रकाशित व्यवहार पर किए गए परीक्षणों से प्राप्त परिमाणात्मक आँकड़ों पर आधारित होता तो इसको कुछ सीमा तक मान्य कहा जा सकता था। परन्तु हिक्स ऐलन के सिद्धान्त में, अनधिमान वक्र काल्पनिक परीक्षणों पर आधारित हैं। इस प्रकार माँग का अनधिमान वक्र सिद्धान्त काल्पनिक रूप से बनाए गए अनधिमान वक्रों पर आधारित है।

यहाँ यह बताया जा सकता है कि हाल में कुछ अर्थशास्त्रियों व मनोवैज्ञानिकों ने परीक्षणों द्वारा अनधिमान वक्रों को बनाने या व्युत्पन्न करने का प्रयत्न किया है, परन्तु इस सम्बन्ध में उन्हें बहुत सीमित सफलता प्राप्त हो सकी है। इसका कारण यह है कि ये परीक्षण नियन्त्रित दशाओं में किए जाते हैं और इसीलिए इनके आधार पर स्वतन्त्र दशाओं में काम करने वाले उपभोक्ताओं के व्यवहार के बारे में निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। अत, सामान्यत अभी तक भी अनधिमान वक्र काल्पनिक ही हैं।

हिक्स ऐलन के माँग के क्रमवाचक सिद्धान्त के विरुद्ध एक आलोचना यह भी है कि जब अनिश्चितता अथवा जोखिम (uncertainty or risk) वर्तमान हो तो इसके आधार पर उपभोक्ता के व्यवहार का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। अन्य शब्दों में, क्रमवाचक सिद्धान्त से उस स्थिति में उपभोक्ता के व्यवहार की व्याख्या नहीं की जा सकती जबकि उसे उन विभिन्न विकल्पों में से चुनाव करना होता है जिनका सम्बन्ध आशाओं की अनिश्चितता (uncertainty of expectations) से है। वान न्यूमन (Von Neu

1 D H Robertson, *Lectures in Economic Principles*, The Fontana Library Edition, 1963, p 83

2 J A Schumpeter, *History of Economic Analysis*, p 1067

mann) तथा मारगनस्टर्न (Morgenstern)[1] और आर्मस्ट्राग (Armstrong)[2] का भी विचार है कि जब हम चुनावों के परिणामों का सम्बन्ध मात्रा की अनिश्चितता से कर देते हैं तो क्रमवाचक तुष्टिगुण तो नहीं, परन्तु गणनावाचक तुष्टिगुण सिद्धान्त उपभोक्ता के व्यवहार का वर्णन कर सकता है। यहाँ हम एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना कर सकते है जिसके सम्मुख A, B तथा C तीन विकल्प हैं। मान लीजिए वह B की तुलना मे A को तथा A की तुलना में C को पसद करता है। हम यह भी मान लेते हैं कि यद्यपि A को प्राप्त करना लगभग निश्चित है परन्तु B या C को प्राप्त करने की सम्भावनाएँ आधी आधी हैं। अब प्रश्न यह है कि उपभोक्ता किस विकल्प को चुनेगा। यह स्पष्ट है कि जो भी चुनाव वह करेगा वह इस बात पर निर्भर करेगा कि वह B की तुलना मे A को तथा A की तुलना मे C को कितना पसद करता है। उदाहरण के लिए यदि वह B की तुलना म A को बहुत अधिक पसद करता है जब कि A की तुलना मे वह C को बहुत अधिक पसद नहीं करता, तब वह निश्चय ही A को चुनेगा जिसकी प्राप्ति सम्भावना निश्चित है न कि B अथवा C को जिनकी प्राप्ति सम्भावना आधी आधी है। परन्तु जब तक उपभोक्ता यह न बताए कि उसकी B की तुलना मे A की अथवा A की तुलना मे C की प्राथमिकता कितनी अधिक है तब तक हम यह नहीं बता सकते कि उपभोक्ता कौन से विकल्प का चयन करेगा। यह स्पष्ट है कि एक उपभोक्ता जिसको विभिन्न विकल्पों म से चुनाव करना है, B की तुलना मे A तथा A की तुलना मे C की प्राथमिकता की सापेक्ष मात्रा की तुलना B अथवा C को प्राप्त करने की सम्भावनाओं से करेगा। थोड़ा-सा विचार करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि क्रमवाचक तुष्टिगुण पद्धति को इस स्थिति मे लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि इस स्थिति मे उपभोक्ता तभी चुनाव कर सकता है जबकि उपभोक्ता को यह पता हो कि विभिन्न विकल्पों मे प्राप्त तुष्टिगुणों मे कितना-कितना अन्तर है। क्रमवाचक तुष्टिगुण सिद्धान्त के अनुसार एक व्यक्ति यह नहीं बता सकता कि B की तुलना मे A से उसको कितना अधिक तुष्टिगुण प्राप्त हो रहा है, या, दूसरे शब्दों मे, B की तुलना मे वह A को कितना अधिक पसद करता है तथा A की तुलना म C की प्राथमिकता कितनी अधिक है। अत हम देखते हैं कि जब चयन के परिणाम के विषय मे मात्रा की अनिश्चितता होती है तो हिक्स-ऐलन के क्रमवाचक तुष्टिगुण सिद्धान्त की सहायता से हम उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन नहीं कर पाते। दूसरी ओर इसी स्थिति म गणनावाचक तुष्टिगुण सिद्धान्त की सहायता से उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन किया जा सकता है क्योंकि इसमें तुष्टिगुणों या अनधिमान तीव्रताओं का परिमाणात्मक माप सम्भव होता है। अनधिमान-अधिमान परिकल्पना पर विचार व्यक्त करते हुए न्यूमन तथा मारगनस्टर्न ने कहा है यदि अधिमान तुलनात्मक नहीं है, तो अनधिमान वक्रों का अस्तित्व ही नहीं है। यदि व्यक्तिगत अधिमान तुलनात्मक है तब हम (विशिष्ट रूप मे परिभाषित) परिमाणात्मक रूप से मापनीय तुष्टिगुण प्राप्त कर सकते हैं जिससे अनधिमान वक्र व्यर्थ हो जाते हैं।' (If the preferences are not all comparable, then the indifference curves do not exist If the individual preferences are all comparable, then we can even obtain a (uniquely defined) numerical utility which renders the indifference curves superfluous")।

अनधिमान वक्रों के सम्बन्ध म एक महत्वपूर्ण बात यह है कि यह निर्बल क्रमबद्धता की परिकल्पना (Weak-Ordering Hypothesis) पर आधारित है। इस परिकल्पना के अनुसार उपभोक्ता वस्तुओं के विभिन्न सयोगों के मध्य उदासीन हो सकता है। यद्यपि उदासीनता (indifference) की सम्भावना को अस्वीकार नहीं जा किया सकता परन्तु यह सत्य है कि अनधिमान वक्र विश्लेषण ने माँग सिद्धान्त मे उदासीनता की बात को

1 *The Theory of Games and Economic Behaviour*

2 Uncertainty and the Utility Function, *Economic Journal*, March 1948

बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताया है। हिक्स-ऐलन के सिद्धांत ने उदासीनता अथवा अनधिमान की असीमित स्थितियों की जो कल्पना की है वह पूर्णतया अव्यावहारिक है। प्रो० हिक्स ने स्वयं, बाद में, अनधिमान वक्र विश्लेषण की इस कमी को स्वीकार किया है। यह उनके '*Revision of Demand Theory*' में लिखे इन शब्दों से स्पष्ट है "पुराने सिद्धान्त ने अनधिमान अथवा उदासीनता के सर्वदा वर्तमान होने को बढ़ा-चढ़ा कर बताया है, परन्तु इसकी सम्भावना को बिल्कुल स्वीकार न करना एकदम दूसरी चरम सीमा पर पहुंच जाने के समान होगा।"[1]

इसके अतिरिक्त प्रो० सेम्युलसन ने अनधिमान वक्र दृष्टिकोण की आलोचना की है क्योंकि यह प्रमुख रूप से अन्तर्विश्लेषणात्मक (introspective) है। प्रो० सेम्युलसन ने स्वयं माँग के सिद्धान्त के व्युत्पादन की व्यवहारवादी पद्धति (behaviouristic method) का विकास किया है। उन्होंने उपभोक्ता के अवलोकनीय व्यवहार की सहायता से माँग सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उन्होंने व्यवहारवादी दृष्टिकोण को 'वैज्ञानिक' माना। उनका सिद्धान्त **प्रबल क्रमबद्धता की** परिकल्पना (strong-ordering preference hypothesis) पर आधारित है अर्थात् **चयन से अधिमान प्रकट होता है** (Choice reveals preference) सेम्युलसन का विचार है कि उनका सिद्धान्त उपभोक्ता की माँग की व्याख्या में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अन्तिम अंशों को भी समाप्त कर देता है।

अन्त में, अनधिमान वक्र विश्लेषण की आलोचना इस आधार पर भी की गई है कि यह पूर्वकल्पना करता है कि उपभोक्ता '*संतुष्टि को अधिकतम*' करना चाहता है। चूंकि मार्शल ने भी उपभोक्ता के व्यवहार के सम्बन्ध में सन्तुष्टि को 'अधिकतम' करने की मान्यता को स्वीकार किया था, इसलिए यह आलोचना मार्शल के तुष्टिगुण विश्लेषण पर भी लागू होती है। कहा गया है कि यह कल्पना करना पूर्णतया अव्यावहारिक है कि उपभोक्ता वस्तुओं को क्रय करने में सन्तुष्टि अथवा तुष्टिगुण को अधिकतम करने का प्रयास करता है अथवा दूसरे शब्दों में उपभोक्ता उच्चतम अनधिमान वक्र पर पहुँचने की चेष्टा करता है। वह उस समय अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करता है जबकि दो वस्तुओं के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर उनके कीमत अनुपात के बराबर होती है। यह हमारा सामान्य अनुभव है कि दैनिक जीवन में वस्तुओं का क्रय करते समय एक उपभोक्ता वास्तव में आदतों तथा रीतियों से अधिक प्रभावित होता है। कई बार इस क्रिया में *अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होती है*, कई बार नहीं भी होती। वास्तव में उपभोक्ता रीति-रिवाजों और आदतों का दास होता है। यह बताया जाता है कि कीमत के बढ़ जाने पर भी गृहिणी दूध की *उतनी जितनी ही मात्रा खरीदती है यद्यपि दूध की* कीमत में परिवर्तन के कारण उसको अपने क्रय को समायोजित करना चाहिए था। यदि गृहिणी से पूछा जाय कि दूध की डबलरोटी के लिए उसकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर क्या है, तो वह अपना पूर्ण अज्ञान प्रदर्शित करेगी। इसके अतिरिक्त, यदि आप उससे पूछें कि क्रय करते समय क्या वह प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को कीमत अनुपात के समान बनाती है, तो निश्चित रूप से यह यही कहेगी कि क्रय करते समय वह कभी भी इस गणितीय समानता को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करती।

परन्तु यह आलोचना बहुत सही नहीं है। एक सिद्धान्त को तब ही सही माना जाता है यदि व्यक्ति बिना सोचे-समझे उसी प्रकार से कार्य करे जिस प्रकार से कि सिद्धान्त कल्पना करता है। डा० डॉर्फमैन (*Dorfman*) *ने ठीक ही कहा है* "वर्णनात्मक सिद्धांत के लिए परिणाम ही महत्त्वपूर्ण है, सोच-समझ कर किया गया काम नहीं। पुल की केबल (Cable) की तारों को यह पता नहीं होता कि सहारा (Catenary) के रूप में उनका कार्य क्या है, वे तो बस अपना *कार्य करती रहती हैं।*'[2] *इस प्रकार अनधिमान वक्र* का सही अथवा गलत होना इस बात पर निर्भर करता है कि उपभोक्ता उसी प्रकार से कार्य करता है अथवा नहीं जिस प्रकार से सिद्धान्त में कल्पना की गई है।

1 *Op cit*, pp 19-20

2. R Dorfman, *The Price System*, Prentice Hall, p 69

अतएव प्रश्न यह है कि अपनी क्रय सम्बन्धी क्रियाओं में उपभोक्ता का व्यवहार अनधिमान वक्र विश्लेषण के अनुसार होता है अथवा नहीं । इसका उत्तर 'हाँ' में है, उपभोक्ता उसी प्रकार से कार्य करते हैं जिस प्रकार से अनधिमान वक्र सिद्धान्त ने कल्पना की है । उपरोक्त उदाहरण को ही ले लीजिए जिसमें दूध की कीमत बढ़ जाती है और बाजार में यही ऊँची कीमत वर्तमान रहती है । इस स्थिति में गृहिणी यह देखेगी कि उसका दूध पर व्यय बढ़ता जा रहा है और वह दूध के दैनिक उपभोग में बचत करने का प्रयत्न करेगी। इसके परिणामस्वरूप दूध की माँग मात्रा में कमी हो जायगी ।

अन्य वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन के भी समान प्रभाव पड़ते हैं। यदि टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हो जाय तो उपभोक्ता पूर्वयोजना से अधिक समय तक उनका प्रयोग करते रहते हैं। यदि वस्तु का कोई निकट स्थानापन्न होता है तो वे इस वस्तु को छोड़ कर अपेक्षाकृत सस्ते स्थानापन्न का प्रयोग करने लगते हैं। इन तथा अनेक अन्य तरीकों से उपभोक्ता वस्तुओं की कीमतों को वस्तुओं की प्रतिस्थापन की सीमान्त दरों से बहुत अधिक ऊँचा नहीं रहने देते । इस प्रकार स्पष्ट है कि उपभोक्ता अधिकतम सिद्धान्त से प्रभावित होकर कार्य करते हैं हालांकि यह बिना सोचे-समझे होता है । वे मुद्रा की एक वस्तु के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को सन्निकटतः उस वस्तु की कीमत के समान करने का प्रयत्न करते हैं, यद्यपि उनको यह पता नहीं होता कि प्रतिस्थापन की सीमान्त दर कितनी है । फिर भी, यह पता लगाने के लिए कि उपभोक्ता का व्यवहार अधिकतम मान्यता के अनुकूल है या नहीं, सिद्धान्त को अक्षरशः नहीं लेना चाहिए। एक साधारण उपभोक्ता से मुद्रा की एक वस्तु के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को वस्तु की कीमत के बिल्कुल समान बनाने की अपेक्षा नहीं की जा सकती । सर्वप्रथम, वास्तविक जीवन में बहुत-सी वस्तुएँ अविभाज्य (Indivisible) (अर्थात् वे बड़ी इकाइयों में ही उपलब्ध होती हैं) होती हैं। इस अविभाज्यता के कारण उपभोक्ता वस्तुओं में सूक्ष्म रूप से समायोजन नहीं कर पाता और इसलिए मुद्रा की एक वस्तु के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को वस्तु की कीमत के बराबर करना कठिन हो जाता है । अविभाज्य वस्तुओं के दो उदाहरण रेडियो व टेलीविजन हैं। इन स्थितियों में हम यदि सूक्ष्म रूप से निश्चित होना चाहते हैं तो इन स्थितियों में हम को उपभोक्ता सन्तुलन के सम्बन्ध में यह कहना होगा कि उपभोक्ता एक वस्तु की इतनी इकाइयाँ खरीदेगा जिसमें कि इसकी एक और इकाई के खरीदने से मुद्रा की उस वस्तु के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर उसकी कीमत से कम हो जाती है। परन्तु यह जैसा कि प्रो० डॉर्फमन ने ठीक कहा है, केवल विस्तार से वर्णन है, सिद्धान्त में परिवर्तन नहीं ।"[1] (*is only a detail, not a change in principle*)

दूसरे, कीमत तथा प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की समानता को सम्भव न बना सकने का कारण यह है कि कोई भी उपभोक्ता समस्त वस्तुओं का क्रय नहीं करता । उदाहरण के लिए सिगरेट न पीने वाले व्यक्ति सिगरेट नहीं खरीदते, जिनके पास मोटर नहीं है वे पैट्रोल नहीं लेते । प्रथम प्रकार के व्यक्तियों के लिए मुद्रा की सिगरेट के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर शून्य होगी और इस प्रकार यह कीमत के बराबर नहीं होगी। इस प्रकार की स्थितियों में भी यदि हम निश्चित बात कहना चाहते हैं तो हमें अपने उपभोक्ता सन्तुलन के सिद्धान्त में कुछ परिवर्तन करना होगा । "यदि द्रव्य की किसी वस्तु के लिए प्रतिस्थापन की सीमान्त दर उसकी कीमत से तब भी कम है जबकि उस वस्तु की कोई भी इकाई क्रय नहीं की जा रही है, तो वस्तु का क्रय बिल्कुल भी नहीं होगा ।"[2] परन्तु यह परिवर्तन भी आधारभूत सिद्धान्त में परिवर्तन नहीं बल्कि सुधार मात्र है ।

---

1 *Ibid*, p 69

2 "If the marginal rate of substitution of money for a commodity is less than its price when no units are purchased, then none will be purchased" *Ibid*, pp 69-70

8

अनधिमान वक्रों का प्रयोग एवं उपादेयता
(APPLICATION AND USES OF INDIFFERENCE CURVES)

हमने माँग के अनधिमान वक्र विश्लेषण का अध्ययन किया है, परन्तु अनधिमान वक्रों की तकनीक का प्रयोग केवल उपभोक्ता के व्यवहार एवं माँग विश्लेषण तक ही न सीमित रखकर अन्य अनेक आर्थिक घटनाओं की व्याख्या के लिये भी किया गया है। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता की माँग के विश्लेषण के अतिरिक्त अनधिमान वक्र के अनेक प्रयोग हैं। इस प्रकार अनधिमान वक्रों का प्रयोग उपभोक्ता की बचत की धारणा, 'प्रतिस्थापन' एवं 'पूरकता,' एवं व्यक्ति का श्रम पूर्ति वक्र, कल्याणवादी अर्थशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों, विविध प्रकार के करों के भार, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ, सरकार द्वारा प्रदत्त उपदान का कल्याण निहितार्थ (implication), सूचकांक की समस्या, दो व्यक्तियों के बीच वस्तुओं के विनिमय का परस्पर लाभ, एवं इसी प्रकार की अनेक बातों की व्याख्या के लिये किया गया है। हम उपरि वर्णित कुछ क्षेत्रों में अनधिमान वक्रों के प्रयोगों की व्याख्या सम्बन्धित अध्यायों में करेंगे। यहाँ उनके केवल कुछ ही प्रयोगों की व्याख्या प्रस्तुत है।

दो व्यक्तियों के मध्य दो वस्तुओं का विनिमय द्विपक्षीय एकाधिकार की दशा
(Exchange between Two Individuals of Two goods Case of Bilateral Monopoly)

अनधिमान वक्रों का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग दो व्यक्तियों के बीच दो वस्तुओं के पारस्परिक विनिमय की व्याख्या करने के लिये किया जाता है। जब दो व्यक्तियों के पास दो भिन्न भिन्न वस्तुएँ होती हैं, और जब उन वस्तुओं का उनमें पारस्परिक विनिमय होता है, तो यह स्थिति द्विपक्षीय एकाधिकार की होती है। ध्यान देने की बात है कि अनधिमान वक्रों का आविष्कार करने वाले वाई० एफ० ऐजवर्थ (Y. F. Edgeworth) ने दो व्यक्तियों के बीच वस्तुओं के विनिमय की व्याख्या करने के लिये इन वक्रों का प्रयोग किया है। मान लीजिए A और B दो व्यक्ति हैं। व्यक्ति A के पास X वस्तु की तथा व्यक्ति B के पास Y वस्तु की कुछ मात्राएँ हैं। इन दो वस्तुओं का वे दो व्यक्ति आपस में विनिमय करेंगे।

अब अनधिमान वक्रों की सहायता से यह प्रमाणित किया जा सकता है कि दो व्यक्तियों के बीच दो वस्तुओं का विनिमय दोनों के लिये पारस्परिक लाभप्रद होगा, अर्थात् दो व्यक्तियों के बीच वस्तुओं के विनिमय से दोनों के संयुक्त कल्याण में वृद्धि होगी। इसे रेखाकृति 8 1 तथा 8 2 की सहायता से दर्शाया जा सकता है। रेखाकृति 8 1 में, अनधिमान मानचित्र X एवं Y के बीच A व्यक्ति के अधिमान क्रम (scale of preferences) को बताते हुए खींचा गया है। इसी प्रकार रेखाकृति 8 2 में दिया गया अनधिमान मानचित्र, व्यक्ति B के इन्हीं दो वस्तुओं X एवं Y के बीच
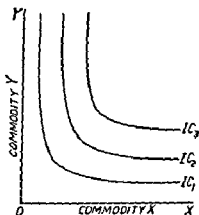
रेखाकृति 8 1

रेखाकृति 8 2

अधिमान क्रम को प्रदर्शित करता है। अब हम इन दोनों व्यक्तियों के बीच विनिमय की समस्या एवं उसके परिणामस्वरूप कल्याण निहितार्थ (welfare implication) की व्याख्या एजवर्थ की बाक्स-रेखाकृति की सहायता से कर सकते हैं। चूंकि सर्वप्रथम इस विनिमय की समस्या की व्याख्या एजवर्थ (Y. F. Edgeworth) ने की थी, अतः इस रेखाकृति का नाम उसके आविष्कर्ता के नाम के साथ ही जुड़ा है।[1]

एजवर्थ के 'बाक्स रेखाकृति' को बनाने के लिये एक व्यक्ति के अनधिमान मानचित्र को उलटा मोड़ ऊपर की ओर रखा जाता है, अर्थात् उसे 180° घुमाकर दूसरे व्यक्ति के अनधिमान मानचित्र पर इस प्रकार से रखा जाता है कि दोनों मानचित्रों के अक्ष मिलकर एक बाक्स का स्वरूप धारण कर लेते हैं। जैसा कि रेखाकृति 8 3 में हमने व्यक्ति B के अनधिमान मानचित्र को 180° घुमा दिया है एवं बिन्दु O' इसका मूल बिन्दु है। व्यक्ति A के पास X की OM तथा व्यक्ति B के पास Y वस्तु की $O'N$ मात्रा है। इस प्रकार OM तथा ON आयताकार 'एजवर्थ बाक्स' के आयाम (Dimensions) हैं। दो वस्तुओं के व्यक्ति A के क्रमिक अनधिमान वक्र A_1, A_2, A_3, A_4 इत्यादि तथा व्यक्ति B के क्रमिक अनधिमान वक्र B_1, B_2, B_3, B_4 इत्यादि हैं। अतएव एजवर्थ के बाक्स रेखाचित्र में एक व्यक्ति के अनधिमान मानचित्र को उलटा रख कर, दोनों व्यक्तियों के अनधिमान मानचित्रों को जोड़ दिया गया है। इस रेखाकृति में हम ऐसे अनेक बिन्दु पाते हैं, जहाँ दोनों व्यक्तियों के अनधिमान वक्र एक दूसरे को स्पर्श करते हैं। यदि इन दोनों वर्गों के अनधिमान वक्रों के स्पर्श बिन्दुओं को मिला दिया जाय, तो हमें CC' वक्र प्राप्त होगा जिसे 'संविदा वक्र' (Contract Curve) कहा जाता है।[1] इस संविदा वक्र पर स्थित किसी बिन्दु पर ही दो व्यक्तियों के मध्य वस्तुओं का विनिमय अथवा व्यापार सम्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त 'संविदा वक्र' में अलग स्थित किसी बिन्दु की अपेक्षा 'संविदा वक्र' के ऊपर स्थित किसी बिन्दु पर पहुंचना दोनों
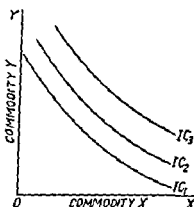
1. Y. F. Edgeworth, *Mathematical Psychics*, Kegan Paul, London 1881

1 संविदा वक्र (Contract Curve) का धारणा को Y. F. Edgeworth ने अपने *Mathematical Psychics* (London, Kegan Paul, 1881) में भी प्रस्तुत किया था।

व्यक्तियों के लिये पारस्परिक रूप से लाभप्रद है। इसे निम्नांकित विश्लेषण से समझा जा सकता है।
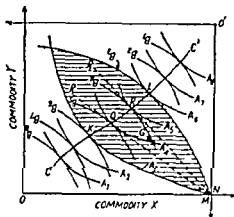
रेखाकृति 8 3 दो व्यक्तियों के बीच दो वस्तुओं का विनिमय

चूंकि A और B व्यक्ति के बीच दोनों वस्तुओं का प्रारम्भिक वितरण इस प्रकार है कि A के पास X वस्तु की OM मात्रा तथा Y वस्तु की शून्य मात्रा है, और B व्यक्ति के पास Y वस्तु की $O'N$ तथा X वस्तु की शून्य मात्रा है, अत दोनों व्यक्ति प्रारम्भ मे M बिंदु पर होंगे, जो वाक्स रेखाकृति के नीचे दायीं ओर पर स्थित है। अब छायांकित क्षेत्र (Shaded area) की सीमा पर या उसके अन्दर स्थित प्रत्येक बिन्दु दोनों व्यक्तियों को लाभ प्रदान करने वाली पारस्परिक विनिमय क्रियाओं की सम्भावना को व्यक्त करता है, क्योंकि यह दो व्यक्तियों को एक ओर कम से कम वर्तमान स्थिति से सम्बन्धित अनधिमान वक्र A_3 अथवा B_3 पर रखता है, तो दूसरी ओर दोनों को अपने उच्चतर अनधिमान वक्र पर पहुचने की सम्भावना भी बनाता है। प्रारम्भिक स्थिति M से, जहाँ व्यक्ति A तथा व्यक्ति B क्रमश अपने अनधिमान वक्र A_3 तथा B_3 पर रहते हैं, यदि दोनों व्यक्ति आपस मे दो वस्तुओं की कुछ मात्राओं का विनिमय करके L बिंदु तक चलन करें, तो व्यक्ति A एक उच्चतर अनधिमान वक्र A_6 पर पहुच जाता है, जबकि B अपने पूर्व अनधिमान वक्र B_3 पर बना रहता है। इस प्रकार इस विचारित विनिमय से व्यक्ति A की स्थिति श्रेष्ठतर हो जाती है, (उसका कल्याण या सन्तोष बढ जाता है) जबकि व्यक्ति B की स्थिति पहले की अपेक्षा खराब नहीं होती (अर्थात उसका कल्याण या सन्तोष यथावत् रहता है)। इसी प्रकार यदि दोनों व्यक्ति वस्तुओं की कुछ मात्राओं का विनिमय कर K बिन्दु तक चलन करें, तो हम देखते हैं कि व्यक्ति B एक ऊँचे अनधिमान वक्र B_6 पर पहुच गया है, अत उसकी स्थिति पहले से श्रेष्ठतर हो गयी है, जबकि व्यक्ति A अपने पूर्ववत् अनधिमान वक्र A_3 पर रहता है, अत उसकी स्थिति पहले से खराब नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दो व्यक्तियों के बीच वस्तुओं का विनिमय उन्हें M बिन्दु से चाहे L बिंदु पर ले जाय अथवा K बिंदु पर, दोनों ही अवस्थाओं मे उनके लिए लाभदायक है। इससे एक व्यक्ति की स्थिति, दूसरे की पूर्वापेक्षा खराब स्थिति मे डाले बिना, श्रेष्ठतर होती है (अर्थात यह एक व्यक्ति के कल्याण को बढ़ाती है, पर साथ ही दूसरे व्यक्ति का कल्याण भी कम नहीं होता)। किन्तु K तथा L ऐसे बिंदु है जो सीमा रेखाओं पर स्थित है। यदि दो व्यक्ति दो वस्तुओं की ऐसी मात्राओं का विनिमय करें कि वे M बिंदु से छायांकित क्षेत्र के अन्दर किसी भी बिंदु जैसे G, Q तथा R पर चले जाएँ तो दोनों व्यक्ति पहले से श्रेष्ठतर स्थिति मे होंगे। उदाहरणस्वरूप यदि वे M बिंदु से R पर चले जाते हैं, तो दोनों ही व्यक्ति A और B क्रमश ऊँचे अनधिमान वक्रों, A_5 एव B_4 पर पहुचते है, तथा दोनो M स्थिति की अपेक्षा श्रेष्ठतर स्थिति मे होते हैं, क्योंकि M पर वे दोनों क्रमश निम्न अनधिमान वक्रों, A_3 एव B_3 पर थे। इसी प्रकार M से Q बिन्दु पर जाने से भी दोनों के कल्याण मे वृद्धि होती है, क्योंकि Q बिन्दु उन दोनों को उच्चतर अनधिमान वक्रों पर ला देता है। यहाँ तक कि बिंदु G जो संविदा वक्र से अलग स्थित है, M की अपेक्षा दोनों के लिए उच्चतर अनधिमान वक्रों पर होगा, क्योंकि अनधिमान वक्र मूल बिन्दु के उत्तल (convex) होते हैं।

यद्यपि M बिन्दु से सीमाओं म स्थित G के परस्पर किसी अन्य बिन्दु तक के चलन का अर्थ यह

अनधिमान वक्रो का प्रयोग एव उपादेयता

होगा कि दोनो व्यक्तियो के कल्याण मे वृद्धि हो जायेगी, परन्तु फिर भी वे व्यक्ति सन्तुलनावस्था मे नही होगे, क्योकि सविदा वक्र से दूर स्थित किसी बिन्दु की अपेक्षा उसके अनुरूपी बिन्दु, जो सविदा वक्र पर स्थित होते है, श्रेष्ठतर स्थिति के होंगे (इसका अर्थ होगा दोनों व्यक्तियों के लिये कल्याण का उच्चतर स्तर) । अत G बिन्दु के अनुरूप वे बिन्दु, जो सविदा वक्र पर Q तथा R के बीच स्थित है, अपेक्षाकृत ऊँचे अनधिमान वक्र पर होंगे और इसका अर्थ होगा, दोनो व्यक्तियो के लिये G बिन्दु की अपेक्षा कल्याण का उच्च स्तर । कल्याणवादी अर्थशास्त्र (Welfare Economics) मे सविदा वक्र पर स्थित सभी बिन्दु 'परेटो-अनुकूलतम' (Pareto Optimum) के नाम से जाने जाते है, क्योकि ये अधिकतम सामाजिक कल्याण की स्थिति दर्शाते है, जहाँ पर बिना किसी अन्य व्यक्ति को खराब स्थिति मे डाले किसी भी व्यक्ति की स्थिति को श्रेष्ठतर नही बनाया जा सकता है । सविदा वक्र से अलग स्थित बिन्दुओं को 'परेटो-उप-अनुकूलतम' कहा जाता है, जहाँ इस बात की समावना होती है कि या तो सभी व्यक्तियो की स्थिति को श्रेष्ठतर बनाया जा सकता है अथवा कुछ को बिना किसी अन्य व्यक्ति की स्थिति खराब हुए, श्रेष्ठतर बनाया जा सकता है । इसका निष्कर्ष यह हुआ कि दो व्यक्तियो के बीच दो वस्तुओ का 'सन्तुलन विनिमय' अथवा व्यापार सविदा वक्र पर ही सम्पन्न होगा, जो दो व्यक्तियो की तत्सम्बन्धी अनधिमान वक्रो के स्पर्श बिन्दुओ का मार्ग है ।

यद्यपि दोनो व्यक्ति M बिदु से सविदा वक्र (contract curve) पर K तथा L के बीच स्थित किसी भी बिन्दु तक चलन करेंगे, तथा M की अपेक्षा श्रेष्ठतर स्थिति मे होंगे, फिर भी सविदा वक्र पर स्थित सभी बिन्दु दोनो व्यक्तियो के लिये समान रूप से लाभदायक नही हैं । ज्यो ज्यो हम सविदा वक्र के K बिन्दु से L की ओर बढ़ते जाएंगे, हम देखेंगे कि A व्यक्ति क्रमश ऊँचे अनधिमान वक्र पर पहुँचेगा, लेकिन B क्रमश निम्नतर अनधिमान वक्र पर पहुँचता जायगा । इस तरह पारस्परिक विनिमय करते समय व्यक्ति A, L बिन्दु पर जाना चाहेगा जबकि व्यक्ति B, K बिन्दु पर जाने का प्रयत्न करेगा । प्रश्न यह उठता है कि दोनो व्यक्ति सविदा वक्र के किस बिन्दु पर अपना विनिमय कार्य सपन्न करेंगे, यह उन दोनों की अपनी-अपनी सौदाकारी की शक्ति पर निर्भर होगा । यह दोनो व्यक्तियों की वस्तुओं की विनिमय दर को भी निर्धारित करेगी । मान लीजिये कि दोनो व्यक्तियो के बीच निश्चित विनिमय दर मूल्य रेखा MP_1 के द्वारा दी गई है (मूल्य रेखा MP_1 की ढाल दोनों वस्तुओ के मूल्यो के अनुपात को बतलाती है जो उनके विनिमय दर के बराबर है) । विनिमय दर दिये होने पर, जैसा कि मूल्य रेखा MP_1 दर्शाती है, दोनो व्यक्ति सविदा वक्र पर Q बिन्दु पर आपस म विनिमय करेंगे, जहाँ पर कि दोनो M की अपेक्षा श्रेष्ठतर स्थिति मे होंगे । फिर भी यहाँ व्यक्ति B को M स्थिति की अपेक्षा तुलनात्मक लाभ अधिक हो रहा है । अत बिन्दु Q 'परेटो-अनुकूलतम' है । तथापि Q परेटो-अनुकूलतम केवल दी हुई विनिमय दर, जो MP_1 मूल्य रेखा द्वारा दर्शायी गयी है, के सन्दर्भ मे ही होगा । यदि व्यक्ति A की सौदाकारी शक्ति सापेक्ष रूप से अधिक होगी, तो वह विनिमय दर को अपने अनुकूल बनाने मे समर्थ हो सकता है जैसे कि वह इसे मूल्य रेखा MP_2 पर ला सकता है । मूल्य रेखा MP_2 द्वारा निरूपित विनिमय दर पर दोनों व्यक्ति R बिन्दु पर सन्तुलन् मे होगे, अर्थात् सविदा वक्र के R बिन्दु पर दी गयी वस्तुओं का विनिमय करेंगे । अब MP_2 मूल्य रेखा द्वारा व्यक्त विनिमय दर के सन्दर्भ मे R बिन्दु परेटो-अनुकूलतम है ।

अत इसका तात्पर्य यह हुआ कि दो व्यक्तियो के बीच विनिमय अथवा व्यापार सविदा वक्र के K एव L के बीच स्थित किसी बिन्दु पर होगा । व्यक्ति A की सौदाकारी शक्ति जितनी ही अधिक होगी, व्यापार उतना ही L बिन्दु के निकट सम्पन्न होगा । दूसरी ओर B की सौदाकारी शक्ति जितनी ही अधिक होगी व्यापार K बिन्दु के उतना ही निकट सम्पन्न होगा । इस प्रकार सविदा वक्र के साथ-साथ चलन का अर्थ है एक व्यक्ति के कल्याण या सन्तुष्टि मे वृद्धि तथा दूसरे के कल्याण मे कमी । यही कारण है कि सविदा वक्र को सघर्ष वक्र (Conflict curve) भी कहा जाता है ।

ज्यों ज्यों हम संविदा वक्र के साथ चलते हैं कुल कल्याण (अर्थात् दोनों व्यक्तियों के सम्मिलित कल्याण) में वृद्धि हो रही है अथवा कमी इसका अनुमान लगाने के लिये हमें उपयोगिता की अन्तर-वैयक्तिक तुलनाएँ करनी पड़ेंगी। अधिकांश अर्थशास्त्री इसे अस्वीकार करते हैं। अतः अर्थशास्त्रियों के अनुसार जहाँ तक संविदा वक्र से अलग स्थित बिन्दुओं से संविदा वक्र पर स्थित बिन्दुओं तक चलन का सम्बन्ध है, यह निश्चित एवं असदिग्ध रूप से दोनों व्यक्तियों के कुल कल्याण में वृद्धि करता है परन्तु संविदा वक्र पर ही एक बिन्दु से जब दूसरे बिन्दु पर जाते हैं तो कुल कल्याण में परिवर्तन का तब तक अनुमान नहीं लगाया जा सकता, जब तक कि हम उपयोगिता की अन्तर-वैयक्तिक तुलनाएँ न करें। अन्त में, "उपयोगिता की अन्तर-वैयक्तिक तुलना" करने की अनिच्छा का अर्थ यह है कि जिन परिवर्तनों का मूल्यांकन किया जा सकता है, वे वही हैं जो या तो सभी को श्रेष्ठतर स्थिति में लाते हैं, अथवा बिना किसी को खराब स्थिति में डाले, कम से कम एक को पहले से श्रेष्ठतर स्थिति में रखते हैं। किसी अन्य व्यक्ति के हितों के बलिदान पर किसी एक व्यक्ति के कल्याण में सुधार परिमाणात्मक उपयोगिता के रूप में निश्चित नहीं किया जा सकता। संविदा वक्र की ओर चलन सदैव कुल कल्याण में असदिग्ध रूप से वृद्धि का प्रतीक है, परन्तु संविदा वक्र पर ही एक बिन्दु से दूसरे तक चलन विनिमय में भागीदारों के बीच कुल कल्याण के वितरण को बदल देता है।"[1]

उपरोक्त व्याख्या से यह स्पष्ट हो गया है कि अनधिमान वक्रों की सहायता से दो व्यक्तियों के बीच वस्तुओं का विनिमय किस प्रकार होता है, तथा उपभोक्ता के कल्याण पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है, इसे निश्चित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अनधिमान वक्र विश्लेषण इस बात को भी स्पष्ट करता है कि दो व्यक्तियों के मध्य वस्तुओं का विनिमय दोनों के लिये लाभदायक होता है।

1 Blaug *Economic Theory in Retrospect*, p 72

उपभोक्ता पर प्रदत्त उपदान का प्रभाव (Effect of Subsidies to Consumer)

अनधिमान वक्र का एक और महत्त्वपूर्ण प्रयोग उपभोक्ता को दिये जाने वाले उपदान के प्रभावों का विश्लेषण करने के लिये किया जाता है। आधुनिक युग में जनसाधारण के कल्याण को बढ़ाने के लिये सरकार द्वारा व्यक्तियों को अनेक प्रकार के उपदान दिये जाते हैं। उदाहरण के लिये हम खाद्य उपदान को लेंगे जिसे जरूरतमन्द परिवारों की सहायता के लिये सरकार प्रदान करती है। मान लीजिये, खाद्य-उपदान कार्यक्रम के अन्तर्गत जरूरतमन्द परिवारों को बाजार मूल्य से आधे मूल्य पर खाद्य पदार्थ खरीदने का अधिकार दिया गया है और बाजार मूल्य के शेष आधे भाग का भुगतान सरकार द्वारा उपदान के रूप में किया जाता है। उपभोक्ता के कल्याण पर इस उपदान के प्रभाव तथा उपभोक्ता के लिये प्राप्त उपदान का मौद्रिक मूल्य रेखाकृति 8 4 में दर्शाया गया है। रेखाकृति में खाद्यान्न की मात्रा को X-अक्ष पर तथा मुद्रा को Y-अक्ष पर नापा गया है।
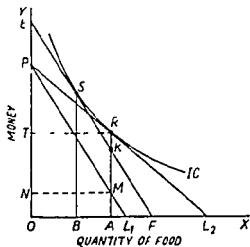
रेखाकृति 8 4
उपभोक्ताओं पर उपदान का प्रभाव

मान लीजिये कि उपभोक्ता के पास OP मौद्रिक आय है। इस मौद्रिक आय तथा खाद्यान्न के बाजार मूल्य के आधार पर मूल्य रेखा PL_1 है। चूंकि हमने माना है कि सरकार द्वारा प्रदत्त उपदान खाद्य पदार्थ

से बाजार मूल्य का आधा है, अतः उपभोक्ता केवल आधा मूल्य ही देता है। इसलिये उपदान मिलने पर उपभोक्ता मूल्य रेखा PL_2 पर होगा जहाँ $OL_1 = L_1L_2$ होगा। मूल्य रेखा PL_2 पर उपभोक्ता IC अनधिमान वक्र के B बिन्दु पर सन्तुलन में है। इस बिन्दु पर वह खाद्य पदार्थ की OA मात्रा खरीद रहा है, और इसके लिये वह PT मुद्रा की मात्रा खर्च कर रहा है।

अब यदि उपभोक्ता को कोई उपदान न दिया जाय और फलस्वरूप वह मूल्य रेखा PL पर रहे, तो OA खाद्य पदार्थ की मात्रा खरीदने के लिए उसे PN मात्रा में मुद्रा खर्च करनी होगी। दूसरे शब्दों में खाद्य पदार्थ की OA मात्रा का बाजार मूल्य PN है। चूंकि PT मुद्रा का भुगतान स्वयं व्यक्ति करता है अतः शेष भाग TN या RM [मूल्य रेखा PL_1 तथा PL_2 के बीच OA खाद्य पदार्थ की मात्रा पर ऊर्ध्वाधर दूरी (Vertical Distance)] का भुगतान सरकार खाद्यान्न-उपदान के रूप में करती है।

अब महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि व्यक्ति के लिये खाद्यान्न-उपदान (RM) का मौद्रिक मूल्य क्या है? किसी प्रकार के खाद्य उपदान के अभाव में व्यक्ति के समक्ष मूल्य रेखा PL_1 होती है। खाद्य उपदान के मौद्रिक मूल्य को जानने के लिए PL_1 मौद्रिक रेखा के समानान्तर एक रेखा EF इस तरह खींचिये कि यह उसी अनधिमान वक्र जिस पर उपदान से पूर्व व्यक्ति सन्तुलन में था, को स्पर्श करे। चित्र 8.4 में EF मूल्य रेखा अनधिमान वक्र IC को S बिन्दु पर स्पर्श करती है और इस स्थिति में व्यक्ति खाद्य पदार्थ की OB मात्रा खरीद रहा है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि व्यक्ति को PE मात्रा में मुद्रा राहत के रूप में प्रदान कर दी जाय तो वह उसी अनधिमान वक्र IC पर (कल्याण के उसी स्तर पर) पहुंचता है, जिस पर कि वह सरकार से प्राप्त उपदान के समय था। अतः PE उपभोक्ता को मिलने वाले उपदान का मौद्रिक मूल्य है। रेखाकृति 8.4 में यह देखा जा सकता है कि PE सरकार के द्वारा प्रदत्त उपदान की मात्रा RM से कम है। रेखाकृति में $PE = MK$ है। दोनों समानान्तर रेखाओं के बीच ऊर्ध्वाधर दूरी (Vertical Distance) तथा RM, MK की अपेक्षा अधिक है। अतः RM, PE की तुलना में भी अधिक होगा। इसका अर्थ यह होता है कि PE, RM से कम है। अतः यदि सरकार उपदान के रूप में RM मात्रा का भुगतान करने के बजाय PE के बराबर नकद मुद्रा की मात्रा व्यक्ति को दे दे तो व्यक्ति कल्याण के उसी स्तर पर पहुंचता है, जहाँ वह RM के बराबर उपदान मिलने से पहुंचता है। इस तरह व्यक्ति को उपदान के बराबर मिलने वाली नकद मुद्रा सरकार की उपदान लागत से कम होगी। वास्तव में उपभोक्ता को मिलने वाला उपदान तथा उपभोक्ता का अधिमान कुछ भी हो, यह स्थिति सदैव पाई जायेगी जब तक कि केवल अनधिमान वक्र उत्तल एवं सरल होंगे (convex and smooth)। उपभोक्ता को उपदान देने की लागत, उपभोक्ता को मिलने वाले व्यक्तिपरक लाभ के समतुल्य मुद्रा की मात्रा की अपेक्षा सदैव अधिक होती है। यहाँ वास्तव में इस सामान्य सिद्धान्त की एक विशेष स्थिति है कि शिष्टाचार एवं भावुकता के चिन्तन से पृथक् यदि आप किसी व्यक्ति को कोई वस्तु देने के बदले नकद मुद्रा दें तो उसे आप अधिक सुखी बना सकते हैं, भले ही वह वस्तु उसकी इच्छित वस्तु ही क्यों न हो।'[1] इसी प्रकार का मत प्रो० साइटोवास्की भी व्यक्त करते हैं "उपदान प्राप्त करने वाले व्यक्ति के लिये उपदान का मूल्य सरकार के लिये उपदान प्रदान की लागत की अपेक्षा कम होता है। जब तक किसी विशेष अनधिमान वक्र में एक सी वक्रता होगी (smooth curvature) चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो, इसी प्रकार की प्रवृत्ति पायी जायेगी। इस निष्कर्ष का सामान्य बोध अर्थ यह है कि एक व्यक्ति को नकद मुद्रा देकर तथा उसे इस बात की छूट देकर कि वह जिस प्रकार सर्वोत्तम समझे व्यय करे, उसे अधिक सुखी बनाया जा सकता है, अपेक्षाकृत उसे समस्त राहत एक वस्तु के रूप में लेने के लिये बाध्य करें। अब खाद्य उपदान की अपेक्षा नकद मुद्रा में सहायता प्रदान करना अधिक पसन्द किया जाता है, क्योंकि इस तरह की सहायता आर्थिक दृष्टि से अधिक कुशल है। इस

1. D S Watson, *Price Theory and its Uses*, 1963, p. 94.

तरह की सहायता से या तो सरकार को उसी लागत पर अधिक लाभ प्राप्त किया जा सकता है, या उतना ही लाभ नीची लागत पर प्राप्त किया जा सकता है।"[1]

परन्तु सहायता प्राप्त खाद्य, सहायता प्राप्त आवास इत्यादि से सम्बन्धित उपरोक्त सिद्धान्त का औचित्यपूर्ण प्रयोग सदैव सरकारी उपदान कार्यक्रम के लिए नहीं किया जा सकता, क्योंकि उपरोक्त सिद्धांत का आधार व्यक्तियों के लिए व्यक्तिपरक लाभ है। इसे *सरकारी उपदान कार्यक्रमों की वाछनीयता को निश्चित* करने के लिए हमेशा सही मापदण्ड नहीं माना जा सकता है। उदाहरण के लिए सरकार के खाद्य उपदान *का उद्देश्य यह भी हो सकता है कि जरूरतमन्द परि*वार अधिक मात्रा मे खाद्यान्न का उपभोग करें, जिससे उनके स्वास्थ्य एव कार्यक्षमता मे सुधार हो सके। रेखाकृति 8 4 मे यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि *BM खाद्य-उपदान के साथ उपभोक्ता खाद्य पदार्थ* की OA मात्रा लेता है, परन्तु जब उसे नकद मुद्रा PE दी जाती है तो उपभोक्ता खाद्य पदार्थ की केवल OB मात्रा खरीदता है। OB मात्रा OA से कम है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सरकार के खाद्य उपदान ने उपभोक्ता को *अधिक खाद्य पदार्थ का* उपभोग करने के लिए प्रेरित किया है। ठीक इसी प्रकार यदि किसी देश मे खाद्यान्न का आधिक्य हो, और यदि वह देश चाहता है कि उस आधिक्य का उपभोग कर लिया जाय, तो इस प्रकार का (जरूरतमद परिवारों को प्रदत्त) खाद्य उपदान खाद्यान्न के उपभोग को बढ़ाने तथा आधिक्य का उपभोग करने के लिए सर्वोत्तम उपाय सिद्ध होगा।[2]

प्रत्यक्ष बनाम अप्रत्यक्ष कर
(Direct versus Indirect Tax)

अनधिमान वक्रों का प्रयोग व्यक्तियों के कल्याण पर प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष करो के प्रभावों को ज्ञात करने के लिए भी किया जा सकता है। दूसरे शब्दो मे, यदि सरकार अपनी आय म वृद्धि करना चाहती है, तो व्यक्तियों के कल्याण के दृष्टिकोण से ऐसा प्रत्यक्ष कर लगाकर करना अच्छा होगा या अप्रत्यक्ष कर लगाकर।[1] जैसा कि आगे प्रमाणित होगा अप्रत्यक्ष कर जैसे उत्पादन शुल्क, व्यक्ति पर अत्यधिक भार डालते है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब सरकार दोनो प्रकार के करो से अपनी आय म समान मात्रा मे वृद्धि करती है तो अप्रत्यक्ष कर, प्रत्यक्ष करो जैसे आयकर की तुलना म व्यक्ति के कल्याण को अधिक मात्रा मे घटा देते हैं। रेखाकृति 8 5 पर विचार कीजिए जिसमे X-अक्ष पर X वस्तु एव Y अक्ष पर मुद्रा की मात्रा *को नापा गया है। उपभोक्ता की दी हुई आय और X*

रेखाकृति 8 5 अप्रत्यक्ष कर उपभोक्ताओं पर प्रत्यक्ष कर की तुलना मे अधिक *भार डालते हैं।*

वस्तु के दिये हुए मूल्य पर मूल्य रेखा PL_1 है जो अनधिमान वक्र IC_3 को Q_0 बिन्दु पर स्पर्श करती है जहाँ उपभोक्ता सतुलन मे है।

1. Tiber Scitovsky, *Welfare and Competition*, revised edition, 1971, p 70

2 सन् 1939 में सयुक्त राज्य सरकार ने एक खाद्य उपदान कार्यक्रम चलाया जिसे "Food Stamp Programme" नाम दिया गया जिसने जरूरतमद परिवारों का मदद देने के अलावा कृषि के अतिरेक को भी समाप्त करने में मदद की।

2 प्रत्यक्ष कर वे कर हैं जिनके भार को अन्य लोगों पर नहीं डाला जा सकता। आयकर, सम्पत्ति कर, मृत्यु कर, प्रत्यक्ष करों के उदाहरण हैं। दूसरी ओर अप्रत्यक्ष कर वे कर हैं जिन्हें दूसरे व्यक्ति पर वस्तुओं का मूल्य बढ़ाकर विवर्तित किया जा सकता है। उत्पादन शुल्क, बिक्री कर, अप्रत्यक्ष कर के उदाहरण हैं।

मान लीजिए, सरकार X वस्तु पर उत्पादन शुल्क (एक अप्रत्यक्ष कर) लगाती है। उत्पादन शुल्क लगने से X वस्तु की कीमत मे वृद्धि होगी। X वस्तु के मूल्य मे वृद्धि के फलस्वरूप मूल्य रेखा नयी स्थिति PL_2 पर आ जाएगी जो अनधिमान वक्र IC_1 को Q_1 बिन्दु पर स्पर्श करती है। अत इससे स्पष्ट है कि उत्पादन शुल्क लगने के फलस्वरूप उपभोक्ता एक ऊँचे अनधिमान वक्र IC_3 से खिसककर एक निचले अनधिमान वक्र IC_1 पर आ गया है और इस तरह उसकी सतुष्टि अथवा कल्याण का स्तर पहले की अपेक्षा कम हो गया है।

इसके अलावा इस बात पर भी ध्यान रखना होगा कि बिन्दु Q_1 पर (अर्थात् उत्पादन शुल्क लगने के बाद) उपभोक्ता X वस्तु की ON मात्रा खरीद रहा है तथा उसके लिए PM मुद्रा का भुगतान किया है। उत्पादन शुल्क लगने के पूर्व पुराने मूल्य पर वह X वस्तु की ON मात्रा केवल PT मुद्रा देकर ही प्राप्त कर सकता था। अत इन दोनो का अन्तर अर्थात् TM (या KQ_1) उत्पादन शुल्क की मात्रा है, जो उपभोक्ता दे रहा है।

अब मान लीजिये कि उत्पादन शुल्क के स्थान पर सरकार व्यक्ति पर आय कर लगाती है जबकि उस समय उपभोक्ता IC_3 अनधिमान वक्र के Q_0 पर सतुलन मे होता है। आयकर लगने के कारण मूल्य रेखा नीचे की ओर खिसक जाएगी परन्तु वह मूल्य रेखा PL_1 के समानान्तर होगी। इसके अतिरिक्त यदि आयकर से सरकार उतनी ही आय प्राप्त करना चाहती है जितनी कि उत्पादन कर से प्राप्त होती थी, तो नयी मूल्य रेखा AB ऐसी दूरी पर खीची जानी चाहिए कि वह Q_1 बिन्दु से होकर गुजरे। इस तरह रेखाकृति 8.5 मे आप स्पष्ट जान सकते है कि आयकर लगने पर हमने नयी मूल्य रेखा AB खीची है जो बिन्दु Q_1 से होकर जाती है। किन्तु AB मूल्य रेखा पर व्यक्ति IC_2 अनधिमान वक्र के Q_2 बिंदु पर सतुलन मे है जोकि IC_1 अनधिमान वक्र की अपेक्षा ऊँचा है। दूसरे शब्दो मे, Q_2 बिंदु पर व्यक्ति के कल्याण का स्तर Q_1 की अपेक्षा ऊँचा है। अत आयकर ने उत्पादन शुल्क की अपेक्षा व्यक्ति के कल्याण को कम मात्रा मे घटाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि अप्रत्यक्ष कर (उत्पादन शुल्क) उपभोक्ता के ऊपर अतिरिक्त भार डालता है।[1]

सूचकाक का सिद्धात
(Theory of Index Numbers)

अनधिमान वक्र विश्लेषण का अगला महत्त्वपूर्ण उपयोग 'सूचकाक के सिद्धान्त' के क्षेत्र मे किया जाता है। सर्वप्रथम यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आर्थिक सिद्धात के क्षेत्र मे सूचकाक की समस्या क्या है। अपने विश्लेषण को सरल बनाने के लिए हम यह मान लें कि एक व्यक्तिगत उपभोक्ता दो वस्तुओ, X एव Y को दो भिन्न समयावधि—'०' एव 'एक'—मे खरीदता है। '०' समयावधि मे उपभोक्ता 10 रुपये प्रति इकाई मूल्य पर X वस्तु की 25 इकाइयाँ तथा 12 रुपये प्रति इकाई मूल्य पर Y वस्तु की 15 इकाइया खरीदता है। मान लीजिए कि अब समयावधि 'एक' मे X एव Y वस्तुओ के मूल्यो मे परिवर्तन हो जाता है तथा 15 रु० मूल्य पर उपभोक्ता X वस्तु की 20 इकाइयाँ तथा 9 रु० मूल्य पर वह Y वस्तु की 22 इकाइयाँ खरीदता है। इस तरह समयावधि 'एक' मे X वस्तु की खरीदी गयी मात्रा मे कमी हुई है जबकि Y वस्तु की खरीदी गयी मात्रा म वृद्धि हो गयी है। अब 'सूचकाक' की समस्या यह है कि समयावधि 'एक' मे, समयावधि '०' की तुलना मे व्यक्ति

---

1 आधुनिक कल्याणवादी अर्थशास्त्र मे, प्रत्यक्ष करो की तुलना मे अप्रत्यक्ष कर अधिक भार डालने वाले होते हैं, इस निष्कर्ष को स्वीकार नही किया जाता। प्रत्यक्ष करो की अपेक्षा अप्रत्यक्ष कर कल्याण मे अधिक कमी करते हैं, अथवा नही, यह करारोपण से पूर्व अनेक प्रारम्भिक दशाओ पर निर्भर करता है। प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष करों के कल्याण पर प्रभाव से सम्बन्धित आधुनिक विश्लेषण के लिए देखिए—(1) I M D Little, Direct Vs Indirect Taxes, *Econ Journal*, Sept 1951 (2) Milton Friedman, The Welfare Effects of Taxes, *Essays in Positive Economics* University of Chicago Press, 1953 and (3) Musgrave—*Theory of Public Finance*

का आर्थिक कल्याण अथवा उसके रहन-सहन के स्तर मे वृद्धि हुई है अथवा कमी ? यदि व्यक्ति का अनधिमान मानचित्र ज्ञात है तो इसकी सहायता से हम यह सरलतापूर्वक जान सकते है कि व्यक्ति का कल्याण बढा है अथवा घटा है। अब हम सूचकांक की समस्या का पुनर्कथन संकेत रूप म करेगे। मान लीजिये कि समयावधि '०' मे व्यक्ति X वस्तु की x^0 मात्रा $p_x{}^0$ मूल्य पर तथा Y वस्तु की y^0 मात्रा $p_y{}^0$ मूल्य पर खरीदता है। इसी प्रकार समयावधि 'एक' मे व्यक्ति X वस्तु की X^1 मात्रा $p_x{}^1$ मूल्य पर तथा Y वस्तु की Y^1 मात्रा $p_y{}^1$ मूल्य पर खरीदता है। अब हम यह अनुमान लगाना है कि समयावधि एक' मे उपभोक्ता का कल्याण समयावधि '०' की तुलना म बढा है अथवा घटा है। इसके लिये हम यह मान लेते है कि विचाराधीन अवधि मे व्यक्ति की रुचि एव उसके अधिमान— अर्थात् उसका अनधिमान मानचित्र—यथावत् एव अपरिवर्तित रहता है।

रेखाकृति 8 6 : सूचकांकों का सिद्धान्त
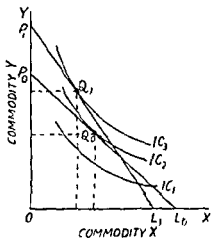
अनधिमान वक्र IC_1, IC_2 एव IC_3, वस्तु X एव Y के बीच व्यक्ति के अनधिमान मानचित्र को दर्शाते है।

'०' समयावधि (जिसे आधार वर्ष कहा जाता है) मे उपभोक्ता की दी हुई मौद्रिक आय तथा दोनो वस्तुओ की कीमतो, $p_x{}^0$ तथा $p_y{}^0$ से मूल्य रेखा $P_0 L_0$ उत्पन्न होती है। रेखाकृति 8 6 मे यह देखा जा सकता है कि मूल्य रेखा P_0L_0 पर उपभोक्ता अनधिमान वक्र IC_2 के बिन्दु Q_0 पर सन्तुलन मे है। समयावधि 'एक' म वस्तुओ की कीमतो मे परिवर्तन के फलस्वरूप मूल्य रेखा बदलकर P_1L_1 हो जाती है (X वस्तु के मूल्य म वृद्धि तथा Y के मूल्य मे कमी होती है)। नयी मूल्य रेखा P_1L_1 अनधिमान वक्र IC_3 को Q_1 बिन्दु पर स्पर्श करती है। अत उपभोक्ता इस दशा म Q_1 बिन्दु पर सन्तुलन म है। इस प्रकार रेखाकृति से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि नयी सन्तुलन स्थिति, जो दोनों वस्तुओ के मूल्य मे परिवर्तन एव उसके फलस्वरूप X एव Y की खरीदी गयी मात्रा मे परिवर्तन (X वस्तु की मात्रा कम हुई है तथा Y की मात्रा बढ गयी है) के बाद स्थापित हुई है, उस पर व्यक्ति की स्थिति श्रेष्ठतर हुई है (अर्थात् उसका कल्याण बढ गया है) क्योकि वह IC_2 अनधिमान वक्र से एव उच्चतर अनधिमान वक्र IC_3 पर पहुँच गया है। दूसरे शब्दो मे, मूल्यो एव वस्तुओ की मात्राओ मे उपरोक्त परिवर्तन से व्यक्ति की वास्तविक आय मे वृद्धि हुई है क्योकि इससे वह उच्चतर अनधिमान वक्र पर पहुंच गया है।

परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि हम व्यक्ति की वास्तविक आय अथवा आर्थिक कल्याण मे वृद्धि को तभी जान सकने मे समर्थ हुए है जबकि हम उसका अनधिमान मानचित्र वास्तव मे ज्ञात था। किन्तु जैसा कि सामान्यतया होता है, यदि अनधिमान वक्रो का ज्ञान न हो, और हम केवल मूल्य रेखा तथा सन्तुलन बिन्दु Q_0 तथा Q_1 को ही जानते हो, तो अनधिमान वक्र विश्लेषण से हमे यह मालूम नही हो सकता कि व्यक्ति की वास्तविक आय मे अथवा उसके रहन-सहन के स्तर अथवा कल्याण मे, वस्तुओ के ऊपर वर्णित मूल्यों एव मात्राओ मे परिवर्तन के फलस्वरूप, किसी प्रकार की वृद्धि हुई है अथवा कमी। इसका कारण यह है कि उस स्थिति मे हम यह नही जान सकते कि व्यक्ति किसी उच्चतर अनधिमान वक्र पर पहुचा है या नही।

खाद्यान्न के विक्रय अतिरेक का पीछे को मुड़ता पूर्तिवक्र

(Backward Sloping Supply Curve of Marketed Surplus of Foodgrains)

भारत जैसे अर्द्धविकसित देशों में यह देखा गया है कि खाद्यान्न का 'विक्रय अतिरेक' का पूर्ति वक्र पीछे की ओर मुड़ता हुआ होता है। दूसरे शब्दों में, विक्रय अतिरेक की 'मूल्य सापेक्षता' (Price elasticity) ऋणात्मक होती है, तथा 'विक्रय अतिरेक' की पूर्ति खाद्यान्नों के मूल्य में वृद्धि से घट जाती है एवं मूल्य में कमी से बढ़ जाती है। भारत में इस घटना की व्याख्या एक विवाद का विषय बन गयी है, तथा इसके लिए भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई है। खाद्यान्न के विक्रय अतिरेक के 'पीछे की ओर मुड़ते पूर्ति वक्र' (या ऋणात्मक मूल्यसापेक्षता) की व्याख्या के लिए भी अनधिमान वक्र विश्लेषण का प्रयोग किया जा सकता है।

रेखाकृति 8 7 (a)

यदि कुल उत्पादित खाद्यान्न को बेच दिया जाय, तो इससे किसान को OP_1 मुद्रा आय प्राप्त होती है, तथा इस प्रकार सम्बन्धित मूल्य रेखा LP_1 होती है। मूल्य रेखा LP_1 अनधिमान वक्र IC_1 को Q_1 बिन्दु पर स्पर्श करती है जहाँ कि किसान सन्तुलन में होगा। इस सन्तुलनावस्था में (अर्थात् Q_1 पर) किसान के पास OM_1 खाद्यान्न की मात्रा स्वयं के उपभोग के लिए होगी तथा शेष LM_1 मात्रा का विक्रय करके वह कुछ मौद्रिक आय अर्जित करेगा। इस प्रकार वह P_1 मूल्य[1] पर खाद्यान्न की LM_1 मात्रा का विक्रय (पूर्ति) करेगा।

अब मान लीजिए कि खाद्यान्न का मूल्य बढ़ जाता है, जबकि खाद्यान्न का उत्पादन यथावत् रहता है। एक ऊँचे मूल्य पर खाद्यान्न की दी हुई मात्रा अब अधिक आय अर्जित करेगी, जैसे OP_2। फलस्वरूप नयी मूल्य रेखा अब LP_2 होगी, जिसका अनधिमान वक्र IC_2 पर स्पर्श बिन्दु Q_2 है। इस नयी स्थिति में अब किसान इसी Q_2 बिन्दु पर सन्तुलन में है। इस स्थिति में उसके पास OM_2 खाद्यान्न की मात्रा स्वयं

रेखाकृति 8 7 (b)

विक्रय अतिरेक का पीछे को मुड़ता पूर्ति वक्र

रेखाकृति 8 7 (a) पर विचार कीजिए, जिसमें खाद्यान्न की मात्रा को X-अक्ष पर एवं मुद्रा को मात्रा को Y-अक्ष पर दर्शाया गया है। मान लीजिए कि OL किसी किसान का कुल खाद्यान्न का उत्पादन है। खाद्यान्न तथा मुद्रा के बीच अनधिमान मानचित्र भी दिया हुआ है। अब खाद्यान्न का मूल्य ऐसा है कि
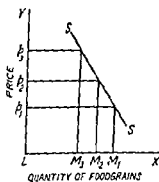
के उपभोग के लिये रहती है। अब किसान ने बाजार में खाद्यान्न की LM_2 मात्रा की पूर्ति की है जो कि पहले

1 मूल्य रेखा LP_1 पर खाद्यान्न का मूल्य है $\frac{OP_1}{OL}$ जिसे हम p_1 के रूप में लेते हैं। मूल्य रेखा LP_2 पर मूल्य p_2 एवं मूल्य रेखा LP_3 पर मूल्य p_3 है।

की पूर्ति LM_1 की अपेक्षा कम है। इस तरह खाद्यान्न के मूल्य में वृद्धि से बाजार में खाद्यान्न की पूर्ति कम हो गयी है। इसी प्रकार खाद्यान्न के मूल्य में पुन वृद्धि होने तथा उसके फलस्वरूप मूल्य-रेखा के खिसककर LP_3 के रूप में आ जाने से बाजार में खाद्यान्न की पूर्ति पुन घटकर LM_3 हो जाती है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि मूल्य में वृद्धि से बाजार में खाद्यान्न की पूर्ति क्यों कम होती है? जैसा कि हमने माँग के अनधिमान वक्र विश्लेषण में अध्ययन किया है, किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन दो प्रकार के प्रभावों को जन्म देता है—आय प्रभाव एवं प्रतिस्थापन प्रभाव—जो वस्तु की माँग में परिवर्तन लाते है। उत्पादन की मात्रा के यथास्थिर रहने पर जब खाद्यान्न का मूल्य बढता है तो किसान की आय बढ जाती है। किसान की आय में इस वृद्धि से खाद्यान्न को सम्मिलित कर सभी वस्तुओं की माँग में वृद्धि की प्रवृत्ति होती है। चूँकि जीवन-निर्वाह-स्तर पर खाद्यान्न की माँग की आय-सापेक्षता (Income elasticity) बहुत होती है, इसलिये खाद्यान्न के मूल्य में वृद्धि का आय-प्रभाव खाद्यान्न के लिए अधिक प्रबल होता है। खाद्यान्न के मूल्य में वृद्धि के इस आय-प्रभाव के फलस्वरूप किसान खाद्यान्न के उपभोग को बढाने की ओर प्रवृत्त रहता है, जिससे खाद्यान्न की विक्रय पूर्ति में कमी की प्रवृत्ति होती है। परन्तु खाद्यान्न के मूल्य में वृद्धि से यह अन्य वस्तुओं की तुलना में महँगा हो जाता है, इससे प्रतिस्थापन प्रभाव उत्पन्न होता है। प्रतिस्थापन प्रभाव के फलस्वरूप किसान सापेक्ष रूप से सस्ती अन्य वस्तुओं का प्रतिस्थापन सापेक्ष रूप से महँगे खाद्यान्न के लिए करेगा। अत खाद्यान्न के मूल्य में वृद्धि के प्रतिस्थापन प्रभाव की प्रवृत्ति खाद्यान्न के उपभोग को अथवा माँग को कम करने की होती है, तथा इस प्रकार विक्रय अतिरेक की प्रवृत्ति बढने की होती है। परन्तु सामान्यतया यह प्रतिस्थापन-प्रभाव दुर्बल होता है, क्योंकि खाद्यान्न जीवन के लिये एक आवश्यक पदार्थ है, और इस पर अधिक मात्रा में प्रतिस्थापन प्रभाव सम्भव नहीं है। इसलिये आय प्रभाव जो खाद्यान्न के उपभोग को बढाने की प्रवृत्ति रखता है, सामान्यतया प्रतिस्थापन प्रभाव, जो कि खाद्यान्न के उपभोग को घटाने की प्रवृत्ति रखता है, की अपेक्षा अधिक प्रबल होता है। अत खाद्यान्न के मूल्य में वृद्धि का शुद्ध (Net) प्रभाव यह होता है कि किसान द्वारा खाद्यान्न के उपभोग में वृद्धि होती है और फलस्वरूप खाद्यान्न की विक्रय पूर्ति में कमी हो जाती है। इसे रेखाकृति 8 8 की सहायता से दर्शाया जा सकता है जिसमें मूल्य रेखा LP_1 है तथा उपभोक्ता अनधिमान वक्र IC_1 पर बिन्दु Q_1 पर सन्तुलन में है। खाद्यान्न के मूल्य में वृद्धि एव फलस्वरूप मूल्य रेखा के खिसककर LP_2 के रूप में आ जाने पर उपभोक्ता अब नयी स्थिति Q_2 पर सन्तुलन में आ जाता है। उपभोक्ता के सन्तुलन बिन्दु Q_1 से Q_2 तक का
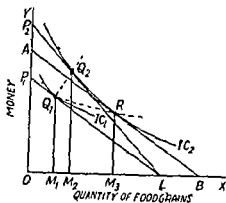
रेखाकृति 8 8
खाद्यान्न के मूल्य में वृद्धि के आय तथा प्रतिस्थापन प्रभाव

चलन मूल्य प्रभाव को व्यक्त करता है, जिसे आय प्रभाव (Q_1 से R तक खिसकना) जो M_1M_3 के बराबर है, तथा प्रतिस्थापन प्रभाव (R से Q_2 तक जाना) जो M_3M_2 के बराबर है, में बाँटा जा सकता है। आय प्रभाव खाद्यान्न की माँग में वृद्धि, और प्रतिस्थापन प्रभाव खाद्यान्न की माँग में कमी लाने की दिशा में कार्यरत रहता है। चूँकि आय प्रभाव M_1M_3, प्रतिस्थापन प्रभाव M_3M_2 की अपेक्षा अधिक प्रबल है, अत इसका शुद्ध प्रभाव (Net effect) यह

अनुमार मांग मिद्धान्त म एकमात्र मान्य प्रमेय वह है जो
कीमत तथा मांग मे विलोम सम्बन्ध स्थापित करता है।
इसके विरोध मे हम यह वह मकने है वि मम्भव है रि
गिफन वस्तुओ का वास्तविक जगत मे अस्तित्व ही न
हो, परन्तु यह मैद्धान्तिव रूप मे मम्भव (theoretically
possible) है। इसवी मैद्धान्तिक मम्भावना स्पष्ट है
जबवि हीन पदार्थों (inferior goods) वी वीमत का
माय प्रभाव ऋणात्मव और प्रतिस्थापन प्रभाव मे
अधिव शक्तिशाली होना है जिमने वारण मांग म
उमी दिशा मे परिवर्तन होने है जिस दिशा म कीमत
मे। अत सेम्युलमन का उपभोग सिद्धात के आधारभूत
नियम की तुलना मे हिक्स ऐलन का मांग नियम
अधिव सामान्य (more general) है क्योकि हिक्स
ऐलन सिद्धात गिफन वस्तुओ की भी व्याख्या करता है
जबकि सेम्युलमन का नही। अत हम इम निष्कर्ष
पर पहुचते है कि जहाँ तक अध्ययन विधि का सम्बन्ध
है सेम्युलसन का सिद्धात हिक्स ऐलन के सिद्धात
पर सुधार है (अर्थात इसकी व्यवहारवादी विधि
हिक्स ऐलन की अन्तर्विश्लेषणात्मक विधि से श्रेष्ठ है)
परतु इसके द्वारा प्रतिपादित मांग नियम की विषय
(

वस्तु के सदर्भ मे यह सिद्धान्त हिक्स ऐलन के मांग
नियम म कुछ कदम पीछे रह जाता है।

और अन्त म सेम्युलसन का आधारभूत
कथन कि 'चयन से अधिमान उदघाटित होता है'
(Choice reveals preference) की भी आलोचना
की गई है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे एक उप
भोक्ता जिन विभिन्न वस्तुओ का चयन करता है उनके
सम्बन्ध म इससे उसके चयन का प्रदर्शन सम्भवत हो
जाय परन्तु यह आधारभूत कथन उन स्थितियो म
गलत सिद्ध हो जाता है जहाँ उपभोक्ता चुनाव करने
म खेल सिद्धान्त के समान प्रविधियो (strategies)
का प्रयोग करने का सामर्थ्य रखते है।' किन्तु यहाँ
इस पर ध्यान देना योग्य है कि जब खेल सिद्धान्त के
समान प्रविधियो का उपयोग किया जाता है तो अनधि
मान वक्र सिद्धान्त का प्रयोग भी सम्भव नही होता।

सक्षेप म हम यह कह सकते है कि सेम्युलसन के
सिद्धान्त की श्रेष्ठता इस बात मे है कि इसने उपभोक्ता
की मांग की व्याख्या करने म वैज्ञानिक या व्यवहारवादी
तरीके का प्रयोग किया और सबल क्रमबद्धता प्रकार
की अधिमान परिकल्पना का प्रतिपादन किया है।

10

हिक्स का मांग सम्बन्धी तार्किक क्रमबद्धता सिद्धान्त
(HICKS' LOGICAL ORDERING THEORY OF DEMAND)

मांग-सिद्धान्त के संशोधन की आवश्यकता (Need for Revision of Demand Theory)

प्रो० हिक्स ने 1956 ई० मे एक पुस्तक[1] प्रकाशित की जिसमे उन्होंने अपनी पूर्ववर्ती पुस्तक 'मूल्य तथा पूँजी—*Value and Capital* मे प्रस्तुत माग के सिद्धान्त को सशोधित किया। अब प्रश्न, जो सर्वप्रथम उत्पन्न होता है वह यह है कि प्रो० हिक्स को अपने प्राचीन माँग के सिद्धान्त को सशोधित करने के लिए किसने प्रोत्साहित किया ? सशोधन करने के कारणो मे से सैमुएल्सन के 'उद्घाटित अधिमान दृष्टिकोण' का आविर्भाव, अर्थमिति का विकास, सबल (strong) तथा निर्बल (weak) क्रमबद्धता (ordering) के गणितीय सिद्धान्तो का प्रादुर्भाव (उत्पत्ति) तथा तर्कशास्त्र के कुछ सरल कथनो मे माँग की अधिक तर्कसगत व्युत्पत्ति का अन्वेषण प्रमुख है।

हिक्स उद्घाटित अधिमान परिकल्पना तथा माँग के सिद्धान्त को व्युत्पन्न करने के लिए सैमुएलसन तथा उनके अनुयायियों (ऐरो, लिटिल, हुठाक्कर) द्वारा प्रयुक्त सबल क्रमबद्धता के तर्क से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। तथापि यह सकेत किया जा सकता है कि यद्यपि हिक्स के माँग सिद्धान्त का सशोधन अत्यधिक सीमा तक सैमुएल्सन तथा उनके अनुयायियो के कार्यों द्वारा प्रभावित था परन्तु वह उद्घाटित अधिमान परिकल्पना के विषय मे सन्देहग्राही थे। वह इस प्रकार टीका-टिप्पणी करते है, "यद्यपि मैं कठिनता से स्वय को उनकी सख्या मे गणना कर सकता हूँ क्योकि मैं उद्घाटित अधिमान दृष्टिकोण के विषय मे पर्याप्त सदेहवाद धारण करता हूँ फिर भी इन सब के लिए मै सैमुएल्सन तथा सैमुएल्सनवादियो का आभारी हूँ।"[2]

प्रो० हिक्स अपने माँग सिद्धान्त के सशोधन मे माँग के सिद्धान्त के अर्थमितीय दृष्टिकोण पर बल देते है। वह विचार प्रकट करते है कि जो माँग सिद्धान्त अर्थमितीय उद्देश्यो के लिए लाभदायक है वह निश्चित रूप से उससे श्रेष्ठ है जो इस प्रकार के उद्देश्यो के लिए उपयुक्त नही होता है। "इसमे कोई सन्देह नही हो सकता कि अर्थमिति आर्थिक शोध की बृहत् रूप है, एक सिद्धान्त जो अर्थमितिज्ञो द्वारा प्रयुक्त किया जा सकता है उस सीमा तक उस सिद्धान्त की अपेक्षा अच्छा है

---

1 *A Revision of Demand Theory*, Oxford University Press, 1956

2 J R Hicks, *op cit*, p VI

जिसको प्रयुक्त नही किया जा सकता है ।"[1] प्रो० हिक्स का कहना है कि उन्होने अपनी पुस्तक 'मूल्य तथा पूंजी'—*Value and Capital* मे जो मांग सिद्धान्त प्रस्तुत किया था उसमे केवल समाग्य अर्थमितीय सदर्भ * समावेश था। 'मूल्य तथा पूंजी' मे मांग सिद्धान्त का य यह था कि इसमे अर्थमितीय सन्दर्भ स्पष्ट नही किया गया था। उनका कहना है कि सैमुएल्सन के उद्घाटित अधिमान सिद्धान्त मे अर्थमितीय सन्दर्भ स्पष्ट किया गया। परन्तु हिक्स अपने नवीन मांग के सिद्धान्त के अर्थमितीय सन्दर्भ को सैमुएल्सन के सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक स्पष्ट करना चाहते थे।

"सैमुएल्सन के सिद्धान्त का सम्पूर्ण रूप अर्थमिति के सन्दर्भ से प्रभावित होता है। बडे तथा सुन्दर सरलीकरण अनुगमन करते है। परन्तु मुझे विश्वास नही है कि सैमुएल्सन मे भी अर्थमितीय सन्दर्भ जैसा होना चाहिए बिल्कुल ठीक है। सैमुएल्सन द्वारा गहन रूप से प्रभावित यह वर्तमान कार्य उनका पूरी प्रकार से अनुगमन नही करेगा। तकनीक को हम उनके बिलकुल निकट रखेंगे परन्तु हमारी कार्य पद्धति-उनकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट रूप से अर्थमितीय होगी।[2]

यह लिखना महत्त्वपूर्ण है कि हिक्स अपनी पुस्तक '*A Revision of Demand Theory*' मे पुन एक बार गणनावाचक तुष्टिगुण के विचार तथा स्वतन्त्र तुष्टिगुणो की परिकल्पना को अस्वीकार करते हैं। वे निरन्तर विश्वास करते हैं कि तुष्टिगुण विशुद्ध रूप तो क्रमवाचक है। प्रो० हिक्स का विचार है कि सिद्धात के अधिक प्रारम्भिक भाग को लगभग उतने अच्छे प्रकार से ही गणनावाचक विधि से स्थापित किया जा सकता है जितना कि क्रमवाचक विधि से। परन्तु सिद्धान्त की अपेक्षाकृत अधिक कठिन शाखाओ मे गणनावाचक तुष्टिगुण जजाल या आपत्तिजनक वस्तु हो जाता है।'[3] आगे उनका विचार है कि यदि कोई स्वतन्त्र तुष्टिगुणो की परिकल्पना को अस्वीकार करता है तथा कीमत मे परिवर्तन के प्रभाव को प्रतिस्थापन प्रभाव तथा आय प्रभाव मे विभक्त करने की सम्भावना तथा लाभदायकता को स्वीकार करता है तो उसने व्यवहार मे गणनावाचक विश्लेषण को तर्क से निकाल दिया है। अत वे अपनी पुस्तक *Revision of Demand Theory* मे भी क्रमवाचक तुष्टिगुण के विचार का निरन्तर प्रयोग करते हैं।

परन्तु यह स्मरण रखना महत्त्वपूर्ण है कि हिक्स ने अपनी पुस्तक *Revision of Demand Theory* मे अनधिमान वक्रो के प्रयोग को त्याग दिया है जिन्होने मांग सिद्धान्त मे उनके प्रयोग को लोकप्रिय बनाया। इस नवीन पुस्तक के 22 रेखाचित्रो मे से किसी एक मे भी अनधिमान वक्र नही है हालाकि उनमे भी ऐसी स्थितियां हैं जो उपभोक्ता द्वारा समान रूप से वरीय मान हैं। वे अपने उपभोक्ता के अतिरेक के विचार की भी अनधिमान वक्रो की सहायता के बिना व्याख्या करते हैं। वे अब अनधिमान वक्र तकनीक की विभिन्न हानियो का सकेत करते हैं। प्रथम अनधिमान वक्रो की यह ज्यामितीय विधि केवल बिल्कुल सरल दशाओ को प्रदर्शित करने के लिए पूणतया प्रभावशाली तथा लाभदायक है विशेषतया उन दशाओ मे जिनमे चुनाव केवल दो वस्तुओ की मात्राओ से सम्बन्ध रखता है। जब विश्लेषण को तीन वस्तुओ तक विस्तृत किया जाता है तो तीन विमा वाले (three dimensional) जटिल रेखाचित्र खीचने पडते है। यदि विश्लेषण को तीन से अधिक वस्तुओ तक विस्तृत किया जाता है तो गणित का आश्रय लेना पडेगा जो प्राय 'क्या किया जा रहा है' उसके आर्थिक विषय को छिपा लेता है।

हिक्स के अनुसार अनधिमान वक्रो की ज्यामितीय विधि की द्वितीय हानि यह है कि, 'यह आरम्भ मे ही हमे निरन्तरता (continuity) की मान्यता करने के लिए बाध्य करती है। यह एक लक्षण है जो ज्यामितीय क्षेत्र मे अवश्य होता है परन्तु आर्थिक (क्षेत्र) मे सामान्य रूप से नही होता है।" अत वे अपने मांग सिद्धान्त के सशोधन मे निरन्तरता की मान्यता (assumption of continuity) को त्याग देते हैं।

कुछ भी हो प्रो० हिक्स का विचार है कि उपर्युक्त मे से कोई भी हानि अनधिमान वक्र विधि का त्याग

1 *Ibid*, p 3
2 *Ibid*, p 4
3 *Ibid*, p 9

करने के लिए पर्याप्त कारण नहीं प्रदान करती, जिसके स्वय के लाभ हैं तथा जो अर्थशास्त्रियों द्वारा व्यापक रूप से प्रयुक्त की जाती है। इस दशा मे जिसने हिक्स को नवीन विधि अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया वह यह है कि यह 'अधिमान परिकल्पना' को स्पष्ट करने मे अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली है। 'यदि प्राचीन विधि के स्थानापन्न के रूप मे नहीं तो कम से कम उसके आवश्यक पूरक के रूप मे नवीन विधि के पक्ष मे जो विचार मुझे निश्चित करना है वह स्वय 'अधिमान परिकल्पना' के स्वभाव को स्पष्ट करने मे इसकी अधिक प्रभावशीलता है।'[1] हम अब नीचे व्याख्या करेंगे कि हिक्स किस प्रकार अधिमान परिकल्पना को अपनी नवीन विधि को विकसित करते हैं तथा उस पर अपना माँग सिद्धान्त आधारित करते है।

किसी वस्तु की माँग से सम्बन्धित वास्तविक अथवा अनुभवाश्रित आँकड़े अनार्थिक तत्वो (जैसे जनसंख्या मे परिवर्तन, जनसंख्या का आयु-वितरण, सामाजिक रीति-रिवाज आदि) तथा आर्थिक तत्वो (जैसे प्रचलित कीमतें तथा आय) द्वारा निर्धारित होते हैं। अर्थमितिज्ञ का कार्य माँग के अनुभवाश्रित आँकड़ो (empirical data) पर उन प्रभावो को अनुमानित करना है जो प्रचलित कीमतो तथा आय मे परिवर्तनो के कारण उत्पन्न होते हैं परन्तु इस प्रकार के अनुमान करने के लिए अर्थमितिज्ञ को प्रचलित कीमतो तथा आय मे परिवर्तनो के कारण उत्पन्न प्रभाव को अनार्थिक तत्वो के कारण उत्पन्न प्रभावो से अलग करने के लिए एक तकनीक या विधि की आवश्यकता होती है। परन्तु इस प्रकार की विधि एक सिद्धान्त के बिना प्रदान नहीं की जा सकती है। माँग के सिद्धान्त का अर्थमितीय उद्देश्य इस विभाजन को करने में सहायता प्रदान करना है।"[2]

अत अर्थमितीय उद्देश्यो के लिए लाभदायक माग का सिद्धान्त वह है जो कि हमे उन विधियो के विषय मे कुछ बताएगा जिनमे उपभोक्ता प्रतिक्रिया करने वाले होंगे यदि प्रचलित कीमतो तथा आय मे परिवर्तन ही उपभोग मे परिवर्तन के एकमात्र कारण होते। इस प्रकार का माँग सिद्धान्त एक आदर्श उपभोक्ता की मान्यता से आरम्भ होता है जो परिभाषा द्वारा प्रचलित कीमतो तथा आय से ही प्रभावित होता है तथा यह भी प्रदर्शित करता है कि इस प्रकार के उपभोक्ता द्वारा किस प्रकार का व्यवहार करने की आशा की जाती है।

अधिमान परिकल्पना तथा क्रमबद्धता का तर्क (Preference Hypothesis and Logic of Ordering)

आदर्श उपभोक्ता के व्यवहार की व्याख्या करने के लिए प्रो० हिक्स अधिमान परिकल्पना को एक सिद्धान्त के रूप मे मानते हैं जो इस प्रकार के उपभोक्ता के व्यवहार को शासित करता है। 'अधिमान क्रम के अनुसार व्यवहार की मान्यता 'अधिमान परिकल्पना' कहलाती है। हिक्स निम्न प्रकार 'अधिमान परिकल्पना' अथवा अधिमान क्रम के अनुसार व्यवहार के अर्थ की व्याख्या करते हैं।

"आदर्श उपभोक्ता (जो वर्तमान बाजार दशाओं के अतिरिक्त अन्य किसी चीज से प्रभावित नहीं होता है) अपने समक्ष उपस्थित विभिन्न विकल्पों मे से उस विकल्प का चुनाव करता है जिसको वह सर्वाधिक अधिमान देता है अथवा सर्वोच्च कोटिक्रम प्रदान करता है। बाजार की दशाओ के एक समुदाय मे वह एक चुनाव करता है, अन्य मे अन्य चुनाव (करता है) परन्तु वह जो चुनाव करता है वे सदैव उसी प्रकार की क्रमबद्धता व्यक्त करते हैं। अत वे एक दूसरे से अवश्य सगत होने चाहिए। यह आदर्श उपभोक्ता के व्यवहार के विषय मे निर्मित परिकल्पना है।"[3]

हिक्स के उपर्युक्त कथन का अभिप्राय एक है कि एक दी हुई बाजार की परिस्थितियो मे उपभोक्ता सर्वाधिक अधिमान्य (most preferred) सयोग का चुनाव करता है तथा वह बाजार की विभिन्न परिस्थितियों मे विभिन्न सयोगों का चुनाव करेगा परन्तु बाजार की विभिन्न परिस्थितियों मे उसके चुनाव एक दूसरे से सगत होंगे।

1. *Op cit*, p 19

2 *Op cit*, p 17.

3 *Ibid*, p 18

हिक्स का माग सम्बन्धी तार्किक क्रमबद्धता सिद्धान्त

यह स्मरण रखना महत्त्वपूर्ण है कि *Value and Capital* मे प्रस्तुत हिक्स का मांग सिद्धान्त भी अधिमान परिकल्पना पर आधारित था परन्तु वहाँ उन्होने दिए हुए अधिमान क्रम को तुरन्त अनधिमान वक्रो के समुदाय के रूप मे व्यक्त किया। जैसा ऊपर लिखा गया है कि इस ज्यामितीय विधि के प्रत्यक्ष प्रवेश की विभिन्न हानियाँ हैं अत इसका त्याग कर दिया गया है। *Revision of Demand Theory* म हिक्स क्रमबद्धता के तर्क (logic of ordering) के ज्यामितीय प्रयोग से आरम्भ करने के बजाय स्वय उमसे (क्रमबद्धता के तर्क) आरम्भ करते हैं। उनके अनुसार, "जो माँग सिद्धान्त अधिमान परिकल्पना पर आधारित है वह क्रमबद्धता के तार्किक सिद्धान्त के आर्थिक प्रयोग के अतिरिक्त और कुछ भी नही है।"[1] अत अधिमान परिकल्पना से माँग सिद्धान्त व्युत्पन्न करने के पूर्व वे क्रमबद्धता के तर्क' की व्याख्या करते है। इस प्रसग मे वे सबल क्रमबद्धता (Strong ordering) तथा निर्बल क्रमबद्धता (Weak ordering) के बीच अन्तर करते है। तत्पश्चात् वे अधिमान परिकल्पना क निर्बल क्रमबद्धता-रूप पर अपने माँग सिद्धान्त को आधारित करने के लिए आगे बढते हैं।

सबल तथा निर्बल क्रमबद्धता विभेदीकृत (Strong and Weak Ordering Distinguished)

मदो का एक समुदाय सबल रूप म क्रमबद्ध होता है यदि क्रम मे प्रत्येक मद का स्वयका स्थान है (A set of items is strongly ordered if each item has a place of its own in the order) और तब प्रत्येक मद को एक सख्या दी जा सकती है तथा प्रत्येक सख्या के लिए केवल एक तत्सवादी मद होगा। मदो का एक समुदाय निर्बल रूप से क्रमबद्ध होता है यदि मदो को समूहो मे एकत्रित किया गया है परन्तु एक समूह के अन्तर्गत किसी भी मद को दूसरे के समक्ष नही रखा जा सकता। 'निर्बल क्रमबद्धता के अन्तर्गत समूहो मे विभाजन होता है जिसमे समूहो का तारतम्य (sequence) दृढतापूर्वक क्रमबद्ध होता है परन्तु जिसमे समूहो के अन्तर्गत (विभिन्न मदो मे) कोई क्रमबद्धता नही होती है।" (A weak ordering consists of a division into groups, in which sequence of groups is strongly ordered, but in which there is no ordering within the groups)[2]

यह ध्यान देने योग्य है कि जिस सीमा तक एक दिए हुए अनधिमान वक्र पर सभी बिंदु समान रूप से वाछनीय हैं अनधिमान वक्रो का अभिप्राय निर्बल क्रमबद्धता (Weak ordering) से होता है और इसलिए
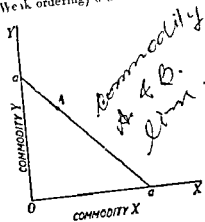
रेखाकृति 10 1

क्रम मे वे समान स्थान ग्रहण करते हैं। दूसरी ओर उद्घाटित अधिमान दृष्टिकोण का अभिप्राय सबल क्रमबद्धता (Strong ordering) म होता है क्योंकि यह मानता है कि उपभोक्ता को उपलब्ध अन्य सभी वैकल्पिक सयोगो पर किसी एक सयोग का चुनाव उसके लिए उपभोक्ता के अधिमान को प्रकट करता है। किसी एक सयोग के लिए चुनाव अधिमान को तब ही प्रकट कर सकता है यदि सभी वैकल्पिक सयोग दृढतापूर्वक क्रमबद्ध हैं। निर्बल क्रमबद्धता (Weak ordering) का अभिप्राय है कि उपभोक्ता एक स्थिति का चुनाव करता है तथा उसे उपलब्ध अन्य को अस्वीकार कर देता है तो आवश्यक नही है कि अस्वीकृत स्थितियाँ वास्तविक रूप मे चुनी गयी स्थिति की अपेक्षा हीन

1 According to him, "the demand theory which is based on the preference hypothesis turns out to be nothing else but an economic application of the logical theory of ordering" *Ibid*, p 18.

2. *Ibid*, p 19.

(inferior) हो। बल्कि इनके प्रति अनधिमान्य (indifferent) भी हो सकती है। अत निर्बल क्रमबद्धता के अन्तर्गत वास्तविक चुनाव (या चयन) निश्चित अधिमान को प्रकट करने में असफल होता है। मांग के सिद्धान्त में प्रयुक्त सबल क्रमबद्धता तथा निर्बल क्रमबद्धता को रेखाचित्र 10 1 में स्पष्ट किया गया है। यदि उपभोक्ता aa कीमत आय परिस्थिति का सामना करता है जिससे वह त्रिभुज aOa पर या उसके अन्दर पड़ने वाले किसी संयोग का चुनाव कर सकता है। माना कि हमारा उपभोक्ता A संयोग का चुनाव करता है। हम मान लें कि हमारा उपभोक्ता एक आदर्श उपभोक्ता है जो अनधिमान परिकल्पना के अनुसार कार्य कर रहा है। अब प्रश्न है कि त्रिभुज aOa पर तथा उसके अन्दर उपलब्ध विकल्पों में से A के चुनाव की क्रिया का निर्वचन किस प्रकार किया जाय। यदि उपलब्ध विकल्प दृढ़तापूर्वक क्रमबद्ध हैं तो उपभोक्ता द्वारा A का चुनाव प्रदर्शित करेगा कि वह अन्य सभी उपलब्ध विकल्पों पर A को अधिमान प्रदान करता है। सैमुएल्सन की भाषा में वह अन्य सभी अस्वीकृत सभव विकल्पों पर A के लिए अपना अधिमान प्रकट करता है। चूंकि सबल क्रमबद्धता के अन्तर्गत उपभोक्ता चुने गये विकल्प के लिए निश्चित अधिमान प्रदर्शित करता है अत चुने गए (विकल्प) के प्रति किसी अनधिमान्य दशा का प्रश्न नहीं उठता।

हिक्स द्वारा सबल क्रमबद्धता के तर्क की आलोचना (Hicks' Criticism of the Logic of Strong Ordering)

प्रो० हिक्स सबल क्रमबद्धता के तर्क की आलोचना करते हैं। "यदि हम अधिमान परिकल्पना का सबल क्रमबद्धता के अर्थ में निर्वचन करते हैं हम यह नहीं मान सकते हैं कि सभी ज्यामितीय बिन्दु, जो त्रिभुज aOa पर या उसके अन्दर पड़ते हैं, प्रभावपूर्ण विकल्पों को प्रदर्शित करते हैं। दो विमा वाला अविच्छिन्न बिन्दु दृढ़तापूर्वक क्रमबद्ध नहीं किया जा सकता है।" प्रो० हिक्स आगे कहते हैं कि यदि यह मान लिया जाय कि वस्तुएं विच्छिन्न इकाइयों में ही उपलब्ध होती हैं ताकि रेखाचित्र को वर्गाकार कागज पर खींचा जाना हुआ समझा जाय और वर्गों के कोनों पर पड़ने वाले बिन्दु ही प्रभावपूर्ण विकल्प हों और इसलिए चुना हुआ बिन्दु भी वर्ग के कोने में अवश्य पड़ना चाहिए, तब सबल क्रमबद्धता परिकल्पना मान्य है। चूंकि वास्तविक जीवन में वस्तु विच्छिन्न इकाइयों में उपलब्ध होती है अत सबल क्रमबद्धता परिकल्पना में कोई कठिनाई उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। परन्तु प्रो० हिक्स तर्क देते हैं कि वास्तविक वस्तुएँ इकाइयों की पूर्ण संख्या में उपलब्ध हो सकती हैं परन्तु यह संयुक्त वस्तु मुद्रा जो सामान्यत Y-अक्ष पर मापी जाती है, के विषय में नहीं कहा जा सकता जबकि किसी अकेली वस्तु की मांग का विश्लेषण होता है। हिक्स मुद्रा को सूक्ष्मत विभाज्य मानते हैं। उन्हें उद्धृत करते हुए,

यदि वास्तविक वस्तुओं में से प्रत्येक, जिसमें M का विनिमय किया जा सकता है, स्वयं विच्छिन्न इकाइयों में उपलब्ध है परन्तु यदि इस प्रकार की वस्तुओं की संख्या अधिक है तो अनेक ऐसे उपाय होंगे जिसमें व्यक्तिगत वस्तुओं के उपभोग की पुनर्व्यवस्था द्वारा मुद्रा M की मात्रा में थोड़ी वृद्धि का उपभोग किया जा सकता है। अत इसका अर्थ होगा कि M की प्राप्य इकाइयों को अत्यधिक छोटी समझा जाना चाहिए। ज्योंही कोई व्यक्तिगत वस्तु सूक्ष्म रूप से विभाज्य इकाइयों में प्राप्य हो जाती है त्योंही M को सूक्ष्म रूप में विभाज्य समझा जाना चाहिए। व्यवहार में सामान्यतया M को X के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के क्रय के लिए मुद्रा समझना चाहिए। यद्यपि मुद्रा गणितीय अर्थ में अन्तिम रूप में विभाज्य नहीं है, अन्य इकाइयों, जिनसे हम सम्बन्धित हैं, सबसे छोटी मौद्रिक इकाइयों (फार्दिंग या सेन्ट) की अपेक्षा इतनी छोटी हैं कि व्यवहार में मुद्रा की अपूर्ण विभाज्यता महत्त्वहीन विषय है। इन कारणों से यद्यपि वास्तविक वस्तु X को विच्छिन्न इकाइयों में प्राप्य मानने की सामर्थ्य रखना एक सैद्धान्तिक सुधार है, परन्तु संयुक्त वस्तु M पर उसी अविभाज्यता को आरोपित करना कोई सुधार नहीं है। मुद्रा को सूक्ष्म रूप में विभाज्य मानना अधिक श्रेष्ठ है।"[1]

1 Hicks, *op cit*, p 40 41.

अत हिक्स के अनुसार जहां विच्छिन्न इकाइयो मे उपलब्ध किसी वस्तु तथा सूक्ष्म रूप से विभाज्य मुद्रा के बीच चुनाव करना है, समान रूप से इच्छित सयोग की सम्भावना को अवश्य स्वीकार करना चाहिए तथा इसलिए सबल क्रमबद्धता (Strong ordering) को त्याग देना पडता है। सबल क्रमबद्धता परिकल्पना क्यो मान्य नही है जब पूर्णरूप से विभाज्य मुद्रा तथा अपूर्ण रूप से विभाज्य X वस्तु के बीच चुनाव करना होता है। रेखाकृति 10 2 मे Y-अक्ष पर सूक्ष्म रूप से विभाज्य मुद्रा तथा X-अक्ष पर अपूर्ण रूप से विभाज्य X वस्तु प्रदर्शित है। इसका कारण है कि यदि Y-अक्ष पर प्रदर्शित मुद्रा को सूक्ष्म रूप से विभाज्य माना जाता है तो प्रभावपूर्ण विकल्प
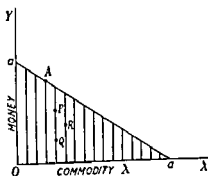
रेखाकृति 10 2

वर्ग के कोनो द्वारा नही प्रदर्शित किये जायेंगे। वे रेखाचित्र मे समानान्तर रेखाओ (या चौडी धारियो) की शृंखलाओ की भाँति प्रतीत होगे। जैसा कि रेखाकृति 10 2 मे प्रदर्शित है। चौडी धारियो (stripes) पर सभी बिन्दु प्रभावपूर्ण विकल्प होगे परन्तु इस प्रकार के विकल्प दृढतापूर्वक क्रमबद्ध नही किये जा सकते। 'यदि एक सम्पूर्ण चौडी धारी (stripe) को दूसरी चौडी धारी की अपेक्षा अधिमान्य न किया गया तो इसका अर्थ होगा कि उपभोक्ता को उसके लिए चाहे जो भुगतान करना पडे वह X की एक अतिरिक्त इकाई को पसन्द करेगा।" (Unless the whole of one stripe was preferred to the whole of the next stripe and so on which means that the consumer would always prefer an additional unit of X whatever he had to pay for it'[1] परन्तु यह बिलकुल अनुचित है। इस प्रकार चौडी धारियो पर पडने वाले प्रभावपूर्ण विकल्पो को दृढतापूर्वक क्रमबद्ध नही किया जा सकता। पुन माना कि एक दी हुई चौडी धारी पर दो विकल्प P तथा Q हैं जो इस प्रकार है कि अन्य चौडी धारी पर R की अपेक्षा P अधिमान्य है जब कि R अधिमान्य है Q की अपेक्षा। उनके दिये हुए होने पर हम हमेशा P तथा Q के बीच ऐसा बिन्दु प्राप्त कर सकते है जो R के प्रति अनधिमानित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब विभिन्न विकल्प चौडी धारियो की शृंखलाओ की भाँति प्रतीत होते है तो उनमे से कुछ के बीच उदासीनता या अनधिमान (indifference) का सम्बन्ध हो सकता है। इस प्रकार विभिन्न वैकल्पिक सयोग जब सूक्ष्म रूप से विभाज्य सयुक्त वस्तु मुद्रा तथा विच्छिन्न इकाइयो मे उपलब्ध वास्तविक वस्तु के निर्मित होते हैं तो सबल क्रमबद्धता को बनाये नही रखा जा सकता।

'ज्योही हम निरन्तरता के न्यूनतम अश (जैसा कि धारीदार परिकल्पना द्वारा परिचय दिया गया है) का आरम्भ करते है त्योही सबल क्रमबद्धता को त्याग देना पडता है।"[2]

निर्बल क्रमबद्धता का तर्क (The Logic of Weak Ordering)

सबल क्रमबद्धता की परिकल्पना का त्याग करने के पश्चात् प्रो॰ हिक्स निर्बल क्रमबद्धता परिकल्पना को स्वीकार करने के पक्ष मे तर्क देने के लिए आगे बढते है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि 'निर्बल क्रमबद्धता परिकल्पना' अनधिमान के सम्बन्ध को मान्यता प्रदान करती है जबकि सबल क्रमबद्धता परिकल्पना नही। प्रो॰ हिक्स के शब्दो मे—

"यदि उपभोक्ता के अधिमान का पैमाना निर्बल रूप से क्रमबद्ध है तो एक विशेष स्थिति A का उसका

1 *Ibid*, p 41
2 J R Hicks *op cit* p 41

चुनाव यह प्रदर्शित (या प्रकट) नहीं करता कि त्रिभुज पर अथवा उसके अन्दर अस्वीकृत किसी स्थिति की अपेक्षा A अधिमान्य है। जो कुछ भी प्रदर्शित किया जाता है वह यह कि कोई ऐसी अस्वीकृत स्थिति नहीं है जो A की अपेक्षा अधिमान्य हो। यह पूर्ण या सम्भव है कि कुछ अस्वीकृत स्थितियाँ A के प्रति अनधिमान्य (indifferent) हों। तब उस अस्वीकृत स्थिति के बजाय A का चुनाव अवसर की बात है।"[1]

हिक्स के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि निर्बल क्रमबद्धता परिकल्पना के अन्तर्गत एक विशेष सयोग का चुनाव अन्य सम्भव वैकल्पिक सयोगो पर उस विशेष सयोग के लिए अधिमान को व्यक्त नही करता बल्कि यह केवल यही प्रदर्शित करता है कि चुनाव त्रिभुज पर अथवा उसके अन्दर स्थित अन्य सभी सम्भव वैकल्पिक सयोग चुने हुए सयोग की अपेक्षा अधिमान्य नही हो सकते है। कुछ अस्वीकृत सयोगो की चुने हुए सयोग के प्रति अनधिमान्य होने की सम्भावना है। यदि अधिमान परिकल्पना को इसकी निर्बल क्रमबद्धता के रूप मे स्वीकार किया जाता है तो यह उपभोक्ता के व्यवहार के विषय मे इतनी कम सूचनाएँ प्रदान करता है कि माँग सिद्धान्त की आधारभूत उक्तियां (propositions) या कथनो की व्युत्पत्ति नही की जा सकती। अतः हिक्स ने निर्बल क्रमबद्धता परिकल्पना को स्वीकार करने के साथ एक अतिरिक्त परिकल्पना को समाविष्ट करने की आवश्यकता का अनुभव किया ताकि माँग सिद्धान्त की आधारभूत उक्तियो को व्युत्पन्न किया जा सके। यह अतिरिक्त परिकल्पना जिसको समाविष्ट किया गया है सरल रूप मे यह है कि 'एक उपभोक्ता मुद्रा की कम मात्रा की अपेक्षा मुद्रा की अधिक मात्रा को सदैव अधिमान्य करेगा यदि उसके अधिकार मे X वस्तु की मात्रा अपरिवर्तित रहे।"[2] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यदि अधिमान परिकल्पना की सबल क्रमबद्धता के रूप को स्वीकार किया जाता है तो इस अतिरिक्त परिकल्पना का स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। परन्तु यह अतिरिक्त परिकल्पना जो कि हिक्स द्वारा समाविष्ट की गयी बहुत तर्कसगत है तथा आर्थिक विश्लेषण मे सदैव अन्तर्निहित होती है यद्यपि यह प्रत्येक समय स्पष्ट रूप से वर्णित नही होती है।

अब प्रश्न है कि उपर्युक्त अतिरिक्त परिकल्पना की सहायता से निर्बल क्रमबद्धता दृष्टिकोण द्वारा कौन सी सकारात्मक सूचना प्रदान की जाती है। आइए हम रेखाकृति 10 3 को देखें। त्रिभुज aOa पर तथा उसके अन्दर उपलब्ध सभी सयोगो मे से उपभोक्ता A का चुनाव करता है। केवल निर्बल क्रमबद्धता परिकल्पना

रेखाकृति 10 3
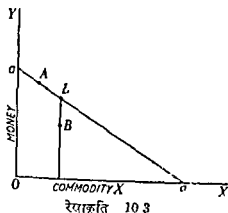
के अन्तर्गत aOa त्रिभुज के अन्दर पडने वाले सयोग B के बजाय A का चुनाव यह प्रदर्शित नही करता है कि B की अपेक्षा A अधिमान्य है। यह केवल यही प्रदर्शित करता है कि A की अपेक्षा B अधिमान्य नही है। अन्य शब्दो मे, केवल निर्बल क्रमबद्धता के अन्तर्गत ही B के बजाय A के चुनाव का अर्थ है कि या तो B की अपेक्षा A अधिमान्य है या A तथा B अनधिमान्य है।

अब, L स्थिति पर ध्यान दें जो B से होकर जाने वाली चौडी धारी (stripe) के aa रेखा से मिलने वाले बिन्दु पर स्थित है। निर्मित अतिरिक्त परिकल्पना के आधार पर B की अपेक्षा L अधिमान्य है क्योकि L स्थिति, B की अपेक्षा मुद्रा की अधिक मात्रा का समावेश करती है जबकि X की मात्रा दोनो स्थितियो मे समान है। यदि A तथा B अनधिमान्य हैं तो सक्रियता (transitivity) से तात्पर्य निकलता है कि

1. *Ibid*, p 42
2. *Ibid*, p 42

A की अपेक्षा L अधिमान्य है। परन्तु जब A का चुनाव किया था तो L प्राप्य था। अत यद्यपि L, A के प्रति अनधिमान्य हो सकता है, यह A की अपेक्षा अधिमान्य नही हो सकता। इस प्रकार, इसका तात्पर्य है कि A तथा B मे अनधिमान की सम्भावना को स्वीकार नही किया जाना चाहिए। अत जब हम अतिरिक्त परिकल्पना सहित निर्बल क्रमबद्धता को स्वीकार करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि त्रिभुज के अन्दर पडने वाले किसी भी सयोग, जैसे B की अपेक्षा चुना हुआ सयोग A अधिमान्य है। अतिरिक्त परिकल्पना के साथ भी निर्बल क्रमबद्धता के अन्तर्गत जो निश्चिततापूर्वक नही कहा जा सकता है वह यह है कि चुना हुआ सयोग A त्रिभुज पर अर्थात् aa रेखा पर पडने वाले सयोग जैसे L की अपेक्षा अधिमान्य है। L की अपेक्षा A या तो अधिमान्य हो सकता है या उसके प्रति अनधिमान्य। सबल तथा निर्बल क्रमबद्धता के अभिप्रायो के बीच अतर स्पष्ट करते हुए प्रो॰ हिक्स कहते हैं, "इस प्रकार निर्वचित (interpreted) सबल तथा निर्बल क्रमबद्धता के परिणामो के बीच अन्तर इससे अधिक और नही है कि सबल क्रमबद्धता के अन्तर्गत चुनी हुई स्थिति, त्रिभुज पर अथवा उसके अन्दर स्थित अन्य सभी स्थितियो की अपेक्षा अधिमान्य प्रदर्शित होती है जबकि निर्बल क्रमबद्धता के अन्तर्गत यह (चुनी गई स्थिति) त्रिभुज के अन्दर पडने वाली अन्य सभी स्थितियो की अपेक्षा अधिमान्य होती है परन्तु अपने समान उसी सीमा पर स्थित अन्य स्थितियो के प्रति अनधिमान्य हो सकती है।" ("The difference between the consequences of strong and weak ordering so interpreted amounts *to no more* than this that under strong ordering the chosen position is shown to be preferred to all other positions within and on the triangle, while under weak ordering it is preferred to all positions within the triangle but may be indifferent to other positions on the same boundary as itself"[1]

उपर्युक्त से यह स्पष्ट हो गया होगा कि सबल तथा निर्बल क्रमबद्धता के प्रभाव के बीच अन्तर बहुत कम है तथा यह चरम दशाओ (limiting cases) के एक वर्ग (त्रिभुज पर पडने वाली स्थितियाँ) को ही प्रभावित करता है। प्रो॰ हिक्स का कहना है कि निर्बल क्रमबद्धता सिद्धात मे अधिक सहनशीलता है और इसलिए यह इन चरम दशाओ से अधिक भलीभाँति व्यवहार करता है। प्रो॰ हिक्स दृढतापूर्वक कहते हैं कि इसके अतिरिक्त निर्बल क्रमबद्धता परिकल्पना अधिक उपयोगी तथा वाछनीय है। यदि हम सबल क्रमबद्धता दृष्टिकोण को अपनाते हैं तो हम लोग न केवल उस वस्तु विशेष की अविभाज्यता के प्रति अविच्छिन्नता (discontinuity) को स्वीकार कर रहे हैं जिसकी कि माँग का अध्ययन किया जा रहा है वरन् पृष्ठभूमि के रूप मे प्रयुक्त सयुक्त वस्तु की अविभाज्यता से भी (वचनबद्ध हो रहे हैं)। दूसरी ओर यदि हम निर्बल क्रमबद्धता दृष्टिकोण को अपनाते हैं तो हम कुछ अश तक निरन्तरता (continuity) को स्वीकार कर रहे हैं परन्तु स्वय पृष्ठभूमि वस्तु की विभाज्यता निश्चित करने के लिए पर्याप्त है कि निर्बल दृष्टिकोण व्यवहार्य है अर्थात् व्यवहार मे लाने योग्य है।"

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि निर्बल क्रमबद्धता दृष्टिकोण को लाभदायक होने के अतिरिक्त एक मान्यता का निर्माण करने की आवश्यकता होती है वह यह कि उपभोक्ता मुद्रा की कम मात्रा की अपेक्षा अधिक मात्रा को अधिमान प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त निर्बल क्रमबद्धता दृष्टिकोण को अपनाने पर जिस अन्य मान्यता का आवश्यक रूप से निर्माण करना पडता है, वह यह है कि अधिमान क्रम सक्रिय होता है (Preference order is transitive)। सबल क्रमबद्धता परिकल्पना की दशा मे इन दो मान्यताओं की आवश्यकता नही होती है।

प्रत्यक्ष सगति परीक्षण (The Direct Consistency Test)

सैमुएल्सन का अनुगमन करते हुए प्रो॰ हिक्स भी आदर्श उपभोक्ता की ओर से चुनाव व्यवहार की सगति की मान्यता स्वीकार करते हैं जिसके अधि-

1 J. R Hicks, *Op.cit*

मानों का पैमाना अपरिवर्तित रहता है जब वस्तुओं की कीमतें तथा उसकी आय परिवर्तित होती हैं। अत उपभोक्ता की मांग के विषय मे नियमो को व्युत्पन्न करने के लिए हिक्स सगति परीक्षण का प्रयोग करते हैं जिसका प्रयोग सैमुएलसन द्वारा अपने उद्घाटित अधिमान दृष्टिकोण मे किया गया है। प्रो० हिक्स इस सगति परीक्षण को प्रत्यक्ष सगति परीक्षण (Direct Consistency Test) कहते हैं। यह स्मरण किया जाना चाहिए कि प्रत्यक्ष सगति परीक्षण, क्रम के तर्कशास्त्र के सिद्धान्त की दोनरफा परीक्षण दशाओं की आर्थिक अभिव्यक्ति के सिवाय कुछ भी नही है।

सैमुएलसन द्वारा अपने उद्घाटित अधिमान सिद्धान्त में प्रयुक्त सगति परीक्षण बिल्कुल सरल है। परन्तु हिक्स ने अनेक वैकल्पिक दशाओं मे निहित सगति अथवा असगति को ध्यान मे रखते हुए सगति के विचार का विस्तार किया है। आइए पूर्ववत अर्थात् पहले के समान X वस्तु को X-अक्ष पर तथा सयुक्त वस्तु मुद्रा (जो *अन्य सभी वस्तुओं को प्रदर्शित करती है*) को Y-अक्ष पर प्रदर्शित करें। X-वस्तु की कीमत तथा उपभोक्ता की आय दी हुई होने पर उपभोक्ता को उपलब्ध वैकल्पिक सयोग, त्रिभुज aOa पर अथवा उसके अन्दर पडने वाले बिन्दुओ द्वारा प्रदर्शित हैं। aa रेखा पर A बिन्दु वास्तव मे चुना गया सयोग प्रदर्शित करता है। जैसा कि पहले देखा जा चुका है कि सबल क्रमबद्धता के अन्तर्गत त्रिभुज पर अथवा उसके अन्दर पडने वाले अन्य सभी प्राप्य सयोगो की अपेक्षा A को अधिमान्य प्रदर्शित किया गया है। परन्तु निर्बल क्रमबद्धता के अन्तर्गत A को त्रिभुज **aOa** के *अन्दर स्थित सभी सयोगो की अपेक्षा अधिमान्य* प्रदर्शित किया गया है तथा aa पर स्थित अन्य सयोगो के प्रति या तो अधिमान्य है या अनधिमान्य है। अब, अन्य कीमत-आय परिस्थिति bb को लें जिसमे X वस्तु की कीमत भिन्न है जबकि उपभोक्ता की आय भिन्न हो भी सकती है और नही भी। नवीन परिस्थिति मे उपभोक्ता को उपलब्ध विभिन्न वैकल्पिक सयोग वे हैं जो त्रिभुज bOb पर अथवा उसके अन्दर स्थित हैं। इस नवीन परिस्थिति मे bb रेखा पर B बिन्दु वास्तव में चुना गया सयोग प्रदर्शित करता है। A परिस्थिति के समान ही B परिस्थिति मे भी अधिमान परिकल्पना के सबल तथा निर्बल रूप के अन्तर्गत उसी प्रकार के अधिमान अनुगमन होंगे।

चूंकि उपभोक्ता को दोनों परिस्थितियो मे अधिमानो के अपरिवर्तित क्रम के अनुसार कार्य करता हुआ माना जाता है अत उसके द्वारा दो परिस्थितियो मे अधिमान भी एक दूसरे से सगत होने चाहिए। उपभोक्ता का व्यवहार असगत होगा यदि वह A परिस्थिति मे B सयोग पर A सयोग के लिए अधिमान प्रकट करता है जबकि B परिस्थिति मे A सयोग पर B सयोग को अधिमान प्रदान करता है जबकि दोनो परिस्थितियो मे A तथा B दोनो सयोग उपलब्ध हैं। परन्तु निर्बल क्रमबद्धता के अन्तर्गत अनधिमान की सम्भावना को भी ध्यान मे रखना पडता है।

विभिन्न सभव दशाएँ जिनमे सगति या असगति का निर्णय करना है निम्न प्रकार हैं :

(*a*) यह विचारणीय है कि दो कीमत आय रेखाओ मे से एक दूसरी से पूर्णतया बाहर स्थित है जैसा कि रेखाकृति 10 4 मे प्रदर्शित है जहाँ aa रेखा bb के पूर्णतया बाहर स्थित है। इस दशा मे B बिन्दु त्रिभुज aOa के अन्दर स्थित है। अत A परिस्थिति मे सबल

रेखाकृति 10 4
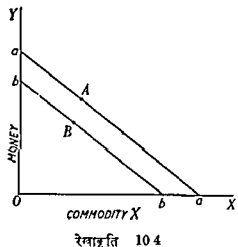
तथा निर्बल क्रमबद्धता के अन्तर्गत B की अपेक्षा A अधिमान्य है। B परिस्थिति में A उपलब्ध नहीं है। अत. A परिस्थिति मे उपभोक्ता द्वारा A का चुनाव, B परिस्थिति में B के चुनाव से बिल्कुल सगत है।

(b) द्वितीय, यदि दो कीमत-प्राय रेखाओ मे से एक दूसरी के पूर्णतया बाहर स्थित नही है तो दोनो एक दूसरे का किसी बिन्दु पर प्रतिच्छेद करेंगी। माना कि प्रतिच्छेद (*cross*) के बायी ओर *aa* कीमत आय रेखा *bb* कीमत आय रेखा के बाहर स्थित है (ताकि यह अपेक्षाकृत अधिक आय प्रदर्शित करे) तथा प्रतिच्छेद के दाहिनी ओर यह *bb* कीमत आय रेखा के अन्दर स्थित है। जब दो कीमत आय रेखाएँ एक दूसरे को प्रतिच्छेद करती हैं तो निम्न चार दशाएँ सम्भव होती हैं

(i) दोनो परिस्थितियो मे क्रमश चुनी गई दशाएँ *A* तथा *B* प्रतिच्छेद के बायी ओर स्थित हो सकती हैं जैसा कि रेखाकृति 10 5 मे *A* तथा *B* बिन्दु। इस दशा मे *B* परिस्थिति मे *B* का चुनाव *A* परिस्थिति मे *B* पर *A* के लिए अधिमान से बिल्कुल सगत है। *B* त्रिभुज *aOa* के अन्दर स्थित है अत *A* परिस्थिति मे *A* का चुनाव उपभोक्ता के *B* पर *A* के लिए सबल तथा निर्बल क्रमबद्धता दोनो के अन्तर्गत अधिमान को प्रदर्शित करता है। परन्तु *B* परिस्थिति मे *A* उपलब्ध नही है और इसलिए *B* परिस्थिति मे *B* का चुनाव *A* परिस्थिति मे *A* के चुनाव से पूर्णतया सगत है।
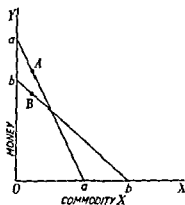
रेखाकृति 10 5

(ii) दो परिस्थितियो मे चुनी गयी दशाएँ *A* तथा *B* प्रतिच्छेद के दाहिनी ओर स्थित हो सकती हैं जैसा कि रेखाकृति 10 6 मे है। यहाँ भी *B* परिस्थिति मे *A* के बजाय *B* का चुनाव, *A* परिस्थिति मे *A* के चुनाव से बिल्कुल सगत है। *A* दशा *bOb* त्रिभुज के अन्दर स्थित है और इसलिए सबल तथा निर्बल क्रमबद्धता के अन्तर्गत *B* परिस्थिति मे *A* की अपेक्षा *B* को अधिमान्य प्रकट किया गया है। परन्तु उपभोक्ता *A* परिस्थिति मे *A* का चुनाव करता है क्योकि *A* परिस्थिति मे *B* प्राप्य नहीं है। इस प्रकार इस दशा मे भी उपभोक्ता का चुनाव व्यवहार बिल्कुल सगत है।
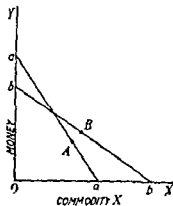
रेखाकृति 10 6
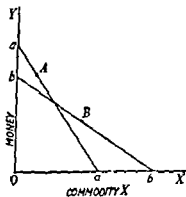
रेखाकृति 10 7

(iii) दो परिस्थितियो म क्रमश चुनी गई दो दशाएँ *A* तथा *B* प्रतिच्छेद के बाहर स्थित हो सकती हैं। *A* इसके बायी ओर तथा *B* दाहिनी ओर हो सकती है जैसा कि रेखाकृति 10 7 मे प्रदर्शित है। इस दशा मे *A* परिस्थिति मे जब *A* का चुनाव किया जाता है, तो *B* प्राप्य नही है तथा *B* परिस्थिति मे जब *B* का चुनाव

किया जाता है, A प्राप्य नहीं है। अत दो परिस्थितियों मे किए गये चुनाव सगत है चाहे सबल अथवा निर्बल क्रमबद्धता को अपनाया जाय।
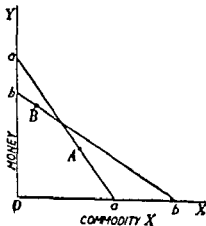
रेखाकृति 10 8

(iv) दो परिस्थितियो मे क्रमश चुनी गयी दो दशाएं A तथा B प्रतिच्छेद के अन्दर स्थित हो सकती है, A इसके दाहिनी ओर तथा B बायी ओर हो सकती है जैसा कि रेखाकृति 10 8 म प्रदर्शित है। इस दशा म असगति (inconsistency) है। A परिस्थिति मे जब A का चुनाव किया जाता है, B त्रिभुज aOa के अदर स्थित होता है। अत B की अपेक्षा A को अधिमान्य प्रकट किया गया है। परन्तु B परिस्थिति मे जहाँ A भी उपलब्ध है तथा त्रिभुज bOb के अन्दर स्थित है, A के बजाय B दशा का चुनाव किया जाता है तो यह उपभोक्ता के B के ऊपर A के लिए अधिमान को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार इस दशा म एक बार उपभोक्ता B की अपेक्षा A को अधिमान प्रदान करता है तथा दूसरी बार A की अपेक्षा B को अधिमान प्रदान करता है अत यह चुनाव सबल तथा निर्बल क्रमबद्धता दोनो के अन्तर्गत बिल्कुल असगत है।

(c) अन्त मे, हमारे पास विशेष दशाओ का एक समूह है जबकि दो कीमत-आय रेखाएँ एक दूसरे का प्रतिच्छेद करती हैं परन्तु दो चुनाव दशाओ मे से एक प्रतिच्छेद बिन्दु पर स्थित होती है जबकि अन्य चुनी गई दशा या तो प्रतिच्छेद के अन्दर या बाहर स्थित हो सकती है। इस प्रकार इस सम्बन्ध मे दो सम्भावनाएँ हैं

(i) एक चुनी गई दशा प्रतिच्छेद बिन्दु पर स्थित है जबकि दूसरी प्रतिच्छेद के बाहर स्थित हो सकती है। उदाहरणार्थ माना कि A दशा प्रतिच्छेद बिंदु पर स्थित है तथा चुनी गई B दशा प्रतिच्छेद के बाहर स्थित है जैसा कि रेखाकृति 10 9 म प्रदर्शित है। इस दशा मे, A परिस्थिति मे B उपलब्ध नहीं है इसलिए A परिस्थिति म A का चुनाव तथा B परिस्थिति मे B का चुनाव असगत नही है। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि B परिस्थिति म A तथा B दोनो उपस्थित है तथा A के बजाय B वास्तव मे चुना जाता है। निर्बल क्रमबद्धता परिकल्पना के अन्तर्गत इसका अर्थ है कि B या तो A की अपेक्षा अधिमान्य है या इससे अनधिमान्य है (A भी bb रेखा पर स्थित है) परन्तु A परिस्थिति मे
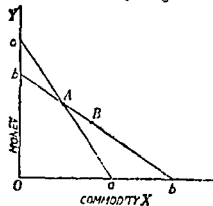
रेखाकृति 10 9

A के चुनाव का अर्थ असगति नही है क्योकि A परिस्थिति मे B उपलब्ध नही है।

(ii) एक चुनी हुई दशा प्रतिच्छेद बिन्दु पर स्थित हो सकती है जबकि दूसरी प्रतिच्छेद बिंदु के अन्दर हो सकती है। माना कि चुनी गई दशा A प्रतिच्छेद बिंदु पर स्थित है तथा चुनी गई दशा B प्रतिच्छेद बिंदु के अन्दर स्थित है जैसा कि रेखाकृति 10 10 मे प्रदर्शित है। इस दशा मे, B दशा त्रिभुज aOa के अन्दर स्थित है। अत निर्बल क्रमबद्धता के अन्तर्गत भी A परिस्थिति मे A का चुनाव प्रदर्शित करता है कि B की अपेक्षा A अधिमान्य है। परन्तु B परिस्थिति मे B का चुनाव

निर्बल क्रमबद्धता के अन्तर्गत प्रदर्शित करता है कि या तो A की अपेक्षा B अविमान्य है या B अनधिमान्य है A से (A भी bb रेखा पर स्थित है) जोकि B पर A के लिए निश्चित अधिमान से असगत है। अत यदि एक चुना हुआ बिंदु प्रतिच्छेद बिंदु पर स्थित होता है जबकि अन्य प्रतिच्छेद के अदर तो उपभोक्ता के व्यवहार मे चुनाव की असगति होनी है।
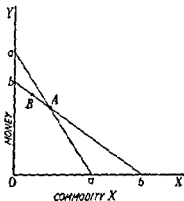
रेखाकृति 10·10

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी दशाओ मे प्रत्यक्ष सगति परीक्षण से हम समान निष्कर्ष पर पहुचते हैं चाहे हम सबल क्रमबद्धता परिकल्पना को अपना रहे हैं अथवा निर्बल क्रमबद्धता परिकल्पना को। किसी भी परिकल्पना के आधार (का प्रयोग करने) पर निम्न दो दशाओ मे असगति है —

(i) जब A तथा B दोनो दशाएँ प्रतिच्छेद के अन्दर (within) स्थित होती है।

(ii) जब एक दशा प्रतिच्छेद बिंदु पर तथा दूसरी प्रतिच्छेद के अन्दर स्थित होती है।

यद्यपि अधिमान परिकल्पना के सबल तथा निर्बल रूप सगति परीक्षणो के सम्बन्ध मे समान परिणाम उत्पन्न करते हैं परन्तु यह स्मरणीय है कि तर्क, जिनके द्वारा वे परिणामो को प्राप्त करते हैं, भिन्न है। तथापि यह उल्लेख किया जा सकता है कि सबल तथा निर्बल क्रमबद्धता के अन्तर्गत समान परिणाम प्राप्त नही होगें "जब हम सामान्यीकरण के लिए आगे बढते है" (अर्थात् जब हम X वस्तु के अतिरिक्त अधिक वस्तुओ तथा सयुक्त वस्तु मुद्रा को लेते हैं तथा एक से अधिक वस्तु की कीमत को परिवर्तित होने देते है)। परन्तु जब तक हम अपने विश्लेषण को केवल एक वस्तु की माँग तक सीमित कर रहे हैं, हम सगति की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति के सम्बन्ध मे समान निष्कर्ष पर पहुचते हैं चाहे हम सबल अथवा निर्बल क्रमबद्धता को स्वीकार करते हैं।

निर्बल क्रमबद्धता दृष्टिकोण द्वारा माँग के नियम की व्युत्पत्ति
(Derivation of Law of Demand through Weak Ordering Approach)

निर्बल क्रमबद्धता के तर्क (अतिरिक्त परिकल्पना सहित) तथा उस पर आधारित प्रत्यक्ष सगति परीक्षण के सिद्धान्त की सहायता से हिक्स उपभोक्ता की माँग के सिद्धात की सभी बृहत् उक्तियों (major propositions) का निगमन करने के लिए आगे बढते है। हिक्स सर्वप्रथम अकेली वस्तु के लिए माँग का निगमन करते है अर्थात् एक उपभोक्ता के व्यवहार (के विषय मे निगमन करते हैं) जो एक ऐसे बाजार का सामना करता है जिसमे एक से अधिक वस्तु की कीमत परिवर्तित नही होती है। माँग के सिद्धात मे प्राथमिक कार्य माँग के नियम को व्युत्पन्न करना है अर्थात् "यह सिद्धात कि एक वस्तु के लिए माग वक्र नीचे की ओर गिरता हुआ होता है" अनधिमान वक्र दृष्टिकोण के समान ही माँग के नियम को व्युत्पन्न करने के लिए *Revision of Demand Theory* मे हिक्स द्वारा जो विधि अपनायी गई वह कीमत परिवर्तन के प्रभाव को दो भागो—आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव, मे विभक्त करने की है। वर्तमान कार्य मे सगति सिद्धात से हिक्स द्वारा प्रतिस्थापन प्रभाव निकाला गया है जबकि उनके अनुसार 'आय प्रभाव' अनुभवाश्रित प्रमाणो (empirical evidence) पर आधारित है। वे सकेत करते हैं कि आय मे 'विशुद्ध' परिवर्तनो के

प्रभाव के विषय में पर्याप्त मात्रा में अनुभवाश्रित प्रमाण है। "इसका तात्पर्य है कि यथार्थता में माँग का नियम द्विजातीय है। इसका एक पैर सिद्धान्त पर तथा दूसरा अवलोकन पर आधारित है। परन्तु इस विशेष उदाहरण में दोहरा समर्थन अत्यधिक सबल हो जाता है।"[1]

आइए अब हम समझें किस प्रकार कीमत में परिवर्तन के प्रभाव को प्रतिस्थापन प्रभाव तथा आय प्रभाव में विभक्त करके माँग के नियम को व्युत्पन्न किया जाता है। वास्तविक कार्य प्रतिस्थापन प्रभाव को पृथक करने का है। प्रतिस्थापन प्रभाव दो विधियों से पृथक किया जा सकता है—

1 क्षतिपूरक परिवर्तन की विधि 2 लागत-अन्तर विधि

इन दो विधियों से किस प्रकार आय प्रभाव से प्रतिस्थापन प्रभाव को पृथक किया जाता है तथा किस प्रकार माँग का नियम व्युत्पन्न किया जाता है इसकी व्याख्या नीचे की गई है।

क्षतिपूरक परिवर्तन की विधि से माँग के नियम को व्युत्पन्न करना (Deriving Law of Demand by the Method of Compensating Variation)

आइए, एक वस्तु X की माँग की कल्पना करें जो रेखाकृति 10 11 में X अक्ष पर मापी गई है। पहले की तरह संयुक्त वस्तु M (मुद्रा) को Y-अक्ष पर मापा गया है। वस्तु की एक निश्चित कीमत तथा उपभोक्ता की आय दी हुई होने पर अवसर रेखा (कीमत आय रेखा) aa खींची गयी है। अब कल्पना कीजिए कि इस प्रारम्भिक कीमत आय रेखा में उपभोक्ता aa पर A संयोग का चुनाव करता है। माना कि मौद्रिक आय अपरिवर्तित रहते हुए X वस्तु का मूल्य कम हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप अब अवसर रेखा bb होगी जो उसी बिंदु से प्रारम्भ होगी जहाँ से aa प्रारम्भ होती है परन्तु aa के बाहर स्थित होगी। उपभोक्ता अब इस नवीन परिस्थिति में bb पर एक दशा का चुनाव या चयन करेगा। संगति सिद्धान्त से यह तात्पर्य निकलता है कि जब तक A की कुछ मात्रा का उपयोग किया जाता है bb रेखा पर कोई दशा A की अपेक्षा अवश्य अधिमान्य की जानी चाहिए। अन्य शब्दों में bb रेखा पर चुनी गई B दशा चाहे A के बायीं ओर अथवा दाहिनी ओर अथवा A के ठीक ऊपर स्थित हो यह A की अपेक्षा अधिमान्य होगी। इसका कारण यह है
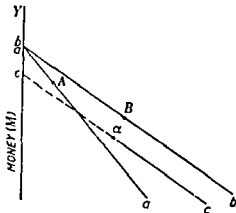
रेखाकृति 10 11

कि A दशा $1Ob$ त्रिभुज के अन्दर स्थित है। परन्तु जैसा कि हिक्स का कहना है, "यही सब कुछ है जो हम संगति सिद्धान्त से सीखते हैं जबकि यह इन दो दशाओं में प्रयुक्त होती है। वह यह कि A तथा B के मध्य X के उपयोग में वृद्धि अथवा कमी अथवा कोई परिवर्तन होना पूर्णतया संगत है।"[2]

नोट—यह ध्यान देने योग्य है कि हिक्स का अनुगमन करते हुए हमने रेखाकृति 10 11 में क्षैतिज अक्ष को प्रदर्शित नहीं किया है। चूँकि सामान्यतया इस प्रकार की रेखाकृतियां क्षैतिज अक्ष को प्रदर्शित करते हुए खींची जाती हैं अतः यह प्रदर्शित करता है कि प्रदनाधीन या विचारगत वस्तु पर उपभोक्ता अपनी आय का अत्यधिक बड़ा अनुपात व्यय कर रहा है। रेखाकृति 10 11 में इस दोष को X-अक्ष को इतनी दूरी तक हटाने की कल्पना द्वारा दूर किया गया है कि पाठक इसे पृष्ठ की तली (निम्नतम भाग) में कहीं कल्पना कर सकता है। यह रेखाकृति का सर्वोच्च भाग है जो रेखाकृति 10 11 में प्रदर्शित है तथा केवल वही आवश्यक है।

1 *Op cit* p 47

2 *Op cit* p 60

अब प्रश्न है कि bb पर B दशा कहाँ स्थित होगी अर्थात् यह क्या A के दाहिनी ओर अथवा A के बायी ओर अथवा A के ठीक ऊपर होगी। B दशा A के दाहिनी ओर स्थित होने का अर्थ है कि X की कीमत म कमी होने के परिणामस्वरूप इसकी माँगी गई मात्रा मे वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त B दशा के A के ठीक लम्बवत् रूप मे ऊपर स्थित होने का अर्थ है कि X वस्तु की कीमत मे कमी होने पर भी उसकी माँगी गई मात्रा पूर्ववत रहती है। सम्पूर्ण रूप मे, सगति सिद्धात से इस प्रश्न का उत्तर नही निकाला जा सकता है। जैसा कि ऊपर व्याख्या की गई है कि किसी वस्तु की कीमत मे कमी होने के परिणामस्वरूप उसकी मागी गई मात्रा मे वृद्धि अथवा कमी अथवा कोई परिवर्तन न होना पूर्णतया सगत है। तथापि, यदि X वस्तु की कीमत मे कमी होने पर उपभोक्ता की आय मे समुचित कमी की जाती है तो सगति सिद्धान्त से यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि X वस्तु की माँगी गई मात्रा अवश्य बढेगी अथवा पूर्ववत् रहेगी, यह कम नही हो सकती। जब X की कीमत मे कमी होने के साथ साथ उपभोक्ता की आय को समुचित मात्रा म कम कर दिया जाता है तो वस्तु की माँग पर कीमत मे परिवर्तन का शेष प्रभाव X वस्तु की कीमत मे सापेक्ष कमी के कारण होगा। वस्तु की कीमत मे केवल सापेक्ष परिवर्तन के कारण उसकी माँग पर प्रभाव ही 'प्रतिस्थापन प्रभाव' कहलाता है। अत इसका तात्पर्य यह है कि सगति सिद्धात से यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि X वस्तु की कीमत मे कमी के प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण X का उपभोग बढना चाहिए या पूर्ववत् रहना चाहिए, यह कम नही हो सकता। कीमत मे परिवर्तन का शेष प्रभाव आय प्रभाव है। कीमत मे कमी या आय प्रभाव किस दिशा मे कार्यशील होता है, (यह) सगति सिद्धान्त की सहायता से सिद्ध नही किया जा सकता। आय प्रभाव के विषय मे हमारा ज्ञान अवलोकन या पर्यवेक्षण पर आधारित है।

उपर्युक्त से यह तात्पर्य निकलता है कि एक वस्तु की माँग पर 'प्रतिस्थापन प्रभाव' की प्रबलता को प्रदर्शित करने के लिए हमे X की कीमत मे कमी के साथ-साथ आय मे उचित कमी करके एक मध्यस्थ दशा का निर्माण करना पडता है।

कीमत म परिवर्तन के परिणामस्वरूप aa पर A से bb पर B की ओर गति कीमत प्रभाव' को प्रदर्शित करती है। प्रतिस्थापन प्रभाव को पृथक करने के लिए आय को क्षतिपूरक परिवर्तन द्वारा कम कर दिया जाता है अर्थात् आय को उस मात्रा से कम किया जाता है कि X वस्तु की कीमत मे कमी के कारण उपभोक्ता को वास्तविक आय मे होने वाला लाभ समाप्त हो जाता है। अन्य शब्दो मे, उपभोक्ता की आय को इतनी अधिक मात्रा से कम कर दिया जाता है कि उपभोक्ता मध्यस्थ दशा α जो वह कम आय के साथ नवीन कम कीमत पर चयन करता है। और दशा A क प्रति उदासीन (indifferent) है। इस निर्वचन के आधार पर, प्रतिस्थापन प्रभाव, स्थिर वास्तविक आय के साथ सापेक्ष कीमतो मे परिवर्तन के प्रभाव को मापता है, आय प्रभाव वास्तविक आय मे परिवर्तनो के प्रभाव को मापता है।

यदि क्षतिपूरक परिवर्तन की विधि द्वारा मध्यस्थ दशा को प्राप्त किया जा सकता है तो सगति सिद्धान्त से यह प्रदर्शित करना सरल है कि प्रतिस्थापन प्रभाव किस दिशा मे कार्य करता है। चूँकि मध्यस्थ दशा मे X वस्तु की कीमत वही होती है जो bb रेखा द्वारा प्रदर्शित होती है, अत अवसर रेखा cc, जिस पर मध्यस्थ दशा α स्थित होती है, आवश्यक रूप से bb के समानान्तर होनी चाहिए। चूँकि उपभोक्ता A तथा α दशाओ के बीच उदासीन है, इसलिए अवसर रेखा cc को aa रेखा का प्रतिच्छेद अवश्य करना चाहिए। इसका कारण यह है कि यदि cc रेखा aa के पूर्णतया बाहर पडती तो α, A की अपेक्षा अधिमान्य प्रदर्शित होती। यदि वह aa के पूर्णतया अन्दर स्थित होती तो A, α की अपेक्षा अधिमान्य प्रदर्शित होना। उसी प्रकार यदि A तथा α को उदासीन होना है तो A तथा α दोनो उन रेखाओ के जिन पर वे स्थित होने है के प्रतिच्छेद (cross) के बायी ओर अथवा दोनो प्रतिच्छेद के दाहिनी ओर स्थित नही हो सकते। इसके अतिरिक्त, दो दशाएँ A तथा α प्रतिच्छेद के अन्दर स्थित होनी हैं अथवा एक प्रतिच्छेद बिंदु पर तथा दूसरी प्रतिच्छेद के अन्दर स्थित होनी

है तो चुनाव की असगति सन्निहित होगी। इस प्रकार शेष विकल्प निम्न प्रकार है —

(i) A तथा α दोनों दशाएँ प्रतिच्छेद के बाहर स्थित हों।

(ii) A तथा α दशाओं में से एक प्रतिच्छेद बिंदु पर तथा दूसरी प्रतिच्छेद के बाहर स्थित हो।

(iii) A तथा α दोनों दशाएँ प्रतिच्छेद पर स्थित हों।

यदि A तथा α को उदासीन होना है तथा उपभोक्ता के चयन को सगत होना है तो उपर्युक्त तीन ही दशाएँ सभव हैं। इन दशाओं में से किसी एक में यह ध्यान देने योग्य है कि या तो X का उपभोग बढ़ता है या पूर्ववत् रहता है। अत इसका तात्पर्य है कि यदि X वस्तु की कीमत में कमी के साथ क्षतिपूरक परिवर्तन द्वारा आय में, कमी हो जाती है तो X वस्तु की माँगी गयी मात्रा में वृद्धि होगी या कम से कम पूर्ववत् रहेगी। अन्य शब्दों में, प्रतिस्थापन प्रभाव के परिणामस्वरूप X वस्तु की माँगी गई मात्रा में वृद्धि होगी जिसकी कीमत कम होती है अथवा कम से कम पूर्ववत् रहेगी।

रेखाकृति 10 11 में जब क्षतिपूरक परिवर्तन द्वारा आय को कम कर दिया जाता है तो नई अवसर रेखा *cc*, *aa* रेखा को A बिंदु के नीचे प्रतिच्छेद करती है। *cc* अवसर रेखा पर उपभोक्ता वास्तव में α दशा का चयन करता है जो प्रतिच्छेद के बाहर स्थित होता है (जैसा कि पहले ही व्याख्या की जा चुकी है कि यह ध्यान देने योग्य है कि मध्यस्थ दशा α, *cc* रेखा पर *प्रतिच्छेद के बायीं ओर स्थित नहीं हो सकती है क्यों*-कि इस दशा में उपभोक्ता α तथा A में उदासीन नहीं हो सकता)। A से α की ओर गति प्रतिस्थापन प्रभाव प्रदर्शित करती है तथा X वस्तु की माँगी गयी मात्रा में वृद्धि के रूप में परिणत होती है। यह कीमत प्रभाव का एक भाग है।

माना कि जो मौद्रिक आय क्षतिपूरक परिवर्तन की मात्रा द्वारा उपभोक्ता से छीन ली गई थी उसे अब वापस कर दी जाती है। आय में इस वृद्धि से उपभोक्ता α दशा की अपेक्षा X वस्तु की B दशा में अधिक मात्रा खरीदेगा अथवा कम, यह सगति सिद्धांत अथवा अन्य किसी सैद्धान्तिक नियम की सहायता से सिद्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु अनुभवाश्रित प्रमाण से हम जानते हैं कि अधिकाश वस्तुओं की दशा में आय में वृद्धि के साथ वस्तु का उपभोग बढ़ता है। 'कोई सैद्धान्तिक नियम नहीं है जो हमें बताता है कि आय में वृद्धि X के उपभोग में वृद्धि को अवश्य प्रवृत्त करती है' परन्तु अनुभवाश्रित प्रमाण से यह निष्कर्ष निकालना सुरक्षित है कि अधिकाश दशाओं में वह इस प्रकार करेगा व दशाएँ जिनमें वह इस प्रकार नहीं करता है उन्हें स्पष्ट रूप से अपवाद स्वरूप माना जा सकता है।[1]

इस प्रकार यदि *उपभोक्ता* α *दशा पर है तथा* उसकी आय को उस मात्रा से बढ़ा दिया जाता है जो कि पहले उससे ले ली गई थी (ताकि वह एक बार पुन *bb* अवसर रेखा पर होता है) तो वह पुन X वस्तु के उपभोग में वृद्धि करेगा। अन्य शब्दों में जब उसकी आय में वृद्धि कर दी जाती है ताकि वह *bb* अवसर रेखा का सामना करे तो वह α अवस्था की अपेक्षा X वस्तु की अधिक मात्रा खरीदेगा। यही कारण है *bb* रेखा पर चुनी गई दशा α के दाहिनी ओर स्थित है जो यह प्रदर्शित करता है कि α तथा B के मध्य X वस्तु का उपभोग बढ़ता है। α से B की ओर गति आय प्रभाव को प्रदर्शित करती है।

उपर्युक्त का यह तात्पर्य है कि वस्तु की कीमत में कमी होने से इसकी माँगी गई मात्रा प्रतिस्थापन प्रभाव तथा आय प्रभाव के कारण बढ़ती है। इस प्रकार माँग का आधारभूत नियम कि 'माँग वक्र नीचे की ओर गिरता हुआ होता है' सिद्ध कर दिया गया है।

लागत अन्तर विधि द्वारा माँग के नियम को व्युत्पन्न करना (Deriving Law of Demand by Cost difference Method)

यद्यपि क्षतिपूरक परिवर्तन विधि पूर्णतया मान्य तथा कीमत परिवर्तन को दो भागों में विभक्त करने के लिए बहुत लाभप्रद है जिसका कि विशेष आर्थिक महत्त्व है, किन्तु लागत अन्तर की वैकल्पिक विधि माँग के

1. J R Hicks, *Op Cit*

नियम को व्युत्पन्न करने के लिए अधिक सुविधाजनक है। प्रो० सैमुएल्सन द्वारा प्रस्तुत लागत अन्तर विधि हिक्स द्वारा भी अपनाई गई है।

लागत-अन्तर विधि तथा किस प्रकार इसकी सहायता से माँग के नियम को सिद्ध किया है, रेखाकृति 10.12 में प्रदर्शित है। पहले के समान, वस्तु मुद्रा (M) Y-अक्ष पर मापी गयी है तथा X वस्तु जिसकी माँग विचारगत है, X-अक्ष पर मापी गई है। aa प्रारम्भिक अवसर रेखा है तथा इस पर बिंदु A वास्तव में चुनी गई दशा प्रदर्शित करता है। कल्पना की कि X वस्तु की कीमत गिरती है, जबकि उपभोक्ता की मौद्रिक आय पूर्ववत् रहती है। इसके परिणामस्वरूप अब अवसर रेखा bb दशा को ग्रहण करती है। लागत-अन्तर विधि के अन्तर्गत X वस्तु की कीमत में कमी के साथ उपभोक्ता की आय में उस मात्रा से कमी कर दी जाती है कि वह उपभोक्ता को मौलिक संयोग A खरीदने के लिए ही ठीक समर्थ बनायेगी। अन्य शब्दों में, आय को प्राचीन कीमत तथा नवीन कीमत पर X के मौलिक उपयोग (अर्थात् A दशा में) की लागत के अन्तर की मात्रा से कम कर दिया जाता है।

रेखाकृति 10.12 के शब्दों में, इसका अर्थ है कि आय को उस मात्रा तक कम कर दिया जाता है कि मध्यस्थ अवसर रेखा cc, A बिंदु से होकर जाती है। रेखाकृति 10.12 में लागत अन्तर $= ca$ या cb।
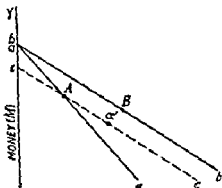
रेखाकृति 10.12

अब प्रश्न है कि अवसर रेखा cc पर मध्यस्थ दशा कहाँ स्थित होगी। दो अवसर रेखाएँ cc तथा aa हैं तथा दो दशाओं में से एक अब दोनों रेखाओं के प्रतिच्छेद बिन्दु पर स्थित है ताकि सम्भव दशाएँ कम हों जिसमें संगति परीक्षणों को प्रयुक्त करना होता है। cc रेखा पर मध्यस्थ दशा α', A दशा (प्रतिच्छेद) के बायीं ओर स्थित नहीं हो सकता क्योंकि उसका अर्थ असंगति होगा। इस प्रकार दो सम्भव दशाएँ जो शेष रहती हैं निम्न हैं—

(i) यह कि मध्यस्थ दशा α', A दशा के दाहिनी ओर स्थित है।

(ii) α' तथा A एक हो जाएँ।

(i) दशा में A तथा α' के मध्य X के उपभोग में वृद्धि होगी तथा (ii) दशा में X का उपभोग पूर्ववत् रहेगा। A से α' की ओर गति प्रतिस्थापन प्रभाव को प्रदर्शित करती है। उपर्युक्त से यह तात्पर्य निकलता है कि प्रतिस्थापन प्रभाव के परिणामस्वरूप X का उपभोग अवश्य बढ़ना चाहिए या पूर्ववत् रहना चाहिए यह कम नहीं हो सकता है। अब यदि उपभोक्ता से अपहृत आय को उसे पुनः वापस कर दिया जाता है, वह पुनः X के उपभोग में वृद्धि करेगा यदि आय में वृद्धि होने से X के उपभोग में वृद्धि होना विदित है अर्थात् यदि आय में वृद्धि होने से X के उपभोग में वृद्धि होती है। इस प्रकार B बिन्दु α' के दाहिनी ओर स्थित होगा जो आय प्रभाव के परिणामस्वरूप α' तथा B के मध्य X के उपभोग में वृद्धि प्रदर्शित करता है।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि लागत अन्तर विधि द्वारा एक मध्यस्थ दशा का चयन कीमत परिवर्तन के प्रभाव को आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव में पृथक करने की वैकल्पिक विधि प्रदान करता है। यद्यपि दो विधियों में मध्यस्थ दशा ठीक एक समान नहीं है परन्तु जिन भागों में वे कीमत प्रभाव को विभाजित करती हैं, वे पर्याप्त रूप से समान लक्षण वाली होती हैं। चाहे जिस विधि द्वारा हम कीमत प्रभाव को विभाजित करते हैं, यह सत्य रहता है कि प्रतिस्थापन प्रभाव के परिणामस्वरूप उस वस्तु का उपभोग अवश्य बढ़ता है या पूर्ववत् रहता है जिसकी कीमत गिरती है; यह कम

नही हो सकता है। दिशा, जिसमे प्रतिस्थापन प्रभाव कार्यशील होता है, के विषय मे यह निष्कर्ष मगति सिद्धान्त से निकलता है।

माँग के नियम को व्युत्पन्न करने के लिए प्रो० हिक्स क्षतिपूरक परिवर्तन विधि की अपेक्षा लागत अन्तर विधि की श्रेष्ठता को स्वीकार करते है। उन पर टीका-टिप्पणी करते हुए वे विचार प्रकट करते हैं कि "दो विधियो मे अन्तर केवल आय म वृद्धि के परिणाम का विषय है जो आय प्रभाव के रूप मे परिणत होता है तथा इस दृष्टिकोण से लागत अन्तर विधि मे विशिष्ट लाभ निहित है क्योंकि क्षतिपूरक परिवर्तन का परिमाण बिलकुल एक समस्या है . जबकि लागत अन्तर के परिमाण मे कोई समस्या उत्पन्न नही होती। विचारगत परिस्थिति के आँकडो से यह तुरन्त पढा जा सकता है।

हीन वस्तुएँ, गिफन वस्तुएँ तथा माँग का नियम (Inferior Goods, Giffen Goods and Law of Demand)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि उस दिशा को, किसी सिद्धान्त द्वारा निगमित नही किया जा सकता है जिसमें आय प्रभाव कार्यशील होता है। वस्तु के उपभोग पर आय मे वृद्धि का प्रभाव अनुभवाश्रित प्रमाण से जाना जाता है। अधिकाश दशाओ मे ऐसा देखा जाता है कि आय प्रभाव धनात्मक है अर्थात् आय मे वृद्धि होने से वस्तु के उपभोग मे वृद्धि होती है। परन्तु कुछ वस्तुएँ ऐसी होती है जिनका उपभोग आय मे वृद्धि के साथ घटता है अर्थात् उनके लिए आय प्रभाव ऋणात्मक होता है। इस प्रकार की वस्तुएँ हीन वस्तुएँ कहलाती हैं। हीन वस्तुओ का उपभोग आय मे वृद्धि के साथ घटता है क्योंकि आय के अपेक्षाकृत ऊँचे स्तर पर वे श्रेष्ठतर स्थानापन्नो द्वारा प्रतिस्थापित कर दी जाती है। ऋणात्मक आय प्रभाव (अथवा आय मापेक्षता) वाली वस्तुएँ हीन वस्तुएँ कहलाती है क्योंकि आय प्रभाव अधिकाशत उन वस्तुओ के सम्बन्ध मे ऋणात्मक होता है जो भौतिक रूप मे हीन गुण वाली होती है। कुछ भी हो यह कहा जा सकता है कि हीन वस्तु आवश्यक रूप मे वह नही होती जो भौतिक रूप मे हीन गुण वाली है तथा यह भी आवश्यक नही कि जो स्थानापन्न हीन वस्तुओ को प्रतिस्थापित करना है उसमे वही लक्षण उभयनिष्ठ हो। इसके अतिरिक्त, यह भी आवश्यक नही कि हीन वस्तु तथा प्रतिस्थापन करने वाली स्थानापन्न द्वारा सतुष्ट की जाने वाली 'आवश्यकताएँ' समान हो। माना कि आय मे न्यून वृद्धि द्वारा एक व्यक्ति कार खरीदने के लिए प्रेरित होता है तो वह उन अनेक वस्तुओ पर मितव्ययिता करने के लिए बाध्य होगा जिनका वह पहले उपभोग कर रहा था। अत आय म उस विशिष्ट न्यून वृद्धि जिसने उपभोक्ता को कार खरीदने के लिए प्रेरित किया, के परिणामस्वरूप उन वस्तुओ का उपभोग कम हो जाएगा जिन पर व्यक्ति सामान्यतया अपनी आय को व्यय करता है। इस प्रकार आय मे विशिष्ट वृद्धि के कारण वे सभी सामान्य प्रकार की वस्तुएँ हीन वस्तुएँ हो जायेंगी जिन पर व्यक्ति अपनी आय को व्यय करता है।

आइए, अब हम एक हीन वस्तु की कीमत मे परिवर्तन का उसके उपभोग या माग पर प्रभाव का विचार करे। जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि एक वस्तु की कीमत मे कमी का प्रतिस्थापन प्रभाव सदैव वस्तु के उपभोग मे वृद्धि करने की प्रवृत्ति रखता है। परन्तु हीन वस्तु की कीमत मे कमी का आय प्रभाव वस्तु के उपभोग को कम करेगा। अत हीन वस्तुओ की दशा मे आय प्रभाव, प्रतिस्थापन प्रभाव के विपरीत दिशा मे कार्यशील होगा। परन्तु एक वस्तु की कीमत मे परिवर्तन का आय प्रभाव सामान्यतया बहुत न्यून होता है। इसका कारण है कि एक व्यक्ति किसी एक वस्तु पर अपनी आय का बहुत न्यून अनुपात व्यय करता है। परिणामस्वरूप कीमत मे अधिक आनुपातिक कमी भी उसकी आय के एक न्यून अश से अधिक लागत अन्तर उत्पन्न नही करेगी। इस प्रकार, यदि आय मे परिवर्तनो के कारण वस्तु की माँग अत्यधिक प्रत्युत्तरदायी नही है अर्थात् यदि माँग की आय सापेक्षता बहुत अधिक नही है, तो कीमत म परिवर्तन का आय प्रभाव पहले के उपभोग की अपेक्षा अति न्यून होगा। अत यद्यपि हीन वस्तु की दशा म आय प्रभाव, प्रतिस्थापन

प्रभाव के विपरीत दिशा में कार्यशील होता है परन्तु यह असम्भव है कि यह प्रतिस्थापन प्रभाव से अधिक हो जाय अर्थात् प्रतिस्थापन प्रभाव को निष्फल कर देगा। तब एक हीन वस्तु की कीमत में कमी का शुद्ध परिणाम इसके उपभोग में वृद्धि होगा क्योंकि प्रतिस्थापन प्रभाव ऋणात्मक आय प्रभाव की अपेक्षा अधिक है। इस प्रकार, माँग का नियम (अर्थात् विपरीत कीमत-माँग सम्बन्ध) हीन वस्तुओं की दशा में भी सामान्यतया सत्य सिद्ध होता है। प्रो० हिक्स ठीक ही विचार प्रकट करते हैं, कि "यद्यपि माँग का नियम हीन वस्तुओं की दशा में आवश्यक रूप में सत्य नहीं होता, परन्तु व्यवहार में इसके सत्य होने की सम्भावना है।" ('Though the law of demand does not necessarily hold in case of inferior goods, it *is in practice likely to hold*'[1])

रेखाकृति 10 13 में उस हीन वस्तु को प्रदर्शित किया गया है जिसमें विपरीत कीमत माँग सम्बन्ध
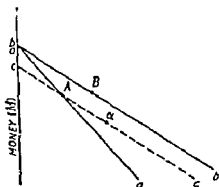
रेखाकृति 10 13
निम्न पदार्थ की माँग

सत्य होता है। रेखाकृति में X-अक्ष पर प्रदर्शित X वस्तु को हीन वस्तु माना गया है। माना कि X वस्तु की कीमत गिरती है जिससे अवसर रेखा aa दशा से सरक कर bb हो जाती है। पहले के समान वस्तु की माँगी गयी मात्रा A तथा α' के बीच बढ़ती है। अन्य शब्दों में, प्रतिस्थापन प्रभाव X वस्तु के उपभोग में वृद्धि करता है। परन्तु, चूँकि अब X वस्तु को हीन वस्तु कल्पित किया गया है, अत: कीमत परिवर्तन का आय प्रभाव माग में कमी करने की प्रवृत्ति रखेगा। अत माँगी गयी मात्रा α' तथा B के मध्य कम होगी। अन्य शब्दों में, B, α' के बायीं ओर स्थित होगा। परन्तु चूँकि सामान्यतया आय प्रभाव न्यून होता है तथा प्रतिस्थापन प्रभाव इसकी अपेक्षा बहुत अधिक होता है अत B दशा, यद्यपि α' के बायीं ओर स्थित है, A के दाहिनी ओर स्थित रहेगी जो प्रदर्शित करती है कि प्रतिस्थापन तथा ऋणात्मक आय प्रभाव की क्रियाशीलता के शुद्ध परिणाम के रूप में माँगी गयी मात्रा में वृद्धि होती है। रेखाकृति 10 13 से यह स्पष्ट है कि जब हीन वस्तु की कीमत गिरती है तो *आय प्रभाव के ऋणात्मक होने पर भी इसकी माँगी* गयी मात्रा में वृद्धि हो सकती है। यह विपरीत कीमत-माँग सम्बन्धी हीन वस्तुओं की अधिकांश दशाओं में सत्य सिद्ध होगा।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह तात्पर्य निकलता है कि माँग के नियम के अपवाद घटित हो सकते हैं यदि एक हीन वस्तु की दशा में ऋणात्मक आय प्रभाव इतना अधिक है कि वह प्रतिस्थापन प्रभाव से अधिक प्रबल हो जाता है। किन्तु आय प्रभाव बहुत अधिक हो सकता है यदि माँग की आय सापेक्षता बहुत अधिक है तथा वस्तु विशेष पर व्यय किया जाने वाला आय का अनुपात भी बहुत अधिक है। जब ऋणात्मक आय प्रभाव, प्रतिस्थापन प्रभाव को पराभूत (निष्ट) कर देता है तो कीमत में कमी का शुद्ध परिणाम माँगी गयी मात्रा में कमी करना होगा। जिन हीन वस्तुओं का प्रत्यक्ष कीमत-माग सम्बन्ध होता है, वे गिफन वस्तुएँ कहलाती हैं। इस प्रकार मार्शल के माँग नियम की अपवाद गिफन वस्तुएँ घटित हो सकती हैं जब निम्न तीन दशाएँ पूरी होती हैं :[2]

(i) *वस्तु काफी अधिक ऋणात्मक आय सापेक्षता के साथ हीन वस्तु होनी चाहिए।*

(ii) *प्रतिस्थापन प्रभाव न्यून होना चाहिए।*

1 *Op cit*, p 66 (underlined supplied)

2 Hicks, *op cit*, p 66

(iii) हीन वस्तु पर व्यय किया जाने वाला आय का अनुपात अधिक होना चाहिए ।

रेखाकृति 10.14 मे गिफन वस्तु की दशा को प्रदर्शित किया गया है । यहाँ B दशा मौलिक दशा A के बायी ओर स्थित है जो प्रदर्शित करती है कि X वस्तु
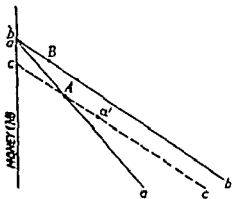
रेखाकृति 10.14
गिफन पदार्थ की माँग

की कीमत मे कमी के परिणामस्वरूप उसकी माँगी गई मात्रा मे कमी हुई है । चूँकि प्रतिस्थापन प्रभाव सदैव उस वस्तु की मागी गयी मात्रा मे वृद्धि करने की प्रवृत्ति रखता है जिसकी कीमत गिरती है अत इस दशा मे भी A तथा α' के मध्य माँगी गयी मात्रा मे वृद्धि होती है । ऋणात्मक आय प्रभाव के कारण B, α' के बायी ओर स्थित है । चूकि ऋणात्मक आय प्रभाव, प्रतिस्थापन प्रभाव की अपेक्षा अधिक है अत B, A के भी बायी ओर स्थित है जो X की कीमत मे कमी के परिणामस्वरूप उसके उपभोग मे कमी प्रदर्शित करता है ।

यह बहुत असम्भाव्य है कि किसी सामान्य वस्तु की दशा मे गिफन वस्तु की दशा के घटित होने के लिए आवश्यक तीन शर्तों की पूर्ति हो । इस प्रकार, "यद्यपि माँग के नियम के अपवाद सैद्धान्तिक रूप मे सम्भव हैं किन्तु व्यवहार मे उनके घटित होने के अवसर नगण्य हैं ।"[1]

हिक्स के माँग के तार्किक क्रमबद्धता सिद्धांत का मूल्यांकन (Appraisal of the Hicksian Logical Ordering Theory of Demand)

निर्बल तार्किक क्रमबद्धता पर आधारित अपने 'माँग सिद्धान्त के संशोधन' (Revision of Demand Theory) मे जे० आर० हिक्स *माँग सिद्धान्त* की नीव को अधिक गहराई म जाते हैं तथा क्रम मे तर्क की कुछ सरल तथा स्वयसिद्ध उक्तियो की सहायता से अधिक तार्किक विधि से माँग के नियम को व्युत्पन्न करते हैं । वे उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन करने के लिये सैमुएल्सन के *व्यवहारवादी दृष्टिकोण* का अनुसरण नही करते हैं बल्कि इसके बजाय वे माँग के प्रमेयो की स्थापना के लिए उपभोक्ता द्वारा तार्किक क्रमबद्धता के प्रयोग की विधि को अपनाते हैं । माँग के नियम की स्थापना के लिए वे यह मान्यता स्वीकार करते हैं कि उपभोक्ता अधिमानो के एक पैमाने के अनुसार व्यवहार करता है । इस प्रकार, यह 'तार्किक क्रमबद्धता' तथा 'अधिमान परिकल्पना' है जो अनधिमान वक्र दृष्टिकोण से भिन्न हिक्स के माग के नवीन सिद्धान्त मे उनकी अध्ययन प्रणाली के प्रमाण चिह्न है । हिक्स के 'माँग सिद्धान्त' के संशोधन पर टिप्पणी करते हुए प्रो० फ्रिज मैकलप विचार प्रकट करते हैं कि, ' हिक्स के दृष्टिकोण म निहित अध्ययन प्रणाली परम सुदृढ़ है ।" वे उपभोक्ता के व्यवहार के अध्ययन मे व्यवहारवादी नियन्त्रणो से मुक्त हैं, वे विवेकपूर्ण कार्य से सम्बन्धित काल्पनिक अनुभवाश्रित *मान्यताओ के विषय म मतभेदो से भी बचते हैं ।* इसके बजाय वे एक आधारभूत पूर्वधारणा, अर्थात् अधिमान परिकल्पना से आरम्भ करते हैं । ("The methodological position underlying Hicks approach is eminently sound He is *free* from positivist behaviourist restriction on the study of consumer's behaviour, and he also avoids the contentions about the supposedly *empirical assumptions regarding* rational action Instead, he starts from a

[1] J R Hicks, *op cit*, p 67

fundamental postulate, the preference hypothesis."[1]

क्रम के तर्क तथा अधिमान परिकल्पना के नव प्रवर्तन के अतिरिक्त जे० आर० हिक्स अनधिमान वक्र विश्लेषण की कुछ त्रुटियो को भी ठीक करते है, जैसे उपभोक्ता की ओर से निरन्तरता तथा अधिकीकरण व्यवहार को। वे अब अनधिमान वक्रो के प्रयोग का त्याग कर देते है और इसलिए निरन्तरता की मान्यता से बचाव करते है। यह मानने के बजाय कि उपभोक्ता अपने सन्तोष को अधिकतम करता है, हिक्स अब सैमुएलसन के समान उपभोक्ता के व्यवहार मे सगति पर विश्वास करते है जो अधिक वास्तविक मान्यता है। इसके अतिरिक्त, अनधिमान वक्रो को दो वस्तुओ की दशा के लिए लाभप्रद रूप मे प्रयुक्त किया जा सकता है परन्तु अधिमान परिकल्पना तथा क्रम के तर्क पर आधारित हिक्स का नवीन सिद्धान्त अपेक्षाकृत अधिक सामान्य है तथा दो से अधिक वस्तुओ की दशाओ मे सरलतापूर्वक प्रयुक्त किये जाने के योग्य है। वास्तव मे, हिक्स ने स्वय अपनी पुस्तक के द्वितीय भाग मे 'अधिमान परिकल्पना' तथा 'क्रम के तर्क' से निगमन करके माँग सिद्धान्त का सामान्यीकृत रूप प्रस्तुत किया जो दो से अधिक वस्तुओ की दशाओ को समाविष्ट करता है।

इसके अतिरिक्त अधिमान परिकल्पना के सबल क्रमबद्धता तथा निर्बल क्रमबद्धता रूप के बीच सर्वप्रथम अन्तर करने का श्रेय जे० आर० हिक्स को है। अपने सिद्धान्त को निर्बल क्रमबद्धता पर आधारित करने के कारण हिक्स अपने नवीन सिद्धान्त मे भी उपभोक्ता के अधिमानो के पैमाने मे अनधिमान की सम्भावना को मान्यता प्रदान करके अनधिमान वक्र विश्लेषण के गुणो को बनाये रखने मे समर्थ हुए हैं।

इस प्रकार, अनधिमान वक्र विश्लेषण की अवास्तविक मान्यता को त्याग देने पर भी हिक्स अपने नवीन तार्किक निर्बल क्रमबद्धता सिद्धान्त मे कीमत प्रभाव को आय तथा प्रतिस्थापन प्रभाव मे विभक्त करते हैं और इसलिए गिफन वस्तुओ को स्पष्ट करने मे समर्थ हैं जो सैमुएलसन का उद्घाटित अधिमान सिद्धान्त नही कर सकता। इसके अतिरिक्त, निर्बल क्रमबद्धता दृष्टिकोण से प्रतिस्थापन प्रभाव को आय प्रभाव से पृथक् करने से हिक्स अपने माँग सिद्धान्त के सामान्यीकृत रूप मे पूरक तथा स्थानापन्न वस्तुओ की व्याख्या करने मे भी समर्थ हुए हैं। अत हमारे विचार मे, हिक्स अपने स्वय के माँग के अनधिमान वक्र विश्लेषण पर सुधार करने मे समर्थ हुए हैं।

1. Fritz Machlup, "Professor Hicks' Revision of Demand Theory". *American Economic Review*, 1957.

11

मांग की मूल्यसापेक्षता (लोच)
(ELASTICITY OF DEMAND)

मांग-सापेक्षता (अथवा लोच) की विभिन्न धारणाएँ
(Various Concepts of Demand Elasticity)

हम गत अध्यायों में पढ़ चुके हैं कि जब किसी वस्तु की कीमत घटती है तो इसकी मांग मात्रा बढ़ती है और जब उसकी कीमत बढ़ती है तो उसकी मांग-मात्रा घटती है। इसे सामान्यत मांग का नियम (Law of demand) कहा जाता है। यह मांग का नियम कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप मांग-मात्रा में परिवर्तन की केवल दिशा (direction) को ही दर्शाता है। यह मांग का नियम हमें यह नहीं बताता कि कीमत में परिवर्तन होने के फलस्वरूप वस्तु की मांग-मात्रा में कितनी वृद्धि अथवा कमी होती है। वस्तु की कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप उसकी मांग-मात्रा कितनी बदलती है यह बात हमें मांग की मूल्य-सापेक्षता (elasticity of demand) की धारणा से पता चलती है। हम प्रस्तुत अध्याय में मांग की मूल्य-सापेक्षता की धारणा की व्याख्या करेंगे। मूल्यसापेक्षता की धारणा का आर्थिक सिद्धांत तथा व्यावहारिक अर्थ-शास्त्र में बहुत महत्त्व है। इसलिए विद्यार्थियों के लिए इसे भली-भांति समझ लेना आवश्यक है।

साधारणत जब हम मांग की सापेक्षता अथवा लोच शब्द का प्रयोग करते हैं तो इसमें हमारा मतलब मांग की मूल्यसापेक्षता से होता है। परन्तु मांग की मूल्यसापेक्षता के अलावा मांग सापेक्षता की अन्य भी कई धारणाएँ हैं। हम पिछले अध्यायों में देख आए हैं कि किसी वस्तु की मांग उसकी कीमत, लोगों की आय, सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतों आदि पर निर्भर करती है। मांग के इन निर्धारक तत्त्वों में परिवर्तन होने के फलस्वरूप किसी वस्तु की मांग मात्रा भी बदल जाती है। मांग की सापेक्षता की धारणा में अभिप्राय किसी वस्तु की मांग-मात्रा का उसकी अपनी कीमत में परिवर्तन, लोगों की आय अथवा सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतों में परिवर्तन के फलस्वरूप बदलना है। इसलिए मांग की सापेक्षता की तीन धारणाएँ हैं (क) मूल्यसापेक्षता (price elasticity), (ख) आय-सापेक्षता (income elasticity) और प्रति-सापेक्षता (cross elasticity)। मांग की मूल्यसापेक्षता से अभिप्राय कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप वस्तु की मांग-मात्रा में कमी या वृद्धि से है। मांग की आय सापेक्षता से अभिप्राय आय में परिवर्तन होने से मांग-मात्रा में घट-बढ़ होना है। वस्तु की मांग की प्रति सापेक्षता से तात्पर्य किसी अन्य सम्बन्धित वस्तु की,

जो चाहे स्थानापन्न वस्तु हो अथवा पूरक, की कीमत बदलने से वस्तु की माग म परिवर्तन होता है। इन तीन सापेक्षताग्रो के अतिरिक्त माग की एक अन्य सापेक्षता भी है जिसे प्रतिस्थापन सापेक्षता (elasticity of substitution) कहा जाता है। प्रतिस्थापन सापेक्षता का अर्थ व्यक्ति की वास्तविक आय समान रहने पर केवल वस्तु की सापेक्ष कीमत (relative price) में परिवर्तन के फलस्वरूप वस्तु की मांग मात्रा का परिवर्तित होना है।

हम गत अध्यायो मे कीमत प्रभाव, आय प्रभाव तथा स्थानापत्ति प्रभाव की विवेचना कर चुके हैं जो क्रमश: कीमत मे परिवर्तन, आय मे परिवर्तन तथा केवल सापेक्ष कीमत मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप माग-मात्रा मे परिवर्तन को व्यक्त करते हैं। इसलिए अब प्रश्न यह है कि कीमत प्रभाव तथा मूल्यसापेक्षता मे क्या अन्तर है, आय प्रभाव तथा आय सापेक्षता मे क्या अन्तर है और स्थानापत्ति प्रभाव तथा स्थानापत्ति सापेक्षता मे क्या अन्तर है। जबकि कीमत प्रभाव वस्तु की कीमत मे निरपेक्ष परिवर्तन (absolute change in price) के फलस्वरूप उस वस्तु की माग-मात्रा मे निरपेक्ष परिवर्तन (relative change in quantity demanded) को बताता है, मूल्यसापेक्षता वस्तु की कीमत में सापेक्ष परिवर्तन (relative change in price) के फलस्वरूप उस वस्तु की माग-मात्रा मे सापेक्ष परिवर्तन (relative change in quantity demanded) को मापती है। इस प्रकार कीमत प्रभाव मे हम कीमत और माग-मात्रा मे निरपेक्ष परिवर्तनो को मापते हैं जबकि मूल्यसापेक्षता मे हम कीमत और माग-मात्रा मे सापेक्ष अथवा आनुपातिक परिवर्तनो को मापते हैं। यही अन्तर आय प्रभाव और आय सापेक्षता मे है स्थानापत्ति प्रभाव और स्थानापत्ति सापेक्षता मे है।

यह एक सामान्य ज्ञान और अनुभव की बात है कि विभिन्न वस्तुओं की मूल्यसापेक्षताओं मे बहुत अन्तर पाया जाता है। कई वस्तुओं की माग कीमत मे परिवर्तन के फलस्वरूप अधिक बदलती है और कई अन्यो की बहुत कम। अर्थशास्त्र म हम यह कहते हैं कि कई वस्तुओं की माग दूसरों की तुलना में अधिक मूल्यसापेक्ष (more elastic) होती है तथा कुछ पदार्थों की माग अन्य पदार्थों की तुलना मे कम मूल्यसापेक्ष (less elastic) होती है। मार्शल, जिसने आर्थिक सिद्धान्त में सापेक्षता की धारणा को आरम्भ किया, के अनुसार मार्केट में माग की सापेक्षता किसी वस्तु की कीमत मे कमी के फलस्वरूप उसकी माग-मात्रा में
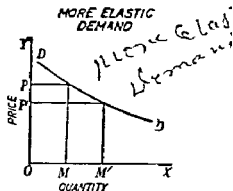
रेखाकृति 11.1 : अधिक मूल्यसापेक्ष मांग
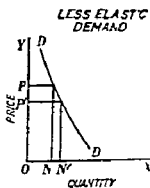
रेखाकृति 11.2 : कम मूल्यसापेक्ष मांग

अधिक अथवा कम वृद्धि होना है, अथवा उसकी कीमत मे वृद्धि के कारण उसकी माग मे अधिक या कम कमी होना है। यह रेखाकृति 11.1 और 11.2 मे आसानी मे समझा जा सकेगा जिसमे दो माग वक्र दिखाए गए हैं। इन रेखाकृतियो मे जब कीमत OP मे घट कर OP' होती है तो रेखाकृति 11.1 मे मांग की मात्रा रेखाकृति 11.2 की तुलना मे अधिक बढ़ती है। रेखा-

कृति 11 1 मे कीमत के OP से घट कर OP' हो जाने के कारण माँग मात्रा MM' बढती है, जबकि रेखाकृति 11 2 मे इसी कीमत परिवर्तन के फलस्वरूप माँग की मात्रा NN' बढती है। दो रेखाकृतियो को देखने से स्पष्ट है कि MM' मात्रा, NN' से बहुत अधिक है। अर्थात् रेखाकृति 11 1 मे माँग वक्र रेखाकृति 11 2 के माँग वक्र से अधिक मूल्यसापेक्ष हैं।

यहाँ एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि मूल्य-सापेक्ष अथवा मूल्यनिरपेक्ष के शब्दो को अर्थशास्त्र मे सापेक्ष भाव (relative sense) मे प्रयुक्त किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, मूल्यसापेक्षता मे केवल डिग्री अथवा अशो का ही अन्तर होता है। कुछ वस्तुओ की माँग केवल दूसरी वस्तुओ की तुलना मे *अधिक या कम* मूल्यसापेक्ष होती है। व्यावहारिक ससार मे सभवत ऐसी कोई वस्तु नही जिसकी माँग पूर्णतया निरपेक्ष हो। इसी तरह वास्तविक जगत मे पूर्णतया मूल्यसापेक्ष माँग वाली वस्तु का भी उदाहरण नही मिलता। इसलिए जब हम यह कहते है कि किसी वस्तु की माँग मूल्यसापेक्ष है तो वास्तव मे उससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि उसकी मूल्यसापेक्षता अधिक है। इसी प्रकार जब हम यह कहते है कि किसी वस्तु की माँग मूल्यनिरपेक्ष है तो इससे हमारा तात्पर्य यह नही होता कि उसकी माँग नितान्त अथवा पूर्णतया निरपेक्ष है, परन्तु केवल यह होता है कि उसकी माँग अपेक्षाकृत कम मूल्यसापेक्ष है।

आर्थिक सिद्धान्त मे मूल्यसापेक्ष अथवा मूल्यनिर-पेक्ष माँग को अधिक स्पष्ट अर्थ भी दिए गए हैं। किसी वस्तु की माँग मूल्यसापेक्ष (elastic) अथवा लोचदार कही जाती है यदि उसकी मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक हो। इसी तरह किसी वस्तु की माँग मूल्य-निरपेक्ष (inelastic) अथवा बेलोचदार कही जाती है यदि उसकी माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई से कम है। इस प्रकार इकाई के बराबर *मूल्यसापेक्षता* मूल्यसापेक्ष तथा मूल्यनिरपेक्ष माँग मे विभाजक रेखा का काम करती है। इससे स्पष्ट है कि *मूल्यनिरपेक्ष माँग* से हमारा अभिप्राय पूर्णतया मूल्यनिरपेक्ष नही किन्तु केवल यह है कि माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई से कम है और इसी प्रकार मूल्यसापेक्ष माँग से हमारा अभिप्राय पूर्ण-तया मूल्यसापेक्ष नही होता बल्कि केवल यह होता है कि माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक है। जैसा कि हम ऊपर बता आए है कि *विभिन्न वस्तुओ की* माँग की मूल्यसापेक्षता म बहुत अन्तर पाया जाता है। कुछ पदार्थ जैसे कि नमक गेहूँ, चावल आदि की माँग मूल्यनिरपेक्ष होती है। नमक की माँग कीमत म थोडी वृद्धि अथवा कमी होने पर भी लगभग समान ही रहती है। इसलिए नमक की माँग मूल्यनिरपेक्ष है। इसके विपरीत रेडियो रेफ्रीजरेटर, टैलीवीजन, कूलर आदि पदार्थों की माँग मूल्यसापेक्ष होती है क्योकि उनकी कीमतो म परिवर्तनो के फलस्वरूप उनकी माँग मात्रा मे *बहुत परिवर्तन होता* है।

हम आगे जाकर उन तत्वो और कारको का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे जो वस्तुओ की माँग की मूल्यसापेक्षता को निर्धारित करते हैं। यहाँ पर यह बता देना पर्याप्त है कि विभिन्न वस्तुओं की माँग की मूल्यसापेक्षता मे अन्तरो का प्रमुख कारण स्थानापत्ति की सम्भावना है अर्थात् स्थानापन्न वस्तुओ का पाया जाना है। *किसी वस्तु के जितने ही अधिक अच्छे* स्थानापन्न उपलब्ध होंगे, उसकी माँग की मूल्यसापेक्षता उतनी ही अधिक होगी। वस्तुओ की *माँग* इसलिए होती है क्योकि वे कुछ विशेष आवश्यकताओ की तुष्टि करती है और सामान्यत आवश्यकताएँ कई वैकल्पिक उपायो अथवा पदार्थों से तुष्ट की जा सकती है। मनोरजन की इच्छा अथवा आवश्यकता किसी रेडियो को रख कर अथवा ग्रामोफोन को रखकर या चलचित्रो को देख कर तुष्ट की जा सकती है। यदि रेडियो की कीमत घट जाय तो रेडियो की माँग मे बहुत वृद्धि हो जाएगी क्योकि रेडियो की कीमत म कमी से कई लोग ग्रामोफोन अथवा चलचित्रो के स्थान पर रेडियो रखने के लिए प्रेरित होंगे। इसलिए रेडियो की माँग मूल्यसापेक्ष होती है। इसी प्रकार यदि लक्स साबुन की कीमत घट जाए तो इसकी माँग बढ जाएगी क्योकि इसको साबुन की *अन्य किस्मो* जैसे कि जय, हमाम, गॉडरेज आदि के स्थान पर प्रयुक्त किया जाने लगेगा। इसलिए लक्स की माँग भी मूल्यसापेक्ष है। इसके विरुद्ध नमक, गेहूँ

प्रादि आवश्यक वस्तुओं की मांग मूल्यनिरपेक्ष होती है। नमक की मांग मूल्यनिरपेक्ष इसलिए है कि यह मौलिक मानवीय आवश्यकताओं की तुष्टि करती है और इसकी कोई स्थानापन्न वस्तुएँ नही हैं। लोग नमक की प्राय उतनी ही मात्रा खरीदेंगे चाहे इसकी कीमत मे थोडी सी कमी अथवा वृद्धि हो जाय।

मांग की मूल्यसापेक्षता का माप

(Measurement of Price Elasticity of Demand)

केवल यही जानना पर्याप्त नही होता कि मांग मूल्यसापेक्ष है या मूल्यनिरपेक्ष वरन् इस बात का भी ज्ञान होना आवश्यक है कि मूल्यसापेक्षता कितनी है। अत *मूल्यसापेक्षता का सही माप आवश्यक है।*

हमने ऊपर बताया कि मूल्यसापेक्षता को मांग-मात्रा मे प्रतिशत परिवर्तन को कीमत मे प्रतिशत परिवर्तन से भाग देकर ज्ञात किया जा सकता है। यदि मांग-मात्रा तथा कीमत मे प्रतिशत परिवर्तनो के स्थान पर आनुपातिक परिवर्तनो को लें तो भी मूल्यसापेक्षता ज्ञात हो सकती है।

अत मूल्यसापेक्षता

$$= \frac{\text{मांग मात्रा मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$= \frac{\dfrac{\text{मांग-मात्रा मे परिवर्तन}}{\text{आरम्भिक मांग मात्रा}}}{\dfrac{\text{कीमत मे परिवर्तन}}{\text{आरम्भिक कीमत}}} \quad \cdots(1)$$

यदि e_p मूल्यसापेक्षता का सूचक हो

Δq मांग मात्रा मे थोडे परिवर्तन का सूचक हो,

Δp कीमत मे परिवर्तन का सूचक हो,

q आरम्भिक (original) मांग-मात्रा का सूचक हो,

p आरम्भिक (original) कीमत का सूचक हो,

तो समीकरण (1) मे दिए गए मूल्यसापेक्षता (Price Elasticity of Demand) के सूत्र को हम निम्न प्रकार से लिख सकते हैं :

$$e_p = \frac{\dfrac{\Delta q}{q}}{\dfrac{\Delta p}{p}} = \frac{\Delta q}{q} \div \frac{\Delta p}{p}$$

$$e_p = \frac{\Delta q}{p} \times \frac{p}{\Delta p}$$

$$e_p = \frac{\Delta q}{\Delta p} \times \frac{p}{q}$$

उपर्युक्त सूत्र की सहायता से हम मूल्यसापेक्षता का माप कर सकते हैं। एक उदाहरण लीजिए। मानो *सेबों की कीमत 5 रुपये प्रति किलोग्राम हो तो उस पर 400 किलोग्राम सेबो की मांग की जाती है। अब यदि सेबो की कीमत घट कर 4 75 रुपये प्रति किलोग्राम हो जाने पर सेबों की मांग बढकर 450 किलोग्राम हो जाती है, तो मूल्यसापेक्षता कितनी होगी।*

$$\text{मूल्यसापेक्षता} = \frac{\Delta q}{\Delta p} \times \frac{p}{q}$$

ऊपर के उदाहरण में :—

$$\Delta q = 450 - 400 = 50 \text{ किलो॰}$$

$$\Delta p = 5 - 4\ 75 = 25 \text{ पैसे}$$

आरम्भिक कीमत, $p = 5$ रुपये $= 500$ पैसे

आरम्भिक मांग, $q = 400$ किलोग्राम

$$\text{मूल्यसापेक्षता} \quad (e_p) = \frac{\Delta q}{\Delta p} \times \frac{p}{q}$$

$$= \frac{50}{25} \times \frac{500}{400}$$

$$= 2 \times \frac{5}{4} = \frac{5}{2} = 2\ 5$$

अत ऊपर के उदाहरण मे मूल्यसापेक्षता 2 5 है। इसी प्रकार कोई और उदाहरण लेकर मूल्यसापेक्षता ज्ञात की जा सकती है।

मूल्यसापेक्षता तथा कुल व्यय (Total Expenditure and Elasticity)

किसी वस्तु की मूल्यसापेक्षता तथा उस पर किए गए कुल व्यय में घनिष्ठ सम्बन्ध है। किसी वस्तु की कीमत मे परिवर्तन के फलस्वरूप उस पर किए गए कुल व्यय मे परिवर्तन से हम उस वस्तु की मूल्यसापेक्षता का पता लगा सकते हैं। परन्तु स्मरण रहे

कि कुल व्यय विधि से हम केवल यह ज्ञात कर सकते हैं कि क्या मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर है इकाई से अधिक है अथवा इकाई से कम।

जब किसी वस्तु की कीमत के बदलने पर माँग मात्रा मे इतना परिवर्तन होता है कि उस पर कुल व्यय (total expenditure) समान रहता है तो मूल्य-सापेक्षता इकाई (unity) के बराबर होगी। कारण यह है कि कीमत मे परिवर्तन होने पर कुल व्यय तभी समान रह सकता है यदि मांग-मात्रा मे प्रतिशत परिवर्तन कीमत के प्रतिशत परिवर्तन के बराबर हो।

जब किसी वस्तु की कीमत के घटने पर उसकी मांग-मात्रा इतनी बढ जाती है कि उस पर किए गए कुल व्यय म वृद्धि होती है तो मांग की मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक होगी (greater than unity)। ऐसा इसलिए है कि कीमत के बढने पर कुल व्यय तभी बढता है जब मांग-मात्रा मे प्रतिशत वृद्धि कीमत मे प्रतिशत कमी की तुलना मे अधिक होती है। यह ध्यान देने की बात है कि जब वस्तु की कीमत बढने पर कुल व्यय मे कमी होती है तो मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक होगी क्योकि कीमत के घटने से कुल व्यय का बढना और कीमत के बढने से कुल व्यय का घटना एक ही बातें हैं।

यदि किसी वस्तु की कीमत के घटने से कुल व्यय मे कमी होती है तो मूल्यसापेक्षता इकाई से कम (less than unity) होगी। ऐसा इसलिए है कि कीमत के घटने से वस्तु पर किए गए कुल व्यय मे कमी तभी होगी जब कीमत मे प्रतिशत कमी की तुलना मे मांग-मात्रा मे प्रतिशत वृद्धि कम होगी। इस प्रकार जब कीमत के बढने पर कुल व्यय मे वृद्धि होती है तो माग की मूल्यसापेक्षता इकाई से कम होगी।

यह याद रहे कि केवल विभिन्न वस्तुओं की मूल्य-सापेक्षता भिन्न-भिन्न नहीं होती, एक ही वस्तु की विभिन्न कीमतो पर मूल्यसापेक्षता अलग-अलग होती है। एक वस्तु की ऊँची कीमतो पर मूल्यसापेक्षता प्राय अधिक होती है और कम कीमतो पर कम।

मूल्यसापेक्षता तथा कुल व्यय मे परिवर्तन को समझने के लिए रेखाकृति 11 3 पर विचार कीजिए जिसमे किसी वस्तु का माग वक्र DD दिखाया गया है। जब वस्तु की कीमत OP है, तो उपभोक्ताओ द्वारा उसकी OQ मात्रा मांगी जाती है। चूँकि वस्तु पर किया गया कुल व्यय उसकी कीमत तथा खरीदी जाने वाली मात्रा के गुणा के बराबर होता है इसलिए

वस्तु पर किया गया कुल व्यय

$$=OP \times OQ$$

$$=OQRP \text{ का क्षेत्रफल}$$

कल्पना कीजिए कि वस्तु की कीमत OP से गिर कर OP' हो जाती है, तो रेखाकृति से प्रकट है कि मांग की मात्रा बढ कर OQ' हो जाएगी।
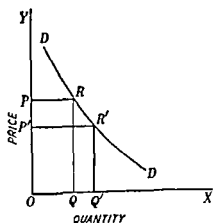
रेखाकृति 11 3 : कुल व्यय तथा मांग की मूल्यसापेक्षता

इसलिए नई कीमत OP' पर कुल व्यय

$$=OP' \times OQ'$$

$$=OQ'R'P'$$

अब क्या कीमत के बदलने पर कुल व्यय बढेगा अथवा घटेगा, यह माग की मूल्यसापेक्षता पर निर्भर करता है। जैसा कि हमने ऊपर देखा कुल व्यय का मांग की मूल्यसापेक्षता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। चूँकि इस सबध का आर्थिक सिद्धात म बडा महत्त्व है, हम इसे निम्न तीन सूत्रो म लिखते है

(1) जब मांग की मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर होती है ($e_p = 1$), तो कुल व्यय कीमत मे घटने अथवा बढ़ने पर भी स्थिर तथा समान रहता है ।

(2) जब माग की मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक होती है ($e_p > 1$), कीमत के घटने पर कुल व्यय बढता है तथा कीमत के बढने पर घटता है ।

(3) जब मांग की मूल्यसापेक्षता इकाई से कम होती है ($e_p < 1$), तो कुल व्यय कीमत के घटने पर घटता है तथा कीमत के बढने पर बढता है ।

अब हम उपर्युक्त तीन सूत्रो को क्रमश प्रमाणित करेंगे ।

साध्य (Proposition) 1 जब मांग की मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर होती है तो कीमत के घटने पर कुल व्यय स्थिर रहता है (*When the price elasticity of demand is equal to one, the total expenditure remains the same with the fall in price*)

मान लीजिए p आरम्भिक कीमत को तथा q कीमत p पर वस्तु की माग-मात्रा को व्यक्त करते हैं। Δp कीमत मे परिवर्तन को तथा Δq कीमत मे परिवर्तन के फलस्वरूप माग-मात्रा मे परिवर्तन को व्यक्त करते हैं ।

अब यदि कीमत के Δp के बराबर घटने पर माग मात्रा Δq के बराबर बढती है अर्थात् जब कीमत p से घटकर $(p - \Delta q)$ होती है तो मांग की मात्रा बढ़ कर $q + \Delta q$ हो जाती है, तो

आरम्भिक कुल व्यय, $TE_1 = pq$

कीमत घटने के पश्चात् कुल व्यय,

$$TE_2 = (p - \Delta p)(q + \Delta q)$$

$$TE_2 - TE_1 = (p - \Delta p)(q + \Delta q) - pq$$

$$TE_2 - TE_1 = pq + p\,\Delta q - \Delta p\,q - \Delta p\,\Delta q - pq$$

चूंकि Δp और Δq अति न्यून मात्राएँ हैं इसलिए $\Delta p\,\Delta q$ तो बहुत ही तुच्छ मात्रा होगी जिससे उसको उपेक्षित (ignore) किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त, $+pq$ और $-pq$ एक-दूसरे से कैंसल हो जाएँगे । अत हम उपर्युक्त समीकरण से निम्न निष्कर्ष निकालते हैं ।

$$TE_2 - TE_1 = p\,\Delta q - \Delta p\,q$$

हम मूल्यसापेक्षता के सूत्र से जानते हैं कि जब मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर होती है तो $\Delta q\,p$ और $\Delta p\,q$ एक-दूसरे के बराबर होंगे ।[1]

अर्थात् जब $e_p = 1$ तो

$$\Delta q\,p = \Delta p\,q$$

अथवा $\Delta q\,p - \Delta p\,q = 0$

अत $TE_2 - TE_1 = \Delta q\,p - \Delta p\,q = 0$

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुचते है कि जब मांग की मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर होती है तो कुल व्यय म कोई परिवतन नही होता अर्थात् कुल व्यय स्थिर रहता है ।

साध्य (Proposition) 2. जब मांग की मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक होती है तो कीमत के घटने पर कुल व्यय बढ़ता है । (*When price elasticity of demand is greater than one, total expenditure increases with the fall in price*) ।

इस उपर्युक्त व्याख्या से जानते हैं कि

$$TE_2 - TE_1 = \Delta q\,p - \Delta p\,q$$

अब जब मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक है ($e_p > 1$) तो $\Delta p\,q$ की अपेक्षा $\Delta q\,p$ अधिक होगा, अत

जब $e_p > 1$ तो $TE_2 - TE_1 > 0$

इसका अर्थ यह है कि कुल व्यय TE_2 जो कि कीमत गिरने के अनन्तर किया जाता है आरम्भिक कुल व्यय TE_1 से अधिक है । दूसरे शब्दो मे इस दशा

---

1 मूल्यसापेक्षता $= \frac{\Delta q}{q} \times \frac{p}{\Delta p} = \frac{\Delta q}{\Delta p} \times \frac{p}{q} = \frac{\Delta q\,p}{\Delta p\,q}$ । अब मूल्यसापेक्षता जो कि $\frac{\Delta q\,p}{\Delta p\,q}$ के बराबर है इकाई के बराबर तभी हो सकती है यदि $\Delta q\,p = \Delta p\,q$

में जब कि मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक है तो कीमत घटने पर कुल व्यय में वृद्धि होती है।

साध्य (Proposition) 3 जब माँग की मूल्य-सापेक्षता इकाई से कम होती है तो कीमत के घटने पर कुल व्यय में कमी होती है (When price elasticity of demand is less than one total expenditure decreases with the fall in price)

हम अपने ऊपर के अध्ययन से जानते हैं कि $TE_2 - TE_1 = \triangle q\, p - \triangle p\, q$। अब जबकि माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई से कम होती है तो $\triangle p\, q$ की तुलना में $\triangle q\, p$ कम होगा। इसलिए जब $e_p > 1$, $\triangle q\, p - \triangle p\, q$ अवश्य ही ऋणात्मक (negative) होगा। अर्थात् $TE_2 - TE_1 < 0$

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब $e_p < 1$ तो कुल व्यय TE_1 की अपेक्षा कुल व्यय TE_2 कम होगा। दूसरे शब्दों में, जब माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई से कम होती है तो कीमत के घटने पर कुल व्यय में कमी होगी।

हमने ऊपर वस्तु की कीमत घटने की दशा में कुल व्यय और मूल्यसापेक्षता के सम्बन्ध को प्रमाणित किया है। इसी ही प्रकार वस्तु की कीमत बढ़ने पर मूल्यसापेक्षता और कुल व्यय में निम्नलिखित सम्बन्ध को प्रमाणित किया जा सकता है।

1 जब वस्तु के लिए माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर होती है ($e_p = 1$) तो उसकी कीमत बढ़ने पर उस पर किया गया कुल व्यय समान रहता है।

2 जब वस्तु की माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक होती है ($e_p > 1$) तो उसकी कीमत बढ़ने पर उस पर किया गया कुल व्यय घटता है।

3 जब वस्तु के लिए माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई से कम होती है ($e_p < 1$) तो उसकी कीमत बढ़ने पर उस पर किया गया कुल व्यय बढ़ता है।

विभिन्न प्रकार की मूल्यसापेक्षताओं का रेखाकृति द्वारा स्पष्टीकरण (Diagrammatic Illustration of Price Elasticities)

उपर्युक्त तीन प्रकार की मूल्यसापेक्षता और उनका वस्तु पर किए गए कुल व्यय से सम्बन्ध को रेखाकृति द्वारा भी प्रकट कर सकते हैं। रेखाकृति 11 4 को देखिए जिसमें एक माँग वक्र DD बनाया गया है। इसमें जब कीमत OP है तो वस्तु की OQ मात्रा माँगी जाती है। चूँकि कुल व्यय कीमत को वस्तु की माँग मात्रा के साथ गुणा करके ज्ञात किया जाता है इसलिए OP कीमत पर कुल व्यय $OP \times OQ$ हुआ जो कि $OPEQ$ आयत के बराबर है। अब यदि
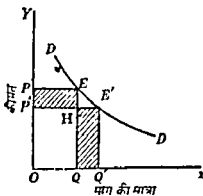
रेखाकृति 11 4

कीमत OP से घटकर OP' हो जाती है तो माँग-मात्रा बढ़कर OQ' हो गई है। इसलिए अब कुल व्यय $OP' \times OQ'$ अर्थात् आयत $OP'E'Q'$ के बराबर है। अब आयत $OPEQ$ और आयत $OP'E'Q'$ के क्षेत्रफलों की तुलना करने पर ज्ञात होगा कि क्या कुल व्यय में वृद्धि हुई या नहीं है। रेखाकृति 11 4 को देखने पर ज्ञात होगा कि क्षेत्र $OP'HQ$ दोनों आयतों में सम्मिलित है। इसलिए अब रही क्षेत्र $PEHP'$ और क्षेत्र $QHE'Q'$ की बात। रेखाकृति पर दृष्टि डालने से मालूम होगा कि क्षेत्र $QHE'Q'$, क्षेत्र $PEHP'$ से अधिक है। अतः कुल व्यय $OP'E'Q'$ पहले के कुल व्यय $OPEQ$ से अधिक है अर्थात् कीमत के घटने से कुल व्यय में वृद्धि

हुई है। अत यहाँ पर मांग की मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक है।

अब रेखाकृति 11 5 को लीजिए। जब कीमत OP है तो वस्तु पर किया गया कुल व्यय $OPEQ$ है और जब कीमत घटकर OP' हो जाती है तो कुल व्यय $OP'E'Q'$ किया जाता है। $OP'HQ$ दोनो आयतों $OPEQ$ और $OP'E'Q'$ मे सम्मिलित है। रेखाकृति 11 5 मे $PEHP'$ और $QHE\ Q'$ क्षेत्रों की तुलना करने पर पता लगता है कि वे परस्पर बराबर है। अर्थात
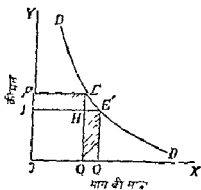
रेखाकृति 11 5

कुल व्यय $OP'E'Q'$ पहले के कुल व्यय $OPEQ$ के बराबर है अथवा कीमत घटने पर कुल व्यय समान ही रहता है। अत यहाँ पर मांग की मूल्यसापेक्षता इकाई (unity) के बराबर है।

अब रेखाकृति 11 6 को लीजिए। इसमे मांग ऐसी है कि कीमत घटने पर वस्तु पर किया गया कुल व्यय कम हो जाता है। तुलना करने पर ज्ञात होगा कि कीमत घट जाने के बाद कुल व्यय $OP'E'Q'$ पहले के कुल व्यय $OPEQ$ से कम है। अत यहाँ पर मांग की मूल्यसापेक्षता इकाई से कम (less than unity) है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि कीमत परिवर्तन के फलस्वरूप कुल व्यय मे हुए परिवर्तन से मांग की मूल्यसापेक्षता जानी जा सकती है। हम यहाँ पर फिर कहा दें कि कुल व्यय विधि से बिल्कुल निश्चित (exact and precise) मूल्यसापेक्षता नही जानी जा सकती, इससे केवल यह जाना जा सकता है कि क्या मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर है इकाई से अधिक है अथवा इकाई से कम है।
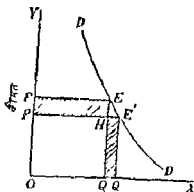
रेखाकृति 11 6

मांग वक्र के किसी बिंदु पर मूल्यसापेक्षता का माप
(Measurement of Elasticity on a Point on the Demand Curve)

एक महत्वपूर्ण बात मूल्यसापेक्षता के विषय मे जानने की यह है कि इसे एक मांग वक्र के किसी बिन्दु पर कैसे जाना जाता है। दूसरे शब्दो मे मांग वक्र पर बिंदु मूल्यसापेक्षता (Point of Elasticity) कैसे मापी जाती है।
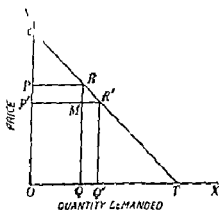
रेखाकृति 11 7

रेखाकृति 11 7 मे एक सरल रेखा वाला मांग वक्र (straight line demand curve) tT दिया हुआ

है और हमें इसके बिन्दु R पर मूल्यसापेक्षता ज्ञात करनी है। मांग वक्र tT पर जब वस्तु की कीमत OP है तो इस पर OQ मात्रा की मांग होती है। कीमत के OP से थोड़ा कम होकर OP' हो जाने से वस्तु की मांग-मात्रा बढ़ कर OQ' हो जाती है।

$$\text{मूल्यसापेक्षता} = \frac{\text{मांग-मात्रा में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

अथवा $$e_p = \frac{\Delta q}{q} \div \frac{\Delta p}{p}$$

$$= \frac{\Delta q}{\Delta p} \times \frac{p}{q} \quad \cdots (i)$$

हमारी रेखाकृति 11.7 में कीमत में परिवर्तन (अर्थात् ΔP) PP' हुआ है और उसके फलस्वरूप मांग मात्रा में परिवर्तन (अर्थात् Δq) QQ' हुआ है। आरम्भिक कीमत OP और आरम्भिक मांग-मात्रा OQ है। अत ऊपर के समीकरण (i) में इन सब को प्रति-स्थापित करने से हमें प्राप्त होता है :

$$e_p = \frac{QQ'}{PP'} \times \frac{OP}{OQ}$$

रेखाकृति 11.7 को देखने पर मालूम होगा कि $QQ' = MR'$ और $PP' = RM$ और $OP = QR$

इसलिए $$e_p = \frac{MR'}{RM} \times \frac{QR}{OQ} \quad \cdots (ii)$$

अब त्रिभुज RMR' तथा RQT में

$\angle MR'R = \angle QTR$

$\angle RMR' = \angle RQT$

तीसरा $\angle MRR'$ दोनों त्रिभुजों में ही है

अत दो त्रिभुज RMR' और RQT समरूप (similar) हैं। आपको विदित होगा कि समरूप त्रिभुज की भुजाएँ (sides) एक दूसरे के अनुपात में होती है। अत

$$\frac{MR'}{RM} = \frac{QT}{QR}$$

समीकरण (ii) में, $\frac{MR'}{RM}$ के स्थान पर $\frac{QT}{QR}$ लिखने से हमें प्राप्त होता है :

$$e_p = \frac{QT}{QR} \times \frac{QR}{OQ}$$

$$e_p = \frac{QT}{OQ}$$

त्रिभुज OtT में QR, Ot के समांतर (parallel) है इसलिए

$$\frac{QT}{OQ} = \frac{RT}{Rt}$$

अत $$e_p = \frac{QT}{QO} = \frac{RT}{Rt}$$

अत सीधी रेखा वाले मांग वक्र tT के बिन्दु R पर मूल्यसापेक्षता

$$= \frac{RT}{Rt}$$

$$= \frac{R \text{ से निचला भाग}}{R \text{ से ऊपर का भाग}}$$

यह है सूत्र (formula) जिसकी सहायता से हम माग वक्र के किसी बिन्दु पर मूल्यसापेक्षता को जान सकते है।

मांग की बिन्दु मूल्यसापेक्षता के विषय में एक और अवश्य जानने योग्य बात यह है कि किसी एक माग वक्र के भिन्न बिन्दुओं पर मूल्यसापेक्षता पृथक्-पृथक् होती है न कि एक-सी।[1]

आगे दी गई रेखाकृति 11.8 में tT एक सरल रेखा वाला मांग वक्र खींचा गया है और इस पर तीन बिन्दु S, R और L लिए गए है। मूल्यसापेक्षता का ऊपर प्रमाणित सूत्र लागू करने पर बिन्दु S पर मूल्यसापेक्षता $\frac{ST}{St}$ के बराबर होगी। चूँकि ST की लम्बाई St से अधिक है, इसलिए बिन्दु S पर मूल्यसापेक्षता इकाई

---

1 इस सामान्य नियम के तीन अपवाद है। पहला तो Rectangular hyperbola आकृति वाला माग वक्र जिसके प्रत्येक बिन्दु पर मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर होती है। दूसरा अपवाद है क्षितिज के समांतर रेखा (horizontal straight line) वाला मांग वक्र जिसके हर बिन्दु पर मूल्यसापेक्षता अनन्त (infinity) के बराबर होती है। तीसरा अपवाद है उदग्र सीधी रेखा (vertical straight line) की आकृति का मांग वक्र जिसके प्रत्येक बिन्दु पर मूल्यसापेक्षता शून्य (zero) होती है।

से अधिक होगी। इस प्रकार बिन्दु L पर मूल्यसापेक्षता $\frac{LT}{Lt}$ के बराबर होगी। चूँकि LT की लम्बाई Lt की तुलना मे कम है, इसलिए बिन्दु L पर मूल्य-सापेक्षता इकाई से कम होगी। अब बिन्दु R को लीजिए जो कि माग वक्र tT के बिल्कुल मध्य मे स्थित
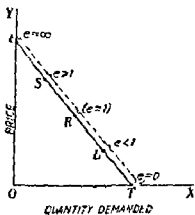
रेखाकृति 11 8

है। बिन्दु R पर मूल्यसापेक्षता $\frac{RT}{Rt}$ के बराबर होगी। चूँकि बिन्दु R माग रेखा tT का मध्य बिन्दु है, इसलिए RT और Rt आपस मे बराबर होगे। इसलिए $\frac{RT}{Rt}=1$। अत मध्य बिन्दु R पर मूल्य-सापेक्षता इकाई के बराबर है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि माँग वक्र के विभिन्न बिन्दुओ पर मूल्यसापेक्षता भिन्न-भिन्न होती है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट होता है कि रेखाकृति 11 8 के माँग-वक्र tT के मध्य बिन्दु R से ऊपर के माग के बिन्दुओ पर मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक होगी और इसके विप-रीत मध्य बिन्दु R से निचले भाग मे मूल्यसापेक्षता इकाई से कम होगी। जैसे हम माग वक्र के नीचे की ओर आते है मूल्यसापेक्षता कम होती जाती है। बिंदु t पर मूल्यसापेक्षता अनन्त (infinite) है और जैसे हम नीचे R की ओर आते है मूल्यसापेक्षता घटती जाती है परन्तु R तक यह इकाई से अधिक ही रहती है। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है मध्य बिन्दु R पर मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर है। जैसे-जैसे हम R के नीचे T की ओर आते हैं तो मूल्य-सापेक्षता घटती जाती है और बिन्दु T पर यह शून्य (zero) हो जाती है।

रेखाकृति 11 7 और 11 8 म जो माग वक्र खीचे गए है, वे सीधी रेखा (straight line) है। परन्तु प्राय माँग वक्र की आकृति सीधी रेखा के प्रकार की न होकर वास्तविक वक्र की आकृति (curve shape) की हुआ करती है। माँग-वक्र के किसी बिन्दु पर मूल्य सापेक्षता जानने का जो सूत्र हमने ऊपर पढा, वह तब भी लागू होता है जब माँग-वक्र सीधी रेखा न होकर वास्तविक वक्र की आकृति (curve shape) का हो।
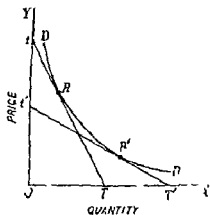
रेखाकृति 11 9

केवल हमें उस बिन्दु पर एक स्पर्श रेखा (tangent) खीचनी होती है जो X और Y के अक्षो तक जाती है। फिर उसी सूत्र की सहायता से मूल्यसापेक्षता जान ली जाती है। यह बात समझने के लिए रेखाकृति 11 9 को देखें। इसमे माँग-वक्र DD वक्र की आकृति का है। इस पर R बिन्दु लें। हमे R पर की मूल्यसापेक्षता ज्ञात करनी है। अब R बिन्दु पर DD माँग-वक्र पर स्पर्श रेखा (tangent) tT खीचो जो Y-अक्ष को t पर और X-अक्ष को T पर काटती है। उसी ऊपर दिए सूत्र के अनुसार DD माँग-वक्र के R बिन्दु की

मूल्यसापेक्षता $\frac{RT}{Rt}$ के बराबर होगी। इसी प्रकार यदि हमे R' बिन्दु पर मूल्यसापेक्षता जाननी हो तो DD माँग-वक्र के R' बिन्दु पर $t'T'$ स्पर्शरेखा (tangent) खींचो। अब R' बिन्दु पर मूल्यसापेक्षता $\frac{R'T'}{R't'}$ के बराबर होगी। रेखाकृति 11.9 को देखने पर यह ज्ञात होगा कि बिन्दु R, रेखा tT के मध्य से ऊपर स्थित है। इसलिए बिन्दु R पर मूल्यसापेक्षता $\left(\text{अर्थात्} \frac{RT}{Rt}\right)$ इकाई से अधिक होगी। इसके विपरीत बिन्दु R' रेखा $t'T'$ के मध्य बिन्दु से नीचे है। अतः R' पर मूल्यसापेक्षता $\left(\frac{R'T'}{R't'}\right)$ इकाई से कम होगी।

माँग की चाप सापेक्षता
(Arc Elasticity of Demand)

ऊपर माँग की बिन्दु मूल्यसापेक्षता (point price elasticity) की धारणा की व्याख्या की गयी है। बिन्दु मूल्यसापेक्षता में कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप माँग-मात्रा में परिवर्तन की चर्चा की जाती है जबकि कीमत में परिवर्तन बहुत ही कम (infinitesimally small) होता है। ऐसी स्थिति में मूल्यसापेक्षता को मापने हेतु यदि हम आरम्भिक कीमत लें अथवा कीमत परिवर्तन के पश्चात् स्थापित कीमत लें तो मूल्यसापेक्षता के मूल्य में कोई विशेष अन्तर नहीं होगा। किन्तु जब कीमत में परिवर्तन काफी अधिक होता है अर्थात् जब हमे माँग वक्र की किसी चाप (arc) पर मूल्यसापेक्षता का माप करना होता है तो बिन्दु मूल्यसापेक्षता के सूत्र $\frac{\Delta q}{\Delta p} \quad \frac{q}{p}$ से हमे मूल्यसापेक्षता का पूर्णतया सही माप ज्ञात नहीं हो सकता। ऐसी दशा में मूल्यसापेक्षता की मात्रा में अधिक अन्तर होगा यदि इसको मापने के लिए प्रारम्भिक कीमत तथा माँग-मात्रा को आधार बनाया जाय अथवा कीमत परिवर्तन के पश्चात् की कीमत तथा माँग-मात्रा को। यह बात एक गणितीय उदाहरण जिसको निम्न तालिका में दिया गया है, से स्पष्ट हो जायेगी।

कीमत (रुपये)	माँग-मात्रा
15 (p_1)	100 (q_1)
10 (p_2)	200 (q_2)

यदि हम बिन्दु मूल्यसापेक्षता के सूत्र द्वारा मूल्यसापेक्षता को मापने के लिए प्रारम्भिक कीमत 15 रु० (p_1) तथा उस पर माँगी गयी मात्रा 100 इकाइयों (q_1) को आधार बनायें तो मूल्यसापेक्षता की निम्न मात्रा प्राप्त होती है —

$$e_p = \frac{\Delta q}{\Delta p} \times \frac{p}{q} = \frac{100}{5} \times \frac{15}{100} = 3$$

यदि हम कीमत परिवर्तन के पश्चात् की कीमत 10 रुपये (p_2) तथा इस पर माँग-मात्रा (q_2) को आधार बनायें तो बिन्दु मूल्यसापेक्षता के सूत्र से मूल्यसापेक्षता की निम्न मात्रा प्राप्त होती है —

$$e_p = \frac{\Delta q}{\Delta p} \times \frac{p}{q} = \frac{100}{5} \times \frac{10}{200} = 1$$

इस प्रकार हम देखते है कि जब कीमत में अधिक परिवर्तन होता है (उपर्युक्त उदाहरण में कीमत में 33% परिवर्तन हुआ है) तो बिन्दु मूल्यसापेक्षता के सूत्र द्वारा हम मूल्यसापेक्षता के बहुत भिन्न-भिन्न मूल्य प्राप्त होते है (जैसे कि उपर्युक्त उदाहरण में 3 और 1) जो कि इस पर निर्भर करते है कि क्या हम इसे मापने के लिए प्रारम्भिक कीमत तथा माँग-मात्रा को आधार बनायें अथवा कीमत परिवर्तन के पश्चात् की कीमत तथा माँग-मात्रा को।

माँग वक्र की दशा में जब हमे माँग वक्र की चाप जैसा कि रेखाकृति 11.10 में माँग वक्र DD पर A तथा B बिन्दुओं के मध्य मूल्यसापेक्षता का सही माप बिन्दु मूल्यसापेक्षता के सूत्र द्वारा नहीं हो सकता। ऐसी स्थितियों में जब कीमत में परिवर्तन अधिक होता है अर्थात् जब माँग वक्र के दो अधिक दूरी के बिन्दुओं के मध्य मूल्यसापेक्षता का माप करना होता है तो चाप मूल्यसापेक्षता (arc elasticity) की धारणा का प्रयोग किया जाता है। चाप लोच अथवा चाप मूल्यसापेक्षता के माप में प्रारम्भिक तथा परिवर्तन के पश्चात्

की कीमतो का औसत, प्रारम्भिक तथा परिवर्तन के पश्चात् की माँग-मात्राओ का औसत लिया जाता है।
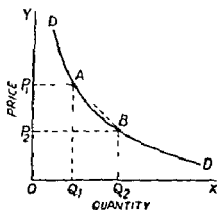
रेखाकृति 11 10 . माँग की चाप लोच

अतएव माँग की चाप मूल्यसापेक्षता मापने का निम्न सूत्र है —

$$e_p = \frac{\Delta q}{\left(\frac{q_1+q_2}{2}\right)} - \frac{\Delta p}{\left(\frac{p_1+p_2}{2}\right)}$$

$$= \frac{\Delta q}{\left(\frac{q_1+q_2}{2}\right)} \times \frac{\left(\frac{p_1+p_2}{2}\right)}{\Delta p}$$

$$= \frac{\Delta q}{(q_1+q_2)} \times \frac{(p_1+p_2)}{\Delta p}$$

$$= \frac{\Delta q}{\Delta p} \quad \frac{(p_1+p_2)}{(q_1+q_2)}$$

उपर्युक्त गणितीय उदाहरण मे जिसमे किसी वस्तु की कीमत 15 रुपये प्रति इकाई से गिरकर 10 रुपये प्रति इकाई हो जाती है तो चाप मूल्यसापेक्षता का माप निम्न है—

$$e_p = \frac{\Delta q}{\Delta p} \quad \frac{(p_1+p_2)}{(q_1+q_2)}$$

$$= \frac{100}{5} \times \frac{(15+10)}{100+200}$$

$$= \frac{100}{5} \times \frac{25}{300} = \frac{5}{3} = 1\ 66$$

रेखाकृति 11 10 • म माँग वक्र DD के बिन्दुओ A तथा B के मध्य चाप मूल्यसापेक्षता को मापने के लिये हमे OP_1 और OP_2 की कीमतो का औसत तथा मात्राओ OQ_1 तथा OQ_2 का औसत लेना होगा। यह ध्यान देने योग्य है कि रेखाकृति 11 10 मे उपर्युक्त चाप मूल्यसापेक्षता का गुणाक वास्तव मे dashed रेखा AB की चाप लोच को मापता है अर्थात् माँग-वक्र DD के बिन्दु A तथा B के मध्य सरल रेखा (dashed रेखा) की चाप लोच को बिन्दु A तथा B के मध्य माग वक्र DD की वास्तविक चाप (true arc) की मूल्यसापेक्षता के लगभग बराबर माना गया है। अतएव बिन्दु A तथा B के मध्य माग-वक्र जितना अधिक उत्तल (convex) होगा तो बिन्दु A और B के बीच सरल dashed रेखा वास्तविक माग वक्र (true demand curve) से उतनी अधिक पृथक होगी। परिणामस्वरूप चाप मूल्यसापेक्षता का गुणाक वास्तविक माग-वक्र की वास्तविक चाप मूल्य सापेक्षता का उतना ही कम द्योतक होगा। इसी प्रकार किसी माग वक्र पर बिन्दु A और B परस्पर जितनी अधिक दूरी पर होगे, dashed सरल रेखा AB उतनी ही अधिक वास्तविक वक्र से पृथक होगी और इसलिए उपर्युक्त चाप मूल्यसापेक्षता का गुणाक वास्तविक माँग वक्र की चाप लोच का अधिक अनुपयुक्त माप होगा। अतएव चाप मूल्यसापेक्षता की धारणा भी तब सार्थक होती है जबकि चाप कम हो अर्थात् माग वक्र पर के दो बिन्दु अधिक दूरी पर न हो। अत चाप मूल्यसापेक्षता के सूत्र को तब प्रयोग किया जाना चाहिए जब कीमत म परिवर्तन बहुत अधिक न हो। इसके विपरीत जब माग वक्र पर दो बिन्दु (अर्थात् dashed सरल रेखा) परस्पर अतीव निकट स्थित हो तो चाप-सापेक्षता का गुणाक तथा बिन्दु सापेक्षता का गुणाक लगभग समान होते हैं।

माग वक्र की ढाल तथा मूल्यसापेक्षता (Slope of the Demand Curve and Price Elasticity of Demand)

मूल्यसापेक्षता की रेखाकृति के विषय मे कई बार कई विद्यार्थियो के मन मे यह भ्रान्त धारणा बैठ जाती है कि अपेक्षत चपटा या कम ढाल वाला वक्र (flatter

curve) अधिक मूल्यसापेक्षता दर्शाता है और इसके विपरीत, अधिक ढाल वाला वक्र (steep curve) कम मूल्यसापेक्षता को। यदि ढाल (slope) का मूल्य-सापेक्षता से इस प्रकार का सम्बन्ध होता तो फिर रेखाकृति 11 8 मे दिए गये सीधी रेखा वाले माँग-वक्र के सब बिन्दुओ पर मूल्यसापेक्षता एक-सी रहती, क्योकि सीधी रेखा की ढाल (slope) तो इसके सब बिन्दुओ पर एक-सी होती है। वस्तुत ऐसी बात नही। रेखाकृति 11 8 मे हम देख चुके हैं कि सीधी रेखा के माँग-वक्र tT के अलग-अलग बिन्दुओ पर मूल्यसापेक्षता अलग-अलग है। जब एक ढाल वाले माँग-वक्र पर मूल्यसापेक्षता एक-सी नही होती, तो दो भिन्न ढाल वाले माँग-वक्रो की मूल्यसापेक्षता उनकी ढाल की तुलना करके हम कैसे बता सकते हैं।

इसी प्रकार कई बार यह देखने मे आता है कि चाहे दो माँग-वक्रो की ढाल (slope) तो भिन्न हो पर दी हुई किसी एक कीमत पर मूल्यसापेक्षता बराबर होती है। रेखाकृति 11 10 मे BP और AP माँग-वक्रो की ढालें एक दूसरे से भिन्न हैं किन्तु उनकी मूल्यसापेक्षता
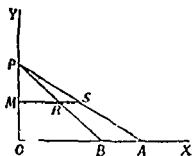
रेखाकृति 11 11

एक दी हुई कीमत पर समान है। यदि OM कीमत हो, और हम M बिन्दु से X-अक्ष के समानान्तर (parallel) रेखा खीचें, जो BP को R पर और AP को S पर काटती है, तब BP वक्र की मूल्यसापेक्षता R बिन्दु पर $\frac{BR}{RP}$ है और AP वक्र की S बिन्दु पर $\frac{AS}{SP}$ है। अब BOP समकोण त्रिभुज (Right-angled triangle) मे $\frac{BR}{RP}=\frac{OM}{MP}$

किन्तु AOP समकोण त्रिभुज मे

$$\frac{OM}{MP}=\frac{AS}{SP}$$

अत

$$\frac{BR}{RP}=\frac{AS}{SP}$$

अर्थात् R और S बिन्दुओ पर मूल्यसापेक्षता समान है यद्यपि दोनो वक्रो की ढाल (slope) एक-सी नही।

हम ऐसे दो माँग वक्रो से जिनकी ढाल समान है यह स्पष्ट कर सकते है कि एक ही कीमत पर उन पर मूल्यसापेक्षता भिन्न भिन्न होगी। रेखाकृति 11 12 मे दो सीधी रेखा के माँग-वक्र AB और CD खीचे गये हैं जो कि एक दूसरे के समानान्तर (parallel) हैं। चूँकि AB और CD एक दूसरे के समानान्तर हैं, इसलिए उनकी ढाल (slope) समान हैं। अब हम यह सिद्ध कर सकते हैं कि कीमत OP पर उनकी मूल्य-सापेक्षता भिन्न भिन्न है। बिन्दु P से एक सीधी रेखा अक्ष-X के समानातर खीची गई है जो माँग-वक्र AB को बिन्दु R पर और माँग वक्र CD को Q पर काटती
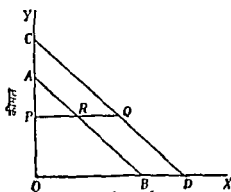
रेखाकृति 11 12

है। माँग-वक्र AB के बिन्दु R पर मूल्यसापेक्षता $\frac{RB}{RA}$ के बराबर होगी।

चूँकि समकोण त्रिभुज OAB मे PR, OB के समानान्तर है इसलिए

$$\frac{RB}{RA}=\frac{OP}{PA}$$

अत बिन्दु R पर मूल्यसापेक्षता $= \frac{OP}{PA}$

माग-वक्र CD के बिन्दु Q पर मूल्यमापेक्षता $\frac{QD}{QC}$ के बरावर होगी। चूँकि समकोण त्रिभुज OCD मे PQ OD के समानान्तर है इसलिए

$$\frac{OD}{QC} = \frac{OP}{PC}$$

अत माँग वक्र CD के बिन्दु Q पर मूल्यसापेक्षता

$$= \frac{OP}{PC}$$

रखाकृति देखन पर ज्ञात होगा कि बिन्दु R पर मूल्यमापेक्षता $\frac{OP}{PA}$ और बिन्दु Q पर मूल्यमापेक्षता $\frac{OP}{PC}$ बरावर नही हैं। रेखाकृति देखने पर ज्ञात होगा कि $PC > PA$

$$\text{अत} \quad \frac{OP}{PC} < \frac{OP}{PA}$$

अर्थात् माग वक्र CD के बिन्दु Q पर मूल्य सापेक्षता माँग वक्र AB क बिन्दु R की मूल्यसापेक्षता से कम है यद्यपि दोनों वक्रा की ढाल समान ही है।

ऊपर के विश्लेषण का सार यह है कि माग वक्र की मूल्यसापेक्षता उस वक्र की केवल ढाल स नही जानी जा सकती।

अनधिमान वक्रो द्वारा मांग की मूल्यसापेक्षता का अनुमान लगाना (Measurement of Price Elasticity of Demand with Indifference Curves)

अनधिमान वक्र विश्लेषण द्वारा भी यह जाना जा सकता है कि क्या माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक है इकाई के बराबर है अथवा इकाई से कम है। अनधिमान वक्र विश्लेषण की धारणा कीमत उपभोग वक्र (*Price Consumption Curve*) से ही मूल्यसापक्षता का पता लगाया जा सकता है। रेखाकृति 11 13 को लीजिए जिसके अक्ष-X पर वस्तु X की मात्रा तथा अक्ष Y पर मुद्रा आय को लिया गया है। वह मान लिया गया है कि उपभोक्ता के पास व्यय करने के लिए मुद्रा आय की OA मात्रा है। प्रत्येक अनधिमान वक्र जो यहाँ दिखाया गया है वह वस्तु X और मुद्रा के उन विभिन्न सयोगो को प्रदर्शित करता है जिनके बीच उपभोक्ता उदासीन अथवा तटस्थ (indifferent) है अर्थात जिससे उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है। प्रारम्भ मे वस्तु X की एक दी हुई कीमत पर कीमत रेखा AB है। कीमत रेखा AB की ढाल, जोकि $\frac{OA}{OB}$ के बराबर है वस्तु X की कीमत को व्यक्त करती है। इस कीमत पर (अर्थात कीमत रेखा AB) से उपभोक्ता अनधिमान वक्र के बिन्दु Q_1 पर सन्तुलन मे है और यहाँ पर वह वस्तु की OX_1 मात्रा खरीद रहा है। इस प्रकार वर्तमान सन्तुलन की स्थिति Q_1 म उसके

रेखाकृति 11 13

पास वस्तु X की OX_1 तथा मुद्रा की OY_1 मात्रा है। इसका अर्थ यह है कि उसन वस्तु X पर AY_1 मुद्रा व्यय करके X की OX_1 मात्रा प्राप्त की है। कल्पना कीजिए उपभोक्ता के पास कुल मुद्रा आय की पूर्ववत् मात्रा OA रहने पर वस्तु X की कीमत घट जाती है जिससे कीमत रेखा विवर्तित होकर AC हो जाती है। वस्तु X की नई कीमत, नई कीमत रेखा AC की ढाल अर्थात $\frac{OA}{OC}$ के बराबर होगी। इस नई कीमत रेखा AC अथवा वस्तु X की नई घटी हुई कीमत पर उपभोक्ता अनधिमान वक्र IC_2 क बिन्दु Q_2 पर सन्तुलन म है। अपनी नई सन्तुलन स्थिति Q_2 म उपभोक्ता वस्तु

X की OX_2 मात्रा प्राप्त कर रहा है और अब उसके पास मुद्रा की OY_2 मात्रा रह गई है। इसका अर्थ यह है कि वस्तु X की कीमत घट जाने पर तथा उसके फलस्वरूप कीमत रेखा AC हो जाने पर उपभोक्ता अब वस्तु X पर मुद्रा की AY_2 मात्रा व्यय कर रहा है जो कि इस पर किए गए प्रारम्भिक व्यय AY_1 से अधिक है। इसी प्रकार जब वस्तु X की कीमत और घट जाती है और परिणामस्वरूप कीमत रेखा बदल कर AD हो जाती है तो अब उपभोक्ता अनधिमान वक्र IC_3 के बिन्दु Q_3 पर सन्तुलन में है जिस पर वह मुद्रा की AY_3 मात्रा व्यय करके वस्तु X की OX_3 मात्रा खरीद रहा है। यह मुद्रा व्यय AY_3, पहले मुद्रा व्यय AY_2 से अधिक है।

स्पष्ट है कि रेखाकृति 11 13 द्वारा प्रदर्शित स्थिति में जिसमें कि कीमत उपभोग वक्र (Price Consumption Curve) PCC नीचे को झुका हुआ है। [अर्थात् PCC ऋणात्मक ढाल (negative slope) का है] वस्तु X की कीमत घटने पर उपभोक्ता द्वारा इस पर किया गया कुल व्यय बढ़ता है। रेखाकृति 11 13 में उपभोक्ता का वस्तु X के लिए अनधिमान चित्र (indifference map) इस प्रकार का है कि नीचे को झुकता हुआ कीमत उपभोग वक्र प्राप्त होता है जिसका अर्थ यह है कि वस्तु X की कीमत गिरने पर उस पर किए गए कुल व्यय में वृद्धि होती है। हम वर्तमान अध्याय में पूर्व किए गए विश्लेषण से जानते हैं कि जब किसी वस्तु की कीमत घटने पर उस पर व्यय में वृद्धि होती है तो उस वस्तु की माँग सापेक्ष (elastic) होती है अर्थात् उसकी मूल्य सापेक्षता इकाई से अधिक होती है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि जब किसी वस्तु के लिए कीमत उपभोग वक्र नीचे की ओर झुका हुआ होता है तो माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक होती है अथवा उसकी माँग मूल्यसापेक्ष होती है (When price consumption curve for a good slopes downward, price elasticity of demand is more than one, that is, demand is elastic)।

रेखाकृति 11 14 में उपभोक्ताओं के ऐसे अनधिमान चित्र को प्रस्तुत किया गया है जिससे क्षितिज के समानांतर सरल रेखा (horizontal straight line) का कीमत उपभोग वक्र PCC प्राप्त होता है। इस दशा में वस्तु X की कीमत घटने पर तथा उसके फलस्वरूप कीमत रेखा के AB से क्रमश AC और AD को परिवर्तित हो जाने पर उसकी खरीदी गई मात्रा पहले OX_1 से बढ़ कर OX_2 और फिर OX_2 से बढ़ कर OX_3 हो जाती है, परन्तु उपभोक्ताओं की उस पर व्यय की गई मुद्रा आय प्रत्येक कीमत अथवा कीमत रेखा पर AY_1 ही रहती है। हम अपने उपर्युक्त अध्ययन से
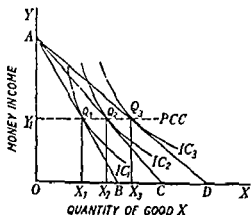
रेखाकृति 11 14

जानते है कि जब वस्तु पर किया गया कुल व्यय कीमत के परिवर्तन होने पर भी समान अथवा स्थिर रहता है तो उस वस्तु के लिए माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर होती है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि जब अनधिमान मानचित्र ऐसा होता है जिससे हमें क्षितिज के समानान्तर सीधी रेखा का कीमत उपभोग वक्र PCC प्राप्त होता है तो वस्तु की माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर होती है (When indifference map of consumers for a good is such that it gives a price consumption curve of a horizontal straight line, the price elasticity of demand for the good is equal to unity)

अब रेखाकृति 11 15 को लीजिए जिसमें एक वस्तु के लिए उपभोक्ताओं का अनधिमान चित्र इस प्रकार का है जिसमें ऊपर को चढ़ता हुआ कीमत उपभोग वक्र

(upwarding sloping price consumption curve) प्राप्त होता है। इस रेखाकृति पर दृष्टि डालने पर पता चलेगा कि कीमत गिरने पर वस्तु पर उप
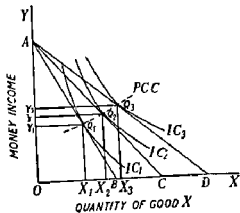
रेखाकृति 11 15

भोक्ताओ के मुद्रा-व्यय मे कमी होती है। जब कीमत गिरने पर और फलस्वरूप कीमत रेखा के AB से बदल कर AC हो जाने पर वस्तु की माँग मात्रा OX_1 से बढ कर OX_2 हो जाती है तो उपभोक्ताओ का उस पर किया गया मुद्रा व्यय AY_1 से घट कर AY_2 हो जाता है। इस प्रकार जब कीमत और गिरती है जिससे कीमत रेखा AD हो जाती है तो वस्तु पर उपभोक्ताओ द्वारा मुद्रा व्यय और घट कर AY_3 हो जाता है। अत-एव ऊपर को चढता हुआ कीमत उपभोग वक्र (upward sloping price consumption curve) का अर्थ यह है कि वस्तु की कीमत घटने पर अक्ष-X पर प्रदर्शित वस्तु पर उपभोक्ताओ के व्यय मे कमी होती है। चूँकि, जैसा कि हम ऊपर पढ चुके है, वस्तु की कीमत घटने पर उस पर किए गए कुल मुद्रा व्यय मे कमी होने का अर्थ है वस्तु की माँग का मूल्य निरपेक्ष (inelastic) होना अर्थात् उसकी मूल्यसापेक्षता का इकाई से कम होना। अत ऊपर को चढते हुए उपभोग वक्र का अर्थ है वस्तु की माँग की मूल्यसापेक्षता का इकाई से कम होना। (Upward sloping price consumption curve shows inelastic demand, that is, price elasticity of demand is less than one)

हम अपने उपर्युक्त विश्लेषण से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नीचे को झुकते हुए कीमत उपभोग वक्र का अर्थ है वस्तु की माग का मूल्यसापेक्ष (elastic) होना, ऊपर को चढ़ते हुए कीमत उपभोग वक्र का अर्थ है वस्तु की माग का मूल्यनिरपेक्ष (inelastic) होना और क्षितिज के समानातर सीधी रेखा के कीमत उपभोग वक्र का अर्थ है माग की मूल्यनिरपेक्षता का इकाई के बराबर होना (Downward sloping price consumption curve for a good means that demand for the good is elastic, upward sloping price consumption curve means that demand for the good is inelastic and a horizontal straight line price consumption curve means that demand for the good is unit elastic)।
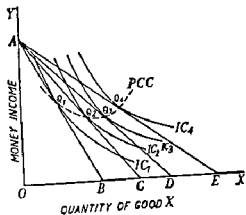
रेखाकृति 11 16

हमने अपने ऊपर के विवेचन मे इस प्रकार के अनधिमान चित्र (indifference maps) बनाए हैं जो कि मूल्यसापेक्षता को समग्र रूप से इकाई से अधिक, अथवा इकाई के बराबर अथवा इकाई से कम दर्शाते हैं। चूंकि माग की मूल्यसापेक्षता विभिन्न कीमत स्तरो पर भिन्न-भिन्न होती है, हम ऐसा अनधिमान चित्र बना सकते हैं जिससे हमे इस प्रकार का कीमत उपभोग वक्र PCC प्राप्त हो जो कि विभिन्न कीमतो पर भिन्न-भिन्न मूल्यसापेक्षताओ को दर्शाता है। ऐसे अनधिमान चित्र को हमने रेखाकृति 11 16 मे दनाया

है जिसमे यह देखा जाएगा कि बिन्दु Q_1 से Q_2 तक तो कीमत उपभोग वक्र नीचे की ओर झुका हुआ है। इसलिए यहाँ पर माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक है $(e_p>1)$। बिन्दु Q_2 से बिन्दु Q_3 तक कीमत उपभोग वक्र क्षितिज के समानातर सीधी रेखा है जिससे यहाँ पर माग की मूल्यसापेक्षता इकाई के बरावर है $(e_p=1)$। बिंदु Q_3 से बिंदु Q_4 तक कीमत उपभोग वक्र ऊपर को चढता है जिससे यहाँ पर माग की मूल्यसापेक्षता इकाई से कम है $(e_p<1)$

माँग की आयसापेक्षता (Income Elasticity of Demand)

वस्तु की माग केवल कीमत पर ही निर्भर नही करती, यह आय पर भी निर्भर करती है। हम पिछले अध्यायों मे पढ़ चुके हैं कि जब उपभोक्ताओ की आय बढती है तो प्राय: सभी वस्तुओं की माग बढती है और जब आय घटती है तो प्राय. सभी वस्तुओ की माग कम होती है। माग की आयसापेक्षता हमे यह बताती है कि किसी की आय मे किसी प्रतिशत परिवर्तन के फलस्वरूप उसकी किसी वस्तु के लिए माग मे कितना प्रतिशत परिवर्तन होता है। आयसापेक्षता को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :—

$$\text{आयसापेक्षता} = \frac{\text{माँग मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{आय मे आनुपातिक परिवर्तन}} = \frac{\dfrac{\text{माँग मे परिवर्तन}}{\text{प्रारम्भिक माँग की मात्रा}}}{\dfrac{\text{आय मे परिवर्तन}}{\text{आरम्भिक आय}}}$$

यदि y=आरम्भिक आय
Δy=आय मे परिवर्तन
q=आरम्भिक माँग की मात्रा
Δq=माँग मे परिवर्तन
e_i=आयसापेक्षता

तो,

$$e_i = \frac{\dfrac{\Delta q}{q}}{\dfrac{\Delta y}{y}} = \frac{\Delta q}{q} \times \frac{y}{\Delta y}$$

$$= \frac{\Delta q}{\Delta y} \times \frac{y}{q}$$

उदाहरण के लिए यदि उपभोक्ता की आय 100 रुपये से बढकर 105 रुपये हो जाती है तो किसी वस्तु की माँग 400 इकाइयों से बढकर 440 इकाइयाँ हो जाती है तो आयसापेक्षता निम्न प्रकार ज्ञात की जा सकती है।

इस उदाहरण मे,

$y=100$
$\Delta y=5$
$\Delta q=40$
$q=400$

$$\text{आयसापेक्षता } (e_i) = \frac{\Delta q}{\Delta y} \times \frac{y}{q} = \frac{40}{5} \times \frac{100}{400} = 2$$

हम माँग की आय सापेक्षता का माप आय मे परिवर्तन के फलस्वरूप वस्तु की माँगी जाने वाली मात्रा मे परिवर्तन की बजाय उस पर किए गए कुल व्यय मे परिवर्तन के प्रयोग से भी कर सकते हैं। जैसा कि हम जानते हैं किसी वस्तु पर किया गया कुल व्यय उसकी कीमत तथा उस पर खरीदी गई मात्रा के गुणा के बराबर होता है। अतएव यदि p कीमत तथा Q उस पर खरीदी जाने वाली मात्रा को व्यक्त करते हैं तो उस वस्तु पर किया गया कुल व्यय qp के बराबर होगा।

जैसा कि ऊपर परिभाषित किया गया है,

$$\text{आय सापेक्षता, } e_i = \frac{\Delta q}{q} \times \frac{y}{\Delta y} \qquad \ldots(i)$$

दोनों ऊपर और नीचे के अंश और हर (numerator and denominator) को p से गुणा करने पर उपर्युक्त समीकरण से हमे निम्न समीकरण प्राप्त होता है,

$$e_i = \frac{\Delta q.p.}{q.p.} \times \frac{y}{\Delta y} \qquad \ldots(ii)$$

अब, जैसा कि ऊपर बताया गया है, qp वस्तु पर किए गए व्यय को तथा Δqp आय में परिवर्तन के फलस्वरूप व्यय में परिवर्तन को व्यक्त करते हैं। यदि

कुल व्यय को X और व्यय मे परिवर्तन को $\triangle X$ लिखा जाए तो हमे उपर्युक्त समीकरण (ii) से निम्न समीकरण प्राप्त होता है,

$$\text{आय सापेक्षता, } e_i = \frac{\triangle X}{X} \times \frac{Y}{\triangle Y}$$

$$\text{अथवा, } e_i = \frac{Y \triangle X}{X \triangle Y}$$

$$\text{अतः आय सापेक्षता} = \frac{\text{आय} \times \text{व्यय मे परिवर्तन}}{\text{व्यय} \times \text{आय मे परिवर्तन}}$$

आय सापेक्षता तथा उस पर व्यय किया गया आय का अनुपात (Income Elasticity and Proportion of Income spent on the good)

एक वस्तु की आय लोच अथवा आय सापेक्षता और उस पर व्यय किए गए आय के अनुपात में बडा उपयोगी सम्बन्ध है। इन दो मे सम्बन्ध निम्न तीन सूत्रो द्वारा प्रकट किया जा सकता है —

1 यदि आय मे वृद्धि होने पर वस्तु पर व्यय की *गई आय का अनुपात समान रहता है तो वस्तु की आय* सापेक्षता इकाई के बराबर होती है।

2 यदि आय मे वृद्धि होने पर वस्तु पर व्यय की *गई आय का अनुपात बढता है तो वस्तु की आय* सापेक्षता इकाई से अधिक होती है।

3 यदि आय मे वृद्धि होने पर वस्तु पर व्यय की *गई आय का अनुपात घटता है तो वस्तु की आय सापे*क्षता इकाई से कम होती है।

इन उपर्युक्त तीन उक्तियो के प्रमाण नीचे प्रस्तुत करते हैं।

साध्य (Proposition) 1 यदि आय मे वृद्धि **होने पर वस्तु पर व्यय की गई आय का अनुपात समान रहता है तो वस्तु की आय सापेक्षता इकाई के बराबर होती है।** (*If proportion of income spent on the good remains the same as income increases, income elasticity for the good is equal to one*)

यदि X एक वस्तु पर व्यय की गई आय और Y आय के स्तर को व्यक्त करते है तो उस वस्तु पर व्यय की गई आय का अनुपात $\frac{X}{Y}$ के बराबर होगा।

यदि आय मे $\triangle Y$ के बराबर वृद्धि होती है और फलस्वरूप वस्तु पर किया गया व्यय $\triangle X$ के बराबर बढता है तो वस्तु पर व्यय की गई आय का नया अनुपात $\frac{X+\triangle X}{Y+\triangle Y}$ के बराबर होगा। अब यदि आय मे यह वृद्धि होने पर वस्तु पर व्यय की गई आय का अनुपात समान रहना है तो निम्न समीकरण की पूर्ति होनी चाहिए,

$$\frac{X+\triangle X}{Y+\triangle Y} = \frac{X}{Y}$$

$$\text{अथवा, } \quad Y(X+\triangle X) = X(Y+\triangle Y)$$

$$XY + Y\triangle X = XY + X\triangle Y$$

चूंकि XY समीकरण के दोनो ओर है, वे एक दूसरे को कैंसल (cancel) कर देंगे।

$$\text{इसलिए} \quad Y\triangle X = X\triangle Y$$

$$\text{अथवा,} \quad \frac{Y\triangle X}{X\triangle Y} = 1$$

परन्तु जैसा कि हम ऊपर पढ आए हैं, $\frac{Y\triangle X}{X\triangle Y}$ आय सापेक्षता को व्यक्त करता है,

अत आय सापेक्षता $e_i = 1$

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि *जब आय के बढने पर वस्तु पर व्यय की गई आय का अनुपात समान रहता है तो आय सापेक्षता इकाई के* बराबर होगी।

इसी प्रकार हम अन्य दो उक्तियो को प्रमाणित कर सकते हैं।

साध्य (Proposition) 2 **यदि आय मे वृद्धि होने पर वस्तु पर व्यय की गई आय का अनुपात बढ़ता है तो वस्तु के लिए आय सापेक्षता इकाई से अधिक होगी।** (If proportion of income spent on a *good rises as income increases*, then the income elasticity for the good is greater than one)

ऊपर की तरह, $\frac{X}{Y}$ वस्तु पर व्यय की गई आय का अनुपात है। जब आय $\triangle Y$ के बराबर बढ़ती है और परिणामस्वरूप वस्तु X पर किया गया व्यय $\triangle X$ के समान बढ़ जाता है तो वस्तु X पर व्यय की गई आय का नया अनुपात $\frac{X+\triangle X}{Y+\triangle Y}$ हो जाएगा। अब, यदि आय मे वृद्धि होने पर वस्तु पर व्यय की गई आय का अनुपात बढ़ता है, तो

$$\frac{X+\triangle X}{Y+\triangle Y} > \frac{X}{Y}$$

अथवा

$$Y(X+\triangle X) > X(Y+\triangle Y)$$

$$XY+Y\triangle X > XY+X\triangle Y$$

$$Y\triangle X > X\triangle Y$$

$$\frac{Y\triangle X}{X\triangle Y} > 1$$

$$e_i > 1$$

इस प्रकार यह प्रमाणित हुआ कि जब आय मे वृद्धि होने पर वस्तु पर व्यय की गई आय का अनुपात बढ़ता है तो वस्तु के लिए आय की सापेक्षता इकाई से अधिक होती है।

साध्य (*Proposition*) 3 यदि आय मे वृद्धि होने पर वस्तु पर व्यय की गई आय का अनुपात घटता है तो वस्तु की आय सापेक्षता इकाई से कम होती है (*If the proportion of income spent on a good decreases as income increases income elasticity is less than one*)

इस स्थिति मे $\frac{X}{Y}$ की तुलना मे $\frac{X+\triangle X}{Y+\triangle Y}$ कम होना चाहिए

अथवा

$$\frac{X+\triangle X}{Y+\triangle Y} > \frac{X}{Y}$$

$$Y(X+\triangle X) < X(Y+\triangle Y)$$

$$XY+Y\triangle X < XY+X\triangle Y$$

अथवा,

$$Y\triangle X < X\triangle Y$$

$$\frac{Y\triangle X}{X\triangle Y} < 1$$

अत

$$e_i < 1$$

इस प्रकार यह प्रमाणित हुआ कि जब आय के बढ़ने पर वस्तु पर व्यय की गई आय का अनुपात घटता है तो वस्तु की आय सापेक्षता इकाई से कम होगी।

सामान्य वस्तुओं (Normal goods) की आय सापेक्षता धनात्मक (positive) होती है अर्थात् सामान्य वस्तुओं की माँग उपभोक्ताओं की आय बढ़ने के साथ बढ़ती है और कम होने के साथ कम होती है। किन्तु हीन पदार्थों (Inferior Goods) जिनकी माँग आय बढ़ने पर घटती है, की आयसापेक्षता ऋणात्मक (negative) होती है।

जब उपभोक्ता की आय बढ़ने के साथ किसी वस्तु पर व्यय की गई राशि तथा आय का अनुपात स्थिर रहता है तो उस वस्तु की माँग की आय सापेक्षता इकाई के बराबर होगी (If proportion of income spent on a good remains the same as income increases, income elasticity is equal to unity)। ऐसी वस्तुओं की जिन पर आय का अधिक अनुपात व्यय किया जाता है आय सापेक्षता इकाई से अधिक होती है। इसके विपरीत ऐसी वस्तुओं की, जिन पर आय बढ़ने पर आय का कम अनुपात व्यय किया जाता है, आय सापेक्षता इकाई से कम होती है।

वह वस्तु जिसकी आयसापेक्षता इकाई से अधिक होती है अर्थात् जिस पर उपभोक्ता की आय बढ़ने से आय का अधिक अनुपात व्यय किया जाता है आर्थिक दृष्टि से विलासिता की वस्तु (luxury) कही जाती है। इसके विपरीत, वह वस्तु जिसकी आय सापेक्षता इकाई से कम होती है और जिस पर आय बढ़ने पर आय का पहले से कम अनुपात खर्च किया जाता है आर्थिक दृष्टि से आवश्यक वस्तु (necessity) कही जाती है। यह स्मरण रहे कि विलासिता व आवश्यक वस्तुओं की ये परिभाषाएँ हमने आर्थिक दृष्टि से की हैं न कि अंग्रेजी भाषा के अनुसार। विलासिता और आवश्यक वस्तुओं की उपर्युक्त परिभाषाएँ इस बात पर आधारित हैं कि विलासिता की वस्तु वह है जो कोई व्यक्ति धनी होने पर बहुत अधिक मात्रा में क्रय

करता है और आवश्यक वस्तु वह है जो कोई व्यक्ति धनी होने पर इतनी अधिक क्रय नहीं करता।

यदि उपभोक्ता की आय घटने-बढ़ने के साथ किसी वस्तु की माँग घटती बढ़ती नहीं है तो इस वस्तु की माँग की आय सापेक्षता शून्य (zero) होगी। यदि किसी वस्तु पर उपभोक्ता अपनी आय में होने वाली समस्त वृद्धि को व्यय कर देता है तो उस वस्तु की आय सापेक्षता $\frac{1}{k}$ के बराबर होगी जहाँ k आय का अनुपात है जो वस्तु पर व्यय किया जाता है। कल्पना कीजिए कि एक वस्तु की कीमत 2 रुपए प्रति इकाई है और उपभोक्ता जिसकी कुल आय 400 रुपये है, उस वस्तु की 50 इकाइयाँ खरीदता है अर्थात् वह उस पर $50 \times 2 = 100$ रु० व्यय करता है जो उसकी आय का $\frac{1}{4}$ है। अत यहाँ पर $k = \frac{1}{4}$ है। अब मान लीजिए कि उसकी आय में 50 रुपये वृद्धि होती है और इन समस्त 50 रुपयों को वह उस वस्तु पर खर्च कर दे तो वह वस्तु की 25 इकाइयाँ अधिक खरीदेगा अर्थात् अब वह वस्तु की 75 इकाइयाँ खरीदेगा। इसलिए,

$$\text{माँग की आय सापेक्षता} = \frac{\Delta q}{\Delta y} \times \frac{y}{q}$$

$$= \frac{25}{50} \times \frac{400}{50}$$

$$= 4$$

अब ध्यान से समझिए कि $4 = \frac{1}{\frac{1}{4}}$ है। हमने ऊपर देखा कि इस उदाहरण में $k = \frac{1}{4}$ है। अत स्पष्ट है कि जब उपभोक्ता अपनी आय में होने वाली समस्त वृद्धि को किसी वस्तु पर व्यय कर देता है तो उस वस्तु की *आय सापेक्षता* $\frac{1}{k}$ *के बराबर होती है* जहाँ k आय का अनुपात है जो उपभोक्ता द्वारा वस्तु पर व्यय किया जाता है।

माँग की प्रति मूल्यसापेक्षता (Cross Elasticity of Demand)

कई बार किन्हीं दो वस्तुओं की माँग परस्पर इस प्रकार सम्बन्धित होती है कि उनमें से एक की कीमत में परिवर्तन आने से दूसरी वस्तु की माँग बदल जाती है, जब कि दूसरी वस्तु की कीमत वैसी की वैसी रहती है। अत किसी एक वस्तु की माँग में वह परिवर्तन जो दूसरी वस्तु की कीमत बदलने के फलस्वरूप आता है, पहली वस्तु की प्रति-मूल्यसापेक्षता अथवा cross elasticity कहलाती है। दूसरे शब्दों में, वस्तु 'X' की वस्तु 'Y' से प्रति-मूल्यसापेक्षता जानने के लिए निम्नलिखित सूत्र प्रयोग करें।

$$\text{वस्तु } X \text{ की वस्तु } Y \text{ से प्रति मूल्यसापेक्षता} = \frac{\text{वस्तु } X \text{ की माँग में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{वस्तु } Y \text{ की कीमत में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

अथवा
$$e_c = \frac{\frac{\Delta q_x}{q_x}}{\frac{\Delta p_y}{p_y}} = \frac{\Delta q_x}{q_x} \div \frac{\Delta p_y}{p_y}$$

$$= \frac{q}{q_x} \times \frac{p_y}{\Delta p_y}$$

$$= \frac{\Delta q_x}{\Delta p_y} \times \frac{p_y}{q_x}$$

जहाँ e_c = माँग की प्रति-मूल्यसापेक्षता अथवा क्रॉस मूल्यसापेक्षता

q_x = वस्तु X की माँग की आरम्भिक मात्रा

Δq_x = X की माँग में परिवर्तन

p_y = वस्तु Y की आरम्भिक कीमत

Δp_y = वस्तु Y की कीमत में थोड़ा-सा परिवर्तन

अब एक उदाहरण लीजिए। यदि कॉफी की कीमत 2.50 रुपए प्रति 100 ग्राम से बढ़कर 3 रुपये प्रति 100 ग्राम हो जाने से उपभोक्ता की चाय की माँग 500 ग्राम से बढ़कर 600 ग्राम हो जाती है तो प्रति-मूल्यसापेक्षता निम्न प्रकार से मालूम की जाती है।

इस उदाहरण में, $\Delta q_x = 600 - 500 = 100$

$$q_x = 500 \text{ ग्राम}$$

$$\Delta p_y = 3 - 2.50 = .50 \text{ पैसे}$$

$$p_y = 2.50 \text{ रु०} = 250 \text{ पैसे}$$

$$\text{प्रति-मूल्यसापेक्षता} = \frac{\Delta q_x}{\Delta p_y} \times \frac{p_y}{q_x}$$

$$= \frac{100}{50} \times \frac{250}{500}$$

$$= 1$$

जैसा कि हमने चाय और काफी के उदाहरण में ऊपर देखा जब दो वस्तुएँ आपस में स्थानापन्न (substitutes) हों तो तब एक की कीमत बढ़ जाने पर दूसरी वस्तु की माँग बढ़ जाती है। अतएव स्थानापन्न वस्तुओं के बीच प्रति-मूल्यसापेक्षता धनात्मक (positive) होती है अर्थात् एक की कीमत बढ़ जाने से दूसरी की माँग बढ़ जाती है। स्थानापन्न पदार्थों को प्रतियोगी पदार्थ (competing goods) भी कहते हैं। इसके विपरीत, जब दो वस्तुएँ एक दूसरे की पूरक (complementary) हों, जैसे डबलरोटी और मक्खन (Bread and Butter), चाय और दूध आदि तो एक की कीमत बढ़ने पर दूसरी की माँग घट जाती है। अतः पूरक पदार्थों के बीच प्रति-मूल्यसापेक्षता ऋणात्मक (negative) होती है।

प्रति-मूल्यसापेक्षता की धारणा का सैद्धान्तिक रूप से बड़ा महत्त्व है। विभिन्न प्रकार की मार्किटों का वर्गीकरण (classification of markets) प्रति-मूल्यसापेक्षता के आधार पर किया जाता है। पूर्ण प्रतियोगिता वह है जिसमें बहुत-सी फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की प्रति-मूल्यसापेक्षता अनन्त हो। एकाधिकार (Monopoly) वह है जो ऐसे पदार्थ को उत्पादित करता हो जिसकी अन्य सभी पदार्थों के साथ प्रति-मूल्यसापेक्षता बहुत कम हो और एकाधिकारिक प्रतियोगिता (Monopolistic Competition) वह है जिसमें बहुत-सी फर्में ऐसे पदार्थ उत्पादित कर रही होती हैं जिनमें प्रति-मूल्यसापेक्षता बहुत अधिक होती है अर्थात् वे निकट के स्थानापन्न (close substitutes) होते हैं।

प्रतिस्थापन सापेक्षता
(The Elasticity of Substitution)

प्रतिस्थापन सापेक्षता एक और महत्त्वपूर्ण धारणा है जिसका उल्लेख करना आवश्यक है। दो वस्तुओं में प्रतिस्थापन सापेक्षता इस बात का निर्देश करती है कि एक वस्तु की स्थानापत्ति दूसरी वस्तु के द्वारा किस सीमा तक हो सकती है जबकि उपभोक्ता की कुल संतुष्टि में कोई परिवर्तन न हो। (The elasticity of substitution between two goods is a measure of the ease with which one can be substituted for the other)। जिस प्रकार माँग की मूल्यसापेक्षता कीमत प्रभाव (price effect) का *सापेक्ष माप (relative measure)* है, *आयसापेक्षता* आय प्रभाव का सापेक्ष माप है, उसी प्रकार प्रतिस्थापन सापेक्षता प्रतिस्थापन प्रभाव (substitution effect) का सापेक्ष माप है।

जब एक वस्तु का दूसरी वस्तु द्वारा प्रतिस्थापन कठिन होता है तो दो वस्तुओं के अनुपात में थोड़ा-सा परिवर्तन उनके बीच सीमान्त प्रतिस्थापन की दर (marginal rate of substitution) में बहुत अधिक परिवर्तन ला देगा। जब दो वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन सुगम होता है तो उपभोक्ता के पास उनके अनुपात में थोड़े से परिवर्तन से उनके बीच सीमान्त प्रतिस्थापन की दर में कोई अधिक परिवर्तन नहीं होगा। स्पष्ट है कि दो वस्तुओं के अनुपात में परिवर्तन और उसके फलस्वरूप सीमान्त प्रतिस्थापन की दर में परिवर्तन में परस्पर सम्बन्ध से प्रतिस्थापन सापेक्षता का पता चल सकता है। अतः प्रतिस्थापन सापेक्षता को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है।

$$\text{प्रतिस्थापन सापेक्षता} = \frac{\text{दो वस्तुओं के अनुपात में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{वस्तुओं में प्रतिस्थापन की सीमान्त दर में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

$$e_s = \frac{\Delta\left(\frac{q_x}{q_y}\right)}{\frac{q_x}{q_y}} \quad \frac{\Delta\left(\frac{\Delta Y}{\Delta X}\right)}{\frac{\Delta Y}{\Delta X}}$$

जहाँ पर e_s = प्रतिस्थापन सापेक्षता

$\frac{q_x}{q_y}$ = वस्तु X और Y का अनुपात

$\triangle\left(\frac{q_x}{q_y}\right)$ = वस्तु X और Y के अनुपात में थोड़ा-सा परिवर्तन

$\frac{\triangle Y}{\triangle X}$ = वस्तु X की वस्तु Y के साथ आरम्भिक प्रतिस्थापन की सीमान्त दर

$\triangle\left(\frac{\triangle Y}{\triangle X}\right)$ = प्रतिस्थापन की सीमान्त दर में परिवर्तन

प्रतिस्थापन सापेक्षता की धारणा अनधिमान वक्रों द्वारा सरलता से समझ आ जाएगी। नीचे दो रेखाकृतियाँ 11·17 और 11·18 बनाई गई हैं। रेखाकृति
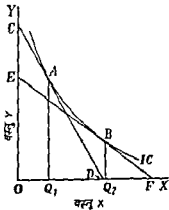
रेखाकृति 11·17

11·17 में जिन दो वस्तुओं का अनधिमान वक्र बनाया गया है वे निकट के स्थानापन्न (close substitutes) हैं, इसलिए उनका अनधिमान वक्र सीधी रेखा के बहुत निकट की आकृति का है। इसके विपरीत, रेखाकृति 11·18 में जिन दो वस्तुओं का अनधिमान वक्र बनाया गया है वे बहुत सीमा तक पूरक वस्तुओं के निकट हैं, इसलिए उनमें अधिक प्रतिस्थापन कठिन है जिससे उनके बीच अनधिमान वक्र मूल बिन्दु की ओर बहुत ही अधिक उत्तल (convex) है।

अनधिमान वक्रों के विश्लेषण के अध्याय में हम बता आए हैं कि अनधिमान वक्र के किसी बिन्दु पर सीमान्त प्रतिस्थापन की दर (marginal rate of substitution) उस पर खींची गई स्पर्श रेखा (tangent) की ढाल (slope) से जानी जा सकती है। नीचे दी गई दोनों रेखाकृतियों में अनधिमान वक्रों के बिन्दुओं A और B पर स्पर्श रेखाएँ CD और EF खींची गई हैं जिनकी ढालें उन बिन्दुओं पर सीमान्त प्रतिस्थापन की दरें दर्शाती हैं। रेखाकृति 11·17 में A और B बिन्दुओं पर सीमान्त प्रतिस्थापन की दरें रेखाकृति 11·18 के A और B बिन्दुओं पर की सीमान्त प्रतिस्थापन की दरों के समान हैं क्योंकि दोनों रेखाकृतियों में गिराई गई स्पर्श रेखाएँ एक दूसरे के समानान्तर (parallel) हैं, रेखाकृति 11·17 की रेखा CD रेखाकृति 11·18 की CD रेखा के समानान्तर है और एक की EF रेखा दूसरी की EF रेखा के समा-

रेखाकृति 11·18
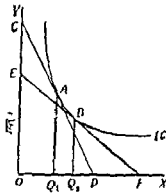
नान्तर है। दूसरे शब्दों में, दोनों अनधिमान वक्रों पर बिन्दु A से बिन्दु B तक नीचे आने पर सीमान्त प्रतिस्थापन की दर में समान कमी होती है। जबकि दोनों अनधिमान वक्रों में X को Y के साथ सीमान्त प्रतिस्थापन की दर में कमी बराबर है किन्तु रेखाकृति 11·17 के अनधिमान वक्र में X की मात्रा में बहुत अधिक वृद्धि हुई है और रेखाकृति 11·18 के अनधिमान वक्र में X की मात्रा में बहुत कम वृद्धि हुई है। रेखाकृतियों को देखने पर ज्ञात होगा कि रेखाकृति 11·17 में $Q_1 Q_2$ का अन्तर (जो X की मात्रा में वृद्धि को

प्रकट करता है) रेखाकृति 11 18 के Q_1 Q_2 के अन्तर मे बहुत अधिक है। स्पष्ट है कि सीमान्त प्रतिस्थापन की दर में रेखाकृति 11 18 मे रेखाकृति 11·17 के समान कमी करने पर वस्तु X की बहुत कम मात्रा बढानी पडती है अर्थात् रेखाकृति 11 18 मे प्रदर्शित दो वस्तुओ के बीच प्रतिस्थापन सापेक्षता (elasticity of substitution) बहुत कम है। इसके विपरीत रेखाकृति 11 17 मे सीमान्त प्रतिस्थापन दर मे समान कमी लाने के लिए वस्तु X की बहुत मात्रा बढाई गई है अर्थात् रेखाकृति 11 17 मे प्रदर्शित दो वस्तुओ के बीच प्रतिस्थापन सापेक्षता बहुत अधिक है।

यदि कोई दो वस्तुएँ X और Y एक दूसरे के सम्पूर्ण स्थानापन्न (perfect substitutes) है तो X की Y के साथ सीमान्त प्रतिस्थापन की दर मे बिना किसी कमी के $\frac{X}{Y}$ के अनुपात को अनिश्चित रूप मे बढाया जा सकता है अर्थात् सम्पूर्ण स्थानापन्नो के बीच प्रतिस्थापन सापेक्षता अनन्त (infinity) होती है। यही कारण है कि दो सम्पूर्ण स्थानापन्नो का अनधिमान वक्र सीधी रेखा की आकृति का होता है। परन्तु वास्तविक जीवन मे सम्पूर्ण स्थानापन्न वस्तुओं का पाया जाना बहुत कठिन है और यदि ऐसी वस्तुएँ हो भी तो आर्थिक दृष्टि से उन्हे एक ही वस्तु मानना होगा। किन्तु वास्तविक जीवन मे ऐसी वस्तुएँ प्राय पाई जाती हैं जो एक दूसरे के सम्पूर्ण स्थानापन्न तो नही परन्तु निकटतम स्थानापन्न (close substitutes) होती हैं, जैसे काफी और चाय, रेल यात्रा और मोटर यात्रा जिनके बीच प्रतिस्थापन सापेक्षता (elasticity of substitution) बहुत अधिक होती है और उनका अनधिमान वक्र सीधी रेखा की आकृति के अधिक निकट होता है अर्थात् वह मूल बिन्दु की ओर बहुत कम उत्तल (convex) होता है।

इसके विपरीत जो वस्तुएँ एक दूसरी की सम्पूर्ण पूरक (perfect complements) होती हैं तो उनका केवल एक निश्चित अनुपात मे (in a fixed proportion) प्रयोग होता है जिससे उनकी परस्पर स्थानापत्ति सम्भव नही। इसलिए वे वस्तुएँ जो एक दूसरे की सम्पूर्ण पूरक होती हैं उनके बीच प्रतिस्थापन सापेक्षता शून्य (zero) होती है। किंतु वास्तविक जीवन मे सम्पूर्ण पूरक वस्तुओ का पाया जाना कठिन है क्योंकि थोडी-सी स्थानापत्ति तो हर कहीं सम्भव होती है। किन्तु वास्तविक जीवन मे कई ऐसे पदार्थ पाए जाते है जिनमे बहुत कम स्थानापत्ति पाई जाती है जिससे उनके बीच प्रतिस्थापन सापेक्षता शून्य तो नही होती पर बहुत कम होती है। उदाहरण के लिए कमीजो और पैंटो मे प्रतिस्थापन सापेक्षता (elasticity of substitution) बहुत कम होती है। साधारणत एक व्यक्ति एक पैंट के साथ दो अथवा तीन कमीजें ही रखेगा इससे कम या अधिक नही।

मूल्यसापेक्षता, आयसापेक्षता तथा प्रतिस्थापन सापेक्षता का परस्पर सम्बन्ध (Relation between Price Elasticity, Income Elasticity and Substitution Elasticity)

अनधिमान वक्रो द्वारा माँग के विश्लेषण के अध्याय मे हम देख आये हैं कि कीमत प्रभाव (price effect), जो कि किसी वस्तु की कीमत मे परिवर्तन का उसकी माँग मात्रा पर प्रभाव को मापता है, आय प्रभाव (income effect) और प्रतिस्थापन प्रभाव पर निर्भर करता है। हमने वहाँ देखा कि कीमत प्रभाव=आय प्रभाव+प्रतिस्थापन प्रभाव। इसी प्रकार माँग की मूल्यसापेक्षता (Price Elasticity of Demand) भी आय सापेक्षता और प्रतिस्थापन सापेक्षता पर निर्भर करती है। इन तीन सापेक्षताओ के परस्पर सम्बन्ध को एक गणितीय सूत्र के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। उपभोक्ता की वस्तु X के लिए माँग की मूल्य-सापेक्षता निम्न सूत्र[1] के रूप मे प्रकट की जा सकती हैं।

$$e_p = KX \ e_i + (1 - KX)\, e_s$$

जहाँ e_p=माँग की मूल्यसापेक्षता

e_i=माग की आयसापेक्षता

e_s=X की अन्य वस्तुओ से प्रतिस्थापन सापेक्षता

1 Stonier and Hague, *A Textbook of Economic Theory*, 4th edition, p 84

KX = आय का अनुपात जो वस्तु X पर व्यय किया गया (proportion of income spent on the good X) है।

उपर्युक्त समीकरण का प्रथम भाग अर्थात् $KX\,e_i$ मूल्यसापेक्षता पर आय प्रभाव को व्यक्त करता है। दूसरे शब्दों में, सूत्र का यह भाग इस बात को दर्शाता है कि वस्तु X की कीमत में परिवर्तन से वस्तु की माग में परिवर्तन आय प्रभाव के परिमाण पर निर्भर करता है। अब आय प्रभाव का परिमाण दो तत्त्वों पर निर्भर करता है, प्रथम उपभोक्ता अपनी आय का कितना भाग वस्तु X पर व्यय कर रहा है और दूसरे उपभोक्ता की वस्तु X के लिए आयसापेक्षता (income elasticity for good X) कितनी है। उपभोक्ता आय का जितना अधिक भाग वस्तु X पर व्यय करेगा (अर्थात् जितना ही अधिक KX होगा) और उपभोक्ता की वस्तु X के लिए जितनी ही अधिक आयसापेक्षता होगी उतना ही अधिक आय प्रभाव का परिमाण होगा। अत: $KX.e_i$ मूल्यसापेक्षता पर आय प्रभाव के परिणाम का सूचक है।

जब वस्तु की कीमत घटती है तो उसकी मांग की मात्रा केवल आय प्रभाव के कारण ही नहीं बढ़ती, प्रतिस्थापन प्रभाव (substitution effect) के कारण भी बढ़ती है। जब वस्तु X की कीमत घटती है तो यह अन्य वस्तुओं से सापेक्ष रूप में सस्ती हो जाती है जिसके फलस्वरूप उपभोक्ता अन्य वस्तुओं का वस्तु X से प्रतिस्थापन करता है। उपर्युक्त समीकरण का दूसरा भाग अर्थात् $(1-KX)e_s$ मांग की मूल्यसापेक्षता पर प्रतिस्थापन सापेक्षता के परिणाम का सूचक है। प्रतिस्थापन प्रभाव का परिमाण एक तो इस बात पर निर्भर करता है कि आय का कितना भाग अन्य वस्तुओं पर व्यय हो रहा है अर्थात् $(1-KX)$ कितना है और दूसरे इस बात पर निर्भर करता है कि वस्तु X की अन्य वस्तुओं के साथ प्रतिस्थापन सापेक्षता (e_s) कितनी है। आय का जितना अधिक भाग अन्य वस्तुओं पर व्यय $(1-KX)$ होगा (अर्थात् जितनी अधिक आय अन्य वस्तुओं पर उपभोक्ता व्यय करेगा) और जितनी अधिक वस्तु X की अन्य वस्तुओं से प्रतिस्थापन सापेक्षता (elasticity of substitution) होगी उतना ही अधिक प्रतिस्थापन प्रभाव का परिमाण होगा।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि किसी वस्तु की माग की मूल्यसापेक्षता निम्नलिखित चार तत्त्वों द्वारा निर्धारित होती है

1 आय का अनुपात जो वस्तु पर व्यय किया जाता है
2 मांग की आयसापेक्षता
3 प्रतिस्थापन सापेक्षता
4 आय का अनुपात जो अन्य वस्तुओं पर व्यय किया जाता है।

यदि ऊपर के चार तत्त्व दिए हुए हो तो मूल्यसापेक्षता जानी जा सकती है। यह बात एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगी।

कल्पना कीजिए कि एक उपभोक्ता अपनी आय का $\frac{1}{5}$ भाग वस्तु X पर व्यय कर रहा है। यदि उपभोक्ता की वस्तु X के लिए आय सापेक्षता 2 हो और वस्तु X और अन्य वस्तुओं के बीच प्रतिस्थापन सापेक्षता 3 हो तो मूल्यसापेक्षता निम्न प्रकार से ज्ञात की जा सकती है

$$
\begin{aligned}
e_p &= KX\,e_i + (1-KX)\,e_s \\
&= \tfrac{1}{5}\times 2 + (1-\tfrac{1}{5})\times 3 \\
&= \tfrac{2}{5} + \tfrac{4}{5}\times 3 \\
&= \tfrac{2}{5} + \tfrac{12}{5} = \tfrac{14}{5} \\
&= 2\,8
\end{aligned}
$$

अत: वस्तु की मूल्यसापेक्षता 2 8 है। मूल्यसापेक्षता, आय सापेक्षता, और प्रतिस्थापन सापेक्षता के उपर्युक्त सम्बन्ध से यह प्रमाणित किया जा सकता है कि किसी वस्तु पर आय का चाहे जितना ही भाग व्यय क्यों न किया जाता हो यदि आयसापेक्षता और प्रतिस्थापन सापेक्षता दोनों इकाई के बराबर हो तो मूल्यसापेक्षता भी इकाई के बराबर होगी। उदाहरण के लिए यदि आय का $\frac{1}{5}$ भाग एक वस्तु पर व्यय हो रहा है और आयसापेक्षता तथा प्रतिस्थापन सापेक्षता इकाई के बराबर है तो मूल्यसापेक्षता होगी

$$e_p = KX\,e_i + (1 - KX)\,e_s$$
$$= \tfrac{1}{8} \times 1 + (1 - \tfrac{1}{8}) \times 1$$
$$= \tfrac{1}{8} + \tfrac{7}{8}$$
$$= 1$$

माँग की मूल्य सापेक्षता के निर्धारक तत्त्व (Determinants of Price Elasticity of Demand)

हम ऊपर माँग की मूल्य सापेक्षता तथा वह कैसे मापी जाती है की व्याख्या कर चुके हैं। अब एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि कौन से तत्त्व हैं जो निर्धारित करते हैं कि एक वस्तु की माँग लोचदार अथवा बेलोचदार है। प्रमुख तत्त्व जो एक वस्तु की माँग की मूल्य सापेक्षता को निर्धारित करते हैं निम्न हैं।

स्थानापन्नों की संख्या तथा प्रकार—माँग की मूल्य सापेक्षता को निर्धारित करने वाले सभी तत्त्वों में से एक वस्तु के लिए उपलब्ध स्थानापन्नों की संख्या तथा प्रकार सबसे महत्त्वपूर्ण है। यदि एक वस्तु के लिए निकट के स्थानापन्न उपलब्ध है तो इसकी माँग लोचदार होने की प्रवृत्ति रखती है। यदि इस प्रकार की वस्तु की कीमत बढ़ती है तो लोग इसके निकट के स्थानापन्नों का प्रयोग करेंगे तथा परिणामस्वरूप उस वस्तु की माँग घट जायगी। प्रतिस्थापन की सम्भावना जितनी ही अधिक होगी उसकी माँग की मूल्य सापेक्षता उतनी ही अधिक होगी। यदि एक वस्तु के लिए स्थानापन्न उपलब्ध नहीं है तो लोगों का उसकी कीमत में वृद्धि होने पर भी उसे खरीदना पड़ेगा और इसलिए उसकी माँग बेलोचदार होने की प्रवृत्ति रखती है। उदाहरणार्थ यदि कोका कोला की कीमत में बहुत वृद्धि हो जाती है तो अनेक उपभोक्ता अन्य प्रकार के ठण्डे पेय का प्रयोग करने लगेंगे, और इसके परिणामस्वरूप कोका कोला की माँगी गयी मात्रा बहुत घट जायेगी। दूसरी ओर यदि कोका कोला की कीमत घट जाती है तो अनेक उपभोक्ता अन्य ठण्डे पेय से कोका कोला का प्रतिस्थापन करने लगेंगे। इस प्रकार कोका कोला की माँग लोचदार होती है। यह निकट के स्थानापन्न की उपलब्धि है जो कि उपभोक्ताओं को कोका कोला की कीमत में परिवर्तन से संवेदनशील (sensitive) बनाती है और यह कोका कोला की माँग को लोचदार बनाती है। इसी प्रकार नमक की माँग बेलोचदार होती है क्योंकि साधारण नमक के लिए अच्छे स्थानापन्न उपलब्ध नहीं है। यदि नमक की कीमत में थोड़ी वृद्धि होती है तो लोग नमक की लगभग उसी मात्रा का उपभोग करेंगे जो पहले करते थे क्योंकि अच्छे स्थानापन्न उपलब्ध नहीं हैं। नमक की माँग इसलिए भी बेलोचदार होती है कि लोग इस पर अपनी आय का बहुत कम भाग व्यय करते हैं और यदि इसकी कीमत में वृद्धि होती है तो यह नमक के लिए उनके बजट आवटन में केवल नगण्य अन्तर उत्पन्न करती है।

उपभोक्ता के बजट में एक वस्तु की स्थिति—माँग की मूल्य सापेक्षता का अन्य महत्त्वपूर्ण निर्धारक तत्त्व है कि उपभोक्ता के बजट में उस पर व्यय कितना होता है। अन्य शब्दों में, एक विशिष्ट वस्तु पर व्यय की जाने वाली उपभोक्ता की आय का अनुपात भी उसके लिए माँग की मूल्यसापेक्षता को प्रभावित करता है। एक वस्तु पर आय का जितना ही अधिक भाग व्यय किया जाता है सामान्यतया उसकी माँग की मूल्य-सापेक्षता उतनी ही अधिक होगी। नमक, साबुन, दियासलाई तथा इस प्रकार की अन्य वस्तुएँ अधिक बेलोचदार होने की प्रवृत्ति रखती हैं क्योंकि गृहस्वामी उनमें से प्रत्येक पर अपनी आय का केवल एक अंश व्यय करते हैं। जब इस प्रकार की वस्तुओं की कीमत में वृद्धि होती है तो ये उपभोक्ता के बजट में अधिक अन्तर उत्पन्न नहीं करेंगी और इसलिए वे उस वस्तु की लगभग पहले समान मात्रा ही खरीदते रहेंगे और इसलिए उनके लिए माँग बेलोचदार होगी। दूसरी ओर भारतवर्ष जैसे देश में कपड़े की माँग के लोचदार रहने की प्रवृत्ति रहती है क्योंकि गृहस्वामी अपनी आय का एक बड़ा भाग कपड़े पर व्यय करते हैं। यदि कपड़े की कीमत घटती है तो इसका अर्थ अनेक परिवारों के बजट में बड़ी मात्रा में बचत से होगा और इसलिए वे कपड़े की माँगी गयी मात्रा में वृद्धि करने की प्रवृत्ति रखेंगे। दूसरी ओर यदि कपड़े की कीमत बढ़ती है तो अनेक गृहस्वामी पहले के समान कपड़े की मात्रा नहीं खरीद

सकेंगे और इसलिए कपडे की मांगी गयी मात्रा बहुत घट जायगा।

वस्तु के उपयोगो की सख्या—एक वस्तु जितने अधिक उपयोगो मे प्रयुक्त की जा सकती है उसकी मांग की मूल्य सापेक्षता उतनी ही अधिक होगी। यदि अनेक उपयोगो वाली एक वस्तु की कीमत बहुत ऊँची है तो उसकी मांग कम होगी तथा इसे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपयोग मे प्रयुक्त किया जायगा और यदि इस प्रकार की वस्तु की कीमत कम होती है तो इसे कम महत्त्वपूर्ण उपयोगो मे भी प्रयुक्त किया जायगा और परिणामस्वरूप मांगी गयी मात्रा मे महत्त्वपूर्ण रूप मे वृद्धि होगी। उदाहरणार्थ दूध के अनेक उपयोग होते हैं। यदि इसकी कीमत बहुत अधिक हो जाती है तो इसे शिशुओ तथा रोगी व्यक्तियो को पिलाने के लिए ही प्रयुक्त किया जायगा। यदि दूध की कीमत गिरती है तो इसे दही क्रीम घी तथा मिष्टान्न की तैयारी जैसे अन्य उपयोगो के लिए प्रयुक्त किया जाएगा। इसलिए दूध की मांग लोचदार होने की प्रवृत्ति रखती है।

वस्तुओं के मध्य पूरकता—वस्तुओ के मध्य पूरकता अथवा वस्तुओ के लिए सयुक्त मांग भी मांग की मूल्यसापेक्षता को प्रभावित करती है। गृहस्वामी सामान्य तथा स्वतन्त्र मांग अथवा अकेली प्रयुक्त होने वाली वस्तुओ की कीमतो मे परिवर्तनो की अपेक्षा उन वस्तुओ की कीमत मे परिवर्तनो से कम सवेदनशील है जो एक दूसरे के साथ पूरक है अथवा जो सयुक्त रूप मे प्रयुक्त की जाती हैं। उदाहरण के लिए स्वचालित वाहनो को चलाने के लिए पैट्रोल के अतिरिक्त चिकने तेल का भी प्रयोग किया जाता है। अब यदि चिकने तेल की कीमत बढ जाती है तो इसका अर्थ स्वचालित वाहन (मोटर कार) को चलाने मे कुल लागत मे बहुत न्यून वृद्धि होगा क्योकि पैट्रोल जैसे अन्य पदार्थों की तुलना मे तेल का प्रयोग कम होता है। इस प्रकार चिकने तेल की मांग की प्रवृत्ति बेलोचदार होने की होगी है। इसी प्रकार नमक की मांग अन्य बातो के साथ इस कारण भी बेलोचदार होती है कि उपभोक्ता इससे इतना ही उपयोग नही करते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि एक वस्तु की मूल्य सापेक्षता का मूल्यांकन करने के लिए उपयुक्त तीनो तत्त्वो का ध्यान अवश्य दिया जाना चाहिए। उपर्युक्त तीनो तत्व एक वस्तु की मूल्यसापेक्षता के निर्धारण म एक दूसरे को सुदृढ कर सकते है अथवा वे एक दूसरे के विपरीत कार्यशील हो सकते है। एक वस्तु की मांग की मूल्य सापेक्षता उस पर कार्यशील सभी शक्तियो का शुद्ध परिणाम होगी।

समय तथा कीमत सापेक्षता—एक वस्तु की मूल्य सापेक्षता को समय तत्त्व भी प्रभावित करता है। यदि अन्तग्रस्त अवधि (time involved) लम्बी है तो मांग के अधिक लोचदार होने की प्रवृत्ति होती है। इसका कारण है कि उपभोक्ता वस्तुओ को दीर्घकाल मे प्रतिस्थापित करते है। अल्पकाल मे एक वस्तु का अन्य वस्तु द्वारा प्रतिस्थापन इतना सरल नही होता। समयावधि जितनी लम्बी होगी उपभोक्ता तथा व्यवसायी एक वस्तु का अन्य वस्तु के लिए प्रतिस्थापन उतनी ही अधिक सरलतापूर्वक कर सकते है। उदाहरणार्थ यदि मिट्टी के तेल की कीमत मे वृद्धि हो जाती है तो अल्पकाल म मिट्टी के तेल का कोयला या भोजन पकाने की गैस जैसे अन्य प्रकार के ईधनो द्वारा प्रतिस्थापित करना कठिन हो सकता है। किन्तु पर्याप्त समय होने पर लोग समायोजन करगे तथा मिट्टी के तेल जिसकी कीमत मे वृद्धि हो गयी है के बजाय कोयला अथवा भोजन पकाने की गैस का उपयोग करगे। इसी प्रकार जब व्यावसायिक फर्में देखती हैं कि किसी वस्तु की कीमत मे वृद्धि हो गयी है तो यह अल्पकाल म सम्भव नही होता कि उस वस्तु को अपेक्षाकृत सस्ती किसी अन्य वस्तु द्वारा प्रतिस्थापित कर सके। किन्तु समय व्यतीत होने के साथ वे स्थानापन्न वस्तु प्राप्त करने के लिए शोध कर सकते है तथा एक वस्तु के उत्पादन मे प्रयुक्त मशीनो मे परिवर्तन कर सकते हैं अथवा पदार्थ का नवीन डिजाइन बना सकते हैं ताकि अपेक्षाकृत मॅहगी वस्तु के उपयोग मे मितव्ययिता हो सके। अत अधिक समय पाकर वे उस वस्तु को प्रतिस्थापित कर सकते हैं जिसकी कीमत मे वृद्धि हुई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अल्पकाल की अपेक्षा दीर्घकाल मे सामान्य तया मांग अधिक लोचदार होती है।

मांग की कीमत सापेक्षता के विचार का महत्त्व (Importance of the Elasticity of Demand)

मांग की मूल्य सापेक्षता का विचार व्यावसायिक फर्मों के कीमत निर्णयों तथा सरकार द्वारा कीमतो को नियन्त्रित करने (की दशा) मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मूल्य सापेक्षता का विचार एक करेंसी के अवमूल्यन् से निर्यातोपार्जन (export earnings) पर प्रभाव को समझने मे महत्त्वपूर्ण है। यह राजकोषीय नीति मे भी बहुत उपयोगी है क्योकि वित्त मन्त्री को मांग की मूल्य सापेक्षता को ध्यान मे रखना पड़ता है जबकि वह विभिन्न वस्तुओ पर करारोपण करने का विचार करता है। नीचे हम मांग की मूल्य सापेक्षता के विभिन्न उपयोग, प्रयोग तथा महत्त्व की व्याख्या करेंगे।

व्यावसायिक फर्मों के कीमत निर्णय—व्यावसायिक फर्में मांग की मूल्य सापेक्षता को ध्यान मे रखता हैं जबकि वे वस्तुओ के कीमत निर्धारण के सम्बन्ध म निर्णय लेती हैं। इसका कारण है कि एक पदार्थ की कीमत मे परिवर्तन मूल्य सापेक्षता गुणक पर आधारित मांगी गयी मात्रा म परिवर्तन उत्पन्न करेगा। फर्म द्वारा कीमत म वृद्धि के परिणामस्वरूप मांगी गयी मात्रा मे यह परिवर्तन उपभोक्ताओ के कुल व्यय को प्रभावित करेगा और इसलिए फर्म के उपार्जन (आय) को प्रभावित करेगा। यदि फर्म के पदार्थ की मांग लोचदार होती है तो फर्म द्वारा अपने पदार्थ की कीमत म वृद्धि करने का कोई भी प्रयत्न उसके कुल आगम मे कमी उत्पन्न करेगा। इस प्रकार, कीमत मे वृद्धि से लाभ के बजाय वह हानि सहन करेगी यदि एक पदार्थ की मांग लोचदार होती है। दूसरी ओर यदि फर्म के पदार्थ की मांग बेलोचदार होती है तो उसके द्वारा कीमत मे वृद्धि कुल आगम मे वृद्धि करेगी। अत एक अनुकूलतम अथवा लाभ अधिकतम करने वाली कीमत को निर्धारित करने के लिए फर्म अपने पदार्थ की मांग की मूल्य सापेक्षता की उपेक्षा नहीं कर सकती। कुछ अनुभवाश्रित अध्ययनो से यह पाया गया है कि फर्में कीमतो के "बन्ध म निर्णय लेते समय मूल्य सापेक्षता को ध्यान मे रखने में असफल रहती हैं अथवा वे कीमत सापेक्षता गुणक पर अपर्याप्त ध्यान देती हैं। इसमे सन्देह नहीं कि इसका प्रमुख कारण यह है कि वे अपने पदार्थ की मूल्य सापेक्षता का आकलन करने के लिए साधन नहीं रखती हैं क्योकि पिछली कीमतो तथा उन पर मांगी गयी मात्रा से सम्बन्धित पर्याप्त आंकड़े उपलब्ध नहीं होते हैं। यदि इसी प्रकार के आंकड़े उपलब्ध भी हों तो भी उनके निर्वचन की कठिनाइयां होती है क्योकि यह स्पष्ट नही होता कि मांगी गयी मात्रा मे परिवर्तन कीमतो म परिवर्तनो अथवा मांग को निर्धारित करने वाले कुछ अन्य तत्त्वो मे परिवर्तनो के परिणाम थे। तथापि हाल म, बड़ी व्यावसायिक फर्मों ने अपने शोध विभाग स्थापित किये हैं जो पिछली कीमतो तथा मांगी गयी मात्रा से सम्बन्धित आंकड़ो से कीमत सापेक्षता गुणक का अनुमान करते हैं। इसके अतिरिक्त वे मांगी गयी मात्रा पर कीमत प्रभाव को अन्य तत्त्वो के प्रभाव से अलग करने के लिए सांख्यिकीय विधियो का भी उपयोग कर रही हैं।

कीमत नियन्त्रण, विशेषतया कृषि पदार्थों के (कीमत नियन्त्रण) सम्बन्ध मे आर्थिक नीति मे उपयोग—अनेक देशो की सरकारें, विशेषतया संयुक्त राज्य अमेरिका, कृषि पदार्थों की कीमतो को नियन्त्रित करती हैं। इस कीमत नियन्त्रण मे कृषि पदार्थों की कीमतो मे वृद्धि की जाती है और यह इस प्रत्याशा से किया जाता है कि कृषि पदार्थों की मांग बेलोचदार होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे देशो मे कृषि पदार्थों की बेलोचदार मांग को अनुभवाश्रित अध्ययनो से ज्ञात किया गया है। बाजार मे पूर्ति को प्रतिबन्धित करके सरकार कृषि पदार्थों की कीमत मे वृद्धि करने में सफल होती है। इन पदार्थों की मांग बेलोच होने से मांगी गयी मात्रा बहुत अधिक नही घटती है और परिणामस्वरूप उपभोक्ता का कृषि पदार्थों पर व्यय बढ़ता है जो कृषक वर्ग की आय मे वृद्धि करता है। यदि कृषि पदार्थों की मांग लोचदार होती तो सरकार की उनकी प्रतिबन्धित पूर्ति द्वारा उत्पन्न उनकी कीमत मे किसी वृद्धि से कृषक वर्ग की आयो मे कमी उत्पन्न हो जाती। अत यदि कृषि पदार्थों की मांग बेलोचदार के बजाय लोचदार होती तो सरकार द्वारा फसल के एक भाग को

बाजार से बाहर रखने तथा फसल प्रतिबन्ध योजना पर विचार कभा न किया गया होता ।

प्रचुरता के 'विरोधाभास' (Paradox of Plenty) की व्याख्या—मांग की मूल्य सापेक्षता का विचार तथाकथित कृषि मे 'प्रचुरता के विरोधामाम' कि कृषको को अत्यधिक अच्छी फसल प्राप्त होने पर उनको अपेक्षाकृत कम कुल आय प्राप्त होती है, की व्याख्या करने मे भी हमारी सहायता करता है। इस अत्यधिक अच्छी तथा भरपूर फसल के परिणामस्वरूप कृषको के आगम या आय मे कमी इस तथ्य के कारण है कि अपेक्षाकृत अधिक पूर्ति होने से फसल की कीमतें बहुत तेजी से कम हो जाती है और उनके लिए बेलोचदार मांग के सन्दर्भ मे फसल के पदार्थ पर कुल व्यय कम हो जाता है; परिणामस्वरूप कृषको की आय मे कमी हो जाती है । इस प्रकार भरपूर-फसल (Bumper crop) उनकी आय मे वृद्धि करने के बजाय, उसे कम कर देती है । इसलिए, यह सुनिश्चित करने के लिए कि कृषक अपने उत्पादन मे वृद्धि करने से निरुत्साहित न हो, उन्हे सरकार द्वारा कुछ न्यूनतम कीमत निश्चित करने की आवश्यकता होती है । उस न्यूनतम कीमत पर सरकार को कृषको से फसल खरीदने के लिए तैयार रहना चाहिए ।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उपयोग—मांग की मूल्य सापेक्षता का विचार अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है । विभिन्न देशो की सरकारो को इस विषय मे निश्चित करना पडता है कि वे अपनी करेंसी अवमूल्यन करें अथवा नही जबकि उनके निर्यात स्थिर है तथा आयात तेजी से बढ रहे है और परिणामस्वरूप उनके भुगतान शेष की स्थिति बिगड रही है। अवमूल्यन का प्रभाव आयातित वस्तुओ की कीमतो मे वृद्धि तथा निर्यातो की कीमतो मे कमी करना होता है । यदि एक देश के निर्यातो की मांग बेलोचदार है तो अवमूल्यन के परिणामस्वरूप निर्यातो की कीमतो मे कमी उनके विदेशी विनिमय उपार्जन मे वृद्धि के बजाय कमी उत्पन्न करेगी ।

यही कारण ह कि मांग बेलोचदार होने पर कीमतो मे कमी ोने के परिणामस्वरूप निर्यातित पदार्थों की मांगी गयी मात्रा मे बहुत थोडी वृद्धि होगी और देश अपेक्षाकृत कम कीमतो के कारण हानि वहन करेगा । दूसरी ओर यदि एक देश के निर्यातो की मांग लोचदार है तो अवमूल्यन के कारण इन निर्यातो की कीमतो मे कमी उनकी मांगी गयी मात्रा मे बहुत अधिक वृद्धि उत्पन्न करेगी जो देश के विदेशी विनिमय उपार्जन मे वृद्धि करेगी और भुगतान शेष की समस्या के समाधान मे सहायता करेगी । इस प्रकार अवमूल्यन करने अथवा न करने का निर्णय निर्यातो के मांग की मूल्य सापेक्षता के गुणक पर निर्भर करता है ।

इसी प्रकार यदि अवमूल्यन का उद्देश्य देश के आयातो को कम करना है तो यह तभी प्राप्त किया जायगा जब कि आयातो की मांग लोचदार है । अवमूल्यन से उत्पन्न आयातो की कीमतो मे वृद्धि के परिणामस्वरूप वे तेजी से कम होगे और देश को विदेशी विनिमय की अधिक मात्रा मे बचत होगी । दूसरी ओर यदि आयातो की मांग बेलोचदार है तो अवमूल्यन के परिणामस्वरूप कीमतो मे वृद्धि भुगतान शेष को प्रतिकूल रूप मे प्रभावित करेगी क्योकि आयातो की अपेक्षाकृत अधिक कीमतो तथा आयातो की लगभग पूर्ववत् मात्रा पर देश को पहले की अपेक्षा आयातो पर अधिक व्यय करना होगा ।

राजकोषीय नीति मे महत्त्व—राजकोषीय नीति के क्षेत्र मे भी मांग की मूल्य सापेक्षता का बहुत महत्त्व है । यदि सरकार के लिए आय मे वृद्धि करनी है तो वित्त मन्त्री को उस पदार्थ की मूल्य सापेक्षता पर ध्यान रखना होता है जिस पर वह करारोपण का प्रस्ताव करता है। उत्पादन कर अथवा बिक्री कर जैसा अप्रत्यक्ष करारोपण वस्तु की कीमत मे वृद्धि करता है । अब, यदि वस्तु की मांग लोचदार है तो कर के कारण कीमत मे वृद्धि मांगी गयी मात्रा मे अधिक कमी उत्पन्न करेगी और परिणामस्वरूप सरकारी आय बढने के बजाय घटेगी। सरकार वस्तु-कर लगाकर अपनी आय मे वृद्धि करने मे तभी सफल हो सकती है जब कि वस्तु की मांग बेलोचदार है ।

मांग की मूल्य सापेक्षता यह भी निर्धारित करती है कि किस सीमा तक वस्तु पर कर एक उपभोक्ता पर

विवर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार एक वस्तु पर कर का उपभोक्ताओं पर कर-भार उस वस्तु के लिए उनकी मांग की मूल्य सापेक्षता पर निर्भर करता है। यदि वस्तु की मांग पूर्णतया बेलोचदार है तो वस्तु कर का सम्पूर्ण भार उपभोक्ता पर पड़ेगा। यह रेखाकृति 11 19 में प्रदर्शित किया गया है जहां DD तथा SS वस्तु के मांग तथा पूर्ति वक्र हैं। मांग वक्र DD पूर्णतया बेलोचदार है। मांग तथा पूर्ति वक्रों के प्रतिच्छेद के परिणामस्वरूप OP कीमत निर्धारित होती है। अब यदि वस्तु पर SS' के बराबर कर लगाया जाता है तो पूर्ति वक्र ऊपर की ओर $S'S'$ की स्थिति को विवर्तित हो जायगा। इसके परिणामस्वरूप दिया हुआ मांग वक्र DD तथा नवीन पूर्ति वक्र $S'S'$

रेखाकृति 11 19
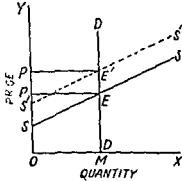
E' बिन्दु पर प्रतिच्छेद करते हैं और पदार्थ की नई कीमत OP' निर्धारित होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वस्तु की कीमत PP' या EE' से बढ़ती है जो कर की SS' मात्रा के बराबर है। इस प्रकार कर का सम्पूर्ण कर-भार उपभोक्ता पर पड़ा है।

इसके विपरीत, यदि एक वस्तु की मांग पूर्णतया लोचदार है जैसा कि रेखाकृति 11 20 में प्रदर्शित किया गया है तो उस पर करारोपण कीमत में वृद्धि नहीं करेगा और इसलिए कर का सम्पूर्ण भार निर्माताओं अथवा विक्रेताओं द्वारा सहन किया जायगा। अब रेखाकृति 11 21 पर विचार कीजिए जहां मांग न तो पूर्णतया बेलोचदार और न पूर्णतया लोचदार है। करारोपण से पहले मांग तथा पूर्ति वक्रों के प्रतिच्छेद के परिणामस्वरूप OP कीमत निर्धारित होती है। अब यदि SS' के बराबर करारोपण होता है तो पूर्ति वक्र ऊपर की ओर $S'S'$ स्थिति को विवर्तित हो जाता है और उसके परिणामस्वरूप कीमत OP' तक बढ़ जाता है। रेखाकृति 11 21 में यह देखा जा सकता है कि

रेखाकृति 11 20
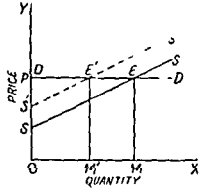
कीमत में वृद्धि PP' (या HE') के बराबर है जो उपभोक्ता द्वारा सहन किया जाने वाला कर का भार है। कर का शेष भाग GH उत्पादकों या विक्रेताओं
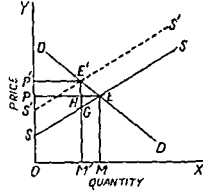
रेखाकृति 11 21

द्वारा सहन किया गया है। उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों द्वारा सहन किया जाने वाला स्वयं का कर भार मांग की मूल्य सापेक्षता तथा पूर्ति की मूल्य सापेक्षता पर निर्भर करेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक वित्त मन्त्री कर लगाते समय पदार्थों की मांग की मूल्य सापेक्षता की उपेक्षा नहीं कर सकता।

मजदूरी निर्धारण—मांग की मूल्य सापेक्षता मजदूरी तथा उत्पादन के अन्य साधनों की कीमतों के

निर्धारण को भी प्रभावित करती है। माँग की मूल्य सापेक्षता का प्रभाव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होताहै जबकि एक श्रमसंघ श्रमिकों के लिए अपेक्षाकृत ऊँची मजदूरी की माँग करता है। मजदूरी में वृद्धि उनके द्वारा उत्पादित वस्तु की कीमत में वृद्धि करेगी। यदि पदार्थ की माँग लोचदार है तो कीमत में वृद्धि माँगी गयी मात्रा में अधिक कमी उत्पन्न करेगी जो फर्म को उत्पादन कम करने के लिए प्रेरित करेगी। उत्पादन में कमी नियुक्त श्रमिकों की संख्या को कम करेगी। इस प्रकार मजदूरी में वृद्धि करने के लिए श्रम संघ द्वारा प्रयत्न श्रमिकों में बेरोजगारी उत्पन्न करेगा।

सैद्धान्तिक महत्त्व (Theoretical Importance)

माँग की मूल्य सापेक्षता का सैद्धान्तिक महत्त्व भी बहुत अधिक है। यह अर्थशास्त्र के अनेक सिद्धान्तों तथा समस्याओं की व्याख्या करने के लिए विश्लेषण के साधन के रूप में प्रयुक्त की जाती है। सर्वप्रथम कीमत निर्धारण विशेषतया अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के अन्तर्गत, के सिद्धान्त में माँग की सापेक्षता के विचार का बहुत महत्त्व है। जब पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कोई अकेली फर्म पदार्थ की कीमत पर नियन्त्रण नहीं करती तो इसका अभिप्राय यह है कि वह पूर्णतया लोचदार माँग वक्र का सामना करती है। जब अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार के अन्तर्गत एक फर्म कीमत पर नियन्त्रण रखती है तथा पदार्थ का माँग वक्र नीचे की ओर गिरता होता है तो माँग की मूल्य सापेक्षता के शब्दों में इसका अभिप्राय है कि फर्म पूर्णतया लोचदार से कम माँग वक्र का सामना करती है। इसके अतिरिक्त, मूल्य सापेक्षता, औसत आय तथा सीमान्त आय के मध्य एक महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किया गया है। यह सम्बन्ध पूर्ण प्रतियोगिता, अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के अन्तर्गत सन्तुलन कीमत को समझने तथा तुलना करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह सम्बन्ध नीचे दिया गया है।

कीमत या औसत आय =

$$\text{सीमान्त आय} \frac{\text{मूल्य सापेक्षता}}{\text{मूल्य सापेक्षता}-1}$$

$$\text{Price or } AR = MR\left(\frac{e}{e-1}\right)$$

चूँकि सन्तुलन की दशा में सीमान्त आय (MR), सीमान्त लागत (MC) के बराबर होती है इसलिए

कीमत या औसत आय =

$$\text{सीमान्त लागत} \frac{\text{मूल्य सापेक्षता}}{\text{मूल्य सापेक्षता}-1}$$

$$\text{कीमत या } AM = MC\frac{e}{e-1}$$

जहाँ पर AM औसत आय MR सीमान्त आय, e मूल्य सापेक्षता तथा MC सीमान्त लागत को व्यक्त करते हैं।

जब सापेक्षता अनन्त होती है जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत होती है तो उपर्युक्त सूत्र का अर्थ होता है कि कीमत, उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होगी। यदि मूल्य सापेक्षता अनन्त से कम माना कि 5 है जैसा कि अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार में होती है तो कीमत, सीमान्त लागत अथवा सीमान्त आय की अपेक्षा अधिक होगी।

माँग की मूल्य सापेक्षता का विचार उस दशा की व्याख्या करने में सहायक है जिसमें एकधिकारी द्वारा कीमत विभेदीकरण (price discrimination) लाभदायक होगा। हम बाद में आने वाले एक अध्याय में व्याख्या करेंगे कि विभिन्न बाजारों में जब केवल अकेली एकाधिकारी कीमत पर माँग की मूल्य सापेक्षता भिन्न भिन्न है तो एकाधिकारी के लिए विभिन्न बाजारों में भिन्न भिन्न कीमतें वसूल करना लाभदायक होगा। विभिन्न बाजारों में वसूल की जाने वाली कीमतें उनमें माँग की मूल्य सापेक्षता पर निर्भर करेंगी। बाजार में माँग की मूल्य सापेक्षता जितनी अधिक होगी वसूल की जाने वाली कीमत उतनी ही कम होगी तथा विपरीत दशा मे अधिक होगी।

एकाधिकारी शक्ति के अंश (degree of monopoly power) को मापने में मूल्य सापेक्षता के विचार का अधिक महत्त्व है। एकाधिकारी द्वारा उत्पादित पदार्थ की माँग की मूल्य सापेक्षता जितनी ही कम होती है, उसके द्वारा उपयोग की जाने वाली

एकाधिकारी शक्ति का अंश उतना ही अधिक होता है। एकाधिकार का अंश जितना ही अधिक होता है, एकाधिकारी द्वारा पदार्थ की कीमत पर नियन्त्रण उतना ही अधिक होता है। इस प्रकार एकाधिकारी शक्ति का अंश मांग की मूल्य सापेक्षता से विपरीत दिशा मे परिवर्तित होता है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत जहाँ पर व्यक्तिगत फर्म के पदार्थ की मूल्य सापेक्षता पूर्ण होती है, एकाधिकारी तत्त्व पूणतया अनुपस्थित होता है और जैसे-जैसे मांग की मूल्य सापेक्षता क्रमश कम होती जाती है, एकाधिकारी शक्ति का अंश क्रमश बढता जाता है। शुद्ध एकाधिकार के एक विचार मे मांग वक्र पूर्णतया बेलोचदार होता है।

कीमत सापेक्षता के विचार का अन्य सैद्धान्तिक महत्त्व यह है कि मांग की प्रति मूल्य सापेक्षता के आधार पर ही वस्तुएँ स्थानापन्न अथवा पूरक के रूप मे वर्गीकृत की जाती हैं। प्रति मूल्य सापेक्षता का अर्थ अन्य वस्तु की कीमत मे सापेक्ष परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप एक वस्तु की मांगी गयी मात्रा मे सापेक्ष परिवर्तन से होता है। यदि दो पदार्थों के मध्य प्रति मूल्य सापेक्षता धनात्मक होती है, तो वस्तुएँ स्थानापन्न होती हैं और यदि प्रति मूल्य सापेक्षता (Cross elasticity) ऋणात्मक होती है तो दो वस्तुएँ पूरक होती हैं। इसके अतिरिक्त, प्रो० बेन ने मांग की मूल्य सापेक्षता के आधार पर विभिन्न-बाजार सरचनाओ का वर्गीकरण किया है। जब मांग की प्रति मूल्य सापेक्षता अनन्त होती है तो बाजार सरचना पूर्ण प्रतियोगिता की होती है तथा जब मांग की प्रति मूल्य सापेक्षता शून्य अथवा लगभग शून्य होती है तो यह शुद्ध एकाधिकार की दशा होती है। यदि पदार्थों के मध्य प्रति मूल्य सापेक्षता बहुत अधिक होती है जैसा कि उस स्थिति में होता है जबकि विभिन्न फर्में निकट के स्थानापन्न उत्पादित करती हैं, तो बाजार सरचना को अपूर्ण प्रतियोगिता कहा जाता है।

मांग की मूल्य सापेक्षता का विचार उत्पादन शुल्क तथा बिक्री कर जैसे अप्रत्यक्ष करो के कर-भार की व्याख्या करने मे भी प्रयुक्त किया जाता है। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, एक पदार्थ की मांग की मांग सापेक्षता जितनी ही अधिक होती है, उपभोक्ता द्वारा सहन किया जाने वाला कर-भार उतना ही कम होता है तथा विपरीत दशा मे अधिक होता है। अन्त मे, वितरणात्मक मागो के सिद्धान्त मे प्रतिस्थापन सापेक्षता अत्यधिक उपयोग तथा महत्त्व की है जो देश की राष्ट्रीय आय मे उत्पादन के विभिन्न साधनो के सामूहिक मागो की व्याख्या करती है। उदाहरणार्थ, पूंजी की कीमत पूर्ववत् रहने पर यदि श्रमिको की मजदूरी मे वृद्धि होती है तो श्रमिक मशीन द्वारा प्रतिस्थापित किया जायगा और यदि प्रतिस्थापन सापेक्षता पर्याप्त अधिक है तो राष्ट्रीय आय मे मजदूरी का कुल भाग कम हो जायेगा।

मांग की प्रति-सापेक्षता (प्रति लोच)
(Cross Elasticity of Demand)

विभिन्न वस्तुओ की मांग प्राय एक दूसरे से सम्बधित होती है जिससे जब एक वस्तु की कीमत मे परिवर्तन होता है तो अन्य वस्तु की मांग भी बदल जाती है जबकि उसकी अपनी माग स्थिर रहती है। एक अन्य वस्तु की कीमत मे परिवर्तन के फलस्वरूप एक वस्तु की मांग मे परिवर्तन माग की प्रति-सापेक्षता का द्योतक है। माग की प्रति-सापेक्षता की धारणा को रेखाकृति 11 22 से सरलता से समझा जा सकता है। इस रेखाकृति मे दो वस्तुओ X और Y के माग वक्र दिये गए हैं। प्रारम्भ मे, वस्तु Y की कीमत OP_1 है जिस पर इस वस्तु की OQ_1 मात्रा की माग है तथा वस्तु X की कीमत OP जिस पर वस्तु X की OM_1 मात्रा मागी जाती है। अब कल्पना कीजिए कि वस्तु Y की कीमत OP_1 से घट कर OP_2 हो जाती है। परिणामस्वरूप वस्तु Y की मांग-मात्रा OQ_1 से बढ़ कर OQ_2 हो जाती है। वस्तु X का माग वक्र D_xD_x बनाते समय यह पूर्वकल्पना की गई है कि अन्य वस्तुओं (वस्तु Y समेत) की कीमतें स्थिर रहती हैं। अब जबकि वस्तु Y की कीमत कम हो गई है और फलत इसकी मांग-मात्रा बढ़ गई है तो यह स्वाभाविक है कि इसका प्रभाव वस्तु X की माग पर पडेगा। यदि वस्तु Y, वस्तु X की स्थानापन्न है तो वस्तु Y की कीमत घटने के

कारण इसकी मांग-मात्रा के बढने से वस्तु X का मांग वक्र बायें ओर को विवर्तित हो जायेगा। जिससे वस्तु X की माग कम हो जायेगी। इसका कारण यह है कि जब किसी वस्तु की मात्रा बढती है तो इसकी स्थानापन्न वस्तु का सीमात तुष्टिगुण घट जाता है जिससे स्थानापन्न वस्तु का समस्त सीमान्त तुष्टिगुण वक्र (marginal utility curve) बायीं ओर को सरक जाता है। रेखाकृति पर दृष्टि डालने से ज्ञात होगा कि वस्तु Y की कीमत के घटने पर वस्तु X का माग वक्र D_xD_x से बदल कर $D'_xD'_x$ हो गया है जिससे कीमत OP पर वस्तु X की पूर्व से कम मात्रा
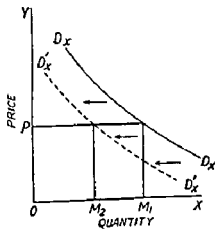
रेखाकृति 11 22 (*a*) पदार्थ X

OM_2 मांगी जाती है। स्पष्ट है कि वस्तु X की M_1M_2 मात्रा के स्थान पर वस्तु Y की Q_1Q_2 मात्रा का प्रयोग किया गया है।

किन्तु यदि वस्तु X वस्तु Y का स्थानापन्न न हो कर उसकी पूरक वस्तु है तो वस्तु Y की कीमत के घटने और फलस्वरूप उसकी मांग मात्रा के बढ़ने से वस्तु X की मांग में भी वृद्धि होती है जिससे वस्तु X का मांग वक्र दायीं ओर को विवर्तित होता है। इसका कारण यह है कि जब किसी वस्तु की कीमत घटती है और परिणामस्वरूप उसकी मांग मात्रा बढ़ती है तो इसकी पूरक वस्तु (complementary good) का सीमान्त तुष्टिगुण बढ़ जाता है जिससे इसका समस्त माग वक्र दायीं ओर को सरक जायेगा। वस्तु X के मांग वक्र के दायी ओर विवर्तित होने से कीमत OP पर इसकी माग पहले से अधिक होगी।

यह ध्यान देने योग्य है कि माग की प्रति-सापेक्षता के अन्तर्गत एक वस्तु की कीमत परिवर्तन से अन्य वस्तु की माग मात्रा मे परिवर्तन होता है।

जब वस्तु Y की कीमत के घटने से वस्तु X की माग मात्रा बढती है तो मांग की प्रति-सापेक्षता के गुणाक (Coefficient) को वस्तु X की माग-मात्रा मे सापेक्ष अथवा आनुपातिक परिवर्तन को वस्तु Y की माग मात्रा मे सापेक्ष अथवा आनुपातिक परिवर्तन से
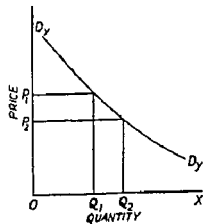
रेखाकृति 11 22 (*b*) · पदार्थ Y

विभाजित करके ज्ञात किया जा सकता है।

वस्तु X की वस्तु Y के लिए प्रति-सापेक्षता=

$$\frac{\text{वस्तु } X \text{ की मांग मात्रा मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{वस्तु } Y \text{ की कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$\text{अथवा, } e_c = \frac{\frac{\Delta q_x}{q_x}}{\frac{\Delta p_y}{p_y}} = \frac{\Delta q_x}{q_x} - \frac{\Delta p_y}{p_y}$$

$$= \frac{\Delta q_x}{q_x} \times \frac{p_y}{\Delta p_y}$$

$$= \frac{\Delta q_x}{\Delta p_y} \cdot \frac{p_y}{q_x}$$

जहाँ e_c वस्तु X की वस्तु Y के लिए माग की प्रति-सापेक्षता को दर्शाता है।

q_x वस्तु X की प्रारम्भिक माग-मात्रा को दर्शाता है। Δq_x वस्तु X की माग-मात्रा मे परिवर्तन को दर्शाता है।

p_y वस्तु Y की प्रारम्भिक कीमत को दर्शाता है।

Δp_y वस्तु Y की कीमत मे लघु परिवर्तन को दर्शाता है।

अब एक उदाहरण लीजिए। यदि कहवा (coffee) की कीमत 4 50 रुपये प्रति 100 ग्राम से बढ़ कर 5 रुपये प्रति 100 ग्राम हो जाये और फलस्वरूप उपभोक्ताओ द्वारा चाय की माग 6000 ग्राम से बढ कर 7000 ग्राम हो जाये तो चाय की कहवा के लिए प्रति-लोच निम्न प्रकार से ज्ञात की जा सकती है।

उपर्युक्त उदाहरण मे,

$\Delta q_x = 7,000 - 6000 = 1000$ ग्राम

$q_x = 6,000$ ग्राम

$\Delta p_y = 5 - 4\ 50 = 50$ पैसे

$p_y = 4\ 50$ रुपये अर्थात् 450 पैसे

$$\text{माँग की प्रति-सापेक्षता} = \frac{\Delta q_x}{\Delta p_y} \times \frac{p_y}{q_x} = \frac{1000}{50} \times \frac{450}{6000} = 1\ 5$$

जैसा कि हमने अभी चाय और कहवा के उदाहरण मे देखा जब दो वस्तुए एक दूसरे की स्थानापन्न (substitutes) होती हैं तो एक वस्तु की कीमत के बढने पर अन्य वस्तु की माग मे वृद्धि होती है। इसी प्रकार जब दो स्थानापन्न वस्तुओ मे एक की कीमत घटती है तो अन्य वस्तु की मांग कम हो जायेगी। अतएव दो स्थानापन्न वस्तुओ के बीच माग की प्रति-लोच (cross elasticity of demand) धनात्मक (positive) होती है। इसके विपरीत, जब दो वस्तुए एक दूसरे की पूरक वस्तुए (complementary goods) हैं जैसा कि रोटी और मक्खन, चाय और दूध आदि तो एक वस्तु की कीमत बढ़ने पर दूसरी वस्तु की माग मे कमी हो जायेगी तथा एक की कीमत घट जाने पर दूसरी वस्तु की माग मे वृद्धि हो जायेगी। अतएव दो पूरक पदार्थों के मध्य माग की प्रति-सापेक्षता ऋणात्मक (negative) होती है। अत. मांग की प्रति-सापेक्षता पर आधारित वर्गीकरण के अनुसार दो वस्तुए स्थानापन्न होती हैं जब उनके मध्य प्रति-सापेक्षता धनात्मक होती है और वे पूरक होती हैं यदि उनमे प्रति सापेक्षता ऋणात्मक होती है।

किन्तु माग की प्रति-सापेक्षता पर आधारित स्थानापन्न तथा पूरक वस्तुओ की परिभाषा सतोषजनक नही है। जबकि वे वस्तुए जिनके मध्य प्रति-सापेक्षता धनात्मक होती है, को स्थानापन्न वस्तुए कहा जा सकता है किन्तु वे वस्तुए जिनके मध्य प्रति-सापेक्षता ऋणात्मक होती है, आवश्यक नही कि वे पूरक वस्तुए ही हो। कारण यह है कि प्रति-लोच तब भी ऋणात्मक होती है जब कीमत परिवर्तन का आय-प्रभाव बहुत शक्तिशाली होता है। उदाहरणत दो वस्तुए X तथा Y लो जिनमे वस्तु X के लिए माग मूल्यनिरपेक्ष (inelastic) है। कल्पना कीजिए कि वस्तु X की कीमत घट जाती है जिससे उपभोक्ताओ की वास्तविक आय बढ जायेगी। वस्तु X की माग मूल्य-निरपेक्ष होने के कारण उसकी कीमत घटने पर उस पर पहले से कम आय व्यय होगी। इस प्रकार कीमत गिरने से वस्तु X से अधिक मात्रा मे मुद्रा आय शेष बच रहेगी जिसको वस्तु Y पर व्यय किया जा सकता है। फलत वस्तु Y की माग मे बहुत वृद्धि होगी और वस्तु Y का माग वक्र दायी ओर विवर्तित हो जायेगा। अतएव हम देखते हैं कि वस्तु X की कीमत के घटने से वस्तु Y की मांग बढ़ गई है जिससे दो वस्तुओं के मध्य मांग की प्रति-सापेक्षता ऋणात्मक है। परन्तु Y की X के लिये माग की ऋणात्मक प्रति-सापेक्षता इन दो वस्तुओ मे पूरक सम्बन्ध के कारण नही अपितु वस्तु Y की माग पर वस्तु X की कीमत गिरने के प्रतिस्थापन प्रभाव की तुलना मे आय प्रभाव का अधिक शक्तिशाली होना है।[1]

---

1. यह ध्यान देने योग्य है कि वस्तु X की कीमत में कमी द्वारा उत्पन्न वस्तु Y की मांग पर आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन परस्पर विरोधी दिशाओं में कार्य करते हैं। जबकि वस्तु X की कीमत में कमी का वस्तु Y पर आय प्रभाव तो वस्तु Y की मांग को बढ़ाता है, प्रतिस्थापन प्रभाव वस्तु Y की मांग को घटाता है। कारण यह है कि वस्तु X की कीमत के कम हो जाने से उपभोक्ता पहले से अपेक्षाकृत अधिक सस्ती वस्तु X को वस्तु Y के स्थान पर प्रयोग करेगा।

अनधिमान वक्रो की सहायता से इसे सरलता से समझा जा सकता है। रेखाकृति 11 23 पर विचार कीजिए जिसमे अक्ष-X पर वस्तु X तथा अक्ष-Y पर वस्तु Y की मात्राओ को दर्शाया गया है। वस्तु X तथा Y की कीमते तथा उपभोक्ता की मुद्रा आय दी हुई होने पर कीमत-रेखा PL है तथा उपभोक्ता अनधिमान वक्र IC_1 के बिंदु Q पर सतुलन मे है जहाँ वस्तु X की OM_1 मात्रा तथा वस्तु Y की ON_1 मात्रा क्रय कर रहा है। कल्पना कीजिए वस्तु X की कीमत घट जाती है जिससे कीमत रेखा परिवर्तित हो कर PL' हो जाती है। अब कीमत रेखा PL' पर उपभोक्ता
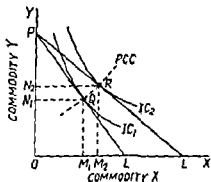
रेखाकृति 11 23

अनधिमान वक्र IC_2 के बिंदु R पर सन्तुलन मे है जिस पर वह सन्तुलन बिंदु Q की तुलना मे दोनो वस्तुए X और Y की अधिक मात्राए क्रय कर रहा है। वस्तु X की कीमत घटने से वस्तु Y की मांग मे वृद्धि वस्तु Y पर उत्पन्न आय प्रभाव का प्रतिस्थापन प्रभाव की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होने के कारण है।

एक अन्य उदाहरण भी है जिसमे दो वस्तुओ के मध्य ऋणात्मक प्रति-सापेक्षता से यह निष्कर्ष निकालना भ्रामक होगा कि वे परस्पर पूरक वस्तुएँ हैं। यह उदाहरण उन दो वस्तुओ का है जिनमे एक गिफन वस्तु (Giffen good) है तथा अन्य उसकी श्रेष्ठ स्थानापन्न वस्तु। इस अवस्था मे गिफिन-वस्तु की कीमत मे कमी इसकी श्रेष्ठ प्रतिस्थापन वस्तु Y की माग को बढा देती है, इस कारण नही कि दो वस्तुओ मे पूरक सबध है अपितु इसलिए कि आय प्रभाव प्रतिस्थापन प्रभाव से अधिक शक्तिशाली है। कल्पना कीजिए कि दो वस्तुओ X तथा Y मे वस्तु X गिफन वस्तु है तथा वस्तु Y इसकी श्रेष्ठ प्रतिस्थापन वस्तु है। X और Y वस्तुओं की कीमतें तथा उपभोक्ता की आय दी हुई होने पर कीमत रेखा PL है और इससे उपभोक्ता अनधिमान वक्र IC_1 के बिंदु Q पर सन्तुलन मे है। वह गिफन वस्तु X की OG_1 मात्रा तथा वस्तु Y की OS_1 मात्रा क्रय कर रहा है। कल्पना कीजिए कि गिफन वस्तु X की कीमत घट जाती है जिससे कीमत रेखा विवर्तित होकर PL' बनती है। अब उपभोक्ता अनधिमान वक्र IC_2 के बिंदु T पर सन्तुलन मे होता है जहाँ वह
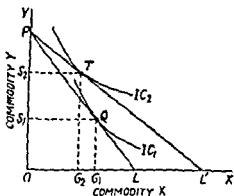
रेखाकृति 11 24

वस्तु X की पहले से कम मात्रा OG_2 तथा वस्तु Y की पहले से अधिक मात्रा OS_2 क्रय कर रहा है। स्पष्ट है कि गिफन वस्तु X, श्रेष्ठ वस्तु Y द्वारा प्रतिस्थापित की गई है। इसका कारण यह है कि वस्तु X की कीमत के घटने का आय प्रभाव वस्तु X के लिए ऋणात्मक है परन्तु वस्तु Y के लिए धनात्मक है तथा बहुत अधिक है। अतएव एक गिफन पदार्थ तथा उसकी श्रेष्ठ स्थानापन्न वस्तु की स्थिति मे गिफन वस्तु की कीमत मे कमी होने से श्रेष्ठ स्थानापन्न वस्तु की माग में वृद्धि होती है जिससे दो वस्तुओ के मध्य प्रति-सापेक्षता ऋणात्मक है यद्यपि दो वस्तुए परस्पर पूरक नहीं हैं।

हमने दो महत्त्वपूर्ण उदाहरणो की व्याख्या की है जिनमे दो वस्तुओं के बीच प्रति-सापेक्षता ऋणात्मक होती है यद्यपि वे परस्पर पूरक नहीं होतीं। स्पष्टत

यद्यपि पूरक वस्तुओं के मध्य मांग की प्रति-सापेक्षता ऋणात्मक होती है किंतु ऋणात्मक प्रति-सापेक्षता केवल पूरक वस्तुओं की स्थिति में ही नहीं पायी जाती, यह तब भी होती है जब आय प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली होता है। अतएव प्रो० रायन (Ryan) ठीक ही लिखते हैं "जबकि वे वस्तुए जिनमें मांग की प्रतिलोच धनात्मक है स्थानापन्न वस्तुए मानी जा सकती हैं किंतु वे वस्तुए जिनमें प्रति लोच ऋणात्मक होती है, यह आवश्यक नहीं कि वे दैनिक जीवन में पर स्पर पूरक वस्तुए हों। *मांग की प्रतिलोच न केवल* पूरकता की दशा में अपितु अपेक्षाकृत शक्तिशाली आय प्रभावों की स्थिति में भी होती है।"[1]

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि मांग की प्रति सापेक्षता के अनुसार वस्तुओं का स्थानापन्न तथा पूरक वस्तुओं में वर्गीकरण एक वस्तु की मांग किसी अन्य वस्तु की कीमत में कमी के परिणामस्वरूप उत्पन्न कुल कीमत प्रभाव (total price effect) पर आधारित है जिसमें आय में क्षतिपूरक परिवर्तन (compensating variation in income) *नहीं किया गया है* अर्थात् आय प्रभाव को समस्त कीमत प्रभाव से हटाया नहीं गया है।[2] इस मौलिक त्रुटि के कारण ही प्रति लोच के आधार पर स्थानापन्न तथा पूरक वस्तुओं को वर्गीकृत करने से हम पूरक वस्तुओं के विषय में भ्रामक *निष्कर्षों* पर पहुचते हैं। अतएव प्रो० हिक्स ने अपनी महान कृति "मूल्य और पूंजी" —*Value and Capital* में यह विचार प्रस्तुत किया कि स्थानापन्न तथा पूरक पदार्थों का अधिक सही वर्गीकरण कीमत परिवर्तन के केवल प्रतिस्थापन प्रभाव (अर्थात जब कीमत प्रभाव से आय प्रभाव को हटा लिया गया हो) के आधार पर किया जा सकता है। किंतु अनुभवाश्रित स्तर पर (on an empirical level), वस्तुओं के वर्गीकरण करने में केवल प्रतिस्थापन प्रभाव का प्रयोग करना अति कठिन है क्योंकि यह व्यक्ति के अधिमान क्रम पर निर्भर करता है जिसके विषय में सामग्री (data) प्राय उपलब्ध नहीं होती है। अत प्रो० फरगूसन (Ferguson) के *विचार* में *स्थानापन्न तथा* पूरक वस्तुओं का अधिक सही वर्गीकरण केवल प्रतिस्थापन प्रभाव का विश्लेषण करके किया जा सकता है। किंतु जब यह अधिक सही है, इसे अनुभवाश्रित स्तर पर प्रयोग करना बहुत कठिन है। अतएव वास्तविक समस्याओं के लिए प्रतिलोच की पुरातन विधि का ही प्राय प्रयोग किया जाना चाहिए।[3] वे आगे लिखते हैं, *अनुभवाश्रित स्तर पर प्रति लोच की पद्धति* ही वस्तुओं को वर्गीकृत करने की सरल एवं सम्भव विधि है क्योंकि उपलब्ध सामग्री के आधार पर मार्किट मांग फलन ज्ञात हो सकते हैं व्यक्तिगत अधिमान फलन नहीं ('On an empirical level the cross elasticity approach is the only feasible method of commodity classification because market demand *functions can be computed* while individual preference functions can not from readily available data'[4]

इसके अतिरिक्त प्रति-सापेक्षता पर आधारित वस्तुओं का वर्गीकरण व्यावहारिक आर्थिक समस्याओं के समझने के लिए बहुत लाभदायक है क्योंकि ऐसी समस्याओं में हम विभिन्न वस्तुओं में मार्किट सम्बन्धों (*market relations*) *को जानना चाहते हैं न कि* उपभोक्ता के अधिमान फलनों (consumer preference function) के दृष्टिकोण से विभिन्न वस्तुओं के सम्बन्ध को। अत वस्तु सम्बन्धों के वर्गीकरण का प्रति सापेक्षता दृष्टिकोण का व्यावहारिक अध्ययनों (*applied studies*) *में बहुत प्रयोग होता है*।"[5]

मांग के प्रति सापेक्षता की धारणा को अनधिमान वक्र की सहायता से भली प्रकार समझा जा सकता है। तीन अनधिमान वक्र रेखाकृतियाँ 11 25, 11 26 तथा 11 27 बनायी गयी हैं जिनमें अनधिमान वक्रों की आकृतियाँ (shapes) भिन्न भिन्न हैं। जैसा कि अनधि-

1 W J L Ryan, *Price Theory*, Macmillan and Co Ltd London, 1958, p 41

2 देखिये C E Ferguson, *Microeconomic Theory*, Richard D Irwin Inc, Illinois, 1967, p 63

3 *Ibid*, p 63

4 *Ibid*, p 63

5 *Ibid*, p 63.

मान वक्रों के अध्याय में बताया गया है, अनधिमान वक्रों की आकृतियाँ दो वस्तुओं के मध्य उपभोक्ताओं के अनधिमान क्रम को दर्शाती हैं। दो वस्तुओं की कीमतें तथा उपभोक्ता की आय दी हुई होने पर रेखाकृति 11 25 में आरम्भ में कीमत रेखा PL_1 है।
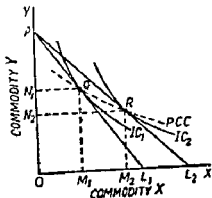
रेखाकृति 11 25
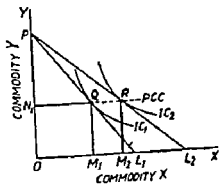
रेखाकृति 11 26

कल्पना कीजिए कि वस्तु X की कीमत घट जाती है जबकि वस्तु Y की कीमत तथा उपभोक्ता की आय स्थिर रहती है। फलत कीमत रेखा बदल कर PL_2 हो गई है। परिणामस्वरूप उपभोक्ता का नया सन्तुलन बिंदु R पर होता है जिसमें अब वह वस्तु X की अधिक मात्रा OM_2 तथा वस्तु Y की कम मात्रा ON_2 क्रय करेगा। स्पष्ट है कि वस्तु X की कीमत घटने से वस्तु Y की माग घट गई। अत रेखाकृति 11 25 में दर्शायी गई स्थिति के अनुसार X और Y वस्तुओं की प्रति-सापेक्षता धनात्मक है। जब वस्तु Y की वस्तु X से माग की प्रति-सापेक्षता धनात्मक होती है तो कीमत उपभोग वक्र (Price consumption curve-PCC) नीचे की ओर झुका हुआ होता है।
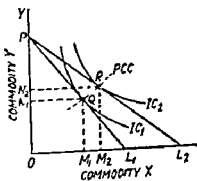
रेखाकृति 11 27

रेखाकृति 11 26 में प्रारम्भ में कीमत रेखा PL_1 है और उपभोक्ता अनधिमान वक्र IC_1 के बिंदु Q पर सन्तुलन में है। वस्तु X की कीमत गिरने से, जबकि Y की कीमत तथा उपभोक्ता की आय स्थिर रहती हैं, कीमत रेखा परिवर्तित होकर PL_2 हो जाती है और उपभोक्ता अनधिमान वक्र IC_2 के बिंदु R पर सतुलन में होता है। रेखाकृति 11 26 पर दृष्टि डालने से ज्ञात होगा कि इसमें वस्तु X की कीमत गिरने से वस्तु X की माँग तो बढ गई है परन्तु वस्तु Y की माग में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। अतएव यहाँ पर वस्तु X की वस्तु Y के लिए प्रति-लोच शून्य (zero) है। यह ध्यान देने योग्य है कि वस्तु Y की वस्तु X से माग की प्रति सापेक्षता शून्य होने की परिस्थिति में कीमत उपभोग वक्र (Price Consumption Curve) समानान्तर सरल रेखा होता है।

अब रेखाकृति 11 27 पर विचार कीजिए जिसमें वस्तु की कीमत घटने पर और फलत उपभोक्ता के सन्तुलन बिंदु Q से R को जाने से X तथा Y अर्थात् रेखाकृति 11 27 की परिस्थिति में दोनों वस्तुओं की माग में वृद्धि होती है। वस्तु X की कीमत घटने से वस्तु Y की माग में भी वृद्धि होती है। अन्य शब्दों में, इसमें वस्तु X और Y में माग की प्रति-सापेक्षता ऋणात्मक है। जब दो वस्तुओं में प्रति-सापेक्षता

ऋणात्मक होती है तो कीमत उपभोग वक्र ऊपर की ओर चढ़ता हुआ (sloping upward) होता है।

मांग की प्रति-सापेक्षता की धारणा आर्थिक सिद्धांत मे बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि हमने ऊपर बताया है, स्थानापन्न तथा पूरक पदार्थों की परिभाषा माग की प्रति-सापेक्षता के आधार पर की जाती है। वे वस्तुए जिनमे प्रति-सापेक्षता धनात्मक होती है स्थानापन्न वस्तुए कही जाती हैं और वे जिनमे प्रति सापेक्षता ऋणात्मक होती है पूरक वस्तुए कही जाती हैं। इसके अतिरिक्त, बाजार ढांचो (market structures) के विभिन्न रूपो का वर्गीकरण भी प्राय मांग की प्रति-सापेक्षता के आधार पर किया जाता है विशेष रूप से प्रो० ट्रिफिन (Triffin) ने विभिन्न बाजार अथवा मार्किट के रूपो मे भेद करने के लिए प्रति-सापेक्षता की धारणा का प्रयोग किया है। पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition) बाजार का वह रूप है जिसमे अधिसख्य फर्मों द्वारा उत्पादित पदार्थों के मध्य मांग की प्रति-सापेक्षता अनन्त (infinite) होती है। इसके विपरीत बाजार म एकाधिकार (monopoly) तब होता है जब एक उत्पादक ऐसे पदार्थ का उत्पादन करता है जिसकी किसी अन्य पदार्थ म प्रति सापेक्षता बहुत कम होती है। वस्तुत कुछ अर्थशास्त्री शुद्ध अथवा पूर्ण एकाधिकार (Pure or Absolute Monopoly) होना तब समझते हैं जब एक उत्पादक द्वारा उत्पादित पदार्थ मे प्रति-सापेक्षता शून्य होती है। इसके अतिरिक्त, एकाधिकारिक प्रतियोगिता (monopolistic competition) तब पायी जाती है जब बडी मात्रा मे फर्में ऐसे पदार्थों को उत्पादित करती हैं जिनमे मांग की प्रति-सापेक्षता अधिक एव धनात्मक होती है।

12

उपभोक्ता की बचत
(CONSUMER'S SURPLUS)

आर्थिक सिद्धान्त, विशेषतया कल्याणकारी अर्थ शास्त्र मे उपभोक्ता की बचत का विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है। उपभोक्ता की बचत का विचार सर्वप्रथम *डा० अल्फ्रेड मार्शल द्वारा प्रस्तुत किया गया।* यह विचार न केवल आर्थिक सिद्धान्त मे ही वरन् सरकार द्वारा करारोपण तथा एक पदार्थ के एकाधिकारी विक्रेता द्वारा उपयुक्त कीमत नीति जैसी आर्थिक नीतियो मे भी महत्त्वपूर्ण है। उपभोक्ता की बचत के विचार का सार यह है कि एक उपभोक्ता दैनिक क्रयो से उनके लिए उसके द्वारा वास्तव मे भुगतान की जाने वाली कीमत की अपेक्षा अतिरिक्त सन्तोष प्राप्त करता है। अन्य शब्दो मे, लोग सामान्यतया वस्तुओ के उपभोग से उनके लिए उनके द्वारा वास्तव मे भुगतान की जाने वाली कीमत की अपेक्षा अधिक सन्तोष या तुष्टिगुण प्राप्त करते है। यह पाया गया है कि लोग वस्तुओ के लिए वास्तव मे भुगतान की जाने वाली कीमत की अपेक्षा अधिक कीमत भुगतान करने के लिए इच्छुक या तैयार होते है। यह अतिरिक्त सन्तोष, जो उपभोक्ता वस्तु खरीदने से प्राप्त करता है, मार्शल द्वारा उपभोक्ता की बचत कहा गया है। इस प्रकार मार्शल उपभोक्ता की बचत को निम्न शब्दो मे परिभाषित करते है 'एक वस्तु के बिना रहने की अपेक्षा एक उपभोक्ता वास्तव मे भुगतान की जाने वाली कीमत के ऊपर जितनी अधिकतम कीमत भुगतान करने का इच्छुक होगा इस अतिरेक सन्तोष की आर्थिक माप है इसे *उपभोक्ता की बचत कहा जा सकता है।*'[1]

एक वस्तु के लिए एक व्यक्ति मुद्रा की जो मात्रा भुगतान करने के लिए तैयार होता है वह उस वस्तु से उसे प्राप्त होने वाली तुष्टिगुण की मात्रा को व्यक्त करती है। जितनी अधिक मुद्रा की मात्रा वह भुगतान करने के लिए इच्छुक रहता है उससे प्राप्त होने वाला तुष्टिगुण अथवा सतोष उसे उतना ही अधिक होगा। इसलिए वस्तु की एक इकाई का सीमान्त तुष्टिगुण उस *कीमत को निर्धारित करता है जो कि एक उपभोक्ता* उस इकाई के लिए भुगतान करने को तैयार होगा। *एक व्यक्ति जो कुल तुष्टिगुण प्राप्त करेगा वह वस्तु* की खरीदी गयी इकाइयो के सीमान्त तुष्टिगुण का

---

1 "The excess of price which a consumer would be *willing to pay rather* than go without the thing over that which he actually does pay, is the economic measure of *this surplus satisfaction* . it may be called Consumer's Surplus '

—A Marshall *Principles of Economics*

योगफल (ΣMU) होगा तथा कुल कीमत जो वह वास्तव में भुगतान करेगा वह प्रति इकाई कीमत तथा खरीदी गयी इकाइयों की संख्या के गुणा के बराबर है। इस प्रकार

उपभोक्ता की बचत = एक उपभोक्ता कितना भुगतान करने के लिए तैयार है—वह वास्तव में कितना भुगतान करता है
= सीमान्त तुष्टिगुणों का योगफल (कीमत × खरीदी गयी इकाइयों की संख्या)
= ΣMU — (Price × No of units purchased)

उपभोक्ता की बचत की माप (Measurement of Consumer's Surplus)

उपभोक्ता की बचत का विचार ह्रासमान तुष्टिगुण के नियम से व्युत्पादित किया गया है। जैसे-जैसे हम एक वस्तु की अधिक इकाइयाँ खरीदते हैं, इसका सीमांत तुष्टिगुण कम होता जाता है। उपभोक्ता तब सन्तुलन में होता है जबकि दी हुई कीमत सीमान्त तुष्टिगुण के बराबर हो जाती है। अन्य शब्दों में, एक वस्तु की इकाइयों की वह संख्या खरीदता है जिस पर सीमान्त तुष्टिगुण कीमत के बराबर होता है। इसका अर्थ यह है कि सीमा पर एक उपभोक्ता जितना भुगतान करने को तैयार होगा *(सीमान्त तुष्टिगुण)*, वह *उस कीमत* के बराबर होता है जिसको वह वास्तव में भुगतान करता है। किन्तु उसके द्वारा खरीदी गयी पहले की इकाइयों से जो सीमान्त तुष्टिगुण वह प्राप्त करता है, उस कीमत की अपेक्षा अधिक होता है जिसका वह उनके लिए वास्तव में भुगतान करता है। इसका कारण है कि उसके लिए कीमत स्थिर रहती है।

उपभोक्ता की बचत के विचार को रेखाकृति 12 1 में प्रदर्शित किया गया है जिसमें X-अक्ष पर वस्तु की मात्रा तथा Y-अक्ष पर वस्तु की कीमत तथा सीमान्त तुष्टिगुण मापा गया है। MU सीमान्त तुष्टिगुण वक्र है जो नीचे की ओर गिरता हुआ है और यह व्यक्त करता है कि जैसे-जैसे उपभोक्ता वस्तु की अधिक इकाइयाँ खरीदता है, उसका सीमान्त तुष्टिगुण कम होता जाता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि सीमान्त तुष्टिगुण उस कीमत को प्रदर्शित करता है जो एक व्यक्ति उनके बिना रहने के बजाय विभिन्न इकाइयों के लिए भुगतान करने को तैयार होगा। यदि OP वह कीमत है जो बाजार में प्रचलित होती है तो उपभोक्ता तब सन्तुलन में होगा जब कि वह वस्तु की OM इकाइयाँ खरीदता है क्योंकि OM इकाइयों पर सीमान्त तुष्टिगुण दी हुई कीमत OP के बराबर है। वस्तु की M
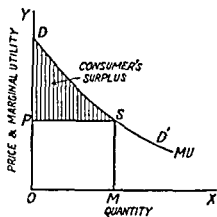
रेखाकृति 12 1

की इकाई उपभोक्ता को कोई बचत प्रदान नहीं करती क्योंकि यह खरीदी गयी अन्तिम इकाई है और इसके लिए भुगतान की गयी कीमत *सीमान्त तुष्टिगुण के बराबर है जो उस कीमत को* व्यक्त करता है जिसका वह उसके बिना रहने के बजाय भुगतान करने को तैयार होगा। किन्तु अन्तर-सीमान्त इकाइयों अर्थात् M की के पहले की इकाइयों के लिए सीमान्त तुष्टिगुण कीमत की अपेक्षा अधिक है और इसलिए ये इकाइयाँ उपभोक्ता के लिए उपभोक्ता की बचत उत्पन्न करती हैं। उपभोक्ता की वस्तु की एक निश्चित मात्रा के कुल तुष्टिगुण को खरीदी गयी विभिन्न इकाइयों के सीमान्त तुष्टिगुणों के योग द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।

रेखाकृति 12 1 में वस्तु की OM इकाइयों से उपभोक्ता द्वारा प्राप्त कुल तुष्टिगुण M बिन्दु तक सीमान्त *तुष्टिगुण वक्र के अन्तर्गत क्षेत्रफल के बराबर होगा अर्थात्*

रेखाकृति 12.1 में OM इकाइयों का कुल तुष्टिगुण $ODSM$ के बराबर है। अन्य शब्दों में, वस्तु की OM इकाइयों के लिए उपभोक्ता $ODSM$ रुपयों के बराबर धनराशि भुगतान करने को तैयार होगा। किन्तु कीमत के OP दिये होने पर वस्तु की OM इकाइयों के लिए उपभोक्ता वास्तव में $OPSM$ के बराबर ही धनराशि भुगतान करेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपभोक्ता $ODSM - OPSM = DPS$ के बराबर अतिरिक्त तुष्टिगुण प्राप्त करता है जो रेखाकृति 12.1 में छायांकित है।

यदि वस्तु की बाजार कीमत OP से अधिक हो जाती है तो उपभोक्ता वस्तु की OM की अपेक्षा कम इकाइयाँ खरीदेगा। परिणामस्वरूप उसके क्रम से प्राप्त उपभोक्ता की बचत पहले से कम हो जायगी। दूसरी ओर, यदि कीमत OP से कम हो जाती है तो उपभोक्ता तब सतुलन में होगा जब वह वस्तु की OM की अपेक्षा अधिक इकाइयाँ खरीदता है। इसके परिणामस्वरूप उपभोक्ता की बचत में वृद्धि होगी। इस प्रकार सीमान्त तुष्टिगुण वक्र दिये होने पर कीमत जितनी ही अधिक होगी, उपभोक्ता की बचत उतनी ही कम होगी तथा कीमत जितनी ही कम होगी उपभोक्ता की बचत उतनी ही अधिक होगी।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि हमने उपभोक्ता की बचत के विश्लेषण में कल्पना की है कि बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता होती है ताकि उपभोक्ता वस्तु की चाहे जितनी मात्रा खरीदता है वह दी हुई कीमत का सामना करता है। किंतु यदि एक वस्तु का विक्रेता कीमत विभेद करता है तथा वस्तु की विभिन्न इकाइयों के लिए भिन्न भिन्न कीमतें अर्थात् कुछ इकाइयों के लिए अपेक्षाकृत अधिक तथा कुछ के लिए अपेक्षाकृत कम कीमतें, वसूल करता है तो इस दशा में उपभोक्ता को बचत अपेक्षाकृत कम प्राप्त होगी। इस प्रकार जब विक्रेता कीमत विभेदीकरण करता है तथा वस्तु की विभिन्न इकाइयों को विभिन्न कीमतों पर बेचता है तो उपभोक्ता पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा कम मात्रा में उपभोक्ता की बचत प्राप्त करेगा। यदि विक्रेता पूर्ण कीमत विभेदीकरण करता है अर्थात् यदि वह वस्तु की प्रत्येक इकाई के लिए उस कीमत के बराबर वसूल करता है जो कोई उपभोक्ता उसके लिए भुगतान करने के लिए तैयार है तो उस दशा में उपभोक्ता को कोई बचत प्राप्त नहीं होगी।

तटस्थता वक्रों द्वारा उपभोक्ता के बचत की माप (*Measurement of Consumer's Surplus through Indifference Curves*)

हमने ऊपर उपभोक्ता की बचत को मापने की मार्शलीय विधि की व्याख्या की है। मार्शल की विधि की क्रमवाचक तुष्टिगुण विश्लेषण के समर्थकों द्वारा आलोचना की गयी है। उपभोक्ता की बचत की माप मार्शल द्वारा स्वीकार की गयी दो आधारभूत मान्यताएँ (1) तुष्टिगुण परिमाणात्मक अथवा गणनावाचक रूप में मापा जा सकता है तथा (2) जब एक व्यक्ति एक वस्तु पर अपेक्षाकृत अधिक मुद्रा व्यय करता है तो मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण परिवर्तित नहीं होता अथवा जब एक वस्तु की कीमत कम होती है तथा परिणामस्वरूप उपभोक्ता श्रेष्ठतर हो जाता है तथा उसकी वास्तविक आय बढ़ती है तो मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण स्थिर रहता है। हिक्स तथा एलेन जैसे अर्थशास्त्रियों ने विचार व्यक्त किया है कि तुष्टिगुण एक व्यक्तिगत तथा मानसिक तत्त्व है और इसलिए यह गणनावाचक रूप में मापा नहीं जा सकता। वे आगे दावा करते हैं कि उपभोक्ता की आय में कमी अथवा वृद्धि से मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण स्थिर नहीं रहता। मार्शल की मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता का अभिप्राय यह है कि वे कीमत परिवर्तन के आय प्रभाव की उपेक्षा करते हैं। किन्तु कुछ दशाओं में कीमत परिवर्तन का आय प्रभाव बहुत महत्त्वपूर्ण होता है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मार्शल ने मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण की स्थिरता की मान्यता की इस आधार पर प्रतिरक्षा की कि एक व्यक्ति एक वस्तु पर अपनी आय का एक नगण्य भाग व्यय करता है और इसलिए यह मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं करता है। किन्तु सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में ऐसा होना आवश्यक नहीं है।

प्रो० जे० आर० हिक्स ने अपने क्रमवाचक तुष्टिगुण विश्लेषण को अनधिमान वक्र तकनीक की सहायता से माप कर उपभोक्ता की बचत के विचार को पुनः प्रतिष्ठित किया। अनधिमान वक्र विधि तुष्टिगुण की गणनावाचक मापनीयता की मान्यता को स्वीकार नही करती और न ही यह कल्पना करती है कि मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण स्थिर रहता है। तथापि हिक्स इन सामान्य मान्यताओं के बिना अपनी अनधिमान वक्र विधि की सहायता से उपभोक्ता की बचत को मापने मे समर्थ हुए। उपभोक्ता की बचत के विचार की मुख्यतया इस आधार पर आलोचना की गयी थी कि इसे गणनावाचक तुष्टिगुण के रूप म मापना कठिन था। अत क्रमवाचक तुष्टिगुण के रूप म उपभोक्ता की बचत का हिक्सीय माप उपभोक्ता की बचत के विचार की प्रामाणिकता सिद्ध करने म बहुत आगे बढ गया। अनधिमान वक्र विधि की सहायता से किस प्रकार उपभोक्ता की बचत मापी जाती है, यह रेखाकृति 12 2 मे प्रदर्शित किया गया है। रेखाकृति 12 2 मे हमने X-अक्ष पर वस्तु की मात्रा तथा Y-अक्ष पर मुद्रा मापी है। हमने अधिमान दिया हुआ होने पर दिये हुए उपभोक्ता की दी हुई वस्तु X तथा मुद्रा के मध्य कुछ अनधिमान वक्रो को भी प्रदर्शित किया है। हम जानते हैं कि उपभोक्ता के अधिमानो का पैमाना उपभोक्ता की रुचियो पर निर्भर करता है और उसकी आय तथा वस्तु की बाजार कीमतो से बिलकुल स्वतन्त्र होता है। यह अनधिमान वक्रो की सहायता मे उपभोक्ता की बचत के विचार को समझने मे हमारी सहायता करेगा।

कल्पना कीजिए कि एक उपभोक्ता के पास मुद्रा की OM मात्रा है जिसे वह वस्तु X पर तथा शेष धनराशि अन्य वस्तुओं पर व्यय कर सकता है। अनधिमान वक्र IC_1 बिंदु M को स्पर्श करता है जो यह व्यक्त करता है कि IC_1 पर प्रदर्शित X वस्तु तथा मुद्रा के सभी सयोग उपभोक्ता को उतना ही सन्तोष प्रदान करते हैं जितना कि मुद्रा की OM मात्रा। उदाहरणार्थ, एक अनधिमान वक्र IC_1 पर R सयोग को लीजिए तो इसका अर्थ है कि वस्तु की OA मात्रा तथा मुद्रा की OS मात्रा उपभोक्ता को उतना ही सन्तोष प्रदान करेगी जितना कि मुद्रा की OM मात्रा क्योकि M तथा R दोनो सयोग एक ही अनधिमान वक्र IC_1 पर स्थित है। अन्य शब्दो मे, इसका अर्थ है कि X वस्तु की OA मात्रा के लिए उपभोक्ता मुद्रा की MS मात्रा भुगतान करने के लिए इच्छुक है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अधिमानो का पैमाना दिया हुआ होने पर वह X वस्तु की OA मात्रा अथवा मुद्रा की MS मात्रा से समान सन्तोष प्राप्त करता है। अन्य शब्दो मे, वह X वस्तु की OA मात्रा के लिए $FR(=MS)$ मुद्रा त्याग करने के लिए तैयार है।

अब कल्पना कीजिए कि X वस्तु की बाजार मे कीमत इस प्रकार है कि हम ML कीमत रेखा (X की कीमत $\frac{OM}{OL}$ के बराबर है) प्राप्त करते हैं। हम
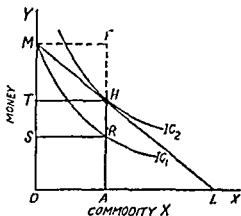
रेखाकृति 12 2 अनधिमान वक्रों द्वारा उपभोक्ता की बचत का माप

अपने उपभोक्ता के सन्तुलन के विश्लेषण से जानते हैं कि उपभोक्ता वहाँ पर सन्तुलन मे होगा जहाँ पर कि दी हुई कीमत रेखा एक अनधिमान वक्र की स्पर्श रेखा है। रेखाकृति 12 2 से यह देखा जा सकता है कि H बिंदु कीमत रेखा ML, अनधिमान वक्र IC_2 की स्पर्श रेखा है। इस सन्तुलन स्थिति H मे उपभोक्ता के पास X वस्तु की OA मात्रा तथा मुद्रा की OT मात्रा है। इस प्रकार X वस्तु की प्रचलित बाजार कीमत पर उपभोक्ता ने X वस्तु की OA मात्रा प्राप्त करने के लिए मुद्रा की MT मात्रा का त्याग कर दिया है किन्तु

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है वह X की OA मात्रा प्राप्त करने के लिए मुद्रा की MS (या FR) मात्रा त्याग करने के लिए तैयार था। इसलिए X वस्तु की OA मात्रा के बिना जाने के बजाय उसके लिए वह जितना भुगतान करने के लिए तैयार है उसकी अपेक्षा उपभोक्ता TS या HR कम मुद्रा की मात्रा का भुगतान करता है। इस प्रकार TS अथवा HR उपभोक्ता की बचत की मात्रा है जो X वस्तु की OA मात्रा खरीदने से उपभोक्ता प्राप्त करता है। इस प्रकार हिक्स ने अपनी अनधिमान वक्र विधि की सहायता से तुष्टिगुण की गणनावाचक मापनीयता तथा मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण की स्थिरता की मान्यताओं के बिना उपभोक्ता की बचत की व्याख्या की। चूंकि मार्शल ने उपभोक्ता की बचत को मापने मे इन सन्देहजनक मान्यताओं को स्वीकार किया अतएव उनके माप की विधि को अप्रामाणिक माना जाता है तथा अनधिमान वक्र विधि की सहायता से माप की हिक्सीय विधि को मार्शलीय विधि की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है।

उपभोक्ता की बचत की हिक्स की चार धारणाएँ (Hicksian Four Concepts of Consumer's Surplus)

ऊपर हमने उपभोक्ता की बचत के हिक्सीय विश्लेषण की व्याख्या है जो उपभोक्ता की बचत के मार्शलीय विचार के समान है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *'Value and Capital'* (अर्थ तथा पूंजी मे) मुद्रा के रूप मे उपभोक्ता की बचत को परिभाषित करते हुए हिक्स ने निर्दिष्ट किया कि उपभोक्ता की बचत का मार्शलीय विचार मांग के अनधिमान वक्र विश्लेषण के आय मे क्षतिपूरक परिवर्तन के समान था। किन्तु उसके तुरन्त बाद हेन्डरसन ने स्पष्ट किया कि हिक्स का मांग मे क्षतिपूरक परिवर्तन मार्शल के उपभोक्ता की बचत के बिल्कुल समान नही है। हेन्डरसन के अनुसार उपभोक्ता के बचत का मार्शलीय विचार मुद्रा की उस मात्रा से सम्बधित था जो उपभोक्ता वस्तु की उस मात्रा, जिसको वह प्रचलित कीमत पर पहले से ही खरीद रहा है, को उस कीमत पर खरीदने मे समर्थ होने की सुविधा के लिए भुगतान करने को तैयार है। दूसरी ओर हेन्डरसन के अनुसार, आय मे क्षतिपूरक परिवर्तन का हिक्सीय विचार मुद्रा की उस मात्रा को व्यक्त करता है जो कि उपभोक्ता प्रचलित कीमत पर यथेच्छित मात्रा मे वस्तु को खरीदने की सुविधा के लिए भुगतान करने के लिए तैयार है। इस प्रकार आय मे क्षतिपूरक परिवर्तन तथा मार्शल के उपभोक्ता की बचत के मध्य अन्तर वस्तु की खरीदी गयी मात्रा पर निर्भर करता है क्योकि मार्शल की उपभोक्ता की बचत मात्रा प्रतिबन्ध (quantity constraint) को सम्मिलित करती है जबकि हिक्स के आय म क्षतिपूरक परिवर्तन मे इस प्रकार का कोई मात्रा प्रतिबन्ध नही है। हेन्डरसन ने प्रदर्शित किया कि आय मे हिक्सीय क्षतिपूरक परिवर्तन मार्शल के उपभोक्ता की बचत की अपेक्षा अधिक है। रेखाकृति 12 3 पर विचार कीजिए। जैसा
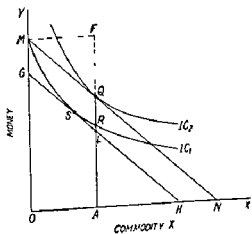
रेखाकृति 12 3 उपभोक्ता की बचत तथा आय मे क्षतिपूरक परिवर्तन

कि ऊपर व्याख्या की गयी है, मुद्रा के रूप मे मार्शल के उपभोक्ता की बचत QR के बराबर है जबकि आय मे हिक्सीय क्षतिपूरक परिवर्तन MG के बराबर है। रेखाकृति से यह देखा जा सकता है कि MG (जो QL के बराबर है) QR की अपेक्षा अधिक है। हेन्डरसन ने अपने लेख मे आगे निर्दिष्ट किया कि हिक्सीय क्षतिपूरक परिवर्तन इसके अनुसार भिन्न होगा कि क्या उपभोक्ता को वस्तु को खरीदने की सुविधा के लिए उसे अपेक्षाकृत कम कीमत का भुगतान करना पड़ा है अथवा अपेक्षाकृत कम

कीमत पर खरीदने के अवसर का त्याग करने को प्रेरित करने के लिए उसको भुगतान किया जाना है। हिक्स ने हेन्डरसन के इन सुझावो को स्वीकार किया तथा उपभोक्ता की बचत के विचार का अपेक्षाकृत गहन अध्ययन किया तथा इसे और आगे बढाया तथा विकसित किया। हेन्डरसन के सुझावो का अनुगमन करते हुए हिक्स ने उपभोक्ता के बचत की चार धारणाओ के मध्य अन्तर किया।

सर्वप्रथम, उन्होने कीमत मे कमी के क्षतिपूरक परिवर्तन तथा कीमत मे कमी के समतुल्य परिवर्तन के मध्य अन्तर किया। समतुल्य परिवर्तन मुद्रा की वह मात्रा व्यक्त करता है जो कि अपेक्षाकृत कम कीमत पर वस्तु को खरीदने के लिए उपभोक्ता को भुगतान करनी पडती है ताकि वह कीमत मे परिवर्तन होने से सन्तोष अथवा कल्याण के अनुवर्ती (subsequent) स्तर मे रह सके जबकि क्षतिपूरक परिवर्तन मुद्रा की उस मात्रा को व्यक्त करता है जिसका कीमत मे परिवर्तन होने पर उपभोक्ता को भुगतान किया जाना है ताकि वह सन्तोष या कल्याण के प्रारम्भिक स्तर मे रह सके।

*द्वितीय, उन्होने एक ओर कीमत क्षतिपूरक परि-*वर्तन और कीमत समतुल्य परिवर्तन तथा दूसरी ओर परिमाण क्षतिपूरक परिवर्तन और परिमाण समतुल्य परिवर्तन के मध्य अन्तर स्पष्ट किया। इनमे अन्तर इस पर निर्भर करता है कि क्या परिमाण प्रतिबन्ध है अथवा नही। उपभोक्ता की बचत के मार्शल के मौलिक विचार के समान परिमाण क्षतिपूरक परिवर्तन तथा परिमाण समतुल्य परिवर्तन परिमाण प्रतिबन्ध को सम्मिलित करते हैं जबकि कीमत क्षतिपूरक परिवर्तन तथा कीमत समतुल्य परिवर्तन किसी परिमाण-प्रतिबन्ध को सम्मिलित नही करते। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत की निम्न चार धारणाएँ (concepts) हिक्स द्वारा प्रस्तुत की गयी।

1 कीमत क्षतिपूरक परिवर्तन (Price Compensating Variation)

2 कीमत समतुल्य परिवर्तन (Price Equivalent Variation)

3 परिमाण क्षतिपूरक परिवर्तन (Quantity Compensating Variation)

4 परिमाण समतुल्य परिवर्तन (Quantity Equivalent Variation)

यह ध्यान देने योग्य है कि हिक्स के उपभोक्ता की बचत की इन चार धारणाओ का सम्पूर्ण विश्लेषण इस तथ्य पर निर्भर करता है कि उपभोक्ता की बचत को समझने की सर्वोत्तम विधि यह है कि इसे वस्तु की कीमत मे कमी के परिणामस्वरूप उस अतिरिक्त लाभ या सन्तोष (कल्याण) के रूप मे समझा जाय जो कि एक उपभोक्ता प्राप्त करेगा। अब नीचे हम उपभोक्ता की बचत की इन चार धारणाओ की व्याख्या करेंगे तथा स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करेंगे कि वे किस प्रकार एक दूसरे से भिन्न हैं।

1. कीमत क्षतिपूरक परिवर्तन (Price Compensating Variation)

हिक्स द्वारा कीमत क्षतिपूरक परिवर्तन को मुद्रा की उस अधिकतम मात्रा के रूप मे परिमापित किया गया है जिसका अपेक्षाकृत कम कीमत पर वस्तु को खरीदने की सुविधा के लिए उपभोक्ता भुगतान करेगा
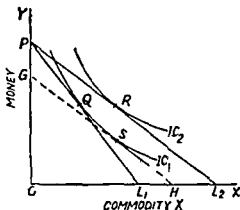
रेखाकृति 12 4 : कीमत क्षतिपूरक परिवर्तन

ताकि वह कल्याण के प्रारम्भिक स्तर अर्थात् कीमत मे कमी के पहले प्राप्त कल्याण के स्तर को प्राप्त कर ले। कीमत क्षतिपूरक परिवर्तन का विचार कोई अन्य नही वरन् आय में क्षतिपूरक परिवर्तन ही है जिसकी व्याख्या प्रतिस्थापन प्रभाव के सम्बन्ध मे पहले की जा चुकी है। इस धारणा की रेखाकृति 12 4 मे

व्याख्या की गयी है। इस रेखाकृति मे X वस्तु की बाजार कीमत दी हुई होने पर कीमत रेखा PL_1 है तथा उपभोक्ता अनधिमान वक्र IC_1 के Q बिन्दु पर सन्तुलन मे है। अब कल्पना कीजिए कि X वस्तु की कीमत गिरती है तथा परिणामस्वरूप कीमत रेखा PL_2 को विवर्तित हो जाती है। इस प्रकार कीमत मे दी हुई कमी के परिणामस्वरूप उपभोक्ता अनधिमान वक्र IC_2 पर नवीन सन्तुलन स्थिति R को प्राप्त करना है और इस चलन मे उसके सन्तोष अथवा कल्याण मे वृद्धि हुई है। अब प्रश्न है कि इस अपेक्षाकृत कम कीमत पर वस्तु खरीदने के अवसर के लिए उपभोक्ता मुद्रा की कितनी मात्रा भुगतान करने के लिए तैयार होगा जिससे वह IC_1 के बिन्दु Q के ठीक बराबर सन्तोष के प्रारम्भिक स्तर को प्राप्त करेगा। इसे ज्ञात करने के लिए हमे PL_2 के समानातर ऐसी कीमत रेखा खीचने की आवश्यकता है जो IC_1 अनधिमान वक्र को स्पर्श करती है। रेखाकृति 12 4 मे इस प्रकार की रेखा GH खीची गयी है। रेखाकृति से यह देखा जा सकता है कि GH कीमत रेखा PL_2 द्वारा व्यक्त X की कीमत किन्तु उससे मौद्रिक आय की अपेक्षाकृत कम मात्रा प्रदर्शित करती है क्योंकि मौद्रिक आय के एक भाग को उपभोक्ता से वापस ले लिया गया है। इसका अर्थ है कि अपेक्षाकृत कम कीमत पर वस्तु को खरीदने की सुविधा के लिए उपभोक्ता मुद्रा की PG मात्रा भुगतान करने के लिए तैयार होगा क्योंकि वह Q तथा S सयोगो के मध्य तटस्थ है। वह S सयोग को X की अपेक्षाकृत कम कीमत किंतु आय की अपेक्षाकृत कम मात्रा से खरीदता है तथा Q सयोग को अपेक्षाकृत अधिक कीमत किन्तु अपेक्षाकृत अधिक मौद्रिक आय से खरीदता है। इस प्रकार PG कीमत क्षतिपूरक परिवर्तन है।

2. कीमत समतुल्य परिवर्तन (Price Equivalent Variation)

उपभोक्ता की बचत की चार धारणाओं मे से कीमत समतुल्य परिवर्तन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है तथा इसे हाल मे अत्यधिक लोकप्रियता तथा प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। कीमत समतुल्य परिवर्तन को हिक्स द्वारा उस न्यूनतम धनराशि के रूप मे परिभाषित किया गया है जिसको उपभोक्ता अपेक्षाकृत कम कीमत पर खरीदने के अवसर का त्याग करने के लिए प्राप्त करने के लिए स्वीकार करेगा (अर्थात् जिसका
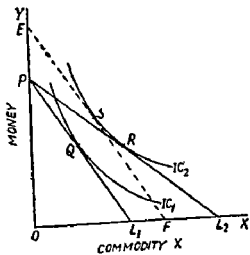
रेखाकृति 12 5 : कीमत समतुल्य परिवर्तन

भुगतान उसको करना पड़ेगा।) ताकि वह कल्याण (अथवा सन्तोष) के उस अनुवर्ती स्तर को प्राप्त कर ले जिसे वह अपेक्षाकृत कम कीमत से प्राप्त करता है। आइए हम इसे रेखाकृति 12 5 की सहायता से प्रदर्शित करें। बाजार मे X वस्तु की कीमत दी होने पर कीमत रेखा PL_1 है। रखाकृति 12 5 मे अधिमानो के पैमाने को प्रदर्शित करते हुए उपभोक्ता के कुछ अनधिमान वक्र भी खीचे गये हैं। इस रेखाकृति मे यह देखा जा सकता है कि PL_1 कीमत रेखा IC_1 अनधिमान वक्र के Q बिन्दु पर स्पर्शरेखा है। अब कल्पना कीजिए कि X वस्तु की कीमत घटती है और हमे एक नई कीमत रेखा PL_2 प्राप्त होती है। X की कीमत मे इस कमी के परिणामस्वरूप उपभोक्ता अपेक्षाकृत ऊँचे अनधिमान वक्र IC_2 पर R बिन्दु की नवीन सन्तुलन स्थिति की ओर चलन करता है। चूँकि X वस्तु की कीमत में कमी के परिणामस्वरूप वह नीचे अनधिमान वक्र से अपेक्षाकृत ऊँचे अनधिमान वक्र को पहुँच गया है, अतएव उसके कल्याण अथवा सन्तोष मे वृद्धि हो गयी है। अब यदि X वस्तु की कीमत मे दी हुई कमी के बजाय उसकी मौद्रिक आय PE से बढ़ गयी हो तो उपभोक्ता द्वारा सन्तोष या कल्याण मे ठीक वही वृद्धि

प्राप्त की गयी होती। PE क्षतिपूर्ति तथा प्राचीन कीमत होने से वह EF (EF समानान्तर है PL_1 के) के साथ चलेगा तथा IC_2 अनधिमान वक्र पर S बिन्दु पर सन्तुलन मे होगा जिस पर वह उसी कल्याण के स्तर को प्राप्त करेगा जिसको कि वह R बिन्दु पर अपेक्षाकृत कम कीमत पर प्राप्त करता है।

इस प्रकार X की कीमत मे दी हुई कमी स उपभोक्ता द्वारा प्राप्त कल्याण या सन्तोष म वृद्धि का अन्य माप मुद्रा की PE मात्रा के बराबर है। PE कीमत समतुल्य परिवर्तन है। उपभोक्ता कीमत म दी हुई कमी तथा मौद्रिक आय म PE स वृद्धि के मध्य तटस्थ होगा क्योकि X की अपेक्षाकृत कम कीमत से वह IC_2 अनधिमान वक्र के R बिन्दु पर पहुचता है और मुद्रा की अतिरिक्त मात्रा से वह उसी अनधिमान वक्र के S बिन्दु पर पहुँचता है जिस पर R स्थित है। अत PL_2 कीमत रेखा द्वारा प्रदर्शित घटी हुई कीमत पर X वस्तु को खरीदने की सुविधा से वचित करने के लिए उपभोक्ता को मुद्रा की PE मात्रा से क्षतिपूर्ति करने की आवश्यकता है।

3 परिमाण क्षतिपूरक परिवर्तन (Quantity Compensating Variation)

परिमाण क्षतिपूरक परिवर्तन हिक्स द्वारा मुद्रा की उस अधिकतम मात्रा के रूप म परिभाषित किया गया है जिसको एक उपभोक्ता अपेक्षाकृत कम कीमत पर एक वस्तु खरीदने की सुविधा के लिए भुगतान करने को इच्छुक होगा जिससे वह सन्तुष्टि के प्रारम्भिक स्तर को प्राप्त करेगा यदि इस सुविधा के साथ उसे वस्तु की वह मात्रा खरीदने को प्रतिबन्धित किया जाता है जिसको वह क्षतिपूरक भुगतान की अनुपस्थिति म अपेक्षाकृत कम कीमत पर खरीदेगा।

रेखाकृति 12 6 पर विचार कीजिए। X की कीमत PL_1 द्वारा प्रदर्शित होने तथा मौद्रिक आय की OP मात्रा दी होने पर उपभोक्ता अनधिमान वक्र IC_1 के Q बिन्दु पर प्रारम्भिक रूप मे सन्तुलन मे है। कल्पना कीजिए कि X की कीमत गिरती है तथा उपभोक्ता अनधिमान वक्र IC_2 के नवीन सन्तुलन स्थिति R को प्राप्त करता है जिस पर वह X वस्तु की OB मात्रा खरीद रहा है। अब प्रश्न है कि उपभोक्ता मुद्रा की कितनी मात्रा भुगतान करने को इच्छुक होगा ताकि वह पुन IC_1 द्वारा प्रदर्शित कल्याण के मौलिक स्तर पर पहुच जाता है यदि इसके साथ उसे X वस्तु की OB मात्रा खरीदने से प्रतिबन्धित किया जाता है। रेखाकृति से यह देखा जा सकता है कि यदि उपभोक्ता
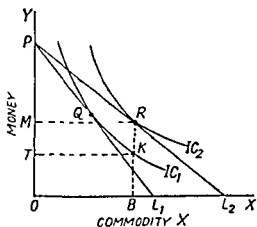
रेखाकृति 12 6 उपभोक्ता की बचत . परिमाण क्षतिपूरक परिवर्तन

से मुद्रा की RK मात्रा वापस ले ली जाती है तो वह अनधिमान वक्र IC_1 के K बिन्दु अर्थात् अपने प्रारम्भिक कल्याण के स्तर पर होगा। इस प्रकार X वस्तु की कीमत मे कमी के परिणामस्वरूप कल्याण मे लाभ का अन्य माप परिमाण क्षतिपूरक परिवर्तन RK है।

4. परिमाण समतुल्य परिवर्तन (Quantity Equivalent Variation)

परिमाण समतुल्य परिवर्तन मुद्रा की उस न्यूनतम धनराशि के रूप मे परिभाषित किया गया है जिसको उपभोक्ता अपेक्षाकृत कम कीमत पर वस्तु को खरीदने की सुविधा का त्याग करने के लिए स्वीकार करेगा जिससे वह सन्तुष्टि के अनुवर्ती स्तर को प्राप्त करेगा यदि उसे वस्तु की उस मात्रा को खरीदने से प्रतिबन्धित किया जाता है जिसको वह प्राचीन अपेक्षाकृत अधिक कीमत पर वास्तव मे खरीदता है। रेखाकृति 12 7 पर विचार कीजिए, जिसमे X की PL_1 कीमत रेखा द्वारा प्रदर्शित कीमत तथा दी हुई OP मौद्रिक आय से अनधिमान वक्र IC_1 के Q बिन्दु पर उपभोक्ता प्रारम्भिक सन्तुलन

मे होता है। इस सन्तुलन स्थिति मे वह X वस्तु की OA मात्रा खरीद रहा है। अब कल्पना कीजिए X की कीमत गिरती है तथा कीमत रेखा PL_2 को विवर्तित हो जाती है। इससे वह अपेक्षाकृत ऊँचे अनधिमान वक्र IC_2 की नवीन सन्तुलन स्थिति R पर पहुच जाएगा। इस प्रकार उसके सन्तोष अथवा कल्याण मे वृद्धि होगी। किन्तु R बिन्दु पर वह X वस्तु की OA की अपेक्षा अधिक मात्रा खरीद रहा है। किन्तु यदि X की OA मात्रा खरीदने के लिए उपभोक्ता प्रतिबन्धित है तो वह अपेक्षाकृत कम कीमत (अर्थात् कीमत रेखा PL_2) पर वस्तु को खरीदने के
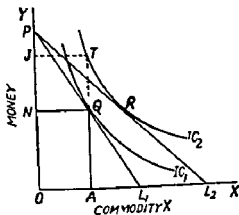
रेखाकृति 12 7 उपभोक्ता की बचत परिमाण समतुल्य परिवर्तन

अवसर का त्याग करने के लिए मुद्रा की QT मात्रा स्वीकार करेगा। इसका कारण है कि T संयोग R संयोग के समतुल्य है क्योंकि बिन्दु R पर उपभोक्ता X की अपेक्षाकृत कम कीमत पर पहुचता है। इस प्रकार QT कीमत समतुल्य परिवतन है। QT से मौद्रिक आय मे वृद्धि कल्याण मे वृद्धि के रूप मे कीमत मे दी हुई कमी के समतुल्य है।

उपभोक्ता की बचत की धारणा का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of the Concept of Consumer's Surplus)

मार्शल ने जब से अपने '*Principles of Economics*' मे उपभोक्ता की बचत को प्रस्तुत तथा विकसित किया तभी से इस धारणा की कडी आलोचना की जाती है। आलोचको ने इसे बिलकुल काल्पनिक, अवास्तविक तथा व्यर्थ कहा है। धारणा की अधिकाँश आलोचना माँग वक्र के नीचे क्षेत्रफल के रूप में मापने की मार्शलीय विधि के विरुद्ध की गयी है। तथापि कुछ आलोचको ने स्वय धारणा या विचार की भी प्रामाणिकता पर आपत्ति की है। उपभोक्ता के बचत की मार्शलीय धारणा की इसके अवास्तविक तथा सदेहास्पद मान्यताओ पर आधारित होने पर भी आलोचना की गयी है। हम इस विचार के विरु‍द्ध की गयी विभिन्न आलोचनाओ की नीचे व्याख्या करेंगे तथा उन्हें आलोचनात्मक रूप से मूल्यांकित करेंगे।

1 अनेक अर्थशास्त्रियो द्वारा यह निर्दिष्ट किया गया है कि उपभोक्ता के बचत की धारणा बिलकुल काल्पनिक तथा भ्रमात्मक है। उनका कहना है कि एक उपभोक्ता एक वस्तु के लिए अपनी आय की अपेक्षा अधिक भुगतान नही कर सकता है। एक व्यक्ति एक वस्तु अथवा वस्तुओ की अनेक सख्या के लिए जो अधिकतम धनराशि भुगतान कर सकता है वह उसकी मौद्रिक आय की मात्रा द्वारा सीमित होता है। और, जैसा कि सर्वविदित है, एक उपभोक्ता की अनेक सख्या मे आवश्यकताएँ होती हैं जिन पर उसे अपना मुद्रा को व्यय करना होता है। वस्तुओ पर उसके द्वारा वास्तव मे व्यय की गयी मुद्रा की कुल धनराशि उसकी कुछ मौद्रिक आय की अपेक्षा अधिक नही हो सकती। इस प्रकार खरीदी जाने वाली वस्तुओ की अनेक सख्या के लिए एक व्यक्ति जितना भुगतान करने को तैयार हो सकता है वह मौद्रिक आय की अपेक्षा अधिक नही हो सकती है। इस सन्दर्भ मे विचार करने पर वस्तुओ के अपने कुल क्रयो से उपभोक्ता को किसी भी प्रकार की उपभोक्ता की बचत प्राप्त करने का कोई प्रश्न नहीं हो सकता है। इस प्रकार प्रो० ए० के० दास गुप्ता लिखते हैं, 'उपभोक्ता की बचत का अर्थ सरल रूप मे समाप्य कीमत तथा वास्तविक कीमत के मध्य अन्तर मानते हुए, उदाहरण के लिए यूलिस गोबी (Ulisse Gobbi) ने तर्क दिया है कि अन्तिम विश्लेषण में यह बचत आवश्यक रूप मे शून्य तक कम हो जानी चाहिए। जब उपभोक्ता द्वारा किये जाने वाले क्रयों

की सम्पूर्णता का ध्यान किया जाता है तो वह जो कीमत भुगतान करने के लिए इच्छुक रहता है, वह उस कीमत के ठीक समान होती है जिसका वह वास्तव में भुगतान करता है क्योंकि दोनो मुद्रा की उस धन-राशि, जिस पर उसका अधिकार होता है अर्थात् उसकी आय द्वारा सीमित होते हैं। यदि एक व्यक्ति एक दी हुई आय से आरम्भ करता है तो उसकी सम्पूर्ण धन-राशि को एक वस्तु पर व्यय करने के लिए इच्छुक कल्पित किया जा सकता है। किन्तु जैसे जैसे वह वस्तु को अपेक्षाकृत कम धनराशि से प्राप्त करता है तो वह अन्य वस्तु पर व्यय करने को सोचता है। इस बार केवल वही देने का इच्छुक होगा जो (धनराशि) प्रथम वस्तु को खरीदने के पश्चात् शेष रहती है। और यदि फिर भी कोई अंतर (margin) उत्पन्न होता है तो वह तीसरी वस्तु पर व्यय करता है इत्यादि। जैसे-जैसे क्रियाओ की शृंखला को बढ़ाया जाता है प्रस्तावित कीमत (offer price) एवं वास्तविक कीमत के मध्य अन्तर तब तक कम होता जाता है जब तक कि उसके अन्तिम क्रय को पूरा करने से वह लुप्त नही हो जाता।"[1]

किन्तु हमारे विचार से उपर्युक्त आलोचना उपभोक्ता की बचत की धारणा मे समाविष्ट वास्तविक बात को भुला देती है। उपभोक्ता की बचत की धारणा का सार है कि उपभोक्ता वस्तुओ मे अपने क्रयो से आधिक्य मानसिक सन्तोष प्राप्त करता है। उपभोक्ता की बचत के समर्थको द्वारा यह तर्क-वितर्क नही किया जाता कि वह अपने क्रयो से मौद्रिक लाभ प्राप्त करता है। यह सत्य है कि अपनी सीमित मौद्रिक आय से उपभोक्ता अपने कुल क्रयो के लिए जो वास्तव म भुगतान करता है, उसकी अपेक्षा अधिक भुगतान नही कर सकता। किन्तु उसे अनुभव करने तथा सोचने से कोई नही रोक सकता कि वह उन वस्तुओं के लिए भुगतान की अपेक्षा उनमे अधिक सन्तोष प्राप्त करता है और यदि उसके पास साधन होते तो वह उनके लिए जो वास्तव मे भुगतान करता है उसकी अपेक्षा बहुत अधिक भुगतान करने के लिए तैयार हो गया होता।

2 उपभोक्ता की बचत के विरुद्ध अन्य आलोचना यह है कि यह इस अमान्य मान्यता पर आधारित है कि वस्तुओं की विभिन्न इकाइयाँ उपभोक्ता को भिन्न-भिन्न सन्तोष प्रदान करती हैं। हमने ऊपर व्याख्या की है कि मार्शल ने एक वस्तु से उपभोक्ता द्वारा प्राप्त उपभोक्ता की बचत की गणना किस प्रकार की। उपभोक्ता वस्तु की वह मात्रा खरीदता है जिस पर सीमान्त तुष्टिगुण उसकी कीमत के बराबर होता है। यह मान्यता है कि जैसे जैसे उपभोक्ता एक वस्तु की क्रमश अधिक इकाइयाँ प्राप्त करता है, इसका सीमान्त तुष्टिगुण घटता जाता है। इसका अर्थ है कि यद्यपि क्रय की सीमा पर वस्तु का सीमान्त तुष्टिगुण, उसकी कीमत के बराबर होता है किन्तु पहले की अन्तर्सीमान्त इकाइया के लिए सीमान्त तुष्टिगुण कीमत की अपेक्षा अधिक होता है और इन अन्तर्सीमान्त इकाइयो पर उपभोक्ता को उपभोक्ता की बचत प्राप्त होती है। अब आलोचक का कहना है कि जब एक उपभोक्ता वस्तु की इकाइयाँ प्राप्त करता है तो यह केवल सीमान्त इकाई का तुष्टिगुण ही नही वरन् उसके द्वारा प्राप्त की गयी सभी पहले की इकाइयो का भी तुष्टिगुण घटता है। इस प्रकार चूँकि एक वस्तु की सभी इकाइयाँ एक समान मानी जाती हैं सभी मे समान तुष्टिगुण होगा। और जब सीमा पर कीमत खरीदी गयी अन्तिम इकाई के सीमान्त तुष्टिगुण के बराबर है तो कीमत भी पहले की इकाइयो के तुष्टि-गुण के बराबर होगी और इसलिए उपभोक्ता कोई उपभोक्ता की बचत प्राप्त नही करेगा। इस प्रकार हमारी 11 1 तालिका म जब उपभोक्ता के पास वस्तु की 6 इकाइयाँ हैं तो सीमान्त तुष्टिगुण 10 के बराबर है तथा दी हुई कीमत के बराबर है। आलोचकों का तर्क है कि जब उपभोक्ता के पास 6 इकाइयाँ हैं तो यह केवल 6वी इकाई ही नही है जिसका तुष्टिगुण 10 होगा वरन् पहले की सभी 5 इकाइयो मे प्रत्येक 10 तुष्टिगुण प्रदान करेगी क्योंकि सभी इकाइयाँ एक समान हैं। 6 इकाइयों से प्राप्त होने वाला कुल तुष्टिगुण 60 रु० के बराबर होगा। वस्तु की 6 इकाइयो के लिए वह वास्तव मे जो कुल कीमत भुगतान करता है, वह भी 60 रु० है और इसलिए वह अपने क्रयो से कोई आधिक्य तुष्टिगुण प्राप्त नही करता है।

---

1 A K Das Gupta—*The Concept of Surplus in Theoretical Economics*

किन्तु यह आलोचना भी स्वीकार्य नहीं है क्योंकि एक वस्तु की सभी इकाइयों के एक समान होने पर भी वे उपभोक्ता को एक समान सन्तोष प्रदान नहीं करतीं। ज्योंही उपभोक्ता प्रथम इकाई लेता है तो वह उससे अपेक्षाकृत अधिक सन्तोष प्राप्त करता है और जब वह दूसरी इकाई लेता है तो वह उसे उतना सन्तोष प्रदान नहीं करती जितना कि प्रथम ने क्योंकि दूसरी इकाई लेते समय उसकी आवश्यकता के एक अंश की पहले ही सन्तुष्टि हो चुकी होती है। इसी प्रकार जब वह तीसरी इकाई लेता है तो वह उसे पहले की दो इकाइयों जितना सन्तोष प्रदान नहीं करेगी क्योंकि अब उसकी आवश्यकता का एक अंश दो इकाइयों द्वारा सन्तुष्ट हो चुका है। यदि हम उपर्युक्त आलोचना को स्वीकार करते हैं कि यह केवल सीमान्त इकाई का तुष्टिगुण ही नहीं वरन् पहले की इकाइयों का भी (तुष्टिगुण) घटता है तो हम ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण नियम को अस्वीकार करते हैं। जैसा कि पहले अध्याय में देखा जा चुका है, एक वस्तु से (प्राप्त) ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण आधारभूत मानव प्रवृत्ति की व्याख्या करता है तथा उपभोक्ता के वास्तविक व्यवहार के अवलोकन द्वारा भी अनुमोदित हो चुका है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, उपभोक्ता की बचत का विचार ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण से व्युत्पादित किया जाता है। यदि ह्रासमान सीमान्त तुष्टिगुण प्रामाणिक है तो उपभोक्ता की बचत के मार्शलीय विचार को चुनौती नहीं दी जा सकती।

3. उपभोक्ता की बचत की धारणा की इस आधार पर भी आलोचना की गयी है कि यह वस्तुओं के मध्य पारस्परिक निर्भरता अर्थात् स्थानापन्न तथा पूरक वस्तुओं के सम्बन्धों की उपेक्षा करता है। इस प्रकार यह संकेत किया जाता है कि यदि केवल चाय उपलब्ध होती तथा दूध, कहवा इत्यादि जैसे अन्य कोई स्थानापन्न पेय पदार्थ न होते तो उपभोक्ता स्थानापन्न पेय पदार्थों की उपस्थिति की अपेक्षा बहुत अधिक कीमत भुगतान करने के लिए तैयार हो गया होता। इस प्रकार एक वस्तु से प्राप्त की जाने वाली उपभोक्ता की बचत की मात्रा स्थानापन्नों की प्राप्ति पर निर्भर करती है। इसका कारण यह है कि यदि केवल चाय उपलब्ध होती तो उपभोक्ता का कोई चयन नहीं होगा तथा वह भयभीत होगा कि यदि वह चाय प्राप्त नहीं करता है तो वह किसी अन्य वस्तु से अपनी आवश्यकता की सन्तुष्टि नहीं कर सकता। अत: वह चाय के एक प्याले के बिना जाने के बजाय उसके लिए अपेक्षाकृत अधिक भुगतान करने को इच्छुक होगा। किन्तु यदि चाय के स्थानापन्न उपलब्ध हैं तो वह उतनी अधिक कीमत भुगतान करने के लिए तैयार नहीं होगा क्योंकि वह सोचेगा कि यदि वह चाय से वंचित रह जाता है तो वह दूध तथा कहवा जैसे अन्य स्थानापन्न पेय पदार्थों को प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार यह कहा जाता है कि उपभोक्ता की बचत निश्चित, यथार्थ तथा स्पष्ट नहीं है, यह स्थानापन्नों की प्राप्ति पर निर्भर करता है। विभिन्न उपभोक्ताओं के लिए विभिन्न वस्तुओं के मध्य स्थानापन्नता का अंश (degree of substitutability) भिन्न-भिन्न होता है और यह उपभोक्ता की बचत की धारणा को थोड़ा अस्पष्ट तथा अनिश्चित बना देता है। मार्शल इस कठिनाई से परिचित थे जिसे दूर करने के लिए उन्होंने सुझाव दिया कि उपभोक्ता की बचत को मापने के लिए चाय तथा कहवा जैसी स्थानापन्न वस्तुओं को एक साथ सम्मिलित कर दिया जाय तथा एक अकेली वस्तु के रूप में समझा जाय। किन्तु यह सुझाव अनेक अर्थशास्त्रियों द्वारा सन्तोषजनक नहीं माना जाता है।

4. प्रो० निकलसन ने उपभोक्ता की बचत की धारणा को काल्पनिक कहा है। वे लिखते हैं "यह कहने का क्या महत्त्व है कि £100 वार्षिक आय का तुष्टिगुण £1000 वार्षिक के मूल्य के बराबर है।" प्रो० निकोलसन तथा अन्य आलोचकों के अनुसार किसी वस्तु के बिना जाने के बजाय उपभोक्ता कितनी कीमत भुगतान करने के लिए इच्छुक होगा, यह कहना कठिन है। इसका कारण है कि उपभोक्ता बाजार में जब वह वस्तुओं को खरीदता ; इस प्रश्न का सामना नहीं करता है उसे वह कीमत स्वीकार तथा भुगतान करनी पड़ती है जो कि बाजार में प्रचलित होती है। उसके लिए यह कहना बहुत कठिन है कि वह उसके बिना जाने के बजाय कितना अधिक भुगतान करने को तैयार होगा। किन्तु, हमारे विचार में यह आलोचना केवल यह संकेत करती है कि उपभोक्ता की बचत को स्पष्ट रूप से मापना

कठिन है। यह कि उपभोक्ता वस्तु के लिए जो भुगतान करता है वह उसकी अपेक्षा वस्तु से अतिरिक्त मानसिक सन्तोष प्राप्त करता है, (यह) अस्वीकार करने योग्य नहीं है। इसके अतिरिक्त जैसा कि जे० आर० हिक्स ने संकेत किया है, "उपभोक्ता की बचत को समझने की सर्वोत्तम विधि इसे कीमत में कमी के परिणामस्वरूप मौद्रिक आय के रूप में (उस) लाभ को व्यक्त करने के साधन के रूप में मानना है जो कि एक उपभोक्ता को प्राप्त होता है।"[1] जब एक वस्तु की कीमत गिरती है तो उपभोक्ता की मौद्रिक आय दी हुई होने पर कीमत रेखा दाहिनी ओर विवर्तित हो जायगी और उपभोक्ता अपेक्षाकृत ऊँचे अनधिमान वक्र पर सन्तुलन में होगा और परिणामस्वरूप उसके सन्तोष में वृद्धि होगी। इस प्रकार उपभोक्ता वस्तु की मौलिक अपेक्षाकृत अधिक कीमत की अपेक्षा कम कीमत पर अपेक्षाकृत अधिक सन्तोष प्राप्त करता है। इसका अभिप्राय यह है कि एक वस्तु की कीमत में कमी और इसलिए अपेक्षाकृत सस्ती कीमत पर वस्तु की प्राप्ति उपभोक्ता के सन्तोष में वृद्धि करती है और यह वास्तव में वस्तु की कीमत में परिवर्तन द्वारा उत्पन्न उपभोक्ता की बचत में परिवर्तन है। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, हिक्स ने वस्तु की कीमत में कमी से उपभोक्ता को प्राप्त होने वाले लाभ के दृष्टिकोण से विचार करते हुए उपभोक्ता की बचत के विचार को और आगे बढ़ाया है। इसके अतिरिक्त उपभोक्ता की बचत की धारणा लाभदायक तथा सार्थक है, अवास्तविक नहीं क्योंकि यह संकेत करती है कि सभ्य नगरों तथा उपनगरों में प्राप्त सुख सुविधाओं के प्रयोग से वह *अतिरिक्त सन्तोष तथा लाभ प्राप्त करता है।*

5 उपभोक्ता की बचत की धारणा की इस आधार पर भी आलोचना की गयी है कि यह तुष्टिगुण की गणनावाचक मापनीयता तथा मुद्रा के सीमान्त तुष्टिगुण की स्थिरता की मान्यताओं पर आधारित है। आलोचकों का मत है कि तुष्टिगुण एक मानसिक तत्त्व है तथा इसे परिमाणात्मक गणनावाचक रूप में मापा नहीं जा सकता। इस दृष्टिकोण से उनका विचार है कि उपभोक्ता की बचत को माँग वक्र के अन्तर्गत क्षेत्रफल द्वारा मापा नहीं जा सकता जैसा कि मार्शल ने किया है। इसका कारण है कि मार्शल का माँग वक्र सीमान्त तुष्टिगुण पर आधारित है जिसके खींचने में यह मान्यता स्वीकार की गयी है कि तुष्टिगुण गणनावाचक रूप में मापनीय है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि पहले के अध्यायों में व्याख्या की जा चुकी है, मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता द्वारा मार्शल ने कीमत परिवर्तन के आय प्रभाव की उपेक्षा की। वास्तव में, अधिकांश वस्तुओं की स्थिति में कीमत परिवर्तन का आय प्रभाव नगण्य होता है और प्रामाणिक रूप में उपेक्षित *किया जा सकता है किन्तु खाद्यान्न जैसी कुछ* महत्त्वपूर्ण वस्तुओं की स्थिति में कीमत परिवर्तन का आय प्रभाव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है और प्रामाणिक रूप में उपेक्षित नहीं किया जा सकता। इसलिए आय प्रभाव की उपेक्षा करते हुए माँग वक्र के अन्तर्गत क्षेत्रफल के रूप में माप की मार्शलीय विधि पूर्णतया ठीक नहीं है। फिर भी यह उपभोक्ता की बचत की धारणा को अमान्य सिद्ध नहीं करता है। जैसा कि ऊपर व्याख्या की जा चुकी है, जे० आर० हिक्स अपने क्रमवाचक तुष्टिगुण विश्लेषण की अनधिमान वक्र विधि की सहायता से उपभोक्ता की बचत का मौद्रिक माप प्रदान करने में समर्थ हुए हैं जो तुष्टिगुण के गणनावाचक माप तथा मुद्रा के स्थिर सीमान्त तुष्टिगुण की मान्यता को स्वीकार नहीं करती है। हिक्स ने उपभोक्ता की बचत की धारणा को न केवल पुनः प्रतिष्ठित किया है वरन् उसे और आगे बढ़ाया तथा *विकसित किया है।*

उपभोक्ता की बचत की धारणा का महत्त्व
(Importance of the Concept of Consumer's Surplus)

उपभोक्ता की बचत की धारणा का सरकार तथा वस्तुओं के उत्पादकों, विशेषकर एकाधिकारियों द्वारा आर्थिक नीतियों के निर्माण में अत्यधिक व्यावहारिक महत्त्व है। हम उपभोक्ता की बचत के कुछ महत्त्वपूर्ण उपयोगों की आगे व्याख्या करते हैं।

1. J. R. Hicks *Value and Capital*, Oxford University Press.

1 सर्व प्रथम, उपभोक्ता की बचत बिलकुल स्पष्ट रूप से व्यक्त करती है कि एक वस्तु के लिए उपभोक्ता जो कीमत भुगतान करता है वह उससे प्राप्त होने वाले सन्तोष अथवा तुष्टिगुण की ठीक प्रकार से माप नही करती। तुष्टिगुण प्राय उनके लिए भुगतान की गयी कीमत की अपेक्षा अधिक होता है। एडम स्मिथ ने 'उपयोग मूल्य' (value in-use) तथा विनिमय मूल्य (value-in-exchange) के मध्य अन्तर पर अधिक बल दिया तथा बताया कि एक वस्तु का उपयोग मूल्य, विनिमय मूल्य की अपेक्षा बहुत अधिक होता है। एक वस्तु का *उपयोग मूल्य* उस तुष्टिगुण या सन्तोष को व्यक्त करता है जो वह (वस्तु) उपभोक्ता को प्रदान करता है *जबकि विनिमय मूल्य* का अर्थ उपभोक्ता द्वारा भुगतान की गयी कीमत से होता है। दोनो के मध्य का अन्तर वस्तु के उपभोग से उपभोक्ता द्वारा प्राप्त की जाने वाली उपभोक्ता की बचत की मात्रा है। दैनिक जीवन म नमक, दियासलाई तथा समाचार पत्र जैसी अनेक वस्तुएँ ऐसी है जिनका तुष्टिगुण या उपयोग मूल्य उस कीमत की अपेक्षा बहुत अधिक होता है जिसका लोग वास्तव म उनके लिए भुगतान करते हैं। यह प्रदर्शित करता है कि ये वस्तुएँ लोगो को अत्यधिक उपभोक्ता की बचत प्रदान करती हैं। आधुनिक सम्य क्षेत्रो मे रहने वाले लोग अनेक सुख साधन तथा मनोरजन की सुविधाएँ प्राप्त करते हैं जिनसे उन्हे यदि वचित किया जाता है तो वे उनके लिए अपेक्षाकृत बहुत अधिक कीमतें देने के लिए तैयार होगे। प्रो० सैमुएल्सन ठीक ही टिप्पणी करते हैं कि 'देखने की महत्वपूर्ण बात यह है कि आधुनिक कुशल समुदायो के नागरिक वास्तव मे कितने सौभाग्यशाली हैं। वस्तुओ के विस्तृत समूह को अपेक्षाकृत कम कीमतो पर खरीदने मे समर्थ होने की सुविधा को अस्वीकार नही किया जा सकता।"[1] इस प्रकार उपभोक्ता के बचत की धारणा स्पष्ट रूप से वस्तु के उपयोग मूल्य तथा विनिमय मूल्य मे अन्तर व्यक्त करती है तथा स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करती है कि वस्तुओ के उपभोग से प्राप्त होने वाला कल्याण उनके लिए भुगतान की गयी कीमत की अपेक्षा अधिक होता है।

1. P A. Samuelson, *Economics*, McGraw Hill, 8th edition 1970, p 418

2 राजकोषीय नीति के निर्माण मे महत्व

मार्शल ने सरकार द्वारा उचित राजकोषीय नीति प्रस्तुत करने के लिए उपभोक्ता की बचत को प्रयुक्त किया, जो लोगो के कल्याण को अधिकतम करेगी। मार्शल ने पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकालीन सन्तुलन स्थिति को अधिकतम सन्तोष सुनिश्चित करने के रूप मे स्वीकार किया। इससे
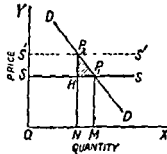
रेखाकृति 12·8

उन्होंने सिद्ध किया कि वर्धमान लागत उद्योग के पदार्थ पर करारोपण तथा ह्रासमान लागत उद्योग को आर्थिक उपदान देने से समुदाय के कुल कल्याण मे वृद्धि होगी। हम नीचे प्रदर्शित करेंगे कि किस प्रकार वर्धमान लागत उद्योग पर करारोपण तथा इस प्रकार प्राप्त मुद्रा को ह्रासमान लागत उद्योग को आर्थिक उपदान प्रदान करने म व्यय करने पर सामाजिक कल्याण मे
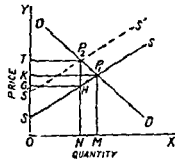
रेखाकृति 12 9

वृद्धि होगी। सर्वप्रथम, हम करारोपण की स्थिति को देखेंगे। रेखाकृति 12 8 पर विचार कीजिए जो स्थिर लागत-उद्योग की स्थिति को प्रदर्शित करती है। *DD* तथा *SS* वस्तु की माँग तथा पूर्ति वक्र हैं जो P_1 बिंदु

पर एक दूसरे का प्रतिच्छेद करते हैं, परिणामस्वरूप सन्तुलन कीमत MP_1 तथा सन्तुलन मात्रा OM निर्धारित होती है। किसी सरकारी हस्तक्षेप की अनुपस्थिति में यह अधिकतम कल्याण की स्थिति है। अब माना कि उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु पर SS' के बराबर करारोपण किया जाता है। SS' प्रति इकाई कर के कारण पूर्ति वक्र ऊपर की ओर $S'S'$ की स्थिति को विवर्तित हो जाता है। माँग वक्र के पूर्ववत् रहने पर करारोपण के परिणामस्वरूप कीमत NP_2 को बढ़ जायगी। रेखाकृति 12 8 से यह देखा जा सकता है कि कीमत म वृद्धि होने के परिणामस्वरूप उपभोक्ता को SP_1P_2S' क्षेत्रफल के बराबर उपभोक्ता की बचत की हानि सहन करनी पड़ती है। बेची गयी मात्रा ON अथवा SH तक घट गयी है। अत सरकार द्वारा एकत्रित कुल कर SHP_2S' के बराबर होगा। रेखाकृति म यह देखा जा सकता है कि सरकार द्वारा एकत्रित कर की मात्रा की अपेक्षा उपभोक्ता की बचत मे हानि अधिक होती है। अत यह समाज कल्याण के हित मे नही है कि स्थिर लागत उद्योग पर करारोपण किया जाय।

अब रेखाकृति 12 9 पर विचार कीजिए जो वर्धमान लागत उद्योग की स्थिति को प्रदर्शित करता है क्योंकि पूर्ति वक्र ऊपर की ओर उठ रहा है। कल्पना कीजिए कि इस उद्योग के पदार्थ पर SS' के बराबर प्रति इकाई कर लगाया जाता है। इसके परिणामस्वरूप पूर्ति वक्र ऊपर की ओर $S'S'$ की स्थिति को विवर्तित हो जायगा तथा कीमत MP_1 से बढ़कर NP_2 हो जायगी। रेखाकृति 12 9 से यह स्पष्ट है कि उपभोक्ता को KP_1P_2T क्षेत्रफल के बराबर उपभोक्ता की बचत मे हानि सहन करनी पड़ेगी। किन्तु यह देखा जा सकता है कि माँगी तथा पूर्ति की नयी मात्रा घट कर ON या OH हो जायगी और इसलिए सरकार द्वारा एकत्रित कर OHP_2T के बराबर होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सरकार द्वारा एकत्रित कर OHP_2T उपभोक्ता द्वारा सहन की जाने वाली उपभोक्ता की बचत म हानि, जो KP_1P_2T के बराबर है, की अपेक्षा अधिक है। इसलिए वर्धमान लागत-उद्योग पर करारोपण होना चाहिए तथा कर से एकत्रित मुद्रा का ह्रासमान लागत उद्योग को प्रार्थिक उपदान प्रदान करने मे प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

अब ह्रासमान लागत उद्योग के पदार्थ पर एक प्रति इकाई करारोपण की स्थिति पर विचार कीजिए जो रेखाकृति 12 10 मे प्रदर्शित है। ऊपर की दो स्थितियो के समान प्रति इकाई करारोपण पूर्ति वक्र को ऊपर की ओर उठाता है तथा माँगी एव बेची गयी सन्तुलन मात्रा को ON तक कम कर देता है। रेखाकृति 12 10 से देखा जा सकता है कि इस स्थिति मे एकत्रित कुल कर $FETP_2$ उपभोक्ता की बचत मे KP_1P_2T के बराबर हानि की अपेक्षा कम है। इसलिए सामाजिक कल्याण के दृष्टिकोण से इस प्रकार के उद्योग के पदार्थ पर करारोपण करना लाभदायक नहीं है। अब उद्योगों को प्रार्थिक सहायता प्रदान करने की स्थिति पर विचार कीजिए जिसे रेखाकृतियों 12 11, 12 12

रेखाकृति 12 10

रेखाकृति 12 11

तथा 12.13 मे प्रदर्शित किया गया है। रेखाकृति 12.11 पर विचार कीजिए जो स्थिर लागत उद्योग की स्थिति को प्रदर्शित करती है। किसी आर्थिक उपदान की अनुपस्थिति मे माँग तथा पूर्ति वक्र क्रमश DD तथा SS हैं और दोनो के मध्य सन्तुलन MP कीमत तथा OM मात्रा निर्धारित करता है। कल्पना कीजिए कि सरकार द्वारा वस्तु की प्रति इकाई SS' के बराबर आर्थिक उपदान स्वीकृत किया जाता है। परिणामस्वरूप पूर्ति वक्र नीचे की ओर $S'S'$ की स्थिति को विवर्तित हो जायगा तथा कीमत HP' तक कम हो जाएगी तथा माँगी एव बेची गयी मात्रा OH तक बढ जायगी। रेखाकृति से यह स्पष्ट है कि कीमत के MP से HP' तक कम होने से उपभोक्ता को $SPP'S'$ क्षेत्रफल के बराबर उपभोक्ता की बचत मे लाभ होगा। किन्तु खरीदी तथा बेची गयी मात्रा OH होने पर सरकार $SBP'S'$ के बराबर कुल आर्थिक उपदान का भुगतान करेगी जो कि उपभोक्ता द्वारा प्राप्त की जाने वाली उपभोक्ता की बचत मे लाभ की अपेक्षा अधिक है। इसलिए इस प्रकार के उद्योग के पदार्थ पर आर्थिक उपदान प्रदान करना सामाजिक कल्याण मे सहायक नही है।

उपदान स्वीकृत किया जाता है और पूर्ति वक्र नीचे की ओर बिंदु रेखीय स्थिति $S'S'$ को विवर्तित हो जाता है। इसके कारण कीमत HP' तक कम हो जायगी तथा माँगी एव बेची गयी मात्रा OH तक बढ जायगी। रेखाकृति 12.12 से यह देखा जा सकता है कि सरकार कुल $KBP'G$ के बराबर आर्थिक सहायता का भुगतान करेगी किन्तु उपभोक्ताओ को उपभोक्ता की बचत मे $APP'G$ के बराबर लाभ होगा। स्पष्टतया, उपभोक्ता की बचत मे लाभ सरकार द्वारा स्वीकृत कुल आर्थिक सहायता की अपेक्षा बहुत कम है। इसलिए यह भी सरकार द्वारा आर्थिक उपदान स्वीकृत किये जाने की एक उचित स्थिति नही है क्योंकि यह सामाजिक कल्याण मे वृद्धि नही करेगी।

अब रेखाकृति 12.13 पर विचार कीजिए जो ह्रासमान लागत उद्योग की स्थिति को प्रदर्शित करता है। इस उद्योग को आर्थिक सहायता स्वीकृत करने के परिणामस्वरूप कीमत MP से HP' तक कम हो जाती है और सरकार $GP'BK$ के बराबर कुल आर्थिक उपदान स्वीकृत करेगी जबकि उपभोक्ता की बचत मे लाभ $APP'G$ के बराबर होगा। यह स्पष्ट है कि उप-

रेखाकृति 12.12

रेखाकृति 12.13

अब रेखाकृति 12.12 पर विचार कीजिए जो वर्धमान लागत उद्योग की स्थिति को प्रदर्शित करता है। किसी आर्थिक सहायता की अनुपस्थिति मे माँग तथा पूर्ति वक्र के क्रमश DD तथा SS दिये हुए होने पर सन्तुलन कीमत MP तथा सन्तुलन मात्रा ON है। कल्पना कीजिए कि SS के बराबर प्रति इकाई आर्थिक

भोक्ता की बचत मे लाभ सरकार द्वारा स्वीकृत आर्थिक सहायता की अपेक्षा अधिक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि वर्धमान लागत उद्योग के पदार्थ पर करारोपण द्वारा एकत्रित कर की धनराशि को ह्रासमान-लागत उद्योग के पदार्थ पर आर्थिक उपदान प्रदान करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है तो समाज के कुल सन्तोष

अथवा कल्याण में शुद्ध वृद्धि होगी क्योंकि करारोपण के परिणामस्वरूप उपभोक्ता की बचत में ह्रास ... ह्रास-मान लागत उद्योग के पदार्थ पर आर्थिक सहायता की स्वीकृति के परिणामस्वरूप उपभोक्ता की बचत वृद्धि की अपेक्षा कम होगी।

राजकोषीय नीति के क्षेत्र में उपभोक्ता की बचत की धारणा का अन्य प्रयोग यह प्रदर्शित करता है कि अप्रत्यक्ष कर का भार प्रत्यक्ष कर की अपेक्षा अधिक होता है। इसलिए अनेक अर्थशास्त्रियों का दृढ़ कथन है कि संसाधनों के अनुकूलतम आवंटन अथवा सामाजिक कल्याण के दृष्टिकोण से अप्रत्यक्ष कर की तुलना में प्रत्यक्ष कर श्रेष्ठ होता है। यह रेखाकृति 12.14 की सहायता से सिद्ध किया जा सकता है जो स्थिर लागत
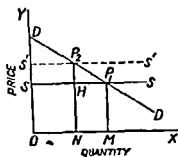
रेखाकृति 12.14

उद्योग की स्थिति को प्रदर्शित करती है। माँग तथा पूर्ति वक्र DD तथा SS दिये होने पर MP_1 कीमत तथा OM सन्तुलन मात्रा निर्धारित होती है। यह करारोपण के पहले की स्थिति है तथा लोगों के अधिकतम सन्तोष अथवा कल्याण को प्रदर्शित करती है। अब यदि वस्तु की प्रति इकाई SS' के बराबर अप्रत्यक्ष कर लगाया जाता है तो पूर्ति वक्र ऊपर की ओर $S'S'$ की स्थिति को विवर्तित हो जायगा। परिणामस्वरूप कीमत NP_2 तक बढ़ जायगी तथा माँगी एवं बेची गयी मात्रा ON तक कम हो जायगी। जैसा कि ऊपर व्याख्या की जा चुकी है कि इस स्थिति में सरकार द्वारा एकत्रित कर SHP_2S' के बराबर होगा। किन्तु उपभोक्ता द्वारा उपभोक्ता की बचत में सहन की जाने वाली हानि $S'P_2P_1S$ के बराबर होगी। अब यदि सरकार SHP_2S' के बराबर धनराशि प्रत्यक्ष कर, उदाहरणार्थ आय कर द्वारा प्राप्त कर लेती है तो लोगों को P_2P_1H क्षेत्रफल के बराबर हानि सहन नहीं करनी पड़ेगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एक प्रत्यक्ष कर अप्रत्यक्ष कर की अपेक्षा कल्याण में कम हानि उत्पन्न करता है। तथापि यह स्मरणीय है कि यह निष्कर्ष इस मान्यता पर आधारित है कि करारोपण के पहले कुल कल्याण अधिकतम है।

3 एकाधिकारी द्वारा कीमत निर्धारण में महत्त्व

एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण में उपभोक्ता की बचत की धारणा बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि सर्वविदित है कि एकाधिकारी अपने पदार्थ की कीमत पर नियन्त्रण रखता है। इसके अतिरिक्त, एकाधिकारी कीमतों में भी विभेद कर सकता है अर्थात् विभिन्न उपभोक्ताओं अथवा पदार्थ की विभिन्न इकाइयों के लिए वह भिन्न-भिन्न कीमतें वसूल कर सकता है। कीमत निर्धारित करते समय एकाधिकारी को उस उपभोक्ता की बचत को ध्यान में रखना होता है जो कि क्रेता वस्तु से प्राप्त कर रहे होते हैं। यदि वह पूर्ण कीमत विभेदीकरण में आसक्त होने की स्थिति में होता है तो वह अपने पदार्थ की प्रत्येक इकाई के लिए इतनी कीमत वसूल करेगा कि उपभोक्ता के लिए किसी प्रकार की उपभोक्ता की बचत शेष न रह।

4 वस्तुओं के विनिमय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ

उपभोक्ता के बचत की धारणा स्पष्ट रूप से उस लाभ को भी व्यक्त करती है जिसे लोग वस्तुओं के विनिमय, विशेषतया अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त करते हैं। यदि एक व्यक्ति खरीदी जाने वाली वस्तु से ठीक उतना ही तुष्टिगुण प्राप्त करता है जितना कि वह उसके लिए कीमत भुगतान करता है तो यह सम्भव है कि यह विनिमय नहीं होगा क्योंकि यह क्रेता को लाभ नहीं पहुँचाता है। इस तथ्य कि क्रेता वस्तु के लिए भुगतान की जाने वाली कीमत की अपेक्षा उससे अधिक सन्तोष प्राप्त करता है, का यह अर्थ है कि वह अपने क्रय से शुद्ध लाभ प्राप्त करेगा। इस प्रकार यह प्रदर्शित करता है कि अनेक विनिमय क्यों

किए जाते हैं। ठीक इसी प्रकार उपभोक्ता की बचत की धारणा भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभों को व्यक्त करती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा एक देश वस्तुओं को उस कीमत जिसे वे उनके लिए भुगतान करने को तैयार होते हैं से कम कीमत पर प्राप्त करता है। सामान्यतया, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तब किया जाता है जबकि विभिन्न देश उन वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण करते है जिनमे उनको श्रेष्ठतर सापेक्ष लाभ होता है। अत एक देश उन वस्तुओं का निर्यात करता है जिनमे उसको सापेक्ष लाभ होता है तथा उन वस्तुओं का आयात करता है जिनमे अन्य (देशो) को सापेक्ष लाभ होता है। उपभोक्ता की बचत सन्तोष के रूप में उन लाभो का माप करती है जो कि विभिन्न देशों के लोग विदेशी व्यापार द्वारा प्राप्त करेंगे। सामान्यतया, वे जिन वस्तुओं का आयात करते हैं उनके लिए वे जो (कीमत) वास्तव मे भुगतान करते हैं उसकी अपेक्षा अधिक भुगतान करने के लिए तैयार होते हैं।

5 लागत-लाभ विश्लेषण (Cost-Benefit Analysis) मे उपयोग

हाल ही मे, उपभोक्ता की बचत के अनुमानो को निवेश परियोजनाओ के विभिन्न लागत-लाभ विश्लेषणों मे लाभ के रूप मे स्वीकार किया गया है। आधुनिक युग मे किसी विशिष्ट परियोजना में निवेश की वांछनीयता का निर्णय करने के लिए लागत-लाभ विश्लेषण बहुत लोकप्रिय हो गया है। यह अवश्य है कि लागत-लाभ विश्लेषण मे लागत तथा लाभ का अर्थ केवल मौद्रिक लागतो तथा मौद्रिक लाभों से ही नहीं वरन् सन्तोष तथा ससाधनो के रूप मे वास्तविक लागतो तथा वास्तविक लाभो से होता है। पुल, सडक, पार्क, बाँध इत्यादि से प्राप्त होने वाली प्रत्याशित उपभोक्ता की बचत की मात्रा को इन परियोजनाओ से प्रवाहित होने वाले महत्वपूर्ण लाभो के रूप मे समझा जाता है। "एक नवीन मोटर मार्ग अथवा घुमाव (flyover) के लाभो को उन मोटरधारको द्वारा समय तथा ईंधन की प्रत्याशित बचत से अनुमानित किया जाता है जो कि नवीन सडक अथवा घुमाव का प्रयोग करेंगे। लागत-बचत की धारणा प्रत्यक्ष रूप में उपभोक्ता की बचत की धारणा से व्युत्पादित की गयी है।""""इस प्रकार विचारगत नवीन घुमाव (New flyover) के समारम्भ के पूर्व इस विशिष्ट मार्ग का प्रयोग करने से उपभोक्ता की बचत प्रासंगिक माँग वक्र के अन्तर्गत वह त्रिभुज है जो उस अधिकतम धनराशि को मापती है जो मोटर-धारक उस धनराशि से अधिक भुगतान करने के लिए इच्छुक है जिसे वे वर्तमान मे यात्रा पर व्यय करते हैं।"[1]

हम ऊपर देख चुके है कि उपभोक्ता की बचत की धारणा एक व्यक्ति तथा एक विशिष्ट वस्तु के सन्दर्भ मे सार्थक तथा लाभप्रद विचार है। किन्तु यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि लागत-लाभ सगणना पर आधारित निवेश परियोजनाओ के चुनाव जैसी आर्थिक नीतियो के निर्माण के लिए साधन के रूप मे उपभोक्ता की बचत की धारणा का प्रयोग करने के लिए विभिन्न आय समूहो से सम्बन्धित विभिन्न उपभोक्ताओ द्वारा परियोजना अथवा वस्तु से प्राप्त होने वाली उपभोक्ता की बचतो के योगीकरण की आवश्यकता होती है। विभिन्न व्यक्तियो की उपभोक्ता की बचतो की तुलना एव योगीकरण प्रामाणिक रूप से किया जा सकता है यदि एक रुपये के मूल्य की उपभोक्ता की बचत विभिन्न व्यक्तियो के लिए एक समान होती है। परन्तु, यह इस मान्यता पर आधारित है कि सभी व्यक्तियो के लिए, उनकी आय के आकार पर ध्यान दिये बिना अर्थात उनकी आय का आकार चाहे जो हो, मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण एक समान होता है। यह हमे तुष्टिगुण की अन्तर्वैयक्तिक तुलना मे पहुचा देती है जिसे वैज्ञानिक तथा न्यायसगत नही माना जाता है।

---

1 "The benefit of a new motor way or flyover is estimated by reference to expected savings of time and the cost of fuel by all motorists who will make use of the new road or flyover The concept of cost saving, however, is derived directly from the concept of consumer's surplus . Thus prior to the introduction of say the new flyover in question, the consumer's surplus from using this particular route is the triangle under the relevant demand curve which measures the maximum sum motorists are willing to pay above the amount they currently spend on the journey "

E. J Mishan—*Cost Benefit Analysis*, George Allen and Unwin Ltd

भाग 3
उत्पादन तथा लागत सिद्धान्त
(THE THEORY OF PRODUCTION AND COST)

13

उत्पादन का सिद्धान्त
(THEORY OF PRODUCTION)

अभी तक हम कीमत निर्धारण के माँग पक्ष का विवेचन करते रहे हैं। इस वर्तमान अध्याय तथा कुछ अगले अध्यायों मे हम पदार्थ के पूर्ति पक्ष के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करेंगे। किसी पदार्थ की पूर्ति उत्पादन की लागत (*cost of production*) पर निर्भर करती है और यह उत्पादन की लागत (क) साधनों तथा उत्पादन में भौतिक एवं तकनीकी सम्बन्धों (physical and technical relationships between inputs and outputs) तथा (ख) साधनों की कीमतों पर निर्भर करती है। साधनों तथा उत्पादन में तकनीकी सम्बन्ध का किसी पदार्थ की उत्पादन लागत को निर्धारित करने मे बड़ा महत्त्व है। साधनों तथा उत्पादन में ये भौतिक अथवा तकनीकी सम्बन्ध ही उत्पादन के सिद्धान्त (Theory of Production) का विषय हैं।

उत्पादन के सिद्धान्त की कीमत के सिद्धान्त मे द्विविध भूमिका (double role) है। प्रथम, यह पदार्थ की उत्पादन मात्रा तथा लागतों के बीच सम्बन्ध का आधार है। लागतें पदार्थ की पूर्ति को निश्चित करती हैं, जो कि वस्तु की माँग मे क्रिया द्वारा, पदार्थ की कीमत को निर्धारित करती हैं। दूसरे, उत्पादन का सिद्धान्त फर्म द्वारा साधनों की माँग के विश्लेषण का आधार है क्योंकि फर्म द्वारा किसी साधन की माँग उसके सीमान्त उत्पादन अथवा उत्पादकता (marginal product or productivity) पर निर्भर करती है और यह *साधनों की माँग, उनकी पूर्ति से क्रिया करके, साधनों* की कीमतों (prices of factors) को निर्धारित करती है। साधनों की कीमतें पदार्थों की लागतों को प्रभावित करके उनकी कीमतों को निश्चित करने मे महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पादन का सिद्धान्त पदार्थों की कीमत निर्धारण (pricing of products) और साधनों की कीमत निर्धारण (pricing of factors) जिसे वितरण सिद्धान्त (theory of distribution) भी कहते हैं, के बीच कड़ी (link) का कार्य करता है।

एक फर्म के साधनों तथा उसके उत्पादन के बीच सम्बन्ध को उत्पादन फलन (production function) कहते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उत्पादन के सिद्धान्त मे उत्पादन फलन का अध्ययन किया जाता है। एक फर्म के उत्पादन फलन का अध्ययन हम कुछ साधनों की मात्राओं को स्थिर रख कर तथा अन्य की मात्राओं

को बढ़ा कर कर सकते हैं। ऐसा हम "विविध अनुपात के नियम" (Law of Variable Proportions) के अन्तर्गत करते हैं। फर्म के उत्पादन फलन का अध्ययन किसी पदार्थ के उत्पादन में प्रयोग होने वाले सभी साधनों को बढ़ा कर भी करते हैं और इसका अध्ययन आर्थिक सिद्धान्त में पैमाने के प्रतिफल (returns to scale) के अन्तर्गत किया जाता है। इस प्रकार, उत्पादन के सिद्धान्त में हम (क) विविध अनुपात के नियम तथा (ख) पैमाने के प्रतिफल के नियमों की विवेचना करते हैं। इसके अतिरिक्त, उत्पादन के सिद्धान्त में इस बात की भी व्याख्या की जाती है कि एक फर्म पदार्थ की एक दी गई मात्रा उत्पादित करने के लिए साधनों के किस संयोग (Combination of factors) का प्रयोग करेगी जिससे उसकी लागत न्यूनतम हो।

वर्तमान अध्याय में हम विविध अनुपात के नियम की तथा अगले अध्याय में सम उत्पाद वक्रों (equal product curves) की सहायता से साधनों के न्यूनतम लागत जोड़ तथा पैमाने के प्रतिफल की व्याख्या करेंगे।

उत्पादन-सिद्धान्त का महत्त्व एवं सार्थकता (Importance and Relevance of the Theory of Production)

उत्पादन सिद्धान्त का कीमत सिद्धान्त में दोहरा महत्त्व है। प्रथम, उत्पादन सिद्धान्त उत्पादन की मात्रा तथा लागत में परस्पर सम्बन्ध का आधार है। लागतों से पदार्थ की पूर्ति निर्धारित होती है जो कि पदार्थ की माँग से अन्तर्क्रिया द्वारा पदार्थ की कीमत को निश्चित करती है। द्वितीय, उत्पादन सिद्धान्त से फर्म द्वारा उत्पादन के साधनों की माँग का भी विश्लेषण होता है और उत्पादन साधनों की माँग तथा उनकी पूर्ति उनकी कीमतों को निर्धारित करते हैं। उत्पादन साधनों की कीमतें उत्पादन लागत को प्रभावित करने से पदार्थों के मूल्य निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

उत्पादन-सिद्धान्त का फर्म के सिद्धान्त (Theory of Firm) के लिए भी बड़ा महत्त्व है। फर्म का सिद्धान्त लाभ अधिकतम के उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाय से सम्बन्धित है। उत्पादन मात्रा जिस पर कि अधिकतम लाभ अर्जित किए जायेंगे माँग दशाओं (अर्थात् औसत तथा सीमान्त आय) के अतिरिक्त औसत तथा सीमान्त लागत पर निर्भर करती है। उत्पादन में वृद्धि के परिणामस्वरूप औसत तथा सीमान्त लागत में परिवर्तन साधनों की कीमतों के अतिरिक्त उत्पादन तथा साधनों में परस्पर भौतिक सम्बन्ध द्वारा निश्चित होता है।

उत्पादन सिद्धान्त का वितरण सिद्धान्त (Theory of Distribution) में भी बड़ा महत्त्व है। वितरण सिद्धान्त में विभिन्न साधनों की सापेक्ष कीमतों (relative prices) के निर्धारण की विवेचना की जाती है। उत्पादन साधनों की कीमतें उनकी सीमान्त उत्पादकता (marginal productivity) पर निर्भर करती हैं। साधनों की सीमान्त उत्पादकताओं द्वारा उनकी माँग निर्धारित होती है जो कि उनकी कीमतों के निर्धारण का एक मुख्य तत्व है। और यह उत्पादन सिद्धान्त ही है जो कि उन शक्तियों की व्याख्या करता है जो साधनों की सीमान्त उत्पादकता को निश्चित करते हैं। वितरण सिद्धान्त के अनुसार साधनों की सापेक्ष कीमतें अर्थात् श्रमिकों की मजदूरी, भूमि का लगान, पूंजी पर ब्याज आदि बहुत सीमा तक उनकी माँग पर निर्भर करते हैं और इसलिए सीमान्त उत्पादकता उनके निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भाग लेती है।

उत्पादन सिद्धान्त का समष्टिपरक वितरण सिद्धान्त (Macro-theory of Distribution) के लिए भी बहुत महत्त्व है। नव-प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न साधनों के सामूहिक भाग (aggregative share), उदाहरणतः मजदूरी और लाभ के सामूहिक भाग साधनों में प्रतिस्थापन सापेक्षता (elasticity of substitution) पर निर्भर करते हैं जो कि उत्पादन सिद्धान्त की महत्वपूर्ण धारणा है। किस प्रकार साधनों के सामूहिक भाग प्रतिस्थापन सापेक्षता पर निर्भर करते हैं, यह हम समष्टिपरक वितरण सिद्धान्त के अध्याय में स्पष्ट करेंगे।

उत्पादन सिद्धान्त आर्थिक विकास के सिद्धान्त के लिए भी उपयोगी है। आर्थिक विकास के कारण

विशेषकर तकनीकी प्रगति के कारण उत्पादन फलन मे परिवर्तन हो जाता है। आर्थिक विकास के सिद्धान्त के लिए यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि उत्पादन फलन मे परिवर्तन के फलस्वरूप पूंजी-श्रम अनुपात (capital labour ratio) तथा पूंजी-उत्पादन अनुपात (capital output ratio) किस प्रकार बदलते हैं। इन पूंजी-श्रम अनुपात तथा पूंजी-उत्पादन अनुपात का आर्थिक विकास के सिद्धान्त के लिए बहुत महत्त्व है।

उत्पादन फलन (Production Function)

किसी वस्तु के उत्पादन म हमे भूमि, श्रम, पूंजी आदि जैसे उपादान या साधन चाहिएँ। इन्ही साधनो की मात्रा पर उस वस्तु के उत्पादन की मात्रा निर्भर करती है। साधनो तथा उत्पादन मे सम्बन्ध (input-output relations) को अर्थशास्त्र मे उत्पादन फलन (Production Function) कहते है। इसे गणित की भाषा मे निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है $q = f(a, b, c, \cdots)$[1]। इसमे q वस्तु की उत्पादन मात्रा को व्यक्त करता है, a, b, c आदि क्रमश साधन, A, B, और C की मात्रा को दर्शाते है।

उपर्युक्त फलन का अर्थ यह होता है कि वस्तु की उत्पादन-मात्रा, साधनो की मात्रा a, b, c पर निर्भर करती है अर्थात् यदि साधनो की मात्रा बढ जाय तो वस्तु अधिक मात्रा म उत्पादित होगी और इस प्रकार यदि साधन कम मात्रा मे हो, तो वस्तु का उत्पादन भी कम हो जाएगा। साधनो का वस्तु की उत्पादन मात्रा से सम्बन्ध वस्तु की प्रकृति (nature of the product) के अनुसार होता है। जैसे जहाँ कृषि-उत्पादन मे भूमि अधिक मात्रा मे चाहिए, वहाँ घडी बनाने मे दक्ष-श्रम (skilled labour) ही प्रधान साधन है।

यदि फर्म अपनी वस्तु की उत्पादन-मात्रा बढाना चाहे तो वह दो प्रकार से ऐसा कर सकती है। एक ढग तो यह है कि वह सभी आवश्यक साधनो की मात्रा बढा दे और दूसरा यह है कि वह उन साधनो मे कुछ को बढा दे और शेष साधनो की मात्रा स्थिर रखे। उदाहरणतया कोई किसान अपना उत्पादन बढाने के लिए या तो भूमि, बीज, खाद, सिचाई आदि सभी साधनो को बढा दे या भूमि तो उसके पास पहले जितनी रहे, पर वह खाद सिचाई आदि का अधिक मात्रा मे प्रयोग करे।

किसी वस्तु का उत्पादन साधनो की मात्रा के अतिरिक्त उत्पादन के ढग या तकनीक (technique of production) पर भी निभर करता है। साधन उसी मात्रा मे भी क्यो न हो, पर यदि उत्पादन की उत्कृष्टतर तकनीक अपनाई जाय, तो उत्पादन-मात्रा बढ जाएगी। इसी प्रकार, उत्पादन की तकनीक घटिया होने पर साधनो के पहले जैसे रहने पर भी उत्पादन मात्रा कम हो जाएगी।

आर्थिक सिद्धान्त मे हम दो प्रकार के उत्पादन फलनो का विशेष अध्ययन करते है। प्रथम, हम ऐसे उत्पादन फलन का अध्ययन करेगे जिसमे कुछ साधनो की मात्राएँ स्थिर रहने पर, अन्य एक या एक से अधिक साधनो की मात्रा म वृद्धि होती है। साधनो व उनसे प्राप्त उत्पादन म इस प्रकार का सम्बन्ध "विविध अनुपात के नियम" (Law of Variable Proportions) का विषय है। दूसरे, हम सभी साधनो की मात्राओ मे वृद्धि से हुए उत्पादन मे परिवर्तन के सम्बन्ध को पढ़ेगे जो कि पैमाने के प्रतिफल (Returns to Scale) की विषय-वस्तु है।

स्थिर अनुपात तथा विविध अनुपात उत्पादन फलन (Fixed Proportions and Variable Proportions Production Functions)

उत्पादन फलन दो विभिन्न प्रकार का होता है। यह स्थिर अनुपात उत्पादन फलन (fixed proportions production function) अथवा विविध अनुपात उत्पादन फलन (Variable proportions production function) हो सकता है। उत्पादन फलन स्थिर अनुपात प्रकार का है अथवा विविध अनुपात प्रकार का, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उत्पादन के गुणांक (coefficients of production) स्थिर अथवा विविध (परिवर्तनशील) हैं। किसी पदार्थ की

[1] इसे इस प्रकार पढ़ें "q is function of a, b, c"

एक इकाई उत्पादित करने के लिए उत्पादन साधन की आवश्यक मात्रा को उत्पादन का तकनीकी गुणांक कहते हैं। उदाहरणतः यदि एक पदार्थ का 200 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए 25 श्रमिकों की आवश्यकता होती है तो $\frac{1}{8}$ श्रम उत्पादन का तकनीकी गुणांक है। यदि उत्पादन का तकनीकी गुणांक स्थिर है तो पदार्थ की एक इकाई उत्पादित करने के लिए श्रम की $\frac{1}{8}$ इकाई अवश्य प्रयोग की जायगी और इसकी यह मात्रा किसी अन्य साधन के अधिक प्रयोग से कम नहीं की जा सकती अतएव स्थिर अनुपात प्रकार के उत्पादन फलन की दशा में किसी वस्तु के उत्पादन के लिए विभिन्न साधन जैसे कि श्रम और पूँजी को एक निश्चित एवं स्थिर अनुपात में प्रयोग करना आवश्यक होता है।

इसके विपरीत, जब उत्पादन का तकनीकी गुणांक विविध अथवा परिवर्तनशील होता है अर्थात् जब किसी पदार्थ की एक इकाई उत्पादित करने के लिए आवश्यक साधन की मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती है और उसके स्थान पर किसी अन्य साधन का प्रयोग सम्भव हो तो उत्पादन फलन विविध अनुपात की प्रकार का होता है। अतएव विविध अनुपात प्रकार के उत्पादन फलन में पदार्थ की एक दी हुई मात्रा साधनों के अनेक वैकल्पिक संयोगों से उत्पादित की जा सकती है। अगले अध्याय की रेखाकृति 14 1 में समोत्पाद चित्र विविध-अनुपात के उत्पादन फलन को प्रदर्शित करता है क्योंकि इसमें प्रत्येक समोत्पाद वक्र यह दर्शाता है कि उत्पादन की दी हुई मात्रा को साधनों के अनेक वैकल्पिक संयोगों द्वारा उत्पादित किया जा सकता है। वास्तविक जगत में अनेक वस्तुओं का उत्पादन विविध अनुपात के उत्पादन फलन की दशाओं में होता है।

स्थिर अनुपात के उत्पादन फलन का भी समोत्पाद वक्रों द्वारा निरूपण हो सकता है। स्थिर अनुपात के फलन में दो साधनों का जैसे कि श्रम और पूँजी का किसी पदार्थ के उत्पादन के लिए स्थिर अनुपात में प्रयोग किया जाता है, ऐसे उत्पादन फलन में समोत्पाद वक्रों की आकृति समकोण (right angled) प्रकार की होती है। कल्पना कीजिए कि एक पदार्थ की 100 इकाइयों के उत्पादन के लिए पूँजी तथा श्रम की क्रमशः 2 और 3 इकाइयों की आवश्यकता है अर्थात् पूँजी उत्पादन अनुपात 2 3 है। इस स्थिति में यदि पूँजी की दो इकाइयों के साथ श्रम की 4 इकाइयों का प्रयोग किया जाय तो श्रम की एक अतिरिक्त इकाई का अपव्यय होगा अर्थात् श्रम की इस अतिरिक्त इकाई से कुल उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं होगी। ऐसे उत्पादन फलन में उत्पादन की मात्रा बढ़ाने के लिए पूँजी-श्रम अनुपात को स्थिर रखना पड़ता है। उपर्युक्त उदाहरण में जबकि पूँजी-श्रम अनुपात 2 3 है, यदि पदार्थ की 100 इकाइयों के बजाय 200 इकाइयों का उत्पादन करना है तो पूँजी की 4 और श्रम की 6 इकाइयों का उपयोग करना होगा। पूँजी-श्रम अनुपात के 2 3 के बराबर दिए हुए होने पर रेखाकृति 13 1 में स्थिर अनुपात के उत्पादन
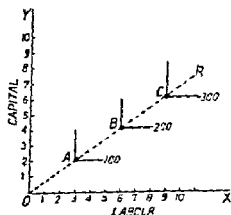
रेखाकृति 13 1 स्थिर-अनुपात के उत्पादन फलन का समोत्पाद चित्र

फलन को दर्शाया गया है। रेखा OR की ढाल दी हुई पूँजी-श्रम अनुपात के बराबर है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रेखाकृति 13 1 में प्रत्येक समोत्पाद वक्र पर एक साधन का सीमान्त उत्पादन (marginal product) शून्य है। यदि 200 इकाइयों के समोत्पाद वक्र के बिंदु B पर उत्पादन हो रहा है तो पूँजी की 4 इकाइयों के साथ यदि श्रम की 6 इकाइयों से अधिक इकाइयाँ प्रयोग की जाएँ तो कुल उत्पादन मात्रा में कोई वृद्धि नहीं होगी अर्थात् श्रम का सीमान्त उत्पादन शून्य है। इसी प्रकार यदि श्रम की मात्रा 6 इकाइयों के बराबर स्थिर रखी जाय तथा पूँजी की मात्रा 4 इकाइयों से अधिक बढ़ायी जाय तो भी उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं

के विषय म महत्त्वपूर्ण आँकडे एकत्र किए गए हैं। इन अध्ययनो म एकत्रित आँकडो का विश्लेषण करते हुए डा० ए० एम० खुसरो (Dr A M Khusro) इस निष्कर्ष पर पहुच है कि भारतीय कृषि म पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त होते है।[1] इसी प्रकार सयुक्त राज्य अमरिका तथा ब्रिटन म किए गए अनेक अनुभवाश्रित अध्ययनो से पता चलता है कि कई विनिर्माण उद्योगो म फर्मों की दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) म स्थिर प्रतिफल (अर्थात प्रथम कोटि के समरूप उत्पादन फलन) की एक बडी लबी अवस्था हाती है।

कॉब-डगलस उत्पादन फलन (Cobb Douglas Production Function)

बहुत से अर्थशास्त्रियो ने वास्तविक उत्पादन फलनो का अध्ययन किया है और साधनो तथा उत्पादन म परिवतनो के आपसी सम्बन्धो को ज्ञात करन के लिए सांख्यिकीय विधि (statistical method) का प्रयोग किया है। एक महत्त्वपूर्ण वास्तविक उत्पादन फलन जिसे सांख्यिकीय तरीकों के प्रयोग से प्राप्त किया गया है कॉब डगलस उत्पादन फलन (Cobb Douglas Production Function)[2] के नाम से प्रसिद्ध है। प्रारम्भ म काब डगलस उत्पादन फलन को व्यक्तिगत फम म साधन उत्पादन सम्बन्ध की बजाय समस्त विनिर्माण उद्योग (manufacturing industry) की दशा म प्राप्त किया गया था। काब डगलस उत्पादन फलन म दो साधन—श्रम और पूजी—को लिया जाता है और इसको निम्नलिखित गणितीय रूप म लिखा जाता है —

$$Q = KL^{a}C^{1-a}$$

जहाँ पर

Q, विनिर्माण उद्योग की उत्पादन मात्रा का द्योतक है

L, श्रम की प्रयोग की गई मात्रा को व्यक्त करता है

C, पूजी की उपयोग की गई मात्रा का द्योतक है तथा

A और a धनात्मक स्थिर तत्त्व (positive constants) हैं और a एक से कम है ($a < 1$)

काब डगलस उत्पादन फलन के प्रयोग म राष्ट्रीय आय म श्रम के सामूहिक भाग के निर्धारण की व्याख्या की गई है। कल्पना कीजिए कि Y राष्ट्रीय आय (अर्थात निवल राष्ट्रीय उत्पाद) है L श्रम का द्योतक और C पूजी का द्योतक है तो समस्त अर्थव्यवस्था के लिए काब डगलस उत्पादन फलन को निम्न प्रकार लिखते है —

$$Y = KL^{a}C^{1-a} \qquad (i)$$

वितरण सिद्धान्त के अनुसार श्रम की वास्तविक मजदूरी (w) इसकी वास्तविक सीमान्त उत्पादन (real marginal product) के बराबर होती है। श्रम के सीमान्त उत्पादन को आंशिक विभेदीकरण (Partial Differentiation) के शब्दो म निम्न प्रकार लिखा जाता है

$$\text{श्रम का सीमान्त उत्पादन } (MP) = \frac{dY}{dL}$$

चूंकि वास्तविक मजदूरी (w) श्रम के सीमान्त उत्पादन के बराबर हाती है अत

$$w = \frac{dY}{dL}$$

$$= aKL^{a-1}C^{1-a}$$

$$\text{कुल मजदूरी बिल} = wL = \frac{dY}{dL}L$$

$$= aKL^{a}C^{1-a} \qquad (ii)$$

$$\text{राष्ट्रीय आय म श्रम का सामूहिक सापेक्ष भाग} = \frac{wL}{Y}$$

उपर्युक्त समीकरण (i) और (ii) से पता चलता है कि

$$\text{श्रम का सामूहिक भाग} = \frac{wL}{Y} = \frac{aKL^{a}C^{1-a}}{KL^{a}C^{1-a}}$$

$$= a$$

1 देखें डा० खुसरो का लेख Returns to Scale in Indian Agriculture *The Indian Journal of Agricultural Economics*, Vol XIX July Dec 1964 reprinted in *Readings in Agricultural Development* edited by A M Khusro Allied Publishers 1966

2 इस उत्पादन फलन को कॉब और डगलस नाम के दो अर्थशास्त्रियों ने प्रतिपादित किया था इसलिए यह फलन उनके नाम से प्रसिद्ध है।

अतः कॉब-डगलस उत्पादन फलन से स्पष्ट होता है कि श्रम का सामूहिक सापेक्ष भाग स्थिर राशि 'a' के बराबर होता है जो कि श्रम-शक्ति (labour force) की मात्रा से स्वतन्त्र है। इस प्रकार कॉब डगलस उत्पादन फलन से श्रम के सामूहिक सापेक्ष भाग के स्थिर (Constancy of Labour's share in National Income) रहने की व्याख्या होती है। कॉब-डगलस ने सांख्यिकीय अध्ययनों से स्पष्ट किया कि संयुक्त राज्य अमेरिका में श्रम का सामूहिक भाग $\frac{3}{4}$ है तथा पूंजी का सामूहिक भाग $\frac{1}{4}$।

उपर्युक्त कॉब डगलस उत्पादन फलन के अनुसार विनिर्माण उद्योग के उत्पादन (production of manufacturing industry) में 75% वृद्धि श्रम (Labour) के साधन के कारण होती है और 25 प्रतिशत वृद्धि पूंजी के साधन के कारण। आजकल अर्थशास्त्री कॉब डगलस फलन में बहुत रुचि लेने लगे हैं क्योंकि इससे पैमाने के स्थिर प्रतिफल (constant returns to scale) प्राप्त होते हैं तथा इसका आय वितरण सिद्धान्त (theory of income distribution) तथा आर्थिक विकास के सिद्धांत में बड़ा महत्व है। कॉब डगलस उत्पादन फलन किस प्रकार पैमाने के स्थिर प्रतिफल को प्रकट करता है, यह हम आगे चल कर बतायेंगे।

विविध अनुपात का नियम (Law of Variable Proportions)

विविध अनुपात के नियम का आर्थिक सिद्धान्त में बड़ा महत्व है। यह नियम ऐसे उत्पादन फलन का अध्ययन करता है जिसमें कुछ साधन स्थिर रहने पर एक अथवा एक से अधिक साधनों में परिवर्तन किया जाता है। जब अन्य साधनों को निश्चित रख कर एक परिवर्तनशील साधन (variable factor) की मात्रा बढ़ाई जाती है तो परिवर्तनशील साधन तथा स्थिर साधनों में अनुपात बदल जाता है अर्थात् परिवर्तनशील साधन का अनुपात बढ़ता जाता है। चूंकि इस नियम के अन्तर्गत हम साधनों के अनुपातों में परिवर्तन का उत्पादन पर प्रभाव का अध्ययन करते हैं, इसे परिवर्तनशील अथवा विविध अनुपात का नियम (Law of Variable Proportions) कहते हैं। विविध अनुपात का नियम अर्थशास्त्र के पुराने ह्रासमान प्रतिफल के पुराने नियम (Law of Diminishing Returns) का नया रूप है। विविध अनुपात के नियम को विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है।

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री स्टिगलर (Stigler) के अनुसार, "जब कुछ साधनों को स्थिर रख कर एक साधन में समान वृद्धियां की जाती हैं तो एक सीमा के पश्चात् उत्पादन में होने वाली वृद्धियां कम हो जायेंगी अर्थात् सीमान्त उत्पादन घट जायेंगे।"[1]

इसी प्रकार बैनहम (Benham) लिखते हैं, "जब किसी साधनों के संयोग में एक साधन का अनुपात बढ़ाया जाता है तो एक सीमा के पश्चात् पहले उस साधन का सीमान्त उत्पादन और फिर औसत उत्पादन घट जायेंगे।"[2]

सैमुल्सन ने इसकी परिभाषा यों की है "स्थिर साधनों की तुलना में, कुछ साधनों में वृद्धि करने से उत्पादन में वृद्धि होगी, परन्तु एक बिंदु के बाद साधनों की समान वृद्धियों से प्राप्त अतिरिक्त उत्पादन उत्तरोत्तर कम होता जाएगा।"

ब्रिटेन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल ने कृषि के संबंध में घटते प्रतिफल का विवेचन किया और इसे निम्न प्रकार से परिभाषित किया—भूमि की खेती में पूंजी और श्रम की मात्रा बढ़ाने से उत्पादन मात्रा में सामा-

न्यतः आनुपातिक वृद्धि से कम वृद्धि होती है बशर्ते कि कृषि की तकनीक में कोई सुधार न हुआ हो।"[1]

प्रो० के० ई० बोल्डिंग के अनुसार, घटते प्रतिफल (diminishing returns) का वाक्य अस्पष्ट (loose) है क्योंकि इसके कई अर्थ किए जा सकते हैं, इसलिए इस नियम को वे घटते प्रतिफल का नियम के बजाय "अंततः घटती सीमांत भौतिक उत्पादकता का नियम" (Law of Eventually Diminishing Marginal Physical Productivity) कहना अधिक उपयुक्त समझते हैं और इसकी परिभाषा यों की है : "जब कुछ साधन की स्थिर मात्रा के साथ किसी अन्य साधन की मात्रा को बढाया जाता है तो परिवर्तनशील साधन की सीमांत भौतिक उत्पादकता अन्ततः अवश्य ही घट जाएगी।"[2]

विविध अनुपात के नियम (अथवा घटते प्रतिफल के नियम) की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि यह कुछ साधनों के स्थिर रहने पर एक साधन की वृद्धि करने पर उत्पादन में होने वाले परिवर्तन की चर्चा करता है और यह बताता है कि ऐसा करने से परिवर्तनशील साधन (variable factor) के सीमांत उत्पादन तथा औसत उत्पादन अन्ततः घट जायेंगे।

विविध अनुपात (अथवा घटते प्रतिफल) के नियम की आवश्यक शर्तें—विविध अनुपात का नियम तथा घटते अनुपात का नियम कुछ विशेष दशाओं में ही लागू होता है। यदि दशाओं में कोई परिवर्तन हो जाय तो यह नियम लागू नहीं होगा। ये विभिन्न दशाएँ अथवा शर्तें निम्न हैं :

1. प्रथम, टैक्नोलाजी (techonology) समान एवं अपरिवर्तित रहे। यदि टैक्नोलाजी में सुधार हो जाय अर्थात् पहले से अधिक बढ़िया तकनीक का प्रयोग किया जाय तो परिवर्तनशील साधन के सीमांत तथा औसत उत्पादन घटने के स्थान पर बढ़ सकते हैं।

2. दूसरे, कुछ साधन ऐसे अवश्य हों जिनकी मात्रा को स्थिर रखा गया हो क्योंकि इस प्रकार ही हम साधनों के अनुपात में परिवर्तन कर सकते हैं तथा उनका उत्पादन पर प्रभाव जान सकते हैं। यदि सभी साधनों को अनुपात से बढाया-घटाया जाता है तो यह नियम लागू नहीं होगा। सभी साधनों में परिवर्तन करने के परिणामस्वरूप उत्पादन के व्यवहार का अध्ययन हम "पैमाने के प्रतिफल" (Returns to Scale) के अन्तर्गत करते हैं।

3 तीसरे, यह नियम इस मान्यता पर आधारित है कि एक पदार्थ का उत्पादन करने के लिए विभिन्न साधनों के अनुपातों में परिवर्तन करना सम्भव (possible) है। यह नियम उन पदार्थों की दशाओं में लागू नहीं होता जिनका उत्पादन करने के लिए साधनों के निश्चित अनुपात (fixed proportion) का प्रयोग करना आवश्यक होता है। जब किसी पदार्थ के उत्पादन के लिए साधनों के एक ~कुल निश्चत अनुपात का प्रयोग करना होता है तो एक साधन में वृद्धि करने से, अन्य साधनों में आनुपातिक वृद्धि किए बिना, उत्पादन मात्रा नहीं बढ़ेगी अर्थात् साधन का सीमान्त उत्पादन शून्य (zero) होगा। किन्तु ऐसे पदार्थ बहुत ही कम पाए जाते हैं जिनके उत्पादन के लिए साधनों के बिलकुल निश्चित अनुपातों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि विविध अनुपात का नियम वास्तविक आर्थिक जगत् के अधिकांश पदार्थों पर लागू होता है।

विविध अनुपात के नियम की तीन अवस्थाएँ (Three Stages of the Law of Variable Proportions)

जब कुछ साधनों के स्थिर रहने पर एक साधन की मात्रा को बढ़ाया जाता है तो उसके कारण उत्पादन को तीन अवस्थाओं (stages) में बाँटा जाता है। इन तीन अवस्थाओं को उत्पादन फलन (जिसमें एक

---

1. "An increase in the capital and labour applied in the cultivation of land causes in general a less than proportionate increase in the amount of produce raised unless it happens to coincide with an improvement in the arts of agriculture."—Marshall, *Principles of Economics*.

2. "As we increase the quantity of any one input which is combined with a fixed quantity of the other inputs, the marginal physical productivity of the variable input must eventually decline."—K. E. Boulding, *Economic Analysis*.

साधन परिवर्तनशील हो) की रेखाकृति से भली प्रकार समझा जा सकता है। रेखाकृति 13 3 को देखिए जिसके अक्ष-X पर परिवर्तनशील अथवा घटते-बढ़ते साधन (variable) की मात्रा तथा अक्ष Y पर कुल उत्पादन, औसत उत्पादन तथा सीमान्त उत्पादन दर्शाए गए हैं। इस रेखाकृति मे खींचे गए वक्रो से इस बात का पता चलता है कि साधनो के अनुपात मे परिवर्तन होने पर अर्थात् जब कुछ साधनो की मात्रा को स्थिर रख कर एक साधन की मात्रा बढ़ाए जाने पर, कुल उत्पादन, औसत उत्पादन तथा सीमान्त उत्पादन किस प्रकार बदलते हैं। कुल उत्पादन वक्र TP बिन्दु H तक बढ़ता है और उसके बाद घटना शुरू कर देना है। औसत तथा सीमान्त उत्पादन वक्र भी पहले बढ़ते हैं और फिर घटना आरम्भ कर देते हैं, परन्तु सीमान्त उत्पादन वक्र औसत उत्पादन वक्र की तुलना मे पहले घटना आरम्भ कर देना है।
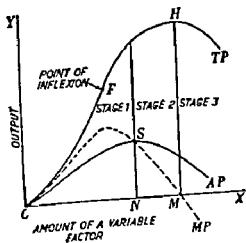
रेखाकृति 13 3
विविध अनुपात के नियम की तीन अवस्थाएँ

इस कुल औसत तथा सीमान्त उत्पादनों मे परिवर्तन की निम्नलिखित तीन अवस्थाएं (stages) हैं।

प्रथम अवस्था (Stage 1)—रेखाकृति 13 3 मे पहली अवस्था परिवर्तनशील साधन (variable factor) की मात्रा ON तक, दूसरी अवस्था N और M के बीच की तथा तीसरी अवस्था M के पश्चात् की है। रेखाकृति में यह देखा जायेगा कि कुल उत्पादन वक्र TP की ढाल बिन्दु O से लेकर F तक बढ़ रही है अर्थात् बिन्दु F तक कुल उत्पादन बढ़ती दर से बढ़ता है (total product increases at an increasing rate) जिसका अर्थ यह है कि सीमान्त उत्पादन में वृद्धि होती है [रेखाकृति देखने पर ज्ञात होगा कि कुल उत्पादन वक्र TP मूल बिन्दु O से लेकर F तक ऊपर की ओर अवतल (concave upwards) है]। बिंदु F के पश्चात तथा पहली अवस्था के भीतर कुल उत्पादन वक्र TP ऊपर को बढ़ता जाता है परन्तु इसकी ढाल घटती जा रही है जिसका अर्थ यह है कि बिन्दु F के पश्चात् कुल उत्पादन घटती दर से बढ रहा है (the total product is increasing at a diminishing rate) अर्थात् सीमान्त उत्पादन (marginal product) घट रहा है परन्तु धनात्मक (positive) है। [रेखाकृति मे विद्यार्थी यह देखेंगे कि F और H बिन्दुओं के बीच उत्पादन वक्र TP नीचे की ओर से अवतल (concave downwards) है]। बिन्दु F को जहाँ पर कुल उत्पादन वक्र बढ़ती दर से बढ़ना बन्द करके घटती दर से बढ़ना शुरू कर देता है 'मोड़ बिन्दु' (point of inflexion) कहते हैं। इस मोड़ बिन्दु F के बिल्कुल नीचे सीमांत उत्पादन अधिकतम होता है जिसके बाद वह घटना आरम्भ कर देता है।

प्रथम अवस्था वहाँ समाप्त होती है जहाँ औसत उत्पादन वक्र का उच्चतम बिन्दु होता है। प्रथम अवस्था के दौरान जब सीमान्त उत्पादन (marginal product) घट रहा है, यह औसत उत्पादन से फिर भी अधिक है और इसलिए औसत उत्पादन वक्र को ऊपर की ओर आकृष्ट करता है। इस प्रकार प्रथम अवस्था (stage 1) के दौरान जबकि सीमान्त उत्पादन वक्र (MP) कुछ भाग मे बढ़कर फिर नीचे गिरने लगता है, औसत उत्पादन वक्र (AP) निरन्तर बढ़ता जाता है। प्रथम अवस्था मे बचे अथवा स्थिर साधन को मात्रा परिवर्तनशील साधन की तुलना में अत्यधिक है जिससे यदि स्थिर साधन की मात्रा को कुछ घटा दिया जाए तो कुल उत्पादन बढ़ जाएगा। अतः प्रथम अवस्था स्थिर अथवा बचे साधन (fixed factor) का सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक है (marginal product of the fixed

factor is negative)। प्रथम अवस्था बढ़ते प्रतिफल की अवस्था (stage of increasing returns) कही जाती है क्योंकि इसमे परिवर्तनशील साधन के औसत उत्पादन (average product of the variable factor) मे लगातार वृद्धि होती है। यह उल्लेखनीय है कि प्रथम अवस्था मे परिवर्तनशील साधन का सीमांत उत्पादन निरन्तर नही बढता, यह पहले बढकर फिर घटना आरम्भ कर देता है परन्तु घटते भाग मे भी यह औसत उत्पादन से अधिक होता है जिससे औसत उत्पादन प्रथम अवस्था म निरन्तर बढ़ता रहता है।

दूसरी अवस्था (Stage 2)—दूसरी अवस्था मे कुल उत्पादन घटती दर से बढ़ना जारी रखता है और अपने अधिकतम बिन्दु H तक पहुच जाता है जहाँ पर कि दूसरी अवस्था समाप्त हो जाती है। इस दूसरी अवस्था मे परिवर्तनशील साधन के सीमान्त उत्पादन (MP) तथा औसत उत्पादन (AP) दोनो ही घटते हैं परन्तु धनात्मक (positive) रहते हैं। दूसरी अवस्था के अन्त मे परिवर्तनशील साधन का सीमान्त उत्पादन शून्य (zero) हो जाता है। यह उल्लेखनीय है कि परिवर्तनशील साधन के सीमान्त उत्पादन का शून्य बिन्दु M कुल उत्पादन वक्र के उच्चतम बिन्दु H के बिल्कुल नीचे स्थित होता है। दूसरी अवस्था बहुत महत्त्व रखती है क्योंकि फर्म अथवा उत्पादक इसी अवस्था के भीतर ही वस्तु का उत्पादन करेगा। इस दूसरी अवस्था को घटते प्रतिफल की अवस्था (stage of diminishing returns) कहते हैं क्योंकि इसमे सीमान्त उत्पादन तथा औसत उत्पादन दोनो ही निरन्तर घटते हैं।

तीसरी अवस्था (Stage 3)—तीसरी अवस्था मे कुल उत्पादन घटता है और इसलिए कुल उत्पादन वक्र TP नीचे की ओर झुकता है। परिणामस्वरूप परिवर्तनशील साधन का सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक (negative) हो जाता है और सीमान्त उत्पादन वक्र MP अक्ष-X के नीचे चला जाता है। इस अवस्था मे स्थिर साधन की तुलना मे परिवर्तनशील साधन अत्यधिक है जिससे यदि परिवर्तनशील साधन की कुछ मात्रा घटा दी जाए तो कुल उत्पादन मे वृद्धि होगी। इस अवस्था को ऋणात्मक प्रतिफल की अवस्था (stage of negative returns) कहा जाता है क्योंकि इसम परिवर्तनशील साधन का सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रथम और तृतीय अवस्थाएँ एक दूसरे के बिल्कुल समरूप (symmetrical) हैं। प्रथम अवस्था म, परिवर्तनशील साधन की अपेक्षा स्थिर साधन अत्यधिक होता है। परिणामस्वरूप प्रथम अवस्था मे स्थिर साधन का सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक होता है। इसके विपरीत, तृतीय अवस्था मे परिवर्तनशील साधन की मात्रा स्थिर साधन की तुलना मे अत्यधिक होती है। फलस्वरूप तृतीय अवस्था मे परिवर्तनशील साधन का सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक होता है।

उत्पादन कार्य की अवस्था (The Stage of Operation)

अब महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि एक विवेकशील उत्पादक (rational producer) किस अवस्था मे वस्तु का उत्पादन करेगा। एक विवेकशील उत्पादक तीसरी अवस्था (stage 3) मे कभी भी उत्पादन करना पसन्द नही करेगा क्योंकि इसमे परिवर्तनशील साधन का सीमान्त उत्पादन (MP) ऋणात्मक (negative) होता है। तीसरी अवस्था मे परिवर्तनशील साधन का सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक होने के कारण, एक उत्पादक परिवर्तनशील साधन की मात्रा घटा कर अपने कुल उत्पादन को बढ़ा सकता है। अत स्पष्ट है कि एक विवेकशील उत्पादक तीसरी अवस्था मे कभी भी उत्पादन नही करेगा। यदि परिवर्तनशील साधन निःशुल्क भी मिलता हो तो भी विवेकशील उत्पादक द्वितीय अवस्था के अन्त म अर्थात् बिन्दु M पर जहां कि परिवर्तनशील साधन का सीमान्त उत्पादन (MP) शून्य होता है उत्पादन कार्य करेगा, उसके आगे नही जाएगा। द्वितीय अवस्था के अन्तिम बिन्दु M पर जहाँ कि परिवर्तनशील साधन का सीमान्त उत्पादन शून्य है, उत्पादक अपने कुल उत्पादन (TP) को अधिकतम कर रहा होगा जिससे परिवर्तनशील साधन का अधिकतम सम्भव उपयोग हो रहा होगा।

एक विवेकशील उत्पादक प्रथम अवस्था (stage 1) मे उत्पादन करना नही चाहेगा जिसमें स्थिर साधन

का सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक होता है। एक उत्पादक का प्रथम अवस्था मे उत्पादन करने का अर्थ यह है कि स्थिर साधन का पूर्ण अथवा अनुकूलतम रूप से उपयोग नही कर रहा होगा तथा वह परिवर्तनशील साधन (जिसका औसत उत्पादन दूसरी अवस्था मे निरन्तर बढता है) की मात्रा बढ़ाकर कुल उत्पादन मे वृद्धि करने के अवसरो का पूरी तरह लाभ नही उठा रहा होगा। अत एक विवेकशील उद्यमकर्त्ता पहली अवस्था के भीतर नही रुकेगा वरन् उसके आगे अपने उत्पादन का विस्तार करेगा। यदि स्थिर अथवा बन्धा साधन (fixed factor) बिना मूल्य के भी उपलब्ध हो तो भी विवेकशील उद्यमकर्त्ता प्रथम अवस्था के अन्त मे (अर्थात् बिन्दु N पर) उत्पादन कार्य करेगा जहाँ कि स्थिर साधन का सीमान्त उत्पादन शून्य तथा परिवर्तनशील साधन का औसत उत्पादन अधिकतम है, अपने उत्पादन का विस्तार नही करेगा। प्रथम अवस्था के अन्तिम बिन्दु N पर यह स्थिर साधन का अधिकतम उपयोग कर रहा होगा।[1]

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि एक विवेकशील उत्पादक प्रथम और तृतीय अवस्थाओ (stages) मे उत्पादन कार्य नही करेगा। इसलिए कई अर्थशास्त्री इन प्रथम तथा तृतीय स्टेजो को आर्थिक मूर्खता (economic absurdity) अथवा आर्थिक बकवास (economic nonsense) की अवस्थाए कहते है। एक विवेकशील उत्पादक द्वितीय अवस्था (stage 2) मे ही उत्पादन करने की चेष्टा करेगा जिसमे कि परिवर्तनशील साधन का दोनो सीमान्त तथा औसत उत्पादन (marginal and average products) घट रहे होते हैं। इस द्वितीय अवस्था के कौन से विशेष बिन्दु पर वह उत्पादन करने का निश्चय करेगा, यह साधनो की कीमतो पर निर्भर करता है। अत द्वितीय अवस्था विवेकशील उत्पादन निर्णयो के क्षेत्र को व्यक्त करती है।

विविध अनुपात के नियम की विभिन्न अवस्थाओ की व्याख्या (Explanation of the Various Stages of the Law of Variable Proportions)

हमने ऊपर देखा कि साधन अनुपातो (factor proportions) मे परिवर्तन होन पर उत्पादन मात्रा किस प्रकार बदलती है। हमने यह भी स्पष्ट किया कि इस साधन उत्पादन सम्बन्ध अथवा विविध अनुपात के नियम को तीन अवस्थाओ म किस प्रकार विभक्त किया जा सकता है प्रथम अवस्था जिसमे बढते अथवा वर्धमान प्रतिफल (Increasing Returns) प्राप्त होते हैं, द्वितीय अवस्था जिसमे घटते अथवा ह्रासमान प्रतिफल (Diminishing Returns) प्राप्त होते हैं और तृतीय अवस्था जिसमे ऋणात्मक प्रतिफल (Negative Returns) प्राप्त होते हैं। अब हम इस बात की विस्तारपूर्वक व्याख्या करेंगे कि इन तीन अवस्थाओ के क्या कारण है।

बढ़ते प्रतिफल (प्रथम अवस्था) की व्याख्या (Explanation of Increasing Returns—Stage I)—आरम्भ मे स्थिर अथवा बँधे साधन की मात्रा परिवर्तनशील साधन की तुलना मे बहुत अधिक होती है। इसलिए जब परिवर्तनशील साधन की अतिरिक्त इकाइयाँ स्थिर साधन की समान मात्रा के साथ उत्पादन के लिए प्रयोग की जाती हैं तो स्थिर साधन का अधिक गहन तथा पूर्ण रूप से उपयोग होता है अर्थात् जैसे परिवर्तनशील साधन की अतिरिक्त इकाइयाँ जोड़ी जाती हैं स्थिर साधन की कार्यक्षमता (efficiency) बढ़ जाती है। इससे उत्पादन मात्रा मे तीव्र गति से वृद्धि होती है। जब आरम्भ म परिवर्तनशील साधन की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती है तो स्थिर साधन की कुछ मात्रा अप्रयुक्त रहेगी और इसलिए जब परिवर्तनशील साधन की मात्रा बढ़ाई जाती है तो स्थिर साधन का अधिक पूर्ण रूप से उपयोग सम्भव होता है जिसके

1 नोट—यह कथन कि एक उत्पादक प्रथम अवस्था (stage 1) में उत्पादन नहीं करेगा उस उत्पादक पर लागू होता है जो पदार्थ तथा साधन मार्किट में पूर्ण प्रतियोगिता में काम कर रहा होता है जिसमे उसके द्वारा बेचे गए पदार्थ की कीमत तथा उसके द्वारा खरीदे जाने वाले साधनो की कीमतें उसके लिए निश्चित अथवा स्थिर होती हैं। पदार्थ तथा साधन मार्किट में एकाधिकार तथा अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे जिसमें उत्पादक का पदार्थ तथा साधनो की कीमतो पर नियन्त्रण होता है तथा उसके द्वारा उत्पादन तथा साधनो की माँग के बदलने पर उनकी कीमतें बदल जाती हैं, उत्पादक के लिए अधिकतम लाभ की मात्रा प्रथम अवस्था (stage) में हो सकती है।

परिणामस्वरूप बढ़ते प्रतिफल प्राप्त होते है। प्रश्न यह है कि प्रारम्भ मे स्थिर साधन की इतनी मात्रा क्यो नहीं ली जाती जो कि परिवर्तनशील साधन की मात्रा के अनुकूल हो। इसका कारण यह है कि प्राय वे साधन स्थिर लिए जाते हैं जो अविभाज्य (indivisible) हों। साधन की अविभाज्यता का अर्थ है कि तकनीकी आवश्यकताओं के कारण उस साधन की एक न्यूनतम मात्रा अवश्य प्रयोग करनी पड़ती है चाहे उत्पादन कितना ही कम क्यो न करना हो। अत जब अविभाज्य स्थिर साधन के साथ परिवर्तनशील साधन की अधिक इकाइयाँ प्रयोग की जाती है तो स्थिर साधन का अधिक पूर्ण एवं गहन रूप से उपयोग होने के कारण उत्पादन मे तीव्र गति से वृद्धि होती है।

दूसरा कारण जिससे प्रथम अवस्था मे बढ़ते प्रतिफल प्राप्त होते हैं, यह है कि जब परिवर्तनशील साधन की मात्रा बढ़ाई जाती है तो स्वय परिवर्तनशील साधन की कार्यकुशलता (efficiency) बढ़ती है। कारण यह है कि जब परिवर्तनशील साधन की पर्याप्त मात्रा हो जाती है तो उसमे अधिक विशेषीकरण अथवा श्रम-विभाजन करना सम्भव होता है जिससे उसकी उत्पादकता बढ़ जाती है। परिवर्तनशील साधन की मात्रा जितनी अधिक होगी विशेषीकरण अथवा श्रम-विभाजन उतना ही अधिक सम्भव होगा और फलस्वरूप उत्पादकता तथा कार्यकुशलता का स्तर उतना ही ऊँचा होगा।

घटते प्रतिफल (द्वितीय अवस्था) की व्याख्या (Explanation of Diminishing Returns—Second Stage)—उत्पादन फलन मे जब कि अन्य साधन स्थिर रहने पर एक साधन की मात्रा बढ़ायी जाती है तो प्राप्त घटते प्रतिफल की द्वितीय अवस्था सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रश्न यह है कि कुछ साधनो की स्थिर मात्रा से परिवर्तनशील साधन की मात्रा बढ़ाने पर एक सीमा के पश्चात् घटते प्रतिफल क्यो प्राप्त होते है। जैसा कि ऊपर बताया गया, प्रथम अवस्था मे बढ़ते प्रतिफल इसलिए प्राप्त होते हैं क्योकि जैसे-जैसे परिवर्तनशील साधन की मात्रा बढ़ाई जाती है तो स्थिर साधन का अधिक पूर्ण रूप से उपयोग सम्भव होता है। जब वह बिन्दु प्राप्त होता है जिस पर कि परिवर्तनशील साधन की मात्रा स्थिर साधन के पूर्ण एव अधिकतम कार्यकुशल रूप से प्रयोग करने के लिए पर्याप्त हो जाती है तो परिवर्तनशील साधन मे अतिरिक्त वृद्धि से उसके सीमान्त तथा औसत उत्पादन घटने प्रारम्भ हो जाते है क्योंकि तब स्थिर साधन की मात्रा परिवर्तनशील साधन की तुलना म कम हो जाती है। दूसरे शब्दों मे, एक बिन्दु के बाद परिवर्तनशील साधन द्वारा उत्पादन मे किया गया योगदान घटता चला जाता है क्योंकि इसके साथ प्रयोग होने वाले स्थिर साधन की मात्रा निरन्तर घटती जाती है। उत्पादन मात्रा विभिन्न साधनों के उत्पादन-प्रक्रिया म परस्पर सहयोग का परिणाम होती है। एक साधन उत्पादन प्रक्रिया मे कितना सहयोग अथवा सहायता अन्य साधनों को देता है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी अपनी मात्रा कितनी है तथा अन्य साधनों की मात्रा कितनी है। प्रथम अवस्था मे स्थिर साधन की मात्रा परिवर्तनशील साधन की तुलना मे बहुत अधिक होती है और इसलिए वह परिवर्तनशील साधन को उत्पादन-प्रक्रिया मे अधिक सहायता देता है। परिणामस्वरूप प्रथम अवस्था मे परिवर्तनशील साधन के औसत तथा सीमान्त उत्पादन बढ़ते है। इसके विपरीत, द्वितीय अवस्था मे स्थिर साधन की मात्रा परिवर्तनशील साधन की अपेक्षा न्यून हो जाती है जिससे जैसे-जैसे परिवर्तनशील साधन की मात्रा और अधिक बढ़ाई जाती है, तो स्थिर साधन से उसे प्राप्त सहायता घटती जाती है। फलस्वरूप द्वितीय अवस्था मे परिवर्तनशील साधन के औसत तथा सीमांत उत्पादन घटते है।

घटते अथवा ह्रासमान प्रतिफल भी बढ़ते प्रतिफल की तरह स्थिर साधन की अविभाज्यता के कारण उत्पन्न होते हैं (The phenomenon of diminishing returns, like that of increasing returns, rests upon the indivisibility of the fixed factor)—जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया कि प्रथम अवस्था मे बढ़ते प्रतिफल प्राप्त होने का प्रमुख कारण स्थिर साधन का अविभाज्य होना है जिसकी एक निश्चित मात्रा का प्रयोग करना पड़ता है चाहे उत्पादन कितना ही कम या अधिक क्यो न करना हो। प्रथम

अवस्था म जबकि अविभाज्य स्थिर साधन का पूर्ण उपयोग नही हो रहा होता है, परिवर्तनशील साधन म प्रत्येक अतिरिक्त वृद्धि उत्पादन मे तीव्र गति से वृद्धि करती है क्योकि इससे अविभाज्य स्थिर साधन का पूर्ण उपयोग सम्भव होता है। परिवर्तनशील साधन की प्रयोग-मात्रा का जब ऐसा स्तर पहुच जाएगा जिससे अविभाज्य स्थिर साधन का अधिकतम पूर्ण व कुशलता-पूर्वक उपयोग होता है तो वहाँ परिवर्तनशील साधन का औसत उत्पादन (average product) अधिकतम होगा। यह तब होगा जब परिवर्तनशील साधन की मात्रा इतनी बढ गई हो कि यह स्थिर साधन के साथ 'इष्टतम अथवा अनुकूलतम अनुपात' (Optimum Proportion) मे हो जाए। जब परिवर्तनशील साधन की मात्रा और बढ़ाने से इष्टतम अनुपात नही रहता तो परिवर्तनशील साधन का औसत उत्पादन अथवा प्रति इकाई प्रतिफल घट जाएगा क्योकि अविभाज्य स्थिर साधन का अब अनुचित अथवा अत्यधिक उपयोग हो रहा है। (the indivisible factor is being used *too* fully) अथवा, दूसरे शब्दो मे, स्थिर साधन तथा परिवर्तनशील साधन मे अब इष्टतम अनुपात नही रहा। जिस प्रकार प्रथम अवस्था म परिवर्तनशील साधन का औसत उत्पादन बढता है क्योकि स्थिर अविभाज्य साधन का अधिक बेहतर एव पूर्ण रूप मे प्रयोग होता है, उसी प्रकार द्वितीय अवस्था मे परिवर्तनशील साधन का औसत उत्पादन घटता है क्योकि अब स्थिर अविभाज्य साधन का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है।

यदि स्थिर साधन पूर्णतया विभाज्य (perfectly divisible) होता तो न बढते प्रतिफल और न ही घटते प्रतिफल प्राप्त होते। यदि साधन पूर्ण रूप से विभाज्य होते तो अब आरम्भ म परिवर्तनशील साधन के साथ प्रयोग करने के लिए स्थिर साधन की बडी मात्रा लेने की आवश्यकता न होती। साधनो के पूर्ण विभाज्य होने की स्थिति मे साधनों मे इष्टतम अनुपात हमेशा रखा जा सकना सम्भव होता। साधनो की पूर्ण विभाज्यता का अर्थ है कि एक छोटी फर्म जिसमे एक छोटी मशीन तथा एक श्रमिक काम करता है उतनी ही कार्यकुशल (efficient) होती जितनी कि बडी फर्म जिसमे बडी मशीनें तथा बहुत सख्या मे श्रमिक कार्य करते हैं। औसत उत्पादकता दोनो मे समान होती। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि साधन पूर्णतया विभाज्य होते तो तब साधन-अनुपातो मे परिवर्तन होने अथवा करने का प्रश्न ही न उठता और इसलिए बढते तथा घटते प्रतिफल के नियम लागू न होते। प्रो० बोबर का कथन उचित है : "यदि विभाज्यता द्वार से प्रवेश करती है तो विविध अनुपात का नियम खिडकी से बाहर कूद जाएगा" (Let divisibility enter through the door, law of variable proportions rushes out through the window")[1]

जोन रॉबिन्सन (Joan Robinson) ह्रासमान प्रतिफल के कारणो के विषय मे अधिक गहराई तक जाती हैं। उनका विचार है कि घटते प्रतिफल इसलिए होते हैं क्योकि उत्पादन के साधन एक दूसरे के लिए अपूर्ण स्थानापन्न (imperfect substitutes) होते हैं (Diminishing returns occur because the factors of production are imperfect substitutes for one another)। जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं, द्वितीय अवस्था मे एक दुर्लभ साधन की स्थिर मात्रा को परिवर्तनशील साधन की बढती हुई मात्रा के साथ लेना पडता है जिससे इष्टतम अनुपात के पश्चात् घटते प्रतिफल प्राप्त होते हैं। अब यदि ऐसा साधन उपलब्ध होता जो कि दुर्लभ स्थिर साधन (scarce fixed factor) का पूर्ण स्थानापन्न होता तो द्वितीय अवस्था मे दुर्लभ स्थिर साधन की कमी को इसके पूर्ण स्थानापन्न की पूर्ति बढाकर दूर किया जा सकता जिसके फलस्वरूप उत्पादन मे घटते प्रतिफल के बिना वृद्धि सम्भव होती। अत परिवर्तनशील साधनों मे से कोई एक भी साधन जो कि हम स्थिर साधन के साथ प्रयोग करते हैं उसका पूर्ण स्थानापन्न होता तो जब द्वितीय अवस्था मे स्थिर साधन की न्यूनता उत्पन्न हो जाती है तो उसकी यह न्यूनता उस परिवर्तनशील साधन, जो कि उसका पूर्ण स्थानापन्न है की मात्रा में वृद्धि से दूर हो जाती।

1. M M Bober, *Intermediate Price and Income Theory*, 2nd edition, 1962

अत जोन रॉबिन्सन लिखती हैं, "घटते प्रतिफल का नियम वास्तव में यह बताता है कि एक उत्पादन के साधन की दूसरे साधन से प्रतिस्थापन कर सकने की एक सीमा होती है अथवा, दूसरे शब्दों में, साधनों के बीच प्रतिस्थापन सापेक्षता (elasticity of substitution) अनन्त (infinite) से कम होती है। यदि ऐसा न होता तो जब एक साधन की मात्रा स्थिर होती है और अन्य की पूर्ति पूर्णतया लोचदार तो स्थिर साधन से कुछ उत्पादन करके और फिर जब इसके और अन्य साधनों से इष्टतम अनुपात प्राप्त हो जाता है तो तब इस स्थिर साधन का अन्य साधन द्वारा प्रतिस्थापन करके उत्पादन में समान लागत पर वृद्धि करना सम्भव होता।"[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि घटते प्रतिफल इसलिए होते हैं क्योंकि साधनों के बीच प्रतिस्थापन सापेक्षता अनन्त नहीं होती (Diminishing returns operate because the elasticity of substitution between factors is not infinite)।

ऋणात्मक प्रतिफल (तृतीय अवस्था) की व्याख्या (Explanation of the Negative Returns)—जैसे परिवर्तनशील साधन की मात्रा को अन्य साधन की स्थिर मात्रा के साथ बढ़ाते जाते हैं, एक ऐसी अवस्था पहुंच जाती है जब कि कुल उत्पादन घट जाता है तथा सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक हो जाता है। इस तृतीय अवस्था में ऋणात्मक अवस्था के कारण परिवर्तनशील साधन की इकाइयाँ स्थिर साधन की तुलना में अत्यधिक हो जाती है जिससे वे एक दूसरे के कार्य में बाधा उत्पन्न करती है जिसके परिणामस्वरूप कुल उत्पादन बढ़ने के स्थान पर घट जाता है। लोकोक्ति 'Too many cooks spoil the broth" इस स्थिति में लागू होती है। इस स्थिति में परिवर्तनशील साधन की मात्रा में कमी करने पर कुल उत्पादन में वृद्धि होगी। जिस प्रकार प्रथम अवस्था में स्थिर साधन की मात्रा अधिक होने पर सीमांत उत्पादन ऋणात्मक था उसी प्रकार तृतीय अवस्था में परिवर्तनशील साधन की मात्रा अत्यधिक होने के कारण उसका सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विविध अनुपात के नियम को अर्थशास्त्रियों ने कई अन्य नाम भी दे रखे हैं। एक नाम तो अनुपात का नियम (Law of Proportionality) है। इसमें अनुपात से अभिप्राय उत्पादन में प्रयोग होने वाले साधनों का परस्पर अनुपात है अर्थात् यह नियम यह बताता है कि साधनों के अनुपात के बदलने का वस्तु की उत्पादन-मात्रा पर क्या प्रभाव पड़ता है।

इस नियम का एक और नाम प्रतिफल का नियम (Law of Returns) है। इस नाम से तात्पर्य यह है कि जब कभी कम-से-कम एक साधन तो स्थिर रहे और किसी एक या अधिक अन्य साधनों की मात्रा को बढ़ाया जाय, तो इस बढ़ाए हुए साधन का औसत तथा सीमान्त प्रतिफल किस प्रकार बदलता है, अर्थात् कैसे पहले बढ़ता है और फिर इष्टतम बिन्दु तक पहुँच कर कैसे गिरने लग जाता है। चूंकि विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तनशील साधन का प्रति इकाई प्रतिफल एक दर पर नहीं बदलता, इसलिये इस नियम को असमान अनुपातीय प्रतिफल का नियम (Law of Non-proportional Returns) भी कहा जाता है।

परन्तु इस नियम का चिरकालीन तथा सबसे अधिक प्रचलित नाम ह्रासमान प्रतिफल का नियम (Law of Diminishing Returns) है। इसे ह्रासमान सीमान्त भौतिक उत्पादकता का नियम (Law of Diminishing Marginal Physical Productivity) भी कहा जाता है। परन्तु ये दोनों नाम पूरी तरह सही नहीं (The name 'Law of Diminishing Returns is a misnomer')। यह नियम तो विविध अनुपात के नियम की ऊपर बताई गई केवल द्वितीय अवस्था को व्यक्त करता है, न कि उत्पादन के समूचे नियम को (The Law of Diminishing Returns is only one phase of the more comprehensive Law of Variable Proportions)।

यहाँ इस विविध प्रतिफल के नियम के विषय में एक बात की ओर ध्यान दिलाना बहुत आवश्यक है। हम यह मान कर इस नियम को स्थापित करते हैं कि उत्पादन करते समय उत्पादन की तकनीक (tech-

1. Joan Robinson, *The Economics of Imperfect Competition*, p 330

nique of production) नहीं बदलती अपितु वही की वही रहती है। यदि कहीं उत्पादन को द्वितीय अवस्था मे बढ़ाने के साथ ही उत्पादन की कोई श्रेष्ठतर तकनीक अपना ली जाय तो फिर यह आवश्यक नहीं कि सीमान्त उत्पादन कम हो।

इस नियम के विषय मे एक और महत्त्वपूर्ण बात भी है। जब हम यह देखते हैं कि उत्पादन बढने पर साधनो का प्रतिफल (return) एक सीमा के बाद घटने लग जाता है, तो यह इसलिए नहीं घटता कि मार्किट मे साधनो की कीमतें चढ गई हैं या उत्पादित वस्तु (product) की कीमतें घट गई हैं बल्कि इस नियम के अन्तर्गत प्रतिफल मे जो भी परिवर्तन आते हैं, वे भी उस वस्तु विशेष के उत्पादन से सम्बन्धित तकनीकी तथ्यों (technological facts) के कारण होते हैं।

यह तो स्पष्ट है कि हरेक उद्योग के अपने अपने निराले तकनीकी लक्षण (technical characteristics) होते हैं। उदाहरणत कृषि मे भूमि साधन प्रधान है और अधिकतर निर्माण उद्योगों मे पूंजी और उद्यम साधन प्रमुख हैं। हमने देखा कि उत्पादन मे प्रतिफल का आधारभूत कारण होते हैं उत्पादित वस्तु विशेष के तकनीकी तथ्य (technical facts) और विविध अनुपात का नियम भी इन्ही तकनीकी तथ्यों पर ही आधारित है। अत किसी उद्योग विशेष मे सीमान्त उत्पादन अथवा प्रतिफल शीघ्र ही घटने लग जाएगा अथवा काफी सीमा तक बढता ही चला जाएगा, अथवा काफी देर स्थिर रहेगा, यह मुख्यत उस उद्योग की तकनीकी विशेषताओं पर ही निर्भर करेगा। कृषि का उदाहरण लें। इसमे भूमि साधन का अश सबसे अधिक महत्वपूर्ण होता है और यह एक दुर्लभ साधन है। इसकी इस तकनीकी विशेषता के कारण इसमे सीमान्त उत्पादन या प्रतिफल बहुत जल्दी घटने लग जाता है। इसके विपरीत, विनिर्माण उद्योगो (manufacturing industries) मे जोकि पूँजी तथा उद्यम-प्रधान हैं, काफी सीमा तक सीमान्त उत्पादन या प्रतिफल बढता ही चला जाता है। इसी बात को देख कर पुरातन अर्थशास्त्री यह कहने लग गए कि कृषि पर घटने प्रतिफल का नियम लागू होता है और विनिर्माण उद्योगो पर बढ़ते प्रतिफल का नियम। परन्तु ऐसा कहना एक भारी भूल है और इसके कारण अर्थशास्त्र के विद्यार्थियो में भ्रम उत्पन्न हो जाता है और वे समझने लग जाते हैं कि मानो ह्रासमान प्रतिफल तथा वर्धमान प्रतिफल के दो पृथक्-पृथक् नियम हैं जो भिन्न-भिन्न उद्योगो पर लागू होते हैं। परन्तु ठीक बात यह है कि नियम तो एक है जिसे विविध अनुपात का नियम कहना उचित होगा। यह नियम सभी प्रकार के उद्योगों पर लागू होता है। हाँ, यह एक अलग बात है कि भिन्न-भिन्न उद्योगो मे इस नियम की विभिन्न अवस्थाएँ कम अथवा अधिक लम्बी होती हैं। किसी उद्योग-विशेष म तो बढते सीमान्त उत्पादन की अवस्था शीघ्र समाप्त होकर घटते सीमान्त उत्पादन की अवस्था आ जाती है (जैसे कि कृषि मे), और अन्य किसी और उद्योग मे बढते सीमान्त उत्पादन की अवस्था इतनी लम्बी होती है कि उत्पादन के बहुत बडे पैमाने पर पहुँच जाने के पश्चात् ही कहीं सीमान्त उत्पादन कम होना आरम्भ होता है। (जैसे कि अधिकतर विनिर्माण उद्योगा मे)।

विविध अनुपात का नियम तथा लागतें (Law of Variable Proportions and Costs)

विविध प्रतिफल के नियम के अन्तर्गत जो तीन अवस्थाएं हैं, उनको अन्य नाम भी दिये जाते हैं पहली अवस्था को घटती लागत का नियम (Law of Decreasing Cost), दूसरी स्टेज को स्थिर लागत का नियम (Law of Constant Cost) और तीसरी स्टेज को बढ़ती लागत का नियम (Law of Increasing Cost)। परन्तु यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि लागत का घटना-बढ़ना केवल इस विविध प्रतिफल के नियम के फलस्वरूप ही नही होता, बल्कि साधनो और उत्पादित वस्तुओ की कीमतो मे परिवर्तन होने से भी हो सकता है। कई बार ये दो पृथक् कारण एक दूसरे की पुष्टि करते हैं, परन्तु यह भी देखने मे आता है कि ये दो कारक एक दूसरे के विरुद्ध काम करें।

पहली अवस्था का उदाहरण लें विविध प्रतिफल के नियम के अनुसार जैसे-जैसे हम परिवर्तनशील साधन (variable factor) की मात्रा को बढाते चले जाएँगे, सीमान्त उत्पादन या प्रतिफल बढता जाएगा। अब

यदि साधन और उत्पादित वस्तु की कीमतें स्थिर रहें, तो इसका यह फल होगा कि उत्पादित वस्तु की लागत कम हो जाएगी, यह है घटती लागत विविध प्रतिफल के नियम के अनुसार। पर यदि इसके अतिरिक्त जब हम परिवर्तनशील साधन अधिक मात्रा में खरीदें और थोक की कीमतों पर लेने के कारण वह साधन हमें अब सस्ता मिलने लग जाय, तो इस पहली अवस्था में उत्पादन लागत और भी कम हो जाएगी। इसके विपरीत यदि वही साधन की अधिक मात्रा लेने पर इसकी कीमत चढ़ जाए, तो यह सम्भव है कि इसकी कीमत इतनी अधिक बढ़ जाय कि चाहे साधन का सीमान्त उत्पादन बढ़ता जा रहा है, तब भी साधन बहुत महँगा होने के कारण वस्तु की प्रति इकाई लागत घटने के स्थान पर बढ़े।

इसी प्रकार तीसरी अवस्था को लें। इसमें सीमान्त उत्पादन अथवा सीमान्त प्रतिफल तो अवश्य कम होता है, परन्तु क्या वस्तु की प्रति इकाई लागत अवश्य बढ़ेगी, यह विश्वास से नहीं कहा जा सकता। यदि साधनों और उत्पादित वस्तु की कीमतें स्थिर रहें, तब तो इस नियम के अनुसार प्रति इकाई लागत बढ़ेगी। परन्तु यह भी तो हो सकता है कि अब जबकि साधन बड़ी भारी मात्रा में लिया जा रहा है, वह थोक दरों पर इतना सस्ता मिले कि इसका सीमान्त उत्पादन कम होने पर भी उत्पादित वस्तु की इकाई लागत कुछ देर तक बढ़ने के स्थान पर कम हो जाय।

अतः जब हम इस नियम का लागत के रूप में उल्लेख करते हैं तो अकेला विविध अनुपात का नियम (Law of Variable Proportions) ही लागू नहीं होता बल्कि साधनों की बाजार में प्रचलित कीमतों को ध्यान में रखना भी अत्यन्त आवश्यक है।

ह्रासमान प्रतिफल के नियम की व्यवहार्यता एवं महत्त्व (Applicability and Significance of Law of Diminishing Returns)

ऊपर हमने विविध अनुपातों के नियम की व्याख्या की है, जिसके अनुसार सीमान्त भौतिक उत्पादन यदि प्रारम्भ में बढ़ भी रहा हो तो अन्ततः घटता है। मार्शल के समय तक यह समझा जाता था कि उत्पादन के घटते प्रतिफल, स्थिर प्रतिफल तथा बढ़ते प्रतिफल के तीनों नियम पूर्णतया भिन्न तथा एक दूसरे से अलग-अलग होते हैं। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि घटते, स्थिर एवं बढ़ते प्रतिफल तीन पृथक्-पृथक् नियम न होकर एक ही सामान्य नियम—'विविध अनुपातों के नियम' की तीन अवस्थाएँ (phases) हैं। इसके अतिरिक्त मार्शल के समय तक यह भी समझा जाता था कि 'घटते प्रतिफल' का नियम कृषि के क्षेत्र में तथा स्थिर एवं बढ़ते प्रतिफल के नियम विनिर्माण उद्योगों (Manufacturing industries) में ही लागू होते हैं। परन्तु अब इस तरह की बातों पर विश्वास नहीं किया जाता है। 'ह्रासमान अथवा घटते प्रतिफल' के नियम की विस्तृत व्यवहार्यता है। यह नियम कृषि में जिस सीमा तक लागू होता है, उतना ही उद्योगों में भी लागू होता है। जब भी उत्पत्ति के कुछ साधनों को स्थिर रखकर अन्य साधनों की मात्रा में वृद्धि की जाती है, तो उत्पादन की तकनीक के यथावत् रहने पर, कृषि एवं उद्योग दोनों में अन्ततः 'घटते प्रतिफल' का लागू होना निश्चित है। ऊपर हमने विविध अनुपातों के नियम की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं, जो इसकी सामान्य एवं सार्वभौमिक व्यवहार्यता पर बल देती हैं।

जहाँ तक इस नियम की प्रामाणिकता (Validity) का सम्बन्ध है, हमने घटते प्रतिफल के उत्पन्न होने के सैद्धान्तिक कारण दिये हैं। एक बिन्दु या सीमा के पश्चात् 'घटते सीमान्त भौतिक उत्पादन' की पुष्टि प्रचुर अनुभवसिद्ध प्रमाणों द्वारा की जा चुकी है। वास्तव में, यदि घटते प्रतिफल का नियम घटित नहीं होता, तो हम मात्र एक गुलदस्ते में, श्रम एवं पूँजी का अधिकाधिक साधन लगाकर पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न का उत्पादन कर सकते। यदि किसी भूमि के टुकड़े पर अधिक श्रम का प्रयोग करके स्थिर प्रतिफल भी प्राप्त किया जा सकता, तो जैसे ही जनसंख्या में वृद्धि होती, हम कृषि उपज में आनुपातिक वृद्धि प्राप्त करने के लिए अधिक मात्रा में श्रम का प्रयोग कर सकते थे। ऐसी दशा में विश्व, विशेषकर भारत जैसे विकासशील देशों को खाद्यान्न की कमी एवं जनाधिक्य की

समस्या का सामना नही करना पडता। प्रो० आर० जी० लिप्से का कथन सही है कि "वस्तुत घटने प्रतिफल की परिकल्पना यदि असत्य हुई होती तो यह भय अनावश्यक होता कि वर्तमान जनसंख्या विस्फोट अपने साथ खाद्य सकट लायेगा। यदि भूमि की एक निश्चित मात्रा पर लगाये गये अतिरिक्त श्रमिको का सीमान्त भौतिक उत्पादन स्थिर रहा होता, तो कृषि मे केवल जनसख्या के उसी अनुपात को रखकर ही विश्व के खाद्यान्न के उत्पादन को जनसख्या के अनुपात मे बढाया जा सकता था। जैसी कि वस्तुस्थिति है, घटते प्रतिफल का अर्थ होता है, तकनीक के यथावत् रहने पर विश्व की निश्चित भूमि की पूर्ति पर एक बढती हुई जनसख्या के लगाये जाने पर प्रत्येक अतिरिक्त श्रमिक के सीमान्त भौतिक उत्पादन मे अत्यधिक ह्रास होगा।" (Indeed, were the hypothesis of diminishing returns incorrect, there would need to be no fear that the present population explosion will bring with it a food crisis If the marginal product of additional workers applied to a fixed quantity of land were constant, then world food production could be expanded in proportion to the increase in population merely by keeping the same proportion of population on farms As it is, diminishing returns means an inexorable decline in the marginal product of each additional labourer as an expanding population is applied, with static techniques, to a fixed world supply of agricultural land")[1]

परन्तु उपर्युक्त विवेचन से यह भ्रम नही होना चाहिए कि घटते प्रतिफल के कारण मानव जाति के रहन-सहन के स्तर, विशेषकर विकासशील देशो के निवासियो के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की कोई आशा नहीं की जा सकती। घटते प्रतिफल के नियम के आधार पर मानव जाति की भावी प्रत्याशा के सम्बन्ध म इस प्रकार की निराशाजनक भविष्यवाणी करना पूर्णरूपण अनुचित है।

कुछ लोगो ने इस नियम के सम्बन्ध मे भ्रमपूर्ण धारणा बना ली है, एव यह दावा किया है कि भूमि की मात्रा के अपरिवर्तित रहने पर जैसे-जैसे जनसख्या मे वृद्धि होगी, प्रति व्यक्ति उत्पादकता कम होगी। परन्तु यह पूर्णतया गलत है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, घटते प्रतिफल के नियम का एक प्रमुख उपबन्ध यह है कि तकनीकी ज्ञान, उपकरण इत्यादि यथावत् रहते हैं। वर्तमान म विकसित देशो मे यद्यपि जनसख्या मे वृद्धि हुई है, तथापि कृषि उत्पादकता घटने के स्थान पर अत्यधिक बढ गयी है। ऐसा इसलिए है, क्योकि आधुनिक विकसित देशों ने तकनीकी ज्ञान के क्षेत्र मे उल्लेखनीय प्रगति की है जिसके फलस्वरूप नयी एव उत्कृष्ट मशीनरी एव अन्य उपकरणो तथा उर्वरको का प्रयोग हुआ है। कृषि मे कार्य करने वाले प्रति श्रमिक पूँजी उपकरण की मात्रा अधिक बढ गयी है। इन सबके परिणामस्वरूप वर्तमान समय के उन्नत देशो म कृषि की उत्पादकता मे चामत्कारिक वृद्धि अकित की गयी है। दूसरी ओर, अर्द्ध विकसित देशो म तकनीकी ज्ञान, पूँजी के सचय एव पूँजीगत साज सामान, जैसे मशीनरी, यन्त्र, उर्वरक आदि के प्रयोग मे पर्याप्त प्रगति नही हुई है। अत इन देशो म यदि कृषि की उत्पादकता मे वृद्धि नही हुई है, तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। वास्तविकता यह है कि श्रम की सीमान्त उत्पादकता म ह्रास हुआ है। अर्द्ध विकसित देशो की कृषि मे पायी जाने वाली प्रच्छन्न बेरोजगारी की व्यापकता ही इस तथ्य को प्रकट करती है कि एक श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता शून्य अथवा शून्य के अत्यधिक निकट है। अत यह स्पष्ट है कि विकसित तथा अर्द्ध विकसित दोनो प्रकार के देशो मे कृषि उत्पादकता के व्यवहार के सम्बन्ध मे प्राप्त वास्तविक अनुभव, किसी भी तरह घटते प्रतिफल के नियम का विरोधाभास नही है, क्योकि घटते प्रतिफल के नियम की यह शर्त है कि तकनीकी ज्ञान, पूँजीगत उपकरण एव अन्य उत्पादन मे सहायक तत्त्व यथास्थिर रहते हैं।

उत्पादन तकनॉलाजी मे सुधार के फलस्वरूप कृषि की उत्पादकता या प्रति व्यक्ति कृषि उपज मे वृद्धि

[1] Richard G Lipsey, *Introduction to Positive Economics*, 3rd edition, p 216

घटते प्रतिफल के नियम के विपरीत नही है, इसे निम्नांकित रेखाकृति की सहायता से उदाहरणसहित समझा जा सकता है। रेखाकृति 13 4 मे आप देख सकते है कि प्रति व्यक्ति कृषि उपज एक निश्चित सीमा तक बढती है, तत्पश्चात् घटते प्रतिफल के कारण घटने लगती है। विकसित देशो मे समय-समय पर कृषि की प्रविधि मे प्रगति होने के कारण कृषि उत्पादकता मे निरन्तर वृद्धि होती रही है। कृषि के क्षेत्र मे यही प्राविधिक उन्नति उत्पादकता के AP_1 से AP_2, AP_2 से AP_3 तथा AP_3 से AP_4 तक के विवर्तन (shift) के लिये उत्तरदायी है। यदि तकनीक एव उपकरण म उन्नति नही होती, उदाहरण के लिए यदि कृषि उत्पादकता वक्र AP_1 पर ही स्थिर रहा होता तो जैसा कि AP_1 वक्र का नीचे की ओर गिरता भाग दर्शाता है, जनसख्या मे वृद्धि एव तदनुरूप श्रम शक्ति म वृद्धि के साथ-साथ कृषि उत्पादकता मे कमी अवश्य
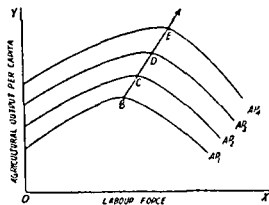
रेखाकृति 13 4

हुई होती। परन्तु वास्तविक व्यवहार मे श्रम शक्ति मे वृद्धि के साथ-साथ कृषि की औसत उत्पादकता, प्राविधिक उन्नति के कारण बढ़ती रही है। अर्थात् *AP* रेखा के क्रमश ऊपर की ओर विवर्तित (shift) होने के कारण औसत कृषि उत्पादकता बढ़ती गयी है। प्रविधि म उन्नति के परिणामस्वरूप विकसित देशो की अर्थव्यवस्था तीरांकित रेखा *BE* के साथ अग्रसर होती रही है जो इस बात को दर्शाती है कि श्रम-शक्ति मे वृद्धि के बावजूद औसत कृषि उत्पादकता म वृद्धि हुई है। इस प्रकार हम देखते है कि विकसित देशो मे दीर्घकाल म औसत कृषि उत्पादकता या प्रतिव्यक्ति उत्पादकता म वास्तविक वृद्धि किसी भी तरह 'अन्य बातें यथावत् रहे' के उपबन्ध वाले घटते प्रतिफल के प्रतिकूल नही है, क्योकि इन देशो मे कृषि उत्पादकता की वृद्धि का कारण यह है कि 'अन्य बातें यथावत रहें" उपबन्ध का पालन नही किया गया है।

अत यह स्पष्ट है कि घटते प्रतिफल की प्रामाणिकता के बावजूद भारत जैसे विकासशील देश कृषि तकनॉलाजी मे उन्नति कर के कृषि उत्पादन को तीव्रगति से बढा सकते है। जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है कि हम वैज्ञानिक एव प्रौद्योगिक उन्नति द्वारा निरन्तर कृषि उत्पादन की तकनीक मे सुधार करके घटते प्रतिफल की क्रियाशीलता को स्थगित कर सकते है। यदि हम अपनी तकनॉलाजी (technology) मे पर्याप्त विकास करने मे असफल हो जाएँ, तो यह स्वाभाविक है कि घटते प्रतिफल का नियम निश्चय ही लागू होगा, तथा खाद्यान्न सकट एव भुखमरी को जन्म देगा। अत हम यह निष्कर्ष निकालते है कि, 'जब तक उत्पादन की तकनीक मे निरन्तर तीव्र गति से त्वरित प्रगति नही होगी, जनसख्या विस्फोट निश्चय ही अपने साथ विश्व के अधिकांश भाग मे गिरते जीवन स्तर एव अन्तत व्यापक दुर्भिक्ष लायेगा।" ('Unless there is continual and rapid accelerating improvement in the techniques of production, the population explosion must bring with it declining living standards over much of the world and eventual widespread famine")[1]

1 Ricard G Lipsey, *op cit*, p 216

14

उत्पादन का सिद्धान्त : सम-उत्पाद वक्र
(THEORY OF PRODUCTION : EQUAL PRODUCT CURVES)

अभी हाल के वर्षों मे उत्पादन के सिद्धान्त का अध्ययन करने तथा साधनो के सयोग की दृष्टि से उत्पादन के सन्तुलन की व्याख्या करने के लिए एक नई तकनीक जिसे सम-उत्पाद वक्र कहते हैं, का प्रयोग होने लगा है। सम-उत्पाद वक्र माँग सिद्धान्त के अनधिमान वक्रो की तरह ही है। इस अध्याय मे हम उत्पादन के सिद्धान्त का अध्ययन सम-उत्पाद वक्रो की सहायता से करेंगे।

सम-उत्पाद वक्रो का अर्थ
(Meaning of Equal-Product Curves)

जिस प्रकार अनधिमान वक्र (Indifference Curve) दो वस्तुओ के उन सयोगो को व्यक्त करता है जिनसे उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है, उसी तरह सम-उत्पाद वक्र (Equal Product Curve) दो साधनो के उन विभिन्न सयोगो (Combinations) को दर्शाता है जिनसे समान मात्रा मे उत्पादन होता है। सम-उत्पाद वक्र पर प्रदर्शित साधनो के सयोगो से समान मात्रा मे उत्पादन सम्भव होने के कारण उत्पादक उनमे उदासीन सा होगा अर्थात् उसका उन सयोगो के मध्य कोई अधिमान नही होगा, इसलिए सम-उत्पाद वक्रो को उत्पादन अनधिमान वक्र (Production Indifference Curves) भी कहते हैं। अग्रेजी मे इनके अन्य नाम Iso-Product Curves तथा Isoquants भी हैं।

सारणी 14 1 सम-उत्पाद अनुसूची

सयोग	साधन X	साधन Y
A	1	12
B	2	8
C	3	5
D	4	3
E	5	2

सम-उत्पाद वक्रो की धारणा ऊपर की सारणी से भली-भाँति समझ मे आ जाएगी। इस सारणी मे हमने यह मान लिया है कि किसी पदार्थ को उत्पादित करने के लिए दो साधनो—X और Y—का प्रयोग होता है। आरम्भ मे सयोग A जो साधन X की 1 इकाई तथा साधन Y की 12 इकाइयाँ व्यक्त करता है के द्वारा वस्तु की एक निश्चित मात्रा (मान लो 20 इकाइयाँ) उत्पादित की जाती है। सारणी के अन्य सभी साधन-सयोगो से भी समान उत्पादन (अर्थात् 20) इकाइयाँ) होता है।

सारणी मे सयोग B जो $2X+8Y$ को, सयोग C जो $3X+5Y$ को, सयोग D जो $4X+3Y$, सयोग

E जो $5X+2Y$ को दर्शाते हैं, प्रत्येक मे वस्तु की 20 इकाइयाँ उत्पादित होती है। यदि हम इन सभी सयोगों को ग्राफ पत्र पर अंकित करके मिलाएँ तो हमे एक सम-उत्पाद वक्र प्राप्त होगा। रेखाकृति 14 1 मे एक सम-उत्पाद वक्र P खींचा गया है जिस पर साधनों के उपर्युक्त विभिन्न सयोग स्थित है। यह सम-उत्पाद वक्र P दो साधनो के उन सभी सयोगो को दर्शाता है जिनसे उत्पादन की 20 इकाइयाँ उत्पादित होती हैं।
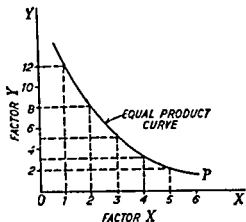
रेखाकृति 14 1 : समोत्पाद वक्र

यद्यपि सम-उत्पाद वक्र माँग के सिद्धान्त के अनधिमान वक्रो (Indifference Curves) के समान हैं लेकिन इन दोनो मे एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। एक अनधिमान वक्र दो वस्तुओं के उन सभी सयोगों को व्यक्त करता है जिनसे उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि मिलती है, लेकिन इनसे हमे यह पता नहीं चलता कि उपभोक्ता को उनसे कितनी सन्तुष्टि मिलती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि तुष्टिगुण अथवा सन्तुष्टि एक मानसिक वस्तु है जिसको मापा नहीं जा सकता। इसलिए ऐसी कोई भौतिक इकाई नहीं है जिसमे सन्तुष्टि मापी जा सके। यही कारण है कि हम अनधिमान वक्रों को I, II, III, IV आदि से व्यक्त करते हैं जिसका तात्पर्य यह होता है कि ऊँचे अनधिमान वक्र अधिक सन्तुष्टि को दर्शाते हैं किन्तु यह नहीं बताते कि कितनी अधिक। परन्तु इसके विपरीत सम-उत्पाद वक्रो को सरलता से उनके अनुरूप उत्पादन मात्रा द्वारा दिखाया जा सकता है। पदार्थ का उत्पादन एक भौतिक वस्तु है जिसे भौतिक इकाइयों (physical units) म आसानी से मापा जा सकता है। इसके अतिरिक्त यदि हम एक सम-उत्पाद चित्र (Equal Product Map), जिसमे कई सम-उत्पाद वक्र हो, बनायें तो हमे यह जान सकते हैं कि किसी एक सम-उत्पाद वक्र पर उत्पादन किसी अन्य वक्र की तुलना म कितना अधिक या कम है।

हमने रेखाकृति 14 2 मे एक सम-उत्पाद चित्र बनाया है जिसम सम-उत्पाद वक्र P_1, P_2, P_3 और P_4 जो क्रमश उत्पादन की 20, 40, 60 और 80 इकाइयो को दर्शाते हैं, दिखाए गए हैं। सम उत्पाद वक्र P_2 सम-उत्पाद वक्र P_1 की तुलना मे 20 इकाइयाँ अधिक उत्पादन को व्यक्त करता है। इसी प्रकार सम-उत्पाद वक्र P_4 पर उत्पादन, सम-उत्पाद वक्र P_1 के उत्पादन से 60 इकाइयाँ अधिक है। अत सम-उत्पाद वक्रो की दशा मे यह ज्ञात करना सम्भव है कि किसी सम-उत्पाद वक्र पर उत्पादन किसी अन्य वक्र से कितना अधिक अथवा कम है।
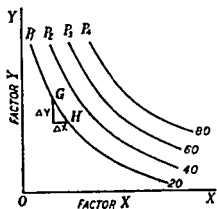
रेखाकृति 14 2 · समोत्पाद चित्र

तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Marginal Rate of Technical Substitution)

तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की धारणा माँग के सिद्धान्त की प्रतिस्थापन की दर की तरह ही है। साधन X की साधन Y के लिए तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर का अर्थ है कि साधन X की एक इकाई साधन Y की कितनी इकाइयों के स्थान पर

प्रयोग हो सकती है जिससे उत्पादन मात्रा समान रहे (Marginal Rate of technical substitution of X for Y is the number of units of factor Y which can be replaced by one unit of factor X, quantity of the output remaining unchanged)। तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की धारणा निम्न सारणी से सरलता से समझी जा सकती है।

सारणी 14 2 तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर

संयोग	साधन X	साधन Y	X की Y के लिए तकनीकी प्रतिस्थापन की दर
A	1	12	
			4 1
B	2	8	
			3 1
C	3	5	
			2 1
D	4	3	
			1 1
E	5	2	

साधनो के उपर्युक्त सभी संयोगो से समान उत्पादन होता है अर्थात् वे एक ही सम-उत्पाद वक्र (Equal Product Curve) पर स्थित हैं। संयोग A (अर्थात् $1X+12Y$) और संयोग B (अर्थात् $2X+8Y$) की तुलना करने से स्पष्ट है कि साधन X की एक इकाई साधन Y की 4 इकाइयो के स्थान पर प्रयोग हो सकती है जबकि उत्पादन मात्रा समान रहती है। इसलिए यहाँ पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Marginal Rate of Technical Substitution, $MRTS$) 4 1 है।

इसी प्रकार यदि B और C संयोगों की तुलना की जाए तो यह ज्ञात होगा कि यहाँ साधन X की एक इकाई साधन Y की तीन इकाइयो का स्थान लेती है जबकि उत्पादन स्थिर रहता है। अत यहाँ पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ($MRTS$) 3 1 है। इसी प्रकार तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ($MRTS$) C और D के संयोगो के बीच 2 1, D और E के संयोगो के बीच 1 1 है।

तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ($MRTS$) को निम्न प्रकार से लिखा जा सकता है —

$MRTS=\frac{\triangle Y}{\triangle X}$ जहाँ पर $\triangle$ परिवर्तन का द्योतक है।

रेखाकृति 14 2 को देखने पर पता चलेगा कि सम-उत्पाद वक्र P_1 पर जब उत्पादक बिन्दु G से बिन्दु H को जाता है तो वह साधन X की $\triangle X$ मात्रा को साधन Y की $\triangle Y$ मात्रा के स्थान पर प्रयोग करता है तो उत्पादन मात्रा समान रहती है अर्थात् वह समान उत्पाद वक्र पर रहता है। इसलिए बिन्दु G और H के बीच प्रतिस्थापन की सीमान्त दर $\frac{\triangle Y}{\triangle X}$ के बराबर होगी।

परन्तु $\frac{\triangle Y}{\triangle X}$ सम उत्पाद वक्र की ढाल (slope) को दर्शाता है। अत हम सम उत्पाद वक्र (Equal Product Curve) के किसी बिन्दु पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ($MRTS$) वहाँ पर खीची गई स्पर्श रेखा (tangent) की ढाल (slope) से ज्ञात कर सकते हैं। रेखाकृति 14 3 मे एक सम-उत्पाद वक्र P खीचा गया है जिस पर दो बिन्दु K और L लिए गए हैं। बिन्दु K पर TT' और बिन्दु L पर JJ' स्पर्श रेखाएँ (tangents) खीची गई हैं। स्पर्श-रेखा TT' की ढाल (slope) $\frac{OT}{OT'}$ के बराबर है। अतएव सम उत्पाद वक्र P के बिन्दु K पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ($MRTS$), $\frac{OT}{OT'}$ के बराबर है। इसी प्रकार स्पर्श रेखा JJ' की ढाल $\frac{OJ}{OJ'}$ के बराबर है। इसलिए सम-उत्पाद वक्र P के बिंदु L पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर $\frac{OJ}{OJ'}$ के बराबर होगी।

सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन की दर के विषय मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि ज्यो-ज्यो साधन Y के स्थान पर साधन X की मात्रा बढाई जाती है, त्यो-त्यो X द्वारा Y की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर घटती जाएगी (Marginal Rate of Technical Substi-

tution will generally diminish as the quantity of X is increased) । दूसरे शब्दों में, जैसे-जैसे साधन Y के स्थान पर साधन X का प्रयोग बढ़ाया जाता है तो साधन Y की इकाइयों की संख्या, जिनके स्थान पर साधन X की एक इकाई का प्रयोग हो सकता है, घटती जाएगी। इसे ह्रासमान तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर का नियम (Law of Diminishing Marginal Rate of Technical Substitution) कहते हैं। इस नियम का कारण ह्रासमान सीमान्त प्रतिफल (Law of Diminishing Returns)
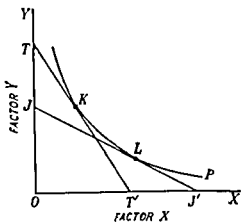
रेखाकृति 14 3

के नियम का लागू होना है। जैसे साधन X की मात्रा बढ़ाई जाती है और साधन Y की मात्रा घटती है तो ह्रासमान सीमान्त प्रतिफल के नियम के कारण X की सीमान्त उत्पादकता (marginal productivity) घट जाएगी, और Y की सीमान्त उत्पादकता बढ़ जाएगी। परिणामस्वरूप अब उत्पादन की मात्रा समान रखने के लिए साधन X की एक इकाई, साधन Y की पहले से कम इकाइयों के स्थान पर प्रयुक्त होगी। जिस गति से सीमान्त प्रतिस्थापन की दर घटती है वह इस बात का सूचक है कि दो साधन किस सीमा तक एक दूसरे के स्थानापन्न हैं। यदि कोई दो साधन एक दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न (perfect substitutes) हैं जिससे वे एक दूसरे के स्थान पर सरलता से तथा भली भाँति प्रयोग हो सकते हैं तो सीमान्त प्रतिस्थापन की दर कम नहीं होगी।

सम-उत्पाद वक्रों के लक्षण (Properties or Characteristics of Equal Product Curves)

सम-उत्पाद वक्रों के लक्षण वही हैं जो अनधिमान वक्रों के हैं जिनकी व्याख्या हम पहले कर चुके हैं। सम-उत्पाद वक्रों को प्रमाणित भी हम उसी प्रकार कर सकते हैं जिस प्रकार हमने अनधिमान वक्रों को प्रमाणित किया है। सम-उत्पाद वक्रों की मुख्य विशेषताएँ अथवा लक्षण निम्नलिखित हैं—

(क) सम उत्पाद वक्र दायीं ओर नीचे को झुका होता है (Equal Product Curve slopes downward to the right)। कारण यह है कि यदि साधन X की मात्रा घटाई जाती है तो उत्पादन मात्रा स्थिर रखने के लिए साधन Y की मात्रा घटानी पड़ती है।

(ख) सम-उत्पाद वक्र मूल बिन्दु की ओर उत्तल होते हैं (Equal Product Curves are convex to the origin)। ऐसा इसलिए है कि तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर घटती है जैसे कि Y के स्थान पर X का प्रयोग बढ़ाया जाता है। सम-उत्पाद वक्रों का मूल-बिन्दु की ओर अवतल (concave) होना यह प्रकट करता है कि जैसे साधन Y के स्थान पर साधन X का प्रयोग बढ़ाया जाता है तो X द्वारा Y की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर बढ़ती है। परन्तु बढ़ती प्रतिस्थापन की सीमान्त दर यथार्थवादी नहीं है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि घटते सीमान्त प्रतिफल के लागू होने के कारण तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर घटती है जब किसी साधन का अन्य साधन के स्थान पर प्रयोग बढ़ाया जाता है।

(ग) कोई दो सम उत्पाद वक्र परस्पर काट नहीं सकते (Two Equal Product Curves Cannot Cut Each Other)—यदि दो सम-उत्पाद वक्र, एक 40 इकाइयाँ उत्पादन मात्रा वाला और दूसरा 60 इकाइयाँ उत्पादन मात्रा वाला, एक दूसरे को काटें तो साधनों का एक ऐसा समान संयोग (a common combination of factors) होगा जो दोनों सम-उत्पाद वक्रों पर स्थित होगा जैसा कि रेखाकृति 14 4 में दिखाया गया है। इसमें दो सम उत्पाद वक्र P_1 और

P_2 जो क्रमशः उत्पादन की 40 और 60 इकाइयों को प्रकट करते है, बिन्दु C पर एक दूसरे को काटते दिखाए गए हैं अर्थात् बिन्दु C द्वारा व्यक्त दो साधनो का
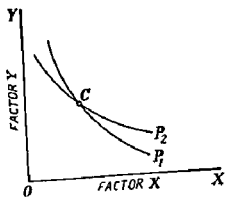
रेखाकृति 14 4

सयोग (Combination) दोनो सम-उत्पाद वक्रो पर स्थित है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि साधनो के सयोग C से सम-उत्पाद वक्र P_1 के अनुसार उत्पादन की 40 इकाइयाँ उत्पादित होती हैं और उसी सयोग C से सम-उत्पाद वक्र P_2 के अनुसार उत्पादन की 60 इकाइयाँ उत्पादित होती हैं। यह तो बिलकुल गलत है। यह कैसे हो सकता है कि साधनो के एक ही सयोग मे उत्पादन के दो भिन्न स्तर प्राप्त हो जबकि उत्पादन की तकनीक समान रहती हो। इससे सिद्ध होता है कि सम-उत्पाद वक्र किसी भी बिन्दु पर एक दूसरे को काट नही सकते।

प्रतिस्थापन सापेक्षता (साधनों के मध्य) (Elasticity of Substitution Between Factors)

माँग के सिद्धान्त से सम्बन्धित भाग 2 मे हमने उपभोग मे वस्तुओ (पदार्थों) के मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता के विचार की व्याख्या की। उत्पादन के सिद्धान्त के अन्तर्गत हम वस्तुओ के उत्पादन मे साधनों (आगतो) के मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता की विवेचना करेंगे। इस प्रकार उत्पादन के सिद्धान्त मे हम जिससे सम्बन्धित हैं उसे तकनीकी प्रतिस्थापन सापेक्षता (Technical Elasticity of Substitution) कहा जा सकता है। जैसा कि ऊपर दृष्टिगोचर होता है कि एक समोत्पाद वक्र पर जैसे-जैसे X साधन, Y साधन के लिए प्रतिस्थापित किया जाता है साधन X का साधन Y के लिए तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ($MRTS$) घटती जाती है। अन्य शब्दों मे, वस्तु के उत्पादन मे प्रयुक्त विभिन्न साधन अनुपातो (आगत अनुपातो) पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर भिन्न होती है। समोत्पाद वक्र पर गति होने पर साधनो अथवा आगतो (inputs) को प्रयुक्त किये जाने वाले अनुपातो मे इस परिवर्तनशीलता की उत्पादन सम्भावनाओ मे परिवर्तनो से तुलना की जा सकती है जो तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर मे परिवर्तन द्वारा मापे जा सकते हैं। प्रतिस्थापन की सीमान्त दर मे सापेक्ष परिवर्तन के परिणामस्वरूप साधन अनुपातो (आगत अनुपातो) मे सापेक्ष परिवर्तन साधनो के मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता कहलाती है।

प्रतिस्थापन सापेक्षता के विचार की श्रम तथा पूजी के मध्य प्रतिस्थापन के सम्बन्ध मे आर्थिक साहित्य में विस्तृत विवेचना की गयी है। अत हम भी प्रतिस्थापन सापेक्षता के विचार को पूजी तथा श्रम उत्पादन के साधनो के सदर्भ मे व्याख्या करेंगे। यदि K पूंजी की मात्रा, L श्रम की मात्रा तथा E_S प्रतिस्थापन सापेक्षता प्रदर्शित करता है तो उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार पूजी की श्रम के लिये प्रतिस्थापन सापेक्षता को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

$$E_S = \frac{\text{प्रयुक्त आगतो } (K \text{ तथा } L) \text{ के अनुपात मे आनुपातिक परिवर्तन}}{K \text{ का } L \text{ के लिए तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$= \frac{K/L \text{ में आनुपातिक परिवर्तन}}{MRTS_{KL} \text{ मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$= \frac{\dfrac{\Delta(K/L)}{K/L}}{\Delta(MRTS_{KL})/MRTS_{KL}}$$

$$= \frac{\Delta(K/L)}{K/L} \cdot \frac{MRTS_{KL}}{\Delta(MRTS_{KL})}$$

$$= \frac{\Delta(K/L)}{\Delta(MRTS_{KL})} \cdot \frac{MRTS_{KL}}{K/L}$$

प्रतिस्थापन सापेक्षता के विचार को समझने के लिए रेखाकृति 14.5 पर ध्यान दीजिए जहाँ पर एक समोत्पाद वक्र q खींचा गया है। यह दृष्टिगत होगा कि दिए हुए समोत्पाद वक्र q मे A बिन्दु पर प्रयुक्त
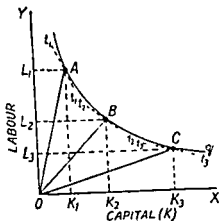
रेखाकृति 14.5 : $MRTS_{KL}$ तथा पूंजी-श्रम अनुपात

पूंजी-श्रम अनुपात K_1/L_1 है जो कि किरण OA की ढाल के उलट (inverse) के बराबर है। जैसे-जैसे श्रम, पूंजी द्वारा प्रतिस्थापित किया जाता है और इसलिए हम
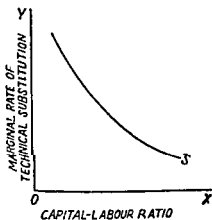
रेखाकृति 14.6 : प्रतिस्थापन वक्र

समोत्पाद वक्र q पर A बिन्दु से B की ओर नीचे को चलते हैं। प्रयुक्त पूंजी-श्रम अनुपात K_2/L_2 को परिवर्तित हो जाता है जो किरण OB की ढाल के inverse के बराबर है। यदि पूंजी का श्रम के लिए पुनः प्रतिस्थापन होता है तो हम समोत्पाद वक्र q पर नीचे C बिन्दु पर आ जाते हैं, पूंजी श्रम अनुपात पुन K_3/L_3 तक बढ जाता है जो OC किरण की ढाल के inverse के बराबर है। अत यह स्पष्ट हो जाता है कि जैसे-जैसे हम समोत्पाद वक्र पर श्रम के लिए अधिक पूंजी को प्रतिस्थापित करते है, पूंजी श्रम अनुपात बढता जाता है।

अब, जैसा कि हमे पहले ही दृष्टिगत है, कि A बिन्दु पर प्रतिस्थापन की सीमान्त दर उस बिन्दु पर समोत्पाद वक्र की ढाल द्वारा मापी जाती है (जो कि उस बिन्दु से खींची गयी स्पर्श रेखा $t_1 t_1$ की ढाल के बराबर है)। B बिन्दु पर $MRTS_{KL}$, स्पर्श रेखा $t_2 t_2$ की ढाल के बराबर है तथा C बिन्दु पर $MRTS_{KS}$, स्पर्श रेखा $t_3 t_3$ की ढाल के बराबर है। यह दृष्टिगत होगा कि $t_2 t_2$ का ढाल $t_1 t_1$ से कम तथा $t_3 t_3$ का $t_2 t_2$ से कम है।

उपर्युक्त से यह तात्पर्य निकलता है कि ज्यामितीय दृष्टिकोण से साधनो के मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता एक समोत्पाद वक्र पर दो बिन्दुओ से सम्बन्धित दो किरणो (पैमाना रेखाओ) की ढालो मे आनुपातिक परिवर्तन तथा उन बिन्दुओं पर समोत्पाद वक्रो के ढालो मे आनुपातिक परिवर्तन का अनुपात है। अत —

$$E_S = \frac{\text{साधन अनुपातो मे आनुपातिक परिवर्तन}}{MRTS_{KL} \text{ मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$= \frac{\text{दो बिन्दुओ से सम्बन्धित दो किरणों की ढालो मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{उन बिन्दुओ पर समोत्पाद वक्र से खींची गयी स्पर्श रेखाओ के ढालों मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

प्रतिस्थापन सापेक्षता का विचार अधिक भली-भाँति समझा जा सकता है यदि हम विभिन्न पूंजी श्रम अनुपातो पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को प्रत्यक्ष रूप से प्रदर्शित करें। रेखाकृति 14.6 पर ध्यान दीजिए जहाँ पूंजी श्रम अनुपात को X-अक्ष पर तथा $MRTS_{KL}$ को Y-अक्ष पर मापा गया है। जैसा कि ऊपर व्याख्या की जा चुकी है, रेखाकृति 14.5 प्रदर्शित करती है कि जैसे-जैसे हम समोत्पाद वक्र पर A से B की ओर तथा B से C की ओर

चलते हैं, तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर गिरती है जबकि श्रम के लिए अधिक पूंजी को प्रतिस्थापित किया जाता है तथा पूंजी-श्रम अनुपात बढ़ता है। रेखाकृति 14 6 मे हम विभिन्न पूंजी-श्रम अनुपातो (जैसे A, B, C बिन्दुओ के तरसवादी) पर प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की मात्रा को प्राकित करते हैं तथा उसके द्वारा प्रतिस्थापन वक्र I प्राप्त करते हैं जो प्रतिस्थापन की सीमान्त दर तथा साधन-अनुपातो (पूंजी-श्रम अनुपातो) के मध्य विपरीत सम्बन्ध प्रदर्शित करता है। दो साधनो के मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता इस प्रतिस्थापन वक्र S की सापेक्षता है।

प्रतिस्थापन सापेक्षता की मात्रा समोत्पाद वक्रों की वक्राकृति पर निर्भर करती है। समोत्पाद वक्रो की उन्नतोदरता जितनी अधिक होगी प्रतिस्थापन सापेक्षता उतनी ही कम होगी तथा विपरीत क्रम से। चरम दशा मे यदि दो साधन पूर्ण पूरक हैं तथा उनके समोत्पाद वक्र समकोणित हैं, तो उनके मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता शून्य होती है। दूसरी चरम सीमा पर जब दो साधन पूर्ण स्थानापन्न हैं तथा उनके मध्य समोत्पाद वक्र सरल रेखाएँ हैं तो उनके मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता अनन्त होती है। साधनो के मध्य प्रतिस्थापन क्षमता (substitutability) के साथ प्रतिस्थापन सापेक्षता प्रत्यक्ष रूप से बढती है। इसके अतिरिक्त, चूंकि तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर तथा साधन-अनुपात मे विपरीत सम्बन्ध पाया जाता है (जैसे-जैसे साधन अनुपात बढता है तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर गिरती है), अत प्रतिस्थापना सापेक्षता सदैव ऋणात्मक होती है।

चूंकि सन्तुलन अवस्था मे तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर, साधन कीमतो के अनुपात के बराबर होती है, अत प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को उपर्युक्त सूत्र मे साधन कीमतो के अनुपात द्वारा प्रतिस्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार—

$$E_S = \frac{\text{साधन अनुपात मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{साधन कीमतो के अनुपात मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$= \frac{\dfrac{\Delta(K/L)}{K/L}}{\dfrac{\Delta(P_K/P_L)}{P_K/P_L}} = \frac{\Delta(K/L)}{K/L} \times \frac{P_K/P_L}{\Delta(P_K/P_L)}$$

$$= \frac{\Delta(K/L)}{\Delta(P_K/P_L)} \times \frac{P_K/P_L}{K/L}$$

प्रतिस्थापन सापेक्षता के सूत्र मे तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के लिए साधन-कीमत अनुपात का प्रतिस्थापन, प्रतिस्थापन सापेक्षता के विचार के व्यावहारिक प्रयोग मे बहुत अधिक सहायक है।

सम-लागत रेखा अथवा कीमत रेखा
(Iso-Cost Line or Price Line)

कोई उत्पादक साधनो का कौन-सा संयोजन चुनेगा यह उत्पादक के पास साधनो पर व्यय करने के लिए रुपये तथा साधनो की कीमत पर निर्भर होता है। सम-लागत रेखा (Iso-Cost Line) इन दो तत्वो अर्थात् उत्पादन साधनों की कीमतों तथा कुल मुद्रा जिसको उत्पादक साधन खरीदने पर व्यय करना चाहता है, को प्रकट करती है।

मान लो एक उत्पादक के पास दो साधनों X और Y को खरीदने के लिए 200 रुपये हैं। माना
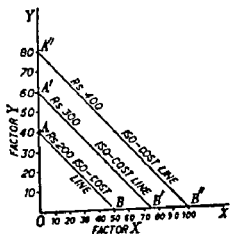
रेखाकृति 14 7 : सम-लागत रेखा

साधन X की कीमत 4 रुपये प्रति इकाई है और यदि वह समस्त 200 रुपये साधन X के खरीदने पर व्यय करता है तो वह X की 50 इकाइयाँ खरीद सकेगा। रेखाकृति 14 7 मे OB साधन X की 50 इकाइयों के बराबर है। यदि साधन Y की कीमत 5 रुपये प्रति इकाई है और समस्त 200 रुपये साधन Y के खरीदने

पर व्यय किये जाते हैं तो उत्पादक साधन Y की 40 इकाइयाँ खरीद सकेगा। रेखाकृति 14 7 म OA साधन Y की 40 इकाइयो के बराबर है।

अब यदि हम A और B को मिलाएँ तो हम रेखा AB प्राप्त होती है। यह रेखा AB सम-लागत रेखा (Iso-Cost Line) कहलाती है क्योंकि यह दो साधनो के उन सभी सयोगो को प्रकट करती है जिनमे से प्रत्येक सयोग 200 रुपये से खरीदा जा सकता है। दूसरे शब्दो में, सम-लागत रेखा AB पर स्थित प्रत्येक सयोग की लागत समान (200 रुपये के बराबर) है। सम-लागत रेखा को कीमत रेखा (Price Line) अथवा व्यय रेखा (Outlay line) भी कहते हैं।

अब यदि साधनो की कीमतें स्थिर रहने पर उत्पादक साधनो पर 300 रुपये खर्च करने का निर्णय लेता है तो वह दोनो साधनो को पहले से अधिक मात्रा मे खरीद सकेगा। कुल व्यय के 300 रुपये तक बढ़ जाने से सम-लागत रेखा ऊपर को सरक जायेगी। यदि समस्त 300 रुपये साधन X पर खर्च किए जाएँ तो उसकी कीमत 4 रुपये प्रति इकाई होने पर कुल 75 इकाइयाँ (अथवा OB' मात्रा) खरीदी जा सकेगी। और यदि ये समस्त 300 रुपये साधन Y पर व्यय किये जाएँ तो उसकी कीमत 5 रुपये प्रति इकाई होने पर उसकी 60 इकाइयाँ (अथवा OA' मात्रा) खरीदी जा सकेगी। A' और B' के बिन्दुओ को मिलाने पर हमें नए कुल व्यय के अनुसार सम लागत वक्र $A'B'$ प्राप्त होगा। यह नया सम-लागत वक्र $A'B'$ प्रारंभिक सम-लागत वक्र AB के समानान्तर होगा क्योंकि केवल कुल व्यय ही बढ़ा है जबकि साधनो की कीमतें समान ही हैं। इसी प्रकार साधनो की कीमतें पूर्ववत् रहने पर जब उन पर कुल व्यय बढ़ कर 400 रुपये हो जाता है तो सम-लागत रेखा ऊपर को विवर्तित हो कर $A''B''$ हो जाएगी।

साधनों का इष्टतम (न्यूनतम लागत) सयोग (Optimum (or Least-Cost) Factor Combination)

सम-उत्पाद वक्र साधनों के उन सभी सयोगों को प्रकट करता है जिनमे उत्पादन की समान मात्रा उत्पादित होती है। इसलिए सम-उत्पाद वक्र तकनीकी दशाओ (technical conditions) को प्रकट करता है। इसके विपरीत सम-लागत वक्र साधनो पर किये जाने वाले कुल व्यय और साधनो की कीमतों के अनुपात को प्रकट करता है। अब प्रश्न यह है कि वस्तु की किसी विशेष मात्रा को उत्पादित करने के लिये उत्पादक साधनो मे कौन से सयोग को चुनेगा। दूसरे शब्दो मे, यदि वस्तु की किसी विशेष मात्रा को उत्पादित करना हो तो सम-उत्पाद वक्र चित्र के कौन से बिन्दु पर उत्पादक साधनो के सयोग के विषय मे सन्तुलन की स्थिति मे होगा। इसको रेखाकृति 14 8 से समझाया जा सकता है।
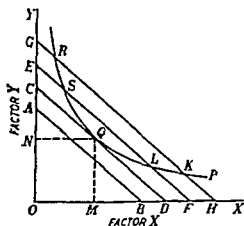
रेखाकृति 14 8 साधनों का न्यूनतम साधन सयोग

हम यह मान लेते हैं कि उत्पादक वस्तु की एक विशेष मात्रा को कम से कम लागत पर उत्पादित करने की चेष्टा करेगा। वस्तु की एक विशेष मात्रा को न्यूनतम लागत पर उत्पादित करने से ही उसके लाभ अधिकतम होगे जोकि सभी विवेकशील उत्पादकों का लक्ष्य होता है।

कल्पना करो कि उत्पादक को एक वस्तु की 100 इकाइयाँ उत्पादित करनी हैं। वस्तु की 100 इकाइयाँ रेखाकृति 14 8 के सम-उत्पाद वक्र P पर स्थित किसी भी साधनो के सयोग जैसे R, S, Q, L, K आदि द्वारा उत्पादित की जा सकती हैं। वह सम उत्पाद वक्र पर स्थित साधनो के उस सयोग को उत्पादन करने के

लिए चयन करेगा जिससे उत्पादन लागत न्यूनतम हो।

रेखाकृति 14.8 से स्पष्ट होगा कि उत्पादक साधनो के सयोग Q को चुनेगा जहां पर सम-उत्पाद वक्र P सम-लागत रेखा (Iso-Cost Line) CD को स्पर्श करती (tangent) है। वस्तु की 100 इकाइयां उत्पादित करने के लिए साधनो के Q सयोग के प्रयोग से लागत न्यूनतम होगी। उत्पादक सम-उत्पाद वक्र P पर स्थित किसी अन्य सयोग जैसे R और S को उत्पादन करने के लिए नही चुनेगा क्योकि ये सभी CD से ऊँचे सम-लागत वक्रो पर स्थित होंगे और परिणामस्वरूप उत्पादक को वस्तु की 100 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए अधिक लागत उठानी पड़ेगी। यदि वह सयोग R अथवा S को चुनता है तो उसे वस्तु की 100 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए अधिक लागत उठानी पड़ेगी क्योकि R और S ऊँचे सम-लागत वक्र क्रमश: GH और EF पर स्थित हैं। इसी प्रकार सम-उत्पाद वक्र P पर स्थित L और K बिन्दुओ द्वारा व्यक्त साधनो के सयोगो को भी उत्पादक नही चुनेगा क्योंकि ये सयोग भी सम-लागत वक्र CD की अपेक्षा ऊँचे सम-लागत वक्रो क्रमश EF और GH पर स्थित हैं। इसी प्रकार Q से भिन्न साधनो के किसी भी अन्य सयोग की लागत Q की तुलना मे अधिक होगी।

अत हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उत्पादक वस्तु की 100 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए साधनो के सयोग Q को चुनेगा जिस पर कि सम उत्पाद वक्र P सम-लागत रेखा CD को स्पर्श करता है। साधनो का Q सयोग वस्तु की 100 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए इष्टतम (optimum) है क्योंकि इससे उत्पादन लागत न्यूनतम होती है।

रेखाकृति 14.8 से स्पष्ट होगा कि बिन्दु Q पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर साधन X और Y की कीमतों के अनुपात के बराबर होगी। सम-उत्पाद वक्र की ढाल (slope) प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को प्रकट करती है और सम-लागत वक्र (Iso-Cost Line) की ढाल साधनो की कीमतो के अनुपात को प्रकट करती है। सम-उत्पाद वक्र और सम-लागत वक्र CD की ढालें बिन्दु Q पर बराबर हैं क्योंकि बिन्दु Q पर वे परस्पर स्पर्श कर रही हैं। अत बिन्दु Q पर प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ($MRTS$) साधन X और Y के कीमतों के अनुपात के समान होगी।

अत सन्तुलन बिन्दु पर

$$MRTS_{xy} = \frac{X \text{ की कीमत}}{Y \text{ की कीमत}} = \frac{P_x}{P_y}$$

चूँकि तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ($MRTS$) दो साधनो की सीमान्त भौतिक उत्पादनों (Marginal Physical Products) के अनुपात के बराबर होती है, अत

$$MRTS_{xy} = \frac{MP_x}{MP_y} = \frac{P_x}{P_y}$$

अर्थात् सन्तुलन की अवस्था Q में

$$\frac{MP_x}{MP_y} = \frac{P_x}{P_y}$$

इस उपर्युक्त समीकरण को निम्न प्रकार भी लिख सकते हैं

$$\frac{MP_x}{P_x} = \frac{MP_y}{P_y}$$

अत दो साधनो के सयोग के विषय मे हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि उद्यमकर्ता दो साधनों की इतनी-इतनी मात्राओं का प्रयोग करेगा जिससे उन साधनो के सीमान्त भौतिक उत्पादनों (Marginal Physical Products) मे अनुपात उनकी कीमतो के अनुपात के बराबर होगा।

विस्तार-पथ (Expansion-Path)

हमने ऊपर यह बताया है कि एक उद्यमी दो साधनो की कीमतें दी हुई होने पर वस्तु की एक विशेष मात्रा के उत्पादन के लिए साधनों का कौन सा सयोग प्रयोग करेगा। अब हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि एक उद्यमी अथवा फर्म वस्तु के उत्पादन का विस्तार करने पर साधन-सयोग को किस प्रकार बदलेगी जबकि साधनो की कीमतें पूर्ववत् रहती हैं। कल्पना कीजिए कि प्रारम्भ मे दो साधनो X और Y

की कीमतें इस प्रकार हैं कि उनका अनुपात सम-लागत वक्र AB की ढाल (slope) के बराबर है।

रेखाकृति 14·9 में चार सम-लागत रेखाएँ AB, CD EF और GH परस्पर समानान्तर खींची गई हैं जो कुल व्यय अथवा कुल लागत के विभिन्न स्तरों को व्यक्त करती है। यदि फर्म को वस्तु की 100 इकाइयाँ उत्पादित करनी हैं तो वह सम-उत्पाद वक्र P_1 पर स्थित ऐसे साधन-संयोग को चुनेगी जिससे उसकी उत्पादन लागत न्यूनतम हो सके अर्थात् जिस पर कि सम-उत्पाद वक्र P_1 जो वस्तु की 100 इकाइयों को व्यक्त करता है, किसी सम-लागत रेखा को स्पर्श करता है। रेखाकृति 14·9 को देखने पर ज्ञात होगा कि सम-उत्पाद वक्र P_1 सम-लागत रेखा AB के बिन्दु Q_1 को स्पर्श कर रहा है। अतः वस्तु की 100 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए वह बिन्दु Q_1 द्वारा व्यक्त साधन संयोग को चुनेगा।

इस तरह वस्तु की 200 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए संयोग Q_2 न्यूनतम लागत का संयोग होगा। अतः वस्तु की 200 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए
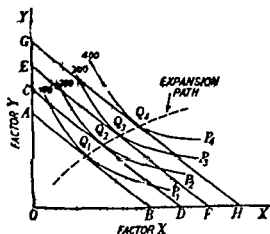
रेखाकृति 14·9 : विस्तार-पथ

उत्पादक संयोग Q_2 को चुनेगा। इसी प्रकार 300 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए संयोग Q_3 और 400 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए संयोग Q_4 चुना जाएगा। अब यदि हम रेखाकृति 14·9 में Q_1, Q_2, Q_3 तथा Q_4 बिन्दुओं को परस्पर मिलाएँ तो हमें एक रेखा प्राप्त होती है, जिसे अर्थशास्त्री विस्तार-पथ (Expansion Path) कहते हैं। इसे पैमाना रेखा (Scale Line) भी कहा जाता है। इसको विस्तार-पथ इसलिए कहते हैं कि उत्पादक उत्पादन का विस्तार इसके अनुसार करता है अर्थात् जब उत्पादक उत्पादन को बढ़ाता है तो विस्तार-पथ पर चलता है। इसको पैमाना रेखा (Scale Line) भी इसलिए कहते हैं क्योंकि उत्पादक इस रेखा के अनुसार ही अपने उत्पादन का पैमाना बढ़ाता है। यदि साधनों की कीमतें स्थिर रहे तो एक उत्पादक उत्पादन बढ़ाने पर विस्तार-पथ पर स्थित साधनों के संयोग को ही चुनेगा। विस्तार-पथ से हमें यह पता चलता है कि उत्पादन बढ़ने पर साधनों का संयोग बदल जाएगा। विस्तार-पथ के किसी संयोग से उत्पादन करने का अर्थ वस्तु की दी हुई मात्रा को न्यूनतम लागत पर उत्पादित करना है, यदि साधनों की कीमतें स्थिर रहे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विस्तार-पथ अथवा पैमाना रेखा की आकृति व ढाल (slope) साधनों की सापेक्ष कीमतों तथा सम-उत्पाद वक्रों की आकृति पर निर्भर करती है। यदि हमें यह ज्ञात न हो कि उत्पादक वस्तु की कितनी मात्रा पैदा करना चाहता है तो हम यह नहीं बता सकते कि वह विस्तार-पथ के किस बिन्दु पर सन्तुलन की स्थिति में होगा। उत्पादक वस्तु की कितनी मात्रा उत्पादित करने का निश्चय करेगा यह वस्तु के बाजार (मार्किट) की दशाओं पर निर्भर करता है। विभिन्न मार्किट के रूपों के अन्तर्गत उत्पादन तथा कीमत के निर्धारण की व्याख्या अगले अध्यायों में की जाएगी।

कीमत प्रभाव : साधनों की कीमतों में परिवर्तन
(Price Effect : Changes in Factor Prices)

अब हम यह बताएंगे कि साधनों की प्रयोग व खरीदी गई मात्राएँ उनकी कीमतों में परिवर्तन होने पर किस प्रकार बदलती हैं। रेखाकृति 14·10 पर दृष्टि डालिए। प्रारम्भ में सम-लागत वक्र AB द्वारा व्यक्त

साधन X और Y की कीमतें तथा कुल व्यय दिए हुए होने पर फर्म अथवा उत्पादक का सन्तुलन बिन्दु Q द्वारा व्यक्त साधन-सयोग पर होगा। अब कल्पना कीजिए कि साधन Y की कीमत तथा कुल व्यय पूर्ववत् रहते हैं और साधन X की कीमत घट जाती है जिससे सम-लागत रेखा बदल कर AB' हो जाती है। उत्पादक अब उस साधन-सयोग के बिन्दु पर सन्तुलन मे होगा जिस पर कि नया सम-लागत वक्र AB' किसी सम-उत्पाद वक्र को स्पर्श करेगा। रेखाकृति 14.10 से स्पष्ट है कि सम-लगत वक्र AB', सम-उत्पाद वक्र P के बिन्दु R को स्पर्श करती है। अत सम-लागत वक्र AB' की स्थिति मे उत्पादक साधन-सयोग R को चुनेगा जिससे नई स्थिति मे उत्पादन मात्रा अधिकतम होगी। इस प्रकार साधन X की कीमत मे कमी होने के फलस्वरूप उत्पादक सम-उत्पादक वक्र P_1 के साधन सयोग Q से चलकर सम-उत्पाद वक्र P_2 के साधन-सयोग R पर आ गया है। साधन की कीमत मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप साधनों के सयोग मे इस बदल को साधन कीमत प्रभाव (Factor Price Effect) अथवा केवल कीमत प्रभाव (Price Effect) कहते हैं। कल्पना कीजिए कि साधन X की कीमत और कम हो जाती है जिससे सम-लागत रेखा बदल कर AB'' हो जाती है। सम-लागत रेखा AB'' की स्थिति मे उत्पादक सम-उत्पाद वक्र P_3 के साधन-सयोग S पर सन्तुलन मे होगा। विभिन्न सन्तुलन बिन्दुओं Q, R और S को मिलाने पर हमे एक वक्र PFC प्राप्त होता है जिसे कीमत-साधन वक्र (Price Factor Curve) कहा जाता है। कीमत-साधन वक्र बायें से दायीं और ऊपर की ढाल का हो सकता है जैसा कि रेखाकृति 14.10 मे दिखाया गया है। बायें से दायीं ओर ऊपर की ढाल का कीमत-साधन वक्र यह दर्शाएगा कि साधन X की कीमत गिरने पर दोनो साधनो X और Y की खरीदी तथा प्रयोग की जाने वाली मात्राएँ बढ जाएँगी। इसके विरुद्ध कीमत-साधन वक्र बायें से दायीं ओर नीचे की ढाल का भी हो सकता है जो यह इंगित करेगा कि साधन X की कीमत गिरने पर उसकी खरीदी तथा प्रयोग की गयी मात्रा तो बढती है परन्तु साधन Y की प्रयोग व खरीदी गई मात्रा घटती है।

रेखाकृति 14.10 : कीमत प्रभाव : कीमत-साधन वक्र

कीमत प्रभाव : उत्पादन प्रभाव तथा तकनीकी प्रतिस्थापन प्रभाव का पृथक्करण (Price Effect. Separation of Output Effect and Technical Substitution Effect)

उपभोक्ता की माँग के विषय मे अनधिमान वक्र सिद्धान्त मे हमने पढा कि किसी वस्तु की कीमत मे परिवर्तन का वस्तु की माँग पर प्रभाव दो शक्तियों—आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव—का परिणाम
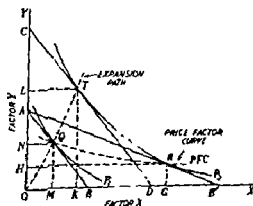
रेखाकृति 14.11 उत्पादन प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव

होता है। इसी प्रकार साधन की कीमत मे परिवर्तन का उसकी माँग अथवा खरीद पर प्रभाव भी दो शक्तियो का परिणाम होता है। अत साधन-कीमत प्रभाव को उत्पादन प्रभाव तथा तकनीकी प्रतिस्थापन प्रभाव मे विभक्त किया जा सकता है। रेखाकृति 14 11 पर विचार कीजिए जिसमे प्रारम्भ मे साधनो की कीमतें तथा कुल व्यय दिए हुए होने पर सम-लागत रेखा AB है जो सम उत्पाद वक्र P_1 के बिन्दु Q से स्पर्श कर रही है। अत इस स्थिति म उत्पादक बिन्दु Q द्वारा व्यक्त सयोग (X की OM मात्रा और साधन Y की ON मात्रा) खरीद व प्रयोग कर रहा है। अब यदि कुल व्यय तथा साधन Y की कीमत स्थिर रहने पर, साधन X की कीमत गिर जाती है जिससे सम-लागत रेखा बदल कर AB' हो जाती है। सम-लागत रेखा AB' से उत्पादक सम उत्पाद वक्र P_2 के जोड R पर सन्तुलन मे होगा। साधन X की कीमत मे कमी के फलस्वरूप साधन सयोग मे यह परिवर्तन कीमत प्रभाव (Price Effect) है। यह कीमत प्रभाव दो शक्तियो का परिणाम है। प्रथम, अब जबकि वस्तु X की कीमत गिर गई है तो उपभोक्ता व्यय की एक दी हुई मात्रा से साधन X और Y की अधिक मात्रा खरीद करके उत्पादन बढ़ा सकता है। यह तो ऐसा है जैसा कि साधनो की कीमतें स्थिर रहने पर उसके साधनो पर कुल व्यय मे वृद्धि होने से उत्पादन बढ़ गया हो। जैसा कि हम ऊपर पढ़ चुके हैं साधनो की कीमतें स्थिर रहने पर कुल व्यय मे वृद्धि से सम-लागत रेखा (Iso-Cost Line) ऊपर को समानान्तर रूप से सरक जाती है। रेखाकृति 14 11 म एक सम लागत रेखा CD समानान्तर रूप से AB से इतनी दूरी पर खींची गई है जिससे वह सम-उत्पाद वक्र P_2 को स्पर्श करती है। सम-लागत रेखा CD से, उद्यमकर्ता साधनो के सयोग T को प्रयोग करेगा। इस प्रकार साधन X की कीमत मे कमी के कारण कुल व्यय म वृद्धि होने से उद्यमकर्ता का सयोग Q से सयोग T को जाना समझा जा सकता है (परन्तु विद्यार्थी यह ध्यान से समझ लें कि वास्तव मे यहाँ पर व्यय की एक दी हुई मात्रा की क्रय शक्ति (purchasing power) म वृद्धि हुई है। किन्तु एक निश्चित व्यय की क्रय शक्ति मे वृद्धि व्यय मे वृद्धि के समान ही है।) इस प्रकार साधन X की कीमत म कमी के फलस्वरूप व्यय मे कल्पित वृद्धि के कारण उद्यमकर्ता का विस्तार-पथ (expansion path) पर बिन्दु Q से T को जाना समझा जा सकता है। यह साधन की कीमत गिरने पर कार्य करने वाली प्रथम शक्ति है जिसे उत्पादन प्रभाव (Output Effect) अथवा विस्तार प्रभाव (Expansion Effect) कहते हैं क्योंकि इसके कारण उद्यमकर्त्ता एक सम-उत्पाद वक्र से चल कर दूसरे ऊँचे सम-उत्पाद वक्र को जाता है और परिणामस्वरूप उसकी उत्पादन मात्रा मे वृद्धि होती है।

यदि केवल उत्पादन प्रभाव की शक्ति ही कार्य करती तो उद्यमकर्त्ता बिन्दु T पर सन्तुलन मे रहता और पहले की अपेक्षा दोनो साधनो की अधिक मात्राएँ खरीदता तथा प्रयोग करता। रेखाकृति 14 11 मे केवल उत्पादन प्रभाव के फलस्वरूप अथवा बिन्दु T पर सन्तुलन की स्थिति मे उद्यमकर्ता बिन्दु Q की अपेक्षा साधन X की MK मात्रा तथा साधन Y की NL मात्रा अधिक खरीदता है। परन्तु उद्यमकर्ता बिन्दु T पर अन्तिम रूप से सन्तुलन म नही होगा। अब जब कि साधन X की कीमत पहले से कम हो गई है, साधन X, साधन Y की तुलना म अपेक्षाकृत सस्ता (relatively cheaper) हो गया है, उद्यमकर्ता सम-उत्पाद वक्र P_2 के बिन्दु T पर न रह कर वह साधन X का साधन Y के स्थान पर प्रतिस्थापन करेगा अर्थात् वह सम-उत्पाद वक्र P_2 पर नीचे की ओर चल कर साधन Y के स्थान पर साधन X का अधिक प्रयोग करेगा। इस दूसरी शक्ति को तकनीकी प्रतिस्थापन प्रभाव (Technical Substitution Effect) कहते हैं और इसके अन्तर्गत उद्यमकर्ता एक समान सम-उत्पाद वक्र के एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक चलता है। रेखाकृति 14 11 मे देखा जाएगा कि उद्यमकर्ता तकनीकी प्रतिस्थापन प्रभाव के परिणामस्वरूप बिन्दु T से बिन्दु R को जाता है जहाँ पर कि सम लागत-रेखा AB' सम-उत्पाद वक्र P_2 को स्पर्श करती है और वह इस गति मे साधन X की KG मात्रा अधिक और साधन Y की LH मात्रा कम खरीदता है। प्रतिस्थापन प्रभाव सदैव उद्यमकर्ता को वह साधन अधिक मात्रा में खरीदने के लिए प्रेरित करता है जिसकी कीमत सापेक्षत घट गई हो।

अतः स्पष्ट है कि कीमत प्रभाव के कारण उपभोक्ता की बिन्दु Q से R तक गति को दो पृथक गतियों में विभक्त किया जा सकता है, प्रथम, विस्तार-पथ पर उत्पादन प्रभाव के कारण Q से T को गति और द्वितीय, तकनीकी प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण सम-उत्पाद वक्र P_4 पर बिन्दु T से R तक की गति। रेखाकृति 14.11 में साधन X की कीमत में कमी का कीमत प्रभाव उसकी खरीद में MG मात्रा की वृद्धि होना है जोकि उत्पादन प्रभाव MK और तकनीकी प्रतिस्थापन प्रभाव KG के संयोग के बराबर है ($MG = MK + KG$)। इसके विरुद्ध साधन X की कीमत में कमी के कारण साधन Y की खरीद पर प्रभाव उसकी मात्रा में NH की कमी होना है जोकि धनात्मक उत्पादन प्रभाव NL तथा ऋणात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव LH का परिणाम है। ($NH = NL - LH$)।

स्थानापन्न, संयुक्त माँग के साधन तथा पूरक साधन (Substitutes, Factors in Joint Demand and Complementary Factors)

रेखाकृति 14.11 के उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि इसमें साधन X की कीमत घटने पर दूसरे साधन Y की खरीदी गई मात्रा में कमी होती है। जब दो परिवर्तनशील (variable) साधनों में से किसी एक साधन की कीमत घटने पर दूसरे साधन के क्रय में कमी हो जाती है, तो वे दो साधन एक-दूसरे के स्थानापन्न (substitutes) कहे जाते हैं (When the price of one of the two variable factors leads to the decline in the quantity purchased of the other factors, the two factors are said to be substitutes of each other in production)। अतः रेखाकृति 14.11 दो स्थानापन्न साधनों को प्रदर्शित करती है। यहाँ यह ध्यान से समझ लें कि साधन X की कीमत में कमी ने साधन Y की खरीदी गई मात्रा घटा दी है क्योंकि इस अवस्था में प्रतिस्थापन प्रभाव, जो साधन Y के लिए ऋणात्मक है, धनात्मक उत्पादन प्रभाव से अधिक है। इसलिए हम कह सकते हैं कि दो साधन X और Y परस्पर स्थानापन्न हैं यदि X की कीमत में कमी का Y पर ऋणात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव पड़ता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि क्या साधन स्थानापन्न है अथवा नहीं यह जानने के लिए उत्पादन प्रभाव को ध्यान में नहीं लेना होता है और केवल प्रतिस्थापन प्रभाव से इसका निश्चय करना होता है। अतः दो साधन X और Y स्थानापन्न हैं यदि साधन X की कीमत में कमी से साधन Y की प्रयोग की गई मात्रा घटती है जबकि उत्पादन मात्रा स्थिर रहे। (The two factors X any Y are substitutes if there is any substitution effect on Y of
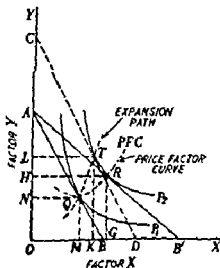
रेखाकृति 14.12 संयुक्त माँग के साधन

the change in price of X even though output remains the same)। रेखाकृति 14.11 में साधन X की कीमत गिरने का साधन Y पर ऋणात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव LH के बराबर है। अतः इसमें प्रदर्शित दो साधन एक-दूसरे के स्थानापन्न हैं।

रेखाकृति 14.12 में संयुक्त माँग के साधनों (factors in joint demand) की दशा को व्यक्त किया गया है। इस रेखाकृति में तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर सम-उत्पाद वक्रों पर बड़ी तेजी से घटती है, अर्थात् सम-उत्पाद वक्र बड़े उन्नत (convex) होते हैं। इसलिए इस दशा में प्रतिस्थापन प्रभाव बहुत कम होता है। रेखाकृति 14.12 में जब साधन X की कीमत गिरती है और परिणामस्वरूप सम-लागत रेखा

AB से बदल कर AB' हो जाती है तो साधन Y के लिए धनात्मक उत्पादन प्रभाव NL है और ऋणात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव LH है जोकि NL से कम है। फलस्वरूप साधन Y की खरीदी गई मात्रा NH के बराबर निवल (net) रूप से बढ़ती है। अतः इस दशा में साधन X की कीमत घटने पर न केवल साधन X की बल्कि साधन Y की भी खरीदी व प्रयोग की गई मात्रा बढ़ती है। जब दो साधनों में किसी एक साधन की कीमत गिरने से उन दोनों साधनों के उत्पादन के लिए खरीदी व प्रयोग की गई मात्राएँ बढ़ जाती हैं, तो ये संयुक्त माँग के साधन कहे जाते हैं। (When the fall in the price of one of the two factors causes the increase in quantity purchsed of both the factors, the two factors are said to be in joint demand)। उत्पादन तथा तकनीकी प्रतिस्थापन प्रभावों के शब्दों में हम कह सकते है कि पूरक साधन वे हैं जिनकी दशा में एक साधन की कीमत मे कमी से दूसरे साधन पर हुआ उत्पादन प्रभाव, प्रतिस्थापन प्रभाव की तुलना में अधिक होता है।

क्या साधन वास्तविक रूप से पूरक (complementary) हैं अथवा नही, यह जानने के लिए हमें कीमत प्रभाव के उत्पादन प्रभाव (output effect) को दूर करना होता है अर्थात् पूरकता के सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए कीमत प्रभाव के केवल प्रतिस्थापन प्रभाव पर ही विचार करना होता है जबकि उत्पादन स्थिर रहता है। यदि किसी साधन A की कीमत गिरने पर साधन B की माँग में वृद्धि होती है जबकि उत्पादन मात्रा में कोई वृद्धि नही होती तो उन साधनों को पूरक साधन कहा जाता है। कल्पना कीजिए कि मकान बनाने के लिए तीन साधनों ईंटों, लकड़ी तथा राज मिस्त्रियों की आवश्यकता होती है। यदि ईंटों की कीमत गिर जाय तो ईंटें को लकड़ी के स्थान पर प्रयोग किया जायेगा यदि मकान पहले जितने ही क्यों न बनाने हो। यह साधन की कीमत में परिवर्तन का प्रतिस्थापन प्रभाव है। किन्तु ईंटों की कीमत गिरने से मकान बनाने पर लागत कम हो जायेगी जिससे लोग पहले से अधिक संख्या में मकान बनाने के लिये प्रोत्साहित होंगे। अधिक संख्या में मकान बनाने के लिए न केवल अधिक ईंटों बल्कि अधिक लकड़ी तथा राज मिस्त्रियों की माँग बढ़ेगी। यह ईंटों की कीमत गिरने का उत्पादन प्रभाव है। किन्तु उत्पादित मकानों की संख्या स्थिर भी रहे तो ईंटों की कीमत गिरने के परिणामस्वरूप ईंटों के अधिक प्रयोग से उन्हें लगाने वाले राज मिस्त्रियों की माँग में वृद्धि होगी। यद्यपि उत्पादित मकानों की संख्या स्थिर है (अर्थात् उत्पादन प्रभाव को निकाल दिया गया है)। ईंटों की कीमत गिरने पर राज मिस्त्रियों की माँग बढ़ गई है जबकि लकड़ी की माँग घट गई है। अतएव जबकि ईंटें और लकड़ी परस्पर स्थानापन्न साधन है, ईंटें और राज मिस्त्री परस्पर पूरक साधन है। जैसा कि हम उपभोक्ता वस्तुओं के विषय में पढ़ आये हैं, किसी विशेष वस्तु के उत्पादन में प्रयोग होने वाले सभी साधन पूरक नही हो सकते। किसी वस्तु के उत्पादन में प्रयोग होने वाले साधनों की संख्या n दी हुई होने पर अधिक-से-अधिक $n-1$ साधन परस्पर पूरक हो सकते हैं अर्थात् कम-से-कम एक साधन का स्थानापन्न होना आवश्यक है।

अतः जैसा कि हम उपभोक्ता पदार्थों की दशा में पढ़ आए हैं कि यह जानने के लिए कि क्या उपभोक्ता पदार्थ पूरक है अथवा स्थानापन्न हमें कीमत प्रभाव को हटा देना होता है, उसी प्रकार क्या साधन पूरक हैं अथवा स्थानापन्न, हमें साधन की कीमत के प्रभाव से उत्पादन प्रभाव को हटा कर पता लगाना होता है।

अब हम पूर्ण पूरक साधन (perfect complementary factors) की व्याख्या करेंगे। दो पूर्ण पूरक साधनों को एक निश्चित अनुपात में प्रयोग किया जाता है। इसलिए पूर्ण पूरक साधनों के सम-उत्पाद वक्र $90°$ का कोण बनाते हैं जैसा कि रेखाकृति 14·13 में दिखाया गया है। इसी कारण पूर्ण पूरक साधनों की दशा में तकनीकी प्रतिस्थापन प्रभाव शून्य होता है। रेखाकृति 14·13 से स्पष्ट है कि AB के समानान्तर खींची गई CD रेखा सम-उत्पाद वक्र P_1 के बिन्दु R को ही स्पर्श कर रही है जिसे साधन X की कीमत

घट जाने के बाद नई सम-लागत रेखा AB' स्पर्श करती है। अतः यहाँ प्रतिस्थापन प्रभाव शून्य है और कीमत प्रभाव मे केवल उत्पादन प्रभाव ही है। इसके अतिरिक्त पूर्ण पूरक साधनो की अवस्था मे किसी साधन की कीमत मे कमी से दोनो साधनो की मात्राएँ समान अनुपात से बढती हैं।
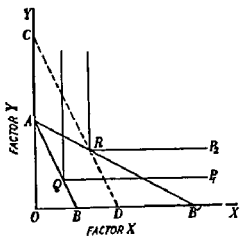
रेखाकृति 14·13 : पूर्ण पूरक साधन

पैमाने के प्रतिफल
(Returns to Scale)

अब हम इस स्थिति मे हैं कि सम-उत्पाद वक्रो की सहायता से पैमाने के प्रतिफल को समझाएँ। जैसा कि पहले हम पढ़ चुके हैं कि पैमाने के प्रतिफल (Returns to Scale) के अन्तर्गत हम इस बात का अध्ययन करते हैं कि जब किसी वस्तु के उत्पादन मे प्रयोग होने वाले सभी साधनों को बढ़ाया जाए तो इसका उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ता है। पैमाने के प्रतिफल स्थिर (Constant) भी हो सकते हैं, वर्धमान (Increasing) भी, अथवा ह्रासमान (Decreasing) भी। यदि सभी साधनो को (अर्थात् पैमाने को) एक विशेष अनुपात मे बढाया जाए और परिणामस्वरूप उत्पादन भी उसी अनुपात से ही बढ़े तो पैमाने के स्थिर प्रतिफल (Constant Returns to Scale) प्राप्त होंगे। अतः यदि सभी साधनो को दुगुना करने से उत्पादन भी दुगुना हो जाता है तो पैमाने के प्रतिफल स्थिर होंगे। परन्तु यदि सभी साधनों के बढ़ाने से उत्पादन मे अधिक अनुपात से वृद्धि होती है तो पैमाने के वर्धमान प्रतिफल (Increasing Returns to Scale) प्राप्त होंगे। अतः यदि सभी साधनो की मात्रा को दुगुना किया जाता है और फलस्वरूप उत्पादन दुगुने से अधिक बढता है तो पैमाने के प्रतिफल वर्धमान होंगे। इसके विपरीत, यदि सभी साधनो की मात्रा को बढाने से उत्पादन मे अनुपात से कम वृद्धि होती है तो पैमाने के ह्रासमान (घटते) प्रतिफल (Decreasing Returns to Scale) प्राप्त होंगे।

पैमाने के स्थिर अथवा समान प्रतिफल (Constant Returns to Scale)

सम-उत्पाद चित्र (Equal Product Map) से यह पता चल सकता है कि क्या पैमाने के प्रतिफल स्थिर हैं, वर्द्धमान हैं अथवा ह्रासमान हैं। यदि विभिन्न सम-उत्पाद वक्र जो उत्पादन मे समान वृद्धि को
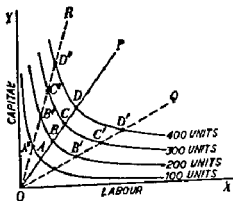
रेखाकृति 14 14
पैमाने के स्थिर प्रतिफल

दर्शाते हो एक-दूसरे से समान दूरी पर स्थित हों तो इसका अर्थ होगा कि पैमाने के प्रतिफल स्थिर (Constant) हैं जैसा कि रेखाकृति 14 14 में दिखाया गया है। इस दशा मे यदि सीधी रेखाएँ (straight lines) जो मूल बिन्दु O से निकलें खींची जाएँ तो उन पर सम-उत्पाद वक्रो के बीच का अन्तर समान होगा। रेखाकृति 14 14 मे तीन सीधी रेखाएँ OP, OR तथा OQ मूल बिन्दु O से निकलती हुई खींची गई हैं। पैमाने के लिए स्थिर प्रतिफल की दशा में रेखा OP

पर $OA=AB=BC=CD$, रेखा OQ पर $OA'=A'B'=B'C'=C'D'$ तथा रेखा OR पर $OA''=A''B''=B''C''=C''D''$ । विभिन्न सम-उत्पाद वक्रों की बीच की दूरी का समान होना यह प्रकट करता है कि साधनो के एक अनुपात मे बढाने से उत्पादन म उसी अनुपात से वृद्धि होती है । इसलिए रेखाकृति 14 14 पैमाने के स्थिर प्रतिफल को दर्शाती है ।

कई अर्थशास्त्रियो का विचार है कि उत्पादन फलन अनिवार्य रूप से पैमाने के स्थिर प्रतिफल के प्रकार का होता है। उनका तर्क है कि यदि सभी साधनो की मात्राओ को दुगुना कर दिया जाए तो कोई कारण नही कि उत्पादन दुगुना न हो । यदि हम तीन समान प्रकार की फैक्ट्रियाँ बनाएँ जिनमे समान पूँजी, साज-सामान, कच्चा माल तथा श्रमिक लगे हुए हो तो क्या वे समान प्रकार की एक फैक्ट्री की तुलना मे तीन गुणा उत्पादन नही करेंगी । इस प्रकार के विचार वाले अर्थशास्त्रियो के अनुसार यदि सभी साधनो को आवश्यक मात्रा मे बढाना अथवा घटाना सम्भव होता तो तब अवश्य ही पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त होते । उनका कहना है कि यदि कुछ उद्योगो मे पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त नही होते तो इसका कारण उनमे प्रयोग होने वाले कुछ साधनो को समान अनुपात से बढाया-घटाया नही जा सकता । वे साधनो की मात्राओ मे समान अनुपात से परिवर्तन न कर सकने के दो कारण बताते हैं । प्रथम, कुछ साधन ऐसे होते है जिनकी मात्रा इसलिये नही बढाई जा सकती क्योकि उनकी पूर्ति न्यून अथवा दुर्लभ (scarce) होती है । अत पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त न होने का प्रथम कारण साधनो की दुर्लभता (scarcity of the factors) है । दूसरे, यह बताया जाता है कि कुछ साधन अविभाज्य (indivisible) होते हैं और उनका पूर्ण उपयोग तभी सम्भव होता है जब उत्पादन बडे पैमाने पर किया जाए । अविभाज्यता के कारण उनको वस्तु की कम मात्रा उत्पादित करने के लिये भी प्रयोग करना पडता है । इसलिये जब आरम्भ मे उत्पादन बढ़ाया जाता है, तो इन अविभाज्य साधनो की मात्रा को बढ़ाया नही जाता क्योकि उनका पहले पूर्ण उपयोग नहीं हो रहा होता है । इसलिये उत्पादन बढाने पर अविभाज्य साधनो के अधिक गहन और पूर्ण रूप से उपयोग होने से प्रति इकाई लागत घट जायेगी । साधनो की अविभाज्यताएँ बडे पैमाने के उत्पादन की अधिकांश बचतो की उत्पत्ति का कारण है । अत स्पष्ट है कि कई साधनो के अविभाज्य होने के कारण उनकी मात्रा को आवश्यक अनुपात से बढाया अथवा घटाया नही जा सकता । अत इस मतानुसार यदि कुछ साधनो की पूर्ति सीमित अथवा न्यून न होती और न ही साधन अविभाज्य होते तो तब सभी साधनो को समान मात्रा से बढाया जा सकना सम्भव होता और फलस्वरूप पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त होते ।

उपर्युक्त विचार की कई आधार पर आलोचना की गई है । प्रो० चैम्बरलिन तथा उसके समर्थको का विचार है कि यदि समस्त साधनो को आवश्यक मात्रा मे बढाया जा सकना सम्भव भी होता और यदि समस्त साधन पूर्णतया विभाज्य भी होते, तो भी पैमाने के बढते प्रतिफल (increasing returns to scale) प्राप्त होते । उनके विचार मे पैमाना बढ़ाने से (अथवा समस्त साधनो को बढाने से) बढते प्रतिफल इसलिये प्राप्त होते है क्योकि बडे पैमाने पर (1) श्रमिक मे अधिक विशेषीकरण अथवा श्रम-विभाजन सम्भव हो जाता है और (2) विशिष्ट एव उन्नत प्रकार की मशीनें तथा तकनीकी दृष्टि से अन्य उन्नत एव श्रेष्ठ साधनो का प्रयोग सम्भव हो जाता है ।

कुछ अन्य अर्थशास्त्रियो का मत है कि हम किसी दी हुई स्थिति मे सभी साधनो के दुगुने अथवा तिगुने करने की बात ही नही कर सकते । उदाहरणतया निकट मे स्थित दो फैक्ट्रियाँ तथा एक फैक्ट्री का दुगुना होना समान बात नही है । निकट मे स्थित एक अन्य फैक्ट्री श्रम के अनुशासन, वायु दूषण (air pollution), श्रम के प्रशिक्षण की लागत आदि को प्रभावित करती है । इस प्रकार उनका विचार है कि वास्तव मे सभी साधनो को एक निश्चित अनुपात से बढ़ाया नही जा सकता और फलत उत्पादन को उसी अनुपात से बढ़ाया जाना सम्भव नही होता ।

इसके अतिरिक्त, यह बताया गया है कि यदि एक बडी फैक्ट्री को छोटी फैक्ट्रियो, (जिन दो की उत्पादन

क्षमता बड़ी फैक्ट्री के बराबर है) की तुलना मे अधिक कार्यकुशल है, तो वह उद्यमकर्ता अपने साधनो को एक अन्य छोटी फैक्ट्री स्थापित करने की स्थिति मे दुगुना नही करेगा। दूसरे शब्दो मे, जब एक बड़ी फैक्ट्री स्थापित करके पैमाने के बढ़ते प्रतिफल प्राप्त करने की सम्भावना है तो उद्यमकर्ता एक अन्य छोटी फैक्ट्री स्थापित करके पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त करने की बजाय पुरानी फैक्ट्री का विस्तार करेगा अर्थात् बड़ी फैक्ट्री स्थापित करेगा। इसके अतिरिक्त बड़े पैमाने की कई बचतें है जिसके कारण कम-से-कम प्रारम्भ मे वर्धमान प्रतिफल प्राप्त करने की अधिक सम्भावना है।

पैमाने के स्थिर प्रतिफल तथा कॉब डगलस उत्पादन फलन (Constant Returns to Scale and Cobb Douglas Production Function)

यद्यपि कुछ अर्थशास्त्री पैमाने के स्थिर प्रतिफल को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, वास्तविक अनुभव से यह पता चलता है कि एक फर्म के विस्तार मे कुछ सीमा तक बढ़ते प्रतिफल की अवस्था के बाद पैमाने के स्थिर प्रतिफल की एक बड़ी लम्बी अवस्था (a long phase of constant returns to scale) प्राप्त होती है। कॉब-डगलस उत्पादन फलन (Cobb-Douglas Production Function) जिसे वास्तविक अनुभव से (empirically) प्राप्त किया गया है और जो समूचे विनिर्माण उद्योग (manufacturing industry) पर लागू होता है, से भी पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्रकट होते हैं। जैसा कि हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं कॉब-डगलस उत्पादन फलन निम्न प्रकार का है —

$$Q = KL^{a}C^{1-a}$$

जहाँ पर Q उत्पादन-मात्रा को, L श्रम की मात्रा को और C पूँजी की मात्रा को दर्शाता है। K और a धनात्मक स्थिर तत्त्व (positive constants) है और, जहाँ a इकाई से कम है अर्थात् $a < 1$। यह जानने के लिये कि क्या यह उत्पादन फलन रेखीय तथा समरूप (linear and homogeneous) है अर्थात् क्या यह पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्रकट करता है, हम L और C को एक स्थिर तत्त्व g (constant g) से बढ़ाते हैं तो उत्पादन की मात्रा निम्न प्रकार बढ़ जायेगी।

$$K(gL)^{a}(gC)^{1-a} = g^{a}g^{1-a}KL^{a}C^{1-a}$$

परन्तु चूँकि $g^{a}g^{1-a} = g$, इसलिये

$$K(gL)^{a}(gC)^{1-a} = gKL^{a}C^{1-a}$$
$$= gQ$$

अतः श्रम (L) और पूँजी (C) के g द्वारा बढ़ने पर उत्पादन (Q) भी उसी अनुपात से बढ़ कर gQ हो गया है। अतः कॉब-डगलस उत्पादन फलन लागू होने की दशा मे पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त होते हैं।

पैमाने के स्थिर प्रतिफल के प्रकार के उत्पादन फलन का आय वितरण के सिद्धान्त, आगत-निर्गत विश्लेषण (input-output analysis) तथा उत्पादन के रेखीय प्रायोजना (Linear Programming) विश्लेषण मे बड़ा महत्त्व है।

पैमाने के वर्धमान प्रतिफल (Increasing Returns to Scale)

जैसा कि ऊपर पाया गया, पैमाने के बढ़ते प्रतिफल का अर्थ है कि साधन मे वृद्धि की तुलना मे उत्पादन मे अधिक अनुपात से वृद्धि होती है। उदाहरणत, यदि सभी साधनो मे 25 प्रतिशत वृद्धि कर दी जाए और इसके फलस्वरूप उत्पादन 40 प्रतिशत बढ़ जाए तो यह पैमाने के प्रतिफल की दशा होगी। हम ऊपर बता आए हैं कि प्रो० चैम्बरलिन के अनुसार बढ़ते प्रतिफल के दो कारण हैं प्रथम पैमाना बढ़ाने पर श्रमिकों मे अधिक विशेषीकरण अथवा श्रम विभाजन सम्भव होता है जिससे श्रमिको की उत्पादकता बढ़ जाती है। द्वितीय, उत्पादन के बड़े पैमाने पर तकनीकी दृष्टि से अधिक उन्नत तथा विशिष्ट प्रकार की मशीनो का प्रयोग करना सम्भव एवं लाभकारी हो जाता है जिससे उत्पादन मे बहुत वृद्धि होती है। प्रो० चैम्बरलिन के अनुसार यदि उत्पादन के साधन पूर्णतया विभाज्य भी होते तो भी पैमाना बढ़ाने पर वर्धमान प्रतिफल प्राप्त होते क्योंकि फर्म बड़े पैमाने पर साधनो की मात्रा अधिक हो जाने के कारण

श्रमिकों में विशेषीकरण तथा उन्नत एवं विशिष्ट प्रकार की मशीनों का प्रयोग करके उत्पादन में अधिक तेज गति से वृद्धि कर सकती है।

बढ़ते प्रतिफल के प्राप्त होने का एक महत्त्वपूर्ण कारण प्रो० बॉमोल (Baumol) ने बताया है।[1] उनके अनुसार बढ़ते प्रतिफल का एक महत्त्वपूर्ण कारण परिमाणात्मक सम्बन्ध (dimensional relations) हैं। एक तीन फुट घनाकार (3 foot-cube) लकड़ी के बक्स में एक फुट घनाकार (1 foot-cube) लकड़ी के बक्स की तुलना में 9 गुणा अधिक लकड़ी लगी होती है अर्थात् उसमें 9 गुणा अधिक साधन (input) विद्यमान होता है। किन्तु तीन फुट घनाकार लकड़ी के बक्स की क्षमता (capacity) एक फुट घनाकार लकड़ी के बक्स की तुलना में 27 गुणा अधिक होती है। इसका भाव यह है कि जब कि साधन अर्थात् लकड़ी की मात्रा में वृद्धि की अपेक्षा बक्स की क्षमता अधिक बढ़ती है जिसके कारण प्रति इकाई लागत कम हो जायेगी अर्थात् बढ़ते प्रतिफल प्राप्त होंगे। इसी प्रकार का एक और उदाहरण गोदाम (warehouse) के निर्माण का है। कल्पना कीजिए कि एक आयताकार (rectangular) गोदाम का निर्माण करना है। इसके निर्माण के लिए प्रयोग होने वाला साधन ईंटें (bricks) हैं और अन्य साधनों की मात्रा ईंटों के अनुपात से बढ़ती है। ईंटों की प्रयोग की गई मात्रा गोदामों की दीवारों के क्षेत्रफल (wall area) पर निर्भर करती है। प्रारम्भिक गणित विज्ञान से पता चलता है कि दीवारों का प्रतिफल गोदाम की परिधि के वर्ग (square of the perimetre) के हिसाब से बढ़ेगा, जब कि घनफल (volume) अर्थात् इसकी संग्रह क्षमता परिधि के घन (cube of the perimeter) के हिसाब से बढ़ेगी। दूसरे शब्दों में, ईंटों तथा अन्य साधनों की वृद्धि की तुलना में गोदाम की संग्रह-क्षमता अधिक अनुपात से बढ़ेगी अर्थात् बढ़ते प्रतिफल प्राप्त होंगे। इसी प्रकार यदि नाली (Pipe) के व्यास (diameter) को दुगुना कर दिया जाय तो उसमें से निकलने वाले प्रवाह (flow) का परिमाण दुगुने से अधिक बढ़ जायेगा।

1 W. J Baumol, *Economic Theory and Operations Analysis*, 1963, p 181.

पैमाने के बढ़ते प्रतिफल को सम-उत्पाद चित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है। जब पैमाने के बढ़ते प्रतिफल प्राप्त होते हैं तो विभिन्न सम-उत्पाद वक्र मूल-बिन्दु से खींची गई रेखा पर क्रमशः घटती दूरी पर स्थित होंगे। रेखाकृति 14 15 में बिन्दु D तक अथवा सम-उत्पाद वक्र
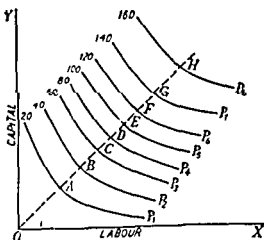
रेखाकृति 14 15 पैमाने के बदलते प्रतिफल

P_4 तक पैमाने के बढ़ते प्रतिफल प्राप्त होते हैं क्योंकि $BC < AB$, और $CD < BC$। इसका अर्थ यह है कि उत्पादन के समान वृद्धियाँ साधनों में क्रमशः कम वृद्धियों से प्राप्त होती हैं।

पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल (Decreasing Returns to Scale)

जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं कि जब साधनों में वृद्धि की तुलना में उत्पादन में कम अनुपात से वृद्धि होती है तो पैमाने के घटते प्रतिफल प्राप्त होते हैं। जब कोई फर्म साधनों की अधिक मात्रा प्रयोग करके अपने उत्पादन का विस्तार करती है तो अन्ततः पैमाने के घटते प्रतिफल प्राप्त होंगे।

परन्तु अर्थशास्त्रियों में पैमाने के घटते प्रतिफल के कारण अथवा कारणों के बारे में सहमति नहीं है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि उद्यमकर्ता एक स्थिर

साधन (fixed factor) है, जहाँ अन्य साधनों को बढ़ाया जा सकना सम्भव है उद्यमकर्त्ता को बढ़ाया जाना असम्भव है क्योंकि वह तो एक ही रहता है। इस विचार के अनुसार, पैमाने के बढ़ते प्रतिफल विविध अनुपात के नियम की एक विशेष प्रकार है (On this view, decreasing returns to scale is a special case of the law of variable proportions)। अत इस स्थिति मे एक बिन्दु के पश्चात् पैमाने के घटते प्रतिफल इसलिए प्राप्त होते हैं क्योंकि अन्य साधनो की बढ़ती हुई मात्राएँ एक स्थिर उद्यमकर्त्ता द्वारा प्रयोग की जाती हैं। किन्तु अन्य अर्थशास्त्री पैमाने के घटते प्रतिफल को विविध अनुपात के नियम की विशेष प्रकार नहीं मानते। उनका मत है कि अन्तत पैमाने के घटते प्रतिफल का कारण बड़े पैमाने के उत्पादन मे प्रबन्ध, समन्वय तथा नियन्त्रण सम्बन्धी बड़ी कठिनाइयो का उत्पन्न हो जाना है। जब फर्म का आकार अत्यधिक बढ़ जाता है तो उसका प्रबन्ध इतनी कुशलता से नही हो सकता जितना कि कम आकार पर सम्भव होता है।

पैमाने के घटते प्रतिफल की दशा को भी सम-उत्पाद वक्रो द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। जब विभिन्न सम उत्पाद वक्र मूल बिन्दु से खीची गई सीधी रेखा पर क्रमश बढ़ती दूरी पर स्थित होते हैं तो वे पैमाने के घटते प्रतिफल को व्यक्त करते हैं। इसका यह अर्थ है कि उत्पादन मे समान वृद्धि को प्राप्त करने के लिए क्रमश अधिकाधिक साधनो की आवश्यकता होती है। रेखाकृति 14 15 मे बिन्दु F के पश्चात पैमाने के घटते प्रतिफल प्राप्त होते हैं क्योंकि

$$FG > EF, \text{ और } GH > FG$$

यह उल्लेखनीय है कि अलग-अलग उत्पादन फलन सदा विभिन्न प्रकार के पैमाने के प्रतिफल को प्रकट नही करते। प्राय एक ही उत्पादन फलन मे पैमाने के बढ़ते, स्थिर तथा घटते प्रतिफल की तीन अवस्थाएँ होती हैं। आरम्भ मे जब पैमाना बढ़ाया जाता है तो श्रम के अधिक विशेषीकरण तथा अधिक उन्नत एव विशिष्ट प्रकार की मशीनो का प्रयोग सम्भव हो जाने के कारण बढ़ते प्रतिफल प्राप्त होते हैं। एक बिन्दु के बाद पैमाने के स्थिर प्रतिफल की अवस्था आती है जिसमे उत्पादन उसी अनुपात से बढ़ता है जितने अनुपात से साधनो की मात्रा बढ़ती है। वास्तविक अनुभव से पता चलता है कि पैमाने के स्थिर प्रतिफल की अवस्था काफी लम्बी होती है। यदि फर्म अपने पैमाने अथवा आकार का विस्तार करती जाए तो अन्तत घटते प्रतिफल प्राप्त होने लगते हैं। अत एक ही उत्पादन फलन मे पैमाने के बदलते प्रतिफल पाये जाते हैं। एक उत्पादन फलन मे ये बदलते हुए प्रतिफल रेखाकृति 14 15 मे प्रदर्शित किये गये हैं। इस रेखाकृति मे प्रारम्भ मे, A से D तक पैमाने के बढ़ते प्रतिफल, D और F के बीच पैमाने के स्थिर प्रतिफल और F के पश्चात् पैमाने के घटते प्रतिफल प्राप्त होते हैं।

पैमाने के प्रतिफल तथा परिवर्तनशील साधन के सीमान्त उत्पादन
(Returns to Scale and Returns to a Variable Factor)

पैमाने के स्थिर प्रतिफल तथा परिवर्तनशील साधन के सीमान्त उत्पादन (Constant Returns to Scale and Marginal Product of a Variable Factor)

पैमाने के प्रतिफल तथा परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पादकता मे महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। हमे यहाँ यह अध्ययन करना है कि पैमाने के प्रतिफल स्थिर रहने, वर्धमान तथा ह्रासमान होने पर क्या परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पादकता घटती है अथवा बढ़ती है। हम ऊपर पढ़ चुके हैं कि पैमाने के स्थिर प्रतिफल (अर्थात् प्रथम कोटि के समरूप उत्पादन फलन) की दशा मे उद्गम बिन्दु से खीची गयी सरल रेखा पर समोत्पाद वक्रो के मध्य दूरी समान होती है। रेखाकृति 14 16 पर विचार कीजिए जिसमे तीन समोत्पाद वक्र जो उत्पादन की 100, 200 तथा 300 इकाइयो को दर्शाते हैं, खीचे गये हैं। उद्गम बिन्दु O से एक सरल रेखा OL जो कि विभिन्न समोत्पाद वक्रो को काटती है, भी खींची गयी है। विस्तार पथ को प्रकट करती हुई रेखा OL से पैमाने के प्रतिफल जाने जाते हैं। क्योंकि यहाँ पैमाने के स्थिर प्रतिफल की कल्पना की गई है PQ और QR बराबर होंगे। एक क्षैतिज रेखा ST भी खीची गयी है जोकि साधन

Y की स्थिर मात्रा OS के साथ साधन X की मात्रा बढाने से उत्पादन मे परिवर्तन को दर्शाती है। अब हमे यह सिद्ध करना है कि पैमाने के स्थिर प्रतिफल होने की दशा मे परिवर्तनशील साधन X की सीमान्त उत्पादकता घटेगी। रेखाकृति 14 16 के शब्दो मे हमे यह सिद्ध करना है कि पैमाने के स्थिर प्रतिफल दिये हुए होने पर उत्पादन मात्रा मे समान वृद्धि लाने के लिए परिवर्तनशील साधन X की स्थिर साधन Y के साथ अधिक इकाइयो का प्रयोग करना होगा अर्थात् रेखाकृति 14 16 म QN दूरी MQ से अधिक है। इस
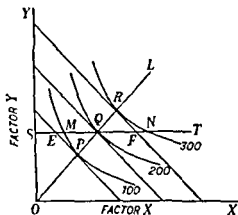
रेखाकृति 14 16 पैमाने के स्थिर प्रतिफल तथा परिवर्तनशील साधन के ह्रासमान प्रतिफल

प्रकार PQ और QR बराबर होने की दी हुई स्थिति मे (अर्थात् पैमाने के स्थिर प्रतिफल दिए हुए होने की दशा मे) यह सिद्ध करना है कि QN दूरी MQ से अधिक है। QN के MQ से अधिक होने का अर्थ है कि साधन X की मात्रा बढाने पर जबकि साधन Y की मात्रा OS पर स्थिर रहती है, साधन X की सीमान्त उत्पादकता घटेगी। इसे निम्न प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है —

रेखाकृति 14 16 मे त्रिभुज QRF तथा QPE मे $QR = PQ$ (पैमाने के स्थिर प्रतिफल के कारण प्रदत्त स्थिति)

$\angle QRF = \angle QPE$ (alternate कोण)

$\angle RQF = \angle PQE$ (vertically opposite कोण)

अत त्रिभुज QRF तथा QPE परस्पर समांग (congruent) हैं।

अत $QF = EQ$

रेखाकृति 14 16 से स्पष्ट है कि MQ दूरी EQ से कम है। इसलिए QF दूरी MQ से अधिक होगी। रेखाकृति 14 16 से यह भी स्पष्ट है कि QN दूरी QF से अधिक है जिससे यह सिद्ध होता है कि QN दूरी MQ से अधिक है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब पैमाने के प्रतिफल स्थिर होते हैं (अर्थात् जब उत्पादन फलन प्रथम कोटि का समरूप होता है), तो परिवर्तनशील साधन का सीमान्त भौतिक उत्पादन (अर्थात् सीमान्त प्रतिफल) घटता है [When returns to scale are constant (that is when production function is homogeneous of the first degree), marginal physical product of the variable factor diminishes]

पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल तथा परिवर्तनशील साधन का सीमान्त भौतिक उत्पादन (Decreasing Returns to Scale and Marginal Physical Product of the Variable Factor)
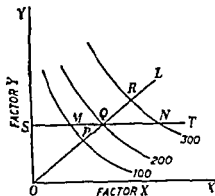
रेखाकृति 14 17 पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल तथा परिवर्तनशील साधन का सीमान्त उत्पादन

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होगा कि जब पैमाने के प्रतिफल घटते हैं तो परिवर्तनशील साधन का सीमान्त भौतिक उत्पादन (MPP) पैमाने के स्थिर प्रतिफल की दशा की तुलना मे अधिक गति से घटेगा। रेखाकृति 14 17 मे पैमाने के प्रतिफल घट रहे है क्योकि QR दूरी PQ से अधिक है। रेखाकृति 14 17 से स्पष्ट है कि क्षैतिज रेखा ST, जो कि साधन Y की स्थिर मात्रा के साथ साधन X की बढती हुई मात्रा को

दर्शाती है, पर QN दूरी MQ से बहुत अधिक है। इससे पता चलता है कि जब पैमाने के प्रतिफल घटते है तो परिवर्तनशील साधन का सीमान्त भौतिक उत्पादन तीव्र गति से कम होगा (When returns to scale are diminishing, marginal physical product of the variable factor falls rapidly)

पैमाने के वर्धमान प्रतिफल तथा परिवर्तनशील साधन का सीमान्त भौतिक उत्पादन (Increasing Returns to Scale and Marginal Physical Product)

जब पैमाने के वर्धमान प्रतिफल प्राप्त होते हैं तो परिवर्तनशील साधन का सीमान्त भौतिक उत्पादन में क्या परिवर्तन होता है को रेखाकृति 14 18 में दर्शाया गया है। रेखाकृति 14 18 मे देखा जायगा कि पैमाने के वर्धमान प्रतिफल के कारण रेखा OL पर QR दूरी
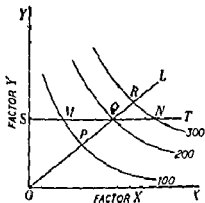
रेखाकृति 14 18 पैमाने के वर्धमान प्रतिफल तथा परिवर्तनशील साधन का सीमान्त उत्पादन

PQ से कम है। रेखाकृति 14 18 से यह भी स्पष्ट है कि क्षैतिज रेखा ST पर QN दूरी MQ से कम है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे साधन X की अधिक इकाइयां स्थिर साधन Y की OS मात्रा के साथ प्रयोग की जाती हैं तो उत्पादन में समान वृद्धि प्राप्त करने के लिए साधन X की उत्तरोत्तर कम इकाइयाँ प्रयोग की जाती हैं अर्थात् QN का QM की तुलना मे कम होने का अर्थ है कि परिवर्तनशील साधन X का प्रयोग बढ़ाने पर उसका सीमान्त भौतिक उत्पादन बढ़ रहा है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रेखाकृति 14 18 मे पैमाने के प्रतिफल बड़ी तीव्र गति से बढ रहे है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब पैमाने के प्रतिफल मे तीव्र गति से वृद्धि हो रही होती है तो परिवर्तनशील साधन का उपयोग बढ़ाने पर उसका सीमान्त प्रतिफल (सीमान्त भौतिक उत्पादन) बढ़ता है (When returns to scale are increasing **strongly**, marginal physical product *of the variable factor* increases)। किन्तु जब पैमाने के प्रतिफल धीमी गति से बढते हैं तो परिवर्तनशील साधन का स्थिर साधन के साथ उपयोग बढाने पर उसका सीमान्त भौतिक उत्पादन घटेगा। अतएव इस स्थिति मे ह्रासमान सीमान्त प्रतिफल का नियम (Law of Diminishing Returns) पैमाने के वर्धमान प्रतिफल की दशा मे भी लागू हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पैमाने के वर्धमान प्रतिफल की दशा मे परिवर्तनशील साधन का सीमान्त भौतिक उत्पादन बढ़ भी सकता है और घट भी सकता है और यह इस बात पर निर्भर करता है कि क्या पैमाने के प्रतिफल तीव्र अथवा धीमी गति से बढ़ रहे हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि 'यदि पैमाने के प्रतिफल स्थिर हैं तो परिवर्तनशील साधन को स्थिर साधन के साथ अधिक उपयोग करने पर उसकी सीमान्त उत्पादकता सदा घटेगी। इसी प्रकार यदि पैमाने के प्रतिफल घट रहे होते हैं तो परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पादकता सदा घटेगी, और जब पैमाने के प्रतिफल बढ रहे होते है तो परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पादकता फिर भी घटेगी बशर्ते कि पैमाने के प्रतिफल बड़ी तीव्र गति से न बढ रहे हों।[1]

---

1 'If returns to scale are constant the marginal productivity of a variable factor used in conjunction with a fixed factor will always *diminish* as more of the factor is used. If returns to scale are decreasing marginal productivity will likewise always diminish and when returns to scale are increasing marginal productivity will still *diminish* unless the returns to scale are increasing *sufficiently* strongly"—Stonier and Hague *A Text book of Economic Theory*, 4th edition, 1972, p 220

15

लागत वक्र
(COST CURVES)

लागत के अन्तत भौतिक उत्पादन के व्यवहार पर आधारित होने के कारण जब तक उत्पादन से सम्बन्धित सभी नियमों का सविस्तार विवेचन न कर लें, फर्म की लागत के सम्बन्ध में गहरा और पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। अब जबकि हमने उत्पादन के सिद्धान्त का अध्ययन कर लिया है, हम इस योग्य हो गए हैं कि फर्म की लागत को भली भाँति समझ सकें। सुविधा के लिए अर्थशास्त्र में लागत की व्याख्या प्रायः लागत वक्रों की सहायता से की जाती है। अत इस अध्याय में हम व्यक्तिगत फर्म के अल्पकालीन और दीर्घकालीन लागत वक्रों का विवेचन करेंगे। दूसरे शब्दों में, हम देखेंगे कि किसी वस्तु की विभिन्न मात्राओं का उत्पादन करने में उत्पादक फर्म की कुल, औसत और सीमान्त लागत कैसे बदलती हैं और क्यों ?

लागत का सविस्तार विवेचन अर्थशास्त्र के सिद्धांत में अतीव महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त, इसका उत्पादकों के लिए व्यावहारिक महत्त्व भी बहुत है। यह स्पष्ट है कि कोई फर्म वस्तु का कितना उत्पादन करेगी यह इस बात पर निर्भर करेगा कि विभिन्न मात्राओं पर एक ओर तो उसकी प्रति इकाई लागत कितनी है और दूसरी ओर बाजार में उसकी कीमत कितनी है। अर्थात् किसी वस्तु की व्यक्तिगत फर्म द्वारा प्रस्तुत पूर्ति उस फर्म की लागत के अनुसार बदलती है। फर्म की पूर्ति से हम किसी समूचे उद्योग की पूर्ति निश्चित कर सकेंगे और तब जाकर उस वस्तु की माँग के अनुसार उसकी कीमत निर्धारित होगी।

लागत की कुछ धारणाएं
(Some Concepts of Cost)

अर्थशास्त्र में लागत शब्द को कई अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है। विद्यार्थियों को विषय भली-भाँति समझ आ जाए इसके लिए यह जरूरी है कि लागत के इन विभिन्न अर्थों को स्पष्ट किया जाए।

लागत की सबसे अधिक प्रयुक्त होने वाली धारणा मुद्रा लागत (Money Cost) की है। इसका अर्थ है मुद्रा रूप में वे सारे भुगतान, जो कोई उत्पादक अन्यों को जो उसे उत्पादन में प्रयोग होने वाली वस्तुएँ और सेवाएँ उपलब्ध कराते हैं, देता है। उत्पादक द्वारा मुद्रा रूप में श्रमिकों को मजदूरी (wages), कच्चा माल की पूर्ति करने वालों को कीमतें, मशीनरी खरीदने पर व्यय आदि सब मुद्रा लागतें हैं।

लागत की एक और महत्त्वपूर्ण धारणा वास्तविक लागत (Real Cost) की है। वस्तु की वास्तविक लागत का माव उसको उत्पादित करने मे परिश्रम करने, त्याग करने और असुविधा एव दुख उठाने से है। मेज बनाने का उदाहरण लें। मेज बनाने के लिए जगलो से लकडी काट कर ले आने मे मजदूरो को अपना परिश्रम करना पड़ा, उस लकड़ी को चीरने, स्वच्छ करने व उससे मेज बनाने मे बढइयो ने जो परिश्रम किया, मेजें बनाने का कारखाना स्थापित करने के लिए पूंजी जुटाने के लिए मालिको को उपभोग का जो त्याग (sacrifice of consumption) करना पड़ा, ये सब मेज की वास्तविक लागतें हैं। अत किसी वस्तु की वास्तविक लागत का अर्थ देश के लोगों द्वारा उसके लिए किए गए प्रयत्न, परिश्रम, त्याग (effort, exertion and sacrifice) आदि हैं।

लागत की एक और धारणा जिसका अर्थशास्त्र मे आजकल बहुत प्रयोग होता है, वह है विकल्प त्याग (Opportunity Cost or Alternative Cost)। इस धारणा के अनुसार किसी वस्तु की लागत उस वस्तु को उत्पादित करने के लिए किसी अन्य वस्तु का त्याग है जो उन्ही साधनो से बनाई जा सकती थी जिससे कथित वस्तु बनाई गई है। उदाहरणार्थ जिन साधनो (लकडी, बढई की सेवा) से मेज बनाई गई है, उन्ही से कुर्सी भी बनाई जा सकती थी। अत मेज बनाने का विकल्प त्याग (opportunity cost) हुआ कुर्सी। एक और उदाहरण लीजिए। कल्पना करें कि किसी विद्यार्थी के पास 3 रुपये हैं और वह इस राशि से या तो एक पुस्तक खरीद सकता है अथवा चलचित्र देख सकता है। मान लीजिए वह चलचित्र देखने चला जाता है तो उसके लिए चलचित्र देखने की कीमत अथवा लागत वह है जो उसे सिनेमा जाने के लिए त्यागनी पड़ी है अर्थात् वह पुस्तक जो वह उन रुपयों से ले सकता था (opportunity cost means the alternative foregone or given up)। इसी प्रकार जब कोई कृषि मजदूर गाँव छोड कर नगर मे किसी औद्योगिक फर्म मे 100 रुपये मासिक पर काम करने लगता है तो उसके लिए विकल्प त्याग वह राशि है जो वह कृषि में मजदूरी करके कमा रहा था। इसी प्रकार पूंजी की विकल्प लागत है। मान लो एक व्यवसायी के पास 10 हजार रुपये हैं। वह उन्हें या तो अपने व्यवसाय मे लाभ कमाने के लिए लगा सकता है या उन्हें बैंक के किसी मियादी लेखे (Fixed Account) मे जमा करवा के 7% ब्याज की दर प्राप्त कर सकता है और यदि वह उनको व्यवसाय में लगा देता है तो उनके प्रयोग का विकल्प त्याग हुआ 7% ब्याज की दर। इसी प्रकार जब किसी भूमि के लिए खेत पर कपास के बजाय गेहूं उगाई जाए तो गेहूं उगाने का विकल्प त्याग (opportunity cost) हुआ कपास जो उस खेत मे उगाई जा सकती थी।

लागत के विषय मे दो और धारणाएँ भी हैं वे हैं: विहित लागत (Explicit Cost) और निहित लागत (Implicit Cost)। जिन लागतो का फर्म भुगतान करती है, वे उसकी विहित या स्पष्ट लागतें कहलाती हैं, उदाहरणतया कच्चे माल की कीमत, मजदूरो की मजदूरी, पूंजी का ब्याज और प्रबन्धको आदि स्थायी कर्मचारियो के वेतन आदि। ये लागतें उत्पादक को बाहर चुकानी पड़ती हैं। निहित लागतें वे व्यय हैं, जो उत्पादन की लागत मे सम्मिलित तो करनी चाहिएँ, परन्तु उत्पादक को किसी और को नही चुकानी पड़तीं। वह मालिक स्वय करता है, किन्हीं दूसरों को नहीं देता, जैसे वह स्वय काम करता है, परन्तु अपने आपको कोई वेतन नही देता, अपनी पूंजी व्यवसाय मे लगाता है, पर उसका ब्याज नहीं लेता, यदि दुकान की इमारत उसकी अपनी है, तो उसका किराया वह नहीं लेता।

अल्पकाल में लागतें : स्थिर लागतें तथा परिवर्तनशील लागतें (Costs in the Short Run : Fixed Costs and Variable Costs)

कुछ उत्पादन के साधन ऐसे हैं जिनको उत्पादन के स्तर के अनुसार बदला जा सकता है। इस प्रकार यदि एक फर्म अपना उत्पादन बढाना चाहती है तो ऐसा वह अधिक मात्रा में श्रमिकों, कच्चा माल, रसायन आदि का उपयोग करके कर सकती है। अत श्रम, कच्चा माल, रासायनिक पदार्थ आदि ऐसे साधन हैं जो कि उत्पादन की मात्रा बदलने पर आसानी से बदले जा सकते हैं। ऐसे साधनो को घटते बढ़ते अथवा

परिवर्तनशील साधन (variable factors) कहते हैं। दूसरी ओर ऐसे साधन भी है, जैसे मशीनें अथवा पूँजी उपकरण, फैक्ट्री की इमारत, उच्च प्रबंध अधिकारी आदि जो कि इतनी सरलता से घटाए बढ़ाए नही जा सकते। उनमे घट-बढ़ करने के लिए अधिक समय की आवश्यकता होती है। किसी फैक्ट्री की इमारत का विस्तार करने के लिए अथवा फैक्ट्री की नई इमारत बनाने के लिए जिसका क्षेत्रफल अथवा क्षमता अधिक हो, काफी समय लगता है। इसी तरह नई मशीनरी को खरीदने तथा उसको प्रस्थापित करने के लिए भी समय लगता है। कच्चा माल श्रमिक आदि साधन जिन्हे उत्पादन म परिवर्तन के अनुसार आसानी से घटाया बढ़ाया जा सकता है, को परिवर्तनशील साधन (variable factors) कहा जाता है और पूँजी उपकरण, प्लाट, इमारत आदि जैसे साधन जिनको आसानी से घटाया बढ़ाया नही जा सकता और जिनकी मात्रा बदलने के लिए अधिक समय लगता है, को स्थिर साधन (fixed factors) कहा जाता है।

परिवर्तनशील साधन और बधे साधनो मे अन्तर के अनुरूप ही अर्थशास्त्री अल्पकाल तथा दीर्घकाल मे अन्तर करते है। अल्पकाल (short run) वह समय-अवधि है जिसमे उत्पादन को परिवर्तनशील साधनो जैसे कि श्रम, कच्चा माल, रासायनिक पदार्थ आदि मे परिवर्तन करके बढाया घटाया जा सकता है। अल्प-काल के बधे साधनो जैसे कि मशीनें अथवा पूँजी उपकरण, फैक्ट्री की इमारत आदि की मात्राएँ उत्पादन मे परिवर्तन करने के लिए घटाई-बढ़ाई नही जा सकती। अत अल्पकाल मे फर्म नया सयन्त्र स्थापित नही कर सकती और न ही पुराने सयन्त्र (plant) को त्याग सकती है। यदि अल्पकाल मे फर्म अपना उत्पादन बढाना चाहती है तो वह ऐसा श्रम तथा कच्चे माल आदि को बढा कर ही कर सकती है, अल्पकाल मे वह अपने वर्तमान सयन्त्र की क्षमता बढा कर अथवा अधिक क्षमता के नए सयन्त्र लगा कर उत्पादन को नही बढा सकती। अत अल्पकाल वह समय अवधि है जिसमे केवल परिवर्तनशील साधनो को ही घटाया बढाया जा सकता है जबकि स्थिर साधनो की मात्राएँ स्थिर एव अपरिवर्तित रहती है।

दूसरी ओर दीर्घकाल (long run) वह समय-अवधि है जिसमे सभी साधनो की मात्राओ को घटाया-बढाया जा सकता है। दीर्घकाल मे सभी साधन घटाये-बढाये न जा सकने के कारण इसमे अल्पकाल की भाँति स्थिर और परिवर्तनशील साधनो म अन्तर नही होता। दीर्घकाल मे उत्पादन को न केवल श्रम और कच्चे माल के अधिक प्रयोग करके बढाया जा सकता है बल्कि ऐसा वर्तमान सयन्त्र के आकार मे विस्तार करके अथवा अधिक उत्पादन क्षमता वाला नया सयन्त्र स्थापित करके किया जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि अर्थशास्त्र मे सयन्त्र शब्द का अर्थ स्थिर साधनो जैसे कि फैक्ट्री की इमारत उसम प्रस्थापित मशीनरी तथा मैनेजर द्वारा सगठन आदि के समुच्चय से होता है।

स्थिर साधनो और परिवर्तनशील साधनो तथा अल्पकाल और दीर्घकाल मे अन्तर मे व्याख्या करने के बाद हम स्थिर लागतो (fixed costs) तथा परिवर्तन-शील लागतो (variable costs) म अन्तर स्पष्ट करने की स्थिति मे हैं। कुल लागत स्थिर लागतो तथा परिवर्तनशील लागतो का जोड ही होती है। स्थिर लागतो म वे लागते सम्मिलित होती है जो उत्पादन की मात्रा से स्वतन्त्र होती है अर्थात् जो उत्पादन मे परिवर्तन करने से नही बदलती। ये स्थिर लागतें एक स्थिर मात्रा को व्यक्त करती हैं जिसे अल्पकाल मे फर्म को उठाना ही पडता है चाहे उसका उत्पादन कम हो अथवा अधिक। यदि अल्पकाल मे फर्म कुछ समय के लिए उत्पादन बद भी कर दे तो फिर भी उसे ये स्थिर लागतें सहन करनी ही होती हैं। स्थिर लागतो को उपरि लागतें (Overhead Costs) भी कहते हैं और इनमे इमारत का किराया, बीमा की फीस, मशीनरी आदि की मूल्यह्रास (depreciation) की लागतें, सम्पत्ति कर, पूँजी पर ब्याज, प्रबन्धक का वेतन, चौकीदार की मजदूरी आदि सम्मिलित होती हैं। इस प्रकार स्थिर लागतें वे लागतें है जिनको उत्पादन के स्थिर साधनो पर उठाना पडता है और जिनकी मात्रा अल्पकाल मे नही बदलती।

इसके विरुद्ध परिवर्तनशील लागतें (Variable Costs) वे लागतें हैं जिनको अल्पकाल मे बदला जा

सकता है और वे परिवर्तनशील साधनो को काम पर लगाने पर उठाई जाती है। अत कुल परिवर्तनशील लागतें अल्पकाल मे उत्पादन मे परिवर्तन के फलस्वरूप बदल जाती है अर्थात् जब उत्पादन घटाया जाता है तो वे घटती है अथवा जब उत्पादन बढाया जाता है तो वे बढ जाती हैं। परिवर्तनशील लागतो मे काम पर लगाए गए श्रमिको की मजदूरी, कच्चे माल की कीमतें, बिजली और ईंधन के प्रयोग की कीमत, परिवहन पर उठाए गए व्यय आदि सम्मिलित हैं। यदि फर्म अल्पकाल मे कुछ समय के लिए उत्पादन बन्द कर देती है तो वह परिवर्तनशील साधनो का प्रयोग नही करेगी और इसलिए वह परिवर्तनशील लागतो को नही उठाएगी। परिवर्तनशील लागतो को तब उठाना पडता है जब वस्तु की कुछ मात्रा उत्पादित की जाती हो और उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि के साथ कुल परिवर्तनशील लागतें भी बढती है। इस प्रकार हम देखते है कि वस्तु के उत्पादन की कुल लागत इसकी कुल परिवर्तनशील लागतो तथा कुल स्थिर लागतो का सयोग होता है। अत

कुल लागत = कुल स्थिर लागत + कुल परिवर्तनशील लागत

$$TC = TFC + TVC$$

चूँकि कुल लागत का एक भाग अर्थात् कुल परिवर्तनशील लागत उत्पादन मे परिवर्तन से बदलता है, इसलिए कुल लागत भी उत्पादन की मात्रा मे कमी अथवा वृद्धि से बदलेगी। उत्पादन की मात्रा बढने पर कुल लागत बढेगी और उत्पादन के घटने पर घटेगी। कुल स्थिर लागत और कुल परिवर्तनशील लागत को रेखाकृति 15 1 मे दिखाया गया है जिसमे कि अक्ष-X पर उत्पादन की मात्रा को मापा गया है और अक्ष-Y पर लागत को।

उत्पादन का स्तर चाहे कितना ही क्यो न हो कुल स्थिर लागत स्थिर रहती है इसलिए कुल स्थिर लागत का वक्र क्षितिज के समानान्तर रेखा (अक्ष-X के समानान्तर रेखा) होगी। रेखाकृति 15 1 से स्पष्ट है कि कुल स्थिर लागत वक्र (TFC) अक्ष Y के एक बिन्दु से आरम्भ होता है जिसका अर्थ है कि चाहे उत्पादन बिल्कुल ही न हो तो फिर भी कुल स्थिर लागत उठानी पडेगी। इसके विरुद्ध कुल परिवर्तनशील लागत वक्र (TVC) ऊपर की ओर चढता हुआ है जो कि इस बात को प्रकट करता है कि जैसे उत्पादन बढाया जाता है तो कुछ परिवर्तनशील लागत भी बढती है। कुल परिवर्तनशील लागत वक्र मूल बिन्दु से आरम्भ होता है जोकि इस बात को प्रदर्शित करता है कि जब उत्पादन शून्य होगा तो परिवर्तनशील लागत भी शून्य होगी।
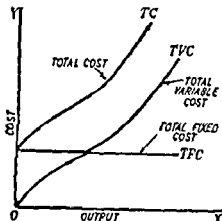
रेखाकृति 15 1

यह उल्लेखनीय है कि कुल लागत (TC) कुल उत्पादन का फलन है (Total cost is a function of total output)। उत्पादन के बढने पर कुल लागत मे वृद्धि होगी। symbols म इसे हम निम्न प्रकार लिख सकते है :—

$$TC = f(q)$$

जहाँ q कुल उत्पादन का द्योतक है। यह कि कुल लागत उत्पादन स्तर पर निर्भर करती है, को निम्न प्रकार से सिद्ध किया जा सकता है।

$$TC = TFC + TVC$$

कल्पना कीजिए कि TFC एक स्थिर राशि K के बराबर है। कुल परिवर्तनशील लागत (TVC) परिवर्तनशील साधन की मात्रा L तथा उसकी कीमत w के गुणा के बराबर होती है।

$$TVC = Lw$$

$$TC = TFC + TVC$$

$$= K + Lw \quad \ldots(1)$$

उत्पादन बढ़ने पर L_w में अवश्य वृद्धि होगी क्योंकि अल्पकाल में उत्पादन में वृद्धि केवल परिवर्तनशील साधन की मात्रा L को बढ़ा कर ही सम्भव हो सकती है। समीकरण (1) से पता चलता है कि जब L_w के बढ़ाने पर उत्पादन में वृद्धि होती है तो कुल लागत (TC) बढ़ेगी। अन्य शब्दों मे, कुल लागत (TC) उत्पादन मात्रा (q) का फलन है।

कुल लागत वक्र (TC) को कुल स्थिर लागत वक्र (TFC) के ऊपर कुल परिवर्तनशील लागत वक्र (TVC) को जोडने पर प्राप्त किया जाता है क्योंकि कुल लागत कुल स्थिर लागत तथा कुल परिवर्तनशील लागत का जोड़ होती है। रेखाकृति 15.1 से स्पष्ट है कि कुल परिवर्तनशील लागत वक्र (TVC) तथा कुल लागत वक्र (TC) के बीच का अन्तर सभी उत्पादन स्तरों पर समान है। इसका कारण यह है कि कुल परिवर्तनशील लागत वक्र तथा कुल लागत वक्र के बीच अन्तर कुल स्थिर लागत की मात्रा को व्यक्त करता है जोकि अल्पकाल में उत्पादन बढ़ने पर स्थिर रहती है। यह भी समझ लेना चाहिए कि कुल लागत वक्र (TC) तथा कुल स्थिर लागत वक्र (TFC) के बीच का अन्तर कुल परिवर्तनशील लागतों की मात्रा को व्यक्त करता है जोकि उत्पादन बढ़ने के साथ बढ़ती है। कुल लागत वक्र की आकृति बिल्कुल कुल परिवर्तनशील लागत के समान ही होती है क्योंकि इन दो वक्रों में दूरी बिल्कुल समान रहती है।

अल्पकालीन लागत वक्र : औसत स्थिर लागत, औसत परिवर्तनशील लागत तथा औसत कुल लागत वक्र (Short-Run Cost Curves : Average Fixed Cost and Average Variable Cost Curves)

हमने ऊपर कुल लागत वक्रों का अध्ययन किया है किन्तु लागत व्यवसायी तथा अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रति इकाई लागत की धारणा अधिक प्रयोग की जाती है अर्थात् व्यवसायी तथा अर्थशास्त्री कुल लागतों की तुलना में औसत लागतों का अधिक प्रयोग करते हैं। इसलिए हम नीचे औसत वक्रों का अध्ययन करेंगे।

औसत स्थिर लागत (Average Fixed Cost)— औसत स्थिर लागत कुल स्थिर लागत को उत्पादन की कुल उत्पादित इकाइयों से भाग देने पर प्राप्त होती है अर्थात् औसत स्थिर लागत उत्पादन की प्रति इकाई स्थिर लागत है। अत,

$$\text{औसत स्थिर लागत} = \frac{\text{कुल स्थिर लागत}}{\text{उत्पादन की मात्रा}}$$

$$AFC = \frac{TFC}{Q}$$

कल्पना कीजिए कि एक फर्म द्वारा किसी वस्तु की 100 इकाइयाँ उत्पादित करने पर कुल स्थिर लागत दो हजार रुपया है। इस दशा में औसत स्थिर लागत (AFC), 2000/100 = 20 रु० होगी। इसी प्रकार यदि फर्म वस्तु की 200 इकाइयाँ उत्पादित कर रही है तो औसत स्थिर लागत 2000/200 = 10 रु० होगी। चूँकि कुल स्थिर लागत एक स्थिर मात्रा होती है, इसलिए औसत स्थिर लागत उत्पादन बढ़ने पर लगातार घटती जाएगी। इसलिए औसत स्थिर लागत का
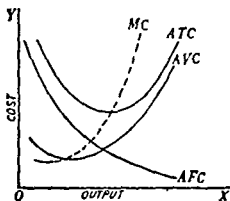
रेखाकृति 15.2 औसत लागत वक्र

वक्र बायीं ओर नीचे को गिरता हुआ होता है। जैसे उत्पादन बढ़ता है तो कुल स्थिर लागत वस्तु की अधिक इकाइयों पर फैलती है और इसलिए औसत स्थिर लागत लगातार घटती जाती है। जब उत्पादन बहुत ही अधिक हो जाता है तो औसत स्थिर लागत शून्य (0) के समान होने की प्रवृत्ति रखती है। औसत स्थिर लागत वक्र रेखाकृति 15.2 में AFC वक्र द्वारा व्यक्त किया गया है। रेखाकृति 15.2 में यह देखा जायेगा कि औसत स्थिर लागत वक्र लगातार नीचे को गिर रहा है। दूसरे शब्दों मे, औसत स्थिर लागत वक्र के अक्ष-X के निकट पहुँचने की प्रवृत्ति है लेकिन उसको स्पर्श नहीं

करेगा। औसत स्थिर लागत वक्र की एक और महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यदि हम औसत स्थिर लागत वक्र के किसी बिन्दु को लें और उस पर औसत स्थिर लागत को उसके अनुरूप उत्पादन मात्रा से गुणा करें तो उसका गुणनफल समान ही रहेगा। इसका कारण यह है कि औसत स्थिर लागत और उसके अनुरूप उत्पादन मात्रा के गुणा करने से जो कुल स्थिर लागत प्राप्त होगी वह सदा ही स्थिर होगी। इस प्रकार की आकृति के वक्र को आयताकार अधिपरवलय (rectangular hyperbola) कहते हैं।

औसत परिवर्तनशील लागत वक्र (Average Variable Cost Curve)—औसत परिवर्तनशील लागत कुल परिवर्तनशील लागत को वस्तु की कुल उत्पादन मात्रा से भाग देने पर प्राप्त होती है।

अत, औसत परिवर्तनशील लागत

$$= \frac{\text{कुल परिवर्तनशील लागत}}{\text{उत्पादन की मात्रा}}$$

$$AVC = \frac{TVC}{q}$$

जहाँ पर q कुल उत्पादन मात्रा को व्यक्त करता है।

अत इस प्रकार औसत परिवर्तनशील लागत उत्पादन की प्रति इकाई परिवर्तनशील लागत है। कुछ सीमा तक औसत लागत बढ़ते प्रतिफल के कारण सामान्यतया घटती है लेकिन उसके पश्चात् उत्पादन बढ़ने पर औसत लागत ह्रासमान प्रतिफल के कारण बड़ी तेजी से बढ़ती है। औसत परिवर्तनशील लागत का वक्र रेखाकृति 15.2 में AVC वक्र द्वारा दिखाया गया है जो कि प्रारम्भ में तो नीचे को गिरता है और फिर निम्नतम बिन्दु पर पहुंच कर ऊपर को चढ़ता है।

औसत कुल लागत (ATC) औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) तथा औसत स्थिर लागत (AFC) का सयोग होती है। इसलिए जैसे उत्पादन बढ़ता है और औसत स्थिर लागत निरन्तर कम होती जाती है तो औसत कुल लागत वक्र और औसत परिवर्तनशील लागत वक्र के बीच अन्तर कम हो जाता है। जब औसत स्थिर लागत वक्र अक्ष X के निकट पहुँचता है तो औसत परिवर्तनशील लागत वक्र (AVC) औसत कुल लागत वक्र (ATC) के निकट हो जाता है।

औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) का प्रति श्रमिक औसत उत्पादकता (average productivity per worker अथवा AP) से महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। कल्पना कीजिए q वस्तु की उत्पादन मात्रा को, L परिवर्तनशील साधन की मात्रा को और w परिवर्तनशील साधन की प्रति इकाई कीमत को प्रकट करते हैं। हम यह भी कल्पना करते हैं कि परिवर्तनशील साधन की कीमत समान रहती है चाहे उसकी अधिक मात्रा अथवा कम मात्रा की माँग की जाए।

कुल उत्पादन $(q) = AP\,L$

औसत परिवर्तनशील लागत $(AVC) = \frac{TVC}{q}$

चूँकि कुल परिवर्तनशील लागत (TVC) परिवर्तनशील साधन की प्रयुक्त की गई मात्रा (L) तथा परिवर्तनशील साधन की प्रति इकाई कीमत (w) के गुणनफल के बराबर होती है (अर्थात् $TVC = L\,w$), इसलिए

$$AVC = \frac{L\,w}{q}$$

चूँकि कुल उत्पादन $(q) = AP\,L$

अत
$$AVC = \frac{L\,w}{AP\,L}$$
$$= \frac{w}{AP}$$
$$= w\left(\frac{1}{AP}\right)$$

अत स्पष्ट है कि परिवर्तनशील साधन की प्रति इकाई कीमत w स्थिर रहने पर औसत परिवर्तनशील लागत (AVC), साधन की औसत उत्पादकता के व्युत्क्रम (reciprocal of average productivity अथवा $\frac{1}{P}$) तथा स्थिर कीमत (w) के गुणा के बराबर होती है। इससे स्पष्ट है कि औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) और औसत उत्पादकता (average productivity) का परस्पर विलोम सम्बन्ध (inverse relationship) है। इसलिए जब औसत उत्पादकता प्रारम्भ में परिवर्तनशील साधन की इकाइयाँ बढ़ाने पर बढ़ती है तो औसत परिवर्तनशील लागत अवश्य ही घटेगी और जब कुछ सीमा के बाद परिवर्तनशील

साधन की औसत उत्पादकता घटती है त औसत परिवर्तनशील लागत अवश्य ही बढ़ेगी। उत्पादन के उस स्तर पर जहाँ कि औसत उत्पादकता अधिकतम होती है, औसत परिवर्तनशील लागत निम्नतम होगी इस प्रकार औसत परिवर्तनशील लागत का वक्र (aver ge variable cost curve) औसत उत्पादकता वक्र (average productivity curve) से उलट आकृति का होता है जिससे कि औसत परिवर्तनशील लागत वक्र का निम्नतम बिन्दु औसत उत्पादकता वक्र के उच्चतम बिन्दु के अनुरूप होता है।

औसत कुल लागत (Average Total Cost)—औसत कुल लागत, या जिसे साधारणतया औसत लागत (average cost) कहते हैं कुल लागत को वस्तु की उत्पादित मात्रा पर भाग देने से प्राप्त होती है।

$$\text{औसत कुल लागत} = \frac{\text{कुल लागत}}{\text{कुल उत्पादन}}$$

$$ATC = \frac{TC}{q}$$

चूंकि कुल लागत परिवर्तनशील लागत तथा कुल लागत का जोड़ होती है, इसलिए औसत कुल लागत, औसत परिवर्तनशील लागत और औसत स्थिर लागत के जोड़ के बराबर होगी।

औसत कुल लागत = औसत स्थिर लागत + औसत परिवर्तनशील लागत

$$ATC = AFC + AVC$$

इसको निम्न प्रकार से प्रमाणित किया जा सकता है —

$$ATC = \frac{TC}{q}$$

चूंकि $TC = TVC + TFC$

अत $ATC = \frac{TVC + TFC}{q}$

$$= \frac{TVC}{q} + \frac{TFC}{q}$$

$$= AVC + AFC$$

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि औसत कुल लागत वक्र की आकृति औसत परिवर्तनशील लागत के वक्र तथा औसत स्थिर लागत के वक्र के व्यवहार पर निर्भर करती है। प्रारम्भ मे औसत परिवर्तनशील लागत और औसत स्थिर लागत के वक्र नीचे को गिरते हैं, इसलिए औसत कुल लागत का वक्र भी प्रारम्भ मे तेजी से नीचे को गिरता है। जब औसत परिवर्तनशील लागत का वक्र ऊपर को बढ़ना प्रारम्भ करता है, परन्तु औसत स्थिर लागत वक्र तेजी से नीचे गिर रहा होता है तो औसत कुल लागत वक्र नीचे को गिरना जारी रखेगा। इसका कारण यह है कि इस अवस्था म औसत स्थिर लागत के वक्र म गिरावट औसत परिवर्तनशील लागत के वक्र म वृद्धि की तुलना मे अधिक होती है। परन्तु जब उत्पादन और बढ़ाया जाता है तो औसत परिवर्तनशील लागत अधिक तीव्रता से बढ़ती है और औसत स्थिर लागत म गिरावट की गति से अधिक हो जाती है तो औसत कुल लागत वक्र ऊपर को बढ़ना प्रारम्भ कर देता है। इसलिए औसत लागत वक्र औसत परिवर्तनशील लागत की तरह प्रारम्भ से नीचे को गिरता है और निम्नतम बिन्दु पर पहुच कर ऊपर को चढ़ना प्रारम्भ कर देता है। इसलिए औसत कुल लागत वक्र की आकृति लगभग अंग्रेजी के अक्षर U के समान होती है।

सीमान्त लागत (Marginal Cost)—सीमान्त लागत की धारणा का आर्थिक सिद्धान्त मे महत्वपूर्ण स्थान है। सीमान्त लागत उत्पादन की एक अतिरिक्त इकाई उत्पादित करने से कुल लागत म हुई वृद्धि को कहते हैं। दूसरे शब्दो म, सीमान्त लागत वस्तु की $n-1$ इकाइयाँ उत्पादित करने के बजाए n इकाइयाँ उत्पादित करने पर कुल उत्पादन लागत मे वृद्धि को कहते हैं।

$$MC_n = TC_n - TC_{n-1}$$

कल्पना कीजिए कि वस्तु की 5 इकाइयाँ उत्पादित करने से कुल लागत 206 रुपये आती है। यदि वस्तु का उत्पादन बढ़ाकर 6 इकाइयाँ कर दिया जाय तो कुल लागत 236 रु० हो जाती है, तो उत्पाद की छठी इकाई की सीमान्त लागत 236—206=30 रु० के बराबर होगी। आगे हम एक सारणी द्वारा कुल लागत और उत्पादन मात्रा से सीमान्त लागत ज्ञात करने को स्पष्ट करते हैं।

आगे की सारणी मे जब उत्पादन मात्रा शून्य है तो उत्पादक की 100 रु० के बराबर कुल लागत है

जोकि उसे स्थिर साधनों पर उठानी पड़ रही है। जब उत्पादन की एक इकाई उत्पादित की जाती है तो कुल लागत बढ़ कर 125 रु० हो जाती है। इसलिए उत्पादन की पहली इकाई की सीमान्त लागत 125 − 100 = 25 रु० है। जब उत्पादन बढ़ाकर दो इकाइयाँ किया जाता है तो कुल लागत बढ़कर 145 रु० हो जाती है। इसलिए सीमान्त लागत अब 145 − 125 = 20 रु० होती है। इसी प्रकार उत्पादन की अगली इकाइयों की सीमान्त लागत भी ज्ञात की जा सकती है। सीमान्त लागत कुल उत्पादन में एक इकाई के बराबर परिवर्तन के फलस्वरूप कुल लागत में परिवर्तन होने के कारण इसे निम्न प्रकार भी लिखा जा सकता है —

$$MC = \frac{\triangle TC}{\triangle q}$$

सारणी 15.1 सीमान्त लागत की गणना

उत्पादन	कुल लागत (TC)	सीमान्त लागत (MC)
0	100	—
1	125	25
2	145	20
3	160	15
4	180	20
5	206	26
6	236	30
7	273	37

जहाँ $\triangle TC$ कुल लागत में तथा $\triangle q$ कुल उत्पादन में न्यून परिवर्तन को दर्शाते है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सीमान्त लागत स्थिर लागत से स्वतन्त्र (independent) होती है अर्थात् सीमान्त लागत स्थिर लागत पर निर्भर नही करती। चूँकि स्थिर लागत उत्पादन के बदलने के साथ नहीं बदलती, इसलिए सीमान्त स्थिर लागत (marginal fixed cost) नहीं होती। अल्पकाल में उत्पादन मात्रा में परिवर्तन करने पर केवल परिवर्तनशील लागतें (variable costs) ही बदलती हैं। अतः सीमान्त लागतें केवल परिवर्तनशील लागतों में परिवर्तन होने के कारण ही उत्पन्न होती हैं और चाहे स्थिर लागत की मात्रा कितनी ही क्यों न हो इसका सीमान्त लागत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सीमान्त लागत के कुल लागत से स्वतन्त्र होने को हम बीजगणित की सहायता से इस प्रकार प्रमाणित कर सकते है —

$$\begin{aligned} MC_n &= TC_n - TC_{n-1} \\ &= (TVC_n + TFC) - (TVC_{n-1} + TFC) \\ &= TVC_n + TFC - TVC_{n-1} - TFC \\ &= TVC_n - TVC_{n-1} \end{aligned}$$

अतः सीमान्त लागत कुल परिवर्तनशील लागत (total variable cost) में वृद्धि के बराबर होती है जब वस्तु के उत्पादन को $n-1$ इकाइयों से बढ़ाकर n इकाइयाँ कर दिया जाता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उत्पादन की सीमान्त लागत परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पादकता (marginal productivity) से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है। जैसा कि ऊपर बताया गया है

$$MC = \frac{\triangle TC}{\triangle q}$$

ऊपर प्रमाणित किया जा चुका है कि सीमान्त लागत (MC) स्थिर लागत से स्वतन्त्र होती है और यह कुल परिवर्तनशील लागत (TVC) में परिवर्तन पर निर्भर करती है।

$$MC = \frac{\triangle TVC}{\triangle q}$$

चूँकि परिवर्तनशील साधन की कीमत अर्थात् w को स्थिर माना गया है, कुल परिवर्तनशील लागत में परिवर्तन परिवर्तनशील साधन की प्रयोग की गई मात्रा में परिवर्तन के कारण होगा।

$$\text{अतएव, } MC = \frac{w \triangle L}{\triangle q} = \frac{w \triangle L}{\triangle q} \quad \cdots (i)$$

परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पादकता (marginal product, or MP) परिवर्तनशील साधन में एक इकाई परिवर्तन के फलस्वरूप कुल उत्पादन में परिवर्तन के बराबर होती है

$$\text{इसलिए, } MP = \frac{\triangle q}{\triangle L} \quad \cdots (ii)$$

जहाँ $\triangle q$ कुल उत्पादन में परिवर्तन को, $\triangle L$ परिवर्तनशील साधन में परिवर्तन को दर्शाते हैं।

उपर्युक्त समीकरण (ii) से ज्ञात होगा कि सीमान्त उत्पादकता (MP) का व्युत्क्रम (reciprocal) अर्थात्

$$\frac{1}{MP}=\frac{\triangle L}{\triangle p}$$

अब उपर्युक्त समीकरण (i) मे $\frac{\triangle L}{\triangle q}$ के स्थान पर $\frac{1}{MP}$ लिखने से हमे निम्न प्राप्त होता है

$$MC=w\frac{1}{MP}=\frac{w}{MP} \quad \cdots (iii)$$

अत हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि उत्पादन की सीमान्त लागत परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पादकता (MP) के व्युत्क्रम (reciprocal) तथा उसकी कीमत (w) के गुणा के बराबर होती है। इससे सिद्धहोता है कि सीमान्त लागत मे परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पादकता से विपरीत दिशा मे परिवर्तन होगा। यदि परिवर्तनशील साधन की कीमत अर्थात् w को स्थिर मान लिया जाय तो MC तथा MP म उपर्युक्त समीकरण (iii) मे प्रदर्शित सम्बन्ध से हम सीमान्त लागत (MC) वक्र की आकृति का पता लगा सकते है। विविध अनुपातो के नियम (Law of Variable Proportions) के अध्ययन से हम जानते है कि जब प्रारम्भ मे परिवर्तनशील साधन के प्रयोग को बढा कर उत्पादन म वृद्धि की जाती है तो परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पादकता (MP) बढती है। इसका अर्थ यह है कि उपर्युक्त समीकरण (iii) मे परिवर्तनशील साधन की मात्रा मे वृद्धि करके उत्पादन बढाने से प्रारम्भ मे स्थिर मात्रा 'w' अधिक सीमान्त उत्पादन (MP) से विभाजित होगा। इससे प्रारम्भ मे उत्पादन बढने पर सीमान्त लागत मे कमी होगी। परिवर्तनशील अनुपातो के नियमो के अनुसार परिवर्तनशील साधनो के कुछ प्रयोग के पश्चात् सीमान्त उत्पादकता (MP) घटना प्रारम्भ करती है जिसका समीकरण (iii) मे अर्थ यह है कि स्थिर मात्रा 'w' अब क्रमश कम सीमान्त उत्पादन (MP) से विभाजित होगी। इससे कुछ उत्पादन स्तर के पश्चात् सीमान्त लागत (MC) बढने लगेगी। इस प्रकार सीमान्त उत्पादकता (MP) प्रारम्भ मे बढने और अधिकतम स्तर को पहुंच कर घटने से सीमान्त लागत प्रारम्भ मे घटती है और न्यूनतम स्तर को पहुंच कर बढने लगती है अर्थात् सीमान्त लागत वक्र की आकृति अंग्रेजी के अक्षर U के समान होगी। सीमान्त लागत वक्र को रेखाकृतियो 15 2 तथा 15 4 मे दर्शाया गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विविध अनुपातो का नियम (Law of Variable Proportions) अर्थात् सीमान्त उत्पादकता (MP) वक्र का व्यवहार सीमान्त लागत वक्र की आकृति को निर्धारित करता है। वस्तुत सीमान्त लागत वक्र सीमान्त उत्पादकता वक्र से उलट आकृति (inverse shape) का होता है जिसका न्यूनतम बिन्दु सीमान्त उत्पादकता वक्र के उच्चतम बिन्दु के अनुरूप होता है। सीमान्त उत्पादन और सीमान्त लागत मे सम्बन्ध औसत उत्पादन और औसत लागत मे सम्बन्ध के समान ही है।

सीमान्त लागत के विश्लेषण से हम तीन निष्कर्षों पर पहुंचते हैं। प्रथम यह कि सीमान्त लागत परिवर्तनशील लागत मे परिवर्तन के कारण होती है और इसलिए यह स्थिर लागत से स्वतन्त्र होती है। द्वितीय, सीमान्त लागत के वक्र की आकृति विविध अनुपातो के नियम अर्थात् परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पादकता के व्यवहार द्वारा निर्धारित होती है। तृतीय, उत्पादन मे वृद्धि होने पर परिवर्तनशील साधन की कीमत स्थिर रहने की मान्यता महत्त्वपूर्ण है क्योकि साधनो की कीमत मे परिवर्तन हमारे निष्कर्षों को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित करेगा।

औसत लागत तथा सीमान्त लागत वक्रों में सम्बन्ध (Relationship between Average and Marginal Cost Curves)

हमने ऊपर सीमान्त लागत तथा औसत लागत के वक्रो की धारणाओ की व्याख्या की है। इन दो प्रकार के वक्रो मे एक महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। सीमान्त लागत और औसत लागत मे सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि किसी अन्य सीमान्त और औसत मात्राओ के मध्य पाया जाता है। जब सीमान्त लागत औसत लागत

से कम होती है तो औसत लागत घटती है और जब सीमान्त लागत औसत लागत से अधिक होती है तो औसत लागत बढ़ती है। सीमान्त और औसत में यह सम्बन्ध एक गणितीय स्वतःसिद्ध बात है जिसे एक साधारण उदाहरण द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। कल्पना कीजिए एक क्रिकेट का खिलाड़ी एक बैट पर 50 रन बनाता है। यदि वह अपनी अगली पारी में 50 से कम रन बनाता है (कल्पना कीजिए कि अब वह 45 बनाता है) तो उसकी औसत रन संख्या घट जाएगी क्योंकि उसकी सीमान्त रन संख्या उसकी औसत रन संख्या से कम है। यदि 45 की बजाए वह दूसरी पारी में 50 से अधिक रन बनाता है (उदाहरण के लिए 55) तो उसकी औसत रन संख्या बढ़ जाएगी क्योंकि अब उसकी सीमान्त रन संख्या उसकी पहली औसत रन संख्या से अधिक है। यदि उसकी वर्तमान औसत रन संख्या 50 है और वह अपनी अगली पारी में भी 50 रन बनाता है तो उसकी औसत रन संख्या 50 ही रहेगी क्योंकि उसकी सीमान्त रन संख्या औसत रन संख्या के बराबर ही है। इसी तरह कल्पना कीजिए कि एक उत्पादक किसी वस्तु की कुछ इकाइयाँ उत्पादित कर रहा है और उसकी औसत लागत 20 रु० है। यदि अब वह वस्तु की एक और इकाई उत्पादित करता है जिससे उसकी औसत लागत घट जाती है तो इसका यह अर्थ है कि अतिरिक्त इकाई की लागत अवश्य ही 20 रु० से कम होगी। इसके विरुद्ध यदि उत्पादन की एक और इकाई उत्पादित करने से उसकी औसत लागत बढ़ जाती है तो सीमान्त इकाई की लागत 20 रु० से अवश्य ही अधिक होगी। और यदि उत्पादन की एक और इकाई उत्पादित करने से औसत लागत समान रहती है तो सीमान्त लागत अवश्य ही 20 रु० के बराबर होगी अर्थात् इस अवस्था में सीमान्त लागत और औसत लागत एक दूसरे के बराबर होंगी। औसत लागत और सीमान्त लागत के आपसी सम्बन्ध को रेखाकृति 15 3 की सहायता से आसानी से समझा जा सकता है। रेखाकृति 15 3 से स्पष्ट है कि जब सीमान्त लागत औसत लागत से अधिक होती है तो औसत लागत बढ़ती है अर्थात् यहाँ पर सीमान्त लागत औसत लागत को ऊपर की ओर खींचती है। इसके विरुद्ध जब सीमान्त लागत औसत लागत से कम होती है तो औसत लागत घटती है अर्थात् यहाँ सीमान्त लागत औसत लागत को नीचे की ओर खींचती है। जब सीमान्त लागत औसत लागत के समान होती है तो औसत लागत स्थिर रहती है अर्थात् यहाँ सीमान्त लागत औसत लागत को क्षितिज के समान्तर दिशा में खींचती है।

MC

AC —→ MC

MC
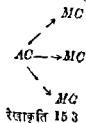
रेखाकृति 15 3

अब रेखाकृति 15 4 को लीजिए जिसमें एक अल्पकालीन औसत लागत वक्र AC खींचा गया है। इसमें जब तक अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र (MC) अल्पकालीन औसत लागत वक्र के नीचे है तो औसत लागत वक्र नीचे को गिर रहा है। जब सीमान्त लागत
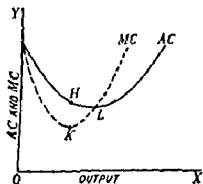
रेखाकृति 15 4

वक्र MC औसत लागत वक्र AC के ऊपर स्थित है तो औसत लागत वक्र AC ऊपर को चढ़ रहा है। बिन्दु L पर जहाँ कि सीमान्त लागत औसत लागत के बराबर है, औसत लागत न तो नीचे को गिरती है और न ही ऊपर को चढ़ती है अर्थात् बिन्दु L पर औसत लागत नीचे को घटना बन्द कर देती है लेकिन अभी वह ऊपर को चढ़ना आरम्भ नहीं करती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बिन्दु L जहाँ पर कि सीमान्त लागत वक्र औसत लागत वक्र को काटता है, औसत लागत वक्र का निम्नतम बिन्दु होगा। इस

सीमान्त लागत वक्र औसत लागत वक्र को उसके निम्नतम बिन्दु पर काटता है।

यह समझ लेना आवश्यक है कि हम सीमान्त लागत के बदलने की दिशा को औसत लागत के परिवर्तन द्वारा नही बता सकते अर्थात् जब औसत लागत घट रही होती है तो हम यह नही कह सकते कि सीमान्त लागत भी घट रही होगी। जब औसत लागत घट रही होती है तो हम केवल इतना ही कह सकते है कि सीमान्त लागत इसके नीचे होगी लेकिन उसके नीचे रहने पर भी सीमान्त लागत बढ भी सकती है और गिर भी सकती है। इसी प्रकार जब औसत लागत बढ रही होती है तो हम इससे यह निष्कर्ष नही निकाल सकते कि सीमान्त लागत भी अवश्य बढ रही होगी। जब औसत लागत बढ रही होती है तो सीमान्त लागत उसके ऊपर होगी। लेकिन ऊपर रहने पर भी सीमान्त लागत मे बढने अथवा घटने की प्रवृत्ति हो सकती है। रेखाकृति 15 4 को देखिए जहाँ कि बिन्दु K तक सीमान्त लागत घट रही है तथा औसत लागत के नीचे है। परिणामस्वरूप औसत लागत बिन्दु H तक घटती है। लेकिन बिन्दु K के बाद और बिन्दु L तक सीमात लागत वक्र औसत लागत वक्र के नीचे है जिसमे कि औसत लागत वक्र नीचे को गिर रहा है परन्तु बिन्दु K और L के बीच जब कि सीमान्त लागत बढ़ रही है, औसत लागत घट रही है। इसका कारण यह है कि यद्यपि K और L के बीच सीमान्त लागत बढ़ रही है यह औसत लागत से कम है। अत स्पष्ट है कि जब औसत लागत घट रही होती है तो सीमान्त लागत घट भी सकती है और बढ़ भी सकती है।

इसको क्रिकेट के खेल मे खिलाड़ी की रन सख्या के उदाहरण से सरलता से समझा जा सकता है। कल्पना कीजिए कि क्रिकेट के खिलाडी की वर्तमान रन सख्या 50 है। यदि वह अपनी अगली पारी मे 50 से कम रन बनाता है (कल्पना कीजिए कि वह 45 रन बनाता है) तो उसकी बैटिंग औसत घट जाएगी। लेकिन उसकी सीमान्त रन सख्या 45 यद्यपि औसत से कम है पिछली सीमान्त रन सख्या से शायद अधिक हो। उदाहरण के लिए उसने अपनी पिछली पारी म शायद 25 रन बनाये हो जिससे कि उसकी वर्तमान सीमान्त रन सख्या 45 उसकी पूर्व सीमान्त रन सख्या से बहुत अधिक होगी। अत जब औसत लागत घट रही हो अथवा बढ़ रही हो तो हम सीमान्त लागत के विषय म यह नही कह सकते कि वह घट रही है अथवा बढ़ रही है।

दीर्घकालीन लागत वक्र (Long-Run Cost Curves)

अब हम दीर्घकाल म लागत वक्रो की व्याख्या करेंगे। जैसा कि हम ऊपर बता आये है दीर्घकाल वह समय अवधि है जिसम कि कोई फर्म अपने सभी साधनो को बदल सकती है। अल्पकाल मे कुछ साधन तो स्थिर रहते है और अन्य को उत्पादन की मात्रा बढाने के लिए बढाया जाता है। दीर्घकाल म कोई भी साधन स्थिर नही होता और इसलिए सभी को उत्पादन के अनुसार बदला जा सकता है। दीर्घकालीन उत्पादन फलन (long-run production function) मे इसलिए कोई भी साधन स्थिर नही होता और फर्म की कोई भी लागत स्थिर लागत नही होती। अल्पकाल मे प्लाण्ट का आकार स्थिर साधनो से निश्चित होता है। प्लाण्ट शब्द का अर्थ पूँजी, उपकरण, मशीनरी, भूमि आदि का समुच्चय समझा जाना चाहिए। अल्पकाल म प्लाण्ट का आकार समान और अपरिवर्तित रहता है और इसे बढ़ाया-घटाया नही जा सकता अर्थात् अल्पकाल म यदि उत्पादन की मात्रा को बढ़ाना और घटाना हो, पूँजी, उपकरण की मात्रा को बदला नही जा सकता। इसके विरुद्ध दीर्घकाल वह समय-अवधि है जिसमे कि प्लाण्ट मे समुचित परिवर्तन किया जा सकता है अर्थात् दीर्घकाल मे उत्पादन को बढ़ाने अथवा घटाने के लिए पूँजी, उपकरण, मशीनरी, भूमि आदि को आवश्यकतानुसार बदला जा सकता है। अत जब कि अल्पकाल म फर्म एक दिए हुए सयन्त्र से बँधी हुई होती है, दीर्घकाल मे फर्म एक सयन्त्र (plant) को छोड़कर दूसरे सयन्त्र को अपना सकती है। यदि उत्पादन बढ़ाना हो तो फर्म पहले से बडा सयन्त्र लगा सकती है और यदि उत्पादन घटाना हो तो वह पहले से छोटा सयन्त्र स्थापित कर सकती है। दीर्घकालीन

उत्पादन लागत किसी दिये हुए उत्पादन स्तर को उत्पादित करने की न्यूनतम सम्भव लागत है। दीर्घकालीन लागत वक्र उत्पादन मात्रा और दीर्घकालीन उत्पादन लागत के बीच सम्बन्ध को व्यक्त करता है।

दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (Long Run Average Cost Curve)

दीर्घकालीन औसत लागत दीर्घकालीन कुल लागत को उत्पादन की मात्रा से विभाजित करने पर प्राप्त की जाती है। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र उत्पादन की विभिन्न मात्राओं की न्यूनतम सम्भव औसत लागत को व्यक्त करता है। यह समझने के लिए कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है रेखाकृति 15.5 में प्रदर्शित तीन अल्पकालीन औसत लागत वक्रों पर विचार कीजिए। इन अल्पकालीन औसत लागत वक्रों को संयन्त्र वक्र (Plant Curves) भी कहते हैं क्योंकि अल्पकाल में
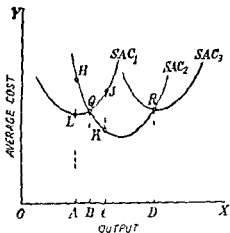
रेखाकृति 15.5

संयन्त्र स्थिर रहता है और प्रत्येक अल्पकालीन औसत लागत वक्र एक विशेष संयन्त्र के अनुसार होता है। अल्पकाल में फर्म संयन्त्र के आकार दिए हुए होने पर किसी अल्पकालीन औसत लागत वक्र पर काम कर रही होती है। कल्पना कीजिए कि रेखाकृति 15.5 में दिखाए गए तीन अल्पकालीन औसत लागत वक्र के अनुसार तकनीकी तौर पर केवल तीन आकारों के संयन्त्र सम्भव हैं और किसी अन्य आकार का संयन्त्र नहीं बनाया जा सकता। संयन्त्र के दिये हुए आकार अथवा एक दिए हुए अल्पकालीन औसत लागत वक्र के होने पर फर्म अपनी उत्पादन मात्रा को परिवर्तनशील साधनों में परिवर्तन करके बढ़ा अथवा घटा सकती है। परन्तु दीर्घकाल में फर्म संयन्त्र के तीन सम्भव आकारों जिनको तीन अल्पकालीन औसत लागत वक्र (Short run Average Cost Curves) व्यक्त करते हैं में चयन कर सकती है। दीर्घकालीन फर्म को इस बात का निर्णय करना होता है कि संयन्त्र के किस आकार से अथवा किस अल्पकालीन औसत लागत वक्र से वह एक दी हुई उत्पादन मात्रा को उत्पादित करे जिससे कि उसकी लागत न्यूनतम हो। रेखाकृति 15.5 से यह स्पष्ट है कि उत्पादन मात्रा OB तक फर्म अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_1 पर उत्पादन करेगी। यद्यपि वह OB मात्रा तक अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_2 से भी उत्पादन कर सकती है परन्तु वास्तव में इससे उत्पादन नहीं करेगी क्योंकि उत्पादन की OB मात्रा तक SAC_1 पर उत्पादन करने में औसत लागत कम बैठती है। उदाहरण के लिए यदि वस्तु की मात्रा OA को SAC_1 से उत्पादित किया जाय तो औसत लागत AL होगी और यदि इसे SAC_2 से उत्पादित किया जाय तो औसत लागत AH होगी। रेखाकृति से स्पष्ट है कि AL AH की अपेक्षा कम है। इसी प्रकार उत्पादन मात्रा OB तक सभी उत्पादन मात्राओं को बड़े संयन्त्र SAC_2 की तुलना में छोटे संयन्त्र SAC_1 से उत्पादित करना किफायतकारी (economical) अथवा कम औसत लागत का होगा। स्पष्ट है कि फर्म दीर्घकाल में बिन्दु B तक वस्तु की कोई भी मात्रा SAC_1 संयन्त्र से उत्पादित करेगी। यदि फर्म वस्तु की OB से अधिक परन्तु OD से कम मात्रा उत्पादित करना चाहती है तो वह तब SAC_1 से उत्पादित नहीं करेगी। रेखाकृति 15.5 से ज्ञात होगा कि OB से अधिक और OD से कम मात्रा का उत्पादन SAC_1 के स्थान पर SAC_2 द्वारा करने से प्रति इकाई अथवा औसत लागत कम उठानी पड़ेगी। उदाहरणार्थ यदि वस्तु की OC मात्रा को SAC_2 से उत्पादित किया जाए तो प्रति इकाई लागत CK है और यदि SAC_1 द्वारा किया जाए

तो प्रति इकाई लागत CJ है जोकि CK से अधिक है। इसलिए यदि फर्म वस्तु की OB से लेकर OD तक किसी मात्रा का उत्पादन करना चाहती है तो वह SAC_2 द्वारा व्यक्त संयंत्र स्थापित करके उत्पादन करेगी। यदि फर्म को OD से अधिक मात्रा का उत्पादन करना हो तो तब SAC_2 की बजाय SAC_3 द्वारा उत्पादन करने से लागत कम आएगी। अतः OD से अधिक मात्रा के उत्पादन के लिए फर्म अल्पकालीन औसत लागत SAC_3 द्वारा व्यक्त संयंत्र प्रयुक्त करेगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दीर्घकाल में फर्म को संयंत्र के प्रयोग करने में स्वतन्त्रता होती है और वस्तु की एक दी हुई मात्रा के उत्पादन करने के लिए वह ऐसे संयंत्र को प्रयोग करेगी जिसमें प्रति इकाई लागत (अर्थात् औसत लागत) न्यूनतम होगी। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (Long Run Average Curve) वस्तु की विभिन्न मात्राएँ उत्पादित करने के लिए न्यूनतम औसत लागतों को दर्शाता है जब कि संयंत्र सहित levels of output when all factors including the size of the plant have been adjusted)। यदि रेखाकृति 15.5 में दिखाये गए केवल तीन संयंत्र ही पाये जाते हों अर्थात् तकनीकी दृष्टि से सम्भव (technologically feasible) हों तो तब दीर्घकालीन औसत लागत वक्र सीधा (smooth) न होकर टेढ़ा-मेढ़ा होगा। यह टेढ़ा मेढ़ा दीर्घकालीन औसत लागत वक्र अल्पकालीन औसत लागत वक्रों के उन भागों का बना होगा जिन पर कि दीर्घकाल में फर्म उत्पादन करेगी। रेखाकृति 15.5 में वक्रों के वे भाग जिनको अधिक स्थूल करके दिखाया गया दीर्घकालीन औसत लागत वक्र होगा।

अब कल्पना कीजिए कि संयंत्र के आकार को सूक्ष्म रूप से बदला जा सकता है (It can be varied by infinitely small gradations) जिससे असंख्य संयंत्र सम्भव होंगे और प्रत्येक के अनुरूप अपना-अपना अल्पकालीन औसत लागत वक्र होगा। ऐसी दशा में
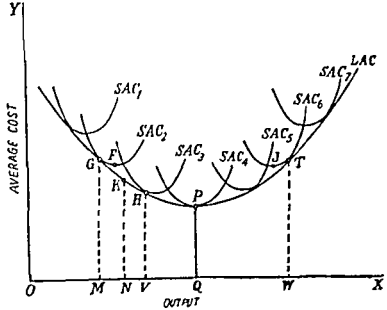
रेखाकृति 15.6 . दीर्घकालीन औसत लागत वक्र

सभी साधनों को समुचित रूप से बदला गया हो। (The long-run average cost curve depicts the least possible average costs for producing various दीर्घकालीन औसत लागत वक्र बिना बल के (smooth) तथा सतत रेखा की आकृति का होगा। ऐसा दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (Long-run Average

Cost Curve) रेखाकृति 15.6 मे LAC वक्र द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यह दीर्घकालीन औसत लागत वक्र इस प्रकार बनाया अथवा खीचा गया है जिससे वह प्रत्येक अल्पकालीन औसत लागत वक्र को स्पर्श करता हो। चूँकि सयत्र के आकार को सूक्ष्म रूप म बदले जा सकने के कारण अल्पकालीन औसत लागत वक्रो की अनगिनत सख्या होगी, इसलिए दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का प्रत्येक बिन्दु किसी न किसी अल्पकालीन औसत लागत वक्र के बिन्दु को अवश्य स्पर्श करेगा। वास्तव मे दीर्घकालीन औसत लागत वक्र इन्ही स्पर्श बिन्दुओ का ही बना हुआ होता है (The long-run average cost curve is nothing else but the locus of all these tangency points)।

यहाँ हम पुन याद दिला दे कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र वस्तु की किसी मात्रा को उत्पादित करने की न्यूनतम सम्भव लागत को दर्शाता है जबकि सभी साधनो को घटाया बढाया जा सकता है। दीर्घकाल के लिए यदि फर्म वस्तु की कोई मात्रा उत्पादित करना चाहती है तो वह उसके अनुरूप दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का बिन्दु चयन करके उसके अनुसार सयत्र स्थापित करके उत्पादन करेगी। रेखाकृति 15.6 मे प्रदर्शित स्थिति मे, वस्तु की OM मात्रा उत्पादित करने के लिए, फर्म दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के बिन्दु G को चुनेगी जिस पर कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_2 को स्पर्श कर रहा है। अतएव, यदि फर्म वस्तु की OM मात्रा उत्पादित करना चाहती है तो वह अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_2 के अनुरूप सयत्र को बनाएगी और बिन्दु G पर उत्पादन कार्य करेगी। इसी प्रकार दीर्घकाल मे वस्तुओ की अन्य मात्राएँ न्यूनतम लागतो पर दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के विभिन्न बिन्दुओ पर उत्पादित की जाएँगी। अब कल्पना कीजिए कि फर्म वस्तु की ON मात्रा उत्पादित करना चाहती है जोकि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC के बिन्दु K के अनुसार है। जैसा कि ऊपर बताया गया कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC का प्रत्येक बिन्दु किसी न किसी अल्पकालीन औसत लागत वक्र के बिन्दु से अवश्य स्पर्श करता हुआ होता है और कि अनगिनत सख्या मे ये अल्पकालीन औसत लागत वक्र होते है इसलिए दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC के बिन्दु K (जो कि उत्पादन-मात्रा ON के अनुरूप है) को भी कोई अल्पकालीन औसत लागत वक्र (जो कि रेखाकृति 15.6 मे नही दिखाया गया है) को अवश्य स्पर्श करेगा। इस प्रकार वस्तु की ON मात्रा उत्पादित करने के लिए फर्म इतने आकार का सयत्र बनाएगी जो उस अल्पकालीन औसत लागत वक्र के अनुसार होगा जो दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC के बिन्दु K को स्पर्श करता है। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC को आवरण (envelope) भी कहा जाता है क्योकि यह अनेक औसत लागत वक्रो को घेरता है।

रेखाकृति 15.6 से स्पष्ट है कि वस्तु की बडी मात्राओ को बडे सयत्रो तथा कम मात्राओ को छोटे सयत्रो के साथ न्यूनतम लागत पर उत्पादित किया जा सकता है। जैसाकि हमने ऊपर देखा वस्तु की OM मात्रा को SAC_2 द्वारा व्यक्त किए गए सयत्र से न्यूनतम सम्भव लागत पर उत्पादित किया जा सकता है। वस्तु की OM मात्रा को बडे सयत्र SAC_3 से उत्पादित करने से SAC_2 की तुलना मे अधिक लागत उठानी पडेगी। परन्तु अपेक्षाकृत बडी मात्रा OV, SAC_3 द्वारा व्यक्त अपेक्षाकृत बडे सयत्र से कम लागत पर उत्पादित की जा सकती है और OV मात्रा को छोटे सयत्र वाले SAC_2 से उत्पादित करने से प्रति इकाई लागत अधिक होगी। ऐसा स्वाभाविक ही है। एक अपेक्षाकृत बडा सयत्र जो कि अधिक महँगा होता है, को वस्तु की कम मात्रा उत्पादित करने के लिए प्रयोग करने मे उसकी उत्पादन क्षमता का पूर्ण रूप से प्रयोग नहीं होगा और इस प्रकार इसके अल्प प्रयोग से प्रति इकाई लागत अधिक होगी। इसके विरुद्ध एक बडी उत्पादन मात्रा को छोटे आकार के सयत्र से उत्पादित करने पर इसकी उत्पादन क्षमता सीमित होने पर प्रति इकाई लागत अधिक होगी।

रेखाकृति 15.6 से स्पष्ट है कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र आरम्भ मे नीचे की ओर गिरता है और फिर एक बिन्दु के पश्चात् ऊपर की ओर चढ़ता है।

अर्थात् दीर्घकालीन औसत लागत वक्र भी लगभग अंग्रेजी के अक्षर U की आकृति का होता है, परन्तु इसकी आकृति U के इतने निकट नहीं होती जितनी कि अल्पकालीन औसत लागत वक्र की होती है। रेखाकृति 15.6 में औसत लागत उत्पादन मात्रा OQ पर ही न्यूनतम है। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र उत्पादन मात्रा OQ तक नीचे को गिरता है और उसके बाद ऊपर को चढ़ना प्रारम्भ कर देता है। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र प्रारम्भ में नीचे की ओर क्यों झुका हुआ होता है और फिर यह ऊपर की ओर क्यों बढ़ता है, के कारणों का विवेचन हम आगे चल कर करेंगे। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के इस व्यवहार की व्याख्या करने के पूर्व इसके सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्रों के निम्नतम बिन्दुओं (minimum points) से स्पर्श नहीं करता। जब दीर्घकालीन औसत लागत वक्र घट रहा है, अर्थात् जब उत्पादन मात्रा OQ से कम होती है, तो यह अल्पकालीन औसत लागत वक्रों के गिरते भागों (falling portions) के बिन्दुओं को स्पर्श करती है। दूसरे शब्दों में, जब उत्पादन OQ से कम करना है तो दिए हुए संयत्र को उसकी न्यूनतम औसत लागत पर सचालित करना लाभकारी नहीं होगा। उदाहरणार्थ SAC_2 संयत्र पर विचार कीजिए जोकि दीर्घकाल में वस्तु की OM मात्रा को उत्पादित करने के लिए बिन्दु G पर सचालित किया जाता है। परन्तु बिन्दु G अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_2 के गिरते भाग पर स्थित है और SAC_2 का न्यूनतम बिन्दु F है। SAC_2 संयत्र के G बिन्दु पर कार्य करते फर्म उसकी उत्पादन क्षमता का अल्प प्रयोग कर रही है। SAC_2 के संयत्र की क्षमता का पूर्ण प्रयोग तो तभी होगा जबकि इसके बिन्दु F पर कार्य करके OM से अधिक मात्रा उत्पादित की जाएगी। लेकिन दीर्घकाल में OM से अधिक मात्रा SAC_2 द्वारा उत्पादित करना फर्म के लिए लाभकारी नहीं है। इसका कारण यह है कि OM से अधिक उत्पादन SAC_2 से अधिक आकार के संयत्र द्वारा अपेक्षाकृत कम लागत पर किया जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि OQ से कम मात्रा न्यूनतम सम्भव लागत पर उत्पादित करने के लिए फर्म एक उचित संयत्र लगा कर उसको उसकी पूर्ण क्षमता से कम स्तर पर प्रयोग करेगी अर्थात् उस संयत्र की न्यूनतम लागत के बिन्दु से बाएँ ओर उत्पादन करेगी।

इसके विपरीत जब दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) वक्र बढ़ रहा होता है तो यह अल्पकालीन औसत लागत वक्रों के चढ़ते भागों (rising portions) को स्पर्श करेगा। इसका अर्थ यह है कि वस्तु की OQ से अधिक मात्रा उत्पादित करने के लिए फर्म एक उचित आकार के संयत्र को लगा कर उसमें उसकी इष्टतम क्षमता से अधिक उत्पादन करेगी अर्थात् उसकी न्यूनतम लागत से दायी ओर के बिन्दु पर उत्पादन करेगी। उदाहरण के लिए अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_6 पर विचार कीजिए जो दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC को बिन्दु T पर स्पर्श कर रहा है। बिन्दु T वक्र SAC_6 के बढ़ते भाग पर स्थित है जिसका न्यूनतम बिन्दु J है जो कि T के बायीं ओर को स्थित है। इसका अर्थ यह है कि फर्म SAC_6 संयत्र के बिन्दु T पर कार्य करते वस्तु की OW मात्रा उत्पादित कर रही है। परन्तु जैसा कि रेखाकृति से स्पष्ट है इष्टतम उत्पादन क्षमता OW से कम है अर्थात् OW मात्रा को न्यूनतम सम्भव लागत पर उत्पादित करने के लिए SAC_6 की क्षमता का संयत्र लगाया गया है और इससे इष्टतम क्षमता से अधिक स्तर पर उत्पादन किया जा रहा है।

इष्टतम संयंत्र, इष्टतम उत्पादन तथा इष्टतम फर्म (Optimum Plant, Optimum Output and *Optimum Firm*)

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सतत दीर्घकालीन औसत लागत वक्र में मात्रा OQ से कम तथा उससे अधिक उत्पादन करने पर कोई भी संयत्र न्यूनतम लागत के बिन्दु पर प्रयोग नहीं किया जाता। केवल वह संयत्र जिसका अल्पकालीन औसत लागत वक्र दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के न्यूनतम बिन्दु से स्पर्श करता है अपनी इष्टतम उत्पादन क्षमता अर्थात् न्यूनतम लागत पर प्रयोग किया जाएगा। रेखाकृति 15.6 में वस्तु की OQ मात्रा

उत्पादित करने के लिए SAC_4 के सयन्त्र को उसकी निम्नतम लागत QP पर (अर्थात् उसकी इष्टतम उत्पादन क्षमता के अनुसार) प्रयोग किया जाता है।

यह उल्लेखनीय है कि अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_4 का सयन्त्र इष्टतम सयन्त्र (optimum plant) है क्योंकि इसकी न्यूनतम उत्पादन लागत अन्य सभी सयन्त्रो की न्यूनतम लागतो से कम है। यदि सयन्त्र को SAC_4 से अधिक आकार का बनाया जाए, तो उससे SAC_4 की अपेक्षा न्यूनतम औसत उत्पादन लागत अधिक होगी। इसी प्रकार यदि सयन्त्र का आकार SAC_4 से कम है, तो न्यूनतम औसत उत्पादन लागत SAC_4 की अपेक्षा अधिक होगी। अत SAC_4 वक्र द्वारा व्यक्त सयन्त्र ही इष्टतम सयन्त्र होगा।

इष्टतम सयन्त्र (optimum plant) SAC_4 का अनुकूलतम प्रयोग तब होगा जबकि इसके न्यूनतम लागत के बिन्दु पर उत्पादन किया जाए। अतएव इष्टतम सयन्त्र SAC_4 का इष्टतम उत्पादन OQ है जोकि इसकी न्यूनतम लागत के अनुसार है। यदि फर्म इष्टतम सयन्त्र SAC_4 को लगा कर इससे OQ इष्टतम मात्रा उत्पादित करती है तो यह इष्टतम आकार (optimum size) की होगी। इष्टतम फर्म (optimum firm) वह है अथवा फर्म का इष्टतम आकार (optimum size of the firm) वह है जो इस इष्टतम सयन्त्र को लगा कर उससे इष्टतम उत्पादन करता है। रेखाकृति 15 6 मे फर्म इष्टतम आकार की होगी यदि वह SAC_4 सयन्त्र का प्रयोग करके उससे OQ -मात्रा उत्पादित कर रही है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि इष्टतम सयन्त्र के वक्र का न्यूनतम औसत लागत बिन्दु और दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का न्यूनतम औसत लागत बिन्दु एक ही होगे। अत इष्टतम फर्म वह है जो कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु पर उत्पादन कर रही होती है।

विभिन्न उद्योगो मे फर्म के इष्टतम आकार (optimum size) मे बड़ा अन्तर पाया जाता है। कृषि, खनन, थोक तथा फुटकर व्यापार मे फर्म का इष्टतम आकार अपेक्षाकृत बहुत छोटा होता है अर्थात् इनमे फर्म के दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का निम्नतम बिन्दु अपेक्षाकृत कम उत्पादन मात्रा पर ही प्राप्त हो जाता है। रेखाकृति 15 7 मे ऐसी फर्म को प्रदर्शित किया गया है जिसका इष्टतम आकार अपेक्षाकृत बहुत कम है। इसके विरुद्ध, इस्पात तथा अन्य भारी बुनियादी उद्योग, कार निर्माण, सार्वजनिक उपयोगिताएँ (Public Utilities) जैसे कि जनता को
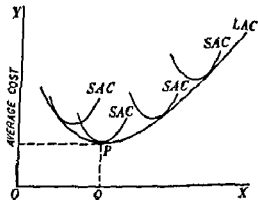
रेखाकृति 15 7

बिजली, गैस, जल की पूर्ति के वितरण के कार्य आदि मे फर्म का इष्टतम आकार अपेक्षाकृत बहुत बड़ा होता
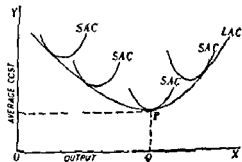
रेखाकृति 15 8

है अर्थात् इनमे फर्म का दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का न्यूनतम बिन्दु उत्पादन की बहुत बड़ी मात्रा पर प्राप्त होता है। रेखाकृति 15 8 मे ऐसी फर्म के दीर्घ-

कालीन औसत लागत वक्र (LAC) को दिखाया गया है जिसका इष्टतम आकार बहुत बडा है।

स्थिर लागत की दशा मे दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (Long-Run Average Cost Curve in the Constant Cost Case)

यदि उत्पादन फलन रेखीय तथा समरूप है (if production function is linear and homogeneous) तथा साधनो की कीमतें भी स्थिर रहती हैं तो उत्पादन के सभी स्तरो पर प्रति इकाई लागत स्थिर रहेगी। जैसा कि हम पिछले अध्याय मे पढ़ चुके हैं कि जब उत्पादन फलन रेखीय और समरूप (linear and homogeneous) होता है तो पैमाने के प्रतिफल समान अथवा स्थिर (constant returns to scale) होते हैं अर्थात् जब सभी साधनो को एक अनुपात से बढाया जाता है तो उत्पादन की मात्रा भी उतने ही अनुपात से बढ जाती है। इसलिए यदि साधनो की कीमतें स्थिर हैं तो समान अथवा स्थिर
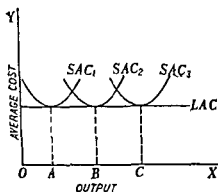
रेखाकृति 15 9

पैमाने के प्रतिफल की दशा मे उत्पादन की प्रति इकाई लागत स्थिर ही रहेगी। अत इस दशा मे दीर्घकालीन औसत लागत वक्र क्षितिज के समानान्तर सीधी रेखा (horizontal straight line) की आकृति का होगा जैसा कि रेखाकृति 15 9 मे दिखाया गया है। यद्यपि अल्पकालीन औसत लागत वक्र (SAC curves) असख्य होंगे क्योंकि हमारी यह मान्यता (assumption) है कि सयत्र के आकार को सूक्ष्म रूप से घटाया-बढाया जा सकता है, परन्तु हमने सरलीकरण के लिए रेखाकृति 15 9 मे केवल तीन ही अल्पकालीन औसत लागत वक्र दिखाए है। इस रेखाकृति से स्पष्ट है कि अल्पकालीन औसत लागत वक्रों जैसे कि SAC_1, SAC_2 और SAC_3 म औसत लागत के निम्नतम बिन्दु समान ही हैं। इसका अर्थ यह है कि दीर्घकाल म सभी साधनो को इस प्रकार बदला जा सकता है कि उनमे इष्टतम अनुपात (optimum proportion) बना रहे। ऐसी दशा म फर्म का इष्टतम अथवा अनुकूलतम आकार अनिश्चित (indeterminate) होता है क्योंकि उत्पादन की सभी मात्राओ को समान न्यूनतम औसत लागत पर उत्पादित किया जा सकता है। यह जानना महत्वपूर्ण है कि इस स्थिति मे यद्यपि उत्पादन की सभी मात्राओ को समान निम्नतम लागत पर पैदा किया जा सकता है, विभिन्न उत्पादन-मात्राएँ भिन्न-भिन्न आकार के सयत्रो से उत्पादित की जाएँगी। अत वस्तु की मात्रा OA को उत्पादित करने के लिए SAC_1 सयत्र, OB मात्रा को उत्पादित करने के लिए SAC_2 सयत्र और OC मात्रा को उत्पादित करने के लिए SAC_3 सयत्र का प्रयोग किया जाएगा। इसका कारण यह है कि न्यूनतम लागत पर उत्पादित वस्तु की OA मात्रा का SAC_1 सयत्र द्वारा, OB मात्रा का SAC_2 सयत्र द्वारा और OC मात्रा का SAC_3 सयत्र द्वारा सम्भव है।

प्रोफेसर कल्डर (Kaldor), श्रीमती जोन राबिन्सन (Joan Robinson) और प्रोफेसर स्टिगलर (Stigler) जैसे अर्थशास्त्रियो का विचार है कि जब उत्पादन के सभी साधन पूर्णतया विभाज्य (perfectly divisible) हो तो बडे पैमाने की कोई भी आन्तरिक बचतें नहीं होंगी (और न ही आन्तरिक हानियाँ)। इसलिए उनके विचार मे साधनो की पूर्ण विभाज्यता की अवस्था मे दीर्घकालीन औसत लागत वक्र क्षितिज के समानान्तर सरल रेखा (horizontal straight line) होगी जोकि इस बात को प्रकट करेगी कि उत्पादन मात्रा चाहे कितनी ही क्यो न की जाये दीर्घकालीन

औसत लागत समान अथवा स्थिर रहेगी। उनके मतानुसार पैमाने की सभी आन्तरिक बचतें साधनो की अविभाज्यता (indivisibility) के कारण उत्पन्न होती है। इसलिए उनका विचार है कि यदि साधनो को पूर्णतया विभाज्य मान लिया जाय तो पैमाने की आन्तरिक बचतें नही होगी और इसलिए ऐसी अवस्था मे दीर्घकालीन औसत लागत वक्र क्षितिज के समानान्तर सरल रेखा होगा। लेकिन प्रोफेसर चैम्बरलिन (Chamberlin) ने इस मत को चुनौती दी है। उसके अनुसार पूर्ण विभाज्यता का साधनो की कार्यक्षमता अथवा उत्पादकता से कोई सम्बन्ध नही है अर्थात् उसके विचार मे पूर्ण विभाज्यता के परिणामस्वरूप पैमाने की आन्तरिक बचतें समाप्त नही हो जाती। अत प्रोफेसर चैम्बरलिन के अनुसार यदि सभी साधन पूर्णतया विभाज्य होते तो तब भी उत्पादन की अधिक मात्राओ पर अधिक विशिष्ट मशीनरी (more specialised machinery) और अधिक श्रम-विभाजन (more division of labour) के प्रयोग से पैमाने की बचतें होती। इसलिए, चैम्बरलिन के अनुसार पैमाने के प्रतिफल नही हो सकते और दीर्घकालीन औसत लागत स्थिर अथवा समान नही रह सकती।

किन्तु अनेक अनुभवजन्य अध्ययनो से पता चला है कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का एक बडा भाग चपटा है अर्थात् मध्य मे इसमे एक बडा क्षैतिज भाग है जैसा कि रेखाकृति 15 10 मे दर्शाया गया है।
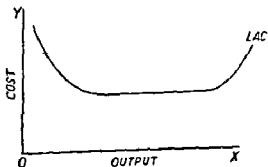
रेखाकृति 15 10

इस वास्तविक स्थिति मे दीर्घकालीन औसत लागत वक्र एक प्लेट की आकृति (saucer-shaped appearance) का है। ऐसी दशा मे बडे पैमाने की बचतें (economies of scale) उत्पादन के कुछ स्तर के पश्चात् समाप्त हो जाती है और उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि करने पर बडे पैमाने की हानियाँ (diseconomies of scale) उत्पन्न नही होती। केवल बहुत अधिक उत्पादन बढाने पर ही बडे पैमाने की हानियाँ उत्पन्न होती हैं जिनके कारण दीर्घकालीन औसत लागत वक्र ऊपर को चढने लगता है। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र मे एक लम्बा चपटा अथवा क्षैतिज (long flat or horizontal) भाग तब भी उत्पन्न हो सकता है जब बडे पैमाने की बचतें तथा हानियाँ एक दूसरे के प्रभाव को समाप्त कर दें जिसके परिणामस्वरूप दीर्घकालीन औसत लागत स्थिर रहे।

दीर्घकालीन औसत लागत की U-आकृति की व्याख्या (Explanation of the U Shape of the *Long-Run Average Cost Curve*)

रेखाकृति 15 6 मे हमने लगभग U आकृति का दीर्घकालीन औसत लागत वक्र खीचा है। अर्थशास्त्रियो का यह विचार है कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र सामान्यतया अंग्रेजी के U प्रकार की आकृति का होता है अर्थात् दीर्घकालीन औसत लागत आरम्भ मे उत्पादन बढने पर घटता है और कुछ सीमा के बाद बढना शुरू कर देता है। अब प्रश्न यह है कि दीर्घकालीन औसत लागत इस प्रकार क्यो बदलती है।

हम ऊपर पढ आए हैं कि अल्पकालीन औसत लागत वक्र की U आकृति की विविध अनुपात के नियम (Law of Variable Proportions) से व्याख्या की जाती है। लेकिन दीर्घकालीन औसत लागत वक्र पैमाने के प्रतिफल (returns to scale) पर निर्भर करता है। दीर्घकाल मे सभी साधनो को जिसमे कि पूँजी, उपकरण, मशीनरी आदि भी सम्मिलित हैं बदला जा सकता है, इसलिए दीर्घकालीन औसत लागत का वक्र पैमाने के प्रतिफल द्वारा निर्धारित होता है। पिछले अध्याय मे हम बता चुके हैं कि पैमाने मे वृद्धि के प्रतिफल आरम्भ मे उत्पादन के बढने पर बढते हैं और कुछ समय के लिए स्थिर रह कर घटने आरम्भ हो जाते हैं। आरम्भ मे पैमाने के बढते प्रतिफल के

कारण ही दीर्घकालीन औसत लागत उत्पादन के बढ़ने पर घटती है और कुछ सीमा के बाद पैमाने के घटते प्रतिफल के कारण यह बढ़ती है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि पहले पैमाने के बढते प्रतिफल क्यों होते हैं जिनके कारण लागत घटती है और एक बिन्दु के बाद पैमाने के प्रतिफल क्यो घटते हैं जिनके कारण लागत बढ जाती है। दूसरे शब्दो मे, प्रारम्भ में फर्म द्वारा पैमाने मे वृद्धि की आन्तरिक बचतों (internal economies) से लाभ उठाने के क्या कारण हैं और कुछ उत्पादन मात्रा के बाद इस पैमाने मे वृद्धि की आन्तरिक हानियाँ (*internal diseconomies*) क्यो होती हैं। पैमाने मे वृद्धि की बचतो के दो निम्नलिखित मुख्य कारण बताये गये हैं जिनके कारण प्रारम्भ मे प्रति इकाई लागत घटती है।

1 जब फर्म अपने उत्पादन अथवा काम-काज का पैमाना बढाती है तो उसके लिए सभी साधनो की अधिक विशिष्ट और कार्यकुशल किस्म का प्रयोग करना संभव हो जाता है, विशेषकर पूँजी, उपकरण तथा मशीनरी का। उत्पादन की अधिक मात्रा पैदा करने पर प्राय विशिष्ट किस्म की अधिक उत्पादक मशीनरी उपलब्ध होती है जिसको बडी मात्रा मे उत्पादन करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है और परिणामस्वरूप उत्पादन की प्रति इकाई लागत घट जाती है।

2 जब उत्पादन का पैमाना बढाया जाता है और श्रम तथा अन्य साधनो की मात्रा बढ़ जाती है तो श्रम-विभाजन अथवा विशेषीकरण *अधिक मात्रा में सम्भव* होता है जिसके फलस्वरूप दीर्घकालीन औसत लागत घट जाती है।

अत जबकि अल्पकाल में लागत मे कमी एक परिवर्तनशील साधन की मात्रा के इष्टतम अनुपात के अधिक निकट पहुँचने के कारण होती है, दीर्घकालीन औसत लागत मे कमी मशीनरी अथवा अन्य साधनों की अधिक उत्पादक किस्मों के प्रयोग करने तथा उत्पादन प्रक्रिया मे श्रम विभाजन के अधिक प्रयोग के कारण होती है।

प्रोफेसर कैल्डर और श्रीमती जोन राबिन्सन जैसे कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि बड़े पैमाने की बचतें साधनों के अपूर्ण रूप से विभाज्य (imperfectly divisible) होने के कारण उत्पन्न होती हैं। दूसरे शब्दो म उनके विचार म बडे पैमाने की बचतें साधनों की अविभाज्यता (indivisibility of factors) के कारण उत्पन्न होती हैं और उन्हें कारण दीर्घकालीन औसत लागत प्रारम्भ म घटती है। उनका तर्क यह है कि बहुधा साधन lumpy होते हैं अर्थात् वे बडी अविभाज्य इकाइयों के रूप मे उपलब्ध होते हैं और उनसे अधिक मात्रा मे उत्पादन करने पर ही उत्पादन लागत कम बैठती है। यदि ऐसे महंगे अविभाज्य साधनो की इकाइयो से उत्पादन की कम मात्रा उत्पादित की जाए तो उत्पादन की औसत लागत स्वाभाविक ही ऊँची होगी। उनके अनुसार यदि उत्पादन के साधन पूर्ण रूप से विभाज्य होते तो उनकी मात्रा को इस प्रकार बदला जा सकता कि विभिन्न साधनो के बीच इष्टतम अनुपात कम उत्पादन करने के लिए भी स्थिर रखा जा सकता और इसलिए कम उत्पादन पर भी औसत लागत ऊँची नहीं होती। अत उनके अनुसार यदि साधन पूर्णतया विभाज्य होते तो छोटे पैमाने पर भी उत्पादन लागत की दृष्टि से उतना अच्छा और कार्यकुशल होता जितना कि बडे पैमाने का और फलस्वरूप पैमाने की बचतें उत्पन्न न होतीं। इस प्रकार प्रोफेसर कैल्डर लिखते हैं, "तकनीकी दृष्टि से यह सरल प्रतीत होता है कि बडे पैमाने की सभी बचतो को अविभाज्यता के कारण उत्पन्न हुई समझा जाए" ("It appears methodologically convenient to treat all cases of large scale economies under the heading indivisibility")।[1] इसी तरह श्रीमती जोन रॉबिन्सन कहती हैं, 'यदि रेत के समान सभी साधन सूक्ष्म रूप से विभाज्य होते तो वस्तु की कम-से-कम मात्रा को भी बडे पैमाने की सभी बचतों अथवा लाभो के साथ उत्पादित करना सम्भव होता" ("If all the factors were finally divisible like sand, it would be possible to

1 Nicholas Kaldor, the Equilibrium of the Firm, *Economic Journal*, Vol 44, reprinted in *Readings in Price Theory.* (AEA)

produce the smallest output of any commodity with all the advantages of large-scale industry") ।[1]

हमने ऊपर बड़े पैमाने की बचतों की उत्पत्ति के दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के आरम्भ में नीचे को गिरने के विषय में—दो विचारों को पढ़ा है। दोनों ही विचार अर्थशास्त्रियों में प्रचलित हैं, कुछ अर्थशास्त्री चैम्बरलिन के विचार से सहमत हैं और कुछ अन्य अर्थशास्त्री श्रीमती जोन रॉबिन्सन, कैल्डर, स्टिगलर आदि अर्थशास्त्रियों से।

जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं कि कुछ सीमा के बाद दीर्घकालीन औसत लागत वक्र ऊपर को चढ़ने लगता है जिसका अर्थ यह है कि कुछ उत्पादन मात्रा के पश्चात् दीर्घकालीन औसत लागत बढ़ने लगती है। दूसरे शब्दों में, कुछ उत्पादन मात्रा के पश्चात् फर्म को बड़े पैमाने की हानियाँ (diseconomies of large scale) होने लगती हैं। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के ऊपर को चढ़ने के कारणों के बारे में भी अर्थशास्त्रियों में मतभेद पाया जाता है। प्रथम विचार के अनुसार जो कि चैम्बरलिन और उसके अनुयायियों द्वारा प्रकट किया जाता है, यह है कि जब फर्म का आकार इतना बढ़ जाता है जिससे कि श्रम विभाजन की सभी सम्भावनाओं का प्रयोग हो चुका होता है और अधिकतम कुशल मशीनरी को लगाया जा चुका है, के पश्चात् यदि सयन्त्र के आकार को बढ़ाया जाए तो प्रबन्ध की कठिनाइयों के कारण दीर्घकालीन प्रति इकाई लागत बढ़ जाएगी। जब उत्पादन का पैमाना एक सीमा के पश्चात् बढ़ता है तो उसका प्रबन्ध इतना कुशलतापूर्वक नहीं हो सकता जितना कि छोटे पैमाने की दशा में होता है। जब उत्पादन अथवा व्यवसाय का पैमाना अत्यधिक होता है तो प्रमुख प्रबन्धकों के लिए नियन्त्रण रखना तथा समुचित समन्वय लाना कठिन हो जाता है। जब उत्पादन का पैमाना बढ़ता है तो यह प्रायः आवश्यक हो जाता है कि अधिक सहायक और निरीक्षक नियुक्त किए जाएँ और शक्तियों का अधिक प्रत्यायोजन (delegation of powers) किया जाए। इस प्रकार फर्म के सयन्त्रों में एक आकार के बाद वृद्धि अफसरशाही (bureaucracy), अधिक लाल फीताशाही (red tapism) उत्पन्न कर देती है। इसके अतिरिक्त फर्म के बहुत बड़े आकार पर प्रबन्ध और वास्तविक उत्पादन करने वालों के बीच आदान-प्रदान की कड़ी लम्बी हो जाती है। इस प्रकार फर्म के अधिक विस्तार से प्रबन्ध करना अधिक जटिल तथा कठिन हो जाता है जिससे प्रबन्ध की कार्यकुशलता घट जाती है। उत्पादन के पर्याप्त आकारों के बाद प्रबन्ध की इन कुशलताओं के कारण उत्पन्न हानियाँ बड़े पैमानों की बचतों से अधिक हो जाती हैं। फलस्वरूप औसत लागत बढ़ने लगती है और दीर्घकालीन औसत लागत वक्र एक सीमा के बाद ऊपर को चढ़ना शुरू कर देता है। यह समझ लेना चाहिए कि इस विचार के अनुसार उद्यमकर्ता अथवा प्रबन्धकर्ता के कार्य पूरी तरह से विभाज्य होते हैं और यह विचार उत्पादन के बड़े पैमाने की हानियाँ अथवा दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के ऊपर चढ़ने की व्याख्या बड़े पैमाने में निहित प्रबन्ध की कठिनाइयों (निरीक्षण अथवा समन्वय करने की कठिनाइयों) द्वारा करता है।

दूसरी विचारधारा उद्यमकर्त्ता को स्थिर तथा अविभाज्य (constant and indivisible) साधन मानती है। इस विचार के अनुसार उद्यमकर्ता के अलावा अन्य सभी साधनों को बढ़ाया जा सकता है। उद्यमकर्ता और उसके नीति निर्धारण और अन्तिम नियन्त्रण के कार्य अविभाज्य हैं और उन्हें बढ़ाया-घटाया नहीं जा सकता। अतः एक बिन्दु के पश्चात् जहाँ कि स्थिर और अविभाज्य उद्यमकर्ता की क्षमताओं का पूर्ण रूप से प्रयोग हो रहा होता है, अन्य साधनों की मात्राएँ बढ़ाने से और इस प्रकार पैमाने में वृद्धि करने से प्रति इकाई उत्पादन लागत बढ़ जाती है। दूसरे शब्दों में, उद्यमकर्ता और अन्य साधनों में एक इष्टतम अथवा अनुकूलतम अनुपात होता है और उस इष्टतम बिन्दु के बाद स्थिर उद्यमकर्ता के साथ अन्य साधन बढ़ाने का अर्थ यह है कि साधनों में अनुपात इष्टतम से हटा जा रहा है जोकि दीर्घकालीन औसत लागत में वृद्धि कर देता है। अतः इस विचारधारा के अनुसार दीर्घ-

1 *The Economics of Imperfect Competition*, p 334

कालीन औसत लागत में वृद्धि विविध अनुपात के नियम द्वारा होती है। अर्थशास्त्री जो इस विचार के हैं यह मानते हैं कि पैमाने के घटते प्रतिफल अथवा बढ़ती हुई दीर्घकालीन औसत लागत विविध अनुपात (variable proportions) का ही एक विशेष उदाहरण है।

दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र को प्राप्त करना (Deriving Long-Run Marginal Cost Curve)

हम ऊपर यह बता चुके हैं कि सीमान्त लागत क्या है, अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र किस प्रकार प्राप्त किया जाता है और इसका अल्पकालीन औसत लागत वक्र से क्या सम्बन्ध है। चूंकि सीमान्त लागत वक्र अल्पकाल और दीर्घकाल दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण है इसलिए यह जानना लाभप्रद होगा कि दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र किस प्रकार प्राप्त किया जाता है। दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र दीर्घकालीन कुल लागत वक्र से सीधे तौर पर प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि किसी उत्पादन मात्रा पर दीर्घकालीन सीमान्त लागत
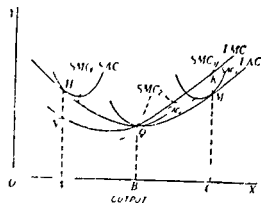
रेखाकृति 15.11 : दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र की व्युत्पत्ति

उत्पादन की उस मात्रा पर कुल लागत वक्र की ढाल (slope) के बराबर होती है। इसके अतिरिक्त, दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र दीर्घकालीन औसत लागत वक्र से भी प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र का दीर्घकालीन औसत लागत वक्र से वही सम्बन्ध होता है जोकि अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र का अल्पकालीन औसत लागत वक्र से होता है। रेखाकृति 15.11 में यह दर्शाया गया है कि दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र दीर्घकालीन औसत लागत वक्र से किस प्रकार प्राप्त किया जाता है। इस रेखाकृति में एक दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC खींचा गया है जोकि कई अल्पकालीन औसत और सीमान्त लागत वक्रों को घेरे हुए है। यदि फर्म को दीर्घकाल में वस्तु की OA मात्रा उत्पादित करनी है तो वह दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC के बिन्दु H पर काम करेगी जोकि अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_1 से स्पर्श करता है। इस प्रकार जब फर्म को वस्तु की OA मात्रा उत्पादित करनी है तो वह अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_1 के संयन्त्र से की जाएगी जिसका अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र SMC_1 है। अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_1 और दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC के बीच स्पर्श बिन्दु H के अनुसार अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र SMC_1 का बिन्दु N है। इसका अर्थ यह है कि दीर्घकाल में वस्तु की OA मात्रा को उत्पादित करने की सीमान्त लागत AN है। इसलिए बिन्दु N उत्पादन की मात्रा OA के अनुसार दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र का बिन्दु निश्चित होता है।

यदि दीर्घकाल में वस्तु की OB मात्रा उत्पादित करनी है तो इसे दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC के बिन्दु Q पर काम करके उत्पादित किया जाएगा और यह Q बिन्दु दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC और अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_2 के बीच स्पर्श बिन्दु है। बिन्दु Q अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र SMC_2 पर उत्पादन मात्रा OB के अनुसार बिन्दु भी है। इस प्रकार बिन्दु Q भी वस्तु की OB मात्रा के अनुसार दीर्घकालीन, सीमान्त लागत वक्र

का बिन्दु होगा। इसी तरह यदि वस्तु की OU मात्रा दीर्घकाल में उत्पादित करनी है तो इसे दीर्घ-कालीन औसत लागत वक्र के बिन्दु M पर काम करके उत्पादित किया जाएगा। यह बिन्दु दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC और अल्पकालीन औसत लागत वक्र SAC_3 के बीच स्पर्श बिन्दु है। बिन्दु M के अनुसार अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र SMC_3 का बिन्दु K है जिसका अर्थ यह है कि वस्तु की OC मात्रा उत्पादित करने की सीमान्त लागत CK है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पादन मात्रा OC के अनुसार दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र पर बिन्दु K होगा। N, Q और K बिन्दुओं को परस्पर मिलाने पर हमें दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र LMC प्राप्त होता है।

अनुभवसिद्ध प्रमाण एवं L-आकार का दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (Empirical Evidence and L-Shaped Long-Run Average Cost Curve

ऊपर हमने इस बात की व्याख्या की है कि दीर्घ-कालीन औसत लागत वक्र अल्पकालीन औसत लागत

रेखाकृति 15 12
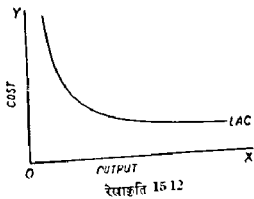
वक्र की भाँति ही अंग्रेजी के U अक्षर को आकृति का होता है परन्तु दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की आकृति U अक्षर के इतने निकट नहीं होती जितनी कि अल्प-कालीन औसत लागत वक्र की होती है। किन्तु हाल ही के वर्षों में अर्थशास्त्रियों द्वारा एकत्र किये गये अनुभवाश्रित प्रमाणों में दीर्घकालीन औसत लागत वक्र में U सदृश आकृति का कोई संकेत नहीं मिलता। ये अनुभवसिद्ध प्रमाण यह प्रकट करते हैं कि दीर्घ-कालीन औसत लागत वक्र की आकृति अंग्रेजी के अक्षर L के समान होती है जिसका अर्थ यह है कि प्रारम्भ में दीर्घकालीन औसत लागत वक्र तीव्रता से नीचे गिरता है, परन्तु एक बिन्दु के पश्चात् यह स्थिर रहता है अथवा अपने दाहिने छोर पर धीरे-धीरे नीचे को गिरता हुआ भी हो सकता है। L आकृति का दीर्घकालीन औसत लागत वक्र रेखाकृति 15 12 में प्रस्तुत किया गया है। रेखाकृति 15 12 के L आकृति के दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) तथा U आकृति के LAC में यह अन्तर है कि प्रथम प्रकार के वक्र में कोई भी ऊपर को उठता भाग नहीं है। वास्तव में, जैसाकि अभी ऊपर बताया गया, अनुभवगम्य प्रमाण यह बताता है कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र अपने दाहिने छोर पर कुछ नीचे की ओर झुकता हुआ भी हो सकता है। अतः, आर्थिक सिद्धान्त जिसके अनुसार दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की आकृति U की तरह होती है और अनुभवगम्य खोजों के परि-णाम जो दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की आकृति L के सदृश पाते हैं, के बीच स्पष्ट अन्तर्विरोध है।

अब प्रश्न यह है कि L आकृति वाले दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की व्याख्या कैसे की जा सकती है एवं साथ ही सिद्धान्त एवं अनुभवसिद्ध प्रमाण के बीच स्पष्ट अन्तर्विरोध को किस प्रकार दूर किया जा सकता है। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की L आकृति की विद्यमानता के सम्बन्ध में निम्नलिखित दो व्याख्याएं प्रस्तुत की गयी हैं।

1. प्रौद्योगिकीय प्रगति (Technological Progress) अनुभव गम्य अध्ययन दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की आकृति U के समान क्यों नहीं पाता, इसका एक कारण यह है कि जहाँ आर्थिक सिद्धान्त यह पहले से ही मान लेता है कि प्रौद्योगिकी (technology) अपरिवर्तित रहती है या कोई प्रौद्योगिकीय प्रगति नहीं होती है परन्तु वास्तविक जगत् में दीर्घकाल में प्रौद्योगिकीय प्रगति तो होती रहती है। वास्तविक जगत् में

औसत लागत वक्र U आकृति के न होकर L आकृति के होते हैं।"

दीर्घकालीन औसत लागत के व्यवहार के सम्बन्ध मे अनुभवसिद्ध प्रमाणो की प्रामाणिकता

(Validity of Empirical Evidence regarding the Behaviour of Long-run Average Cost)

ऊपर हमने यह बताया है कि अर्थशास्त्रियो द्वारा एकत्रित अनुभवसिद्ध प्रमाणो के अनुसार दीर्घकालीन औसत लागत U आकृति का न होकर L आकृति का होता है। दूसरे शब्दो मे, अनुभवसिद्ध प्रमाण के अनुसार दीर्घकालीन औसत लागत प्रारम्भिक तीव्र गिरावट के बाद या तो स्थिर रहती है या फिर अन्त तक गिरती जाती है, यह ऊपर को नही उठती। कहने का अर्थ यह है कि दीर्घकालीन औसत लागत ऊपर की ओर नही उठती जैसा कि इसे U आकृति का होने के लिए आवश्यक होता है। प्रो० सी० ए० स्मिथ, जिन्होने इस सम्बन्ध मे अनुभवसिद्ध प्रमाण की जाँच की है, ने यह निष्कर्ष निकाला है कि फर्म के बहुत बडे आकार के साथ श्रम लागतें, सयोजन लागतें (Assembly Costs) तथा वितरण लागतें बहुत अधिक बढ जाती हैं और इसीलिए बडे आकार के सयन्त्र, जिनकी बढती औसत लागतें होती हैं, वास्तविक व्यवहार मे स्थापित नही होते हैं। अत यही कारण है कि अनुभवसिद्ध प्रमाण इनमे उत्पादन लागत की सही स्थिति की जाँच नही कर सकता। अत प्रो० स्मिथ के अनुसार अनुभवसिद्ध प्रमाण दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की U आकृति की प्रकृति को लागत नही ठहराता है। उन्ही के शब्दों मे, "(1) सयत्र के बढते आकार के साथ, कम से कम लघु से मध्यम आकार तक, यदि साधन कीमतें स्थिर रखी जाएँ तो जैसे-जैसे आकार बढता है, उत्पादन की औसत लागत घटती जाती है। (2) इस बात का प्रचुर प्रमाण नहीं मिलता कि यदि साधन कीमतें स्थिर रखी जाएँ तथा उत्पादन भी यथावत् रहे, तो अध्ययन के लिए उपलब्ध सयत्र के अधिकतम आकार के पूर्व ही प्रति इकाई लागत का घटना रुक जाता है। दूसरी ओर जो थोडा सा प्रमाण उपलब्ध भी है, वह इस धारणा को गलत नही ठहराता है कि साधन-कीमतो के स्थिर रहने पर भी दीर्घकालीन लागत वक्र प्राप्तव्य आकार तक ऊपर की ओर मुडता है। इस प्रश्न के उत्तर की आशा करना हमारे लिए कठिन प्रतीत होता है कि क्या वास्तविक व्यवहार मे इतने बडे आकार का कोई सयत्र है कि यदि साधन-कीमतों को स्थिर रखा जाय तो भी किन्हीं विशिष्ट पदार्थों की उत्पादन की लागत बढती जाती है क्योंकि (अ) साधन लागतें, विशेषकर श्रम लागतें, सयन्त्र के आकार के साथ परिवर्तित होती प्रतीत होती हैं। (ब) सयोजन लागतें एव वितरण लागतें सयत्र के आकार में वृद्धि के साथ-साथ कुछ समय तक तो प्रति इकाई घटती हैं, परन्तु साधारणतया अध्ययन हेतु उपलब्ध सयत्र के आकार के अन्तर्गत बढना आरम्भ कर देती हैं।[1]

अपने प्रयोगसिद्ध प्रमाण के विश्लेषण से वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि, "साधन-कीमतो तथा सयोजन एव वितरण लागतो मे वृद्धि का परिणाम यह होता है कि उत्पादन लागत बढ जाती है जिससे ऐसे सयत्र का निर्माण अव्यावहारिक हो जाता है जिसका आकार इतना बडा हो कि औसत लागतें ऊँची होने लगें। अत हमें इस प्रकार के सयत्र की लागत मे अध्ययन का अवसर नही मिलता है। अत इस पूर्वधारणा का कि किसी वस्तु के उत्पादन के लिए दीर्घकालीन लागत फलन बहुत बडा आकार होने पर विशेष रूप से ऊपर को मुडता है, प्रयोग द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता है।" "...increase in factor prices and in assembly and distribution costs result in cost increases which make it im-

1 C A Smith, Empirical Evidence on Economies of Scale, printed in *Business Concentration and Price Policy*, Universities National Bureau Committee for Economic Research, Princeton University Press, 1955, reprinted in the *Theory of the Firm* (Penguin Modern Economic Readings), edited by G C Archibald, p 25—43.

practical to build plants which might be large enough to have higher average cost Therefore, we have no opportunity to study the costs of such plants The hypothesis that the long-run cost function for the production of a product typically turns up at some very large size, cannot be subjected to empirical verifications'[1]

दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की सही आकृति के बारे में सीमित अनुभवसिद्ध प्रमाण के कारण से हम अपने विश्लेषण में आद्योपान्त इस मान्यता को जारी रखेंगे कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र की विशिष्ट आकृति U के आकार के सदृश होती है, यद्यपि इसकी U आकृति अल्पकालीन औसत लागत वक्र की अपेक्षा कम स्पष्ट है। मगर इस दीर्घकालीन औसत लागत वक्र में वास्तव में एक लम्बा समरूप क्षेत्र अर्थात् समस्तरीय भाग (horizontal portion) होता है जिसे हम अपनी रेखाकृतियों में नहीं दिखलायेंगे।

बाहरी बचतें तथा हानियाँ और लागत रेखाएँ (External Economies and Diseconomies and Cost Curves)

ऊपर हमने इस बात की व्याख्या की है कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र आरम्भ में उत्पादन के पैमाने की बचतों, यथा उपज के उच्चतर स्तर पर श्रम विभाजन एवं विशेषीकृत यन्त्रों की अधिक मात्रा का उपयोग होने के कारण नीचे की ओर गिरता है। उपज के उच्चतर स्तर पर श्रम-विभाजन एवं विशेषीकृत यन्त्रों का अधिक मात्रा में उपयोग 'आन्तरिक बचतें' हैं। इन्हें आन्तरिक इस अर्थ में कहा जाता है कि ये किसी फर्म को तभी प्राप्त होती हैं जब उसकी स्वयं की उत्पादन मात्रा अथवा पैमाना बढ़ता है। 'आन्तरिक बचतों' के अतिरिक्त प्रो॰ मार्शल ने 'बाहरी बचतों' की धारणा प्रस्तुत की है जो मार्शल के मूल्य के आंशिक साम्य सिद्धान्त में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है, विशेषकर, जब वह बढ़ते प्रतिफल अथवा घटती लागत की दशाओं में सन्तुलन की समस्या का विश्लेषण करता है। किसी फर्म की लागत केवल उसकी उत्पादन मात्रा (output) के स्तर पर ही निर्भर न होकर सम्पूर्ण
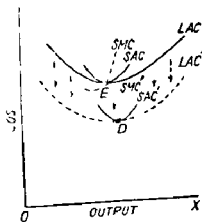
रेखाकृति 15.14
बाहरी बचतें तथा दीर्घकालीन लागत वक्र

उद्योग की उत्पादन मात्रा के स्तर पर निर्भर होती है। 'बाहरी बचतें' तथा 'बाहरी हानियाँ' वे बचतें एवं
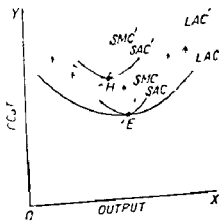
रेखाकृति 15.15
बाहरी हानियाँ तथा दीर्घकालीन औसत लागत वक्र

हानियाँ हैं जो विभिन्न फर्मों को सम्पूर्ण उद्योग के विस्तार के परिणामस्वरूप प्राप्त होती हैं तथा ये किसी व्यक्तिगत फर्म की उत्पादन मात्रा के स्तर प

1 *Op. cit.* p 42

निर्भर नही होती हैं । इन्हे 'बाहरी' इस अर्थ मे कहा जाता है कि ये किसी फर्म को उसकी आन्तरिक स्थिति के फलस्वरूप प्राप्त नही होती हैं बल्कि ये बाहरी कारणो, जैसे उद्योग की उत्पादन मात्रा से उत्पन्न होती हैं । मार्शल ने बाहरी बचतो की परिभाषा इस प्रकार की है "वे जो उद्योग के सामान्य विकास पर निर्भर रहती हैं" (those dependent on the general development of the industry[1]) ।

जेकब वाइनर ने बाहरी बचतो की अधिक सुनिश्चित परिभाषा की है । उसके अनुसार, 'बाहरी बचतें' "वे बचतें है जो विशेष प्रतिष्ठानो को सम्पूर्ण उद्योग की 'उत्पादन मात्रा' के प्रसार के फलस्वरूप प्राप्त होती हैं तथा जो उनके व्यक्तिगत उत्पादन मात्रा के अनाश्रित (independent) होती हैं ।" (those which accrue to particular concerns as the result of expansion of output by the industry as a whole and which are independent of their own individual output "[2])

यदि उद्योग की 'उत्पादन मात्रा' मे वृद्धि होने से उस उद्योग मे कार्यरत प्रत्यक फर्म के लागत वक्र नीचे को आ जाएँ तो व्यक्तिगत फर्मों को 'बाहरी बचतें' प्राप्त होती हैं । दूसरी ओर फर्मों को 'बाहरी हानियाँ' तब मिलती हैं जब उद्योग मे उत्पादन मात्रा का प्रसार प्रत्येक फर्म के लागत वक्रो को ऊँचा उठा देता है । इस प्रकार जब उद्योग अपना प्रसार करता है और उसके फलस्वरूप फर्मों को कुछ 'बाहरी बचतें' प्राप्त होती हैं तो एक व्यक्तिगत फर्म के लागत वक्र सरक कर नीचे आ जाते हैं जैसा कि रेखाकृति 15 14 मे दर्शाया गया है । ध्यान देने की बात यह है कि बाहरी बचतो के कारण फर्म के सभी प्रकार के लागत वक्र— दीर्घकालीन औसत लागत एव सीमान्त लागत वक्र, अल्पकालीन औसत लागत एव सीमान्त लागत वक्र— नीचे की ओर सरक जाते हैं । रेखाकृति 15 14 मे प्रारम्भिक दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC है तथा सम्पूर्ण उद्योग मे प्रसार के फलस्वरूप तथा बाहरी बचतो' के सृजन के कारण यह नीचे की ओर सरक कर नई स्थिति LAC' (dotted) मे आ गया है ।

दूसरी ओर, उद्योग के प्रसार के फलस्वरूप जब 'बाहरी हानियाँ' फर्मों को प्राप्त होने लगती हैं तब उनमे लागत वक्र ऊपर की ओर सरक जाते हैं, जैसा कि रेखाकृति 15 15 मे प्रदर्शित किया गया है । प्रारम्भिक स्थिति मे दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC रहता है, परन्तु जब उद्योग की उत्पादन मात्रा मे प्रसार होता है एव उसके फलस्वरूप बाहरी हानियाँ प्राप्त होने लगती हैं तो दीर्घकालीन औसत वक्र (अल्पकालीन औसत एव सीमान्त लागत वक्रो के साथ) नयी स्थिति LAC' (dotted) पर ऊपर सरक गया है ।

ऊपर, पूर्ववर्ती भाग मे, हमने यह देखा कि पैमाने की आन्तरिक बचतें तथा हानियाँ दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के सम्भावित आकार को प्रभावित करती है ; पैमाने की आन्तरिक बचतो के कारण, प्रारम्भिक अवस्था मे जैसे ही उत्पादन मात्रा मे वृद्धि होती है, दीर्घकालीन औसत लागत घट जाती है और पैमाने की 'आन्तरिक हानियो' के कारण दीर्घकालीन औसत लागत वक्र ऊपर उठ जाता है । दूसरी ओर 'बाहरी बचतों' एव 'बाहरी हानियो' के कारण दीर्घकालीन औसत लागत वक्र नीचे या ऊपर की ओर सरक जाता है । इसके अतिरिक्त, जब हम लागत वक्रो पर 'बाहरी बचतो' एव बाहरी हानियो के प्रभाव पर विचार करते है तो केवल दीर्घकालीन औसत लागत वक्र ही नही, बल्कि सभी प्रकार के अल्पकालीन एव दीर्घकालीन लागत वक्र, चाहे वे कुल, औसत या सीमान्त लागत वक्र हों, साथ ही ऊपर या नीचे की ओर सरकते है । इस सम्बन्ध मे यह भी विचारणीय है कि एक उद्योग की उत्पादन मात्रा मे प्रसार अथवा सकुचन के कारण एक फर्म के लागत वक्रो मे विवर्तन (shift) न तो हमेशा होता है, और न इसका होना आवश्यक ही है । उदाहरण के लिए, सीमेंट, इस्पात,

---

1 A Marshall, *Principles of Economics*, 8th edition, p 266 .

2 Jacob Viner, Cost Curves and Supply Curves, *Readings in Price Theory*, A E A , p 217.

तेल, विद्युत् इत्यादि वस्तुओ की लागत मे सामान्य वृद्धि, यन्त्रो एव उपकरणो के मूल्य मे सामान्य वृद्धि अर्थव्यवस्था मे मजदूरियो एव ब्याज की दरो मे सर्वो-न्मुखी वृद्धि से भी किसी फर्म के लागत वक्र ऊपर को सरक जाएँगे । अत अर्थशास्त्र मे जब हम 'बढती लागत वाले उद्योगो', 'घटती लागत वाले उद्योगो' की बात करते हैं, तो हम केवल उस उद्योग मे कार्यरत फर्मों द्वारा सामग्री, श्रम, पूजी उपकरण इत्यादि पर उठाई गई लागत पर उद्योग के उत्पादन-मात्रा मे प्रसार के प्रभाव पर ही विचार करते है, न कि सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था मे इन लागतो मे किसी सामान्य वृद्धि पर।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब एक उद्योग विकसित होता है अथवा अपनी 'उत्पादन मात्रा' का प्रसार करता है, तो वह किस प्रकार की 'बाहरी बचतो' को जन्म देता है, जो उसमे कार्यरत फर्मों की लागत को घटा देती हैं। मार्शल द्वारा 'बाहरी बचतो के दिए गए प्रमुख उदाहरण निम्नलिखित हैं (i) ' उत्पादन की सुधरी विधि या मशीनरी जो अपने उत्पादन का विस्तार करने पर सम्पूर्ण उद्योग को सुलभ होती है ।" (improved methods or machinery which are accessible to the whole industry)[1] (ii) किसी उद्योग के विकास के साथ, "यान्त्रिक उप-करणो, श्रम-विभाजन तथा यातायात के साधनो के विकास एव सभी प्रकार के समुन्नत सगठन के फल-स्वरूप उत्पन्न बचतें (economies which result from, "development of mechanical appliances, of division of labour and of the means of transport and improved organisation of all kinds")[2]. (iii) वे बचते जो उद्योग की परस्पर सम्बन्धित शाखाओ के विकास से उत्पन्न होती हैं, जो परस्पर एक दूसरे की सहायता करती हैं तथा एक ही स्थान पर केन्द्रित होने से उत्पन्न होती हैं ("being concentrated in the same localities"[3] वे वशानुक्रम कुशलता (hereditary skill) के विकास उपकरण एव मशी-नरी प्रदान करने वाले सहायक व्यापार की उन्नति, तथा कीमती यन्त्रो के आर्थिक प्रयोग को प्रोत्साहित करती है (economic use of expensive machinery'[4]) । वे बचतें जो "ज्ञान के विकास तथा कला की प्रगति, विशेष रूप से व्यापारिक ज्ञान की बातो जैसे समाचार पत्र व्यापारिक एव तकनीकी प्रकाशन इत्यादि से सम्बन्धित होती हैं ।" (connected with the growth of knowledge and progress of arts',[5] especially in matters of trade knowledge newspapers trade and technical publications)[6]

मार्शल की तरह ही श्रीमती जोन राबिन्सन ने, जिन्होने आशिक सतुलन विश्लेषण के सन्दर्भ मे 'बढते प्रतिफल' (अर्थात् घटती लागत) की घटना का विश्ले-षण किया है, बाहरी बचतो के निम्नलिखित प्रमुख उदाहरण दिये हैं (i) जब उद्योग मशीनें निर्माण करने वाले उद्योग के लिए बृहत् बाजार प्रस्तुत करता है तो मशीनें सस्ती खरीदी जा सकती हैं तथा (ii) वे दशाए जहाँ किसी विशेष व्यवसाय (Trade) मे बडी श्रम शक्ति कार्य करने की अभ्यस्त हो और परम्परागत कुशलता विकसित करती हो । (the cases where the machinery can be bought more cheaply when the industry presents a large market to the machine making industry")[7] and (iii) the cases 'where a large labour force is accustomed to work at a certain trade" and develops "traditional skill'[8]

प्रो० मार्शल एव श्रीमती जोन राबिन्सन द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त उदाहरणो से हम कुछ प्रमुख बाहरी बचतो की व्याख्या करेंगे जो फर्मों को प्राप्त होती है और उनको उत्पादन लागत को कम करती हैं ।

---

1 A Marshall, *Principles of Economics*, 8th ed , p 615
2 *Ibid*, p 808
3 *Ibid*, p 317.
4 *Ibid*, p 217
5 *Ibid*, p 267.
6 *Ibid*, p 284
7 Joan Robinson, *The Economics of Imperfect Competition*, p 340
8 *Ibid*, p 341

1 सस्ती सामग्री एव पूजीगत उपकरण—सर्वप्रथम, उद्योग के विकास से नये एव अपेक्षाकृत सस्ते कच्चे माल, मशीनरी तथा अन्य प्रकार के पूजीगत उपकरण उपलब्ध होने लगते है। उद्योग के प्रसार का अर्थ यह होता है कि विविध प्रकार की उत्पादन सामग्री एव पूजीगत उपकरणों की जिनकी आवश्यकता उद्योग को होती है, माँग बढ जाती है। इससे इन वस्तुओं का अन्य उद्योगों द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन करना सम्भव हो जाता है। उत्पादक सामग्रिया तथा पूजीगत उपकरणों के इस बडे पैमाने के उत्पादन से उनकी उत्पादन लागत कम हो जाती है तथा इन वस्तुओं की कीमतें गिर जाती हैं। अत उद्योग में कार्यरत फर्में, जो इन सामग्रियों एव पूजीगत उपकरणों का प्रयोग करती है, उन्हे कम मूल्य पर प्राप्त कर लेती है। इसका उनकी उत्पादन लागत पर अनुकूल प्रभाव पडता है। यह वस्तुत केवल उन्हीं दशाओं में होगा जब पूजीगत उपकरण एव सामग्री प्रदान करने वाले उद्योगों में बढ़ते प्रतिफल (या घटती लागतें) प्राप्त हो रही हों।

2. प्रौद्योगिकीय (Technological) बाहरी बचतें—दूसरे, उद्योग के विकास के साथ उस उद्योग में कार्यरत फर्मों को प्रौद्योगिकीय प्रकार की कुछ बाहरी बचते प्राप्त होती है। हमने पैमाने के प्रतिफल का विश्लेषण करते समय यह बताया था कि जैसे-जैसे एक व्यक्तिगत फर्म अपने पैमाने का विस्तार करती है, उसके लिये अधिक विशेषीकृत एव उत्पादक यन्त्रों का प्रयोग करना तथा अधिक मात्रा में श्रम-विभाजन लागू करना सम्भव हो जाता है। ये आन्तरिक प्रौद्योगिकीय बचतें है, जो उत्पादन के तकनीकी गुणाक को बदल देती है और फर्म की उत्पादकता में सुधार लाती हैं। ठीक इसी प्रकार जब सम्पूर्ण उद्योग अपना प्रसार करता है तो इससे नये तकनीकी ज्ञान की खोज होती है तथा उसके अनुरूप पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर एव सुधरी मशीनों का प्रयोग होने लगता है। इसके कारण उत्पादन के तकनीकी गुणाक बदल जाते है और उद्योग मे कार्यरत फर्मों की उत्पादकता में वृद्धि हो जाती है जिसके फलस्वरूप उनकी उत्पादन लागत घट जाती है।

3 कुशल श्रम का विकास (Development of Skilled Labour)—बाहरी बचतो का एक और उदाहरण जो दिया जाता है वह है, 'श्रमिकों में वंशानुगत अथवा पारम्परिक कुशलताओं का विकास'। जब किसी क्षेत्र मे किसी उद्योग का प्रसार होता है तो उस क्षेत्र के श्रमिक उद्योग से सम्बन्धित विभिन्न उत्पादन प्रक्रियाओं को करने मे अभ्यस्त हो जाते है, साथ ही अनुभव से वे पर्याप्त मात्रा मे सीखते है। इसके परिणामस्वरूप किसी क्षेत्र मे उद्योग के विकास के साथ परम्परागत कुशलता से सम्पन्न प्रशिक्षित श्रमिकों का समूह विकसित हो जाता है जिसका उद्योग में कार्यरत फर्मों की उत्पादकता के स्तर एव उत्पादन लागतों पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

4 सहायक एव परस्पर सम्बन्धित उद्योगों का विकास (The Growth of Subsidiary and Correlated Industries)—किसी उद्योग के विकास के कारण फर्मों को प्राप्त होने वाली एक अन्य बाहरी बचत है, 'सहायक एव सम्बन्धित उद्योगों का विकास'। ये सहायक एव सम्बन्धित उद्योग, कच्चे माल, औजारों तथा यन्त्रों के उत्पादन मे विशेषज्ञता प्राप्त कर सकते है तथा वे प्रमुख उद्योग को ये सभी वस्तुएँ कम मूल्य पर प्रदान कर सकते हैं। इसी प्रकार से, उद्योग के प्रसार के फलस्वरूप जब 'उत्सर्जित पदार्थ' (Waste Product) की मात्रा इतनी अधिक हो जाय कि इसका लाभदायक उपयोग में रूपान्तर करने के लिए एक पृथक् सयत्र की स्थापना उपयुक्त प्रतीत हो तो कुछ विशेषीकृत फर्में भी अस्तित्व में आ सकती है जो कि उद्योग के उत्सर्जित पदार्थ से किसी अन्य उपयोगी पदार्थ का उत्पादन करें। ऐसी स्थिति मे उद्योग की विभिन्न फर्में अपने उत्सर्जित पदार्थ को अच्छे मूल्य पर बेच सकती हैं। उससे उनकी उत्पादन लागत में कमी हो जायेगी।

5. समुन्नत यातायात एवं विपणन सुविधाएँ (Improved Transportation and Marketing Facilities)—जब एक नये क्षेत्र में शिशु उद्योग विकसित होता है तो इस प्रकार की बाहरी बचतें अधिक प्रासगिक होती हैं। प्रारम्भ मे उद्योग के लिए

आवश्यक सामग्री को खरीदने तथा साथ ही उत्पादित माल की बिक्री के लिए सम्भव है कि यातायात एव विपणन सुविधाएँ अच्छी तरह विकसित न हो किन्तु उद्योग मे नई फर्मों के प्रवेश से उद्योग का प्रसार यातायात एव विपणन सुविधाओं के विकास को सम्भव बना सकता है जिससे फर्मों की उत्पादन लागत पर्याप्त मात्रा मे कम हो जायेगी।

6 उद्योग सूचना सेवाओं का विकास (Development of Industry Information Services)—किसी उद्योग का विस्तार होने पर विभिन्न फर्मे मिलकर एक 'व्यापारिक परिषद्' (Trade Association) का गठन कर सकती हैं जो उनकी व्यापारिक एव तकनीकी पत्रिकाओं के प्रकाशन के माध्यम से उद्योग से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के तकनीकी ज्ञान तथा बाजार की सम्भावनाओं के बारे मे सूचना प्रदान कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त, उद्योग का प्रसार होने से फर्मे सयुक्त रूप से एक केन्द्रीय शोध सस्था भी स्थापित कर सकती हैं जो उद्योग मे कार्य करने वाली फर्मों के लिये नये समुन्नत उत्पादन तकनीक की खोज करने मे सलग्न रहती हैं। अत. बाजार सम्बन्धी सूचना प्रदान करने के अलावा, उद्योग का विकास नवीन उन्नत तकनीकी ज्ञान की खोज एव प्रसार मे भी अधिक सहायता कर सकता है।

बाहरी हानियाँ (External Diseconomies)

ऊपर हमने बाहरी बचतो की व्याख्या की है जो किसी उद्योग के विकास के फलस्वरूप फर्मों को प्राप्त होती हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है किसी उद्योग का विकास कुछ बाहरी हानियो को भी जन्म दे सकता है जो फर्मों के लागत वक्रो को ऊँचा उठा देती हैं। बाहरी हानियो का प्रमुख उदाहरण यह है कि जब उद्योग का प्रसार होता है तो उद्योग के लिये आवश्यक विभिन्न साधनो की माँग बढ जाने के कारण कुछ साधनो के मूल्य बढ जाते हैं। उद्योग का प्रसार उन कच्चे मालो एव पूँजीगत पदार्थों के मूल्य को निश्चित रूप से ऊँचा उठा देगा जिनकी पूर्ति कम है। इसी प्रकार उद्योग के प्रसार से कम से कम अल्पकाल मे तो कुशल श्रमिको की मजदूरी मे वृद्धि की सम्भावना रहती है, क्योकि किसी विशेष उद्योग के लिए आवश्यक विशिष्ट निपुणता प्राप्त करने एव प्रशिक्षण लेने मे श्रमिक को सदैव समय लगता है।

चूँकि उत्पादक साधन जैसे विभिन्न प्रकार के कच्चे माल, सीमेट, इस्पात, विभिन्न प्रकार की मशीनें एव औजार तथा निपुण श्रम सीमित होते हैं, अत उद्योग मे प्रसार के फलस्वरूप जब इनकी माँग बढती है तो इनके मूल्यो मे वृद्धि होने की प्रवृत्ति होती है। साधनो की सीमितता की स्थिति मे एक उद्योग दूसरे उद्योग से सीमित साधनो को छीनकर ही अपना विकास करेगा। दूसरे उद्योग से सीमित साधनो को छीनने के लिए यह उन साधनो का ऊँचा मूल्य प्रदान करेगा। अत सीमितता के कारण इस वास्तविक जगत् मे एक विस्ताररत उद्योग बाहरी बचतो की अपेक्षा बाहरी हानियो का अधिक सृजन करेगा। इसलिये वास्तविक जगत मे अधिकाश उद्योग जब अपना प्रसार करते है तो उन्हे बढ़ती लागतो का सामना करना पडता है।

16

रेखीय प्रायोजना
(LINEAR PROGRAMMING)

अर्थशास्त्र की केन्द्रीय समस्या कुछ पूर्व-निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति को अधिकतम करने के लिए सीमित साधनों का विभिन्न क्षेत्रों में आवंटन करने की है। सीमान्त विश्लेषण द्वारा इस समस्या का समाधान करने का प्रयत्न अनेक अर्थशास्त्रियों द्वारा किया गया किन्तु सीमान्त विश्लेषण की अनेक कठिनाइयों के कारण वह व्यावहारिक समस्याओं का समाधान करने में सहायक सिद्ध नहीं हुआ। सीमान्त विश्लेषण की इस कमी को दूर करने के उद्देश्य से ही द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् 1946 में अमेरिकन गणितज्ञ डी० बी० डैंटजिग (D B Dantzig) ने रेखीय प्रायोजना की तकनीक का विकास किया। वास्तव में रेखीय प्रायोजना (Linear Programming) का विचार इसके पूर्व ही रूसी गणितज्ञ L V Kantorovich ने दे दिया था किन्तु डी० बी० डैंटजिग (D B Dantzig) ने रेखीय प्रायोजना की गणितीय समस्याओं के समाधान की अपेक्षाकृत श्रेष्ठ विधि का आविष्कार किया।

रेखीय प्रायोजना (Linear Programming) शब्द के दो भाग हैं, रेखीय (Linear) से तात्पर्य ऐसे सम्बन्ध से है जिसे एक सरल रेखा द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है तथा प्रायोजना (Programming) का अर्थ सुव्यवस्थित योजना (Systematic Planning) से होता है। उत्पादन को अधिकतम करने के लिए सुव्यवस्थित योजना एक फर्म द्वारा बनायी जाती है। एक फर्म किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा का उत्पादन अनेक वैकल्पिक विधियों से कर सकती है किन्तु वह न्यूनतम लागत संयोग (Least Cost Combination) की विधि से उत्पादन करने का प्रयत्न करती है। रेखीय प्रायोजना द्वारा विभिन्न साधनों की उन मात्राओं का निर्धारण गणित की सहायता से किया जा सकता है जिनका प्रयोग करने पर वस्तु की एक निश्चित मात्रा की उत्पादन लागत न्यूनतम होती है। 1946 ई० के पश्चात् रेखीय प्रायोजना सिद्धान्त तथा उद्योग की विभिन्न व्यावहारिक समस्याओं के प्रयोग में इसका पर्याप्त विकास हुआ है।

इस प्रकार, "रेखीय प्रायोजना ऐसी तकनीक है *जो निश्चित प्रकार की समस्याओं, विशेषकर उत्पादन* की समस्याओं के समाधान के लिए जटिल गणित का प्रयोग करती है।"[1]

---

1 Linear Programming is a technique that uses sophisticated mathematics to solve certain kinds of problems, especially production problems"—D S Watson, *Price Theory and its Uses*, 1970, p 207.

रेखीय प्रायोजना की मान्यताएं
(Assumptions of Linear Programming)

1 रेखीय सम्बन्ध (Linear Relations) रेखीय प्रायोजना सरलता के लिए रेखीय सम्बन्धो की मान्यता पर आधारित है जिसका अर्थ है कि आगत निगत सम्बन्ध (input output relations) रेखीय है अर्थात जिस अनुपात मे आगतो (inputs) मे वृद्धि होगी उत्पादन भी ठीक उसी अनुपात मे बढेगा। इस प्रकार के सम्बन्ध को एक सरल रेखा द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। अत अप्रत्यक्ष रूप से यह स्थिर पैमाने के प्रतिफल (Constant Returns to Scale) की मान्यता पर आधारित है। इसी प्रकार साधन तथा वस्तु की कीमतें स्थिर रहने के कारण उत्पादन तथा कुल आय (Output and Total Revenue) तथा उत्पादन एव कुल लागत (Output and Total Cost) के सम्बन्धो को भी सरल रेखा द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त इस मान्यता का यह भी अभिप्राय है कि उत्पादन फलन रेखीय समरूप होते हैं।

2 साधनो की स्थिर कीमतें (Constant Prices) रेखीय प्रायोजना की दूसरी आधारभूत मान्यता यह है कि साधन (inputs) तथा उत्पादन (output) की कीमत स्थिर रहती हैं, जिसका अर्थ है कि एक व्यक्तिगत फर्म को क्रियाओ के साधन (inputs) तथा उत्पादन (output) की कीमतें अप्रभावित रहती है अर्थात् किसी एक फर्म द्वारा अधिक अथवा कम मात्रा मे साधनो का प्रयोग करने पर उनकी कीमतो मे परिवर्तन नहीं हो सकता है। इसी प्रकार किसी एक फर्म द्वारा उत्पादन मे वृद्धि अथवा कमी करने पर भी वस्तुओ की कीमतों में कोई परिवर्तन नही होता है।

3 प्रतिबन्ध (Constraints) रेखीय प्रायोजना की एक और प्रमुख अवधारणा प्रतिबन्धो (Constraints) की है। कुछ प्रतिबन्धों के आधार पर ही वस्तुपरक फलन को अधिकतम अथवा न्यून तम करना होता है। उदाहरणत उपभोक्ता की आय अथवा उसका बजट उसके द्वारा अपनी सन्तुष्टि अधिक-तम करने मे एक प्रतिबन्ध है। इसी प्रकार एक फम जो अपना उत्पादन अधिक मे अधिक बढाना चाहती है उसे अनेक प्रतिबन्धो का सामना करना पडता है, जैसे कि उसके पास उत्पादन कार्य करने के लिए केवल 12 मशीनें हैं और एक निश्चित क्षेत्रफल का स्थान है जिस पर उसे उत्पादन कार्य सम्पन्न करता है। इसके अतिरिक्त फर्म के सम्मुख प्रतिबन्ध इस प्रकार के भी हो सकते हैं कि उसके पास किसी विशेष प्रकार की मशीन पर कार्य करने के लिए कम से कम दो श्रमिको की आवश्यकता है और किसी दूसरी प्रकार की मशीन चलाने के लिए कम से कम 5 श्रमिक आवश्यक हैं। प्रतिबन्धो को प्राय असमानताए (inequalities) भी कहा जाता है क्योंकि इन प्रतिबन्धो को प्राय असमानताओ के रूप मे व्यक्त किया जाता है। उदाहरण के लिए फर्म के पास उत्पादन के लिए केवल मशीनो का प्रतिबन्ध '8 अथवा 8 से कम मशीनें उपलब्ध हैं (≤ 8 मशीन) के रूप मे लिखा जाता है। इसी प्रकार यदि प्रतिबन्ध यह है कि एक मशीन को चलाने के लिए 5 या इससे अधिक श्रमिको की आवश्यकता है तो इसे "≥ 5 श्रमिक' के रूप म लिखा जाता है।

रेखीय प्रायोजना की महत्त्वपूर्ण अवधारणाए
(Important Concepts of Linear Programming)

रेखीय प्रायोजना द्वारा किसी फर्म के उत्पादन अथवा अन्य समस्याओ के अनुकूलतम समाधान की व्याख्या करने के पूर्व इस विधि की अनेक अवधारणाओ का ज्ञान आवश्यक है जो निम्न हैं

1 प्रक्रिया तथा प्रक्रिया किरणें (Process and Process Rays)

प्रक्रिया किसी कार्य को करने की विधि को कहते हैं अर्थात किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए विशिष्ट साधनो के सयोग को ही उत्पादन प्रक्रिया (Production Process) कहा जाता है। किसी वस्तु के उत्पादन की कुछ प्रक्रियाए अपेक्षाकृत श्रम प्रधान (labour intensive) तथा कुछ अपेक्षाकृत पूंजी प्रधान (capital intensive) हो सकती हैं। अत प्रक्रिया का स्वभाव तकनीकी (technological) होता है। रेखीयता की मान्यता (linearity assumption) के अनुसार चूंकि प्रत्येक प्रक्रिया मे श्रम तथा पूंजी का अनुपात स्थिर रहता है अर्थात् साधन अनुपात (Factor proportion) स्थिर रहता है अत प्रत्येक प्रक्रिया को सरल रेखा द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। मूल बिन्दु से ऊपर दाहिनी ओर उठने वाली इस सरल रेखा को ही प्रक्रिया किरण (Process ray) कहते हैं। इसी प्रकार विभिन्न साधन अनुपात (Different factor proportion) को प्रदर्शित करने वाली सरल रेखाओ से अन्य प्रक्रिया किरणें प्राप्त हो जाती हैं। रेखाकृति

16.1 में OA, OB, OC, OD सरल रेखाएं प्रक्रिया किरणें हैं जो किसी वस्तु के उत्पादन की क्रमशः अधिक श्रम-प्रधान प्रक्रियाओं (labour-intensive processes) को प्रदर्शित करती है।

प्रक्रिया किरण OA एक विशिष्ट एवं निश्चित श्रम और पूंजी के संयोग अर्थात् विशेष उत्पादन प्रक्रिया को व्यक्त करती है। इसी प्रकार प्रक्रिया किरणें OB, OC तथा OD भिन्न-भिन्न उत्पादन प्रक्रियाओं अथवा श्रम और पूंजी के भिन्न-भिन्न संयोगों को प्रकट करती है। किन्तु प्रत्येक प्रक्रिया किरण साधनों के एक निश्चित अनुपात को दर्शाती है अर्थात् इसके किसी बिन्दु पर उत्पादन करने से साधनों (श्रम और पूंजी) का अनुपात समान रहता है। इसके अतिरिक्त, प्रक्रिया किरण OA पर लिये गये विभिन्न बिन्दु Q_1, Q_2, Q_3 तथा Q_4 क्रमशः यह प्रकट करते है कि उत्पादन प्रक्रिया में उत्पादन बढाने पर श्रम और पूंजी की मात्राएं किस प्रकार बदलेंगी जबकि उनमें अनुपात समान रहता है। जैसे हम Q_1 से Q_2, Q_2 से Q_3, Q_3 से Q_4 को जायेंगे उत्पादन में वृद्धि होगी। चूंकि हम रेखीय प्रायोजना में केवल साधन (आगत) और उत्पादन (निर्गत) में रेखीय सम्बन्धों (linear relationships) की मान्यता करते है इसलिये जिस दर से साधन बढ़ाये जायेंगे उसी दर से उत्पादन में वृद्धि होगी अर्थात् पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त होंगे। अतः Q_1, Q_2, Q_3, Q_4 जो कि एक दूसरे से समान दूरी पर है क्रमशः 10, 20, 30, 40 उत्पादन मात्राओं को व्यक्त कर सकती है अथवा इसी प्रकार की अन्य संख्याओं को जैसे 100, 200, 300, 400 आदि।

प्रक्रिया किरण OB पर बिन्दु R_1, R_2, R_3 तथा R_4 लिये गये है जो प्रक्रिया किरण A से भिन्न साधन अनुपात (अर्थात् श्रम और पूंजी के अनुपात) को व्यक्त करते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि यह आवश्यक नहीं कि विभिन्न प्रक्रिया किरणों पर समान उत्पादन प्राप्त करने के लिए उद्गम बिन्दु O से समान दूरी पर ही कार्य किया जाय अर्थात यह आवश्यक नहीं कि प्रक्रिया किरण OA पर स्थित बिन्दु Q_1 पर जितना उत्पादन किया जाता है उतना प्रक्रिया OB से प्राप्त करने के लिये उद्गम बिन्दु O से OQ_1 की बराबर दूरी पर कार्य किया जाय। अतः साधनों का OR_1 संयोग जो OQ_1 संयोग के समान उत्पादन देता है की उद्गम बिन्दु से दूरी बराबर होनी अनिवार्य नहीं। इसी प्रकार OC प्रक्रिया पर S_1, S_2, S_3 तथा S_4 बिन्दु तथा OD प्रक्रिया किरण पर T_1, T_2, T_3, T_4 बिन्दु लिये गये है। S_1 से Q_1 अथवा R_1 के समान, S_2 से Q_2 अथवा R_2 के समान, S_3 से Q_3 अथवा R_3 के समान, S_4 से Q_4 अथवा R_4 के समान उत्पादन सम्भव होता है। इसी प्रकार प्रक्रिया किरण OD के बिन्दु T_1, T_2, T_3, T_4 क्रमशः Q_1, Q_2, Q_3, Q_4 के समान उत्पादन सम्भव बनाते हैं। Q_1, R_1, S_1 तथा T_1 बिन्दुओं को परस्पर सरल रेखाओं से मिलाने पर जो हमें $Q_1R_1S_1T_1$ कोणदार वक्र (kinked curve) प्राप्त होता है उसे सम-मात्रा वक्र (isoquant) कहा जाता है जो समोत्पाद वक्र (Equal Product Curves) जैसे ही है। इसे समोत्पाद वक्र के समान आकृति का बनाने के लिये इसे प्रायः चरम सीमाओं पर लम्बरूप (vertical) तथा क्षैतिज (horizontal) रेखाओं द्वारा बढ़ा दिया जाता है जैसा रेखाकृति में बिन्दुओं द्वारा अंकित (dotted) किया गया है।
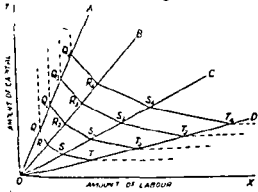
रेखाकृति 16.1 प्रक्रिया किरणें

यह स्मरणीय है कि किसी विशेष प्रक्रिया में आगतों (साधनों) में प्रतिस्थापन सम्भव नहीं होता अर्थात् प्रत्येक प्रक्रिया में साधनों के निश्चित (स्थिर) अनुपात का प्रयोग होता है। किन्तु एक प्रक्रिया का दूसरी प्रक्रिया से प्रतिस्थापन सम्भव है। प्रक्रिया के स्तर (level of process) का अर्थ यह है कि साधनों (आगतों) में अनुपात को स्थिर रखते हुए पूंजी तथा श्रम की कितनी मात्राओं का प्रयोग होता है।

एक वस्तु के उत्पादन के लिये प्रायः एक से अधिक प्रक्रियाएं उपलब्ध होती हैं जिनके विभिन्न स्तरों पर कार्य करते वस्तु की विभिन्न मात्राओं को उत्पादित किया जा सकता है। किसी वस्तु के उत्पादन के लिए

दो प्रक्रियाओं का भी प्रयोग किया जा सकता है. वस्तु का कुछ भाग एक प्रक्रिया से और कुछ भाग दूसरी प्रक्रिया से उत्पादित किया जा सकता है। ऐसा तब होता है जब उत्पादन सममात्रा वक्र के किसी रेखा भाग (line segment) जैसे कि रेखाकृति 16 1 में Q_2R_2, R_2S_1, S_1T_2 आदि रेखाओं के किसी बीच के बिन्दु पर उत्पादन कार्य किया जाय। इसे समझने के लिए रेखाकृति 16 2 पर विचार कीजिये जिसमें तीन प्रक्रिया किरणें OA, OB तथा OC खींची गयी हैं और एक
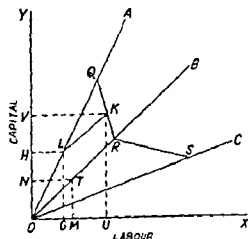
रेखाकृति 16 2 प्रक्रिया किरणें

सममात्रा वक्र (isoquant) $QKRS$ बनाया गया है जो कल्पना कीजिए कि उत्पादन की 100 इकाइयों को व्यक्त करता है। एक बिन्दु K सममात्रा वक्र के रेखीय भाग QR पर लिया गया है। बिन्दु K द्वारा व्यक्त वस्तु की मात्रा को उत्पादित करने के लिए दो प्रक्रियाओं OA तथा OB का प्रयोग किया जायेगा। अब प्रश्न यह है कि उत्पादन प्रक्रियाओं OA तथा OB के किन स्तरों पर उत्पादन कार्य सम्पन्न किया जायेगा। यह जानने के लिए बिन्दु K से OB के समानान्तर रेखा खींचें जो OA को L पर मिलती है। अब KL दूरी के समान प्रक्रिया किरण OB पर OT दूरी लीजिए। इसका यह अर्थ है कि बिन्दु K द्वारा व्यक्त वस्तु की मात्रा उत्पादित करने के लिए उत्पादक प्रक्रिया A के OL स्तर पर तथा प्रक्रिया B के OT स्तर पर वस्तु का उत्पादन करेगा।

यह सिद्ध किया जा सकता है कि बिन्दु L तथा T पर श्रम और पूँजी का प्रयोग बिन्दु K द्वारा व्यक्त साधनों की मात्रा जो OU श्रम तथा OV पूँजी है, के समान होगा। अर्थात् $OG+OM=OU$ तथा $ON+OH=OV$।

इसी प्रकार सममात्रा वक्र के रेखा भागों (line segments) RS पर स्थित किसी बीच के बिन्दु के अनुसार कार्य करने का अर्थ होगा उत्पादन प्रक्रियाओं B और C के संयोग से कार्य करना अर्थात् वस्तु का कुछ भाग प्रक्रिया B से तथा कुछ भाग प्रक्रिया C से उत्पादित करना। किन्तु सममात्रा वक्र के कोनों पर जैसे कि बिन्दु Q, R तथा S पर उत्पादन केवल एक ही प्रक्रिया द्वारा किया जायेगा, Q पर उत्पादन केवल प्रक्रिया A से, R पर उत्पादन केवल प्रक्रिया B से तथा S पर उत्पादन केवल प्रक्रिया C से किया जायेगा।

2. वस्तुपरक फलन (Objective Function)

फर्म जिस लक्ष्य को अधिकतम अथवा न्यूनतम करना चाहती है, उसे वस्तुपरक फलन (Objective Function) कहते हैं। इस प्रकार "वस्तुपरक फलन अधिकतम अथवा न्यूनतम की जाने वाली मात्रा के निर्धारक तत्वों की व्याख्या करता है, इसे मानदण्ड फलन (Criterion Function) भी कहते हैं।"[1] यदि लाभ अथवा उत्पादन को अधिकतम करना उद्देश्य है तो यह फर्म का वस्तुपरक फलन होगा। इसी प्रकार लागत को न्यूनतम करना उद्देश्य होने पर वह वस्तुपरक फलन होता है। वस्तुपरक फलन के प्रमुख (Primal) तथा द्वैत (Dual) दो भाग होते हैं। यदि वस्तुपरक फलन में उत्पादन अधिकतम करना प्रमुख (Primal) है तो लागत न्यूनतम करना द्वैत (Dual) होता है।

3. सम्भाव्य हल (Feasible Solution)

सम्भाव्य हल वस्तुओं के उत्पादन अथवा उपभोग के

1. "The objective function, also called the criterion function, states the determinants of the quantity to be maximised or to be minimised." —D. S. Watson

उन विभिन्न अधिकतम अथवा अधिकतम से कम का उत्पादन अथवा उपभोग है जो कि एक उत्पादक अथवा उपभोक्ता क्रमश साधनो की कीमत अथवा वस्तु की कीमत तथा साधनो की सीमितता को देखते हुए उत्पादित अथवा उपभोग कर सकता है। एक उत्पादक के दृष्टिकोण से सम्भाव्य हल साधनो के वे समस्त सम्भव संयोग हैं जो एक उत्पादक अपने आर्थिक संसाधनो एवं उत्पादन के साधनो की कीमतो के आधार पर उत्पादित कर सकता है।

प्रतिबन्ध निश्चित होने पर उपभोक्ता अथवा उत्पादक के लिये सम्भाव्य हल को जाना जा सकता है। सम्भाव्य हल का क्षेत्र (area of feasible solutions) प्रतिबन्धो की संख्या एवं उनकी प्रकृति पर निर्भर करता है। दो वस्तुओं की स्थिति में उन वस्तुओं के वे सभी संयोग जो कीमत रेखा पर तथा उसके बायी ओर स्थित होते हैं उपभोक्ता के सम्भाव्य संयोग हैं। इसी प्रकार दो साधनों की स्थिति में साधनों (आगतों) के वे सभी संयोग जो सम-लागत रेखा (Iso Cost line) पर अथवा उसके बायी ओर स्थित होते हैं सम्भाव्य हल है। सम्भाव्य हल के क्षेत्र के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। कल्पना कीजिये कि एक वस्तु के उत्पादन के लिये दो साधनों श्रम और पूँजी की आवश्यकता है। उत्पादक के पास OC पूँजी की मात्रा तथा OI श्रम की मात्रा उपलब्ध है इनसे अधिक नहीं। पूँजी और श्रम की ये मात्राएँ उत्पादक
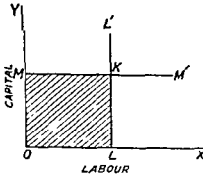
रेखाकृति 16.3 सम्भाव्य हल क्षेत्र

द्वारा उत्पादन करने के प्रतिबन्ध (Constraints) अथवा परिसीमाएँ हैं। ऐसी स्थिति में सम्भाव्य हल के क्षेत्र को रेखाकृति 16.3 में प्रदर्शित किया गया है जिसमें अक्ष X पर श्रम की मात्रा तथा अक्ष Y पर पूँजी की मात्रा दिखायी गयी है। चूँकि श्रम की OL मात्रा उपलब्ध है, इसलिए बिन्दु L के ऊपर लम्बरूप सरल रेखा (vertical straight line) LL' खींची गयी है। इसी प्रकार पूँजी की OM मात्रा उपलब्ध होने के कारण बिंदु M से क्षितिज के समानान्तर रेखा MM' खींची गयी है। ये दो रेखाएँ परस्पर बिन्दु K पर काटती हैं। रेखा LL' से दायी ओर तथा MM' से ऊपर श्रम और पूँजी के संयोग सम्भाव्य नही होंगे अतः रेखाकृति 16.3 में क्षेत्र $OLKM$ जिसको रेखांकित किया गया है सम्भाव्य हल का क्षेत्र है।

सम्भाव्य हल के क्षेत्र का एक अन्य उदाहरण महत्त्वपूर्ण है। कल्पना कीजिए एक उत्पादक को दो वस्तुओं X और Y का उत्पादन करना है। एक मशीन जो इन दो वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग होती है की उपलब्ध क्षमता दिन में 12 घण्टे कार्य करने की है।
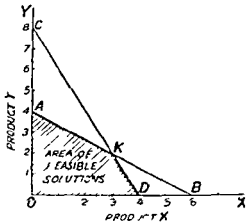
रेखाकृति 16.4 सम्भाव्य हल क्षेत्र

और दूसरी मशीन B भी जो उसके उत्पादन मे प्रयोग होती है की उपलब्ध क्षमता दिन में 8 घण्टे कार्य करने की है। वस्तु X की प्रत्येक इकाई को उत्पादित करने के लिए दोनों मशीनों A तथा B का दो-दो घंटे कार्य करना आवश्यक है। वस्तु Y की एक इकाई उत्पादित करने के लिये मशीन A को 3 घण्टे तथा मशीन B का एक घण्टा काम करना आवश्यक है। इन प्रतिबन्धो को हम इस प्रकार लिख सकते हैं —

$$2X+3Y \leqslant 12$$

$$2X+1Y \leqslant 8$$

इन प्रतिबन्धों को रेखाकृति 16·4 में प्रदर्शित किया गया है। यदि मशीन A के 12 घण्टे की समस्त क्षमता वस्तु X के उत्पादन के लिए प्रयुक्त की जाय तो वस्तु X की 6 इकाइयों का उत्पादन होगा जबकि वस्तु Y का उत्पादन शून्य होगा। इसी प्रकार यदि मशीन A की समस्त 12 घण्टे की क्षमता वस्तु Y के उत्पादन में प्रयोग की जाय तो Y की 4 इकाइयाँ उत्पन्न होगी और X की उत्पादन मात्रा शून्य होगी। अतः रेखाकृति 16·4 में प्रतिबन्ध $2X+3Y \leqslant 12$ को सरल रेखा AB द्वारा प्रदर्शित किया गया है जिसके दायीं ओर का क्षेत्र इस प्रतिबन्ध की दृष्टि से सम्भाव्य हल के क्षेत्र को व्यक्त करता है।

इसी प्रकार दूसरे प्रतिबन्ध $2X+1Y \leqslant 8$ को सरल रेखा CD द्वारा दिखाया गया है जिसके दायीं ओर का क्षेत्र इस प्रतिबन्ध की दृष्टि से सम्भाव्य हल का क्षेत्र होगा परन्तु दोनों प्रतिबन्धों की दृष्टि में स्थूल रेखा AKD के दायीं ओर का क्षेत्र सम्भाव्य रूप में दिखाया गया है।

हमने सम्भाव्य हल के क्षेत्र के कुछ उदाहरण दिये हैं। प्रतिबन्धों की संख्या तथा प्रकृति के अनुसार सम्भाव्य हल के क्षेत्र की आकृति भी भिन्न-भिन्न होती है।

4. अनुकूलतम हल (Optimum Solution)

अनेक सम्भाव्य हलों में से सर्वोत्तम हल को अनुकूलतम हल कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, सभी सम्भाव्य हलों में से वह हल जो वस्तुपरक फलन को अधिकतम अथवा न्यूनतम (जैसी कि स्थिति हो) करता है, अनुकूलतम हल है। उदाहरणतया, यदि वस्तुपरक फलन दो वस्तुओं के उत्पादन से लाभ अधिकतम करना है तो वस्तुओं का वह संयोग (Combination) जिसको उत्पादित करने से फर्म के लाभ अधिकतम हों, अनुकूलतम हल होगा। इसी प्रकार यदि वस्तुपरक फलन एक प्रक्रिया अथवा प्रक्रियाओं के संयोग के चयन से उत्पादन लागत को न्यूनतम करता है तो वह प्रक्रिया अथवा प्रक्रियाओं का वह संयोग जिससे वास्तव में लागत न्यूनतम बैठती है अनुकूलतम हल होगा। यह स्मरण रहे कि अनुकूलतम हल सम्भाव्य हलों के क्षेत्र के भीतर में से ही होता है।

रेखीय प्रायोजना में अनुकूलतम हल ज्ञात करने की दो वैकल्पिक विधियाँ हैं। प्रथम, अनुकूलतम हल मालूम करने की गैर-गणितीय अथवा रेखा-चित्रीय विधि (graphical method) है। रेखा चित्रीय विधि द्वारा रेखीय प्रायोजना की केवल सरल समस्याओं का अनुकूलतम हल प्राप्त किया जा सकता है। रेखीय प्रायोजना की समस्या का अनुकूलतम हल ज्ञात करने की दूसरी विधि गणितीय प्रकार की है जिसे सिम्पलैक्स विधि (Simplex method) की संज्ञा दी गयी है। इस सिम्पलैक्स विधि के अन्तर्गत गणितीय समीकरणों द्वारा अनेक सम्भाव्य हलों की परीक्षा करके अपेक्षाकृत निर्बल हलों (अर्थात् गैर अनुकूलतम हलों) को एक-एक करके त्याग दिया जाता है जब तक कि अनुकूलतम हल प्राप्त नहीं हो जाता। यद्यपि दोनों रेखाचित्रीय तथा सिम्पलैक्स विधियाँ समस्या के अनुकूलतम हल प्राप्त करने के दो भिन्न तरीके हैं, वे एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं।

5. सम-लागत रेखा (Iso-Cost Line)

सम-लागत रेखा उन विभिन्न साधन संयोगों को प्रदर्शित करने वाले बिंदुओं का बिन्दुपथ है जो कि एक उत्पादक समान कुल लागत पर खरीद सकता है। रेखाकृति 16·5 में P_1P_1 एक सम-लागत रेखा है जो कि श्रम तथा पूँजी के स्थिर मूल्यों की मान्यता के आधार पर निर्मित किया गया है।

रेखीय प्रायोजना के द्वारा लाभ अधिकतम करने की समस्या का अध्ययन हम तीन प्रमुख भागों के अन्तर्गत करेंगे। प्रथम भाग में हम उत्पादक द्वारा दो पदार्थों के उत्पादन से लाभ अधिकतम करने की व्याख्या करेंगे जब कि उसके लिए दो प्रतिबन्ध हैं। द्वितीय भाग के अन्तर्गत हम उत्पादक के भौतिक समाधन, साधनों की दी हुई मात्रा तथा उत्पादन प्रक्रिया की संख्या की सीमितता के आधार पर उत्पादन को अधिकतम करने की समस्या का अध्ययन करेंगे तथा तृतीय भाग के अन्तर्गत एक से अधिक वस्तु का उत्पादन करने पर दो से अधिक प्रतिबन्धों की स्थिति में कुल लाभ अधिकतम करने की समस्या का अध्ययन करेंगे।

पदार्थों का चयन : अधिकतम लाभ की प्राप्ति (Choice of Products : Maximization of Profits)

रेखीय प्रायोजना का एक महत्त्वपूर्ण उपयोग यह स्पष्ट करना है कि एक फर्म किस प्रकार विभिन्न पदार्थों

के उत्पादन से अपने लाभ अधिकतम कर सकती ? अर्थात वह विभिन्न पदार्थों को कितनी-कितनी मात्रा में उत्पादित करे कि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। हम इस खण्ड में फर्म द्वारा दो पदार्थों के उत्पादन से अपने लाभ को अधिकतम करने की समस्या की व्याख्या करेंगे और आगे जाकर दो से अधिक पदार्थों के उत्पादन से अधिकतम लाभ प्राप्त करने की रेखीय प्रायोजना की सहायता से विवेचना करेंगे।

इस विषय में सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि फर्म किन प्रतिबंधों के अंतर्गत उत्पादन कर रही है। कल्पना कीजिए कि फर्म को दो वस्तुओं X तथा Y का उत्पादन करना है जिसके लिए दो मशीनों I तथा II की आवश्यकता है। मशीन I की उपलब्ध क्षमता 12 घण्टे कार्य करने की है जबकि मशीन II की 8 घण्टे कार्य करने की क्षमता है। इसके अतिरिक्त वस्तु X की प्रत्येक इकाई उत्पादित करने के लिए दोनों मशीनों I तथा II पर दो-दो घण्टे कार्य करने की आवश्यकता है और वस्तु Y की

रेखाकृति 16.5 : अधिकतम लाभ की प्राप्ति

प्रत्येक इकाई के उत्पादन के लिए मशीन I पर 3 घण्टे तथा मशीन II पर एक घण्टा कार्य करना आवश्यक है। अतः फर्म के इन प्रतिबंधों को निम्न प्रकार लिखा जा सकता है।

$$2X+3Y \leq 12 \quad \ldots(i)$$

$$2X+1Y \leq 8 \quad \ldots(ii)$$

प्रथम प्रतिबंध (i) को रेखाकृति 16.5 में एक सरल रेखा तथा द्वितीय प्रतिबंध (ii) को अन्य सरल रेखा द्वारा दर्शाया गया है (ये रेखाएं कैसे बनायी जाती है, की व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं)। स्थूल वक्र BQA के बायें ओर का क्षेत्र सम्भाव्य हल क्षेत्र (area of feasible solutions) है।

फर्म सम्भाव्य हल क्षेत्र में से कौन से हल का चयन करेगी अर्थात् वह वस्तु X तथा वस्तु Y के किन संयोगों के उत्पादन करने का निश्चय करेगी ताकि उसका लाभ अधिकतम हो सके की व्याख्या करने के लिए सम लाभ वक्र (Iso-Profit Curve) की धारणा का समझना आवश्यक है। समलाभ रेखाएँ खींचने के लिए पदार्थों की इकाई से प्राप्त लाभ जानना आवश्यक है। पदार्थों की प्रति इकाई से अर्जित लाभ जानने के लिए पदार्थों की प्रति इकाई कीमत से उसमें प्रयुक्त कच्चा माल, श्रम, ईंधन, बिजली आदि पर उठायी गयी लागत को घटाना होता है अर्थात् पदार्थ की कीमत में से औसत परिवर्तनशील लागत (Average Variable Cost) को घटा कर उत्पादन की प्रति इकाई में लाभ ज्ञात किये जाते हैं। कल्पना कीजिये कि वस्तु X की प्रति इकाई से 10 रुपये तथा वस्तु Y की प्रति इकाई से 6 रुपये लाभ अर्जित किये जाते हैं। अतः हम वस्तुपरक फलन को इस प्रकार लिख सकते हैं :

$$P=10Y+6Y \quad \ldots(iii)$$

जहाँ P कुल लाभ, X, वस्तु X की मात्रा तथा Y, वस्तु Y की मात्रा को दर्शाते हैं। समीकरण (iii) वस्तुपरक फलन है जिसको प्रतिबंधों [(i), (ii)] का उल्लंघन किए बिना अधिकतम करना है।

वस्तुपरक फलन को समलाभ वक्रों द्वारा प्रदर्शित करने के लिए हमें कुल लाभ (P) की राशियां को निश्चित करना होगा। यदि 30 रुपये के लाभ की सम-लाभ रेखा खींचनी है तो वस्तुपरक फलन का एक समीकरण निम्न होगा :—

$$30=10X+6Y$$

यदि वस्तु X की कोई मात्रा भी उत्पादित नहीं की जाती अर्थात् वस्तुपरक फलन में वस्तु X की मात्रा शून्य हो तो हमें निम्न समीकरण प्राप्त होगा

$$30=10\,(0)+6Y$$

$$Y=5$$

इसी प्रकार जब $Y=0$ तो

$$30 = 10X + 6(0)$$
$$X = 3$$

अत 30 रुपये लाभ की सम-लाभ रेखा खींचने के लिए अक्ष-Y पर 5 और अक्ष X पर 3 को अंकित किया जाय और फिर इन दोनो को सरल रेखा द्वारा जोडने से हमे P_1P_1 रेखा प्राप्त होगी है । इस समलाभ रेखा $P_1 P_1$ पर स्थित सभी बिन्दुओ अथवा दो वस्तुओ के सभी *सयोगो से समान लाभ* (30 रुपये) प्राप्त होंगे ।

इसी प्रकार अन्य लाभ की मात्राओ को प्रदर्शित करने वाली अन्य समलाभ रेखाएँ P_2P_2 P_3P_3 आदि खींची जा सकती है । *ये समलाभ रेखाएँ परस्पर समानान्तर होगी ।*

अब रेखाकृति 16 5 पर विचार कीजिए जिसमे *सम्भाव्य हल क्षेत्र के साथ* विभिन्न लाभ-मात्राओ को *समलाभ रेखाओ को खींचा गया है ।* जैसे हम उद्गम बिन्दु से उत्तर पूर्व की ओर ऊपर को जाते हैं तो समलाभ रेखाओ द्वारा व्यक्त कुल लाभ की मात्रा मे वृद्धि होगी । इसलिए एक विवेकशील उत्पादक जितना सभव होगा उच्चतर समलाभ रेखा तक पहुँचने की चेष्टा करेगा । किन्तु वह सम्भाव्य हल क्षेत्र से बाहर नही जा सकता क्योकि प्रतिबन्ध उसे ऐसा करने से रोकते है । रेखाकृति 16 5 से स्पष्ट है कि उत्पादक को बिन्दु Q पर अधिकतम सभव लाभ प्राप्त होंगे जहाँ पर कि समलाभ रेखा *सम्भाव्य हल क्षेत्र से स्पर्श* (touch) करती है । बिन्दु Q सम्भाव्य हल क्षेत्र का एक कोणदार बिन्दु (Corner Point) है । इस बिन्दु Q से ऊपर उत्पादक नही जा सकता क्योकि *प्रतिबन्ध उसे ऐसा करने से रोकते है ।* बिन्दु Q के अतिरिक्त सभाव्य हल क्षेत्र पर तथा उसके भीतर के किसी अन्य बिन्दु अथवा सयोग का चयन उत्पादक नही करेगा *क्योकि Q सयोग की तुलना मे वे निम्न स्तर की* समलाभ रेखाओ पर स्थित होंगे । अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए अर्थात् अनुकूलतम हल (Optimum Solution) की प्राप्ति के लिए उत्पादक बिन्दु Q द्वारा व्यक्त दो वस्तुओ के सयोग का उत्पादन करेगा । बिन्दु Q कोणदार बिन्दु है । स्मरण रहे कि जब समस्या का अनुकूलतम हल एक ही हो तो वह कोणदार बिन्दु पर ही होता है ।

प्रक्रिया का चयन उत्पादन अधिकतम करना (Choice of a Process Maximization of Output)

इस समस्या की व्याख्या हम तीन उपविभागो के अन्तर्गत करेंगे जिनमे एक केवल दो साधनों का प्रयोग करके एक वस्तु का उत्पादन अधिकतम करने की चेष्टा करती है ।

- A प्रक्रिया का चयन लागत व्यय सीमित होने पर उत्पादन अधिकतम करना (Choice of a Process Output Maximisation with Cost outlay Constraint)
- B प्रक्रिया का चयन एक साधन सीमित होने पर उत्पादन अधिकतम करना (Choice of a Process Output Maximisation with one input Constraint)
- C प्रक्रिया का चयन दोनों साधन सीमित होने पर उत्पादन अधिकतम करना (Choice of a Process Output Maximisation with two inputs Constraint) ।

अब हम इन तीनों की क्रमश व्याख्या करेंगे ।

A प्रक्रिया का चयन लागत व्यय सीमित होने पर उत्पादन अधिकतम करना (Choice of a Process Output Maximisation with Cost Outlay Constraint)

कल्पना कीजिए फर्म श्रम तथा पूँजी दो साधनो का प्रयोग करती है तथा एक वस्तु X का उत्पादन करती है तथा वस्तु के उत्पादन की चार वैकल्पिक प्रक्रियाएँ फर्म को उपलब्ध है तथा फर्म के पास सीमित मात्रा मे लागत व्यय (cost outlay) अर्थात् आर्थिक साधन हैं । इन परिस्थितियो के अन्तर्गत फर्म को X वस्तु का उत्पादन अधिकतम करने की समस्या है । रेखीय प्रायोजना की शब्दावली मे इस समस्या को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है ।

इस समस्या का वस्तुपरक फलन (Objective Function) X वस्तु का उत्पादन अधिकतम करना है जो प्रमुख (Primal) है तथा द्वैत (Dual) लागत को न्यूनतम

करता है। फर्म पर प्रतिबन्ध (Constraints) या सीमाएँ OA, OB, OC, OD प्रक्रियाएँ, लागत व्यय अर्थात् दिए हुए आर्थिक साधन हैं। फर्म की सम्भाव्य हल (Feasible Solution) तथा अनुकूलतम हल (Optimum Solution) निर्धारित करने की समस्या है।

रेखाकृति 16 6 से स्पष्ट है कि फर्म का OA, OB, OC तथा OD चार वैकल्पिक उत्पादन प्रक्रियाएँ (alternative production processes) उपलब्ध है जिनकी सहायता से वह X वस्तु की एक निश्चित मात्रा का उत्पादन कर सकती है। वे प्रक्रियाएँ क्रमश अधिकाधिक

रेखाकृति 16 6 प्रक्रिया का चयन

श्रम प्रधान हैं। रेखाकृति 16 6 मे X-अक्ष पर श्रम तथा Y-अक्ष पर पूँजी की इकाइयाँ प्रदर्शित हैं। प्रक्रिया किरण - OA, OB, OC तथा OD पर क्रमश L, M, N, W बिन्दु पूँजी तथा श्रम के उन विभिन्न सयोगो का प्रदर्शित करते हैं जिसके द्वारा एक फर्म वस्तु Y की 40 इकाइयां का उत्पादन कर सकती है। रेखाकृति से स्पष्ट है कि L, M, N, W बिंदु क्रमश पूँजी की ह्रासमान तथा श्रम की वर्धमान (increasing) मात्राओं को प्रदर्शित करते हैं। इन बिंदुओं को सरल रेखा से मिला देने पर सममात्रा वक्र (Isoquants) प्राप्त हो जाता है जो परम्परागत निष्कोण वक्र (Smooth Curve) न होकर कोणदार वक्र (Kinked Curve) है। एक ही प्रक्रिया किरण पर स्थित बिंदु पूँजी तथा श्रम के स्थिर अनुपात (Fixed Ratio) व्यक्त करता है अर्थात् एक साधन की मात्रा में एक निश्चित परिवर्तन होने से दूसरे साधन की मात्रा मे भी ठीक उसी अनुपात से परिवर्तन करना होता है। अत यदि विभिन्न प्रक्रिया किरणो पर स्थित L, M, N, W बिंदुओं द्वारा प्रदर्शित साधन सयोग को 50% बढा दिया जाय तो उत्पादन भी 50% बढ जाएगा। साधन सयोग को 50% बढा देने पर OA, OB, OC तथा OD प्रक्रिया किरणो पर हमे क्रमश J, H, G, K बिंदु मिल जाते हैं जो X वस्तु की पहले से 50% अधिक अर्थात् 60 इकाइयों का उत्पादन कर सकते हैं। इन बिन्दुओ को मिलाने से हमे 60 इकाइयो के उत्पादन को प्रदर्शित करने वाला सममात्रा वक्र (Isoquant) वक्र प्राप्त हो जाता है।

फर्म की लागत व्यय (cost outlay) प्रतिबन्ध EF सम-लागत रेखा द्वारा प्रदर्शित है जो स्पष्ट करती है कि फर्म अपने कुल लागत व्यय अर्थात् आर्थिक साधनो (T_1) द्वारा श्रम की प्रचलित कीमत (P_L) पर उसकी OF मात्रा अथवा पूँजी की प्रचलित कीमत (Pc) पर उसकी OE मात्रा अथवा EF रेखा पर स्थित श्रम तथा पूँजी के किसी सयोग को खरीद कर उसकी सहायता से उत्पादन कर सकती है तथा उन सयोगो की कुल लागत समान होती है। समीकरण के रूप मे —

$T_1 = L\,P_L + C\,P_C$ जहाँ पर T_1 फर्म की दी हुई कुल लागत व्यय, L श्रम की इकाइयां P_L श्रम की प्रति इकाई कीमत, C पूँजी की इकाइयाँ तथा Pc पूँजी की प्रति इकाई कीमत को प्रदर्शित करते हैं। यदि उत्पादक अपने सम्पूर्ण दिये हुए साधन से केवल श्रम खरीदता है तो वह OF श्रम की इकाइयाँ खरीद सकेगा तथा $C.Pc$ का मूल्य शून्य हो जायगा। इसी प्रकार यदि वह केवल पूँजी खरीदता है तो उसकी OE इकाइयाँ खरीद सकेगा तथा $L\,P_L$ का मूल्य शून्य होगा। यदि अपने दिये हुए साधन को श्रम तथा पूँजी दोनो पर व्यय करता है तो $L\,P_L$ तथा $C\,Pc$ दोनो का मूल्य धनात्मक (positive) होगा।

EF सम-लागत रेखा द्वारा कुल लागत व्यय प्रतिबंध (Total cost outlay constraint) तथा चार प्रक्रिया किरणों द्वारा प्रक्रिया प्रतिबंध (Process Constraint) के आधार पर फर्म का सम्भाव्य हल का क्षेत्र (Area of Feasible Solutions) OTS त्रिभुज निर्धारित होता है। रेखाकृति मे OA प्रक्रिया किरण

सबसे अधिक पूँजी प्रधान (Capital Intensive) तथा OD सबसे अधिक श्रम प्रधान (Most labour intensive) साधन संयोग व्यक्त करती है अर्थात् फर्म को OA से अधिक पूँजी प्रधान तथा OD से अधिक श्रम प्रधान प्रक्रिया उपलब्ध नहीं है।

इन परिस्थितियों में फर्म को सम्भाव्य हल के क्षेत्र में से एक ऐसे साधन संयोग का चुनाव करना है जो उत्पादन अधिकतम करने के दृष्टिकोण से सर्वोत्तम हो अर्थात् अनुकूलतम हल (Optimum Solution) निर्धारित करने की समस्या है। चूँकि फर्म अपनी दी हुई कुल लागत व्यय द्वारा उत्पादन को अधिकतम करना चाहती है, अतः अनुकूलतम हल त्रिभुज OTS की TS रेखा के ही किसी बिंदु पर होगा। अर्थात् फर्म के लिए EF रेखा के ET तथा SF भाग निरर्थक है। अतः TS रेखा पर के विभिन्न प्रक्रिया किरणों के प्रतिच्छेद बिंदु ही अनुकूलतम हल के बिंदु हो सकते हैं। अब फर्म की समस्या है कि इन चार प्रक्रियाओं में से किस प्रक्रिया का चुनाव करे। उत्पादन को अधिकतम करने के लिए फर्म स्वाभाविक रूप से उस प्रक्रिया का चुनाव करेगी जिस पर सममात्रा वक्र (Isoquant) समलागत रेखा को स्पर्श करता है। रेखाकृति 16.8 में G एक ऐसा ही बिंदु है जहाँ पर समलागत रेखा तथा सममात्रा वक्र को कोणदार बिंदु को स्पर्श करता है। यही फर्म का अनुकूलतम हल (Optimum Solution) है अर्थात् अपने आर्थिक साधनों तथा साधनों की प्रचलित कीमतों के आधार पर फर्म OC प्रक्रिया का प्रयोग करके उत्पादन को अधिकतम करने में सफल होगा।

स्पष्ट है कि सम लागत रेखा EF द्वारा व्यक्त कुल लागत व्यय दिये हुए होने पर बिन्दु G द्वारा व्यक्त हल से अधिकतम उत्पादन की प्राप्ति होगी। किन्तु यदि वस्तु X की उत्पादन मात्रा 60 इकाइयाँ दी हुई हो तो इसे उत्पादित करने का अनुकूलतम हल (साधनों का संयोग) न्यूनतम लागत वाला होगा। किन्तु यह न्यूनतम लागत संयोग भी बिन्दु G द्वारा व्यक्त होगी। अतः यदि हमें $JHGK$ सममात्रा वक्र जो वस्तु की 60 इकाइयों को दर्शाता है दिया हुआ हो और यह ज्ञात करना हो कि वस्तु X की 60 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए श्रम और पूँजी का न्यूनतम लागत संयोग कौन सा होगा तो रेखाकृति पर दृष्टि डालने से स्पष्ट होगा कि J, H, G और S में से बिन्दु G ही न्यूनतम सम्भव सम लागत रेखा (Iso-Cost line) पर स्थित है। अतः प्रदत्त लागत का अधिकतम उत्पादन हल तथा उसके बराबर प्रदत्त उत्पादन मात्रा का न्यूनतम लागत हल समान ही होते हैं।

माना कि श्रम की कीमत में वृद्धि हो जाती है तथा पूँजी की प्रति इकाई कीमत पूर्ववत् रहती है। ऐसी दशा में सम-लागत रेखा EP हो जाती है और फर्म का सम्भाव्य हल का क्षेत्र (Area of Feasible Solutions) त्रिभुज OZI का क्षेत्र हो जाता है। चूँकि ZI रेखा के M बिन्दु जो कि OB प्रक्रिया किरण पर स्थित है, पर 40 इकाइयों के उत्पादन को प्रदर्शित करने वाला सममात्रा वक्र (Isoquant) स्पर्श करता है, अतः फर्म का अनुकूलतम हल M बिन्दु पर होगा और वह OB प्रक्रिया द्वारा अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने में सफल होगी। इस विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रम की कीमत में वृद्धि होने तथा पूँजी की कीमत पूर्ववत रहने से पूँजी सापेक्ष रूप में सस्ती (Cheap) हो जाती है जिसके कारण ही उसका अनुकूलतम हल (Optimum Solution) पहले की अपेक्षा अधिक पूँजी प्रधान प्रक्रिया (Capital-intensive Process) OB पर होता है।

अब पुनः माना कि श्रम तथा पूँजी की कीमतों में कोई परिवर्तन नहीं होता है। वे EF सम लागत रेखा द्वारा व्यक्त कीमतों पर स्थिर रहती हैं किन्तु फर्म के कुल लागत व्यय (Total cost outlay) अर्थात् आर्थिक साधन पहले की अपेक्षा कम हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप सम-लागत रेखा EF से परिवर्तित होकर QR हो जाती है जो EF के समानान्तर किन्तु उससे नीची रेखा है। ऐसी दशा में फर्म के सम्भाव्य हल का क्षेत्र (Area of Feasible Solutions) OUV त्रिभुज हो जाता है। इस त्रिभुज की UV रेखा के N बिन्दु पर 40 इकाइयों के उत्पादन को प्रदर्शित करने का सममात्रा वक्र (Isoquant) स्पर्श करता है। अतः N बिन्दु पर

OC प्रक्रिया का चुनाव ही फर्म का अनुकूलतम हल (Optimum Solution) है। यहाँ पर यह भी स्पष्ट है कि श्रम तथा पूँजी की सापेक्ष कीमतें अपरिवर्तित रहने पर फर्म OC प्रक्रिया का ही चुनाव करके उत्पादन को अधिकतम करती है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि केवल कुल लागत व्यय प्रतिबन्ध (Total cost outlay constraint) अर्थात् केवल एक प्रतिबन्ध होने पर फर्म एक ही प्रक्रिया द्वारा उत्पादन को अधिकतम करती है।

B उत्पादन प्रक्रिया का चयन : एक साधन सीमित होने पर उत्पादन अधिकतम करना

(Choice of a Productive Process : Output Maximisation with One Input Constraint)

अब हम देखेंगे कि फर्म पर कुल लागत व्यय प्रतिबन्ध न होने पर भी यदि एक साधन सीमित मात्रा में तथा दूसरा असीमित मात्रा में उपलब्ध हो तो वह किस प्रकार उत्पादन को अधिकतम करेगी तथा अनुकूलतम हल (Optimum Solution) को निर्धारित करेगी। इस प्रकार के उदाहरण मशीनों की संख्या, गोदाम का क्षेत्र आदि सामान्य है।
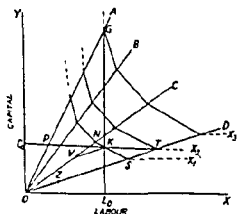
रेखाकृति 16.7 : एक साधन सीमित होने पर अनुकूलतम हल

इसके अन्तर्गत भी हमारा विश्लेषण दो साधनों द्वारा एक वस्तु X का उत्पादन, चार उत्पादन प्रक्रिया तक सीमित होगा अर्थात् फर्म एक वस्तु X का उत्पादन करती है तथा उत्पादन की चार वैकल्पिक प्रक्रियाएं है।

माना कि फर्म को श्रम की केवल OLo सीमित मात्रा उपलब्ध है तथा पूँजी असीमित मात्रा (Unlimited quantity) में उपलब्ध है तथा फर्म को उत्पादन की चार वैकल्पिक उत्पादन प्रक्रियाएँ उपलब्ध हैं जिनमें से कुछ अपेक्षाकृत श्रम प्रधान तथा कुछ अपेक्षाकृत पूँजी प्रधान हैं।

पूँजी असीमित मात्रा में उपलब्ध होने के कारण फर्म यथेष्ट (desired) मात्रा में पूँजी का प्रयोग कर सकती है किन्तु श्रम की OLo से अधिक मात्रा का प्रयोग नहीं कर सकती है। अतः उत्पादक यथासम्भव उत्पादन को पूँजी प्रधानता बढ़ा कर उत्पादन को अधिकतम करना चाहेगा। रेखाकृति 16.7 में LoG रेखा श्रम की सीमितता (labour constraint) को तथा OA एवं OD रेखाएँ प्रक्रिया प्रतिबन्ध (Process constraint) को व्यक्त करती है। विशेषतः OA प्रक्रिया प्रतिबन्ध इस सदर्भ में महत्त्वपूर्ण है क्योंकि पूँजी यद्यपि असीमित मात्रा में उपलब्ध है किन्तु वस्तु के उत्पादन की चार वैकल्पिक प्रक्रियाओं में से OA से अधिक पूँजी प्रधान प्रक्रिया उपलब्ध नहीं है। अतः श्रम सीमित तथा असीमित मात्रा में उपलब्ध होने पर फर्म के सम्भाव्य हल का क्षेत्र $OLoG$ त्रिभुज निर्धारित होता है। पूँजी असीमित मात्रा में उपलब्ध, सीमित श्रम को अधिकतम पूँजी प्रधान प्रक्रिया में प्रयोग करके OA प्रक्रिया किरण के G बिन्दु पर अनुकूलतम हल (Optimum Solution) की स्थिति होगी तथा X_3 सममात्रा वक्र (isoquant) द्वारा प्रदर्शित X वस्तु का उत्पादन करेगा।

इस प्रकार उत्पादक केवल एक ही प्रक्रिया OA के प्रयोग द्वारा अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने में सफल होगा।

इसी प्रकार माना कि पूँजी केवल OCo सीमित मात्रा में उपलब्ध है तथा श्रम असीमित मात्रा में उपलब्ध है। ऐसी दशा में प्रक्रिया प्रतिबन्ध तथा पूँजी प्रतिबन्ध के आधार पर रेखाकृति 16.7 में फर्म के सम्भाव्य हल का क्षेत्र OPT त्रिभुज है। चूँकि श्रम असीमित मात्रा में तथा पूँजी केवल OCo मात्रा में ही उपलब्ध है, अतः सीमित पूँजी का प्रयोग सबसे अधिक श्रम-प्रधान

प्रक्रिया (most labour-intensive process) में करके फर्म T बिन्दु पर अनुकूलतम हल (Optimum Solution) की स्थिति में होगी तथा OD प्रक्रिया का प्रयोग करके X_3 सममात्रा वक्र द्वारा व्यक्त १ वस्तु की मात्रा का उत्पादन करेगी।

इस प्रकार फर्म पूँजी सीमित होने पर भी केवल एक ही प्रक्रिया का प्रयोग करती है जो सर्वाधिक श्रम प्रधान होती है।

C उत्पादन प्रक्रिया का चयन दो साधन सीमित होने पर उत्पादन अधिकतम करना
(Choice of a Process Output Maximisation with Two Inputs as Constraints)

यदि फर्म को श्रम तथा पूँजी दोनों साधन सीमित मात्रा में उपलब्ध है तो वह अनुकूलतम हल (optimum solution) कैसे प्राप्त कर सकती है। इसकी व्याख्या भी रेखाकृति 16.8 द्वारा ही सरलतापूर्वक की जा सकती है।

यदि फर्म का किसी वस्तु का उत्पादन करने की तीन प्रक्रियाएँ उपलब्ध है तथा श्रम OL एवं पूँजी OK सीमित मात्रा में उपलब्ध है तो फर्म के सम्भाव्य हल का क्षेत्र $OKSL$ चतुर्भुज होगा क्योंकि रेखाकृति में पूँजी
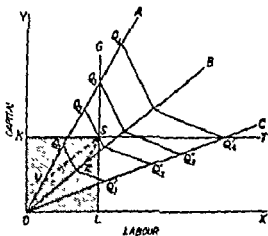
रेखाकृति 16.8 दो साधन सीमित होने पर उत्पादन प्रक्रिया का चयन

प्रतिबन्ध (Capital Constraint) KT रेखा द्वारा तथा श्रम प्रतिबन्ध (Labour Constraint) LG रेखा द्वारा प्रदर्शित है। इसी प्रकार प्रक्रिया प्रतिबन्ध OA तथा OC रेखा द्वारा प्रदर्शित हैं। रेखाकृति से स्पष्ट है कि S बिन्दु श्रम प्रतिबन्ध तथा पूँजी प्रतिबन्ध रेखाओं का प्रतिच्छेद बिन्दु (intersection point) है जो किसी भी प्रक्रिया किरण पर स्थित न होकर OA तथा OB प्रक्रिया किरणों के मध्य स्थित है जिसका अभिप्राय है कि फर्म अनुकूलतम हल (Optimum Solution) की स्थिति में OA तथा OB दोनों प्रक्रियाओं का प्रयोग करके उत्पादन को अधिकतम करेगी।

रेखाकृति 16.8 में S बिन्दु अनुकूलतम हल का बिन्दु (point of optimum solution) होगा और फर्म Q_1Q_2 समोत्पाद वक्र द्वारा व्यक्त १ वस्तु की मात्रा उत्पादित करेगी। चूँकि फर्म दो प्रक्रियाओं का प्रयोग करके उत्पादन करेगी अतः यह निर्धारित करना है कि वह वस्तु उत्पादन का कितना भाग OA तथा कितना भाग OB प्रक्रिया द्वारा उत्पादित करेगी। इस समस्या के समाधान के लिए S बिन्दु से OB के समानान्तर एक रेखा खींची गयी है जो OA प्रक्रिया किरण के V बिन्दु से मिलती है। यदि V बिन्दु से Q_1Q_2 समोत्पाद वक्र के Q_2S भाग के समानान्तर V से रेखा खींची जाय तो वह एक निचले समोत्पाद वक्र का एक भाग (Segment) होगा। अतः V पर के समोत्पाद वक्र द्वारा व्यक्त उत्पादन प्रक्रिया OA का प्रयोग करके किया जाएगा। यदि हम उस उत्पादन की मात्रा को Q_0 कह तो Q_0 मात्रा प्रक्रिया OA का प्रयोग करके उत्पादित की जाएगी तथा शेष भाग अर्थात् Q_2-Q_0 प्रक्रिया OB के OZ स्तर पर प्रयोग करके उत्पादित किया जाएगा।

इस प्रकार श्रम तथा पूँजी सीमित होने पर फर्म A तथा B दो प्रक्रियाओं का प्रयोग करके अनुकूलतम हल की स्थिति में होती है।

इस प्रकार उपर्युक्त समस्याएँ तथा उनका हल रेखीय प्रायोजना तकनीक के एक आधारभूत सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हैं जो निम्न है "फर्म के अधिकतम अथवा न्यूनतम करने में फर्म पर प्रतिबन्धों की संख्या की अपेक्षा अधिक संख्या में प्रक्रियाओं की आवश्यकता नहीं होगी।"[1] उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि कुल

[1] "No larger number of processes than the number of constraints placed on the firm

लागत व्यय प्रतिबन्ध होने पर केवल एक प्रक्रिया की आवश्यकता थी। एक साधन सीमित होने पर एक प्रक्रिया की आवश्यकता तथा दोनो साधन सीमित होने पर दो से अधिक प्रक्रियाओ की आवश्यकता नहीं थी। इस प्रकार प्रक्रियाओ की सख्या प्रभावपूर्ण सीमाओ की सख्या से अधिक नही हो सकती है।

ऊपर के विवरण एव रेखाकृति 16 8 म हमने दो प्रक्रियाओ के सयोग से उत्पादन करना सर्वोत्तम पाया। दो साधनो की सीमित उपलब्धि के प्रतिबन्ध होने की स्थिति मे यह भी हो सकता है कि केवल एक प्रक्रिया का उत्पादन के लिए चयन ही अनुकूलतम हल हो। ऐसा तब होगा जबकि सम्भाव्य क्षेत्र (feasible region) का कोना किसी प्रक्रिया पर समोत्पाद वक्र को स्पर्श करता है। इस रेखाकृति 16 9 मे प्रदर्शित किया गया है। इस रेखाकृति मे तीन प्रक्रिया किरणों OA, OB तथा OC को दिखाया गया है जो कि उत्पादन के लिए उपलब्ध हैं। श्रम की OL मात्रा और पूँजी की OK मात्रा उपलब्ध हैं जिनसे आयताकार $OKPL$ सम्भाव्य हलो का क्षेत्र
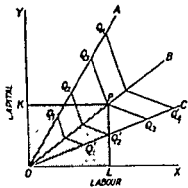
रेखाकृति 16 9 उत्पादन प्रक्रिया का चयन

है। Q_1Q_1', Q_2Q_2, Q_3Q_3' तथा $Q_4 Q_4'$ क्रमश समोत्पाद वक्र है जो उत्पादन के विभिन्न स्तरो को दर्शाते हैं। रेखाकृति 16 9 से देखा जाएगा कि इस स्थिति में सम्भाव्य हल क्षेत्र $OKPL$ का कोना प्रक्रिया किरण OB को बिन्दु P पर स्पर्श करता है। बिन्दु B समोत्पाद वक्र Q_3Q_3' पर स्थित है। इसका अर्थ यह है कि प्रक्रिया चयन की समस्या का अनुकूलतम हल उत्पादन के लिए केवल एक ही प्रक्रिया B को चुनना है और इस पर P स्तर तक उत्पादन कार्य करना है। इस स्थिति मे अन्य दो प्रक्रियाओं C और D का प्रयोग बिलकुल ही नही किया जायेगा। रेखाकृति 16 9 से स्पष्ट है कि उत्पादन प्रक्रिया B के स्तर पर कार्य करने पर फर्म Q_3Q_3 समोत्पाद वक्र द्वारा व्यक्त वस्तु की मात्रा का उत्पादन करेगी। इस रेखाकृति से यह भी ज्ञात होता है कि P बिन्दु पर उत्पादन करने से दोनो साधनो, श्रम और पूँजी, की उपलब्ध मात्राओ का पूर्ण रूप से प्रयोग होगा।

स्थिति जिसमे अनेक अनुकूलतम हल सम्भव हैं (The situation wherein more than one optimun solution is possible)

यह समझ लेना जरूरी है कि रेखीय प्रायोजना मे प्राय केवल एक ही अनुकूलतम हल पाया जाता है। परन्तु एक ऐसी विरली स्थिति भी है जिसम समस्या के अनेक अनुकूलतम हल सम्भव हैं। यह स्थिति रेखाकृति 16 10 मे प्रदर्शित है जिसमे उत्पादन की चार प्रक्रियाए A, B C और D उपलब्ध हैं। मान लीजिए कि साधनो की कीमतें ऐसी हैं कि सम-लागत वक्र की ढाल EF के समान है। रेखाकृति 16 10 से स्पष्ट है कि दी हुई सम लागत रेखा EF समोत्पाद वक्र $QRST$ के समस्त भाग (segment) RS के साथ मिली हुई है (coincides with the whole segment RS)। अतएव इस स्थिति मे उत्पादन प्रक्रिया
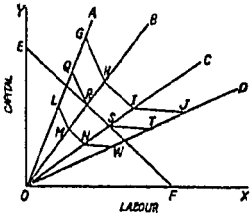
रेखाकृति 16 10 उत्पादन प्रक्रिया का चयन
अनेक अनुकूलतम हल

will be required in whatever the firm is maximising or minimising"

—Leftwitch, R H

B अथवा उत्पादन प्रक्रिया C अथवा इन दो प्रक्रियाओं का कोई अन्य जोड़ जो RS पर स्थित है अनुकूलतम हल होगा जिनमें से फर्म कोई भी हल अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिए चयन कर सकती है। अत इस स्थिति म एक से अधिक अनुकूलतम हल सम्भव है। किन्तु रैखीय प्रायोजना म प्राय केवल एक ही अनुकूलतम हल होता है जो समोत्पाद वक्र के kink अथवा परम-सीमा बिन्दु पर होता है।

रैखीय प्रायोजना का अनुकूलतम हल जिसमे एक साधन का अल्प प्रयोग

अब हम ऐसी स्थिति जिसम रैखीय प्रायोजना क अनुसार अनुकूलतम हल के अन्तर्गत एक साधन की उप लब्ध मात्रा का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता है की व्याख्या करेंगे। वास्तविक आर्थिक जगत म ऐसा प्राय होता है। रेखाकृति 16 11 पर विचार कीजिए। इसमे श्रम और पूँजी की उपलब्ध मात्रा सीमित होने के दो प्रतिबन्ध हैं। इन प्रतिबंधो के अनुसार श्रम की OL मात्रा और पूँजी की OK मात्रा उपलब्ध हैं। इनसे सम्भाव्य हलों का क्षेत्र $OKPL$ बनता है। A B तथा C तीन उत्पादन प्रक्रियाएं हैं और इनके बीच का क्षेत्र AOC जिसे छायांकित किया गया है तीन प्रक्रियाओं की दृष्टि से उत्पादन सम्भावनाओं के क्षेत्र को व्यक्त करता है।

रेखाकृति 16 11 से स्पष्ट है कि इस स्थिति मे सम्भाव्य क्षेत्र $OKPL$ का दायां कोना P उत्पादन प्रक्रियाओ की दृष्टि से उत्पादन सम्भावनाओ के कोण (Cone) AOC के बाहर स्थित है। इस स्थिति मे सम्भाव्य हल के क्षेत्र
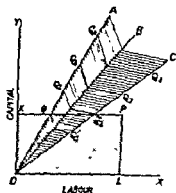
रेखाकृति 16 11 अनुकूलतम हल की स्थिति मे साधन का अल्प प्रयोग

के कोने का बिन्दु अनुकूलतम हल (Optimum solution) नहीं है। ऐसी परिस्थिति म बिन्दु Q_2 जो कि उत्पादन सम्भावनाओं के कोण की दायीं भाजा OC तथा सम्भाव्य क्षेत्र की KP रेखा पर स्थित है अनुकूलतम हल है। इस अनुकूलतम हल म केवल एक उत्पादन प्रक्रिया C से उत्पादन कार्य सम्पन्न होगा। रेखाकृति 16 11 देखने पर मालूम होगा कि दी हुई परिस्थितियो मे बिन्दु Q_2 से अधिक श्रेष्ठ हल नहीं हो सकता। किन्तु अनुकूलतम हल Q_2 मे श्रम की उपलब्ध मात्रा OL का पूर्ण उपयोग नहीं हो पा रहा है और इसकी Q_2P मात्रा अप्रयुक्त (अथवा बेरोजगार) रहती है।

श्रम प्रधान तकनीक का पूँजी प्रधान तकनीक की तुलना में अधिक अकुशल होने की स्थिति में अनुकूलतम हल

एक और विशेष स्थिति जिसम श्रम प्रधान तकनीक पूँजी प्रधान तकनीक की तुलना म अधिक अकुशल होती है की स्थिति मे अनुकूलतम हल की व्याख्या करना है। दो साधनो पूँजी और श्रम की क्रमश OK और OL दी हुई होने पर $OKPL$ सम्भाव्य हल का क्षेत्र है। उत्पादन के लिए दो तकनीक अथवा प्रक्रियाए A और B उपलब्ध हैं जबकि प्रक्रिया A अपेक्षाकृत पूँजी प्रधान है प्रक्रिया B अपेक्षाकृत श्रम प्रधान है। इस परिस्थिति की विशेष बात यह है कि श्रम प्रधान प्रक्रिया B पूँजी प्रधान प्रक्रिया A की तुलना म अधिक अकुशल होने के कारण समोत्पाद वक्र Q_1Q_1, Q_2Q_2 Q_3Q_3' ऊपर की ओर ढालू (positively sloping) हैं। इसी कारण श्रम प्रधान प्रक्रिया किरण OB पर अधिक ऊंचाई पर स्थित बिंदु Q_3 से पूँजी प्रधान प्रक्रिया किरण OA पर अपेक्षाकृत कम ऊंचाई पर स्थित बिंदु Q_2 के समान मात्रा मे उत्पादन सम्भव होता है। अर्थात Q_2 द्वारा व्यक्त दो साधनो के संयोग से प्रक्रिया B के बिन्दु Q_3 के समान मात्रा म उत्पादन करने के लिए दोनो साधनो (पूँजी और श्रम) की अधिक मात्राएं प्रयोग करनी पड़ती हैं। रेखाकृति से यह विदित होता कि सम्भाव्य हल के क्षेत्र $OKPL$ का ऊपर का दायां कोना P उत्पादन सम्भावनाओ के कोण AOB के मध्य स्थित है। परन्तु ऐसी परिस्थिति मे अर्थात जबकि उत्पादन प्रक्रिया B प्रक्रिया A से अकुशल है दो प्रक्रियाओ A और B के जोड़ से उत्पादन करना अनुकूलतम नहीं होगा। दी हुई परिस्थितियो में श्रम प्रधान उत्पादन प्रक्रिया B का प्रयोग

करना लाभकारी नहीं होगा। अतएव ऐसी परिस्थिति में फर्म के लिए यह लाभकारी होगा कि वह वस्तु उत्पादन के लिए केवल अधिक कुशल प्रक्रिया *A* (जो कि अपेक्षाकृत पूंजी प्रधान है) का चयन करके इसका इस प्रकार प्रयोग करे जिससे पूंजी की उपलब्ध मात्रा *OK* का पूर्णरूपेण उपयोग हो। रेखाकृति 16 12 से स्पष्ट है कि इस स्थिति में अनुकूलतम हल प्रक्रिया *OA*
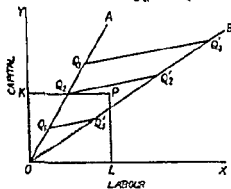
रेखाकृति 16 12

के बिन्दु Q_2 द्वारा व्यक्त है जहां पर कि सम्भाव्य हल क्षेत्र *OKPL* उच्चतम सम्भव समोत्पाद वक्र Q_2Q_2' को स्पर्श करता है। रेखाकृति 16 12 से स्पष्ट है कि अनुकूलतम हल Q_2 के अनुसार उत्पादन करने पर श्रम की उपलब्ध मात्रा *OL* का पूरा उपयोग नहीं होगा जिससे श्रम की Q_2P मात्रा अप्रयुक्त रहेगी।

द्वैत समस्या (Dual Problem)

प्रत्येक रेखीय प्रायोजना समस्या की एक प्रमुख समस्या (Primal Problem) होती है। यदि प्रमुख समस्या (Final Problem) लाभ को अधिकतम करना है तो द्वैत समस्या (Dual Problem) लागत को न्यूनतम करना होता है। अर्थात् यदि एक दिए हुए कुल लागत व्यय (Given Total Cost Outlay) में उत्पादन को अधिकतम करना प्रमुख समस्या है तो द्वैत समस्या (Dual Problem) दिए हुए उत्पादन को न्यूनतम लागत पर उत्पादित करने की है। किस समस्या को प्रमुख अथवा द्वैत में रखा जाय यह निम्न दो तत्वों पर निर्भर करता है

A जिसमें रखने पर वांछित सूचना (desired information) अपेक्षाकृत प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त हो जाती है।

B जिसमें रखने पर समस्या को अधिक सरलतापूर्वक हल किया जा सकता है।

इस प्रकार यदि लागत न्यूनतम करने की समस्या के हल से अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष सूचना प्राप्त होती है तथा इस समस्या का हल सरलतापूर्वक किया जा सकता है तो इसे प्रमुख समस्या (Primal Problem) के अन्तर्गत रखा जाएगा तथा इसका दूसरा पक्ष अर्थात् उत्पादन अधिकतम करना द्वैत समस्या होगी।

हमने जो लाभ अधिकतम करने की प्रमुख समस्या का विश्लेषण किया उसकी द्वैत समस्या उस न्यूनतम लागत को ज्ञात करना है जिससे सुविधाओं को उनकी दुलर्भता के अनुसार कीमतें देने पर लाभ शून्य हो जाय। हम यहां पर तालिका 16 1 के मूल्यों का प्रयोग करेंगे। तालिका से स्पष्ट है कि *X* तथा *Y* वस्तु की एक-एक इकाई के उत्पादन में आवश्यक सुविधा का अंश (required portion of facility) तथा सभी सुविधाओं की स्थिर मात्रा दी हुई है। *X* वस्तु से *प्रति इकाई लाभ 10 रु० तथा Y से प्रति इकाई लाभ* 8 रु० है।

द्वैत समस्या के वस्तुपरक समीकरण को निम्न रूप में व्यक्त किया जा सकता।

$$Ve_y + Ve_x + Vw + Vp = V \quad \cdots I$$

जहां पर Ve_y, E_y सुविधा की न्यूनतम लागत, Ve_x, E_x सुविधा की न्यूनतम लागत तथा V_w एवं V_p क्रमश *W* तथा *P* सुविधा की न्यूनतम लागत व्यक्त करते हैं। V = कुल न्यूनतम लागत

स्थिर सुविधाओं की न्यूनतम लागत पर प्रतिबन्ध निम्न समीकरणों द्वारा व्यक्त किए जा सकते हैं—

$$0\,0V_{ey} + 0\,05V_{ex} + 0\,02V_w + 0\,04V_p > 10 \quad II$$

$$033V_{ey} + 0\,0V_{ex} + 0\,03V_w + 0\,02V_p > 8 \cdots III$$

जिसमें $V_{ey} > 0,\ V_{ex} > 0,\ V_w > 0,\ V_p > 0$

समीकरण (*II*), *X* वस्तु की एक इकाई का उत्पादन करने के लिए विभिन्न सुविधाओं की आवश्यकता (facility requirement) को व्यक्त करता है तथा समीकरण (*III*), Y वस्तु की एक इकाई के लिए सुविधाओं की आवश्यकता को व्यक्त करता है।

पूर्व विश्लेषण मे हमने देखा है कि E_1 तथा E_2 सुविधा का लाभ अधिकतम करने मे पूर्ण प्रयोग नही होता अत वे प्रभावपूर्ण प्रतिबन्ध (effective constraints) नही हैं। अत उनकी न्यूनतम लागत V_{e1}, V_{e2} शून्य होगी। चूंकि लाभ अधिकतम करने की समस्या मे W तथा P सुविधा का पूर्ण प्रयोग करके X तथा Y वस्तु का उत्पादन किया जा रहा है इसलिए समस्त प्रति इकाई लाभ W और P सुविधाओ मे उनकी दुर्लभता कीमतो के अनुसार पूर्णतया वितरित हो जायेगा।

चूंकि उपर्युक्त समीकरणो मे 4 अज्ञात राशियाँ है किन्तु समीकरण केवल दो है अत उन समीकरणो को 2 अज्ञात राशियो तक कम करके उनका हल ज्ञात किया जा सकता है। उपर्युक्त समीकरणो के आधार पर दो-दो राशियों के छः सभव समीकरण के युग्म (pairs) हो सकते हैं किन्तु हम उनमे से केवल न्यूनतम लागत वाले समीकरण का ही विश्लेषण करेंगे। जो निम्न प्रकार है।

$$0\ 02V_w + 0\ 04V_p = 10 \cdots \cdots IV$$

$$0\ 03V_w + 0\ 02V_p = 8 \quad \cdot\ V$$

समीकरण IV के आधार पर यदि $V_p = 0$ तो

$$V_w = \frac{10}{02} = 500 \text{ रु०}$$

समीकरण IV के आधार पर ही यदि $V_w = 0$ तो

$$V_p = \frac{10}{04} = 250 \text{ रु०}$$

समीकरण V के आधार पर यदि $V_p = 0$ तो

$$V_w = \frac{8}{3} = 266\ 66$$

समीकरण V के आधार पर यदि $V_w = 0$, तो

$$V_p = \frac{8}{02} = 400 \text{ रु०}$$

दोनो समीकरणो को एक साथ हल करने पर—

$$0\ 02\ V_w + 0\ 04\ V_p = 10 \cdots \quad VI$$

$$0\ 06\ V_w + 0\ 04\ V_p = 16 \cdots \quad VII$$

$$-\ 04V_w \qquad = -6 \quad (VI - VII)$$

$$V_w \quad = \frac{-6}{-\ 04} = 150 \text{ रु०}$$

समीकरण VI मे V_w का मूल्य रखने पर —

$$02 \times 150 + 0\ 04\ V_p = 10$$

या $\quad 3\ 00 + \ 04V_p = 10$

या $\quad 3\ 00 + \ 04\ V_p = 10$

या $\quad \ 04\ V_p = 10 - 3$

या $\quad V_p = \frac{7}{04}$

$$V_p = 175 \text{ रु०}$$

इन समीकरणो को रेखाकृति के रूप मे प्रदर्शित करके द्वैत समस्या को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

रेखाकृति 16 9 मे X-अक्ष पर W सुविधा की तथा Y-अक्ष पर P सुविधा की लागत प्रदर्शित है।
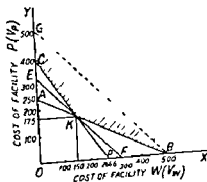
रेखाकृति 16 13 द्वैत समस्या

समीकरण IV AB रेखा द्वारा तथा समीकरण V CD रेखा द्वारा प्रदर्शित है अत CKB रेखा के ऊपर दाहिनी ओर का भाग फर्म के संभाव्य हल का क्षेत्र (Area of Feasible Solutions) है। फर्म का अनुकूलतम हल (optimun solution) CKB तथा निम्नतम सम्भव सम-लागत रेखा (lowest possible isocost line) की स्पर्शिता (tangency) द्वारा निर्धारित होगा। रेखाकृति 16.13 मे EF एक ऐसी ही रेखा है जो CKB रेखा के K कोने पर स्पर्श रेखा है। EF रेखा W तथा P सुविधाओ के प्रयोग की 325 रु० कुल लागत प्रदर्शित करती है। अनुकूलतम हल के बिन्दु K पर P सुविधा के प्रयोग की लागत 175 रु० तथा W सुविधा के प्रयोग की लागत 150 रु० है।

AK रेखा द्वारा प्रदर्शित मूल्यों के संयोग *X* वस्तु के उत्पादन में सुविधाओं का कम मूल्यांकन करेंगे तथा *KD* रेखा द्वारा प्रदर्शित मूल्यों के संयोग *Y* वस्तु के उत्पादन में सुविधाओं का कम मूल्यांकन करेंगे।

इस प्रकार *EF* रेखा के ऊपर स्थित कोई भी सम-लागत रेखा फर्म के लिए अहितकर होगी तथा *EF* के नीचे स्थित रेखा द्वारा प्रदर्शित लागत पर *X* और *Y* वस्तु का उत्पादन सम्भव न होगा।

अत फर्म द्वैत समस्या का हल लागत का न्यूनतम करके करती है।

रेखीय प्रायोजना द्वारा आहार की समस्या का समाधान (Solution of Diet Problem by Linear Programming)

आजकल रेखीय प्रायोजना की विधि का अनेक आर्थिक, व्यावसायिक एवं सामाजिक समस्याओं के सर्वोत्तम समाधान के लिए प्रयोग किया गया है। एक महत्वपूर्ण समस्या जिसका अनुकूलतम हल प्राप्त करने के लिए रेखीय प्रायोजना का प्रयोग किया गया है, वह है पशुओं को न्यूनतम लागत पर सन्तुलित आहार प्रदान करने की समस्या। अतएव पशुओं को अच्छा आहार देने की समस्या उनको विभिन्न प्रकार के अन्न (grains) कितनी कितनी मात्रा में खिलाना है जिससे उनको स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक पौष्टिक तत्त्व (nutritional requirements) मिल सकें और साथ ही उनको यह आहार प्रदान करने की लागत भी न्यूनतम हो। विभिन्न अन्नों की कीमतें भिन्न-भिन्न होती हैं तथा प्रत्येक प्रकार के अन्न में पाये जाने वाले विभिन्न पोषक तत्त्वों की मात्रा में काफी अन्तर होता है। ये पोषक तत्त्व हैं कैलोरीज (Calories), विटामिन, धातु (minerals), प्रोटीन (Proteins) आदि। अतएव समस्या है विभिन्न खाद्यान्नों का कौन सा संयोग उन्हें खाने के लिए दिया जाय जिससे न्यूनतम लागत पर उनको आवश्यक न्यूनतम पोषक तत्त्व मिल सकें।

इस प्रकार विभिन्न खाद्यान्नों में निहित पोषक तत्व तथा उन्हें स्वस्थ रखने के लिए न्यूनतम पोषक तत्त्वों की आवश्यक मात्रा आहार समस्या (diet problem) में प्रतिबन्ध (Constraints) तथा आहार की समस्या को न्यूनतम करना वस्तुपरक फलन (Objective function) है।

कल्पना कीजिए कि एक किसान दो प्रकार के अन्न *A* तथा *B* अपने पशुओं को आहार के रूप में देता है। अपने पशुओं को आहार देने की समस्या के विषय में उसके सम्मुख तीन प्रतिबन्ध ये हैं कि पशुओं को स्वस्थ रखने के लिए तीन पोषक तत्त्वों की क्रमशः N_1, N_2 तथा N_3 न्यूनतम मात्राएं देना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में सम्भाव्य हल का क्षेत्र किस प्रकार का है तथा उसमें अनुकूलतम हल क्या होगा को रेखाकृति 16 14 में दर्शाया गया है
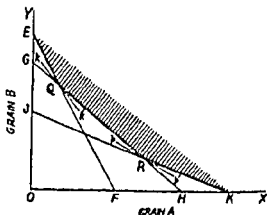
रेखाकृति 16 14 आहार की समस्या का अनुकूलतम हल

जिसके *X*-अक्ष पर अन्न *A* की मात्रा को तथा *Y*-अक्ष पर अन्न *B* की मात्रा को मापा गया है। *EF* रेखा दो अन्नों *A* और *B* की उन विभिन्न मात्राओं के संयोग प्रदर्शित करती है जो प्रथम पोषक तत्त्व (N_1) की न्यूनतम आवश्यक मात्रा प्रदान करते हैं। इसके अनुसार पोषक तत्त्व N_1 की आवश्यक मात्रा अन्न *A* की *OF* मात्रा तथा अन्न *B* की *OE* मात्रा अथवा *EF* रेखा पर पड़ने वाले दो अन्नों के किसी संयोग के उपभोग से प्राप्त होती है।

इसी प्रकार *GH* रेखा दो अन्नों की उन विभिन्न मात्राओं के संयोग को प्रदर्शित करती है जो दूसरे पोषक तत्त्व N_2 की न्यूनतम आवश्यक मात्रा प्रदान करते हैं तथा *JK* रेखा दो अन्नों के उन विभिन्न संयोगों को व्यक्त करती है जो तीसरे पोषक तत्त्व N_3 की न्यूनतम आवश्यक मात्रा प्रदान करते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि रेखा *EF* की अधिक ढाल का अभिप्राय यह है कि *A* अन्न के एक पौंड में *B* अन्न की तुलना में पोषक तत्त्व N_1 अधिक मात्रा में पाया जाता है।

अब प्रश्न यह है कि इस आहार समस्या के विषय मे सम्भाव्य हल का क्षेत्र क्या होगा। चूंकि दो अन्नो का कोई भी सयोग जो तीन रेखाओ EF, GH, तथा JK, जो कि क्रमश तीन पोषक तत्त्वो की आवश्यक न्यूनतम मात्रो को व्यक्त करती है, के नीचे स्थित है आवश्यक न्यूनतम पोषक तत्त्व B उपलब्ध नही करा पायेगा, इन तीनो रेखाओ के ऊपर स्थित भाग (segments) जिन्हे मोटा किया गया है एक सीमा निर्धारित करते है जिसके ऊपर अथवा उसके दायी ओर स्थित दो अन्नो के सयोग सम्भाव्य हल का क्षेत्र है अर्थात् मोटी रेखा $EQRK$ जो कि तीन रेखाओ मे ऊपर के भागो से बनती है के ऊपर तथा उसके दायी ओर रेखाकित क्षेत्र वर्तमान स्थिति मे सम्भाव्य हल का क्षेत्र है। इस सम्भाव्य हल के क्षेत्र मे से दो अन्नो का कोई भी सयोग पशुओ को दिया जाय तो उन्हे तीन तत्त्वो की न्यूनतम आवश्यक मात्राए प्राप्त होंगी। किन्तु किसान जो पशुओ को लाभ अर्जन हेतु पाल रहा है न्यूनतम आवश्यक आहार प्रदान करने की लागत को कम-से-कम करने की चेष्टा करेगा।

आहार की न्यूनतम लागत अथवा अनुकूलतम हल की व्याख्या के लिए हमे दो अन्नो की कीमतो को विश्लेषण मे समाविष्ट करना होगा। कल्पना कीजिए कि दो अन्नो A तथा B की कीमते ऐसी है जिन से रेखा pp की ढाल के समान सम लागत रेखाए प्राप्त होती है (स्मरण रहे कि pp' रेखा के समानान्तर ऊपर और नीचे कई सम-लागत रेखाए बनायी जा सकती है जो सभी दो अन्नो की दी हुई विशेष कीमतो को व्यक्त करेंगी)। आहार की लागत को न्यूनतम करने के लिये किसान निम्नतम सम्भव सम-लागत वक्र तक पहुँचने की चेष्टा करेगा। रेखाकृति 16 14 को देखने से ज्ञात होगा कि सम्भाव्य हल के क्षेत्र की सीमा रेखा $EQRK$ सम लागत रेखा PP को R बिंदु पर स्पर्श करती है। अतएव रेखा pp द्वारा दर्शायी गयी अन्नो की कीमतें दी हुई होने पर बिन्दु R ही सम्भाव्य हल के क्षेत्र मे निम्नतम लागत की दशा है अर्थात् अन्नो के दी हुई कीमत परिस्थिति मे बिन्दु R द्वारा दर्शाया गया अन्नो का सयोग ही अनुकूलतम आहार (optimum diet) है।

रेखाकृति 16 14 मे सम लागत रेखा pp' पर दृष्टिपात से यह मालूम होगा कि अन्न A की कीमत अन्न B की तुलना मे कम है। इसलिए अनुकूलतम आहार मे अन्न A की मात्रा अन्न B की तुलना मे काफी अधिक है। अब कल्पना कीजिए कि अन्न B की कीमत घट जाती है और अन्न A की कीमत बढ जाती है जिससे kk रेखा के समान ढाल की समान-लागत रेखाए प्राप्त होती है। रेखाकृति 16 14 से स्पष्ट है कि रेखा kk' द्वारा व्यक्त नयी कीमत परिस्थिति मे बिन्दु Q द्वारा प्रदर्शित दो अन्नो का सयोग अनुकूलतम आहार होगा जिसमे अब अन्न B की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक है।

एक महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय बात यह है कि सम लागत रेखा pp और परिणामत अनुकूलतम आहार R की स्थिति मे यदि अन्नो की कीमतो मे थोडा सा परिवर्तन होता है जिससे सम लागत वक्र मे थोडा-सा परिवर्तन हो जाता है परन्तु यह फिर भी R कोने को स्पर्श करती है तो अनुकूलतम आहार अपरिवर्तित रहेगा। दूसरे शब्दो मे, कीमतो म थोडा सा परिवर्तन होने पर भी रेखीय प्रायोजना का अनुकूलतम हल वही रहेगा। किन्तु यदि कीमतो मे अधिक परिवर्तन हो जाता है जैसे कि कीमत परिवर्तन से सम लागत वक्र का बदलकर PP से kk हो जाना है तो अनुकूलतम हल भी बदल जायेगा। यह भी ध्यान मे समझ लेना चाहिए कि यदि अन्नो की कीमतें ऐसी है कि सम लागत रेखा सीमा रेखा के QR भाग के साथ मिलती (Coincide) है तो आहार समस्या का कोई एक अनुकूलतम आहार नही होगा, बल्कि बिन्दु R अथवा बिन्दु Q अथवा अन्य बिन्दु जो QR भाग पर स्थित है, वे सभी अनुकूलतम आहार होंगे।

रेखीय प्रायोजना का महत्त्व
(Importance of Linear Programming)

रेखीय प्रायोजना का विचार अनेक दृष्टिकोणो से उत्पादन सिद्धात मे महत्त्वपूर्ण है जो निम्न प्रकार है।

1 रेखीय प्रायोजना द्वारा सीमान्त विश्लेषण की अनेक व्यावहारिक कठिनाइयो को दूर करके उत्पादन का अधिक विवेकपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। इसके अन्तर्गत हम विभिन्न उत्पादन के साधनो की सीमान्त उत्पादकता आदि का ज्ञान नही प्राप्त करना पडता है। उपलब्ध साधनो की सीमित

मात्रा के आधार पर युगपत समीकरणों (simultaneous equations) द्वारा न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिए प्रयोग किये जाने वाले साधनों (inputs quantity) की मात्रा का निर्धारण हो जाता है।

2 रेखीय प्रायोजना विश्लेषण में गणित का विस्तृत प्रयोग किया जाता है जिसके कारण उत्पादन-निर्णयों में अपेक्षाकृत अधिक यथार्थता (exactness) आ जाती है।

3 रेखीय प्रायोजना तकनीक यातायात लागत (Transport Cost), आहार की लागत तथा व्यावसायिक जगत् में अनेक वस्तुओं की उत्पादन लागत को न्यूनतम करने में प्रयुक्त की जाती है।

4 अनेक सम्भाव्य हल में से एक अनुकूलतम हल का चुनाव फर्म साधनों के मूल्यानुपातों के आधार पर कर लेती है। साधनों के मूल्यों के आँकड़े बाजार से सरलतापूर्वक उपलब्ध होते हैं।

उपर्युक्त दृष्टिकोणों से रेखीय प्रायोजना तकनीक परम्परागत उत्पादन सिद्धान्त पर निश्चित रूप से एक सुधार है।

रेखीय प्रायोजना की आलोचनाएँ
(Criticisms of Linear Programming)

रेखीय प्रायोजना यद्यपि परम्परागत उत्पादन सिद्धान्त पर एक सुधार है किन्तु यह परिसीमाओं से स्वतन्त्र नहीं है जिसके कारण इस तकनीक की आलोचनाएँ की जाती हैं जो निम्न हैं

1 रेखीय प्रायोजना विश्लेषण में अनेक युगपत् समीकरणों को हल करने के लिए उच्च स्तर के गणित के ज्ञान की आवश्यकता होती है जो एक सामान्य व्यवसायी अथवा व्यक्ति को ज्ञात नहीं होती है। अत इसका व्यावहारिक महत्व उस सीमा तक कम हो जाता है।

2 रेखीय प्रायोजना की रेखीयता की मान्यता (Linearity Assumption) भी अवास्तविक है। इस मान्यता का अर्थ साधन अनुपात स्थिरता (Fixity of Factor Proportions) से होता है। इसके अतिरिक्त, साधन तथा उत्पादन, उत्पादन तथा कुल लागत एवं उत्पादन तथा कुल आय के सम्बन्ध को भी रेखीय माना गया है, *जिसका अभिप्राय स्थिर पैमाने के* प्रतिफल (Constant Returns to Scale), वस्तु तथा साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति से होता है जिसका व्यावहारिक महत्व बहुत ही कम है।

3 रेखीय प्रायोजना के अन्तर्गत एक ही प्रक्रिया से उत्पादन में वृद्धि के लिए सभी साधनों को एक निश्चित गुणांक से बढ़ाना आवश्यक है किन्तु अनेक वस्तुओं का उत्पादन एक अथवा दो साधनों की मात्रा में ही वृद्धि करके कुछ सीमा तक बढ़ाया जा सकता है अर्थात् साधन अनुपात परिवर्तित करके भी कुछ सीमा तक उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है।

उपर्युक्त दृष्टिकोणों से रेखीय प्रायोजना विश्लेषण की आलोचना की जाती है किन्तु एक फर्म उच्च-स्तरीय गणितज्ञ को नियुक्त करके अपने अनुकूलतम की समस्या (Problem of Optimisation) को हल कर सकती है। इसी प्रकार स्थिर साधन अनुपात तथा उत्पादन एवं कुल लागत या कुल आय के रेखीय सम्बन्धों की कमी को विभिन्न गणितीय विधियों द्वारा दूर किया जा सकता है।

गैर-रेखीय प्रायोजना (Non linear Programming) तकनीक का विकास उपर्युक्त कमी को दूर करने की दिशा में ही प्रयत्न है।

अत "रेखीय प्रायोजना प्रतिबन्धों के अन्तर्गत चरों के अधिकतमकरण तथा न्यूनतमकरण की समस्या के हल के लिए गणितीय विश्लेषण की एक विधि है।"[1]

---

1. 'Linear Programming is a method of mathematical analysis for the solution of problem of maximisation and minimisation of variables subject to constraints".—D S Watson

17

आगत-निर्गत विश्लेषण
(INPUT-OUTPUT ANALYSIS)

आगत-निर्गत विश्लेषण का विचार 18वीं शताब्दी मे ही एक भिन्न शब्द Tableau Economique के नाम से Dr. Quesnay ने दिया था जिन्होंने उसके माध्यम से उत्पादक वर्ग (कृषक) द्वारा उत्पादित शुद्ध उत्पादन (Net Product) के स्वामी वर्ग (landlords) तथा अनुत्पादक वर्ग (Sterile class) मे परिभ्रमण की व्याख्या की थी। इस प्रकार केने ने समाज के विभिन्न वर्गों की पारस्परिक निर्भरता की व्याख्या की थी। इसके पश्चात 19वीं शताब्दी मे लिओ वालरस (Leon Walras) ने सामान्य सन्तुलन विश्लेषण (General Equilibrium Analysis) के विचार द्वारा अर्थव्यवस्था के उपभोग, उत्पादन तथा वितरण क्षेत्र की पारस्परिक निर्भरता की व्याख्या की।

इसके पश्चात् 1920 ई० के आस-पास रूस में राष्ट्रीय आर्थिक सन्तुलन सम्बन्धी विचार (Concepts of National Economic Balance) उत्पन्न हुए जो वालरस के विचारों पर आधारित थे। वास्तव मे आधुनिक रूप मे आगत-निर्गत विश्लेषण का विचार रूस के राष्ट्रीय आर्थिक सतुलन के विचार पर आधारित प्रतीत होता है।

आधुनिक आगत-निर्गत विश्लेषण का विचार W. W. Leontief ने 1951 ई० मे '*The Structure of American Economy*' नामक पुस्तक मे दिया जिसके अन्तर्गत उन्होने अमेरिकन अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रो की पारस्परिक निर्भरता की व्याख्या की। Leontief के इस महत्वपूर्ण योगदान के लिए उन्हें 1973 का अर्थशास्त्र का नोबल पुरस्कार मिल चुका है। आगत-निर्गत विश्लेषण "विकसित देशों के आर्थिक पूर्वानुमान के लिए आर्थिक नीति निर्माण करने तथा विकासशील देशो मे आर्थिक आयोजन (प्रायोजना) मे महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करता है।[1]"

आगत-निर्गत विश्लेषण का अर्थ
(Meaning of Input-Output Analysis)

आगत-निर्गत विश्लेषण एक ऐसी विधि है जिसके द्वारा व्याख्या की जाती है कि एक उद्योग अर्थव्यवस्था के अन्य अनेक उद्योगो द्वारा उत्पादित वस्तुओ का प्रयोग करके उत्पादन करता है तथा किस प्रकार किसी उद्योग का कुल उत्पादन अन्य अनेक उद्योगों में

---

1. "It plays an important part in preparing an economic policy for economic forecasting in developed countries and for economic planning (programming) in developing countries."
—J. K. Mehta & Mahesh Chand
A Guide to Modern Economics

प्रवाहित होता है। इस प्रकार विभिन्न उद्योग उत्पादन मे निरन्तरता बनाये रखने के लिए एक दूसरे पर निर्भर (mutually interdependent) रहते हैं। इसी कारण इस विश्लेषण को 'अन्तरउद्योग विश्लेषण' (Inter industry Analysis) का भी नाम दिया जाता है। इस प्रकार विभिन्न उद्योगो के निर्मित पदार्थ एक दूसरे उद्योग के साधन (inputs) बन जाते हैं।

इस प्रकार "आगत-निर्गत विश्लेषण उत्पादन के अनुभवाश्रित (empirical) विश्लेषण मे सामान्य सन्तुलन तत्वों को सम्मिलित करने के प्रयत्न को दिया जाने वाला नाम है।"[1]

किसी वस्तु के उत्पादन मे जो कुछ प्रयुक्त होता है, आगत कहलाता है (Whatever is used up in the production of commodity, is called input) तथा जो कुछ उत्पादित किया जाता है, निर्गत कहलाता है (Whatever is produced, is called output)।

आगत निर्गत विश्लेषण आगत तथा निर्गत की पारस्परिक निर्भरता की व्याख्या है।

प्रमुख लक्षण (Main Features)

आगत-निर्गत विश्लेषण के तीन प्रमुख लक्षण होते हैं, जो निम्न प्रकार हैं

1 आगत निर्गत विश्लेषण का सम्बन्ध केवल उत्पादन से होता है। यह माँग सिद्धान्त से पूर्णतया स्वतन्त्र रहता है अर्थात् उपभोक्ता के व्यवहार के सिद्धान्त की इस विश्लेषण मे कोई भूमिका नही होती है। इस प्रकार यह समस्या आवश्यक रूप से तकनीकी (technological) है। यह विश्लेषण प्राप्त साधनों की मात्रा तथा तकनीकी ज्ञान के स्तर के दिये होने पर प्रयुक्त होने वाले आगतों की मात्रा तथा उनके परिणामस्वरूप सम्भव निर्गत की मात्रा का निर्धारण करता है।

[1] "Input output analysis is the name given to the attempt to take account of general equilibrium phenomena in the empirical analysis of production" —W J Baumol

2 आगत-निर्गत विश्लेषण केवल अनुभवाश्रित तथ्यों पर आधारित है अर्थात् विभिन्न आगतो एव निर्गतों की मात्रा के आँकडो के आधार पर ही उत्पादित की जाने वाली तथा साधनो के रूप मे प्रयुक्त होने वाली मात्राओं का निर्धारण किया जाता है। अनुभवाश्रित तत्त्व का निहित होना ही इस विश्लेषण को वालरस आदि के सामान्य सन्तुलन विश्लेषण से पृथक् करता है।

3 आगत निर्गत विश्लेषण सामान्य सन्तुलन की धारणा पर आधारित है अत यह उन विभिन्न उद्योगो तथा आर्थिक क्रियाओं की उत्पादन योजनाओं की पारस्परिक निर्भरता को स्वीकार करता है जो कि किसी अर्थव्यवस्था का निर्माण करते हैं। यह पारस्परिक निर्भरता इसलिए उत्पन्न होती है कि प्रत्येक उद्योग अन्य उद्योग या उद्योगो द्वारा उत्पादित माल का आगत के रूप मे प्रयोग करता है। उदाहरणार्थ कृषि के उत्पादन का एक अश उद्योग मे तथा उद्योग के उत्पादन का एक अश कृषि मे प्रयुक्त किया जाता है।

मान्यताएँ (Assumptions)

आगत-निर्गत विश्लेषण निम्न आधारभूत मान्यताओं पर आधारित है

1 उत्पादन के तकनीकी गुणाक अर्थात् साधन अनुपात (factor-proportions) पूर्णतया स्थिर रहते हैं। उत्पादन मे एक निश्चित प्रतिशत से परिवर्तन करने के लिए सभी आगतो मे ठीक उसी प्रतिशत से परिवर्तन करना पडता है। आगतो के मध्य तकनीकी प्रतिस्थापन नहीं किया जा सकता है तथा तकनीकी प्रगति शून्य है।

2 कोई फर्म दो या दो से अधिक वस्तुएँ एक साथ निर्मित नही करती हैं। प्रत्येक फर्म केवल एक समान पदार्थ का निर्माण करती है।

3 फर्म को उपलब्ध विभिन्न आगतों का स्थिर साधन अनुपात मे पूर्ण क्षमता से प्रयोग (Full capacity use) हो रहा है अर्थात् कोई भी उपलब्ध आगत अप्रयुक्त (unutilized) अथवा अल्पप्रयुक्त (underutilized) नही रहता है।

4 फर्म को उपलब्ध साधन अन्तिम वस्तुओं की माँग तथा आगतों एवं निर्गतों (outputs) की कीमतें स्थिर रहती है। उनकी कीमतों में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है।

5 सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था 'अन्तरउद्योग क्षेत्र' (Inter-industry Sector) तथा 'अन्तिम माँग क्षेत्र' (Final Demand Sector) में विभाजित है जिसको उपक्षेत्रों (sub sectors) में विभाजित किया जा सकता है।

6 यह विश्लेषण स्थिर पैमाने के प्रतिफल की मान्यता पर आधारित है जिसके अनुसार आगतों (inputs) में एक निश्चित परिवर्तन होने से निर्गत में भी ठीक उसी अनुपात से परिवर्तन होगा।

7 इस विश्लेषण के विभिन्न समघटक मुद्रा के रूप में व्यक्त किये जाते हैं, भौतिक मात्राओं के रूप में नहीं।

उपर्युक्त मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए आगत-निर्गत मॉडल (Input-Output Model) का निर्माण किया जा सकता है।

आगत-निर्गत प्रतिदर्श (Model) बनाने की विधि

आगत-निर्गत मॉडल का निर्माण करने में सर्वप्रथम अर्थव्यवस्था को उचित संख्या में क्षेत्रों (Sectors) में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र केवल एक सम-रूप पदार्थ उत्पादित करता है। वास्तव में विभिन्न निकटतम सम्बन्धित पदार्थों को एक संघटित पदार्थ (Composite product) मानकर आगत-निर्गत माडल बनाया जा सकता है।

क्षेत्रों का चुनाव तथा विभाजन करने के पश्चात् द्वितीय चरण उन समीकरणों के निर्माण करने का होता है जो कि प्रत्येक क्षेत्र में आगतों को अपने पदार्थ के निर्गत (output) तथा प्रत्येक क्षेत्र के निर्गत को अन्य क्षेत्रों में आगत, जो कि उस क्षेत्र में निर्गत का प्रयोग करते है, से सम्बद्ध करते है। इस प्रकार उपभोग अथवा पूँजी में वृद्धि के लिए उपलब्ध अन्तिम निर्गत की मात्रा निर्धारित की जाती है।

आवश्यक समीकरण तथा उनके गुणाक आँकड़ो के आधार पर निर्मित किये जाते हैं। इन समीकरणों के आधार प्रत्येक क्षेत्र के उत्पादन पूर्णतया एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं। स्थिर पैमाने के प्रतिफल की मान्यता के कारण आगतों तथा निर्गत में रेखीय सबंध होता है तथा प्रत्येक क्षेत्र के उत्पादन के लिए एक समीकरण होता है जो अपने निर्गत को अन्य क्षेत्रों के निर्गतों से सम्बद्ध करता है अत अज्ञात राशियों (unknown) की संख्या समीकरणों की संख्या के बराबर होगी जिसके द्वारा युगपत् समीकरणों (Simultaneous Equations) को हल करके अद्वितीय गणितीय हल (Unique Mathematical Solution) प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विधि से आगत-निर्गत मॉडल का निर्माण तथा उसका हल प्राप्त किया जा सकता है।

स्थैतिक आगत-निर्गत विश्लेषण (Static Input Output Analysis)

अब हम सर्वप्रथम स्थैतिक आगत-निर्गत मॉडल का विश्लेषण करेंगे। अत निर्गत के विभिन्न उद्योगों तथा अन्तिम माँग मे प्रवाह (flow of output in various industries and final demand) तथा निर्गत के लिए प्रयुक्त होने वाले विभिन्न आगतों की आवश्यकता (Input requirements for output) को प्रदर्शित करने वाली आगत-निर्गत तालिका (Input output Table) जिसे 'लेन-देन मैट्रिक्स' (Transaction Matrix) कहते हैं, के विषय मे पूर्वज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

निम्न 'लेन देन मैट्रिक्स' आगतो की आवश्यकता तथा निर्गत के प्रवाह को प्रदर्शित करता है।

आगे की तालिका को यदि हम क्षैतिज (Horizontal) रूप मे देखें तो X_1, X_2 तथा X_n के निर्गत का X_1, X_2, X_n तथा D मे प्रवाह ज्ञात होता है। X_1 का एक अश X_{11} स्वयं X_1 मे, एक अश X_{12}, उद्योग X_2 मे, एक अश X_{1n} उद्योग n मे तथा शेष अन्तिम माँग D_1 मे प्रवाहित होता है। इसी प्रकार X_2 का एक अश X_1 मे, एक अश X_2 मे ही, एक अश X_n मे तथा शेष अश D_2 मे प्रयुक्त होता है। तथा X_n का एक अश X_1 मे, एक अश X_2 मे तथा एक अश स्वयं X_n मे तथा शेष अश D_n मे प्रयुक्त होता है।

तालिका 17 1 'आगत निर्गत तालिका' या 'लेन देन मैट्रिक्स'
(Input-Output' Table or Transaction Matrix)

		User of Output			
		Inter Industry Sector			Final Demand Sector
	Total	X_1	X_2	X_n	D
Producer of Input	X_1	X_{11}	X_{21}	X_{1n}	D_1
	X_2	X_{21}	X_{22}	X_{2n}	D_2
	X_n	X_{n1}	X_{n2}	X_{nn}	D_n

अर्थात $X_1 = X_{11} + X_{12} + \quad X_{1n} + D_1$

$$X_2 = X_{21} + X_{22} + \quad X_{2n} + D_2$$

$$X_n = X_{n1} + X_{n2} + \quad X_{nn} + D_n$$

इन समीकरणों को Leontief ने Balance Equation कहा है जो किसी उद्योग के निगत का विभिन्न उद्योगो म प्रवाह तथा अन्तिम माँग में प्रवाह की व्याख्या करते हैं तथा अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र के आन्तरिक स्थायित्व (internal stability) को व्यक्त करते हैं।

इसी प्रकार यदि उपयुक्त तालिका को लम्बवत् (vertically) देखें तो वे किसी उद्योग द्वारा उत्पादित की जाने वाली वस्तु के उत्पादन के लिए आगतो की आवश्यकता (inputs requirement) को व्यक्त करते हैं।

X_1 उद्योग अपनी वस्तु के निर्माण म एक अंश स्वय का उत्पादन (X_{11}) एक अश X_2 का उत्पादन (X_{21}) तथा एक अश X_n का उत्पादन (X_{n1}) प्रयुक्त करते हैं और उनके द्वारा अन्तरउद्योग माँग तथा अंतिम माँग की पूर्ति करता है।

X_2 उद्योग अपनी उत्पादन प्रक्रिया म एक अश X_1 का उत्पादन एक अश स्वय का तथा एक अश X_n उद्योग का उत्पादन प्रयुक्त करता है। इसी प्रकार X_n उद्योग भी अपनी उत्पादन प्रक्रिया म एक अश X_1 उद्योग का एक अश X_2 उद्योग का तथा एक अश स्वय का उत्पादन प्रयुक्त करके अन्तरउद्योग तथा अन्तिम माँग की पूर्ति करता है।

समीकरण के रूप मे—

$$X_1 = f_1(x_{11} \; x_{21} \quad x_{n1}) \qquad I$$

$$X_2 = f_2(x_{12} \; x_{22} \quad x_{n2}) \qquad II$$

$$X_n = f_n(x_{1n} \, x_{2n} \quad x_{nn}) \qquad III$$

इन समीकरणो को ही Leontief ने सरचनात्मक समीकरण (Structural Equation) कहा है जो X_1 X_2 X_n उद्योगो की सरचना की व्याख्या करते हैं।

अब हम लेन-देन मैट्रिक्स (Transaction Matrix) के कुछ कल्पित मूल्यो क आधार पर आगत निगत विश्लेषण की व्याख्या करेंगे। उन मूल्यो को आगे तालिका म प्रदर्शित किया गया है।

आगत-निर्गत तालिका 17.2
(Input Output Table 17.2)

करोड़ रुपये में

	निर्गतो का प्रयोक्ता (User of Outputs)			
आगतों के उत्पादक (Producer of Inputs)	कृषि	उद्योग	अन्तिम माँग	कुल उत्पादन
कृषि	75	125	100	300
उद्योग	100	150	250	500
घरेलू सेवा	125	75	0	200
योगफल	300	350	350	1000

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है कि कृषि के कुल 300 रु० के उत्पादन का 75 करोड़ स्वयं कृषि मे, 125 करोड़ उद्योग मे तथा 100 करोड़ अन्तिम माँग मे प्रयुक्त होता है।

उद्योग के कुल 500 करोड़ रु० मूल्य के उत्पादन का 100 करोड़ कृषि मे, 150 करोड़ उद्योग मे तथा शेष 250 करोड़ अन्तिम माँग मे प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार घरेलू सेवाओ के कुल 200 करोड़ रु० मूल्य का 125 करोड़ कृषि तथा 75 करोड़ उद्योग मे प्रयुक्त हो रहा है। अत क्षैतिज रूप मे इस तालिका को देखने पर उत्पादन या निर्गत का विभिन्न क्षेत्रो मे प्रवाह ज्ञात होता है।

इसी प्रकार यदि इस तालिका को लम्बवत् देखें तो स्पष्ट होता है कि कृषि अपने उत्पादन मे 75 करोड़ रु० कृषि सबधी, 100 करोड़ रु० औद्योगिक तथा 125 करोड़ रु० मूल्य की घरेलू सेवाओ का प्रयोग करती है। उद्योग अपने कुल उत्पादन मे 125 करोड़ रुपये कृषि सबधी, 150 करोड़ औद्योगिक तथा 75 करोड़ रुपये के मूल्य की घरेलू सेवाओ का प्रयोग करता है। इस प्रकार विभिन्न कॉलम (columns) आगतो की आवश्यकता को व्यक्त करते हैं।

उपर्युक्त तालिका मे आगत तथा निर्गत के निरपेक्ष मूल्यो को व्यक्त किया गया है जिनके आधार पर ही किसी उद्योग द्वारा किसी वस्तु के उत्पादन मे प्रयुक्त किये जाने वाले आगतो के सापेक्ष मूल्य (Relative Values) जिन्हें आगत गुणाक (input coefficients) कहते हैं, ज्ञात किये जा सकते हैं। आगत गुणाँक को निम्न सूत्र द्वारा ज्ञात किया जा सकता है।

$$a_{1n} = \frac{X_{1n}}{X_n} \quad \text{or} \quad a_{1n} X_n = X_{1n}$$

जहाँ पर X_{1n}, X_1 उद्योग से X_n उद्योग को प्रवाह तथा X_n उद्योग n का कुल उत्पादन तथा a_{1n} आगत गुणाक व्यक्त करता है। उपर्युक्त समीकरण

$X_{1n}=a_{1n} X_n$ को संरचनात्मक समीकरण कहते है। इसी प्रकार विभिन्न उद्योगो के लिए अनेक आगत गुणांक ज्ञात किये जा सकते है जो अर्थव्यवस्था की तकनीकी स्थिति की व्याख्या करते है। विभिन्न आगत गुणांको को एक तालिका मे रखने से आगत गुणांक तालिका (Input Coefficient Table) ज्ञात हो जाती है।

आगत गुणांक तालिका 17 3
(Input Coefficient Table)

निर्गत के प्रयोक्ता (User of Output)

आगतो के उत्पादक		कृषि	उद्योग
	कृषि	25	25
	उद्योग	33	30
	घरेलू सेवा	·42	·15

उपर्युक्त आगत गुणांको को तालिका 17 2 के मूल्यो के आधार पर परिगणित (calculated) किया गया है जिसे साधारण रूप मे प्रथम कालम के मूल्यो को प्रथम पंक्ति (row) के योग से विभाजित करके प्राप्त किया गया है। इसी प्रकार द्वितीय तथा तृतीय कालम (column) के मूल्यो को क्रमश द्वितीय तथा तृतीय पंक्ति के योग से विभाजित करके अन्य आगत गुणांको को प्राप्त किया गया है।

जिससे स्पष्ट होता है कि कृषि में 1 रु० के मूल्य की वस्तु उत्पादित करने मे 25 रु० मूल्य का आगत स्वयं के उत्पादन से (बीज, भोजन आदि के रूप मे), 33 रु० मूल्य का आगत उद्योग के उत्पादन से (कृषि सबधी यन्त्र आदि के रूप मे) तथा 42 रु० मूल्य का आगत घरेलू सेवाओ से (कृषि सम्बन्धी श्रम आदि के रूप मे) प्रयुक्त करता है और इस प्रकार अन्तरउद्योग तथा अन्तिम माँग की पूर्ति करता है।

इसी प्रकार उद्योग 1 रु० के मूल्य का उत्पादन करने मे 25 रु० मूल्य का कृषि सम्बन्धी, 30 रु० मूल्य का स्वय का उत्पादन तथा ·15 रु० मूल्य की घरेलू सेवाओ तथा शेष अन्य आगतो (30 रु०) का प्रयोग करके उत्पादन करता है।

आगत-निर्गत का त्रिक्षेत्रीय मॉडल (A Three-Sector Model of Input-Output)

माना कि एक ऐसी अर्थव्यवस्था है जिसमे 3 प्रकार की वस्तुएँ तथा सेवाएँ उत्पादित की जाती हैं जिनके आगत गुणांक आगे तालिका मे दिये गये हैं। प्रत्येक क्षेत्र दूसरे क्षेत्र के आगत का प्रयोग करता है। यहाँ यह भी मान लिया गया है कि किसी प्रकार अन्तिम उपभोग के आँकड़े ज्ञात कर लिए जाते हैं जिन्हे भी तालिका मे दिया गया है। समस्या है कि 'अन्तर-उद्योग माँग' तथा 'अन्तिम माँग' की पूर्ति के लिए तीनो वस्तुओ तथा सेवाओ की कितनी मात्रा का उत्पादन किया जाय।

आगे की तालिका मे आगत गुणांक तथा कृषि, उद्योग एव यातायात सेवाओ की अन्तिम माँग क्रमश 50 करोड रु०, 100 करोड रु० तथा 25 करोड रु० मूल्य की दी हुई है।

माना कि कुल कृषि सबधी उत्पादन का मूल्य A, कुल औद्योगिक उत्पादन का मूल्य M तथा कुल यातायात सेवाओ का मूल्य T से व्यक्त है।

अत, कृषि म कृषि उत्पादन की माँग $0\,1A$ तथा उद्योग मे कृषि उत्पादन की माँग $0\,2M$ तथा यातायात सेवाओ मे कृषि के उत्पादन की माँग $0\,2T$ मूल्य की तथा 50 करोड रु० मूल्य की अतिरिक्त अन्तिम माँग होगी। अत

$$A=0\,1A+0\,2M+0\,2T+50 \text{ crores} \quad ..I$$

अर्थात् अन्तरउद्योग क्षेत्र तथा अन्तिम माँग को पूरा करने के लिए कुल कृषि उत्पादन का मूल्य कृषि, उद्योग, यातायात सेवा मे माँगे जाने वाले कृषि पदार्थ के मूल्य तथा 50 करोड रु० के योग के बराबर होना चाहिए। इसी प्रकार

तालिका 17.4 : आगत-निर्गत का त्रिक्षेत्रीय मॉडल

निर्गत के प्रयोक्ता

आगतों के उत्पादक ↓ / →	कृषि (A)	उद्योग (M)	यातायात (T)	अंतिम माँग
कृषि (A)	0.1	0.2	0.2	50 करोड़ रु०
उद्योग (M)	0.2	0.3	0.2	100 करोड़ रु०
यातायात (T)	0.2	0.2	0.2	25 करोड़ रु०
श्रम	0.5	0.3	0.4	—
योगफल	1.0	1.0	1.0	—

$$M = 0.2A + 0.3M + 0.2T + 100 \text{ crores} \quad ..II$$

जो अन्तरउद्योग क्षेत्र तथा अन्तिम माँग की पूर्ति के लिए औद्योगिक उत्पादन के मूल्य की व्याख्या करता है। इसी प्रकार—

$$T = 0.2A + 0.2M + 0.2T + 25 \text{ crores} \quad ...III$$

जो विभिन्न उद्योगों तथा अन्तिम माँग की पूर्ति के लिए यातायात सेवाओं के मूल्य की व्याख्या करता है।

इस प्रकार हमें तीन युगपत् समीकरण प्राप्त हो जाते हैं। साथ ही तीन अज्ञात राशियाँ (Unknowns) है अत. उन्हें हल करके A, M, T का मूल्य ज्ञात किया जा सकता है।

यहाँ पर एक और तत्त्व महत्त्वपूर्ण है। वह यह कि कृषि, औद्योगिक वस्तुओं तथा यातायात सेवाओं का उत्पादन श्रम के बिना नहीं किया जा सकता है। विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में एक निश्चित मूल्य के श्रम की आवश्यकता होती है। तालिका 17.4 से यह भी स्पष्ट है कि 1 रु० मूल्य का कृषि संबंधी, औद्योगिक वस्तु तथा यातायात सेवा का उत्पादन करने के लिए क्रमशः 50 रु०, 30 रु० तथा 40 रु० मूल्य के श्रम की आवश्यकता होती है। अत A मूल्य का कृषि संबंधी उत्पादन प्राप्त करने के लिए $5A$, M मूल्य का औद्योगिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए $3M$ तथा T मूल्य की यातायात सेवाएँ उत्पादित करने के लिए $4T$ मूल्य के श्रम की आवश्यकता होगी। इस प्रकार तीनों उत्पादन क्रियाओं में कुल मिलाकर $5A + 3M + 4T$ मूल्य के श्रम की आवश्यकता होगी।

माना कि प्रति घण्टा श्रम की कीमत अर्थात् मजदूरी दर W है। अत $5A + 3M + 4T$ मूल्य व्यय करके कुल $\frac{5A + 3M + 4T}{W}$ श्रम घण्टों की आवश्यकता तीनों वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए होगी। यदि इन परिगणित (calculated) श्रम घण्टों की संख्या उपलब्ध श्रम घण्टों की संख्या से कम है तो विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के निर्धारित लक्ष्यों (targets) को प्राप्त किया जा सकता है।

यदि परिगणित श्रम घण्टो की सख्या, उपलब्ध श्रम घण्टो की सख्या से अधिक है तो कृषि, उद्योग तथा यातायात सेवाओ के उत्पादन के लक्ष्य प्राप्त नही किये जा सकेंगे। अत उत्पादन लक्ष्यो को कम करना होगा। यही आगत-निर्गत विश्लेषण का सारतत्त्व (core) है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि त्रिक्षेत्रीय आगत-निर्गत मॉडल (Three-Sector Input-Output Model) के समाधान मे 9 सख्याओ के विषय मे सांख्यिकीय सूचना (Statistical information) एकत्रित करनी पडती है। इसी प्रकार चार-क्षेत्रीय मॉडल के हल मे 16 सख्याओ के विषय मे सांख्यिकीय सूचना एकत्रित करनी होगी। अत एकत्रित की जाने वाली सांख्यिकीय सूचना की सख्या विचारगत उद्योगो की सख्या के वर्ग के रूप मे बढती जाती है। इसके साथ ही युगपत् समीकरणो (Simultaneous Equations) द्वारा परिगणन (Calculation) की समस्याएँ भी अपेक्षाकृत तेजी से बढ़ती जाती हैं।

यद्यपि 450 उद्योगो को सम्मिलित करते हुए आगत-निर्गत तालिकाएँ बनायी गयी हैं किन्तु अधिकांश आगत-निर्गत विश्लेषण मे बहुत सीमित सख्या मे उद्योगो को सम्मिलित किया गया है।

प्रावैगिक आगत-निर्गत मॉडल (Dynamic Input-Output Model)

W W Leontief के मौलिक आगत-निर्गत मॉडल मे अनेक प्रकार के सुधार किये जा चुके है। *प्रावैगिक आगत निर्गत मॉडल उनमे से एक है जो* वर्तमान तथा भूतकाल अथवा वर्तमान तथा भविष्य के उत्पादन के परिवर्तन को ध्यान मे रखता है जिसके द्वारा ही पूंजी निर्माण होता है। किसी वस्तु के वर्तमान उत्पादन को वर्तमान उपभोग, किसी अन्य वस्तु के उत्पादन के लिए आगत अथवा अर्थव्यवस्था की पूंजी की मात्रा मे वृद्धि के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। वर्तमान उत्पादन के प्रथम दो प्रयोगो की व्याख्या स्थैतिक आगत-निर्गत मॉडल (Static Input-Output Model) मे की जा चुकी है। यह केवल अन्तिम सभावना—पूंजी की मात्रा मे वृद्धि है जो आगत-निर्गत मॉडल को प्रावैगिक बना देती है।

अर्थशास्त्र के अन्तर्गत पूंजी धन का वह भाग होती है जो कि धन का और अधिक उत्पादन करने मे सहायक होती है। (Capital is that part of wealth which helps to produce more wealth)। यदि जिस वस्तु का उत्पादन किया जा रहा है वह कोई पूंजीगत वस्तु है जैसे कि किसी मशीन का कोई पुर्जा अथवा भवन निर्माण सामग्री है तो उसका विभिन्न वस्तुओ के उत्पादन के लिए आगतो के रूप मे प्रयोग के बाद कुछ शेष रह जाता है तो स्पष्ट है कि पुर्जे अथवा भवन निर्माण सामग्री के शेष भाग से उत्पादक क्रियाओ मे और अधिक तीव्रता लायी जा सकती है।

इसके अतिरिक्त, अन्य वस्तु जैसे कृषि वस्तुएँ अथवा औद्योगिक उपभोक्ता वस्तुएँ (industrial consumer goods) विभिन्न उद्योगो मे आगतो की आवश्यकता तथा 'अन्तिम माँग' की पूर्ति करने के पश्चात् शेष रह जाती हैं तो उनके द्वारा भविष्य मे उत्पादन करने तथा बिक्री करने मे कुशलता आ जाती है। उत्पादन मे निरन्तरता (continuity) बनाये रखने के लिए कच्चा माल तथा मध्यम (intermediate) वस्तुओ के भण्डार की नितान्त आवश्यकता होती है। इसी प्रकार कुशल बिक्री के लिए निर्मित वस्तुओ के भण्डारो की भी अत्यधिक आवश्यकता होती है। इस प्रकार वर्तमान उत्पादन का शेष भाग, जो कि वर्तमान आवश्यकताओ की पूर्ति के पश्चात् बच जाता है, भविष्य के उत्पादन के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। *यही तत्त्व वर्तमान तथा भूतकाल (अथवा वर्तमान तथा भविष्य)* मे सम्बन्ध स्थापित करता है जो प्रावैगिक माडल का महत्त्वपूर्ण लक्षण है।

हमने स्थैतिक आगत-निर्गत विश्लेषण मे जिन समीकरणो का प्रयोग ऊपर किया है उन्हीं के आधार पर प्रावैगिक मॉडल के गणितीय सम्बन्धो (Mathematical relationships) की व्याख्या की जा सकती है। प्रावैगिक आगत-निर्गत विश्लेषण के लिए दो प्रकार की गणितीय दशाओ की पूर्ति आवश्यक है।

1. वर्तमान उत्पादन अथवा निर्गत अन्तरउद्योग माँग, अन्तिम माँग तथा पूँजी की मात्रा मे वृद्धि या भंडार (inventory) के लिए माँग के लिए पर्याप्त होनी चाहिए। अतः स्थैतिक आगत-निर्गत मॉडल के तीनो समीकरण क्रमशः निम्न रूप ग्रहण कर लेते हैं।

$$A \geqslant 0\cdot1A+0\cdot2M+0\cdot2T+50 \text{ crores}+(C_{at}-C_{at-1})$$

$$M \geqslant 0\cdot2A+0\cdot3M+0\cdot2T+100 \text{ crores}+(C_{mt}-C_{mt-1})$$

$$\text{and } T \geqslant 0\cdot2A+0\cdot2M+0\cdot2T+25 \text{ crores}+(C_{tt}-C_{tt-1})$$

जहाँ पर A, M, T पूर्ववत् प्रदर्शित करते है तथा C_{at} तथा C_{at-1} वर्तमान वर्ष मे तथा पिछले वर्ष मे कृषि पदार्थ के रूप मे पूँजी की मात्रा, C_{mt} तथा C_{mt-1} क्रमश वर्तमान तथा पिछले वर्ष मे औद्योगिक पदार्थों के रूप मे पूँजी की मात्रा तथा C_{tt} एव C_{tt-1} क्रमश वर्तमान तथा पिछले वर्ष मे यातायात सेवाओ के रूप मे पूँजी की मात्रा को प्रदर्शित करते हैं।

साधारण शब्दो मे तीनो समीकरणो का अभिप्राय यह है कि कृषि पदार्थ के उत्पादन का मूल्य अन्तरउद्योग माँग + अन्तिम माँग + वर्तमान उत्पादन मे से कृषि पदार्थ के रूप मे पूँजी की मात्रा मे वृद्धि के योग के बराबर अथवा अधिक होना चाहिए।

इसी प्रकार दूसरा समीकरण यह बताता यह है कि औद्योगिक पदार्थ का कुल मूल्य अन्तरउद्योग माँग, अन्तिम माँग तथा वर्तमान उत्पादन मे से औद्योगिक पदार्थ के रूप मे पूँजी की मात्रा मे वृद्धि के योग के बराबर अथवा अधिक होना चाहिए।

इसी प्रकार तीसरा समीकरण यह बताता है कि यातायात सेवाओ के उत्पादन का मूल्य अन्तरउद्योग तथा अन्तिम माँग एव वर्तमान उत्पादन मे से यातायात सेवाओ के रूप मे पूँजी की मात्रा मे वृद्धि के योग के बराबर अथवा अधिक होना चाहिए।

2. पूँजी की मात्रा इतनी अधिक हो कि वह वर्तमान समय मे आयोजित निर्गत (*planned output*) उत्पादित करने के लिए पर्याप्त हो। वास्तव मे इसका निर्णय पूँजी उत्पादन अनुपात (capital output ratio) द्वारा किया जा सकता है जो यह बताता है कि एक रुपये के मूल्य की वस्तु उत्पादित करने के लिए कितने रुपये के मूल्य की पूँजी निवेश करनी होगी। यदि 1 रु० की वस्तु के लिए वर्तमान मे 5 रुपये की पूँजी निवेश करनी होती है तो पूँजी उत्पादन अनुपात 5 : 1 का होता है।

पहले के समीकरण मे यदि कृषि क्षेत्र मे पूँजी उत्पादन अनुपात 2 : 1, उद्योग क्षेत्र मे 5 : 1 तथा यातायात सेवाओ मे 4 : 1 का मान लिया जाय तो इस दशा (condition) के अनुसार

$$C_t \geqslant 2A+5M+4T$$

जिसका अर्थ है कि वर्तमान मे पूँजी की मात्रा कृषि, औद्योगिक तथा यातायात सेवाओ की वर्तमान मे आवश्यक मात्रा के मूल्य के उत्पादित करने के लिए आवश्यक पूँजी मूल्य के बराबर अथवा अधिक हो।

इस प्रकार प्रावैगिक आगत-निर्गत विश्लेषण की ये आधारभूत आवश्यकताएँ हैं। इन दशाओ के आधार पर न केवल वर्तमान उत्पादन की ही योजना बना सकते हैं वरन् भविष्य के उत्पादन के लिए भी योजना बनायी जा सकती है। यह मॉडल पूर्ण ध्यान रखता है कि भविष्य की योजनाओ की पूर्ति के लिए वर्तमान उत्पादन मे से क्या तथा कितना बचाया जाना चाहिए।

समीकरण $C_t > 2A+5M+4T$ की असमानता अतिरिक्त क्षमता (excess capacity) अथवा अति उत्पादन (overproduction) की स्थिति को व्यक्त करती है। इसके विभिन्न पदार्थों के रूप मे पूँजी की मात्रा तथा आगतो के रूप मे उनकी आवश्यकता मे उपर्युक्त प्रकार की असमानता हो सकती है।

उदाहरणार्थ यदि $C_{mt} > 2A+5M+4T$ तो इसका अर्थ है औद्योगिक पदार्थों के रूप मे उपलब्ध पूँजी का पूर्ण प्रयोग नही हो रहा है अतः इस क्षेत्र मे अतिरिक्त क्षमता है। इसका कारण औद्योगिक वस्तुओ की विभिन्न आगतो के लिए कम माँग अथवा उपभोग के लिए कम माँग हो सकती है। यह सम्भव है कि वर्तमान व्यवस्था मे औद्योगिक वस्तुएँ बहुत अधिक तथा कृषि

वस्तुएँ बहुत कम मात्रा मे उपलब्ध हैं। ऐसी परिस्थिति मे हम औद्योगिक तथा कृषि वस्तुओ के अन्य सयोगो का उत्पादन कर सकते ।

माना कि एक उत्पादन ढांचा ऐसा है जो अधिक मात्रा मे औद्योगिक तथा बहुत कम मात्रा मे कृषि वस्तुओ का उत्पादन करता है तथा दूसरा ढांचा ऐसा है कि वह अधिक मात्रा मे कृषि तथा बहुत कम मात्रा मे औद्योगिक वस्तुओ का उत्पादन कर सकता है। यदि प्रथम ढांचे द्वारा उत्पादन किया जाता है तो आधिक्य क्षमता की समस्या (Problem of excess capacity) और भी तीव्र हो जाएगी तथा यदि द्वितीय ढांचे का प्रयोग किया जाता है तो आधिक्य क्षमता की समस्या कम अथवा समाप्त हो जाएगी। इस प्रकार अर्थव्यवस्था मे अनेक उत्पादन ढांचे (Production patterns) इस बात पर आधारित होगे कि विभिन्न वस्तुओ की कितनी मात्रा पूंजी विनियोग मे रखने के लिये निर्धारित की जाती है।

इसका अभिप्राय यह है कि प्रावैगिक आगत-निर्गत मॉडल के हल द्वारा अन्तिम वस्तुओ के किसी संयोग के लिए निर्गत आवश्यकताओ (output requirements) के अद्वितीय सयोग को प्राप्त नही किया जा सकता है। अत. दीर्घकालीन आयोजन को केवल युगपत् समीकरणो के हल तक ही सीमित नही किया जा सकता वरन् कुछ अन्य तत्त्वो का भी ध्यान रखना होगा जैसा कि W. J. Baumol ने निम्न प्रकार व्यक्त किया है।

"उत्पादन लक्ष्य अनेक प्रकार के साधनो से प्राप्त किए जा सकते हैं और किसी प्रकार समाज को पूर्व कल्पना के रूप मे किसी प्रकार की अनुकूलतम गणना के आधार पर उनमे से खोज निकालना चाहिए।"[1]

इस प्रकार प्रावैगिक आगत-निर्गत विश्लेषण इस तथ्य को स्वीकार करता है कि कोई एक ही आगत सयोग (input combination) या स्थिर साधन अनुपात (Fixed Factor Proportion) नही है जिसके द्वारा उत्पादन लक्ष्यो को प्राप्त किया जा सके बल्कि अनेक आगत सयोगो से उत्पादन लक्ष्यो की प्राप्ति की जा सकती है। इस प्रकार यह विश्लेषण आगत-सयोग स्थिरता से दूर हट कर वास्तविकता को प्राप्त करने की दिशा मे एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न है। दीर्घकाल मे निश्चित रूप से साधन अनुपात (Factor-proportion) अर्थात् आगत-सयोग स्थिर नही रह सकते।

आगत-निर्गत विश्लेषण का महत्त्व (Importance of Input-Output Analysis)

आधुनिक युग मे अनेक आर्थिक समस्याओ विशेषकर उत्पादन की समस्याओं के हल के दृष्टिकोण से आगत-निर्गत विश्लेषण का बहुत महत्त्व है। निम्न दृष्टिकोणो से आगत-निर्गत विश्लेषण को एक महत्त्वपूर्ण विधि कहा जा सकता है।

1. आधुनिक युग मे अनेक देश आर्थिक आयोजन द्वारा आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने के लिए प्रयत्नशील हैं जिसके अन्तर्गत अनेक क्षेत्रो मे उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं। लक्ष्यो को निर्धारित करने के पश्चात् उन्हे प्राप्त करने के लिए आवश्यक आगतो की व्यवस्था की जाती है। लक्ष्यो का निर्धारण विभिन्न वस्तुओ की माँग के आँकड़ो के आधार पर होता है। आगत-निर्गत विश्लेषण द्वारा युगपत् समीकरणो के हल से यह सरलतापूर्वक ज्ञात किया जा सकता है कि यदि किसी अन्तिम वस्तु के उत्पादन मे एक निश्चित वृद्धि करनी है तो उसके निर्माण मे प्रयुक्त होने वाली अन्य आगतो की कितनी मात्रा मे आवश्यकता होगी। यदि देश मे उन आगतो की आवश्यक मात्रा उपलब्ध नही होती तो लक्ष्यो को कम करना आवश्यक हो जाता है।

आगत-निर्गत विश्लेषण क्षेत्रीय आयोजन (Regional Planning) मे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योकि इसके प्रयोग द्वारा क्षेत्र-विशेष के कुछ विशिष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति सरलतापूर्वक की जा सकती है।

1. "Production goals can be achieved by a variety of means, and somehow society must make up its mind among them, presumably on the basis of some sort of optimality computation". — W. J. Baumol

रोजगार की समस्या के समाधान में भी आगत-निर्गत विश्लेषण सहायक होता है क्योंकि विनियोग, रोजगार तथा उत्पादन में प्राय कोई निश्चित सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। विक्रय की समस्याओं (Marketing Problems) में भी इस विश्लेषण का विस्तृत रूप से प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार आर्थिक विकास की विभिन्न समस्याओं के समाधान में आगत-निर्गत विश्लेषण का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

2 आगत-निर्गत विश्लेषण द्वारा अर्थव्यवस्था सरचना के विषय में पूर्ण ज्ञान हो जाता है क्योंकि विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन में अन्य उद्योगों द्वारा उत्पादित निर्गत (output) को आगत (input) के रूप में प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार आगत निर्गत तालिका से एक उत्पादक वस्तु के प्रकार तथा मात्रा का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं क्योंकि विभिन्न उत्पादक अपने निर्गत को एक दूसरे को बेचते तथा खरीदते हैं। लेन-देन के कारण उत्पादकों को अन्य की तुलना में अपनी स्थिति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा अपनी स्थिति अपेक्षाकृत कमजोर होने पर उसमें सुधार करने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार आगत-निर्गत विश्लेषण एक उत्पादक की आर्थिक स्थिति को मजबूत करने में सहायक होता है।

3 आगत-निर्गत तालिका द्वारा लम्बी हड़ताल, युद्ध तथा व्यापार-चक्र की प्रतिक्रिया को ज्ञात किया जा सकता है क्योंकि इन परिस्थितियों के उत्पन्न होने से अर्थव्यवस्था के विभिन्न उद्योगों का उत्पादन प्रभावित होता है। लम्बी हड़ताल के कारण सामान्य उद्योगों का उत्पादन तथा उनका मूल्य कम हो जाता है। इसी प्रकार तेजी के समय में विभिन्न उद्योगों के उत्पादन तथा मूल्य में वृद्धि हो जाती है। अत इस विश्लेषण से इन परिस्थितियों की आर्थिक क्रियाओं पर प्रतिक्रिया ज्ञात की जा सकती है।

4. आगत निर्गत तालिका की सहायता से राष्ट्रीय आय लेखाकन किया जा सकता है क्योंकि इसमें विभिन्न उद्योगों के उत्पादन का मूल्य प्रदर्शित रहता है।

इस प्रकार आगत निर्गत मॉडल अनेक दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण विधि है। इसके महत्त्व को। Hurwicz ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है विश्लेषण का प्रकार अर्थशास्त्र के विज्ञान के विकास के लिए अत्यधिक मूल्य तथा महत्त्व का है और यह केवल स्वाभाविक है कि इसकी अध्ययन प्रणाली के तथा प्रयोज्यता (Applicability) के निश्चित पहलुओं के सम्बन्ध में मतभेद पाया जाय।'[1]

आगत-निर्गत विश्लेषण की आलोचनाएँ (Criticisms of Input Output Analysis)

उपर्युक्त दृष्टिकोणों में यद्यपि आगत निर्गत विश्लेषण एक महत्त्वपूर्ण विचार है किन्तु अनेक अवास्तविक मान्यताओं तथा कठिनाइयों के कारण इसकी आलोचनाएँ की जाती हैं जो निम्न हैं

1. सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के समस्त उद्योगों की आगत निर्गत तालिका का निर्माण नहीं किया जा सकता क्योंकि उद्योगों को विभिन्न वर्गों में रखने के लिये सांख्यिकीय सूचनाओं की आवश्यकता होती है तथा देश में उद्योगों की संख्या हजारों या लाखों में होती है। अत उनकी आगत निर्गत तालिका का निर्माण असम्भव है।

2 आगत-निर्गत तालिका के निर्माण के लिए क्षेत्रों का चुनाव तथा समीकरणों का बनाना एक कठिन समस्या है। इसके अतिरिक्त अनेक संख्या में युगपत् समीकरणों को हल करने के लिए उच्च स्तर के गणित के ज्ञान की आवश्यकता होती है जो एक सामान्य उत्पादक के पास नहीं होता।

3 इस विश्लेषण के आगतों तथा निर्गतों out-puts) के मध्य रेखीय सम्बन्ध (linear relations) की मान्यता, जिसका अभिप्राय स्थिर पैमाने के प्रतिफल

---

1 'The type of analysis is .... of tremendous value and importance to the development of the science of economics and it is only natural that there should be controversy concerning certain aspects of methodology and the domain of its applicability' —L. Hurwicz

से होता है, पूर्णतया अवास्तविक है। स्थिर पैमाने के प्रतिफल का अस्तित्व बहुत अल्पकालीन होता है।

4 यह विश्लेषण स्थिर उत्पादन गुणांक की मान्यता पर आधारित है जिसका अर्थ यह है कि विभिन्न आगतों के मध्य प्रतिस्थापन का अंश (Degree of Substitution) शून्य होना है। अल्पकाल में इस आलोचना का महत्व कम है किन्तु नवीन प्रकार के समीकरणों के बनाने में कुछ समय (2 या 3 वर्ष) लग सकता है जिस अवधि के अन्तर्गत न केवल उत्पादन के *गुणांक (production coefficients)* ही परिवर्तित हो जाते हैं वरन् उत्पादन की तकनीक (Technique of production) में परिवर्तन हो सकता है। अतः यह अधिक गम्भीर आलोचना है।

5 अपने मौलिक रूप में यह विश्लेषण स्थैतिक है किन्तु पूँजी की मात्रा में परिवर्तन के विचार को सम्मिलित करके कुछ सीमा तक इसकी स्थैतिक प्रकृति को कम कर दिया गया है। पूँजी की मात्रा में वृद्धि से उत्पादक शक्ति में वृद्धि हो जाती है। वास्तव में किसी एक क्षेत्र में विनियोग निर्गत पूँजी की क्षमता से अधिक नहीं हो सकता है।

6 समष्टीकरण (macromization) प्रक्रिया के कारण भी इस विश्लेषण की आलोचना की जाती है जिसके अन्तर्गत 450 क्षेत्रों तथा पदार्थों तक का विश्लेषण किया जाता है जिससे बहुत ही अपरिष्कृत (crude) निष्कर्ष प्राप्त होता है।

7 यह विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि कोई फर्म दो या अधिक वस्तुओं को एक साथ उत्पादित नहीं करती किन्तु वास्तविकता में अनेक फर्में एक साथ ही कई वस्तुओं का उत्पादन करती हैं।

8 यह विश्लेषण केवल उत्पादन से सम्बन्धित है, उपभोग से नहीं। इसके अतिरिक्त इसकी आधारशिला आँकड़े हैं जिनके एकत्रीकरण तथा सत्यता की जाँच की अनेक समस्याएँ होती हैं।

9 यह विश्लेषण पूर्ण क्षमता प्रयोग (Full Capacity use) *की मान्यता पर आधारित है जबकि* अनेक फर्मों में कुछ आरक्षित क्षमता (Reserve Capacity) होती है। इसके अतिरिक्त आगत-निर्गत का मुद्रा के रूप में ही व्यक्तीकरण भी उचित नहीं है।

इस प्रकार इस विश्लेषण की अनेक आलोचनाएँ की जाती हैं किन्तु उचित सतर्कता (Precaution) से उन्हें सरलतापूर्वक कम या समाप्त किया जा सकता है। अतः आगत-निर्गत विश्लेषण का वास्तव में आधुनिक *युग में व्यावहारिक महत्त्व है।*

भाग 4

पूर्ण प्रतियोगिता में कीमत-निर्धारण
(PRICING UNDER PERFECT COMPETITION)

18

फर्म व उद्योग का सन्तुलन : सामान्य विश्लेषण
(EQUILIBRIUM OF THE FIRM AND INDUSTRY : GENERAL ANALYSIS)

किसी भी वस्तु या सेवा की कीमत मांग और पूर्ति पर निर्भर होती है। पिछले अध्यायों में हमने मांग और पूर्ति को निर्धारित करने वाली शक्तियों का सविस्तार विवेचन किया है। आधुनिक कीमत सिद्धान्त में फर्म और उद्योग के सन्तुलन का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वस्तु की पूर्ति और कीमत उनके सन्तुलन द्वारा निश्चित होती है। इसलिए यह जरूरी है कि मार्केट के विभिन्न रूपों (पूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकार, एकाधिकारिक प्रतियोगिता) में कीमत निर्धारण का विश्लेषण करने से पूर्व फर्म और उद्योग के सन्तुलन की धारणाओं की व्याख्या की जाए। इस अध्याय में हम फर्म और सन्तुलन का सामान्य रूप से विश्लेषण करेंगे और विभिन्न बाजार ढाँचों (*market forms*) में फर्म और उद्योग के सन्तुलन की व्याख्या आगामी अध्यायों में की जायगी।

अधिकतम लाभ का नियम
(Principle of Profit Maximisation)

फर्म के सन्तुलन की व्याख्या करने में अर्थशास्त्री एक महत्त्वपूर्ण मान्यता (assumption) अपनाते हैं। वह मान्यता यह है कि फर्मों का मुख्य ध्येय अपने लाभ को अधिकतम करना होता है। लाभ से यहाँ हमारा अभिप्राय मुद्रा लाभ (money profit) से है। सब फर्में इस बात की चेष्टा करती हैं कि उनका मुद्रा लाभ अधिक से अधिक हो। इसलिए किसी फर्म का सन्तुलन उस उत्पादन मात्रा पर होगा जिस पर वह फर्म अधिकतम मुद्रा लाभ अर्जित कर रही होगी। जब एक बार वह फर्म ऐसी उत्पादन मात्रा को प्राप्त कर लेती है, तो उसे अपनी उत्पादन मात्रा को घटाने-बढ़ाने की इच्छा नहीं रहती, क्योंकि लाभ अधिकतम होने का यह मतलब है कि उत्पादन मात्रा घटाने-बढ़ाने से लाभ कम हो जाएगा, बढ़ नहीं सकता।

स्पष्ट है कि फर्म का लाभ उसकी लागत तथा आय पर निर्भर करता है। लाभ अधिकतम तब होगा जब कि फर्म की कुल आय (*total revenue*) और कुल लागत (total cost) में अन्तर अधिक से अधिक हो। अतः फर्म का सन्तुलन मालूम करने के लिये हमें उसकी आय और लागत की व्याख्या करनी आवश्यक

है। ये दो धारणाएँ (concepts) मानो हमारे उपकरण (tools) हैं जिनके बिना हम फर्म के सन्तुलन (firm's equilibrium) या उत्पादक के सन्तुलन (producer's equilibrium) का विश्लेषण नहीं कर सकते। फर्म की विभिन्न प्रकार की लागतों व लागत वक्रों का विवेचन हम पहले ही कर चुके हैं। अत फर्म के सन्तुलन की व्याख्या करने से पूर्व हम औसत आय (average revenue) और सीमान्त आय (marginal revenue) तथा उनकी मूल्यसापेक्षता (elasticity) के साथ सम्बन्ध का सविस्तार अध्ययन करेंगे।

बाजार-ढाँचों का वर्गीकरण
(Forms of Market Structure)

विभिन्न पदार्थों के मूल्य तथा उत्पादन का निर्धारण *बाजार-ढाँचे के उस प्रकार पर निर्भर करता है* जिसमें वे उत्पादित किये जाते हैं, बेचे जाते हैं तथा खरीदे जाते हैं। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न बाजार-ढाँचों का (अ) पूर्ण प्रतियोगिता अथवा शुद्ध प्रतियोगिता (ब) एकाधिकारिक प्रतियोगिता (स) अल्पाधिकार तथा (द) एकाधिकार में वर्गीकृत किया है।

बाजार के तीन रूप

एकाधिकारिक प्रतियोगिता, अल्पाधिकार तथा एकाधिकार सामान्यतया अपूर्ण प्रतियोगिता नामक सामान्य शीर्षक के अन्तर्गत समूहीकृत किये जाते हैं, क्योंकि बाजार के ये तीन रूप बाजार में प्रतियोगिता में *अपूर्णता के अंशों (degrees of imperfection)* के सम्बन्ध में भिन्न होते हैं। एकाधिकारिक प्रतियोगिता सबसे कम अपूर्ण तथा एकाधिकार सबसे अधिक अपूर्ण बाजार ढाँचे का रूप है। बाजार ढाँचों का वर्गीकरण करने का लोकप्रिय आधार निम्न दो महत्वपूर्ण तत्वों पर आधारित है (1) पदार्थ का उत्पादन करने वाली फर्मों की संख्या तथा (2) फर्मों द्वारा उत्पादित किये जाने वाले पदार्थ का स्वभाव अर्थात् क्या यह समरूप अथवा विभेदीकृत है। एक फर्म के पदार्थ की माँग की मूल्यसापेक्षता समरूप अथवा मिलते जुलते पदार्थ का उत्पादन करने वाली प्रतियोगी फर्मों की संख्या तथा एक फर्म के पदार्थ एवं प्रतिद्वन्द्वी फर्मों द्वारा उत्पादित किये जाने वाले अन्य पदार्थों के बीच सम्भव प्रतिस्थापन के अंश पर निर्भर करती है। अत विभिन्न बाजार श्रेणियों का एक भेदकारी लक्षण एक व्यक्तिगत फर्म द्वारा सामना किये जाने वाली माँग की मूल्यसापेक्षता का अंश है।

हम आगे *तालिका 18 1 में फर्मों की संख्या तथा* उनके द्वारा उत्पादित पदार्थ के स्वभाव पर आधारित बाजार के रूपों का वर्गीकरण प्रदर्शित करते हैं।

अब बाजार श्रेणी के प्रत्येक रूप की संक्षिप्त व्याख्या की जाएगी।

1 पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition)—जैसा कि आगे दी गयी तालिका से स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान कही जाती है जहाँ *अधिक संख्या में* उत्पादक (फर्में) समरूप पदार्थ का उत्पादन करते है। एक व्यक्तिगत फर्म जो अधिकतम उत्पादन कर सकती है वह उद्योग के पदार्थ की कुल माँग की तुलना में बहुत कम होता है। अत एक फर्म अपने पदार्थ *की पूर्ति में परिवर्तन करके कीमत को प्रभावित नहीं* कर सकती है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत अनेक फर्मों तथा समरूप पदार्थ होने से कोई भी व्यक्तिगत फर्म पदार्थ की कीमत को प्रभावित करने की दशा में नहीं होती है। अत बाजार में पदार्थ के *प्रचलित मूल्य* के स्तर पर इसका माँग वक्र क्षैतिज सरल रेखा (horizontal straight line) होगी अर्थात् अकेली फर्म के लिए माँग की मूल्यसापेक्षता अनन्त होगी।

श्रीमती जोन राबिन्सन इस प्रकार लिखती हैं, 'पूर्ण प्रतियोगिता तब प्रचलित होती है जबकि प्रत्येक *उत्पादक के उत्पादन के लिए माँग पूर्णतया लोचदार* होती है। इसका अर्थ है—प्रथम, विक्रेताओं की संख्या अधिक होती है जिससे किसी एक विक्रेता का उत्पादन वस्तु के कुल उत्पादन का बहुत थोड़ा अंश होता है तथा द्वितीय, सभी क्रेता, प्रतिद्वन्द्वी विक्रेताओं के बीच चुनाव करने की दृष्टि से समान होते हैं जिससे बाजार पूर्ण हो जाता है।" (Perfect competition prevails when the demand for the output of each producer is perfectly elastic This entails first, that the number of sellers is large, so

तालिका 18 1 . बाजार के रूपों का वर्गीकरण

बाजार ढांचे का रूप	फर्मों की सख्या	पदार्थ का स्वभाव	व्यक्तिगत फर्म के लिए माँग की कीमत सापेक्षता	कीमत पर नियन्त्रण का अंश
अ पूर्ण प्रतियोगिता	फर्मों की अधिक सख्या	समरूप पदार्थ	अनन्त	कुछ नही
ब अपूर्ण प्रतियोगिता	फर्मों की अधिक सख्या	विभेदीकृत पदार्थ (परन्तु ये एक-दूसरे के निकट के स्थानापन्न हैं)	अधिक	कुछ
I एकाधिकारिक प्रति-योगिता				
II शुद्ध अल्पाधिकार (पदार्थ विभेदीकरण-सहित अल्पाधिकार)	कुछ फर्में	समरूप पदार्थ	कम	कुछ
III विभेदीकृत अल्पाधि-कार (विभेदीकरण रहित अल्पाधिकार)	कुछ फर्में	विभेदीकृत पदार्थ (जो एक दूसरे के निकट के स्थाना-पन्न हैं)	कम	कुछ
स एकाधिकार	एक	निकट के स्थाना-पन्न रहित अद्वि-तीय पदार्थ	बहुत कम	महत्वपूर्ण

that the output of any one seller is negligibly small proportion of the total output of the commodity and second, that buyers are all alike in respect of their choice between rival sellers, so that the market is perfect "[1]

अनेक अर्थशास्त्री पूर्ण प्रतियोगिता' तथा 'शुद्ध प्रतियोगिता' का प्रयोग एक दूसरे के स्थान पर करते हैं। परन्तु ई० एच० चैम्बरलिन तथा एफ० एच० नाइट जैसे अर्थशास्त्री पूर्ण प्रतियोगिता तथा शुद्ध प्रतियोगिता के बीच भेद करते हैं जिसकी व्याख्या हम अगले अध्याय मे करेंगे।

1 Joan, Robinson, *The Economics of Imperfect Competition*, Macmillan & Co, London 1954, p 18 "Buyers being alike in respect of their choice between rival sellers" implies that product of various sellers are homogeneous from the viewpoint of consumers.

2 अपूर्ण प्रतियोगिता (Imperfect Competition)—अपूर्ण प्रतियोगिता एक महत्वपूर्ण बाजार श्रेणी है जिसमे फर्में व्यक्तिगत रूप से कम या अधिक अंश तक कीमत पर नियन्त्रण रखती हैं जो किसी स्थिति म विद्यमान अपूर्णता के अंश पर निर्भर करता है। किसी फर्म द्वारा पदार्थ की कीमत पर नियन्त्रण तथा उसके परिणामस्वरूप अपूर्ण प्रतियोगिता का अस्तित्व फर्मों की कमी अथवा पदार्थ विभेदीकरण के कारण हो सकता है। अत अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत अनेक उप-श्रेणियाँ होती हैं। अपूर्ण प्रतियोगिता की प्रथम महत्वपूर्ण उपश्रेणी एकाधिकारिक प्रतियोगिता है जिस पर प्रो० ई० एच० चैम्बरलिन ने अपने मौलिक विचारो को उत्तेजित करने वाले कार्य '*The Theory of Monopolistic Competition*' मे अधिक बल दिया। जैसा कि अब समझा जाता है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे फर्मों की अधिक सख्या तथा पदार्थ विभेदीकरण के लक्षण पाये जाते हैं। (Monopolistic Competition, as is now

understood is characterised by a large number of firms and product differentiation[1]) अर्थात् एकाधिकारिक प्रतियोगिता में अनेक संख्या में फर्में विभेदीकृत पदार्थों का उत्पादन करती है जो एक दूसरे के निकट के स्थानापन्न होते हैं। इसके परिणामस्वरूप एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक फर्म का माँग वक्र अधिक लोचदार होता है जो यह संकेत करता है कि इसमें फर्म कीमत पर कुछ नियन्त्रण रखती है।

अपूर्ण प्रतियोगिता की दूसरी उपश्रेणी पदार्थ विभेदीकरण रहित अल्पाधिकार है जोकि शुद्ध अल्पाधिकार' के नाम से भी जानी जाती है। इसके *अन्तर्गत समरूप पदार्थ का उत्पादन करने वाली* कुछ फर्मों के बीच प्रतियोगिता होती है। फर्मों की कमी सुनिश्चित करती है कि उनमें से प्रत्येक का पदार्थ की कीमत पर कुछ नियन्त्रण होगा तथा प्रत्येक फर्म का माँग वक्र नीचे की ओर गिरता हुआ होता है जो यह संकेत करता है कि प्रत्येक फर्म की माँग की मूल्यसापेक्षता अनन्त नहीं होगी।

अपूर्ण प्रतियोगिता की तीसरी उपश्रेणी पदार्थ विभेदीकरण सहित अल्पाधिकार है जो विभेदीकृत अल्पाधिकार भी कहलाता है। जैसा कि इसका नाम प्रदर्शित करता है, इसमें विभेदीकृत पदार्थ जो एक दूसरे के निकट के स्थानापन्न होते हैं का उत्पादन करने वाली कुछ फर्मों के बीच प्रतियोगिता का लक्षण पाया जाता है। पदार्थ विभेदीकरण सहित अल्पाधिकार के अन्तर्गत व्यक्तिगत फर्म का माँग वक्र नीचे की ओर गिरता हुआ होता है। अतः फर्में अपने व्यक्तिगत पदार्थ की कीमत पर नियन्त्रण रखती हैं। (The demand curve facing individual firms under oligopoly with product differentiation is downward sloping[2] and therefore firms would have control over the price of their individual products)

एकाधिकार (Monopoly)[3]—जैसा कि अब सामान्यतया समझा जाता है कि एकाधिकार से अर्थ *अकेले उत्पादक अथवा विक्रेता से होता है जो कि एक* पदार्थ का उत्पादन अथवा बिक्री कर रहा है जिसके निकट का स्थानापन्न पदार्थ नहीं है और इस प्रकार यह अपूर्ण प्रतियोगिता का एक चरम रूप है। चूंकि एकाधिकारी फर्म पदार्थ की पूर्ति पर एकमात्र नियन्त्रण रखती है जिसके केवल दूरवर्ती (remote) स्थानापन्न ही हो सकते हैं अतः इसके उत्पादन में विस्तार तथा संकुचन, पदार्थ की कीमत को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित

1 यह ध्यानपूर्वक लिखा जाना चाहिए कि ई. एच. चैम्बरलिन ने एक बाजार ढाँचे को जो एकाधिकार तथा प्रतियोगिता का सम्मिश्रण था एकाधिकारिक प्रतियोगिता कहा। एकाधिकार तथा प्रतियोगिता का सम्मिश्रण तब होता है यदि या तो कुछ फर्में समरूप अथवा विभेदीकृत पदार्थ उत्पादित करती होती हैं या अधिक संख्या में फर्में विभेदीकृत पदार्थ का उत्पादन करती होती हैं। पहली दशा विभेदीकरण सहित तथा विभेदीकरण रहित अल्पाधिकार की है तथा दूसरी अनेक फर्मों सहित एकाधिकारिक प्रतियोगिता की। इस प्रकार चैम्बरलिन की शब्दावली में एकाधिकारिक प्रतियोगिता का विचार अल्पाधिकार (विभेदीकरण रहित तथा विभेदीकरण सहित) तथा विभेदीकृत पदार्थ का उत्पादन करने वाली अधिक संख्या में फर्मों सहित एकाधिकारिक प्रतियोगिता दोनों का समावेश करता है। कुछ भी हो उच्चकोटि के आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त में एकाधिकारिक प्रतियोगिता शब्द का प्रयोग केवल बाद वाले अर्थ में होता है।

2 अल्पाधिकार के अन्तर्गत माँग वक्र का स्वभाव एक विवादग्रस्त विषय है। पदार्थ विभेदीकरण रहित अल्पाधिकार के कुछ प्रतिरूपों में यह मान लिया जाता है कि अल्पाधिकारी का माँग वक्र पूर्णतया लोचदार (क्षैतिज सरल रेखा) है। अल्पाधिकार का एक अन्य महत्वपूर्ण प्रतिरूप अल्पाधिकारी फर्म के लिए विकुंचित माँग वक्र (प्रचलित मूल्य पर विकुंचन सहित) मानता है।

3 एकाधिकार के लिए कभी कभी निरपेक्ष एकाधिकार शुद्ध एकाधिकार तथा पूर्ण एकाधिकार शब्द प्रयोग किये जाते हैं। इन सभी शब्दों का अर्थ समान होता है क्योंकि सभी एक पदार्थ का उत्पादन करने वाले अकेले उत्पादक अथवा विक्रेता को व्यक्त करते हैं जिसके निकट के स्थानापन्न नहीं हैं। परन्तु स्राफा (Sraffa) ने शुद्ध एकाधिकार शब्द का प्रयोग एक भिन्न अर्थ में किया। शुद्ध एकाधिकार से स्राफा का अर्थ था कि एक पदार्थ का अकेला विक्रेता इतना शक्तिशाली होता है कि वह समस्त उपभोक्ताओं की सम्पूर्ण आय को प्राप्त करने की स्थिति में होता है, उसके उत्पादन का स्तर चाहे जो भी हो। स्पष्ट रूप से इस प्रकार का शुद्ध अथवा निरपेक्ष एकाधिकार वास्तविक जगत् में नहीं हो सकता।

करेगा अर्थात् उत्पादन मे सकुचन कीमत मे वृद्धि तथा उत्पादन मे विस्तार कीमत मे कमी करेगा। अत. एकाधिकारी का माग वक्र नीचे की ओर गिरता हुआ होता है तथा जिसकी ढाल अत्यधिक होती है। इस प्रकार प्रो० एफ० मैक्लप के अनुसार, "तब एकाधिकारिक प्रतियोगिता निकटतर स्थानापन्नो तथा अधिक वास्तविक मांग वक्रो की दशाओ को समाविष्ट करेगी, जब कि एकाधिकार दूरवर्ती स्थानापन्नो (remote substitutes) तथा अपेक्षाकृत अधिक ढाल वाले मांग वक्रो की दशाओ को समाविष्ट करेगा।" ("Monopolistic competition would then comprise the cases of closer substitutes and more realistic demand curves, while monopoly would comprise those of remote substitutes and steeper demand curves")[1]

मांग की प्रति सापेक्षता (cross elasticity) का विचार राबर्ट ट्रिफिन[2] द्वारा फर्मों के बीच प्रतियोगिता की मात्रा तथा प्रकार मापने के लिए प्रयुक्त किया गया है और इसलिए बाजार ढांचे का वर्गीकरण करने के लिए भी प्रयुक्त किया गया है। 'पूर्ण प्रतियोगिता मे अकेली फर्म के पदार्थ की मांग की प्रति-सापेक्षता, शेष उद्योग की कीमत मे परिवर्तन की दृष्टि से अनन्त होगी।' (In perfect competition the cross elasticity of demand for product of a single firm with respect to a change in the price of the rest of the industry will be infinite) कहने का तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण उद्योग के पदार्थ की कीमत मे किसी निश्चित आनुपातिक कमी की तुलना मे अकेली फर्म के पदार्थ की मांग मे आनुपातिक कमी बहुत अधिक होगी। इसी प्रकार एकाधिकारिक 'समूह' मे निर्मित अन्य पदार्थों की कीमत मे परिवर्तन के कारण एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे अकेली फर्म के पदार्थ की मांग की प्रति-सापेक्षता बहुत अधिक होगी। अर्थव्यवस्था मे अन्य पदार्थों की कीमत मे कमी के कारण एकाधिकारी के पदार्थ की मांग की प्रति सापेक्षता बहुत कम होगी।"[3] नीचे हम विभिन्न बाजार श्रेणियो तथा उनमे पाई जाने वाली मांग की प्रति-सापेक्षता को एक तालिका के रूप मे प्रस्तुत करते हैं।

तालिका 18 2 : मांग की प्रति-सापेक्षता के आधार पर बाजार का वर्गीकरण

बाजार के रूप	मांग की प्रति सापेक्षता
1 पूर्ण प्रतियोगिता	प्रति सापेक्षता अनन्त है ($e_c = \infty$)
2 एकाधिकारिक प्रतियोगिता	प्रति-सापेक्षता (e_c) बहुत ऊँची है।
3 एकाधिकार	प्रति सापेक्षता (e_c) बहुत कम या शून्य है।

बाजार के रूपो का वर्गीकरण करने के माप के रूप मे प्रति-सापेक्षता का विचार बहुत अधिक अपर्याप्त है तथा कभी कभी असत्य निष्कर्षों की ओर ले जाता है। 'प्रति सापेक्षता के विचार के प्रति मूल विरोध यह है कि यह बाजार-ढांचे के दो मूल निर्धारकों, पदार्थों के बीच प्रतिस्थापन की निकटता अथवा दूरवर्तिता के अश तथा सम्बद्ध समूह अथवा उद्योग फर्मों की सख्या, की उपेक्षा करता है। प्रति-सापेक्षता का विचार उन दो तत्वों की उपेक्षा की ओर ले जाता है जो बाजार ढांचे को समझने के लिए आधारभूत हैं।'[4]

1 Fritz Machlup Monopoly and Competition : A classification of Market Positions, *American Economic Review*, September 1937 p 448

2 *Monopolistic Competition and General Equilibrium Theory*

3 Stonier and Hague, *A Textbook of Economic Theory*, 4th edition, 1972, p 244

4 M Olson and D Mcfarland "The Restoration of Pure Monopoly and the Concept of Industry" *Quarterly Journal of Economics*, Vol 76, (November 1962) pp 613 31

ई० एच० चैम्बरलिन, डब्ल्यू फेलनर, ई० एफ० बीच (Beach) तथा ए० जी० पापन्ड्रो जैसे अनेक अर्थशास्त्रियों[1] द्वारा दावा किया गया है कि किसी पूर्णतया प्रतियोगी फर्म की माँग की प्रति-सापेक्षता अनन्त होने के बजाय शून्य होती है। अब जैसा कि ऊपर कहा गया कि शुद्ध एकाधिकार के अन्तर्गत माँग की सापेक्षता भी शून्य होती है। इस प्रकार शुद्ध प्रतियोगिता तथा शुद्ध एकाधिकार की दो बाजार-दशाओं में प्रति-सापेक्षता समान पाई जाती है जो दो विपरीत चरम दशाएँ हैं। अत माँग की प्रति-सापेक्षता बाजार ढाँचे का बहुत असन्तोषजनक माप है। पूर्ण अथवा शुद्ध प्रतियोगिता वाली फर्म की माँग की प्रति-सापेक्षता शून्य होती है क्योंकि यह एक ऐसे पदार्थ का उत्पादन करती है जिसके प्रतियोगी उद्योग में अन्य फर्मों द्वारा अनेक समरूप स्थानापन्न उत्पादित किये जाते हैं। समरूप पदार्थ अर्थात् पूर्ण स्थानापन्न पदार्थों का उत्पादन करने वाली फर्मों की संख्या इतनी अधिक होती है कि उनमें से कोई भी उल्लेखनीय रूप से प्रभावित नहीं होगी जब एक फर्म अपनी कीमत अथवा उत्पादन में परिवर्तन करती है। यदि एक शुद्ध प्रतियोगिता वाली फर्म एकपक्षीय रूप से अपनी कीमत में वृद्धि का प्रयत्न करती है तो इसका उत्पादन अन्य फर्मों के समरूप पदार्थों द्वारा महत्त्वपूर्ण रूप से प्रतिस्थापित किया जायगा। परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अन्य अकेली फर्म कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं अनुभव करेगी क्योंकि इसमें फर्मों की संख्या बहुत अधिक होती है। प्रो० एम० ओल्सो तथा मक्फारलेण्ड ठीक ही लिखते हैं

"प्रति-सापेक्षता का गुणांक पदार्थों के बीच प्रतिस्थापन की दूरवर्तिता (remoteness) अथवा निकटता की सुस्पष्ट रूप से उपेक्षा करता है जब यह शुद्ध प्रतियोगिता तथा शुद्ध एकाधिकार का वर्गीकरण करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। एक एकाधिकारी तथा अन्य किसी फर्म के बीच माँग की प्रति-सापेक्षता प्रत्यक्ष रूप से शून्य होती है क्योंकि शुद्ध एकाधिकारी की कीमत अथवा उत्पादन अन्य किसी फर्म की कीमत अथवा उत्पादन द्वारा उल्लेखनीय रूप से प्रभावित नहीं होगा। इसी प्रकार शुद्ध प्रतियोगिता, जैसा कि अनेक पहले से लेखक संकेत कर चुके हैं, किसी शुद्ध प्रतियोगिता करने वाली फर्म i की किसी अन्य फर्म j के साथ प्रति सापेक्षता शून्य होगी। कम से कम तब तक जब तक कि सीमान्त लागतें बढ़ रही होती हैं जो कि शुद्ध प्रतियोगिता के लिए आवश्यक है। शुद्ध प्रतियोगिता में किसी फर्म i का उत्पादन q_i किसी फर्म j की कीमत p_j द्वारा महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित नहीं होगा। संक्षेप में प्रति सापेक्षता शून्य होती है। यहाँ तक कि यदि j फर्म अन्य फर्मों को बिक्री से वंचित करने के लिए अपनी कीमत में कमी कर देती है तो बढ़ती हुई सीमान्त लागतों के कारण यह कम कीमत पर माँग को सन्तुष्ट करने में असमर्थ होगी। अत i फर्म की बिक्री स्पष्ट रूप से प्रभावित नहीं होगी। परिभाषा के द्वारा शुद्ध प्रतियोगिता में कोई फर्म इतनी बड़ी नहीं होती कि किसी अन्य फर्म की बिक्री को स्पष्ट रूप से प्रभावित कर सके।"

अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बाजार के वर्गीकरण के साधन के रूप में माँग की प्रति सापेक्षता असन्तोषजनक है। (i) उद्योग में फर्मों की संख्या (ii) पदार्थ का स्वभाव (पदार्थों के बीच प्रतिस्थापना की निकटता अथवा दूरवर्तिता) पर आधारित बाजार के रूपों का वर्गीकरण जिसकी हम ऊपर व्याख्या कर चुके हैं, बिल्कुल पर्याप्त तथा संतोषजनक है।

औसत आय तथा सीमान्त आय की धारणाएँ (Concepts of Average and Marginal Revenue)

औसत आय (Average Revenue or AR)—किसी पदार्थ के उपभोक्ता द्वारा भुगतान की गयी

1 E H Chamberlin, *Towards a More General Theory of Value*, pp 79 81. William Fellner, *Competition Among the Few*, pp 50 54, E F Beach, Triffin's Classification of Market Positions, *Canadian Journal of Economics and Politics*, Feb 1941, pp 69 75 A G Papandreou, Market Structure and Monopoly Power, *American Economic Review*, September 1949 p p 883 97

कीमत उसके विक्रेता की आय होती है। विक्रेता अथवा उत्पादक द्वारा किसी वस्तु की बेची गयी मात्रा से कुल प्राप्त मुद्रा को कुल आय कहते है। यदि एक विक्रेता पदार्थ की 15 इकाइयो को बेचने से 150 रु० प्राप्त करता है तो उसकी कुल आय 150 रुपये होगी। औसत आय उत्पादन की प्रति इकाई से प्राप्त आय को कहते हैं। कुल आय को उत्पादित की गई कुल इकाइयो से विभाजित करके औसत आय ज्ञात की जा सकती है। अत

$$\text{औसत आय (AR)} = \frac{\text{कुल आय (TR)}}{\text{कुल उत्पादित तथा बेची गई मात्रा}}$$

उपर्युक्त उदाहरण मे जब पदार्थ की 15 इकाइयाँ बेचकर 150 रु० के बराबर कुल आय होती है तो औसत आय 150/15=10 रु० होगी। 10 रु० उत्पादन की प्रति इकाई आय है। अब प्रश्न यह है कि क्या औसत आय (average revenue) वस्तु की कीमत (price) से भिन्न होती है अथवा ये दोनो एक ही धारणाए है। यदि विक्रेता पदार्थ की विभिन्न इकाइयो को समान कीमत पर बेचता है तो उसकी औसत आय कीमत के समान ही होगी। परन्तु जब वह पदार्थ की विभिन्न इकाइयो को भिन्न भिन्न कीमतो पर बेचता है तो तब औसत आय कीमत के बराबर नही होगी। एक उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाएगी। कल्पना कीजिए कि एक विक्रेता पदार्थ की दो इकाइयाँ बेचता है, प्रत्येक को 10 रु० प्रति इकाई कीमत पर। विक्रेता की कुल आय 20 रु० होगी और औसत आय 20/2=10 रु० होगी। अत यहाँ पर औसत आय पदार्थ की कीमत के बराबर है। अब कल्पना कीजिए कि विक्रेता पदार्थ की दो इकाइयो को भिन्न-भिन्न कीमतो पर बेचता है, एक को 12 रु० पर और दूसरी को 10 रु० पर। पदार्थ की दो इकाइयो को बेचने से उसे कुल आय 22 रु० होगी और उसकी औसत आय 22/2=11 रु० होगी। अत इस दशा मे जब पदार्थ की दो इकाइयाँ भिन्न-भिन्न कीमतो पर बेची जा रही है तो औसत आय पदार्थ की कीमतो के बराबर नही है।

किन्तु वास्तविक जीवन मे एक विक्रेता द्वारा पदार्थ की विभिन्न इकाइयो को बाजार मे प्राय समान कीमत पर ही बेचा जाता है। इसलिए औसत आय कीमत के बराबर ही होती है। हाँ, इस विषय मे एक अपवाद है, वह यह है कि जब उपभोक्ता अपने पदार्थ की कीमत मे विभेदीकरण (discrimination) कर रहा होता है अर्थात् जब वह अपने पदार्थ को विभिन्न उपभोक्ताओ को भिन्न भिन्न कीमतो पर बेचता है तो तब उसकी औसत आय, कीमतो से भिन्न होगी। परन्तु वास्तविक जगत मे कीमत विभेदीकरण बहुत कम पाया जाता है, इसलिए सामान्यतया अर्थशास्त्र मे हम औसत आय और कीमत को एक मानकर चलते हैं। केवल उस स्थान पर दोनो मे अन्तर की आवश्यकता होती है जब विक्रेता द्वारा कीमत विभेदीकरण किये जाने की विवेचना की जा रही हो। चूंकि विक्रेता का माँग वक्र वस्तु की विभिन्न कीमतो पर क्रेताओ द्वारा खरीदी गई मात्राओं को व्यक्त करता है, इसलिए वह औसत आय अथवा कीमत को भी प्रकट करता है जो विक्रेता को वस्तु की विभिन्न मात्राओ पर प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि क्रेता द्वारा दी गई कीमत विक्रेता के लिए आय होती है। अत फर्म का औसत आय वक्र (average revenue curve) वास्तव मे उपभोक्ता का माँग वक्र (demand curve) ही होता है।

सीमान्त आय (Marginal Revenue or MR)

इसके विपरीत सीमान्त आय पदार्थ की एक अतिरिक्त इकाई से अर्जित निवल आय (net income) को कहते है। दूसरे शब्दो मे, सीमान्त आय का अभिप्राय वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई बेचने से कुल आय मे हुई वृद्धि से है। बीजगणित के शब्दो मे, सीमांत आय पदार्थ की $n-1$ इकाइयो के बजाय n इकाइयो के बेचने से कुल आय म हुई वृद्धि को कहते हैं। यदि उत्पादक 15 रु० प्रति इकाई की कीमत पर पदार्थ की 10 इकाइयाँ बेचता है तो उसे 150 रु० कुल आय प्राप्त होगी। अब यदि वह अपने पदार्थ की एक अतिरिक्त इकाई बेचता है अर्थात् जब वह उसकी 11 इकाइयाँ बेचता है तो कल्पना कीजिए कि पदार्थ की कीमत घट

कर 14 रु० प्रति इकाई हो जाती है। इसलिए उसे वस्तु की 11 इकाइयाँ बेचने से अब 154 रु० के बराबर कुल आय होगी। इसका अर्थ यह है कि पदार्थ की 11वी इकाई बेचने से उसकी कुल आय मे निवल वृद्धि (net increase) 4 रु० हुई है। अत 4 रु० यहा पर सीमान्त आय (MR) है।

कुल आय जब 10 इकाइयो को 15 रु० की कीमत पर बेचा जाता है

$$=10\times15=150 \text{ रु०}$$

कुल आय जब 11 इकाइयो को 14 रु० प्रति इकाई पर बेचा जाता है

$$=11\times14=154 \text{ रु०}$$

सीमान्त आय$=154-150=4$ रु०

सीमान्त आय की उपर्युक्त परिभाषा मे निवल (net) शब्द को ध्यान से समझना चाहिए। निवल शब्द उपर्युक्त परिभाषा मे जोडने से अभिप्राय यह है कि यह आवश्यक नही कि सीमान्त आय कीमत के बराबर हो। अब प्रश्न यह है कि हमारे उपर्युक्त उदाहरण मे 11वी इकाई से सीमान्त आय 14 रु० की कीमत के बराबर क्यो नही है जबकि 11वी इकाई भी 14 रु० की कीमत पर ही बेची गई है। इसका उत्तर यह है कि वस्तु की 10 इकाइयाँ जो पहले 15 रु० प्रति इकाई की दर से बिक रही थी, अब वे सभी घटी हुई कीमत 14 रु० प्रति इकाई की दर पर बेची जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि अब पहली 10 इकाइयो पर प्रति इकाई एक रुपये की हानि होगी और 10 इकाइयो पर कीमत के घटने से कुल हानि 10 रु० होगी। पहली 10 इकाइयो पर आय मे हानि इसलिए होती है क्योकि 11वीं इकाई के विक्रय से कीमत 15 रु० से घट कर 14 रु० हो गयी है। इसलिए 11वी इकाई द्वारा कुल आय मे निवल वृद्धि ज्ञात करने के लिए पहली इकाइयो पर 10 रु० की हुई हानि 11वी इकाई की 14 रु० की कीमत से घटानी होती है। अत सीमान्त आय इस दशा मे $14-10=4$ रु० के बराबर है। सीमान्त आय इसलिए अतिरिक्त इकाई की कीमत से कम है।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि सीमान्त आय को एक अतिरिक्त इकाई बेचने से पूर्व प्राप्त कुल आय और उसके बेचने के पश्चात् प्राप्त कुल आय मे अन्तर से ज्ञात किया जा सकता है अथवा यह अतिरिक्त इकाई की कीमत से पहली इकाइयो पर हुई हानि को निकाल कर ज्ञात किया जा सकता है। अत

सीमान्त आय=पदार्थ की बिक्री $n-1$ से बढा कर n इकाइयाँ करने से कुल आय मे वृद्धि

=अतिरिक्त इकाई की कीमत—पहली इकाइयो पर कीमत के घटने से हुई कुल हानि।

अब यह स्पष्ट है कि जब अतिरिक्त इकाई बेचने से कीमत घट जाती है तो सीमान्त आय कीमत से कम होगी। परन्तु जब कीमत अतिरिक्त इकाई के बेचने पर समान रहती है, जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे होता है, तो सीमात आय औसत आय के बराबर ही होगी क्योकि इस अवस्था मे कीमत के घटने के कारण पहली इकाइयो पर कोई हानि नही उठानी पडती। औसत आय और सीमान्त आय मे वही सम्बन्ध है जो अन्य प्रकार की औसत तथा सीमान्त धारणाओ मे होता है। **जब औसत आय घटती है तो सीमान्त आय उससे कम होती है, और जब औसत आय स्थिर रहती है तो सीमान्त आय, औसत आय के बराबर होती है।**

कुल आय, सीमान्त आय तथा औसत आय की धारणाओ तथा उनकी गणना करने का तरीका आगे की तालिका द्वारा अधिक स्पष्ट हो जाएगा।

तालिका के कॉलम 3 से यह स्पष्ट है कि जब वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ बेची जाती हैं तो कीमत घट रही है। सीमान्त आय को कुल आयो में अन्तर निकालने से मालूम किया जा सकता है। जब एक इकाई बेची जाती है तो कुल आय 16 रुपये है और जब वस्तु की दो इकाइयाँ बेची जाती हैं तो वस्तु की कीमत अथवा औसत आय घट कर 15 रुपये हो जाती है और कुल आय 30 रुपये हो जाती है। सीमान्त आय इसलिए यहाँ पर $30-16=14$ रुपये है जिसको कॉलम 4 मे लिखा गया है। जब वस्तु की 3 इकाइयाँ बेची जाती हैं तो कीमत घट कर 14 रुपये हो जाती है और कुल आय 42 रुपये होती है जिससे सीमान्त आय यहाँ पर $42-30=12$ रुपये होती है

तालिका 18 3

कुल आय, औसत आय तथा सीमान्त आय

(Total Revenue, Average Revenue and Marginal Revenue)

बेची गई इकाइयो की सख्या	कुल आय (TR)	औसत आय अथवा कीमत (AR)	सीमान्त आय अथवा कुल आय मे वृद्धि (MR)
1	2	3	4
1	16	16	16
2	30	15	14
3	42	14	12
4	52	13	10
5	60	12	8
6	C6	11	6
7	70	10	4
8	72	9	2
9	72	8	0
10	70	7	—2

जिसको स्तम्भ 4 मे लिखा गया है। इसी प्रकार अगली इकाइयो की सीमान्त आयो को क्रमश कुल आयो मे अतर निकालने से प्राप्त किया जा सकता है। जब कुल आय बढ रही हो तो सीमात आय धनात्मक (positive) होती है और जब कुल आय घटती है तो सीमान्त आय ऋणात्मक (negative) होती है। अत जब उपर्युक्त तालिका मे वस्तु की बिक्री 9 इकाइयो से बढा कर 10 इकाइयाँ की जाती है तो कुल आय 72 रुपये से घटकर 70 रुपये हो जाती है और इसलिए सीमान्त आय यहाँ पर ऋणात्मक है और —2 के बराबर है।

उपर्युक्त दशा मे जब मार्किट मे वस्तु की अतिरिक्त इकाइयो को बेचने से औसत आय (अथवा कीमत) घटती है तो इसका रेखाकृति 18 1 मे दर्शाया गया है। इस रेखाकृति से यह स्पष्ट है कि जब औसत आय वक्र AR नीचे को गिर रहा है, सीमान्त आय वक्र MR उसके नीचे स्थित है। सीमान्त आय वक्र का औसत आय वक्र के नीचे होना यह प्रकट करता है कि अतिरिक्त इकाइयाँ बेचने पर
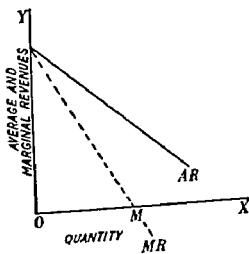
रेखाकृति 18 1 . औसत आय तथा सीमान्त आय

वस्तु की कीमत घटती है जिसके कारण सीमान्त आय कीमत अथवा औसत आय से कम होती है। इसके अतिरिक्त यह इस बात का भी सूचक है कि सीमान्त आय, औसत आय की तुलना में अधिक द्रुत गति से घटती है। जब वस्तु की OM इकाइयाँ बेची जाती है तो सीमान्त आय शून्य (zero) है। यदि वस्तु की मात्रा को OM से अधिक बढ़ाया जाता है तो सीमान्त आय ऋणात्मक हो जाएगी।

पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में औसत तथा सीमान्त आय (Average and Marginal Revenues under Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता में काम कर रही फर्म का तात्पर्य यह है कि उस उद्योग में इतनी बड़ी संख्या में फर्में हैं कि वह अकेली फर्म अपनी कीमत और उत्पादन-मात्रा संबंधी नीतियों और निर्णयों द्वारा अपनी उत्पादित वस्तु की कीमत में कोई अन्तर नहीं ला सकती, वरन् बाजार में उस वस्तु की जो कीमत प्रचलित है उस पर जितनी मात्रा चाहे बेच सकती है। स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म की औसत आय की रेखाकृति क्षितिज के समानान्तर सरल रेखा (horizontal straight line) होगी। इसका अर्थ है कि जितनी मात्रा
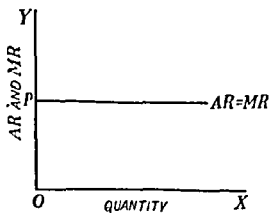
रेखाकृति 18.2. पूर्ण प्रतियोगिता में AR तथा MR

में भी उस वस्तु का उत्पादन वह फर्म करेगी, इसे वह बाजार में प्रचलित समान कीमत पर बेच सकती है।

यदि कीमत अथवा औसत आय वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ बेचने पर स्थिर रहती है तो सीमांत आय, औसत आय के बराबर होगी। इसका कारण

तालिका 18.4

पूर्ण प्रतियोगिता में औसत आय, सीमान्त आय तथा कुल आय

(Average Revenue, Marginal Revenue and Total Revenue under Perfect Competition)

बेची गई इकाइयों की संख्या	कीमत अथवा औसत आय (Price or AR)	कुल आय (TR) (कीमत × बेची गई मात्रा)	सीमान्त आय (MR)
1	2	3	4
1	16	16	16
2	16	32	16
3	16	48	16
4	16	64	16
5	16	80	16
6	16	96	16
7	16	112	16
8	16	128	16
9	16	144	16
10	16	160	16

यह है कि जब वस्तु की अतिरिक्त इकाई को बेचने से कीमत में गिरावट नहीं आती तो कुल आय में वस्तु की कीमत के बराबर ही वृद्धि होगी क्योंकि इस दशा में अतिरिक्त इकाई बेचने पर पहली इकाइयों पर कोई हानि नहीं उठानी पड़ेगी। यह पिछली तालिका से स्पष्ट हो जाएगा।

इस तालिका में कीमत 16 रु० पर स्थिर रहती है जब वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ बेची जाती हैं। स्तम्भ 3 में वस्तु की विभिन्न इकाइयों को बेचने पर कुल आय दिखाई गई है। कुल आय को वस्तु की बेची गई मात्रा को कीमत से गुणा करने पर प्राप्त किया गया है। कुल आयों में अन्तर निकालने पर यह ज्ञात होगा कि इस अवस्था में सीमान्त आय (MR), कीमत अर्थात् 16 रुपये के ही बराबर है। अतएव जब वस्तु की दो इकाइयाँ बेची जाती है तो कुल आय 16 रुपये से बढ कर 32 रुपये हो जाती है जिससे कुल आय में $32-16=16$ रुपये के बराबर ही वृद्धि होती है। स्पष्ट है कि सीमान्त आय 16 रुपये है। इसी प्रकार जब वस्तु की तीन इकाइयाँ बेची जाती है तो कुल आय बढ़कर 48 रु० हो जाती है और सीमान्त आय $48-32=16$ रु० है। इसी प्रकार वस्तु की बेची गई अन्य इकाइयों की सीमान्त आय भी 16 रु० है और यह कीमत के बराबर है।

इस पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था को जबकि औसत आय (अथवा कीमत) स्थिर रहती है और सीमान्त आय, औसत आय के बराबर है, रेखाकृति 18.2 में दर्शाया गया है। औसत आय वक्र इस दशा में एक समानान्तर सरल रेखा होती है अर्थात् यह अक्ष-X के समानान्तर होती है। समानान्तर सरल रेखा वाला औसत आय वक्र यह प्रकट करता है कि कीमत अथवा औसत आय OP पर ही स्थिर रहती है जब वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ बेची जाती हैं। ऐसी अवस्था में सीमान्त आय वक्र औसत आय वक्र के समान ही होगा क्योंकि सीमान्त आय औसत आय के बराबर है।

औसत आय तथा सीमान्त आय वक्रों में सम्बन्ध (Relationship between AR and MR Curves)

हमने ऊपर देखा कि जब औसत आय वक्र (AR) नीचे की ओर गिरता हुआ होता है तो सीमान्त आय वक्र (MR) उसके नीचे अथवा बाईं ओर स्थित होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि सीमान्त आय वक्र (MR) औसत आय वक्र (AR) से बाईं ओर को कितनी दूरी पर होगा। इसके बारे में एक सामान्य नियम है जो भली प्रकार समझ लेना चाहिए। जब औसत आय वक्र सरल रेखा (Straight line) हो और नीचे को गिरता हुआ हो तो सीमान्त आय वक्र (MR), औसत आय वक्र (AR) से Y-अक्ष की ओर आधी दूरी पर होगा जैसा कि रेखाकृति 18.3 में दिखाया गया है अर्थात् यदि ऐसी दशा में औसत आय (AR) वक्र पर के किसी बिन्दु जैसे कि A से Y-अक्ष पर कोई लम्ब (Perpendicular) खींचा जाए तो सीमान्त आय (MR) वक्र इसके मध्य बिन्दु (middle point) जैसे कि बिन्दु C से गुजरेगा। रेखाकृति 18.3 में आप देखेंगे कि सीमान्त आय वक्र (MR) बिन्दु C से गुजर रहा है जहाँ कि $AC=CB$ है। सरल रेखा वाला सीमान्त आय वक्र (MR) सरल रेखा के औसत आय वक्र (AR) से Y-अक्ष की ओर आधी दूरी पर स्थित होगा (अर्थात् रेखाकृति 18.3 में $AC=CB$) इसे हम निम्न प्रकार से सिद्ध कर सकते हैं :—

रेखाकृति 18.3 में औसत आय वक्र AR से X-अक्ष पर एक लम्ब AM खींचा गया है। इसका यह अर्थ है कि जब वस्तु की OM मात्रा बेची जाती है तो औसत आय AM है। दो प्रकार से हम वस्तु की OM मात्रा से प्राप्त कुल आय को ज्ञात कर सकते हैं :

प्रथम, कुल आय $(TR)=$ औसत आय $\times$ बेची गई मात्रा

$$=AM \times OM$$
$$= \text{क्षेत्रफल } OMAB \quad \cdots(i)$$

द्वितीय, कुल आय को वस्तु की बेची गई समस्त OM इकाइयों की सीमान्त आयों (marginal revenues) के योगफल द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। अतः कुल आय $(TR)=\Sigma MR$

$$= \text{क्षेत्रफल } OMQD \quad \cdots(ii)$$

चूँकि किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा से प्राप्त कुल आय समान ही होगी चाहे इसे किसी भी विधि से प्राप्त किया जाए, इसलिए उपर्युक्त (i) और (ii) से हम निम्न निष्कर्ष पर पहुँचते हैं :

$$OMAB = OMQD$$
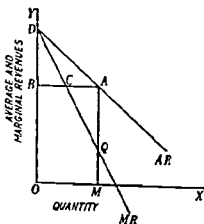
रेखाकृति 18.3

रेखाकृति 18.3 में यह देखा जाएगा कि :

$$OMAB = OMQCB + ACQ$$

तथा $OMQD = OMQCB + BDC$

चूँकि $OMAB = OMQD$, इसलिए :

$$OMQCB + ACQ = OMQCB + BDC$$

अथवा, $ACQ = BDC$

अतः त्रिभुज ACQ और BDC क्षेत्र में परस्पर समान हैं

अब त्रिभुज ACQ और DBC को लें, इनमें

$\angle QAC = \angle DBC$ (समकोण)

$\angle ACQ = \angle BCD$ (vertically opposite angles)

$\angle BDC = \angle AQC$ (alternate angles)

अतः त्रिभुज ACQ और त्रिभुज BDC परस्पर समरूप (Similar) हैं।

हमने ऊपर यह सिद्ध किया है कि त्रिभुज ACQ और BDC क्षेत्र में एक दूसरे के समान (equal in area) भी हैं तथा समरूप (similar) भी हैं। अब रेखागणित के एक नियम के अनुसार जब दो त्रिभुज समान (क्षेत्र में) तथा समरूप हों तो वे सर्वांगसम (congruent) भी होते हैं अर्थात् वे सब दृष्टियों से बराबर होते हैं। इसलिए, त्रिभुज ACQ और DBC एक दूसरे के सर्वांग हैं। इनके समान होने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि त्रिभुज ACQ की भुजा AC, त्रिभुज DBC की भुजा BC के बराबर होगी।
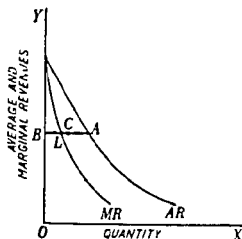
रेखाकृति 18.4

अतः $AC = BC$

AC का BC के बराबर होने का हमारे अर्थशास्त्र की दृष्टि से यह अर्थ होता है कि सरल रेखा का
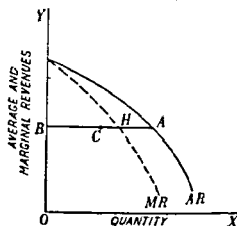
रेखाकृति 18.5

सीमान्त आय वक्र (MR) जो कि बिन्दु C से गुजर रहा है, सरल रेखा के औसत आय वक्र AR से Y-अक्ष की ओर आधी दूरी पर स्थित है (देखें रेखाकृति 18.3)।

$\angle tRP = \angle RTM$

तीसरा $\angle PtR = \angle MRT$

अत त्रिभुज PtR और MRT समकोण (equiangular) है।

इसलिए, $$\frac{RT}{Rt} = \frac{RM}{Pt} \quad \cdots (ii)$$

अब $\triangle PKt$ और $\triangle RKQ$ को लीजिए जिनमे—

$$PK = RK$$
$$\angle PKt = \angle RKQ$$
$$\angle tPK = \angle KRQ$$

स्पष्ट है कि PKt और RKQ त्रिभुज सर्वांगसम (congruent) है।

अत $$Pt = RQ \quad (iii)$$

अत (i) (ii) और (iii) से हम प्राप्त होता है कि बिन्दु R पर मूल्यसापेक्षता $= \frac{RT}{Rt} = \frac{RM}{Pt} = \frac{RM}{RQ}$

रेखाकृति 18 6 से स्पष्ट है कि —

$$\frac{RM}{RQ} = \frac{RM}{RM - QM}$$

अत R बिन्दु पर मूल्यसापेक्षता $= \frac{RM}{RM - QM}$

रेखाकृति मे यह देखा जाएगा कि OM उत्पादन मात्रा पर (अर्थात् बिन्दु R पर), RM औसत आय है और QM सीमान्त आय है, अत

बिन्दु R पर मूल्यसापेक्षता

$$= \frac{\text{औसत आय}}{\text{औसत आय} - \text{सीमान्त आय}}$$

यदि A औसत आय, M सीमान्त आय और e मूल्यसापेक्षता के सूचक हो तो :

$$e = \frac{A}{A - M}$$
$$eA - eM = A$$
$$eA - A = eM$$
$$A(e-1) = eM$$
$$A = \frac{eM}{e-1}$$

अत $$A = M\left(\frac{e}{e-1}\right) \quad \ldots (\text{क})$$

और $$M = A\left(\frac{e-1}{e}\right) \quad \ldots (\text{ख})$$

ऊपर म (क) और (ख) म दिए गए सूत्रों का कीमत सिद्धान्त म महत्त्वपूर्ण स्थान है। (क) म दिए गए सूत्र क अनुसार, किसी उत्पादन मात्रा पर औसत आय = सीमान्त आय $\times \frac{e}{e-1}$ और (ख) म दिए गए सूत्र के अनुसार किसी उत्पादन मात्रा पर सीमान्त आय = औसत आय $\times \frac{e-1}{e}$

इन सूत्रो की सहायता स हम किसी औसत आय के अनुरूप सीमान्त आय ज्ञात कर सकते है यदि हम माँग की मूल्यसापेक्षता दी हुई हो। एक उदाहरण ले। यदि वस्तु की माँग की मूल्यसापेक्षता 1 हो, तो $M = A\frac{e-1}{e}$ का तात्पर्य होगा $M = A\,\frac{1-1}{1} = A\frac{0}{1} = 0$, अर्थात् जब माँग की मूल्यसापेक्षता 1 हो, तो सीमान्त आय शून्य (zero) होगी चाहे औसत आय कितनी ही क्यो न हो।

यदि वस्तु के किसी उत्पादन स्तर पर औसत आय 10 रुपये है और उस पर माँग की मूल्यसापेक्षता 2 है तो उसके अनुरूप सीमान्त आय क्या होगी ?

$$M = A\frac{e-1}{e}$$
$$M = 10\frac{2-1}{2}$$
$$= 10 \times \frac{1}{2}$$
$$= 5$$

अर्थात् सीमान्त आय 5 रुपये होगी।

इसी प्रकार उपर्युक्त सूत्र के प्रयोग द्वारा हम अन्य औसत आयो तथा मूल्यसापेक्षताओ के अनुरूप सीमान्त आय ज्ञात कर सकते हैं।

फर्म का सन्तुलन
(Equilibrium of the Firm)

अब हमने फर्म के सन्तुलन के विश्लेषण के लिए जो मुख्य उपकरण चाहिए थे, वे भलीभाँति जान लिए।

अत हम अब इस योग्य हैं कि इस बात का निर्णय कर सकें कि फर्म अथवा कोई उत्पादक कब सन्तुलन में होगा। किसी एक फर्म के सन्तुलन मे हम यह देखते हैं कि वह उत्पादक अथवा फर्म वस्तु कितनी मात्रा मे उत्पादित करेगी। अर्थशास्त्र मे कोई फर्म सन्तुलन में तब कही जाती है जब इसमे इस प्रकार की कोई इच्छा या प्रेरणा नही होती कि वह वस्तु की उत्पादन मात्रा को घटाये अथवा बढाये (A firm is in equilibrium when it has no incentive either to expand or to contract its output)। ऐसी स्थिति तो तब होगी जब वह फर्म **अधिकतम लाभ** (maximum profits) अर्जित कर रही होगी क्योंकि कोई भी विवेकशील उत्पादक (rational producer) यदि यह देखता है कि वह वस्तु की उत्पादन मात्रा घटाने-बढाने मे अपना लाभ बढा सकता है, तो वह अपनी उत्पादन मात्रा को बदलने का प्रयास करेगा। हाँ, जिस उत्पादन मात्रा पर वह अधिकतम लाभ अर्जित कर रहा होगा, उसे घटाने-बढाने से तो उसका लाभ कम ही होगा, बढ नही सकता। अब हम देखना है कि फर्म का लाभ कब अधिकतम होगा। इसके लिए हमे उस फर्म की लागत, कीमत, उत्पादन मात्रा (output) आदि को देखना होगा और जिस उत्पादन-मात्रा पर लाभ अधिकतम होगा, वही उस फर्म का सन्तुलन का बिन्दु होगा।

अपने विश्लेषण को आसान और साधारण बनाने के लिए हम यह मान लेते है कि फर्म केवल एक पदार्थ उत्पादित करती है। यह सही है कि वास्तविक जगत मे फर्में एक से अधिक पदार्थ उत्पन्न करती हैं और इसलिए हमारी यह मान्यता वास्तविक नही है। परन्तु एक से अधिक पदार्थ उत्पन्न करने वाली फर्म का भी विचार किया जाए तो इससे हमारे विश्लेषण के मौलिक निष्कर्षों पर कोई प्रभाव नही पडेगा। इसलिए हम अपने विश्लेषण को आसान रखने के लिए एक पदार्थ उत्पादित करने वाली फर्म के सन्तुलन की ही व्याख्या करेंगे।

हम इस अध्याय मे फर्म के सन्तुलन का विश्लेषण केवल सामान्य रूप मे ही करेंगे। फर्म के सन्तुलन की व्याख्या विभिन्न बाजार के रूपो अर्थात् पूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकार एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत अगले अध्यायो मे की जाएगी। इस अध्याय मे हम सन्तुलन की सामान्य शर्तों की व्याख्या करेंगे जो सभी प्रकार के बाजारो (मार्किटो) पर लागू होती है।

फर्म के सन्तुलन की व्याख्या करने का एक पुराना तथा वास्तविक व्यावसायिक जगत मे लोकप्रिय ढग कुल आय और कुल लागत वक्रो की सहायता से करना है परन्तु अर्थशास्त्र मे सीमान्तवादी क्रान्ति (marginalist revolution) प्रचलित हो जाने के बाद फर्म के सन्तुलन की व्याख्या सीमान्त आय और सीमान्त लागत वक्रो की सहायता से की जाती है। फर्म के सन्तुलन की व्याख्या करने के ये दोनो ढग हम नीचे बताएँगे।

फर्म का सन्तुलन कुल आय और कुल लागत वक्रों द्वारा (Equilibrium of the Firm By Curves of Total Revenue and Total Cost)

फर्म सन्तुलन मे तब होती है जब वह अधिकतम लाभ अर्जित कर रही होती है। एक फर्म अपनी उत्पादन मात्रा बढाती जाएगी यदि ऐसा करने से उसके
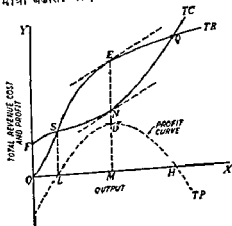
रेखाकृति 18 7 फर्म का सन्तुलन कुल लागत तथा कुल आय वक्रों द्वारा स्पष्टीकरण

लाभ बढते हैं। यह अपनी उत्पादन मात्रा उस स्तर पर निश्चित करेगी जहाँ पर कि उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो रहे होंगे। लाभ कुल आय और कुल लागत के बीच अन्तर के बराबर होते हैं। अत फर्म उस उत्पादन

मात्रा पर सन्तुलन में होगी जिस पर कि उसकी कुल आय और कुल लागत में अन्तर अधिकतम होगा। कुल आय और कुल लागत वक्रों द्वारा फर्म के सन्तुलन को रेखाकृति 18.7 में स्पष्ट किया गया है। इस रेखाकृति में TR कुल आय वक्र है और TC कुल लागत वक्र है। कुल आय वक्र TR मूल बिन्दु से आरम्भ होता है जिसका अर्थ यह है कि जब कुछ भी उत्पादन नहीं किया जाय तो आय शून्य होगी। जैसे-जैसे उत्पादन बढ़ाया जाता है, कुल आय बढ़ती जाती है। यही कारण है कि कुल आय वक्र TR बाएँ से दाईं ओर को ऊपर चढ़ रहा है। किन्तु रेखाकृति में यह देखा जाएगा कि कुल लागत वक्र TC मूल बिन्दु से शुरू न होकर उसके ऊपर के बिन्दु F से शुरू हो रहा है, इसका अर्थ यह है कि जब फर्म कोई उत्पादन भी नहीं करती तो फिर भी उसे OF के बराबर लागत उठानी पड़ती है। ऐसा अल्पकाल में होता है जिसमें कि फर्म यदि उत्पादन करना बन्द भी कर दे तो उसे स्थिर लागतें वहन करनी पड़ती है। अतः रेखाकृति 18.7 अल्पकालीन कुल आय और कुल लागत वक्रों को व्यक्त करती है।

जब फर्म मूल बिन्दु से उत्पादन को बढ़ाती है तो आरम्भ में कुल लागत, कुल आय की तुलना में अधिक है। इसलिए यहाँ फर्म कोई लाभ अर्जित नहीं करती, वास्तव में OL से कम मात्रा उत्पादित करने पर तो इसे हानि ही होती है। जब फर्म उत्पादन की OL मात्रा उत्पन्न कर रही होती है तो कुल आय और कुल लागत बराबर हैं और इसलिए यहाँ पर फर्म को न हानि हो रही है और न ही लाभ। इसलिए बिन्दु S (अर्थात् उत्पादन मात्रा OL के अनुरूप बिन्दु) को समस्थिति बिन्दु (Break-Even Point) कहते हैं। जब फर्म अपना उत्पादन OL से अधिक बढ़ाती है तो कुल आय, कुल लागत की अपेक्षा अधिक हो जाती है और फर्म को लाभ प्राप्त होने लग जाते हैं। रेखाकृति से स्पष्ट है कि लाभ (अर्थात् कुल आय और कुल लागत वक्रों के बीच अन्तर) उत्पादन मात्रा OM तक बढ़ते जाते हैं। उत्पादन मात्रा OM पर कुल आय वक्र TR और कुल लागत वक्र TC के बीच की दूरी अधिकतम है और इसलिए इस उत्पादन मात्रा पर लाभ भी अधिकतम होंगे। इस प्रकार फर्म उत्पादन की मात्रा OM पर सन्तुलन में होगी। फर्म OM से अधिक वस्तु का उत्पादन नहीं करेगी क्योंकि इसके बाद कुल आय और कुल लागत के बीच अन्तर घटने लगता है और इसलिए कुल लाभ भी कम होने जाएँगे। उत्पादन मात्रा OH पर कुल लागत और कुल आय वक्र एक दूसरे को पुन: काटते हैं जिसका अर्थ यह है कि इस उत्पादन-मात्रा पर भी कुल आय और कुल लागत परस्पर बराबर हैं। अतएव बिन्दु Q (उत्पादन-मात्रा OH के अनुरूप) पुन: एक समस्थिति बिन्दु (Break-Even Point) है। यदि उत्पादन को OH से भी अधिक बढ़ाया जाए तो कुल आय कुल लागत की अपेक्षा कम होगी जिससे फर्म को हानि उठानी पड़ेगी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि फर्म उत्पादन-मात्रा OM पर सन्तुलन में होगी जहाँ कि कुल आय और कुल लागत में अन्तर अधिकतम है और इसलिए उसके द्वारा अर्जित किये जाने वाले लाभ भी अधिकतम हैं। अब प्रश्न यह है कि लाभ अधिकतम करने की उत्पादन-मात्रा को किस प्रकार ज्ञात किया जाए। केवल दृष्टि से कुल आय और कुल लागत वक्रों के बीच अधिकतम अन्तर को जानना इतना सरल नहीं है। कुल आय और कुल लागत वक्रों के बीच अधिकतम अन्तर को ज्ञात करने के लिए हमें उन पर कई स्पर्श रेखाएँ (tangents) खींचनी पड़ेगी और जहाँ कुल आय और कुल लागत वक्र एक-दूसरे के समानान्तर होंगे वहाँ उनके बीच दूरी अधिकतम होगी और इसलिए वहाँ उनके लाभ भी अधिकतम होंगे। रेखाकृति से स्पष्ट है कि बिन्दु E और N पर खींची गई स्पर्श रेखाएँ एक दूसरे के समानान्तर हैं। इसलिए TR और TC के बीच अन्तर E और N के बिन्दुओं पर ही अधिकतम होगा और इस प्रकार OM उत्पादन-मात्रा पर फर्म को अधिकतम लाभ प्राप्त होंगे।

अधिकतम लाभ की उत्पादन मात्रा को मालूम करने का एक अन्य ढंग रेखाकृति में कुल लाभ वक्र (Total Profit Curve) जो कि उत्पादन की विभिन्न मात्राओं पर कुल आय और कुल लागत में अन्तर को

व्यक्त करता है, खींचना है। रेखाकृति 18.7 में कुल लाभ वक्र TP खींचा गया है जो कि विभिन्न उत्पादन मात्राओं पर कुल आय और कुल लागत में अन्तर को व्यक्त करता है। अब इससे फर्म की सन्तुलन उत्पादन-मात्रा अर्थात् अधिकतम लाभ प्रदान करने की उत्पादन-मात्रा को जानना बहुत ही आसान है। जहाँ कुल लाभ वक्र का उच्चतम बिन्दु होगा उस उत्पादन-मात्रा पर लाभ अधिकतम होंगे। रेखाकृति से स्पष्ट है कि OM उत्पादन-मात्रा पर कुल लाभ वक्र का उच्चतम बिन्दु D है अर्थात् OM उत्पादन-मात्रा पर ही लाभ अधिकतम हैं। कुल लाभ वक्र से स्पष्ट होगा कि OM से कम या अधिक उत्पादन-मात्रा पर कुल लाभ MD से कम होंगे। रेखाकृति में यह देखा जाएगा कि कुल लाभ वक्र TP बिन्दु L तक X-अक्ष के नीचे स्थित है जिसका अर्थ यह है कि फर्म OM उत्पादन मात्रा से कम मात्रा पर ऋणात्मक लाभ (अर्थात् हानि) कमा रही है। बिन्दु L पर कुल लाभ वक्र X-अक्ष को काटता है जिसका अर्थ है कि इस पर कुल लाभ शून्य के बराबर है। जैसे फर्म L के आगे उत्पादन बढ़ाती है तो कुल लाभ वक्र ऊपर को चढ़ रहा है, जिसका अर्थ है कुल लाभ बढ़ रहे हैं। OM उत्पादन-मात्रा पर कुल लाभ वक्र X-अक्ष से अधिकतम ऊँचाई पर है और OM के बाद लाभ वक्र की ढाल नीचे की ओर है जिसका अर्थ है कि OM से आगे उत्पादन-मात्रा बढ़ाने से कुल लाभ घट जाते हैं अतः OM उत्पादन-मात्रा पर ही लाभ अधिकतम है और यह MD के बराबर है। एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहाँ कुल लाभ वक्र का उच्चतम बिन्दु स्थित होगा उसके अनुरूप ही कुल आय और कुल लागत वक्रों के बीच दूरी अधिकतम होगी और वहाँ पर ही स्पर्श रेखाएँ एक दूसरे के समानान्तर होंगी। उत्पादन-मात्रा OM पर कमाए गए लाभ MD अथवा EN के बराबर है।

अधिकतम मात्रा वाली उत्पादन मात्रा मालूम करने का यह ढंग उचित है और प्रायः यह व्यावसायिक व्यक्तियों द्वारा प्रयोग में लाया जाता है। किन्तु इस में कई त्रुटियाँ है। प्रथम त्रुटि तो यह है कि दृष्टि द्वारा कुल आय और कुल लागत के बीच अधिकतम अन्तर ज्ञात करना बहुत कठिन है। बहुत-सी स्पर्श रेखाएँ खींचनी पड़ती हैं और तब जाकर दो वक्रों पर ऐसी स्पर्श रेखाएँ मालूम होती है जो एक-दूसरे के समानांतर हैं और जिनके अनुरूप कुल मुद्रा लाभ अधिकतम हैं। हाँ, जब कुल लाभ वक्र खींचा जाता है तो अधिकतम लाभ का बिन्दु ज्ञात करना अपेक्षाकृत कम कठिन हो जाता है क्योंकि लाभ वक्र के उच्चतम बिन्दु के अनुरूप उत्पादन-मात्रा पर लाभ अधिकतम होते हैं। दूसरी त्रुटि यह है कि इस प्रकार की रेखाकृति से पदार्थ की प्रति इकाई कीमत को उस पर दृष्टि डालने से नहीं जाना जा सकता। चूँकि ऐसी रेखाकृति में कीमत को प्रत्यक्ष रूप से नहीं दिखाया जाता, कीमत को जानने के लिए हमें अधिकतम लाभ बिन्दु पर प्राप्त कुल आय को कुल उत्पादन से भाग देना होता है। अतएव रेखाकृति 18.7 में अधिकतम लाभ की उत्पादन-मात्रा OM पर कुल आय ME है। इसीलिए यहाँ पर फर्म द्वारा प्राप्त की जाने वाली कीमत कुल आय/कुल उत्पादन अर्थात् ME/OM के बराबर होगी। इन त्रुटियों के साथ फर्म के सन्तुलन के विश्लेषण की जटिल समस्याओं का विवेचन नहीं किया जा सकता। इसलिए आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त में फर्म के सन्तुलन की व्याख्या सीमान्त विश्लेषण (marginal analysis), जिसमें सीमान्त आय और सीमान्त लागत की धारणाओं का प्रयोग होता है किया जाता है। इस विधि के अनुसार फर्म अधिकतम लाभ तब अर्जित कर रही होगी जब सीमान्त लागत और सीमान्त आय आपस में बराबर होगी। सीमान्त लागत और सीमान्त आय का समान होना लाभ के अधिकतम होने की आवश्यक शर्त है।

फर्म का सन्तुलन : सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत वक्रों द्वारा (Firm's Equilibrium By Marginal Revenue and Marginal Cost Curves)

एक फर्म का लाभ बढ़ेगा यदि वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई उत्पादित करने और बेचने से लागत में वृद्धि की तुलना में आय में वृद्धि अधिक होती है। हमने ऊपर पढ़ा कि वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई उत्पादित करने से जो कुल लागत में वृद्धि होती है उसे सीमान्त लागत कहते हैं और वस्तु की एक अतिरिक्त

इकाई बेचने से जो अतिरिक्त आय होती है उसे सीमान्त आय (marginal revenue) कहते हैं। स्पष्ट है कि एक फर्म अपनी उत्पादन-मात्रा को बढ़ाती चली जाएगी जब तक सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक होती है क्योंकि ऐसा करने में उसका कुल लाभ बढ़ेगा। उदाहरण के लिए, यदि वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई उत्पादित करने में सीमान्त लागत 15 रुपये है और सीमान्त आय 20 रुपये है तो स्पष्ट है कि उस अतिरिक्त इकाई को उत्पादित करने और बेचने में उसको 5 रुपये का लाभ होगा। इसलिए फर्म उस इकाई विशेष को उत्पादित करने का निर्णय करेगी। इसी प्रकार फर्म उन सभी अतिरिक्त इकाइयों का उत्पादन करेगी जिनकी सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक है। अत जब सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक हो तो उत्पादक या फर्म सन्तुलन में नहीं हो सकती। ऐसा इसलिये कि अतिरिक्त इकाइयों की आय उनकी लागत से अधिक होने के कारण उत्पादक को यह प्रेरणा अवश्य होगी कि वह अतिरिक्त इकाइयाँ उत्पादन करके अपने लाभ को बढ़ा ले अर्थात् ऐसी अवस्था में उसका लाभ अधिकतम (maximum) नहीं होगा, वरन् अभी लाभ और बढ़ाया जा सकता है।

जब फर्म अपना उत्पादन इतना बढ़ा लेती है जिस पर सीमान्त आय और सीमान्त लागत समान हो जाती हैं तो उस अवस्था में फर्म का कुल लाभ अधिकतम होगा। यदि फर्म अपना उत्पादन सीमान्त आय और सीमान्त लागत में समानता की स्थिति से और अधिक बढ़ायेगी तो सीमान्त आय, सीमान्त लागत से कम हो जाएगी अर्थात् अतिरिक्त इकाइयों के उत्पादन पर उसकी लागत तो अधिक होगी पर उनके बेचने से प्राप्त आय कम जिससे फर्म का लाभ घट जाएगा। अत फर्म सन्तुलन में नहीं होगी यदि वह वस्तु इतनी मात्रा में उत्पादित कर रही है जहां सीमान्त आय, सीमान्त लागत से कम है अर्थात् उस स्थिति में वह उत्पादन को घटाने की चेष्टा करेगी क्योंकि उस स्थिति में वह अधिकतम सम्भव लाभ अर्जित नहीं कर रही होगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि यदि सीमान्त आय, सीमान्त लागत से अधिक होगी अथवा कम तो फर्म के लाभ अधिकतम नहीं होंगे और इसलिए वह सन्तुलन में नहीं होगी। यह भी स्पष्ट है कि जब सीमान्त आय, सीमान्त लागत से अधिक होती है तो उत्पादन मात्रा को बढ़ा अथवा घटा कर लाभ बढ़ाये जा सकते हैं। जब फर्म वस्तु की इतनी मात्रा उत्पादित कर रही होती है जिस पर कि सीमान्त आय (MR) और सीमान्त लागत (MC) बराबर है ($MC=MR$) तो उसके लाभ अधिकतम होंगे जिससे वह सन्तुलन स्थिति में होगी। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि **सीमान्त आय और सीमान्त लागत का समान होना लाभ के अधिकतम होने अथवा फर्म के सन्तुलन में होने की आवश्यक शर्त है।**

फर्म के सन्तुलन की व्याख्या रेखाकृति 18 8 द्वारा अधिक अच्छी प्रकार से हो सकती है। इस रेखाकृति में MR और MC फर्म के सीमान्त आय (Marginal
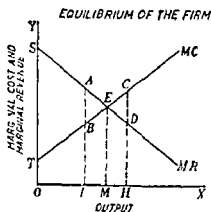
रेखाकृति 18 8 फर्म का सन्तुलन सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत वक्रों द्वारा स्पष्टीकरण

Revenue) और सीमान्त लागत (Marginal Cost) के वक्र हैं। सीमांत आय वक्र (MR) और सीमांत लागत वक्र (MC) बिन्दु E पर एक दूसरे को काटते हैं अर्थात् (OM) उत्पादन मात्रा पर फर्म की सीमांत आय और सीमान्त लागत एक दूसरे के बराबर हैं। इस उत्पादन मात्रा पर लाभ अधिकतम होगा और इसलिए इसी पर फर्म सन्तुलन में होगी। रेखाकृति से स्पष्ट है कि OM से कम उत्पादन मात्राओं पर सीमान्त आय, सीमान्त लागत से अधिक है और इसलिए ऐसी

स्थिति मे उत्पादन बढाने से लाभ बढाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ यदि उत्पादन OL किया जाए तो सीमान्त आय LA है और सीमान्त लागत LB। रेखाकृति से स्पष्ट है कि सीमान्त आय LA, सीमान्त लागत LB से अधिक है। इसका अर्थ यह है कि Lवी इकाई के उत्पादन से लागत मे वृद्धि की तुलना मे आय मे वृद्धि अधिक होती है। इसलिए उत्पादन की Lवी इकाई का उत्पादन करना लाभकारी होगा। इसी प्रकार उत्पादन की Mवी इकाई तक उत्पादन की सभी इकाइयो से सीमान्त आय उनकी सीमान्त लागत से अधिक है और इसलिए फर्म को उत्पादन की OM मात्रा तक उत्पादन बढाने मे लाभ होगा। यदि फर्म वस्तु की OL मात्रा उत्पादित करती है तो तब वह कुछ ऐसी इकाइयाँ जिनकी सीमान्त आय (MR), उनकी सीमान्त लागत (MC) से अधिक है (L से M तक) को उत्पादित नही करेगी और इस प्रकार वह अधिकतम सम्भव लाभ नही कमा सकेगी। वस्तु की OL मात्रा उत्पादित करने से वह क्षेत्र ABE के बराबर अतिरिक्त लाभ (जो कि वह M तक उत्पादन बढा कर प्राप्त कर सकती है) नही कमा सकेगी। अत OL उत्पादन मात्रा पर उसका लाभ अधिकतम नही होगा। स्पष्ट है कि फर्म OM मात्रा तक उत्पादन बढाने को प्रेरित होगी। किन्तु फर्म उत्पादन को OM मात्रा से आगे बढाती है तो सीमात आय (MR), सीमात लागत (MC) से कम हो जाती है अर्थात् OM से अधिक प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से आय मे वृद्धि लागत मे वृद्धि की तुलना मे कम होती है। परिणामस्वरूप OM मात्रा के आगे उत्पादन बढाने से फर्म के लाभ मे कमी होगी। इसलिए फर्म उत्पादन को OM से अधिक नही बढाएगी। अत यह OM मात्रा उत्पादित करके अधिकतम सम्भव लाभ कमाएगी और सतुलन मे होगी। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि फर्म अधिकतम लाभ तब प्राप्त करेगी और इसलिए सन्तुलन मे तब होगी जब निम्न शर्त पूरी होती होगी —

सीमान्त आय (MR)=सीमान्त लागत (MC)

सन्तुलन की अवस्था मे एक महत्त्वपूर्ण बात जो हमे देखनी होती है वह यह है कि फर्म अपनी वस्तु किस कीमत पर बेचती है। जैसा कि पहले देख आए हैं, फर्म की औसत आय (Average Revenue) ही इसकी वस्तु की प्रति इकाई कीमत होती है। इसलिए हमे देखना है कि जब OM मात्रा उत्पादित की जा रही है, तब प्रति इकाई औसत आय या कीमत कितनी है। कीमत जानने के लिए यह आवश्यक होता है कि रेखाकृति मे औसत आय (AR) वक्र भी साथ खीचें। ऐसा हमने रेखाकृति 18 9 मे किया है जिसमे हमने MR और MC वक्रो के साथ औसत आय (AR) और औसत लागत AC वक्र भी खीचे हैं। रेखाकृति 18 9 को देखने पर ज्ञात होगा कि उत्पादन मात्रा OM के अनुसार औसत आय (AR) वक्र पर बिन्दु Q है। अत OM मात्रा पर औसत आय या कीमत MQ अथवा OP है।

सन्तुलन मे एक और देखने योग्य बात फर्म के लाभ हैं। फर्म के लाभ उसकी कुल आय और कुल लागत का अन्तर होते हैं। चूंकि कुल आय=उत्पादन मात्रा×प्रति इकाई औसत कीमत, इसलिए रेखाकृति 18 9 मे OM उत्पादन मात्रा होने पर कुल आय होगी $OM \times OP$, अर्थात् आयत (rectangle) $OMQP$।
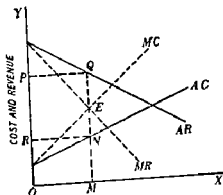
रेखाकृति 18 9 फर्म का सन्तुलन · सन्तुलन उत्पादन, सन्तुलन कीमत तथा कुल अर्जित लाभ

अब कुल लागत को लें। यह उत्पादन मात्रा× प्रति इकाई लागत के बराबर होती है। हमारी रेखाकृति मे जब OM उत्पादन मात्रा है तो औसत

लागत MN अथवा OR है, अत OM मात्रा की कुल लागत होगी $OM \times OR$, अर्थात आयत $OMNR$ के बराबर। अब लाभ को ज्ञात करना आसान है।

कुल लाभ = कुल आय − कुल लागत
$= OMQP - OMNR$
$= RNQP$

अत सन्तुलन की स्थिति मे हमारी फर्म के कुल लाभ आयत $RNQP$ के बराबर हैं।

फर्म के सन्तुलन की द्वितीय शर्त (Second Order Condition for Firm's Equilibrium)

हमने ऊपर पढा कि फर्म के सन्तुलन के लिए यह आवश्यक शर्त है कि *सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर हो।* परन्तु यह *आवश्यक शर्त (necessary condition)* तो है पर पर्याप्त शर्त (sufficient condition) नही है। सतुलन स्थिति के लिए एक दूसरी शर्त का पूरा होना भी जरूरी है। वह यह है कि **सन्तुलन बिन्दु पर सीमान्त लागत (MC) वक्र, सीमान्त आय (MR) वक्र को नीचे से (अथवा बायें से बायें) काटे** अर्थात् सन्तुलन उत्पादन मात्रा के आगे सीमान्त लागत (MC), सीमात आय (MR) से अधिक हो। यदि यह दूसरी शर्त पूरी नही होती तो फर्म अधिकतम लाभ अर्जित नही कर रही होगी और इसलिए वह सन्तुलन मे नही होगी। यह आगे की व्याख्या से स्पष्ट हो जाएगा।

रेखाकृति 18 10 को देखिए। इसमे सीमान्त आय वक्र MR क्षितिज के समानान्तर सरल रेखा है जैसा कि वास्तव मे पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे होता है और सीमान्त लागत वक्र MC शुरू मे तो नीचे को गिरता हुआ है और कुछ सीमा के बाद यह ऊपर को चढता हुआ है। सीमान्त लागत वक्र (MC) सीमान्त आय वक्र (MR) को दो बिन्दुओ E और F, पर काटता है अर्थात् E और F दोनो बिन्दुओ पर सीमान्त लागत और सीमान्त आय परस्पर बराबर हैं। अब हमे यह देखना है कि फर्म का सन्तुलन किस बिन्दु पर होगा।

बिन्दु F (अर्थात् ON उत्पादन मात्रा) पर सीमान्त लागत, सीमान्त आय के बराबर तो है परन्तु F पर सीमान्त लागत वक्र (MC), सीमान्त आय वक्र को ऊपर से (from above) काटता है जिससे F के बाद (अर्थात् ON उत्पादन मात्रा से अधिक) *सीमान्त लागत सीमान्त आय से कम है* जिससे कि F से आगे
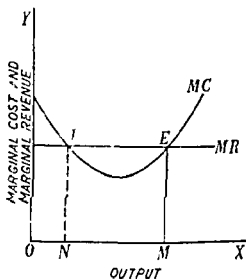
रेखाकृति 18 10 फर्म के सन्तुलन की द्वितीय शर्त सीमान्त लागत वक्र, सीमान्त आय वक्र को सन्तुलन बिन्दु पर नीचे से काटे

उत्पादन बढाना लाभकारी होगा। बिन्दु F पर अथवा ON उत्पादन मात्रा पर फर्म को लाभ के बजाय हानि होगी क्योंकि F से पूर्व सीमान्त लागत, सीमान्त आय से अधिक है। स्पष्ट है कि बिन्दु F पर (अथवा उत्पादन मात्रा ON) पर सन्तुलन नही हो सकता।

अब रेखाकृति 18 10 के बिन्दु E (अथवा उत्पादन मात्रा OM) को देखिए। सीमान्त लागत वक्र (MC) बिन्दु E पर सीमान्त आय वक्र (MR) को नीचे से (from below) काट रहा है जिससे कि बिन्दु E के बाद सीमान्त लागत, सीमान्त आय से अधिक है। स्पष्ट है कि बिन्दु E के बाद अथवा उत्पादन मात्रा OM से अधिक उत्पादन बढाना लाभकारी नहीं है। अत रेखाकृति 18 10 मे फर्म का सन्तुलन अथवा अधिकतम लाभ E बिन्दु पर होगा न कि F बिन्दु पर। E बिन्दु पर सीमान्त लागत और सीमान्त आय एक दूसरे के समान हैं तथा सीमान्त लागत वक्र सीमान्त

आय वक्र को नीचे से काट रहा है। सन्तुलन बिन्दु E पर फर्म वस्तु की OM मात्रा उत्पादित करेगी।

इस तरह रेखाकृति 18 11 (a) मे जहाँ सीमान्त लागत वक्र (MC) और सीमान्त आय वक्र (MR) नीचे की ओर गिर रहे है, F बिन्दु पर सन्तुलन नही नीचे से) काटता है। परिणामस्वरूप E बिन्दु के बाद सीमान्त लागत (MC), सीमान्त आय से अधिक है। स्पष्ट है कि E बिन्दु के आगे उत्पादन बढाना लाभकारी नही है। बिन्दु E पर ही फर्म के लाभ अधिकतम होगे और वहाँ ही उसका सन्तुलन होगा।
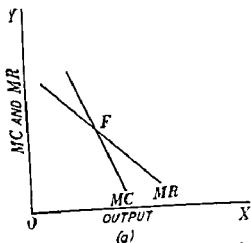
रेखाकृति 18 11 (a)   सन्तुलन सम्भव नहीं
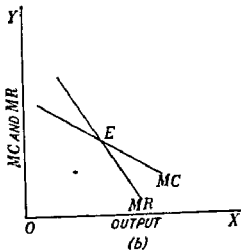
रेखाकृति 18 11 (b)   बिन्दु E पर सन्तुलन होगा

हो सकता। ऐसा इसलिए है कि F बिन्दु पर सीमान्त लागत वक्र (MC) सीमान्त आय वक्र को ऊपर से काट रहा है न कि नीचे से। परिणामस्वरूप बिन्दु F के बाद सीमान्त लागत, सीमान्त आय से कम है जिससे कि F के बाद उत्पादन बढाने मे लाभ होगा। अत बिन्दु F फर्म के सन्तुलन की स्थिति नही हो सकती। तो फिर आप प्रश्न करेंगे कि इस रेखाकृति म सन्तुलन कहाँ होगा। इस अवस्था मे तभी सन्तुलन हो सकता है यदि बिन्दु F के कुछ सीमा बाद सीमान्त लागत वक्र (MC) ऊपर को चढना प्रारम्भ कर दे और सीमांत आय वक्र को किसी बिन्दु पर नीचे से काटे। यदि ऐसा नही होता तो इस रेखाकृति मे सन्तुलन की स्थिति नही होगी।

अब रेखाकृति 18 11 (b) को देखिए जहाँ भी सीमान्त लागत वक्र (MC) और सीमान्त आय वक्र (MR) नीचे गिर रहे हैं और बिन्दु E पर एक दूसरे को काट रहे हैं। परन्तु इस रेखाकृति मे MC वक्र, MR वक्र की अपेक्षा कम तेजी से गिर रहा है जिससे वह MR वक्र को बिन्दु E पर बायें से दायें (अर्थात्

उपर्युक्त विवरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि फर्म के सन्तुलन मे होने की दो शर्तें हैं —

(i) सीमान्त लागत (MC) = सीमान्त आय (MR)

(ii) सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय को सतुलन बिन्दु अथवा सन्तुलन मात्रा पर नीचे से काटे।

सन्तुलन की उपर्युक्त दो शर्तें प्रत्येक प्रकार की मार्केट चाहे वह पूर्ण प्रतियोगिता हो या एकाधिकार या एकाधिकारिक प्रतियोगिता, पूरी होनी चाहिएँ।

वैसे तो फर्म का सन्तुलन उसके कुल आय (Total Revenue) और कुल लागत (Total Cost) के वक्रो की सहायता से भी दर्शाया जा सकता है अर्थात् जिस उत्पादन मात्रा पर कुल आय तथा कुल लागत का अन्तर अधिकतम हो, वही मात्रा सन्तुलन मात्रा होगी। परन्तु अर्थशास्त्र मे हम अधिकतर सीमान्त आय और सीमान्त लागत वाले वक्रो द्वारा फर्म के सन्तुलन का विश्लेषण करते हैं। सीमान्त वक्रो द्वारा सन्तुलन ज्ञात करना एक तो अपेक्षाकृत सुगम है, और ऐसा करने में

दूसरा लाभ यह है कि फर्म के सन्तुलन मे जो ऊपर बतायी तीन मुख्य बातें हमे मालूम करनी होती है, वे रेखाकृति पर एक दृष्टि डालने से एकदम ज्ञात हो जाती हैं। इसमे हमे न केवल सन्तुलन मात्रा और लाभ ज्ञात हो जाते हैं, वरन् फर्म या उत्पादक किस प्रति इकाई कीमत पर अपनी वस्तु बेचेगा, यह भी तत्काल दृष्टिगत हो जाता है। साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि इस सन्तुलन स्थिति म लाभ अधिक क्यो कर है।

अत आगे जहाँ कही भी हम फर्म या उत्पादक के सन्तुलन का विश्लेषण करेंगे वहाँ सीमान्त वक्रो का प्रयोग करेंगे। यह बात पुनरावृत्ति के योग्य है कि फर्म के सन्तुलन के लिए यह आवश्यक है कि सीमान्त आय और सीमान्त लागत आपस मे बराबर हो ($MR = MC$) तथा सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय वक्र को नीचे से काटे।

फर्म के सन्तुलन के लिए सीमान्त आय और सीमांत लागत को समान करने की यह परख (test) अर्थशास्त्र मे विश्लेषण करने के लिए ही प्राय प्रयोग की जाती है। फर्मे या व्यवसायी लोग बहुत कम ही इस ढग से अपना सन्तुलन निर्धारित करते हैं। वे वास्तव मे सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत का कदाचित कभी लेखा-जोखा ही नही करते। उनका मुख्य ध्येय अपने मुद्रा लाभ को अधिकतम करना होता है। यह देखने के लिए वे आम तौर पर कुल आय और कुल लागत की ओर ही अपना ध्यान देते हैं जिससे कि उनका लाभ अधिक से-अधिक हो जाये। परन्तु इनम से जो भी ढग अथवा परख (test) अपनाई जाय, परिणाम एक ही निकलेगा। ऊपर हमने देखा कि सीमान्त आय=सीमान्त लागत वाला तरीका हमारे विश्लेषण के लिए क्यो श्रेष्ठ है। इसलिए इसका प्रयोग किया जाता है।

उद्योग का सन्तुलन
(Equilibrium of the Industry)

किसी उद्योग का सन्तुलन तब होगा जब कि उस उद्योग मे वस्तु की कुल उत्पादन मात्रा मे घटने बढ़ने की प्रवृत्ति नही होगी (An industry is said to be in equilibrium when there is no tendency for its total output to vary)। किसी उद्योग की उत्पादन-मात्रा म घटने बढ़ने की प्रवृत्ति न होने के लिए आवश्यक शर्त यह है कि उसके द्वारा उत्पादित पदार्थ की माँग मात्रा तथा उसके द्वारा उसकी को गई पूर्ति बराबर हो। जब तक पदार्थ की माँग और पूर्ति की मात्राएँ समान नही होती उस पदार्थ के उद्योग द्वारा अपनी पूर्ति अथवा उत्पादन मात्रा बढाने अथवा घटाने की प्रवृत्ति होगी। उदाहरण के लिए, यदि किसी प्रचलित कीमत पर पदार्थ की माँग-मात्रा अधिक है तथा पूर्ति की मात्रा अपेक्षाकृत कम है तो यह उद्योग अपना उत्पादन बढाने के लिए प्रेरित होगा। इसके विपरीत किसी प्रचलित कीमत पर उद्योग के पदार्थ की माँग, उद्योग द्वारा उसकी पूर्ति से कम है तो उद्योग अपना उत्पादन अथवा पूर्ति घटाने के लिए प्रेरित होगा। जब पदार्थ की माँग तथा उद्योग द्वारा उसकी पूर्ति की मात्राएँ परस्पर बराबर होगी तो उद्योग मे अपना उत्पादन अथवा पूर्ति घटाने-बढाने की प्रवृत्ति नही होगी। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पदार्थ की जिस मात्रा तथा कीमत पर उसका माँग वक्र तथा पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटेंगे, उस उत्पादन-मात्रा पर उद्योग का सन्तुलन होगा।

अब प्रश्न उठता है कि किसी उद्योग की पूर्ति अथवा उत्पादन किन तत्वो पर निर्भर करता है तथा कैसे बदल सकता है। किसी उद्योग मे कुल उत्पादन मे दो प्रकार से परिवर्तन हो सकता है। एक तो यदि उस उद्योग की वर्तमान फर्मे अपना-अपना उत्पादन बदल दें और दूसरा यदि उस उद्योग मे कई नई फर्मे प्रविष्ट हो जाएँ या पहले से चली आ रही कुछ फर्मे उस उद्योग को छोड दें। अत उद्योग की पूर्ति अथवा उत्पादन-मात्रा स्थिर तब रहगी जब निम्नलिखित दो शर्तें एक साथ पूरी हो रही हो। पहले तो यह कि उस उद्योग की सभी वर्तमान फर्मे सन्तुलन मे हो, अर्थात् अपनी-अपनी उत्पादन मात्रा को घटाना-बढाना न चाहती हो। दूसरी शर्त यह है कि उस उद्योग मे कोई नई फर्मे प्रवेश न कर रही हो और न ही पहले से चली आ रही फर्मे उस उद्योग को छोडना चाहती हो। इस प्रकार वह उद्योग सन्तुलन मे होगा (Thus an

industry would be in equilibrium when neither the individual firms in it have incentive to change their output nor is there any tendency for any new firms to enter it or the existing firms to leave it) ।

जैसा कि हम ऊपर इस अध्याय मे देख आए हैं, पहली शर्त कि उस उद्योग मे प्रत्येक फर्म सन्तुलन मे हो तब पूरी होगी जब उसकी सीमान्त आय उसकी सीमान्त लागत के बराबर होगी ($MR = MC$)। दूसरी शर्त कि बाहर की फर्मों मे यह प्रवृत्ति न हो कि वे उस उद्योग मे प्रवेश करें और न ही उस उद्योग की वर्तमान फर्में उसे छोडना चाहे, तब पूरी होगी जब उस उद्योग मे उत्पादन कर रहे सभी उद्यमी (entrepreneurs) या उत्पादक (producers) कम-से-कम सामान्य लाभ (normal profits) कमा रहे हो और जो उद्यमी अन्य उद्योगो मे काम कर रहे हो, वे यह सोचते हो कि यदि वे अपने उद्योगो को छोडकर उस उद्योग मे आ जाएँ तो कम-से-कम 'सामान्य लाभ' भी नही कमा सकेंगे (An industry will have no tendency for its firms to move either into or out of it when all the entrepreneurs engaged in that industry are earning at least normal profits, and when no entrepreneur outside the industry thinks that he could earn at least normal profits if he were to enter it)

उपर्युक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी उद्योग के सन्तुलन के लिए निम्नलिखित तीन शर्तें पूरी होनी चाहिए

1 उद्योग द्वारा उत्पादित पदार्थ की पूर्ति की गई मात्रा तथा उसके लिए माँग की मात्रा समान हो अर्थात जहाँ पर माँग और पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटते हैं।

2 माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित कीमत पर सभी फर्में इतना उत्पादन कर रही हो जहाँ पर उनकी सीमान्त लागत, सीमान्त आय के समान हो अर्थात् सभी फर्में दी हुई कीमत पर अपने व्यक्तिगत सतुलन की स्थिति मे हो।

3 नई फर्मों की उद्योग मे प्रवेश करने की तथा वर्तमान फर्मों की उद्योग से बाहर जाने की प्रवृत्ति न हो अर्थात् जब वर्तमान फर्में केवल सामान्य लाभ ही अर्जित कर रही हो।

जैसा कि हम पहले पढ चुके हैं, अल्पकाल मे किसी उद्योग मे फर्में न तो प्रवेश कर सकती हैं और न ही उससे बाहर जा सकती हैं, इसलिए कोई उद्योग अल्पकालीन सन्तुलन मे तब होगा जब उपर्युक्त पहली दो शर्तें पूरी हो रही हैं। परन्तु दीर्घकाल मे नई फर्में उद्योग मे प्रवेश कर भी सकती हैं और वर्तमान फर्में उसे छोड कर बाहर भी जा सकती हैं। इसलिए उद्योग का दीर्घकालीन सन्तुलन तभी होगा जब उपर्युक्त तीनो शर्तों की पूर्ति होती है।

उद्योग का दीर्घकालीन सन्तुलन और 'सामान्य लाभ' की धारणा (Long-Run Equilibrium of the Industry and the Concept of Normal Profits)

यहाँ हमने 'सामान्य लाभ' को पारिभाषिक शब्द के रूप मे प्रयोग किया है, अत हमें चाहिए कि इसे भली-भाँति समझ लें। सक्षेपत किसी उद्योग के 'सामान्य लाभ' से हमारा आशय यह होता है कि उस उद्योग की प्रत्येक फर्म को कम-से-कम कितना लाभ अवश्य हो जिससे कि वह उसी उद्योग मे ही काम करती रहे, उसे छोडने की न सोचे या चेष्टा न करे (Normal profits are profits which are just sufficient to induce the individual firms in an industry to stay on in that industry)

मान लीजिए कि किसी उद्योग मे जितने उद्यमी (entrepreneurs) हैं, वे यदि उस उद्योग को छोडकर अन्य उद्योगो मे चले जाएँ तो उनमे वे सभी बराबर लाभ (profit) प्राप्त करते हैं, परन्तु उस उद्योग-विशेष मे उन्हें भिन्न-भिन्न लाभ (profits) प्राप्त होते हैं, अर्थात् कई उद्यमी अधिक लाभ अर्जित करते हैं और

कई कम लाभ। वे सभी उद्यमी उस उद्योग विशेष मे तभी रहेगे जब उनमे से हर एक को कम-से-कम इतना लाभ अवश्य हो रहा हो जितना कि वे अन्य उद्योगो मे प्राप्त कर सकते हो। हमने ऊपर मान लिया है कि अन्य उद्योगो मे उन्हे लाभ बराबर होता है। अत उन सभी उद्योगो के उस उद्योग मे लगे रहने के लिए उन्हें कम-से-कम इतना लाभ (जिसे हमने सबके लिए बराबर मान लिया है) जो वे उस उद्योग को छोडकर प्राप्त कर सकते हैं, अवश्य प्राप्त हो।

यदि कही उस उद्योग-विशेष की सभी फर्में इस सामान्य लाभ से अधिक लाभ प्राप्त करने लग जाएँ, तो अन्य उद्योगो की फर्में भी इस उद्योग मे आना चाहेंगी, क्योकि उन्हे यह आशा होगी कि इस उद्योग मे आने पर कम-से-कम उन्हे यह सामान्य लाभ तो प्राप्त होगा। इस प्रकार उस उद्योग में फर्मों की सख्या बढ़ जाने की प्रवृत्ति होगी। इसके विपरीत, यदि उस उद्योग-विशेष मे कई फर्मों के लाभ इस सामान्य लाभ से कम हो जाएँ, तो वे फर्में उस उद्योग को छोड देंगी और किन्ही अन्य उद्योगो मे जाकर वे सामान्य लाभ प्राप्त करने का प्रयास करेंगी। इसका फल यह होगा कि उस उद्योग मे फर्मों की सख्या कम होने लग जाएगी।

अब उद्योग के दीर्घकालीन सन्तुलन को फिर एक बार परिभाषा कर दें। कोई उद्योग दीर्घकालीन सन्तुलन मे हुआ तब कहलाता है जब उसकी सभी फर्में कम-से-कम सामान्य लाभ अवश्य कमा रही हो और इसकी हरेक फर्म भी सन्तुलन मे हो (अर्थात् हरेक फर्म की अपनी-अपनी औसत आय और औसत लागत बराबर हो) उद्योग के इस प्रकार के सन्तुलन को 'सपूर्ण सतुलन' (full equilibrium) भी कहा जाता है। (An industry would be in long-run equilibrium when all the firms in it are earning at least normal profits and also all the individual firms in it are in equilibrium, i e, they are equating marginal revenue with marginal cost)।

सामान्य लाभ और औसत लागत वक्र (Normal Profits and Average Cost Curve)

पहले एक गत अध्याय में हम फर्म की औसत लागत की सविस्तार व्याख्या कर आए है। सामान्य लाभ की धारणा को विचार मे रखते हुए अब हम औसत लागत के विषय मे कुछ और जानकारी प्राप्त करनी है। कोई भी फर्म या उद्यमी सदा इस बात की चेष्टा करता रहेगा कि जिस कीमत पर वह अपनी वस्तु बेचता है उस पर उसकी औसत लागत अवश्य पूरी हो। परन्तु अभी हमने देखा कि वह उद्यमी किसी उद्योग-विशेष मे तब काम करता रहेगा जब उसे औसत लागत के अतिरिक्त उस उद्योग का सामान्य लाभ भी प्राप्त हो रहा होगा। यदि अपनी लागत पूरी कर लेने के अतिरिक्त वह सामान्य लाभ नही कमा रहा, तो वह उद्योग को छोड देगा। अत किसी उद्यमी का उद्योग मे काम करते रहना या छोड देना केवल इस बात पर निर्भर नही करता कि वह अपनी औसत कुल लागत (average total cost) पूरी कर रहा है वरन् इस पर भी कि क्या वह कम-से-कम सामान्य लाभ कमा रहा है या नही। अत हमे औसत लागत मे सामान्य लाभ को भी सम्मिलित करना होगा यदि हम यह जानना चाहते हों कि क्या किसी फर्म की प्रवृत्ति उद्योग मे रहने की है या छोडने की। यदि वस्तु की कीमत उसकी उस औसत लागत के बराबर हो जिसमे सामान्य लाभ भी शामिल कर लिया गया हो, तो स्पष्ट है कि फर्म अपनी औसत लागत पूरा करने के अतिरिक्त सामान्य लाभ भी अर्जित कर रही है, न इससे कम और न इससे अधिक। ऐसी दशा मे हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि वह उद्योग सन्तुलन मे है, क्योकि तब फर्मों मे न तो उस उद्योग को छोडने की प्रवृत्ति होगी और न ही उस उद्योग मे बाहर से आने की। यदि कीमत ऐसी औसत लागत से अधिक हो जिसमे सामान्य लाभ भी सम्मिलित कर लिया गया है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि उस उद्योग की वर्तमान फर्में सामान्य से अधिक लाभ (supernormal profits) प्राप्त कर रही हैं। ऐसी अवस्था मे नई फर्में उस उद्योग मे आती चली जाएँगी जब तक कि उनकी प्रतियोगिता के फलस्वरूप लाभ पुन सामान्य (normal) नही हो जाते।

अब विपरीत स्थिति को देखें। यदि कीमत इस औसत लागत से कम हो जिसमे सामान्य लाभ भी जोड दिए गए हैं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि कई फर्में उस उद्योग को छोड देंगी क्योकि व सामान्य लाभ नही

कमा रही। और इस प्रकार कुछ फर्मों के उस उद्योग को छोड देने पर उसमे फर्मों की संख्या इतनी कम हो जाएगी कि शेष फर्में उस से कम-से-कम औसत लागत तो पूरी कर सकेंगी, जिस औसत लागत में सामान्य लाभ भी शामिल होगा। अत अब स्पष्ट हो गया होगा कि यदि हम औसत लागत या सामान्य लाभ शामिल न करें तो हम यह सरलता से नही जान सकेंगे कि क्या वह उद्योग सन्तुलन मे है या नही है।

जैसा कि हमने अभी देखा, किसी भी उद्योग का *सामान्य लाभ एक अमुक राशि होती है (there will* be a given level of normal profits for an industry)। अन्य शब्दो मे, सामान्य लाभ एक स्थिर राशि (fixed amount) है, जो उद्योग-विशेष की सभी फर्मों को अवश्य अर्जित करनी होती है, यदि उन्हे उस उद्योग मे काम करते रहना है। यह स्थिर राशि फर्म की उत्पादन मात्रा पर निर्भर नही करती। उत्पादन मात्रा चाहे कम हो चाहे अधिक, यह स्थिर राशि तो उस फर्म को अवश्य लाभ रूप म प्राप्त होनी चाहिए। चूंकि यह सामान्य लाभ की राशि एक स्थिर राशि है, इसलिए जैसे-जैसे उत्पादन मात्रा बढ़ती जाएगी, सामान्य लाभ की यह राशि अधिक उत्पादन मात्रा पर बट जाएगी और वस्तु की प्रति इकाई पर सामान्य लाभ कम होता चला जाएगा। आपको याद होगा कि हमने दसवें अध्याय मे देखा कि औसत लागत का वक्र पहले नीचे गिरता है। अब आप स्वय देख सकते हैं कि इसके नीचे गिरने का एक और कारण यह भी है कि उत्पादन मात्रा के बढने पर वस्तु की प्रति इकाई पर सामान्य लाभ कम होता चला जाता है।

अब रेखाकृति 18 12 को देखें, इसमे हमने औसत लागत के वक्र म सामान्य लाभ भी सम्मिलित किया है। इस रेखाकृति मे ACP वक्र उत्पादन की औसत लागत का वक्र (Curve of Average Cost of Production) है, अर्थात् यह केवल उत्पादन लागत को ही व्यक्त करता है, इसमे सामान्य लाभ सम्मिलित नही है। अब यदि इस ACP वक्र मे हम सामान्य लाभ जोड दें, तो AC वक्र बन जाता है। इस AC वक्र मे उत्पादन की प्रति इकाई लागत और प्रति इकाई सामान्य लाभ को जोड दिया गया है। $AC = ACP$ NP, where NP is Normal Profit)। रेखाकृति मे यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि ACP वक्र और AC वक्र के बीच लम्बवत् अन्तर
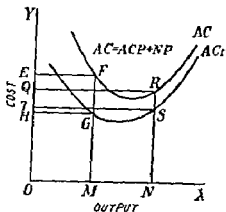
रेखाकृति 18 12 सामान्य लाभ को औसत लागत वक्र मे सम्मिलित करना

(the vertical distance between ACP and AC) धीरे-धीरे कम होता चला जाता है। यह इस बात का द्योतक है कि सामान्य लाभ एक स्थिर राशि होने के कारण, उत्पादन मात्रा के बढने पर प्रति इकाई सामान्य लाभ घटता चला जाता है। उदाहरणत इस रेखाकृति मे जब वस्तु की उत्पादन मात्रा OM है, तो प्रति इकाई सामान्य लाभ FG है और जब उत्पादन बढ कर ON हो जाता है, तो प्रति इकाई सामान्य लाभ तब RS है, जो FG से कम है।

हाँ, यह बात अवश्य याद रखें कि उत्पादन मात्रा कितनी भी क्यों न बढ जाय, ACP वक्र और AC वक्र एक दूसरे से अलग रहेगे, परस्पर नहीं मिलेंगे, क्योकि प्रति इकाई सामान्य लाभ जितना भी थोडा हो जाय कुछ-न-कुछ तो अवश्य होगा, अर्थात् ACP वक्र और AC वक्र के बीच थोडा बहुत अन्तर अवश्य रहेगा।

यह बात कि उत्पादन मात्रा चाहे कुछ हो, सामान्य लाभ एक स्थिर राशि है, इस रेखाकृति मे यो देखिए। OM उत्पादन मात्रा पर सामान्य लाभ $HGFE$ आयताकार (rectangle) के समान है और ON मात्रा पर $TSRQ$ आयताकार (rectangle) के। इन दोनो आयताकारो का क्षेत्रफल बराबर होगा। जो औसत लागत वक्र प्राय खींचा जाता है उसमे, सामान्य लाभ सम्मिलित होते हैं।

19

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का सन्तुलन
(EQUILIBRIUM OF THE FIRM UNDER PERFECT COMPETITION)

पूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ
(Meaning of Perfect Competition)

गत अध्याय मे हमने फर्म के सन्तुलन का सामान्य विश्लेषण किया। वर्तमान अध्याय मे हम पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे फर्म के सतुलन के विषय मे अध्ययन करेंगे। सर्वप्रथम यह बता देना आवश्यक है कि पूर्ण प्रतियोगिता का क्या अर्थ है। पूर्ण प्रतियोगिता बाजार मे तब विद्यमान होती है जब निम्नलिखित शर्तें पूरी होती हैं—

1. पदार्थ को उत्पादित करने तथा बेचने वाली फर्मों अथवा विक्रेताओ की सख्या अधिक हो।

2 सभी फर्मों द्वारा उत्पादित पदार्थ बिल्कुल समान हो।

3 विक्रेता तथा क्रेता दोनो को बाजार मे प्रचलित कीमत के विषय मे पूर्ण जानकारी प्राप्त हो।

4 उद्योग मे फर्में स्वतन्त्र रूप से प्रवेश कर सकती हो तथा उससे बाहर जा सकती हो। हम नीचे पूर्ण प्रतियोगिता की इन चार शर्तों का सविस्तार विवेचन करेंगे।

फर्मों की अधिक संख्या (Large Number of Firms)

पूर्ण प्रतियोगिता की पहली शर्त यह है कि उद्योग में फर्मों की सख्या बहुत अधिक है। पूर्ण प्रतियोगिता मे एक व्यक्तिगत फर्म की एक उद्योग अथवा बाजार मे दशा समुद्र मे पानी के एक कतरे के समान होती है। फर्मों की सख्या का बहुत अधिक होना इस बात की गारण्टी है कि कोई व्यक्तिगत फर्म पदार्थ की कीमत पर कोई प्रभाव नही डाल सकती। एक व्यक्तिगत फर्म का उत्पादन समूचे उद्योग के कुल उत्पादन का एक नगण्य भाग होता है जिससे किसी व्यक्तिगत फर्म के उत्पादन मे कमी या वृद्धि का उद्योग द्वारा उस पदार्थ की कुल पूर्ति पर कोई प्रभाव नही पडता। परिणामस्वरूप एक व्यक्तिगत फर्म पूर्ण प्रतियोगिता मे अपनी उत्पादन मात्रा को घटा-बढ़ा कर पदार्थ की कीमत को प्रभावित नही कर सकती। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत व्यक्तिगत फर्म पदार्थ की बाजार मे प्रचलित कीमत को अपने लिए एक दी हुई तथा स्थिर मान लेती है तथा केवल अपनी उत्पादन मात्रा को उसके अनुसार निश्चित करती है जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। दूसरे शब्दो मे, पूर्ण प्रतियोगिता मे एक फर्म कीमत को स्थिर मान लेती है और उसके अनुसार अपनी उत्पादन मात्रा का निश्चय करती है।

बिल्कुल समान पदार्थ (Homogeneous Products)

पूर्ण प्रतियोगिता की दूसरी शर्त यह है कि उद्योग

में सभी फर्में जो पदार्थ बना रही होती हैं वे बिल्कुल समान तथा एक जैसे होते हैं। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित पदार्थों में बिल्कुल कोई अन्तर नहीं होता और वे एक दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न (perfect substitutes) होते हैं। बिल्कुल समान पदार्थों की दशा में भिन्न-भिन्न व्यापारिक नाम, विशेष प्रकार के भिन्न-भिन्न लेबल आदि जो विभिन्न पदार्थों को एक दूसरे से विभेदीकृत बनाने में सहायक होते हैं नहीं पाये जाते। यहाँ यह समझ लेना जरूरी है कि यदि उद्योग में बहुत सी फर्में हों लेकिन वे विभेदकृत पदार्थों (differentiated products) का उत्पादन कर रही हों तो प्रत्येक का अपनी पदार्थ की किस्म की कीमत पर कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य होगा। इसलिए कीमत पर नियन्त्रण केवल तब ही नहीं होता जब सभी फर्में बिल्कुल समान पदार्थ उत्पादित कर रही हों।

लेकिन क्या पदार्थ बिल्कुल समान है अथवा नहीं इसको तो क्रेताओं अथवा उपभोक्ताओं की दृष्टि से देखना होगा। विभिन्न पदार्थ बिल्कुल समान तभी माने जाएँगे यदि उपभोक्ता अथवा क्रेता उनको एक-जैसा समझते हैं। यदि उपभोक्ता विभिन्न पदार्थों में कुछ काल्पनिक अन्तर (imagined difference) करते हैं तो पदार्थ बिल्कुल समान नहीं माने जाएँगे, चाहे वे भौतिक रूप से बिल्कुल समान ही क्यों न हों। कोई भी कारण जिससे उपभोक्ता एक विक्रेता को दूसरे विक्रेता की तुलना में प्राथमिकता देता है चाहे यह उसका व्यक्तित्व हो, चाहे प्रसिद्धि (goodwill) हो अथवा सुविधाजनक स्थान हो अथवा उसकी दुकान का अनुकूल वातावरण हो, ये सब पदार्थ को विभेदीकृत बना देते हैं। इसलिए पदार्थ बिल्कुल समान तब माने जाते हैं जब सभी विक्रेताओं द्वारा बेची गयी वस्तु का उपभोक्ताओं को प्राप्त तुष्टिगुण बिल्कुल समान हो। यदि विभिन्न फर्मों अथवा विक्रेताओं द्वारा बेची गयी वस्तुओं के तुष्टिगुण समान होंगे तो तब ही क्रेताओं को विभिन्न विक्रेताओं के बीच कोई अधिमान नहीं होगा और फलस्वरूप व्यक्तिगत विक्रेताओं का पदार्थ की कीमत पर कोई नियन्त्रण नहीं होगा। बिल्कुल समान पदार्थों का होना इस बात को प्रकट करता है कि सभी विक्रेताओं के पदार्थ उपभोक्ताओं की दृष्टि में बिल्कुल समान हैं और परिणामस्वरूप वे विभिन्न विक्रेताओं के बीच उदासीन होते हैं।

प्रचलित कीमत के विषय में पूर्ण जानकारी (Perfect Information about the Prevailing Price)

पूर्ण प्रतियोगिता की एक अन्य शर्त यह है कि विक्रेता तथा क्रेता दोनों ही बाजार में प्रचलित कीमत के विषय में पूर्णतः अवगत हैं। सभी क्रेताओं को बाजार में पदार्थ की कीमत के विषय में पूर्ण ज्ञान होने के कारण कोई विक्रेता वस्तु की प्रचलित कीमत से अधिक कीमत प्राप्त नहीं कर सकता। यदि कोई विक्रेता बाजार में प्रचलित कीमत से अधिक कीमत प्राप्त करने की चेष्टा करता है, तब उपभोक्ता उसको छोड़ कर अन्य विक्रेताओं से उस वस्तु को प्रचलित कीमत पर खरीद लेगा क्योंकि वह जानता है कि बाजार में उस वस्तु की क्या कीमत है। इसी प्रकार सभी विक्रेताओं को भी बाजार में पदार्थ की प्रचलित कीमत के विषय में पूर्ण ज्ञान होता है और कोई भी इसे प्रचलित कीमत से कम कीमत पर नहीं बेचेगा।

स्वतन्त्र रूप से उद्योग में प्रवेश करना तथा उसको छोड़ना (Free Entry and Free Exit)

अन्त में पूर्ण प्रतियोगिता तभी मौजूद होती है जब फर्में किसी उद्योग में दीर्घकाल में स्वतन्त्र रूप से प्रवेश कर सकती हैं अथवा पहले से काम कर रही फर्में उसको छोड़ सकती हैं। दूसरे शब्दों में, उद्योग में फर्मों के प्रवेश पर कोई बन्धन न हो। चूँकि अल्पकाल में न तो फर्में अपने संयन्त्र (Plant) के आकार को बदल सकती हैं और न ही नई फर्में उद्योग में प्रवेश कर सकती हैं और न ही पुरानी फर्में उसको छोड़ सकती है इसलिए स्वतन्त्र प्रवेश करने और छोड़ने की यह शर्त पूर्ण प्रतियोगिता में केवल दीर्घकाल में ही लागू होती है। यदि अल्पकाल में फर्में सामान्य लाभ से अधिक लाभ अर्जित कर रही हैं तो इस शर्त के अनुसार दीर्घकाल में उस उद्योग में नई फर्में आकृष्ट होंगी और इस प्रकार सामान्य लाभों को समाप्त कर देंगी। इसके विपरीत, यदि अल्पकाल में फर्में हानि उठा रही हैं तब दीर्घकाल में उनमें कुछ फर्में उद्योग

को छोड़ जाएँगी जिसके परिणामस्वरूप पदार्थ की कीमत बढ़ जाएगी और जो फर्में उद्योग में बच जाएँगी वे कम-से-कम सामान्य लाभ प्राप्त कर रही होंगी।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत पदार्थ की केवल एक ही कीमत निश्चित होगी तथा एक व्यक्तिगत फर्म के पदार्थ का माँग वक्र (अथवा औसत आय वक्र) बाजार में प्रचलित कीमत पर पूर्णतया मूल्यसापेक्ष (perfectly elastic) होगा। पूर्णतया मूल्यसापेक्ष माँग वक्र यह व्यक्त करता है कि फर्म का पदार्थ की कीमत पर कोई प्रभाव नहीं और वह प्रचलित कीमत पर वस्तु की जितनी मात्रा चाहे बेच सकती है। यदि फर्म प्रचलित कीमत से अपनी कीमत थोड़ी सी भी बढ़ा देती है तो इसके समस्त ग्राहक इसको छोड़ जाएँगे और इसके प्रतिद्वन्द्वियों से उस पदार्थ को खरीद लेंगे। पूर्ण प्रतियोगिता में एक फर्म बाजार में प्रचलित कीमत पर जितनी मात्रा चाहे बेच सकती है, इसलिए वह कीमत को कम करने के लिए प्रेरित नहीं होगी। वस्तु की कीमत को प्रभावित न कर सकने तथा उसको कम करने की कोई प्रेरणा न होने की दशा में फर्म बाजार में प्रचलित कीमत को स्वीकार कर लेगी। जो बाजार में कीमत निर्धारित

रेखाकृति 19 1

होती है, फर्म उसको स्थिर मानकर उसके अनुसार अपनी उत्पादन मात्रा निश्चित करती है ताकि उसके लाभ अधिकतम हो। रेखाकृति 19 1 को देखिए जिसमें आरम्भ में एक वस्तु का माँग वक्र DD और पूर्ति वक्र SS है जो एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं और इस प्रकार कीमत OP निर्धारित होती है। अब चूँकि फर्म का कीमत पर कोई प्रभाव नहीं है, इसलिए सभी फर्में कीमत OP को स्थिर मान लेंगी। इसलिए उनकी औसत-आय (AR) वक्र, कीमत OP के स्तर पर क्षितिज के समानान्तर सरल रेखा (horizontal straight line) होगा तथा सीमान्त आय वक्र उसके बराबर होगा। अब मान लीजिए कि माँग बढ़ जाती है जिससे माँग वक्र ऊपर को सरक कर $D'D'$ हो जाता है और फलस्वरूप कीमत बढ़ कर OP' हो जाती है। तब फर्म कीमत OP' को ही स्थिर मान लेगी और इसलिए अब उसके लिए नई औसत आय तथा सीमान्त आय ($AR'=MR'$) वक्र OP' के स्तर पर स्थित होगी। इसके विपरीत यदि माँग घट जाती है जिससे माँग वक्र नीचे को सरक कर $D''D''$ तक पहुँच जाता है तो कीमत गिर कर OP'' हो जाएगी। परिणामस्वरूप अब फर्म की औसत आय अथवा सीमांत आय वक्र नीचे को सरक कर OP'' के स्तर पर बनेगा। यह रेखाकृति 19 1 को देखने पर स्पष्ट हो जाएगा।

ऊपर बताई गई पूर्ण प्रतियोगिता की चौथी शर्त अर्थात् उद्योग में फर्मों का स्वतन्त्र रूप से आना-जाना इस बात की गारन्टी देता है कि दीर्घकाल में फर्मों को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होंगे। एक ओर तो उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश द्वारा असामान्य लाभ खत्म हो जाएँगे और दूसरी ओर उद्योग को कुछ फर्मों द्वारा छोड़ देने के फलस्वरूप हानियाँ समाप्त हो जाएँगी।

पूर्ण प्रतियोगिता तथा शुद्ध प्रतियोगिता में अन्तर (Perfect Competition Distinguished from Pure Competition)

कुछ अर्थशास्त्री जैसे कि प्रो० चैम्बरलिन पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition) तथा शुद्ध प्रतियोगिता (Pure Competition) में अन्तर करते हैं। उनके अनुसार शुद्ध प्रतियोगिता उस प्रतियोगिता को व्यक्त करती है जिसमें एकाधिकार का कोई अंश वर्तमान न हो। दूसरे शब्दों में, शुद्ध प्रतियोगिता तब पाई जाती है जब एकाधिकार मौजूद न हो। इस प्रकार शुद्ध प्रतियोगिता केवल एक प्रकार की शुद्धता

अर्थात् एकाधिकारी मशों की अनुपस्थिति को प्रकट करती है। दूसरी ओर, पूर्ण प्रतियोगिता अधिक व्यापक धारणा है जिसमें केवल एकाधिकार की अनुपस्थिति ही नहीं होती बल्कि कई अन्य प्रकार की शुद्धताएँ भी पाई जाती है। ये अन्य प्रकार की शुद्धताएँ हैं : साधनों की पूर्ण गतिशीलता (perfect mobility of the factors) जिससे दशाओं के बदलने पर उत्पादन में परिवर्तन बहुत शीघ्र तथा बिना समय के सम्पन्न हो सके, विक्रेताओं तथा क्रेताओं का भविष्य के बारे में पूर्ण ज्ञान (perfect knowledge about the future) और फलस्वरूप अनिश्चितता का न होना।

एकाधिकार की स्थिति में उत्पादक अथवा विक्रेता का पदार्थ की कीमत पर नियन्त्रण होता है। शुद्ध प्रतियोगिता, जिसका अर्थ एकाधिकार का अभाव है, में व्यक्तिगत फर्मों का वस्तु की कीमत पर कोई प्रभाव अथवा नियन्त्रण नहीं होता। वस्तु की कीमत पर प्रभाव न होने की दो शर्तें हैं - प्रथम, विक्रेताओं की बहुत अधिक संख्या जिससे कि प्रत्येक की पूर्ति कुल पूर्ति का एक नगण्य भाग हो और, द्वितीय सभी विक्रेताओं के पदार्थ बिलकुल एक-जैसे हों। जब एकाधिकार न हो क्योंकि ये दोनों शर्तें पूरी होती है लेकिन अन्य शुद्धताएँ जैसे कि साधनों की पूर्ण गतिशीलता, भविष्य के विषय में पूर्ण ज्ञान आदि न हों तब प्रतियोगिता शुद्ध (pure) तो होगी परन्तु पूर्ण (perfect) नहीं। इसके विपरीत, यदि किसी बाजार (मार्किट) में एकाधिकार पाया जाता हो लेकिन अन्य उपर्युक्त शुद्धताएँ विद्यमान हों तब उस बाजार को पूर्ण तो कहा जाएगा लेकिन वह शुद्ध बाजार नहीं होगा।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का सन्तुलन (Equilibrium of the Firm under Perfect Competition)

हम पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं कि अल्पकाल वह समय अवधि है जिसमें फर्म केवल घटते-बढ़ते साधनों जैसे कि श्रम और कच्चा माल को बढ़ा-घटा कर अपनी उत्पादन मात्रा को बदल सकती हैं, जबकि स्थिर साधन जैसे कि यन्त्र, पूँजी, उपकरण आदि अपरिवर्तित रहते हैं। इसके अतिरिक्त अल्पकाल में फर्म उद्योग में न तो प्रवेश कर सकती हैं और न ही पहले से चली आ रही फर्में उसको छोड़ सकती हैं। फर्म के सन्तुलन की व्याख्या करने से पूर्व हम यह बता दें कि हमारी यह मान्यता है कि फर्म अपनी मुद्रा लाभ को अधिकतम करने की चेष्टा करती है। हम पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म के सन्तुलन की व्याख्या अल्पकाल तथा दीर्घकाल दोनों स्थितियों में करेंगे। एक और मान्यता जो हम फर्म के सन्तुलन की व्याख्या में करेंगे वह यह है कि सभी फर्मों की उत्पादन लागत समान है इसका तात्पर्य यह है कि सभी फर्मों द्वारा प्रयोग किये जा रहे उत्पादन के साधन एक समान रूप से कार्यकुशल (equally efficient) हैं।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का अल्पकालीन सन्तुलन (Short-run Competitive Equilibrium)

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में एक व्यक्तिगत फर्म को पदार्थ की बाजार में प्रचलित कीमत माननी पड़ती है। यह अपने व्यक्तिगत उत्पादन को घटा-बढ़ा कर वस्तु की कीमत पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती। परिणामस्वरूप पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का माँग वक्र अथवा औसत आय वक्र एक समानान्तर सरल रेखा होती है। चूँकि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत काम कर रही फर्म उत्पादन की अतिरिक्त इकाइयाँ समान कीमत पर बेचती है, इसलिए इसका सीमान्त आय (MR) वक्र, औसत आय (AR) वक्र के समान ही होता है। सीमान्त लागत (MC) वक्र जैसा कि हम एक पूर्व अध्याय में पढ़ चुके हैं प्रायः अंग्रेजी के अक्षर U की आकृति का होता है। अपनी सन्तुलन उत्पादन-मात्रा का निर्णय करने के लिए फर्म सीमान्त लागत की सीमान्त आय से तुलना करती है। यह उत्पादन की उस मात्रा पर सन्तुलन में होगी जिस पर कि सीमान्त लागत, सीमान्त आय के समान है तथा सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय को नीचे से काट रहा है क्योंकि इसी उत्पादन स्तर पर ही उसके लाभ अधिकतम होंगे। चूँकि पूर्ण प्रतियोगिता में सीमान्त

आय, कीमत अथवा औसत आय के समान होती है, फर्म अपनी सन्तुलन मात्रा को प्राप्त करने के लिए सीमान्त लागत को कीमत के बराबर करेगी। रेखाकृति 19.2 पर दृष्टि डालिए जिसमे बाजार मे वस्तु की प्रचलित कीमत OP है। PL रेखा फर्म की मांग वक्र अथवा सीमान्त एव औसत आय वक्र है। रेखाकृति देखने पर ज्ञात होगा कि सीमान्त लागत (MC) वक्र औसत एव सीमान्त आय वक्र को दो बिन्दुओ F तथा E पर काटता है। बिन्दु F सन्तुलन की स्थिति नहीं हो सकती क्योकि इस पर सीमान्त लागत वक्र अभी सीमान्त आय वक्र को ऊपर से काट रहा है और इस प्रकार सतुलन की दूसरी शर्त (अर्थात् सन्तुलन मात्रा पर सीमान्त

रेखाकृति 19.2
फर्म का अल्पकालीन सन्तुलन

लागत वक्र, सीमान्त आय वक्र को नीचे से काट रहा हो) की पूर्ति नहीं होती। यदि फर्म बिन्दु F से आगे उत्पादन को बढ़ाती है तो सीमान्त लागत, सीमान्त आय से कम है जिससे फर्म को उत्पादन बढ़ाने पर लाभ होगा। स्पष्ट है कि फर्म बिन्दु F पर नहीं रुकेगी और इससे आगे उत्पादन बढ़ाने पर प्रेरित होगी क्योंकि इससे उसके लाभ में वृद्धि होगी। फर्म बिन्दु E अथवा उत्पादन मात्रा OM पर सन्तुलन में होगी क्योंकि बिन्दु E पर ही सीमान्त लागत, सीमान्त आय (कीमत) के समान है तथा सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय वक्र को नीचे से काट रहा है। पूर्ण प्रतियोगिता में सीमान्त आय वक्र के क्षितिज के समानान्तर सरल रेखा होने के कारण सीमान्त लागत वक्र, सीमांत आय वक्र को नीचे से केवल तभी काट सकता है जब कि वह बढ़ रहा हो। अतः पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे फर्म के सतुलन की द्वितीय शर्त यह हो जाती है कि सन्तुलन के बिन्दु पर सीमान्त लागत वक्र ऊपर को चढ़ रहा हो। अतः पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्म के सन्तुलन की निम्न दो शर्तें है —

1 सीमान्त लागत = सीमान्त आय = कीमत

अथवा $MC = MR =$ Price

2 सीमान्त लागत वक्र सन्तुलन बिन्दु पर अवश्य ही ऊपर को चढ़ रहा हो (MC curve must be rising at the point of equilibrium)
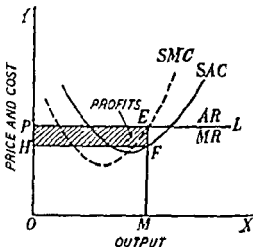
रेखाकृति 19.3
फर्म का अल्पकालीन सन्तुलन (लाभ अर्जित करने की स्थिति में)

किन्तु उपर्युक्त दो शर्तों की पूर्ति होने से यह जरूरी नहीं है कि फर्म को लाभ प्राप्त हो रहे हों। यह जानने के लिए कि क्या फर्म लाभ कमा रही है या उसे हानि उठानी पड़ रही है, हमे औसत लागत वक्र को भी ध्यान मे लाना होगा। ऐसा रेखाकृति 19.3 में किया गया है जिसमें SAC और SMC वक्र क्रमशः अल्पकालीन औसत लागत वक्र तथा सीमान्त लागत वक्र हैं। चूंकि फर्म का सन्तुलन बिन्दु E अथवा उत्पादन मात्रा OM पर है, हमे यह देखना होगा कि यहाँ

पर फर्म को कुल कितनी आय हो रही है तथा उसको कुल कितनी लागत उठानी पड रही है। प्रति इकाई उत्पादन पर लाभ औसत आय (कीमत) तथा औसत लागत मे अन्तर के बराबर होता है। रेखाकृति 19 3 मे सन्तुलन मात्रा OM पर औसत आय ME के समान है जब कि औसत लागत MF है। इसलिए प्रति इकाई उत्पादन पर लाभ EF के बराबर है जो कि ME और MF के अन्तर को दर्शाता है। फर्म द्वारा अर्जित कुल लाभ की मात्रा ज्ञात करने के लिए हमे प्रति इकाई लाभ को कुल उत्पादन मात्रा OM (जो कि HF के बराबर है) से गुणा करना होगा। अत कुल लाभ जो फर्म कमा रही है वह $HFEP$ के क्षेत्रफल के बराबर है। चूंकि कुल सामान्य लाभ औसत लागत मे ही सम्मिलित होते हैं, इसलिए, क्षेत्र $HFEP$ फर्म द्वारा अर्जित असामान्य अथवा असाधारण लाभ (super normal profits) को व्यक्त करता है।

चूंकि हमने यह मान्यता की है कि उद्योग मे सभी फर्में समान लागत की दशाओ मे काम कर रही हैं और सभी के लिए कीमत OP है, इसलिए सभी फर्मों को $HFEP$ के क्षेत्र के समान असाधारण लाभ प्राप्त हो रहे होंगे। इस प्रकार जब सभी फर्मे अल्पकाल मे लाभ अर्जित कर रही होंगी तो उद्योग मे और फर्में प्रवेश करने के लिए आकृष्ट होंगी। किन्तु अल्पकाल मे नई फर्में उद्योग मे प्रवेश नही कर सकती इसलिए अल्पकाल मे फर्में असामान्य लाभ अर्जित करती रहेंगी।

अब यह कल्पना कीजिए कि बाजार मे वस्तु की प्रचलित कीमत इतनी है कि कीमत रेखा अथवा औसत एव सीमान्त लागत वक्र औसत आय वक्र के नीचे स्थित है। यह दशा हमने रेखाकृति 19 4 मे दिखाई है जिसमे कि बाजार मे प्रचलित कीमत OP' है। जब कीमत OP' है तो सीमान्त आय तथा औसत आय रेखा $P'L'$ है जो कि सीमान्त लागत वक्र SMC को बिन्दु E' पर काटती है। अत फर्म का सन्तुलन बिन्दु E' पर होगा जहा सीमान्त लागत, कीमत (अथवा सीमान्त आय) के समान है तथा सीमान्त लागत वक्र ऊपर को चढ रहा है। अत फर्म वस्तु की OM' मात्रा उत्पादित कर के सन्तुलन मे होगी। परन्तु इस पर फर्म को हानि उठानी पड रही है क्योकि औसत आय (अथवा कीमत) जो कि $M'E'$ के बराबर है जो औसत लागत $M'F'$ से कम है। इसलिए प्रति इकाई हानि $F'E'$ के समान है और फर्म को कुल हानि $P'E'F'H'$ के क्षेत्र के समान हो रही होगी। किन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि OM' उत्पादन-मात्रा पर चाहे फर्म को हानि हो रही है, यह हानि वर्तमान आय तथा लागत स्थिति मे न्यूनतम है। यदि वर्तमान आय तथा लागत स्थिति मे फर्म OM' से उत्पादन घटाने अथवा बढाने की चेष्टा करेगी तो उसकी हानि अधिक हो
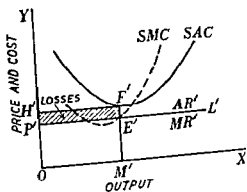
रेखाकृति 19 4

फर्म का अल्पकालीन सन्तुलन हानि की दशा मे

जाएगी। यही कारण है कि हम कहते है कि फर्म उत्पादन मात्रा OM' अथवा बिन्दु E' पर सन्तुलन मे होगी चाहे वह इस पर हानि ही उठा रही है। चूंकि हमारी यह मान्यता है कि सभी फर्में एक-जैसी हैं, इसलिए सभी ही हानि उठा रही होगी। परिणामस्वरूप उद्योग मे फर्मों मे उस उद्योग को छोड कर बाहर चले जाने की प्रवृत्ति होगी। लेकिन हम पहले कह चुके है कि अल्पकाल मे फर्मों को उस उद्योग विशेष मे रहना ही पड़ेगा, उसे वे छोड नहीं सकती। हाँ, दीर्घ समय मे उनमे से कुछ छोड जाएँगी ताकि अन्य वही पर कम-से-कम सामान्य लाभ प्राप्त कर सकें।

अल्पकाल मे हानि की स्थिति मे फर्म उत्पादन बन्द अथवा स्थगित क्यो नहीं कर देती ? (In case of losses, why does not the firm stop production ?)

अब प्रश्न उठता है कि अल्पकाल म फर्मे वस्तु का उत्पादन क्यो करती रहती हैं जब उन्हे हानि ही हो रही होती है। अल्पकाल मे यदि व उद्योग म बाहर नही जा सकती, अपने संयत्र का बन्द करके वस्तु का उत्पादन करना बन्द ही क्यो नहीं कर देती जब उन्हे हानि हो रही होती है। अन्य शब्दो म, व उस उद्योग मे रहते हुए अल्पकाल मे उत्पादन को स्थगित (suspend) क्यो नही कर देती ताकि जब माँग बढे तो वे इसका उत्पादन पुन आरम्भ कर दें। इसका कारण यह है कि वे अल्पकाल मे पूँजी, उपकरण, संयत्र आदि जैसे बंधे एव स्थिर साधनो को बदल नही सकती और इसलिए उन्हें स्थिर लागतो के बराबर तो हानि उठानी ही पडेगी चाहे वे अल्पकाल मे वस्तु का उत्पादन बन्द ही क्यो न कर दें। इस प्रकार हम देखते है कि जब फर्में अल्पकाल मे उत्पादन बन्द कर देती है तो यह केवल परिवर्तनशील लागतो (variable costs) को ही नही उठाएँगी, स्थिर लागतो (fixed costs) को इन्हे अल्पकाल म उठाना ही पडेगा चाहे वे उत्पादन करें अथवा न करें। अतएव यदि फर्म अल्पकाल म इतनी आय कमा रही होती है जिसमे उसकी परिवर्तनशील लागतें पूरी हो रही हो तथा साथ ही स्थिर लागतो का कुछ भाग भी पूरा हो रहा हो तो उसके लिए यह बुद्धिमत्ता की बात होगी कि वस्तु का उत्पादन जारी रखे क्योकि ऐसी दशा म इस बन्द करके तो हानि अधिक ही होगी। यदि अल्पकाल मे फर्म उत्पादन बन्द कर देती है तो इसे स्थिर लागतो के समान हानि होगी। यदि फर्म अल्पकाल मे उत्पादन जारी रखत हुए परिवर्तनशील लागतो को पूरा करने के पश्चात, स्थिर लागतो का भी कुछ भाग अर्जित कर लेती है तो उसकी हानि स्थिर लागतो से कम होगी। इसलिए फर्म के लिए यह बडी विवेक की बात है कि अल्पकाल में वह अपना उत्पादन जारी रखे जब उसे परिवर्तनशील लागतो से अधिक आय प्राप्त हो रही है चाहे समूचे रूप मे उसे हानि ही हो रही हो क्योकि ऐसा करने म ही वह अल्पकाल म अपनी हानि को न्यूनतम कर रही होगी। एक प्रसिद्ध कहावत है कि "भागते चोर की लगोटी ही सही" अथवा '*Half a loaf is better than none*" जो कि एक विवेकशील क्रिया की सूचक है। हमारे वर्तमान सन्दर्भ म इसका तात्पर्य यह है कि यदि फर्म को अल्पकाल म समस्त स्थिर लागतो का थोडा ही भाग प्राप्त हो रहा हो तो वह भी अच्छा है क्योकि अल्पकाल म उत्पादन बन्द करने मे तो समस्त स्थिर लागतो के बराबर हानि उठानी होगी। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब तक वस्तु की कीमत उसकी औसत परिवर्तनशील लागत (average variable cost) से अधिक है तो फर्म को अल्पकाल म उत्पादन जारी रखना चाहिए।

परन्तु जब कीमत औसत परिवर्तनशील लागत स भी नीचे गिर जाती है तो फर्म की हानि कुल परिवर्तनशील लागतो से बढ जाएगी क्योकि ऐसी दशा मे वह न केवल समस्त स्थिर लागतो को ही पूरा नही कर रही होगी बल्कि परिवर्तनशील लागतो के भी कुछ भाग को पूरा नही कर रही होगी। ऐसी अवस्था मे फर्म के लिए यह विवेकशील होगा कि वह अपना उत्पादन बन्द कर दे क्योकि ऐसा करने से परिवर्तनशील लागतो पर उठायी गयी हानि से अपने को बचा सकेगी। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि यदि अल्पकाल मे फर्म परिवर्तनशील लागतो को भी पूरा नही करती तो वह अनावश्यक हानि म बचने के लिए उत्पादन बन्द कर देगी।

उपर्युक्त व्याख्या को रेखाकृति 19 5 की सहायता स सुगमता से समझा जा सकता है जिसमे अल्पकालीन औसत लागत (SAC) और सीमान्त लागत (SMC) वक्रो के साथ औसत परिवर्तनशील (AVC) वक्र भी खीचा गया है। जब बाजार मे वस्तु की कीमत OP_1 है तो फर्म का सन्तुलन बिन्दु R पर होगा और वह वस्तु की OQ मात्रा उत्पादित करेगी। यहाँ पर वस्तु की औसत लागत QS औसत आय QR या OP_1 से अधिक होने के कारण फर्म को P_1RST के समान हानि हो रही होगी। परन्तु यह फर्म के हित मे होगा कि वह बिन्दु R पर उत्पादन जारी रखे

क्योंकि कीमत OP_1 (जो कि QR के बराबर है) औसत परिवर्तनशील लागत जो कि यहाँ QB के बराबर है से अधिक है। कीमत OP_1 पर उत्पादन करने से फर्म कुल परिवर्तनशील लागत (जो कि $OQBA$ के क्षेत्रफल के बराबर है) और स्थिर लागत का कुछ भाग जो क्षेत्र $ABRP_1$ के बराबर है पूरा कर रही होगी। स्थिर लागतों का कुछ भाग जो कि P_1RST के क्षेत्रफल के बराबर है पूरा नहीं हो रहा होगा। फर्म को चाहिए कि कीमत OP_1 पर OQ मात्रा उत्पादित करके P_1RST की हानि सहन करे क्योंकि अल्पकाल में उत्पादन को बन्द करके तो फर्म का कुल स्थिर लागतों अर्थात् $ABST$

रेखाकृति 19 5

के क्षेत्रफल के बराबर हानि उठानी पड़ेगी। इस प्रकार फर्म की हानि उत्पादन जारी रखने पर उत्पादन बन्द कर देने की तुलना में कम होगी।

यदि बाजार में वस्तु की कीमत OP_2 है तो फर्म का सन्तुलन बिन्दु D पर होगा जहाँ कीमत औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर है। बिन्दु D पर फर्म परिवर्तनशील लागतों को पूर्णतया पूरा कर रही है लेकिन इस पर स्थिर लागतों का कुछ अंश भी पूरा नहीं हो रहा है। इसलिए बिन्दु D पर कुल हानि जो फर्म को हो रही है वह कुल स्थिर लागतों (fixed costs) अर्थात् P_2DUV के क्षेत्रफल के बराबर है। अब यदि फर्म इस कीमत पर उत्पादन बन्द भी कर देती है तो इसको कुल स्थिर लागतों के बराबर हानि होगी। इसलिए फर्म इसमें उदासीन (indifferent) होगी कि वह OP_2 कीमत पर उत्पादन जारी रखे अथवा बन्द कर दे। परन्तु यदि वस्तु की कीमत निम्नतम औसत परिवर्तनशील लागत OP_2 या QD से भी कम हो जाए उदाहरण के लिए यदि यह गिर कर OP_3 हो जाए तो फर्म उत्पादन करना बन्द कर देगी क्योंकि इस कीमत पर फर्म परिवर्तनशील लागतों को भी पूरा नहीं कर रही होगी। अतएव फर्म कीमत OP_3 पर अथवा OP_2 से नीचे किसी अन्य कीमत पर उत्पादन स्थगित कर देगी और किसी अच्छे समय की प्रतीक्षा में रहेगी।
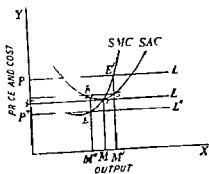
रेखाकृति 19 6

फर्म का अल्पकालीन सन्तुलन लाभ व हानि की स्थितियों का एक ही रेखाकृति द्वारा स्पष्टीकरण (Firm's Short-Run Equilibrium in Cases of Profits and Losses Depicted in One Diagram)

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म के अल्पकालीन सन्तुलन की उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि अल्पकाल में फर्म असाधारण लाभ भी अर्जित कर सकती है उसे हानि भी हो सकती है अथवा वह केवल सामान्य अथवा साधारण लाभ (normal profits) ही अर्जित कर सकती है। इनमें से वह किस स्थिति में होगी यह बाजार में वस्तु की प्रचलित कीमत पर निर्भर करता है। फर्म का अल्प

कालीन सन्तुलन इन तीनों अवस्थाओं में सम्भव है। हम इन तीनों स्थितियों में अल्पकालीन सन्तुलन को एक ही रेखाकृति में दर्शा सकते हैं जैसा कि हमने रेखाकृति 19.6 में किया है।

यदि बाजार में वस्तु की प्रचलित कीमत इतनी है कि कीमत रेखा (अर्थात् औसत एवं सीमान्त आय वक्र) औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु से ऊपर स्थित है तो फर्म असामान्य लाभ अर्जित कर रही होगी। रेखाकृति 19.6 में जब प्रचलित कीमत OP' है तो कीमत रेखा $P'L'$ औसत लागत वक्र SAC के निम्नतम बिन्दु से ऊपर स्थित है। इस अवस्था में फर्म का सन्तुलन बिन्दु E' अथवा उत्पादन OM' पर होगा और फर्म को $HGE'P'$ के क्षेत्र के बराबर असामान्य लाभ प्राप्त होंगे।

यदि वस्तु की प्रचलित कीमत इतनी है कि कीमत रेखा औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु को स्पर्श करती है तो फर्म को केवल सामान्य लाभ ही होंगे। रेखाकृति 19.6 में जब कीमत OP है और उससे सम्बन्धित कीमत पर बराबर है, इसलिए रेखा PL, औसत आय वक्र के निम्नतम बिन्दु E को स्पर्श कर रही है। चूँकि कीमत OP दी हुई होने पर, कीमत और सीमान्त लागत बिन्दु E पर बराबर है, इसलिए फर्म बिन्दु E पर सन्तुलन की स्थिति में होगी और वस्तु की OM मात्रा उत्पादित करेगी। यहाँ पर यह केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त कर रही होगी क्योंकि यहाँ पर औसत आय, औसत लागत के भी बराबर है। यह ध्यान देने योग्य है कि कीमत OP पर उद्योग की सभी फर्मों द्वारा केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त करने के कारण उस उद्योग में न तो फर्मों को बाहर जाने की प्रवृत्ति होगी और न अन्य फर्में उस उद्योग में प्रवेश के लिए आकृष्ट होंगी। किन्तु ऐसी स्थिति अल्पकाल में अपवाद मात्र ही होगी क्योंकि अल्पकाल में कीमत, औसत लागत के बराबर आकस्मिक ही हो सकती है। वास्तव में यह स्थिति दीर्घकाल में पहुँचती है जब कि फर्मों के बाहर चले जाने अथवा प्रवेश करने से फर्मों की संख्या सन्तुलन में हो सकती है।

यदि बाजार में वस्तु की प्रचलित कीमत ऐसी है जिसमें कीमत रेखा औसत आय वक्र के नीचे स्थित होती है तो फर्म को हानि उठानी पड़ेगी। इस प्रकार यदि रेखाकृति 19.6 में वस्तु की कीमत OP'' है तो कीमत रेखा $P''L''$ होगी और फर्म का सतुलन बिंदु E'' पर होगा और उसे यहाँ पर $P''E''KJ$ के बराबर हानि होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि अल्पकालीन सतुलन की स्थिति में फर्म असाधारण लाभ भी अर्जित कर सकती है, सामान्य लाभ भी कमा सकती है अथवा उसे हानि भी हो सकती है। यह बाजार में प्रचलित कीमत पर निर्भर करेगा कि फर्म इनमें से किस स्थिति में होगी।

पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का दीर्घकालीन सन्तुलन
(Long Run Equilibrium of the Firm under Perfect Competition)

दीर्घकाल वह समय अवधि है जो इतनी लम्बी होती है कि फर्म उत्पादन के सभी साधनों में समुचित परिवर्तन कर सके। दीर्घकाल में सभी साधन घटाए-बढ़ाए जा सकते हैं और कोई भी साधन बंधा हुआ अथवा स्थिर नहीं होता। दीर्घकाल में फर्म अपना उत्पादन पूंजीगत साज-सामान को बदल कर, पुराने सयन्त्रों का विस्तार करके, पुराने एवं कम उत्पादन क्षमता के सयन्त्रों को बदल कर उनके स्थान पर अधिक क्षमता के नए सयन्त्र लगा सकती हैं तथा सयन्त्रों की संख्या में वृद्धि करके उत्पादन को बढ़ा सकती है। इसके अतिरिक्त दीर्घकाल में नई फर्में वर्तमान फर्मों की प्रतियोगिता हेतु उस उद्योग में प्रवेश कर सकती हैं। इसके विपरीत दीर्घकाल में फर्में अपने पूंजीगत साजसामान को घटाकर वर्तमान पूंजीगत साजसामान का प्रतिस्थापन किए बिना घिसने देकर अथवा वर्तमान पूंजीगत साजसामान के कुछ भाग को बेच कर उत्पादन को घटा सकती है। इसके अतिरिक्त दीर्घकाल में फर्में किसी उद्योग को छोड़ कर बाहर भी जा सकती है। इस प्रकार फर्म का दीर्घकालीन सतुलन उस अवस्था में होता है जब पूंजीगत साजसामान तथा फर्मों की संख्या पूर्णत बदल सकती है। इसलिए दीर्घकाल में

अधिकतम लाभ प्रदान करने की उत्पादन मात्रा का निर्णय करने के लिए फर्म को दीर्घकालीन औसत लागत वक्र और दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र को ध्यान में रखना होता है। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि दीर्घकाल में औसत कुल लागत (average total cost) का ही निर्णायक महत्त्व है क्योंकि दीर्घकाल में सभी लागतें घटाई-बढ़ाई जा सकती हैं और कोई भी स्थिर नहीं होती।

जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म सन्तुलन में तब होती है जब उसकी सीमान्त लागत दी हुई कीमत के समान हो। परन्तु फर्म के दीर्घकालीन सन्तुलन में होने के लिए सीमान्त लागत और कीमत के समान होने के अतिरिक्त अन्य भी एक शर्त है जो अवश्य पूरी होनी चाहिए। शर्त यह है कि फर्म के दीर्घकालीन सन्तुलन में होने के लिए वस्तु की कीमत औसत लागत के बराबर होनी चाहिए क्योंकि यदि कीमत औसत लागत से अधिक अथवा कम है तो उद्योग में फर्मों के प्रवेश करने अथवा उसे छोड़ जाने की प्रवृत्ति होगी। यदि कीमत औसत लागत से अधिक है तो फर्मों को सामान्य लाभ से अधिक लाभ प्राप्त होंगे। इन असामान्य लाभों से आकृष्ट होकर उस उद्योग में और फर्म प्रवेश करेंगी। उद्योग में नई फर्मों के आ जाने से फर्मों की संख्या बढ़ जाएगी जिससे वस्तु के उत्पादन अथवा पूर्ति में वृद्धि होगी। वस्तु के उत्पादन अथवा पूर्ति के बढ़ जाने से वस्तु की कीमत गिर जाएगी और फर्मों के प्रवेश कर जाने से फर्म की लागत में भी वृद्धि होगी क्योंकि अब उत्पादन के विभिन्न साधनों के लिए प्रतियोगिता बढ़ जाने से उनकी कीमतें बढ़ जाएँगी। परिणामस्वरूप फर्म का औसत लागत वक्र कुछ ऊपर को सरक जाएगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि नई फर्मों के उद्योग में आ जाने से एक ओर तो वस्तु की कीमत गिरेगी और दूसरी ओर वस्तु की लागत बढ़ेगी। इस प्रकार नई फर्में उस उद्योग में प्रवेश करती चली जाएँगी जब तक कि कीमत औसत लागत के बराबर नहीं हो जाती और असामान्य लाभ बिल्कुल समाप्त नहीं हो जाते।

यदि वस्तु की कीमत, औसत लागत से कम है तो फर्मों को हानि होगी। इन हानियों के कारण कई फर्में उस उद्योग को छोड़ कर चली जाएँगी। परिणामस्वरूप उद्योग का उत्पादन घट जाएगा जिससे वस्तु की कीमत बढ़ जाएगी। दूसरी ओर कुछ फर्मों के उद्योग छोड़ जाने से उत्पादन के विशिष्टीकृत साधनों की माँग कम हो जाएगी जिससे उनकी कीमतें घट जाएँगी। अतः कुछ फर्मों के उद्योग छोड़ जाने से उत्पादन की लागत कम हो जाएगी। फर्में उस उद्योग को छोड़ती रहेंगी जब तक कि कीमत औसत लागत के बराबर नहीं हो जाती और उद्योग में रह गई फर्में केवल सामान्य लाभ नहीं कमा रही होतीं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकालीन सन्तुलन प्राप्त होने के लिए निम्नलिखित दो शर्तें अवश्य पूरी होनी चाहिए -

1. कीमत = सीमान्त लागत (Price = Marginal Cost)
2. कीमत = औसत लागत (Price = Average Cost)

यदि कीमत सीमान्त लागत और औसत लागत दोनों के बराबर है तो तब हमें पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकालीन सन्तुलन की निम्नलिखित प्रकारात्मक शर्त प्राप्त होती है

कीमत = सीमान्त लागत = औसत लागत

Price = MC = AC

सीमान्त लागत और औसत लागत के परस्पर सम्बन्ध से हम जानते हैं कि सीमान्त लागत केवल औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु पर ही बराबर होती है। इसलिए फर्म के दीर्घकालीन सन्तुलन की शर्त को हम निम्न प्रकार भी लिख सकते हैं

कीमत = सीमान्त लागत = निम्नतम औसत लागत

Price = MC = Minimum AC

रेखाकृति 19.7 पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म के दीर्घकालीन सन्तुलन को व्यक्त करती है। रेखाकृति 19.7 में फर्म का दीर्घकालीन सन्तुलन कीमत OP से किसी अन्य ऊँची कीमत पर नहीं हो सकता। यदि कीमत OP से अधिक है तो कीमत रेखा (अथवा औसत एवं सीमान्त आय वक्र) औसत लागत वक्र के निम्नतम

बिन्दु से ऊपर स्थित होगी जिससे सीमान्त लागत और कीमत वहाँ पर बराबर होंगे जहाँ फर्म असामान्य लाभ प्राप्त कर रही होगी। ऐसी दशा में नई फर्में उद्योग में प्रवेश करने के लिए और असामान्य लाभ समाप्त कर देने के लिए प्रेरित होंगी। अतः फर्म OP से अधिक कीमत पर दीर्घकालीन सतुलन में नही हो सकती। इसी प्रकार फर्म रेखाकृति 19 7 में कीमत OP से कम कीमत पर भी पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकालीन सतुलन में नहीं हो सकती। यदि कीमत OP से कम है तो कीमत अथवा औसत एव सीमान्त आय रेखा, औसत लागत वक्र के नीचे होगी जिससे सीमान्त लागत और कीमत ऐसे बिन्दु पर बराबर होगी जहाँ फर्म को हानि हो रही हो। इसलिए ऐसी स्थिति में फर्मों के उद्योग छोड जाने की प्रवृत्ति होगी जिससे पदार्थ की कीमत
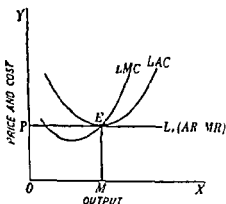
रेखाकृति 19 7
पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्म का दीर्घकालीन सतुलन

बढ जाएगी और जो फर्में उद्योग में शेष रह जाएँगी वे केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त कर रही होंगी। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म दीर्घकालीन सतुलन में केवल तब हो सकती है जब कीमत ऐसे स्तर पर हो जिसमे समानान्तर औसत एव सीमान्त आय वक्र औसत लागत वक्र को निम्नतम बिन्दु पर स्पर्श करता है। इसमें कीमत औसत लागत के बराबर होगी और फर्म केवल सामान्य लाभ अर्जित कर रही होगी। यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक समानान्तर औसत एव सीमान्त आय वक्र अग्रेजी के अक्षर U की आकृति के औसत लागत वक्र को केवल निम्नतम बिन्दु पर ही स्पर्श कर सकता है। किन्तु औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु पर ही सीमान्त लागत और औसत लागत समान होती है, इसलिए दीर्घकालीन सतुलन की स्थिति में कीमत सीमान्त लागत और औसत लागत दोनों के बराबर होगी। अन्य शब्दों में दीर्घकालीन सतुलन की दो शर्तों की औसत लागत के निम्नतम बिन्दु पर ही पूर्ति होती हैं।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का दीर्घकालीन सतुलन दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु पर स्थापित होता है। फर्म द्वारा दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु पर उत्पादन करना इस बात का द्योतक है कि फर्म इष्टतम आकार (optimum size) की है अथवा यह न्यूनतम सम्भव लागत पर उत्पादन कर रही है। फर्म द्वारा पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकाल में इष्टतम आकार पर उत्पादन करना सामाजिक दृष्टिकोण से दो प्रकार से लाभदायक है। प्रथम, इष्टतम आकार पर उत्पादन करने से समाज के ससाधनों का अधिकतम कुशल ढग से प्रयोग हो रहा होता है। द्वितीय, यह इस बात का सूचक है कि उपभोक्ता वस्तुओं को निम्नतम सम्भव कीमत पर प्राप्त कर रहे होते हैं।

फर्मों का अल्पकालीन सन्तुलन लागत विभिन्नता की दशाओं मे (Short-run Equilibrium of Firms Differential Cost Conditions)

हमने ऊपर पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्मों के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन सन्तुलन की व्याख्या की जबकि विभिन्न फर्में समान-लागतों की दशाओं में उत्पादन-कार्य कर रही हों। अब हम पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्मों के सन्तुलन की व्याख्या करेंगे जबकि उद्योग की विभिन्न फर्मों की लागतें भिन्न-भिन्न हों। विभिन्न फर्मों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले कच्चे माल की क्वालिटी में अन्तर, उत्पादन तकनीक में अन्तर, उनके प्रबन्धकों (managers) की कार्य-कुशलता में अन्तर, उनके द्वारा लगाए गए सयन्त्रों के आकारों में अन्तर और स्वय उद्यमकर्त्ताओं की योग्यताओं में अन्तर के कारण विभिन्न फर्मों की लागतों में अन्तर

उत्पन्न हो जाता है। कुछ फर्मों को अधिक अनुकूल स्थान (more convenient location) का लाभ प्राप्त हो, कुछ को बढ़िया कच्चा माल उपलब्ध हो और कुछ फर्मों के प्रबन्धक अधिक दक्ष और प्रवीण हो। इनमे से कोई भी विभिन्नता पाई जाने की स्थिति मे विभिन्न फर्मों के लागत-वक्र समान अथवा एक-जैसे नही होगे। अधिक कुशल फर्में जो अधिक बढ़िया साधनो का प्रयोग कर रही होगी, के लागत वक्र अन्य फर्मों की तुलना मे नीचे होगे। अध्ययन की सरलता के लिए हम कल्पना करते हैं कि प्रतियोगी उद्योग मे तीन प्रकार की A, B और C फर्में है जिनके लागत वक्रो को रेखाकृति 19 8 मे दर्शाया गया है। रेखाकृति 19 8 लागत-विभिन्नताओ की स्थिति मे पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्मों के अल्पकालीन सन्तुलन को व्यक्त करती है। यदि बाजार मे वस्तु की कीमत OP है तो तब प्रत्येक प्रकार की फर्म अपनी उत्पादन मात्रा को वहाँ निश्चित करेगी जहाँ कीमत OP सीमान्त लागत के बराबर है। रेखाकृति 19 8 से स्पष्ट होगा कि कीमत OP पर फर्म
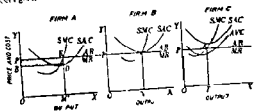
रेखाकृति 19 8
फर्मों का अल्पकालीन सन्तुलन लागत विभिन्नता की दशा मे

A बिन्दु E पर सतुलन मे होगी जिससे वह वस्तु की OM मात्रा उत्पादित कर रही होगी, फर्म B बिन्दु L पर सतुलन मे होगी जिस पर कि वह वस्तु की ON मात्रा उत्पादित कर रही होगी, और फर्म C बिन्दु Q पर सन्तुलन मे होगी और OT मात्रा उत्पादित कर रही होगी। जबकि सभी फर्मों की सन्तुलन उत्पादन-मात्रा पर कीमत सीमान्त लागत के बराबर है, फर्म A सन्तुलन स्थिति मे असामान्य लाभ (supernormal profits) कमा रही है, फर्म B केवल सामान्य लाभ (normal profits) कमा रही है और फर्म C हानि उठा रही है। इसका कारण यह है कि तीन फर्मों की लागत की दशाएँ भिन्न-भिन्न हैं। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लागत-विभिन्नता की स्थिति मे अल्पकालीन सन्तुलन मे उद्योग की कुछ फर्में असामान्य लाभ और कुछ केवल सामान्य लाभ प्राप्त कर सकती हैं और कुछ अन्य को हानि उठानी पड सकती है।

फर्मों का दीर्घकालीन सन्तुलन : लागत-विभिन्नता की दशा में (Long-Run Equilibrium of Firms : Differential Cost Conditions)

अब प्रश्न यह है कि भिन्न-भिन्न लागत दशाओ मे काम कर रही फर्मों की दीर्घकालीन सन्तुलन की स्थिति क्या होगी। इस विषय मे सीमान्त फर्म (Marginal Firm) की धारणा महत्त्वपूर्ण है। सीमान्त फर्म वह है जो कीमत के गिरने पर सर्वप्रथम उस उद्योग को छोड देगी। अत सीमान्त फर्म उद्योग मे उच्चतम-लागत फर्म है जो कि केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त करती है। सीमान्त फर्म उच्चतम-लागत फर्म होने के कारण केवल सामान्य लाभ ही कमा रही होती है। अत वह कीमत के गिरने पर सब से पहले उद्योग को छोड देगी क्योंकि कीमत के गिरने पर इसके लाभ सामान्य से नीचे चले जाएँगे।

रेखाकृति 19 9 तीन प्रकार की लागत दशाओ मे कार्य कर रही फर्मों के दीर्घकालीन सन्तुलन को व्यक्त करती है। तीसरी प्रकार की फर्म C मे कीमत औसत लागत के बराबर है, इसलिए वह केवल सामान्य लाभ ही अर्जित कर रही है। अत C प्रकार की फर्में सीमांत फर्में हैं जो कि कीमत के OP से घटने पर उद्योग को छोडकर बाहर चली जाएँगी। पूर्ण सन्तुलन (Full Equilibrium) इस स्थिति मे तब होगा जब कीमत सभी फर्मों की सीमान्त लागतो के बराबर हो तथा सीमान्त फर्म के औसत लागत के भी बराबर हो। यदि कीमत फर्मों की सीमान्त लागत के बराबर नहीं है तो वे अपनी उत्पादन-मात्रा को बदलने की चेष्टा करेंगी। इसके अतिरिक्त, दीर्घकालीन सन्तुलन मे कीमत सीमात फर्म की औसत लागत से अधिक अथवा कम नहीं हो सकती। यदि कीमत सीमान्त फर्म की औसत लागत

से अधिक है तो वह सामान्य से अधिक लाभ प्राप्त कर रही होगी और नई फर्में जिनकी लागत और भी ऊँची होगी उद्योग मे प्रवेश करेंगी जिससे वस्तु की कीमत गिर जाएगी और परिणामस्वरूप उद्योग म कार्य कर रही फर्मों के लाभ घट जाएँगे। दीर्घकालीन सन्तुलन तब होगा जब कीमत फर्मों की औसत लागत के बराबर हो और इस प्रकार वे केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त कर रही हों। इसके विपरीत यदि वस्तु की कीमत सीमान्त फर्मों की औसत लागत से कम है तो वे हानि उठा रही होगी। परिणामस्वरूप कुछ फर्में उद्योग को छोड देंगी जिससे वस्तु की कीमत बढ जाएगी और उद्योग म जो सीमान्त पर फर्में शेष रह जाएँगी वे सामान्य लाभ प्राप्त कर रही होगी।

रेखाकृति 19 9 मे भिन्न-भिन्न लागत दशाओ मे कार्य कर रही फर्मों के दीर्घकालीन सन्तुलन को दर्शाया गया है। इसमे कल्पना की गई है कि लागत की दृष्टि से तीन प्रकार की फर्में हैं और प्रत्येक प्रकार की एक फर्म को दिखाया गया है। दीर्घकाल मे वस्तु की प्रचलित कीमत OP है जो कि फर्म A की उत्पादन-मात्रा OQ पर, फर्म B की उत्पादन-मात्रा OR पर और फर्म C की उत्पादन-मात्रा OS पर सीमान्त लागत के बराबर है। इसके अतिरिक्त कीमत OP, सीमान्त फर्म C की औसत लागत के भी बराबर है जिससे वह केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त कर रही है। परन्तु कीमत OP सीमान्त-पूर्व फर्मों (intra marginal firms) A और B की औसत लागतो से अधिक है जिससे वे सामान्य लाभ अर्जित कर रही हैं। कीमत के सभी फर्मों के सीमान्त लागतो के बराबर होने के कारण सभी (सीमान्त फर्म सहित) व्यक्तिगत सन्तुलन की स्थिति मे होंगी। कीमत के सीमान्त फर्म के औसत लागत के समान होने के कारण सीमान्त फर्म केवल सामान्य लाभ प्राप्त कर रही है और फलस्वरूप न नई फर्मों के उद्योग मे प्रवेश करने की और न ही पुरानी फर्मों के उद्योग स बाहर चले जाने की प्रवृत्ति होगी। अब प्रश्न यह है कि क्या नई फर्में जिनकी लागतें सामान्त फर्म C की तुलना म कम हैं कीमत OP पर इस उद्योग म प्रवेश नहीं करेंगी क्योंकि सीमान्त फर्म स कम लागत वाली फर्में कीमत OP पर सामान्य स अधिक लाभ कमा सकेंगी। परन्तु ऐसा नहीं होगा क्योंकि वे फर्में जिनकी लागत सीमान्त फर्म C की अपेक्षा कम होगी वे तो फर्म C स पहले ही उद्योग म आ चुकी होंगी और इस प्रकार सीमान्त-पूर्व फर्मों (intra marginal firms) के रूप म काम कर रही होंगी। नई फर्में जिनकी लागत C प्रकार की सीमान्त फर्मों स अधिक होगी उनम इस उद्योग म प्रविष्ट होने की प्रवृत्ति नहीं होगी क्योंकि वे
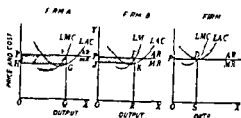
रेखाकृति 19 9 फर्मों का दीर्घकालीन सन्तुलन लागत-विभिन्नता की दशा में

उस उद्योग म सामान्य लाभ भी प्राप्त नहीं कर सकेंगी। इसके अतिरिक्त व सभी फर्में जो कीमत OP पर हानि उठा रही होंगी दीर्घकाल म उद्योग स बाहर जा चुकी होंगी ताकि जो फर्में उस उद्योग म रह गई हैं उनके लिए कीमत OP या तो औसत लागत से अधिक है और या कम से कम औसत लागत के बराबर है अर्थात् लागत विभिन्नता की दशा मे दीर्घकाल म उद्योग म वे फर्में ही रहेंगी जो या तो असामान्य लाभ कमा रही होंगी और या केवल सामान्य लाभ।

यदि रेखाकृति 19 9 म दीर्घकालीन कीमत OP से कम है तो C प्रकार की फर्में भी उद्योग को छोड जाएँगी और कुछ पहली सीमान्त-पूर्व फर्में जिनके लिए नई कीमत औसत लागत क बराबर है अब सीमान्त फर्में बन जाएँगी। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि लागत विभिन्नता की दशा म पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत व्यक्तिगत फर्मों की उत्पादन-मात्रा तथा फर्मों की सख्या इस प्रकार समायोजित (adjust) होगी कि निम्न दो शर्तों की पूर्ति होनी हो

(1) कीमत = सभी फर्मों की सीमान्त लागत
Price = MC of all firms

(2) कीमत = सीमान्त फर्म की औसत लागत
Price = AC of marginal firm

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि दीर्घकाल प्रतियोगी सन्तुलन में लागत विभिन्नता की दशाओं में केवल सीमान्त फर्म (marginal firm) ही इष्टतम आकार (optimum size) की होगी क्योंकि केवल सीमान्त फर्म का सन्तुलन ही औसत लागत के निम्नतम बिन्दु पर होगा। जैसा कि रेखाकृति 100 से स्पष्ट है सीमान्त पूर्व फर्में (intra marginal firms) इष्टतम से अधिक आकार की होंगी।

लागत विभिन्नता तथा आर्थिक लगान
(Differential Cost Conditions and Economic Rent)

हमने ऊपर देखा पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत लागत विभिन्नता की दशाओं में सीमान्त फर्म केवल सामान्य लाभ प्राप्त कर रही होती है, जबकि सीमान्त पूर्व फर्में जिनकी लागत सीमान्त फर्म की तुलना में कम होती है सामान्य से अधिक लाभ प्राप्त कर रही होती है। सीमान्त-पूर्व फर्मों की कम लागतें और इस प्रकार उनके द्वारा अर्जित असामान्य लाभों का कारण उनके द्वारा सीमान्त फर्म की तुलना में अधिक श्रेष्ठ कुशल और उत्पादक साधनों का प्रयोग करना है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि क्या सीमान्त पूर्व फर्मों द्वारा प्रयोग किए जाने वाले बढ़िया और अधिक कुशल एवं उत्पादक साधनों की कीमतें इतनी अधिक नहीं बढ़ जाएँगी जिससे कि सीमान्त फर्म और पूर्व सीमान्त फर्मों की लागतों में अन्तर समाप्त हो जाएगा। वास्तव में ऐसा ही होगा और अधिक श्रेष्ठ एवं कुशल साधनों की कीमतें सीमान्त फर्म में प्रयुक्त साधनों की कीमतों से इतनी अधिक होंगी जितनी कि उनकी कुशलता (efficiency) अधिक है। दीर्घकाल में फर्मों के साधनों को प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता के कारण अधिक कुशल साधनों की कीमतें बढ़ जाने से साधनों की कुशलता में अन्तरों के कारण लागतों में अन्तर समाप्त हो जाएँगे। उदाहरणतया एक फर्म द्वारा नियुक्त प्रबन्धक (manager) A दूसरी फर्म के प्रबन्धक B की तुलना में प्रतिवर्ष 12000 रुपये की कम लागत पर फर्म का संचालन करता है तो दीर्घकाल में प्रतियोगिता के कारण प्रबन्धक A का वेतन प्रबन्धक B की तुलना में 12000 रुपये वार्षिक अधिक हो जाएगा। जब तक प्रबन्धक A का वेतन प्रबन्धक B की तुलना में 12000 रुपये अधिक नहीं हो जाता विभिन्न फर्में उसको प्राप्त करने के लिए उसके वेतन बढ़ाती रहेंगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुशल साधनों के प्रयोग करने के कारण सीमान्त पूर्व फर्मों की कम लागतें तथा असामान्य लाभ अधिक श्रेष्ठ साधनों के स्वामियों को अधिक कीमतें देने से समाप्त हो जाते हैं। अतः श्रेष्ठ और अधिक कुशल साधनों के प्रयोग से कोई अतिरिक्त लाभ उत्पन्न नहीं होते क्योंकि उनके द्वारा लागत में की गई कमी के बराबर ही उन्हें अधिक कीमतें दी जाती हैं। दूसरे शब्दों में, सामान्य से समस्त अतिरिक्त लाभ अन्ततः अधिक कुशल साधनों के स्वामियों को प्राप्त होते हैं। अधिक कुशल साधनों को अधिक भुगतान उन साधनों की विकल्प आयों (transfer earnings) के अतिरिक्त हैं क्योंकि उनकी विकल्प आयें तो उत्पादन लागत में पहले ही शामिल होती हैं। यह स्मरणीय है कि उत्पादन-साधनों को उनकी विकल्प आयों से दी गई अतिरिक्त कीमतों को अर्थशास्त्र में आर्थिक लगान अथवा अधिशेष (economic rent) कहा जाता है। परन्तु जैसा कि हमने ऊपर देखा कि यह आर्थिक लगान अथवा अधिशेष उत्पादन साधन के स्वामियों को प्राप्त होता है और फर्मों के लिए यह लागत ही होती है अतः फर्मों के लिए कुशल साधनों द्वारा प्राप्त अधिशेष अथवा आर्थिक लगान उसी प्रकार लागत का अंश होते हैं जिस प्रकार कोई अन्य लागतें। इस प्रकार सीमान्त पूर्व फर्मों द्वारा अधिक उत्पादक व कुशल साधनों के प्रयोग के कारण कमाए गए अतिरिक्त लाभ उन साधनों को अतिरिक्त आर्थिक लगान देने से समाप्त हो जाते हैं। यदि उद्यमकर्ता अधिक कुशल एवं उत्पादक साधनों का स्वयं स्वामी है तो वह इनके आर्थिक लगान किसी अन्य को नहीं देगा परन्तु इन्हें यह स्वयं प्राप्त करेगा। आर्थिक लगान अथवा अधिशेष साधन की आय का वह भाग है जो उसे किसी उद्योग

व्यवसाय में काम करते रहने को प्रेरित करने के लिए आवश्यक निम्नतम आय के अतिरिक्त रहता है (Rent is defined as that part of the earnings of a factor which is over and above the minimum amount necessary to retain it in its given occupation)। ये अतिरिक्त आयें एक साधन की अधिक कुशल इकाइयों पर होंगी और उनके स्वामियों को प्राप्त होंगी।

यदि साधनों की अधिक कुशल एव उत्पादक इकाइयों द्वारा अर्जित आर्थिक लगान (अधिशेष) को लागत मे सम्मिलित कर दिया जाए, तो तब लागत विभिन्नता की दशा मे सभी फर्मों का दीर्घकालीन सन्तुलन औसत लागत वक्रों के न्यूनतम बिन्दुओं पर स्थापित होगा। इसे रेखाकृति 19.10 की सहायता से सरलता से समझा जा सकता है जिसमे रेखाकृति 19.10 (b) सीमान्त फर्म और रेखाकृति 19.10 (a) सीमान्त-पूर्व फर्म को दर्शाती है। OP वस्तु की दीर्घकालीन कीमत है। कीमत OP सीमांत फर्म के सीमांत लागत तथा औसत लागत दोनों के बराबर है। कीमत OP से सीमान्त-पूर्व फर्म सीमांत लागत वक्र के बिन्दु E पर सन्तुलन में है और ON मात्रा उत्पादित कर रही है। रेखाकृति 19.10 (a) मे औसत लागत वक्र AO आर्थिक लगान अथवा अधिशेष जो साधनों की अधिक कुशल और उत्पादक इकाइयों को देने होते हैं, के बिना उत्पादन लागत को व्यक्त करती है। साधनों की अधिक उत्पादक इकाइयों द्वारा प्राप्त आर्थिक लगान (अधिशेष) $ABEP$ के समान है। अब यदि इस आर्थिक लगान को औसत लागत मे सम्मिलित कर दिया जाए तो आर्थिक लगान सहित औसत लागत वक्र AC' होगा। चूंकि आर्थिक लगान को कुल लागत में सम्मिलित करने पर हम एक स्थिर एव निश्चित मात्रा (a fixed amount) जोड़ते हैं जो कि (दी हुई कीमत पर) फर्म की उत्पादन-मात्रा के निरपेक्ष (independent) होती है, सीमांत लागत वक्र MC औसत लागत वक्र AO और AC' दोनों को न्यूनतम बिन्दु पर काटेगा। अतएव सीमान्त-पूर्व फर्म का दीर्घकालीन सन्तुलन आर्थिक लगान सहित औसत लागत वक्र (average cost curve inclusive of rent) AC' के निम्नतम बिन्दु पर स्थापित होगा। इस प्रकार आर्थिक लगान के लागत मे सम्मिलित करने पर कीमत OP सीमांत तथा सीमान्त-पूर्व फर्मों के सीमान्त तथा औसत लागतों के बराबर होती है अर्थात् जब आर्थिक लगान को औसत लागत मे सम्मिलित किया जाय तो पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत लागत-विभिन्नता की दशा मे सभी फर्मों (सीमान्त एव सीमान्त-पूर्व) का दीर्घकालीन सन्तुलन औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु पर होगा (If economic rent is included in cost of production, then under perfect competition and in differential cost conditions *long-run equilibrium of* all firms is established at the minimum point of the long-run average cost curve)। वास्तव मे जब साधनों की अधिक कुशल एव उत्पादक इकाइयों द्वारा अर्जित आर्थिक लगानों को औसत लागत मे सम्मिलित किया जाए तो कुछ फर्मों को सीमांत (marginal) और कुछ को सीमांत-पूर्व (intra-marginal) कहना उचित नहीं है क्योंकि सभी फर्मों के आर्थिक लगान सहित औसत लागत वक्रों का स्तर समान होगा और सभी केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त कर रही होंगी।
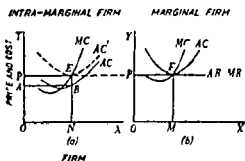
रेखाकृति 19.10 (a) रेखाकृति 19.10 (b)

अब कल्पना कीजिए कि औसत लागत मे अन्तर स्वयं उद्यमकर्त्ताओं की कार्यकुशलता मे अन्तर के कारण है जबकि विभिन्न फर्मों द्वारा प्रयुक्त अन्य सभी साधन बिल्कुल समान (perfectly homogeneous) हैं। इस स्थिति में उद्यमकर्त्ता का आर्थिक लगान (eco-

nomic rent of entrepreneurship) अधिक कार्यकुशल उद्यमकर्ताओं को प्राप्त होगा और इसलिए वे सामान्य लाभ से अधिक लाभ कमाएँगे, जबकि सीमान्त उद्यमकर्त्ता को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होंगे। प्रश्न यह है कि क्या अन्य साधनों के आर्थिक लगान की तरह उद्यमकर्त्ता के आर्थिक लगान (rent of entrepreneurship) को भी फर्म की औसत लागत में सम्मिलित किया जाए अथवा नहीं। सभी प्रकार के साधनों से समान व्यवहार करने के लिए यह आवश्यक है कि उद्यमकर्त्ता के आर्थिक लगान को भी औसत लागत में सम्मिलित किया जाए। यदि ऐसा किया जाए तो दीर्घकालीन सतुलन में कीमत सभी फर्मों की सीमान्त तथा औसत लागत के बराबर होगी यद्यपि कुछ उद्यमकर्त्ता दूसरों की तुलना में अधिक कार्यकुशल है।

यह उल्लेखनीय है कि उद्यमकर्त्ताओं तथा अन्य साधनों की उत्पादकता एवं कुशलता में अन्तर की दशा में सभी फर्मों की सन्तुलन उत्पादन मात्रा समान नहीं होगी। वे फर्में जिनके उद्यमकर्त्ता अधिक कुशल हैं अथवा वे अधिक श्रेष्ठ अथवा अधिक उत्पादक कोटि के अन्य साधनों का प्रयोग कर रही हैं, का सन्तुलन एवं इष्टतम उत्पादन (equilibrium and optimum output) उन फर्मों से अधिक होगा जिनके उद्यमकर्त्ता कम कार्यकुशल हैं अथवा वे कम उत्पादक एवं कुशल साधनों का प्रयोग करती हैं, यद्यपि सभी अपने अपने आर्थिक लगान सहित औसत लागत वक्रों (average cost curves inclusive of rent) के न्यूनतम बिन्दुओं पर कार्य कर रही होंगी। उदाहरणतया रेखाकृति 10 10 में सीमांतपूर्व फर्म की सतुलन व इष्टतम उत्पादन मात्रा ON है जो कि सीमान्त फर्म के सन्तुलन व इष्टतम उत्पादन OM से अधिक है, यद्यपि दोनों की औसत लागत (आर्थिक लगान को जोड़कर) समान है ($EN = FM$)

20

पूर्ण प्रतियोगिता में पूर्ति वक्र
(SUPPLY CURVE UNDER PERFECT COMPETITION)

हम फर्म के लागत वक्रों का विवेचन कर चुके हैं। यह विवेचन अल्पकाल और दीर्घकाल दोनों की दृष्टियों से किया गया है। किसी वस्तु की पूर्ति (अथवा सम्भरण) बहुत सीमा तक उसको उत्पादित करने की लागत पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त पूर्ण प्रतियोगिता में किसी फर्म के लिए वस्तु की कीमत दी हुई होती है। हमने गत अध्याय में पढ़ा कि एक दी हुई कीमत पर फर्म का सन्तुलन किस उत्पादन-मात्रा पर होता है अर्थात् उस कीमत पर वह कितनी मात्रा उत्पादित करके वस्तु की पूर्ति करेगा। फर्म द्वारा वस्तु की पूर्ति उसकी सन्तुलन उत्पादन-मात्रा द्वारा निर्धारित होती है। इसी प्रकार किसी कीमत पर समस्त उद्योग द्वारा पूर्ति उसके सन्तुलन द्वारा निर्धारित होती है। इसलिए गत अध्याय में फर्म और उद्योग के सन्तुलन की व्याख्या करने के पश्चात् हम इस अध्याय में पूर्ति के विषय में अध्ययन करेंगे।

पूर्ति की धारणा तथा नियम
(Concept and Law of Supply)

पूर्ति से हमारा तात्पर्य किसी वस्तु की उन मात्राओं से है जो विभिन्न कीमतों पर बाजार में बिक्री के लिए प्रस्तुत की जाती है। यदि अन्य परिस्थितियाँ समान रहें, तो विभिन्न कीमतों पर उत्पादक अथवा विक्रेता विभिन्न कीमतों पर वस्तु की भिन्न भिन्न मात्राएँ बेचने के लिए तैयार होंगे अर्थात् विभिन्न कीमतों पर वस्तु की की गई पूर्ति मात्रा भिन्न-भिन्न होगी। पूर्ति किसी वस्तु की मात्राओं की वह अनुसूची है जो विभिन्न कीमतों पर किसी विशेष समय या किसी एक समय-अवधि में विक्रय के लिए प्रस्तुत की जाए।

परन्तु वस्तु की पूर्ति और स्टाक या भंडार (stock) में अन्तर है। स्टाक वस्तु की वह मात्रा होती है जो किसी समय विक्रेताओं या उत्पादकों के पास होती है। यदि विक्रेता यह समझते हैं कि बाजार में वस्तु की कीमत कम है तो पास में ज्यादा स्टाक रखते हुए भी वे वस्तु को कम मात्रा में बेचने को तैयार होंगे अर्थात् कम कीमत पर अपने पास पड़े भण्डार से वस्तु को कम पूर्ति करेंगे। स्पष्ट है कि स्टाक से हमारा अभिप्राय वस्तु की कुल मात्रा से है जो विक्रेता के पास होती है और पूर्ति वह मात्रा है जो वह किसी निश्चित कीमत पर बेचने के लिए तैयार होता है। जो वस्तुएँ शीघ्र नष्ट होने वाली होती हैं, जैसे कि मछली सब्जी फल, दूध आदि ता

पूर्ण प्रतियोगिता में पूर्ति वक्र

उनकी पूर्ति और स्टाक मे प्राय अन्तर नही होता क्योकि इनकी जितनी मात्रा स्टाक मे होती है वह कोई भी कीमत हो बेचनी पडती है, अन्यथा वह नष्ट हो जाएगी। किन्तु जो वस्तुएँ शीघ्र नष्ट नही होती उनकी कीमत अनुकूल न होने पर उनकी पूर्ति स्टाक की तुलना मे कम की जा सकती है और जब उनकी प्रचलित कीमत अधिक होती है तो विक्रेता भण्डार का अधिक भाग बेचने को (अर्थात पूर्ति करने को) तैयार हो जाते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूर्ति की धारणा (concept of supply) केवल पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे ही लागू होती है। कारण यह है कि पूर्ति से हमारा अभिप्राय यह होता है कि दी हुई कीमत पर फर्म अथवा विक्रेता वस्तु की कितनी मात्रा बेचने के लिए प्रस्तुत करेगा अर्थात् पूर्ति की धारणा तब ही लागू होती है जब फर्म का स्वय कीमत पर कोई प्रभाव न हो। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत काय कर रही फर्म का कीमत पर कोई नियन्त्रण न होने के कारण पूर्ति की धारणा यहाँ लागू होती है। परन्तु एकाधिकार तथा अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का वस्तु की कीमत पर प्रभाव होता है क्योकि फर्म के अपना उत्पादन घटाने बढाने से कीमत बदल जाती है। एकाधिकार तथा अपूर्ण प्रतियोगिता म काम कर रही फर्म वस्तु की कीमत स्वय निश्चित करती है उसके लिए दी हुई कीमत पर पूर्ति करने का प्रश्न नही होता है।

पूर्ति कीमत पर निर्भर करती है। नियम के अनुसार यदि अन्य बाते समान रहे तो वस्तु की कीमत बढ़ने पर पूर्ति बढ़ जाती है और कीमत घटने पर पूर्ति घट जाती है ('Other things remaining the same as the price of a commodity rises, its supply is extended and as the price falls its supply is contracted)। बाजार मे वस्तु की कीमत जितनी अधिक होगी उत्पादक अथवा विक्रेता वस्तु की उतनी ही अधिक मात्रा बेचने को उद्यत होगे और कीमत जितनी ही कम होगी वस्तु की उतनी ही कम मात्रा की पूर्ति होगी।

मांग अनुसूची की तरह हम किसी व्यक्तिगत उत्पादक अथवा विक्रेता का पूर्ति वक्र बना सकते है। किसी वस्तु के सभी उत्पादको अथवा विक्रेताओ द्वारा विभिन्न कीमतो पर की गई पूर्ति की मात्राओ को जोडकर हम उस वस्तु उद्योग का पूर्ति वक्र (Supply curve of the Industry) अथवा बाजार पूर्ति वक्र (Market Supply curve) बना सकते है।

पूर्ण प्रतियोगिता मे पूर्ति वक्र (Supply Curve under Perfect Competition)

जिस प्रकार मांग को विभिन्न कीमतो पर किसी वस्तु की खरीदी जा रही मात्राओ की अनुसूची के रूप मे परिभाषित किया जाता है उसी प्रकार पूर्ति भी एक वस्तु की विभिन्न मात्राओ की अनुसूची है जो कि विभिन्न कीमतो पर बाजार म बेचन के लिए प्रस्तुत की जाएगी। इसलिए पूर्ति वक्र वस्तु की विभिन्न मात्राओ का जो कि उत्पादको अथवा विक्रेताओ द्वारा विभिन्न कीमतो पर बेचने के लिए प्रस्तुत की जाएगी को व्यक्त करता है। पूर्ति वक्र विभिन्न कीमतो पर मात्राओ का प्रतिक्रिया (reaction) को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार पूर्ति की गई मात्रा मांग की मात्रा की तरह कीमत का फलन (function) है। किन्तु वस्तु की कीमत म परिवतन होने से पूर्ति की गई मात्रा और मांग मात्रा की प्रतिक्रिया मे महत्वपूर्ण अन्तर है। जबकि वस्तु की मांग मात्रा प्राय वस्तु की कीमत के घटने पर प्राय बढ़ती है और वस्तु की कीमत बढ़ने पर घटती है, पूर्ति की मात्रा प्राय वस्तु की कीमत घटने पर घटती है और वस्तु की कीमत बढने पर बढ़ती है। दूसरे शब्दो म, जबकि मांग मात्रा का कीमत से विलोम (inverse) अथवा उल्टा सम्बन्ध है पूर्ति की मात्रा का कीमत से सीधा (direct) अथवा धनात्मक (positive) सम्बन्ध है।

पूर्ति की मात्रा और कीमत में सीधा अथवा धनात्मक सम्बन्ध उत्पादन लागतों की प्रकृति के कारण है जो वस्तु के अधिक उत्पादन करने से सामान्यतः बढ़ती है। कीमत और पूर्ति की मात्रा में सीधे और धनात्मक सम्बन्ध के कारण ही पूर्ति वक्र बायें से दायीं ओर ऊपर को चढ़ता है। जबकि अल्पकालीन पूर्ति वक्र सदा ही दायीं ओर को ऊपर चढ़ता है, दीर्घकालीन पूर्ति वक्र ऊपर को भी चढ़ सकता है, नीचे को भी गिर सकता है और समानान्तर सरल रेखा की आकृति का भी हो सकता है। पूर्ति वक्र इनमें से किस प्रकार का होगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि क्या उद्योग-विशेष वर्धमान लागत (increasing cost) का उद्योग है, ह्रासमान लागत (decreasing cost) का उद्योग है अथवा स्थिर लागत का उद्योग है। ऊपर को चढ़ता हुआ पूर्ति वक्र जो कि बढ़ती लागत को व्यक्त करता है, दीर्घकाल में सबसे अधिक पाया जाता है।

हम नीचे इस बात की व्याख्या करेंगे कि फर्म और उद्योग का पूर्ति वक्र पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में कैसे प्राप्त किया जा सकता है। पूर्ण प्रतियोगिता में कीमत निर्धारण की व्याख्या करने से पूर्व यह जरूरी है कि पूर्ण प्रतियोगिता में पूर्ति वक्र को कैसे प्राप्त किया जाता है, की व्याख्या की जाए क्योंकि पूर्ति वक्र माँग वक्र से मिलकर बाजार में वस्तु की कीमत को निर्धारित करता है।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का अल्पकालीन पूर्ति वक्र (Short-Run Supply Curve of the Firm under Perfect Competition)

जैसा कि हम जानते हैं, दीर्घकालीन वह अवधि है जिसमें वस्तु का उत्पादन एक निश्चित पूंजी, उपकरण अथवा सयंत्र के साथ परिवर्तनशील साधनों के अधिक प्रयोग से बढ़ाया जा सकता है। हम ऊपर देख आये हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म वस्तु की वह मात्रा उत्पादित करती है जिस पर सीमान्त लागत और कीमत बराबर होते हैं। चूंकि पूर्ण प्रतियोगिता वाली फर्म के लिए कीमत दी हुई तथा स्थिर होती है, इसलिए कीमत रेखा अथवा औसत एवं सीमान्त आय (*AR* and *MR* curve) उसके लिए समानान्तर सरल रेखा होती है। प्रत्येक दी हुई कीमत पर फर्म का सन्तुलन उसके सीधा सामने सीमान्त लागत वक्र के किसी बिन्दु पर होगा। अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र उन मात्राओं को व्यक्त करता है जो कि फर्म अल्पकाल में विभिन्न कीमतों पर उत्पादित करेगी। इस प्रकार रेखाकृति 20.1 में कीमत *OU* पर फर्म वस्तु की *ON* मात्रा उत्पादित करके बेचने के लिए प्रस्तुत करेगी क्योंकि वस्तु की *ON* मात्रा पर ही कीमत *OU* सीमान्त लागत के बराबर होती है। इसी तरह कीमत *OP* पर वस्तु की उत्पादित अथवा बाजार में बेचने के लिए प्रस्तुत की गई मात्रा *OM* होगी क्योंकि कीमत *OP* उत्पादन मात्रा *OM* पर ही सीमान्त लागत के समान है। इसी प्रकार कीमत *OS* पर फर्म वस्तु की *OL* मात्रा
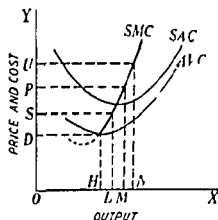
रेखाकृति 20.1. पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का अल्पकालीन पूर्ति वक्र

का उत्पादन करके पूर्ति करेगी। स्पष्ट है कि फर्म का अल्पकालीन सीमांत लागत (*SMC*) वक्र वास्तव में फर्म का अल्पकालीन पूर्ति वक्र ही है। फर्म कीमत *OD* से नीचे किसी कीमत पर भी उत्पादन नहीं करेगी क्योंकि *OD* से नीची कीमत पर वह अपनी परिवर्तनशील अथवा घटती-बढ़ती लागतों (variable costs) को भी पूरा नहीं कर सकेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि

सीमात लागत वक्र का केवल वह भाग जो कि औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) के ऊपर स्थित है वह ही फर्म का पूर्ति वक्र बनता है। रेखाकृति 20 1 मे अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र (SMC) का काला किया गया भाग फर्म के अल्पकालीन पूर्ति वक्र को व्यक्त करता है। चूंकि पूर्ण प्रतियोगिता मे सन्तुलन मात्रा पर सीमात लागत वक्र अवश्य ही ऊपर को चढ रहा होता है इसलिए **फर्म का अल्पकालीन पूर्ति वक्र सदा ही बाएँ से दायीं ओर ऊपर को चढता है** (Short-Run supply curve of a firm always slopes upward)।

प्रतियोगी उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र (Short Run Supply Curve of the Competitive Industry)

अब हम प्रतियोगी उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र प्राप्त करने का तरीका बतायेंगे। जिस प्रकार बाजार मॉंग वक्र एक पदार्थ के सभी व्यक्तिगत उपभोक्ताओ के मॉंग वक्रो को साथ-साथ रख कर जोडने से प्राप्त किया जाता है, उसी प्रकार उद्योग का पूर्ति वक्र भी उद्योग की सभी फर्मों के अल्पकालीन पूर्ति वक्रो

रेखाकृति 20 2 पूर्ण प्रतियोगी उद्योग के अल्पकालीन पूर्ति वक्र की व्युत्पत्ति

को साथ-साथ रख कर जोडने से प्राप्त होता है। फर्मों के अल्पकालीन पूर्ति वक्रो को किस प्रकार जोड कर उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र मालूम किया जाता है, यह रेखाकृति 20 2 मे दिखाया गया है। कल्पना कीजिए कि एक प्रतियोगी उद्योग मे कुल 200 फर्मे है। इसके अतिरिक्त, हम यह भी मान्यता कर लेते हैं कि उत्पादन लागत की दृष्टि से सभी फर्मे एक समान हैं। रेखाकृति 20 2 (a) मे SMC एक व्यक्तिगत फर्म के अल्पकालीन पूर्ति वक्र को व्यक्त करता है कीमत OP_1 पर एक व्यक्तिगत फर्म पदार्थ की OM_1 मात्रा का उत्पादन करके उसकी पूर्ति करेगी। चूंकि उद्योग मे ऐसी 200 फर्मे हैं समस्त उद्योग पदार्थ की $OM_1 \times$ 200 मात्रा (अथवा ON_1 मात्रा) उत्पादित करके उसकी पूर्ति करेगा। इसलिए रेखाकृति 20 2 (b) म ON_1 मात्रा की कीमत OP_1 के सामने अकित की गयी है। रेखाकृति 20 2 मे यह बात ध्यान से समझ लनी चाहिए कि जब कि अक्ष-Y पर स्केल (scale) दोनो रेखाकृतियो म समान है यह अक्ष X पर भिन्न भिन्न है। रेखाकृति 20 2(b) मे अक्ष X पर स्केल को बहुत सकुचित किया गया है ताकि इसमे बडी मात्राओ को व्यक्त किया जा सके। कीमत OP_2 पर व्यक्तिगत फम वस्तु की OM_2 मात्रा उत्पादित करेगी और उसकी पूर्ति करेगी जबकि समस्त उद्योग द्वारा इस कीमत पर वस्तु की ON_2 मात्रा (जो कि 200 OM_2 के बराबर है) की पूर्ति की जाएगी। इसी प्रकार उद्योग कीमत OP_3 पर वस्तु की ON_3 मात्रा उत्पादित करके पूर्ति करेगा और कीमत OP_4 पर ON_4 मात्रा की पूर्ति की जाएगी। इसी प्रकार अन्य कीमतो पर भी उद्योग द्वारा पूर्ति मालूम की जा सकती है। उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र भी बाये से दायी ओर को ऊपर को चढेगा। इसका कारण यह है कि फर्मों के अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र परिवर्तनशील लागत वक्र AVC के निम्नतम बिन्दु के ऊपर बाएँ से दायी ओर ऊपर की ढाल वाले होते हैं। उद्योग के अल्पकालीन पूर्ति वक्र की ढाल (slope) और मूल्यसापेक्षता (elasticity) उस उद्योग की व्यक्तिगत फर्मों की सीमात लागत वक्रो की ढाल और मूल्यसापेक्षता पर निर्भर करेगी।

पूर्ण प्रतियोगिता मे सम्पूर्ण उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र (The Long run Supply Curve of a Perfectly Competitive Industry)

जैसा कि पहले देख चुके हैं, दीर्घकाल मे समय इतना पर्याप्त होता है कि उद्योग की फर्मों का आकार

और उनकी संख्या दोनों ही बदले जा सकते है। यदि उस उद्योग की वस्तु की माँग बढ़ जाय तो अल्पकाल मे भी बढ़ी हुई माँग को वर्तमान संयत्र के अधिक गहन प्रयोग द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। परन्तु यदि बढ़ी हुई माँग स्थिर रहे तो दीर्घकाल मे इसे एक तो वर्तमान फर्मों के विस्तार द्वारा पूरा किया जाएगा और दूसरा उस उद्योग मे नई फर्मों के प्रवेश द्वारा भी। किसी उद्योग के दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र का अर्थ यह है कि भिन्न कीमतों पर उस उद्योग की सभी वर्तमान फर्में और सम्भावित फर्में उस वस्तु की दीर्घकाल मे कुल कितनी मात्रा प्रस्तुत करेंगी (Long run supply curve is defined as supplies offered at various prices by existing as well as potential producers in the long run)।

जैसे कि पहले पढ चुके है, पूर्ण प्रतियोगिता मे उत्पादन कर रही फर्म का दीर्घकालीन सन्तुलन तब होगा जब उस फर्म की सीमान्त और औसत लागत दोनों ही उस वस्तु की कीमत के समान हों। इसी दीर्घकालीन सन्तुलन मे प्रतियोगिता या स्पर्धा की शक्तियाँ (अर्थात् फर्मों का खुले तौर पर उद्योग मे प्रवेश कर सकना और इच्छानुसार उद्योग को छोड सकना) पूर्ण प्रतियोगिता मे काम कर रही फर्म को इस बात पर बाध्य करती है कि वह दीर्घकाल मे अपने औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु पर ही उत्पादन करे। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र उस उद्योग की फर्मों के दीर्घकालीन सीमान्त लागतों के वक्रो को एक साथ रख कर किया हुआ जोड नहीं हो सकता (Long-run supply curve can not be the lateral summation of the long-run marginal cost curves of the firms)। कारण यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा के अन्तर्गत दीर्घकाल मे फर्में तो केवल एक ही बिन्दु पर उत्पादन करती हैं और वह बिन्दु है उनके दीर्घकालीन औसत-लागत वक्र का निम्नतम बिन्दु, अर्थात् जहाँ उनका दीर्घकालीन सीमान्त-लागत वक्र उनके दीर्घकालीन औसत लागत वक्र को काटता है। तब आप पूछेंगे कि दीर्घकाल मे समूचे उद्योग की कुल पूर्ति माँग के अनुसार घटती-बढ़ती कैसे है। इसका उत्तर यह है कि दीर्घकाल मे फर्मों की संख्या बदल जाएगी। माँग के बढ़ जाने पर कई नई फर्में इसमे आ जाएँगी और माँग के कम हो जाने पर कई वर्तमान फर्में इसे छोड कर अन्य उद्योगों मे चली जाएँगी। अत अब आपको एक मुख्य कारण तो समझ आ गया होगा कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र जानने के लिए हम फर्मों के दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्रो को क्यों एक-दूसरे के साथ रखकर जोड नहीं लेते। यह पूर्ति वक्र तो इस प्रकार नहीं बनेगा।

इसका दूसरा कारण है कि जब दीर्घकाल मे उद्योग का विस्तार होता है अर्थात् फर्मों की संख्या बढ़ती है, तो इसमे फर्मों के लागत-वक्र अपने स्थान से विचलित हो जाते हैं अर्थात् लागतों की दशाएँ बदल जाती है क्योंकि उद्योग का आकार बढ़ने-घटने से उसको कई बाहरी बचतें (external economies) तथा बाहरी हानियाँ (external diseconomies) होने लग जाती हैं।

किसी उद्योग के दीर्घकालीन पूर्ति-वक्र की शक्ल समझने के लिए बाहरी बचतों और बाहरी हानियो की धारणा (concept of external economies and external diseconomies) को समझ लेना अतीव आवश्यक है। भाव यह है कि उद्योगों मे जब कई नई फर्में आ जाने से विस्तार हो जाता है और उद्योग का इस प्रकार आकार (size) बढ़ जाता है, तो बाहरी बचतों के होने से सभी फर्में सम्भवत कम कीमत पर उत्पादन करने लग जाएँगी। इस प्रकार की सम्भावना विशेष करके तब बड़ी प्रबल होती है जब किसी अविकसित देश या क्षेत्र मे किसी नए उद्योग का विकास हो रहा होता है। बाहरी बचतें (external economies) होने पर फर्मों के औसत और सीमान्त लागत वक्र पहले से नीचे सरक जाते हैं।

हाँ, एक पूर्णतया विकसित देश मे जो उद्योग पहले ही एक बड़े आकार को प्राप्त कर चुका हो, उसमे इस बात की सम्भावना बड़ी कम होगी कि उस उद्योग के आकार के और अधिक बढ़ने पर उसमें काम कर रही फर्मों को बाहरी बचतें होती चली

जाएं। वहाँ तो अधिक सम्भावना यह होगी कि उन्हें बाहरी हानियाँ (external diseconomies) होने लग जाएं। जैसे जैसे नई फर्में उस उद्योग मे प्रवेश करती चली जाएंगी, उनकी प्रतियोगिता मे दुर्लभ कच्चा माल, कुशल श्रम और उत्पादन के अन्य दुर्लभ साधनो की कीमतें चढ़ जाएंगी। इसके अतिरिक्त एक और प्रतिकूल बात यह होगी कि अब इस उद्योग की बढ़ी हुई माँग को पूरा करने के लिए उत्पादन के जो अतिरिक्त साधन उस उद्योग को आवश्यक होंगे वे पहले प्रयोग हो रहे साधनो से हीनतर होंगे क्योंकि श्रेष्ठ साधन तो अब तक समाप्त हो गए होंगे। 'हीनतर' से हमारा अभिप्राय यह है कि वे कम कुशल (less efficient) होंगे। भाव यह है कि सभी प्रकार की बाहरी हानियो (external diseconomies) का परिणाम यह होगा कि उस उद्योग की सभी फर्मों के सीमान्त और औसत लागत वक्र पहले से ऊपर की ओर सरक जाएंगे।

बाहरी बचतो और बाहरी हानियो के उक्त विवेचन से यह समझ मे आ गया होगा कि जब किसी उद्योग का विस्तार होता है और इसके फलस्वरूप उस उद्योग मे फर्मों की लागतें या तो बढ़ जाती है गिर जाती है या स्थिर रहती है यह क्रमशः इस बात पर निर्भर करेगा कि क्या उस उद्योग की बाहरी बचतें उसकी बाहरी हानियो से कमजोर है, प्रबल हैं या एक दूसरे के बराबर है। अत पूर्ण प्रतियोगिता से काम कर रहे उद्योग के दीर्घकालीन पूर्तिवक्र की आकृति इस बात पर निर्भर करती है कि क्या यह उद्योग स्थिर लागत उद्योग है या घटती लागत का या बढ़ती लागत का (The long-run supply curve of a perfectly competitive industry will have different shape, depending upon the fact whether the industry in question is a constant-cost increasing-cost or decreasing-cost industry)

अब हम इन तीन प्रकार के उद्योगो के दीर्घकालीन पूर्तिवक्रो को किस प्रकार प्राप्त किया जाता है, का विवेचन अगले अध्याय मे करेंगे। कारण यह है कि उद्योग के दीर्घकालीन पूर्ति वक्र की प्राप्ति माँग वक्रो को प्रत्यक्ष रूप मे दिखाए बिना समझना आसान नही है। जैसा कि हम ऊपर बता आए है कि माँग दशाएँ दी हुई होने पर उद्योग की दीर्घकालीन पूर्ति की मात्रा एक फर्म की इष्टतम उत्पादन मात्रा (अर्थात् दीर्घकालीन न्यूनतम लागत पर उत्पादन) को उस समय उद्योग मे पाई जाने वाली फर्मों की सख्या से गुणा करके प्राप्त की जाएगी। माँग दशाओ अथवा माँग वक्रो मे परिवर्तन होने पर, उद्योग मे फर्मों की सख्या बदल जाएगी और सम्भवत फर्म का इष्टतम आकार भी बदल जाएगा। परिणामस्वरूप उद्योग की दीर्घकालीन पूर्ति की मात्रा बदल जाएगी। चूँकि हम अगले अध्याय मे माँग और पूर्तिवक्रो द्वारा कीमत के निर्धारण की व्याख्या करेंगे इसलिए उद्योग के दीर्घकालीन पूर्ति वक्र की व्युत्पत्ति किस प्रकार की जाती है को भी वहाँ स्पष्ट किया जाएगा।

पूर्ति की मूल्यसापेक्षता
(Elasticity of Supply)

पूर्ति के विषय को छोड़ने से पूर्व हमे पूर्ति का एक और पहलू अवश्य समझ लेना चाहिए। यह है पूर्ति की मूल्यसापेक्षता। जैसे माँग मूल्यसापेक्ष होती है, उसी प्रकार पूर्ति भी मूल्यसापेक्ष होती है। यदि किसी वस्तु की पूर्ति का उसकी कीमत बढ़ने-घटने से काफी विस्तार-सकुचन हो जाए तो उस वस्तु की पूर्ति को मूल्यसापेक्ष पूर्ति (elastic supply) कहते है।

परन्तु ऐसी भी कई वस्तुएं होती है जिनकी पूर्ति पर उनकी कीमत का कोई विशेष प्रभाव नही पड़ता, अर्थात् चाहे उनकी कीमत बढ़ जाए या कम हो जाए, उनकी पूर्ति नही बदलती और उतनी ही रहती है या बहुत थोड़ी बदलती है। ताजे दूध का उदाहरण लें। जो ताजा दूध बाजार मे आ चुका है, उसे तो बेचना ही पड़ेगा चाहे कीमत भले ही बहुत कम हो गई हो। दूध ऐसी वस्तु नही कि गेहूं की तरह गोदाम मे इस विचार से सग्रह की जाए कि कीमत बढ़ने पर बेचेंगे। अत नश्वर, यानी जल्दी खराब होने वाली वस्तुओ जैसे दूध, ताजे फल

सब्जियों की पूर्ति अथवा ऐसी वस्तुओं की पूर्ति जिन्हें बनाने के लिए बहुत पूंजी और अधिक समय चाहिये, मूल्यनिरपेक्ष (inelastic supply) होती है।

अब मकानों या मजदूरों का उदाहरण लें। द्वितीय महायुद्ध में नये मकान बनाना बड़ा कठिन था, निर्माण-सामग्री नहीं मिलती थी। किराये बहुत बढ़ गए, पर मकानों की पूर्ति बढ़ाई नहीं जा सकती थी। इस प्रकार मजदूरों अथवा कार्यकुशल राजों (masons) की बड़ी आवश्यकता थी, परन्तु उनकी पूर्ति न बढ़ी। इनकी पूर्ति मूल्यनिरपेक्ष थी।

सामान्यतया कृषि-उत्पादन की पूर्ति मूल्यनिरपेक्ष होती है और इसके विपरीत कारखानों में विनिर्मित पदार्थों (manufactured goods) की पूर्ति अपेक्षाकृत मूल्यसापेक्ष होती है। कृषि उत्पादनों में भी भिन्न वस्तुओं की मूल्यनिरपेक्षता में काफी अन्तर होता है। गेहूं और चाय के उदाहरण लीजिए। किसी देश में गेहूं की मांग बढ़ने पर उसकी पूर्ति एकदम तो नहीं बढ़ेगी और इस प्रकार इसकी कीमत काफी चढ़ जाएगी परन्तु बड़ी सम्भावना यह है कि अगले वर्ष कृषक दूसरी फसलों के लिए कम भूमि प्रयोग करेंगे और इस प्रकार गेहूं के लिए अधिक भूमि पर गेहूं की उपज बढ़ा लेंगे। चाय की मांग बढ़ने पर अगले वर्ष भी उसका उत्पादन विशेष बढ़ाया नहीं जा सकता क्योंकि चाय के पौधे उगाने और उनके बड़ा होने में काफी समय लगता है। यदि रबड़ (rubber) की मांग बढ़ जाए और इस कारण कीमतें चाहे बहुत ही क्यों न बढ़ जाएं रबड़ का उत्पादन बहुत नहीं बढ़ाया जा सकता। इसके बढ़ाने के लिए तो कई वर्ष लगेंगे क्योंकि रबड़ के वृक्ष दो-चार वर्षों में रबड़ देने योग्य नहीं हो जाते। दूसरा एक दो वर्ष रबड़ की कीमतें ऊंची रहने पर रबड़-उत्पादक झट यह निर्णय नहीं कर लेते कि यह बढ़ी हुई मांग सचमुच स्थायी है। अतः कीमतें बढ़ जाने पर भी कई वर्ष तक तो रबड़ के उत्पादन में विशेष वृद्धि नहीं होती।

इसी प्रकार आप पशुओं की खालों (hides and skins) का उदाहरण लें। खालों की बढ़ी हुई मांग को पूरा करने के लिए किसान लोग अपने पशुओं को तो मारने नहीं लग जाएंगे और बूढ़े पशुओं की संख्या एक दो वर्षों में नहीं बढ़ाई जा सकती।

यह तो था पूर्ति को बढ़ाने का उदाहरण। यदि इन वस्तुओं की मांग किसी कारणवश कम हो जाये, तो भी इनकी पूर्ति शीघ्र घटाई नहीं जा सकती। मांग घटाने का मुख्य प्रभाव उनकी कीमतों पर होगा। वे गिर जायेंगी।

कृषि उत्पादनों की पूर्ति अपेक्षाकृत मूल्यनिरपेक्ष होने का एक और कारण यह भी है कि सभी उद्योगों में कृषि उद्योग ही वर्षा, मौसम आदि जैसे प्राकृतिक तत्वों पर सबसे अधिक निर्भर करता है। इन तत्वों पर मानवीय नियन्त्रण बहुत कम होता है। अतः चाहे कृषि की भिन्न-भिन्न फसलों की पूर्ति को तो कुछ बढ़ाना-घटाना सम्भव हो, परन्तु समूचे कृषि उत्पादन को मांग के घटने-बढ़ने पर इच्छानुसार घटाना-बढ़ाना बहुत सम्भव नहीं। भिन्न-भिन्न फसलों की पूर्ति इस प्रकार थोड़ी-बहुत घटाई-बढ़ाई जा सकती है कि दुर्लभ भूमि आदि को एक फसल से हटाकर बढ़ी हुई मांग वाली फसल के उगाने में प्रयोग किया जा सकता है।

कृषि उत्पादन के विपरीत फैक्ट्रियों में निर्मित वस्तुओं की पूर्ति अपेक्षाकृत मूल्यसापेक्ष होती है। कारखाने में मालिक अपनी वस्तु की मांग बढ़ने पर अपने कारखाने में एक पारी की बजाय दो पारी कर देते हैं और यदि आवश्यकता पड़े तो तीन भी। इस प्रकार पूर्ति को काफी बढ़ाया जा सकता है। मांग घट जाने पर भी पूर्ति को पारी कम करके अथवा मजदूरों को जवाब देकर घटाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कारखाना उद्योगों में उत्पादन की मौसम, वर्षा आदि जैसे प्राकृतिक तत्वों पर निर्भरता बहुत कम होती है। इस प्रकार कारखानों में निर्मित वस्तुओं की पूर्ति अधिक मूल्यसापेक्ष अथवा लोचदार होती है।

पूर्ति की मूल्यसापेक्षता का माप (Measurement of the Elasticity of Supply)

जैसे मांग की मूल्यसापेक्षता के मापने का सूत्र

है, वैसे ही पूर्ति की मूल्यसापेक्षता मापने का भी सूत्र है। वह यह है—

पूर्ति की मूल्यसापेक्षता

$$= \frac{\text{पूर्ति की मात्रा मे वृद्धि}}{\text{कुल पूर्ति}} - \frac{\text{कीमत मे परिवर्तन}}{\text{कीमत}}$$

Elasticity of Supply

$$= \left(\frac{\text{Change in amount Supplied}}{\text{Amount Supplied}} - \frac{\text{Change in price}}{\text{Price}} \right)$$

चिन्हो के रूप मे पूर्ति की मूल्यसापेक्षता को निम्न प्रकार लिख सकते हैं —

$$e_s = \frac{\Delta q}{q} - \frac{\Delta p}{p}$$

$$= \frac{\Delta q}{q} \times \frac{p}{\Delta p}$$

$$= \frac{\Delta q}{\Delta p} \times \frac{p}{q}$$

जहाँ पर e_s = पूर्ति की मूल्यसापेक्षता का सूचक है

Δq पूर्ति की मात्रा मे परिवर्तन को दर्शाता है

Δp कीमत मे परिवर्तन को दर्शाता है

p प्रारम्भिक कीमत को व्यक्त करता है

q प्रारम्भिक पूर्ति की मात्रा को व्यक्त करता है

उपर्युक्त सूत्र की सहायता से हम किसी वस्तु की पूर्ति की मूल्यसापेक्षता को माप सकते हैं। यदि किसी रेफ्रीजरेटर की कीमत 2000 रुपये से बढ कर 2100 रुपये हो जाती है तो इसके फलस्वरूप रेफ्रीजरेटर की पूर्ति की मात्रा 2500 इकाइयो से बढकर 3000 इकाइयाँ हो जाती है तो पूर्ति की मूल्यसापेक्षता होगी —

$$e_s = \frac{\Delta q}{\Delta p} \times \frac{p}{q}$$

$$= \frac{500}{100} \times \frac{2000}{2500}$$

$$= 5 \times \frac{20}{25}$$

$$= 4$$

पूर्ति की मूल्यसापेक्षता इस बात पर निर्भर करती है कि उद्योग के उत्पादन का विस्तार कितनी आसानी से किया जा सकता है तथा उसके विस्तार करने पर उसकी सीमान्त लागतो (marginal costs) मे कितनी वृद्धि होती है। दीर्घकाल मे उत्पादन को अधिक मात्रा मे बढाये जाने की सम्भावना के कारण वस्तु की दीर्घकालीन पूर्ति उसकी अल्पकालीन पूर्ति की तुलना मे अधिक मूल्यसापेक्ष होती है। पूर्ति वक्र के किसी बिंदु पर पूर्ति की मूल्यसापेक्षता को एक सूत्र द्वारा आसानी से मापा जा सकता है। हम इस सूत्र को नीचे व्युत्पादित करेंगे।

रेखाकृति 20.3 मे पूर्ति वक्र SS है और इसके बिन्दु Q पर पूर्ति की मूल्यसापेक्षता का माप करना है। कीमत OP पर, पूर्ति की मात्रा OM है। वस्तु की कीमत OP से बढकर OP' हो जाने पर, पूर्ति की मात्रा OM से बढकर OM' हो जाती है। अब पूर्ति वक्र SS को नीचे को बढाओ जिससे कि वह अक्ष-X को बिन्दु T पर मिले।

बिन्दु Q पर पूर्ति की मूल्यसापेक्षता (e_s)

$$= \frac{\Delta q}{p} - \frac{\Delta P}{p}$$

$$= \frac{MM'}{OM} - \frac{PP'}{OP}$$

$$= \frac{MM'}{OM} \times \frac{OP}{PP'}$$

$$= \frac{MM'}{PP'} \times \frac{OP}{OM}$$

MM' को QR से, PP' को RL से तथा OP को MQ से प्रतिस्थापित करने पर हमे निम्न समीकरण प्राप्त होता है

$$\text{बिन्दु } Q \text{ पर } e_s = \frac{QR}{RL} \times \frac{MQ}{OM} \quad \cdot (i)$$

अब त्रिभुज QRL और QMT को लीजिए

$\angle LQR = \angle QTM$ (corresponding angles)

$\angle QRL = \angle QMT$ (समकोण)

$$RLQ = \angle MQT$$

(corresponding angles)

अतएव त्रिभुज QRL और QMT समरूप (similar) है।

अत $$\frac{QR}{RL} = \frac{MT}{MQ}$$
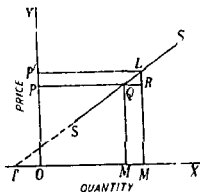
रेखाकृति 20 3

पूर्ति की मूल्यसापेक्षता को मापना

समीकरण (1) मे $\frac{QR}{RL}$ के स्थान पर $\frac{MT}{MQ}$ लिखने मे हमे निम्न समीकरण प्राप्त होता है

$$\text{बिन्दु } Q \text{ पर } e_s = \frac{MT}{MQ} \times \frac{MQ}{OM}$$
$$= \frac{MT}{OM}$$

इस प्रकार हम पूर्ति की मूल्यसापेक्षता MT को OM से भाग देकर ज्ञात कर सकते है। चूंकि रेखाकृति 20 3 मे MT, OM की अपेक्षा अधिक है, इसलिए SS वक्र के बिन्दु पर पूर्ति की मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक होगी।

इस प्रकार जब हमे किसी वस्तु का पूर्ति वक्र दिया हुआ हो तो उपर्युक्त सूत्र की सहायता से हम यह मालूम कर सकते हैं कि क्या उस पूर्ति की मूल्यसापेक्षता इकाई (unity) है, इकाई से अधिक (greater than unity) है या इकाई से कम (less than unity) है। रेखाकृति 20 3 मे जब सरल रेखा के पूर्ति वक्र SS को बढ़ाया जाता है तो यह अक्ष-X को मूल बिन्दु O के बायें ओर को मिलता है जिससे MT OM की तुलना मे अधिक है और फलस्वरूप पूर्ति वक्र की मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक है। इसके विपरीत रेखाकृति 20 4 म जब पूर्ति वक्र SS को बढ़ाया जाता है तो यह अक्ष-X को मूल बिन्दु के दायी ओर को मिलता
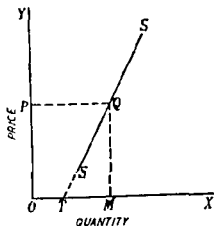
रेखाकृति 20 4

है जिससे MT, OM की तुलना मे कम है और फलस्वरूप पूर्ति की मूल्यसापेक्षता $\frac{MT}{OM}$ इकाई से कम होगी।

रेखाकृति 20 5 मे जब पूर्ति वक्र SS को बढ़ाया जाता है तो यह अक्ष-X को मूल बिन्दु पर ही मिलता है। जिससे MT और OM एक दूसरे के बराबर है।
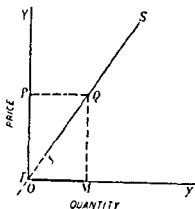
रेखाकृति 20 5

अत. रेखाकृति 20 5 मे पूर्ति की मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर है। रेखाकृति 20 3 मे पूर्ति की मूल्यसापेक्षता

पूर्ति वक्र SS के प्रत्येक बिन्दु पर इकाई से अधिक होगी, परन्तु इसका सही मूल्य (exact value) विभिन्न बिन्दुओ पर भिन्न-भिन्न होगा । इसी तरह रेखाकृति 20.4 मे पूर्ति की मूल्यसापेक्षता वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर इकाई से कम होगी परन्तु यह विभिन्न बिन्दुओ पर भिन्न-भिन्न होगी। परन्तु रेखाकृति 20.5 मे पूर्ति की मूल्यसापेक्षता वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर इकाई के बराबर होगी क्योंकि इसमे $\frac{MT}{OM}$ प्रत्येक बिन्दु पर इकाई के ही बराबर होगा।

ऊपर हमने सरल रेखा (straight line) के पूर्ति वक्र पर पूर्ति की मूल्यसापेक्षता को मापने के बारे मे पढा परन्तु प्राय पूर्ति-वक्र सरल रेखा न होकर वास्तव मे वक्र (curve) की आकृति का होता है, तब इसकी मूल्यसापेक्षता कैसे जानी जा सकती है ? इसे जानने का तरीका यह है कि पूर्ति-वक्र के जिस बिन्दु पर की मूल्यसापेक्षता मालूम करनी हो, उस बिन्दु पर उस पूर्ति वक्र की स्पर्श-रेखा (tangent) खीचें और स्पर्श-रेखा की दशा मे सूत्र $\frac{MT}{OM}$ को लागू करके पूर्ति की मूल्यसापेक्षता का माप करें जैसा कि रेखाकृति 20.6 मे दिखाया गया है जिसमे पूर्ति वक्र SS के बिन्दु Q पर स्पर्श रेखा tt' खींची गई है । यहाँ पर भी पूर्ति की मूल्यसापेक्षता $\frac{MT}{OM}$ के बराबर होगी ।
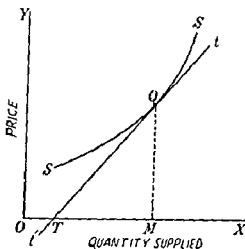
रेखाकृति 20.6
स्पर्श रेखा की सहायता से मूल्य-सापेक्षता की माप

हाँ, यह तो रहा मोटे तौर पर पूर्ति की मूल्य-सापेक्षता का अनुमान लगाना । यदि सही (exact) मूल्यसापेक्षता मालूम करनी हो, तो ऊपर बताये गए सत्र को प्रयोग करना होगा ।

21

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत का निर्धारण
(PRICE DETERMINATION UNDER PERFECT COMPETITION)

गत अध्यायो मे हमने माँग और पूर्ति की शक्तियो के विषय मे विस्तारपूर्वक अध्ययन किया है। ये माग और पूर्ति की शक्तियाँ ही हैं जिनकी परस्पर क्रिया द्वारा पदार्थ की कीमत अथवा मूल्य निर्धारित होता है। माग सिद्धान्त के विवेचन मे हमने यह मान्यता (assumption) ली थी कि एक व्यक्तिगत उपभोक्ता *अथवा क्रेता किसी वस्तु की कीमत को प्रभावित नही* कर सकता और इसलिए उसे बाजार मे प्रचलित *कीमत को स्वीकार करना पड़ता है और अपनी माँग* को उसके अनुसार निश्चित करना होता है। इसके अतिरिक्त हमने माँग सिद्धान्त मे यह भी मान लिया कि उपभोक्ता अपनी मुद्रा आय को विभिन्न वस्तुओ पर इस प्रकार व्यय करता है जिसमे उसको अधिकतम सम्भव सन्तुष्टि प्राप्त हो। इन मान्यताओ पर हमने वस्तु का माग वक्र बनाया। पहले हमने मार्शल के सीमान्त तुष्टिगुण (marginal utility) विश्लेषण से और फिर अनधिमान वक्रों की सहायता से माग वक्र को प्राप्त किया और उसके निर्धारक तत्वो की व्याख्या की। इसके पश्चात् हमने पूर्ति के सिद्धान्त के बारे में अध्ययन किया और यह मान्यता ली कि एक उद्यमकर्त्ता अथवा एक फर्म वस्तु की कीमत को व्यक्तिगत रूप से प्रभावित नही कर सकते और इसे बाजार मे वस्तु की प्रचलित कीमत स्वीकार करनी पड़ती है और उसके अनुसार अपनी पूर्ति को निश्चित करना होता है। इस मान्यता के आधार पर हमने इस बात की व्याख्या की कि एक फर्म अथवा एक उद्योग वस्तु की विभिन्न कीमतो पर कितनी-कितनी पूर्ति करने को तैयार होगा।

मांग और पूर्ति की शक्तियो की परस्पर क्रिया द्वारा पदार्थ की कीमत निर्धारित होती है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि व्यक्तिगत उपभोक्ता की माग और व्यक्तिगत उत्पादक अथवा विक्रेता की पूर्ति द्वारा वस्तु की कीमत निर्धारित नही होती, अपितु एक वस्तु के सभी उपभोक्ताओ अथवा क्रेताओ की कुल माँग ही है और एक वस्तु के सभी उत्पादक फर्मों की कुल पूर्ति ही है जो कि वस्तु की कीमत को निर्धारित करती है। उद्योग के लिए माग वक्र (अथवा मार्किट माँग वक्र) हमे यह बताता है कि विभिन्न कीमतो पर उसके उपभोक्ताओ द्वारा कितनी कितनी मात्रा मांगी जाएगी। दूसरी ओर उद्योग का पूर्ति वक्र हमे यह बताता है कि वस्तु की विभिन्न कीमतो पर वह उद्योग वस्तु की कितनी कितनी मात्रा बेचने को तैयार होता है। वह विशेष कीमत जिस पर कि वस्तु की मांगी

गई मात्रा उसकी पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है वह ही अन्ततः मार्किट मे निश्चित होगी।

आंशिक बनाम सामान्य सन्तुलन विश्लेषण (Partial Vs General Equilibrium Analyses)

पूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत निर्धारण के सम्बन्ध मे दो प्रमुख परम्पराएँ रही हैं। एक परम्परा प्रसिद्ध अग्रेज अर्थशास्त्री आल्फ्रेड मार्शल द्वारा स्थापित की गयी है जिन्होने आंशिक सन्तुलन का दृष्टिकोण अपनाया तथा दूसरी परम्परा वालरस (Walras) द्वारा स्थापित की गयी है जो सामान्य सन्तुलन का दृष्टिकोण कही जाती है। कीमत-निर्धारण के आंशिक सन्तुलन विश्लेषण मे, अन्य वस्तुओ की कीमत को स्थिर रखते हुए तथा विभिन्न वस्तुओ को भी परस्पर निर्भर न मानते हुए, हम कीमत-निर्धारण की व्याख्या करना चाहते हैं। आंशिक सतुलन-दृष्टिकोण की व्याख्या करते मे मार्शल लिखते हैं कि

'किन्तु सम्मिलित की जाने वाली शक्तियाँ इतनी अधिक सख्या मे हैं कि किसी एक समय पर उनमे से कुछ का विश्लेषण करना तथा प्रमुख अध्ययन के सहायक के रूप मे अनेक आंशिक समाधानो को स्पष्ट करना सर्वोत्तम है। इस प्रकार हम किसी विशेष वस्तु के सम्बन्ध मे पूर्ति, माँग तथा कीमत के प्राथमिक सम्बन्धो को पृथक करके विश्लेषण आरम्भ करते हैं। हम अन्य सभी शक्तियो को 'अन्य बातें समान रहने पर' वाक्यांश द्वारा निष्क्रिय कर देते हैं। हम यह कल्पना नही करते कि वे गतिहीन या जड हैं किन्तु समय विशेष के लिए उनकी सक्रियता की उपेक्षा करते हैं। यह वैज्ञानिक विधि बडी मात्रा तक विज्ञान की अपेक्षा प्राचीन है। यह वह विधि है जिसका अनुभवशील मनुष्यो ने चेतन अथवा अचेतन रूप मे अति प्राचीन समय से दैनिक जीवन की प्रत्येक कठिन समस्या मे प्रयोग किया।"

इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण की मार्शलीय व्याख्या मे एक वस्तु के लिए माँग फलन (या माँग वक्र) इस मान्यता पर खीचा जाता है कि अन्य वस्तुओ की कीमतें, रुचियाँ तथा उपभोक्ताओ की आय स्थिर रहती हैं। इसी प्रकार एक वस्तु की पूर्ति वक्र का निर्माण इस मान्यता पर किया जाता है कि अन्य वस्तुओ की कीमतें, ससाधनो अथवा उत्पादन के साधनो की कीमतें (prices of resources or factors) तथा उत्पादन-फलन अपरिवर्तित रहते हैं। तब मार्शल का आंशिक सन्तुलन विश्लेषण अन्य वस्तुओ की कीमतो, ससाधनो की कीमतो इत्यादि को अपरिवर्तित मानते हुए किसी एक वस्तु की कीमत-निर्धारण को माँग तथा पूर्ति वक्रों के प्रतिच्छेद (intersection) से व्याख्या करने का प्रयत्न करता है। अन्य वस्तुओ की कीमतें, ससाधनो की कीमतें, आय इत्यादि प्रणाली की सामग्री हैं जो दी हुई मान ली जाती हैं तथा अपरिवर्तित रखी जाती हैं तथा एक वस्तु के कीमत-उत्पादन सतुलन की व्याख्या की जाती है। 'स्थिति के यथावत् रहने' की मान्यता के दिये हुए होने पर यह X वस्तु की कीमत निर्धारण की व्याख्या, अन्य सभी वस्तुओ की कीमतो से स्वतन्त्र रूप मे करता है। सामग्री (data) मे परिवर्तन होने से नवीन माँग तथा पूर्ति वक्रो का निर्माण होगा तथा उनके अनुरूप वस्तु की नई कीमत-निर्धारित होगी। इस प्रकार आंशिक सन्तुलन विश्लेषण यह भी अध्ययन करता है कि किस प्रकार सामग्री मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप सतुलन कीमत परिवर्तित हो जाती है। परन्तु स्वतन्त्र सामग्री के दिए होने पर आंशिक सतुलन विश्लेषण केवल एक वस्तु की कीमत-निर्धारण की अकेले मे विवेचना करता है और यह विश्लेषण नही करता कि किस प्रकार विभिन्न वस्तुओ की कीमतें परस्पर-निर्भर तथा परस्पर सम्बन्धित हैं तथा किस प्रकार वे एक साथ निर्धारित होती हैं।

यह लिखने योग्य है कि आंशिक सन्तुलन विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि किसी एक क्षेत्र मे परिवर्तन शेष क्षेत्रो को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित नहीं करते हैं। इस प्रकार आंशिक सतुलन विश्लेषण मे यदि एक वस्तु की कीमत परिवर्तित होती है तो यह अन्य वस्तुओ की माँग को प्रभावित नही करेगी।

---
1 M Olson and Mcfarland, *op cit*

प्रो० लिप्से ठीक ही लिखते हैं कि "सभी आंशिक सन्तुलन विश्लेषण 'स्थिति के यथावत् रहने की मान्यता पर आधारित हैं। दृढता से निर्वचन करने पर मान्यता का अर्थ है कि विचारगत क्षेत्र (जैसे A क्षेत्र) मे किन्ही परिवर्तनो द्वारा अर्थव्यवस्था म अन्य सभी तत्त्व (things) अप्रभावित हैं। इस मान्यता का सदैव कुछ सीमा तक उल्लघन किया जाता है क्योकि कोई तत्त्व जो एक क्षेत्र मे घटित होता है कुछ अन्य क्षेत्रो मे भी परिवर्तन अवश्य करता है। जो महत्त्वपूर्ण है वह यह कि शेष सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे अभिप्रेरित परिवर्तन पर्याप्त रूप से छोटे तथा फैल जाते हैं इसलिए वे A क्षेत्र पर जो प्रभाव डालते हैं, उन्हें उपेक्षित किया जा सकता है।"[1]

सामान्य सन्तुलन विश्लेषण—सामान्य सन्तुलन विश्लेषण मे एक वस्तु की कीमत की व्याख्या अन्य वस्तुओ की कीमतो से स्वतन्त्र रूप मे निर्धारित होने की नहीं की जाती है। चूंकि एक वस्तु X की कीमत मे परिवर्तन, अन्य वस्तुओ की कीमतो तथा माँगी जाने वाली मात्राओ को प्रभावित करते हैं तथा बदले म अन्य वस्तुओ की कीमतो तथा माँगी जाने वाली मात्राओ मे परिवर्तन X वस्तु की माँगी जाने वाली मात्रा को प्रभावित करेंगे, अत सामान्य सन्तुलन दृष्टिकोण समस्त *वस्तुओ तथा साधनो की कीमतो के निर्धारण की* पारस्परिक तथा एक साथ व्याख्या करता है। इस प्रकार सामान्य सन्तुलन विश्लेषण "बहु बाजार सन्तुलन" की ओर दृष्टिपात करता है। यह उस उपाय का विचार करता है जिसमे एक आर्थिक प्रणाली मे सम्पूर्ण वस्तुओ की कीमतें प्रत्येक अपनी 'लचीली कीमत बाजार' (Flex-price Market) मे एक साथ निर्धारित होती हैं।"[2]

जैसा कि ऊपर कहा गया आंशिक सन्तुलन दृष्टिकोण मानता है कि एक वस्तु X की कीमत मे परिवर्तन का प्रभाव शेष अर्थव्यवस्था (अर्थात् अन्य सभी वस्तुओ पर) पर इस प्रकार फैल जायगा कि अन्य व्यक्तिगत वस्तुओ की कीमतो तथा मात्राओ पर नगण्य प्रभाव पडेगा। अत जहाँ वस्तु की कीमत मे परिवर्तन का कुछ अन्य वस्तुओ की कीमतो तथा मात्राओ पर प्रभाव महत्त्वपूर्ण है जैसा कि परस्पर-सम्बन्धित वस्तुओ की दशा मे होता है आंशिक सन्तुलन दृष्टिकोण को इन दशाओ मे सफलतापूर्वक प्रयुक्त नहीं किया जा सकता और इसलिए सामान्य सन्तुलन विश्लेषण प्रयुक्त करने की आवश्यकता होती है जो उनकी कीमतों तथा मात्राओ के पारस्परिक तथा एक साथ निर्धारण की व्याख्या करे। अत "यदि X तथा Y *या तो दृढतापूर्वक पूरक अथवा दृढतापूर्वक प्रतियोगी है* तो X की कीमत मे कमी Y की माँग पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डाल सकती है। सामान्य सन्तुलन विश्लेषण इस प्रकार के सम्बन्धों को ध्यान देने का प्रयत्न करता है।"[3]

सामान्य सन्तुलन विश्लेषण एक दूसरे के साथ सन्तुलन समायोजन के बीच अन्त सम्बन्ध तथा पारस्परिक निर्भरता की विवेचना करता है। सामान्य सन्तुलन तब स्थापित होता है जबकि प्रचलित कीमत पर प्रत्येक पदार्थ तथा प्रत्येक साधन की माँगी गयी मात्रा क्रमश उनकी पूर्ति की गयी मात्रा के समान है। किसी वस्तु अथवा साधन की माँग या पूर्ति मे परिवर्तन सभी वस्तुओ तथा साधनो की कीमतो तथा मात्राओ म परिवर्तन करेगा। और माँग, पूर्ति, अन्य वस्तुओ तथा साधनों की कीमतो मे तब एक समायोजन *तथा पुन समायोजन* आरम्भ होगा जब तक कि नवीन सामान्य सतुलन स्थापित नहीं हो जाता है। वास्तव मे, सामान्य सतुलन विश्लेषण युगपत् समीकरणो (Simultaneous Equations) की शृखला को हल करना है। सामान्य सन्तुलन प्रणाली मे प्रत्येक वस्तु की माँगी गयी मात्रा का वर्णन एव समीकरण द्वारा किया जाता है जिसमे इसकी माँगी गई मात्रा सभी वस्तुओ की कीमतो का फलन (function) होती है। अर्थात्

1 R G Lipsey, *An Introduction to Positive Econonmics*, 3rd edition 1971, p 404

2 Stonier and Hague, *A Textbook of Economic Theory*, 4th edition 1972, p 383

3 Stonier and Hague, *op cit*, p 383

$$q_i^d = D_i (p_1, p_2, p_3, \ldots p_n)$$

जहाँ $i = 1, 2, 3, \ldots n$ (i)

ऊपर के समीकरण में q_i^d = एक वस्तु की माँगी गयी मात्रा प्रदर्शित करता है, p_1, p_2, p_3, विभिन्न वस्तुओं की कीमतों को प्रदर्शित करते हैं तथा D_i एक वस्तु के लिए माँग फलन का संकेत करता है। ऊपर का समीकरण (i) का अर्थ है कि n वस्तुओं में प्रत्येक की माँगी गयी मात्रा सभी वस्तुओं की कीमतों का फलन है (निर्भर करती है)।

उसी प्रकार सामान्य सन्तुलन विश्लेषण में प्रत्येक वस्तु की पूर्ति की गयी मात्रा को सभी उत्पादन के साधनों की कीमतों का फलन समझा जाता है।

इस प्रकार,

$$q^s_i = S_i (f_1, f_2, f_3 \ldots f_m)$$

जहाँ $i = 1, 2, 3, \ldots m$ (ii)

अर्थात् n वस्तुओं में से प्रत्येक की पूर्ति की गयी मात्रा (q^s_i) विभिन्न साधनों f_1, f_2, f_3, इत्यादि की कीमतों का फलन है।

उपर्युक्त फलन (i) का अर्थ है कि n वस्तुओं की कीमतें n वस्तुओं में से प्रत्येक की माँगी गयी मात्रा को प्रभावित करती हैं। उपर्युक्त फलन (ii) का अर्थ है कि n वस्तुओं में से प्रत्येक की पूर्ति की मात्रा को m साधनों की कीमतें प्रभावित करती हैं। इन महत्त्वपूर्ण समीकरणों के अतिरिक्त विभिन्न उत्पादन के साधनों की कीमत निर्धारित करने के लिए समीकरण होंगे। जैसा कि ऊपर लिखा गया है, माँग या पूर्ति समीकरणों में से किसी एक में परिवर्तन सभी कीमतों तथा मात्राओं में परिवर्तन करेंगे और इसके परिणामस्वरूप प्रणाली नवीन सामान्य सन्तुलन की ओर गतिशील होने को प्रवृत्त होगी। वस्तुओं तथा साधनों की कीमतों तथा मात्राओं के बीच अन्तःसम्बन्ध तथा पारस्परिक निर्भरता की व्याख्या करना तथा अन्ततः सभी वस्तुओं तथा साधनों की सापेक्ष कीमतों के निर्धारण, अनुपात जिसमें विभिन्न वस्तुएँ उत्पादित की जा रही हैं तथा विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन करने के लिए विभिन्न साधनों के किन अनुपातों का प्रयोग किया जाता है, की व्याख्या करना सामान्य सन्तुलन विश्लेषण का सार (essence) है। प्रो० र्‍यान निम्न शब्दों में सामान्य सन्तुलन के सारांश की व्याख्या करते हैं

'माना कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था प्रारम्भ में 'सामान्य' सन्तुलन की दशा में है, अर्थात् प्रचलित कीमतों पर प्रत्येक वस्तु तथा उत्पादक सेवा की नियोजित बिक्री नियोजित क्रयों के बराबर है।...जब सामान्य सन्तुलन कुछ आर्थिक घटनाओं द्वारा भंग हो जाता है तो उसके पश्चात् समायोजन तथा पुनः समायोजन की प्रक्रिया घटित होगी जिसके अन्तर्गत प्रत्येक कीमत दूसरे को प्रभावित करती है तथा बदले में दूसरे से प्रभावित होती है। कीमतों का परिवर्तनशील ढाँचा, व्यक्तियों, परिवारों तथा फर्मों की बिक्री तथा क्रय योजनाओं में संशोधन का आंशिक रूप से कारण तथा आंशिक रूप से परिणाम है। अन्ततः एक नवीन सन्तुलन स्थापित होगा जिसमें प्रत्येक वस्तु तथा उत्पादक सेवा की नियोजित बिक्री पुनः नियोजित क्रयों के बराबर होगी। नवीन सामान्य सन्तुलन में नवीन दशाओं के अनुरूप पूर्ण समायोजन हो गया होगा। हमारे उदाहरण में, पदार्थों तथा साधनों की सापेक्ष कीमतों का नवीन ढाँचा होगा, फर्मों द्वारा जिस अनुपात में विभिन्न उत्पादक सेवाओं का प्रयोग किया जा रहा है, परिवर्तित हो चुका होगा, श्रम शक्ति के विभिन्न सदस्यों के बीच कौशल का वितरण तथा अर्थव्यवस्था की टिकाऊ वस्तुओं के भण्डार तथा उपकरण की संरचना दोनों परिवर्तित हो सकते हैं तथा वस्तुओं तथा सेवाओं के प्रवाह की संरचना में परिवर्तन हो चुके होंगे जो कि प्रत्येक अवधि में उत्पादित की जा रही हैं तथा ढंग, जिसमें यह प्रवाह परिवारों के बीच वितरित किया जा रहा है, में परिवर्तन हो चुका होगा।"[1]

हमने संक्षेप में ऊपर सामान्य सन्तुलन विश्लेषण के दृष्टिकोण, तथा यह किस प्रकार सापेक्ष कीमतों के निर्धारण की व्याख्या करने में आंशिक सन्तुलन विश्लेषण से भिन्न है, की व्याख्या की है।

---

1 W. J. L. Ryan, *Price Theory*, Macmillan & Co 1959, pp 244, 246-47.

कीमत निर्धारण : माँग और पूर्ति में संतुलन (Price Determination Equilibrium between Demand and Supply)

कीमत के निर्धारण के विषय मे प्राचीन अर्थशास्त्रियो मे काफी मतभेद था। कई अर्थशास्त्री यह समझते थे कि वस्तु की कीमत उत्पादन की लागत (cost of production) द्वारा निर्धारित होती है अर्थात् उनके अनुसार यह पूर्ति ही है जो वस्तु की कीमत को निश्चित करती है। इसके विपरीत, दूसरी विचार-धारा यह थी कि यह वस्तु का तुष्टिगुण या जो अधिक सही है सीमान्त तुष्टिगुण (marginal utility) ही है जो कि वस्तु की कीमत को निर्धारित करता है। जैसा कि हम माग के सिद्धान्त मे पढ़ चुके हैं सीमान्त तुष्टिगुण वस्तु की माँग निश्चित करता है। अत प्राचीन अर्थशास्त्रियों मे इस विषय मे विवाद था कि क्या वस्तु की पूर्ति अथवा वस्तु की माँग कीमत को निर्धारित करती है। प्रत्येक विचारधारा का कीमत निर्धारण के सम्बन्ध मे एकपक्षीय मत था। मूल्य-निर्धारण की समस्या की सही व्याख्या करने का श्रेय मार्शल को है जिनके अनुसार वस्तु की कीमत के निर्धारण मे माँग और पूर्ति की दोनों शक्तियो का समान महत्त्व है। दूसरे शब्दो मे, मार्शल का मत था कि वस्तु का सीमान्त तुष्टिगुण तथा वस्तु पर उठाई गई उत्पादन लागत दोनो ही वस्तु की कीमत को निर्धारित करते हैं। उसने अपने विचार की पुष्टि मे कैंची (scissors) का उदाहरण दिया और कीमत-निर्धारण को कैंची के फलो द्वारा कागज को काटने के समान बताया। यह उचित है कि उसके मत का उसके अपने शब्दो मे उल्लेख किया जाए, "यदि *हम इस बात पर विवाद करें कि क्या यह कैंची के* ऊपर का फल है अथवा नीचे का जो कि कागज के टुकडे को काटता है बिल्कुल उसी प्रकार होगा जैसे कि हम इस बात पर विवाद करें कि कीमत तुष्टिगुण द्वारा अथवा उत्पादन लागत द्वारा निर्धारित होती है। यह सच है कि जब एक फल को स्थिर रख कर कागज को दूसरे फल द्वारा काटा जाता है, तो हम यह कहें कि कागज को दूसरे फल द्वारा काटा गया है। लेकिन यह कथन पूरी तरह से ठीक नहीं होगा क्योंकि ऐसा तभी कहा जा सकता है जब हम पूर्णरूप से वैज्ञानिक बात न कर रहे हो।"[1] वास्तव मे कागज को कैंची का न तो केवल ऊपर वाला फल और न ही केवल नीचे वाला फल काट सकता है कागज को काटने के लिए दोनो फलो की आवश्यकता होती है। नीचे वाले फल को चाहे स्थिर रखकर ऊपर वाले फल को चलाकर कागज को काटा जाए परन्तु काटने की क्रिया के लिए दोनो ही आवश्यक होगे क्योंकि जिस फल को स्थिर रखा जाता है वह भी तो काटने की क्रिया म भाग देता है। अतएव कीमत-निर्धारण मे माँग और पूर्ति की दोनो शक्तियाँ भाग लेती हैं। स्टोनियर और हेग (Stonier and Hague) ठीक ही लिखते हैं कि "इस बात का सही उत्तर कि क्या पूर्ति अथवा माँग कीमत को निर्धारित करती है यह है कि ये दोनो ही कीमत को निर्धारित करते हैं। कुछ समय यह प्रतीत होगा कि एक शक्ति दूसरी शक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योकि एक सक्रिय होगी और दूसरी निष्क्रिय। उदाहरण के लिए, जब माँग स्थिर रहती है और पूर्ति की दशाएँ घटती-बढ़ती हैं, तो माँग निष्क्रिय है और पूर्ति सक्रिय। परन्तु वास्तव मे कीमत-निर्धारण मे न तो माँग और न ही पूर्ति अधिक या कम महत्त्वपूर्ण है। कीमत-निर्धारण म दोनों का ही समान महत्त्व है।"[2]

हम इस बात से भली भाँति परिचित हैं कि एक वस्तु का माँग वक्र सामान्यतया बायें से दायी ओर नीचे को गिरता है। दूसरे शब्दो मे, कीमत घटने पर माँग की मात्रा बढ़ती है और कीमत के बढ़ने पर माँग की मात्रा घटती है। *हम यह भी पढ़ चुके हैं कि किसी* वस्तु का पूर्ति वक्र सामान्यतया बायें से दायीं ओर ऊपर को चढ़ता है। दूसरे शब्दो म, एक उद्योग ऊँची कीमतो पर वस्तु की अधिक मात्रा की पूर्ति करता है और *कम* कीमतों पर कम मात्रा की पूर्ति करता है। वह स्तर जिस पर कि वस्तु के माँग और पूर्ति के वक्र एक-दूसरे को काटते हैं अन्तत मार्किट मे निश्चित होगा। दूसरे शब्दो मे, एक वस्तु की कीमत जो मार्किट मे निर्धारित होगी वह होगी जहाँ वस्तु की माँगी गई मात्रा, उसकी पूर्ति

1 Marshall, *Principles of Economics*, 8th edition, Macmillan, p 314

2 *A Textbook of Economic Theory*, 2nd edition, p 155

की मात्रा के बराबर है। वह कीमत जिस पर वस्तु की माँगी गई मात्रा वस्तु की पूर्ति की गई मात्रा के बराबर होती है उसे सन्तुलन कीमत (equilibrium price) कहा जाता है क्योंकि इस कीमत पर ही माँग और पूर्ति की दो शक्तियाँ परस्पर सन्तुलन मे होती हैं। इस सन्तुलन कीमत पर वस्तु की जो मात्रा खरीदी और बेची जाती है, उसे सन्तुलन मात्रा (equilibrium amount) कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि माँग और पूर्ति वक्रो की परस्पर क्रिया द्वारा कीमत तथा मात्रा का सन्तुलन निर्धारित होता है।

केवल सन्तुलन कीमत पर ही दोनो क्रेता और विक्रेता सन्तुष्ट होते है। यदि कीमत सन्तुलन कीमत से अधिक या कम होगी तो क्रेताओ और विक्रेताओ की इच्छाएँ पूर्ण नही होगी, या तो क्रेताओ पूर्ति की गई मात्रा से अधिक माँग करेगे और या विक्रेता माँगी गई मात्रा से अधिक पूर्ति करने को तैयार होगे। यदि कीमत सन्तुलन कीमत से ऊँची है तो उस स्थिति मे विक्रेताओ द्वारा वस्तु की पूर्ति की मात्रा उसकी माँगी गई मात्रा से अधिक होगी। इसका अर्थ यह है कि कुछ विक्रेता वस्तु की वह समस्त मात्रा नही बेच पाएँगे जिसकी पूर्ति वे उस कीमत पर करना चाहते हैं। ये असन्तुष्ट विक्रेता वस्तु की अधिक मात्रा बेचने के लिए कीमत को कम कर देंगे। इस प्रकार कीमत के नीचे गिरने की प्रवृत्ति होगी जब तक कि उसकी माँग-मात्रा उसकी पूर्ति की गई मात्रा के बराबर नही हो जाती।

दूसरी ओर, यदि कीमत सन्तुलन कीमत से कम है तो उस पर वस्तु की माँगी गई मात्रा वस्तु की पूर्ति की गई मात्रा से अधिक होगी। परिणामस्वरूप कुछ क्रेता वस्तु की उतनी मात्रा प्राप्त नही कर पाएँगे जितनी कि वे उस कीमत पर खरीदना चाहते हैं। इसलिए वे वस्तु की इच्छित मात्रा खरीदने की चेष्टा मे कीमत को बढ़ा देंगे। इस प्रकार कीमत बढ़ती जाएगी जब तक कि माँग की गई मात्रा उसकी पूर्ति की गई मात्रा के बराबर नही हो जाती। स्पष्ट है कि वस्तु की कीमत जो बाजार मे अन्तत निश्चित होगी वह सन्तुलन कीमत (जिस पर कि माँग और पूर्ति की मात्राएँ बराबर होती हैं) से कम या अधिक नही हो सकती। यह सन्तुलन कीमत ही है जो अन्तत बाजार मे प्रचलित होगी।

कीमत-निर्धारण की प्रक्रिया को अर्थात् माँग और पूर्ति मे सन्तुलन द्वारा कीमत के निर्धारण को हम रेखाकृति से भी स्पष्ट कर सकते हैं। ऐसा हमने रेखाकृति 21·1 मे किया है जहाँ DD माँग वक्र है जो बायें से दायी ओर नीचे को गिर रहा है और SS पूर्ति वक्र है
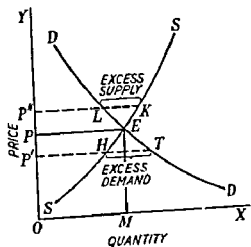
रेखाकृति 21·1 : माँग तथा पूर्ति मे सन्तुलन द्वारा कीमत निर्धारण

जो बायें से दायीं ओर ऊपर को चढ़ रहा है। माँग और पूर्ति बिन्दु E पर सतुलन मे हैं जिस पर कि दो वक्र एक-दूसरे को काट रहे हैं। इसका अर्थ यह है कि केवल कीमत OP पर ही माँग की मात्रा वस्तु की पूर्ति की मात्रा के बराबर है। अत यदि माँग और पूर्ति के ये वक्र दिए हुए हो तो कपडे की कीमत OP निर्धारित होगी। इस OP कीमत पर वस्तु की OM मात्रा खरीदी और बेची जाती है। अतएव OM सन्तुलन मात्रा है। यदि कीमत इस सन्तुलन कीमत से अधिक है, मान लो यह OP'' है तो उस पर क्रेता $P''L$ माँग करते हैं जबकि विक्रेता $P''K$ बेचने को तैयार हैं। इस प्रकार LK अतिरिक्त पूर्ति (excess supply) की मात्रा है जो कि कीमत OP'' पर उपभोक्ता खरीदने को तैयार नहीं है। इस अति-

रिक्त पूर्ति को बेचने के लिए विक्रेता एक-दूसरे से प्रतियोगिता करेंगे और इस प्रतियोगिता की प्रक्रिया में कीमत घट जाएगी। इस प्रकार कीमत के OP तक गिर जाने की प्रवृत्ति होगी।

अब मान लो कि किसी कारणवश वस्तु की कीमत मार्किट में सन्तुलन कीमत OP से कम है, मान लो यह OP' है तो उस पर क्रेता $P'T$ मात्रा की मांग करेंगे जबकि विक्रेता उस पर केवल $P'H$ मात्रा बेचने को तैयार होंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि कीमत OP' पर HT अतिरिक्त मांग (excess demand) है। अतएव जिन उपभोक्ताओं को इच्छित मात्रा में वस्तु प्राप्त नहीं होगी वे उसे प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे और इस प्रक्रिया में कीमत बढ़ जाएगी। इस प्रकार कीमत के सन्तुलन कीमत OP तक बढ़ जाने की प्रवृत्ति होगी।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जब मार्किट में कीमत सन्तुलन कीमत से ऊपर या नीचे होता है तो कुछ ऐसी शक्तियां काम करने लगती हैं जिससे कि कीमत पुनः सन्तुलन कीमत पर ही आ जाए। अतः स्पष्ट है कि वस्तु की कीमत मांग और पूर्ति में सन्तुलन द्वारा निर्धारित होती है। अन्तत: मार्किट में वह कीमत निश्चित होती है जिस पर कि मांग और पूर्ति के वक्र एक दूसरे को काटते हैं। यह सन्तुलन-कीमत बदल जाएगी यदि मांग अथवा पूर्ति की दशाएँ अथवा दोनों बदल जाएँ। मांग की दशाएँ उपभोक्ताओं की आय, रुचियों तथा अन्य पदार्थों की कीमतों में, परिवर्तन होने से बदल जाती हैं। दूसरी ओर पूर्ति की दशाएँ उत्पादन-लागत के बदलने के फलस्वरूप बदलती हैं और उत्पादन लागत में परिवर्तन श्रम, कच्चा माल, मशीनरी, रसायन, आदि की कीमतें बदलने से होते हैं। जब मांग अथवा पूर्ति की दशाएं बदल जाती हैं तो समस्त मांग और पूर्ति वक्र अपना स्थान बदल लेंगे जिसके परिणामस्वरूप वस्तु की नये स्तर पर कीमत निर्धारित होगी।

मांग और पूर्ति कीमत-निर्धारण समस्या के अन्तिम उत्तर नहीं हैं (Demand and Supply are not Final Answers to the Pricing Problem)

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि कीमत मांग और पूर्ति में सन्तुलन द्वारा निर्धारित होती है। परन्तु यह बात भली भांति समझ लेनी चाहिए कि मांग और पूर्ति कीमत समस्या का अन्तिम उत्तर प्रस्तुत नहीं करते। मांग और पूर्ति जिनकी परस्पर क्रिया द्वारा कीमत निर्धारित होती है स्वयं ही कई तत्त्वों अथवा कारकों द्वारा निश्चित और प्रभावित होते हैं। ऐसी बहुत-सी शक्तियां और तत्त्व हैं जो मांग और पूर्ति के पीछे काम करते हैं और उनका निर्धारण करते हैं। मांग और पूर्ति तो केवल एक सरल सूत्र मात्र ही है। वास्तविक तत्त्व अथवा कारक जो पदार्थों की कीमतों को निर्धारित करते हैं, वे हैं जिन पर कि मांग और पूर्ति निर्भर करती हैं। परन्तु मांग और पूर्ति बहुत ही उपयोगी धारणाएँ हैं जो कि दो भिन्न प्रकार के तत्त्वों को व्यक्त करती हैं। प्रोफेसर सैम्युलसन ठीक ही कहते हैं, "मांग और पूर्ति उन सभी शक्तियों, कारणों तथा तत्त्वों जो कीमत को प्रभावित करते हैं, को व्यक्त करने के उपयोगी उपकरण हैं। मांग और पूर्ति कीमत निर्धारण का अन्तिम उत्तर नहीं हैं, बल्कि वे तो केवल आरम्भ में उठाए जाने वाले प्रश्न हैं।"[1] ("Supply and demand are useful catch-all categories for analysing and describing multitude of forces, causes and factors impinging on price Rather than being final answers, supply and demand simply represent initial questions")। जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं, पदार्थ की मांग लोगों की आयों, पदार्थों के लिए उनकी रुचियों, कुल जनसंख्या, स्थानापन्न पदार्थों की उपलब्धि तथा उनकी कीमतों आदि पर निर्भर करती है। इन में से किसी तत्त्व में परिवर्तन होने से वस्तु की मांग बदल जाएगी और उसके परिणामस्वरूप सन्तुलन कीमत भी बदल जाएगी। इसी प्रकार हम जानते हैं कि वस्तु की पूर्ति उनको उत्पादित करने वाले श्रम, कच्चा माल, मशीनों, रसायन आदि की उपलब्धि तथा कीमतों पर निर्भर करती है जो उसकी उत्पादन लागत को निश्चित करते हैं। उनमें से किसी में भी परिवर्तन वस्तु की उत्पादन लागत को बदल देगा जिससे वस्तु का पूर्ति वक्र बदल

1 P. A. Samuelson, *Economics*, 8th edition

जाएगा। पूर्ति वक्र के परिवर्तन के परिणामस्वरूप सन्तुलन कीमत भी बदल जाएगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि लोगों की आय, जनसंख्या, उपभोक्ताओं की पदार्थों के लिए रुचियां, कच्चे माल की उपलब्धि उत्पादन लागत आदि तत्त्व ही है जो कि वस्तुओं की कीमतों के अन्तिम निर्धारक (ultimate determinants) हैं। किन्तु ये सभी तत्त्व या तो मांग की ओर से या पूर्ति की ओर से वस्तु की कीमत को प्रभावित करते है। किसी वस्तु की कीमत की व्याख्या करने के लिए हमें मांग और पूर्ति के पर्दों को हटाकर यह देखना होगा कि वे कौन से तत्त्व, कारण व शक्तियां है जो वस्तु की कीमत मे परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है।

मार्शल का समय विश्लेषण तथा कीमत सिद्धान्त
(Marshall's Time Period Analysis and the Price Theory)

मार्शल जिसने यह विचार प्रस्तुत किया कि कीमत मांग और पूर्ति की परस्पर क्रिया द्वारा निर्धारित होती है, ने कीमत-निर्धारण मे समय के तत्त्व पर भी अधिक बल दिया। समय का तत्त्व कीमत सिद्धान्त मे इसलिए महत्त्व रखता है क्योंकि पूर्ति जो कि कीमत की एक निर्धारक है, समय अवधि पर निर्भर करती है। मार्शल ने पूर्ति के दृष्टिकोण से समय को तीन भिन्न अवधियों अथवा कालो मे विभक्त किया। समय-अवधि का अल्प अथवा दीर्घ होना पूर्ति मे बदलने की मात्रा पर निर्भर करता है। मार्शल ने समय को तीन अवधियो मे इस आधार पर विभाजित किया कि पूर्ति मांग मे परिवर्तन के अनुरूप बदलने मे कितना समय लगाती है। पूर्ति के बदलने मे समय क्यों लगता है यह तो उत्पादन की तकनीकी दशाओं के कारण है जो कि ऐसी है कि पूर्ति मांग दशाओं मे परिवर्तन के फलस्वरूप एकदम नहीं बदल सकती। वस्तुओं की पूर्ति और उत्पादन को बढ़ाने के लिए फर्मों के आकार, पैमाने तथा संगठन म तब्दीली करनी पड़ती है और इसमे अधिक समय लगता है।

इस विषय मे एक और बात ध्यान देने योग्य यह है कि मार्शल ने अल्पकाल और दीर्घकाल मे जो अन्तर किया वह घड़ी समय (clock time) अथवा कैलण्डर-समय (calendar time) के आधार पर नहीं अपितु क्रियात्मक समय (operational time) के आधार पर किया अर्थात् आर्थिक शक्तियां कुछ परिवर्तनो के अनुरूप बदलने मे कितना समय लगाती है के आधार पर ही मार्शल ने विभिन्न काल अवधियों मे अन्तर किया। इस सम्बन्ध म पूर्ति की शक्तियों को अधिक महत्त्व दिया और इनके परिवर्तन करने की सम्भावित सीमा के अनुसार ही समय-अवधि अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन बताई। पूर्ति मे जितना अधिक परिवर्तन हो सकेगा उतना ही अधिक समय होगा चाहे कैलण्डर समय कितना ही लगे। मार्शल ने समय को तीन निम्नलिखित कालो मे विभक्त किया —

1 मार्किट अवधि अथवा अत्यन्त कम अल्पकाल (Market Period or Very Short Run)—मार्किट अवधि अत्यन्त कम अल्पकाल है जिसम पूर्ति की मात्रा स्थिर रहती है अर्थात् पूर्ति की दशाओं मे कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। वस्तु का जितना स्टॉक पहले मौजूद होता है मार्किट अवधि मे पूर्ति उससे अधिक नहीं बढ़ाई जा सकती। अतएव अधिक से अधिक पूर्ति जो मार्किट अवधि मे की जा सकती है वह वस्तु का कुल स्टॉक अथवा भण्डार है जिसका उत्पादन पहले किया जा चुका है। इस समय अवधि मे मांग मे वृद्धि होने पर उत्पादन को नहीं बढ़ाया जा सकता। यह मार्किट अवधि एक दिन, कुछ दिन अथवा कुछ सप्ताह की हो सकती है जो कि वस्तु की प्रकृति पर निर्भर करती है। उदाहरणतया मार्किट अवधि ताजावार वस्तुओं जैसे कि मछली, दूध आदि की एक दिन और सूती कपड़े की दशा म कुछ सप्ताह की हो सकती है।

2 अल्पकाल (Short Run)—अल्पकाल वह समय अवधि है जिसम पूर्ति म परिवर्तन कुछ सीमा तक सम्भव है। इस अल्पकाल मे फर्में अपना उत्पादन अपने वर्तमान पूंजी उपकरण अथवा संयन्त्र के साथ परिवर्तनशील साधनों का अधिक प्रयोग करके बढ़ा सकती है। परन्तु अल्पकाल इतनी लम्बी अवधि नहीं होती जिसमें संयन्त्र अथवा दी हुई मशीनों

पूजी में परिवर्तन किया जा सके। संयत्र (Plant) अथवा मशीनी पूजी अल्पकाल में स्थिर अथवा अपरिवर्तित रहती है। उत्पादन को दिये हुए संयत्र अथवा मशीनी पूजी में परिवर्तनशील साधनों को अधिक मात्रा में प्रयोग करके अधिक उत्पादन किया जा सकता है।

3 दीर्घकाल (Long Run)—दीर्घकाल वह समय-अवधि है जिसमें सभी उत्पादन के साधनों को यथेष्ट मात्रा में बढाया-घटाया जा सकता है। इस दीर्घ-अवधि में फर्में नये प्लांट लगा सकती हैं अथवा पुराने संयत्रों को त्याग सकती हैं। इसके अतिरिक्त दीर्घकाल में उद्योग में नई फर्में प्रवेश कर सकती हैं और पुरानी फर्में हानि की स्थिति में उद्योगों को छोड सकती हैं। दीर्घकाल में सभी साधनों को बढाया-घटाया जा सकने के कारण दीर्घकाल में कोई भी स्थिर साधन नहीं होता। अतएव इस लम्बी समय-अवधि में पूर्ति की शक्तियाँ माँग में परिवर्तन के अनुरूप पूर्णत बदल सकती है। व्यक्तिगत फर्मों का आकार तथा सारे उद्योग का आकार माँग की आवश्यकताओं के अनुसार घट बढ सकता है।

उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि पूर्ति विभिन्न समय-अवधियों में भिन्न-भिन्न सीमा तक बदल सकती है। इसलिए मार्शल ने यह आवश्यक और उपयोगी समझा कि पदार्थों के कीमत-निर्धारण की प्रक्रिया की तीन समय-अवधियों अर्थात् मार्किट-अवधि, अल्पकाल तथा दीर्घकाल में व्याख्या की जाए। हमने ऊपर देखा कि मार्किट-अवधि में पूर्ति बिल्कुल ही बदल नहीं सकती, अल्पकाल में केवल श्रम और अन्य परिवर्तनशील साधनों को बढा घट कर यह कुछ सीमा तक बदल सकती है और दीर्घकाल में सभी साधनों में समुचित परिवर्तन करके पूर्णत घटाई बढाई जा सकती है। इसलिए मार्शल ने माँग और पूर्ति में संतुलन उपर्युक्त तीन समय-अवधियों में स्थापित होने की व्याख्या की जिसमें क्रमशः बाजार कीमत (market price), अल्पकालीन कीमत (short run price) तथा दीर्घकालीन कीमत (long-run price) निर्धारित होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्किट में वस्तु की जो कीमत प्रचलित होगी वह इस बात पर निर्भर करती है कि पूर्ति को माँग के अनुरूप बदलने के लिए कितना समय है। यदि माँग में किसी समय स्थायी रूप से वृद्धि हो जाती है तो इसके परिणामस्वरूप मार्किट कीमत बहुत ऊपर चढ़ जाएगी क्योंकि मार्किट अवधि में पूर्ति को बढाया नहीं जा सकता। इस मार्किट अवधि में फर्में केवल वह उत्पादन ही बेच सकती हैं जो वे पहले उत्पादित कर चुकी होती हैं। किन्तु अल्पकाल में फर्मों द्वारा वस्तु की पूर्ति में वृद्धि कुछ सीमा तक परिवर्तनशील साधनों को बढ़ा कर हो सकती है अर्थात् अल्पकाल में फर्में सीमान्त लागत वक्रों पर काम करती हुई अपना-अपना उत्पादन बढ़ा सकती हैं। पूर्ति के कुछ मात्रा में बढ जाने के परिणामस्वरूप कीमत जो माँग के बढ़ने पर बाजार-अवधि में बहुत ऊँची चढ़ जाती है, अल्पकाल में कुछ कम हो जाएगी। किन्तु स्मरण रहे कि यह अल्पकालीन कीमत प्रारम्भिक मार्किट कीमत से जो माँग में वृद्धि से पूर्व प्रचलित थी, की तुलना में अधिक होगी। दीर्घकाल में फर्में नए संयत्र लगा कर अथवा अपने वर्तमान संयत्रों का आकार बढ़ा कर अपने उत्पादन का विस्तार कर सकती है। दूसरे शब्दों में, दीर्घकाल में फर्में दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र के अनुरूप अपना विस्तार करेंगी। इसके अतिरिक्त दीर्घकाल में उद्योग में नई फर्में भी आएँगी जिससे उत्पादन की पूर्ति और बढ़ जाएगी। पूर्ति में इन दीर्घकालीन परिवर्तनों के फलस्वरूप कीमत और घट जाएगी। इस प्रकार दीर्घकालीन कीमत अल्पकालीन की अपेक्षा कम होगी। परन्तु यह दीर्घकालीन कीमत प्रारम्भिक मार्किट कीमत से अधिक होगी जो कि माँग में वृद्धि से पूर्व बाजार में प्रचलित थी।

रेखाकृति 21.2 से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि पूर्ति विभिन्न समय-अवधियों में किस प्रकार बदली है और उसके फलस्वरूप कीमत किस प्रकार प्रभावित होती है। रेखाकृति में आरम्भ में माग वक्र DD है और मार्किट-अवधि का पूर्ति वक्र MPS है जो एक दूसरे को बिन्दु E पर काटते हैं और इस प्रकार कीमत OP निर्धारित होती है। अब मान लीजिए कि माँग में स्थाई वृद्धि हो गई है जिसके कारण माँग वक्र

DD से बदल कर ऊपर को $D''D''$ तक सरक जाता है। चूंकि मार्किट-अवधि में पूर्ति बढ़ाई नहीं जा सकती, इसलिए माँग में वृद्धि होने पर वह स्थिर ही रहेगी। रेखाकृति से यह स्पष्ट है कि नया माँग वक्र $D''D''$ मार्किट-अवधि के पूर्ति वक्र MPS को बिन्दु Q पर काटता है। परिणामस्वरूप मार्किट कीमत बढ़ कर OP' हो जाएगी। इस रेखाकृति में अल्प-कालीन पूर्ति वक्र SRS और दीर्घकालीन पूर्ति वक्र LRS भी खींचे गए हैं जो बायें से दायीं ओर ऊपर को चढ़ रहे हैं। दीर्घकालीन पूर्ति वक्र अल्पकालीन पूर्ति वक्र की अपेक्षा अधिक मूल्यसापेक्ष अथवा लोचदार (elastic) है। अल्पकालीन पूर्ति वक्र SRS
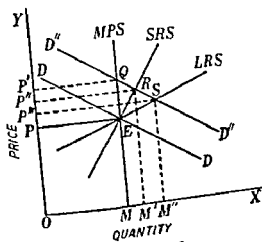
रेखाकृति 21·2

नए माँग वक्र $D''D''$ को बिन्दु E पर काटता है जिससे अल्पकालीन कीमत OP'' निर्धारित होती है। रेखाकृति से यह देखा जायेगा कि अल्पकालीन कीमत OP'' नई मार्किट कीमत OP' से कम है। दीर्घ अवधि में कीमत और नीचे गिर कर OP''' हो जायेगी जिस पर कि दीर्घकालीन पूर्ति वक्र LRS नये माँग वक्र $D''D''$ को काटता है। यह नई दीर्घकालीन कीमत OP''' नई मार्किट कीमत OP' और अल्पकालीन कीमत OP'' से कम है, परन्तु यह आरम्भिक कीमत जो माँग में वृद्धि से पूर्व प्रचलित थी, की अपेक्षा अधिक है। ऐसा इसलिये है क्योंकि हमने वर्धमान लागत के उद्योग का उदाहरण लिया है। यदि उद्योग स्थिर लागत का हो तो दीर्घकालीन कीमत प्रारम्भिक कीमत के बराबर ही होती है। इसके अतिरिक्त यदि उद्योग ह्रासमान लागत का होता तो दीर्घकालीन कीमत, प्रारम्भिक कीमत से कम होती।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मार्किट में वस्तु की कितनी कीमत प्रचलित होगी यह इस बात पर निर्भर करता है कि हम किस समय-अवधि का विचार कर रहे हैं। इससे पता चलता है कि वस्तु की कीमत के निर्धारण में समय अति महत्त्व-पूर्ण भाग लेता है। समय-अवधि विश्लेषण का एक और महत्व यह है कि इससे मार्शल इस विवाद को कि क्या माँग अथवा पूर्ति कीमत को निर्धारित करती है, हल करने में सफल हुआ। मार्शल ने यह मत प्रस्तुत किया कि माँग और पूर्ति दोनों ही कीमत निर्धारण में भाग लेती हैं। परन्तु मार्शल के अनुसार "सामान्य तौर पर जितनी समय-अवधि कम होगी उतना ही अधिक कीमत पर माँग का प्रभाव अधिक होगा और समय-अवधि जितनी ही लम्बी होगी उत्पादन की लागत अर्थात् पूर्ति की शक्ति का कीमत पर प्रभाव उतना ही अधिक होगा। किसी समय वास्तविक कीमत, जिसे सामान्यतया मार्किट कीमत कहा जाता है, स्थाई तत्त्वों व कारणों के बजाय क्षणिक अथवा अस्थाई घटनाओं और कारणों जिनका प्रभाव आकस्मिक होता है द्वारा प्रभावित होती है। लेकिन दीर्घकाल में ये अस्थाई, क्षणभंगुर तथा अनियमित कारण बहुत सीमा तक एक दूसरे को रद्द कर देते हैं जिससे दीर्घकाल में स्थाई कारक ही कीमत को पूर्णतया प्रभावित करते हैं।"[1]

मार्शल के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि मार्किट-अवधि में कीमत पर माँग का अधिक प्रभाव पड़ता है, लेकिन दीर्घकालीन कीमत के निर्धा-रण में पूर्ति अधिक प्रभावशाली शक्ति के रूप में कार्य करती है। हम यह कह सकते हैं कि मार्किट अवधि में यह माँग की शक्ति ही है जो कीमत को निर्धारित

1. Marshall, *Principles of Economics*, pp 349-50

करती है और दीर्घकाल में यह पूर्ति की शक्ति ही है जो कीमत को निश्चित करती है। इस प्रकार मार्शल से पूर्व जिन अर्थशास्त्रियों का यह विचार था कि कीमत माँग द्वारा निश्चित होती है वे भी इस प्रकार से ठीक ही थे। दूसरी ओर, वे भी ठीक थे जो यह दावा करते थे कि उत्पादन की लागत (अर्थात् पूर्ति पक्ष पर काम करने वाली शक्ति) कीमत को निर्धारित करती है। इन दो विचारधाराओं में अन्तर इसलिए था कि अर्थशास्त्रियों का एक वर्ग मार्किट कीमत के निर्धारण पर अपना विचार केन्द्रित कर रहा था जिसके निर्धारण में हमने ऊपर देखा है कि माँग का प्रभाव अधिक पड़ता है और जिस पर उत्पादन की लागत का इतना प्रभाव नहीं होता, जबकि दूसरी विचारधारा के अर्थशास्त्री दीर्घकालीन कीमत के निर्धारण की चर्चा कर रहे थे, जिस पर जैसा कि हमने ऊपर बताया है, उत्पादन लागत का अधिक प्रभाव पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि मार्शल ने जिसके विचार में माँग और पूर्ति दोनों ही परस्पर क्रिया द्वारा कीमत निर्धारित करती है अपने से पूर्व दो प्रकार की विचारधाराओं वाले अर्थशास्त्रियों के विचारों में एक प्रकार से समन्वय स्थापित किया। प्राचीन अर्थशास्त्रियों के ये दो परस्पर विरोधी विचार एक प्रकार से ठीक ही थे लेकिन प्रत्येक विचार केवल एक पक्षीय ही था। प्रत्येक विचार कीमत को प्रभावित करने वाली केवल एक शक्ति को ही व्यक्त करता था। दो परस्पर-विरोधी विचारों में निहित माँग और पूर्ति की दो शक्तियाँ मिलकर कीमत के निर्धारण का सही और पर्याप्त उत्तर हैं। इसलिए मार्शल ने कीमत-निर्धारण में माँग और पूर्ति को समान महत्त्व दिया। हाँ, यह सत्य है कि ये दो शक्तियाँ भिन्न-भिन्न समय-अवधियों में भिन्न-भिन्न प्रभाव डालती है। मार्शल ने कीमत-निर्धारण की प्रक्रिया में समय-अवधि को इसलिए अधिक महत्त्व दिया ताकि माँग और पूर्ति की विभिन्न समय-अवधियों में भिन्न-भिन्न प्रभाव को स्पष्ट किया जा सके।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि मार्शल और आधुनिक अर्थशास्त्री माँग के स्थायी रूप से बदलने पर पूर्ति के विभिन्न समय-अवधियों में कीमत पर भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रभाव का अध्ययन करते हैं। यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि अर्थशास्त्री, पूर्ति की दशाओं में परिवर्तन के फलस्वरूप माँग विभिन्न समय अवधियों में किस प्रकार बदलती है और कीमत को प्रभावित करती है, का अध्ययन नहीं करते। इसका कारण यह है कि सामान्यतः पूर्ति की दशाओं में परिवर्तन के फलस्वरूप माँग में परिवर्तन नहीं होता और यदि हो भी तो इसका कोई कारण नहीं है कि यह विभिन्न समय अवधियों में भिन्न-भिन्न होगा। प्रोफेसर स्टानियर (Stonier) और हेग (Hague) ठीक ही लिखते हैं कि "कोई कारण नहीं कि जब पूर्ति की दशाओं में परिवर्तन हो तो उसके फलस्वरूप माँग की दशा भी बदल जाए और यदि माँग बदलती भी है तो कोई कारण नहीं कि वह अल्पकाल तथा दीर्घकाल में भिन्न-भिन्न मात्रा में बदले। उपभोक्ताओं की रुचियों में परिवर्तन उस प्रकार तकनॉलोजी पर निर्भर नहीं करता जिस प्रकार कि पूर्ति की दशाएँ करती है। हाँ, उपभोक्ताओं की रुचियाँ समय बीतने पर बदल सकती है। किन्तु यह एक दी हुई सामग्री (given data) में परिवर्तन होगा न कि परिवर्तित पूर्ति की दशाओं द्वारा प्रेरित परिवर्तन। यह आवश्यक नहीं है कि दीर्घकालीन माँग वक्र अल्पकालीन माँग वक्र से भिन्न हो।"[1]

हमने ऊपर देखा कि कीमत के निर्धारण में समय-अवधि का क्या महत्त्व है। अब हम नीचे इस बात का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे कि माँग और पूर्ति में किस प्रकार मार्किट अवधि सतुलन, अल्पकालीन सतुलन तथा दीर्घकाल सन्तुलन स्थापित होता है और फलस्वरूप किस प्रकार क्रमशः मार्किट कीमत, अल्पकालीन कीमत तथा दीर्घकालीन कीमत निर्धारित होती है।

मार्किट कीमत का निर्धारण : मार्किट अवधि सन्तुलन
(Determination of Market Price Market Period Equilibrium)

मार्किट कीमत वस्तु की वह कीमत है जो किसी समय मार्किट में प्रचलित होती है। मार्किट कीमत

1 Stonier and Hague, *A Textbook of Economic Theory*, 4th edition, 1972, p 178

किसी विशेष समय में माँग और पूर्ति में अस्थायी सन्तुलन द्वारा निर्धारित होती है। बाजार-अवधि में जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, पदार्थ की पूर्ति उसके उपलब्ध स्टॉक द्वारा सीमित होती है। लेकिन जरूरी नहीं है कि मार्किट अवधि में वस्तु की जितनी मात्रा की पूर्ति की जाएगी वह वस्तु के दिए हुए स्टाक के बराबर हो। क्या वस्तु के समस्त स्टॉक को बेचने के लिए पूर्ति की जाएगी अथवा नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि क्या वस्तु नश्वर (perishable) है अथवा टिकाऊ (durable)। नश्वर वस्तुओं जैसे कि मछली, दूध आदि को अधिक समय के लिए नहीं रखा जा सकता क्योंकि ऐसा करने से तो वे खराब हो जायेंगी। इसलिए एक नश्वर वस्तु के समस्त स्टाक की पूर्ति करनी पड़ती है चाहे वस्तु की कीमत कितनी ही क्यों न हो। परिणामस्वरूप नश्वर वस्तु की मार्किट अवधि का पूर्ति वक्र पूर्णतया मूल्यनिरपेक्ष (perfectly inelastic) होता है अर्थात उदग्र सरल रेखा की आकृति का होता है। इसके विपरीत, टिकाऊ वस्तु को विक्रेता लोग स्टॉक में रखकर उस समय की प्रतीक्षा कर सकते हैं जब वस्तु की कीमत अधिक लाभकारी और अनुकूल हो जाए। वस्तु के दिए हुए स्टाक में से वे कम कीमत पर कम मात्रा की पूर्ति करने के लिए तैयार होंगे और ऊँची कीमत पर अधिक मात्रा की। किसी विशेष ऊँची कीमत पर वे वस्तु का समस्त स्टॉक बेचने को (अर्थात् पूर्ति करने को) तैयार हो जाएँगे और उससे ऊँची कीमतों पर वस्तु की पूर्ति पूर्णतया मूल्यनिरपेक्ष होगी। फलस्वरूप एक टिकाऊ वस्तु का पूर्ति वक्र कुछ बिन्दु अथवा कीमत तक तो ऊपर चढ़ता है लेकिन उसके बाद यह उदग्र सरल रेखा की आकृति धारण कर लेता है।

रेखाकृति 21.3 नश्वर वस्तु की मार्किट कीमत के निर्धारण को स्पष्ट करती है। इस रेखाकृति में OM वस्तु का दिया हुआ स्टॉक है और MPS वस्तु का मार्किट अवधि का पूर्ति वक्र है। मान लीजिए आरम्भ में DD वस्तु का माँग वक्र है। वस्तु का माँग वक्र DD और पूर्ति वक्र MPS एक दूसरे को बिन्दु E पर काटते हैं जिससे वस्तु की कीमत OP निर्धारित होती है। अतएव OP वस्तु की सन्तुलन मार्किट कीमत है। अब कल्पना कीजिए कि माँग में वृद्धि हो जाती है जिससे माँग वक्र ऊपर को सरक कर $D'D'$ हो जाता है। रेखाकृति को देखने पर ज्ञात होगा कि नया माँग वक्र $D'D'$ दिए हुए पूर्ति वक्र MPS को बिन्दु E' पर काटता है जिससे अब कीमत OP' निर्धारित होगी। स्पष्ट है कि माँग में वृद्धि के फलस्वरूप नश्वर वस्तु की कीमत OP से बढ़कर OP' हो गई है जबकि वस्तु की
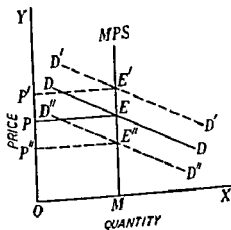
रेखाकृति 21.3
नश्वर पदार्थ की मार्किट कीमत का निर्धारण

पूर्ति वैसी की वैसी ही रही है। इसके विपरीत यदि माँग में कमी होती है जिससे माँग वक्र DD से नीचे सरक कर $D''D''$ तक आ जाता है तो तब वस्तु की मार्किट कीमत OP'' निर्धारित होगी क्योंकि OP'' पर ही नया माँग वक्र $D''D''$ दिए हुए पूर्ति वक्र MPS को काटता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्किट अवधि में माँग में परिवर्तन से मार्किट कीमत में अधिक ज्यादा घट-बढ़ हो सकती है क्योंकि इस अवधि में पूर्ति की मात्रा स्थिर रहती है।

रेखाकृति 21.4 टिकाऊ वस्तु (durable good) की बाजार कीमत के निर्धारण को स्पष्ट करती है। जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं कि टिकाऊ वस्तु का पूर्ति वक्र अपनी समस्त लम्बाई में उदग्र सरल रेखा नहीं होता। इस विषय में दो कीमत-स्तरों का विचार करना आवश्यक है। प्रथम, कीमत का वह स्तर है जो इतना ऊँचा होता है कि विक्रेता उस पर

वस्तु का समस्त स्टॉक बेच देने को तैयार होते हैं। दूसरे, वस्तु की कीमत का ऐसा निम्नतम स्तर भी होता है जिस पर कि विक्रेता वस्तु की कोई मात्रा भी बेचना नहीं चाहते, बल्कि उस कीमत पर तो वे वस्तु के समस्त उत्पादन का स्टॉक अथवा संग्रह कर लेंगे। इस न्यूनतम कीमत को जिस पर कि विक्रेता वस्तु को बेचना बिलकुल बन्द कर देते हैं आरक्षित कीमत (reserve price) कहा जाता है। यह आरक्षित कीमत निम्नलिखित कई तत्त्वों द्वारा निश्चित होती है

1 वस्तु की आरक्षित कीमत विक्रेताओं की वस्तु की कीमत मे भविष्य म होने वाले परिवर्तनों के सबन्ध म आशकाओं पर निर्भर करती है। यदि वे आशा करते हैं कि निकट भविष्य म वस्तु की कीमत बढ जाएगी तो उनकी आरक्षित कीमत अपेक्षाकृत ऊँची होगी।

2 एक दूसरा तत्त्व जो आरक्षित कीमत को प्रभावित करता है, वह है उपभोक्ताओं की नकदी अथवा तरलता के लिए अधिमान। यदि नकदी के लिए विक्रेताओं की जरूरत अधिक है तो वे वस्तु को बेचने के लिए अधिक उत्सुक होंगे और परिणामस्वरूप उनकी आरक्षित कीमत भी अपेक्षाकृत कम होगी। यदि नकदी के लिए उनकी आवश्यकता इतनी अधिक नहीं है तो उनकी आरक्षित कीमत अपेक्षाकृत अधिक होगी।

3 आरक्षित कीमत वस्तु को सग्रह करने की लागत पर भी निर्भर करती है। जब वस्तु को बाजार मे बेचा नहीं जाता तो उसको सग्रह करने पर लागत उठानी पडती है। सग्रह करने की लागत इस बात पर निर्भर करती है कि कितने समय के लिए वस्तु का सग्रह करना है। सग्रह करने के लिए अवधि जितनी लम्बी होगी उतनी ही अधिक लागत उठानी पडेगी और उतनी ही कम आरक्षित कीमत होगी।

4 एक और तत्त्व जो वस्तु की आरक्षित कीमत को निर्धारित करता है, वह है वस्तु के टिकाऊपन की सीमा। वस्तु जितनी ही अधिक टिकाऊ होगी उसकी आरक्षित कीमत उतनी ही अधिक होगी।

5 भविष्य मे वस्तु को उत्पादित करने पर जो लागत आएगी वह भी कुछ सीमा तक उसकी आरक्षित कीमत को प्रभावित करती है। यदि भविष्य मे वस्तु की उत्पादन लागत अधिक उठानी पडेगी, तो विक्रेता अपेक्षाकृत अधिक आरक्षित कीमत निश्चित करेंगे।

उपर्युक्त दो कीमत-स्तरो, एक वह जिस पर कि वस्तु का समस्त स्टॉक बाजार मे पूर्ति के लिए प्रस्तुत किया जाएगा, और दूसरा वह स्तर जिस पर कि विक्रेता वस्तु को बिल्कुल बेचने को तैयार नही होंगे के बीच मे वस्तु की पूर्ति की मात्रा उसकी कीमत मे परिवर्तन होने पर बदलेगी विक्रेता अधिक कीमत पर वस्तु की अधिक पूर्ति करेंगे और कम कीमत पर उसकी कम पूर्ति होगी। इस प्रकार आरक्षित कीमत पर वस्तु की पूर्ति शून्य हो जाएगी और जैसे कीमत बढेगी पूर्ति की मात्रा भी बढाई जाएगी जब तक कि वह कीमत नही पहुँच जाती जिस पर कि वस्तु का स्टॉक विक्रेता बेचने के लिए तैयार हो जाते हैं।

इसलिए टिकाऊ वस्तु का पूर्ति वक्र कुछ सीमा तक ऊपर को चढता है और उसके बाद यह उदग्र सरल रेखा का रूप धारण कर लेता है जैसा कि रेखाकृति 21 4 मे टिकाऊ वस्तु का मार्किट अवधि पूर्ति
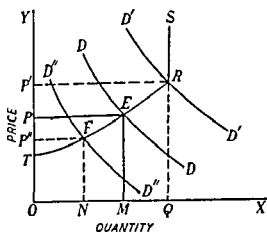
रेखाकृति 21 4
टिकाऊ वस्तु की मार्किट कीमत का निर्धारण

वक्र TRS है जिसमे वस्तु का कुल स्टॉक OQ है। आरम्भ मे मार्किट मे वस्तु का माँग वक्र DD है। माग वक्र और बाजार अवधि पूर्ति वक्र TRS एक दूसरे को बिन्दु E पर काटते हैं और इस प्रकार कीमत

OP निर्धारित होती है। अत इस सन्तुलन की अवस्था मे मार्किट कीमत OP निश्चित होगी जिस पर कि खरीदी और बेची जाने वाली सन्तुलन मात्रा OM है। कुल स्टॉक OQ मे से केवल OM मात्रा ही बाजार मे बेची जाएगी और शेष MQ मात्रा सग्रह अथवा भण्डार के रूप मे रख ली जाएगी। अब यदि माँग मे कमी हो जाती है जिससे कि माँग वक्र DD से नीचे गिर कर $D''D''$ हो जाता है तो इस नई अवस्था म माँग और पूर्ति मे सन्तुलन बिन्दु F पर स्थापित होगा और नई मार्किट कीमत OP'' निर्धारित होगी। अत माँग मे DD से $D''D''$ तक कमी हो जान के परिणामस्वरूप कीमत OP से घट कर OP'' हो जाएगी जिससे वस्तु की बेची जाने वाली मात्रा घट कर ON हो जाएगी और सग्रह के रूप मे रखी जाने वाली मात्रा बढकर NQ हो जाएगी।

अब मान लीजिए कि माँग मे वृद्धि हो जाती है और माग वक्र DD से बढकर $D'D$ हो जाता है तो इससे नया सन्तुलन R बिन्दु पर होगा जिससे सन्तुलन मार्किट कीमत OP' निर्धारित होगी। अत हम देखत हैं कि माँग मे वृद्धि के फलस्वरूप मार्किट कीमत OP से बढकर OP' हो जाएगी। रेखाकृति को देखने म मालूम होगा कि OP' कीमत पर वस्तु का समस्त स्टॉक OQ बाजार मे बेचा जाता है। अब यदि माँग $D'D'$ से भी ऊपर बढ जाए तो वस्तु की पूर्ति अथवा बेची जाने वाली मात्रा OQ पर स्थिर रहेगी क्योंकि मार्किट अवधि मे वस्तु के कुल स्टॉक का बढाया नही जा सकता। $D'D'$ से ऊपर माँग म वृद्धि का प्रभाव केवल कीमत बढाना ही होगा जबकि पूर्ति की मात्रा समान और स्थिर ही रहेगी।

यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि मार्किट कीमत के निर्धारण म वस्तु के उत्पादन पर उठाई गई लागत का कोई प्रभाव नही पडता। वस्तु की उत्पादन लागत उस समय अवधि मे कीमत को प्रभावित कर सकती है जिसमे कि उसके उत्पादन को बढाया-घटाया जा सकता हो। चूँकि बाजार अवधि मे वस्तु की जितनी मात्रा पहले उत्पादित की जा चुकी होती है, केवल उसकी ही मार्किट मे पूर्ति की जानी होती है, इसलिए उस वस्तु के उत्पादन पर उठाई गई लागत मार्किट कीमत पर विशेष प्रभाव नही डाल सकती। हा, उत्पादन की लागत वस्तु की अल्पकालीन कीमत तथा दीर्घकालीन कीमत को प्रभावित करती है। ऐसा इसलिए है कि अल्पकाल तथा दीर्घकाल मे वस्तु के उत्पादन को बढाया घटाया जा सकता है और वस्तु की कितनी मात्रा की मार्किट म पूर्ति की जाएगी यह बहुत सीमा तक उसकी उत्पादन लागत पर निर्भर करता है।

पूर्ण प्रतियोगिता मे वस्तु बिल्कुल समान होने के कारण है, इसकी कीमत मार्किट मे समान होगी। इसके अतिरिक्त चूँकि पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्मों की सख्या जो कि एक जैसी वस्तुओ को उत्पादित और बेच रही होती है बहुत अधिक होती है, इसलिए कोई भी फर्म अथवा विक्रेता व्यक्तिगत रूप स वस्तु की कीमत को प्रभावित नही कर सकता। इसलिए जब एक बार मार्किट कीमत निश्चित हो जाए तो एक व्यक्तिगत फर्म उस कीमत का स्थिर मानकर अपनी पूर्ति की मात्रा को इतनी निश्चित करेगी जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके।

अल्पकालीन कीमत का निर्धारण माँग और पूर्ति मे अल्पकालीन सन्तुलन (Determination of Short Run Price Short Run Equilibrium between Demand and Supply)

अल्पकालीन कीमत माँग और पूर्ति मे अल्पकालीन सन्तुलन द्वारा निर्धारित होती है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत अल्पकाल म पूर्ति वक्र फर्मों की अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्रो का जोड होता है। हम पिछले अध्याय में पढ चुके हैं कि उद्योग के अल्पकालीन पूर्ति वक्र को बाल बायें से दायीं ओर को ऊपर होती है क्योंकि व्यक्तिगत फर्मों के सीमान्त लागत वक्र बायें से दायीं और ऊपर को चढते हैं। पिछले अध्याय म हमने यह भी देखा कि अल्पकाल मे इस बात का निर्णय करने के लिए कि क्या वस्तु के उत्पादन को जारी रखा जाए अथवा नहीं स्थिर लागतों को विचार मे नहीं लाया जाता। यदि कीमत स्थिर लागत को पूरा

नहीं भी करती तो भी फर्म अपना उत्पादन जारी रखेगी बशर्ते कि कीमत औसत परिवर्तनशील लागत से अधिक हो। इसलिए यह औसत परिवर्तनशील लागत ही है न कि औसत कुल लागत (जिसमें स्थिर लागत भी सम्मिलित होती है) जो इस बात को निर्धारित करती है क्या वस्तु का उत्पादन जारी रखा जाएगा अथवा नहीं। यदि कीमत औसत परिवर्तनशील लागत से नीचे चली जाती है तो फर्में अल्पकाल में भी उत्पादन करना बन्द कर देंगी। इस प्रकार औसत परिवर्तनशील लागत अल्पकाल में कीमत का निम्न स्तर निश्चित करती है क्योंकि इससे कम कीमतों पर वस्तु का कोई उत्पादन और पूर्ति नहीं होगी।

रेखाकृति 20.5 अल्पकाल में कीमत निर्धारण की प्रक्रिया को स्पष्ट करती है। इसमें DD सारे उद्योग के लिए वस्तु का प्रारम्भिक मांग वक्र है। MPS मार्किट अवधि का पूर्ति वक्र है और SRS उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र है। प्रारम्भ में OP मार्किट

स्पष्ट रूप से समझने के लिए यह कल्पना कीजिए कि मांग में वृद्धि हो जाती है जिससे मांग वक्र DD से ऊपर सरक कर $D'D'$ हो जाता है। मार्किट अवधि में तो मांग में इस वृद्धि के अनुरूप पूर्ति को नहीं बढ़ाया जा सकता और परिणामस्वरूप मार्किट अवधि पूर्ति वक्र लम्बरूप सरल रेखा (vertical straight line) है। इसलिए जब मांग DD से $D'D'$ तक बढ़ जाती है तो मार्किट कीमत ऊंची चढ़ जाएगी। OP से बढ़ कर OH हो जाएगी। परन्तु अल्पकाल में वस्तु का उत्पादन अथवा पूर्ति परिवर्तनशील साधनों का अधिक प्रयोग करके बढ़ाई जाएगी जिससे अल्पकालीन पूर्ति वक्र बायें से दायीं ओर ऊपर की ढाल का होता है। नया मांग वक्र $D'D'$ अल्पकालीन पूर्ति वक्र SRS को बिन्दु Q पर काटता है जिससे अल्पकालीन कीमत OK निर्धारित होती है जो कि नई मार्किट कीमत OH से कम है। किन्तु यह अल्पकालीन कीमत OK प्रारम्भिक कीमत OP से अधिक है। इसका कारण यह है जब अल्पकाल

फर्म उद्योग

रेखाकृति 21.5 पूर्ण प्रतियोगिता में अल्पकालीन कीमत का निर्धारण

कीमत तथा अल्पकालीन कीमत दोनों ही है क्योंकि दिया हुआ मांग वक्र DD मार्किट अवधि पूर्ति वक्र MPS और अल्पकालीन पूर्ति वक्र SRS दोनों को बिन्दु E पर काटता है जिससे कीमत OP निर्धारित होती है। व्यक्तिगत फर्में कीमत OP को स्थिर मान-कर अपनी उत्पादन-मात्रा निश्चित करेंगी जिससे कीमत OP उनकी सीमान्त लागत के बराबर हो। अल्प-कालीन कीमत के निर्धारण की प्रक्रिया को अधिक
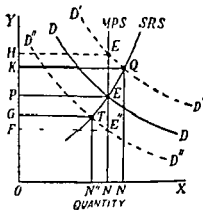
में वस्तु का उत्पादन बढ़ाया जाता है तो सीमान्त लागत बढ़ जाती है। अब अल्पकालीन कीमत OK निर्धारित होने पर उद्योग में विभिन्न फर्में इसको स्वीकार करके और स्थिर मानकर अपने उत्पादन को वहाँ निश्चित करेंगी जिससे कीमत OK उनकी सीमांत लागत के बराबर हो।

अब मान लीजिए कि मांग में वृद्धि के बजाय कमी हो जाती है जिससे मांग वक्र नीचे सरक कर $D''D''$

हो जाता है। चूँकि अल्पकाल मे पूर्ति SRS स्तर पर ही रहेगी, नया मार्किट अवधि सन्तुलन बिन्दु E'' पर स्थापित होगा जिससे कि मार्किट कीमत घट कर OF हो जाएगी। परन्तु फर्म अल्पकाल में अपने उत्पादन को श्रम तथा अन्य परिवर्तनशील साधनो को कम प्रयोग करके घटाएगी। नया माँग वक्र $D''D''$ अल्पकालीन पूर्ति वक्र SRS को बिन्दु T पर काटता है जिससे अल्पकालीन कीमत OG निर्धारित होती है जो कि नई मार्किट कीमत OF से अधिक है। रेखाकृति देखने पर मालूम होगा कि यह नई अल्पकालीन कीमत प्रारम्भिक कीमत OP से कम है। अब नई अल्पकालीन कीमत OG के निर्धारित होने पर व्यक्तिगत फर्म इसको स्थिर मान कर अपनी उत्पादन मात्रा निश्चित करेगी। हो सकता है कि यह कीमत उनकी कुल औसत लागत से कम हो जिससे उन्हे हानि उठानी पड सकती है। लेकिन जैसा कि हम ऊपर बता आये है, हानि की अवस्था मे अल्पकाल मे फर्म उत्पादन उस समय तक जारी रखेगी जब तक कि अल्पकालीन कीमत कम-से कम औसत परिवर्तनशील लागत के बराबर हो। यदि अल्पकालीन कीमत औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) से भी नीचे चली जाती है तो वे अल्पकाल मे भी उत्पादन करना बन्द कर देंगी और उस समय की प्रतीक्षा करेगी जब कीमत परिवर्तनशील लागत से ऊपर हो जाए।

दीर्घकालीन सामान्य कीमत का निर्धारण : माँग और पूर्ति में दीर्घकालीन सन्तुलन (Determination of Long-Run Normal Price Long Run Equilibrium between Demand and Supply)

दीर्घकालीन कीमत को सामान्य कीमत (normal price) भी कहा जाता है। दीर्घकालीन कीमत अथवा सामान्य कीमत माँग और पूर्ति मे दीर्घकालीन सन्तुलन द्वारा निर्धारित होती है जबकि दी हुई माँग दशाओ के अनुरूप पूर्ति पूर्णतया बदल सकती है। मार्शल के अनुसार, "सामान्य कीमत वस्तु की वह कीमत है जिसको आर्थिक शक्तियाँ दीर्घकाल मे निश्चित करने की चेष्टा करती है।" दी हुई माँग की दशा मे दीर्घकाल मे एक कीमत प्रचलित होने की प्रवृत्ति होगी जबकि पूर्ति की दशाएँ माँग के अनुरूप पूरी तरह से बदल चुकी होगी, वह कीमत ही दीर्घकालीन अथवा सामान्य कीमत होगी। यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि वस्तु की सामान्य कीमत उसकी औसत कीमत (average price) नही है। सामान्य कीमत तो वह कीमत है जिस पर दीर्घकाल मे वास्तविक कीमतें पहुँचने की प्रवृत्ति रखती है, जबकि औसत कीमत समय की दीर्घ अवधि मे प्रचलित रहने वाली सभी वास्तविक कीमतो की गणितीय औसत है। इसके अतिरिक्त, यह भी याद रखना चाहिए कि यह आवश्यक नही कि दीर्घकालीन कीमत अथवा सामान्य कीमत वास्तव मे भी प्रचलित हो। सामान्यत ऐसा होता है कि दीर्घकालीन कीमत स्थापित होने से पहले ही माँग अथवा पूर्ति की दशाओ मे तबदीली आ जाती है जिसके अनुरूप नई दीर्घकालीन कीमत होगी। कल की तरह दीर्घकाल भी कभी नही आता (Long-run like tomorrow, never comes)।

जबकि मार्किट कीमत माँग अथवा पूर्ति मे दिन प्रतिदिन अस्थायी परिवर्तनो के कारण बदलती रहती है, सामान्य कीमत माँग और पूर्ति की दी हुई स्थाई दशाओ मे समान रहती है। सामान्य कीमत वह केन्द्र-बिन्दु है जिसके आसपास मार्किट कीमत माँग और पूर्ति मे अस्थाई परिवर्तनो के कारण घटती-बढती रहती है। लेकिन यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि सामान्य कीमत हमेशा के लिए निश्चित और स्थिर नहीं रहती। यदि माँग अथवा पूर्ति मे स्थायी परिवर्तन हो जाए तो सामान्य कीमत भी बदल जाती है।

दीर्घकालीन सामान्य कीमत उद्योग द्वारा उत्पादित पदार्थ की माँग तथा पूर्ति मे दीर्घकालीन सन्तुलन द्वारा निर्धारित होती है। इन दीर्घकालीन सन्तुलन और पहले दो सन्तुलनो मे सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि दीर्घकाल मे पूर्ति से सम्बन्धित सभी तत्त्वो को माँग पक्ष मे हुए परिवर्तनो के अनुरूप बदला जा सकता है। यदि माँग मे कोई स्थायी परिवर्तन हो जाए तो दीर्घकाल मे फर्म उत्पादन को न केवल परिवर्तनशील साधनो को बढा घटा कर बल्कि स्थिर साधनों को भी यथेष्ट मात्रा मे बदल कर बढा-घटा सकती हैं, उदा-

हरणतया चाहे तो वे अपने वर्तमान संयत्रों को बढ़ा लें या नये संयत्र लगा लें। दीर्घकाल में इसके अतिरिक्त इस उद्योग में नई फर्में प्रवेश भी कर सकती हैं और उससे बाहर भी जा सकती हैं जिससे उद्योग के उत्पादन अथवा पूर्ति में वृद्धि अथवा कमी हो सकती है।

दीर्घकाल में औसत परिवर्तनशील लागत का तो कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, क्योंकि दीर्घकाल में सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं और कोई भी साधन स्थिर नहीं होता। अत दीर्घकाल में फर्म जो भी खर्च अथवा लागतें कभी उठाए, वे अवश्य कीमत द्वारा पूरी होनी चाहिए अर्थात सभी लागतें कीमत निर्धारक होती हैं। सम्पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकालीन सामान्य कीमत न्यूनतम दीर्घकालीन औसत लागत के अवश्य बराबर होगी। पिछले अध्याय में हमने यह पढ़ा कि पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का दीर्घकालीन सन्तुलन उस
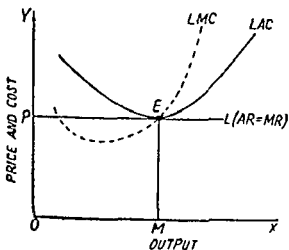
रेखाकृति 21 6
पूर्ण प्रतियोगी फर्म का दीर्घकालीन सन्तुलन

उत्पादन मात्रा पर होता है जिस पर कीमत = सीमान्त लागत = न्यूनतम दीर्घकालीन औसत लागत (Price = MC = Minimum LAC)। यदि कीमत कहीं न्यूनतम दीर्घकालीन औसत लागत से अधिक होगी, तो फर्में सामान्य लाभ से अधिक लाभ कमा रही होंगी। परिणामस्वरूप दीर्घकाल में नई फर्में उस उद्योग में आ जाएँगी और उनकी परस्पर प्रतियोगिता के फलस्वरूप कीमत गिर कर उस स्तर पर पहुँच जाएगी जिस पर कि यह न्यूनतम दीर्घकालीन औसत लागत के बराबर है और इस प्रकार फर्मों के लाभ कम होकर पुन सामान्य (normal) हो जाएँगे। दीर्घकाल में कीमत न्यूनतम औसत लागत से कम भी नहीं हो सकती, क्योंकि यदि ऐसा हो जाए तो फर्म हानि उठा रही होगी और यदि यह हानि काफी समय तक होती रही तो दीर्घकाल में कई फर्में उस उद्योग को छोड़ जाएँगी और इसका परिणाम यह होगा कि कीमत बढ़कर फिर न्यूनतम औसत लागत के बराबर हो जाएगी। फर्म का दीर्घकालीन सतुलन रेखाकृति 21 6 में दिखाया गया है जिसमें दीर्घकाल में निर्धारित कीमत OP निम्नतम औसत लागत के बराबर है।

इस प्रकार हमने देखा कि यदि कीमत न्यूनतम दीर्घकालीन औसत लागत से कम हो या अधिक हो, तो उस उद्योग की पूर्ति बदल जाती है, मुख्यतया नई फर्मों के उस उद्योग में आ जाने से या वर्तमान फर्मों में से कुछ एक के छोड़ जाने से और पूर्ति फिर इतनी हो जाती है कि नई कीमत एक बार पुन दीर्घकालीन न्यूनतम औसत लागत के बराबर हो जाती है। परन्तु यह कहना कि दीर्घकाल में कीमत न्यूनतम दीर्घकालीन औसत लागत के बराबर होगी, कीमत निर्धारण की पर्याप्त व्याख्या नहीं है क्योंकि दीर्घकाल में न्यूनतम औसत लागत का स्तर स्वय बदलता रहता है। माग में परिवर्तन के फलस्वरूप जब दीर्घकाल में उद्योग द्वारा पदार्थ की पूर्ति में वृद्धि अथवा कमी की जाती है तो इससे बाहरी बचतों तथा हानियों (external economies and diseconomies) के कारण फर्मों की न्यूनतम औसत लागत बढ़ भी सकती है, समान भी रह सकती है और घट भी सकती है। क्या उद्योग द्वारा दीर्घकाल में पूर्ति में वृद्धि करने पर न्यूनतम औसत बढ़ेगी, समान रहेगी अथवा घटेगी यह इस बात पर निर्भर करता है कि क्या उद्योग वर्धमान लागत (Increasing Cost) या ह्रासमान लागत (Decreasing Cost) या समान लागत (Constant Cost) का उद्योग है। अब हम इस बात की व्याख्या करेंगे कि दीर्घकालीन सामान्य कीमत इन तीन प्रकार के उद्योगों में कैसे निर्धारित होती है।

वर्धमान लागत के उद्योग मे दीर्घकालीन सामान्य कीमत का निर्धारण (Determination of the Long-Run Normal Price in Increasing Cost Industry)

बढती लागत के उद्योग से आशय यह है कि जब उस उद्योग का आकार (size) बढता है, तो उस उद्योग की फर्मों की लागतें बढ जाती हैं। कई उद्योग बढती लागत के उद्योग क्यो होते हैं, यह समझना कठिन नही। मोटे तौर पर इस प्रकार के उद्योगों मे उनके आकार बढने पर जो बाहरी बचतें (external economies) होती हैं, उनकी अपेक्षा बाहरी हानियाँ (external diseconomies) बहुत अधिक होती है। उदाहरणतया उस उद्योग के विस्तार होने पर प्रयोग होने वाले साधनों, जैसे कच्चे माल, विशिष्टीकृत श्रम (specialised labour) तथा अन्य दुर्लभ साधनो की माँग बढ जाती है जिसमें उनकी कीमतें चढ जाती हैं। हाँ ऐसा तब होगा जब वह उद्योग इतना बडा हो कि उस अकेले उद्योग की आवश्यक साधनो की माग, उन साधनो की कुल माँग का एक बडा भाग हो, जिससे कि उस उद्योग की साधनो के लिए माँग बढने पर उनकी कीमत चढे बिना न रहे। कच्चे माल, विशिष्टीकृत श्रम तथा अन्य दुर्लभ साधनो की कीमतो मे वृद्धि उद्योग मे विस्तार होने की बाहरी हानियाँ है।

उस उद्योग का विस्तार होने पर बाहरी बचतें भी होती हैं, परन्तु वर्धमान लागत के उद्योगो मे वे बचतें बाहरी हानियो की तुलना मे बहुत कम होंगी। परिणामस्वरूप फर्मों की लागते बढ जाएगी, जिनका फल यह होगा कि उस उद्योग की फर्मों के लागत वक्र ऊपर को सरक जाएँगे। यह बात उस उद्योग की फर्मों मे भी होगी और नई फर्मों मे भी जो कि दीर्घकाल मे उस उद्योग मे प्रवेश करें। लागत वक्रो के ऊपर सरकने से फर्मों की न्यूनतम औसत लागत भी बढ जाएगी। फर्मों का सतुलन तो अब भी उस उत्पादन मात्रा पर होगा जिस पर कीमत = सीमान्त लागत = न्यूनतम औसत लागत परन्तु यह कीमत और न्यूनतम लागत अब पहले से ऊँचे होंगे, अर्थात् जिस स्तर पर वे उद्योग के विस्तार होने से पहले थे, अब विस्तार होने पर वे ऊँचे स्तर पर होंगे।

इस प्रकार के उद्योगो मे दीर्घकालीन कीमत कैसे निर्धारित होती है, इसकी अब हम रेखाकृति 21 7 की सहायता से व्याख्या करेंगे। इस रेखाकृति के दायें भाग मे SRS वक्र वर्धमान लागत के उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र है। मान लीजिए कि पहले माँग
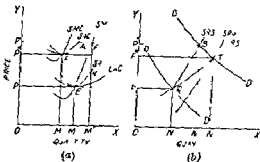
रेखाकृति 21 7

वर्धमान लागत के उद्योग मे दीर्घकालीन सामान्य कीमत का निर्धारण

वक्र DD है जो अल्पकालीन पूर्ति वक्र SRS को बिन्दु Q पर काटता है जिससे अल्पकालीन कीमत OP निर्धारित होती है। रेखाकृति 21 7 के बाये भाग से विदित होता है कि कीमत OP फर्म की दीर्घकालीन न्यूनतम औसत लागत के बराबर है। इसका अर्थ यह है कि उद्योग मे फर्मों की सख्या पहले ही दी हुई माग के अनुकूल पूर्णतया बदल चुकी है। अतएव कीमत OP दी हुई माग DD के अनुसार दीर्घकालीन कीमत भी है। अब कल्पना कीजिए कि माँग मे वृद्धि हो जाती है जिससे कि माँग वक्र DD के बजाय $D'D'$ हो जाता है। अल्पकाल मे फर्में अपनी उत्पादन मात्रा को अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्रो के अनुसार ही बढाएंगी और इसके परिणामस्वरूप अल्पकाल मे पूर्ति बढ जाएगी परन्तु यह अधिक पूर्ति पहले से ऊँची लागत पर ही सभव होगी क्योंकि फर्मों के अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र यहाँ ऊपर की ओर बढते हुए होंगे। अल्पकाल मे समस्त उद्योग की पूर्ति SRS के अनुसार बढेगी। नया माँग वक्र $D'D'$ अल्पकालीन पूर्ति वक्र SRS को बिन्दु B पर

काटता है जिससे नई अल्पकालीन कीमत OP' निर्धारित होगी। अल्पकालीन सतुलन में हरेक फर्म अपनी वस्तु की OM' मात्रा उत्पादित कर रही होगी जिस पर कि OP' कीमत उसकी अल्पकालीन सीमान्त लागत (SMC) के बराबर है। परन्तु यह अल्पकालीन औसत लागत से अधिक है जबकि औसत लागत $M'H$ है, कीमत अथवा औसत आय $M'F$ (जो कि OP के बराबर है)। अत इस अल्पकालीन सतुलन की स्थिति मे फर्में असामान्य लाभ कमा रही होगी (उत्पादन की प्रति इकाई पर असामान्य लाभ FH के बराबर है) अत दीर्घकाल मे इन्ही असाधारण लाभों के प्रलोभन मे कई नई फर्में उस उद्योग म आएँगी। परन्तु हम ऐसे उद्योग का अध्ययन कर रहे है जिसम आकार बढने पर लागत भी बढ जाती है। इसलिए जैसे ही नई फर्में उस उद्योग म पदार्पण करेगी, सभी फर्मों के लागत वक्र ऊपर की ओर सरक जाएँगे क्योकि नई फर्मों के आ जाने से उस उद्योग म बाहरी बचतो की तुलना में बाहरी हानियाँ (external diseconomies) बहुत होने लग जाती है। इधर नई फर्मों के प्रवेश कर जाने से दीर्घकाल मे उद्योग की कुल पूर्ति बढ जाएगी अर्थात् दीर्घकाल में उद्योग मे नई फर्मों के आ जाने से उसका अल्पकालीन पूर्ति वक्र दायी ओर को सरक जाएगा और कीमत घट जाएगी। नई फर्में उद्योग म प्रवेश करती रहेगी और पूर्ति वक्र दायी ओर को सरकता रहेगा जिससे कि कीमत घट कर उस स्तर पर नही पहुँच जाती जहा फर्में केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त कर रही हों।

रेखाकृति 21 7 (b) से यह ज्ञात होगा कि जब दीर्घकाल मे उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र नई फर्मों के आ जाने से दायी ओर को सरक कर SRS' तक पहुच जाता है तो यह नए मांग वक्र $D'D'$ को बिन्दु T पर काटता है जिससे कीमत OP'' निर्धारित होती है। रेखाकृति 21 7 (a) मे यह देखा जाएगा कि कीमत OP'' फर्मों की नई दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC' की न्यूनतम औसत लागत के बराबर है अर्थात् इस पर फर्में केवल सामान्य लाभ ही कमा रही है। उनके असामान्य लाभ अतिरिक्त फर्मों के प्रवेश कर जाने से समाप्त हो गए है। यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि दीर्घकाल मे उद्योग मे विस्तार होने पर लागतो मे वृद्धि के कारण फर्म का दीर्घकालीन औसत लागत वक्र LAC से ऊपर सरक कर LAC' हो गया है। चूंकि कीमत OP'' फर्मों की दीर्घकालीन न्यूनतम औसत लागत के बराबर है, यह नई मांग $D'D'$ के अनुरूप नई दीर्घकालीन कीमत है और इस पर सन्तुलन मात्रा ON'' नई मांग $D'D$ के अनुसार नई दीर्घकालीन पूर्ति की मात्रा है। नई दीर्घकालीन कीमत OP'' प्रारम्भिक दीर्घकालीन कीमत OP से ऊँची है और कीमत OP'' पर पूर्ति की गई मात्रा ON'', कीमत OP पर की गई पूर्ति की गई मात्रा ON से अधिक है। यदि हम Q और T बिन्दुओं को आपस मे मिलाएँ तो हमें दीर्घकालीन पूर्ति वक्र LRS प्राप्त होगा। दीर्घकालीन पूर्ति वक्र LRS रेखाकृति 21 7 (b) मे दायी ओर को ऊपर चढ रहा है क्योंकि यह वर्धमान लागत के उद्योग की पूर्ति को व्यक्त करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि वर्धमान लागत के उद्योग द्वारा उत्पादित पदार्थ की दीर्घकालीन कीमत मांग म वृद्धि होने पर बढती है। दूसरे शब्दो मे, वर्धमान लागत के उद्योग की दशा मे पदार्थ की अधिक मात्रा की पूर्ति पहले से ऊँची कीमत पर की जाएगी। नई दीर्घकालीन कीमत प्रारम्भिक दीर्घ-कालीन कीमत से कितनी ऊँची होगी यह इस बात पर निर्भर करता है कि मांग मे वृद्धि के फलस्वरूप उद्योग के विस्तार होने पर लागत कितनी मात्रा मे बढती है। अत अब यह स्पष्ट हो गया है कि वर्धमान लागत के उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र बाएं से दायी ओर को ऊपर की ढाल का होता है परन्तु यह अल्पकालीन पूर्ति वक्र की अपेक्षा अधिक मूल्य सापेक्ष होता है। (Long-run supply curve of the increasing cost industry slopes upwards but is more elastic than the short-run supply curve)

स्थिर लागत के उद्योग मे दीर्घकालीन सामान्य कीमत का निर्धारण (Determination of Long-run Normal Price in Constant Cost Industry)

स्थिर लागत उद्योग वह उद्योग होगा जिसमे बाहरी

बचतें और बाहरी हानियाँ एक दूसरे के बराबर हों, जिससे उस उद्योग की फर्मों के लागत वक्र उद्योग का आकार घटने बढने पर भी पूर्ववत् ही रहे, ऊपर या नीचे न सरकें। या कोई उद्योग तब भी स्थिर लागत उद्योग होगा, यदि उस उद्योग के विस्तार होने पर उसमे न तो बाहरी बचतें हो और न हो बाहरी हानियाँ।

स्पष्ट है कि जब उद्योग मे फर्मों की सख्या बढे, तो कच्चा माल, मजदूर, पूंजी आदि उत्पादन के साधनो के लिए उस उद्योग की मांग बढ जाएगी। इससे उन साधनो की कीमतें चढनी चाहिएँ। पर यदि वह उद्योग स्थिर लागत का है तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह उद्योग ऐसा है कि साधनो के लिए इसकी मांग का उनकी कीमतों पर कोई प्रभाव नही पडता, अर्थात् उन साधनो की समूची मांग के दृष्टिकोण से इस उद्योग की मांग का महत्व बहुत कम या लगभग नगण्य (negligible) है। अत इस उद्योग की मांग बहुत बढ जाने पर भी उन साधनों की कीमतें नही बढती। रेखाकृति 21 8 मे स्थिर लागत के उद्योग में
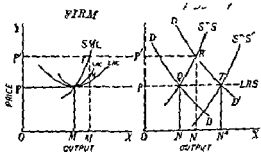
रेखाकृति 21 8 स्थिर लागत के उद्योग मे दीर्घकालीन मूल्य का निर्धारण

दीर्घकालीन सामान्य कीमत के निर्धारण को दर्शाया गया है। आरम्भ मे माग वक्र DD है जो अल्पकालीन पूर्ति वक्र SRS को बिन्दु Q पर काटता है जिससे कीमत OP निर्धारित होती है। कीमत OP फर्म की दीर्घकालीन न्यूनतम औसत लागत के बराबर है। इसका अर्थ यह है कि फर्मों की सख्या दी हुई मांग के अनुरूप पूरी तरह बदल चुकी है। अत कीमत OP मांग DD के अनुसार दीर्घकालीन कीमत भी है। अब कल्पना कीजिए कि मांग DD से बढ कर $D'D'$ हो जाती है। परिणामस्वरूप अल्पकाल में कीमत बढ कर OP' हो जाएगी जिस पर कि अल्पकालीन पूर्ति वक्र SRS नए मांग वक्र $D'D'$ को काटता है। इस नई सन्तुलन की स्थिति मे उद्योग द्वारा अल्पकाल मे पूर्ति की गई मात्रा बढकर ON' हो जाती है। नई अल्पकालीन कीमत OP' को स्थिर मान कर प्रत्येक फर्म अपनी उत्पादन मात्रा OM' निश्चित करेगी जिस पर कि उनकी अल्पकालीन सीमान्त लागत (SMC) कीमत OP' के बराबर है। परन्तु यह नई कीमत OP' (जोकि $M'F$ के बराबर है) सन्तुलन मे औसत लागत $M'H$ से अधिक है जिसमे फर्म असामान्य लाभ कमा रही हैं, प्रति इकाई उत्पादन मात्रा पर असामान्य लाभ FH के बराबर है। इन असामान्य लाभो के कारण और फर्में उस उद्योग मे प्रवेश करेंगी। जैसे नई फर्में उस उद्योग मे आएँगी उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र (SRS) दायीं ओर नीचे को सरकेगा।

इस प्रकार नई फर्में उस उद्योग मे आती रहेंगी और फलस्वरूप उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र दायीं ओर सरकता रहेगा जब तक कि उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र उस स्थान पर नहीं पहुँच जाता जहाँ इसके नये मांग वक्र $D'D'$ को काटकर वह कीमत निर्धारित नहीं होती जिससे फर्मों द्वारा अर्जित सभी असामान्य लाभ समाप्त हो जाएँ। रेखाकृति 21 8 मे यह देखा जाएगा कि जब उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र सरक कर SRS'' की स्थिति मे आ जाता है तो यह मांग वक्र $D'D'$ को बिन्दु T पर काटता है जिससे पुन कीमत OP निर्धारित होती है जिस पर कि फर्में केवल सामान्य लाभ ही कमाती है। इस प्रकार कीमत OP नए मांग वक्र $D'D'$ के अनुसार भी दीर्घकालीन कीमत निश्चित होती है। यहाँ पर फर्म के लागत वक्र अपनी पूर्व स्थिति पर ही बने हुए हैं क्योंकि यह स्थिर लागत का उद्योग है जिसके विस्तार होने पर उत्पन्न बाहरी बचतें और बाहरी हानियाँ एक-दूसरे को रद्द कर देती हैं। मांग में वृद्धि होने के फलस्वरूप अल्पकाल मे कीमत OP' तक बढ गई परन्तु दीर्घकाल म यह पुन OP के प्रारम्भिक स्तर पर आ गई है। अतएव स्थिर लागत के उद्योग मे दीर्घकालीन सामान्य कीमत मांग मे वृद्धि अथवा कमी होने पर भी समान रहती है।

यदि Q और T बिन्दुओं को आपस में मिलाया जाए तो हमें दीर्घकालीन पूर्ति वक्र LRS प्राप्त होता है जो कि स्थिर लागत के उद्योग में क्षितिज के समानान्तर सीधी रेखा होता है। स्पष्ट है कि स्थिर लागत के उद्योग में नई फर्मों के उद्योग में प्रविष्ट होने से पदार्थ की पूर्ति लागत वक्रों को ऊपर अथवा नीचे को सरकाए बिना बढ़ाई जाती है जिससे पदार्थ की दीर्घकालीन कीमत दी हुई दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के निम्नतम स्तर के समान ही रहेगी। स्थिर लागत के उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र क्षितिज के समानान्तर सीधी रेखा होने के कारण माँग में वृद्धि अथवा कमी से दीर्घकालीन कीमत में कोई परिवर्तन नहीं होगा। केवल अल्पकाल के लिए ही कीमत में परिवर्तन होगा। इस दशा में माँग में वृद्धि अथवा कमी से दीर्घकाल में फर्मों की संख्या के बदल जाने से केवल पदार्थ की पूर्ति में ही परिवर्तन होगा, दीर्घकालीन सामान्य कीमत समान ही रहेगी।

यहाँ पर एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि रेखाकृति 21 8 में जबकि फर्म का दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र ऊपर को चढ़ रहा है, उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र क्षितिज के समानान्तर सीधी रेखा है। इससे स्पष्ट है कि उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र फर्मों के दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्रों का जोड़ (lateral summation) नहीं होता।

ह्रासमान लागत के उद्योग में दीर्घकालीन सामान्य कीमत का निर्धारण (Determination of Long run Normal Price in Decreasing Cost Industry)

प्रायः किसी नवोदित उद्योग को आरम्भिक अवस्थाओं में इसके विस्तार होने पर इसकी बाहरी बचतें (external economies), बाहरी हानियों (external diseconomies) से अधिक होती हैं। कुछेक बाहरी बचतें ये होती हैं (क) सस्ता और अधिक प्रशिक्षित श्रम उपलब्ध हो जाता है, (ख) पहले से अच्छे सूचना-केन्द्र स्थापित हो जाते हैं और पहले से अधिक विस्तृत और सुव्यवस्थित बाजारों (markets) का आयोजन हो जाता है, (ग) किसी एक फर्म में काम कर रहे उत्पादन के साधनों की उत्पादकता अन्य फर्मों के उत्पादन के बढ़ने पर बढ़ जाती है, (घ) कई अन्य सम्बन्धित विशिष्टीकृत उद्योगों में जो कच्चे माल बन रहे होते हैं, वे उस बढ़ रहे उद्योग की फर्मों को अब पहले से सस्ते मिलने लग जाते हैं, क्योंकि उनकी इनके लिए माँग बढ़ने पर ये ह्रासमान लागत के नियम के अनुसार उत्पादित होते हैं। भाव यह है कि निवल बाहरी बचतें (net external economies) के होने के कारण उस उद्योग की फर्मों के सभी लागत वक्र नीचे सरक जाएँगे और इसलिए जैसे ही इस उद्योग का नई फर्मों के प्रवेश
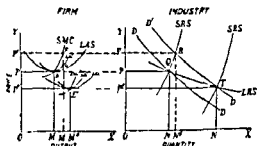
रेखाकृति 21 9 ह्रासमान लागत के उद्योग में दीर्घकालीन कीमत का निर्धारण

करने के फलस्वरूप आकार बढ़ता चला जाता है, इस उद्योग की लागतें घटती चली जाएँगी। इस प्रकार ह्रासमान लागत वाले उद्योगों में वस्तु की अतिरिक्त पूर्ति पहले से कम कीमतों पर प्रस्तुत की जाएगी और इसलिए ऐसे उद्योगों के दीर्घकालीन पूर्ति वक्र की बाएँ से दाएँ नीचे की ओर ढाल होती है।

ह्रासमान लागत के उद्योग में दीर्घकालीन कीमत के निर्धारण को रेखाकृति 21 9 में दिखाया गया है। आरम्भ में माँग वक्र DD है जो कि अल्पकालीन पूर्ति वक्र SRS को बिन्दु Q पर काटता है जिससे अल्पकालीन कीमत OP निर्धारित होती है। कीमत OP आरम्भिक दीर्घकालीन कीमत भी है क्योंकि यह फर्म के निम्नतम दीर्घकालीन औसत लागत (minimum long run average cost) के बराबर भी है जिससे फर्मों को केवल सामान्य लाभ प्राप्त हो रहे हैं। माँग में DD से $D'D'$ तक वृद्धि हो जाने के कारण अल्पकालीन कीमत बढ़ कर OP' और पूर्ति व माँगी गई मात्रा बढ़ कर ON' हो जाएगी। कीमत में OP से

बढ़ कर OP' हो जाने से प्रत्येक फर्म अपना उत्पादन नई कीमत OP' को स्थिर मान कर निश्चित करेगी। रेखाकृति 21 9 म देखा जाएगा कि OP' कीमत से फर्म का सन्तुलन अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र के बिन्दु F पर होगा और वह OM' मात्रा उत्पादित करेगी। अल्पकालीन कीमत OP' फर्मों की नई सन्तुलन की स्थिति में उनकी औसत लागत से अधिक है जिससे फर्मों को इस अल्पकालीन स्थिति में असामान्य लाभ हो रहे होंगे। इन असामान्य लाभो के प्रलोभन से नई फर्में उस उद्योग मे प्रवेश करेंगी। परिणामस्वरूप उद्योग का विस्तार होगा और उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र दायी ओर को सरक जाएगा। घटती लागत के उद्योग का विस्तार होने पर फर्म के लागत वक्र नीचे को सरक जाएँगे। नई फर्में उस उद्योग मे प्रवेश करती रहेंगी और उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र दायी ओर को सरकता रहेगा और फर्मों के लागत वक्र नीचे को सरकते रहेंगे जब तक कि अल्पकालीन पूर्ति वक्र उस स्थान पर नही पहुंच जाता जिससे इसके मांग वक्र $D'D'$ को काटने से कीमत OP'' निर्धारित नही हो जाती। अत कीमत OP'' नए मांग वक्र $D'D'$ के अनुसार दीर्घकालीन कीमत है। रेखाकृति 21 9 से विदित होगा कि नई दीर्घकालीन कीमत OP'' प्रारम्भिक दीर्घकालीन कीमत OP से कम है। बिन्दु Q और T को मिलाने पर हम नीचे को ढाल वाला दीर्घकालीन पूर्ति वक्र LRS प्राप्त होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ह्रासमान लागत के उद्योग का पूर्ति वक्र बाएँ से दाएँ नीचे को ओर झुका हुआ होता है। इस प्रकार के उद्योग में पदार्थ की अधिक पूर्ति दीर्घकाल म कम कीमत पर की जाएगी। इस दशा मे मांग मे वृद्धि होने से पदार्थ की दीर्घकालीन कीमत घट जाएगी। यह वर्धमान लागत के उद्योग से बिल्कुल विपरीत बात है जिसमे कि मांग मे वृद्धि होने पर कीमत बढ़ जाती है।

सारांश—ऊपर दिये इस विवेचन का सारांश यह है कि मांग मे वृद्धि होने पर दीर्घकालीन सीमान्त कीमत *बढती है, वही की वही रहती है या कम हो जाती है जब वह उद्योग क्रमश वर्धमान लागत वाला, समान लागत वाला या ह्रासमान लागत वाला होता है।*

इसके अतिरिक्त पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्य करने वाले उद्योगो के दीर्घकालीन पूर्ति वक्र (long run supply curve) तीन प्रकार के हो सकते हैं (1) जब उद्योग वर्धमान लागत का होता है तो दीर्घकालीन पूर्ति वक्र (LRS) ऊपर को चढ़ता है (slopes upward), (2) जब उद्योग स्थिर लागत का होता है तो दीर्घकालीन पूर्ति वक्र क्षितिज के समानान्तर रेखा (horizontal straight line) होता है और (3) जब उद्योग ह्रासमान लागत का होता है तो दीर्घकालीन पूर्ति वक्र बायें से दायी ओर नीचे को गिरता हुआ (sloping downward) होता है।

22

पूर्णतया प्रतियोगी सन्तुलन की निर्धार्यता
(DETERMINATENESS OF PERFECTLY COMPETITIVE EQUILIBRIUM)

हमने गत अध्याय मे पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म तथा उद्योग दोनों के सन्तुलन की दशाओ की व्याख्या की है। परन्तु फर्म तथा उद्योग दोनों की दशा मे यह प्रश्न प्राय उठाया जाता है कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ अथवा मान्यताओ के अन्तर्गत क्या सन्तुलन की निर्धार्य दशा का वास्तव मे अस्तित्व होता है। पीरो साफा तथा कैल्डर द्वारा दृढतापूर्वक कहा गया है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सन्तुलन पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ के साथ असगत है। अन्य शब्दो मे, पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सन्तुलन की किसी भी निर्धार्य दशा का अस्तित्व नही होता है। यदि सन्तुलन की दशा का अस्तित्व होता भी है तो कोई गारण्टी नहीं है कि वह स्थिर होगा। पूर्णतया प्रतियोगी सन्तुलन की स्थिरता भी कीमत सिद्धान्त मे विवाद का विषय रही है तथा सन्तुलन की स्थिरता के दो विभिन्न दृष्टिकोण प्रतिपादित किये गये हैं। इस अध्याय मे हम पूर्णतया प्रतियोगी सन्तुलन की निर्धार्यता की समस्या का विवेचन करेंगे तथा स्पष्ट करेंगे कि किन दशाओ के अन्तर्गत फर्म तथा उद्योग का सन्तुलन निर्धार्य होता है।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का सन्तुलन तथा ह्रासमान लागतें (वर्धमान प्रतिफल) [Firm's Equilibrium under perfect competition and Decreasing costs (Increasing Returns)]

हमने पहले अध्यायो मे व्याख्या की है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म के सन्तुलन को दो शर्तों की पूर्ति की आवश्यकता होती है। प्रथम, किसी उत्पादन के स्तर पर पूर्णतया प्रतियोगी फर्म को सन्तुलन मे होने के लिए सीमान्त लागत, कीमत (अथवा सीमान्त आय) के बराबर होनी चाहिए। द्वितीय, पूर्ण प्रतियोगिता मे अन्तर्गत सन्तुलन उत्पादन पर सीमान्त लागत बढती हुई होनी चाहिए।

अब, जब साधनो के प्रतिफल बढ़ रहे हैं अर्थात् जब साधनो के सीमान्त उत्पादन बढ़ रहे हैं तो सीमान्त लागत ह्रासमान होगी। जब सीमान्त लागत निरन्तर कम हो रही है तो फर्म के सन्तुलन की द्वितीय क्रम की शर्तें, अर्थात् सन्तुलन उत्पादन पर सीमान्त लागत बढ़ती हुई होनी चाहिए, की पूर्ति नही होगी और इसलिए इन दशाओ के अन्तर्गत सन्तुलन विद्यमान नही रह सकता है या कहने का तात्पर्य यह

पूर्णतया प्रतियोगी सन्तुलन की निर्धार्यता

कि लाभ अधिकतम करने वाला सन्तुलन उत्पादन अनिर्धार्य (indeterminate) है। जब वर्धमान प्रतिफल के कारण सीमान्त लागत घट रही है तो दी हुई कीमत, जो पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक फर्म के लिए स्थिर रहती है, पर फर्म को अपना उत्पादन बढ़ाते जाना लाभप्रद होगा। अतः यदि सीमान्त लागत वक्र ऊपर नहीं चढ़ता (यदि ह्रासमान प्रतिफल घटित नहीं होता) तथा सीमान्त आय वक्र को नीचे से नहीं काटता (जो पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक व्यक्तिगत फर्म का माँग वक्र ही होता है) तो फर्म का सन्तुलन सम्भव नहीं है। यह रेखाकृति 22.1 में प्रदर्शित किया गया है जहाँ पर MC सीमान्त लागत वक्र निरन्तर गिर रहा है। F बिन्दु पर सन्तुलन सम्भव नहीं है यद्यपि यहाँ सीमान्त लागत, कीमत (अथवा सीमान्त आय) के बराबर है। इसका कारण यह है कि F बिन्दु पर सीमान्त लागत घट रही है (या MC वक्र MR वक्र को ऊपर से काट रहा है)। जैसा कि रेखाचित्र 22.1 से दृष्टिगोचर होगा यदि फर्म F बिन्दु के आगे उत्पादन विस्तृत करती है तो सीमान्त लागत, कीमत या सीमान्त आय की अपेक्षा कम हो जाती है और इसलिए उत्पादन में विस्तार करना लाभप्रद होगा। जब तक MC वक्र गिर रहा है तथा कीमत OP पर स्थिर रहती है (जो कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत होता है), फर्म निरन्तर उत्पादन में विस्तार करती जाएगी जब तक कि यह सम्पूर्ण बाजार को हड़प नहीं कर जाती तथा अपना एकाधिकार स्थापित नहीं कर लेती है। इस प्रकार एक फर्म के वर्धमान प्रतिफल (अर्थात् ह्रासमान सीमान्त लागत) अन्ततः पूर्ण प्रतियोगिता का विनाश तथा एकाधिकार अथवा अल्पाधिकार की स्थापना करेंगे। अतः यह कहा जाता है कि एक फर्म का वर्धमान प्रतिफल तथा पूर्ण प्रतियोगिता असंगत हैं। इस प्रकार प्रो० सैमुएल्सन लिखते हैं :

"फर्मों के लिए निरन्तर ह्रासमान लागत के अन्तर्गत उनमें से एक या कुछ उत्पादन में इतना अधिक विस्तार करेंगी कि वे उद्योग के कुल उत्पादन के लिए बाजार का महत्वपूर्ण भाग बन जाती हैं। तब हम निम्न तीन दशाओं में से एक को प्राप्त करेंगे —

(1) अकेला एकाधिकारी जो उद्योग पर आधिपत्य रखता है।
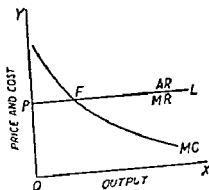
रेखाकृति 22.1
पूर्ण प्रतियोगी फर्म का सन्तुलन वर्धमान प्रतिफल की स्थिति में अनिर्धार्य होता है

(2) कुछ बड़े विक्रेता जो एक साथ होकर उद्योग पर आधिपत्य रखते हैं तथा जो बाद में अल्पाधिकारी कहलायेंगे।

(3) प्रतियोगिता की किसी प्रकार की अपूर्णता, वह या तो स्थिर ढंग से या सविराम कीमत युद्ध की शृंखला के सम्बन्ध में, अर्थशास्त्री के पूर्ण प्रतियोगिता के प्रतिदर्श (model) से जिसमें कोई फर्म उद्योग की कीमत पर कोई नियन्त्रण नहीं रखती एक महत्त्वपूर्ण विचलन (departure) प्रदर्शित करती है। ('Some kind of imperfection of competition that, either a stable way or in connection with a series of intermittent price wars, represents an important departure from the economist's model of perfect competition wherein no firm has any control over industry price")[1]

---

1 P. A. Samuelson, *Economics*, 8th edition, p 452

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का सन्तुलन तथा स्थिर लागतें (स्थिर प्रतिफल) [Firm s Equilibrium under perfect competition and constant costs (Constant Returns)]

स्थिर प्रतिफल (या स्थिर लागतो) के दशाओ के अन्तर्गत भी प्रतियोगी फर्म का सन्तुलन सम्भव नही है। जब साधना के स्थिर प्रतिफल प्रचलित होने हैं तो साधनो का सीमान्त उत्पादन पूर्ववत् रहता है और इसलिए सीमान्त लागत स्थिर रहती है। यदि कीमत (या सीमान्त आय), जो बाजार मे प्रचलित होती है, सीमान्त लागत की अपेक्षा अधिक है (जो होना चाहिए यदि फर्म को दीर्घकाल मे कार्य करना है) तो फर्म के लिए उत्पादन को तब तक विस्तृत करते जाना लाभदायक होगा जब तक कि पूर्ण प्रतियोगिता की समाप्ति तथा एकाधिकार की स्थापना नही हो जाती। यह रेखाकृति 22 2 मे स्पष्ट किया गया है जिसमे बाजार मे प्रचलित कीमत OH तथा सीमान्त लागत OK है जो स्थिर प्रतिफल के कारण, जब उत्पादन का विस्तार किया जाता है, तो स्थिर रहती है। चूंकि कीमत (या सीमान्त आय) समस्त स्तरो पर सीमान्त लागत की अपेक्षा अधिक रहती है अत फर्म को अपने आकार या उत्पादन मे निरन्तर विस्तार करना लाभदायक होगा। इसलिए इन परिस्थितियो के अन्तर्गत किसी सन्तुलन दशा का अस्तित्व नही रहता या अन्य शब्दो मे सतुलन अनिर्धार्य है।

यह ध्यान देने योग्य है कि रेखाकृति 22 2 मे कही भी सतुलन की दोनो दशाएँ [(i) MC = कीमत तथा (ii) सन्तुलन उत्पादन पर MC बढती हुई होनी चाहिए] सन्तुष्ट नही हो रही हैं। इस दशा मे सीमान्त लागत (MC) तथा सीमान्त आय (MR) की समानता की सन्तुलन शर्त भी सन्तुष्ट नही हो रही है। हम देखते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ के अन्तर्गत फर्म का सन्तुलन स्थिर प्रतिफल या स्थिर लागत के साथ भी असगत है।

अत हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का सन्तुलन बढती हुई सीमान्त लागत की दशा मे ही सम्भव है ताकि MR तथा MC की समानता के बिंदु पर सीमात लागत वक्र
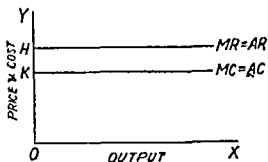
रेखाकृति 22 2
स्थिर लागत की स्थिति मे पूर्ण प्रतियोगी फर्म का सतुलन अनिर्धार्य है

क्षैतिज सीमान्त आय रेखा को नीचे से काटे जैसा कि रेखाकृति 22 3 मे E बिंदु पर है। रेखाकृति 22 3 मे
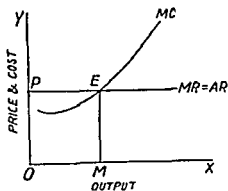
रेखाकृति 22 3
पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत निर्धार्य सन्तुलन

E बिन्दु अथवा OM उत्पादन पर फर्म के सन्तुलन की स्थापना हुई है जिस पर सीमान्त लागत सीमात आय के बराबर है तथा सन्तुलन के बिंदु पर सीमान्त लागत बढ रही है। OM अथवा E बिंदु के बाद उत्पादन मे विस्तार करना लाभदायक नहीं है क्योकि इसके बाद सीमान्त लागत (MC) कीमत या सीमान्त आय की अपेक्षा अधिक है।

पूर्ण प्रतियोगिता के साथ फर्म के सन्तुलन की असंगति पर कैल्डर के विचार

(Kaldor on Incompatibility of Firm's Equilibrium with Perfect Competition)

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रो० कैल्डर ने अपने प्रसिद्ध लेख *'The Equilibrium of the Firm'*[1] मे विचार व्यक्त किया कि फर्म का दीर्घकालीन स्थैतिक सन्तुलन तथा पूर्ण प्रतियोगिता असगत हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके है कि सीमान्त लागत के बढते हुए होने पर (अर्थात् साधनो को ह्रासमान प्रतिफल के अन्तर्गत) ही पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का सन्तुलन सम्भव तथा निर्धार्य है। अब कैल्डर तर्क देते है कि स्थैतिक दशाओ के दिये होने पर पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकाल म ऐसा कुछ नही है जो व्यक्तिगत फर्म के लागत वक्र को ऊपर (उद्योग की लागतो की अपेक्षा) को उठाये तथा इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत निर्धार्य सन्तुलन को सम्भव बनाये।

कैल्डर का मत है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत अल्पकाल मे निर्धार्य सन्तुलन की सम्भावना के विषय मे कोई सन्देह नहीं है क्योकि अल्पकाल में कुछ साधन स्थिर मान लिये जाते हैं तथा परिवर्तनशील साधन की मात्रा मे वृद्धि द्वारा उत्पादन मे विस्तार किया जाता है जिसका सीमान्त उत्पादन, परिवर्तनशील अनुपातो के नियम की क्रियाशीलता (सक्षेप मे, परिवर्तनशील अनुपातो के नियम की ह्रासमान अवस्था) के कारण एक निश्चित उत्पादन-स्तर के पश्चात् अवश्य गिरता है (अर्थात् अल्पकालीन सीमान लागत अवश्य बढती है)। इस प्रकार वे लिखते हैं, "अल्पकाल मे (परिभाषा द्वारा) कुछ साधनों की पूर्ति स्थिर मान ली जाती है तथा चूँकि कुछ अन्य (स्वतन्त्र रूप से परिवर्तनशील) साधनो की कीमत दी हुई होती है, अत एक बिन्दु के पश्चात् प्रति इकाई लागत अवश्य बढेगी। (यह तात्पर्य बहु चर्चित मान्यता 'गैर-आनुपातिक प्रतिफल के नियम" से सरलतापूर्वक निकलता है") (In the short run (by definition) the supply of some factors is assumed to be fixed and as the price of some other (freely variable) factors is given, costs per unit must necessarily rise after a certain point (This follows simply from the assumption frequently styled, "the law of non proportional returns"[2])

अत कैल्डर के अनुसार पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यताओ के साथ सतुलन की सगति की समस्या आवश्यक रूप से दीर्घकालीन सतुलन (की समस्याओ) से सम्बन्धित है जब कि सभी साधन पूर्ति मे स्वतन्त्र रूप से परिवर्तनशील होते हैं जिनको फर्म प्रयोग करती है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यताएँ निम्न है—(1) फर्म के लिए पदार्थ की कीमत दी हुई है; (2) फर्म के लिए साधनो की कीमतें दी हुई हैं तथा जब फर्म अपने उत्पादन स्तर मे विस्तार करती है तो वे स्थिर तथा अपरिवर्तित रहती हैं।

अब कैल्डर का तर्क है कि पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यताओ के दी हुई होने पर तथा यह दिया होने से कि दीर्घकाल मे सभी साधन स्वतन्त्र रूप से परिवर्तनशील हैं तथा सभी कीमतें स्थिर रहती हैं लागतें (विशेष रूप से सीमान्त लागतें) बढ नहीं सकती। जब फर्म अपने आकार का विस्तार करती है तो *MC* (सी० ला०) अवश्य गिरती है या स्थिर रहती है। वे उन कारणो की खोज करते हैं जो फर्म की सीमान्त लागत को सम्भवत बढा सकते हैं तथा फर्म के आकार पर प्रतिबन्ध रखते हैं और इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत निर्धार्य सन्तुलन को सम्भव बनाते हैं।

प्रथम, वे साधनो की अविभाज्यताओ का उल्लेख करते हैं जिनके कारण, जैसे-जैसे फर्म अपने उत्पादन का विस्तार करती है, उत्पादन की कुछ सीमा तक

---

1. This article by Kaldor was first published in *Economic Journal*, 1934 and is reprinted in Kaldor's "*Essays on Value and Distribution*, Gelard Ducworth and Co, 1960

2. *Op cit* p 38 39.

दीर्घकाल मे प्रति इकाई लागत गिरती है और जब अवि-भाज्यताओं के कारण सम्पूर्ण तकनीकी मितव्ययिताएँ पूर्णतया प्राप्त कर ली जाती है तो प्रति इकाई उत्पादन लागत न्यूनतम हो जाती है तथा इसके पश्चात् बढने लगती है। परन्तु कैल्डर के अनुसार अगर साधन अबाध रूप से उपलब्ध हैं तो अन्य कुशल साधन नियुक्त किये जायेंगे जिनकी नियुक्ति अपेक्षाकृत न्यून उत्पादन स्तरो पर मितव्ययी नही थी और इसलिए एक बार पुन नियुक्त नवीन साधनो की अविभाज्यताओ से मितव्ययिताएँ भोग की जायेंगी या प्राप्त की जायेंगी और इसके परिणामस्वरूप फर्म के उत्पादन तथा आकार मे वृद्धि के साथ पदार्थ की इकाई लागत गिरेगी। नवीन अविभाज्य साधनो से न्यूनतम इकाई लागत पहले के समान हो सकती है। अविभाज्यता के सम्बन्ध मे उन्ह उद्धृत करते हुए, "एक बिन्दु के पश्चात् कुछ निश्चित सीमा तक लागतें बढ सकती हैं परन्तु (यदि हमारी मान्यताओं के अनुसार साधन स्थिर कीमतो पर प्राप्त होते रहते हैं) तत्पश्चात् वे पुन गिरेंगी जब तक वे पहले की तरह अपने न्यूनतम स्तर पर नही पहुँच जाती है। तब केवल कुछ पदार्थों के लिए अनुकूलतम बिन्दु पर पहुचा जा सकता है, परन्तु कोई कारण नही है कि उत्तरोत्तर अनुकूलतम बिन्दुओं को समान औसत लागत के स्तर पर क्यो नही होना चाहिए। इस प्रकार एक निश्चित सीमा तक बढ़ती हुई लागतो के कारण स्वरूप अविभाज्यताएँ फर्म के आकार पर प्रतिबन्ध की व्याख्या नही करतीं जब तक कि सभी साधन अबाध रूप से उपलब्ध हैं तथा सभी कीमतें स्थिर है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कैल्डर के अनुसार दीर्घकाल मे साधन-अविभाज्यताएँ भी इकाई लागत मे वृद्धि का कारण नही हो सकती हैं और इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता मे अन्तर्गत फर्म के दीर्घकालीन सन्तुलन को निर्धार्य नही बना सकती हैं।

कैल्डर के अनुसार अन्य तत्त्व बाह्य मितव्ययिताओ का है जो फर्म के आकार मे वृद्धि के साथ सम्भवत इकाई लागत को बढा सकता है। आर्थिक बाह्य अमितव्ययिताओ अर्थात् साधन की कीमतो मे वृद्धि को परिभाषा द्वारा निकाल दिया गया है क्योकि साधन बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता के कारण यह माना जाता है कि फर्म के लिए साधन की कीमतें स्थिर रहती हैं। अन्य अमितव्ययिताएँ, जो उत्पन्न हो सकती हैं, दुर्लभताएँ हैं अर्थात् उन साधनो की सीमित पूर्ति जिनको फर्म प्रत्यक्ष रूप मे नियुक्त नही करती परन्तु केवल अप्रत्यक्ष रूप मे प्रयुक्त करती है। उदाहरणार्थ यातायात की भीड़भाड़ के कारण यातायात कम्पनी की बढ़ती हुई लागतें। परन्तु कैल्डर के अनुसार इस प्रकार की बाह्य अमितव्ययिताएँ व्यक्तिगत फर्म के दीर्घकालीन सन्तुलन को निर्धार्य बनाने के लिए प्रासगिक (relevant) नही हैं यद्यपि उनका अस्तित्व होता है। इसका कारण यह है कि "परिभाषा द्वारा ये (बाह्य मितव्ययिताएँ) सभी फर्मों को समान रूप से प्रभावित करती हैं और इसलिए ये व्याख्या नही करती कि व्यक्तिगत फर्म का उत्पादन क्यो अपेक्षाकृत कम (उद्योग मे फर्मों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक), रहता है, जैसा कि उन्होंने केवल एक कारण दिया कि व्यक्तिगत फर्म की लागतें क्या बढ़ती हुई होनी चाहिए परन्तु इसका कारण नही दिया कि व्यक्तिगत फर्म की लागत उद्योग की लागतो की अपेक्षा क्या बढती हुई होनी चाहिए। अत अमितव्ययिताएँ आन्तरिक होनी चाहिए ताकि वे फर्म के आकार पर प्रतिबन्ध के कारण बता सकें।"[2]

अन्त मे पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्य करने वाली फर्म की सीमान्त लागतें दीर्घकाल मे बढ सकती हैं यदि कोई साधन ऐसा हो जिसकी पूर्ति दीर्घकाल मे भी स्थिर रहती है। इसके अतिरिक्त, यदि पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं को सुरक्षित रखना है तो इस प्रकार का स्थिर साधन ऐसा होना चाहिए कि "जिसकी पूर्ति फर्म के लिए स्थिर हो किन्तु उसकी पूर्ति उसी समय उद्योग के लिए लोचपूर्ण होनी चाहिए" ("Whose supply is fixed for the firm should at the same time have a flexible supply for the industry")[3] अनेक अर्थशास्त्रियो

1. *Op cit* p 40

2 *Op. cit* p 40

3 *Op cit* p 41

के अनुसार दीर्घकाल में भी व्यक्तिगत फर्म के लिए इस प्रकार के स्थिर साधन का अस्तित्व नहीं होता है। यह उद्यम या प्रबन्ध का साधन है जो एक फर्म में अकेला स्थिर साधन रहता है तथा सम्पूर्ण उद्योग के लिए परिवर्तनशील पूर्ति वाला भी होता है। जब सीमित योग्यता वाले उद्यमी की दी हुई स्थिर इकाई के साथ, उत्पादन में विस्तार करने के लिए अन्य साधनों में वृद्धि की जाती है तो परिवर्तनशील अनुपातों के नियम के कारण उन पर ह्रासमान प्रतिफल घटित होने लगते हैं तथा इसके परिणामस्वरूप उत्पादन के एक निश्चित स्तर के पश्चात् व्यक्तिगत फर्म की लागतें अवश्य बढ़ती हैं।

"अतः यह तथ्य, कि फर्म नियन्त्रण की एकमात्र इकाई के अन्तर्गत उत्पादन का सगठन है, स्वयं व्याख्या करता है कि बिना वर्धमान लागतों को प्राप्त किये एक निश्चित सीमा के पश्चात् वह क्यों विस्तार नहीं कर सकती है।"[1]

परन्तु प्रो० कैल्डर एक व्यक्तिगत फर्म में उद्यम की स्थिरता के कारण वर्धमान लागतों के तर्क को स्वीकार नहीं करते हैं तथा उसके द्वारा पूर्ण प्रतियोगिता तथा फर्म के दीर्घकालीन सन्तुलन को सगत सिद्ध करते हैं। वे उद्यम को एक अनेकार्थक साधन कहते हैं जिसके कम से कम तीन भिन्न अर्थ होते हैं। वे तर्क देते हैं कि "जो सामान्यतया "उद्यमी कार्य" कहलाता है, वह (1) जोखिम—या अनिश्चितता वहन या (2) प्रबन्ध जिसमें दो बातों का समावेश है (a) पर्यवेक्षण (b) समन्वय····· इन तीन कार्यों में से किसको दीर्घकाल में 'स्थिर पूर्ति' वाला समझा जा सकता है।"[2] अनिश्चितता वहन के सम्बन्ध में उनका विचार है कि व्यक्तिगत फर्म के लिए इसकी पूर्ति स्थिर नहीं हो सकती है, विशेषतया इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि निगमित या सगठित व्यवसाय या सयुक्त पूँजी कम्पनी में अनिश्चितता के वहन को बहुत बड़ी सख्या में शेयरहोल्डरों में प्रसारित करना सम्भव है।

जहाँ तक प्रबन्ध के पर्यवेक्षण भाग का सम्बन्ध है, फर्म अधिक सख्या में पर्यवेक्षकों को नियुक्त करके कार्यकुशलता की हानि के बिना (वर्धमान लागतों के बिना) विस्तार कर सकती है। जैसा कि वे कहते हैं "क्या कोई कारण है कि पर्यवेक्षकों (Foremen) तथा मनुष्यों दोनों को दुगुना करके उत्पादन को दुगुना करना क्यों सम्भव नहीं होना चाहिए। पर्यवेक्षकों की एक सेना ठीक उतनी ही कार्यकुशल हो सकती है (यदि इसमें समान योग्यता वाले मनुष्य सम्मिलित हैं) जितना कि एक अकेला पर्यवेक्षक" (Is there any reason why it should not be possible to double output by doubling both foremen and men ? An army of supervisors may be just as efficient (provided it consists of men of equal ability) as one supervisor alone ")[3]

परन्तु कैल्डर स्वीकार करते हैं कि एक व्यक्तिगत फर्म में समन्वयकारी तत्त्व एक स्थिर साधन है तथा इसके कारण लागत में वृद्धि हो सकती है तथा इस प्रकार फर्म के दीर्घकालीन सन्तुलन के निर्धार्य हल को सम्भव बनाती है। वे समन्वयकारी तत्त्व को प्रबन्ध के कार्य के आवश्यक भाग के रूप में स्वीकार करते हैं जो आर्थिक सामग्री के निरन्तर परिवर्तनों से उत्पादक सस्था के समायोजन के साथ विनियोग के विभिन्न क्षेत्रों में ससाधनों के आवटन से सम्बन्धित है।

वे आगे कहते हैं, "साधनों की पूर्ति में वृद्धि के साथ-साथ आप एक उद्यम को उपलब्ध समन्वयकारी योग्यता की पूर्ति में वृद्धि नहीं कर सकते क्योंकि समन्वय का अपरिहार्य लक्षण है कि प्रत्येक एकाकी निर्णय, अन्य सभी निर्मित या निर्मित होने वाले निर्णयों से तुलना के आधार पर किये जाने चाहिए। यह केवल एक मस्तिष्क से किया जाना चाहिए। वास्तव में इसका अभिप्राय यह नहीं है कि समन्वय का कार्य आवश्यक रूप से अकेले व्यक्ति पर ही पड़ना चाहिए। आधुनिक व्यवसाय सगठन में यह

1. *Ibid*, p. 42.
2. *Op. cit*, p. 42 (underlined mine)
3. *Ibid*, p 43

एक सम्पूर्ण निदेशक मण्डल द्वारा संयुक्त रूप में किया जा सकता है तथा निदेशक मण्डल को बृहत् करने के द्वारा उस उद्यम को उपलब्ध समन्वयकारी योग्यता की पूर्ति में वृद्धि करना एक निश्चित बिन्दु के बाद किसी भी दर पर सम्भव न होगा।[1] इस प्रकार कैल्डर स्वीकार करते है कि समन्वयकारी योग्यता एक स्थिर तथा अविभाज्य उत्पादन का साधन है। यह एक मात्र साधन है जो दीर्घकाल में फर्म के साथ दृढ़तापूर्वक सम्बन्धित होता है कहने का तात्पर्य कि इसके साथ जीवित रहता है तथा मर जाता है। इस कारण जिसका पारितोषिक सदैव कीमत द्वारा निर्धारित होता है" (It is the one factor which in the long run is rigidly attached to the firm who, *so to speak lives and dies with it, whose* remuneration, therefore, is always price-determined."[2]

कैल्डर के अनुसार लागत वक्र समन्वयकारी योग्यता की पूर्ति की स्थिरता द्वारा निर्धारित होता है परन्तु वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि यह विशिष्ट तथ्य, व्यक्तिगत फर्म के लागत फलन को अनिर्धार्य छोड़ देता है। इसका कारण यह है कि समन्वयकारी योग्यता अर्थात् समायोजन करने की योग्यता आवश्यक रूप से एक प्रावैगिक कार्य है जो फर्म को अद्वितीयता तथा निर्धार्यता प्रदान करती है "जो तब तक ही आवश्यक होती है जब तक कि समायोजन आवश्यक होते हैं तथा जिस सीमा तक वह आवश्यक होता है · ·· अंगीकार किये जाने वाले समायोजनों के परिमाण तथा आकृति पर निर्भर करता है।" यह सन्तुलन का नहीं, बल्कि असन्तुलन का आवश्यक रूप से एक लक्षण है। यह केवल तब तक आवश्यक होता है जब तक कि वास्तविक परिस्थिति सन्तुलन की परिस्थिति से विचलित नहीं होती है जिसमें कि फर्म विद्यमान होती है।"[3]

कैल्डर पुनः स्पष्ट करते हैं कि जब एक फर्म दी हुई सामग्री से उत्तरोत्तर समायोजन करती है तो आवश्यक रूप से किए जाने वाले अतिरिक्त समन्वयकारी कार्य क्रमशः कम होते जाते हैं जब तक कि दीर्घकालीन सन्तुलन की परिस्थिति में समन्वयकारी योग्यता की आवश्यकता समाप्त नहीं हो जाती है। सन्तुलन की दशा में केवल पर्यवेक्षण या देख भाल की ही आवश्यकता होती है जो कि उपयुक्त रूप से बढ़ाई जा सकती है और इसलिए इसके कारण कोई मितव्ययिताएँ उत्पन्न नहीं हो सकती हैं। चूँकि दीर्घकालीन सन्तुलन की परिस्थिति में समन्वयकारी योग्यता की आवश्यकता नहीं होती है, (इसलिए) व्यवसाय का आकार कितना भी बड़ा क्यों न हो इसका समान रूप से भली-भाँति प्रबन्ध किया जा सकता है। कैल्डर के अनुसार यह "व्यक्तिगत फर्म के तकनीकी रूप से अनुकूलतम आकार को अनिश्चित (या अनिर्धार्य) बनाता है।" इसका अर्थ होता है कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र एक क्षैतिज सरल रेखा होती है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दी हुई कीमत तथा स्थिर दीर्घकालीन औसत लागत के साथ फर्म अनिश्चित रूप से विस्तृत होने की प्रवृत्ति रखेगी। इस अनिश्चित वृद्धि के परिणामस्वरूप अंततः फर्म पदार्थ कीमत पर नियन्त्रण रखने लगेगी जिसका परिणाम पूर्ण प्रतियोगिता का विनाश होगा। यह फर्म के दीर्घकालीन सन्तुलन को अनिर्धार्य बनाता है। अतः कैल्डर निष्कर्ष निकालते हैं कि 'स्थैतिक मान्यता (आर्थिक सामग्री का दिया हुआ समूह) के अन्तर्गत फर्म के आकार में निरन्तर वृद्धि की प्रवृत्ति पायी जायगी। और इसलिए दीर्घकालीन स्थैतिक सन्तुलन तथा पूर्ण प्रतियोगिता असंगत मान्यताएँ हैं" ('Under Static assumption (i e a given constellation of economic data) there will be a continuous tendency for the size of the firm to grow and therefore *long period static equilibrium and perfect competition are incompatible assumptions*')

कैल्डर का उपर्युक्त विचार इस विश्वास पर आधारित है कि दिये हुए उत्पादन फलन तथा साधन-कीमतों से सम्बन्धित दिये हुए आर्थिक आँकड़ों से फर्म के लागत फलन को व्युत्पन्न नहीं किया जा सकता क्योंकि "सापेक्ष स्थिति, जो कि उस उत्पादन फलन

---
1 *Ibid*, p 43
2 *Ibid*, p 43
3 *Ibid*, p 44

मे 'समन्वयकारी योग्यता' नामक साधन ग्रहण करता है, सन्तुलन से स्वतन्त्र रूप से नही दी हुई है बल्कि स्वय सन्तुलन की समस्या का एक भाग है।"

निष्कर्ष—उपयुक्त विश्लेषण स यह स्पष्ट हो जाता है कि कैल्डर उद्यम तथा समन्वयकारी योग्यता के तत्त्व को एक विशिष्ट रूप म प्रयोग करने के द्वारा दीर्घकालीन लागत फलन को अनिर्धार्य बना देते है। उद्यमी तत्त्व का यह विशिष्ट व्यवहार सामान्यतया अधिकाश अर्थशास्त्रियो द्वारा स्वीकार नही किया जाता है। अधिकाश आधुनिक अर्थशास्त्रियो का विचार है कि प्रबन्ध की अविभाज्यताओ के कारण उत्पादन के एक निश्चित स्तर के पश्चात् एक फर्म का दीर्घकालीन लागत वक्र ऊपर की ओर चढता है। यह वर्धमान लागत वक्र पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ के अन्तर्गत कार्य करने वाली फर्म के आकार पर प्रतिबन्ध है और फर्म के दीर्घकालीन सन्तुलन को इसके अन्तर्गत सम्भव बनाता है।

वर्धमान प्रतिफल के साथ पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सन्तुलन की असगति पर स्राफा के विचार

(Sraffa on Incompatibility of Equilibrium under Perfect Competition with Increasing Returns)

आर्थिक सिद्धात म पूर्ण प्रतियोगिता की दशा के साथ वर्धमान प्रतिफल की सगति कठिन तथा विवाद-ग्रस्त विषय रही है। मार्शल विश्वास करते थे कि वर्धमान प्रतिफल के अन्तर्गत प्रतियोगी सन्तुलन सम्भव है अर्थात् जब फर्म तथा उद्योग ह्रासमान लागत की दशाएँ अनुभव कर रहे हैं। जबकि परम्परागत मूल्य सिद्धान्त मे प्रत्येक अन्य बातो के विषय मे पूर्ण सहमति तथा सामजस्य था किन्तु वर्धमान प्रतिफल के प्रसग मे प्रतियोगी सन्तुलन की सगति के विषय मे अनेक अर्थशास्त्रियो द्वारा सदेह उठाये जाते थे।[1]

इस प्रकार पीरो स्राफा, जिन्होने '*Economic Journal*'[2] 1926 मे 'प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रतिफल के नियम' नामक शीर्षक वाला मार्ग-मञ्जक लेख अर्थात् अत्यधिक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किया, लिखते हैं, 'प्रशान्त विचार, जिसको मूल्य का आधुनिक सिद्धान्त हमे प्रदान करता है मे एक काला धब्बा है जो समस्त विचार के सामजस्य को भग कर देता है। यह वर्धमान तथा ह्रासमान प्रतिफल के नियमो पर आधारित पूर्ति वक्र द्वारा व्यक्त होता है।" (In the tranquil view which the modern theory of value presents us there is one dark spot which disturbs the harmony of the whole This is represented by the supply curve based on the laws of increasing and diminishing returns)[3]

यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि स्राफा ने पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ के अन्तर्गत वर्धमान तथा ह्रासमान प्रतिफल दोनो की घटना को चुनौती दी तथा सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि यह स्थिर लागत (या स्थिर प्रतिफल) है जिनका पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ

---

1 यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि स्राफा के पूर्व भी ह्रासमान प्रतिफल विवाद का विषय था। 1922 में ज एच क्लैफम ने '*Economic Journal* म 'Of Empty Economic Boxes' नामक शीर्षक वाले प्रसिद्ध लेख म ह्रासमान तथा वर्धमान प्रतिफल के नियमो की आलोचना की। परन्तु क्लैफम ने इन नियमो की सैद्धान्तिक मान्यता को चुनौती नही दी। उन्होने वास्तविक ससार के उद्योगों को ह्रासमान प्रतिफल तथा वर्धमान प्रतिफल के लेबल लग हुए या चिह्नित आर्थिक सदूको म रखने की विशाल कठिनाइयो की ओर सकेत किया और इसलिए ये आर्थिक सदूक खाली रहते हैं। अन्य शब्दो में क्लैफम के अनुसार हम नही कह सकते कि वास्तविक ससार में कौन से विशिष्ट उद्योग किस नियम का सामना करते हैं या कौन से उद्योग किस स दूक में है इस सम्बन्ध में सम्पूर्ण वाद विवाद निम्न लेखों मे लिखित जो '*Readings in Price Theory*, AEA pp 119 142 मे पुनर्मुद्रित है। (1) J H Claphaum Of Empty Economic Boxes (2) A C Pigou, Empty Economic Boxes A Reply (3) D H Robertson, Those Empty Boxes

परन्तु पीरो स्राफा ने ह्रासमान तथा वर्धमान प्रतिफल के नियमों की सैद्धान्तिक सत्यता को चुनौती दी है।

2 This article has been reprinted in *Readings in Price Theory*, AEA पृष्ट सख्याओ का हवाला इस पुस्तक से दिया जायेगा।

3 *Op cit*

के अन्तर्गत तथा आंशिक (partial) सन्तुलन सिद्धांत के ढांचे मे, जिससे मार्शल सम्बन्धित थे, सत्यतापूर्वक प्रचलित होने वाला माना जा सकता है। वास्तव में साफा ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यताओं के साथ व्यक्तिगत फर्म का सन्तुलन असगत है। अन्य शब्दों मे, उन्होंने प्रदर्शित किया कि पूर्ण रूप से प्रतियोगी मान्यताओं के दी हुई होने पर फर्म सन्तुलन की परिस्थिति को प्राप्त किये बिना निरन्तर विस्तृत होती जायगी। उनके अनुसार यह ह्रासमान प्रतिफल की घटना के अन्तर्गत था जिसके कारण इकाई लागत या सीमान्त लागत बढ़ती है ताकि व्यक्तिगत फर्म को पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं के अन्तर्गत निर्धार्य सन्तुलन की स्थिति मे प्रदर्शित किया जा सके। ह्रासमान प्रतिफल के अन्तर्गत फर्म उस बिन्दु तक अपने आकार या उत्पादन मे विस्तार करती है जहाँ कि वर्धमान इकाई या सीमान्त लागत, दी हुई स्थिर कीमत के बराबर हो जाती है।

परन्तु साफा ने आंशिक सन्तुलन सिद्धान्त के प्रसग मे पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत ह्रासमान प्रतिफल या वर्धमान इकाई लागतों को चुनौती दी जिसमें कि एक वस्तु की मांग तथा पूर्ति की दशाएँ, अन्य वस्तुओं की मांग तथा पूर्ति की दशाओं मे स्वतन्त्र मानी जाती हैं। इस प्रकार वे तर्क देते है

"ह्रासमान प्रतिफल के सम्बन्ध मे, वास्तव में, यदि विशेष वस्तु के उत्पादन मे एक ऐसे साधन का महत्वपूर्ण भाग नियुक्त किया जाता है जिसकी सम्पूर्ण मात्रा स्थिर है अथवा अनुपात से अधिक लागत पर बढ़ायी जा सकती है तो वस्तु के उत्पादन में थोड़ी वृद्धि के लिए उस साधन के अपेक्षाकृत अधिक (मात्रा मे) उपयोग की आवश्यकता होगी और यह विचारगत वस्तु की लागत तथा अन्य वस्तुओं की लागत, जिनके उत्पादन मे वह साधन प्रयुक्त होता है, को समान रूप से प्रभावित करेगा और चूंकि जिन वस्तुओं के उत्पादन में एक सामान्य विशिष्ट साधन प्रयुक्त होता है, प्राय कुछ सीमा तक एक दूसरे की स्थानापन्न होती हैं .. अत उनकी कीमतों मे सशोधन सम्बन्धित उद्योग मे मांग पर महत्वपूर्ण प्रभावों के बिना नहीं होगा।"[1]

स्थानापन्नों की कीमता म वृद्धि तथा इसके परिणामस्वरूप विचारगत वस्तु जिसके उत्पादन को प्रथमत बढ़ाया गया है, की मांग पर प्रभाव विशिष्ट सन्तुलन सिद्धान्त के ढांचे को भग कर देता है जो, जैसा कि ऊपर कहा गया है, विभिन्न वस्तुओं की मांग तथा पूर्ति की दशाओं की स्वतन्त्रता की कल्पना करता है। केवल यदि एक उद्योग 'स्थिर साधन" का थोड़ा भाग प्रयुक्त करता है तो उस उद्योग का न्यून विस्तार तथा परिणामस्वरूप साधन की मांग मे थोड़ी वृद्धि साधन की कीमत को व्यावहारिक रूप मे अप्रभावित छोड़ देगी और यदि दिये हुए उद्योग का न्यून विस्तार अन्य उद्योगों मे स्थिर साधन की सीमान्त मात्राओं को खींचते हुए होता है और इसलिए यदि उस साधन के कारण भी लागतें बढ़ती है तो उस साधन का प्रयोग करने वाले सभी उद्योगों की लागत मे वृद्धि होगी। अत साफा के अनुसार, 'पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत आंशिक सन्तुलन विश्लेषण को भग किये बिना वस्तु के उत्पादन मे वृद्धि के साथ इकाई या सीमान्त लागत वक्र के ऊपर चढ़ने का कारण जानना कठिन है।" इस प्रकार वे निष्कर्ष निकालते है, 'ह्रासमान प्रतिफल अर्थात् उत्पादन मे वृद्धि के साथ (प्रति इकाई या सीमान्त लागतों मे वृद्धि) का प्रभावशाली ढांचा केवल वस्तुओं के उस सूक्ष्म वर्ग के अध्ययन के लिए प्राप्य है जिनके उत्पादन मे एक उत्पादन के साधन की सम्पूर्ण मात्रा नियुक्त की जाती है।"[2]

इस प्रकार साफा के विचार मे, पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं के अन्तर्गत अधिकांश वस्तुओं के सम्बन्ध मे ह्रासमान प्रतिफल अथवा वर्धमान इकाई तथा सीमान्त लागतें प्रचलित नहीं होती है। अब जैसा कि ऊपर

---

1 *Op cit* p 184-85

2. *Ibid*, p. 185, (कोष्टक का वाक्य मेरे द्वारा जोड़ा गया है) यह ध्यान देने योग्य है कि साफा ने जिस समय लेख लिखा, सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय के विचार विकसित नहीं थे। तथापि उनका तर्क अप्रभावित रहता है चाहे हम इकाई लागत या सीमान्त लागत का प्रयोग करें।

देखा गया, जब प्रति इकाई लागत या सीमान्त लागत नही बढती है तो पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म सन्तुलन मे नही हो सकती है क्योकि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म को सन्तुलन मे होने के लिए इकाई या सीमान्त लागत वर्धमान होनी चाहिए ।

स्राफा ने वर्धमान प्रतिफल अर्थात् ह्रासमान इकाई या सीमान्त लागत वक्र की भी आलोचना की । इसमे सन्देह नही जैसाकि स्राफा सकेत करते है कि मार्शल तथा पीगू ने समझा कि पैमाने की आन्तरिक मितव्ययिताओ के कारण वर्धमान प्रतिफल पूर्ण प्रतियोगिताओं के साथ सगत नही थे । फर्म के उत्पादन के पैमाने मे वृद्धि के कारण आन्तरिक मितव्ययिताओ से अथवा अधिक सख्या मे पदार्थ की इकाइयो पर उपरिव्यय (Overhead Charges) को वितरित करने की सम्भावना से लागत मे कमी को प्रतियोगी दशाओ से असगत होने के कारण अस्वीकार कर दिया जाना चाहिए" ("reduction in cost connected with an increase in a firm's scale of production arising from internal economies or from the possibility of distributing the overhead charges over a large number of product units must be put aside as being incompatible with competitive conditions") अत फर्म की इकाई लागतो मे जो कमी पूर्ण प्रतियोगिता के साथ सगत होती है वे बाह्य मितव्ययिताओ अर्थात् फर्म के पैमाने मे वृद्धि से बाहर की शक्तियो से उत्पन्न होने वाली मितव्ययिताओ से उत्पन्न होती हैं ।[1]

किन्तु स्राफा का दृढतापूर्वक कहना है कि इस प्रकार की उत्पन्न होने वाली बाह्य मितव्ययिताएँ समग्र रूप मे सामान्य औद्योगिक वृद्धि का परिणाम है जो किसी विशिष्ट वस्तु की कीमत तथा पूर्ति के निर्धारण के विशिष्ट सन्तुलन विश्लेषण के उद्देश्य के लिए अप्रासगिक हैं । इसके अतिरिक्त, उनके अनुसार जो मितव्ययिताएँ फर्म की बाह्य तथा किसी दिए हुए विशिष्ट उद्योग की आन्तरिक होती हैं वे वास्तविक व्यवहार मे बहुत कम पाई जाती हैं । उन्हे उद्धृत करते हुए, "औद्योगिक वातावरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली बाह्य मितव्ययिताओ के कारण लागत मे कमी, जिसका मार्शल उल्लेख करते हैं (Principle V xi) की वास्तव मे उपेक्षा कर दी जानी चाहिए क्योकि वे वस्तु के आशिक सन्तुलन की दशाओ से स्पष्ट रूप मे असगत हैं । वे मितव्ययिताएँ, जो कि व्यक्तिगत फर्म के दृष्टिकोण से बाह्य हैं किन्तु समस्त उद्योग के दृष्टिकोण से आन्तरिक हैं, निश्चित रूप से उस वर्ग का निर्माण करती हैं जिसे बहुत कम मात्रा मे पाया जाता है ।"[2] यदि कुछ ऐसी मितव्ययिताएँ है जो फर्म के लिए बाह्य परन्तु व्यक्तिगत उद्योग के लिए आन्तरिक है, वास्तविक जगत् मे विद्यमान भी हैं तो स्राफा के अनुसार उत्पादन मे न्यून वृद्धियो से उनके उत्पन्न होने की सम्भावना नही है । वे निष्कर्ष निकालते है कि "ह्रासमान लागत (वर्धमान प्रतिफल) प्रदर्शित करने वाले पूर्ति वक्र अपने विपरीत की अपेक्षा अधिक सख्या मे नही पाये जाते हैं ।'

स्राफा के उपर्युक्त तर्क से दो बाते स्पष्ट होती हैं . प्रथम, ह्रासमान तथा वर्धमान प्रतिफल तथा उन पर आधारित पूर्ति की गयी मात्रा अथवा उत्पादन के विभिन्न स्तरो पर भिन्न-भिन्न लागतो को प्रदर्शित करने वाले उद्योग तथा फर्म के पूर्ति वक्र पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत अधिकाँश उद्योगो पर लागू नही होते हैं । पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत उत्पादन मे परिवर्तन के कारण इकाई लागत मे परिवर्तन कुछ अपवाद स्वरूप उद्योगो मे ही पाये जा सकते हैं । अत उनका विचार है कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ के अन्तर्गत उत्पादित अधिकाँश वस्तुओ की दशा मे प्रति

1. *Ibid*, p. 185-86

2 मार्शल ने स्वयं अपनी पुस्तक *Industry and Trade* p 198 में लिखा, "बड़े पैमाने पर उत्पादन की मितव्ययिताएँ केवल किसी एक उद्योग द्वारा बहुत कम उत्पन्न की जा सकती हैं । अधिकांशतया वे समूह, प्राय सहसम्बन्धित उद्योगों के बड़े समूहो से सम्बन्धित होती हैं ।"

इकाई लागत अवश्य स्थिर रहनी चाहिए तथा इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत इकाई लागत वक्र तथा इसलिए फर्म एव उद्योग का पूर्ति वक्र क्षैतिज सरल रेखा होनी चाहिए जैसा कि रेखाकृति 22 4 मे *LRS* वक्र द्वारा प्रदर्शित है। उत्पादन की इकाई लागत के स्तर पर उद्योग का दीर्घकालीन लागत वक्र खीचा गया है। पूर्ति वक्र के क्षैतिज सरल रेखा होने पर दीर्घकाल में स्थिर कीमत होगी जो उत्पादन तथा माँग के किसी भी स्तर पर उत्पादन की इकाई लागत के बराबर होगी, जैसाकि रेखाकृति 22 4 मे देखा जा सकता है।
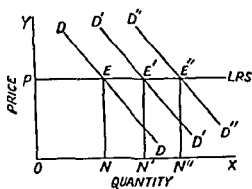
रेखाकृति 22 4

इस रेखाकृति मे *OP* कीमत, जो कि उत्पादन की इकाई लागत के बराबर है, माँग तथा पूर्ति वक्रो के प्रतिच्छेद द्वारा निर्धारित होती है। चूँकि इस दशा मे उत्पादन मे परिवर्तन के साथ लागत मे परिवर्तन नही होता है। अत दी हुई स्थिर लागत पर किसी भी माँगे गये उत्पादन को उत्पादित किया जा सकता है तथा पूर्ति की जा सकती है। उन्हे उद्धृत करते हुए—"सामान्य दशाओ मे, प्रतियोगी रूप से उत्पादित वस्तुओ की उत्पादन लागत को उत्पादित मात्रा मे न्यून परिवर्तन के सम्बन्ध मे स्थिर समझा जाना चाहिए क्योकि हमे उन कारणो पर विचार करने का अधिकार नही है जो कि इसमे वृद्धि अथवा कमी कर सकते है। और इसलिए प्रतियोगी मूल्यों की समस्या का विश्लेषण करने का प्राचीन सिद्धान्त ही उपलब्ध सर्वोत्तम सिद्धान्त प्रतीत होता है जो कीमत को उत्पादन लागत पर आधारित करता है।"[1]

द्वितीय, साफा के तर्क से यह तात्पर्य निकलता है कि *पदार्थ तथा साधन की कीमत स्थिर रहने पर पूर्ण* प्रतियोगिता की दशाओ के अन्तर्गत व्यक्तिगत फर्म सन्तुलन मे नही हो सकती है। इसका कारण यह है कि इन दशाओ मे व्यक्तिगत फर्म के माँग वक्र तथा इकाई लागत वक्र क्षैतिज रेखाएँ होगी और, जैसा कि रेखाकृति 22 4 मे प्रदर्शित किया गया है, फर्म के लिए बिना किसी निर्णायक सन्तुलन की दशा को प्राप्त किए हुए अनिश्चित रूप से विस्तार करते जाना लाभदायक होगा। जैसा कि हम पहले विवेचन कर चुके है, चाहे यह स्थिर लागत (स्थिर प्रतिफल) हो अथवा ह्रासमान लागत (वर्धमान प्रतिफल), पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ के *अन्तर्गत फर्म सन्तुलन मे नही हो सकती तथा* निरन्तर अनिश्चित रूप मे बढती जाएगी। जैसा कि पहले व्याख्या की जा चुकी है, कि एक फर्म का यह विस्तार अन्तत पूर्ण प्रतियोगिता के विनाश तथा एकाधिकार अथवा अल्पाधिकार की स्थापना के रूप मे परिणत होगा।

अब तक हम साफा के लेख के विनाशकारी भाग से सम्बन्धित रहे हैं। इस भाग मे साफा ने ह्रासमान तथा वर्धमान प्रतिफल के दोनो नियमो को नष्ट किया तथा सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि आंशिक सन्तुलन विश्लेषण के पूर्ण प्रतियोगिता प्रतिदर्श (model) की कल्पित दशाओ के अन्तर्गत ये दोनो नियम कार्यशील नही हो सकते है। यह ध्यान देने योग्य है कि साफा ने वर्धमान प्रतिफल (तथा ह्रासमान प्रतिफल की भी) की वास्तविक जगत् मे घटना (occurrence) पर मत-

1. *Ibid*, p 186 87. यहाँ अवधेय है कि मूल्य के *प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार एक वस्तु की कीमत उत्पादन लागत* द्वारा निर्धारित की जाती है। स्थिर लागत दशा (दीर्घकालीन क्षैतिज पूर्ति वक्र, जैसा कि रेखाकृति 22 4 में LRS वक्र द्वारा प्रदर्शित है), में कीमत निर्धारक तत्त्व के रूप में माँग महत्त्वहीन हो जाती है क्योंकि माँग का चाहे जो भी स्तर हो, दीर्घकालीन कीमत अप्रभावित रहती है।

भेद नहीं किया। वास्तव में उन्होंने संकेत किया कि वास्तविक जगत् में अनेक फर्में तथा उद्योग वर्धमान प्रतिफल (ह्रासमान लागत) का अनुभव करते हैं। वास्तव में जिस पर उन्होंने मतभेद किया वह आंशिक सन्तुलन सिद्धान्त के प्रसंग में पूर्ण प्रतियोगिता के सैद्धान्तिक मॉडल में इनकी (प्रतिफल के नियमों की) घटना थी। अब हम साफा के लेख के द्वितीय रचनात्मक भाग का विवेचन करेंगे जिसमें उन्होंने वास्तविक जगत् की परिस्थिति का परीक्षण किया तथा इसे सिद्धान्त के साथ संगत बनाने का प्रयत्न किया।

मार्शल का असमंजस तथा साफा का हल (Marshall's Dilemma and Sraffa's Solution)

अपने लेख के द्वितीय भाग में तथा ह्रासमान लागत (वर्धमान प्रतिफल) की दशाओं के अन्तर्गत फर्म के आकार में अत्यधिक वृद्धि में बाधा डालने वाले कारणों की व्याख्या करने के प्रसंग में साफा ने मूल्य सिद्धान्त में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

इस भाग में उन्होंने सर्वप्रथम मार्शल के असमंजस (Dilemma) को प्रतिपादित किया जो स्वयं 'साफा के असमंजस' के रूप में भी जाना जाता है। प्रो० शैकिल मार्शल अथवा साफा के असमंजस को निम्न प्रकार कहते हैं, 'पूर्ण प्रतियोगिता वह कार्यदशा है जिसमें व्यक्तिगत फर्म एक कीमत पर 'जितना अधिक चाहे उतना" बेच सकती है जो कि बाजार इस फर्म के उत्पादन से स्वतन्त्र रूप में निर्धारित करता है। यदि फर्म के अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन पर पदार्थ की प्रति इकाई लागत अपेक्षाकृत कम होती है, तो फर्म के अनिश्चित विस्तार को रोकने के लिए क्या है। परन्तु यदि फर्म अनिश्चित रूप से विस्तृत होती है और इस प्रकार सम्पूर्ण बाजार को आत्मसात कर लेती है तो पूर्ण प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है।" "Perfect competition is the state of affairs where the individual firm can sell, "as much as it likes" at a price which the market determines independently of this firm's output If at each larger output the firm's cost of production per unit of product is lower, what is there to prevent the firm's indefinite expansion ! But if the firm expands indefinitely and thus swallows the market, where is perfect competition '[1]

अपने लेख के द्वितीय भाग में साफा ने मार्शल के उपर्युक्त असमंजस का हल प्रस्तुत किया। मार्शल के असमंजस का हल प्रस्तुत करते हुए साफा ने अपूर्ण प्रतियोगिता सिद्धान्त की आधारशिला रखी जो कि बाद में श्रीमती जोन राबिन्सन तथा ई० एच० चैम्बरलिन[2] द्वारा पुनः विकसित तथा परिष्कृत किया गया। अतः यह साफा के लेख का द्वितीय रचनात्मक भाग है जिसके लिए वे अधिक प्रसिद्ध तथा प्रायः उद्धृत किए जाते हैं।

वर्धमान प्रतिफल (ह्रासमान लागत) की दशाओं के अन्तर्गत पूर्ण प्रतियोगिता के साथ फर्म के सन्तुलन की असंगति को सिद्ध कर देने के पश्चात् साफा यह सुझाव देते हुए अपने द्वितीय भाग को आरम्भ करते हैं कि "अतः स्वतन्त्र प्रतियोगिता के मार्ग को त्याग देना तथा विपरीत दिशा अर्थात् एकाधिकार की ओर मुड़ना आवश्यक है।" साफा के पूर्व पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार को उनके मध्य किसी भी बाजार परिस्थिति के बिना दो विपरीत चरम दशाएँ समझा जाता था। इसके अतिरिक्त यह भी समझा जाता था कि वास्तविक जगत् में पूर्ण प्रतियोगिता अधिकांश बाजार परिस्थितियों को प्रदर्शित करती है जबकि एकाधिकार अपवादस्वरूप दशाओं को प्रदर्शित करता था।

1. Shackle, *Years of High Theory*

2 चेम्बरलिन अपने एकाधिकारिक प्रतियोगिता सिद्धान्त को साफा के लेख को देखने का अवसर प्राप्त करने के बिना विकसित करने का दावा करते हैं जबकि श्रीमती जोन राबिन्सन अपूर्ण प्रतियोगिता सिद्धान्त में साफा के महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए आभार प्रकट करती हैं तथा कहती हैं कि उन्होंने साफा के लेख से अपने (सिद्धान्त को) विकसित करते समय प्रेरणा प्राप्त किया।

एकाधिकारिक कीमत के सिद्धान्त में यह समझा जाता था कि एकाधिकारी का माँग वक्र नीचे की ओर गिरता हुआ होता है और इसलिए वह अपने पदार्थ की बाजार कीमत को उत्पादन स्तर में परिवर्तन करके प्रभावित कर सकता है। एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत निर्धारण तथा उत्पादन सन्तुलन ने इस दृष्टिकोण में स्राफा ने सुझाव दिया कि हमें पूर्ण प्रतियोगिता प्रतिदर्श को त्याग देना चाहिए तथा एकाधिकार प्रतिदर्श की दशा के आधार पर कीमत सिद्धान्त को निर्मित करके इसका वास्तविक जगत् में ह्रासमान लागत के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का हल प्राप्त करना चाहिए। उन्होंने संकेत किया कि वास्तविक जगत् में ह्रासमान लागतों की दशा के अन्तर्गत कार्य करती हुई फर्म अनिश्चित रूप से विस्तृत नहीं हो सकती क्योंकि उनका सामना करने वाला माँग वक्र नीचे की ओर गिरता हुआ होता है अर्थात् उत्पादन में विस्तार के साथ एक पदार्थ की कीमत गिरती है और इसलिए एक बिंदु के पश्चात् यह प्रति इकाई लागत जो गिरती हुई हो सकती है, की अपेक्षा भी कम हो सकती है। इस प्रकार यह बाह्य तत्त्व—माँग या पदार्थ की गिरती हुई कीमत है जो वास्तविक जगत् में वर्धमान प्रतिफल (ह्रासमान लागत) की दशाओं के अन्तर्गत कार्य करने वाली फर्म की वृद्धि पर एक प्रतिबन्ध रखती है न कि कोई आन्तरिक तत्त्व जो कि वर्धमान उत्पादन लागत को उत्पन्न कर सके। हम नीचे उनके लेख से एक महत्त्वपूर्ण परिच्छेद उद्धृत करते हैं जिसमें वे गिरते हुए माँग वक्र के साथ ह्रासमान लागतों के अन्तर्गत फर्म के सन्तुलन की व्याख्या करते हैं

"प्रतिदिन का अनुभव प्रदर्शित करता है कि उपक्रमों (undertakings) की एक बड़ी संख्या और अधिकांशतः वे जो विनिर्मित उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, व्यक्तिगत ह्रासमान लागतों के अन्तर्गत कार्य करते हैं। इस प्रकार की वस्तुओं का कोई भी उत्पादक अपने व्यवसाय को बहुत अधिक बढ़ा सकेगा यदि उन्हें उत्पादित करने के अतिरिक्त अन्य किसी कठिनाई के बिना प्रचलित कीमत पर बाजार में पदार्थ की कोई भी मात्रा विक्रय कर सकता है। (Almost any producer of such goods, if he could rely upon the market in which he sells his product being prepared to take any quantity of them from him at current price, without any trouble on his part except that of producing them, would extend his business enormously) स्राफा के अनुसार जो व्यवसायी स्वयं को प्रतियोगी दशाओं के अधीन मानते हैं, वे इस दृढ़ कथन को महत्त्वहीन समझेंगे कि उनके उत्पादन की सीमा उनकी फर्म में उत्पादन की आन्तरिक दशा द्वारा निर्धारित होती है जो लागत में वृद्धि के बिना अधिक मात्रा में उत्पादन की अनुमति प्रदान नहीं करते हैं। प्रमुख बाधा, जिसके विरुद्ध उन्हें लड़ना पड़ता है जबकि वे अपने उत्पादन में धीरे धीरे वृद्धि करना चाहते हैं, उत्पादन लागत में स्थित नहीं होती—जो वास्तव में सामान्यतया उन्हें उस दिशा में समर्थन करती है—वरन् बिना बढ़े हुए विक्रय करने के व्यय का सामना किए हुए या कीमत में कमी किए बिना वस्तु की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा को बेचने की कठिनाई में निहित होती है। किसी के स्वयं के पदार्थ की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा बेचने के लिए कीमतों को कम करने की आवश्यकता सामान्यतया अवरोही माँग वक्र का एक पहलू है, जिसमें केवल यही अन्तर होता है कि एक वस्तु के सम्पूर्ण से सम्बन्धित होने के बजाय यह एक विशेष फर्म द्वारा उत्पादित वस्तुओं से ही सम्बन्धित होता है इसका मूलबिंदु चाहे जो भी हो।"

स्राफा आगे व्याख्या करते जाते हैं कि वास्तविक जगत् में पूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित नहीं होती क्योंकि विभिन्न उपभोक्ता कुछ फर्मों के पदार्थों के लिए अन्य की अपेक्षा अधिमान प्रदर्शित करते हैं। एक विशिष्ट फर्म से कुछ उपभोक्ताओं का लगाव प्रतियोगिता को अपूर्ण बना देता है तथा नीचे की ओर गिरते हुए माँग वक्र का भी निर्माण करता है। इस प्रकार का माँग वक्र फर्म को पदार्थ की कीमत को प्रभावित करने के लिए योग्य बनाता है। यह ह्रासमान लागतों की दशाओं के अन्तर्गत कार्य करने वाली फर्मों के भी

निर्धार्य सन्तुलन को सम्भव बनाता है। साफा को पुनः उद्धृत करते हुए —

"प्रमुख बाधा, जो प्रतियोगिता की स्वतन्त्र क्रिया को रोकती है तथा जो प्रत्येक व्यक्तिगत फर्म के पदार्थ का पूर्ति वक्र अवरोही (descending) होने पर भी स्थिर सन्तुलन को सम्भव बनाती है ······। विभिन्न उत्पादकों की वस्तुओं के मध्य क्रेताओं मे अनधिमान की अनुपस्थिति ही है। एक विशिष्ट फर्म के लिए क्रेताओं के किसी समूह द्वारा प्रदर्शित अधिमानों के कारण अत्यधिक विविध प्रकार के होते हैं तथा दीर्घ रीति-रिवाज, व्यक्तिगत परिचय, पदार्थ के गुण मे विश्वास, सन्निकटता (proximity), से लेकर विशिष्ट आवश्यकताओं का ज्ञान तथा उधार प्राप्त करने की सुविधा से लेकर, ट्रेड मार्क की ख्याति, या चिन्ह या उच्च परम्पराओं सहित नाम या पदार्थ के डिजायन या माडल जैसे विशेष लक्षण, विशिष्ट आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के उद्देश्य से भिन्न वस्तु बनाये बिना भी उनका प्रमुख उद्देश्य अन्य फर्मों के पदार्थों से उसे विभेद करना है।"[1]

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि साफा ने पूर्ण प्रतियोगिता सिद्धान्त के दो पहलुओं को चुनौती दी। प्रथम, उन्होंने व्याख्या की कि एक व्यक्तिगत फर्म के लिए कीमत दी हुई तथा स्थिर सामग्री नहीं है वरन् यद्यपि फर्म अन्य प्रतिद्वन्द्वी फर्मों से अत्यधिक प्रतियोगिता का सामना करती है फिर भी वह अपने पदार्थ की कीमत को प्रभावित करती है। अधिक बेचने के लिए इसे कीमत मे कमी करनी पड़ती है। इसका अर्थ होता है कि इसका मांग वक्र नीचे की ओर गिरता हुआ होता है। द्वितीय, पूर्ण प्रतियोगिता की आवश्यकता है कि फर्म को आवश्यक रूप से वर्धमान लागतों (ह्रासमान प्रतिफल) के अन्तर्गत क्रियाशील होना चाहिए। साफा ने इसे अवास्तविक कह कर इसकी आलोचना की। ह्रासमान लागतों के प्रसग मे, जो कि वास्तव मे वास्तविक जगत् मे प्रचलित होती हैं, पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का सतुलन अनिर्धार्य है। जैसा कि ऊपर कहा गया, साफा ने फर्म के मांग वक्र को नीचे की ओर गिरता हुआ प्रदर्शित करके फर्म के निर्धार्य सन्तुलन को सम्भव बनाया और यह निर्धार्य सन्तुलन की स्थापना को सम्भव बनाता है।

जैसा कि ऊपर दिये हुए उद्धरण से स्पष्ट होता है कि साफा ने उन सभी प्राकृतिक तथा बनावटी परिस्थितियों तथा कारणों जैसे पदार्थ के गुण मे अन्तर, स्थिति मे अन्तर, वस्तुओं को उधार पर प्राप्त करने की सुलभता मे अन्तर, ट्रेड मार्क, व्यापार नाम, विभिन्न फर्मों के पदार्थ की डिजायन अथवा माडल बनाने मे अन्तर का सकेत किया जो "क्रेताओं के एक समूह की अन्य किसी फर्म के बजाय किसी विशेष फर्म से वस्तु प्राप्त करने के लिए, आवश्यकता पड़ने पर कुछ अतिरिक्त भुगतान करने की इच्छा की व्याख्या करती है।"[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रतियोगिता की अपूर्णता के कारण के रूप मे साफा ने पदार्थ विभेदीकरण को स्पष्ट रूप मे व्यक्त किया जिस पर चैम्बरलिन ने अधिक बल दिया है। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार, पदार्थ विभेदीकरण के कारण अन्य फर्मों की अपेक्षा एक फर्म के पदार्थ का अधिमान तथा परिणामस्वरूप एक पदार्थ के लिए किसी क्रेता की कुछ अधिक कीमत भुगतान करने की इच्छा, एक फर्म के मांग वक्र की मूल्यसापेक्षता मे, प्रासंगिक क्षेत्र पर स्वय को स्पष्ट करती है। पूर्ण प्रतियोगिता के विपरीत उपर्युक्त पदार्थ विभेदीकरण के कारण एक फर्म के मांग वक्र की मूल्यसापेक्षता अनन्त से कम होती है। इसके अतिरिक्त, साफा ने सर्वप्रथम फर्म के पदार्थ के लिए मांग की मूल्यसापेक्षता को दी हुई अपूर्ण बाजार परिस्थिति मे निहित एकाधिकारी शक्ति के मापदण्ड के रूप मे विचार किया। वे इस प्रकार लिखते हैं, "हम देखते हैं कि अधिकांश परिस्थितियाँ, जो एकाधिकारी की शक्ति को प्रभावित

1. *Op cit* p. 190-91

2. *Op. cit* p 191

करती है ' ···एकाधिकारी वस्तुओं के मांग वक्र की मूल्यसापेक्षता को आवश्यक रूप से प्रभावित करके अपना प्रभाव डालती हैं। जो भी कारण हों, यह स्वतन्त्रता के अंश का अनुमान करने में एक मात्र *निर्णायक तत्त्व है जिसका कि एकाधिकारी कीमत* निर्धारित करने में ध्यान रखता है उसके पदार्थ की मांग जितनी ही कम मूल्यसापेक्ष होगी, अपने बाजार पर उसका नियन्त्रण *उतना ही अधिक होगा।* इसलिए ज्योंही यह मूल्यसापेक्षता बढ़ती है, प्रतियोगिता स्वयं अनुभव होना प्रारम्भ हो जाती है तथा मूल्य-सापेक्षता में वृद्धि के साथ तब तक निरन्तर तीव्र होती जाती है जब तक कि किसी व्यक्तिगत उपक्रम के पदार्थ के मांग की पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था के अनुरूप अनन्त मूल्यसापेक्षता नहीं हो जाती है। मध्यस्थ दशाओं में मांग की साधारण कीमत सापेक्षता का महत्त्व यह है। यद्यपि एकाधिकारी कीमत निर्धारित करने में निश्चित स्वतन्त्रता रखता है किन्तु जब भी वह उनमें वृद्धि करता है, वह अपने क्रेताओं के उस भाग से त्याग दिया जाता है जो अपनी आय को कुछ अन्य प्रकार से व्यय करने को अधिमान प्रदान करते हैं।[1]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि फर्म के सन्तुलन की सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत की *सहायता से व्याख्या करने को छोड़कर साफा ने अपूर्ण* प्रतियोगिता या एकाधिकारिक प्रतियोगिता सिद्धान्त के सभी महत्त्वपूर्ण लक्षणों की व्याख्या की। वास्तव में, यह कीमत सिद्धान्त में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी योगदान है।

साफा के सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय है। साफा ने मार्शल के असमंजस को पूर्ण प्रतियोगिता के साथ वास्तविक जगत् में ह्रासमान लागतों के सामञ्जस्य के उपाय को प्रदर्शित करके नहीं वरन् व्यक्तिगत फर्म के क्षैतिज मांग वक्र वाले पूर्ण प्रतियोगिता प्रतिदर्श को त्याग करके हल किया। इसके बजाय उन्होंने व्यक्तिगत फर्म के नीचे की ओर गिरते हुए मांग वक्र वाले अपूर्ण प्रतियोगिता प्रतिदर्श को स्वीकार किया। इस प्रकार उन्होंने ह्रासमान लागतों (वर्धमान प्रतिफल) का सामञ्जस्य अपूर्ण प्रतियोगिता के साथ किया जो उनके विचार में वास्तविक जगत् में *प्रचलित थी।*

साफा के विश्लेषण पर टीका-टिप्पणी (Comments over Sraffa's Analysis)

हमने ऊपर साफा के मौलिक लेख के दो भागों —विनाशात्मक तथा रचनात्मक भागों—की व्याख्या की है। जहाँ तक साफा के द्वितीय—रचनात्मक भाग का सम्बन्ध है, अपूर्ण प्रतियोगिता सिद्धान्त की आवश्यकता तथा आधार तैयार करने के लिए कीमत सिद्धान्त में उनके महत्त्वपूर्ण योगदान के विषय में कोई सन्देह नहीं है।

इसके अतिरिक्त वे यह दावा करने में भी उचित हैं कि यह मांग या कीमत में कमी किए बिना अपेक्षाकृत अधिक बेचने में कठिनाई है जो अन्त में फर्म के विस्तार पर प्रतिबन्ध रखती है तथा इस प्रकार वास्तविक जगत की ह्रासमान लागत दशा का आर्थिक *सिद्धान्त के साथ सामंजस्य स्थापित करती है।*

क्या ह्रासमान प्रतिफल पूर्ण प्रतियोगिता के साथ असंगत है? (Is Diminishing Returns incompatible with *Perfect Competition* ?)

परन्तु उनके लेख का विनाशकारी भाग, अर्थात यह कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत ह्रासमान प्रतिफल (वर्धमान लागत) *तथा वर्धमान प्रतिफल* (ह्रासमान लागत) दोनों क्रियाशील नहीं हो सकते और इसलिए आंशिक सन्तुलन सिद्धान्त के प्रसंग में प्रतियोगिता के अन्तर्गत स्थिर लागत या प्रतिफल की दशा ही एक मात्र मान्य उक्ति (Proposition) है, को सामान्यतया स्वीकार नहीं किया जाता है। जैसा कि ऊपर व्याख्या की गयी है, स्थिर लागत दशा के साथ फर्म निर्धार्य सन्तुलन की दशा में नहीं हो सकती है। साफा के लेख का यह प्रथम विनाशकारी भाग आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त के दृष्टिकोण से संदेहास्पद है। आंशिक सन्तुलन विश्लेषण की पूर्ण *प्रतियोगिता* में फर्म तथा उद्योग दोनों की दशा

1. *Op cit* p 191-92

में ह्रासमान प्रतिफल या वर्धमान लागत समान रूप में मान्य विचार समझा जाता है। बड़े पैमाने के उत्पादन की प्रबन्ध सम्बन्धी अमितव्ययिताओं (diseconomies of management) के कारण एक निश्चित उत्पादन स्तर के पश्चात् पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का दीर्घकालीन लागत वक्र बढ़ने लगता है। स्टोनियर तथा हेग उचित ही लिखते हैं, 'फर्म के प्रबन्ध का उतनी कुशलता से दिये हुए उत्पादन का दुगुना उत्पादन करने में समर्थ होना असम्भव है जितनी कि वह दी हुई मात्रा का उत्पादन करती है, इस प्रकार प्रयुक्त होने के लिए चाहे जितना दीर्घ प्रबन्ध किया जाता है। प्रबन्ध दल का कुल आकार बढ़ाया अथवा घटाया जा सकता है किन्तु आवश्यक निश्चित रूप से उत्पादन के अनुपात में नहीं। वास्तव में, यदि कोई अर्थ उद्यमी वाली फर्म पर विचार कर रहा है तो वह पूर्णतया अविभाज्य होगा। अब यह सोचना तर्कसगत है कि अब भी फर्में उत्पादन के कुछ पैमानों पर अन्य की आशा दीर्घकाल में भी अधिक सस्ते में उत्पादन करेंगी क्योंकि एक निश्चित बिन्दु के पश्चात् प्रबन्ध कठिन होता है। दीर्घकाल में भी प्रबन्ध अविभाज्य होता है। इस प्रकार दीर्घकाल में साधनों के कुछ संयोग अन्य की अपेक्षा कम लागत पर उत्पादन करेंगे।"[1] इसी प्रकार प्रोफेसर हेलब्रोनर लिखते हैं, 'पैमाने की मितव्ययिताएँ सदैव प्राप्त नहीं होती हैं। प्रविधि (technology) द्वारा निर्धारित किसी बिन्दु पर कुशल संयन्त्र परिचालन की सीमाएँ प्राप्त हो जाती हैं। एक तीव्रगति से फैलता हुआ उपक्रम प्रबन्ध की समन्वयकारी शक्ति को अत्यधिक विरल करने लगता है। पैमाने की अमितव्ययिताएँ प्रवेश करती हैं तथा दीर्घकालीन इकाई लागत वक्र पुनः ऊपर चढ़ना आरम्भ हो जाता है।" (Economies of scale do not go for ever At some point determined by technology the limits of efficient plant operation are reached A sprawling enterprise begins to stretch too thin the co-ordinating power of management. Diseconomies of scale enter, and the long-run unit cost curve again begins to mount'[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक अर्थशास्त्री दृढ़तापूर्वक विश्वास करते हैं कि प्रतियोगिता की दशाओं में अन्तर्गत भी प्रबन्ध की अमितव्ययिताओं के कारण दीर्घकालीन लागत बढ़ती है।

इसके अतिरिक्त, स्राफा द्वारा व्याख्या के विपरीत, पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सम्पूर्ण रूप में विशेष उद्योग की दशा में, वर्धमान लागत (ह्रासमान प्रतिफल) की दशा बिल्कुल सम्भव है। विस्तार करने वाले अनेक उद्योग स्वयं द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट साधनों की कीमतों में वृद्धि प्राप्त करते हैं। स्राफा के अनुसार, वस्तु का उत्पादन करने वाला विशेष उद्योग इन विशिष्ट साधनों को अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में प्रयोग करेगा और इसके अतिरिक्त ये विशिष्ट साधन स्थानापन्न तथा/या पूरक पदार्थों के उत्पादन में भी प्रयोग किये जायेंगे और इसलिए उनके कुल प्रभाव को समझने के लिए हमें आंशिक सन्तुलन विश्लेषण को त्याग देना चाहिए। परन्तु इस दशा का होना आवश्यक नहीं है क्योंकि एक उद्योग द्वारा प्रयुक्त विशिष्ट साधन हो सकता है कि, स्थानापन्न अथवा पूरक वस्तुओं को उत्पादित करने वाले अन्य उद्योगों में प्रयुक्त न किये जाते हों और इसलिए आंशिक सन्तुलन विश्लेषण को सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, उद्योगों में वर्धमान लागत या ह्रासमान प्रतिफल कुछ साधनों की सीमित पूर्ति के कारण हो सकता है। जब ये सीमित पूर्तियाँ समाप्त हो जाती हैं तो विस्तारशील उद्योग में फर्म द्वारा अन्य आगत (inputs) प्रयुक्त किये जायेंगे, इन सीमित साधनों की स्थिर मात्राएँ ह्रासमान प्रतिफल को उत्पन्न करेंगी। पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं के साथ ह्रासमान प्रतिफल की सगति तथा सत्यता के सम्बन्ध में प्रो॰ मैंसूएस्मन लिखते हैं, 'बाजार में अधिक फर्मों के प्रवेश करने तथा प्रत्येक फर्म द्वारा अपने उत्पादन का विस्तार

---

1 *A Textbook of Economic Theory*, 4th edition 1972, p 136

2 R L. Heilbroner, *The Economic Problem*, second edition, p 511

करने पर एक उद्योग का दीर्घकालीन विस्तार उन उत्पादन के साधनों की बाजार-कीमतों में वृद्धि उत्पन्न करेगा जो इस उद्योग में असाधारण रूप से अधिक प्रयोग में हैं। । जब उद्योग के उत्पादन में वृद्धि इस उद्योग में असाधारण रूप से महत्वपूर्ण उन उत्पादन के साधनों की कीमतों में वृद्धि कर देती है तो S_LS_L पूर्ति वक्र पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? नवीन तथा प्राचीन फर्मों के सीमान्त तथा अन्य लागत वक्रों को निश्चित रूप से ऊपर की ओर विवर्तित करना होगा।'[1]

क्या उद्योगों में ह्रासमान लागतें भी पूर्ण प्रतियोगिता के साथ सगत हैं (Are Decreasing Costs to the *Industry Incompatible with Perfect Competition* ?)

स्राफा ने दृढ़तापूर्वक तर्क दिया कि उद्योग में ह्रासमान लागतें पूर्ण प्रतियोगिता के आंशिक सतुलन सिद्धान्त के साथ असगत थी और इस सम्बन्ध में ह्रासमान लागतों को उत्पन्न करने के कारण के रूप में बाह्य मितव्ययिताओं के तर्क को अस्वीकार किया। उन्होंने प्रमुख उद्योग को सस्ते पदार्थ तथा यन्त्र की पूर्ति करते हुए तथा कुछ अन्य इसके उप-पदार्थों को प्रयुक्त करते हुए सहसम्बन्धित उद्योगों से उत्पन्न होने वाली बाह्य मितव्ययिताओं को आंशिक सन्तुलन विश्लेषण के दृष्टिकोण से अप्रासंगिक होने के कारण निकाल दिया। वर्तमान लेखक की राय में यह आंशिक सतुलन विश्लेषण के क्षेत्र को अनुचित रूप में प्रतिबन्धित करना है जो सत्यतापूर्वक सहसम्बन्धित उद्योगों के वृद्धि की उन दशाओं का समावेश कर सकता है जो कि प्रमुख विशेष उद्योग के विस्तार से उत्पन्न होती हैं। इसके अतिरिक्त, स्राफा का तर्क विश्लेषण की विधि अर्थात् आंशिक सन्तुलन विश्लेषण के विरुद्ध है, वे वास्तविक जगत् में इस प्रकार की बाह्य मितव्ययिताओं के अस्तित्व तथा पूर्ण प्रतियोगिता के साथ उनकी सगति को अस्वीकार नहीं करते हैं यदि प्रमुख उद्योग तथा उससे सह-सम्बन्धित उद्योगों का सामान्य सन्तुलन विश्लेषण किया जाता है। बाह्य मितव्ययिताओं का मौलिक स्वभाव इस प्रकार का है कि विशिष्ट सन्तुलन विश्लेषण तथा सामान्य सन्तुलन विश्लेषण के मध्य रेखा खींचना कठिन है।

इसके अतिरिक्त यह वाद विवाद किया जा सकता है कि क्या वे मितव्ययिताएँ, जो आंशिक सन्तुलन विश्लेषण के साथ सगत हैं अर्थात् जो मितव्ययिताएँ फर्म के लिए बाह्य किन्तु उद्योग के लिए आन्तरिक हैं, वास्तविक जगत् में इतनी अधिक मात्रा में विद्यमान होती है कि बाह्य अमितव्ययिताओं से अधिक भारी हो जायें। परन्तु इसकी सैद्धान्तिक सम्भावना को और इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता के साथ ह्रासमान लागतों (वर्धमान प्रतिफल) की सगति को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। प्रो० सैमुल्सन को पुन उद्धृत करते हुए—"तथापि बाह्य मितव्ययिताओं के उद्योग में प्रचलित हो सकने की सम्भावना है। इन दशाओं में, उद्योग के Q (अर्थात् उत्पादन) में विस्तार प्रत्येक फर्म के लागत वक्रों को नीचे की ओर सरका सकता है और सभी फर्मों द्वारा उत्पादित पूर्तियों के जटिल योग करने पर उद्योग का पूर्ति वक्र नीचे की ओर गिरता हुआ हो सकता है।'[2]

यह ध्यान देने योग्य है कि मार्शल तथा पीगू दोनों ने बाह्य मितव्ययिताओं के आधार पर पूर्ण प्रतियोगिता के साथ उद्योग में वर्धमान प्रतिफल (ह्रासमान लागत) की सगति को प्रदर्शित किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जब शुद्ध बाह्य मितव्ययिताएँ हैं, जबकि सम्पूर्ण उद्योग ह्रासमान लागतों का अनुभव कर रहा होगा, व्यक्तिगत फर्में अपने दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्रों के ऊपर चढ़ते हुए भाग पर क्रियाशील होंगी अर्थात् फर्में उस बिन्दु पर सन्तुलन में होंगी जहाँ वे व्यक्तिगत रूप से पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल को अनुभव कर रही हैं। इसका कारण यह है कि उद्योग के विस्तार के साथ शुद्ध बाह्य मितव्ययिताओं के कारण व्यक्तिगत फर्म के लागत वक्र नीचे की ओर सरक जाते हैं जबकि

1 *Samuelson, Economics*, 8th edition 1970, p 451

2 *Op cit* p 450

उनके व्यक्तिगत दीर्घकालीन सतुलन की दशाएँ पूर्ववत् रहती हैं अर्थात् दीर्घकालीन कीमत उनके दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) तथा दी० सी० ला० (LMC) दोनो के बराबर होनी चाहिए तथा सन्तुलन के बिन्दु पर LMC अवश्य ही बढती हुई होनी चाहिए। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि दीर्घकालीन सीमान्त लागत की दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) के साथ समानता LAC वक्र के न्यूनतम बिन्दु पर प्राप्त की जाती है तथा फर्म अनुकूलतम आकार पर दीर्घकालीन सन्तुलन की दशा मे होती है। LAC के न्यूनतम बिन्दु पर LMC ऊपर की ओर चढ रही है। यह रेखाकृति 22 5 से स्पष्ट होगा। इस रेखाकृति मे उद्योग के पदार्थ की माँग DD है जो पूर्ति वक्र को E बिन्दु पर काटता है तथा OP कीमत निर्धारित करता है। दीर्घकाल मे फर्म OM_1 उत्पादन के स्तर (या LMC के H बिन्दु) पर सतुलन मे होगी। जब $D'D'$ तक उनकी माँग मे वृद्धि के प्रत्युत्तर मे नई फर्मों के प्रवेश द्वारा उद्योग विस्तृत होता है और विस्तार की इस प्रक्रिया मे पर्याप्त बाह्य

(a) फर्म (b) उद्योग

रेखाकृति 22·5

पूर्ण प्रतियोगी सन्तुलन की ह्रासमान लागतो (वर्धमान प्रतिफल) से सगति

(a) फर्म सीमान्त लागत वक्र के ऊपर चढते भाग मे (बिन्दु H तथा K) मे सन्तुलन मे है

(b) निवल बाहरी मितव्ययिताओ के कारण ह्रासमान लागत मे समस्त उद्योग का कार्यकरण

मितव्ययिताएँ निर्मित होती हैं, तो नवीन तथा प्राचीन सभी फर्मों के लागत वक्र रेखाकृति 22 5 मे बिन्दु रेखांकित LAC' तथा LMC' की स्थिति तक नीचे की ओर सरक जायेंगे। माँग वक्र $D'D'$ होने पर उद्योग अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन ON_2 पर सतुलन मे होगा जो कि अपेक्षाकृत कम कीमत पर पूर्ति किया जा रहा है। उद्योग का यह दीर्घकालीन पूर्ति वक्र नीचे की ओर गिर रहा है। परन्तु उद्योग के विस्तार के परिणामस्वरूप फर्म के LAC तथा LMC के नीचे की ओर सरकने से व्यक्तिगत फर्म LAC' के न्यूनतम बिन्दु K पर सतुलन मे होगी जो कि उनके नवीन दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र LMC' के ऊपर चढते हुए भाग पर स्थित है। वास्तव मे फर्म की औसत तथा सीमान्त लागतें कम हो गयी हैं किन्तु यह लागत वक्रों मे नीचे की ओर विवर्तन (shift) के कारण हुआ है जबकि वे अपने नवीन सीमान्त लागत वक्र के ऊपर चढते हुए भाग पर अपने नवीन दीर्घकालीन सन्तुलन की अवस्था मे कार्य कर रही होती हैं।*

*यहाँ यह सकेत किया जाना चाहिए कि उद्योग मे ह्रास मान लागतों (वर्धमान प्रतिफल) के समन्वय में हमने ए सी पीगू का अनुसरण किया है जिन्होने मार्शल को प्रतिरक्षा करने समय सकेत किया कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म अनुकूलतम आकार (अर्थात न्यूनतम दीर्घकालीन औसत लागत से सबधित उत्पादन) पर होती है जिस पर सीमान्त लागत बढती हुई होती है (अर्थात व्यक्तिगत फर्म को ह्रासमान प्रतिफल घटित होता है।) उद्योग मे वर्धमान प्रतिफल की व्याख्या करने के लिए उन्होंने बाह्य मितव्ययिताओ पर विश्वास किया जैसा कि हमने ऊपर किया है। उनके अनुसार प्रत्येक फर्म सदैव बढती हुई सीमान्त लागत के बिंदु पर सन्तुलन मे होती है परन्तु उद्योग का विस्तार (फर्मों की सख्या मे वृद्धि) सभी फर्मों के लागत वक्रो में नीचे की ओर विवर्तन(shift) उत्पन्न करेगा और तब पुन सभी पहले की अपेक्षा कम न्यूनतम औसत लागत पर कार्यशील होंगी जिस पर सीमान्त लागत बढ रही होगी। इसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण उद्योग पहले की अपेक्षा कम लागत या कीमत पर पूर्ति कर रहा होगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि श्रीमती जोन रॉबिन्सन, पीगू द्वारा उद्योग मे वर्धमान प्रतिफल (ह्रासमान लागत) का पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं के साथ समन्वय के विषय मे विश्वस्त (convinced) नहीं है। अपनी आधुनिक पुस्तक में वे लिखती हैं, "पीगू ने अनुकूलतम फर्म की परिकल्पना द्वारा मार्शल को बचाने का प्रयत्न किया। पीगू को विशुद्ध बाह्य मितव्ययिताओ या "उद्योग में बड़े पैमाने की मितव्ययिताओ" पर विश्वास करना पड़ा था। प्रत्येक फर्म सदैव वर्धमान लागत की दशाओ के अन्तर्गत कार्य कर रही थी। परन्तु फर्मों की यह सख्या में वृद्धि सभी फर्मों की औसत लागत को न्यूनतम करेगी। यह विचित्र निर्माण, यद्यपि आज से 40 वर्षों पहले आशा द्वारा नष्ट कर दिया गया था आधुनिक पाठ्य पुस्तकों मे "फर्म के सिद्धान्त" के आधार के रूप में आज भी प्रयुक्त किया जाता है (*Economic Heresies*) p 58-59)। हम श्रीमती जोन रॉबिन्सन से असहमत होते हैं तथा सैमुएल्सन को सम्मिलित करते हुए अधिकांश पाठ्य पुस्तकों की दिशा का अनुसरण करते हैं।

यह संकेत करने योग्य है कि यह आवश्यक नही है कि जब उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र (ह्रासमान लागत के कारण) नीचे की ओर गिर रहा है तो फर्म के प्रासंगिक (relevant) लागत वक्रो को भी नीचे की ओर गिरता हुआ होना चाहिए। इसी कारण, जैसा कि पहले के अध्यायो म बलपूर्वक कहा गया है कि उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र किसी फर्म के लागत वक्रो के पार्श्वीय योग (lateral summation) द्वारा प्राप्त नही किया जाता है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्मों का दीर्घकालीन सन्तुलन सदैव दीर्घकालीन औसत लागत के न्यूनतम बिन्दु पर होता है जिस पर दीर्घकालीन सीमान्त लागत बढ़ती हुई होती है चाहे उद्योग का पूर्ति वक्र ऊपर की ओर चढ़ता हुआ (वर्धमान लागत) है, क्षैतिज रेखा (स्थिर लागत) है या नीचे की ओर गिरता हुआ (ह्रासमान लागत) है।

पूर्ण प्रतियोगिता के साथ ह्रासमान लागत उद्योग की संगति की समस्या के अतिरिक्त अन्य समस्या उसकी स्थिरता की है जिसका ह्रासमान लागत उद्योग के सम्बन्ध मे सामना किया जाता है। अनेक अर्थशास्त्रियों ने स्पष्ट किया है कि नीचे की ओर गिरते हुए पूर्ति वक्र के ह्रासमान लागत उद्योग स्थिर सन्तुलन मे नही हो सकता है और उसकी कीमत तथा उत्पादन मे अस्थिरता इस उद्योग का लक्षण होगा। हम इस अस्थिरता की समस्या का आगे आने वाले एक अध्याय मे विस्तार से अध्ययन करेंगे।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण तथा विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यद्यपि व्यक्तिगत फर्म मे वर्धमान प्रतिफल, पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सन्तुलन के साथ असंगत है किन्तु बाह्य मितव्ययिताओं के कारण उद्योग म वर्धमान प्रतिफल (ह्रासमान लागत दशाएँ) पूर्ण प्रतियोगिता के साथ बिलकुल संगत हैं। परन्तु जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, स्राफा ने पूर्ण प्रतियोगिता के साथ वर्धमान प्रतिफल की संगति की इस समस्या की विवेचना करते समय अपूर्ण प्रतियोगिता सिद्धान्त की आवश्यकता बतलाने तथा उसका आधार स्थापित करके कीमत सिद्धान्त मे महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इस प्रकार, यद्यपि स्राफा पूर्ण प्रतियोगिता प्रतिदर्श तथा विशिष्ट सन्तुलन विश्लेषण के दृष्टिकोण से बाह्य मितव्ययिताओं की सत्यता को नष्ट करने मे असफल हुए, किन्तु उन्होने अपूर्ण प्रतियोगिता के सिद्धान्त को विकसित करने के अपने रचनात्मक उद्देश्य मे उल्लेखनीय योगदान किया जिसमे व्यक्तिगत फर्मे पर्याप्त मात्रा मे एकाधिकारी शक्ति का उपयोग करती हैं यद्यपि वे प्रतिद्वन्द्वी फर्मों से अधिक मात्रा मे प्रतियोगिता का सामना करती हैं।

23

लाभ अधिकतम करने के नियम की आलोचनात्मक समीक्षा
(A CRITIQUE OF THE PRINCIPLE OF PROFIT MAXIMIZATION)

फर्म के सन्तुलन का विश्लेषण, जैसा कि पिछले कुछ अध्यायों में किया गया, इस मान्यता पर आधारित है कि उद्यमकर्त्ता लाभ को अधिकतम करना चाहता है। उद्यमकर्त्ता के लाभ को अधिकतम करने के इस प्रयत्न को विवेकशील (rational) व्यवहार माना गया है। हाल में इस पर शंका प्रकट की गई है कि विवेकशील उद्यमकर्त्ता क्या केवल लाभ को अधिकतम करने की चेष्टा करता है, तथा क्या यही इसके लिए सर्वोत्तम नीति है? यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि क्या वास्तविक जगत में उद्यमकर्त्ता लाभ को अधिकतम करने का प्रयत्न नहीं करते।

सुरक्षा उद्देश्य बनाम लाभ-अधिकतम उद्देश्य (Profit Maximization Vs Security Motive)

सर्वप्रथम, यह कहा गया है कि अपनी कीमत तथा उत्पादन निर्धारण में उद्यमकर्त्ता, किसी दिए हुए समय में अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयत्न नहीं करता, बल्कि वह तो दीर्घकाल में लाभ का निरन्तर प्रवाह चाहता है। अन्य शब्दों में, वह निश्चित लाभों की इच्छा से अधिक प्रभावित होता है। इस सम्बन्ध में प्रो० के० डब्ल्यू० रोथचाइल्ड (K. W. Rothschild) जिन्होंने यह विचार दिया है उद्धरण योग्य है "अब तक लाभ के अधिकतम करने की मान्यता एक मास्टर चाबी के समान रही है जिससे उद्यमकर्त्ता के व्यवहार को समझने से सम्बन्धित समस्त द्वार खोले जाते रहे हैं। यह सत्य है कि यह भी स्वीकार किया गया है कि पारिवारिक एवं नैतिक धारणाएँ, कम योग्यता तथा इसी प्रकार के अन्य कारण लाभ को अधिकतम करने की मान्यता पर बनाए गए परिणामों को प्रभावित करते हैं, परन्तु यह भी उचित रूप से मान लिया गया कि ये बाधक तत्त्व पर्याप्त सीमा तक अपवाद समान हैं और इसलिए कीमत सिद्धान्त के मुख्य भाग से इनको निकाला जा सकता है।"...परन्तु एक और उद्देश्य है जिसकी इतनी आसानी से अवहेलना नहीं की जा सकती और सम्भवतः उसका महत्त्व भी उतना ही अधिक है जितना लाभों को अधिकतम करने की इच्छा का और यह है सुरक्षित

लाभों (secure profits) को प्राप्त करने की इच्छा ।"[1]

प्रो० रोथचाइल्ड का विचार यह है कि लाभ अधिकतम करने की मान्यता उन फर्म के व्यवहार की व्याख्या कर सकती है जो कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में या एकाधिकारिक प्रतियोगिता जिसमें फर्मों की संख्या बहुत अधिक होती है अथवा पूर्णतया एकाधिकारी स्थिति में कार्य कर रही होती है क्योंकि इन दशाओं में सुरक्षा की समस्या कभी भी उत्पन्न नहीं होती। उनका कहना है कि पूर्ण एकाधिकारी को अपनी एकाधिकारी शक्ति के कारण ही प्रतियोगिता के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त हो जाती है और छोटे एकाधिकारिक प्रतियोगी अथवा पूर्ण प्रतियोगी, जिसके लिए सुरक्षा का प्रबन्ध बहुत आवश्यक है, के लिए बाजार दशाएँ इतनी प्रबल शक्तियाँ हैं कि वह अकेला अपनी सुरक्षा के लिए कोई प्रबन्ध नहीं कर सकता। इन दशाओं में अल्पकालीन लाभों को अधिकतम करना एक उचित मान्यता है जिसको उद्यमकर्ता के व्यवहार का अध्ययन करने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। परन्तु रोथचाइल्ड के मतानुसार अल्पाधिकार (oligopoly) की दशा में लाभ को अधिकतम करने की मान्यता पर्याप्त नहीं है। "यहाँ सुरक्षित लाभ प्राप्त करने का उद्देश्य है और इस उद्देश्य को प्राप्त करने की शक्ति भी" ("Here is both desire for achieving secure profits as well as the power to act on the desire) ।"[2] उनका विचार है कि वास्तविक संसार में अत्यधिक अल्पाधिकारों के विकास के बावजूद अर्थशास्त्रियों ने इस अतिरिक्त उद्देश्य की अवहेलना की है और लाभ अधिकतम करने के सिद्धान्त पर ही अधिकाधिक निर्भर किया है।

प्रो० बामोल का बिक्री अधिकतम सिद्धान्त (Prof Baumol's Sales Maximization Theory)

प्रो० बामोल ने भी लाभ अधिकतम करने की मान्यता को चुनौती दी है। उनका कहना है कि किसी भी फर्म का अन्तिम उद्देश्य लाभ को नहीं बल्कि बिक्री को अधिकतम करना होता है। उनका विचार है कि फर्में अपनी बिक्री को इसलिए बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करतीं कि वे अपनी परिचालन कुशलता (operational efficiency) तथा लाभों के उद्देश्यों को प्राप्त करना चाहती हैं, बल्कि एक व्यापारी के लिए "बिक्री स्वयं में एक उद्देश्य बन गई है।" अतः उनका विचार है कि फर्म के व्यवहार से सम्बन्धित सबसे उचित मान्यता बिक्री को अधिकतम करना है। बिक्री से उनका तात्पर्य वस्तु को बेचने से प्राप्त कुल आय से है। अतः उन्होंने इस परिकल्पना को बिक्री अधिकतम सिद्धान्त (Sales Maximization Hypothesis) अथवा आय अधिकतम सिद्धान्त (Revenue Maximization Hypothesis) की संज्ञा दी है।

प्रो० बामोल का विचार है कि उसकी इस धारणा का कि अल्पाधिकारी का मुख्य उद्देश्य लाभों को नहीं बल्कि बिक्री को अधिकतम करना है, के पक्ष में पर्याप्त शक्तिशाली प्रमाण उपलब्ध हैं। उन्होंने कहा "स्पष्टतः यह सामान्य अनुभव है कि जब कोई व्यक्ति किसी व्यावसायिक अधिकारी से पूछता है, 'व्यापार कैसा है ?' तो वह यही बताता है कि बिक्री बढ़ (या कम) हो रही है, और यदि वह लाभों का वर्णन भी करता है तो वह बाद में सोचा गया विषय (after thought) होता है और मुझे बताया गया है कि Young Presidents' Organisation (जो एक सम्मान सूचक समिति है) का सदस्य बनने की दो शर्तें हैं (i) प्रार्थी 40 वर्ष से कम आयु का हो और (ii) जिस कम्पनी का वह प्रमुख है उसकी वार्षिक बिक्री दस लाख डालर से अधिक की होनी चाहिये। स्पष्ट है कि इस बात का कोई अन्तर नहीं पड़ता कि फर्म दिवालियेपन के किनारे पर है। जब कभी भी मुझे लाभ या बिक्री में कोई संघर्ष प्रतीत हुआ तो

---

1. K W Rothschild, Price Theory and Oligopoly, *The Economic Journal*, Vol LVII (1947) pp 299 320, reprinted in *Readings in Price Theory* (AEA)

2 *Ibid*

मेरे साथ काम करने वाले *व्यवसायियो* ने स्पष्ट शब्दो मे अपने विचार बिक्री के पक्ष मे प्रकट किए। कई बार ऐसी फर्मे देखने मे आती है जो लाभ कमा रही होती है परन्तु उनकी बिक्री का कुछ भाग अत्यधिक लाभहीन होता है प्रबन्धको को जब इस प्रकार के उदाहरणो को *बताया जाता है तो वे इस अत्यधिक* लाभहीन बिक्री को छोडने के लिए तैयार नहीं होते। व्यवसायी उन गम्भीर प्रस्तावो पर विचार कर सकते है जिससे इन बिक्रिया पर भी लाभ प्राप्त किया जा सके परन्तु कोई भी कार्यक्रम जो कि बिक्री के आकार मे कमी करे, लाभ सम्भावनाएं चाहे कुछ भी हो, कभी भी उद्यमकर्ताओ द्वारा पसन्द नहीं किया *जाता।*[1] यह दीर्घ उद्धरण पाठको को यह बताने के लिए दिया गया है कि प्रो० बामोल का दृढ विचार है कि बिक्री को अधिकतम करना ही फर्मों का उद्देश्य बन गया है और इसलिए उनकी समस्त शक्तियां विक्रय बढाने तथा अधिकतम करने मे लगी होती है।

परन्तु प्रो० बामोल ने अपनी बिक्री अधिकतम करने की धारणा को यह बताकर धीमा कर दिया कि बिक्री बढाने के अभियान मे व्यवसायी उत्पादन लागतो तथा लाभो को एकदम भुला नही देते। वह यह स्वीकार करते है कि फर्म के बिक्री उद्देश्य तथा इसके लाभ उद्देश्य मे कुछ सघर्ष होता है। उनके अनुसार "वास्तविक जगत मे, व्यापारी बिक्री को बढ़ाने का प्रयत्न करता है परन्तु शर्त यह है कि उसको उत्पादन लागत के अतिरिक्त विनियोग पर सामान्य दर से लाभ भी प्राप्त होना चाहिए। उनके अनुसार प्रबन्धक इससे अधिक लाभ प्राप्त करने की चेष्टा नही करता। एक बार जब लाभ-स्तर के इस अधिकतम स्तर को प्राप्त कर लिया जाय तो लाभ के स्थान पर बिक्री ही प्रमुख उद्देश्य बन जाता है।'[2] इस प्रकार प्रो० बामोल लिखते है कि "एक विशिष्ट अल्पाधिकारी के उद्देश्य का वर्णन लगभग, इस प्रकार से किया जा सकता है न्यूनतम लाभ के साथ बिक्री को अधिकतम करना (sales maximization subject to minimum profit constraint)। निश्चित रूप से यह पूर्वधारणा (premise) अस्पष्ट मनोवृत्तियो की अति-अभिव्यक्ति है परन्तु मेरा विश्वास है कि यह सत्य से बहुत दूर नही है। जब तक लाभ इतने अधिक है कि वे हिस्सेदारो (*shareholders*) को सन्तुष्ट रखते हैं और कम्पनी के विकास की ठीक प्रकार से वित्त व्यवस्था करते है, प्रबन्धको का प्रयत्न लाभो मे वृद्धि के स्थान पर बिक्री से आयो को अधिकतम करना होगा।'[3]

यहाँ इसके विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि लाभो के स्थान पर बिक्री को अधिकतम करने की उद्यमी की क्रिया विवेकशील (rational) नहीं है। परन्तु प्रो० बामोल ने ठीक ही कहा है कि उनकी परिकल्पना का किसी भी प्रकार से विवेकशीलता (rationality) की परिकल्पना के साथ विरोध नही है। वे विवेकशीलता की एक नई व्याख्या करते है जो अधिक वैज्ञानिक है। उनके अनुसार विवेकशीलता का अभिप्राय उद्देश्यो के चयन से नहीं है, बल्कि इसका अभिप्राय उद्देश्यों को कुशल तथा सगत रूप से प्राप्त करने से है। (rationality does not consist in choosing the ends it only means *pursuing the end efficiently and consistently'*)। उन्होने कहा व्यक्तियो के उद्देश्य जो भी है निश्चित विवेकहीनता (irrationality) की परिभाषा म उन निर्णय व्यवहारो को सम्मिलित करना *होगा जिनसे उन उद्देश्यो की* प्राप्ति कठिन हो जाती है जिनको किसी कारणवश ठीक समझा गया है। जब तक हम अन्य व्यक्तियो के मूल्यो (other people's values) का निर्धारण करने के लिए तैयार नहीं होते या जब तक व परस्पर विरोधी उद्देश्यो को नहीं अपनाते हमको किसी भी व्यवहार को तब तक विवेकशील मानना चाहिए जब तक यह उद्देश्यो जो कि चाहे जैसे भी निर्धारित किए गये हो, को प्रभावपूर्ण ढग से प्राप्त करने की चेष्टा करता है।"[4] अत उनका विचार है कि यदि बिक्री

1 W J Baumol *Business Behaviour, Value & Growth*, pp 47 48

2 *Ibid*, p 49

3 *Ibid*, pp 49 50

4 *Ibid*, p 47

अधिकतम करने का उद्देश्य दिया हुआ है तो उद्यमकर्ता विवेकशील होगा यदि वह कुशलता से और सगत ढग से (*efficiently and consistently*) अपनी बिक्री को अधिकतम करने का प्रयत्न करता है।

इस प्रकार विवेकशीलता की समस्त सकल्पना (concept) मे, हाल के दिनो मे, परिवर्तन हो गया है। विवेकशीलता का तात्पर्य उस कुशलता तथा सगति से है जिनसे कोई अपने उद्देश्यो को प्राप्त करना चाहता है। यदि किसी फर्म का उद्देश्य लाभ को अधिकतम करना है तो फर्म द्वारा लाभ को अधिकतम करने की क्रियाएँ पूर्णरूप से विवेकशील होगी। परन्तु यदि कोई अन्य उद्देश्य उचित है तो उस उद्देश्य को अधिकतम करना ही विवेकशीलता होगी। प्रो० पापेनड्रयू (Papandreou) ने ठीक ही कहा है "निस्सदेह लाभ को अधिकतम करने मे विवेकशीलता निहित है, परन्तु विवेकशीलता अन्य चीजो को अधिकतम करने मे भी है। विवेकशीलता का अभिप्राय दिये हुए साधनो की मात्रा से उद्देश्यो को अधिकतम करने से है अथवा दिये हुए उद्देश्यो को प्राप्त करने के लिये साधनो को न्यूनतम करने से है।"[1] इस प्रकार हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि लाभो को अधिकतम करने मे विवेकशीलता निहित है परन्तु उद्देश्य यदि लाभ के अतिरिक्त कुछ और है तो उस अन्य उद्देश्य को अधिकतम करना भी विवेकशील व्यवहार होगा।

बामोल के आय अधिकतम करने की परिकल्पना की समालोचना (Comments over Baumol's Revenue Maximization Hypothesis)

प्रो० बामोल की आय अधिकतम करने की परिकल्पना लाभ अधिकतम करने के सिद्धान्त का एक विकल्प है। प्रो० फर्गूसन (Ferguson) तथा प्रो० क्रेप्स (Kreps)[2] ने बामोल की आय अधिकतम परिकल्पना की समालोचना करते हुए ठीक ही कहा है 'प्रतिपादित किए गए विभिन्न विकल्पो मे से बामोल द्वारा प्रतिपाद्य विषय को एक बडा लाभ प्राप्त है —*यह वास्तविकता तथा प्राप्ति सामर्थ्य की दिशा मे पुराने मॉडलो का सशोधन करता है तथा साथ ही यह* सामान्य सैद्धान्तिक विश्लेषण को भी सभव बनाता है। (Among the various alternatives advanced Baumol's thesis has one great advantage —*it revises the older models in the* direction of reality and plausibility while still permitting a rather general theoretical analysis")[2] ऊपर हम देख चुके हैं कि लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य की स्थिति की तुलना मे *बिक्री को अधिकतम करने के उद्देश्य के अन्तर्गत* उत्पादन अधिक होता है तथा कीमत कम। इसलिए जिस सीमा तक व्यापारिक फर्में बिक्री को अधिकतम करने के उद्देश्य से वास्तव मे प्रेरित होती हैं, उस सीमा तक उनकी कीमत तथा उत्पादन नीतियाँ *उपभोक्ताओ के कल्याण अधिकतम करने की स्थिति के* निकट होगी। बिक्री अधिकतम करने की प्रेरणाओ से व्यावसायिक फर्में वास्तविक जगत मे किस सीमा तक प्रभावित होती हैं, इस पर अनुभवगम्य अनुसधान की आवश्यकता है। अभी तक इस पर अधिक अनुभवगम्य *अनुसधान नहीं हुआ है।*

संतुष्टि या तुष्टिगुण अधिकतम करना (Satisfaction or Utility Maximization)

सतुष्टि या तुष्टिगुण *अन्तिम* उद्देश्य है जिसको प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त करना चाहता है और इसलिए कुछ अर्थशास्त्रियों, जैसे बेन्जामिन हिगिन्स (Banjamin Higgins), मेलविन रेडर (Melvin Reder), टाईबोर स्किटोवस्की (Tibor Scitovsky) ने लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य के स्थान पर तुष्टिगुण अधिकतम करने, अथवा अधिमान फलन (preference function) अधिकतम करने, का

1. Papandreou, *Basic Problems in Theory of the Firm*, in *Survey of Contemporary Economics*, Vol I

2 C E Ferguson and J. M. Kreps, *Principles of Economics*, New York (1963) p 539.

विचार प्रस्तुत किया है। इन अर्थशास्त्रियों ने यह बताया है कि लाभ अधिकतम करने का आवश्यक रूप से अर्थ सतुष्टि या तुष्टिगुण को अधिकतम करने से नही है। यदि उद्यमकर्ता से यह आशा की जाती है कि वह अपनी सतुष्टि को अधिकतम करने की चेष्टा करेगा तो इसमे हम केवल मौतिक वस्तुओ (अर्थात् अपनी उद्यम सम्बन्धी क्रियाओं के करने के परिणामस्वरूप प्राप्त मौद्रिक लाभ से प्राप्त जीवन के लिए आवश्यक अनिवार्यताएँ तथा आराम की वस्तुओ) से प्राप्त सतुष्टि को ही सम्मिलित नही करते बल्कि उस सतुष्टि को भी सम्मिलित करते है जो उपलब्ध अवकाश (Leisure) से उसको प्राप्त होती है। अवकाश, अथवा जिसको हिक्स ने 'शान्त जीवन' कहा है, व्यक्ति के कल्याण का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। परन्तु एक उद्यमकर्ता जितना अधिक काम करेगा वह उतने कम अवकाश का सुख प्राप्त करेगा। एक उद्यमकर्त्ता जो कि सतुष्टि अथवा तुष्टिगुण को अधिकतम करना चाहता है के व्यवहार के विश्लेषण मे अवकाश के अधिमान को सम्मिलित करना होगा।

अब हमको यह स्पष्ट करना होगा कि जब तक हम उद्यमी के कार्य व अवकाश से सबन्धित मनोविज्ञान अथवा व्यवहार ढाँचे के बारे मे कोई विशेष मान्यता निर्धारित नही करते, लाभ के अधिकतम
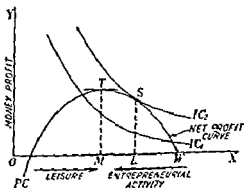
रेखाकृति 23 1 : सन्तुष्टि अधिकतम बनाना

करने से तुष्टिगुण का अधिकतम होना निश्चित नही हो पायेगा। यहाँ पहले हमे उद्यमकर्त्ता के अधिमान का मानचित्र बनाना आवश्यक होता है जिसका सबध मुद्रा लाभो तथा अवकाश से है। रेखाकृति 23 1 मे Y-अक्ष पर मौद्रिक लाभ को मापा गया है और अवकाश को (बायी ओर से दायी ओर) X-अक्ष पर। इस प्रकार की रेखाकृति मे एक अनधिमान वक्र मौद्रिक लाभो तथा अवकाशो के उन विभिन्न सयोगो को बताता है जो उद्यमी को समान सतुष्टि प्रदान करते हैं। अनधिमान वक्र का स्तर जितना ऊँचा होगा उद्यमी को उतनी ही अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होगी। हम एक और मान्यता यह निर्धारित करते है कि उद्यमी की क्रियाएँ (अर्थात् कार्य) एक परिवर्तनशील साधन हैं, अर्थात्, हम मान लेते हैं कि उद्यमी एक विभाजनशील साधन है परन्तु उत्पादन की प्रत्येक इकाई के लिए उसकी मात्रा स्थिर है। इस दशा मे, हम उद्यमी की क्रियाओ को उत्पादन की दरो मे माप सकते हैं। उत्पादन जितना अधिक किया जाएगा, उद्यमी क्रियाओ से उतना ही अधिक मौद्रिक लाभ प्राप्त होगा। अधिक उद्यमी क्रियाओ का अर्थ है कम अवकाश। रेखाकृति 23 1 मे बिन्दु W शून्य उत्पादन को दर्शाता है जिसका अर्थ है कि उद्यमी कोई कार्य नही करता और हर समय अवकाश का सुख प्राप्त करता रहता है। अन्य शब्दो मे, OW, कुल अवकाश अथवा उद्यमी क्रियाहीनता का द्योतक है। बिन्दु W पर वह कोई कार्य नही करता और उत्पादन मात्रा शून्य होती है जिसके कारण वह अपना समस्त समय अवकाश मे ही बिता देता है। जब वह कुछ उद्यमी क्रियाएँ करता है तो वह कुछ उत्पादन करता है जिससे वह कुछ शुद्ध लाभ प्राप्त करता है। यह शुद्ध लाभ उसकी कुल आय तथा कुल लागत का अन्तर है। कुल लागत मे सामान्य प्रबन्धक कार्यों के लिए उसको प्राप्त होने वाला पारिश्रमिक (सामान्य लाभ) भी सम्मिलित है। रेखाकृति 23 1 मे PC शुद्ध लाभ वक्र (net profit curve) है जो W से प्रारम्भ हो रहा है जो कि उत्पादन के विभिन्न स्तरो पर अथवा अन्य शब्दो में उद्यमी क्रियाओ की विभिन्न मात्राओ से उद्यमकर्त्ता को प्राप्त होने वाले शुद्ध लाभो को बताता है, जिनको बिन्दु W से बायी ओर से दायी ओर को मापा गया है।

अब जो उद्यमकर्ता अपनी सतुष्टि को अधिकतम करना चाहता है वह उच्चतम अनधिमान रेखा पर पहुँचने का प्रयत्न करेगा। उसको अधिकतम सम्भव सतुष्टि तब प्राप्त होगी जबकि उसका शुद्ध लाभ वक्र किसी अनधिमान वक्र को स्पर्श करेगा। रेखाकृति को देखने से पता चलता है कि शुद्ध लाभ वक्र अनधिमान वक्र IC_2 को बिन्दु S पर स्पर्श करता है। अत बिन्दु S पर उसको अधिकतम सम्भव सतुष्टि प्राप्त होगी। अधिकतम सतुष्टि की स्थिति म उसको LS के बराबर कुल शुद्ध लाभ प्राप्त हो रहे है। OL उत्पादन की दरो म उद्यमी की क्रियाहीनता (entrepreneurial inactivity) को दर्शाता है जो उस अवकाश का दर्शाता है जिसका सुख उस प्राप्त हो रहा है। इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि बिन्दु S पर, जहा उसको प्राप्त हो रही सतुष्टि अधिकतम है, उसके शुद्ध लाभ अधिकतम नही है। शुद्ध लाभ उस समय अधिकतम है जबकि वह WM मात्रा का उत्पादन कर रहा है अथवा WM के बराबर उद्यमी क्रियाएँ कर रहा है। X-अक्ष तथा शुद्ध लाभ वक्र म MT सर्वाधिक अन्तर को बताता है, और शुद्ध लाभ वक्र पर T उच्चतम बिन्दु है। अत यह स्पष्ट है कि सतुष्टि-अधिकतम उत्पादन जो कि WL के बराबर है, लाभ अधिकतम उत्पादन, जो कि WM के समान है, से कम है। इस प्रकार हम देखते है कि उद्यमकर्ता के अधिमान फलन मे जब अवकाश के लिए अधिमान सम्मिलित होता है तो उत्पादन का स्तर लाभ-अधिकतम उत्पादन स्तर से नीचे निर्धारित होता है।

तनिक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रेखाकृति 23 1 मे उद्यमी का अनधिमान वक्र मौद्रिक लाभ तथा अवकाश के मध्य यदि उन्नतोदर (convex) के स्थान पर क्षैतिज (horizontal) है तो अधिकतम सन्तुष्टि को बिन्दु T पर ही प्राप्त किया जा सकेगा जो लाभ-अधिकतम बिन्दु भी है। परन्तु मौद्रिक लाभो तथा अवकाश के मध्य क्षैतिज अनधिमान वक्र का अर्थ होगा कि अवकाश के कम अथवा अधिक होने का उद्यमकर्ता की सतुष्टि पर कोई प्रभाव नही पडता। दूसरे शब्दो मे, उद्यमकर्ता के अधिमान फलन मे अवकाश का कोई स्थान नही है। क्षैतिज अनधिमान वक्र का अर्थ यह भी है कि उद्यमकर्त्ता द्वारा अधिक कम किया (अन्य शब्दो मे, अधिक काम अथवा अधिक अवकाश) म चयन का कोई सम्बन्ध उसकी आय से नही है (अर्थात् वह आय से स्वतन्त्र है)। दूसरे शब्दो म उद्यमकर्त्ता की पूर्ति की आय लोच शून्य है। (Income elasticity of supply of entrepreneurship is zero)। इस प्रकार हम देखते है कि यदि लाभ के अधिकतम करने मे उद्यमकर्त्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त भी हो तो मनोविज्ञान विशेष प्रकार का होगा और इसी से मेल खाता हुआ अनधिमान मानचित्र भी विशेष प्रकार का होगा। लाभ को अधिकतम करना अधिकतम सन्तुष्टि भी हो, इसके लिए उद्यमकर्त्ता का मनोविज्ञान इस प्रकार का होना चाहिए कि उसके द्वारा किया गया कार्य उससे प्राप्त होने वाली आय से बिल्कुल स्वतन्त्र (independent) हो।

परन्तु यह विचार कि उद्यमकर्त्ता की कार्य करने की इच्छा पर आय का कोई प्रभाव नही पडता वास्तविक नही लगता। इसका कारण यह है कि यदि उसका उद्देश्य अपने जीवन को सुखी और आरामदायक बनाना है तो यह पूर्णतया स्वाभाविक है कि द्रव्य की जो मात्रा वह अर्जित कर रहा है उसका उसकी कार्य करने की इच्छा पर प्रभाव पड़ेगा। एक व्यक्ति जिसका उद्देश्य अधिक द्रव्य का अर्जन करके अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना है अपनी क्रियाओ मे कमी कर देगा जब कि उसके पास इतना द्रव्य हो जाएगा कि वह ऊँचे रहन-सहन के स्तर के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुएँ प्राप्त कर सके। यह केवल इसीलिए सत्य नही कि भौतिक माँगो की पूर्ण तृप्ति हो सकती है, बल्कि इसलिए भी सत्य है क्योकि अवकाश व्यक्ति के कल्याण का एक अनिवार्य अश है। परन्तु जैसा कि स्किटोवस्की ने बताया है: "इस मान्यता से कि उद्यमकर्त्ता की कार्य करने की इच्छा उसकी आय से स्वतन्त्र है, यह अर्थ नही निकाला जा सकता कि उसकी अपने कार्य के भौतिक पारिश्रमिको मे कोई रुचि नही है। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि वह द्रव्य कमाने के लिये इतना उत्सुक है कि बढ़ती हुई आय से उसकी आकांक्षा कम नहीं होती। बाद वाली व्याख्या अधिक व्यावहारिक

लगती है क्योंकि उद्यमकर्ता प्राप्य आय को अपनी कुशलता तथा सफलता का सूचक मानते है। व्यवसाय सफलता की आकाक्षा अधिक द्रव्य कमाने की इच्छा मे प्रतिबिम्बित होती है। इस द्रव्य को वे व्यय करने के लिए नही, बल्कि द्रव्य के लिए ही कमाते हैं क्योंकि यह जीवन मे उनकी सफलता का द्योतक व सूचक है। जो व्यक्ति सफलता को सफलता के लिए प्राप्त करता है और इसको द्रव्य मे मापता है, वह आय के बढने पर अबाध रूप से कार्य करता रहता है। यह कुछ तो इसलिए सत्य है क्योंकि सफलता की इच्छा, वस्तुओ की इच्छा की तुलना मे कही अधिक अतृप्त है और कुछ इसलिए कि व्यापार मे सफलता का द्योतक ऊँची आय नही बल्कि बढती हुई आय है।'[1] यदि यह मान्यता दी हुई है कि उद्यमकर्ता की कार्य करने की इच्छा आय के स्तर से स्वतन्त्र है तो मुद्रा लाभ को अधिकतम करना सन्तुष्टि को अधिकतम करने के समान हो जाएगा। यह मान कर कि उद्यमकर्ता की मनोवृत्ति मुद्रा को मुद्रा के लिए प्राप्त करने की है, इससे प्राप्त सुख व आराम को प्राप्त करने के लिए नही, प्रो० स्किटोवस्की ने लाभ को अधिकतम करने की मान्यता को उचित माना क्योंकि इस दशा मे अधिकतम सन्तुष्टि भी प्राप्त होगी। जब उद्यमकर्त्ता की इस प्रकार की मनोवृत्ति नही होती तो जिस उत्पादन स्तर पर लाभ अधिकतम होगा वह उस उत्पादन स्तर से भिन्न होगा, जिस पर सन्तुष्टि अधिकतम है। प्रो० स्किटोवस्की को हम फिर से उदधृत करते है "जब तक रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाना उद्यमकर्ता का प्रमुख उद्देश्य नही बनता, तब तक उसके द्वारा की गई क्रियाओ मे वृद्धि उसकी आय से स्वतन्त्र रहेगी, और केवल अन्य विचारो से सीमित होगी जैसे आयु स्वास्थ्य आदत व स्वभाव पारिवारिक व सामाजिक उत्तर दायित्व, प्रतियोगी आकांक्षाओ (जैसे राजनैतिक) इत्यादि। अत, इस स्थिति मे, उद्यम की पूर्ति की आय लोच के शून्य होने की मान्यता पूर्णतया न्यायोचित होगी और यह मानना ठीक होगा कि उद्यमकर्ता अपने लाभो को अधिकतम करना चाहता है। केवल उस दशा मे, जबकि उद्यमकर्त्ता कार्य की अपेक्षा अवकाश के आकर्षण से अधिक प्रभावित होता है और ऊँची आय से जीवन मे अवकाश का आनन्द प्राप्त करना चाहता है तो उद्यमकर्त्ता का अनुकूलतम व्यवहार लाभो को अधिकतम करना नही होगा और वह उत्पादन को उस बिन्दु से नीचे रखेगा जिस पर कि लाभ अधिकतम है।'[2]

प्रो० बेन्जामिन हिगिन्स का विश्वास है कि उद्यमकर्त्ता अपनी सन्तुष्टि को अधिकतम करना चाहता है। इसके लिए उसने लाभ के स्थान पर 'तुष्टिगुण सूचक (utility index) का प्रयोग किया है। वह उद्यमकर्त्ता को वह मनोवृत्ति प्रदान नही करता जो स्किटोवस्की ने की थी। हिगिन्स का विचार है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे लाभ को अधिकतम करना जीवित (survive) रहने के लिए आवश्यक है। परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिताओं मे लाभ को अधिकतम करने की शक्ति बहुत क्षीण होती है क्योंकि इन दशाओ मे उद्यमकर्त्ता के कार्य करने व इच्छाओ के सतुष्ट करने पर लाभ की इच्छा के अतिरिक्त अन्य बहुत से कारक भी प्रभाव डालते हैं। हिगिन्स ने उन इच्छाओ तथा शक्तियों को जो लाभ अधिकतम न करने को प्रभावित करती हैं तीन वर्गों म विभाजित किया है

(1) सर्वप्रथम, कुछ ऐसी इच्छाएँ व शक्तियाँ होती है जो उद्यमकर्त्ता को अधिकतम लाभ उत्पादन स्तर से कम उत्पादन करने को प्रेरित करती हैं। अवकाश (हिक्स ने जिसे 'शान्त जीवन' quiet life कहा है) को व्यतीत करने की इच्छा के कारण ऐसा प्रतीत होता है।

(2) द्वितीय, कुछ ऐसी शक्तियाँ होती है जो उद्यमकर्ता को लाभ अधिकतम बिन्दु से अधिक उत्पादन करने के लिए प्रेरित करती हैं। एक बडी फर्म के स्वामी होने तथा अधिक आर्थिक शक्ति एव सम्मान प्राप्त करने की इच्छाएँ इस दशा की प्राप्ति के लिए उत्तरदायी हैं।

1 Tibor Scitovsky, A Note on Profit Maximization and its Implication, *The Review of Economic Studies*, Vol XI (1943), reprinted in *Readings in Price Theory* (AEA)

2 *Ibid*

(3) तृतीय, कुछ शक्तियाँ ऐसी होती हैं जो उद्यमकर्त्ता को जहाँ है वहीं रहने को, चाहे वह लाभ अधिकतम उत्पादन स्तर से कम उत्पादन कर रहा हो अथवा अधिक, प्रेरित करती हैं। ऐसा 'उचित कीमत' के विचार अथवा उद्यमकर्त्ता द्वारा परीक्षण (experiment) न करने की इच्छा के कारण होता है।

पूर्ण-लागत कीमत सिद्धान्त लाभ अधिकतम करने पर हाल तथा हिच का अनुभव-गम्य अध्ययन

(Full Cost Pricing Hall and Hitch's Empirical Study on Profit Maximization)

अन्त मे, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के दो प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियो, हाल व हिच द्वारा किये गये अनुभवगम्य अध्ययन का वर्णन करना आवश्यक है जो उन्होंने 32 उद्यमकर्त्ताओ का उनकी कीमत नीतियो के विषय मे इन्टरव्यू लेकर किया। अपने अनुभव-गम्य अध्ययन के आधार पर प्रो० हाल व हिच ने यह पता लगाया कि उद्यमकर्त्ता कभी भी अपनी सीमान्त लागत को सीमान्त आय के बराबर करके लाभ को अधिक करने का प्रयत्न नही करते क्योंकि उन्हें न तो सीमान्त लागत का पता होता है और न ही सीमान्त आय का। अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि उद्यमकर्त्ता *'पूर्ण लागत कीमत सिद्धान्त'* (*Full-Cost Pricing Theory*) के आधार पर कीमत निर्धारित करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, उद्यमकर्त्ता वह कीमत निर्धारित करते हैं जो उनकी औसत लागत, जिसमे सामान्य लाभ सम्मिलित होते हैं, को पूरा करती है। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यवसायी असामान्य लाभों को प्राप्त करने की इच्छा नही करते अर्थात् वे सामान्य लाभों, जिनको उचित समझा जाता है, से अधिक लाभ प्राप्त करने के बारे मे नही सोचते। इस प्रकार पूर्ण-लागत कीमत सिद्धान्त, जिसका पालन करना हाल व हिच ने अपनी जाँच मे पाया, लाभ अधिकतम करने के सिद्धान्त के विरुद्ध है। परन्तु यहाँ पर बता दिया जाय कि जिस प्रकार की मार्किट में हाल व हिच ने अपनी जाँच की थी वह एकाधिकारिक प्रतियोगिता वाली मार्किट थी जिसमे कुछ तत्त्व अल्पाधिकार के भी थे। इस प्रकार की मार्किट मे, अपनी वस्तु की कीमत निर्धारित करते समय व्यवसायी पर सबसे अधिक प्रभाव सुरक्षा से सम्बन्धित बातो का पड़ता है। असामान्य लाभों को प्राप्त करने के लिए यदि वे ऊँची कीमतें वसूल करेंगे तो नई फर्में उद्योग मे प्रवेश कर जाएँगी। इस प्रकार उस प्रकार की मार्किट म जिसमे नई फर्मों के मार्किट म प्रवेश करने पर अवरोध कम होते हैं और इसलिए जो उद्यमकर्त्ता मार्किट म हैं उनको यह डर लगा रहता है कि नई फर्में मार्किट म प्रवेश न कर जाएँ तो वे असामान्य लाभो को *प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करेंगे। इस प्रकार हम* देखते है कि अल्पाधिकारी तत्त्वों सहित एकाधिकारिक प्रतियोगिता (monopolistic competition) प्रकार की मार्किट म व्यापारियो के व्यवहार पर किये गये अनुभव-गम्य अध्ययन भी लाभ अधिकतम करने के सिद्धान्त का समर्थन नही करते।

लाभ को अधिकतम करना तथा मिश्रित पूंजी कम्पनियों के मैनेजर

(Profit Maximization and Managers of Joint Stock Companies)

फर्म लाभो को अधिकतम करने का प्रयत्न करती है अथवा नही यह इस बात पर निर्भर करता है कि उनके द्वारा किये गये व्यवसाय को कौन नियन्त्रित करता है। अर्थात्, व्यापार का निर्देशन व नियन्त्रण *फर्म का स्वामी स्वयं करता है* अथवा वेतन-प्राप्त मैनेजर, यह एक बहुत ही प्रासंगिक प्रश्न है। व्यक्तिगत स्वामित्व तथा साझेदारी की स्थितियों मे, स्वामी स्वयं कीमत तथा उत्पादन सम्बन्धी निर्णय लेते हैं तथा अन्य उद्यम संबंधी कार्य करते हैं। परन्तु आजकल के युग मे फर्मों, मुख्यत बड़ी फर्मों का संगठन ढाँचा मिश्रित पूंजी कम्पनियों अथवा जिनको निगम भी कहा जाता है, की प्रकृति का होता है। मिश्रित पूंजी कम्पनियों के सम्बन्ध मे स्वामित्व तथा प्रबन्ध पृथक्-पृथक् होता है। मिश्रित पूंजी कम्पनियो म हिस्सेदार फर्म के स्वामी

होते हैं जो कि जोखिम को वहन करते हैं परन्तु कीमत तथा उत्पादन के निर्णय वेतन प्राप्त करने वाले मैनेजरो द्वारा लिए जाते हैं। इस प्रकार के सगठन मे, व्यापार के लाभ तो हिस्सेदारो को प्राप्त होते हैं किन्तु मैनेजरो को निश्चित वेतन मिलता है। यह कहा गया है कि स्वामियो—साझेदारी तथा एकाकी स्वामित्व उद्यम कर्ताओ— से तो यह आशा की जा सकती है कि वे लाभो को अधिकतम करने का प्रयत्न करेंगे क्योंकि ऐसा करना उनके हित में है। परन्तु मिश्रित पूंजी कम्पनियो मे वेतन प्राप्त करने वाले मैनेजरो से यह आशा नही की जा सकती कि वे लाभो को अधिकतम करने का प्रयत्न करेंगे क्योंकि लाभ उनको प्राप्त नहीं होते, ये तो हिस्सेदारो को जाते है। यह सत्य हो सकता है कि जब मैनेजर हिस्सेदारो के लिए अधिक लाभो का अर्जन करते हैं तो उनको किसी न किसी रूप मे पारितोषिक दिया जाता है, परन्तु मैनेजरो द्वारा लाभो के अधिकतम न करने के पक्ष मे जो तर्क दिये गये हैं उनमे बहुत शक्ति और सत्य है। जिन व्यक्तियो को लाभ नही मिलते हैं, उनमे लाभो को अधिकतम करने की प्रेरणा क्षीण होती है।

ऊपर हमने देखा कि लाभ को अधिकतम करने की मान्यता, जिस पर कीमत सिद्धान्त आधारित है, आलोचना-रहित नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि लाभ अधिकतम करने की मान्यता के कारण कीमत व उत्पादन के सम्बन्ध मे फर्म के व्यवहार का विश्लेषण सरल हो जाता है किन्तु वास्तविक जगत् में व्याव-सायिक व्यवहार के सम्बन्ध म यह मान्यता सत्य है या नही इसमे बहुत शका है।

भाग 5

अपूर्ण प्रतियोगिता मे पदार्थों की कीमतो का निर्धारण

(PRODUCT PRICING UNDER IMPERFECT COMPETITION)

24

एकाधिकार में कीमत निर्धारण

(PRICING UNDER MONOPOLY)

हमने गत दो अध्यायों मे पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म और उद्योग के सन्तुलन की विवेचना द्वारा इस बात की व्याख्या की कि पूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत किस प्रकार निर्धारित होती है। एकाधिकार बाजार का एक अन्य महत्त्वपूर्ण रूप है जिसके अन्तर्गत फर्म के सन्तुलन तथा कीमत निर्धारण की व्याख्या करना आवश्यक है। इस प्रस्तुत अध्याय मे हम एकाधिकार के अन्तर्गत उत्पादन तथा कीमत के निर्धारण की सविस्तार व्याख्या करेंगे तथा उनकी पूर्ण प्रतियोगिता मे सन्तुलन से तुलना करेंगे।

एकाधिकार का अर्थ तथा उसके होने की आवश्यक शर्तें

(Meaning of Monopoly and Essential Conditions for its Existence)

एकाधिकार किसे कहते हैं? एकाधिकार तब होता है जब किसी ऐसे पदार्थ का, जिसके कोई निकट के स्थानापन्न उपलब्ध न हों, केवल एक ही उत्पादक फर्म अथवा विक्रेता हो (Monopoly is said to exist when there is only one producer or seller of a product which has no close substitutes)। एकाधिकार की इस परिभाषा मे तीन बातें ध्यान देने योग्य है। प्रथम, एकाधिकार के लिए एक पदार्थ का एक उत्पादक अथवा विक्रेता होना आवश्यक है। यह एक उत्पादक चाहे एक व्यक्तिगत स्वामी के रूप मे हो, चाहे एक साझेदारी अथवा मिश्रित पूँजी कम्पनी के रूप मे हो। यदि एक पदार्थ को उत्पादित करने वाले बहुत से उत्पादक है तो ऐसी स्थिति मे पूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता होगी। यदि एक पदार्थ का उत्पादन करने वाले बहुत से उत्पादक हैं तथा विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित पदार्थ बिल्कुल एक समान हैं तो वह स्थिति पूर्ण प्रतियोगिता की होगी। यदि एक पदार्थ को उत्पादित करने वाली बहुत सी फर्मे हैं परन्तु विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित पदार्थों मे थोडा बहुत अन्तर है पर वे निकट के स्थानापन्न (close substitutes)

हैं तो ऐसी स्थिति को एकाधिकारक प्रतियोगिता (Monopolistic Competition) कहते हैं। इसके विरुद्ध जब एक पदार्थ के थोड़े से उत्पादक अथवा विक्रेता होते है तो उस स्थिति को अल्पाधिकार (oligopoly) कहते हैं। अत यदि एकाधिकार स्थापित होना है तो एक पदार्थ का एक ही उत्पादक अथवा विक्रेता का होना अत्यावश्यक है। शाब्दिक अर्थों मे भी अंग्रेजी के "मोनोपोली" (monopoly) शब्द का अर्थ एक विक्रेता होता है। अंग्रेजी के मोनो (mono) का अर्थ है एक और पोली (poly) का अर्थ है विक्रेता अर्थात् मोनोपोली का अर्थ है एक विक्रेता अथवा एक उत्पादक।

किन्तु यह कहना कि एकाधिकार का अर्थ एक विक्रेता अथवा एक उत्पादक है काफी नहीं है। एकाधिकारी होने के लिए द्वितीय शर्त यह है कि एक फर्म द्वारा उत्पादित पदार्थ के निकट के स्थानापन्न पदार्थ उपलब्ध न हो। यदि कोई फर्म ऐसी है जो किसी पदार्थ के निकट के स्थानापन्न उत्पादित कर रही है तो उनमे परस्पर मे प्रतियोगिता होगी। इस प्रतियोगिता के पाए जाने की स्थिति मे कोई फर्म एकाधिकार वाली फर्म नहीं हो सकती। एकाधिकार का अर्थ है सब प्रकार की प्रतियोगिता का अभाव। उदाहरणत भारत मे बिनाका (Binaca) टुथपेस्ट उत्पादित करने वाली केवल एक ही फर्म है परन्तु इसे एकाधिकार नहीं कहा जा सकता क्योंकि कई ऐसी फर्में हैं जो बिनाका के निकट के स्थानापन्न पदार्थ उत्पादित करती हैं जैसे कि कोलगेट (Colgate), कॉलीनास (Kolynos), फॉरंन्स (Forhans), मैक्लीन (Maclean) आदि टुथपेस्ट की विभिन्न किस्में बाजार मे एक दूसरे की प्रतियोगिता करती हैं और उनमे से किसी के उत्पादक को भी एकाधिकारी नहीं कहा जा सकता। प्रोफेसर बोबर (Bober) उचित ही कहते हैं कि "किसी पदार्थ का एक ही विक्रेता होना ही किसी को कीमत निर्धारित करने की शक्ति रखने के भाव मे एकाधिकारी नहीं बना देता। एक विक्रेता होने पर सम्भवत वह ताज बिना राजा के समान हो।"[1]

1 M M Bober, *Intermediate Price and Income Theory*, revised edition, 1962, p 237

एकाधिकार की आवश्यक द्वितीय शर्त को हम माँग की प्रति सापेक्षता (cross elasticity of demand) मे भी प्रकट कर सकते हैं। जैसा कि हम जानते हैं कि माँग की प्रति सापेक्षता किसी वस्तु की माँग पर किसी अन्य वस्तु की कीमत मे परिवर्तन के प्रभाव को व्यक्त करती है। इसलिए एकाधिकार के लिए माँग की प्रति सापेक्षता एकाधिकारी के पदार्थ तथा अन्य किसी उत्पादक के पदार्थ के बीच प्रति सापेक्षता का बहुत कम होना आवश्यक है।

यह तथ्य कि एकाधिकार के अन्तर्गत एक फर्म होती है, का तात्पर्य यह है कि किसी न किसी कारण उस उद्योग मे अन्य फर्मों के आने मे कठिन अवरोध पाये जाते हैं। अन्य शब्दो मे, जहाँ एक फर्म का किसी पदार्थ के उत्पादन पर नियन्त्रण है तो यह आवश्यक है कि उसमे फर्मों के प्रवेश के लिए विकट अवरोध अथवा प्रतिबन्ध हैं। ये अवरोध जो फर्मों को किसी उद्योग मे प्रवेश करने से रोकते है आर्थिक प्रकार के (economic) अथवा संस्थागत और कृत्रिम प्रकार के (institutional and artificial) हो सकते हैं। एकाधिकार की दशा मे ये रुकावटें अथवा प्रतिबन्ध इतने प्रबल होते हैं कि उद्योग मे एक फर्म को छोड़कर जो उस क्षेत्र मे पहले ही है, अन्य कोई फर्म प्रवेश नहीं कर सकती।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि एकाधिकार के होने के लिए तीन शर्तों की पूर्ति होना आवश्यक है—(1) एक पदार्थ का एक ही उत्पादक अथवा विक्रेता हो। (2) उस पदार्थ के निकट के स्थानापन्न वर्तमान न हो। (3) उस उद्योग मे प्रवेश के लिए बडी रुकावटें अथवा विकट अवरोध हो।

एकाधिकार के लिए माँग, औसत आय तथा सीमान्त आय वक्र

(Demand, Average Revenue and Marginal Revenue Curves under Monopoly)

एकाधिकार के लिए माँग वक्र के स्वरूप को समझना आवश्यक है। पूर्ण प्रतियोगिता में जबकि एक व्यक्तिगत फर्म के समक्ष माँग वक्र, जैसा कि हम

गत अध्यायों में पढ चुके हैं, एक समानान्तर सरल रेखा होता है, परन्तु समस्त उद्योग का माँग वक्र बायें से दायीं ओर को झुका हुआ होता है। ऐसा इस लिए है कि माँग उपभोक्ताओं की होती है और उपभोक्ताओं का माँग वक्र, जैसा कि हम माँग के सिद्धान्त मे पढ चुके हैं, नीचे की ओर झुका हुआ होता है। उपभोक्ताओं का नीचे की ओर झुका हुआ माँग वक्र समस्त प्रतियोगी उद्योग का माँग वक्र होता है। परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता मे एक व्यक्तिगत फर्म का माँग वक्र नीचे की ओर झुका हुआ नही होता। इसका कारण यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे एक व्यक्तिगत फर्म समस्त उद्योग की अनेक फर्मों मे से केवल एक फर्म होती है जिससे कि वह अपना व्यक्तिगत उत्पादन घटा-बढा कर कीमत को प्रभावित नही कर सकती। एक पूर्ण प्रतियोगिता वाली फर्म को बाजार मे पदार्थ की प्रचलित कीमत को स्थिर मान कर चलना पडता है। वह प्रचलित कीमत पर वस्तु की जितनी मात्रा चाहे बेच सकती है। इसलिए सम्पूर्ण प्रतियोगिता में व्यक्तिगत फर्म का माँग वक्र वस्तु की प्रचलित कीमत पर समानान्तर सरल रेखा होता है। एक पूर्ण प्रतियोगिता वाली फर्म केवल अपनी उत्पादन-मात्रा को ही निश्चित करती है, उसका कीमत पर कोई प्रभाव नही होता।

परन्तु एकाधिकार वाली फर्म उद्योग में स्वयं एक ही फर्म होती है। इसलिए उपभोक्ताओं की समस्त माँग उस एकाधिकारी के लिए होती है। चूँकि एक वस्तु के लिए उपभोक्ताओं का माँग वक्र नीचे की ओर झुका हुआ होता है, इसलिए एकाधिकारी यदि अपनी वस्तु की बिक्री बढाना चाहता है तो उसे उसकी कीमत को घटाना होगा और यदि वह कीमत को बढाता है तो उसकी वस्तु की बिक्री घट जाएगी। दूसरे शब्दो मे, एकाधिकारी अपनी बिक्री तथा उत्पादन को बढाकर वस्तु की कीमत को घटा सकता है और अपनी बिक्री और उत्पादन को घटाकर कीमत को बढा सकता है। एक पूर्ण प्रतियोगिता वाली फर्म तो उत्पादित करने के लिए केवल मात्रा को निश्चित करती है क्योंकि कीमत तो उसके लिए स्थिर होती है। परन्तु एकाधिकारी को अधिक जटिल समस्या का सामना करना होता है। इसे केवल एक दी हुई कीमत पर केवल उत्पादन मात्रा को ही निश्चित नही करना होता है क्योंकि उसके द्वारा मात्रा मे कोई भी परिवर्तन वस्तु की कीमत मे परिवर्तन करेगा। रेखाकृति 24.1
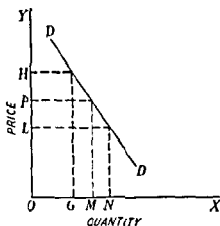
रेखाकृति 24.1

एकाधिकारी के सम्मुख माँग वक्र

पर विचार कीजिए। इस रेखाकृति मे DD वक्र एकाधिकारी का माँग वक्र है। कीमत OP पर वस्तु की माँग मात्रा OM है, अतएव वह वस्तु की OM मात्रा को कीमत OP पर बेच सकेगा। यदि वह वस्तु की अधिक मात्रा ON को बेचना चाहता है तो उसे कीमत घटा कर OL करनी होगी। इसके विरुद्ध यदि वह वस्तु की मात्रा को घटा कर OG कर देता है तो कीमत बढ कर OH हो जाएगी। इस प्रकार हम देखते है कि एकाधिकारी द्वारा वस्तु की मात्रा मे *किसी भी परिवर्तन से उसकी कीमत पर प्रभाव पड़ता* है। अत एकाधिकार के समक्ष समस्या यह है कि वह किस कीमत तथा मात्रा के संयोग को चयन करे जो कि उसके लिए अनुकूलतम हो अर्थात् जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके।

एकाधिकारी के लिए माँग वक्र ही उसका औसत आय वक्र (average revenue curve) होगा। माँग वक्र नीचे की ओर झुका हुआ होने के कारण एकाधिकारी का औसत आय वक्र भी नीचे की ओर झुका हुआ होगा। परिणामस्वरूप औसत आय वक्र सीमान्त

आय वक्र (marginal revenue curve) के नीचे स्थित होगा। यह औसत तथा सीमान्त मात्रा मे सामान्य सम्बन्ध के अनुसार है। सीमान्त आय वक्र का औसत आय वक्र के नीचे स्थित होने का अभिप्राय

रेखाकृति 24.2

एकाधिकार मे औसत तथा सीमान्त आय वक्र
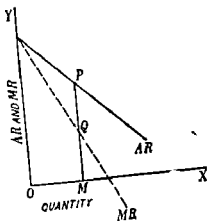
यह है कि सीमान्त आय, कीमत अथवा औसत आय से प्रत्येक उत्पादन-मात्रा पर कम होगी। जब एकाधिकारी वस्तु की अधिक मात्रा बेचता है तो उसकी कीमत घट जाती है, इसलिए सीमान्त आय कीमत से अवश्य कम होगी। रेखाकृति 24.2 मे AR वक्र एकाधिकारी का औसत आय वक्र है जो कि नीचे की ओर झुका हुआ है। MR सीमान्त आय वक्र है जो कि औसत आय वक्र AR के नीचे है। उत्पादन मात्रा OM पर औसत आय वक्र अथवा कीमत MP है और सीमान्त आय MQ है जो कि MP से कम है। पिछले अध्याय मे हम पढ चुके हैं कि किसी मात्रा पर औसत आय तथा सीमान्त आय तथा मूल्यसापेक्षता (elasticity) मे महत्वपूर्ण सम्बन्ध होता है जो कि निम्न सूत्र से व्यक्त किया जाता है।

$$\text{सीमान्त आय} = \text{औसत आय}\left(\frac{\text{मूल्यसापेक्षता}-1}{\text{मूल्यसापेक्षता}}\right)$$

$$MR = AR\left(\frac{e-1}{e}\right)$$

जहा पर e मूल्यसापेक्षता (price elasticity) का द्योतक है।

चूँकि औसत आय (AR) तथा कीमत समान ही तत्व हैं।

$$\text{अत } MR = \text{कीमत}\left(\frac{e-1}{e}\right)$$

चूँकि $\left(\frac{e-1}{e}\right)$ इकाई से कम होगा, सीमान्त आय (MR) कीमत से कम होगी अर्थात् कीमत, सीमान्त आय (MR) से अधिक होगी। उपर्युक्त सम्बन्ध को निम्न प्रकार से भी लिखा जा सकता है—

$$\text{कीमत} = MR\left(\frac{e}{e-1}\right)$$

सीमान्त आय (MR) वक्र, औसत आय (AR) वक्र से कितना नीचे होगा, यह $\frac{e-1}{e}$ की मात्रा पर निर्भर करता है।

एकाधिकारी का मॉग वक्र अन्य फर्मों पर निर्भर नही करता, यह तो पदार्थ विशेष के उपभोक्ताओं की मॉग वक्र पर ही निर्भर करता है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अल्पाधिकार अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्य कर रही फर्म की स्थिति के विपरीत एक एकाधिकारी अपने द्वारा किए गए कीमत के परिवर्तनो के अन्य फर्मों पर होने वाले प्रभावो को ध्यान मे नही लाता। जैसा कि हम ऊपर पढ चुके हैं, एकाधिकार के स्थापित होने के लिए आवश्यक शर्त यह है कि एकाधिकारी के पदार्थ तथा अन्य फर्मों के पदार्थों में बहुत अधिक अन्तर होता है जिससे कि एकाधिकारी द्वारा अपनी वस्तु की कीमतो मे परिवर्तन का दूसरी फर्मों पर कोई प्रभाव नही पडता और इसलिए अन्य फर्में भी एकाधिकारी द्वारा कीमत में परिवर्तन के प्रतिक्रियास्वरूप अपनी कीमत नीतियो में कोई परिवर्तन नही करती।

एकाधिकार में कीमत-उत्पादन संतुलन (Price-Output Equilibrium Under Monopoly)

पूर्ण प्रतियोगी फर्म की तरह एकाधिकारी भी अपने लाभ को अधिकतम करने की चेष्टा करता है। लाभ अधिकतम करने की मान्यता जिस पर कि पूर्ण

प्रतियोगिता वाली फर्म का सन्तुलन विश्लेषण आधारित है, एकाधिकारी की परिस्थिति में भी सही मानी जाती है। एकाधिकारी का लक्ष्य भी पूर्ण प्रतियोगिता में कार्य कर रहे उत्पादक के लक्ष्य के समान है अर्थात् दोनों अपने मुद्रा-लाभ को अधिकतम करने की चेष्टा करते हैं। इसलिए जहाँ तक एकाधिकारी के लक्ष्य अथवा उद्देश्य का सम्बन्ध है, वह पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म की तुलना में कोई अधिक बुरा नहीं है। पूर्ण प्रतियोगिता में व्यक्तिगत फर्म के लिए माँग वक्र क्षितिज के समानान्तर सरल रेखा होता है और सीमान्त आय उसकी औसत आय के बराबर होती है। परन्तु एकाधिकारी का माँग वक्र अर्थात् औसत आय वक्र नीचे की ओर भुका हुआ होता है तथा उसका सीमान्त आय (MR) वक्र औसत आय (AR) वक्र के नीचे स्थित होता है। एकाधिकारी तथा पूर्ण प्रतियोगिता की फर्म के लिए माँग दशाओं में इस अन्तर के कारण ही इन दोनों में अधिकतम लाभ के उद्देश्य के भिन्न-भिन्न परिणाम निकलते हैं।

एकाधिकार में सन्तुलन को रेखाकृति 24 3 में दर्शाया गया है। एकाधिकारी वस्तु की अतिरिक्त इकाइयाँ उत्पादित करता चला जाएगा जब तक कि
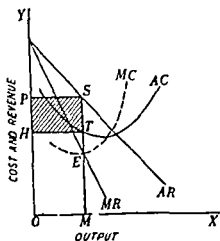
रेखाकृति 24 3 एकाधिकारी का सन्तुलन

सीमान्त आय (MR), सीमान्त लागत (MC) से अधिक होती है। ऐसा इसलिए है क्योंकि प्रत्येक ऐसी इकाई उत्पादित करना जिससे लागत की अपेक्षा आय में अधिक वृद्धि होती है लाभकारी है। एकाधिकारी के लाभ उस उत्पादन स्तर पर अधिकतम होंगे जिस पर कि सीमान्त आय (MR) सीमान्त लागत (MC) के बराबर है। रेखाकृति 24 3 में देखा जाएगा कि उत्पादन स्तर OM पर ही सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर हैं क्योंकि उत्पादन OM के लम्बवत् ऊपर बिन्दु E पर ही सीमान्त लागत (MC) वक्र और सीमान्त आय (MR) वक्र परस्पर काटते हैं। यदि एकाधिकारी OM मात्रा से कम मात्रा उत्पादित करता है तो उसके लाभ कम होंगे। इसके विरुद्ध, यदि वह OM से अधिक उत्पादन करता है तो सीमान्त लागत सीमान्त आय से अधिक होगी जिससे वह OM से अतिरिक्त इकाइयों पर हानि उठा रहा होगा। अतः उत्पादन मात्रा OM पर ही उसे अधिकतम लाभ प्राप्त होंगे और इस पर ही उसका सन्तुलन होगा। रेखाकृति 24 3 से स्पष्ट है कि वस्तु की OM मात्रा बेचने से एकाधिकारी को MS अथवा OP कीमत प्राप्त होगी। उसके द्वारा अर्जित कुल लाभ $HTSP$ के क्षेत्रफल के बराबर है।

एकाधिकार और पूर्ण प्रतियोगिता में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर ध्यान देने योग्य यह है कि जबकि पूर्ण प्रतियोगिता में कीमत सीमान्त लागत के बराबर होती है, एकाधिकार में ऐसा नहीं है। एकाधिकारी का माँग वक्र नीचे को गिर रहा होता है और उसका सीमान्त आय (MR) वक्र औसत आय (AR) वक्र के नीचे स्थित होता है। इसलिए एकाधिकार में सन्तुलन की दशा में जब सीमान्त लागत (MC) सीमान्त आय (MR) के बराबर होती है तो यह कीमत अथवा औसत आय से कम होगी। रेखाकृति 24 3 में देखा जाएगा कि सन्तुलन मात्रा OM पर सीमान्त लागत और सीमान्त आय बराबर हैं और दोनों ही ME के समान हैं परन्तु वे कीमत अथवा औसत आय MS से कम हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि एकाधिकार में कीमत, सीमान्त लागत से अधिक होती है। यह उल्लेखनीय है कि एकाधिकार में कीमत सीमान्त लागत के समान तो नहीं होगी, परन्तु उसका सीमान्त लागत से एक निश्चित सम्बन्ध होगा। हम जानते हैं :

$$\text{कीमत} = \text{सीमान्त आय}\left(\frac{e}{e-1}\right)$$

$$\text{कीमत} = MR\left(\frac{e}{e-1}\right)$$

जहाँ पर MR सीमान्त आय की और e मूल्य-सापेक्षता की सूचक हैं।

चूँकि सन्तुलन मे, सीमान्त आय (MR) = सीमान्त लागत (MC)

$$\text{इसलिए, कीमत} = \text{सीमान्त लागत}\left(\frac{e}{e-1}\right)$$

$$\text{कीमत} = MC\left(\frac{e}{e-1}\right)$$

$\frac{e}{e-1}$, मूल्यसापेक्षता की किसी दी हुई मात्रा पर इकाई से अधिक होगी, इसलिए एकाधिकार मे,

कीमत > सीमान्त लागत

इसके अतिरिक्त, चूँकि एकाधिकार मे कीमत = सीमान्त लागत $\left(\frac{e}{e-1}\right)$ के बराबर होती है, इसलिए कीमत, सीमान्त लागत से कितनी अधिक होगी यह सन्तुलन उत्पादन पर औसत आय वक्र की मूल्य-सापेक्षता पर निर्भर करता है। अत एकाधिकार मे कीमत, वस्तु की सीमात लागत तथा माँग की मूल्य-सापेक्षता पर निर्भर करती है।

अब प्रश्न उठता है एकाधिकारी रेखाकृति 24 3 मे कितना लाभ प्राप्त कर रहा होगा। यह स्मरणीय है कि प्रति इकाई लाभ औसत लागत और औसत आय मे अन्तर के बराबर होता है। रेखाकृति देखने पर मालूम होगा कि सन्तुलन उत्पादन मात्रा OM पर औसत लागत MT है और औसत आय MS है, इसलिए इसमे अन्तर TS प्रति इकाई असामान्य लाभ होगा। अब चूँकि उत्पादन OM अथवा HT है, इसलिए कुल लाभ, अन्तर TS को HT मे गुणा करने पर प्राप्त होगा। अत कुल लाभ $HTSP$ के क्षेत्रफल के बराबर होगा।

एकाधिकार मे कीमत-उत्पादन सन्तुलन के विषय मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि एकाधिकारी अपने माँग वक्र अथवा औसत आय वक्र के किसी ऐसे बिन्दु पर सन्तुलन मे नहीं होगा जहाँ माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई से कम हो। दूसरे शब्दो मे, एकाधिकारी अपने उत्पादन के स्तर को क्षैतिज माँग वक्र की दशा मे उसके मध्य बिन्दु से नीचे निश्चित नही करेगा बशर्ते कि सीमान्त लागत MC धनात्मक (positive) हो जो कि वास्तव मे होती है। चूँकि सीमान्त लागत कभी भी ऋणात्मक (negative) नही हो सकती, सीमान्त आय और सीमान्त लागत मे समानता माँग की मूल्य-सापेक्षता के इकाई से कम होने की दशा मे प्राप्त नही हो सकती। माँग की मूल्यसापेक्षता के इकाई से कम होने का अर्थ है कि सीमान्त लागत का ऋणात्मक अर्थात् शून्य से भी कम होना। सीमान्त लागत के शून्य से कम न होने के कारण सन्तुलन वहाँ नही हो सकता जहाँ सीमान्त आय ऋणात्मक हो। हम मूल्यसापेक्षता तथा सीमान्त आय म सम्बन्ध से जानते है कि जब मूल्यसापेक्षता इकाई मे कम होती है तो सीमान्त आय ऋणात्मक होती है। अत कोई भी विवेकशील एकाधिकारी अपनी सीमान्त आय वक्र के किसी ऐसे बिन्दु अथवा भाग पर उत्पादन नही करेगा जिससे उसे ऋणात्मक सीमान्त आय प्राप्त हो अर्थात् जब उसकी कुल आय मे कमी होती हो, जबकि अतिरिक्त इकाइयाँ उत्पन्न करने से उसकी कुल लागत मे वृद्धि होगी। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एकाधिकारी अपनी उत्पादन मात्रा को वहाँ निश्चित नहीं करेगा जहाँ उसके माँग वक्र की मूल्यसापेक्षता इकाई से कम हो। उसका सन्तुलन हमेशा उस उत्पादन स्तर पर होगा जहाँ माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक है। हम यह जानते हैं कि एक सरल रेखा के माँग वक्र (अथवा औसत आय वक्र) के मध्य बिन्दु पर मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर होती है और इस इकाई की मूल्यसापेक्षता के अनुसार उत्पादन मात्रा पर सीमान्त आय शून्य (zero) के बराबर होती है। माँग वक्र के मध्य बिन्दु के नीचे मूल्यसापेक्षता इकाई से कम होती है और सीमान्त आय ऋणात्मक। इस प्रकार हम देखते हैं कि एकाधिकारी का सन्तुलन औसत आय वक्र (माँग वक्र) के मध्य बिन्दु के नीचे नही होगा। सन्तुलन सदैव औसत आय वक्र के मध्य बिन्दु

के ऊपर स्थित होगा। मध्य बिन्दु के ऊपर के भाग मे यह कहाँ पर स्थित होगा यह सीमान्त लागत वक्र तथा सीमान्त आय वक्र पर निर्भर करता है। हम ऊपर पढ आये हैं कि एकाधिकारी का सन्तुलन उस उत्पादन मात्रा पर होगा जहाँ सीमान्त आय और सीमान्त लागत वक्र परस्पर काटते हैं।

सीमान्त लागत के शून्य होने की स्थिति मे एकाधिकारी का सन्तुलन (Monopoly Equilibrium in Case of Zero Marginal Cost)

कुछ दशाएँ ऐसी हैं जिनमे सीमान्त लागत शून्य (zero) होती है अर्थात् उत्पादन की अतिरिक्त इकाइयाँ उत्पादित करने पर कोई लागत नही उठानी पडती। उदाहरण के लिए, खनिज जल के चश्मे की दशा मे खनिज जल उत्पादित करने मे कोई लागत नही उठानी पडती। इसके अतिरिक्त, अति अल्पकाल मे जबकि पदार्थ का उत्पादन हो चुका होता है तो उस समय वस्तु की उत्पादन लागत को उत्पादन-मात्रा निर्धारित करने के लिए ध्यान मे नही लाना होता तो तब उत्पादन लागत को शून्य मान कर ही बिक्री की मात्रा निश्चित की जाती है। इन दशाओ मे जिनसे या तो उत्पादन की लागत शून्य होती है अथवा सन्तुलन मात्रा निश्चित करने के लिए उन लागतो को ध्यान मे लाना अनावश्यक होता है तो उस स्थिति मे एकाधिकारी का सन्तुलन उस उत्पादन-स्तर पर होगा जहाँ कि माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर होती है। इसका कारण यह है कि ऐसी दशाओ मे एकाधिकारी को यह निश्चय करना होता है कि किस उत्पादन मात्रा पर उसे अधिकतम कुल आय प्राप्त होगी। और कुल आय उस उत्पादन मात्रा पर ही अधिकतम होती है जहाँ सीमांत आय शून्य होती है। जब सीमान्त लागत शून्य होती है तो अधिकतम लाभ प्राप्ति की शर्त अथवा सीमान्त लागत और सीमान्त आय मे समानता, उस उत्पादन मात्रा पर होगी जहाँ सीमान्त आय शून्य के बराबर है। रेखाकृति 24 4 में सीमान्त लागत शून्य होने की दशा में एकाधिकारी के सन्तुलन को दर्शाया गया है।

इस रेखाकृति मे AR औसत आय वक्र अथवा माँग वक्र है और MR सीमान्त आय वक्र है। इस स्थिति मे एकाधिकारी का सन्तुलन उत्पादन की ON मात्रा पर होगा क्योकि ON पर ही सीमान्त आय शून्य (zero) है। इस स्थिति मे एकाधिकारी द्वारा निश्चित कीमत NS अथवा OP होगी। उत्पादन की ON मात्रा से एकाधिकारी को अधिकतम लाभ प्राप्त होगा क्योकि
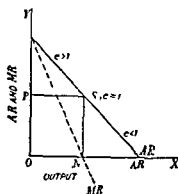
रेखाकृति 24 4 : एकाधिकारी का सन्तुलन : सीमान्त लागत शून्य होने की स्थिति मे

इससे अधिक मात्रा पर सीमान्त आय ऋणात्मक हो जाती है और इसलिए कुल आय घटना आरम्भ कर देती है। ऐसी स्थिति मे उत्पादन लागत शून्य होने के कारण, कुल अर्जित लाभ कुल आय के बराबर होगा। ON उत्पादन मात्रा पर कुल आय अधिकतम होने के कारण कुल लाभ भी इस पर अधिकतम होगा। उत्पादन की ON मात्रा पर सीमान्त आय शून्य है और जैसा कि हम देख आये हैं जिस मात्रा पर सीमान्त आय शून्य होती है उसके अनुरूप औसत आय वक्र पर माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर होती है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि जब सीमान्त लागत शून्य होती है तो एकाधिकारी का सन्तुलन उत्पादन की उस मात्रा पर होता है जहाँ कि माँग की मूल्यसापेक्षता इकाई के बराबर होती है। यदि सीमान्त लागत धनात्मक हो तो एकाधिकारी का सन्तुलन उस उत्पादन-स्तर पर होगा जहाँ उसकी माँग अथवा औसत आय वक्र पर मूल्यसापेक्षता इकाई से अधिक होगी।

एकाधिकार में सन्तुलन तथा पूर्ण प्रतियोगिता मे सन्तुलन की तुलना

(Monopoly Equilibrium and Perfectly Competitive Equilibrium Compared)

गत दो अध्यायो मे हम पढ चुके है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म और उद्योग के सन्तुलन की क्या शर्तें हैं और पूर्ण प्रतियोगिता मे वस्तु की कीमत का निर्धारण किस प्रकार होता है। वर्तमान अध्याय मे हमने एकाधिकार मे कीमत तथा उत्पादन के सन्तुलन के बारे मे पढा है। अब यह उचित होगा कि हम एकाधिकारी के सन्तुलन तथा पूर्ण प्रतियोगिता म फर्म और उद्योग के सन्तुलन की तुलना करें। इन दोनों मे केवल समानता यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार म फर्म उस उत्पादन मात्रा पर सन्तुलन मे होती है जहाँ सीमान्त आय सीमान्त लागत के समान हो। इस समानता के बावजूद इनम कई महत्वपूर्ण अन्तर पाये जाते है जिनकी हम नीचे व्याख्या करते हैं।

इन दो मे एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जबकि पूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत, सन्तुलन की स्थिति मे, सीमान्त लागत (MC) के बराबर होती है किन्तु एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत, सीमान्त लागत (MC) से अधिक होती है। इसका कारण यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे औसत आय (AR) वक्र एक समानान्तर सरल रेखा होता है और इसलिए सीमान्त आय (MR) वक्र औसत आय (AR) वक्र के साथ मिला हुआ होता है जिसके परिणामस्वरूप सीमान्त आय और औसत आय उत्पादन के प्रत्येक स्तर पर परस्पर बराबर होते हैं। इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता मे सन्तुलन मात्रा पर सीमान्त लागत न केवल सीमान्त आय के बराबर होती है, बल्कि वह कीमत अथवा औसत आय के भी बराबर होती है। इसके विरुद्ध, एकाधिकारी के लिए औसत आय वक्र नीचे की ओर झुका हुआ होता है और सीमान्त आय वक्र उसके नीचे होता है। परिणामस्वरूप एकाधिकार मे कीमत अथवा औसत आय प्रत्येक उत्पादन-मात्रा पर सीमान्त आय से अधिक होती है। अत एकाधिकारी की सन्तुलन उत्पादन मात्रा पर जहाँ सीमान्त लागत (MC), सीमान्त आय (MR) के बराबर होती है कीमत सीमान्त लागत (MC) से अधिक होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जबकि पूर्ण प्रतियोगिता मे सीमान्त लागत (MC) = सीमान्त आय (MR) = कीमत (Price) होती है, एकाधिकार मे सन्तुलन की दशा मे सीमान्त लागत (MC) = सीमान्त आय (MR) > कीमत।

दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जबकि पूर्ण प्रतियोगिता मे सन्तुलन केवल तब सम्भव होता है जहां सन्तुलन मात्रा पर सीमांत लागत बढ़ रही हो, परन्तु एकाधिकारी का सन्तुलन तीनों दशाओं मे सम्भव है अर्थात जब सीमान्त लागत बढ रही हो, स्थिर हो अथवा सन्तुलन मात्रा पर घट रही हो। ऐसा इसलिए है कि सन्तुलन की द्वितीय शर्त अर्थात सीमान्त लागत
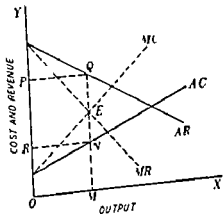
रेखाकृति 24.5
एकाधिकार मे सन्तुलन बढ़ती सीमान्त लागत की दशा मे

(MC) वक्र सीमान्त आय (MR) वक्र को सन्तुलन मात्रा पर नीचे से काटे, एकाधिकार की दशा मे तीनो स्थितियों मे पूरी हो सकती है, चाहे सीमान्त लागत वक्र ऊपर को चढ़ रहा हो, स्थिर हो अथवा गिर रहा हो। इसके विरुद्ध, पूर्ण प्रतियोगिता मे सन्तुलन की दूसरी शर्त केवल तब पूरी होती है जब सीमान्त लागत (MC) वक्र ऊपर को चढ़ रहा हो। चूँकि पूर्ण प्रतियोगिता मे सीमान्त लागत वक्र एक समानान्तर सरल रेखा

होता है, सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय वक्र को नीचे से तभी काट सकता है जबकि सीमान्त लागत वक्र ऊपर को चढ रहा हो। परन्तु एकाधिकार मे
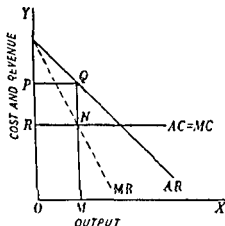
रेखाकृति 24 6
एकाधिकारी का सन्तुलन स्थिर सीमान्त लागत की दशा मे

सीमान्त लागत वक्र नीचे को गिरता हुआ होता है, इसलिए सीमान्त लागत वक्र इसको नीचे से काट
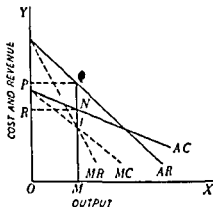
रेखाकृति 24·7
एकाधिकारी का सन्तुलन घटती सीमान्त लागत की दशा मे

सकता है चाहे यह (अर्थात् सीमान्त लागत वक्र) ऊपर को चढ रहा हो, स्थिर हो अथवा गिर रहा हो। एकाधिकारी का सन्तुलन इन तीनों दशाओ मे रेखाकृति 24 5, 24 6 और 24 7 मे प्रदर्शित किया गया है। रेखाकृति 24 5 एकाधिकारी के सन्तुलन को ऊपर को चढ़ते सीमान्त (increasing marginal cost) वक्र की दशा मे दर्शाती है। रेखाकृति 24 6 मे एकाधिकारी के सन्तुलन को स्थिर सीमान्त लागत (constant marginal cost) की स्थिति मे दिखाया गया है। रेखाकृति 23 7 मे एकाधिकारी की सन्तुलन स्थिति सीमान्त लागत के घट रहे (decreasing marginal cost) होने की दशा मे दिखाई गई है। इन तीनो हालतों मे कीमत OP निर्धारित होती है, सन्तुलन उत्पादन-मात्रा OM है और फर्म को $RNQP$ के क्षेत्रफल के बराबर कुल लाभ प्राप्त हो रहे है, परन्तु तीन रेखाकृतियो मे कीमत, उत्पादन-मात्रा तथा कुल लाभ की मात्राएँ भिन्न भिन्न हैं।

इन दो मे एक और उल्लेखनीय अन्तर यह है कि जबकि पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्म का दीर्घकालीन सन्तुलन औसत लागत वक्र मे निम्नतम बिन्दु पर होता है, एकाधिकारी फर्म का सन्तुलन सामान्यत उस उत्पादन मात्रा पर होता है जहाँ कि अभी औसत लागत घट रही होती है और अपने निम्नतम स्तर पर नहीं पहुँची होती। दूसरे शब्दो मे, जबकि पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्म दीर्घकाल मे इष्टतम अथवा अनुकूलतम आकार (optimum size) की होती है, एकाधिकारी फर्म इष्टतम आकार से कम आकार की होती है। इसका कारण यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता वाली फर्म के लिए यह सदा लाभकर होता है कि वह अपने उत्पादन को बढाती जाये जब तक कि औसत लागत गिर रही होती है क्योंकि उसकी औसत आय और सीमान्त आय तो स्थिर ही रहती है। परन्तु एकाधिकारी को औसत लागत के निम्नतम बिन्दु तक उत्पादन को बढाना लाभप्रद नहीं होता। प्राय उसका सीमान्त आय वक्र सीमान्त लागत वक्र को उस उत्पादन स्तर पर काटता है जहाँ कि औसत लागत अभी घट रही होती है जैसा कि रेखाकृति 24 3 से स्पष्ट है। इसके विरुद्ध पूर्ण प्रतियोगिता म फर्म की सीमान्त आय अथवा कीमत दीर्घकालीन सतुलन म सीमान्त लागत और न्यूनतम औसत लागत के बराबर होनी है। दूसरे शब्दो मे, पूर्ण प्रतियोगिता की फर्म

के लाभ दीर्घकाल मे उस उत्पादन मात्रा पर ही अधिकतम होते हैं जहाँ कि दीर्घकालीन औसत लागत न्यूनतम होती है।

एकाधिकार और पूर्ण प्रतियोगिता मे सन्तुलनों मे एक और अन्तर यह है कि जबकि पूर्ण प्रतियोगिता की फर्म दीर्घकाल मे केवल सामान्य लाभ ही अर्जित कर सकती है, एकाधिकारी दीर्घकाल मे भी प्राय असामान्य लाभ प्राप्त करता है। पूर्ण प्रतियोगिता मे जब अल्पकाल मे फर्मों को सामान्य से अधिक लाभ हो रहे होते हैं तो उस उद्योग-विशेष मे नई फर्में प्रवेश करती हैं और इस प्रकार अधिक
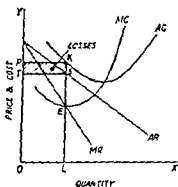
रेखाकृति 24 8 एकाधिकारी का सन्तुलन हानि की अवस्था में

प्रतियोगिता के कारण लाभ समाप्त हो जाते हैं। परन्तु एकाधिकार मे दीर्घकाल मे भी फर्म असामान्य लाभ प्राप्त करती रहती है क्योकि एकाधिकारी उद्योग मे नई फर्मों के प्रवेश के लिये विकट अवरोध होते हैं। परन्तु इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि एकाधिकार मे सदा ही असामान्य लाभ प्राप्त किये जायेंगे। एकाधिकार को भी अल्पकाल मे हानि उठानी पड सकती है जैसा कि रेखाकृति 24 8 मे दिखाया गया है। लेकिन एकाधिकार मे यह अल्पकालीन हानि अन्य फर्मों से प्रतियोगिता के कारण नही होती अपितु यह कम माँग और ऊँची लागतो के कारण होती है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यदि अल्पकाल मे एकाधिकारी असामान्य लाभ प्राप्त कर रहा है तो दीर्घकाल मे नई फर्मों के प्रवेश द्वारा इसके ये लाभ समाप्त नही किए जा सकते। अत एकाधिकारी द्वारा अल्पकाल मे अर्जित किये जा रहे असामान्य लाभ दीर्घकाल म भी प्राप्त होते रहते हैं बशर्ते कि माँग और लागत की दशाओ मे कोई प्रतिकूल परिवर्तन न हो गया हो।

पूर्ण प्रतियोगिता मे सन्तुलन तथा एकाधिकार मे सन्तुलन मे एक और महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि एकाधिकार मे कीमत पूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत की तुलना में अधिक होती है और *उत्पादन-मात्रा* उससे कम, यदि दोनों परिस्थितियों में लागतें समान हों। कल्पना कीजिए कि बहुत सी फर्में बिल्कुल एक समान पदार्थ उत्पादित कर रही हैं जिससे उनमे पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है और फलस्वरूप कोई भी फर्म अपनी व्यक्तिगत क्रिया से कीमत को प्रभावित नही कर सकती। ऐसी स्थिति मे कीमत और उत्पादन वहाँ निश्चित होंगे जहाँ माँग और पूर्ति के वक्र एक दूसरे को काटते हैं। अब यह कल्पना कीजिये कि इस प्रतियोगी उद्योग की सभी फर्मों का विलय हो जाता है और वे एक सयोजन (combination) बना लेती हैं। उनके द्वारा सयोजन बना लेने से उनका वस्तु के उत्पादन पर एकाधिकार हो जाएगा। हम यह मान लेते हैं कि विभिन्न फर्मों के विलय करने से कोई भीतरी अथवा बाहरी बचतें (*internal and external economies*) प्राप्त नही होतीं जिससे उनमें पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति तथा विलय के बाद एकाधिकार की स्थिति मे लागत मे कोई अन्तर नहीं होता। हम जानते हैं कि एकाधिकार मे कीमत और उत्पादन का निर्धारण सीमान्त लागत और सीमान्त आय की समानता द्वारा होता है, और पूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत और उत्पादन का निर्धारण उद्योग के माँग वक्र तथा पूर्ति वक्रो में सन्तुलन द्वारा। पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार मे कीमत और उत्पादन के सन्तुलन को एक ही रेखाकृति 24 9 में दर्शाया गया है। वक्र DD और SS पूर्ण प्रतियोगी उद्योग के क्रमश माँग और पूर्ति वक्र हैं। ये दो वक्र बिन्दु P पर परस्पर काटते हैं जिससे कीमत MP और उत्पादन मात्रा OM निर्धारित होती हैं। माँग वक्र DD के

अनुसार उसका सीमान्त आय वक्र MR खींचा गया है। पूर्ति वक्र SS जो पूर्ण प्रतियोगिता के उद्योग
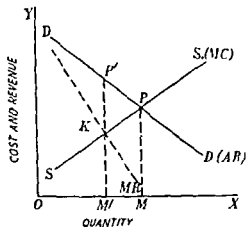
रेखाकृति 24 9
एकाधिकार तथा सम्पूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत तथा उत्पादन की तुलना

का पूर्ति वक्र है, एकाधिकारी का वह सीमान्त लागत (MC) वक्र होगा। रेखाकृति 24 9 से स्पष्ट है कि आय वक्र MR, सीमान्त लागत वक्र MC को बिन्दु K पर काटता है जिससे कीमत $M'P'$ और उत्पादन मात्रा OM' निर्धारित होती है। इससे स्पष्ट है कि यदि लागत की दशाएं समान रह तो विभिन्न फर्मों के विलय हो जाने पर और एकाधिकार स्थापित कर लेने पर वस्तु की कीमत बढ जाती है और उत्पादन मात्रा घट जाती है। एकाधिकार के स्थापित हो जाने के परिणामस्वरूप उपर्युक्त रेखाकृति मे सन्तुलन कीमत MP से बढ कर $M'P'$ और उत्पादन मात्रा OM से घट कर OM' हो गई है। इस प्रकार हम देखते है कि एकाधिकारी उत्पादन को घटा कर कीमत को बढा देता है।

अब महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या लागत की दशाएं समान रहेगी जब फर्मे विलय करके एकाधिकार स्थापित कर लेती हैं। अन्य शब्दो मे, क्या कुछ अतिरिक्त बचतें प्राप्त नही होंगी जब एकाधिकार स्थापित हो जाता है और पूर्व की अपेक्षा उत्पादन बडे पैमाने पर होने लगता है। पूर्ण प्रतियोगिता मे तो फर्मों की संख्या अधिक होने के कारण उनमे उत्पादन छोटे पैमाने पर ही किया जाता है जबकि एकाधिकार मे फर्म का आकार प्राय बडा होने के कारण उत्पादन बडे पैमाने पर होता है। इस विषय मे दो मत प्रकट किए जाते है। एक मत तो यह है कि एकाधिकार कई बचतें अथवा मितव्ययिताएं प्राप्त कर सकता है जैसे कि उत्पादन कार्य मे अधिक विशेषीकरण करना। बडे पैमाने पर बिक्री की व्यवस्था करना, बडे पैमाने पर कच्चा माल और मशीनरी की खरीद करना, आदि, सस्ती दर पर रुपया उधार लेना, उत्पादन की नई विधियों की खोज करना तथा उनका प्रयोग करना और विवेकीकरण (rationalisation) के अन्य उपायों का प्रयोग करना जो प्राय बडे पैमाने के उत्पादन करने मे ही सम्भव होते है। यह विचार प्रकट किया गया है कि इन बचतो के कारण एकाधिकारी के उत्पादन की लागत घट जाएगी जिसके कारण जब विभिन्न फर्मे मिलकर एकाधिकार बना लेती है तो सीमान्त लागत वक्र नीचे को सरक जाएगा। यदि ये बचतें काफी अधिक है और परिणामस्वरूप लागत वक्र पर्याप्त मात्रा मे नीचे को सरक जाता है तो एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत से कम होगी और एकाधिकार मे उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता मे उत्पादन से अधिक होगा। परन्तु श्रीमती जोन राबिन्सन (Joan Robinson) के मतानुसार "पूर्ण प्रतियोगिता म उन सभी बचतों को प्राप्त किया जा सकता है जो कि एकाधिकार मे प्राप्त हो सकती है" ("Perfect competition would bring about all the economies which monopoly could introduce")[1]। उसके विचार मे एकाधिकार स्थापित हो जाने के परिणामस्वरूप लागत वक्र, अधिक नीचे को नहीं सरकेगा। अत उसके अनुसार एकाधिकार मे कीमत पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना मे सदैव अधिक होती है और उत्पादन उससे सदैव कम।

एकाधिकार और पूर्ण प्रतियोगिता मे एक अन्तिम महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जबकि एकाधिकारी

1. *The Economics of Imperfect Competition*, p 168

एक वस्तु की कीमतों मे विभेदीकरण कर सकता है अर्थात् वह विभिन्न उपभोक्ताओ से वस्तु की भिन्न-भिन्न कीमतें प्राप्त कर सकता है, एक पूर्ण प्रतियोगी ऐसा नहीं कर सकता। एक एकाधिकारी कीमतो मे विभेदीकरण द्वारा अपने लाभ को बढा लेगा यदि विभिन्न बाजारो म उसकी वस्तु की माग की मूल्यसापेक्षताओ म अन्तर पाया जाता है। परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता म एक फर्म के लिए विभिन्न क्रेताओ से वस्तु की भिन्न भिन्न कीमतें प्राप्त करना सम्भव नही है। इसका कारण यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे एक फर्म अथवा विक्रेता के लिए प्रचलित कीमत पर माँग वक्र पूर्णतया मूल्यसापेक्ष होता है। इसलिए यदि वह प्रचलित कीमत से अधिक कीमत वसूल करने की चेष्टा करता है तो कुछ क्रेता उसको त्याग कर अन्य विक्रेताओ से उस वस्तु को बाजार मे प्रचलित कीमत पर खरीद लेगे। किन्तु एकाधिकारी का एक पदार्थ की पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होता है जिसके कोई निकट के स्थानापन्न नही होते और इसलिए एकाधिकारी का माँग वक्र बहुत कम मूल्यसापेक्ष (less elastic) होता है। यदि एकाधिकारी अपने बाजार को किसी न किसी आधार पर विभिन्न भागो मे बाँट देने मे सफल हो जाता है तो तब उसके लिए विभिन्न भागो से वस्तु की भिन्न भिन्न कीमतें वसूल करना सम्भव हो जाएगा। परन्तु उस वस्तु की कीमतो मे विभेदीकरण करना उसके लिए तब लाभकारी होगा जब बाजार के विभिन्न भागो मे माँग की मूल्य सापेक्षता भिन्न-भिन्न होगी।

एकाधिकार, साधनो का आवंटन तथा सामाजिक कल्याण (Monopoly, Resource Allocation and Social Welfare)

एकाधिकार तथा पूर्ण प्रतियोगिता मे महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जब कि पूर्ण प्रतियोगिता से साधनो का अनुकूलतम आवंटन (Optimum Allocation of Resources) प्राप्त होता है और इस प्रकार इससे अधिकतम सामाजिक कल्याण सम्भव होता है, एकाधिकार की स्थिति मे साधनो का अनुकूलतम आवंटन नही होता जिससे सामाजिक कल्याण का ह्रास होता है। इसको रेखाकृति 24 10 की सहायता से समझा जा सकता है। हम यह मान लेते है कि फर्म पैमाने के स्थिर प्रतिफल (constant returns to
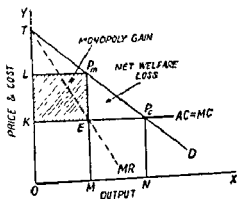
रेखाकृति 24 10 एकाधिकार के कारण कल्याण मे कमी

scale) प्राप्त कर रही है जिससे रेखाकृति 24 10 मे औसत लागत वक्र (AC) तथा सीमान्त लागत वक्र (MC) क्षैतिज रेखाएँ है।

जैसा कि विदित है, माँग वक्र उपभोक्ताओ द्वारा वस्तु की विभिन्न इकाइयो से प्राप्त सीमान्त तुष्टिगुण (MU) का द्योतक है। जब तक बाजार मे प्रचलित कीमत सीमान्त तुष्टिगुण से कम होती है, वस्तु की वे इकाइयाँ प्राप्त करने से उपभोक्ताओ की सन्तुष्टि मे निवल वृद्धि होती है। उपभोक्तओ की सन्तुष्टि (अथवा सामाजिक कल्याण) तभी अधिकतम होता है जब वस्तु की इतनी इकाइयाँ उत्पादित की जा रही होती हैं कि सीमान्त तुष्टिगुण (MU), वस्तु की कीमत के समान होता है। रेखाकृति 24 10 मे जब पूर्ण प्रतियोगी फर्म द्वारा वस्तु की ON मात्रा उत्पादित की जाए जिस पर कि कीमत, सीमान्त लागत (MC) तथा औसत लागत (AC) के समान है। वस्तु के ON उत्पादन तथा NP_C कीमत से उपभोक्ताओ को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होगी। इस स्थिति म क्रेताओ को KP_CT के बराबर उपभोक्ता की बचत (consumer's surplus) मिलेगी जोकि उनको प्राप्त सन्तुष्टि अथवा कल्याण का सूचक है।

परन्तु एकाधिकारी का सन्तुलन वस्तु की ON उत्पादन मात्रा पर नही होगा और न ही वह NP_C कीमत निश्चित करेगा। एकाधिकार की स्थिति मे फर्म OM मात्रा पर सन्तुलन म होगी जहाँ पर कि सीमान्त आय, सीमान्त लागत के बराबर है और वस्तु की MP_m कीमत निर्धारित करेगी। एकाधिकार की स्थिति मे OM उत्पादन मात्रा तथा MP_m कीमत निर्धारित होने से उपभोक्ता की बचत घट कर LP_mT के समान हो जाएगी अर्थात् उपभोक्ताओ को $KP\,P_mL$ के बराबर सन्तुष्टि (कल्याण) मे कमी होगी। किन्तु एकाधिकारी द्वारा उत्पादन मात्रा ON से घटा कर OM कर देने तथा कीमत NP_C से बढाकर MP_m कर देने से KEP_mL के बराबर लाभ (gain) प्राप्त होगा। स्पष्ट है कि एकाधिकार की स्थापना से उपभोक्ताओ के कल्याण मे कमी जो कि KP_CP_mL के क्षेत्रफल के बराबर है एकाधिकारी द्वारा प्राप्त लाभ (Monopolist's gain) जो कि KEP_mL के समान है से त्रिभुज EP_mP_C के बराबर अधिक है अर्थात् एकाधिकार की स्थापना से पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना मे त्रिभुज EP_mP_C के समान सन्तुष्टि अथवा कल्याण मे निवल कमी (net welfare loss) होती है। इसका अर्थ यह है कि उपभोक्ता वस्तु की MN मात्रा को खरीदने के लिए उस पर उठायी जाने वाली लागत से अधिक कीमत देने के लिए तैयार है परन्तु उसे यह मात्रा वास्तव मे प्राप्त नही होती है क्योकि एकाधिकारी इसे उत्पादित नही करता है। परिणामस्वरूप एकाधिकार की स्थापना से समाज को एकाधिकार की स्थापना से त्रिभुज EP_CP_m के समान कल्याण मे हानि होती है। *इसका एक निहित अर्थ यह है कि* एकाधिकारी उत्पादन मात्रा को ON से घटा कर OM कर देने से रेखाकृति 23 10 मे प्रदर्शित वस्तु के लिए साधनो का अनुकूलतम आवटन (Optimum allocation) नही करता, साधनो के अनुकूलतम उपयोग के लिए वस्तु की मात्रा को ON तक बढाना तथा इसके लिए इसमे अधिक साधनो का प्रयोग करना चाहिये था।

एकाधिकार से सामाजिक कल्याण मे कमी अथवा साधनो के अनुकूलतम आवटन से विचलन की एक अन्य प्रकार की रेखाकृति, जिसमे सामुदायिक अनधिमान वक्रो (Community Indifference Curves) तथा उत्पादन सम्भावना वक्र (Production Possibility Curve) का प्रयोग किया जाता है, से भी व्याख्या की जाती है। रेखाकृति 24 11 पर विचार कीजिए जिसमे साधनो की दी हुई मात्रा से उत्पादन सम्भावना वक्र AB बनायी गयी है जो कि दो वस्तुओ X और Y
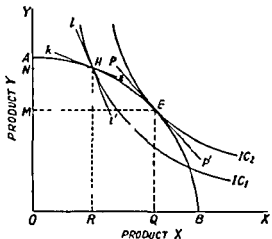
रेखाकृति 24 11. पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार मे साधनो के आवटन एवं सामाजिक कल्याण की तुलना

के उन विभिन्न सयोगो को दर्शाती है जिनका दिये हुए साधनो से उत्पादन सम्भव है। IC_1, IC_2 दो वस्तुओ के मध्य सामुदायिक अनधिमान वक्रो को प्रदर्शित करते हैं।

अब कल्पना कीजिये कि दो वस्तुओ के बाजार मे *पूर्ण प्रतियोगिता है जिससे न तो उत्पादको और न* ही उपभोक्ताओ का कीमतो पर कोई नियन्त्रण है, वे कीमतो को स्थिर मानकर अपनी सन्तुलन अवस्था को प्राप्त करेंगे। पूर्ण प्रतियोगिता मे उत्पादक फर्में इतनी मात्रा मे वस्तुओ का उत्पादन करेंगी जिससे उनकी सीमान्त लागत उनकी कीमतो के बराबर हो। अत पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्मों की सन्तुलन स्थिति मे

$$\frac{MC_x}{MC_y}=\frac{P_x}{P_y}$$

ध्यान रहे कि उत्पादन सम्भावना वक्र की ढाल (slope) दो वस्तुओ में रूपान्तरण की सीमान्त दर (marginal rate of transformation or MRT) को व्यक्त करती है। दो वस्तुओ मे रूपान्तरण की यह सीमान्त दर (MRT) उनकी सीमान्त-लागतो के अनुपात $\left[\frac{MC_x}{MC_y}\right]$ के बराबर होती है। अत पूर्ण प्रतियोगिता मे कार्यरत फर्म सन्तुलन की अवस्था मे वस्तु X और Y के मध्य रूपान्तरण की सीमान्त दर (MRT_{xy}) को उनकी कीमतो के अनुपात $\frac{P_x}{P_y}$ के समान करेगी (रेखाकृति 24 11 म दो वस्तुओ मे कीमतो का अनुपात कीमत रेखा PP की ढाल के बराबर है)। स्पष्ट है कि रेखाकृति 24 11 मे उत्पादक वग बिन्दु E पर सन्तुलन मे होगा जहाँ उत्पादन सम्भावना वक्र AB कीमत रेखा PP को स्पर्श करता है।

अब पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत समुदाय के उपयोग सम्बन्धी सन्तुलन पर विचार कीजिए। समुदाय का प्रत्येक उपभोक्ता और इसलिए सम्पूर्ण समुदाय सतुलन मे होगा जबकि वह X और Y वस्तुओ के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) को उनकी कीमतो के अनुपात $\frac{P_x}{P_y}$ के बराबर कर रहा होगा। अत सन्तुलन मे समुदाय का $MRS_{xy}=\frac{P_x}{P_y}$

इसका अर्थ यह है कि समुदाय (उपभोक्ता वर्ग) रेखाकृति 24 11 मे बिन्दु E पर सन्तुलन मे होगा जहाँ समुदाय अनधिमान वक्र IC_2 कीमत रेखा PP को स्पर्श कर रहा है।

चूँकि पूर्ण प्रतियोगिता मे दो वस्तुओ की कीमतें P_x और P_y उत्पादक तथा उपभोक्ताओ के लिए स्थिर एव एकसी होती है इसलिए दो वस्तुओ की कीमतो का अनुपात $\frac{P_x}{P_y}$ उत्पादक तथा उपभोक्ता वर्ग (समुदाय) दोनो के लिए समान होगा। रेखाकृति 24 11 मे पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दोनो का सन्तुलन बिन्दु E पर होगा जहाँ

$$MRT_{xy}=\frac{P_x}{P_y}$$

$$MRS_{xy}=\frac{P_x}{P_y}$$

चूकि कीमत अनुपात $\frac{P_x}{P_y}$ दोनो वर्गों के लिए समान है, अत सन्तुलन मे

$$MRS_{xy}=MRT_{xy}$$

सन्तुलन अवस्था E मे वस्तु X की OA मात्रा तथा वस्तु Y की OM मात्रा का उत्पादन हो रहा है और इन्ही उत्पादन मात्राओ के अनुसार उनमे साधनो का आवटन (allocation of resources) हो रहा होगा क्योकि इससे समाज अपने अधिकतम सम्भव उच्चतम अनधिमान वक्र पर होगा। वस्तुओ मे प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS) तथा उनमे रूपान्तरण की सीमान्त दर (MRT) मे समानता साधनो के अनुकूलतम आवटन (optimum allocation of resources) अथवा अधिकतम सामाजिक कल्याण की शर्त है और जैसा कि हमने अभी देखा है कि पूर्ण प्रतियोगिता म इस शर्त की पूर्ति होती है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत साधनो का अनुकूलतम आवटन प्राप्त होगा और सामाजिक कल्याण अधिकतम होगा।

किन्तु एकाधिकार के अन्तर्गत साधनो का अनुकूलतम आवटन प्राप्त नही होता जिससे सामाजिक कल्याण अधिकतम नही होता। इसका कारण यह है कि एकाधिकारी अपने पदार्थ की कीमत को उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर निर्धारित नही करता, वह सीमान्त लागत से अधिक कीमत प्राप्त करता है। मान लीजिए कि वस्तु X का उत्पादन एकाधिकार के अन्तर्गत है जबकि वस्तु Y पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे उत्पादित हो रही है। एकाधिकार के अन्तर्गत उत्पादन होने से सन्तुलन अवस्था मे वस्तु X की कीमत सीमान्त लागत से अधिक होगी। इसलिए वस्तु X के एकाधिकार के अन्तर्गत उत्पादित होने से दो वस्तुओ के मध्य रूपान्तरण की सीमान्त दर (MRT_{xy}) जो कि दो वस्तुओ की सीमान्त लागतों के अनुपात

$\frac{MC_x}{MC_y}$ के बराबर होती है उनकी कीमतों के अनुपात से कम होगी। अत एकाधिकार मे

$$MRT_{xx}=\frac{MC_x}{MC_y}<\frac{P_x}{P_y} \quad \cdot (i)$$

किन्तु उपभोक्ता समुदाय तो दो वस्तुओं के मध्य अपनी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) को सन्तुलन अवस्था मे कीमतो के अनुपात $\frac{P_x}{P_y}$ के समान करेगा। अत

$$MRS_{xy}=\frac{P_x}{P_y} \quad \cdot\cdot(ii)$$

अत समीकरण (i) और (ii) से हम एकाधिकार (X वस्तु के उत्पादन मे) के अन्तर्गत निम्न निष्कर्ष पर पहुचते हैं

$$MRT_{xy}<MRS_{xy} \quad \text{अथवा}$$
$$MRT_{xy}>MRT_{xy}$$

स्पष्ट है कि वस्तु X के उत्पादन मे एकाधिकार प्राप्त होने से साधनो का आवटन अनुकूलतम नही होगा और इसलिए सामाजिक कल्याण अधिकतम नही होगा। अब रेखाकृति 24 11 को देखिये। जैसा कि ऊपर बताया गया है विन्दु E जहाँ पर कि उत्पादन सम्भावना वक्र AB अनधिमान वक्र IC_2 को स्पर्श कर रहा है (अथवा जिसपर $MRT_{xy}=MRS_{xy}$) अधिकतम सामाजिक कल्याण अथवा अनुकूलतम साधनो के आवटन का सूचक है। किन्तु X के उत्पादन के एकाधिकार के अन्तर्गत होने से उत्पादक का सन्तुलन बिन्दु E पर नहीं होगा, अपितु बिन्दु H पर होगा जहाँ पर रूपान्तरण की सीमान्त दर (MRT_{xy}) अथवा सीमान्त लागतो का अनुपात $\frac{MC_x}{MC_y}$ जो कि स्पर्श रेखा $L\,L'$ की ढाल के समान है दो वस्तुओं से प्राप्त सीमान्त आयो के अनुपात $\frac{MR_x}{MR_y}$ के बराबर होगा। किन्तु बिन्दु H पर उपभोक्ता वर्ग वस्तुओ म प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) को उनकी कीमतो मे अनुपात $\frac{P_x}{P_y}$ (जो कि स्पर्श रेखा $l\,l'$ की ढाल द्वारा व्यक्त है) के समान करेगा। अत स्पष्ट है कि बिन्दु H पर वस्तुओं मे प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) उनमे रूपान्तरण मे सीमान्त दर (MRT_{xy}) से अधिक होगी। फलस्वरूप एकाधिकार के अन्तर्गत साधनो का अनुकूलतम आवटन प्राप्त नही होगा और इस प्रकार सामाजिक कल्याण अधिकतम सम्भव स्तर पर नही होगा। रेखाकृति 24 11 से स्पष्ट है कि बिन्दु H निम्न अनधिमान वक्र IC_1 पर स्थित है जबकि बिन्दु E उच्च अनधिमान वक्र IC_2 पर है। इसके अतिरिक्त रेखाकृति 24 11 से यह भी देखा जाएगा कि एकाधिकार के अन्तर्गत सन्तुलन बिन्दु H पर वस्तु X की OB तथा वस्तु Y की ON मात्रा उत्पादित की जा रही है। अर्थात् वस्तु X के उत्पादन पर एकाधिकार हो जाने से सन्तुलन अनुकूलतम साधन आवटन अथवा अनुकूलतम उत्पादन ढांचा (वस्तु X की OA मात्रा तथा वस्तु Y की OM मात्रा) से विचलित हो गया है, जबकि वस्तु X की मात्रा घट गयी है, वस्तु Y की मात्रा बढ़ गयी है।

25

कीमत-विभेदीकरण
(PRICE DISCRIMINATION)

कीमत-विभेदीकरण का अर्थ
(Meaning of Price Discrimination)

कीमत-विभेदीकरण का अर्थ यह है कि एक विक्रेता एक पदार्थ विभिन्न उपभोक्ताओं अथवा क्रेताओं को भिन्न भिन्न कीमतों पर बेचना है। एक फर्म अथवा विक्रेता वस्तु की कीमतों में विभेदीकरण तब करेगा जब कि ऐसा करना उसके लिए सम्भव तथा लाभकारी होगा। यदि रैफ्रीजरेटर का निर्माता एक क्रेता से 4 हजार रुपये प्राप्त करता है और उसी ही किस्म के रैफ्रीजरेटर के लिए किसी अन्य क्रेता से 4 हजार 5 सौ रुपये प्राप्त करता है तो हम कहेंगे कि वह कीमत विभेदीकरण कर रहा है।

किन्तु उपर्युक्त प्रकार से परिभाषित विभेदीकरण प्राय पाया नही जाता। एक समान वस्तु के लिए विभिन्न क्रेताओं से भिन्न भिन्न कीमतें वसूल करना बड़ा कठिन है। प्राय यह देखा गया है कि सफल रूप से कीमत विभेदीकरण करने के लिए उत्पादक को पदार्थ में थोड़ा अन्तर तो अवश्य करना पड़ता है। इस प्रकार कीमत-विभेदीकरण की धारणा को अधिक विस्तृत अर्थों में भी लिया जा सकता है जिसमे एक वस्तु की विभिन्न किस्मों को इतनी भिन्न भिन्न कीमतों से कही अधिक है। अत प्रो० स्टिगलर कीमत विभेदीकरण की इस प्रकार परिभाषा करते हैं 'कीमत-विभेदीकरण का अर्थ है कि तकनीकी दृष्टि से तकनीकी रूप से समरूप पदार्थों को इतनी भिन्न-भिन्न कीमतों पर बेचना जो उनकी सीमान्त लागतों के अनुपात से कहीं अधिक हैं" (Price discrimination can be defined as 'the sales of technically similar products at prices which are not proportional to marginal costs"[1]) इस परिभाषा के अनुसार एक विक्रेता तब ही कीमत विभेदीकरण कर रहा होता है जब वह एक पदार्थ की विभिन्न किस्मों को विभिन्न क्रेताओं के यहां भिन्न-भिन्न कीमतों पर बेचता है, यदि इन कीमतों में अन्तर विभिन्न किस्मों की उत्पादन लागतों में अन्तरों से कही अधिक है। उदाहरणत यदि एक प्रकाशक को एक पुस्तक के साधारण संस्करण की लागत 8 रु० पड़ती है और उसके डी-लक्स संस्करण (Deluxe Edition) की लागत 10 रु० पड़ती है तो वह कीमत विभेदीकरण कर रहा होगा यदि वह साधारण संस्करण को 10 रु० प्रति पुस्तक और डी-लक्स संस्करण को

---

1 G J Stigler, *Theory of Price*, revised

15 रु० प्रति पुस्तक की दर से बेच रहा है। इस दशा मे वह कीमत-विभेदीकरण इसलिए कर रहा है क्योंकि दो सस्करणो की पुस्तको मे कीमत-विभेद (रु० 15 – 10 = 5) उनके उत्पादन लागत मे अन्तर (रु० 10 – 8 = 2) से अधिक है। इस प्रकार का विभेदीकरण ही वास्तविक ससार मे प्राय पाया जाता है। परन्तु आर्थिक सिद्धान्त अथवा विश्लेषण की दृष्टि से उसका विश्लेषण करना अधिक जटिल है। इसलिए हम यहाँ पर एक साधारण प्रकार के विभेदीकरण का विश्लेषण करेंगे जिसके अन्तर्गत एव समान पदार्थ की विभिन्न क्रेताओ से भिन्न-भिन्न कीमते वसूल की जाती है।

तीन प्रकार के कीमत-विभेदीकरण उल्लेखनीय हैं। कीमत विभेदीकरण (1) **व्यक्तिगत** (personal) (2) **स्थानीय** (local) तथा (3) **उपयोग अथवा व्यवसाय के अनुसार** (*according to use or trade*) हो सकता है। कीमत विभेदीकरण व्यक्तिगत होता है जब एक विक्रेता विभिन्न व्यक्तियो से वस्तु की भिन्न-भिन्न कीमतें प्राप्त करता है। *कीमत-विभेदीकरण स्थानीय* होता है जब विक्रेता विभिन्न स्थानो, नगरो अथवा क्षेत्रो के लोगो से भिन्न भिन्न कीमते प्राप्त करता है। उदाहरणत एक उत्पादक अपने देश मे एक वस्तु को एक कीमत पर क्रय कर सकता है और विदेश मे उसे भिन्न कीमत पर। विभेदीकरण उपयोग के अनुसार तब होता है जब वस्तु की भिन्न भिन्न कीमतें वस्तु के विभिन्न प्रयोगो के अनुसार वसूल की जाती है। उदाहरणतया बिजली औद्योगिक उपयोग के लिए कम दर पर बेची जाती है और घरेलू प्रयोजनो के लिए अधिक दर पर।

कीमत विभेदीकरण कब सम्भव होता है ? (When is Price Discrimination Possible ?)

कीमत विभेदीकरण सम्भव होने के लिए दो आधारभूत शर्तों की पूर्ति होना आवश्यक है। प्रथम, *कीमत विभेदीकरण तब हो सकता है जब कि वस्तु की* **इकाई एक मार्किट से दूसरी मार्किट में हस्तान्तरित न हो सकती हो।** अन्य शब्दो मे, एक विक्रेता कीमत-विभेदीकरण केवल तब कर सकता है जब कि वह ऐसी विभिन्न मार्किटो मे वस्तु को बेच रहा होता है जो इस प्रकार पृथक होती है कि एक मार्किट मे बेची गई वस्तु को दूसरी मार्किट म नही ले जाया अथवा बेचा जा सकता है। एक विक्रेता द्वारा कीमत-विभेदीकरण सम्भव नही होगा यदि उसके सस्ती मार्किट मे क्रेता उससे उस वस्तु को खरीद कर महगी मार्किट के क्रेताओ के यहाँ बच देते है। महगी मार्किट के क्रेता उस मौलिक विक्रेता की बजाए वस्तु को सस्ती मार्किट के क्रेताओ से खरीद लेंगे। इस प्रकार एक विक्रेता दो मार्किटो म वस्तु की भिन्न-भिन्न कीमतों को तब वसूल कर सकता है जब वस्तु के सस्ती मार्किट से मँहगी मार्किट को हस्तान्तरण करने की सम्भावना न हो।

कीमत-विभेदीकरण होने के लिए दूसरी आवश्यक शर्त है कि स्वय क्रेताओ के लिए भी सम्भव न हो कि वे अपने को मँहगी मार्किट से सस्ती मार्किट मे हस्तांतरित कर सकें। उदाहरणतया, यदि एक डाक्टर निर्धन व्यक्ति से धनी व्यक्ति की तुलना मे कम फीस वसूल करता है तो उसके द्वारा कीमत विभेदीकरण टूट जाएगा यदि एक धनी व्यक्ति अपने आपको निर्धन दिखा कर निर्धन व्यक्ति की फीस डाक्टर को दे देता है।

अब यह स्पष्ट है कि **कीमत-विभेदीकरण सम्भव होने के लिए न तो वस्तु की कोई इकाई और न ही माँग की कोई इकाई (अर्थात् क्रेता) एक मार्किट से दूसरी मार्किट तक जा सके** (For price discrimination to become possible, neither the unit of the good, nor the unit of demand i. e. buyer can be transferred from one market to the other)। दूसरे शब्दो मे, दो मार्किटो मे कोई *सम्बन्ध नहीं होना चाहिए*। अत कीमत विभेदीकरण विक्रेता की दो मार्किट को पृथक और भिन्न रखने की शक्ति पर निर्भर करता है। यदि वह विभिन्न मार्किट को पृथक नहीं रख सकता तो उसके द्वारा कीमत-विभेदीकरण सम्भव नही हो सकेगा। कीमत-विभेदीकरण निम्नलिखित परिस्थितियो मे सम्भव होता है।

1 वस्तु अथवा सेवा की प्रकृति ऐसी हो जिससे उसको एक मार्किट से दूसरी मार्किट तक हस्तान्तरण करना सम्भव न हो। इस प्रकार का एक उदाहरण है एक सर्जन (surgeon) अथवा वकील द्वारा अपनी सेवाओं को बेचना। एक सर्जन किसी विशेष आपरेशन (operation) के लिए निर्धन और धनी व्यक्तियो से भिन्न भिन्न फीस प्राप्त कर सकता है। यह इसलिए सम्भव होता है क्योंकि सर्जन को अपनी सेवा की पूर्ति करने के लिए स्वय व्यक्तिगत रूप से कार्य करना पडता है और इसलिए उसकी सेवा का क्रेताओ द्वारा हस्तान्तरण नही हो सकता और न ही धनी व्यक्तियो के लिए प्राय यह सम्भव होता है कि वे कम फीस देने के लिए निर्धन बन जाएँ।

2 कीमत विभेदीकरण तब भी होता है जबकि विभिन्न मार्किट अधिक दूरी पर स्थित हो अथवा आयात निर्यात करो द्वारा विभाजित की गयी हों जिससे वस्तु को सस्ती मार्किट से मँहगी मार्किट मे ले जाना अथवा हस्तान्तरण करना बहुत मँहगा हो। एक मद्रास का एकाधिकारी निर्माता अपनी वस्तु को कलकत्ता म 20 रु० और किसी अन्य नगर जैसे दिल्ली म 15 रु० पर बेच सकता है। यदि दिल्ली और कलकत्ता के बीच परिवहन की लागत 5 रु० से अधिक है तो [illegible]

है और अपने देश की मार्किट मे वस्तु की अधिक कीमत पर बेच सकता है। परिणामस्वरूप वह वस्तु को विदेशी मार्किट म देश की मार्किट की तुलना मे कम कीमत पर बेचेगा। वस्तु को विदेशो मे देश की अपेक्षा सस्ती कीमत पर बेचने की क्रिया को राशि पातन (dumping) कहा जाता है।

3 कई हालतो मे कीमत विभेदीकरण कानूनी आधार पर किया जाता है। उदाहरणार्थ एक विद्युत कम्पनी विद्युत को औद्योगिक प्रयोजनो के लिए कम कीमत पर बेच सकती है और घरो मे प्रकाश के लिए अधिक कीमत पर। ऐसी स्थिति मे व्यक्तियो को जुर्माना किया जाता है यदि वे औद्योगिक प्रयोजन के लिए प्राप्त की गई विद्युत को घरो मे प्रकाश के लिए प्रयोग करें। यही बात रेलवे द्वारा प्राप्त किए गए किरायं अथवा भाडो पर भी लागू होती है। जो प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी तथा तृतीय श्रेणी के डिब्बो मे यात्रा करने वालो से भिन्न भिन्न किराया प्राप्त करते हैं। यद्यपि इन तीन श्रेणियो के डिब्बो मे प्रदान की गई सेवाओ मे अन्तर पाया जाता है परतु किरायो मे अन्तर सुविधाओं मे अन्तर से कही अधिक होता है। इस प्रकार का कीमत विभेदीकरण कानूनी विभेदीकरण का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। तीसरी श्रेणी के टिकट द्वारा प्रथम श्रेणी मे यात्रा करना कानूनी अपराध है।

4 कीमत विभेदीकरण क्रेताओ की रुचियो अथवा अधिमानो के कारण भी सभव हो सकता है। एक वस्तु की भिन्न भिन्न किस्मो को उत्पादित किया जा सकता है। भिन्न भिन्न पैकिंग द्वारा, भिन्न भिन्न नाम और लेबल द्वारा क्रेताओ को यह विश्वास दिलाने की चेष्टा की जाती है कि वस्तु की कुछ किस्में अन्यो से अन्तर भी किया जाता है जैसे कि डी-लक्स सस्करण तथा साधारण सस्करण मे कागज की क्वालिटी तथा जिल्द मे अन्तर प्राय पाया जाता है। किन्तु दो प्रकार के सस्करणो की कीमतो मे अन्तर उन पर उठाई गई लागतो से कही अधिक होता है। अत यह वस्तु के उपभोक्ताओ के अधिमानो और रुचियो पर आधारित कीमत विभेदीकरण का एक स्पष्ट उदाहरण है। इस विषय मे श्रीमती जोन राबिन्सन के मत का उल्लेख

करना उल्लेखनीय है। उनके अनुसार, "एक वस्तु की विभिन्न किस्मे, जो वास्तव मे लगभग समान होती है, को विभिन्न नामो और लेबलो द्वारा धनी और घमण्डी क्रेताओ को, निर्धन क्रेताओ की तुलना मे अधिक कीमत पर बेचा जा सकता है और इस प्रकार मार्किट को विभाजित करके एकाधिकारी लगभग समान वस्तु को भिन्न भिन्न कीमतो पर विक्रय कर सकता है।" (Various brands of a certain article which in fact are almost exactly alike may be sold as different qualities under the names and labels which induce rich and snobbish buyers to divide themselves from poor buyers and in this way the market is split up and the monopolist can sell what is substantially the same thing at several prices)।"[1]

इस प्रकार के कीमत-विभेदीकरण का एक और उदाहरण तब मिलता है जब कुछ लोग किसी विशेष स्थान की मार्किट से वस्तुओ को ऊँची कीमतो पर क्रय को प्राथमिकता देते है। उदाहरणत यदि एक विक्रेता की दो दुकानें हैं, एक कनाट प्लेस में जो कि दिल्ली मे अधिक लोकप्रिय और फैशन वाला केन्द्र है और दूसरी सदर बाजार मे जो कि दिल्ली का बहुत गन्दा बाजार है और जिसमे बहुत भीड-भडक्का रहता है तो वह विक्रेता एक वस्तु को अपनी कनाट प्लेस की दुकान पर अधिक कीमत पर बेच सकता है और उसी वस्तु को सदर बाजार की दुकान पर कम कीमत पर। चूँकि अधिक फैशन वाले तथा धनी व्यक्ति ही कनाट प्लेस मे वस्तुओ को खरीदते है, इसलिए वे वस्तु के लिए ऊँची कीमत देने को तैयार रहते हैं और सदर बाजार जैसे गन्दे और भीड-भडक्के वाले बाजार मे खरीदने के लिए प्राय नहीं जाते।

5. **कीमत-विभेदीकरण उपभोक्ताओं अथवा क्रेताओं के अज्ञान और आलस्य के कारण भी सम्भव** हो सकता है। यदि एक विक्रेता दो मार्किटो मे विभेदीकरण कर रहा है परन्तु ऊँची कीमत वाले मार्किट के क्रेताओ को इस बात का ज्ञान न हो कि वही विक्रेता उसी वस्तु को अन्य मार्किट मे कम दाम पर बेच रहा है तो विक्रेता द्वारा कीमत विभेदीकरण लागू रहेगा। कीमत विभेदीकरण उस स्थिति मे भी रहेगा यदि ऊँची कीमत की मार्किट के क्रेता यह जानते भी है कि वह विक्रेता किसी अन्य मार्किट मे किसी वस्तु को कम कीमत पर बेच रहा है परन्तु आलस्य के कारण वे सस्ती मार्किट मे खरीदने के लिये नही जाते। इन स्थितियो मे यदि अज्ञान दूर हो जाता है अथवा आलस्य त्याग दिया जाय तो कीमत विभेदीकरण सम्भव नही हो सकेगा।

6 कीमत-विभेदीकरण तब भी सम्भव होता है जब विभिन्न क्रेता किसी सेवा को विभिन्न प्रकार के प्रयोजनो के लिए चाहते हो। उदाहरण के लिये रेलवे रुई और कोयले के परिवहन के लिए भिन्न-भिन्न दरें प्राप्त करती है। इस स्थिति मे कीमत विभेदीकरण सम्भव होता है क्योकि रुई की गाँठो को कोयले मे बदल कर कोयले की परिवहन की कम दरो का लाभ नही उठाया जा सकता।

हमने ऊपर उन दशाओ का वर्णन किया है जिनके अन्तर्गत कीमत विभेदीकरण प्राय सम्भव होता है। अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार की मार्किट मे एक विक्रेता कीमत विभेदीकरण कर सकता है। यह तो स्पष्ट ही है कि पूर्ण अथवा शुद्ध प्रतियोगिता मे कोई भी विक्रेता एक वस्तु के लिए
विभि
कीम
समा
विक्र
प्रच
है।
देगा
से प्रचलित कीमत पर खरीद लेगा। यह उल्लेखनीय है कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे कीमत विभेदीकरण नही हो सकेगा चाहे मार्किट को विभिन्न भागो मे सुगमता से ही बाँटा जा सकता हो। कारण यह है कि यदि समस्त मार्किट के प्रत्येक भाग मे पूर्ण

1. *The Economics of Imperfect Competition*, pp 180 81

प्रतियोगिता की स्थिति है तब तो प्रत्येक भाग मे बेचने वाले प्रत्येक विक्रेता का माँग वक्र पूर्णतया मूल्यसापेक्ष होगा और प्रत्येक विक्रेता अपने उत्पादन को समस्त मार्किट के उस भाग मे बेचने का यत्न करेगा जिसमे कीमत सबसे अधिक है किन्तु उनके द्वारा ऐसा करने के फलस्वरूप कीमत गिर कर प्रतियोगी स्तर पर आ जाएगी जिससे समस्त मार्किट मे एक समान कीमत ही प्रचलित हो जाएगी। परन्तु यदि पूर्ण प्रतियोगिता मे सभी विक्रेता आपस मे मिल जाते हैं अथवा कीमत के विषय मे समझौता कर लेते है तो तब वे कीमत विभेदीकरण कर सकते है। परन्तु यदि सभी विक्रेता मिल जाते है अथवा कीमतो के विषय मे समझौता कर लेते हैं तब तो पूर्ण प्रतियोगिता की दशा रहती ही नही। इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत विभेदीकरण सम्भव नहीं है।

अपूर्ण अथवा एकाधिकारक प्रतियोगिता मे कीमत विभेदीकरण हो सकता है। कीमत विभेदीकरण की मात्रा मार्किट मे अपूर्णता के अश (degree of imperfection) पर निर्भर करती है। अपूर्ण अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता तब होती है जब वस्तु मे कुछ अन्तर पाया जाता है और प्रत्येक विक्रेता के कुछ विशेष ग्राहक होते हैं और वे इतने जल्दी उससे हटकर अन्य विक्रेताओं को नही चले जाते। इसलिए जब अपूर्ण अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता होती है और मार्किट को विक्रेता द्वारा विभिन्न भागो मे विभक्त किया जा सकता है, तब कीमत विभेदीकरण सम्भव होता है। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि एक व्यक्तिगत उत्पादक अथवा विक्रेता वस्तु की एक किस्म उत्पादित करने की बजाए उसकी कई विभिन्न किस्मे उत्पादित कर ... को विभिन्न

किन्तु कीमत विभेदीकरण अधिकतर तब पाया जाता है जब किसी वस्तु के उत्पादन अथवा विक्रय पर एक विक्रेता का एकाधिकार हो या किसी पदार्थ अथवा सेवा के बेचने वाले सभी विक्रेता आपस मे समझौता कर लें। एकाधिकार तब होता है जब किसी वस्तु की तथा उसके निकट की स्थानापन्न वस्तुओं के कोई अन्य विक्रेता अथवा उत्पादक नहीं होते। कीमत विभेदीकरण तब भी प्राय पाया जाता है जब किसी समान वस्तु अथवा सेवा के कई विक्रेता हो लेकिन उन्होंने क्रेताओं के विभिन्न समूहो से भिन्न भिन्न कीमतें वसूल करने के लिए समझौता कर लिया हो। उदाहरण के लिए डाक्टरो मे यह समझौता पाया जा सकता है कि धनी व्यक्तियो से अधिक फीस और निर्धन आदमियो से कम फीस प्राप्त की जाए।

कीमत-विभेदीकरण कब लाभकारी होता है ? (When is Price Discrimination Profitable ?)

हम ऊपर कीमत विभेदीकरण सम्भव होने की विभिन्न शर्तों के सम्बन्ध मे पढ आये हैं। परन्तु ऐसा हो सकता है कि कीमत विभेदीकरण सम्भव तो हो किन्तु एकाधिकारी के लिए यह लाभकर न हो। दूसरे शब्दो मे, एकाधिकारी कीमतो मे विभेदीकरण कर सकने की स्थिति मे तो हो परन्तु ऐसा करना उसके लिए लाभदायक न हो। इसलिए अब हमें यह देखना है कि किन दशाओ मे यह एकाधिकारी के लिए लाभकारी होगा कि वह दो मार्किटो में कीमतो मे विभेद करे। कीमत विभेदीकरण तब लाभकारी होता है यदि एक मार्किट मे मांग की मूल्यसापेक्षता अन्य मार्किट मे माँग की मूल्यसापेक्षता से भिन्न है (Price discrimination is profitable only if elasticity of demand in one market is different from elasticity of demand in the other)। इसलिए एकाधिकारी कीमतो मे दो मार्किटो ... होगा जब उसके पदार्थ की

उसके लिए उन दो मार्किटों में कीमत में विभेद करना लाभप्रद नहीं होगा। इसका कारण यह है कि जब मांग की मूल्यसापेक्षता दो मार्किटों में समान होती है तो तब सूत्र $MR = AR\left(\frac{e-1}{e}\right)$ से यह निष्कर्ष निकलता है कि इन दो मार्किटों में सीमान्त आयें समान होंगी। अब यदि किसी वस्तु को बेचने से दो मार्किटों में सीमान्त आयें बराबर हैं तो वस्तु को एक मार्किट से निकाल कर दूसरी मार्किट में बेचना और इस प्रकार कीमत में विभेद करना लाभकारी नहीं होगा।

इसके विपरीत, यदि किसी कीमत पर एकाधिकारी की मार्किट के दो भागों में मांग की मूल्यसापेक्षता भिन्न-भिन्न है तो उपर्युक्त सूत्र से यह निष्कर्ष निकलता है कि मार्किट के दो भागों में वस्तु से प्राप्त सीमान्त आय भिन्न-भिन्न होगी, एक में अधिक और दूसरी में कम। तब ऐसी दशा में वस्तु को कम सीमान्त आय वाली मार्किट से निकाल कर अधिक सीमान्त आय वाली मार्किट में बेचने और इस प्रकार कीमत में विभेद करने से लाभ होगा। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब एकाधिकारी की मार्किट के विभिन्न भागों में मांग की मूल्यसापेक्षता में अन्तर पाया जाता है तो केवल तब ही उसके लिए यह लाभकारी होगा कि वह मार्किट के विभिन्न भागों में कीमत में विभेद करे। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। कल्पना कीजिए कि दो म [illegible]
धिकारी कीमत [illegible]
15 रुपए है ([illegible]
रुपये है जबकि ए [illegible]
प्राप्त करता है)। [illegible]
पर मार्किट A में [illegible]
क्रमशः 2 और 5 है [illegible]
भिन्न प्रकार की जा सकती है।

मार्किट A में सीमान्त आय (MR_a)

$$= AR_a \frac{e_a - 1}{e_a}$$

$$= 15\,\frac{2-1}{2}$$

$$= 15 \times \frac{1}{2} = \frac{15}{2}$$

$$= 7.5$$

मार्किट B में सीमान्त आय (MR_b)

$$= AR_b \frac{e_b - 1}{e_b}$$

$$= 15\,\frac{5-1}{5}$$

$$= 15 \times \frac{4}{5}$$

$$= 12$$

स्पष्ट है कि दो मार्किटों में सीमान्त आय भिन्न-भिन्न है जबकि समान एकाधिकारी कीमत पर दो मार्किटों में मूल्यसापेक्षता भिन्न-भिन्न है। उपर्युक्त गणितीय उदाहरण से यह भी स्पष्ट है कि जिस मार्किट में मूल्यसापेक्षता अधिक है उसमें सीमान्त आय अधिक है और जिसमें मूल्यसापेक्षता कम है उसमें सीमान्त आय कम है अतएव मार्किट A में से जिसमें कि सीमान्त आय 7.5 रुपए है उत्पादन की कुछ मात्रा निकालकर मार्किट B में जिसमें कि सीमान्त आय 12 रुपये है, बेचने से लाभ होगा। मार्किट A में से वस्तु की एक इकाई निकालने पर 7.5 रुपये की कमी होगी परन्तु उसे मार्किट B में बेचने पर 12 रुपए की वृद्धि होगी। चूंकि आय में वृद्धि, आय में कमी की अपेक्षा अधिक है, इसलिए मार्किट A से वस्तु की [illegible]

[illegible] वस्तु को एक मार्किट से निकालकर दूसरे में ले जाएगा जब तक कि दोनों मार्किटों में सीमान्त आय बराबर नहीं हो जाती। जब इस प्रकार दो मार्किटों में सीमान्त आय समान हो जाएगी तो विभेदकारी एकाधिकारी के लाभ अधिकतम होंगे।

कीमत विभेदीकरण के अन्तर्गत एकाधिकारी का कीमत तथा सन्तुलन
(Equilibrium of the Discriminating Monopolist)

हम ऊपर कीमत विभेदीकरण के सम्भव होने तथा उसके लाभकारी होने की शर्तों को पढ़ चुके है। अब हमे विभेदीकरण कर रहे एकाधिकारी के सन्तुलन की विवेचना करनी है। साधारण एकाधिकार के अन्तर्गत वस्तु के समस्त उत्पादन की केवल एक ही कीमत वसूल की जाती है परन्तु कीमत विभेदीकरण के अन्तर्गत एकाधिकारी अपनी मार्किट के विभिन्न भागो से वस्तु की भिन्न-भिन्न कीमतें वसूल करता है। इसलिए सर्वप्रथम एकाधिकारी को अपनी वस्तु की समस्त मार्किट को विभिन्न भागो म मांग की मूल्यसापेक्षता मे अन्तरो के आधार पर बांटना होता है। एकाधिकारी अपनी समस्त मार्किट को उतने विभिन्न भागो मे बांट सकता है जितने भागो मे मांग की मूल्यसापेक्षताओ मे अन्तर है। परन्तु हम अपने विश्लेषण को सरल बनाने के लिए एकाधिकारी द्वारा अपनी समस्त मार्किट को दो भागो मे बांट देने की स्थिति की विवेचना करेंगे।

सन्तुलन स्थिति को प्राप्त करने के लिए विभेदीकरण कर रहे एकाधिकारी को तीन निर्णय लेने होते है—(1) वह वस्तु की कितनी मात्रा उत्पादित करे, और (2) वस्तु के कुल उत्पादन को मार्किटो मे ...

करनी होगी। कुल सीमान्त आय दो मार्किटो मे सीमान्त आय वक्रो को साथ साथ रख कर जोड़ने (lateral summation) से प्राप्त होती है। रेखाकृति 25 I पर विचार करिए। उप-मार्किट A मे MR_a सीमान्त आय वक्र है जो कि उसकी माग वक्र D_a के अनुसार है। इसी प्रकार उप-मार्किट B मे MR_b सीमान्त आय वक्र है जो कि उसकी मांग वक्र D_b के अनुरूप है। अब कुल सीमान्त आय वक्र AMR है जो कि MR_a और MR_b वक्रो को साथ-साथ रखकर जोड़ने से प्राप्त किया गया है। यह कुल सीमान्त आय वक्र जो रेखाकृति न० 25 I (iii) मे दिखाया गया है उत्पादन की कुल मात्रा को दो मार्किटो मे मिलाकर बेच देने से प्राप्त सीमान्त आय को व्यक्त करता है। एकाधिकारी के कुल उत्पादन का सीमान्त लागत वक्र MC है जो कि रेखाकृति 25 I (iii) मे दिखाई गई है।

विभेदकारी एकाधिकारी के लाभ भी तब अधिकतम होंगे जब वह वस्तु की वह मात्रा उत्पादित करेगा जिस पर कि सीमान्त लागत MC और कुल सीमान्त आय वक्र AMR एक दूसरे को काटते है। रेखाकृति 25 I (iii) से यह स्पष्ट है कि विभेदकारी एकाधिकारी को अधिकतम लाभ वस्तु की OM मात्रा उत्पादित करने मे ही होंगे क्योंकि OM पर ही कुल सीमान्त आय (AMR) सीमान्त लागत MC के ...

... [illegible]

अपने उत्पादन की सीमान्त आय (MR) और सीमान्त लागत (MC) मे तुलना करेगा। परन्तु उसे पहले अपनी दो मार्किटो को मिलाकर अपनी कुल सीमान्त आय (combined or aggregate marginal revenue) को ज्ञात करना होगा और तब उस कुल सीमान्त आय की तुलना उत्पादन की कुल सीमान्त लागत से

बांटेगा जिसम उसे दो मार्किटो से समान सीमान्त आय प्राप्त हो। कुल लाभ को अधिकतम करने के लिए दो मार्किटो म सीमान्त आय का समान होना आवश्यक है। यदि वह अपनी उत्पादन मात्रा को दो मार्किटो म इस प्रकार बांट रहा है कि उनसे प्राप्त सीमान्त आय बराबर नहीं है तो तब उसके लिये यह लाभकर होगा कि वह वस्तु की कुछ मात्रा को उस मार्किट से

निकाल कर जिसमें उसे कम सीमान्त आय प्राप्त हो रही है उस मार्किट में ले जा कर बेचे जिसमें उसे सीमान्त आय अधिक प्राप्त होती है। केवल जब दो मार्किटों में सीमान्त आयें बराबर हो जाएँगी तो तब ही उसके लिए एक मार्किट से दूसरी मार्किट तक वस्तु को ले जाना लाभप्रद नहीं होगा। परन्तु विभेदीकरण कर रहे एकाधिकारी के सन्तुलन में होने की केवल यह शर्त नहीं है कि उसकी दो मार्किटों में सीमान्त आयें बराबर हों बल्कि यह भी शर्त है कि वे सीमान्त आयें उसके कुल उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर हों। दो मार्किटों में प्राप्त सीमान्त आयों के कुल उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होने से ही दो मार्किटों में वस्तु की बेची गई मात्रा मिलकर वस्तु की कुल उत्पादन मात्रा OM के समान होगी जिसकी कुल सीमान्त आय और सीमान्त लागत के प्रकार उप-मार्किट B में वस्तु की OM_2 मात्रा बेचने से प्राप्त सीमान्त आय M_2E_2 के समान होगी जोकि सीमान्त लागत ME के बराबर है। निष्कर्षत यदि रेखाकृति 25.1 की माग और लागत दशाएँ दी हुई हों तो विभेदकारी वस्तु की कुल OM मात्रा उत्पादित करेगा और वह उसमें से OM_1 मात्रा को उप-मार्किट A और OM_2 मात्रा को उप-मार्किट B में बेचेगा। यह ध्यान से देख लेना चाहिए कि कुल उत्पादन OM OM_1+OM_2 के बराबर है।

एक अन्य उल्लेखनीय बात यह देखनी है कि विभेदीकरण करने वाला एकाधिकारी अपनी दो मार्किटों में वस्तु की कितनी कितनी कीमतें प्राप्त करेगा। रेखाकृति 25.1 (i) से यह स्पष्ट है कि उप-मार्किट A में मांग वक्र D_a है और वहाँ पर वस्तु की OM_1 मात्रा बेचने पर M_1P_1 के समान कीमत
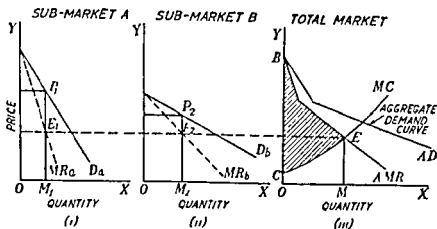
रेखाकृति 25.1 विभेदकारी एकाधिकारी का सन्तुलन

प्राप्त होगी। इसलिए उप-मार्किट A में एकाधिकारी ... बेचेगा। इसी प्रकार

वस्तु की OM_1 मात्रा बेचने से प्राप्त सीमान्त ...
M_1E_1 सीमान्त लागत ME के बराबर होगी। इसी और उपमार्किट B में कम ...

कि माँग अधिक मूल्यसापेक्ष है। रेखाकृति से यह स्पष्ट है कि कीमत M_1P_1 कीमत M_2P_2 से अधिक है।

दो मार्किटों में कीमतों तथा उनमें माँग की मूल्यसापेक्षताओं में सम्बन्ध को निम्न ढंग से सरलता से समझा जा सकता है। हम पहले पढ़ चुके हैं कि किसी मार्किट में वस्तु की कीमत सीमान्त आय (MR) तथा माँग की मूल्यसापेक्षता (e or elasticity) में निम्न सम्बन्ध है

$$MR = \text{कीमत} \left(\frac{e-1}{e}\right)$$

इसलिए मार्किट A में,

$$MR_a = P_a\left(\frac{e_a-1}{e_a}\right) \quad \cdots (i)$$

जहाँ P_a मार्किट A में वस्तु की कीमत, MR_a सीमान्त आय, E_a मार्किट A में माँग की मूल्यसापेक्षता को व्यक्त करते हैं।

इसी तरह मार्किट B में,

$$MR_b = P_b\left(\frac{e_b-1}{e_b}\right) \quad \cdots (ii)$$

जहाँ P_b मार्किट B में कीमत, MR_b सीमान्त आय तथा P_b माँग की मूल्यसापेक्षता को व्यक्त करते हैं।

चूँकि कीमत विभेदीकरण के अन्तर्गत सन्तुलन की स्थिति में $MR_a = MR_b$ होता है, इसलिए उपर्युक्त (i) और (ii) से हमें निम्न समीकरण प्राप्त होता है।

$$\cdots = MR$$

कल्पना कीजिए कि मार्किट A में माँग की मूल्यसापेक्षता 2 है और मार्किट B में 3 तो

$$\frac{P_a}{P_b} = \frac{\frac{3-1}{3}}{\frac{2-1}{2}} = \frac{\frac{2}{3}}{\frac{1}{2}}$$

$$= \frac{2}{3} \times \frac{2}{1} = \frac{4}{3}$$

अतः जब मार्किट A और B में माँग की मूल्यसापेक्षता क्रमशः 2 और 3 है तो दो मार्किटों में कीमतें 4 : 3 के अनुपात में निश्चित होंगी।

उपर्युक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विभेदकारी एकाधिकारी के सन्तुलन के लिए निम्न दो शर्तों की पूर्ति होना आवश्यक है।

(1) सकल सीमान्त आय (AMR) = सीमान्त लागत (MC)

(2) $MR_a = MR_b = MC$

राशिपातन की अवस्था में कीमत विभेदीकरण का सन्तुलन (Equilibrium under Price Discrimination in the Dumping Case)

कीमत विभेदीकरण का एक विशिष्ट प्रकार राशिपातन है जिसमें एकाधिकारी समान वस्तु को स्वदेशी मार्किट की तुलना में विश्व मार्किट (World ... कम कीमत पर बेचता है। कल्पना

$$= \frac{1-\frac{1}{e_b}}{1-\frac{1}{e_a}}$$

औसत आय ...

MR^H है। विश्व मार्किट में जहाँ उत्पादन को पूर्ण प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है, उसके पदार्थ की माँग पूर्णतया मूल्यसापेक्ष है। इसलिए विश्व

मार्किट में औसत आय वक्र AR^W क्षितिज के समानान्तर रेखा है और सीमान्त आय वक्र MR^W इसके साथ मिला हुआ है। वक्र MC उत्पादन का सीमान्त लागत वक्र है, इस अवस्था में $BFED$ कुल सीमान्त आय वक्र है जो कि MR^H और MR^W का

रेखाकृति 25.2
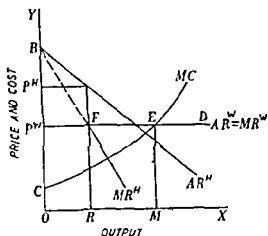
राशिपातन की अवस्था में विभेदकारी एकाधिकारी का सन्तुलन

जोड़ है। सीमान्त लागत वक्र MC कुल सीमान्त आय वक्र (aggregate marginal revenue curve)

विश्व मार्किट में कीमत OP^W, कीमत OP^H से कम है। जब उत्पादक वस्तु को स्वदेशी मार्किट की तुलना में विश्व मार्किट में कम कीमत पर बेचता है तो इसे उसके द्वारा विश्व मार्किट में राशिपातन (dumping) करना कहा जाता है।

क्या कीमत-विभेदीकरण समाज के लिए हितकर है ? (Is Price Discrimination Beneficial to Society ?)

कुछ अवस्थाओं में कीमत-विभेदीकरण समाज के लिए लाभदायक होता है, विशेष रूप से ऐसी अवस्थाओं में जब कीमत-विभेदीकरण से उत्पादन-मात्रा बढ़ती है। ऐसी भी स्थिति हो सकती है जब कीमत विभेदीकरण किए बिना वस्तु का उत्पादन सम्भव नहीं होता क्योंकि साधारण एकाधिकारी के लिए वस्तु का उत्पादन करना लाभकारी नहीं होगा। यदि निर्धन ग्राहकों को ध्यान में रखते हुए सारी उत्पादन मात्रा की कीमत कम रखी जाये, तो सम्भव है कि प्रति इकाई सामान्य लाभ न होने के कारण लागत पूरी न हो सकेगी। परिणामस्वरूप यह सम्भव है कि पदार्थ के उत्पादन को बन्द करना पड़े या उत्पादन को कम करना पड़ जाये। चूँकि विभेदकारी एकाधिकार में औसत आय AR साधारण एकाधिकार (simple monopoly) की

जाती है तो सीमान्त आय RF है जो कि सीमान्त लागत ME के बराबर है। अतः कुल उत्पादन OM में से OR मात्रा को स्वदेशी मार्किट (home market) में बेचा जाएगा। स्वदेशी मार्किट में औसत आय वक्र AR^H से स्पष्ट है कि इसमें कीमत OP^H निश्चित होगी। उत्पादन की शेष मात्रा RM को विश्व मार्किट में कीमत OP^W पर बेचा जाएगा। उत्पादक द्वारा दोनों मार्किटों में कुल लाभ $CEFB$ अर्जित किया जाएगा।

एक मार्किट में एकाधिकारी का माँग वक्र है जबकि D_1 वक्र दूसरी मार्किट का माँग वक्र है। संयुक्त वक्र SRT साधारण एकाधिकारी का दोनों मार्किटों का कुल माँग वक्र (aggregate demand curve, AD) है जो साधारण एकाधिकार का औसत आय वक्र (SAR) भी है। रेखाकृति 25.3 से स्पष्ट है कि कुल माँग वक्र AD अथवा SAR (अथवा वक्र SRT) समस्त लम्बाई में औसत लागत वक्र AC

के नीचे स्थित है। दूसरे शब्दों में, जब दोनों मार्किटों में समान एकाधिकार कीमत वसूल की जाती है तो उत्पादन के सभी स्तरों पर औसत आय औसत लागत से कम है। उदाहरण के लिए, साधारण एकाधिकारी वस्तु की OM मात्रा उत्पादित करने का निश्चय करता है तो वह समान कीमत MP दो मार्किटों से वसूल करेगा। रेखाकृति देखने पर ज्ञात होगा कि कीमत MP, OM मात्रा उत्पादित करने की औसत लागत MH से कम है। अतएव साधारण एकाधिकारी के लिए यह लाभकारी नहीं होगा कि वह वस्तु की OM मात्रा उत्पादित करके दोनों मार्किटों में समान कीमत पर बेचे। परन्तु वस्तु की OM मात्रा का उत्पादन करना लाभकारी हो सकता है यदि वह एकाधिकारी मार्किट

रेखाकृति 25.3

में कीमत विभेद करे। कीमत विभेदीकरण के अन्तर्गत वह वस्तु की OM_1 मात्रा को एक मार्किट में कीमत M_1P_1 पर बेच सकता है और दूसरी मार्किट में OM_2 मात्रा को कीमत M_2P_2 पर $(OM_1+OM_2=OM)$। इस प्रकार कीमत में विभेद करके उसे OM मात्रा के बेचने से औसत कीमत अथवा औसत आय (AR), MP' के बराबर प्राप्त होती है। रेखाकृति देखने पर पता चलेगा कि औसत कीमत अथवा औसत आय MP' वस्तु की OM मात्रा की औसत लागत MH से अधिक है अर्थात् कीमत-विभेदीकरण करके वस्तु की OM मात्रा का उत्पादन एकाधिकारी के लिये लाभकारी हो गया है जबकि समान कीमत के अन्तर्गत ऐसा नहीं था। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कई अवस्थाएं ऐसी हो सकती हैं जिनमें साधारण एकाधिकार में (अर्थात् समान कीमत प्राप्त करने पर) उत्पादन बिल्कुल नहीं होगा जबकि कीमत-विभेदीकरण के अन्तर्गत उत्पादन सम्भव हो जाता है। इसी प्रकार कई दशाएँ ऐसी हैं जिनमें साधारण एकाधिकार में उत्पादन तो होगा परन्तु कीमत विभेदीकरण की तुलना में कम। जोन राबिन्सन (Joan Robinson)[1] ने ऐसी कई दशाओं का विवेचन किया है जिनमें कीमत विभेदीकरण के अन्तर्गत उत्पादन मात्रा साधारण एकाधिकार की तुलना में अधिक होती है। वह साधारण एकाधिकार (जबकि वस्तु की समान कीमत प्राप्त की जाती है) और कीमत-विभेदीकरण के अन्तर्गत उत्पादन मात्रा की तुलना के सम्बन्ध में निम्न निष्कर्षों पर पहुंची है

(1) जब एकाधिकारी की उत्पादन-मात्रा इतनी होती है कि समान एकाधिकारी कीमत पर वह एक मार्किट में ही जिसमें कि वस्तु की मांग अपेक्षाकृत अधिक है, बेच पाता है तो वह कीमत विभेदीकरण से अपेक्षाकृत निम्न मांग वाली मार्किट में भी वस्तु को बेच सकेगा और इस प्रकार इस दशा में कीमत-विभेदीकरण के अन्तर्गत उत्पादन मात्रा अधिक होगी।

(2) यदि एकाधिकारी की उत्पादन मात्रा तथा निश्चित समान कीमत इतनी है कि वे दोनों प्रकार की मार्किटों (अधिक तथा कम मांग वाली मार्किट) में वस्तु को बेच सकता है तो ऐसी दशा में कीमत-विभेदीकरण में उत्पादन मात्रा में तब वृद्धि होगी यदि दो मार्किटों में मांग की मूल्यसापेक्षताएं भिन्न भिन्न हैं तथा एक मार्किट के अधिक मूल्यसापेक्ष मांग वक्र दूसरी मार्किट की तुलना में ऊपर की ओर से अधिक अवतल (more concave) है (When more elastic demand curve is more concave than the less elastic demand curve, the output

1 इसे उनके द्वारा रचित पुस्तक "*The Economics of Imperfect Competition*", pp 188 95

will increase by the introduction of price discrimination) ।

इस प्रकार जब कीमत विभेदीकरण से कुल उत्पादन मात्रा में वृद्धि हो जाती है तो उस दशा में कीमत-विभेदीकरण को प्राय. उचित एवं सामाजिक दृष्टि से हितकर माना जाता है परन्तु अब प्रश्न यह कि जब साधारण एकाधिकार तथा विभेदकारी एकाधिकार में उत्पादन-मात्रा में कोई अन्तर नहीं होता तो क्या विभेदीकरण सामाजिक दृष्टि से हितकर है अथवा नहीं। इसका उत्तर देना आसान नहीं है क्योंकि यह कई तरीों पर निर्भर करता है। परन्तु कीमत-विभेदीकरण से वस्तु का दो या दो से अधिक व्यक्तियों में वितरण (distribution of a good between individuals) सामाजिक दृष्टि से त्रुटिपूर्ण तथा हानिकर होता है। इसको हम अनधिमान वक्रों की सहायता से समझा सकते हैं। रेखाकृति 25 4 को देखिए जिसके अक्ष-X पर वस्तु X को तथा अक्ष-Y
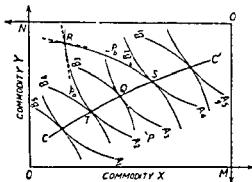
रेखाकृति 25 4 . कीमत-विभेदीकरण की समाप्ति से दो व्यक्तियों के (सामाजिक कल्याण) में वृद्धि

पर वस्तु Y को व्यक्त किया गया है। OM वस्तु X की कुल उत्पादित मात्रा है तथा ON वस्तु Y की कुल उत्पादित मात्रा है। व्यक्ति A के अनधिमान वक्र A_1, A_2, A_3, A_4 आदि O को मूल बिन्दु मानकर बनाए गए हैं तथा व्यक्ति B के अनधिमान वक्र B_1, B_2, B_3, B_4 आदि O' को मूल बिन्दु मानकर बनाए गए हैं। अब कल्पना कीजिए कि कीमत-विभेदीकरण के कारण दो व्यक्तियों से दोनों वस्तुओं X और Y की भिन्न-भिन्न कीमतें प्राप्त की जाती है। परिणामस्वरूप दो व्यक्तियों के इन दो वस्तुओं के सम्बन्ध में कीमत रेखाएँ (price lines) भिन्न-भिन्न हैं। व्यक्ति A की कीमत रेखा P_a है तथा व्यक्ति B की कीमत रेखा P_b है। ये दो कीमत रेखाएँ एक-दूसरे को बिन्दु R पर काटती हैं जहाँ कि प्रत्येक व्यक्ति का एक अनधिमान वक्र उसकी कीमत रेखा को स्पर्श करता है अर्थात बिन्दु R पर प्रत्येक व्यक्ति (वस्तुओं की कीमतें और मुद्रा आय दी हुई होने पर) अपनी सन्तुष्टि को अधिकतम कर रहा है तथा इस प्रकार वस्तु X और Y की मांगी गई मात्राएँ उनकी उत्पादित मात्राओं के समान है।

अब हम यह सिद्ध करना चाहते हैं कि R बिन्दु द्वारा निर्धारित दो व्यक्तियों म वस्तु X और Y का वितरण (जो कि कीमत-विभेदीकरण की स्थिति में हुआ है) सामाजिक कल्याण की दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं है। यदि हम उन दो व्यक्तियों में वस्तुओं का पुनर्वितरण करके बिन्दु Q की स्थिति प्राप्त करें तो ऐसा करने से दोनों व्यक्तियों की सन्तुष्टि बढ जाएगी (स्मरण रहे कि बिन्दु Q पर दोनों वस्तुओं की मात्राएँ पूर्ववत हैं, केवल दो व्यक्तियों में उनके वितरण को बदला गया है)। व्यक्ति A को बिन्दु Q पर बिन्दु R की तुलना में अधिक सन्तुष्टि इसलिए प्राप्त हो रही है क्योंकि बिन्दु R (जो कि उनके अनधिमान वक्र A_2 पर स्थित है) की अपेक्षा बिन्दु Q ऊँचे अनधिमान वक्र A_4 पर स्थित है। इसी प्रकार व्यक्ति B भी बिन्दु Q पर बिन्दु R की अपेक्षा अधिक सन्तुष्टि प्राप्त कर रहा है क्योंकि बिन्दु R (जो कि अनधिमान वक्र B_2 पर स्थित है) की तुलना म बिन्दु Q इसके ऊँचे अनधिमान वक्र B_3 पर स्थित है। इस प्रकार दोनों व्यक्ति बिन्दु Q द्वारा व्यक्त वस्तुओं के वितरण से बिन्दु R के वितरण की अपेक्षा अधिक सतुष्ट हैं। परन्तु व्यक्तियों को बिन्दु Q पर तभी लाया जा सकता है यदि उन दोनों के लिए वस्तुओं की कीमतें समान हों (अर्थात् कोई कीमत विभेदीकरण न हो) क्योंकि समान कीमत रेखा (same

price line) होने की स्थिति में हों वे बिन्दु Q पर जहाँ पर कि उन दोनों के अनधिमान वक्र एक दूसरे को स्पर्श कर रहे हैं सन्तुलन में होंगे (If the individuals are to be in equilibrium at point Q they must pay the same price because *only with the same price line* both of them would be *in equilibrium* at a point where their indifference curves are tangent to each other)। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कीमत विभेदीकरण को हटाकर उन से समान कीमतें प्राप्त की जाएँ तो उनमें वस्तुओं का वितरण Q जैसे बिन्दु के अनुसार होगा और दोनों की सतुष्टि में वृद्धि होगी अर्थात कीमत विभेदीकरण वस्तुओं के इष्टतम वितरण (optimum distribution of goods) की दृष्टि से हितकर नहीं है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अनधिमान वक्र A_1 और B_2 के बीच बिन्दु Q के अतिरिक्त अन्य बिन्दु भी हैं। जहाँ दो व्यक्तियों के अनधिमान वक्र एक दूसरे को स्पर्श करते हैं अर्थात संविदा वक्र (Contract Curve) OO^1 पर बिन्दु S और T के बीच बिन्दु Q के अतिरिक्त अन्य बिन्दु भी हैं जहाँ दो व्यक्तियों के अनधिमान वक्र एक दूसरे को स्पर्श करेंगे। S और T के बीच का कोई भी बिन्दु R की तुलना में दोनों व्यक्तियों की अधिक सन्तुष्टि को व्यक्त करेगा क्योंकि संविदा वक्र OO पर बिन्दु S और T के बीच के बिन्दु R की तुलना में दोनों व्यक्तियों के ऊँचे अनधिमान वक्र पर स्थित होंगे। अतः इस सम्बन्ध में प्रो० स्टिगलर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तुओं की मात्राएं तथा क्रेताओं की मुद्रा आय दी हुई होने पर कीमत विभेद की समाप्ति से समस्त क्रेता लाभान्वित हो सकते हैं क्योंकि कीमत विभेदीकरण उन्हें संविदा वक्र पर पहुँचने से रोकता है (given the quantities of the commodities and the buyer's money incomes *all buyers can gain by the elimination of price discrimination* for price discrimination prevents them from reaching the contract curve[1]

परन्तु क्या कीमत विभेदीकरण सामाजिक दृष्टि से हितकर है अथवा नहीं इसका सरल उत्तर देना कठिन है। चूंकि कीमत विभेदीकरण में कुछ लोगों के लिए कीमत बढ़ा दी जाती है और कुछ के लिए घटा दी जाती है इससे यह स्पष्ट है कि कीमत विभेदीकरण कुछ लोगों के लिए तो लाभदायक होता है और कुछ उपभोक्ताओं के लिए हानिकारक होता है। परन्तु सामाजिक कल्याण अथवा सन्तुष्टि में कमी होती है अथवा वृद्धि यह इस बात पर निर्भर करता है कि कीमत विभेदीकरण से लाभ किन व्यक्तियों को हो रहा है और हानि किन को। यदि निर्धन जनता के लिए मूल्य घटा दिया जाए और धनी व्यक्तियों के लिए बढ़ा दिया जाए तो सारा समाज दुखी नहीं होता क्योंकि कीमत विभेदीकरण का उद्देश्य इस उदाहरण में तो आर्थिक कल्याण को बढ़ाता है। परन्तु भौगोलिक कीमत विभेदीकरण की अवस्था में यह भी सम्भव है कि कम मूल्यसापेक्षता वाला बाजार (जिसके लिए कीमत बढ़ाई जाती है) अपने देश का बाजार हो जबकि विदेश के बाजार में माँग की मूल्यसापेक्षता अधिक हो जिसके कारण वस्तु की कीमत वहाँ घटानी पड़ती है। ऐसी अवस्था में कीमत विभेदीकरण से अपने देश वालों की अपेक्षा विदेशियों को अधिक लाभ होगा। इस प्रकार का कीमत विभेदीकरण समाज के लिए प्रायः हानिकारक होता है। किन्तु यह भी एक विशेष स्थिति में सत्य है। यदि उद्योग में वर्धमान प्रतिफल का नियम (Law of Increasing Returns) लागू होता है तो विभेदकारी एकाधिकार (discriminating monopoly) में कम मूल्यसापेक्ष मार्किट के उपभोक्ता भी इस बात का लाभ उठा सकते हैं कि उत्पादन मात्रा बढ़ जाने में प्रति इकाई लागत बहुत कम हो जाती है और इस प्रकार विभेदकारी एकाधिकार के अन्तर्गत विदेशों में कम कीमत पर माल बेचने (dumping) से अपने देश में भी कीमत कम हो जाती है और इस प्रकार अपने देश को भी लाभ होता है।

अतः श्रीमती राबिन्सन इस परिणाम पर पहुँचती हैं कि 'सामाजिक दृष्टिकोण से यह बताना कठिन है

1 G J Stigler, *The Theory of Price*, revised edition 1952, p 93

कि कीमत-विभेदीकरण उचित है अथवा नहीं। एक दृष्टिकोण से कीमत-विभेदीकरण (price discrimination) साधारण एकाधिकार से उन सब अवस्थाओं में श्रेष्ठ समझा जाता है जब उससे उत्पादन में वृद्धि होती है और कीमत-विभेदीकरण ऐसी अवस्थाओं में अधिक प्रचलित भी है। परन्तु इसके विपरीत कीमत विभेद करने का एक हानिप्रद फल यह होता है कि इससे साधनों का आवण्टन सन्तोषजनक न होकर हानिप्रद हो जाता है। अतः यह बताने से पहले कि कीमत-विभेदीकरण उचित है कि नहीं, यह आवश्यक है कि इससे होने वाली हानि और लाभ की तुलना कर ली जाये। जब भी कभी कीमत-विभेदीकरण के फलस्वरूप उत्पादन कम हो जाये तब कीमत विभेदीकरण दोनों दृष्टियों से ही हानिप्रद होता है।"[1]

1 Joan Robinson, *The Economics of Imperfect Competition*, p 206

26

एकाधिकारिक प्रतियोगिता अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता में कीमत-निर्धारण

(PRICING UNDER MONOPOLISTIC COMPETITION OR IMPERFECT COMPETITION)

हमने अध्याय 21 और 22 मे पूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत और उत्पादन सन्तुलन के विषय में पढा। परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता वास्तविक ससार मे बहुत ही कम पाई जाती है और इसलिए वह वास्तविक मार्किट की दशाओ का प्रतिनिधित्व नही करती। पूर्ण प्रतियोगिता के सिद्धान्तो से निकाले गये निष्कर्ष वास्तविक जगत की व्यावसायिक फर्मों की स्थिति मे लागू नही होते। उदाहरण के लिए वास्तविक जगत मे व्यावसायिक फर्में बडे पैमाने की आन्तरिक बचतो (internal economies of scale) का लाभ उठा रही होती है। परन्तु आन्तरिक बचते पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति म असम्भव है। इसलिए कीमत सिद्धान्त को बदल कर इसको वास्तविक ससार के अधिक निकट लाने की अति आवश्यकता थी। यह कार्य प्रोफेसर ई० एच० चैम्बरलिन (E H Chamberlin) और श्रीमती जोन राबिन्सन (Joan Robinson) ने स्वतन्त्र रूप से परन्तु एक साथ सम्पन्न किया। प्रोफेसर चैम्बरलिन ने एकाधिकारिक प्रतियोगिता का सिद्धान्त (*Theory of Monopolistic Competition*) और श्रीमती जोन राबिन्सन ने अपूर्ण प्रतियोगिता का अर्थशास्त्र (*The Economics of Imperfect Competition*) नामक पुस्तकें रचीं। दोनों ने अपनी अपनी पुस्तको मे अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता की विचारधारा की व्याख्या की और इसमे फर्म और उद्योग के सतुलन की विवेचना की।

प्रोफेसर चैम्बरलिन की एकाधिकारिक प्रतियोगिता और श्रीमती राबिन्सन की अपूर्ण प्रतियोगिता मे कुछ अन्तर पाया जाता है, परन्तु इन दोनो का सार और आवश्यक तत्त्व समान ही है। दोनों समान मार्किट दशाओं मे फर्म और उद्योग के सतुलन की चर्चा करते हैं तथा उनके अन्तर्गत कीमत निर्धारण की व्याख्या करते है। एकाधिकारिक प्रतियोगिता अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता के सिद्धान्त के अनुसार शुद्ध अथवा पूर्ण प्रतियोगिता (Pure or Perfect Competition) तथा शुद्ध एकाधिकार (Pure Monopoly) मार्किट की दो चरम सीमाएं है और इनके बीच मार्किट के रूप की ऐसी अनेक किस्मे हैं जो कि एकाधिकार और प्रतियोगिता के अशो मे भिन्न-भिन्न है अर्थात् उनमे अपूर्णता (*imperfection*) की मात्रा भिन्न भिन्न है। जहां तक साधारण एकाधिकार (Ordinary Monopoly), जिसमे ऐसे पदार्थ का एक ही विक्रेता होता है जिसके निकट के स्थानापन्न न हो, का सम्बन्ध है, वह एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत आ जाता है।

एकाधिकारिक अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमे एक व्यक्तिगत फर्म के पदार्थ की मांग वक्र की ढाल बायें से दायीं ओर नीचे को होती है। परिणामस्वरूप एकाधिकारिक प्रतियोगिता म काम कर रही फर्म का सीमान्त आय (*MR*) वक्र, औसत आय (*AR*) वक्र से भिन्न होता है और यह उमसे नीचे को स्थित होता है। एका-

धिकारिक और अपूर्ण प्रतियोगिता मे फर्म और उद्योग के सन्तुलन को निर्धारित करने मे सीमान्त आय की धारणा का बडा महत्त्व है। यह महत्त्व इसलिए है क्योंकि सीमान्त आय का कीमत तथा मूल्यसापेक्षता से एक निश्चित सम्बन्ध है। सीमान्त आय, कीमत तथा मूल्यसापेक्षता मे सम्बन्ध के कारण ही पूर्ण प्रतियोगिता तथा अपूर्ण प्रतियोगिता मे अन्तर होता है। किसी उत्पादन मात्रा पर सीमान्त आय और कीमत मे अन्तर उस उत्पादन मात्रा पर माँग की मूल्यसापेक्षता पर निर्भर करता है। पूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत, सीमान्त आय के बराबर होती है क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता मे माँग की मूल्यसापेक्षता अनन्त (infinite) होती है जबकि अपूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत, सीमान्त आय से अधिक होती है क्योंकि मूल्यसापेक्षता अनन्त से कम होती है। इसलिए कीमत तथा सीमान्त आय मे सन्तुलन उत्पादन मात्रा पर अन्तर अपूर्णता का अंश (degree of imperfection) का अभिसूचक माना जाता है। इस प्रकार सन्तुलन उत्पादन पर कीमत और सीमान्त आय मे सापेक्ष अन्तर से हम प्रतियोगिता मे अशुद्धता अथवा अपूर्णता की मात्रा का माप कर सकते हैं। कीमत तथा सीमान्त आय मे अन्तर जितना ही अधिक होगा अपूर्णता की मात्रा उतनी ही अधिक होगी। अब हम नीचे एकाधिकारिक प्रतियोगिता की धारणा का तथा उसमे फर्म और उद्योग के सन्तुलन का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

एकाधिकारिक प्रतियोगिता की धारणा (The Concept of Monopolistic Competition)

एकाधिकारिक प्रतियोगिता की धारणा जिसको प्रोफेसर चैम्बरलिन ने प्रतिपादित किया है, एक सही अर्थों मे क्रान्तिकारी और महत्त्वपूर्ण धारणा है और एक शुद्ध प्रतियोगिता अथवा शुद्ध एकाधिकार की तुलना मे अधिक वास्तविक है। चैम्बरलिन से पूर्व एकाधिकार और प्रतियोगिता एक दूसरे के विपरीत अर्थ वाले शब्द माने जाते थे। यह समझा जाता था कि जब प्रतियोगिता होती है तो एकाधिकार नही हो सकता और जब एकाधिकार होता है तो प्रतियोगिता का होना असम्भव है। परन्तु प्रोफेसर चैम्बरलिन के मतानुसार अधिकांश वास्तविक अवस्थाओं मे प्रतियोगिता और एकाधिकार दोनों के अंशों का मिश्रण (blending of the elements of competition and monopoly) पाया जाता है। अत प्रोफेसर चैम्बरलिन का कथन है कि 'एकाधिकारिक प्रतियोगिता की धारणा अर्थशास्त्र की परम्परागत विचारधारा को चुनौती है जिसमे कि प्रतियोगिता और एकाधिकार को दो विकल्प अवस्थाएँ (two alternative situations) माना जाता है और व्यक्तिगत कीमतों की या तो प्रतियोगिता के अन्तर्गत और या एकाधिकार के अन्तर्गत व्याख्या की जाती है। परन्तु इसके विपरीत मेरे विचार मे अधिकांश आर्थिक अवस्थाएँ प्रतियोगिता और एकाधिकार का मिश्रण होती हैं।"

एकाधिकारिक प्रतियोगिता की महत्त्वपूर्ण विशेषता जिसमे प्रतियोगिता और एकाधिकार का मिश्रण उत्पन्न होता है, वह है पदार्थ का विभेदीकरण (Product Differentiation)। पदार्थ के विभेदीकरण का अर्थ है कि विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित किए जा रहे पदार्थ बिल्कुल एक जैसे नही होते बल्कि उनमे कुछ अन्तर पाया जाता है, चाहे तो वह अन्तर क्वालिटी मे हो, और चाहे आकृति, आकार, रंग, डब्बे की सुन्दरता, छाप (Brand) के नाम मे अथवा दुकान की स्थिति या दुकान मे काम कर रहे कर्मचारियों द्वारा प्रस्तुत विनयपूर्वक सेवा मे हो। अत एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित पदार्थ बिल्कुल एक जैसे तो नही होते पर उनमे आपस मे निकट का सम्बन्ध होता है। इस प्रकार हम देखते है कि पदार्थ विभेदीकरण का अर्थ विभिन्न पदार्थों का बिल्कुल भिन्न होना नही होता, उनमे केवल थोडा-सा ही अन्तर पाया जाता है और वास्तव मे वे एक दूसरे के निकट के स्थानापन्न होते हैं। जब पदार्थों मे विभेदीकरण होता है तो तब एकाधिकार का अंश वर्तमान होता है और विभेदीकरण जितना ही अधिक होगा, मार्किट अवस्था मे एकाधिकार का अंश उतना

ही अधिक होगा। जब कई फर्में विभेदीकृत पदार्थों को उत्पादित कर रही होती हैं तो प्रत्येक फर्म का अपने पदार्थ पर एकाधिकार होता है परन्तु उसे दूसरी फर्मों के निकट के स्थानापन्न पदार्थों से प्रतियोगिता करनी होती है। चूंकि प्रत्येक एकाधिकारी होता है और फिर भी उसे प्रतियोगिता करनी होती है, इसलिए इससे ऐसी मार्किट अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिसे सही तौर पर चैम्बरलिन ने एकाधिकारिक प्रतियोगिता की संज्ञा दी है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता में एकाधिकार और प्रतियोगिता दोनों के अंश पाये जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता में विभिन्न फर्मों द्वारा बनाए जा रहे पदार्थ पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था की तरह बिल्कुल एक-जैसे नहीं होते और न ही वे एकाधिकार के अन्तर्गत पाये जाने वाले दूर के स्थानापन्न होते हैं। एकाधिकारिक प्रतियोगिता में विभिन्न विक्रेताओं के पदार्थ एक दूसरे से पर्याप्त सीमा तक मिलते-जुलते हैं और एक दूसरे के निकट के स्थानापन्न होते हैं। प्रत्येक विक्रेता का अपने विभेदीकृत पदार्थ पर एकाधिकार होता है परन्तु उसे अपने प्रतिद्वन्द्वी विक्रेताओं, जो कि उसके पदार्थ के निकट स्थानापन्नों का विक्रय कर रहे होते हैं, की बड़ी प्रतियोगिता का सामना करना होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि एकाधिकार प्रतियोगिता में अनेक एकाधिकारी होते हैं जो एक दूसरे की प्रतियोगिता करते हैं (There are several competing monopolies under monopolistic competition)।

भारतीय अर्थव्यवस्था में एकाधिकारिक प्रतियोगिता के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, भारत में टुथपेस्ट बनाने के कई निर्माता हैं जो कि उसके भिन्न-भिन्न ब्रैंड (Brands) उत्पादित करते हैं जैसे कि कोलगेट, बिनाका, फारेन्स, कालीनास, सिगनल, आदि। कोलगेट के निर्माता का अपने पदार्थ पर एकाधिकार है क्योंकि कोई अन्य उत्पादक कोलगेट नामक टुथपेस्ट उत्पादित करके नहीं बेच सकता। परन्तु कोलगेट के निर्माता को टुथपेस्ट के अन्य ब्रैंडों के निर्माताओं जैसे कि फारेन्स, बिनाका, कालीनास आदि जो कि कोलगेट के निकट के स्थानापन्न हैं, की प्रतियोगिता का सामना करना होता है। कोलगेट का निर्माता इसलिए अपनी कीमत तथा उत्पादन की नीतियों का निर्धारण अपनी प्रतिद्वन्द्वी फर्मों की सम्भव प्रतिक्रियाओं को ध्यान में रखे बिना नहीं कर सकता। एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्य उदाहरण हैं नहाने के साबुन जैसे कि लक्स, गोदरेज, ब्रीज, हमाम, पामोलिव, जय आदि के निर्माता, विभिन्न टुथब्रशों जैसे कि कोलगेट, डा० वैस्ट, विजडम, बिनाका, फारेन्स आदि के निर्माता, शहरों में फुटकर दुकानें, शहरों में नाइयों की दुकानें आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता, शुद्ध प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार की तुलना में, वास्तविक जीवन की आर्थिक स्थिति के अधिक निकट है।

एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत पदार्थों की विभिन्न प्रकार की किस्मों के होने के कारण विभिन्न उपभोक्ता भिन्न-भिन्न ब्रैंडों के प्रयोग करने के अभ्यस्त हो जाते हैं और वे बाजार में भिन्न कीमतों पर बिकती हैं। यदि उनमें से किसी विशेष ब्रैंड का निर्माता अपने ब्रैंड की कीमत को कुछ बढ़ा दे तो यह नहीं होगा कि उसके सभी ग्राहक यह ब्रैंड खरीदना बन्द कर देंगे। हां, कुछ एक ग्राहक शायद अब इसकी बजाय कोई दूसरे ब्रैंड प्रयोग करने लग जायेंगे। ये विभिन्न ब्रैंड चूंकि आपस में निकट के स्थानापन्न होते हैं, इसलिए उनमें प्रति सापेक्षता (cross elasticity) अधिक होगी परन्तु अनन्त नहीं कि एक ब्रैंड की कीमत बढ़ने पर सभी ग्राहक उसे छोड़ जायें। इसी प्रकार एक टुथपेस्ट की कीमत घट जाने पर दूसरी टुथपेस्टों के कुछ एक ग्राहक अब इसे प्रयोग करने लग जायेंगे, परन्तु ऐसा नहीं होगा कि दोष सभी टुथपेस्टों के सभी ग्राहक इसके पास आ जायें। इसका आशय यह है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता में किसी एक उत्पादक या फर्म की अपनी कीमत नीति (price policy) निर्धारित करनी सम्भव होती है परन्तु इसका किसी अन्य फर्म पर प्रभाव नहीं पड़ता कि वह पहली फर्म की कीमत नीति के अनुसार अपनी कीमत बदल दे। कीमत कम करने पर एक फर्म की बिक्री अवश्य

बढ जायेगी परन्तु दूसरी फर्में इतनी अधिक संख्या मे हैं कि उन मे से किसी एक फर्म पर इसका प्रभाव लगभग नगण्य (negligible) होगा। परिणामस्वरूप अन्य फर्में अपने पदार्थों की कीमतो मे परिवर्तन करने के लिए प्रेरित नही होगी।

एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे कीमत-उत्पादन सतुलन (Price-Output Equilibrium under Monopolistic Competition)

एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे एक फर्म को कई समस्याओ का सामना करना होता है जो कि पूर्ण प्रतियोगिता म काम कर रही फर्म के सम्मुख नही होती। पूर्ण प्रतियोगिता के बाजार म व्यक्तिगत फर्म वस्तु की प्रचलित कीमत पर जितनी मात्रा चाहे बेच सकती है, परन्तु एकाधिकार प्रतियोगिता म व्यक्तिगत फर्म की मार्किट अपने प्रतिद्वन्द्वियो से कुछ सीमा तक पृथक होती है और परिणामस्वरूप उसके पदार्थ की माँग उसके द्वारा निश्चित कीमत, उसके पदार्थ की किस्म और उसके द्वारा विज्ञापन पर किये गये व्यय पर निर्भर करती है। अत एकाधिकारिक प्रतियोगिता म कार्य कर रही फर्म को पूर्ण प्रतियोगिता वाली फर्म की तुलना मे अधिक जटिल समस्या का सामना करना होता है। एकाधिकारिक प्रतियोगिता म व्यक्तिगत फर्म का सन्तुलन तीन विषयो मे होता है अर्थात् (1) कीमत के विषय म (2) पदार्थ के विषय मे और (3) विज्ञापन व्यय की मात्रा के विषय मे। परन्तु हम यहाँ पर एक फर्म द्वारा उत्पादित पदार्थ की एक विशेष किस्म को मान कर और विज्ञापन पर किसी विशेष व्यय को स्थिर मान कर, केवल कीमत के विषय मे ही फर्म के सन्तुलन की व्याख्या करेंगे।

व्यक्तिगत फर्म का सन्तुलन अथवा वैयक्तिक सन्तुलन (Individual Equilibrium)

जैसा कि अब हम ऊपर देख आए हैं कि एकाधिकारी प्रतियोगिता मे एक व्यक्तिगत फर्म के पदार्थ का माँग वक्र नीचे की ओर भुका हुआ होता है। चूंकि एकाधिकारिक प्रतियोगिता में विभिन्न फर्म एेसे पदार्थ उत्पादित करती है जो एक दूसरे के निकट के स्थानापन्न होते हैं, प्रत्येक फर्म के पदार्थ के माँग वक्र की स्थिति, स्तर अथवा मूल्यसापेक्षता प्रतियोगी स्थानापन्न पदार्थों की उपलब्धि तथा उनकी कीमतो पर निर्भर करेगी। इसलिए एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे किसी व्यक्तिगत फर्म के सन्तुलन की व्याख्या अन्य फर्मों से पृथक होकर नही की जा सकती। किन्तु हम अपने विश्लेषण को आसान बनाने के लिए स्थानापन्न पदार्थों की उपलब्धि तथा प्रतिद्वन्द्वी फर्मों द्वारा उनकी प्राप्त की जाने वाली कीमतो को निश्चित मान कर एक व्यक्तिगत फर्म के सन्तुलन की विवेचना पृथक् रूप से करेंगे। मार्किट मे उसके पदार्थ के कई निकट के स्थानापन्न होने के कारण किसी व्यक्तिगत फर्म के पदार्थ का माँग वक्र (एकाधिकारिक प्रतियोगिता की अवस्था मे) अधिक मूल्यसापेक्ष (elastic) होगा। इस प्रकार यद्यपि एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे एक फर्म का अपने पदार्थ की किस्म पर एकाधिकारिक नियन्त्रण होता है, परन्तु उसका यह नियन्त्रण मार्किट म उपलब्ध उसके स्थानापन्न पदार्थों की उपलब्धि द्वारा सीमित होता है और फलस्वरूप यदि एक पदार्थ का उत्पादक अपने पदार्थ की अधिक ऊँची कीमत निश्चित करता है तो उसके बहुत से ग्राहक उसको छोडकर उसके प्रतिद्वन्द्वियो के पास चले जाएँगे।

यदि स्थानापन्न पदार्थों की किस्म और उनकी कीमतो को स्थिर मान लिया जाय तो एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे एक फर्म के पदार्थ का एक निश्चित माँग वक्र होगा। हम यह भी कल्पना करते हैं कि एक व्यक्तिगत फर्म के पदार्थ की किस्म समान रहेगी, केवल कीमत के विषय म ही हमे सन्तुलन का विवेचन करना है। एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे एक व्यक्तिगत फर्म का सन्तुलन रेखाकृति 26 1 मे दर्शाया गया है। स्थानापन्न पदार्थों की किस्म और उनकी कीमतें दी हुई होन पर DD व्यक्तिगत फर्म का माँग वक्र है जो कि नीचे की ओर भुका हुआ है। यह माँग वक्र DD, फर्म का औसत आय (AR) वक्र भी है। AC वक्र फर्म का औसत लागत वक्र है और MC इसका सीमान्त लागत वक्र है। औसत लागत वक्र कुछ सीमा

तक आन्तरिक बचतें होने के कारण नीचे को गिरता है और उसके बाद आन्तरिक हानियो के कारण ऊपर को चढता है। माँग और लागत की ये अवस्थाएँ दी हुई होने पर हम यह स्पष्ट करना है कि एक फर्म अपने कीमत और उत्पादन की मात्रा किस प्रकार निश्चित करेगी जिससे उसको अधिकतम लाभ प्राप्त हो। एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत सिद्धान्त भी
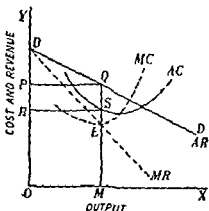
रेखाकृति 26 1

एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे फर्म का सन्तुलन · लाभ की अवस्था मे

पूर्ण प्रतियोगिता के कीमत सिद्धान्त की तरह अधिकतम लाभ के सिद्धान्त पर आधारित है। अत एकाधिकारिक प्रतियोगिता की फर्म भी अपने लाभ अधिकतम करने के लिये सीमान्त लागत (MC) को सीमान्त आय (MR) के समान करेगी। रेखाकृति 26 1 मे फर्म अपना उत्पादन OM मात्रा पर ही निश्चित करेगी क्योंकि इस पर ही सीमान्त लागत और सीमान्त आय परस्पर समान होती हैं। अत OM फर्म की सन्तुलन उत्पादन-मात्रा होगी। रेखाकृति मे माँग वक्र DD से यह स्पष्ट है कि पदार्थ की OM मात्रा बेचने से वस्तु को MQ कीमत प्राप्त होगी। अत वस्तु की कीमत MQ जो कि OP के बराबर है सन्तुलन-कीमत निश्चित होगी। इस सन्तुलन स्थिति मे OP कीमत और OM उत्पादन-मात्रा निश्चित करके फर्म $RSQP$ के क्षेत्रफल के बराबर लाभ अर्जित कर रही है। यह स्मरण रहे कि $RSQP$ लाभ सामान्य लाभ से अतिरिक्त है क्योंकि सामान्य लाभ तो औसत लागत वक्र मे ही सम्मिलित कर लिए जाते हैं। इस प्रकार क्षेत्रफल $RSQP$ फर्म द्वारा अर्जित असामान्य लाभ (supernormal profits) को दर्शाता है।

अल्पकाल मे फर्म को सन्तुलन की स्थिति मे असामान्य लाभ की बजाय हानि भी उठानी पड सकती है यदि पदार्थ की माँग की दशाएँ लागत दशाओ की अपेक्षा इतनी अच्छी न हो। रेखाकृति 26 2 फर्म की ऐसी दशा को दर्शाती है जिसके पदार्थ का माँग वक्र अथवा औसत आय (AR) वक्र, औसत लागत (AC) वक्र के नीचे स्थित है और परिणामस्वरूप कोई भी उत्पादन मात्रा लाभ से नही हो सकती। परन्तु ऐसी दशा मे फर्म अपनी हानि को न्यूनतम करने का प्रयत्न करेगी। इस दृष्टि से फर्म का सन्तुलन बिन्दु E पर होता है जिस पर कि सीमान्त लागत (MC) वक्र
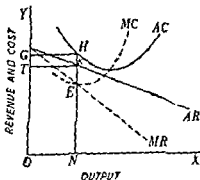
रेखाकृति 26 2

एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे फर्म का सन्तुलन हानि की अवस्था में

और सीमान्त आय (MR) वक्र एक दूसरे को काटते हैं। इस सन्तुलन की स्थिति के बिन्दु E के अनुसार फर्म पदार्थ की ON मात्रा उत्पादित कर रही है। रेखाकृति से स्पष्ट है कि ON मात्रा बेचने पर वस्तु की कीमत NE अथवा OT प्राप्त होगी। ऐसी स्थिति मे फर्म के लिए न्यूनतम हानि उठाने के अलावा कोई दूसरा विकल्प नही है। इसको कुल हानि $TEHG$ के समान है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे फर्म को सन्तुलन की स्थिति मे असामान्य

लाभ भी हो सकते है तथा हानि भी हो सकती है। क्या असामान्य लाभ होंगे अथवा हानि यह फर्म के पदार्थ के माँग वक्र की स्थिति और औसत लागत वक्र की स्थिति पर निर्भर करता है। इसके प्रतिकूल अल्पकाल मे फर्म केवल *सामान्य लाभ* (*normal profits*) भी प्राप्त कर सकती है यदि माँग वक्र औसत लागत वक्र को स्पर्श करता है।

रेखाकृति 26 1 और 26 2 मे यह देखा जाएगा कि जब फर्म अपने पदार्थ की कीमत क्रमश OP और OT निश्चित करती है तो फिर इसमे परिवर्तन करने की कोई प्रवृत्ति नही होगी। यदि वह इन कीमतो से ऊँची कीमत निश्चित करती है तो माँग की मात्रा घटने के कारण होने वाली हानि, कीमत मे वृद्धि से प्राप्त अतिरिक्त आय से अधिक होगी। यदि वह कीमत को घटाती है तो माँग मात्रा मे वृद्धि से होने वाली अतिरिक्त आय कम कीमत से हुई हानि की अपेक्षा कम होगी। अत OP तथा OT क्रमश सन्तुलन की कीमतें हैं जिनको फर्म दी हुई माँग और लागत की दशाएँ मे बदलने की चेष्टा नही करेगी।

समूह सन्तुलन (Group Equilibrium)

अब हमे इस बात की व्याख्या करनी है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे समस्त समूह (group) किस प्रकार सन्तुलन मे होता है। दूसरे शब्दो मे, अब हमे यह विवेचन करना है कि विभिन्न फर्मे जो एक दूसरे के *निकट के स्थानापन्न पदार्थ उत्पादित कर रही* होती हैं, सामूहिक रूप से उनकी कीमतो और उत्पादन मे किस प्रकार सन्तुलन स्थापित होगा। जैसाकि हम ऊपर बता आए हैं कि एक एकाधिकारिक प्रतियोगिता के समूह मे प्रत्येक फर्म का अपने विशेष पदार्थ पर एकाधिकार होता है परन्तु इसकी *मार्किट* इसके प्रतियोगियो, जो इसके निकट के स्थानापन्न पदार्थ उत्पादित करते हैं, की मार्किटो से मिली होती है। एक फर्म का कीमत और उत्पादन सम्बन्धी निर्णय इसकी प्रतियोगी फर्मो पर प्रभाव डालेंगे जो प्रतिक्रिया के रूप मे अपनी कीमत और उत्पादन नीतियों को बदल देंगी। विभिन्न उत्पादक फर्मों में परस्पर यह निर्भरता (interdependence), एकाधिकारिक प्रतियोगिता की मुख्य विशेषता है। अब प्रश्न यह है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता वाले समूह मे फर्मों की एक दूसरे पर निर्भरता और आपसी सम्बन्ध किस प्रकार के होते है।

एकाधिकारिक प्रतियोगिता म समूह-सन्तुलन की विवेचना करने मे एक और कठिनाई जो सम्मुख आती हैं वह यह है कि उस समूह की विभिन्न फर्मो की माग और लागत दशाओ मे विषमता और विभिन्नता पाई जाती है। प्रत्येक फर्म के पदार्थ के विशेष लक्षण होते है और वह अपने ग्राहको की रुचियो और अधिमानो *के अनुरूप बनाया गया होता है। विभिन्न पदार्थों मे* ये गुणात्मक अन्तर उनको उत्पादित करने की लागत और उनके माँग वक्रो मे विभिन्नता लाते है। विभिन्न फर्मों के पदार्थों के माँग वक्र स्तर तथा मूल्यसापेक्षता मे काफी भिन्न-भिन्न होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न फर्मों के लागत वक्रो मे भी आकृति और स्तर मे बहुत विभिन्नता पायी जाती है। प्रत्येक फर्म की इन विभिन्न दशाओ के कारण समूह मे विभिन्न फर्मों की कीमतो, उत्पादन मात्राओं तथा लाभो मे काफी अन्तर होगा। इस सम्बन्ध मे प्रोफेसर चैम्बरलिन के मत का उल्लेख करना उचित होगा। उनके अनुसार, "पदार्थ का विभेदीकरण समरूप नही होना। यह समूह के विभिन्न पदार्थों मे समान रूप स वितरित नही होता। प्रत्येक फर्म का अपना व्यक्तित्व होना है और इसके मार्किट का आकार दूसरी किस्मों की तुलना मे इसके लिए अधिमान की मात्रा पर निर्भर करता है।"[1]

समूह के सन्तुलन के विश्लेषण को सरल बनाने के लिए चैम्बरलिन प्रत्येक फर्म की इन विभिन्न दशाओ मे अन्तरो को ध्यान मे नही लाना और सभी को एक ही दशाओ मे कार्य करते हुए मान लेता है। इसे आर्थिक साहित्य मे समानता की मान्यता (uniformity assumption) कहा गया है। अत चैम्बरलिन कहते है, "हम यह एक बडी मान्यता (heroic assumption) लेकर चलते है कि सभी पदार्थों की माँग और लागत

1. E H Chamberlin, *Theory of Monopolistic Competition*, p 82

वक्र समस्त समूह मे समान हैं।'[1] इसके अतिरिक्त अपने सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने के लिये चैम्बरलिन एक और मान्यता करता है जिसे स्टिगलर (Stigler) ने समरूपता की मान्यता (symmetry assumption) की संज्ञा दी है। इस मान्यता के अनुसार एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे अधिक फर्मों के कारण एक फर्म द्वारा अपने पदार्थ की कीमत और उत्पादन-मात्रा मे परि-वर्तन का प्रभाव उसके अनेक प्रतियोगियों पर इतना नगण्य होगा कि वे प्रतिक्रिया के रूप मे अपनी कीमतो और उत्पादन-मात्राओ मे परिवर्तन करने के लिए प्रेरित नही होंगे। अत चैम्बरलिन कहते है कि 'हम कुछ समय के लिये यह मान्यता कर लेते है कि एक उत्पादक द्वारा कीमत अथवा पदार्थ मे परिवर्तन का
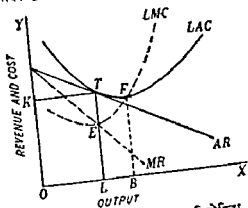
रेखाकृति 26 3 एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे समूह सन्तुलन

उसके अनेक प्रतियोगियों पर प्रभाव इस प्रकार फैल जाएगा कि प्रत्येक पर इसका प्रभाव बहुत नगण्य रहेगा जिसके कारण वे अपनी स्थिति मे परिवर्तन करने के लिए प्रेरित नहीं होंगे। उदाहरण के लिये एक फर्म द्वारा कीमत में कटौती, जो कि उसकी बिक्री को बढ़ानी है उसके अनेक प्रतियोगियों मे प्रत्येक से इतने कम ग्राहक खींचेगी कि उसका कोई भी प्रतियोगी प्रतिक्रिया करने की नही सोचेगा। चैम्बरलिन द्वारा की गई उपर्युक्त मान्यताओ को दृष्टि मे रखते हुए हम फर्मों के समूह जो कि निकट के स्थानापन्न उत्पादित कर रहे हैं के सन्तुलन की व्याख्या कर सकते हैं।

कल्पना कीजिए कि आरम्भ मे समूह की प्रत्येक फर्म का माँग वक्र DD और औसत लागत वक्र AC है जो कि उपर्युक्त रेखाकृति 26 1 मे प्रदर्शित किये गये हैं। प्रत्येक फर्म इन दशाओ में कीमत OP निश्चित करेगी जिस पर कि उसकी सीमान्त लागत और सीमान्त आय बराबर हैं और इसलिए उसके लाभ अधिकतम। यद्यपि सभी फर्में असामान्य लाभ अर्जित कर रही हैं परन्तु कोई कारण नही कि कोई भी फर्म OP से कीमत को घटा-एगी क्योंकि कीमत को घटाने से जो बिक्री मे वृद्धि होगी उससे होने वाली अतिरिक्त आय कीमत के घटाने से हुई हानि से कम होगी। परन्तु इन असामान्य लाभों के कारण उस समूह मे नई फर्में आकृष्ट होगी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे फर्मों के प्रवेश करने मे पूर्ण स्वतन्त्रता नही होती। प्रवेश करने की स्वतन्त्रता पूर्ण तभी हो सकती है यदि नई फर्में जोकि उद्योग अथवा समूह मे प्रवेश करें वे पहले काम कर रही फर्मों द्वारा उत्पादित पदार्थों के बिल्कुल समान पदार्थ बना सकती हों। किन्तु एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे ऐसा सम्भव नही है। इसलिए एकाधि कारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत उद्योग अथवा समूह मे प्रवेश पूर्णतया मुक्त कभी नही हो सकता। परन्तु नई प्रवेश करने वाली फर्में पहले से काम कर रही फर्मों से मिलते-जुलते अथवा निकट के स्थानापन्न पदार्थ उत्पा-दित करने मे स्वतन्त्र हैं। अत एकाधिकारिक प्रति-योगिता मे प्रवेश की स्वतन्त्रता केवल निकट के स्थानापन्न पदार्थ उत्पादित करने के भाव मे होती है।

जब असामान्य लाभ से आकृष्ट होकर नई फर्में क्षेत्र मे प्रवेश करती हैं तो वस्तु की माँग पहले से अधिक फर्मों मे विभाजित हो जाएगी जिससे प्रत्येक फर्म के पदार्थ का माँग वक्र (औसत आय वक्र) नीचे को बायी ओर सरक जाएगा। न' फर्मों के प्रवेश की यह प्रक्रिया और फलस्वरूप माँग वक्र अथवा औसत आय वक्र का बायी ओर सरकना जारी रहेगा जब तक कि औसत आय वक्र, औसत लागत वक्र से स्पर्श करने की स्थिति मे नहीं पहुंच जाता और असामान्य लाभ पूरी तरह से समाप्त नही हो जाते। ऐसा रेखाकृति 26 3 मे दर्शाया गया है जिसमें कि औसत आय (AR) वक्र, औसत लागत (LAC) वक्र को बिन्दु T पर स्पर्श

1. *Ibid*, p. 82

करता है। सीमान्त लागत और सीमान्त आय वक्र इस स्पर्श बिन्दु से सीधे नीचे एक दूसरे को काटेंगे। इसलिए फर्म अपने दीर्घकालीन सन्तुलन में पदार्थ की OL मात्रा उत्पादित करेगी जिस पर कि सीमान्त लागत और सीमान्त आय बराबर है और कीमत LT अथवा OK निश्चित करेगी। चूंकि यहां पर औसत आय और औसत लागत बराबर है, फर्म केवल सामान्य लाभ ही कमा रही होगी। चूंकि हम यह मान्यता कर चुके हैं कि सभी फर्मों के मांग तथा औसत लागत वक्र समान हैं, इसलिए सभी के औसत आय वक्र उनके औसत लागत वक्रों के स्पर्श की स्थिति में होंगे और सभी केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त कर रही होंगी। चूंकि केवल सामान्य लाभ ही फर्मों को हो रहे हैं इसलिए इस उद्योग अथवा समूह में नये प्रतियोगी प्रवेश करने को प्रेरित नहीं होंगे और इसलिए समस्त समूह सतुलन में होगा।

यहां पर एक महत्त्वपूर्ण बात उल्लेखनीय यह है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता में दीर्घकालीन सन्तुलन की स्थिति में पूर्ण प्रतियोगिता की तरह फर्म केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त करती है लेकिन पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना में इसके पदार्थ की कीमत अधिक और उत्पादन-मात्रा कम होगी। हम पढ़ चुके हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का दीर्घकालीन सन्तुलन औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु पर स्थापित होता है। दूसरे शब्दों में, पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म दीर्घकाल में **इष्टतम आकार** (optimum size) की होती है। परन्तु एकाधिकारिक प्रतियोगिता में एक फर्म, जैसा कि रेखाकृति 26 3 से स्पष्ट है, इष्टतम बिन्दु के पहुंचने से पहले ही उत्पादन मात्रा निश्चित करती है और वह उस बिन्दु पर कार्य कर रही होती है जहां पर औसत लागत अभी घट रही होती है। रेखाकृति 25 3 में एकाधिकारिक प्रतियोगिता में फर्म पदार्थ की OL मात्रा उत्पादित करती है जब कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत वही फर्म पदार्थ की OB मात्रा उत्पादित करती है जिस पर कि औसत लागत निम्नतम है। एकाधिकारिक प्रतियोगिता में फर्म अपनी उत्पादन मात्रा को बिन्दु B तक बढ़ाकर अपनी औसत लागत को घटा सकती है परन्तु वह ऐसा नहीं करेगी क्योंकि ऐसा करने से उसके लाभ कम होंगे क्योंकि उत्पादन बढ़ाने से उसकी कीमत में कमी औसत लागत की कमी से कहीं अधिक होगी। अब यह स्पष्ट है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता में फर्म पदार्थ की OL मात्रा उत्पादित करने पर, जहां अभी औसत लागत निम्नतम नहीं हुई, अपनी उत्पादन क्षमता का पूर्ण रूप से प्रयोग नहीं करती (फर्म अपनी क्षमता का पूर्ण प्रयोग तब करती यदि वह उत्पादन-मात्रा OB पैदा कर रही होती)। अतः फर्म की LB मात्रा के बराबर उत्पादन क्षमता एकाधिकारिक प्रतियोगिता में अनुपयुक्त (unutilised) रहती है। इस अनुपयुक्त क्षमता को **आधिक्य अथवा फालतू क्षमता** (excess capacity) कहा जाता है जो कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता का प्रमुख लक्षण है।

इस विषय में एक ध्यान देने की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता की तरह एकाधिकारिक प्रतियोगिता में भी दीर्घकालीन सन्तुलन की अवस्था में फर्म केवल सामान्य लाभ ही कमा रही होती है लेकिन एकाधिकारिक प्रतियोगिता में निर्धारित कीमत, पूर्ण प्रतियोगिता की कीमत से कहीं अधिक होती है। रेखाकृति 26 3 में यह देखा जाएगा कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता में दीर्घकालीन कीमत OK है जो कि पूर्ण प्रतियोगिता की कीमत BF से अधिक है। एकाधिकारिक प्रतियोगिता की इस अधिक कीमत का कारण एकाधिकारिक प्रतियोगिता में एकाधिकार के अंश (monopoly element) का वर्तमान होना है। एकाधिकारिक प्रतियोगिता में एकाधिकार के अंश वर्तमान होने के कारण व्यक्तिगत फर्म के पदार्थ का मांग वक्र नीचे की ओर झुका हुआ होता है और यह नीचे की ओर झुका हुआ मांग वक्र औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु से दायीं ओर को ही स्पर्श कर सकता है। अतः एकाधिकारिक प्रतियोगिता में कीमत पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत की तुलना में एकाधिकार के अंश के कारण ऊंची होगी। परन्तु इस ऊंची कीमत के बावजूद एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म दीर्घकाल में सामान्य से अधिक लाभ नहीं कमाती। इसलिए हम कह सकते हैं कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता में दीर्घकाल में फर्म एकाधिकारिक कीमत वसूल करती है। इससे हम इस

निष्कर्ष पर पहुंचते है कि असामान्य लाभ का न होना एकाधिकार के अभाव का सूचक नही। एकाधिकारिक प्रतियोगिता म जैसा कि हमने ऊपर देखा है, फर्म मे एकाधिकारिक लाभ प्राप्त किए बिना एकाधिकार शक्ति तो होती है (क्योकि इसका अपने पदार्थ पर पूर्ण नियन्त्रण होता है और इसका माग वक्र नीचे की ओर झुका हुआ होता है) परन्तु दीर्घकालीन सन्तुलन की स्थिति म यह असामान्य लाभ नही कमाती। इसके विपरीत असामान्य अथवा असाधारण लाभ के होने से यह आवश्यक नही है कि फर्म म एकाधिकारी शक्ति हो। पूर्ण प्रतियोगिता म अल्पकाल मे एक फर्म पदार्थ की माग म वृद्धि के कारण भारी मात्रा म असामान्य लाभ अर्जित कर सकती है। इस प्रकार वह बहुत बडी गलती करता है जो लाभ को एकाधिकार के साथ और एकाधिकार को लाभ के साथ जोडता है।"[1]

एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तगत दीर्घकालीन सन्तुलन के बारे म एक और उल्लेखनीय बात यह है कि फर्मो की सख्या म वृद्धि हो जाने से फर्मो के दीर्घकालीन मांग वक्र अधिक मूल्यसापेक्ष अथवा लोचदार (more elastic) हो जाते है। यद्यपि चैम्बरलिन इस बात से सहमत नही है परन्तु आजकल यह सामान्य रूप से माना जाता है कि दीर्घकाल मे फर्मो की सख्या बढने पर विभिन्न फर्मो के पदार्थो के बीच प्रति-मूल्य-सापेक्षता (cross elasticity) बढ जाती है जिसके फलस्वरूप फर्मो के मांग वक्र अधिक मूल्यसापेक्ष हो जाते है और उनकी ढाल (slope) कम हो जाती है। जब पदार्थ की मांग अधिक होने के कारण अल्पकाल मे फर्मो को असामान्य लाभ हो रहे होते है तो इन असामान्य लाभो से आकृष्ट होकर नई फर्मे उद्योग मे प्रवेश कर जाती है और वर्तमान ब्रैंड के अधिक निकट के ब्रैंड और किस्मे उत्पादित करने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार दीर्घकाल मे विभिन्न फर्मो द्वारा उत्पादित पदार्थ एक दूसरे के अधिक निकट और समरूप बन जाते है। दूसरे शब्दो म, दीर्घकाल म पदार्थ परस्पर अधिक निकट के स्थानापन्न हो जाते है जिससे व्यक्तिगत फर्मो के माग वक्र अधिक मूल्यसापेक्ष बन जाते है। दूसरे शब्दो म दीर्घकाल म जो नई फर्मे समूह अथवा उद्योग मे प्रवेश करती है व पुरानी फर्मो के बीच की (in between) स्थिति ग्रहण करेंगी जिससे उनके मांग वक्रो की मूल्यसापेक्षता बढ जाएगी और उनकी ढाल कम हो जाएगी।

इसके अतिरिक्त, दीर्घकाल म फर्मो की सख्या मे वृद्धि होने के कारण निकट के स्थानापन्न पदार्थो की सख्या म वृद्धि से प्रत्येक ब्रैंड एक दूसरे के अधिक निकट की प्रतियोगी बन जाएगी। फलस्वरूप प्रत्येक फर्म के पदार्थ का मांग वक्र दीर्घकाल मे अधिक मूल्यसापेक्ष (more elastic) हो जाएगा। प्रोफेसर स्टोनियर और हेग ठीक ही कहते है "यदि उद्योग मे नये उत्पादक प्रवेश करते है तो इसका यह अर्थ होता है कि पहले 20 मिलती जुलती कारो की बजाए अब 40 कारे होगी। इसका तात्पर्य यह है कि अब प्रत्येक कार पहले से प्रत्येक अन्य कार के अधिक समरूप होगी। दीर्घकाल म कारें जितनी ही अधिक निकट की स्थानापन्न अथवा समरूप होगी, प्रत्येक फर्म की कार की माग उतनी ही अधिक मूल्यसापेक्ष होगी।"[2]

एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे सन्तुलन वैकल्पिक दृष्टिकोण
(Equilibrium under Monopolistic Competition Alternative Approach

एकाधिकारिक प्रतियोगिता की स्थिति मे सन्तुलन की प्रक्रिया को एक वैकल्पिक दृष्टिकोण की सहायता से सरलता से समझा जा सकता है। इस वैकल्पिक दृष्टिकोण मे दो प्रकार के माग वक्रो का प्रयोग किया जाता है। एक फर्म का आत्मगत माग वक्र (subjective demand curve) जिसकी अब तक चर्चा की गयी है तथा, द्वितीय, फर्म के पदार्थ का बाजार मांग वक्र (Market Demand Curve) माग का वर्णन करता

---

1 "He stakes on thin ice who identifies profits with *monopoly* and *monopoly* with profits"
—M M Bober, *Intermediate Price and Income Theory*

2 Stonier and Hague, *A Textbook of Economic Theory*, 1953, p 169

है (समूह की अन्य समस्त वस्तुओं की कीमतें स्थिर रहती है)। यह माग वक्र बताता है कि यदि अन्य फर्में अपनी कीमतों में कमी न करें, तो एक फर्म के कीमत कम किये जाने पर उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की माग अथवा बिक्री मे वृद्धि हो जाती है। दूसरी ओर इसके विपरीत, यदि अन्य अपनी कीमतो में वृद्धि न करें तो इस फर्म द्वारा कीमत के बढ़ा देने पर इस फर्म की वस्तु की बिक्री अथवा मांग गिर जाती है। प्रस्तुत वैकल्पिक दृष्टिकोण म, इस प्रकार के मांग वक्र को 'आत्मगत" या काल्पनिक मांग वक्र कहा जाता है और यह एक महत्त्वपूर्ण मान्यता पर आधारित है। इस माग वक्र को आत्मगत या काल्पनिक मांग वक्र इसलिए कहा जाता है क्योकि यह व्यक्तिगत फर्म के आत्मगत निर्णय पर आधारित है जिससे वह कल्पना कर लेती है कि उसका मांग वक्र किस प्रकार का होगा। एकाधिकारिक प्रतियोगिता के उत्पादन वर्ग मे फर्मों की संख्या के अधिक होने के कारण, यह मान लिया जाता है कि सम्पूर्ण समूह की तुलना मे प्रत्येक फर्म इतनी छोटी है कि यह सोचती है कि इसके द्वारा किये गये कीमत परिवर्तन का प्रभाव प्रतियोगी फर्मों पर बहुत कम होगा जिसके परिणामस्वरूप वे प्रतिक्रिया मे अपनी कीमतो को बदलने के विषय मे नही सोचेंगी।

दूसरी प्रकार का माग वक्र जिसका इस दृष्टिकोण मे प्रयोग किया जाता है तथा जिसका सामना एक व्यक्तिगत फर्म करती है बाजार मांग वक्र (market demand curve) है। यह वक्र उस स्थिति म एक फर्म की वस्तु की मांग अथवा बिक्री को बताता है जिसमें एक उत्पादन समूह की समस्त फर्मों द्वारा कीमत परिवर्तन एक ही मात्रा में तथा एक ही दिशा मे होते हैं। स्पष्ट है कि एक फर्म का बाजार मांग वक्र उसके आत्मगत माग वक्र से कम लोचदार होगा क्योंकि जब सभी फर्में अपनी कीमतो मे कमी कर देंगी तो उपभोक्ता एक विक्रेता से दूसरे विक्रेता के पास नहीं जाएंगे। प्रत्येक फर्म के बाजार मांग वक्र का ढाल नीचे की ओर होगा क्योंकि कीमत मे कमी होने पर सामान्य समूह की वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है। वास्तव मे, एक फर्म जिस बाजार माग वक्र का सामना करती है वह सामान्य समूह की वस्तुओं की कुल बाजार मांग वक्र का एक अंश है और इसकी लोच भी इसके समान होगी। इस प्रकार, चूंकि सामान्य समूह के पदार्थों की कुल माग म फर्म को कुछ आनुपातिक माग मिलता है, इसलिए प्रत्येक फर्म की बाजार माग उस उत्पादन वर्ग म फर्म की संख्या से विलोम रूप म सम्बधित होती है। एक उत्पादन समूह मे फर्मों की संख्या जितनी अधिक
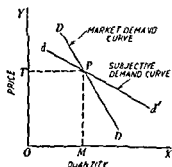
रेखाकृति 26.4

आत्मगत तथा बाजार माग वक्र

होगी, एक दी हुई कीमत पर एक व्यक्तिगत फर्म का हिस्सा उतना ही कम होगा। इसीलिए, एक व्यक्तिगत फर्म जिस बाजार माग वक्र का सामना करती है वह, अधिक फर्मों के उत्पादन समूह मे प्रवेश करने पर, बायीं ओर को विवर्तित हो जायगा। हमने बाजार माग वक्र को DD' वक्र से प्रदर्शित किया है और आत्मगत अथवा काल्पनिक माग वक्र को dd' से। दोनों प्रकार के माग वक्रों को रेखाकृति 26.4 मे दिखलाया गया है। ये दोनो माग वक्र एक दूसरे को P बिन्दु पर काटते हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि हम मान लेते हैं कि फर्म ने कीमत MP निर्धारित कर रखी है और अपने पदार्थ की OM मात्रा बेच रही है। हम यह भी मान लेते है कि उत्पादन वर्ग की समस्त फर्मों की कीमतें एक समान है। इसलिए एक व्यक्तिगत फर्म जिस बाजार मांग वक्र का सामना कर रही है उस

पर भी बिन्दु P होगा। अब कल्पना कीजिए कि एक व्यक्तिगत फर्म यह विश्वास करती है कि यदि वह अपने पदार्थ की कीमत में तनिक सा परिवर्तन कर दे तो इसका प्रभाव प्रतियोगी फर्मों पर इतना कम पड़ेगा कि वे अपनी कीमतों को परिवर्तित करने के बारे में नहीं सोचेंगी। अत अन्य फर्मों की कीमत MP पर स्थिर रहने के कारण, यह फर्म सोचेगी कि इसके द्वारा कीमत कम कर देने की स्थिति में इस फर्म की बिक्री अथवा इसके द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग मात्रा बढ़ जायगी। इस प्रकार हम आत्मगत माग वक्र dd' का निर्माण करते है जो कि बाजार माग वक्र DD' से अधिक लोचदार है और बिन्दु P में से गुजर रहा है। फिर भी यह बता दिया जाय कि जब उत्पादन वर्ग की प्रत्येक फर्म यह सोचती है कि इसके द्वारा कम की गई कीमत का केवल अशमात्र प्रभाव ही उसके प्रतियोगियो पर पडेगा और इसके आधार पर वह मान लेती है कि अन्य फर्मों की कीमतें MP पर अपरिवर्तित रहेंगी, तो वास्तविक गति आत्मगत माँग वक्र dd' पर नही होगी बल्कि बाजार माँग वक्र DD' पर होगी जो कि उन बिक्रियो को दर्शाती है जबकि सबकी कीमतें समान स्तर पर रहती हैं।

अल्पकालीन व्यक्तिगत सन्तुलन (Short-run Individual Equilibrium)

पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकारी स्थितियो के समान, एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशा मे भी एक उत्पादक लाभ अधिकतम करने का प्रयास करता है। इसलिए वह कीमत इस प्रकार से निर्धारित करता है कि उसकी सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर हो। चूँकि उसको अपने बाजार वक्र DD' की जानकारी नही है (और वास्तव मे इसको जानने का कोई तरीका भी नही है), इसलिए उसकी क्रियाएँ आत्मगत माँग वक्र dd' से ही प्रभावित होगी। अत कीमत-उत्पादन सन्तुलन पर पहुँचने के लिए, उत्पादक सीमांत लागत को 'आत्मगत' सीमान्त आय (subjective marginal revenue) के समान करेगा। रेखाकृति 26 5 मे वह उस समय सन्तुलन मे है जबकि वह OM मात्रा का उत्पादन कर रहा है जिसको वह MP कीमत पर बेच रहा है (सीमान्त लागत तथा आत्मगत सीमान्त आय वक्रो को रेखाकृति मे नही दिखाया गया है क्योकि ऐसा करने से रेखाकृति अधिक अस्पष्ट एव जटिल हो जाएगी)। हमारी यह मान्यता होने के कारण कि सब उत्पादक माँग व लागत दशाओ के सम्बन्ध म समरूप है, सभी उत्पादक कीमत MP ही
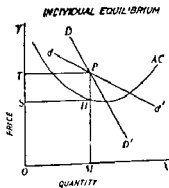
रेखाकृति 26 5
एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे व्यक्तिगत सन्तुलन.
चैम्बरलिन का वैकल्पिक दृष्टिकोण

निर्धारित करेंगे। अत बिन्दु P बाजार माँग वक्र पर भी होगा। इस प्रकार बिन्दु P द्वारा हमने बाजार माँग वक्र DD' का भी निर्माण कर दिया है। रेखाकृति 26·5 से यह स्पष्ट है कि अल्पकालीन सन्तुलन की दशा मे प्रत्येक फर्म $SHPT$ के बराबर लाभ प्राप्त करेगी।

समूह सन्तुलन (Group Equilibrium)

समूह की फर्मे द्वारा असामान्य लाभो से आकर्षित होकर अन्य फर्मे समूह मे प्रवेश करना चाहेंगी। नई फर्मो के समूह मे प्रवेश करने के दो प्रभाव होंगे। एक तो कुल बाजार माँग अधिक फर्मों मे विभाजित होगी जिसके परिणामस्वरूप एक फर्म जिस बाजार माँग वक्र DD' का सामना करती है वह बायी ओर को विवर्तित हो जाएगा। द्वितीय, नई फर्मे नये ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए कीमत कम करेंगी जिसके कारण आत्मगत माँग वक्र dd' बाजार माँग

वक्र DD' के साथ-साथ नीचे को सरक जाएगा। ये दोनों शक्तियाँ नई फर्मों का प्रवेश तथा फर्मों द्वारा कीमत कम करना एक साथ क्रियाशील होंगी। उद्योग में नई फर्में तब तक प्रवेश करती रहेंगी जब तक कि बाजार माँग वक्र DD' (dd' वक्र के साथ) उस स्थिति तक विवर्तित नहीं हो जाता जहाँ प्रत्येक फर्म का आत्मगत माँग वक्र dd इसके औसत लागत वक्र AC को स्पर्श नहीं करता। *आत्मगत माँग वक्र dd' के औसत* लागत वक्र AC से स्पर्श होने से यह पता चलता है
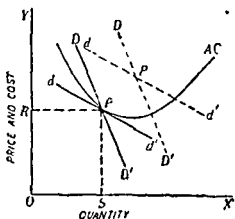
रेखाकृति 26 6 एकाधिकारिक प्रतियोगिता में समूह सन्तुलन . चैम्बरलिन की वैकल्पिक पद्धति

कि फर्म केवल सामान्य लाभ प्राप्त कर रही है। तब फर्मों में कोई प्रवृत्ति समूह में प्रवेश करने की नहीं होगी। परिणामस्वरूप, जबकि आत्मगत माँग वक्र dd' औसत लागत वक्र AC को स्पर्श करता है तो *सम्पूर्ण उत्पादन समूह सन्तुलन की स्थिति में होगा* (When subjective demand curve is tangent to average cost curve, the whole product group is in equilibrium)। रेखाकृति 26 6 बताती है कि जब समूह में नई फर्में पर्याप्त संख्या में प्रवेश कर गई हैं और परिणामस्वरूप कीमतें गिर गयी हैं तो माँग वक्र dd' गिर कर उस स्थिति को पहुँच गया है जहाँ यह औसत लागत वक्र AC को बिन्दु P पर स्पर्श कर रहा है। DD' बाजार माँग वक्र dd' तथा AC को स्पर्श बिन्दु P पर काट रहा है। यदि समूह में बहुत अधिक फर्में प्रवेश कर जाएँ तो आत्मगत माँग वक्र dd' स्पर्श बिन्दु से नीचे गिर जाएगा और फर्मों को हानि होने लगेगी। इसका परिणाम यह होगा कि कुछ फर्में समूह को छोड़ देंगी और DD' वक्र, dd' वक्र के साथ ऊपर को बायीं ओर विवर्तित हो जाएगा। समूह सन्तुलन की प्राप्ति के लिए दो दशाएँ आवश्यक है

(i) आत्मगत माँग वक्र dd' औसत लागत वक्र AC को स्पर्श करे।

(ii) बाजार माँग वक्र DD', जिसका सामना एक व्यक्तिगत फर्म कर रही है को dd' तथा AC वक्रों को स्पर्श बिन्दु पर काटना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण में दोनों प्रतियोगी शक्तियाँ, *नई फर्मों का प्रवेश तथा कीमतों का कम करना*, एक साथ क्रियाशील होती है जिसका शुद्ध परिणाम यह होता है कि *आत्मगत माँग वक्र dd' गिर कर* औसत लागत वक्र AC को स्पर्श करने लगता है और DD' दोनों वक्रों को स्पर्श बिन्दु पर काटती है। वास्तविक जीवन में दो प्रतियोगी शक्तियाँ एक साथ क्रियाशील होती हैं परन्तु विश्लेषणात्मक कार्यों के लिए दोनों शक्तियों का वर्णन पृथक् पृथक् करना आवश्यक है। अब, इसलिए, हम यह बताएँगे कि दो शक्तियाँ पृथक्-पृथक् किस प्रकार से कार्य करती हैं। उपर्युक्त रेखाकृति 26 5 को लीजिए जो अल्पकालीन व्यक्तिगत सन्तुलन को चित्रित करती है। समूह की समस्त वर्तमान फर्में जैसा कि रेखाकृति 26 5 में दिखाया गया है, असामान्य लाभ प्राप्त कर रही है। इन लाभों से आकर्षित होकर नई फर्में समूह में प्रवेश करेंगी और मान लीजिए कि नई फर्में कीमतों में कमी करने की प्रक्रिया के आरम्भ होने से पहले उद्योग में पूर्ण रूप से जम चुकी हैं। अब नई फर्मों का प्रवेश तब तक जारी रहेगा जब तक कि DD' बायीं ओर को विवर्तित होकर औसत लागत वक्र AC को स्पर्श नहीं करती। इसको रेखाकृति 26 7 में दिखाया गया है (यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि DD' वक्र की स्थिति समूह में फर्मों की संख्या पर निर्भर करती है। समूह में जितनी अधिक फर्में होंगी उतना ही बायीं ओर को

DD' वक्र होगा)। DD' वक्र की AC वक्र के साथ स्पर्श की स्थिति में कीमत MR है तथा उत्पादन OM। यहां कीमत औसत लागत के बराबर है और फर्म केवल सामान्य लाभ प्राप्त कर रही है। किन्तु बिन्दु R पर स्थिति बिल्कुल अस्थिर है क्योंकि फर्म यह समझेंगी कि उनके द्वारा कीमत में कमी करके लाभों में वृद्धि होने की सम्भावना है। यह आत्मगत माँग वक्र dd', जो DD' पर R बिन्दु से बनाई गई है, के

रेखाकृति 26.7 समूह सन्तुलन कीमत में कमी करने की प्रक्रिया तथा फर्मों की संख्या में परिवर्तन

DD' वक्र की अपेक्षा अधिक लोचदार होने से स्पष्ट है कि प्रत्येक फर्म यह सोच कर कि अन्य फर्में अपनी कीमत MR पर स्थिर रखेंगी, अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए वह अपनी कीमत घटाने को प्रवृत्त होगी अर्थात् वह आत्मगत माँग dd' जो R से गुजरती है, पर गतिमान होगी। इस प्रकार प्रत्येक फर्म, आत्मगत माँग वक्र dd' के प्रभाव से कीमत कम करेगी। चूँकि सभी फर्में कीमतों में कमी करने को प्रवृत्त होंगी इसी-लिए वे वस्तुतः DD' बाजार माँग वक्र पर नीचे की ओर गतिमान हो जाएँगी जिसका परिणाम यह होगा कि कीमत में कमी करके फर्मों के अधिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो पाएगी। इसके स्थान पर, उनको हानि होने लगेगी जैसा कि DD' के उस भाग से, जोकि R के नीचे औसत लागत वक्र AC से कम स्तर पर है, से स्पष्ट है। कीमत में कमी के परिणामस्वरूप dd' वक्र, DD' वक्र पर जो कि कीमत कम होने पर प्रत्येक फर्म की वास्तविक बिक्री को दर्शाती है, नीचे को गिरेगा जबकि कीमत गिरकर BE हो जाएगी, प्रत्येक फर्म की बिक्री OB हो जाएगी और प्रत्येक $HELG$ के बराबर हानि उठा रही होगी। अब फर्म सोचेगी कि कीमत को घटा कर NP करके यह लागत को पूरा कर सकती है तथा इस प्रकार अपनी हानि को समाप्त कर सकती है। परन्तु चूँकि प्रत्येक फर्म कीमत कम करेगी, इसलिए सब फर्मों की कीमत गिर कर NP हो जाएगी और प्रत्येक फर्म की बिक्री OC होगी जैसा कि DD' वक्र से स्पष्ट है। किन्तु प्रत्येक फर्म द्वारा कीमत के NP कर देने पर फर्मों की वर्तमान संख्या के साथ बिन्दु P पर सन्तुलन स्थापित नहीं हो सकेगा, यद्यपि dd' वक्र बिन्दु P पर औसत लागत वक्र AC को स्पर्श करता है। प्रत्येक फर्म द्वारा कीमत को गिरा कर NP कर देने पर प्रत्येक फर्म वस्तुतः बाजार माँग वक्र DD' के बिन्दु F पर आ जाएगी और dd' वक्र सरक कर बिन्दु P पर से गुजर रही dd के नीचे हो जाएगा। बिन्दु F पर सब फर्मों के हानि होने के कारण तथा कीमत घटा कर हानि को समाप्त करने की सम्भावना न होने के कारण दीर्घकाल में कुछ फर्में समूह को छोड़ कर चली जाएँगी। जैसे जैसे फर्में उत्पादन समूह को छोड़कर जाने लगेंगी, DD' वक्र दायीं ओर को विवर्तित होने लगेगा और फर्में तब तक उत्पादन समूह को छोड़ती रहेंगी जब तक कि DD' वक्र बिन्दु P के मध्य से नहीं गुजरता, अर्थात् जब प्रत्येक फर्म ON उत्पादन कर रही होगी। इसके अतिरिक्त DD' वक्र के दायीं ओर को बिन्दु P तक विवर्तित हो जाने के कारण dd' वक्र भी (DD' के साथ) दायीं ओर को विवर्तित हो जायेगा और बिन्दु P पर AC वक्र को स्पर्श करेगा। अन्त बिन्दु P पर dd' वक्र के AC वक्र को स्पर्श करने पर स्थाई सन्तुलन (stable equilibrium) स्थापित हो जाता है और DD' वक्र AC वक्र को dd' के साथ स्पर्श बिन्दु पर काटता है।

एकाधिकारिक प्रतियोगिता में पदार्थ परिवर्तन (Product Variation Under Monopolistic Competition)

ऊपर हमने बताया कि कीमतों की दृष्टि से एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशा में सन्तुलन किस प्रकार स्थापित होता है। अब हम पदार्थ में परिवर्तन के बारे में सन्तुलन की व्याख्या करेंगे।

व्यक्तिगत तथा सामूहिक दृष्टि से कीमत सन्तुलन (price equilibrium) की व्याख्या करते हुए हमने मान लिया था कि फर्मों द्वारा उत्पादित पदार्थ की प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं होता। किन्तु, व्यक्ति तथा समूह के पदार्थ सन्तुलन (product equilibrium) की वर्तमान व्यवस्था में हम कीमत को स्थिर मान लेंगे। कीमत स्थिरता की दशा में एक फर्म किस प्रकार के पदार्थ का चयन करेगी? फर्म उस कीमत को स्वीकार कर सकती है जो सामान्यतया बाजार में प्रचलित है, या वह उस कीमत को स्वीकार कर सकती है जो परम्परागत अथवा व्यापारिक नियमों से निर्धारित हुई अथवा वह उस कीमत को स्वीकार कर सकती है जो इसके पूर्व निर्णय द्वारा निर्धारित हुई थी और उपभोक्ता जिसके आदी बन चुके हैं। अब उसके सामने पदार्थों के चयन की समस्या आती है अर्थात् उसको पदार्थ के विभिन्न सम्भव गुणों व किस्मों (varieties) में से चयन करना होता है। एक उद्यमी जब किसी नये औद्योगिक कार्य को प्रारम्भ करता है तो उसको पदार्थ के बहुत से पहलुओं पर विचार करना होता है जिनमें से कुछ का सम्बन्ध स्थायी पहलुओं से है जैसे कि यदि वह फुटकर व्यापारी है तो व्यापार किस स्थान पर प्रारम्भ करे या यदि वह उत्पादक है तो वह अपने पदार्थ का ट्रेड मार्क क्या रखे। फुटकर व्यापार में, वस्तु की बिक्री में सम्बन्धित बहुत सी बातों, जैसे वस्तु के वितरण से सम्बन्धित सेवाओं में कभी भी परिवर्तन किया जा सकता है। विनिर्माण उद्योगों में, तकनीकी तथा किस्म सम्बन्धी परिवर्तन जिनका सम्बन्ध या तो स्वयं पदार्थ से होता है या उसके पैकिंग, कवर अथवा डिब्बे में है, की सम्भावना सदा बना रहती है।

कीमत परिवर्तन के विपरीत पदार्थ परिवर्तन की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह उत्पादन की लागत वक्र को परिवर्तित कर देती है। वस्तु की किस्म में किये गए सुधार उत्पादन लागत में विशेष रूप से परिवर्तन लाते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि उत्पादन में परिवर्तन विशेषकर किस्म सम्बन्धी परिवर्तन, वस्तु की माँग में भी परिवर्तन लाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कीमत के दिए हुए होने पर उद्यमकर्ता की समस्या उस पदार्थ को चुनने की है जिसकी लागत व माँग इस प्रकार की हो कि उसको अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके।

दूसरी विशिष्टता यह है कि पदार्थ परिवर्तन सामान्यतः क्वालिटी सम्बन्धी होता है और इसका परिमाणात्मक माप सम्भव नहीं है। परिणामस्वरूप, पदार्थ परिवर्तन को किसी एक अक्ष पर दर्शाया नहीं जा सकता और इसलिए इसको एक वक्र या रेखाकृति द्वारा दर्शाया नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त, पदार्थ परिवर्तन को वक्रों या रेखाकृतियों की शृंखला द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है जिसमें पदार्थ की प्रत्येक किस्म के लिए एक अलग वक्र या रेखाकृति हो।

रेखाकृति 26.8 में दो प्रकार के पदार्थों को प्रदर्शित करने के लिए दो लागत वक्र बनाए गए हैं। A प्रकार के पदार्थ का औसत लागत वक्र AA' है तथा B प्रकार के पदार्थ के लिए औसत लागत वक्र BB' है। मान लीजिए कि पदार्थ की कीमत, यह चाहे किसी प्रकार की हो, OP है जिसको हम स्थिर मान लेते हैं। यदि A प्रकार के पदार्थ की माँग-मात्रा, OP कीमत पर (जो कि स्थिर है), OM है जो इसकी कुल उत्पादन लागत $OMRS$ होगी तथा उद्यमकर्ता का कुल लाभ $SRQP$ के समान होगा। यदि B प्रकार के पदार्थ की माँग-मात्रा ON है, तो इसकी कुल लागत $ONFG$ होगी और उद्यमकर्ता को कुल लाभ $GFEP$ के समान प्राप्त होगा। इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि PE कीमत रेखा एक माँग वक्र नहीं है जो OP कीमत पर असीमित विशाल माँग को दर्शाती है। प्रत्येक प्रकार के पदार्थ की माँग की एक निश्चित मात्रा दी हुई है जो कि स्वयं उस पदार्थ की कीमत तथा

स्थानापन्न पदार्थों की कीमत एवं किस्मों पर निर्भर करती है। "अत: यह सम्भव नहीं कि इस बात का पता लगाने के लिए कि बाजार में बेचने के लिए सर्वोत्तम पूर्ति कौन सी है, किसी लागत वक्र जैसे कि AA' पर के ऊपर या नीचे गतिमान हुआ जाए। वास्तव में जब पदार्थ में परिवर्तन किया जाता है तो
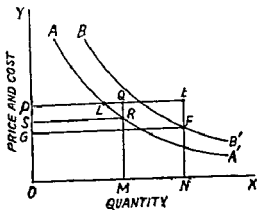
रेखाकृति 26 8

गति एक वक्र से दूसरे वक्र पर होती है और प्रत्येक स्थिति में जो पदार्थ बेचा जाता है उसकी मात्रा निश्चित होती है।[1]

रेखाकृति 26 8 म प्रदर्शित पदार्थ परिवर्तन की दो सम्भावनाओं से यह स्पष्ट है कि B प्रकार के पदार्थ से, A पदार्थ की तुलना में अधिक लाभ प्राप्त होता है। इसलिए उद्यमकर्ता पदार्थ परिवर्तन की दो सम्भावनाओं में से B प्रकार के पदार्थ का चयन करेगा। इसी प्रकार पदार्थ में विभिन्न सम्भव परिवर्तनों की माँग व लागत की तुलना करके, उद्यमकर्ता उस सम्भावना का चयन करेगा जिससे उसको सबसे अधिक लाभ प्राप्त होगा।

अब यदि उपलब्ध स्थानापन्न पदार्थों की प्रकृति तथा कीमत में परिवर्तन हो जाता है तो पदार्थ की माँग-मात्रा में भी परिवर्तन हो जाएगा। इसके साथ ही कीमत रेखा तथा लागत वक्रों की स्थितियाँ भी बदल जाएँगी। उदाहरण के लिए, यदि पहले से सस्ते और अच्छे स्थानापन्न उपलब्ध हो जाएँ तो जिस पदार्थ का हम अध्ययन कर रहे हैं उसकी माँग-मात्रा गिर जाएगी, कीमत रेखा नीचे को विवर्तित हो जाएगी तथा पदार्थ में सुधार करने की आवश्यकता के कारण लागत वक्र ऊपर को विवर्तित हो जाएगा। स्थानापन्न वस्तुओं की प्रतियोगिता बढ़ जाने पर लाभ प्राप्त करने की सम्भावनाएँ कम होती चली जाएँगी।

यदि रेखाकृति 26 8 में पदार्थ A की माग-मात्रा केवल PL है, और दूसरी किसी प्रकार की वस्तु की सम्भावना नहीं है तो इस रेखाकृति से यह स्पष्ट है कि उद्यमकर्ता को केवल उत्पादन लागत ही प्राप्त होगी और उसके लाभ शून्य होंगे। यदि माँग-मात्रा PL से कम है तो उत्पादन लागत भी पूरी प्राप्त नहीं होगी और दीर्घकाल में उत्पादन बन्द करना पड़ेगा। समान रूप से, यदि लागत वक्र ऊँचे स्तर पर हैं तथा कीमत रेखा निम्न स्तर पर है, तो लाभ सम्भावनाएँ अधिक सीमित होंगी, और यदि कीमत रेखा प्रत्येक प्रकार की वस्तु के लिए लागत के नीचे निरन्तर है तो पदार्थ को लाभ पर उत्पादित करना सम्भव नहीं होगा।

समूह सन्तुलन तथा पदार्थ परिवर्तन (Group Equilibrium and Product Variation)

अब हम एक समूह में ही पदार्थ के सन्तुलन समायोजनों पर विचार करेंगे। विश्लेषण को सरल तथा सूक्ष्म बनाने के लिए, हम यह मान लेते हैं, जैसा कि हमने कीमत सन्तुलन की व्याख्या करते समय माना था, कि समस्त प्रतियोगी उद्यमकर्ता एक समान माँगों अथवा बाजार का सामना करते हैं। इसके अतिरिक्त सरलता तथा सूक्ष्मता के लिए हम यह भी मान लेते हैं कि समूह के समस्त प्रतियोगियों के लिए पदार्थ परिवर्तन की सम्भावनाएँ समान हैं और इस कारण समस्त उद्यमकर्ताओं के पदार्थ बदलने का प्रदर्शन एक उद्यमकर्ता की क्रिया के अध्ययन से किया जा सकता है। रेखाकृति 26 9 एक उद्यमकर्ता द्वारा उत्पादित

1. E H Chamberlin *Theory of Monopolistic Competition* (6th edition), pp 79-80.

पदार्थ के सन्तुलन समायोजन का प्रदर्शन करके समूह सन्तुलन की प्राप्ति को बताती है। मान लीजिए कि पदार्थ की कीमत OP है और चाहे किसी भी पदार्थ परिवर्तन का ले लिया जाय यह अपरिवर्तित रहती है। क्षैतिज कीमत रेखा Pb कीमत OP के स्तर से खींची गई है। जैसा कि ऊपर देखा गया है वर्तमान सन्दर्भ में PE क्षैतिज कीमत रेखा OP कीमत पर असीमित माँग को नहीं बताती बल्कि यह उस रेखा को बताती है जिस पर एक उद्यमकर्ता के विभिन्न
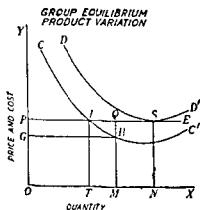
रेखाकृति 26.9 पदार्थ परिवर्तन की दृष्टि से समूह सन्तुलन

पदार्थ परिवर्तनों की माँग मात्राओं को मापा जा सकता है। पदार्थ के अनेक परिवर्तनों के लागत वक्रों को रेखाकृति 26.9 में खींचा जा सकता है। जैसा कि व्यक्तिगत सन्तुलन की स्थिति में बताया गया था कि एक उद्यमकर्ता किसी पदार्थ की उस किस्म या भिन्नता का चयन करता है जो उसको अधिकतम लाभ प्रदान करती है। मान लीजिए कि पदार्थ की वह किस्म जो कि अधिकतम लाभ प्रदान करती है का औसत लागत वक्र CC' है। यदि इस अनुकूलतम पदार्थ की माँग मात्रा OM है तो सामान्य लाभों को सम्मिलित करके, कुल लागत $OMHG$ होगी और कुल असामान्य लाभ $GHQP$ के क्षेत्रफल के समान होंगे।

समूह के सन्तुलन में होने के लिए इन असामान्य लाभों का उन्मूलन अत्यन्त आवश्यक है। असामान्य लाभों का उन्मूलन कई प्रकार से हो सकता है जैसे कीमत कम करके, पदार्थ समायोजन द्वारा या नये प्रतियोगियों के प्रवेश से। यहाँ कीमत कम करने के विकल्प को छोड़ देते हैं क्योंकि वर्तमान अध्ययन में हमने मान लिया है कि एक समूह में पदार्थों के सन्तुलन समायोजन की प्रक्रिया में समस्त पदार्थों की कीमतें स्थिर हैं। परिभाषा के अनुसार औसत लागत वक्र CC' द्वारा प्रदर्शित पदार्थ की किस्म उद्यमकर्ता के लिए अनुकूलतम किस्म है। यदि समूह के सभी उद्यमकर्ताओं की लागत वक्र तथा पदार्थ की कीमत समान है जैसा कि यहाँ हमारी मान्यता है तो सभी को असामान्य लाभ प्राप्त होंगे। किन्तु समूह में उद्यमकर्ताओं द्वारा प्राप्त किए जा रहे असामान्य लाभों से प्रभावित होकर नये प्रतियोगी समूह में प्रवेश करेंगे। जैसे-जैसे नये प्रतियोगी समूह में प्रविष्ट होंगे, प्रत्येक उद्यमकर्ता की बिक्री या माँग-मात्रा में कमी होती जाएगी। इस प्रकार से, जब प्रत्येक की माँग मात्रा कम हो कर $OT(=PL)$ हो जाएगी तो पदार्थ की कीमत उसकी उत्पादन लागत के बराबर होगी और इसलिए समूह में और प्रवेश रुक जाएगा। यदि समूह में प्रविष्ट फर्मों की संख्या बहुत अधिक हो गई है तो प्रत्येक फर्म की माँग मात्रा गिर कर OT (या PL) से कम हो जाएगी और तब प्रत्येक फर्म को हानि होने लगेगी। परिणामस्वरूप, कुछ फर्में समूह छोड़ कर जाने लगेंगी और तब तक जाती रहेंगी जब तक कि समूह में रह गये उद्यमकर्ताओं के लिए पदार्थ की कीमत लागत को पूरा नहीं करती।

फर्मों की संख्या के बदलने के अतिरिक्त पदार्थ सुधार (कीमत कम करने की तरह) उन उद्यमकर्ताओं द्वारा अपनाया जा सकता है जो कि किसी भी समय समूह में रह रहे हैं। यह मान कर कि उसके प्रतियोगियों के पदार्थों में कोई परिवर्तन नहीं होगा, यदि कोई उद्यमकर्ता यह सोचता है कि वह अपने पदार्थ में सुधार करके अपने लाभों में वृद्धि कर सकता है, तो वह ऐसा करने के लिये प्रवृत्त होगा।

एक उद्यमी द्वारा पदार्थ सुधार के परिणामस्वरूप, उसके पदार्थ की माग-मात्रा मे वृद्धि हो जाएगी। साथ ही लागतो मे वृद्धि होने के कारण लागत वक्र CC' ऊपर की ओर विवर्तित हो जाएगा। इसका परिणाम यह होता है कि पदार्थ सुधार के साथ साथ अधिक लाभो को प्राप्त किया जा सकता है। चूंकि प्रत्येक एक ही प्रकार से सोच कर क्रिया करेगा (अर्थात्, अपने लाभो मे वृद्धि करने के लिए सब अपने पदार्थों म सुधार करेंगे), इसलिए प्रत्येक की माँग-मात्रा मे जो वास्तविक वृद्धि होगी वह उस वृद्धि की अनुपाती होगी जो पदार्थसुधार के कारण समस्त समूह द्वारा उत्पादित वस्तु की कुल माँग मे हुई है (यह सामान्य वर्ग की वस्तु की उस माँग वृद्धि के समान है जो तब होती है जब सब फर्में अपनी कीमतें कम कर देती हैं)। बढी हुई लागतो और सबके द्वारा अपने-अपने पदार्थों मे सुधार के कारण माँग मे थोडी-सी वृद्धि के कारण सभी के लाभो मे कमी हो जाएगी। पदार्थों मे सुधार की यह प्रक्रिया तब तक जारी रहेगी जब तक एक भी उद्यमी यह सोचेगा कि वह अपने पदार्थ मे सुधार करके लाभो म वृद्धि कर सकता है परन्तु पदार्थों मे सामान्य सुधार वस्तुत उद्यमियो द्वारा अर्जित लाभो को कम कर देगा।

पदार्थ परिवर्तन सम्बन्धी समूह की अन्तिम सन्तुलन स्थिति (The Final Equilibrium Situation Regarding Product Variation)

अब प्रश्न यह है कि पदार्थ परिवर्तन की दृष्टि से समस्त सन्तुलन की स्थिति क्या होगी। स्पष्ट है कि औसत लागत वक्र DD' वक्र (रेखाकृति 26 9) के स्तर से ऊपर नही जा सकता क्योकि लागत वक्र यदि इससे ऊपर होगा तो पदार्थ का लाभप्रद उत्पादन सम्भव नही होगा। फिर भी लागत वक्र DD' वक्र से नीचे हो सकता है। इसका कारण, जैसा कि ऊपर बताया गया, यह है कि PE क्षैतिज रेखा वह माँग वक्र नहीं है जो PE कीमत पर असीमित माँग को बताये और लागत वक्र के इसके नीचे की ओर गतिमान होने का यह अर्थ नहीं कि निम्न लागतो का लाभ उठाकर उत्पादन बढाने से अधिक लाभ प्राप्त किये जा सकते हैं। एक पदार्थ की किसी भी किस्म की माँग-मात्रा की एक निश्चित सीमा होती है जिससे अधिक वह बढ़ायी नही जा सकती। कीमत मे कमी करके माँग-मात्रा मे वृद्धि नही की जा सकती क्योकि वर्तमान मान्यता के अन्तर्गत कीमत स्थिर है। इसके अतिरिक्त, पदार्थ मे और अधिक सुधार करके इसकी माँग-मात्रा को बढ़ाने से लागत वक्र ऊपर की ओर विवर्तित हो जाएगा। यह मानने मे कोई तर्क नही है (विशेषत जब लागत वक्र जिस स्थिति पर विवर्तित होकर पहुचा है वह DD' से तनिक नीचे हो) कि किसी भी उद्यमी द्वारा अपने पदार्थ मे और अधिक सुधार करने से लागत वक्र DD' की स्थिति को प्राप्त कर लेगा और इससे रेखाकृति 26 9 मे माग मात्रा ON तक बढ़ जायेगी। अत बिन्दु S अनिवार्यत उस बिन्दु को प्रदर्शित नही करता जिस पर पदार्थ परिवर्तन के सम्बन्ध मे समूह सन्तुलन मे होगा। पदार्थ परिवर्तन को रेखाकृति पर प्रदर्शित करने मे कठिनाई के कारण, पदार्थ परिवर्तन के सम्बन्ध मे, समूह सन्तुलन के निश्चित बिन्दु की परिभाषा सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध मे अधिकतम जो कुछ कहा जा सकता है, वह यह कि समूह सन्तुलन को प्रदर्शित करने वाले बिन्दु को निम्न दो दशाओ को अवश्य पूरा करना होगा :

(i) औसत लागत कीमत के बराबर हो, तथा

(ii) किसी भी उद्यमकर्ता के लिए अपने पदार्थ में और अधिक परिवर्तन या सुधार करके लाभो मे वृद्धि करना सम्भव न हो।

इन दोनो दशाओ को, या तो उस बिन्दु द्वारा प्राप्त किया जा सकता है जहाँ कीमत रेखा लागत वक्र को काटती है अथवा उस बिन्दु द्वारा जहाँ कीमत रेखा लागत वक्र को स्पर्श करती है।

पूर्ति वक्र की धारणा : क्या यह अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रासंगिक है ? (The Concept of Supply Curve : Is it Relevant under Imperfect Competition ?)

मूल्य सिद्धान्त मे माँग एव पूर्ति वक्रो की धारणा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। सामान्यतया यह

कहा जाता है कि वस्तुओं की कीमतें मांग वक्र एवं पूर्ति वक्र के प्रतिच्छेद द्वारा निर्धारित होती हैं अर्थात् जिस बिन्दु पर मांग एवं पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटते हैं किन्तु यह परम्परागत पूर्ण प्रतियोगिता सिद्धान्त मे अधिक सत्य है, तथा मांग एवं पूर्ति वक्रो की धारणा पूर्ण प्रतियोगिता के सदर्भ मे ही विकसित की गयी थी। अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, यद्यपि मांग वक्र की धारणा प्रासगिक बनी रहती है, पूर्ति वक्र की धारणा अस्पष्ट, असार्थक एवं अनिश्चित है। श्रीमती जोन राबिन्सन ने ठीक ही कहा है, "पूर्ति वक्र की धारणा सदैव पूर्ण प्रतियोगिता की धारणा के साथ सम्बद्ध रही है, परन्तु यदि हमे ऐसी दशाओं का अध्ययन करना है जिनमे कि प्रतियोगिता पूर्ण नहीं होती है तो एक पूर्ति वक्र की परम्परानिष्ठ (orthodox) अवधारणा पर पुनर्विचार करना होगा।" ["The notion of a supply curve has always been associated with the notion of perfect competition, but if we are to study conditions in which competition is not perfect, the orthodox conception of a supply curve must be reconsidered."][1]

अनेक अर्थशास्त्रियो का मत है कि अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत पूर्ति वक्र की धारणा पूर्णत: अनुपयुक्त तथा असगत है। यह इसलिये कि पूर्ति वक्र की परिभाषा ऐसी है जो इसे अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं के लिये असार्थक अथवा गैर-प्रासगिक बना देती है। पूर्ति वक्र की धारणा इस बात का निरूपण करने के लिये निर्मित की गयी है कि विभिन्न सम्भावित कीमतों पर फर्मों द्वारा बिक्री के लिये किसी वस्तु की कितनी मात्रा प्रस्तुत की जायेगी। दूसरे शब्दों मे, पूर्ति वक्र विभिन्न कीमतो पर विक्रेताओं या फर्मो की मात्रा सम्बन्धी प्रतिक्रिया का चित्रण करता है। कहने का तात्पर्य यह कि विभिन्न कीमतों के दिये हुए होने पर कोई फर्म अथवा उद्योग किसी वस्तु की कितनी मात्रा की पूर्ति करने के लिए तैयार होंगे, और जब यह कीमत परिवर्तित होगी तो ये अपनी पूर्ति की मात्रा में परिवर्तन किस प्रकार करेंगे। इस तरह यह स्पष्ट है कि पूर्ति वक्र की धारणा केवल उसी समय प्रासगिक होगी जबकि फर्म का अपनी उत्पादित वस्तु के मूल्य पर स्वय किसी तरह का नियत्रण अथवा प्रभाव नहीं होता है। यह केवल पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सही है, जिसमें समरूप पदार्थ उत्पादित करने वाली फर्में इतनी अधिक सख्या मे होती हैं कि उनम से कोई भी फर्म मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकती, और इसीलिये वह कीमत को दिया हुआ स्वीकृत तत्त्व मान लेती है, तथा केवल उत्पादित होने वाली मात्रा या पूर्ति को मूल्य से समायोजित करती है।

परन्तु जैसा कि हमने इस अध्याय मे ऊपर बताया है, अपूर्ण प्रतियोगिता या एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक व्यक्तिगत फर्म कम या अधिक मात्रा मे अपने पदार्थ के मूल्य पर नियत्रण रखती है। पूर्ण प्रतियोगिता की तरह अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक फर्म अपने पदार्थ के मूल्य को दिया हुआ मानकर तदनुरूप अपनी उत्पादन मात्रा या पूर्ति की मात्रा का समायोजन नहीं करती है। अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक फर्म केवल मूल्य प्रदत्त मान लेने वाली या उत्पादन मात्रा का समायोजन करने वाली नहीं होती है। वास्तविकता यह है कि अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक फर्म अपने पदार्थ की कीमत स्वय निश्चित करती है, अत यह प्रश्न स्वत असगत है कि एक दी हुई कीमत पर यह वस्तु की कितनी मात्रा की पूर्ति करेगी। प्रो० बॉमोल के अनुसार, "ठीक-ठीक अर्थों में पूर्ति वक्र ऐसी धारणा है जो साधारणतया केवल शुद्ध या पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में ही प्रासगिक है......इसका कारण इसकी परिभाषा में ही निहित है......पूर्ति वक्र की अभिकल्पना इस तरह के प्रश्नों का उत्तर देने के लिये की गयी है, "फर्म A यदि P डालर कीमत का सामना करे, तो वह वस्तु की कितनी मात्रा की पूर्ति करेगी। किन्तु इस तरह का प्रश्न उन फर्मों के व्यवहार में

1 Joan Robinson, *The Economics of Imperfect Competition*, p 86

अत्यधिक प्रासंगिक होता है जो ऐसी कीमत से सम्बन्ध रखती हैं जिसके निर्धारण पर वे किसी प्रकार का प्रभाव नहीं रखती हैं।" [The supply curve is strictly speaking, a concept which is usually relevant only for the case of pure and perfect competition... ..The reason for this lies in its definition .. ..the supply curve is designed to answer questions of the form, 'How much will firm A supply if it encounters a price which is at 'P' dollars" But such a question is most relevant to the behaviour of firms that actually deal with price over whose determination they exercise no influence "][1]

अपूर्ण प्रतियोगिता में फर्म द्वारा मूल्य एवं उत्पादित तथा पूर्ति की गयी मात्रा संयुक्त रूप से (अर्थात दोनों एक साथ) उस स्तर पर निर्धारित होती हैं जहाँ सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर होती है। उत्पादन मात्रा मूल्य के अनुसार निर्धारित नहीं होती बल्कि यह सीमान्त आय एवं सीमान्त लागत की समानता से निश्चित होती है, साथ ही अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सीमान्त आय कीमत से कम होती है। चूँकि एक फर्म द्वारा पूर्ति की गयी मात्रा मूल्य द्वारा निर्धारित नहीं होती है, बल्कि इसके स्थान पर सीमान्त आय द्वारा निर्धारित होती है (सीमान्त लागत के दिये होने पर)। अतः इसमें किसी प्रकार का 'मूल्य-मात्रा' में सामान्य सम्बन्ध नहीं होता है। श्रीमती जोन राबिन्सन लिखती हैं, "जब प्रतियोगिता पूर्ण नहीं होती, तो प्रत्येक व्यक्तिगत उत्पादक की उपज की माँग पूर्णतया लोचदार नहीं होती है, तथा प्रत्येक उत्पादक उस बिन्दु पर अपने उत्पादन की मात्रा को बेचेगा जहाँ उसकी सीमान्त लागत उसकी सीमान्त आय के बराबर होती है। सीमान्त आय कीमत के बराबर नहीं होगी। इस तरह सीमान्त आय ही व्यक्तिगत उत्पादन की उत्पादन मात्रा को निर्धारित करती है न कि मूल्य।" ["When competition is not perfect, the demand curve for the output of each individual producer is not perfectly elastic and each producer will sell that output at which his marginal cost is equal to his marginal receipts Marginal revenue will not be equal to price, it is marginal revenue and not price that determines the output of the individual producer"[2]]

अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य-पूर्ति सम्बन्ध की अप्रासंगिकता उस समय अधिक सुस्पष्ट हो जाती है जब यह पाया जाता है कि इसके अन्तर्गत यदि सीमान्त आय विभिन्न कीमतों पर एक सी हो जिससे वस्तु की समान मात्रा की विभिन्न मूल्यों पर पूर्ति की जा सकती है। रेखाकृति 26 10 पर विचार कीजिए
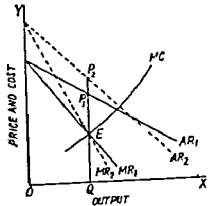
रेखाकृति 26 10 अपूर्ण प्रतियोगिता में समान उत्पादन मात्रा (पूर्ति) पर विभिन्न कीमतों का सम्भव होना

जिसमे AR_1 तथा AR_2 व्यक्तिगत फर्म की औसत आय अथवा माँग वक्र हैं तथा MR_1 तथा MR_2 उनकी सीमान्त आय वक्र हैं। AR_1 माँग या औसत आय

1 W J Baumol, *Economic Theory and Operations Analysis*, 2nd Edition, p 342

2 *Op cit* p 86

वक्र तथा इसके सीमान्त आय वक्र MR_1 के साथ अपूर्ण प्रतियोगिता मे एक फर्म QP_1 मूल्य निश्चित करेगी और पदार्थ की OQ मात्रा का उत्पादन या पूर्ति करेगी। अब यदि फर्म का मांग या औसत आय वक्र AR_2 तथा इसका सम्बन्धित सीमान्त आय वक्र MR_2 हो, तो वह वस्तु की उसी मात्रा OQ का उत्पादन एव पूर्ति करेगी परन्तु कीमत अब QP_2 होगी। अत अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत समान सीमान्त आय तथा उत्पादन मात्रा या पूर्ति पर अनेक विभिन्न कीमतें सम्भव होती हैं।

वस्तुत अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत जब एक व्यक्तिगत फर्म के उत्पादन की मांग मे वृद्धि होती है तो इसका सीमान्त आय वक्र दाहिने ओर को विवर्तित हो जाता है, और इसके फलस्वरूप वस्तु की अपेक्षाकृत अधिक मात्रा का उत्पादन अथवा पूर्ति की जाती है, साथ ही निर्धारित मूल्य भी बढ़ जाता है। इससे यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत-पूर्ति सम्बन्ध होता है क्योंकि इस प्रकार का निष्कर्ष त्रुटिपूर्ण होगा। इसका कारण यह है कि उत्पादित वस्तु की मात्रा कीमत के आधार पर निश्चित नही हो रही है, जैसा कि पहले कहा गया है, किन्तु कीमत एव पूर्ति की मात्रा दोनो अपूर्ण प्रतियोगिता मे एक फर्म द्वारा एक साथ ही निर्धारित की जाती हैं। मांग की वृद्धि या कमी के प्रत्युत्तर मे दोनो परिवर्तित हो सकती हैं। अत हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि ठीक-ठीक अर्थों मे पूर्तिवक्र की धारणा अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा के अन्तर्गत कार्य करने वाली फर्म पर लागू नही होती है।

अभी तक हम अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ के अन्तर्गत एक व्यक्तिगत फर्म के पूर्ति वक्र की प्रासगिकता की व्याख्या करते रहे। अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत 'सम्पूर्ण उद्योग' के पूर्ति वक्र के साथ तो और अधिक सकल्पनात्मक (conceptual) अथवा धारणा सम्बन्धी कठिनाइयाँ और समस्याए जुडी हैं। सर्वप्रथम, एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे, जहाँ पदार्थ विभेदीकरण होता है, 'एक उद्योग को पहचानना' बहुत कठिन कार्य है। उद्योग की धारणा स्वय ही पूर्ण प्रतियोगिता से सम्बन्धित है जहाँ सभी फर्में बिल्कुल एक जैसे पदार्थ का उत्पादन करती हैं। जैसा कि हम इस अध्याय मे देख चुके हैं, एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत विभिन्न फर्में विभेदीकृत पदार्थों का उत्पादन करती हैं जो कि एक दूसरे के निकट के स्थानापन्न होते हैं। अब ऐसी स्थिति मे यह कहना बहुत कठिन है कि निकट स्थानापन्न का सम्बन्ध कहाँ समाप्त होता है और दूरस्थ स्थानापन्न का सम्बन्ध कहाँ से प्रारम्भ होता है। दूसरे शब्दो मे, फर्मों के एक विशेष समूह को, जो एक एकाधिकारिक प्रतियोगिता की विशेषताओ वाले उद्योग का प्रतिनिधित्व करते हो, को पहचानना तथा उसकी सीमा निर्धारित करना बहुत कठिन है। यही कारण है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता के सम्बन्ध मे चेम्बरलेन की 'समूह' की धारणा की आलोचना करते हुए राबर्ट ट्रिफिन (Robert Triffin)[1] एव जी० जे० स्टिगलर (G J Stigler)[2] ने इसे अयथार्थवादी एव अस्पष्ट कहा है।

अब जब अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत, जिसमे पदार्थ विभेदीकरण होता है, हम एक उद्योग अथवा समूह की पहचान नही कर सकते, तो इससे सम्बन्धित पूर्ति वक्र की धारणा स्वत ही ध्वस्त हो जाती है। इसका कारण यह है कि किसी उद्योग अथवा समूह के पूर्ति वक्र की रचना करने के लिये हमे वस्तु की कीमत के विभिन्न स्तरो पर भिन्न भिन्न व्यक्तिगत फर्मों की उत्पादन मात्राओ का योग करना आवश्यक होगा। ऐसी स्थिति मे जब एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक उद्योग अथवा 'समूह' को पहचानने की कठिनाई के कारण हम इसमे कार्यरत फर्मों की निश्चित सख्या को ज्ञात नही कर सकते, तो हम उस उद्योग अथवा समूह का पूर्ति वक्र किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं ?

अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक उद्योग या 'समूह' के पूर्ति वक्र की रचना मे एक दूसरी कठिनाई जिसका सामना

---

1 R Triffin, *Monopolistic Competition and General Equilibrium Theory*, Chapter 1

2 G J Stigler, *Five Lectures on Economic Problems*

करना पड़ता है, वह यह है कि 'पदार्थ विभेदीकरण' के कारण विभिन्न फर्में अपने उत्पादन की भिन्न भिन्न कीमत प्राप्त करती हैं। परन्तु पूर्ति वक्र की रचना के लिए यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण उद्योग के उत्पादन के लिए बाजार मे एक ही मूल्य प्रचलित हो क्योकि उद्योग का पूर्ति वक्र इस बात को व्यक्त करता है कि उद्योग मे सभी फर्मे उस दी हुई कीमत पर वस्तु की कितनी मात्रा का उत्पादन अथवा पूर्ति करेंगी। अतएव जब विभिन्न फर्में अपने पदार्थ को विभिन्न कीमतो पर बेच रही हो तो हमे पूर्ति वक्र खीचने के लिए आवश्यक जानकारी प्राप्त नही हो सकती है। श्रीमती जोन राबिन्सन[1] ने इस कठिनाई को दूर करने का प्रयास किया है, तथा अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत निम्नलिखित मान्यताओ के साथ उद्योग के पूर्ति वक्र को व्यक्त किया है (1) सभी फर्मों के लागत वक्र एक से होते है, (2) विभिन्न फर्मों के माँग वक्र एक समान होते है, तथा (3) जब सम्पूर्ण उद्योग की माँग मे वृद्धि होती है तो सभी फर्मों मे माँग वक्र मे परिवर्तन एक ही प्रकार से होता है। इन मान्यताओ के साथ "अपूर्णताओ के बावजूद कुल माँग वक्र की प्रत्येक स्थिति के लिये सम्पूर्ण बाजार मे एक मूल्य ही प्रचलित होगा" (" in spite of the imperfection, a single price will rule throughout the market for each position of the total demand curve ")[2] किन्तु ध्यान रहे कि ये मान्यताए अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता के मूल तत्त्व को ही नष्ट कर देती है। अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता की आधारभूत विशेषता पदार्थ विभेदीकरण है—और इसीलिए विभिन्न फर्मों द्वारा अपने विभेदीकृत पदार्थों के भिन्न-भिन्न मूल्य प्राप्त किए जाते हैं।

किन्तु यदि हम यह मान्यता कर भी लें कि अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत विभेदीकृत पदार्थ की कीमत बाजार मे एक सी होती है, तो भी उद्योग के पूर्ति वक्र की रचना में एक और गम्भीर कठिनाई का हमे सामना करना पड़ता है। वह यह है कि (जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है) अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत व्यक्तिगत फर्मों के पूर्ति वक्र की धारणा अप्रयोज्य एव अप्रासंगिक है, क्योकि वे अपने-अपने पदार्थों की कीमतो पर नियन्त्रण रखती है तथा उनकी कीमतो को दिया हुआ नही मानती हैं। ऐसी परिस्थिति मे अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत जबकि उद्योग की सरचना करने वाली व्यक्तिगत फर्मों के लिए पूर्तिवक्र की धारणा ही अप्रयोज्य हो जाती है तो हम सम्पूर्ण उद्योग के पूर्ति वक्र जिसे उद्योग की सरचना करने वाली फर्मों के पूर्ति वक्रो को जोडकर ही प्राप्त करना सम्भव है, को किस प्रकार प्राप्त कर सकते हैं।

ऊपर हमने अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत व्यक्तिगत फर्म के पूर्ति वक्र की प्रासगिकता के सम्बन्ध मे यह व्याख्या की थी कि अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत व्यक्तिगत फर्मों की उत्पादन मात्राओ का निर्धारण सीमान्त आय करती है न कि वस्तु की कीमत। जब उद्योग के उत्पादन की कुल माँग बढती है तो उद्योग के पूर्ति वक्र को बनाने के उद्देश्य से हमे यह ज्ञात करना होगा कि यह व्यक्तिगत फर्मों के माँग वक्रो और इसलिए उनकी उत्पादन मात्राओ को किस प्रकार प्रभावित करेगी, क्योकि तभी हम यह जान सकते हैं कि पदार्थ की माँग मे वृद्धि होने के प्रत्युत्तर मे पूर्ति की मात्रा में किस प्रकार परिवर्तन होगा। परन्तु इस सम्पूर्ण प्रक्रिया मे अगणित कठिनाइयाँ सबद्ध हैं क्योकि, "सीमान्त आय एव कीमत के बीच सम्बन्ध व्यक्तिगत माँग वक्रो की आकृति पर निर्भर होगा और वस्तु की कुल माँग मे एक दी हुई वृद्धि का उत्पादन मात्रा पर प्रभाव उस ढग पर निर्भर होगा जिससे यह व्यक्तिगत माँग वक्रो को प्रभावित करता है।" ("The relationship between marginal revenue and price will depend upon shapes of individual demand curves and the effect of a given increase in the total demand for the commodity

1 *The Economics of Imperfect Competition*, p 86

2 *Ibid* p. 86.

upon output will depend upon the manner in which it affects the individual demand curves')[1] श्रीमती जोन राबिन्सन ने निम्नलिखित वैकल्पिक पूर्व मान्यताओं को व्यक्त किया है जिनके आधार पर सीमान्त आय एवं मूल्य के बीच दृढ़ सम्बन्धों को निश्चित किया जा सकता है। उनके अनुसार

(i) यह मान्यता की जा सकती है कि उद्योग के पदार्थ की कुल माँग में किसी भी वृद्धि को सभी व्यक्तिगत फर्मों के बीच बराबर-बराबर बाँट दिया जाता है, जिससे व्यक्तिगत फर्मों के माँग वक्र एक ही प्रकार से विवर्तन (shift) करते है। परन्तु 'एक ही प्रकार' अनेक हो सकते हैं, जिनमें व्यक्तिगत फर्मों का माँग वक्र विचलन कर सकता है। अतः सीमान्त आय एवं मूल्य में दृढ़ सम्बन्ध निश्चित करने के लिए अतिरिक्त मान्यताओं की आवश्यकता होती है।

(ii) एक अतिरिक्त मान्यता के रूप में यह माना जा सकता है कि उद्योग के कुल माँग वक्र में वृद्धि के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत फर्मों के माँग वक्र समरूप ऊपर को विवर्तित हो जाते है जिससे व्यक्तिगत फर्मों के माँग वक्रों पर प्रत्येक उत्पादन मात्रा के लिए मूल्य में समान मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

(iii) इसके अतिरिक्त अन्य मान्यता यह की जा सकती है कि उद्योग के उपज की कुल माँग में वृद्धि के फलस्वरूप व्यक्तिगत फर्मों के माँग वक्र दाहिने को सरक जाते हैं ताकि प्रत्येक मूल्य पर व्यक्तिगत फर्मों को भविष्य में होने वाली उत्पादन मात्रा में स्थिर मात्रा जोड़ दी जाए।

(iv) इसके अतिरिक्त एक मान्यता यह भी की जा सकती है कि कुल माँग में वृद्धि के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत फर्मों के माँग वक्र इस प्रकार ऊपर उठ जाते हैं कि उनकी मूल्य सापेक्षता यथावत् रहती है। इससे व्यक्तिगत माँग वक्र पर प्रत्येक मूल्य पर व्यक्तिगत फर्मों की उत्पादन मात्रा में वृद्धि समान अनुपात में होती है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि हम श्रीमती जोन राबिन्सन की पद्धति का अनुसरण करें, तो भी हम अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कीमत और पूर्ति के बीच (अर्थात् पूर्ति वक्र के बारे में) किसी निश्चित सम्बन्ध पर नहीं पहुंच सकते। श्रीमती राबिन्सन स्वयं इस बात को स्वीकार करती हैं। उन्होंने लिखा है —

"इस प्रकार की अनेक मान्यताएं की जा सकती हैं, तथा इनमें से किसी भी एक मान्यता पर एक पूर्ति वक्र का खींचना सम्भव हो सकेगा, जो किसी वस्तु के लिये दिये जाने वाले मूल्य में दी हुई वृद्धि की पूर्ति पर प्रतिक्रिया को दिखा सकेगा। प्रत्येक उत्पादन मात्रा के साथ एक नियत कीमत सम्बद्ध होगी, परन्तु विभिन्न सम्भव मान्यताओं में से प्रत्येक से प्राप्त परिणाम भिन्न-भिन्न होगा। अतः इनमें से किसी भी एक मान्यता के आधार पर यद्यपि पूर्ति वक्र का खींचना सम्भव है, परन्तु इन विभिन्न मान्यताओं में से प्रत्येक पर भिन्न-भिन्न पूर्ति वक्र होगा। जब तक कि हम यह न जान लें कि वस्तु के लिये दिये गये कुल मूल्य में वृद्धियां सभी सम्भव तरीकों में से किस तरीके से व्यक्तिगत माँग वक्रों को प्रभावित करती है तब तक हम यह नहीं बता सकते हैं कि वस्तु की पूर्ति में एक निर्धारित वृद्धि को प्रोत्साहित करने के लिये वस्तु के लिए दिए जाने वाले कुल मूल्य अथवा कीमत में कितनी वृद्धि आवश्यक है।"[2]

1 The *Economics of Imperfect Competition*, p 86

2 "Any number of such assumptions might be made, and upon any one of them it would be possible to draw up a supply curve, which would show the response of supply to a given increase in the total offer of the commodity A certain price would be associated with each output but the result would be different on each of the different possible assumptions Thus, although it is possible to draw up a supply curve on any one of these assumptions, there will be a different supply curve on each different assumptions We cannot say what increase in the total offer is necessary to induce a given increase in supply unless we know in which of all possible ways the increases in the total offer affect the individual demand curves"

श्रीमती जोन राबिन्सन आगे कहती है, "यहाँ तक कि जब वक्रो को एक निश्चित तरीके से सरकता हुआ मान लिया जाय, जिससे एक पूर्ति वक्र का खींचना औपचारिक रूप से सम्भव हो सके, तो भी इस बात को स्वीकार करना आवश्यक है कि पूर्ति की मात्रा मे वृद्धि व्यक्तिगत उत्पादको के सीमान्त आय वक्रो के उत्थान (rise) द्वारा नियन्त्रित होती है अर्थात् यह केवल उसी दशा मे हो सकता है, जब हमने एक स्वतत्र मान्यता—कि उत्पादन मात्रा (output) मे वृद्धि कुल माँग वक्र मे उत्थान के साथ सम्बद्ध प्रतीत होती है—द्वारा माँग वक्रो को सीमान्त आय वक्रो के साथ बाँध दिया हो। वस्तुत उत्पादन मात्रा मे वृद्धि तात्कालिक रूप से कुल माँग वक्र म उत्थान के साथ नही अपितु व्यक्तिगत सीमान्त आय वक्रो के उत्थान के साथ सम्बद्ध रहती है।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि श्रीमती जोन राबिन्सन के दृष्टिकोण के अनुसार भी अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सम्पूर्ण उद्योग के निश्चित पूर्ति वक्र को प्राप्त करना कठिन है। वे स्वय इस बात को स्वीकार करती हैं कि उपर्युक्त मान्यताए जिन पर अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत उद्योग के निश्चित पूर्ति वक्र, (जो मूल्य को उत्पादन की मात्रा के साथ सम्बन्धित करते हो) की रचना की जा सके असत्य हैं।[2] अत श्रीमती जोन राबिन्सन का विश्लेषण हमारा कोई मार्गदर्शन नही करता है। फिर भी यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि श्रीमती जोन राबिन्सन पूर्ति वक्र की धारणा को लेकर कुछ असमजस मे हैं अथवा भ्रमित हैं। वह अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ के अन्तर्गत केवल मूल्य को उत्पादन मात्रा के साथ सम्बद्ध करने की ही बात करती है। एक वास्तविक पूर्ति वक्र को बाह्यरूप देने के लिये जिस चीज की जरूरत है वह केवल उत्पादन की मात्रा को मूल्य के साथ सम्बद्ध करना नही, बल्कि विभिन्न फर्मों द्वारा किसी मूल्य के प्रत्युत्तर मे, जिस पर उनका कोई नियत्रण या प्रभाव नही होता है, अपनी उत्पादन मात्रा को निश्चित करना है।

अतएव, जैसा कि ऊपर जोर दिया गया है, पूर्ति वक्र की मूल धारणा ही, चाहे फर्म की हो चाहे उद्योग की, अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशाओ के लिए अप्रासगिक या अनुपयुक्त है, क्योकि इसमे प्रत्येक व्यक्तिगत फर्म अपनी पदार्थ की कीमत पर नियत्रण रखती है। वस्तुत इसके अन्तर्गत उत्पादन मात्रा कीमत के प्रत्युत्तर मे निश्चित नही की जाती, बल्कि कीमत एव उत्पादन मात्रा दोनो एक-साथ निर्धारित होती हैं। अत हम प्रोफेसर कॅल्डर के विचार से सहमत हैं। उन्होने लिखा है, "यदि प्रतियोगिता अपूर्ण है, तो माँग की दशाओ मे दिये होने पर केवल उत्पादन मात्रा को ही निर्धारित किया जा सकता है, और कीमत तथा पूर्ति के बीच कोई निश्चित सम्बन्ध नही होता है। श्रीमती जोन राबिन्सन पूर्ति वक्र की धारणा का अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ के अन्तर्गत भी प्रयोग करती हैं। (*Economics of Imperfect Competition*, Chapter VI) परन्तु उनकी पुस्तक का सूक्ष्म अध्ययन यह प्रकट करता है कि वह अपूर्ण प्रतियोगिता के विश्लेषण के लिये पूर्ति के केवल नाम का ही प्रयोग करती हैं।" (If competition is imperfect, then only the amount of output, given the conditions of demand, can be determined and there is no definite relation between price and supply Mrs Joan Robinson employs the concept of supply curve even under conditions of imperfect competition (*The Economics of Imperfect Competition*, Chapter VI) but a perusal of her book shows that she merely retains the name of the former for the analysis of the latter)[3]

1. *Ibid*, p 87

2. *Ibid*, p 87.

3 N. Kaldor, Market Imperfections and Excess Capacity in his "*Essays on Value and Distribution*"

27

विक्रय लागतें एवं विज्ञापन

(SELLING COSTS AND ADVERTISING)

एकाधिकारिक प्रतियोगिता एव म्रल्पाधिकार के मन्तर्गत कीमत एव उत्पादन मात्रा पर लिखित मध्यायो मे हमने यह बतलाया था कि फर्में प्राय विज्ञापन व्यय मथवा विक्रय लागतो के माध्यम से प्रतिस्पर्धा करती है। एकाधिकारिक प्रतियोगिता एव म्रल्पाधिकार के मन्तगत कार्य करने वाली फर्मों को कीमत, उत्पादन मात्रा तथा पदार्थ के समायोजन के मतिरिक्त एक म्रन्य महत्त्वपूर्ण निर्णय जो लना पडता है, वह यह है कि मपने लाभ मधिकतम करने के उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे कितनी विक्रय लागतें मथवा विज्ञापन व्यय करें। विक्रय लागतो के सम्बन्ध म प्रथम समस्या जिसका सामना करना पडता है, वह यह है कि ये लागतें उत्पादन लागतो से किस प्रकार भिन्न होती है। दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता एव म्रल्पाधिकार के मन्तर्गत कार्य करने वाली फर्में विक्रय लागतें क्यो उठाती हैं तथा पूर्ण प्रतियोगिता एव एकाधिकार के मन्तर्गत कार्य करने वाली फर्में विक्रय लागतें क्यो नही उठाती है। इसके मतिरिक्त, यह भी प्रश्न उठता है कि कोई फर्म विक्रय लागतो मथवा विज्ञापन व्यय के मनुकूलतम स्तर के विषय मे निर्णय किस प्रकार लेती है म्रौर म्रन्त मे पदार्थ के मूल्य तथा उत्पादन मात्रा पर विक्रय लागतो का क्या प्रभाव पडता है। हम विक्रय लागतो से सम्बन्धित इन सभी प्रश्नों की व्याख्या नीचे करेंगे।

विक्रय लागतो एवं उत्पादन लागतो मे भिन्नता (Selling Costs Distinguished from Production Cost)

विज्ञापन व्यय की मपेक्षा 'विक्रय लागतो" का मर्थ विस्तृत होता है। जबकि विज्ञापन व्यय मे केवल पदार्थ (product) को समाचारपत्रो, पत्रिकामो, रेडियो तथा टेलिविजन मे विज्ञापित कराने के लिये किया गया व्यय ही सम्मिलित होना है, विक्रय लागतो के अन्तर्गत विज्ञापन व्यय के मतिरिक्त सेल्समैनो के वेतन एव मजदूरी, फुटकर विक्रेतामो द्वारा वस्तु के प्रदर्शन के लिये भत्ता एव मनेक मन्य प्रकार की प्रोत्साहन सम्बन्धी क्रियामो पर किया गया व्यय सम्मिलित होता है। प्रो० चेम्बरलिन ने, जिन्होने मूल्य सिद्धान्त मे विक्रय लागतो के विश्लेषण का सूत्रपात किया है, इन्हे उत्पादन लागतो से भिन्न बतलाया है। चेम्बर-

लिन के अनुसार उत्पादन लागतो मे वे व्यय सम्मिलित होते है जो उपभोक्ता की दी हुई माँग या आवश्यकता की पूर्ति के लिये किसी वस्तु के विनिर्मित करने एवं उन्हे उपभोक्ता को प्रदान करने के लिये किये जाते है, जबकि विक्रय लागतें वे है जो किसी पदार्थ की माँग को परिवर्तित करने, उसका रूपान्तरण करने तथा सृजन करने के लिये की जाती हैं। अत उत्पादन लागतो म किसी वस्तु का विनिर्माण करने की लागतें परिवहन की व्यवस्था करने, भण्डारण तथा उपभोक्ता को प्रदान करने मे उठाई गयी लागतो को शामिल किया जाता है क्योंकि ये सभी क्रियाएं किसी वस्तु की उपयोगिता अथवा तुष्टिगुण म वृद्धि करती हैं। और दी हुई आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये उपयोगिता मे वृद्धि अथवा उपयोगिता के सृजन को अर्थशास्त्र मे उत्पादन कहा जाता है । चेम्बरलिन के शब्दो मे, "उत्पादन लागत मे वे सभी व्यय शामिल होते है जिन्हे, वस्तु एवं सेवा को प्रदान करने उसको क्रेता तक परिवहन करने तथा उसकी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये उसके हाथो मे देने के लिये, करना आवश्यक होता है और विक्रय लागतों मे वे व्यय शामिल होते है जो किसी वस्तु की माग अथवा बाजार का सृजन करने के लिये किये गये है। पहले प्रकार की लागतें उपयोगिता का सृजन करती है ताकि दी हुई माँग की सन्तुष्टि की जा सके जबकि दूसरे प्रकार की लागतें स्वयं माँग का सृजन तथा उसमे परिवर्तन करती हैं। इसकी एक सरल परख यह है, किसी दिये हुए पदार्थ के निर्माण एवं उसकी बिक्री मे लगी हुयी समस्त लागतो मे से वे लागतें जो पदार्थ के माँग वक्र को बदल देती हैं, विक्रय लागतें हैं, तथा वे जो माँग वक्र को नही बदलती हैं, उत्पादन लागतें हैं।"[1]

चेम्बरलिन के अनुसार, विक्रय लागत मे विज्ञापन अपने विविध रूपो मे, सेल्समैनो का वेतन तथा विक्रय विभाग तथा विक्रय एजेन्सियो (उन एजेन्सीज को छोडकर जो वस्तुत पदार्थों का आदान प्रदान करती हैं), window displays तथा सभी प्रकार के प्रदर्शन पर किये गये समस्त व्यय सम्मिलित होते है।'[2]

यह ध्यान देने की बात है कि परिवहन को, जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है, माग मे वृद्धि करने वाला नही समझना चाहिये। इसका कारण यह है कि परिवहन वस्तुत माँग मे वृद्धि नही करता है। यह केवल उत्पादक को उपभोक्ता की माँग को पूरा करने मे समर्थ बनाता है, वस्तु की माग तो पहले से ही वर्तमान होती है चाहे परिवहन व्यय उपभोक्ता करे अथवा उत्पादक। इसी प्रकार किसी दूकान के अच्छे स्थान पर स्थित होने का दिया जाने वाला ऊँचा किराया किसी फर्म की बिक्री को तो बढाता है परन्तु उसे विक्रय लागतो का अग नही माना जा सकता क्योंकि इसमे फर्म पदार्थ की दी हुई अथवा वर्तमान माग को अधिक सही ढग से अथवा ठीक-ठीक पूरा करती है तथा पदार्थ की माग मे कोई परिवर्तन नही करती है। किसी दूकान अथवा फर्म के अच्छे क्षेत्र मे स्थित होने का अधिक किराया देकर उत्पादक केवल

---

1 Cost of production includes all expenses which must be met in order to provide the commodity or service, transport it to the buyer and put it into his hands, ready to satisfy his wants *Cost of selling includes all outlays made in order to secure a demand, or a market*, for the product the former costs create utilities in order that given demands may be satisfied *the latter create and shift the demand themselves* A simple criterion is this of all the costs incurred in the manufacture and sale of a given product, *those which alter the demand curve for it are selling costs*, and those which do not are costs of production. Edward, H. Chamberlin, *The Theory of Monopolistic Competition*, 6th edition, p 123 (italics added)

2 *Op cit* p 124

पदार्थ को अथवा स्वय को दी हुई माग के अनुकूल बनाता है, वह माग मे परिवर्तन अथवा उपभोक्ता को अनुकूल नही करता है। इसीलिए चेम्बरलिन उत्पादन लागतो तथा विक्रय लागतो म अन्तर बताते हुए लिखते है, **"वे लागतें जो पदार्थ को माँग के अनुकूल बनाने के लिये की जाती हैं उत्पादन लागतें हैं, वे जो माँग को पदार्थ के अनुकूल बनाने के लिये उठायी जाती हैं, विक्रय लागतें हैं।"** (Those costs which are made to adapt the product to the demand are production costs, those made to adapt the product are costs of selling")[1]

ध्यान रहे कि उत्पादन लागतो एव विक्रय लागतो के बीच अन्तर सदा स्पष्ट रूप से नही किया जा सकता तथा अनेक दशाओं मे यह नही कहा जा सकता है कि उत्पादन (पदार्थ) माग को पूरा करने के लिये अनुकूल बनाया गया है या कि माँग को पदार्थ बेचने के लिये अनुकूल बनाया गया है। उदाहरण के लिये यह कहना कठिन है कि पैकेजिंग पर उठायी गयी अतिरिक्त लागत उत्पादन लागत है अथवा विक्रय लागत किन्तु जहाँ तक विज्ञापन व्यय का सम्बन्ध है, इसके विक्रय लागत होने मे कोई सन्देह नही है क्योंकि विज्ञापन का उद्देश्य ही पदार्थ की माँग को बढाना या उसका सृजन करना होता है। अत जहाँ तक विज्ञापन का सम्बन्ध है, चेम्बरलिन द्वारा प्रस्तुत भेद पूर्णत लागू होता है। चूंकि विज्ञापन व्यय, विक्रय लागतो का सबसे अधिक महत्वपूर्ण एव प्रभावशाली रूप है, हम नीचे अपने विश्लेषण मे विक्रय व्यय से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नो की व्याख्या विज्ञापन व्यय को ही लेकर करेंगे।

जैसा कि पूर्व के अध्याय म समझाया गया है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्य करने वाली फर्म के लिए विज्ञापन व्यय उठाने तथा अन्य विक्रय लागतो को करने की कोई आवश्यकता नही पडती है क्योंकि हम यह मान्यता लेकर चलते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता वाले उद्योग मे सभी फर्मो द्वारा उत्पादित पदार्थ *समान होता है तथा एक व्यक्तिगत फर्म, दिये हुए मूल्य* पर, जितनी मात्रा मे चाहे अपने पदार्थ को बेच सकती है। यदि एक पूर्ण प्रतियोगिता की फर्म पदार्थ का विज्ञापन करती है तो इससे प्रभावित उपभोक्ता उसी पदार्थ को उद्योग की अन्य फर्मों से खरीद सकते है *क्योंकि सभी फर्में समान प्रकार की वस्तुए बेचती है।* वस्तुत पूर्ण प्रतियोगिता का समूचा उद्योग अर्थात् सभी फर्में एक साथ मिलकर अथवा उनका कोई सगठन अन्य उद्योगों के पदार्थों के स्थान पर अपने पदार्थ की बिक्री को बढाने के लिए विज्ञापन कर सकते है। इस प्रकार के विज्ञापन को 'प्रोत्साहन विज्ञापन' (Promotional Advertising) के नाम से जाना जाता है। न कि प्रतिस्पर्धात्मक विज्ञापन (*Competitive* Advertisement) जिससे यहा हमारा सम्बन्ध है। भारत मे टेरीन वस्त्रो का उत्पादन करने वाले उद्योग द्वारा विज्ञापन अपने उत्पादित माल की माँग को अन्य प्रकार के वस्त्रो की माँग के स्थान पर बढाने के लिए किया जाता है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सम्पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सम्पूर्ण उद्योग द्वारा 'प्रोत्साहन विज्ञापन' किया जा सकता है परन्तु व्यक्तिगत फर्मो द्वारा एक दूसरे के ग्राहकों को छीनने के लिये प्रतिस्पर्धात्मक विज्ञापन नही किया जाता है।

एकाधिकार के अन्तर्गत भी प्रतिस्पर्धात्मक विज्ञापन नही होता है क्योंकि परिभाषा के अनुसार एक एकाधिकारी ऐसी वस्तु का उत्पादन करता है जिसकी कोई निकट स्थानापन्न वस्तु नही होती है। एकाधिकारी को केवल क्रेताओ को वस्तु के विषय मे सूचना देने अथवा उन्हें याद दिलाने की आवश्यकता होती है कि वस्तु उनके उपभोग के लिए है। उसे अपने उत्पादन की प्रतिस्पर्धा प्रकृति पर जोर देने की आवश्यकता नही होती है। इसमे कोई सन्देह नही कि एकाधिकारी अपनी वस्तु की बिक्री अथवा माँग को प्रोत्साहित करने के लिए विज्ञापन कर सकता है परन्तु यह वह अपने प्रतिद्वन्द्वियों को हानि पहुचाकर नही करेगा क्योंकि एकाधिकार के अन्तर्गत वस्तु के निकट स्थानापन्न का उत्पादन करने वाला कोई प्रतिद्वन्द्वी नही होता है। अतएव एकाधिकारी द्वारा किया गया विज्ञापन सूचना-

1 *Ibid*, p 125.

प्रद एवं प्रोत्साहन प्रदान करने वाला होता है न कि प्रतिस्पर्धात्मक।

यह केवल एकाधिकारिक प्रतियोगिता एवं पदार्थ विभेद के साथ अल्पाधिकार के अन्तर्गत ही होता है कि विज्ञापन एवं अन्य विक्रय लागतें, दूसरी फर्मों के पदार्थों के स्थान पर किसी फर्म के पदार्थ की बिक्री को बढ़ाने के लिए, एक प्रतिस्पर्धात्मक उपकरण के रूप में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती है। इसका कारण यह है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता एवं विभेदीकृत अल्पाधिकार के अन्तर्गत विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित पदार्थ एक दूसरे के निकट स्थानापन्न होते हैं। अतः एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रत्येक फर्म क्रेताओं को यह विश्वास दिलाने का प्रयास करती है कि इसका पदार्थ उद्योग में कार्य करने वाली अन्य फर्मों के पदार्थों की तुलना में श्रेष्ठ है। एकाधिकारिक प्रतियोगिता एवं विभेदीकृत अल्पाधिकार के अन्तर्गत एक फर्म अपनी कीमत एवं पदार्थ की डिजाइन को स्थिर रख सकती है और विज्ञापन पर अपने व्यय को बढ़ा कर तथा इसके द्वारा क्रेताओं को यह विश्वास दिला करके कि उसके द्वारा उत्पादित ब्राण्ड अन्य उत्पादकों के पदार्थों में श्रेष्ठ है, वह अपने पदार्थ की माँग में वृद्धि करने का प्रयास करती है। अतः प्रतिस्पर्धात्मक विज्ञापन का प्रमुख उद्देश्य ग्राहकों को अपने उत्पादित पदार्थ की ओर आकर्षित करना होता है तथा अपने प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा उत्पादित निकट-स्थानापन्न पदार्थों से उन्हें दूर करना। अतः "सभी प्रकार के प्रतिस्पर्धात्मक विज्ञापन का मूलभूत उद्देश्य उपभोक्ताओं के ध्यान को आकर्षित करना और उनके मस्तिष्क पर एक विशेष वस्तु का नाम अंकित करना है। इस सम्बन्ध में सदैव यही उद्देश्य सामने रखा जाता है कि उपभोक्ता अपनी जेब से पैसे निकाल कर वस्तु-विशेष को खरीदने के लिए तैयार हो जाय। ...... मुख्य उद्देश्य समस्त समूह की बिक्री बढ़ाना न होकर अन्य फर्मों की बिक्री कम करके एक फर्म की बिक्री बढ़ाना होता है।" (the fundamental aim of all "competitive" advertising is to attract the customer's attention and to imprint the name of a particular product on his mind the aim is to persuade the consumer to put his hand in his pocket and buy the product in question ... *the main aim is to increase the sales of one firm at the expense of others and not to increase the sales of the 'group' as a whole*")[1] उदाहरण के लिए हम सभी जानते हैं कि सभी प्रकार के टूथपेस्ट चिकित्सा विज्ञान द्वारा अनुशासित एक ही फार्मूले पर बनाये जाते है। परन्तु बिनाका का उत्पादन करने वाली फर्म अपने रेडियो कमर्शियल प्रोग्राम के माध्यम से यह प्रचार करती है कि 'बिनाका' टूथपेस्ट अन्य टूथपेस्टों की अपेक्षा अधिक अच्छी है तथा इसमें विशेष एवं उत्कृष्ट गुण है जो अन्य ब्राण्डों के टूथपेस्टों में नहीं पाये जाते हैं। बिनाका के विज्ञापन का मूलभूत उद्देश्य देश में टूथपेस्ट की कुल माँग को बढ़ाना नहीं है बल्कि अन्य प्रकार के टूथपेस्टों से क्रेताओं को प्रतियोगिता द्वारा दूर करके, 'बिनाका टूथपेस्ट' की माँग को बढ़ाना होता है। इसी प्रकार टूथपेस्ट के अन्य ब्राण्डों जैसे कालगेट, सिग्नल, फोरहन्स इत्यादि के निर्माता भी विभिन्न साधनों के माध्यम से विज्ञापन पर व्यय करते हैं तथा क्रेताओं को इस बात का विश्वास दिलाने की चेष्टा करते हैं कि उनका टूथपेस्ट का विशेष ब्राण्ड दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। एक फर्म द्वारा इस प्रकार का प्रतिस्पर्धात्मक विज्ञापन प्रायः किसी पदार्थ के एक विशेष ब्राण्ड की माँग में वृद्धि करने के अपने उद्देश्य में सफल प्रमाणित होता है। अतः विज्ञापन के परिणामस्वरूप किसी व्यक्तिगत फर्म का माँग वक्र दाहिनी ओर को सरक जाता है जो यह व्यक्त करता है कि एक दिये हुए मूल्य पर पदार्थ को अधिक मात्रा को बेचा जा सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण का अभिप्राय यह है कि विक्रय लागतों अथवा विज्ञापन की उपस्थिति में किसी पदार्थ के माँग वक्र को उपभोक्ताओं की रुचि अथवा आवश्यकताओं द्वारा एक दिये हुए वस्तुपरक तथ्य के रूप

1. Stonier and Hague, *Op cit* p 222

मे नही माना जा सकता है। एक फर्म अपने पदार्थ के माँग वक्र को अपने विज्ञापन व्यय तथा विक्रय लागतो के अन्य रूपो द्वारा परिवर्तित अथवा विवर्तित कर सकती है।

विक्रय लागतो (विज्ञापन व्यय) का माँग पर प्रभाव

[Effect of Selling Costs (Advertising Expenditure) on Demand]

सफल विज्ञापन का उद्देश्य एव प्रभाव माँग म वृद्धि करना है अर्थात् पदार्थ के माँग वक्र को दाहिनी ओर विवर्तित करना है। किन्तु विक्रय लागतें एव विज्ञापन व्यय परिवर्तनशील प्रतिफल के अधीन होते है। कहने का तात्पर्य यह है कि पदार्थ की माँग पर इसके प्रभाव के रूप मे विज्ञापन व्यय मे समान वृद्धि पहले तो 'बर्धमान प्रतिफल' देती है पर अन्तत धीरे धीरे 'ह्रासमान-प्रतिफल' मिलने लगता है। प्रारम्भ मे विज्ञापन व्यय मे वृद्धि पदार्थ की माँग को बढाने मे वर्धमान प्रतिफल दो कारण से प्रदान करेगी। प्रथमत विज्ञापन व्यय (अथवा विक्रय लागतो) मे वृद्धि फर्म को अपने पदार्थ के विज्ञापन को अनेक बार दोहराने देती है तथा यह पुनरावृत्ति पदार्थ की माँग पर अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करती है। "यह भली-भाँति प्रमाणित हो चुका है कि यदि विज्ञापन को उपभोक्ता के मस्तिष्क पर प्रभाव डालना है तो इसकी पुनरावृत्ति अनिवार्य है। एकाकी विज्ञापन जिसे केवल एक बार देखा जाता है, वह उपभोक्ता पर अधिक से अधिक नाम मात्र का अथवा सम्भवत कोई भी प्रभाव नही डालता है। इस पर किया गया व्यय एक अपव्यय होता है। परन्तु कुछ समय तक निरन्तर तथा विभिन्न माध्यमो से किया गया विज्ञापन उपभोक्ता के विचारो पर प्रभाव डालता है और फलत उपभोग सम्बन्धी चुनावो को प्रभावित कर सकता है।" ("It is well established that repetition is essential if advertising is to make an impact on the consumer's mind. A single advertisement seen once will have at the most a negligible and probably no effect on the consumer The outlays for it are wasted But continued advertising over a period of time and in different media is far more likely to impinge on the consumer s thoughts and consequent consumption choices")[1]

विज्ञापन व्यय के बढने के साथ साथ प्रारम्भ मे बढते प्रतिफल के लागू होने का दूसरा कारण है, बडे पैमाने पर विक्रय क्रियाओ तथा विज्ञापन से प्राप्त होने वाली बचतें। प्रमुख बचत अथवा लाभ है विशेषीकरण, जो बडे पैमाने पर बिक्री अथवा विज्ञापन सम्बन्धी क्रियाओ द्वारा ही सम्भव हो पाता है। प्रो० हिब्डन के शब्दो मे "बडे पैमाने की क्रियाए निपुण एव प्रभावशाली विशेषज्ञो का उपयोग करने को सम्भव बनाती हैं। विज्ञापन माध्यम के उपयोग मे भी कुछ बचतें हो सकती है। अधिक मात्रा मे कृत कुल व्यय तकनीक एव माध्यम, तथा माध्यमो के सयोगो जिनका प्रयोग बिक्री के प्रयास के रूप मे किया जाता है, मे परिवर्तन लाता है।" (Large scale activities permit the use of specialised personnel with greater expertise and effectiveness There may also be economies in the use of advertising media Greater total spending permits a shift in the technique and media that are used in the selling effort as well as the use of combinations of media")[2] प्रारम्भ म विज्ञापन व्यय मे वर्धमान प्रतिफल के परिणामस्वरूप माँग, विज्ञापन व्यय मे वृद्धि के अनुपात की अपेक्षा अधिक अनुपात मे बढ़ती है।

किन्तु विज्ञापन व्यय जैसे-जैसे बढ़ता जाता है अन्तत ह्रासमान प्रतिफल के लागू होने की सम्भावना बढ जाती है। इसका पहला कारण यह है कि सम्भावी क्रेताओ की रुचि, आय तथा सम्पत्ति मे अन्तर होता है। पदार्थ के सम्भावी क्रेताओ मे भिन्नता का अर्थ

---

1 James E Hibdon, *Price and Welfare Theory*, Mc Graw-Hill, 1969, p 302

2 *Op cit*, p 302

यह है कि फर्म द्वारा विज्ञापन अथवा विक्रय क्रियाओं के प्रत्युत्तर में उनकी प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न होगी। प्रारम्भिक विज्ञापन से माँग में अत्यधिक वृद्धि होती है क्योंकि सुप्रभाव्य क्रेता विज्ञापन के फलस्वरूप शीघ्र प्रतिक्रिया करते हैं। परन्तु एक सीमा के पश्चात् विज्ञापन में वृद्धि से माँग की मात्रा में कम अनुपात में वृद्धि की सम्भावना रहती है क्योंकि वह उन क्रेताओं को, जो सम्बन्धित पदार्थ को अधिक पसन्द करते हैं, प्रभावित करने में असफल होता है।

विज्ञापन में वृद्धि से अन्तत ह्रासमान प्रतिफल के लागू होने का दूसरा कारण यह है कि वर्तमान क्रेता, फर्म द्वारा अधिक विज्ञापन करने के फलस्वरूप सम्भव है कि पदार्थ की माग को और न बढ़ायें। इसका कारण यह है कि उपभोक्ता किसी पदार्थ की जितनी अधिक मात्रा खरीदता है उसकी सीमान्त उपयोगिता उपभोक्ता के लिए घटती जाती है। इसके अतिरिक्त, चूँकि उपभोक्ता की आय सीमित होती है अत एक वस्तु की अधिकाधिक मात्रा खरीदने के लिए उसे किसी अन्य वस्तु की अधिकाधिक मात्रा का परित्याग करना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि दूसरी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता बढ़ जाती है। इस प्रकार एक ओर एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता जितना ही उसे विज्ञापन के प्रभाव के अन्तर्गत अधिक खरीदा जाता है घटती जाती है तथा दूसरी ओर इस वस्तु को खरीदने की विकल्प लागत (opportunity cost) अन्य वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता में वृद्धि होने के कारण, बढ़ती जाती है। इसके कारण जब फर्म का विज्ञापन प्रयास अत्यधिक बड़ा दिया जाता है तो पदार्थ के वर्तमान क्रेता उसकी अधिक मात्रा को खरीदने से विरक्त हो जाते हैं। अत यह भी विज्ञापन व्यय के ह्रासमान प्रतिफल का कारण है।

पदार्थ की माँग पर विक्रय लागतों के प्रभाव तथा इस सम्बन्ध में प्राप्त होने वाले परिवर्ती प्रतिफल को रेखाकृति 27 1 में प्रदर्शित किया गया है। किसी प्रकार के विज्ञापन व्यय करने से पूर्व का माँग वक्र D_0 है। ऐसी स्थिति में विज्ञापन व्यय में उत्तरोत्तर एक समान वृद्धि माँग वक्र में दाहिनी ओर को विवर्तन क्रमश D_1, D_2, D_3, D_4 उत्पन्न करती है। यहाँ हमने यह मान लिया है कि माँग वक्र में विवर्तन (shift) समानान्तर है किन्तु वास्तविक जगत में ऐसा होना आवश्यक नहीं है क्योंकि प्रारम्भ में वर्धमान प्रतिफल प्राप्त होता है तथा फिर एक बिन्दु के पश्चात् ह्रासमान प्रतिफल प्राप्त होते हैं, इससे माँग वक्र में उत्तरोत्तर विवर्तन

रेखाकृति 27 1

विक्रय लागतों से माँग में परिवर्ती वृद्धि

का विस्तार भिन्न-भिन्न होता है। दी हुई कीमत OP पर, विज्ञापन व्यय में समान वृद्धियों के फलस्वरूप माँग की मात्रा में q_0 से q_1, q_1 से q_2, q_2 से q_3 तथा q_3 से q_4 तक वृद्धि होती है। रेखाकृति 27 1 में आप देख सकते हैं कि D_2 के बाद अतिरिक्त विज्ञापन व्यय से ह्रासमान प्रतिफल प्राप्त होता है।

औसत विक्रय लागतों का वक्र (The Curve of Average Selling Costs)

औसत विक्रय लागतों के वक्र की धारणा का ग्रहण हमें सावधानीपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। औसत विक्रय-लागत के बारे में दो प्रकार की धारणाएँ हैं तथा इन दोनों धारणाओं के अनुसार खींचे गए औसत विक्रय-लागत वक्र भिन्न होते हैं। चूँकि इन दोनों धारणाओं में औसत विक्रय-लागत वक्र का आकार भिन्न-भिन्न होता है अत विक्रय-लागत तथा अनुकूलतम कीमत एवं उत्पादन मात्रा पर इसके प्रभाव का

विश्लेषण करने के लिये यह ज्ञात होना आवश्यक है कि औसत विक्रय-लागत वक्र किस धारणा के अनुसार खींचा गया है। एक फर्म विज्ञापन व्यय की विभिन्न मात्राओं में चुनाव कर सकती है, इसलिये फर्म प्रारम्भ में विक्रय लागत को परिवर्तनशील मात्रा के रूप में मान सकती है। अतः एक अवधि में खर्च की गयी विक्रय लागतो (विज्ञापन व्यय) की एक निर्दिष्ट मात्रा पर, **प्रति इकाई औसत विक्रय लागत** उस विक्रय-लागत की मात्रा द्वारा माँग वक्र में लाये गये दाहिनी ओर के विवर्तन के परिणामस्वरूप उत्पादन की बेची गयी मात्रा पर निर्भर होगी तथा इसे, विक्रय लागत के रूप में खर्च की गयी कुल राशि को उत्पादन की बेची *गयी कुल मात्रा से विभाजित करके प्राप्त किया जायेगा।* और उस अवधि में जैसे ही कोई फर्म उठायी गयी विक्रय-लागतों की मात्रा में वृद्धि करने की योजना बनाती है वैसे ही औसत विक्रय-लागत परिवर्तित हो

रेखाकृति 27.2

जायेगी। इसमें परिवर्तन एक ओर विक्रय-लागतों में वृद्धि पर और दूसरी ओर इसके परिणामस्वरूप एक दिये हुए मूल्य पर माँग की गयी (या बेची गयी) उत्पादन मात्रा में वृद्धि पर निर्भर होगा। जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है, सामान्यतः ऐसा विश्वास किया जाता है कि विक्रय-लागतें (विज्ञापन व्यय) परिवर्ती प्रतिफल के अधीन होती हैं। प्रारम्भ में विक्रय-लागतों से वर्धमान प्रतिफल प्राप्त होते हैं अर्थात् विज्ञापन व्यय में समान मात्रा में वृद्धि दिये हुए मूल्य पर पदार्थ की माँग की गयी मात्रा में समानुपात से अधिक वृद्धि करती है। दूसरे शब्दों में, प्रारम्भिक अवस्था में प्रति इकाई विक्रय लागत घटती जायेगी। एक बिंदु के उपरांत विक्रय-लागतो से ह्रासमान प्रतिफल प्रकट होने लगता है तथा विज्ञापन व्यय में वृद्धि पदार्थ की माँग की मात्रा में अनुपात से कम वृद्धि उत्पन्न करती है। दूसरे शब्दों में, एक बिन्दु के पश्चात् औसत विक्रय लागत बढ़ेगी। अतएव औसत विक्रय-लागत प्रारम्भ में वर्धमान प्रतिफल के कारण क्रमशः घटती जाती है और न्यूनतम पर पहुच जाती है, फिर ह्रासमान प्रतिफल के कारण बढ़ने लगती है। अतः औसत विक्रय-लागत का वक्र भी साधारण औसत उत्पादन-लागत वक्र की तरह U आकृति का होता है जो रेखा-*कृति 27.2 में ASC* वक्र द्वारा दर्शाया गया है।

रेखाकृति 27.2 में खींचे गये औसत विक्रय-लागत वक्र ASC की विवेचना सावधानीपूर्वक करनी चाहिये। इससे यह आशय नही होता है कि उत्पादन

रेखाकृति 27.3

मात्रा में वृद्धि होने से प्रति इकाई औसत विक्रय-लागत में परिवर्तन किस प्रकार होता है बल्कि इसका अर्थ उस प्रति इकाई औसत विक्रय-लागत से होता है जिसका भार उत्पादन की विभिन्न मात्राओं की बिक्री के लिये उठाना आवश्यक होता है। अन्त में यह औसत विक्रय-लागत वक्र ASC ऊर्ध्वाधर (vertical) हो जाता है। इसका कारण यह है कि अतिरिक्त विक्रय लागतो के पदार्थ की माँग में वृद्धि पर प्रभाव के बारे में प्रायः उच्चतम बिन्दु प्राप्त हो जाता है जिसके आगे विक्रय-लागत में और अधिक वृद्धि पदार्थ की माँग में किसी प्रकार का विस्तार नहीं करती।

ऊपर हमने औसत विक्रय-लागत वक्र की प्रकृति की विवेचना की है, जबकि कुल विक्रय-लागत को एक परिवर्तनशील परिमाण माना गया है । वस्तुतः एक फर्म इसे इसी प्रकार का मानती है, जब उसे विक्रय लागत अथवा विज्ञापन लागत की एक मात्रा, जिसे किसी समय में व्यय करना चाहिये, की योजना बनानी होती है जिससे उसका लाभ अधिकतम हो सके । किन्तु एक बार फर्म विक्रय-लागत अथवा विज्ञापन-व्यय की विशेष मात्रा, जो उस समय में व्यय की जायेगी, से प्रतिबन्धित हो जाती है तो उस अवधि में वह उस लागत को स्थिर मानती है । दूसरे शब्दों में, जब कुल विक्रय-लागत की दी हुई निश्चित मात्रा को व्यय करने का निश्चय कर लिया जाता है या सोच लिया जाता है तब बेचे गये उत्पादन का स्तर जितना ही अधिक होगा, प्रति इकाई विक्रय व्यय में उतनी ही कमी होती जायेगी । इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि जब एक फर्म स्वयं विक्रय-लागतों की एक दी हुई मात्रा से वचनबद्ध हो जाती है तो वह उन्हें एक स्थिर लागत के रूप में ही समझेगी । विक्रय-लागतों की एक निश्चित मात्रा पर औसत विक्रय लागत उसी ढंग से परिवर्तित होगी जिस प्रकार औसत स्थिर लागत होती है तथा इसलिये औसत विक्रय-लागत वक्र समकोणीय अतिपरवलय (Rectangular Hyperbola) की आकृति का होगा, जैसा कि रेखाकृति 27 3 में दिखलाया गया है।

विज्ञापन व्यय (विक्रय लागतों) का अनुकूलतम स्तर : कीमत एवं पदार्थ के डिजाइन के स्थिर रहने की स्थिति में

[Optimum Level of Advertising Outlay (selling cost) : With Price and Product Design as constant]

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि एक फर्म कितने विज्ञापन-व्यय (विक्रय लागतें) का भार लेगी ताकि उसका लाभ अधिकतम हो । दूसरे शब्दों में, किसी फर्म के लिये विज्ञापन व्यय की अनुकूलतम अथवा आदर्श [illegible] क्या है ? लाभ अधिकतम करने वाले विज्ञापन को निर्धारित करने की एक सरल विधि जैसा कि बामोल (Baumol) ने अपनाई है, कुल लागत, कुल आय एवं कुल लाभ वक्रों का प्रयोग है । इसकी व्याख्या हम अग्रिम अध्याय "बिक्री अधिकतम करने का माडल" में करेंगे । वहाँ पर यह समझाया जायगा कि कीमत एवं पदार्थ (Product) डिजाइन के दिये होने पर, यदि एक फर्म अपने लाभ को अधिकतम करने का निर्णय लेती है तब यह OA, विज्ञापन व्यय की मात्रा खर्च करेगी जिस पर कि कुल लागत एवं कुल आय के बीच अन्तर अधिकतम है एवं लाभ वक्र अपनी अधिकतम ऊँचाई पर है । (देखिये, रेखाकृति 34 2)

फर्म के अनुकूलतम विज्ञापन-व्यय (विक्रय लागतें) के निर्धारण की व्याख्या औसत एवं सीमान्त लागत वक्रों द्वारा भी की जा सकती है । औसत एवं सीमान्त लागतों की सहायता से विज्ञापन-व्यय की अनुकूलतम मात्रा की व्याख्या करने के लिये, जब विज्ञापन व्यय को परिवर्तनशील मान लिया जाता है, तो हमें औसत विक्रय-लागतों की धारणा का प्रयोग करना पड़ता है । रेखाकृति 27 4 पर विचार कीजिये जिसमें ASC तथा APC क्रमशः औसत विक्रय-लागत तथा औसत उत्पादन-लागत वक्र हैं । औसत विक्रय-लागत वक्र ASC औसत उत्पादन-लागत वक्र APC के ऊपर जोड़ा गया है जिससे कि औसत कुल लागत वक्र AC प्राप्त होता है ($AC=APC+ASC$) । अतः यह ध्यान देने योग्य है कि AC एवं APC वक्रों के बीच ऊर्ध्वाधर दूरी (vertical distance) औसत विक्रय-लागत को नापती है । औसत कुल लागत वक्र AC का सीमान्त वक्र MC है । हम यह मान्यता करते हैं कि OP मूल्य फर्म द्वारा पहले से ही निश्चित कर लिया गया है तथा यह स्थिर रखा जाता है । इसके अलावा पदार्थ की प्रकृति को भी अपरिवर्तित रखा जाता है तथा केवल विज्ञापन-व्यय ही परिवर्तित होता है तथा उसके परिणामस्वरूप माँग वक्र दाहिनी ओर सरक जाता है तथा उत्पादन की विक्रय मात्रा बढ़ती है ।

चूँकि पदार्थ का मूल्य OP पर स्थिर रहता है, क्षैतिज रेखा PL को सीमान्त आय वक्र के रूप में

समझा जा सकता है। इसका कारण यह है कि विज्ञापन व्यय म वृद्धि करके, एक फर्म बिना कीमत कम किये पदार्थ की अधिक मात्रा की बिक्री कर सकती ह। यदि फर्म का उद्देश्य लाभ को अधिकतम करना है तब यह विज्ञापन व्यय के बारे मे उस बिन्दु पर सन्तुलन मे होगी जहाँ सीमान्त लागत (जिसमे उत्पादन लागत एव विक्रय लागत शामिल होती हैं) सीमान्त आय (अर्थात् दिये हुए मूल्य OP) के बराबर होती है। रेखाकृति 27 4 मे यह स्पष्ट होगा कि
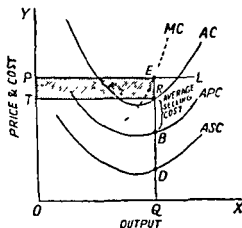
रेखाकृति 27 4

विज्ञापन व्यय का अनुकूलतम स्तर

सीमान्त लागत, OQ उत्पादन स्तर पर सीमान्त आय (या मूल्य) के बराबर होती है जिस पर कि लाभ अधिकतम होगा। OQ उत्पादित एव बेचे गये उपज के स्तर पर फर्म द्वारा अर्जित कुल लाभ $PERT$ के बराबर है तथा जैसा कि रेखाकृति से ही सिद्ध होता है, फर्म द्वारा अपनी सन्तुलन स्थिति मे खर्च की गयी औसत विक्रय लागत QD अथवा BR के बराबर है। अत एक फर्म द्वारा अनुकूलतम औसत विक्रय-लागत, QD (अथवा BR) और उत्पादन मात्रा OQ के गुणा के बराबर होगी।

कीमत एव उत्पादन मात्रा दोनों के परिवर्तनशील होने पर विज्ञापन व्यय का अनुकूलतम स्तर (Optimum Level of Advertising Expenditure with both Price and Output Variable)

ऊपर हमने इस बात की व्याख्या की है कि एक फर्म उस स्थिति मे जबकि पदार्थ की कीमत तथा उसकी प्रकृति यथास्थिर होती है, अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये कितनी मात्रा मे विज्ञापन व्यय करने का उपक्रम करती है। अब हम विज्ञापन व्यय के अनुकूलतम स्तर की उस दशा की विवेचना करेंगे जब कीमत मे भी परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दो मे, हमे विज्ञापन व्यय, कीमत एव उत्पादन मात्रा के अनुकूलतम सयोग की व्याख्या करनी है। इसमे पदार्थ की केवल भौतिक प्रकृति म कोई परिवर्तन नही होगा। हम अपने विश्लेषण का चित्रण दो भुजाओ वाली रेखाकृति की सहायता से करेंगे। चूँकि हम विज्ञापन व्यय की एक निश्चित मात्रा को लेंगे तथा उसके माँग, उत्पादन मात्रा, कीमत एव लाभ पर प्रभाव का विश्लेषण करेंगे तो प्रति इकाई औसत विक्रय-लागत क्रमश घटती जाएगी। इसका कारण यह है कि दो क्रमिक औसत लागत वक्रो के बीच का अन्तर उत्पादन के प्रसार के साथ क्रमश कम होता जायेगा।

विज्ञापन व्यय की अनुकूलतम मात्रा तथा एक फर्म द्वारा कीमत-उत्पादन सयोग के चुनाव को रेखाकृति 27 5 मे चित्रित किया गया है। ध्यान रहे कि हम इस मान्यता को लेकर चलते हैं कि फर्म का उद्देश्य लाभ को अधिकतम करना है। रेखाकृति 27 5 मे X-अक्ष पर पदार्थ की उत्पादन मात्रा तथा Y-अक्ष पर कीमत को नापा गया है। AR_o फर्म की पदार्थ की माँग अथवा औसत आय वक्र है तथा APC औसत उत्पादन लागत वक्र है जिसमे किसी प्रकार की विक्रय-लागत अथवा विज्ञापन-लागत सम्मिलित नही है। औसत उत्पादन लागत APC का अनुरूपी एक सीमान्त लागत वक्र होगा तथा औसत आय वक्र AR_o का अनुरूपी एक सीमान्त आय वक्र होगा। मान लीजिये कि, ये सीमान्त लागत एव सीमान्त आय वक्र OM_o उत्पादन मात्रा पर जहाँ P_o मूल्य निर्धारित है, बराबर होते हैं तथा फर्म P_oLQH के बराबर लाभ प्राप्त कर रही है। यह किसी प्रकार के विज्ञापन व्यय को करने के पूर्व की स्थिति है

अब मान लीजिये कि फर्म 9000 रुपये के बराबर विज्ञापन व्यय करने का निर्णय करती है। यह विज्ञापन

व्यय केवल औसत आय वक्र को दाहिनी ओर सरका कर माँग मे वृद्धि ही नही करेगा बल्कि लागतो मे भी अतिरिक्त वृद्धि करेगा। मान लीजिये कि 9000 रुपये के विज्ञापन व्यय से माँग वक्र AR_1 तक विवर्तन करता है तथा नयी औसत आय वक्र (जिसमे विज्ञापन लागत शामिल है) AC_1 होता है। AR_1 को माँग वक्र तथा AC_1 को औसत लागत वक्र के रूप मे लेने पर अब सन्तुलन ON_1 उत्पादन मात्रा और P_1 कीमत पर है (कीमत उत्पादन का यह सन्तुलन नये सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत वक्र के सन्तुलन द्वारा निर्धारित हुआ है जिन्हे, भ्रम को बचाने के लिये रेखाकृति मे नही खीचा गया है।) रेखाकृति मे आप यह देखेंगे कि अब लाभ बढकर P_1ETK के बराबर हो गया है। ध्यान रहे कि लाभ केवल तभी बढेगा जब विज्ञापन व्यय द्वारा अर्जित शुद्ध आय मे अतिरिक्त वृद्धि विज्ञापन पर किये गये कुल खर्च से अधिक होगी। इस बात को भी ध्यान मे रखना होगा कि विज्ञापन व्यय के परिणामस्वरूप उत्पादन बढता है अत कुल उत्पादन लागत भी बढती है। और विज्ञापन व्यय के कारण शुद्ध आय मे होने वाली अतिरिक्त वृद्धि को, कुल आय मे अतिरिक्त वृद्धि में से लागत मे अतिरिक्त वृद्धि को घटाकर (subtracting) प्राप्त किया जाता है। चूंकि, विज्ञापन व्यय के परिणामस्वरूप लाभ बढ गया है अत फर्म को और अधिक विज्ञापन-व्यय करने के लिये प्रलोभन प्राप्त होता है। मान लीजिये कि फर्म 1000 रुपये का अतिरिक्त विज्ञापन व्यय करती है (अर्थात् अब विज्ञापन व्यय 2000 रुपये का होता है) तथा इससे माँग अथवा औसत आय वक्र AR_2 स्थिति पर विवर्तित हो जाता है और औसत लागत वक्र AC_2 हो जाता है। अब नयी सन्तुलन स्थिति, उत्पादन मात्रा ON_2 तथा कीमत P_2 पर होती है तथा लाभ भी पहले से और अधिक बढकर P_2JSD हो जाता है। यहाँ पुन यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि लाभ केवल तभी बढते हैं जबकि 'उत्पादित अतिरिक्त आय', अतिरिक्त विज्ञापन लागत की अपेक्षा अधिक होती है। "वास्तव मे, फर्म के लिये इस तरह से विक्रय-लागतो का बढाते जाना उस समय तक लाभप्रद होगा जब तक कि विज्ञापन व्यय की प्रत्येक वृद्धि से लागत की अपेक्षा आय में अधिक वृद्धि होती है। विज्ञापन व्यय की सीमान्त इकाई से प्राप्त अतिरिक्त आय के (सीमान्त) बिक्री-व्यय के बराबर होने पर ही लाभ उच्चतम होते हैं।"[1]

रेखाकृति 27·5 मे अब मान लीजिये कि लाभ मे P_2JSD तक वृद्धि से प्रलोभित होकर फर्म 1000 रुपये का अतिरिक्त विज्ञापन व्यय करती है (अर्थात् अब कुल विज्ञापन व्यय 3000 रु० है)। इससे औसत
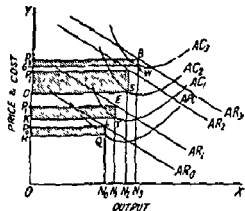
रेखाकृति 27 5
अनुकूलतम विज्ञापन-व्यय

आय वक्र सरक कर AR_3 तथा औसत लागत वक्र AC_3 हो जाता है। रेखाकृति से स्पष्ट है कि अब फर्म द्वारा अर्जित लाभ P_3BWG के बराबर हो जाता है। हम यह पाते हैं कि P_3BWG लाभ की मात्रा इसके पहले प्राप्त लाभ की मात्रा P_2JSD की तुलना मे कम है। लाभ मे कमी विज्ञापन पर एक

1 "Indeed it will pay the firm to go on increasing selling costs in this way so long as each increment of advertising expenditure adds more to revenue than to costs Only when the additional revenue generated (net of production costs) equals the extra (marginal) amount spent in order to generate that net revenue, will profit be at the highest possible level") *Stonier and Hague, Op cit, p 224*

हजार रुपये की अतिरिक्त लागत की तुलना में, इसके कारण अर्जित अतिरिक्त निवल (net) आय (अर्थात् उत्पादन लागतों में वृद्धि से अतिरिक्त शुद्ध आय) के कम होने के कारण ही होगी।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि फर्म एक हजार रुपये का तीसरा अतिरिक्त व्यय नहीं करेगी एवं केवल 2 हजार रुपये के विज्ञापन व्यय करके सन्तुलन में होगी जिस पर कि उसका लाभ अधिकतम (अर्थात् P_2JSD के बराबर) होता है तथा इस स्थिति में विज्ञापन द्वारा प्राप्त अतिरिक्त निवल आय, अतिरिक्त विज्ञापन व्यय के बराबर होती है। अतः जैसा कि रेखाकृति 27·5 में चित्रित किया गया है, प्रत्येक अवधि के लिये फर्म के लिये 2 हजार रुपये अनुकूलतम विज्ञापन-व्यय है।

ध्यान रहे विज्ञापन व्यय के प्रत्येक स्तर के लिये अर्थात् एक हजार, दो हजार एवं तीन हजार रुपये के लिये, अधिकतम लाभ प्रदान करने वाली कीमत एवं उत्पादन मात्रा होनी है। विभिन्न विज्ञापन-व्यय के स्तर पर भिन्न-भिन्न लाभों का स्तर जैसे P_0LQH P_1ETK, P_2JSD तथा P_3BWG सभी अधिकतम होते हैं। फर्म का प्रमुख कार्य विज्ञापन-व्यय, कीमत एवं उत्पादन मात्रा के उस संयोग का चुनाव करना है जो *विभिन्न अधिकतम लाभ प्रदान करने वालों में* सबसे अधिक लाभ प्रदान करता है अर्थात् फर्म को विज्ञापन-व्यय, कीमत एवं उत्पादन-मात्रा के संयोग का निर्धारण करना पड़ता है जो उस उच्चिष्ठ अधिकतम लाभ का स्तर प्रदान करती है। और हमने ऊपर यह देखा है कि रेखाकृति 27·5 में चित्रित स्थिति में यह उच्चिष्ठ अधिकतम सन्तुलन उस समय स्थापित होता है जब *विज्ञापन व्यय दो हजार रुपये* है, कीमत P_2 है तथा उत्पादन मात्रा ON_2 है।

विज्ञापन (विक्रय लागतों) का माँग की मूल्यसापेक्षता पर प्रभाव [Effect of Advertising (selling costs) on Elasticity of Demand]

ऊपर हमने यह देखा है कि विज्ञापन व्यय के फलस्वरूप पदार्थ की माँग बढ़ती है अर्थात् माँग वक्र दाहिनी ओर सरक जाता है। सुविधा के लिये हमने मान लिया है कि नया माँग वक्र जो विज्ञापन व्यय उठाने के बाद प्राप्त हुआ है पुराने माँग वक्र के समानान्तर होता है यद्यपि वास्तविक व्यवहार में ऐसा होना आवश्यक नहीं है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह विचार करना उपयोगी है कि जब माँग बढ़ती है और माँग वक्र दाहिनी ओर सरक जाता है तो प्रत्येक मूल्य पर माँग की मूल्य-सापेक्षता वही रहती है, या घट जाती है, अथवा बढ़ जाती है। प्रतिस्पर्धात्मक विज्ञापन अथवा विक्रय-लागतों के अन्य स्वरूपों का उद्देश्य उपभोक्ता को अन्य स्थानापन्न-ब्राण्डों के बजाय पदार्थ के ब्राण्ड विशेष को खरीदने के लिये प्रभावित करना होता है। उत्पादक, जो पदार्थ के अपने ब्राण्ड का विज्ञापन करता है, का उद्देश्य उपभोक्ताओं के दृष्टिकोण से अपने पदार्थ में विभेद करना तथा अपने ब्राण्ड को दूसरों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट प्रमाणित करने का प्रयास करना होता है। अतः यदि विज्ञापन देने का उद्देश्य प्राप्त हो जाता है तो उपभोक्ता पदार्थ के किसी विशेष ब्राण्ड को दूसरों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट समझने लगेंगे अर्थात् वे अब अन्य प्रतिस्पर्धी ब्राण्डों को पहले की अपेक्षा कम निकट-स्थानापन्न मानने लगेंगे। विभेदीकरण की यह अधिक मात्रा तथा इसके फलस्वरूप प्रतिस्थापन की सापेक्षता, विज्ञापन के प्रभाव के कारण माँग वक्र के दाहिनी ओर सरकने पर, प्रत्येक मूल्य पर माँग की मूल्य-सापेक्षता में कमी लायेगी। *अतः यह सम्भव है कि माँग की मूल्य-सापेक्षता,* विज्ञापन अथवा अन्य प्रकार के विक्रय लागतों के प्रभाव के फलस्वरूप घट जाय। मूल्य-सापेक्षता किस सीमा तक घटेगी, यह वास्तव में बहुत अनिश्चित होता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, विज्ञापन-व्यय के फलस्वरूप माँग की मूल्य-सापेक्षता के परिवर्तन, कीमत उत्पादन मात्रा सन्तुलन के लिये उल्लेखनीय निहितार्थ (*implication*) रखते हैं।

विज्ञापन (विक्रय-लागतों) का मूल्य तथा उत्पादन मात्रा पर प्रभाव [Effect of Advertising (selling costs) on price and output]

विज्ञापन तथा अन्य प्रकार की विक्रय-लागतों का कीमत तथा उत्पादन मात्रा पर प्रभाव पर्याप्त

प्रनिश्चित होता है। यह प्रभाव एक ओर विज्ञापन व्यय के परिणामस्वरूप माँग की मूल्य-सापेक्षता मे परिवर्तन पर तथा दूसरी ओर औसत उत्पादन-लागत के व्यवहार पर निर्भर करता है। जब विज्ञापन के प्रभाव मे माँग वक्र दाहिनी ओर सरक जाता है, प्रचलित मूल्य पर माँग की मूल्य-सापेक्षता यथावत् रहती है तथा औसत उत्पादन-लागत, उत्पादन मात्रा मे वृद्धि के साथ तीव्रता से गिर रही होती है तब फर्म के लिये विज्ञापन के बाद नीचा मूल्य निश्चित करना लाभदायक होगा। इस स्थिति के अन्तर्गत विज्ञापन के पूर्व की अपेक्षा लाभ अधिकतम करने वाली कीमत कम होगी तथा उत्पादन मात्रा अधिक होगी। दूसरी ओर, यदि विज्ञापन के परिणामस्वरूप माँग वक्र के दाहिनी ओर विवर्तन से माँग की मूल्य-सापेक्षता प्रत्यधिक घट जाती है तथा उत्पादन मे वृद्धि के साथ औसत उत्पादन-लागत तेजी से बढ रही होती है तब विज्ञापन के बाद नई स्थिति मे लाभ अधिकतम करने के लिये फर्म कीमत को बढा सकती है तथा साथ ही उत्पादन स्तर को कम कर सकती है। ऐसी दशा मे विज्ञापन व्यय के कारण माँग म वृद्धि का लाभ पदार्थ की अधिक बिक्री के रूप मे प्राप्त होने के बजाय पदार्थ के उच्चतर मूल्य के रूप मे प्राप्त किया जायेगा। परन्तु सबसे अधिक सम्भावना इस स्थिति की है कि विज्ञापन के बाद माँग की मूल्य-सापेक्षता कम हो जाती है तथा औसत उत्पादन-लागत बहुत तेजी के साथ नही बढ़ती है एव इन सबके परिणामस्वरूप विज्ञापन व्यय के बाद मूल्य मे थोडी वृद्धि तथा साथ ही उत्पादन की मात्रा मे भी वृद्धि फर्म के लिये लाभप्रद हो सकती है। अत स्टोनियर एव हेग के अनुसार, "लाभ अधिकतम करने वाली फर्म के लिये सबसे अधिक सम्भाव्य परिणाम यह होगा कि माँग की मूल्य-सापेक्षता प्रत्येक मूल्य पर कुछ न कुछ कम होगी, तथा प्रत्येक मूल्य पर माँग की मात्रा बढ़ेगी तथा विज्ञापन कार्यवाही के परिणामस्वरूप कीमत एव उत्पादन मात्रा दोनों मे कुछ न कुछ वृद्धि होगी।"[1] यह वही स्थिति है जिस पर हमने अपने विज्ञापन-व्यय के विश्लेषण मे विचार किया है तथा रेखाकृति 27 5 में चित्रित किया है। रेखाकृति 37 5 में यह देखा जा सकता है कि विज्ञापन व्यय मे उत्तरोत्तर वृद्धि से कीमत P_0 से P_1, P_1 से P_2, तथा P_2 से P_3 तक बढी है, साथ ही उत्पादन मात्रा भी N_0 से N_1, N_1 से N_2 तथा N_2 मे N_3 तक बढी है। अत रेखाकृति 27 5 के हमारे विश्लेषण में, विज्ञापन व्यय के फलस्वरूप, कीमत एव उत्पादन मात्रा दोनों मे वृद्धि हो रही है।

1. Stonier and Hague, *Op cit*, p 226

28

चैम्बरलिन की एकाधिकारिक प्रतियोगिता तथा रॉबिन्सन की अपूर्ण प्रतियोगिता के सिद्धान्तों की तुलना

(CHAMBERLIN'S MONOPOLISTIC COMPETITION AND JOAN ROBINSON'S IMPERFECT COMPETITION THEORIES COMPARED)

हमने गत अध्यायों में देखा कि ई० एच० चैम्बरलिन तथा जोन रॉबिन्सन ने पूर्ण प्रतियोगिता सिद्धान्त, जिसका बहुत समय तक आधिपत्य रहा, का प्रतिपादन करके व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र में एक क्रांति ला दी। अपूर्ण प्रतियोगिता से सम्बन्धित दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकें, अर्थात् *'Monopolistic Competition Theory'* (श्री चैम्बरलिन द्वारा रचित) तथा *'Economics of Imperfect Competition'* (श्रीमती रॉबिन्सन द्वारा रचित), स्वतन्त्र रूप से लिखी गई तथा एक ही वर्ष 1033 में प्रकाशित की गयी। इन दो सिद्धान्तों के प्रकाशन के कुछ समय पश्चात् तक इन दोनों पुस्तकों को प्रायः समरूप माना गया। वास्तव में, बहुत से अर्थशास्त्रियों ने 'एकाधिकारिक प्रतियोगिता' तथा 'अपूर्ण प्रतियोगिता' को एक ही सिद्धान्त के दो नाम माना। परन्तु प्रारम्भ से ही चैम्बरलिन यह कहते और सिद्ध करते रहे कि उनका एकाधिकारिक प्रतियोगिता का सिद्धान्त श्रीमती रॉबिन्सन के सिद्धान्त से काफी भिन्न है। इन दोनों में चैम्बरलिन के अनुसार केवल शब्दावली का ही अन्तर नहीं है बल्कि, समस्या की अभिव्यक्ति करने तथा इसके विभिन्न पहलुओं की व्याख्या करने के सम्बन्ध में मूलभूत अन्तर है। प्रो० कैल्डर (Kaldor) के मतानुसार, "चैम्बरलिन एकाधिकारिक प्रतियोगिता में प्रचलित सामान्य प्रवृत्ति के शिकार हो गये हैं—जिस प्रवृत्ति को वह दृढ़ विश्वास के साथ प्रतिपादित करते हैं - और तदनुरूप अपने पदार्थ के अत्यधिक विभेदीकरण का प्रयत्न कर रहे हैं।"[1] प्रो० कैल्डर का अभिप्राय यह है कि चैम्बरलिन के एकाधिकारिक प्रतियोगिता सिद्धान्त तथा श्रीमती रॉबिन्सन के अपूर्ण प्रतियोगिता सिद्धान्त में कोई विशेष अन्तर नहीं है और श्री चैम्बरलिन व्यर्थ में अपने सिद्धान्त के विभेदीकरण का प्रयास कर रहे हैं। परन्तु अब अधिकांश अर्थशास्त्री यह स्वीकार करने लगे हैं कि दोनों सिद्धान्त कुछ महत्त्वपूर्ण बातों में, भिन्न-भिन्न हैं और चैम्बरलिन का सिद्धान्त वास्तविक तथ्य का अधिक सही और वास्तविक वर्णन है। इस प्रकार प्रो० गेम्बु

1 Nicholas Kaldor Monopolistic and Imperfect Competition, published in "*Essays on Value and Distribution*" by him

लसन का कहना है, "प्रासंगिक रूपेण तथा बलपूर्वक चैम्बरलिन ने सदा अपने पदार्थ के श्रीमती रॉबिन्सन के पदार्थ से, विभेदीकरण पर जोर दिया है। भावी पीढ़ी इससे सहमत होगी।"[1] नीचे हम दोनों सिद्धान्तों मे उन विभिन्न अन्तरों का वर्णन करेंगे जिनका दावा चैम्बरलिन ने किया है।

1 प्रतियोगिता तथा एकाधिकार का मिश्रण (Blending of Competition and Monopoly)

दोनों सिद्धान्तों मे आधारभूत अन्तर समस्या की अभिव्यक्ति करने में है। चैम्बरलिन अधिकांश आर्थिक स्थितियों को प्रतियोगिता तथा एकाधिकार का मिश्रण मानते हैं और उस स्थिति मे जिसमे कि प्रतियोगिता तथा एकाधिकारी तत्त्व वर्तमान हैं, कीमत-निर्धारण की व्याख्या करते हैं। चैम्बरलिन के सिद्धान्त के प्रतिपादन से पहले प्रतिष्ठित विचारधारा यह थी कि एकाधिकार व प्रतियोगिता परस्पर पृथक श्रेणियाँ मानी जाती थी और इसलिए उद्योगों को या तो पूर्णतः प्रतियोगिता की श्रेणी मे रखा जाता था या पूर्णत एकाधिकार की श्रेणी मे। प्रतिष्ठित दृष्टिकोण मे, चूंकि, एकाधिकारी तथा प्रतियोगी स्थितियों को परस्पर भिन्न विकल्प माना गया था, इसलिये यह कभी नहीं सोचा गया कि प्रतियोगी व एकाधिकारी तत्त्व एक साथ एक समय मे एक उद्योग में वर्तमान हो सकते हैं। दूसरी ओर, चैम्बरलिन की एकाधिकारिक प्रतियोगिता की धारणा प्रतियोगी तथा एकाधिकारी तत्त्वों का मिश्रण है। चूंकि अधिकांश वास्तविक जगत के मार्किट रूपों मे प्रतियोगी व एकाधिकारी विशेषताओं का मिश्रण होता है, इसलिए चैम्बरलिन का सिद्धान्त आर्थिक तथ्य का अधिक व्यावहारिक वर्णन है। प्रो० चैम्बरलिन ने ठीक ही कहा है : "एकाधिकारिक प्रतियोगिता अर्थशास्त्र के प्रतिष्ठित दृष्टिकोण जो कि प्रतियोगिता तथा एकाधिकार को एक दूसरे के विकल्प होना मानते हैं और व्यक्तिगत कीमतों की व्याख्या उनमे से केवल एक (पूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार) के सदर्भ मे करते हैं, को एक चुनौती है। इसके विपरीत, मेरे विचार मे अधिकतर आर्थिक स्थितियाँ प्रतियोगिता तथा एकाधिकार दोनों का मिश्रण हैं और जब भी इस प्रकार की स्थिति होती है तो दोनों शक्तियों मे से एक की उपेक्षा करके और स्थिति को केवल एक ही तत्त्व का बना हुआ मान कर उसका अध्ययन करना भ्रमात्मक है।"[2] इस प्रकार आर्थिक स्थिति के अध्ययन का एक नया तरीका श्री चैम्बरलिन ने प्रस्तुत किया। वास्तविक जगत की आर्थिक स्थितियों को प्रतियोगिता तथा एकाधिकारी स्थितियों का मिश्रण मानकर और मूल्य-सिद्धान्त को इस पर आधारित करके उसने क्रान्तिकारी सिद्धान्त प्रस्तुत किया। पदार्थ विभेदीकरण (*Product differentiation*) के कारण वास्तविक जगत की बाजार स्थितियों मे प्रतियोगी तथा एकाधिकारी दोनों तत्त्व वर्तमान होते हैं। प्रत्येक विक्रेता अपने विशिष्ट प्रकार के पदार्थ का एकाधिकारी होता है, परन्तु साथ ही उसको पदार्थ की अन्य किस्मों के साथ, जो उसके पदार्थ के निकट स्थानापन्न हैं, प्रतियोगिता भी करनी होती है। यह पदार्थ-विभेदीकरण चैम्बरलिन के एकाधिकारिक प्रतियोगिता सिद्धान्त की आधारशिला है।

श्रीमती रॉबिन्सन की अपूर्ण प्रतियोगिता के सिद्धान्त मे इस प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के मिश्रण का अभाव है। श्री चैम्बरलिन ने यह स्पष्ट किया है कि श्रीमती रॉबिन्सन ने एकाधिकारी (साधारण अर्थ में) तथा प्रतियोगिता को परस्पर अनन्य विकल्प माना है। प्रो० चैम्बरलिन ने अपने इस विचार के सम्बन्ध मे कि श्रीमती रॉबिन्सन अपने *Economics of Imperfect Competition* तथा बाद के लेखों में प्रतियोगिता तथा एकाधिकार को उसी रूप में परस्पर अनन्य विकल्प मानती रहीं जिस रूप में इसको प्रतिष्ठित आर्थिक विचारधारा

---

1 Paul A Samuelson, The Monopolistic Competition Revolution, printed in *Monopolistic Competition Theory : Studies in Impact (Essays in Honour of Edward H. Chamberlin)*, edited by Robert E Kuanne.

2 Edward H. Chamberlin, *Theory of Monopolistic Competition*, 6th edition, p. 204.

में माना गया था, के अनेक प्रमाण दिये हैं। उदाहरणतः उन्होंने बताया कि श्रीमती रॉबिन्सन ने अपनी उपर्युक्त पुस्तक मे "वास्तविक स्थितियो को एक शृंखला (series) मे जिसकी एक सीमा पर शुद्ध एकाधिकार हो तथा दूसरी सीमा पर शुद्ध प्रतियोगिता" रखने की सम्भावना पर विचार किया परन्तु असाध्य कठिनाइयो के कारण उसको त्याग दिया। किन्तु एक ओर शुद्ध एकाधिकार तथा दूसरी ओर पूर्ण प्रतियोगिता की दो चरम सीमाओ के मध्य की स्थितियो मे ही एकाधिकारी तथा प्रतियोगी तत्त्व विभिन्न अंशो मे मिले हुए होते हैं। इन दो चरम सीमाओं के बीच की स्थितियो का वर्गीकरण न करके, श्रीमती रॉबिन्सन ने प्रतियोगिता तथा एकाधिकारी तत्त्वों से मिश्रित अपूर्ण प्रतियोगी बाजारो के अध्ययन के अवसर को खो दिया। दूसरी ओर, श्री चैम्बरलिन ने अपनी पुस्तक *"Theory of Monopolistic Competition"* मे इन मध्यवर्ती स्थितियो को ठीक से सजोया और माना कि इनमे प्रतियोगी तथा एकाधिकारी तत्त्वों के विभिन्न अंशो का मिश्रण है। वे लिखते हैं :

"एकाधिकार को यदि हम प्रतियोगिता का प्रतिपक्ष मानें, तो इसकी चरम सीमा तब प्राप्त होती है जब किसी उत्पादक का समस्त आर्थिक वस्तुओ की पूर्ति पर नियन्त्रण हो। इसको शुद्ध एकाधिकार की स्थिति कहा जा सकता है क्योंकि इसमे परिभाषा के द्वारा ही स्थानापन्नों की प्रतियोगिता को निकाल दिया गया है। दूसरी सीमा पर शुद्ध प्रतियोगिता है, जिसमे अधिकांश वस्तुएँ पूर्ण रूप से प्रामाणिक होती हैं और प्रत्येक विक्रेता को अपने पदार्थ को बेचने के लिये उसके पूर्ण स्थानापन्नो से प्रतियोगिता करनी होती है। इन दो सीमाओं के बीच बहुत सी श्रेणियाँ हैं, जिनमे दोनों तत्त्व सदा वर्तमान हैं, इनको स्वीकार करना चाहिए। प्रतियोगिता तथा एकाधिकार मे से एक को निकाल देने से गलत परिणाम प्राप्त होगे।"[1]

श्रीमति रॉबिन्सन अधिकांश वास्तविक बाजार स्थितियों को प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के मिश्रण के रूप में नहीं देख पाईं क्योंकि वे वस्तु तथा एकाधिकार की ठीक-ठीक परिभाषा करने मे असमर्थ रही। उन्होंने वस्तु की परिभाषा फर्म के सदर्भ मे नही बल्कि उद्योग के सदर्भ मे की और उनके वर्गीकरण की पद्धति अन्तर फर्म सम्बन्ध की नही बल्कि उद्योग की है जिसमे प्रत्येक उद्योग एक भिन्न वस्तु का उत्पादन करता है और प्रत्येक उद्योग की वस्तु बिलकुल समान है। इसके अतिरिक्त उनकी एकाधिकार की धारणा एकदम विचित्र है। उन्होंने अपनी पुस्तक मे एकाधिकार की दो धारणाओ का प्रयोग किया है जिसके कारण समस्त स्थिति भ्रमात्मक हो गई। उनके अनुसार एकाधिकार का सम्बन्ध केवल एक व्यक्तिगत विक्रेता अथवा उत्पादक से है। वे कहती है : "प्रत्येक व्यक्तिगत उत्पादक अपने पदार्थ का एकाधिकारी होता है—यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट है—और यदि ऐसे काफी अधिक विक्रेता पूर्ण बाजार मे अपनी वस्तु को बेच रहे होते हैं तो जो स्थिति उत्पन्न होती है उसको हम पूर्ण प्रतियोगिता कहने के आदी हैं।"[2] इस परिभाषा के अनुसार, पूर्ण प्रतियोगिता के अधीन व्यक्तिगत विक्रेता एक एकाधिकारी है। यह एकाधिकारी की एक अनोखी परिभाषा है। परन्तु वे अपने आपको केवल इस परिभाषा तक ही सीमित नही रखती। अपनी पुस्तक के खण्ड IV, *'The Comparison of Monopoly and Competitive Output"* मे उन्होंने एकाधिकार को प्रतिष्ठित अथवा सामान्य रूप से परिभाषित किया अर्थात् एकाधिकार को उद्योग के उत्पादन पर एकल अधिकारी का नियन्त्रण बताया।[3] वास्तव मे वे इस बात से अवगत हैं कि एकाधिकारी की बाद वाली परिभाषा की सगति, उनकी एकाधिकार की तर्कपूर्ण धारणा, जिसकी व्याख्या उन्होंने पहले की है, से नहीं है। परन्तु एकाधिकार की इन दो धारणाओं के प्रयोग के कारण उनका विश्लेषण भ्रमपूर्ण हो गया।

चैम्बरलिन का कहना है कि 'अपूर्ण प्रतियोगिता' शब्द भी, जो कि पूर्णतः नकारात्मक है, इस बात को बताता है कि श्रीमती रॉबिन्सन ने प्रतियोगिता

1. *Ibid*, p. 63

2 Joan Robinson, *The Economics of Imperfect Competition*, p 5

3 *Op. cit* p. 209

तथा एकाधिकार को एक साथ व्यापी नही माना, जैसा कि वास्तविक जगत् की आर्थिक स्थितियो मे होता है। इस प्रकार उन्होने प्रतिष्ठित विचारधारा, जिसमे प्रतियोगिता तथा एकाधिकार परस्पर अनन्य विकल्प हैं, पर कोई सुधार नही किया। चैम्बरलिन का कहना है कि उनका 'एकाधिकारिक प्रतियोगिता' व्यंजक उत्तम है क्योकि यह इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि वास्तविक जगत् की बाजार स्थितियो मे प्रतियोगी तथा एकाधिकारी तत्त्व सम्मिलित रूप से वर्तमान होते हैं। उन्होने कहा : "शुद्ध प्रतियोगिता तथा शुद्ध एकाधिकार की चरम सीमाओ के बीच की स्थितियो को चित्रित करने मे एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अधिक सामान्य विश्लेषण का श्रेय यद्यपि हम दोनो को सम्मिलित रूप से मिलता है परन्तु वास्तव मे यह श्रीमती रॉबिन्सन की 'अपूर्ण प्रतियोगिता' मे नही है।"[1]

2 पदार्थ विभेदीकरण (Product Differentiation)

दो सिद्धान्तो मे एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जबकि चैम्बरलिन के सिद्धान्त की आधारशिला पदार्थ विभेदीकरण है, श्रीमती रॉबिन्सन के अपूर्ण प्रतियोगिता सिद्धान्त मे इसको कोई विशेष स्थान प्राप्त नही है। पदार्थ विभेदीकरण के कारण ही एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे एकाधिकारी तत्त्व वर्तमान होता है। 'अधिकाश आर्थिक स्थितियो मे विभिन्न फर्मे भिन्न-भिन्न पदार्थों का उत्पादन करती हैं जो कि एक दूसरे के निकट स्थानापन्न होते हैं'—यह चैम्बरलिन का महत्त्वपूर्ण योगदान है जिसने व्यष्टिपरक अर्थशास्त्र पर बडा प्रभाव डाला है। दूसरी ओर प्रारम्भ मे रॉबिन्सन ने चैम्बरलिन के सिद्धान्त पर विचार प्रकट करते हुए एक उद्योग मे पदार्थ विभेदीकरण की धारणा को अस्वीकृत कर दिया। यद्यपि जोन रॉबिन्सन ने अपनी पुस्तक '*Economics of Imperfect Competition*' मे अपूर्ण प्रतियोगिता वाले बाजार मे विभिन्न विक्रेताओ के लिये क्रेताओ के अधिमान का वर्णन किया, परन्तु उनकी अपूर्ण प्रतियोगिता मे पदार्थ समानता की मान्यता से पता चलता है कि उन्होने एक विशिष्ट वस्तु मे पाई जाने वाली विभिन्नताओ को महत्वहीन समझा। श्रीमती रॉबिन्सन ने '*Economics of Imperfect Competition*' मे उन विभिन्न कारणो का वर्णन किया जिनसे विभिन्न क्रेता एक उत्पादक की तुलना मे दूसरे उत्पादक की वस्तुओ को पसन्द करते है तथा जो बाजार को अपूर्ण बना देते हैं। इस प्रकार उन्होने बताया कि परिवहन लागतो, विभिन्न उत्पादको के पदार्थों की क्वालिटी मे अन्तर, विभिन्न उत्पादको द्वारा प्रदान की गई सुविधाओ (जैसे कि सेवा की शीघ्रता, बिक्री करने वाले व्यक्तियो का अच्छा व्यवहार, उधार की समय अवधि तथा व्यक्तिगत रुचियो की ओर दिया गया ध्यान), कीमतो मे अन्तर तथा विज्ञापन के प्रभावो के कारण बाजार अपूर्ण हो जाता है। इन सब तत्वो का जिसके कारण एक क्रेता एक उत्पादक की तुलना मे दूसरे उत्पादक की वस्तु को क्यो पसन्द करता है, वर्णन करने के बावजूद उन्होने अपूर्ण प्रतियोगी उद्योग के पदार्थ को लगभग समान माना। किन्तु उन्होने यह माना कि विभिन्न फर्मों के पदार्थों मे विभिन्नता, जिनके कारण क्रेता एक उत्पादक के स्थान पर दूसरे उत्पादक की वस्तु को खरीदते हैं, के कारण वस्तु की स्पष्ट परिभाषा देना कठिन है। परन्तु वह इस विषय को यही छोड देती हैं और अपूर्ण प्रतियोगिता के बाजार की विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित पदार्थ विभेद को अधिक महत्त्व नही देती तथा वह यह मान लेती हैं कि एक अपूर्ण रूप से प्रतियोगी उद्योग पर्याप्त रूप से समान वस्तु का उत्पादन करता है। वस्तुतः उन्होने स्वय को 'वस्तु' की परिभाषा देने तथा उसको पहिचानने में इतना उलझा लिया कि वह 'वस्तु' की कोई उचित परिभाषा नहीं दे पाई। चैम्बरलिन का इस सम्बन्ध में विश्लेषण अधिक श्रेष्ठ है। उन्होने एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे प्रत्येक फर्म के उत्पादन को एक असग वस्तु अथवा पदार्थ माना और एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे विभिन्न फर्मे विभेदीकृत पदार्थों या वस्तुओ का उत्पादन करती हैं जो कि एक दूसरे के निकट

1 Edward H. Chamberlin, *Towards a More General Theory of Value*, p 29

स्थानापन्न होते है। वस्तुओं या पदार्थों में यह भिन्नता जिसको उन्होने पदार्थ विभेदीकरण कहा, प्रो० चैम्बरलिन के सिद्धान्त का आधार है।

3. गैर-कीमत प्रतियोगिता : पदार्थ परिवर्तन तथा विक्रय लागतें (Non-Price Competition, Product Variation and Selling Costs)

इन दो सिद्धातो मे एक अन्य अन्तर यह है कि जबकि चैम्बरलिन के एकाधिकारिक प्रतियोगिता के सिद्धान्त में गैर-कीमत प्रतियोगिता की दो महत्त्वपूर्ण विधियाँ, पदार्थ परिवर्तन तथा विक्रय लागतें, उनके सिद्धान्त मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, रॉबिन्सन के सिद्धान्त मे इनका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नही है। यह बताना आवश्यक है कि श्रीमती रॉबिन्सन ने अपने अपूर्ण प्रतियोगिता सिद्धान्त मे यह स्वीकार किया कि प्रतिद्वन्द्वी उत्पादक कीमत में परिवर्तन करने के अतिरिक्त, पदार्थ की किस्म, विज्ञापन आदि के माध्यम से भी प्रतियोगिता करते हैं। परन्तु उन्होने इनको अपने सैद्धान्तिक विश्लेषण मे सम्मिलित नहीं किया क्योकि उन्होंने ऐसा करना कठिन समझा। इस प्रकार वह अपनी पुस्तक के पृष्ठ 90 के फुटनोट मे लिखती हैं "कीमत मे परिवर्तन करने के अतिरिक्त प्रतियोगिता की अन्य विधियाँ जैसे क्रेताओ को सुविधाएँ प्रदान करना, वस्तु की किस्म मे सुधार करना, विज्ञापन, या कोई भी अन्य विधि सैद्धान्तिक विश्लेषण की दृष्टि से कठिन है।"[1] इस प्रकार वे केवल कीमत प्रतियोगिता को ही ध्यान मे रखती हैं। एक माँग वक्र केवल कीमत प्रतियोगिता पर ही ध्यान देता है और नीचे गिरता माँग वक्र व इसके साथ ही नीचे को गिरते हुए एक अलग सीमान्त आय वक्र का उनके सिद्धान्त में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वास्तव मे, जोन रॉबिन्सन ने अपूर्ण प्रतियोगिता की परिभाषा माँग वक्र द्वारा की, अर्थात् अपूर्ण प्रतियोगिता का अस्तित्व तब माना जाता है जबकि व्यक्तिगत फर्म का माँग वक्र नीचे को गिरता हुआ अथवा पूर्ण तथा लोचदार से कम होता है। अपनी अपूर्ण प्रतियोगिता में नीचे को गिरते माँग वक्र को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण उन्होंने अपने सैद्धान्तिक ढाचे मे केवल कीमत प्रतियोगिता (Price Competition) को सम्मिलित किया। अतएव श्रीमती रॉबिन्सन ने फर्म के सन्तुलन की व्याख्या पदार्थ परिवर्तन, विज्ञापन व्यय अथवा विक्रय लागतो के संदर्भ मे नही की।

दूसरी ओर, चैम्बरलिन का महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने अपने सिद्धान्त म उत्पादन विभिन्नता तथा विक्रय लागतो को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। तदनुसार वे फर्म का सन्तुलन तीन चरो—कीमत, पदार्थ तथा विक्रय लगतो—के संदर्भ मे करते हैं। वास्तव मे उनके विचारो मे जब प्रतियोगिता अपूर्ण होती है तो प्रतिद्वन्द्वी उत्पादक कीमतो मे परिवर्तन के स्थान पर पदार्थों मे परिवर्तन तथा विक्रय लागतो मे परिवर्तन द्वारा आपस मे प्रतियोगिता करते हैं। पदार्थ-परिवर्तन तथा विक्रय लागतो पर अधिक बल देना चैम्बरलिन का महत्त्वपूर्ण योगदान है जो उन्होंने कीमत सिद्धान्त मे किया। अपने सिद्धान्त द्वारा उन्होने कीमत सिद्धान्त मे महत्त्वपूर्ण सुधार किया और इसको वास्तविक जगत के अधिक निकट लाये।

अपने सैद्धान्तिक ढाचे मे केवल कीमत प्रतियोगिता पर बल देकर श्रीमती रॉबिन्सन अपने से पूर्व सिद्धान्त पर विशेष सुधार नही कर पाई। उन्होने फर्म के संतुलन के अपने वर्णन मे विक्रय लागतो तथा विज्ञापन व्ययो की अवहेलना की क्योंकि इनके कारण पदार्थ के माँग वक्र मे जटिलताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त, उन्होंने बताया कि उद्यमकर्ता के दृष्टिकोण से विज्ञापन व्यय कीमत मे कमी करने के समान है और इसलिए उन्होंने अपने सैद्धान्तिक विश्लेषण मे विक्रय लागतो को सम्मिलित करना आवश्यक नहीं समझा और इसलिए विक्रय लागतो को एक भिन्न चर नहीं माना। इस प्रकार उन्होंने अपनी पुस्तक मे कहा विज्ञापन के कारण व्यक्तिगत माँग वक्र की समस्या में जटिलताएँ आ जाती हैं, परन्तु उनकी उपेक्षा कर दी गई है। यह मान लिया गया है कि फर्म की बिक्री को बढ़ाने के लिये किया गया विज्ञापन व्यय एक उद्यमकर्ता के

1. *Op cit* p 90.

दृष्टिकोण से कीमत मे कमी करने के समान है क्योकि इसके बिक्री पर समान प्रभाव होते हैं।"[1]

इसके अतिरिक्त श्रीमती रॉबिन्सन फर्मो द्वारा किये गये पदार्थ परिवर्तन पर भी अधिक ध्यान नही दे पाईं क्योकि जैसा कि ऊपर कहा गया, उन्होने *पर्याप्त रूप से समान पदार्थ की अपूर्ण प्रतियोगिता की* कल्पना की। अत यह स्पष्ट है कि चैम्बरलिन द्वारा पदार्थ परिवर्तन तथा विक्रय लागतो पर महत्व तथा इनका, जिनमे कि परिवर्तन करके फर्म सन्तुलन स्थिति को प्राप्त करती है, भिन्न चरो के रूप मे विश्लेषण करना, रॉबिन्सन के विश्लेषण पर एक सुधार है। यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि श्री चैम्बरलिन की एकाधिकारिक प्रतियोगिता की धारणा को माँग वक्र या माँग लोच के शब्दो मे परिभाषित नही किया जा सकता क्योकि ऐसा करने से यह धारणा, अपूर्ण प्रति-योगिता के समान, कीमत के चर तक ही सीमित हो जाती है।

4 अल्पाधिकार (*Oligopoly*)

दोनो अर्थशास्त्रियो मे अन्य आधारभूत अन्तर यह है कि जबकि श्रीमती रॉबिन्सन ने अल्पाधिकार मे, जो कि अपूर्ण प्रतियोगिता का एक महत्वपूर्ण रूप है, *कीमत निर्धारण की समस्या का कोई समाधान* प्रस्तुत नही किया, चैम्बरलिन ने अल्पाधिकार का विस्तार से विवेचन किया और इसमे कीमत-उत्पादन निर्धारण का समाधान प्रस्तुत किया। अपनी अपूर्ण प्रतियोगिता की व्याख्या मे से अपल्पाधिकार के वर्णन को निकाल देने का कारण रॉबिन्सन का मूल्य-निर्धारण की व्याख्या मे माँग वक्र को अनुचित रूप से महत्ता प्रदान करना है।

अल्पाधिकारी समस्या माँग वक्र की परिभाषा तथा उसका विश्लेषण करने मे कुछ कठिनाइयाँ प्रस्तुत करती है और इसलिए श्रीमती रॉबिन्सन ने इसकी अवहेलना कर दी जैसा कि उन्होने स्वय बाद के एक लेख मे स्वीकार किया और कहा "*Economics of Imperfect Competition*' मे अल्पाधिकार की अव-हेलना करने का कारण यह नही है कि मैने इसको *व्यर्थ समझा बलिक यह है कि मै इसका समाधान नही* कर सकी। मैने इसको *माँग वक्र की परिभाषा द्वारा बाहर निकालने का प्रयत्न किया परन्तु दुर्भाग्यवश* वह बेकार रहा।" वास्तव मे, जैसा कि चैम्बरलिन ने बताया है, अपूर्ण प्रतियोगिता को पूर्ण मूल्यसापेक्ष से कम माँग के रूप मे परिभाषित करने, जैसा कि श्रीमती रॉबिन्सन ने किया के कारण इसमे अल्पाधिकार की *कुछ सीमित किस्मो से अधिक को तर्कपूर्ण ढग से सम्मिलित नही किया जा सकता*। अपनी पूर्ण तथा अपूर्ण प्रतियोगिताओ की परिभाषा को समरूप बनाने के लिए श्रीमती रॉबिन्सन ने अल्पाधिकारी समस्या की अभिव्यक्ति माग की मूल्यसापेक्षता द्वारा की। कुछ दी हुई मान्यताओ म अल्पाधिकार मे माँग वक्र *पूर्ण रूप से लोचदार होता है, जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत होता है जबकि अन्य मान्यताओ के* अन्तगत अल्पाधिकार मे माँग वक्र काफी बेलोचदार हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, जैसा कि चैम्बरलिन ने ठीक ही कहा है अल्पाधिकारी समस्या के विभिन्न पक्षों के लिए माँग वक्रो को विभिन्न प्रकार की परि भाषाओ की आवश्यकता है और *कुछ एक मान्यताओ मे तो माँग वक्र को खीचा ही नही जा सकता* मेरी अपनी परिभाषा माँग की लोच अथवा मूल्य-सापेक्षता द्वारा नही की गई है, और विशेषत अपनी प्रकृति के कारण अल्पाधिकारिक समस्या को मूल्य-सापेक्षता के शब्दो मे परिभाषित नही किया जा सकता।"[2]

श्रीमती राबिन्सन द्वारा अपनी पुस्तक '*Economics of Imperfect Competition*" मे अल्पा-धिकारी समस्या का वर्णन न करना उनकी एक गम्भीर भूल है क्योकि वास्तविक जगत मे अल्पा-धिकार अधिक प्रचलित है। चैम्बरलिन ने अपनी पुस्तक के एक बडे भाग मे अल्पाधिकारी समस्या का वर्णन करके वास्तविक *जगत मे व्यापारी फर्मों* के व्यवहार का अध्ययन करने मे अल्पाधिकारी समस्या के महत्त्व के प्रति जागरूकता को प्रदर्शित किया।

1 *Op cit* p 21.

2 E H Chamberlin, *Towards a More General Theory of Value*

यद्यपि अल्पाधिकारी समस्या अभी भी एक ऐसा प्रश्न है जिसका सर्वमान्य समाधान प्रस्तुत नही किया जा सका है, परन्तु चैम्बरलिन का विश्लेषण अल्पाधिकारी समस्या के पूर्व विश्लेषणो पर एक सुधार है और इसके विभिन्न पहलुओ पर मूल्यवान प्रकाश डालता है। चैम्बरलिन के विश्लेषण से अर्थशास्त्री अल्पाधिकारी समस्या को अधिक अच्छी प्रकार से समझने लगे हैं। विशेषत चैम्बरलिन द्वारा अल्पाधिकारी समस्या की व्याख्या मे पदार्थ के विभेदीकरण को सम्मिलित करके तथा अल्पाधिकारी फर्मों मे परस्पर निर्भरता स्वीकार (Mutual Dependence Recognized) करके ऐसा मॉडल अथवा सिद्धान्त प्रस्तुत किया जो अल्पाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण के प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के विश्लेषण पर महत्वपूर्ण सुधार था।

5 कल्याणवादी आदर्श (Welfare Ideal)

दोनो अर्थशास्त्रियो मे एक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जबकि श्रीमती रॉबिन्सन ने पूर्ण अथवा शुद्ध प्रतियोगिता को आर्थिक कल्याण के दृष्टिकोण से "आदर्श" माना, श्री चैम्बरलिन ने इसको अपनी स्वीकृति नही दी। अत श्री चैम्बरलिन ने कहा "यह स्पष्ट स्वीकृति कि पदार्थ विभेदीकृत होता है, विविधता (variety) की समस्या को खुले मे लाता है और इस बात को स्पष्ट करता है कि कल्याणकारी अर्थशास्त्र के लिये पूर्ण प्रतियोगिता को आदर्श मानना उचित नही है।"[1] पूर्ण प्रतियोगिता "कल्याणकारी आदर्श" का प्रतिनिधित्व केवल निम्न मान्यताओ मे कर सकती है (a) पदार्थ समान हैं, तथा (b) समान पदार्थों की माँग करते हैं क्योकि विविधता के लिये उनकी माँग महत्वहीन, विवेकहीन होती है और इसकी अवहेलना की जा सकती है। श्रीमती रॉबिन्सन के विश्लेषण म ये दोनो मान्यताए हैं, उनके विश्लेषण मे पहली तो स्पष्ट है और दूसरी निहित। चैम्बरलिन ने स्पष्ट किया कि वास्तविक जगत म पदार्थ पूर्ण रूप से समान नहीं होते और व्यक्तियों की विविधताओ के प्रति इच्छा व माँग महत्वपूर्ण हैं और इसलिये इस पर ध्यान दिया जाना चाहिये और इसके पूरे होने को कल्याण मे वृद्धि मानना चाहिये।

चैम्बरलिन के अनुसार यदि पूर्ण प्रतियोगिता को कल्याणकारी आदर्श मान भी लिया जाय तो भी इसकी प्राप्ति सरल नही होगी क्योकि पदार्थों मे पूर्ण समानता कभी भी नही होती। जैसा कि चैम्बरलिन ने कहा "उदाहरण के लिये फुटकर बिक्री की सब दूकानें एक ही स्थान पर केन्द्रित नही होती और अभिनेताओ गायको, व्यावसायिक व्यक्तियो तथा व्यापारियों के व्यक्तिगत अन्तरो को समाप्त नही किया जा सकता।"[2] उन्होने आगे कहा कि पदार्थों की पूर्ण समानता या प्रमाणीकरण को यदि प्राप्त भी कर लिया जाय तो भी कल्याणकारी दृष्टिकोण से पदार्थों का प्रमाणीकरण एक सीमा तक ही श्रेष्ठ कहा जा सकता है। क्रेताओ की अभिरुचियो, इच्छाओ, आयो तथा स्थानो मे अन्तरो तथा वस्तु के उपयोगो जिनमे उपभोक्ता उन्हें प्रयोग करना चाहते हैं, मे अन्तरो के कारण विविधता की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है।[3]

चैम्बरलिन के अनुसार विविधता की आवश्यकता के कारण यह अनिवार्य हो जाता है कि 'प्रतियोगी आदर्श' (Competitive ideal) के स्थान पर ऐसा आदर्श विकसित किया जाए जिसमे दोनो एकाधिकार तथा प्रतियोगिता के तत्व सम्मिलित हो। इस प्रकार, पदार्थ विभेदीकरण तथा वास्तविक बाजारों मे एकाधिकारी और प्रतियोगी तत्वों के मिश्रण के कारण प्रासगिक प्रश्न यह है कि किस प्रकार का और कितना एकाधिकार तथा सामाजिक नियत्रण की कितनी मात्रा "कल्याणवादी आदर्श" (Welfare Ideal) की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। इसके अतिरिक्त, परम्परागत कल्याणकारी सिद्धान्त द्वारा विचार किये गये अधिकतम कल्याण की प्राप्ति के लिये कीमत तथा उत्पादन का आदर्श तथा अनुकूलतम निर्धारण के अतिरिक्त विक्रय व्ययो तथा पदार्थों की आदर्श विविधता को भी अनुकूलतम कल्याण के लिये स्पष्ट रूप से स्वीकार

1 E H Chamberlin, *Op cit* p 214

2 *Ibid*, p 214

3 *Ibid*, p 214

करना चाहिये। किन्तु चूंकि अपने अपूर्ण प्रतियोगिता के विश्लेषण में श्रीमती रॉबिन्सन ने पदार्थ विविधता तथा विक्रय व्ययों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, इसलिये उनके अनुकूलतम कल्याण में इन दोनों तत्वों के आदर्श रूप से निर्धारण का कोई महत्त्व नहीं है। उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि कल्याणकारी आदर्श के श्री चैम्बरलिन तथा श्रीमती रॉबिन्सन के वर्णनों में महत्त्वपूर्ण अन्तर है।

6 श्रम का शोषण (Exploitation of Labour)

दोनों सिद्धान्तों में अन्तिम महत्त्वपूर्ण अन्तर श्रम के शोषण की धारणा से सम्बन्धित है। श्रीमती रॉबिन्सन ने "शोषण" का अर्थ उस स्थिति से लिया जिसमें श्रम को मजदूरी उसके सीमान्त भौतिक उत्पादन (विक्रय कीमत पर मूल्यांकित करके) से कम दी जाती है। अन्य शब्दों में, श्रीमती रॉबिन्सन के अनुसार, श्रम का शोषण उस समय होता है जबकि उसको सीमान्त उत्पादन से कम मूल्य (less than the value of its marginal product) की मजदूरी दी जाती है। उन्होंने सिद्ध किया कि पदार्थ-बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता होने पर, श्रम को, अनिवार्यत अपने सीमान्त उत्पादन के मूल्य (VMP) से कम पारिश्रमिक मिलता है क्योंकि यह सीमान्त उत्पादन तथा सीमान्त आय के गुणनफल (marginal product multiplied by marginal revenue i e MRP) के अनुसार दिया जाता है जो कि सीमान्त भौतिक उत्पादन तथा कीमत के गुणनफल (marginal product multiplied by price or VMP) से कम होता है। वास्तविक जगत में चूंकि अपूर्ण प्रतियोगिता होती है, इसलिए उद्यमकर्ता सामान्यत श्रम का शोषण करता है। उद्यमकर्ता को, श्रीमती रॉबिन्सन के अनुसार, अपने सीमान्त उत्पादन के मूल्य से अधिक आय (अर्थात्, सीमान्त भौतिक उत्पादन तथा कीमत के गुणनफल से अधिक आय) प्राप्ति होती है और इस प्रकार वह शोषक है।

किन्तु चैम्बरलिन के अनुसार अपूर्ण या एकाधिकारी स्थितियों में सीमान्त उत्पादन के मूल्य से कम मजदूरी देना शोषण नहीं है और इसलिए शोषक तथा शोषित का प्रश्न ही नहीं उठता। चैम्बरलिन के अनुसार प्रतियोगिता में केवल श्रम को ही नहीं बल्कि सब साधनों को ही उनके सीमान्त भौतिक उत्पादनों के मूल्यों से कम पारिश्रमिक मिलता है। ऐसा इस कारण है कि जो कुछ श्रम पर लागू होता है वह समान रूप से सब साधनों पर भी लागू होता है। श्री चैम्बरलिन का तर्क यह है कि यदि एकाधिकारिक प्रतियोगिता में सब साधनों को जो पारिश्रमिक मिलता है वह उनके सीमान्त भौतिक उत्पादनों के मूल्य के बराबर हो, तो सब साधनों की कुल आय फर्म की कुल आय से अधिक होगी। इस दशा में यह कैसे सम्भव है कि फर्म साधनों को उनके सीमान्त भौतिक उत्पादन के मूल्य के बराबर पारिश्रमिक प्रदान करे। चैम्बरलिन के अनुसार यदि कुछ साधनों को जो पारिश्रमिक मिलता है वह उनके सीमान्त भौतिक उत्पादन के मूल्य से कम है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कुछ अन्य साधन अपने सीमान्त भौतिक उत्पादन के मूल्य से अधिक प्राप्त करेंगे। वास्तव में एकाधिकारिक प्रतियोगिता में समस्त साधनों (उद्यमकर्ता सहित) के पारिश्रमिक एक भिन्न सिद्धान्त द्वारा निर्धारित होते हैं, मुख्यत सीमान्त आय उत्पादन (MRP) द्वारा (जो कि सीमान्त उत्पादन के मूल्य (VMP) से कम होता है)। इस प्रकार किसी का शोषण नहीं होता है।

दूसरी ओर, श्रीमती रॉबिन्सन का मत है कि उद्यमकर्ता के अतिरिक्त अन्य सभी साधनों को जो पारिश्रमिक मिलता है वह सीमान्त आय उत्पादन (MRP) के बराबर होता है (अर्थात् सीमान्त उत्पादन के मूल्य (VMP) से कम)। उनके सिद्धान्त में उद्यमकर्ता को ही उसके सीमान्त उत्पादन के मूल्य से अधिक पारिश्रमिक मिलता है और इस कारण वह शोषक है। श्रीमती रॉबिन्सन का उद्यमकर्ता द्वारा श्रम का शोषण इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक फर्म के लिए उद्यमकर्ता एक अविभाज्य साधन है। उद्यमकर्ता चूंकि एक फर्म में एक एव अविभाज्य होता है, इसलिये, श्रीमती रॉबिन्सन के अनुसार, "फर्म के लिए उद्यमकर्ता के सीमान्त उत्पादन का कोई अर्थ नहीं है।" इसलिए, वह 'उद्योग' के लिए

उद्यमकर्त्ता के सीमान्त उत्पादन का वर्णन करती है और उद्यमकर्त्ता के सीमात उत्पादन का पता लगाने के लिए फर्म की सख्याओं में परिवर्तन करना होता है। अपूर्ण प्रतियोगिता में उद्यमकर्त्ता को उद्योग की दृष्टि से सीमात उत्पादन से अधिक आय प्राप्त होती है क्योंकि यदि एक फर्म में से उद्यमकर्त्ता को निकाल लिया जाय और उस फर्म में लगे अन्य साधनों को उस उद्योग की अन्य फर्मों में वितरित कर दिया जाय जिससे कि उस उद्योग में फर्मों की सख्या में एक की कमी हो जाय तब प्रत्येक शेष फर्म में उत्पादन में वृद्धि से होने वाली मितव्ययताओं के कारण फर्मों या उद्यमकर्त्ताओं की मात्रा में एक की कमी होने से जो हानि हुई है उसकी कुछ सीमा तक क्षतिपूर्ति हो जाएगी और इस प्रकार उत्पादन में हानि कम होगी।

चैम्बरलिन ने इस तर्क को चुनौती दी है। चैम्बरलिन का कहना है कि उपर्युक्त तर्क "केवल उद्यमकर्त्ता पर ही लागू नही होता बल्कि समान शक्ति के साथ अन्य साधनों पर भी लागू होता है। किसी भी साधन के सम्बन्ध में यह सिद्ध किया जा सकता है कि उसको उद्योग के लिए उसके सीमान्त उत्पादन के मूल्य से अधिक आय प्राप्त हो रही है। साथ ही यह भी दिखाया जा सकता है कि यदि इसकी एक छोटी-सी मात्रा को हटा दिया जाय और उद्योग के शेष साधनों (उद्यम सम्बन्धी योग्यता सहित) को, फर्मों की सख्या में कमी करके तथा पदार्थ में प्रमाणीकरण की मात्रा को बढाकर अधिक दक्षता अथवा कुशलता के आधार पर पुन सगठित कर दिया जाय तो उत्पादन में उस हानि को दूर किया जा सकता है जो इस छोटी-सी *मात्रा को हटा देने से होती है।"* उद्यमकर्त्ता के सम्बन्ध में उनका कहना है, "यह तर्क सत्य नही रहता यदि हम इस मान्यता को छोड दें कि परिवर्ती (*varying*) उद्यमकर्त्ता *तथा* परिवर्ती फर्में एक ही समान है, और स्वीकार कर लें कि आधुनिक आर्थिक समाज में उद्यम (entrepreneurship) भी अत्यधिक विभाज्य है और अन्य किसी भी साधन के समान इसका भी पुनर्वितरण हो सकता है। यदि उद्यम को विभाज्य मान लिया जाय तो कोई भी 'शोषण' का भार उठाने के लिए नही बचेगा। वास्तव में शोषक की खोज दुर्निर्देशित प्रयत्नों के समान लगती है जो कि शोषण के प्रतियोगी मानदण्ड को उस क्षेत्र में लागू करती है जहाँ एकाधिकार की उपस्थिति के कारण यह व्यर्थ सिद्ध हो गया है।"[1]

1. *Ibid*, pp 217-18

परस्पर-निर्भरता (Interdependence)– अल्पाधिकार की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उद्योग की कुछ फर्मों द्वारा निर्णय करने मे पारस्परिक निर्भरता है। इसका कारण यह है कि जब प्रतियोगियो की सख्या कम होती है तो एक फर्म द्वारा किये गये कीमत, उत्पादन, पदार्थ आदि सम्बन्धी परिवर्तनो का प्रत्यक्ष प्रभाव प्रतिद्वन्द्वियो के लाभो पर पडता है, जो प्रतिक्रियास्वरूप अपनी कीमतो उत्पादन तथा पदार्थों मे जैसी भी आवश्यकता हो परिवर्तन करते हैं। इस प्रकार एक अल्पाधिकारी उद्योग मे जब कोई फर्म कीमत मे कमी करती है, अपने पदार्थ का नया मॉडल प्रस्तुत करती है अथवा विज्ञापन कार्यक्रम तेजी से प्रारम्भ करती है तो निश्चय ही इसकी प्रतिद्वन्द्वी फर्म भी बदले मे इसी प्रकार की क्रियाएँ करती है। अत इस स्थिति मे एक उत्पादक को यह स्वीकार करना होता है कि कीमत, उत्पादन तथा विज्ञापन आदि के सम्बन्ध मे उसके प्रतिद्वन्द्वी के निर्णय, इन चरो (variables) के सम्बन्ध मे, उसके व्यवहार पर निर्भर होते हैं। एक अल्पाधिकारी फर्म द्वारा निर्णय लेते समय यह ध्यान रखना होता है कि उसके निर्णयो के प्रतिक्रियास्वरूप उसके प्रतिद्वन्द्वी की प्रतिक्रियाएँ किस प्रकार की होगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अल्पाधिकारी फर्म को केवल समस्त उद्योग के पदार्थ की बाजार माग को ही ध्यान मे नही रखना होता बल्कि इसको यह भी ध्यान मे रखना होता है कि उसकी क्रियाओ या निर्णयों पर उद्योग की अन्य फर्मों की प्रतिक्रियाएँ क्या होगी ? चूँकि अन्य फर्मों की सम्भावित प्रतिक्रियाएँ एक से अधिक प्रकार की हो सकती हैं, इसलिए अल्पाधिकार मे कीमत तथा निर्धारण का निश्चित एव निर्दिष्ट समाधान प्रस्तुत करने के लिये पहले हमको अन्य फर्मों की प्रतिक्रियाओ के बारे मे कुछ मान्यताए निर्धारित करनी होती है।

विज्ञापन तथा विक्रय लागतो का महत्त्व (Importance of Advertising and Selling Costs)—अल्पाधिकारियो की परस्पर-निर्भरता का एक प्रत्यक्ष प्रभाव यह है कि विभिन्न फर्मों को बाजार मे अपना हिस्सा बढ़ाने या वर्तमान हिस्से म कमी न होने देने के लिए आक्रामक व बचाव के बाजार-शस्त्रों (Market weapons) का प्रयोग करना होता है। इसके लिये विभिन्न फर्मों को विज्ञापन तथा बिक्री प्रोत्साहन के अन्य तरीको के लिए काफी विक्रय लागत (Selling Costs) करनी पडती है। प्रो० बॉमोल ने ठीक ही कहा है "अल्पाधिकार मे ही विज्ञापन बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाता है (it is only under oligopoly that advertising comes fully into its own")[1] पूर्ण प्रतियोगिता मे एक व्यक्तिगत फर्म द्वारा विज्ञापन व्यर्थ है क्योकि दी हुई कीमत पर वह वस्तु की जितनी मात्रा चाहे बेच सकती है। एकाधिकारी को भी प्रतियोगी विज्ञापन की आवश्यकता नही है क्योकि वह पदार्थ का एकमात्र विक्रेता होता है। सम्भव है एकाधिकारी को उस समय विज्ञापन की आवश्यकता पडे जबकि वह अपने पदार्थ के नये मॉडल के बारे मे जनता को अवगत कराना चाहता है अथवा वह उन सम्भावी उपभोक्ताओ को आकर्षित करना चाहता है जो अब तक उसके पदार्थ का उपभोग नही कर रहे है। एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे वस्तु विभेदीकरण के कारण विज्ञापन का महत्वपूर्ण स्थान है, परन्तु फिर भी इतना नही जितना अल्पाधिकार मे। **"अल्पाधिकार मे विज्ञापन जीवन-मृत्यु का प्रश्न बन जाता है क्योंकि जो फर्म अपने प्रतियोगियो के समान विज्ञापन नहीं कर सकती उसके उपभोक्ता प्रतियोगी उत्पादको के पास जाने लगते हैं।"**[2]

इस बात को ध्यान मे रखते हुए कि अल्पाधिकारी उद्योग मे एक फर्म विज्ञापन लागत, पदार्थ की क्वालिटी, कीमतो, उत्पादन आदि म परिवर्तन करके प्रतियोगिता करती है, इसमे प्रतियोगी दशाओ की उपस्थिति को अस्वीकृत नही किया जा सकता। एक अल्पाधिकारी स्थिति मे जो प्रतियोगिता होती है वह पूर्ण प्रतियोगिता के समान शान्तिपूर्ण स्थिति के समान नही होती जिसम कोई युद्ध इसीलिये नही होता क्योकि कोई भी इतना शक्तिशाली नही है कि शान्ति भग कर सके। इसके विपरीत, अल्पाधिकारी के लिये वास्तविक

1. William J Baumol, *Economic Theory and Operations Analysis*, p 223

2 *Ibid*, p 223

प्रतियोगिता का सामना करना है अर्थात् जीवन में निरन्तर संघर्ष प्रतियोगी के विरुद्ध प्रतियोगी। इस प्रकार की प्रतियोगिता केवल अल्पाधिकार में ही होती है (Competition can consist not only in the quiescent stalemate of perfect competition where there is no battle because there is never anyone strong enough to disturb the peace Rather to him true competition consists of the life of constant struggle, rival against rival, which one can only find under oligopoly (or on a smaller scale, under conditions of monopolistic competition)"।[1]

समूह व्यवहार (Group Behaviour)—पूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकार तथा एकाधिकारिक प्रतियोगिता (फर्मों की अधिक संख्या के साथ) के सिद्धान्तों में मानव व्यवहार से सम्बन्धित उपयुक्त मान्यताएँ निर्धारित करने में कोई कठिनाई नहीं आती। पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकारिक प्रतियोगिता (फर्मों की अधिक संख्या की स्थिति में) में अर्थशास्त्री यह मान लेते हैं कि व्यापारिक फर्में इस प्रकार से व्यवहार करती हैं कि उनके लाभ अधिकतम हों। अधिकतम लाभ की मान्यता इन स्थितियों में, जहाँ विशाल संख्या में व्यक्ति (उत्पादक तथा उपभोक्ता) होते हैं और फर्मों में कोई पारस्परिक निर्भरता नहीं होती, सामान्य रूप से अच्छे परिणाम प्रदान करती है। दूसरी ओर, एकाधिकारी सिद्धान्त केवल एक व्यक्ति का वर्णन करता है और यह मान्यता करना भी अनुचित न होगा कि वह अपने लाभ अधिकतम करना चाहता है।

परन्तु अल्पाधिकारी सिद्धान्त व्यक्तियों की विशाल संख्या अथवा व्यक्तिगत व्यवहार का नहीं बल्कि समूह व्यवहार (Group Behaviour) का सिद्धान्त है और अल्पाधिकारी के सम्बन्ध में लाभ अधिकतम करने की मान्यता बहुत उचित नहीं है। एक समूह में थोड़ी फर्में होती हैं जो कि बहुत अधिक परस्पर निर्भर होती हैं। आर्थिक व सामाजिक विज्ञान की वर्तमान स्थिति को ध्यान में रखते हुए समूह व्यवहार का सामान्य रूप से स्वीकृत कोई सिद्धान्त नहीं है। क्या एक समूह के विभिन्न सदस्य सामान्य हितों को प्राप्त करने के लिए परस्पर सहयोग करते हैं अथवा अपने व्यक्तिगत हितों की प्राप्तियों के लिए आपस में संघर्ष करते हैं? क्या समूह का कोई नेता है? यदि है, तो वह अन्य को अपनी आज्ञा-पालन के लिए किस प्रकार तैयार करता है? ये कुछ प्रश्न हैं जिनका उत्तर समूह-व्यवहार के सिद्धान्त द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

अल्पाधिकारी के मांग वक्र की अनिश्चितता (Indeterminateness of Deman l Curve facing an oligopolist)—अन्य मुख्य विशेषता यह है कि अल्पाधिकारी जिस मांग वक्र का सामना करता है वह अनिश्चित होता है। मांग वक्र यह बताता है कि विभिन्न कीमतों पर एक फर्म अपनी वस्तु की कितनी कितनी मात्राएँ बेच सकती है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में एक व्यक्तिगत फर्म का मांग वक्र निश्चित तथा दिया हुआ होता है। पूर्ण प्रतियोगिता में एक प्रतियोगी फर्म समान पदार्थ का उत्पादन करने वाली बहुत अधिक फर्मों में से एक होती है, और यह अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा पदार्थ की कीमत को प्रभावित नहीं कर सकती। इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता में एक फर्म जिस मांग वक्र का सामना करती है वह दिये हुए कीमत स्तर पर पूर्णतया लोचदार होता है। दूसरी ओर, एक एकाधिकारी जिस पदार्थ का उत्पादन करता है उसके स्थानापन्न लगभग नहीं के बराबर होते हैं। इसलिए, एकाधिकारी इस बात की उपेक्षा कर सकता है कि उसके कीमत परिवर्तनों के क्या प्रभाव उसके दूर के प्रतियोगी पर पड़ेंगे और इसलिये एकाधिकारी के लिये भी मांग वक्र दिया हुआ तथा निश्चित होता है जो कि उसके पदार्थ के लिये उपभोक्ताओं की मांग पर निर्भर करता है। एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशा में, जहाँ पर बड़ी संख्या में फर्में होती हैं, और जिन पदार्थों का वे उत्पादन करती हैं, वे एक दूसरे के निकट स्थानापन्न होते हैं। किन्तु एकाधिकारिक प्रतियोगिता में फर्मों की संख्या बहुत अधिक होने के कारण एक व्यक्तिगत फर्म द्वारा किये गये कीमत परिवर्तनों के प्रभाव उसके प्रति-

1 *Ibid*, p 223

योगियो पर नाम मात्र के होगे। इस प्रकार एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे हम सरलता से यह मान्यता निर्धारित कर सकते हैं कि जब कोई एक फर्म अपने पदार्थ की कीमत मे परिवर्तन करती है तो उसके प्रतियोगियों की कीमत म कोई परिवर्तन नही होता। इस प्रकार एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे एक फर्म द्वारा माग वक्र को निश्चित तथा दिया हुआ माना जा सकता है जो कि उसके पदार्थ विशेष के उपभोक्ताओं के अधिमान पर निर्भर होगा।

परन्तु फर्मों की परस्पर-निर्भरता के कारण अल्पाधिकार म स्थिति बिल्कुल भिन्न है। अल्पाधिकार मे एक फर्म यह नही मान सकती कि उसके द्वारा कीमत परिवर्तन की स्थिति मे उसके प्रतिद्वन्द्वी अपनी कीमतो मे कोई परिवर्तन नही करेंगे। इसके कारण अल्पाधिकारी के माग वक्र की निश्चितता समाप्त हो जाती है क्योकि यह प्रतिद्वन्द्वियो द्वारा, एक फर्म द्वारा कीमत परिवतन के प्रत्युत्तर मे, कीमत परिवर्तनो के कारण विवर्तित होती रहती है। इसके अतिरिक्त, एक फर्म द्वारा कीमत परिवर्तन की स्थिति मे प्रतिद्वन्द्वियो की प्रतिक्रिया क्या होगी इसको निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता अर्थात् जब एक अल्पाधिकारी फर्म अपनी कीमत मे कमी करती है तो यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि प्रतिद्वन्द्वी अपनी कीमतो मे कमी करेंगे अथवा कीमतो को अपरिवर्तित ही रहने देंगे। यदि वे अपनी कीमतो मे कमी करेंगे, तो यह बताना कठिन होता है कि उनकी कीमतो म कितनी कमी होगी—फर्म की कीमत के बराबर, उससे कम या उससे अधिक। एक फर्म के लिये निश्चित माग वक्र को तभी बनाया जा सकता है जबकि यह निश्चित रूप से पता हो कि प्रतिद्वन्द्वियो की कीमतो मे कोई परिवर्तन नही होगा अथवा यह पता हो कि इस कीमत परिवर्तन के परिणामस्वरूप उनकी कीमतों मे किस प्रकार के परिवर्तन होंगे। परन्तु अल्पाधिकार मे यह निश्चित नही है कि एक फर्म द्वारा कीमत परिवर्तन का निश्चित परिणाम प्रतिद्वन्द्वियों पर क्या पड़ेगा। इसलिये एक अल्पाधिकारी फर्म के माग वक्र को निश्चित रूप मे नहीं बनाया जा सकता।

अल्पाधिकार में कीमत और उत्पादन निर्धारण अल्पाधिकारी अनिश्चितता अथवा अनिर्धार्यता

(Price and Output Determination under Oligopoly Oligopolistic Indeterminacy)

ऊपर हमने अल्पाधिकार की विभिन्न विशेषताओं तथा समस्याओं का वर्णन किया। अब प्रश्न यह है कि अल्पाधिकार मे कीमत व उत्पादन के निर्धारण का विश्लेषण अर्थशास्त्री किस प्रकार से करते हैं। अल्पाधिकार मे फर्मों की परस्पर-निर्भरता तथा प्रतिद्वन्द्वियों के अनिश्चित व्यवहार ढाचे के कारण अल्पाधिकार समस्या का समाधान सरल व निश्चित नही है। इसलिए अल्पाधिकार मे कीमत एव उत्पादन निर्धारण का विश्लेषण करने के लिए विभिन्न मॉडलों का विकास अर्थशास्त्रियो ने किया है जो कि अल्पाधिकारी समूह से व्यवहार तथा फर्म द्वारा कीमत परिवर्तन के कारण प्रतिद्वन्द्वियों के प्रतिक्रिया ढाँचे की बहुत सी विभिन्न मान्यताओं पर आधारित हैं। "प्रतिद्वन्द्वी आपस म मिल-जुल कर अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने का निर्णय कर सकते है, कम से कम वहाँ तक जहाँ तक कानूनन वे ऐसा कर सकते हैं, अथवा दूसरी सीमा यह है कि वे मृत्यु तक एक दूसरे से लड़ते रहे। यदि वे आपस म समझौता भी करते है तो यह कुछ समय तक रह सकता है या शीघ्र ही टूट सकता है। और समझौते भी विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं।[1]"

अल्पाधिकार म चाहे फर्में औपचारिक गठबन्धन न भी करें अथवा अपने म से एक को नेता न चुनें और इसके स्थान पर आपस मे प्रतियोगिता करें तो भी कोई एक सरल, एक, समाधान, नहीं, निकल, सकता, जो, यह बताये कि फर्म अपनी कीमत व उत्पादन का निर्धारण किस प्रकार से करेगी। इसका कारण एक फर्म की प्रतिक्रिया म प्रतिद्वन्द्वियो के व्यवहार ढाँचे की अनिश्चितता है। प्रतिद्वन्द्वियो के प्रतिक्रिया ढाँचे की अनिश्चितता के कारण एक गम्भीर विश्लेषणात्मक समस्या उत्पन्न हो जाती है और अल्पाधिकारी समस्या का निश्चित समाधान नही हो पाता। प्रो० बॉमोल

1 *Ibid*, p 223-224

के अनुसार 'जबकि व्यापारी यह सोचता है कि उसकी क्रियाओं के फलस्वरूप उसके प्रतिद्वन्द्वियों की प्रतिक्रिया क्या होगी तो उसे यह स्वीकार करना होगा कि उसके प्रतिद्वन्द्वी भी इस परस्पर निर्भरता तथ्य को ध्यान में रखते हैं। फर्मों द्वारा एक दूसरे की प्रतिक्रियाओं को पहले से सोचने के कारण अनुमानित प्रविधियों तथा प्रति प्रविधियों की अन्तर्क्रिया का जन्म होगा जो इतनी उलझी हुई होती हैं कि उनका प्रत्यक्ष विश्लेषण नहीं किया जा सकता। (When a businessman wonders about his competitors likely response to some move which he is considering, he must recognise that his competitors, too are likely to take this interdependence phenomenon into account The firms'attem pts to outguess one another are then likely to lead to an interplay of anticipated strategies and counterstrategies which is tangled beyond hope of direct analysis.)।"[1] इस प्रकार अल्पाधिकार में कार्यरत एक फर्म को मिश्रित परिकल्पनाओं की असीमित शृंखला का सोचना होता है जैसे कि यदि मैंने *A* क्रिया की तब वह *B* क्रिया करने की सोच सकता है परन्तु तब वह सोच सकता है कि मैं *C* क्रिया करूँगा, उस दशा में और इस प्रकार के सोचने की कोई सीमा नहीं है।"

कुछ अर्थशास्त्री अल्पाधिकारियों में प्रतियोगिता की तुलना ताश के खेल से करते हैं जिसका परिणाम भी अनिश्चित होता है बशर्ते कि खिलाड़ियों के व्यवहार ढाँचे के बारे में कुछ निश्चित मान्यताएँ निर्धारित न की जाएँ।[2] इसके अतिरिक्त, अन्य बाजार स्थितियों (पूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकार, एकाधिकारिक प्रतियोगिता) में यह मानकर कि फर्म लाभ अधिकतम करना चाहती हैं, कीमत-उत्पादन की समस्या का समाधान किया जाता है। परन्तु बहुत से अर्थशास्त्रियों ने अल्पाधिकारी स्थिति में लाभ को अधिकतम करने की मान्यता को चुनौती दी है। प्रो० रॉथचाईल्ड (Rothchild) के अनुसार अल्पाधिकारी का उद्देश्य तो अपनी सुरक्षा को अधिकतम करना है अर्थात् अधिकतम लाभों के स्थान पर, दीर्घकाल में, उचित मात्रा में स्थाई लाभों को प्राप्त करना (achieving reasonable amount of stable profits over a long period of time)[3] दूसरी ओर, प्रो० बॉमोल का विचार है कि अल्पाधिकारी स्थितियों में फर्मों द्वारा बिक्री को अधिकतम करने का उद्देश्य पूर्णतया उचित होगा।[4] अल्पाधिकारी के वास्तविक उद्देश्य के सम्बन्ध में वाद विवाद के कारण इस में कीमत और उत्पादन के निर्धारण में और भी अधिक अनिश्चितता आ जाती है। अतः उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए, अल्पाधिकारी समस्या का कोई एक निश्चित समाधान नहीं है, बल्कि बहुत से सम्भावित समाधान हैं, और प्रत्येक समाधान भिन्न मान्यताओं पर आधारित है। (There is no single determinate solution of the oligopoly problem but a wide variety of possiple solutions, each depending upon different assumptions)

अर्थशास्त्रियों का अनिश्चितता से क्या अर्थ है? इस पर भी ध्यान देना चाहिये। जब एक समस्या का कोई एक समाधान सम्भव नहीं हो तो सामान्यतः अर्थशास्त्री यह कहते हैं कि इस समस्या का कोई निश्चित समाधान नहीं है। अतः जिसको गणितशास्त्री समाधानों की अनेकता कहते हैं उसको अर्थशास्त्री अनिश्चितता कहते हैं। प्रो० फ्रीट्ज मेकलप (Fritz Machlup) ने अनिश्चितता की व्याख्या निम्न प्रकार से की है 'यदि अर्थशास्त्रियों के सम्मुख

---

1 *Ibid*, p. 224

2 खेल सिद्धान्त (Theory of Games) को अध्याय 32 में देखिये।

3 रॉथचाईल्ड (Rothchild) के सुरक्षा उद्देश्य (security motive) के लिये एक गत अध्याय देखिये।

4 प्रो० बॉमोल के विचारों के लिये भी अध्याय 34 देखिये।

जो प्रश्न है उसका वे पर्याप्त सूचना के अभाव के कारण निश्चित तथा स्पष्ट उत्तर नही दे पाते तो वे अनिश्चितता (indeterminacy) की बात करते हैं। यदि वे समस्या का समाधान करना चाहते हैं, उदाहरण के लिये कुछ दी हुई दशाओं में निश्चित वस्तु की कीमत मे किस प्रकार परिवर्तन होंगे और पाते हैं तो जिन बातो को उन्होने 'दिया हुआ' मान लिया था उनसे दो या अधिक (सम्भवत असीमित) उत्तर मिल सकते हैं तो वे यह कहेंगे कि समस्या का कोई निश्चित समाधान (determinate solution) नही है।"[1]

उपर्युक्त अर्थों मे ही अल्पाधिकारी स्थिति मे कीमत-उत्पादन निर्धारण का निश्चित समाधान नही मिलता। जैसा कि ऊपर बताया गया, अर्थशास्त्रियो ने अल्पाधिकारी समूह के व्यवहार (जैसे, वे आपस मे सहयोग से कार्य करेंगे अथवा एक दूसरे से प्रतियोगिता करेंगे), उनके उद्देश्यो के सम्बन्ध मे जिनको वे प्राप्त करना चाहते हैं (जैसे वे व्यक्तिगत अथवा संयुक्त लाभो को अधिकतम करना चाहते हैं या सुरक्षा या बिक्री को अधिकतम करना चाहते हैं) तथा एक फर्म द्वारा कीमत व उत्पादन मे परिवर्तन से उसकी प्रतियोगी फर्मों के प्रतिक्रिया ढाँचे के सम्बन्ध मे बहुत-सी अनेक मान्यताओ के आधार पर बहुत से मॉडलो का विकास किया है। अर्थशास्त्रियो द्वारा विकसित कुछ प्रख्यात मॉडल निम्न हैं ·

(1) कूर्नो (Cournot), बरट्रेन्ड (Bertrand) तथा एजवर्थ (Edgeworth) द्वारा प्रतिपादित प्रतिष्ठित अल्पाधिकारी मॉडल।

(2) कीमत नेतृत्व (Price Leadership) मॉडल

(3) कपट सन्धायी (Collusive) अल्पाधिकारी मॉडल।

(4) विकुंचन (Kinked) माँग अल्पाधिकारी मॉडल जिसका प्रतिपादन पी० एम० स्वीजी (P M Sweezy) ने किया।

(5) खेल सिद्धान्त का अल्पाधिकार मे प्रयोग।

प्रस्तुत अध्याय मे हम कीमत-नेतृत्व तथा कपट सन्धायी अल्पाधिकारी मॉडलो की व्याख्या करेंगे और अन्य मॉडलो का वर्णन आगामी कुछ अध्यायो मे किया जायेगा।

कीमत नेतृत्व
(Price Leadership)

अल्पाधिकारी बाजारो मे स्वतन्त्र रूप से कीमत निर्धारण करना बहुत दुर्लभ है। किसी विशिष्ट उद्योगो मे अल्पाधिकारियो मे किसी-न किसी प्रकार का पारस्परिक समझौता होता है। अल्पाधिकारियो में यह पारस्परिक समझौता औपचारिक अथवा अनौपचारिक हो सकता है। एक औपचारिक समझौता वह होता है जिसमे अल्पाधिकारी आपस मे विचार-विमर्श करके अपनी कीमत या उत्पादन के सम्बन्ध मे कार्य करने के कुछ सामान्य नियम निर्धारित कर लेते है। इसके अन्तर्गत वे लिखित समझौते भी कर सकते है जिनमे उन दण्डो का भी उल्लेख हो सकता है जो समझौता तोडने पर मिलेंगे। अल्पाधिकारियो मे औपचारिक समझौते की स्थिति मे कीमत-उत्पादन निर्धारण का अध्ययन "कपट सन्धायी अल्पाधिकार" (Collusive Oligopoly) के अन्तर्गत किया जायेगा।

परन्तु प्राय हम देखते हैं कि अल्पाधिकारियो म अनौपचारिक समझौता होता है जिसके अन्तर्गत बिना आमने-सामने विचार-विमर्श किय वे आपस मे एक समझौता कर लेत है तथा कीमत, उत्पादन आदि के सम्बन्ध मे समरूप नीति का पालन करते है। अल्पाधिकारी उद्योगो म अनौपचारिक समझौते का एक महत्वपूर्ण उदाहरण 'कीमत नेतृत्व' है। कीमत नेतृत्व मे किसी औपचारिक समझौते तथा विभिन्न फर्मों की क्रियाओ के नियन्त्रण के लिये किसी स्वतन्त्र एजेन्सी की स्थापना न होने के कारण इसमे गुटबन्दी विरोधी (anti-trust) कानूनो, जिनको कुछ देशो ने पारित किया हुआ है, के तोडने का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता किन्तु कई बार कीमत नेतृत्व का उद्भव औपचारिक सम्मेलन व समझौते के परिणामस्वरूप होता है जिनमे प्रतियोगी फर्में एक नेता का चुनाव करती हैं और उसके द्वारा निर्धारित कीमतों को स्वीकार करने का निश्चय करती हैं।

---

1 *The Economics of Sellers' Competition*, p 415

कीमत नेतृत्व के प्रकार (Types of Price Leadership)

कीमत नेतृत्व कई प्रकार का हो सकता है। प्रथम प्रधान फर्म कीमत नेतृत्व (Dominant Firm Price Leadership) होता है जिसके अन्तर्गत एक उद्योग की कुछ फर्मों मे से एक फर्म कुल उत्पादन के एक बहुत बडे भाग का उत्पादन करने के कारण पदार्थ के बाजार पर अपना प्रभुत्व रखती है। इस प्रधान फर्म का पदार्थ के बाजार पर अत्यधिक प्रभाव होता है और अन्य फर्में छोटी होने के कारण बाजार को अधिक प्रभावित नही कर सकती। परिणामस्वरूप प्रधान फर्म अपने माँग वक्र का अनुमान लगाकर पदार्थ की वह कीमत निर्धारित करती है जिस पर उसके लाभ अधिकतम हो। अन्य फर्में छोटी होने के कारण कीमत पर व्यक्तिगत प्रभाव नही डाल सकती और प्रधान फर्म द्वारा निर्धारित कीमत को स्वीकार करके उसके अनुसार अपने उत्पादन को निश्चित कर लेती हैं।

दूसरे प्रकार के कीमत नेतृत्व को स्थितिमान कीमत नेतृत्व (Barometric Price Leadership) कहते हैं जिसके अन्तर्गत एक पुरानी, अनुभवी तथा सबसे बडी फर्म सबके सरक्षक का रूप धारण कर लेती है और सबके हितो की रक्षा करती है। वह बाजार मे पदार्थ की माँग, उत्पादन लागत, सम्बन्धित पदार्थों से प्रतियोगिता के सम्बन्ध मे बाजार स्थितियो म परिवर्तनो का अनुमान लगाती है और कीमतो मे इस प्रकार के परिवर्तन लाती है कि वे सभी फर्मों के दृष्टिकोण से सर्वोत्तम हो। स्वाभाविक है कि अन्य फर्में उसका पालन करेंगी।

तीसरे प्रकार का कीमत नेतृत्व शोषणात्मक या आक्रामक (Exploitative or Aggressive) नेतृत्व कहलाता है जिसमे एक बडी अथवा प्रधान फर्म आक्रामक कीमत नीति के माध्यम से अपना नेतृत्व स्थापित कर लेती है और इस प्रकार उद्योग की अन्य फर्मों को कीमत के सम्बन्ध मे उसका पालन करने के लिए बाध्य कर देती है। इस प्रकार की फर्म यह धमकी देती है कि यदि कीमत निर्धारण मे उद्योग की अन्य फर्में उसका पालन नहीं करेंगी तो तीव्र प्रतियोगिता द्वारा वह उनको बाजार से बाहर निकाल देगी।

कीमत नेतृत्व मे कीमत-उत्पादन निर्धारण (Price-Output Determination under Price Leadership)

कीमत-नेता तथा उसके प्रवर्तको के व्यवहार के बारे मे बहुत सी मान्यताओ के आधार पर अर्थशास्त्रियो ने कीमत-नेतृत्व मे कीमत-उत्पादन निर्धारण के सम्बन्ध मे विभिन्न मॉडलो का विकास किया है। हम अपना वर्णन केवल प्रधान फर्म कीमत नेतृत्व मे कीमत-उत्पादन निर्धारण तक ही सीमित रखकर एक सरल स्थिति की व्याख्या करेंगे। पहले हम निम्न मान्यताएँ निर्धारित करते हैं

(1) दो फर्में हैं, A तथा B। फर्म A की उत्पादन लागत फर्म B से कम है।

(2) दोनो फर्मों द्वारा उत्पादित पदार्थ समान हैं और इसलिए उपभोक्ता का उनमे से किसी एक के लिए कोई विशेष अधिमान नही है।
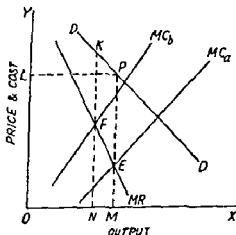
रेखाकृति 29 1
कीमत नेतृत्व मे कीमत निर्धारण

दोनो फर्मों का बाजार मे बराबर हिस्सा है। अन्य शब्दो मे, दोनो फर्में एक समान माँग वक्र का सामना करती हैं। अत प्रत्येक की माँग कुल बाजार माँग वक्र (पदार्थ के लिए) की आधी होगी।

उपर्युक्त मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए रेखाकृति 29·1 की सहायता से कीमत नेतृत्व की स्थिति में कीमत व उत्पादन के निर्धारण को चित्रित किया गया है। प्रत्येक फर्म के सामने DD माँग वक्र है जो कि पदार्थ के कुल बाजार माँग वक्र का आधा है। MR प्रत्येक फर्म का सीमान्त आय वक्र है। MC_a फर्म A का सीमान्त लागत वक्र है तथा MC_b फर्म B का सीमांत लागत वक्र। MC_a MC_b के नीचे है क्योंकि हमने माना है कि फर्म B की तुलना में फर्म A की उत्पादन लागत कम है।

सन्तुलन स्थिति में फर्म A वस्तु की OM मात्रा का उत्पादन करेगी तथा कीमत MP निर्धारित करेगी क्योंकि इस स्थिति में सीमांत लागत इसकी सीमांत आय के बराबर है। इस प्रकार OM उत्पादन मात्रा तथा MP कीमत पर फर्म A अधिकतम लाभ अर्जित कर रही होगी। इसके विपरीत फर्म B की सीमान्त लागत (MC_b) उत्पादन मात्रा ON पर सीमान्त आय के समान है जिससे कीमत NK निर्धारित होगी। अत फर्म B के लाभ ON उत्पादन करके उस को NK कीमत पर बेचने में अधिकतम होंगे। रेखाकृति से यह स्पष्ट है कि फर्म A को अधिकतम लाभ प्रदान करने वाली कीमत MP, फर्म B को अधिकतम लाभ प्रदान करने वाली कीमत NK से कम है। दोनों फर्में, चूँकि समान पदार्थों का उत्पादन कर रही हैं, इसलिए वे दो भिन्न कीमतें वसूल नही कर सकती। फर्म A की लाभ अधिकतम करने वाली कीमत MP, फर्म B की लाभ अधिकतम करने वाली कीमत NK से कम होने के कारण, फर्म B को फर्म A की कीमत के समान अपनी कीमत निर्धारित करनी होगी अथवा दूसरे शब्दों में, यदि दोनों फर्मों में कीमत युद्ध होता है तो विजय फर्म A की होगी और यह फर्म कीमत-नेता बन जाएगी और फर्म B को उसका अनुसरण करना पड़ेगा। इस प्रकार फर्म A कीमत-नेता (Price Leader) होगी तथा फर्म B कीमत अनुकर्त्ता (Price follower)।

यह ध्यान देने योग्य है कि कीमत MP निर्धारित करने के लिए बाध्य होकर फर्म B जिस मात्रा का उत्पादन व बिक्री करेगी वह OM है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक फर्म के लिये माँग-वक्र DD होने पर, फर्म B कीमत MP पर फर्म A के समान OM मात्रा बेच सकती है। इस प्रकार दोनों फर्में एक समान कीमत (MP) निर्धारित करेंगी और एक समान मात्रा (OM) को बेचेंगी। परन्तु दोनों में एक अन्तर है। यद्यपि फर्म A जो कि कीमत नेता है, अपने लाभों को वस्तु की OM मात्रा बेच कर अधिकतम करेगी, परन्तु फर्म B इस कीमत उत्पादन संयोग पर अधिकतम लाभ प्राप्त नही कर सकेगी क्योंकि इसके लाभ तो ON उत्पादन को NK कीमत पर बेचकर अधिकतम होते हैं। फर्म B को OM मात्रा, कीमत MP पर बेच कर जो लाभ प्राप्त हो रहे हैं वे फर्म A को प्राप्त हो रहे लाभों से कम होंगे क्योंकि इसकी लागत अधिक है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यदि फर्म B की न्यूनतम लागत फर्म A द्वारा निश्चित कीमत से अधिक है तो उस कीमत पर उत्पादन करना फर्म B के लिए हानिकर होगा जिससे वह उद्योग से बाहर चली जायेगी और फलत फर्म A का एकाधिकार स्थापित हो जायेगा।

जबकि कीमत नेता और कीमत अनुकर्त्ता द्वारा उत्पादित वस्तुएँ भेदीकृत (differentiated) होती हैं तब उनके द्वारा निर्धारित कीमतें भी भिन्न होंगी। परन्तु अनुकर्ता द्वारा निर्धारित कीमतों में नेता द्वारा निर्धारित कीमत से थोड़ी सी भिन्न होंगी जो कि उपभोक्ताओं की दृष्टि से पदार्थों की क्वालिटी में अन्तर पर निर्भर करता है।

कीमत-नेतृत्व की कठिनाइयाँ (Difficulties of Price Leadership)

वास्तविक जगत में कीमत नेतृत्व से सम्बन्धित कुछ कठिनाइयाँ हैं। सर्वप्रथम, किसी फर्म का कीमत-नेतृत्व इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपने अनुकर्ताओं की प्रतिक्रियाओं को कितना ठीक प्रकार से अनुमानित कर सकता है। यदि अपने प्रतिद्वन्द्वियों की प्रतिक्रियाओं के बारे में उसके अनुमान गलत सिद्ध हो जाते हैं तो न केवल उसकी कीमत नीति की सफलता बल्कि बाजार में उसका कीमत-नेतृत्व भी

होंगे, जोकि DB मांग वक्र के दिए हुए होने पर अधिकतम है। ये एकाधिकारी लाभ दोनों में विभाजित किए जा सकते हैं। रेखाकृति 30 1 में यह स्पष्ट है, कि ये $OAPK$ के क्षेत्र के समान एकाधिकारी लाभ जिनको गुटबन्दी (संयोग) में प्राप्त किया गया है, $OMJE$ के क्षेत्रफल के कुल लाभों से जोकि कूर्नो के द्वि-अधिकारी सन्तुलन में प्राप्त हो रहे थे अधिक है। अतः यह स्पष्ट है कि मिलकर एकाधिकारी गुट की स्थापना के स्थान पर जब द्वि-अधिकारी आपस में प्रतियोगिता करते हैं, जैसा कि कूर्नो (Cournot) के द्वि-अधिकारी समाधान में बताया गया है, तो कीमत तथा लाभ कम होते हैं तथा उत्पादन अधिक होता है।

दूसरी ओर बाजार यदि पूर्ण प्रतियोगी है तो उत्पादन OB होगा तथा कीमत शून्य। अर्थात्, पूर्ण प्रतियोगी समाधान में, कूर्नो के द्वि-अधिकारी सन्तुलन की तुलना में उत्पादन अधिक होगा तथा कीमत कम।

संक्षेप में, कूर्नो के द्वि-अधिकारी समाधान में उत्पादन, अधिकतम सम्भव उत्पादन (अर्थात् पूर्ण प्रतियोगी उत्पादन) का दो तिहाई होता है और कीमत, अधिकतम लाभ कीमत (अर्थात् एकाधिकारी कीमत) की दो-तिहाई होती है।

ऊपर हमने देखा कि कूर्नो के द्वि-अधिकारी समाधान में, दो उत्पादक $2/3\ OB$, अर्थात् अधिकतम सम्भव उत्पादन की दो-तिहाई मात्रा का उत्पादन करते हैं। उसके समाधान को उन स्थितियों पर भी लागू किया जा सकता है जहाँ विक्रेताओं की संख्या दो से अधिक हो। इस प्रकार इसी तरीके से, यह बताया जा सकता है कि बाजार में यदि तीन उत्पादक होंगे तो कुल उत्पादन OB का $\frac{3}{4}$ होगा, और प्रत्येक उत्पादक $\frac{1}{4}\ OB$ का उत्पादन करेगा। वास्तव में कूर्नो के समाधान में उत्पादकों अथवा विक्रेताओं की संख्या तथा उनके द्वारा उत्पादित कुल उत्पादन को एक सामान्य समीकरण के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है। अतः यदि उत्पादकों की संख्या n है, तो कूर्नो के समाधान में दोनों उत्पादकों द्वारा उत्पादित कुल उत्पादन OB का $\frac{n}{n+1}$ होगा जहाँ OB अधिकतम सम्भव उत्पादन है।

यदि उत्पादकों की संख्या 10 है तो कूर्नो के समाधान के अनुसार कुल उत्पादन $OB \frac{10}{10+1}$ के बराबर होगा। इसी प्रकार यदि उत्पादक 100 हैं, तो कूर्नो के समाधान में कुल उत्पादन OB का $\frac{100}{101}$ होगा और यदि उत्पादकों की संख्या बहुत अधिक है तो कुल उत्पादन, यथार्थत OB (सम्पूर्ण प्रतियोगी उत्पादन) होगा और कीमत पूर्ण प्रतियोगी कीमत (शून्य लागत की पूर्वकल्पना में शून्य कीमत) के बराबर। अनिवार्य शर्त, जिसका पता चलता है, यह है कि "जैसे-जैसे विक्रेताओं की संख्या एक से अनेक की ओर बढ़ती है तो कीमत एकाधिकारी स्तर से निरन्तर गिरती रह कर पूर्ण प्रतियोगिता के कीमत-स्तर तक पहुंच जायेगी और उत्पादकों के लिए यह कीमत पूर्णतया निश्चित होगी।"[1]

उपर्युक्त कूर्नो के अल्पाधिकारी समाधान में उत्पादन लागत को शून्य मान लिया गया। फिर भी यह ध्यान देने योग्य है कि हम जिस अनिवार्य निष्कर्ष पर पहुँचे हैं उसमें, उस समय भी, कोई परिवर्तन नहीं होगा, जबकि हम उत्पादन लागतों को धनात्मक मान लेंगे। प्रो० चैम्बरलिन को पुनः उद्धृत करते हुए 'विक्रेताओं की किसी भी दी हुई संख्या के लिए, द्वि-अधिकार में सन्तुलन कीमत, स्थिर लागत की तुलना में ह्रासमान प्रतिफल दशा में पूर्ण प्रतियोगी कीमत के निकट होगी और वर्धमान लागत की तुलना में स्थिर लागत दशा में पूर्ण प्रतियोगी कीमत के निकटतर होगी।'[2]

प्रतिक्रिया वक्रों द्वारा कूर्नो के द्वि-अधिकारी सन्तुलन की व्याख्या (Cournot's Duopoly Equilibrium Explained with the Aid of Reaction Curves)

बहुत से अर्थशास्त्रियों ने कूर्नो के द्वि-अधिकारी समाधान को समझाने के लिए प्रतिक्रिया वक्रों का प्रयोग

1. E H Chamberlin, *The Theory of Monopolistic Competition*, p 34
2. *Ibid*, p 34.

किया है। ये प्रतिक्रिया वक्र उत्पादन प्रतिक्रिया वक्र हो सकते हैं या कीमत प्रतिक्रिया वक्र भी। वह वक्र कौन सा है इस पर निर्भर करेगा कि समायोजक चर (adjust ment variable) उत्पादन है अथवा कीमत। कूर्नो के मॉडल म चूँकि समायोजक चर उत्पादन है, इसलिए यहाँ उत्पादन प्रतिक्रिया वक्र ही प्रामणिक हैं। यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि ये प्रतिक्रिया वक्र उन प्रतिक्रियाओं को नहीं बताते जिनकी विक्रेता अपने प्रतिद्वन्द्वियों से अपेक्षा करते हैं बल्कि ये तो विक्रेता की स्वयं की प्रतिक्रियाओं को बताते हैं जो उसके प्रतिद्वन्द्वी की क्रिया के परिणामस्वरूप होती हैं। रेखाकृति 30.2 म दो उत्पादकों (या विक्रेताओं) A तथा B के प्रतिक्रिया वक्रों को दिखाया गया है। MN उत्पादक A का उत्पादन प्रतिक्रिया वक्र है और RS उत्पादक B का उत्पादन प्रतिक्रिया वक्र है। उत्पादक A के उत्पादन प्रतिक्रिया वक्र MN म पता चलता है कि उत्पादक B द्वारा उत्पादन में परिवर्तन के कारण उत्पादक A की क्या प्रतिक्रियाएँ होंगी अर्थात्
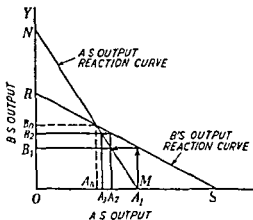
रेखाकृति 30.2

A के उत्पादन प्रतिक्रिया वक्र में पता चलता है कि B के प्रत्येक उत्पादन स्तर पर A कितनी मात्रा का उत्पादन करेगा। अन्य शब्दों में, A का उत्पादन प्रतिक्रिया वक्र B के प्रत्येक उत्पादन स्तर पर, A के अधिकतम लाभ वाले उत्पादन को बताता है। इसी प्रकार उत्पादक B का उत्पादन प्रतिक्रिया वक्र बताता है कि B कितनी मात्रा का उत्पादन करने का निर्णय करेगा (अर्थात्, A के प्रत्येक दिए हुए उत्पादन पर B को अधिकतम लाभ करने का उत्पादन क्या होगा)। उदाहरण के लिए यदि B का उत्पादन OB_1 है, तो A का उत्पादन प्रतिक्रिया वक्र MN बताता है कि A का उत्पादन OA_2 होगा (B के OB_1 के उत्तर मे)। इसी प्रकार अन्य उत्पादन स्तरों के विषय में भी कहा जा सकता है। दूसरी ओर, A यदि OA_2 का उत्पादन करता है तो B के उत्पादन प्रतिक्रिया वक्र से पता चलता है कि B का उत्पादन OB_2 होगा। इसी प्रकार से अन्य उत्पादन स्तरों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है।

रेखाकृति 30.2 से यह पता लगता है कि उत्पादन प्रतिक्रिया वक्रों को रेखीय बनाया गया है। इसका कारण यह है कि हम यह मान रहे हैं कि द्वि-अधिकारी के पदार्थ का माँग वक्र सरल रेखा है और दोनों उत्पादकों — A तथा B — की सीमान्त उत्पादन लागत शून्य पर स्थिर है। यह उल्लेखनीय है कि OM उत्पादन एकाधिकारी उत्पादन है क्योंकि उत्पादक A वस्तु की OM मात्रा का उत्पादन तभी करेगा जबकि उत्पादक B का उत्पादन शून्य होगा। अन्य शब्दों में, उत्पादक A, यदि एक एकाधिकारी होता तो OM मात्रा का उत्पादन करके बेचता। दूसरी ओर उत्पादक B यदि यह चाहता है कि उत्पादक A शून्य मात्रा का उत्पादन करे तो उसको ON मात्रा का उत्पादन करना होगा। सीमान्त लागत के शून्य दिया होने पर, जब कीमत गिर कर शून्य हो जाएगी, तो उत्पादक A शून्य उत्पादन करने के लिए बाध्य हो जाएगा और उस स्थिति में उत्पादन लाभप्रद नहीं होगा। शुद्ध प्रतियोगिता की दशाओं में ON मात्रा का उत्पादन किया जाएगा क्योंकि ON उत्पादन पर कीमत शून्य होगी और इसीलिए सीमान्त लागत के बराबर होगी जिसको वर्तमान स्थिति म शून्य मान लिया गया है। इस प्रकार, जबकि OM एकाधिकारी उत्पादन है, ON शुद्ध प्रतियोगिता उत्पादन है। हम मान लेते हैं कि A व B दो उत्पादक पूर्णरूप से समान हैं, इसलिए, OR बराबर होगा OM के तथा OS बराबर होगा ON के।

31

विकुंचित अल्पाधिकारी मांग वक्र सिद्धान्त : कीमत दृढ़ता
(THE KINKY OLIGOPOLY DEMAND CURVE THEORY : PRICE RIGIDITY)

यह अनुभव किया गया है कि बहुत से अल्पाधिकारी उद्योग पर्याप्त कीमत स्थिरता अथवा दृढ़ता प्रदर्शित करते हैं। अन्य शब्दों मे, बहुत से अल्पाधिकारी उद्योगो मे कीमत स्थिर अथवा अपरिवर्तित रहती है, अर्थात् आर्थिक दशाओं मे परिवर्तन हो जाने पर भी अल्पाधिकारी अपनी कीमतो मे परिवर्तन करना नही चाहते। अल्पाधिकार मे कीमत स्थिरता के सम्बन्ध मे बहुत सी व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयी हैं परन्तु सबसे लोकप्रिय व्याख्या विकुंचित (Linked) मांग वक्र परिकल्पना की है। विकुंचित मांग वक्र परिकल्पना का प्रतिपादन पॉल एम० स्वीज़ी (*Paul M Sweezy*)[1] ने, जो एक अमेरिकन अर्थशास्त्री हैं तथा हाल व हिच (Hall and Hitch) ने जो आक्सफोर्ड (Oxford) अर्थशास्त्री है, स्वतन्त्र रूप से किया है।

1 Paul M Sweezy, "Demand under Conditions of Oligopoly", *Journal of Political Economy*, Vol XLIII, August 1939, reprinted in *American Economic Association, Readings in Price Theory*

विकुंचित मांग वक्र परिकल्पना अल्पाधिकार मे कीमत निर्धारण की व्याख्या नही करती, यह केवल इतना बताती है कि जब एक बार अल्पाधिकार मे कीमत निर्धारित हो जाती है तो यह अपरिवर्तित या स्थिर क्यो रहती है। इस परिकल्पना के अनुसार, अल्पाधिकारी जिस मांग वक्र का सामना करता है, उस में वर्तमान कीमत के स्तर पर विकुंचन (kink) होता है। विकुंचन वर्तमान कीमत-स्तर पर इसलिए होता है क्योंकि मांग वक्र का वह भाग जो वर्तमान कीमत से ऊपर है अत्यन्त लोचदार (more elastic) होता है और वर्तमान कीमत से मांग वक्र का नीचे का भाग बेलोचदार (inelastic)। रेखाकृति 31.1 मे dD एक विकुंचित मांग वक्र है जिसमे P बिन्दु पर विकुंचन है। वर्तमान कीमत-स्तर MP है तथा फर्म OM मात्रा का उत्पादन व बिक्री कर रही है। dD मांग वक्र का ऊपर वाला भाग dP सापेक्षत लोचदार है तथा निचला भाग PD सापेक्षत बेलोचदार। लोचो मे अन्तर उस विशेष प्रतियोगी प्रतिक्रिया-ढाँचे के कारण

है जिसकी कल्पना विकुंचित माँग वक्र वाले रचना में की गई है।

विकुंचित माँग वक्र सिद्धान्त में जिस प्रतियोगी प्रतिक्रिया की कल्पना की गई है वह यह है प्रत्येक अल्पाधिकारी यह विश्वास करता है कि यदि वह अपनी कीमत को वर्तमान स्तर से नीचे गिरा देता है तो उसके प्रतिद्वन्द्वी भी ऐसा ही करेंगे और अपनी-अपनी कीमतो को गिरा देंगे, परन्तु यदि वह कीमत मे वृद्धि कर देता है, (वर्तमान स्तर की तुलना मे), तो उसके प्रतिद्वन्द्वी ऐसा नही करेंगे अर्थात् अपनी अपनी कीमतो मे वृद्धि नही करेंगे (*Each oligopolist believes* that if he lowers the price below the prevailing level his competitors will follow him and will accordingly lower their prices, whereas if he raises the price above the prevailing level, his competitors will not follow his increase in price)।
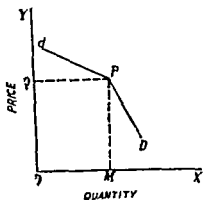
रेखाकृति 31 1
विकुंचित माँग वक्र
(Kinked Demand Curve)

अन्य शब्दो मे, प्रत्येक अल्पाधिकारी फर्म का यह विश्वास है कि यद्यपि उसकी प्रतिद्वन्द्वी फर्में उसके साथ साथ कीमत मे वृद्धि नही करेंगी परन्तु कीमत के कम करने पर अवश्य उसका अनुकरण करेंगी। अपने प्रतिद्वन्द्वियो की दो प्रकार की प्रतिक्रियाओ (कीमत बढ़ने पर एक प्रकार की तथा कीमत कम होने पर दूसरी प्रकार की) के कारण ही माँग वक्र का वर्तमान कीमत-स्तर से ऊपर का भाग सापेक्षत लोचदार होता है तथा इससे नीचे का भाग सापेक्षत बेलोचदार। इसकी व्याख्या नीचे की गई है।

(क) कीमत मे कमी करना (Price Reduction)—रेखाकृति 31 1 पर विचार कीजिए। इसमे यदि अल्पाधिकारी अपनी बिक्री बढ़ाने के उद्देश्य से अपनी वस्तु की कीमत को वर्तमान कीमत स्तर MP से कम कर देता है, तो उसके प्रतिद्वन्द्वियो को यह भय होता है कि उनके क्रेता उस अल्पाधिकारी की वस्तु को खरीदना प्रारम्भ कर देंगे जिसने कीमत कम कर दी है। अत अपने क्रेताओ को *अन्य उत्पादक के पास* जाने से रोकने के लिए उनको भी अपनी कीमतो मे उतनी ही कमी करनी पड़ेगी जितनी पहले वाले उत्पादक ने की है। इस प्रकार एक अल्पाधिकारी द्वारा कीमत कम करने पर उसके प्रतिद्वन्द्वियो द्वारा उसका अनुकरण किए जाने के कारण उसकी बिक्री मे कोई विशेष वृद्धि नही होगी। (उसकी बिक्री उसके प्रतियोगियो के स्थान पर नही बढ़ेगी बल्कि कीमत कम हो जाने के कारण कुल माँग मे वृद्धि के कारण बढ़ेगी। वास्तव मे कीमत मे कमी के कारण कुल माँग मे वृद्धि के कारण प्रत्येक उत्पादक की बिक्री मे आनुपातिक वृद्धि हो जाएगी।) वर्तमान स्तर से नीचे कीमत गिराने से एक उत्पादक की बिक्री मे थोड़ी सी वृद्धि का अभिप्राय यह है कि वर्तमान कीमत से नीचे उसके लिए माँग बेलोचदार अथवा मूल्य-निरपेक्ष है। इस प्रकार रेखाकृति 31 1 मे माँग वक्र का PD भाग, जो कि वर्तमान कीमत MP से नीचे है, बेलोचदार है जो कि यह दर्शाता है कि कीमत मे कम करने पर अल्पाधिकारी की बिक्री मे कोई विशेष वृद्धि नही होती।

(ख) कीमत वृद्धि (Price Increase)—अल्पाधिकारी यदि अपनी कीमत को वर्तमान स्तर से बढ़ा देता है तो उसकी बिक्री बहुत घट जाएगी। इसका कारण यह है कि उसकी कीमत मे वृद्धि के कारण, उसके उपभोक्ता *उसकी वस्तु को खरीदने के स्थान पर* उसके प्रतियोगियो की वस्तुओ को खरीदने लगेंगे। उसके प्रतियोगी नये क्रेताओ का स्वागत करेंगे और उनकी बिक्री मे वृद्धि हो जाएगी। अत इन प्रसन्न

प्रतियोगियों में कीमत वृद्धि की कोई प्रेरणा नहीं होगी। जिस अल्पाधिकारी ने अपनी कीमत में वृद्धि की है वह केवल उन्हीं क्रेताओं को अपने पास रोके रख सकेगा जिनका उसकी वस्तु के लिए अधिमान अधिक है (यदि पदार्थ विभेदीकृत है) या जो उसके प्रतियोगियों से, उनकी सीमित उत्पादन क्षमता के कारण पर्याप्त मात्रा में वस्तु को प्राप्त नहीं कर पाते। वर्तमान स्तर से कीमत के बढ़ने के कारण अल्पाधिकारी की बिक्री में तीव्र कमी के कारण यह स्पष्ट है कि वर्तमान कीमत से ऊँची कीमतों पर माँग अत्यधिक लोचदार है। इस प्रकार रेखाकृति 31 1 में माँग वक्र का dP भाग जो वर्तमान कीमत स्तर MP से ऊपर है लोचदार अथवा मूल्यसापेक्ष है जो इस बात को बताता है कि यदि उत्पादक अपनी कीमत बढ़ा देता है तो उसकी बिक्री में अधिक मात्रा में गिरावट आ जाती है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक अल्पाधिकारी अपने आपको ऐसी स्थिति में पाता है जिसमें उसका अनुमान यह है कि यदि वह कीमत बढ़ाने की सोचता है तो उसके प्रतिद्वन्द्वी ऐसा नहीं करेंगे परन्तु उसके द्वारा कीमत गिराते ही अन्य प्रतिद्वन्द्वी तुरन्त उतनी ही कीमत गिरा देंगे जितनी उसने गिराई है। इस दिए हुए प्रत्याशित प्रतियोगी प्रतिक्रिया ढाँचे की स्थिति में प्रत्येक अल्पाधिकारी का माँग वक्र dD विकुंचित है जिसमें dP ऊपर वाला भाग सापेक्षत लोचदार है तथा नीचे वाला PD भाग सापेक्षत बेलोचदार है।

कीमत दृढ़ता का क्या कारण है? (Why Price Rigidity?)

उपर्युक्त विश्लेषण से यह समझना सरल है कि एक अल्पाधिकारी, जो कि विकुंचित माँग वक्र का सामना करता है, में कीमत बढ़ाने अथवा कम करने की प्रेरणा का अभाव क्यों होता है। अल्पाधिकारी, चूँकि वर्तमान स्तर से कीमत घटा कर माँग में अधिक वृद्धि नहीं कर सकता और वर्तमान स्तर से कीमत बढ़ाने पर उसकी बिक्री बहुत कम हो जाने पर वह वर्तमान कीमत में परिवर्तन लाने का इच्छुक नहीं होगा। अन्य शब्दों में, चूँकि वर्तमान कीमत को बदलने में कोई लाभ नहीं है, इसलिए अल्पाधिकारी वर्तमान कीमत पर ही अपने पदार्थ को बेचता रहेगा। इस प्रकार, दृढ़ कीमतों की विकुंचित माँग वक्र सिद्धांत की सहायता से व्याख्या की जा सकती है। रेखाकृति 31 1 में वर्तमान कीमत MP है जिस पर माँग वक्र dD विकुंचित है। बाजार में MP कीमत स्थिर या दृढ़ रहेगी क्योंकि अल्पाधिकारी स्थिति में कोई भी उत्पादक कीमत को कम अथवा अधिक करने से लाभान्वित नहीं होगा। इस पर ध्यान देना चाहिए कि यदि वर्तमान कीमत MP औसत लागत से अधिक होगी तो उत्पादकों को जो लाभ प्राप्त होंगे वे सामान्य लाभ से अधिक होंगे।

विकुंचित माँग वक्र तथा अल्पाधिकारी का सन्तुलन (Kinked Demand Curve and the Equilibrium of the Oligopolist)

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि विकुंचित माँग वक्र की स्थिति में अल्पाधिकारी को वर्तमान कीमत-स्तर पर अधिकतम लाभ प्राप्त होगा।
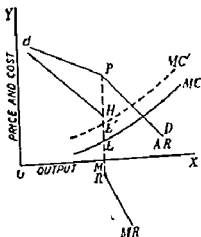
रेखाकृति 31 2
लागत में परिवर्तन होने पर भी कीमत उत्पादन स्थिर है

अधिकतम लाभ प्रदान करने वाले कीमत उत्पादन संयोग का पता लगाने के लिए रेखाकृति 31 2 में विकुंचित माँग वक्र के तदनुरूपी सीमान्त आय वक्र MR बनाया गया है। विकुंचित माँग वक्र से सम्ब-

न्धित सीमांत आय वक्र में सान्तरता (discontinuity) होती है या अन्य शब्दों में इसमें खडित शीर्ष भाग (vertical broken portion) है। इस सान्तरता की लम्बाई इस बात पर निर्भर करती है कि माँग वक्र के P बिन्दु पर इस वक्र के दो भागों dP तथा PD की लोचों में क्या अन्तर है ? दोनों लोचों में अन्तर जितना अधिक होगा, सान्तरता की लम्बाई भी उतनी ही अधिक होगी। रेखाकृति 31 2 में dD विकुंचित माँग वक्र से तदनुरूप सीमान्त आय वक्र MR बनाया गया है जिसमें HR सान्तर भाग या अन्तराल है। अब, यदि अल्पाधिकारी का सीमांत लागत वक्र इस प्रकार का है कि यह सीमान्त आय वक्र के सान्तर भाग HR में से गुजरता है, जैसा कि रेखाकृति 31 2 में दिखाया गया है, तो अल्पाधिकारी को वर्तमान कीमत-स्तर MP पर ही अधिकतम लाभ प्राप्त होंगे। अर्थात् वह E बिन्दु पर अथवा MP वर्तमान कीमत पर सन्तुलन में होगा। अल्पाधिकारी, चूँकि सन्तुलन में है अथवा अन्य शब्दों में, वर्तमान कीमत-स्तर पर अपने लाभों को अधिकतम कर रहा है, उसके लिए कीमत में परिवर्तन करने के लिए कोई प्रेरणा नहीं होगी।

यदि लागतों में भी परिवर्तन हो जाता है तो जब तक सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय वक्र के BR अन्तराल में से गुजरता रहेगा तब तक कीमत स्थिर रहेगी। रेखाकृति 31 2 में जब कि लागतों में वृद्धि के कारण सीमान्त लागत वक्र MC से विवर्तित होकर MC' हो जाता है, सन्तुलन कीमत तथा उत्पादन में कोई परिवर्तन नहीं होता क्योंकि नया सीमान्त लागत वक्र MC' भी अन्तराल HR में से गुजर रहा है।

इसी प्रकार, विकुंचित माँग वक्र सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि माँग दशाओं में परिवर्तन की स्थिति में भी कीमत स्थिर रहती है। इसको रेखाकृति 31 3 में चित्रित किया गया है जिसमें जबकि अल्पाधिकारी के पदार्थ की माँग dPD से बढ़कर $d'P'D'$ हो जाती है, तो दिया हुआ सीमान्त लागत वक्र MC नए सीमान्त आय वक्र MR' के अन्तराल से गुजरता है। इसका अर्थ यह है कि अल्पाधिकारी के अन्तर्गत कीमत ($MP = M'P'$) प्रचलित रहेगी।

किन्तु यह वर्णन करने योग्य है कि विकुंचित माँग वक्र सिद्धान्त से यह भावार्थ नहीं निकलता कि जब भी लागत व माँग दशाओं में परिवर्तन आता है तो कीमत पूर्ववत् ही रहती है। लागत व माँग दशाओं में परिवर्तन होने पर कब कीमत में परिवर्तन होने की सम्भावना है और कब इसके बदल जाने की, इसकी व्याख्या नीचे की जाती है।

1. लागतों में कमी (Decline in Costs)—जब उत्पादन लागत में कमी होती है तो कीमत के स्थिर रहने की सम्भावना अधिक है। जब उत्पादन लागत गिरती है, तो वर्तमान कीमत से माँग वक्र का ऊपर का भाग अधिक लोचदार बन जाएगा क्योंकि कम लागतों के साथ इस बात की अधिक निश्चित
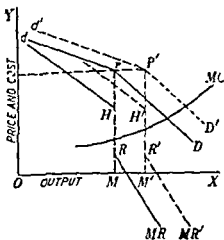
रेखाकृति 31 3 : माँग में परिवर्तन होने पर भी कीमत अपरिवर्तित

सम्भावना है कि अल्पाधिकारी द्वारा कीमत बढ़ाए जाने पर उसके प्रतिद्वन्द्वी अपनी कीमतों में कमी नहीं करेंगे और इसमें अल्पाधिकारी की बिक्री बहुत मात्रा में घट जायेगी। दूसरी ओर, लागतों में कमी होने पर वर्तमान कीमत के नीचे वाला माँग वक्र का भाग अधिक बेलोचदार बन जाएगा क्योंकि लागतों में गिरावट के कारण इस बात की निश्चित सम्भावना है कि अल्पाधिकारी द्वारा कीमत के कम किए जाने पर उसके प्रतिद्वन्द्वी भी कीमत को कम कर देंगे। माँग वक्र के ऊपर वाले भाग के अधिक लोचदार तथा नीचे वाले

भाग के अधिक बेलोचदार हो जाने के कारण कोण dPD कम अधिकोण (obtuse) बन जाएगा और इसलिए सीमांत आय वक्र मे अन्तराल बढ जाएगा। सीमात आय वक्र के अन्तराल (अर्थात् सान्तरता की लम्बाई) मे वृद्धि के परिणामस्वरूप, निम्नतर सीमात लागत वक्र भी प्राय अन्तराल के मध्य से ही गुजरेगा और इससे ज्ञात होता है कि कीमत तथा उत्पादन की मात्रा पूर्ववत् रहेगी।

2 लागत मे वृद्धि (Rise in Cost)—यदि अल्पाधिकारी उद्योग की लागत मे वृद्धि हो जाए तो कीमत स्थिर अथवा दृढ नही रहेगी। जब उद्योग की लागत बढ जाती है तो एक अल्पाधिकारी यह उचित रूप से सोच सकता है कि उसके द्वारा कीमत मे वृद्धि करने पर उद्योग के अन्य उत्पादक भी उसका अनुसरण करेंगे। परिणामस्वरूप, वर्तमान कीमत-स्तर से माँग वक्र का ऊपर का भाग कम लोचदार बन जाएगा और फलत dPD कोण कम अधिकोण बन जाएगा जिससे सीमात आय वक्र मे अन्तराल कम हो जाएगा। सीमात वक्र मे अन्तराल छोटा होने पर ऊँचा सीमात लागत वक्र इसको H बिन्दु के ऊपर काटेगा, जिससे पता चलता है कि सन्तुलन कीमत बढ जाएगी तथा सन्तुलन उत्पादन मात्रा घट जाएगी। इस प्रकार विकुंचित माँग वक्र सिद्धान्त से यह पता चलता है कि लागत वृद्धि की दशा मे कीमत के स्थिर रहने की सम्भावना नही है।

3. माँग मे कमी (Decrease in Demand)—माँग मे कमी होने की स्थिति मे अधिक सम्भावना यह है कि कीमत दृढ रहेगी और इसमे कोई गिरावट नही आएगी। जब माँग गिरती है, तो यह अधिक निश्चित हो जाता है कि यदि कोई अल्पाधिकारी कीमत मे कमी की क्रिया को प्रारम्भ करता है तो अन्य उसका अनुसरण करेंगे जिसका परिणाम यह होगा कि माँग वक्र का निचला भाग अधिक बेलोचदार बन जायेगा। दूसरी ओर, माँग के कम होने की स्थिति मे यह प्राय निश्चित है कि एक अल्पाधिकारी द्वारा कीमत कम करने की स्थिति मे अन्य अल्पाधिकारी उसका अनुसरण नही करेंगे। परिणामस्वरूप, माँग वक्र का ऊपर वाला भाग अधिक लोचदार अर्थात् लगभग क्षैतिज बन जाएगा। ऊपर वाले भाग की लोच मे वृद्धि तथा निचले भाग की लोच मे कमी हो जाने के कारण, सीमात आय वक्र मे अन्तराल बढ जाएगा और इसलिए इस बात की सम्भावना अधिक है कि दिया हुआ सीमात लागत वक्र सीमात आय वक्र को अन्तराल के अन्दर ही काटेगा जबकि माँग वक्र dPD नीचे को विवर्तित हो जाता है। इससे पता लगता है कि माँग के कम होने पर कीमत मे अपरिवर्तित रहने की सम्भावना है।

4 माँग मे वृद्धि (Increase in Demand)—जब माँग मे वृद्धि हो जाती है, तो कीमत के स्थिर रहने की सम्भावना नही है। इसके स्थान पर कीमत मे वृद्धि की सम्भावना है। माँग मे वृद्धि की दशा मे, एक अल्पाधिकारी यह आशा कर सकता है कि वह कीमत मे वृद्धि करता है तो उसके प्रतियोगी सम्भवत उसका अनुसरण करेंगे। इसलिए माँग वक्र का ऊपर वाला भाग dP कम लोचदार बन जाएगा और dPD कोण अधिक अधिकोण (obtuse)। परिणामस्वरूप, सीमात आय वक्र म HR अन्तराल कम हो जाएगा और यदि यह अन्तराल बहुत कम हो जाता है तो इस बात की सम्भावना अधिक है कि सीमात लागत वक्र, सीमात आय वक्र को H बिन्दु के ऊपर अर्थात् अन्तराल के ऊपर काटेगा। इससे यह पता चलता है कि कीमत MP से अधिक हो जाएगी।

उपर्युक्त विश्लेषण से, यह स्पष्ट है कि अल्पाधिकार का विकुंचित माँग वक्र विश्लेषण गिरती लागतो या गिरती माँग की दशाओ मे कीमत स्थिरता की व्याख्या करता है, जबकि लागतो के बढने या माँग के बढ़ने पर कीमतो मे बढ़ने की सम्भावना होती है। प्रो० एम० एम० बोबर (M.M Bober) ने ठीक ही कहा है

'विकुंचित माँग वक्र विश्लेषण इस सम्भावना को बताता है कि जब कीमत कम होने की आवश्यकता है तो अल्पाधिकार मे कीमत स्थिर रहनी है और जब कीमतो मे वृद्धि उचित है तो कीमतें परिवर्तनशील होती हैं। जब माँग अथवा लागतो मे कमी होती है तो कीमत को कम करने की शायद ही कोई सोचता

है परन्तु माँग मे वृद्धि अथवा बढ़ती लागत के प्रतिक्रियास्वरूप कीमत मे वृद्धि हो सकती है" ("The kinky demand curve analysis points to the likelihood of price rigidity in oligopoly when a price reduction is in order and of price flexibility when conditions warrant a rise in price There is hardly any disposition to lower price when there is a decline in demand or costs, but the price may be raised in response to increased demand or to rising cost) ।"[1]

अल्पाधिकारी के विकुंचित माँग वक्र सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा
(Critical Appraisal of Kinked Demand Curve Theory of Oligopoly)

1 हमने ऊपर देखा कि अल्पाधिकार का विकुंचित माँग वक्र सिद्धान्त किस प्रकार से अल्पाधिकार मे कीमत दृढता की व्याख्या करता है। परन्तु इस सिद्धात मे एक मुख्य दोष है। यह केवल इतना बताता है कि अल्पाधिकार मे कीमत निर्धारित हो जाने के बाद यह दृढ या स्थिर क्यो रहती है, यह इस विषय मे कुछ नही बताता कि कीमत निर्धारित किस प्रकार होती है। विकुंचित माँग वक्र सिद्धान्त म ऐसा कुछ नही है जो यह बताये कि वर्तमान कीमत किस प्रकार निर्धारित हुई है। अन्य शब्दो म, जबकि यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि कीमत जहाँ है वही क्या रहती है, यह हमे इस बारे मे कुछ नही बताता कि कीमत जहाँ है वहाँ यह क्यो है। रेखाकृति 31 1 मे MP कीमत पर विकुंचन है क्योकि MP वर्तमान मे प्रचलित कीमत है। यह सिद्धान्त इसकी व्याख्या नही करता कि कीमत MP के बराबर क्यों है ?

किन्तु यह बता दिया जाय कि उपर्युक्त आलोचना पी० एम० स्वीजी के दृष्टिकोण पर विशेषत. लागू होनी है। विकुंचित माँग वक्र विश्लेषण के हाल व हिच (Hall and Hitch) का दृष्टिकोण अल्पाधिकारी कीमत के निर्धारण के बारे म भी बताता है। हाल व हिच के अनुसार कीमत औसत लागत द्वारा निर्धारित होती है और सन्तुलन वहाँ होता है जहाँ औसत लागत वक्र विकुंचित माँग वक्र को स्पर्श करता है। याद रहे कि माँग वक्र मे विकुंचन उस कीमत पर होता है जो औसत लागत के बराबर होती है। इसको रेखाकृति 31 4 म दिखाया गया है। परन्तु हाल व हिच (Hall and Hitch) का दृष्टिकोण भी उस समय कठिनाई मे पड जाता है जबकि अल्पाधिकारी उद्योग म विभिन्न फर्मों के औसत लागत भिन्न-भिन्न होते है।
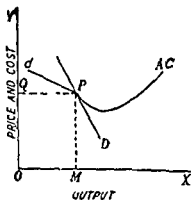
रेखाकृति 31 4
विकुंचित माँग वक्र तथा हाल व हिच का दृष्टिकोण

2 अल्पाधिकार के विकुंचित माँग सिद्धान्त मे अगली त्रुटि यह है कि यह अल्पाधिकारी स्थितियो मे कीमत नेतृत्व तथा कीमत कार्टेलो पर लागू नहीं होता जबकि इस प्रकार की स्थितियाँ अल्पाधिकारी बाजारो मे अधिकतर पाई जाती हैं। अल्पाधिकारी बाजारो मे जब कीमत नेतृत्व तथा कीमत कार्टेल होते हैं तो कीमत परिवर्तनो के सम्बन्ध मे समन्वित एव सामूहिक क्रियाएँ की जाती हैं और इसलिए इन दशाओ म माँग वक्र मे कोई विकुंचन नही होता।

3 विभेदीकृत पदार्थों वाले अल्पाधिकार म भी विकुंचित माँग वक्र धारणा लागू होती है, इसमे काफी सन्देह है। जब एक उद्योग मे विभिन्न अल्पाधिकारियो

---

1 M M Bober, *Intermediate Price and Income Theory*

के पदार्थ विभेदीकृत होते है तो यह मान्यता करना गलत होगा कि एक अल्पाधिकारी द्वारा कीमत कम करने पर सब अल्पाधिकारी अपनी कीमतें कम कर देंगे और एक द्वारा कीमत मे वृद्धि की दशा मे कोई उसका अनुसरण नही करेगा। यदि प्रतिद्वन्द्वी इस प्रकार की क्रिया करेंगे भी तो सीमांत आय वक्र मे अन्तराल इतना सकीर्ण होगा कि कीमत स्थिरता की प्राप्ति कठिन हो जाएगी।

4 अन्त म, शुद्ध अल्पाधिकार (अर्थात् समान पदार्थों वाला अल्पाधिकार) की स्थिति मे भी अल्पाधिकारी बाजारो की कीमत स्थिरता की सम्पूर्ण व्याख्या विकुंचित मांग वक्र के सिद्धान्त द्वारा नहीं होती। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, विकुंचित मांग वक्र विश्लेषण से यह अर्थ निकलता है कि मांग व लागत दशाओ के गिरने की स्थितियो मे कीमतो के स्थिर रहने की सम्भावना होती है, जबकि लागत व मांग मे वृद्धि की दशाओ मे अल्पाधिकारी कीमतें बढ़ने की प्रवृत्ति रखती हैं।

विकुंचित मांग वक्र सिद्धान्त का प्रो० स्टिगलर का अनुभवगम्य अध्ययन (Prof Stigler's Empirical Study of Kinky Demand Curve)

प्रो० जार्ज जे० स्टिगलर (George J. Stigler)[1] ने विकुंचित मांग वक्र सिद्धान्त का परीक्षण करने के लिए अल्पाधिकारियो के व्यवहार का अनुभवगम्य अध्ययन किया। उनके अनुभवगम्य अध्ययन से पता लगता है कि अल्पाधिकारी जिस मांग वक्र का सामना करते है उसम किसी प्रकार का विकुंचन नहीं होता। अतः प्रो० स्टिगलर ने अल्पाधिकार म विकुंचित मांग वक्र की परिकल्पना को स्वीकार नही किया है। यह देखा गया है कि मुद्रा-स्फीति की दशाओ मे, विकुंचित मांग वक्र सिद्धान्त की व्याख्या के विपरीत अल्पाधिकारी कीमत बढाने म एक दूसरे का अनुसरण करते है। परन्तु यह बता दिया जाय कि प्रो० स्टिगलर ने अपने सांख्यिकीय परीक्षण म पर्याप्त सख्या म उत्पादको को अपने अध्ययन मे सम्मिलित नही किया और उत्पादको के बड़े सैम्पल (sample) के अध्ययन से ज्ञात होगा कि वह उनके अध्ययन से स्पष्ट नही होता। इसके अतिरिक्त, इस पर भी ध्यान देना चाहिए कि स्टिगलर का अनुभवगम्य अध्ययन केवल विकुंचित मांग वक्र की परिकल्पना को ही गलत सिद्ध करता है, यह अल्पाधिकार मे कीमत स्थिरता को चुनौती नही देता। प्रो० स्टिगलर तथा अन्य बहुत से अर्थशास्त्रियो ने इस प्रकार के पर्याप्त अनुभवगम्य प्रमाण एकत्र किय हैं जो कि अल्पाधिकार मे कीमत स्थिरता को सिद्ध करते हैं। मुख्य विवाद का प्रश्न यह है कि इस कीमत स्थिरता की उचित व्याख्या क्या है? स्टिगलर के अनुभवगम्य अध्ययन के बावजूद, कई अर्थशास्त्री कीमत स्थिरता, मुख्यत जबकि कीमत मे कमी की आशा की जाती है, के सम्बन्ध में विकुंचित मांग वक्र द्वारा प्रस्तावित व्याख्या को स्वीकार करते हैं। किन्तु, जैसा कि ऊपर बताया गया, कीमत नेतृत्व, औपचारिक समझौतो, कीमत कार्टेलो की स्थितियो म, स्पष्टत, मांग वक्र मे विकुंचित नही होता क्योंकि इन स्थितियो म कीमतो के सम्बन्ध मे समन्वित व्यवहार होता है। अल्पाधिकार की अन्य स्थितियो मे मांग वक्र म विकुंचन हो सकता है। 'यह वास्तव मे होता है अथवा नहीं' यह अभी तक वाद-विवाद का विषय ही है। किन्तु, जैसा कि प्रो० बॉमोल ने कहा है कि विकुंचित मांग का विश्लेषण "यह बताता है कि अल्पाधिकारी फर्म जो कीमत वसूल कर रही है उसकी परिवर्तनशीलता, उस फर्म के प्रतियोगियो की प्रतिक्रियाओ के ढांच के बारे मे विचार पर निर्भर करती है" (Kinky demand curve analysis ' does show how the oligopolistic firm's view of competitive reaction patterns can affect the changeability of whatever price it happens to be charging) ।"[2]

1 See George J Stigler, "The Kinky Oligopoly Demand Curve and Rigid Prices", *Journal of Political Economy*, vol LU, October, 1947, reprinted in American Economic Association's *Readings in Price Theory*

2 William J Baumol, *Economic Theory and Operations Analysis*, 1961, p 227

32

खेल सिद्धान्त
(THE THEORY OF GAMES)

खेल सिद्धान्त का दृष्टिकोण
(Approach of the Theory of Games)

अब तक हमने अल्पाधिकार के उन मॉडलो का अध्ययन किया जो यह मान्यता करते है कि अल्पाधिकारी अपने लाभो को अधिकतम करना चाहता है। परन्तु कुछ अन्य मॉडल ऐसे हैं जो कि अधिकतम लाभ मान्यता के स्थान पर अन्य उद्देश्यो के आधार पर अल्पाधिकारी स्थिति मे कीमत व उत्पादन मात्रा की व्याख्या करते हैं। इस प्रकार का एक मॉडल वह है जिसमे खेल सिद्धान्त (Theory of Games) को अल्पाधिकारी समस्या पर लागू किया गया है। प्रो० वॉन न्यूमन (Von Neumann) तथा मॉरगनस्टर्न (Morgenstern) ने अपनी पुस्तक *"The Theory of Games and Economic Behaviour"* जो कि 1944 मे प्रकाशित हुई, मे परस्पर विरोधी स्थितियों वाली विभिन्न समस्याओं के प्रति एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया (provided a new approach to many problems involving conflicting situations)। खेल सिद्धान्त का प्रयोग केवल अल्पाधिकारी समस्याओ पर ही नहीं किया गया है, बल्कि अन्य आर्थिक समस्याओं, जैसे अनिश्चितता की दशा मे माँग, पर भी लागू किया गया है। इसके अतिरिक्त, खेल सिद्धांत का प्रयोग अर्थशास्त्र के अतिरिक्त अन्य विषयो, जैसे व्यापार प्रशासन, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति विज्ञान, सना नियोजन आदि की समस्याओ पर भी लागू किया गया है। मूल रूप से, खेल सिद्धात यह बताने का प्रयत्न करता है कि उस व्यक्ति के लिए कार्य करने की युक्तियुक्त अथवा विवेकशील विधि कौन-सी है, जिसके सामने ऐसी स्थिति हो जिसका समाधान केवल उसकी अपनी क्रियाओ पर नहीं बल्कि दूसरो की क्रियाओ पर भी निर्भर है और दूसरो के सामने भी कार्य करने की ऐसी युक्तियुक्त (विवेकशील) विधि चुनने की समस्या है। अपने निम्न अध्ययन मे हम यह बतायेंगे कि खेल सिद्धान्त इस आधारभूत प्रश्न की व्याख्या किस प्रकार करता है। यहाँ हम अपने आपको अल्पाधिकार समस्या तक ही सीमित रखेंगे। प्रो० न्यूमन तथा मारगनस्टर्न के अनुसार, एक अल्पाधिकार बाजार स्थिति मे, व्यक्तिगत अल्पाधिकारी के सामने कार्य करने की युक्तियुक्त तरीके को चुनने की समस्या होती है। इस चयन को करते समय उसको ध्यान रखना होता है कि उसके प्रतिद्वन्द्वियो की सम्भावित प्रतिक्रिया क्या होगी, जिसकी प्रतिक्रियाएँ, बदले मे, उसको प्रभावित करेंगी। उसके सामने उसी प्रकार की समस्याएँ आती हैं जो किसी भी खेल के एक खिलाड़ी के सम्मुख आती हैं।

सरल रूप मे, खेल सिद्धान्त मे, खिलाडी को विभिन्न सम्भावित कार्य करने के तरीको में से, जिनको प्रविधियां (strategies) कहा जाता है एक को चुनना होता है। एक प्रविधि इस प्रकार, कार्य करने का तरीका अथवा नीति है जिसको कोई एक खिलाडी खेल के दौरान अपनाता है। एक व्यक्ति के सामने बहुत सी सम्भावित प्रविधियां होती हैं जिनमे से उसको, एक समय मे, एक को चुनना होता है। अल्पाधिकार की स्थिति मे, विभिन्न वैकल्पिक प्रविधियां, जो कि प्रासंगिक हैं ये हैं: (1) कीमत में परिवर्तन करना, (2) विज्ञापन व्यय को बढाना, (3) उत्पादन मे विभिन्नता लाना। इसके अतिरिक्त, विज्ञापन बढाने को विभिन्न प्रविधियो मे विभाजित किया जा सकता है जो कि विभिन्न प्रकार के विज्ञापन देने के तरीको पर निर्भर होगी, उदाहरण के लिए विज्ञापन कई माध्यमो से किया जा सकता है जैसे रेडियो द्वारा, टेलीविजन द्वारा, समाचार-पत्रो द्वारा, पत्रिकाओ द्वारा, परचे बाँट कर, पोस्टर से आदि, आदि। इसी प्रकार से, उत्पादन मे विभिन्नता लाने से सम्बन्धित कई प्रविधियां हो सकती हैं जो कि इस बात पर निर्भर करेंगी कि किस प्रकार से पदार्थ का चयन किया जाय, जैसे कि पैकेट के रंग पैकेट के प्रकार, पदार्थ की किस्म मे से किस मे परिवर्तन किया जाय।

जब खेल मे भाग लेने वाला प्रत्येक सहभागी, यहाँ हमारे उदाहरण मे प्रत्येक अल्पाधिकारी, एक प्रविधि को चुन लेता है तो समस्त सहभागियो की प्रविधियो की पारस्परिक क्रिया पर ही खेल का निर्णय निर्भर करता है। अल्पाधिकार के संदर्भ मे खेल के परिणाम का अर्थ है कि बाजार अथवा लाभ में विभिन्न अल्पाधिकारियो का भाग कितना कितना होगा। फिर भी खेल के परिणाम को निश्चिततापूर्वक नही जाना जा सकता। परन्तु अपने विश्लेषण मे हम यह मान लेगे कि खेल के अन्त मे खेल के परिणाम का पता चल जाता है।

खेल सिद्धान्त मे एक आधारभूत मान्यता है जिसका वर्णन करना यहाँ आवश्यक है। खेल सिद्धान्त के अनुसार, एक अल्पाधिकारी अपनी प्रविधि अपनाते समय यह मान लेता है कि उसका प्रतिद्वन्द्वी जिस प्रविधि का चयन करेगा वह उसके लिए सबसे अधिक हानिकर होगी, अर्थात् प्रतिद्वन्द्वी उस प्रविधि को अपनाएँगे जो उसके लिए सबसे अधिक हानिकारक होगी। कहने का तात्पर्य यह है कि अल्पाधिकारी सुरक्षित खेल (playing safe) की नीति को अंगीकार करेगा। इस मान्यता के दिए हुए होने पर, उन विभिन्न प्रविधियो मे से जो उसको न्यूनतम लाभ प्रदान करती हैं, अल्पाधिकारी न्यूनतम लाभों वाली प्रविधियो मे से उस प्रविधि का चयन करेगा जो उनमे से अधिकतम लाभ प्रदान करेगी।

खेल सिद्धान्त द्वारा प्रस्तावित अल्पाधिकारी समस्या के समाधान के समझने के लिए हम यह मान लेते हैं कि एक अल्पाधिकारी को उन सभी प्रविधियो की जानकारी है जिनको वह अपना सकता है या उद्योग मे उसके प्रतिद्वन्द्वी अपना सकते हैं। आगे, यह भी मान लिया गया है कि अल्पाधिकारियो मे संघर्ष की प्रवृत्ति पूर्णत प्रतिपक्षी खेल' (strictly adversary game) की है। पूर्णत प्रतिपक्षी खेल वह होता है जिसमे कि एक के दृष्टिकोण से परिणाम उसके पक्ष मे होता है तथा दूसरे के विपक्ष मे। अन्त मे, हम स्थिर-राशि खेल (constant sum game) को लेते हैं जिसमे कि दोनो खिलाड़ियों (अर्थात् अल्पाधिकारियो) के लिए खेल के परिणाम का जोड़ एक स्थिर राशि होती है। इस प्रकार यदि दस रुपये लाभ को स्थिर राशि को दो विक्रेताओ मे विभाजित करना है, तब यदि A को आठ रुपये मिलते हैं तो B को दो रु० मिलेंगे, और यदि A को तीन रुपये मिलते हैं तो B को सात रुपये प्राप्त होंगे तथा इसी प्रकार। खेल सिद्धान्त की निम्न व्याख्या मे हम दो द्वि अधिकारियो, A तथा B के सयोग के व्यवहार का वर्णन करेंगे जो कि दस रुपये के दिए हुए कुल लाभ के लिए परस्पर प्रतियोगिता करते हैं।

महाल्पिष्ठ तथा अल्पमहिष्ठ प्रविधियां (Maximin and Minimax Strategies)

मान लीजिए कि A तीन प्रविधियो मे से चयन कर सकता है तथा B भी तीन मे से। यह मान लिया

जाता है कि द्वि-अधिकारी विभिन्न प्रविधियों के भिन्न-भिन्न संयोगों के परिणामों का अनुमान लगा सकते हैं। अल्पाधिकारियों के सम्मुख विभिन्न प्रविधियों और उनके विभिन्न संयोगों के लाभों पर पड़ने वाले

सारणी 32 1

A को लाभ प्रापात्री

(A S Pay-off Matrix)

		B की प्रविधियाँ		पंक्ति अल्पिष्ठ (Row Minima)
		B_1	B_2	B_3	
A की प्रविधियाँ	A_1	2	8	1	1
	A_2	4	3	9	3
	A_3	5	6	7	5
कालम उच्चिष्ठ (Column Maximin)		5	8	9	

प्रभावों को सारणी 32 1 में दिखाया गया है जिसको 'लाभ प्रापात्री' (Pay off Matrix) कहा जाता है। उपर्युक्त सारणी में एक कालम में A की प्रविधियाँ जैसे A_1 A_2 तथा A_3 को दिखाया गया है और B की प्रविधियाँ जैसे B_1 B_2 तथा B_3 को एक पंक्ति में दिखाया गया है। सारणी 32 1 में लाभ प्रापात्री उन लाभों की मात्रा को बताती है जो A तथा उसके प्रतिद्वन्द्वी B द्वारा अपनाई गई प्रविधियों के परिणामों को दिखाती है। इस प्रकार यदि A द्वि-अधिकारी A_1 प्रविधि तथा B द्वि अधिकारी B_1 प्रविधि को अपनाता है तो A को दो रुपये का लाभ प्राप्त होता है। स्थिर लाभ राशि (यहाँ पर दस रुपये) में से A का लाभ निकाल देने के बाद जो लाभ बचेगा वह B का लाभ होगा। इस प्रकार, उपर्युक्त स्थिति में (जब A द्वि अधिकारी A_1 प्रविधि अपनाता है तथा B द्वि-अधिकारी B_1) B को (10 — 2) अर्थात 8 रु० लाभ प्राप्त होगा। B के लाभों को सारणी में नहीं दिखाया गया है यद्यपि उनको इसी प्रकार की परन्तु पृथक् सारणी में दिखाया जा सकता है। उपर्युक्त सारणी में जब 4 द्वि अधिकारी A_1 प्रविधि अपनाता है और B द्वि-अधिकारी B_2 प्रविधि को, तो A के लाभ 8 रु० होंगे। इसी प्रकार यदि A द्वि अधिकारी A_2 प्रविधि को चुनता है और B द्वि-अधिकारी B_3 को तो A के लाभ 9 रु० होंगे। पुन, यदि A द्वि-अधिकारी A_3 प्रविधि पर चलता है और B द्वि-अधिकारी B_1 प्रविधि पर तो A के लाभ 5 रु० होंगे। इसी प्रकार से, सारणी में A के लिए अन्य लाभों का प्रत्येक अंग A तथा B द्वारा चुनी गई प्रविधियों के संयोगों के तदनुरूप है।

अब, लाभ प्रापात्री के दिया हुआ होने पर A तथा B द्वारा कौन-सी प्रविधियाँ चुनी जाएंगी तथा उनका क्या परिणाम होगा। मान लीजिए B के चुनने से पहले A को प्रविधि का चयन करना है। जैसा कि ऊपर बताया गया, A प्रविधि का चुनाव करते समय इस बात का ध्यान रखेगा कि B उसको अधिकतम हानि पहुंचाना चाहेगा, अर्थात् B, ऐसी प्रविधि को अपनाएगा जिससे A को न्यूनतम लाभ प्राप्त हो। इसलिए यदि A द्वि अधिकारी A_1 प्रविधि का चयन करने की सोचता है तथा B द्वि अधिकारी B_1 या B_2 या B_3 में से किसी एक प्रविधि का चुनाव करेगा। A द्वारा A_1 पर प्रविधि का चुनाव करने पर, B यदि B_1 को अपनाया करता है तो 4 के लाभ 2 रुपये होंगे, यदि वह B_2 को अपनाता है तो A के लाभ 8 रु० होंगे, यदि वह B_3 को अपनाता है तो A को 1 रुपया लाभ प्राप्त होगा। अत स्पष्ट है कि जब A ने A_1 प्रविधि का चुनाव किया है तो B द्वि-अधिकारी A को न्यूनतम लाभ (एक रुपया) की स्थिति में तब रख सकता है जब कि वह B_3 प्रविधि को अपनाए। इसी प्रकार A यदि A_2 प्रविधि का चयन करता है, तो B द्वि-अधिकारी B_2 प्रविधि को अपनाएगा और उसको (A को) 3 रु० का न्यूनतम लाभ प्राप्त करने देगा। पुन, A यदि A_3 प्रविधि को अपनाता है, तो B द्वि-अधिकारी B_1 प्रविधि को अपनायेगा जिससे A को न्यूनतम सम्भावित लाभ (5 रु०) हो। अब यह स्पष्ट है कि A द्वि अधिकारी A_3 प्रविधि का चयन करेगा क्योंकि B यदि उसके लिए सबसे हानिकारक चाल चलता है तो भी उसको 5 रु० का लाभ प्राप्त होना है। A_1 तथा A_2 प्रविधियों के अपनाने पर A

(column maxima) का शीर्षक दिया गया है। B के लिए सर्वोत्तम कार्यविधि इस कालम उच्चिष्ठ मे से न्यूनतम को चुनना है क्योंकि ऐसा करने से वह (B), A को न्यूनतम लाभ होने देगा और इस कारण उसको अधिकतम लाभ प्राप्त होगे। इस प्रकार उस दी हुई स्थिति मे जिसको उपर्युक्त सारणी मे दिखाया गया है, B द्वि-अधिकारी B_1 प्रविधि का चुनाव करेगा जिसमे A को 5 रु० का लाभ प्राप्त होगा जो कि कालम उच्चिष्ठ के उच्चिष्ठो मे से न्यूनतम है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि B अल्पमहिष्ठ प्रविधि (minimax strategy) को अपनाता है। B जब B_1 प्रविधि को अंगीकार करता है और इसकी घोषणा कर देता है, तो A अपनी सम्भावित प्रविधियों को जाँच करता है और स्वाभाविक रूप से A_3 प्रविधि का चुनाव करता है क्योंकि इससे उसको A_1 या A_2 की तुलना में अधिक लाभ प्राप्त होंगे।

ऊपर हमने दो स्थितियों मे A तथा B द्वारा प्रविधियों के चयन की अलग अलग व्याख्या की। पहले हमने वह स्थिति ली जिसमे B के चयन करने से पूर्व A चयन करता है और दूसरे, जब B को A से पहले चयन करना पड़ता है। ऊपर यह देखा गया कि A के लाभ प्राप्ती के दिया हुआ होने पर जिसको सारणी मे दिखाया गया है, दोनों स्थितियों मे A द्वि अधिकारी A_3 प्रविधि का तथा B द्वि-अधिकारी B_1 प्रविधि का चयन करना चाहता है। इस पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि वास्तविक जगत मे जब यह खेल वास्तव मे खेला जाता है तो न तो A को और न ही B को पहले चयन करना पड़ता है। दोनों एक साथ चयन करते हैं। परन्तु फिर भी पूर्ववत तर्क लागू होता है। यह मान्यता दी हुई होने पर कि प्रत्येक अपने प्रतिद्वन्द्वी से सबसे बुरे व्यवहार की आशा करता है, जब दोनों को एक साथ चयन करना होता है, तो A अल्पिष्ठ पंक्ति को देखेगा और इस पंक्ति मे से अधिकतम का चयन करेगा, और B कालम उच्चिष्ठ को देखेगा तथा इसमे से न्यूनतम का चयन करेगा। A की लाभ प्रापात्री के दिया हुआ होने पर, A महाल्पिष्ठ प्रविधि चुनेगा तथा B अल्पमहिष्ठ प्रविधि (minimax strategy) को। इस प्रकार जब दोनों अपनी प्रविधियों का एक साथ चयन करते हैं तो A द्वि-अधिकारी A_3 प्रविधि का चयन करेगा क्योंकि यह महाल्पिष्ठ प्रविधि (maximin strategy) है तथा B द्वि अधिकारी B_1 प्रविधि को चुनेगा क्योंकि यह उसकी अल्पमहिष्ठ (minimax strategy) है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चाहे A पहले चयन करे या B या दोनों एक साथ, परन्तु परिणाम एक ही है।

सन्तुलन (पल्याण) बिन्दु [Equilibrium (Saddle) Point)]

उपर्युक्त सारणी की लाभ-प्रापात्री (Pay-off matrix) मे पंक्ति अल्पिष्ठ का अधिकतम (maximum of the row minima) तथा कॉलम उच्चिष्ठ का न्यूनतम (minimum of the column maxima) एक समान ही है, अर्थात् A की महाल्पिष्ठ प्रविधि तथा B की अल्पमहिष्ठ प्रविधि एक ही है। जब ऐसा होता है, तो कहा जाता है कि लाभ-प्रापात्री मे एक सन्तुलन बिन्दु है। इस सन्तुलन बिन्दु को तकनीकी भाषा मे 'पल्याण बिन्दु' (saddle point) कहते है। सारणी मे A की लाभ-प्रापात्री म 5 रु० का लाभ सन्तुलन या पल्याण बिन्दु है क्योंकि पंक्ति अल्पिष्ठ (row minima) का अधिकतम 5 है और कालम उच्चिष्ठ (column maxima) का न्यूनतम भी 5। इस प्रकार, A द्वि-अधिकारी A_3 प्रविधि का तथा B द्वि-अधिकारी B_1 प्रविधि का चुनाव करने पर सन्तुलन मे है अर्थात् उनको अपनी प्रविधियो मे परिवर्तन करने की कोई प्रेरणा नहीं है। किसी लाभ-प्रापात्री मे जब कोई सन्तुलन बिन्दु होता है, तो एक फर्म के लिए जब कि दूसरी फर्म अल्पमहिष्ठ प्रविधि अपनाये, महाल्पिष्ठ प्रविधि ही सबसे लाभदायक होती है (when a pay-off matrix possesses an equilibrium point, then the maximin strategy is the most advantageous strategy open to one firm, if the other employs minimax strategy)। वास्तव मे, इसके ही कारण महाल्पिष्ठ (maximin) तथा अल्पमहिष्ठ (minimax) प्रविधियों के समान लाभ बिन्दु (उपर्युक्त

सारणी मे 5) को सन्तुलन बिन्दु कहते है। अन्य शब्दो म जब एक फर्म अल्पमहिष्ठ प्रविधि (minimax strategy) को अपनाती है तो दूसरी फर्म को महालिप्ष्ठ प्रविधि (maximin strategy) को अपनाना होता है क्योंकि ऐसा करने पर ही यह कुल लाभ के अधिकतम भाग को प्राप्त कर सकती है। इसके विपरीत, यदि एक फर्म महालिप्ष्ठ प्रविधि को अपनाती है तो दूसरी फर्म को अल्पमहिष्ठ प्रविधि अपनानी होती है। इसका कारण वही है जो अभी ऊपर बताया गया। प्रो० बॉमोल (Baumol) के शब्दो मे "सन्तुलन बिन्दुओ मे स्थिरता का तत्त्व होता है क्योकि यदि एक खिलाड़ी इस बिन्दु को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त व सगत प्रविधि को अपनाता है तो दूसरे खिलाडी को भी इस प्रकार के कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। (Equilibrium points therefore possess an element of stability in that if one player adopts a strategy consistent with the attainment of such a point, the other player is also motivated to do so)"[1]

यह ध्यान देने योग्य है कि जबकि पवित अल्पिष्ठ का अधिकतम का लम उच्चिष्ठ के न्यूनतम के बराबर नही होता अर्थात जबकि लाभ-आधात्री मे कोई सन्तुलन या पल्याण बिन्दु नही है तो स्थिर सन्तुलन को प्राप्त करना सम्भव नही होगा। इन स्थितियो मे इस बात का बहुत महत्त्व है कि पहले कौन चलता है और प्रतिद्वन्द्वी की चालो को पहले से ही जानना लाभदायक है। इस प्रकार की लाभ आधात्री, जिसमे सन्तुलन अथवा पल्याण बिन्दु नही है में समाधान के लिए विभिन्न तरीको को विकसित किया गया है। इन तरीको म से एक तरीका खिलाडियो द्वारा मिश्रित प्रविधियों (mixed strategies) को अपनाना है। एक मिश्रित प्रविधि दो प्रविधियो का सयोग है जिसम इन प्रविधियो के साथ सम्भावनाएँ (probabilities) सम्बद्ध कर दी जाती हैं। खेलो की मिश्रित प्रविधियो की तकनीक द्वारा समाधान का तरीका बहुत जटिल है और इसलिए उस पर यहाँ विचार नही किया जाएगा।

खेल सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा (Critical Appraisal of the Game Theory)

जिस प्रकार से खेल सिद्धान्त का अल्पाधिकारी समस्या पर लागू किया गया है उसकी आलोचना निम्न प्रकार से की गई है।

सर्वप्रथम, खेल सिद्धान्त की इस आधारभूत मान्यता को गलत बताया गया है कि अल्पाधिकारी का यह विश्वास है कि उसका प्रतिद्वन्द्वी उसको अधिकतम हानि पहुंचाने का प्रयत्न करता है। यह बताया गया है कि उद्यमकर्त्ता (अल्पाधिकारी) के व्यवहार के सम्बन्ध मे इस मान्यता का भावार्थ यह है कि अधिकतम हानि की सम्भावनाओ को न्यूनतम करना चाहता है अर्थात् उसकी नीति 'सुरक्षित खेल' खेलने (play it safe) की है। परन्तु अल्पाधिकारी का इस प्रकार का व्यवहार, यह कहा गया है, बहुत निराशाजनक तथा रूढ़िवादी है। वास्तविक जगत मे, उद्यमकर्त्ता इस प्रकार की निराशावादी तथा सावधानी की नीति को कभी नही अपनाता। वह बाजार मे अपने हिस्सा लाभों को बढाना चाहता है और इस कार्य के लिए वह कई बार जोखिम उठाता है। प्रो० फर्गूसन (Ferguson) तथा क्रैप्स (Kreps) ने ठीक ही कहा है 'खेल सिद्धान्त मुख्यत उस उद्यमकर्त्ता का वर्णन ठीक प्रकार से करता है, जो अपनी साख को बनाये रखना चाहता है। यह उस प्रावैगिक उद्यमकर्त्ता के व्यवहार का बहुत ठीक वर्णन नहीं है जो निरन्तर लाभ की प्राप्ति की खोज मे रहता है।" (The game theory may very well describe the type of entrepreneur who is primarily intent upon maintaining solvency It is a much less accurate description of the dynamic businessman who is constantly in quest of profit)।"[1]

1 William J Baumol, *Economic Theory and Operations Analysis*

1 C F. Ferguson and J M Kreps, *Principles of Economics*, p 531

द्वितीय, यह कहा गया है कि वास्तविक जगत मे उद्यमकर्त्ता उतनी जानकारी वास्तव मे नही रखते जितनी ज्ञानकारी की कल्पना इस सिद्धान्त मे की गई है। प्रतियोगियो की चालो का तो कहना क्या, उद्यमकर्त्ताओ को उन समस्त प्रविधियो का भी पूर्ण ज्ञान नही होता जिनको वे अपना सकते हैं। इसके अतिरिक्त वास्तविक जीवन में काफी अनिश्चितता होती है जिसका न तो खेल सिद्धान्त मे समावेश किया गया है और न ही सरलतापूर्वक समावेश किया जा सकता है।

तृतीय, यह कहा गया है कि अल्पाधिकारी खेल पूर्ण रूप से प्रतिपक्षी खेल (adverse game) नहीं है, न ही यह स्थिर राशि खेल (constant-sum game) है जैसाकि खेलो के सिद्धान्त म माना गया है। इन मान्यताओ के विपरीत, एक अल्पाधिकारी द्वारा कीमत में कमी कर देने से कुल माँग-मात्रा मे वृद्धि हो जाती है, उपभोक्ता केवल एक उत्पादक से दूसरे उत्पादक के पास ही नहीं चले जाते। इसके अतिरिक्त, अल्पाधिकारी एक निश्चित लाभ राशि म से अपने अपने लिए अधिक लाभ प्राप्ति के लिए आपस मे संघर्ष नहीं करते।

खेल सिद्धांत मे एक और कमी भी है। खेल सिद्धान्त द्वारा निश्चित समाधान प्रदान करने के लिए दोनो द्वि-अधिकारियों का चतुर होना बहुत आवश्यक है, अर्थात् दोनो अपनी अल्पमहिष्ठ तथा महाल्पिष्ठ प्रविधियों का चयन करें। जबकि दोनों म से किसी एक द्वि अधिकारी के पास पर्याप्त जानकारी नही होती या वह अधिक विवेकशील नही होता या वह जोखिम लेने को तैयार होता है, तो इन किन्ही भी कारणों से वह अल्पमहिष्ठ प्रविधि को नही चुनता। यदि ऐसा है, तब अन्य उद्यमकर्त्ताओं द्वारा महाल्पिष्ठ प्रविधि का अपनाया जाना अलाभकारी होता है। हमारी उपर्युक्त परिभाषा म, किसी भी कारणवश B यदि B_2 प्रविधि का चयन करता है, तब A द्वारा A_3 महाल्पिष्ठ प्रविधि का चयन करने पर उसको लाभो में अधिकतम सम्भव भाग नहीं मिलगा। B द्वारा B_1 अल्पमहिष्ठ प्रविधि के अपनाने पर A को A_1 प्रविधि अपनाने पर लाभों में स अधिकतम सम्भव भाग मिल सकेगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब दोनों मे से कोई एक द्वि-अधिकारी चतुर नहीं होता तो खेल सिद्धान्त द्वारा समस्या का ठीक समाधान प्राप्त नही हो सकता। प्रो० बॉमोल के शब्दो मे "विवेकपूर्ण महाल्पिष्ठ प्रविधि के तभी ठीक होने की गारण्टी है जबकि इसे दूसरे विवेकपूर्ण व्यक्ति के विरुद्ध अपनाई जाए" (the prudent maximin strategy is only guaranteed to be good when playing against another prudent man)।[1]

उपर्युक्त आलोचना से यह स्पष्ट है कि खेल सिद्धान्त अल्पाधिकारी समस्या का सम्पूर्ण व सर्वमान्य समाधान प्रस्तुत नही करता। हम प्रो० फर्गुसन तथा क्रेप्स (Ferguson and Kreps) को फिर से उद्धृत करते हैं 'हम ठीक प्रकार से कह सकते हैं कि खेल सिद्धान्त प्रतियोगी स्थितियों के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओ की ओर सकेत करता है, परन्तु यह ऐसा मॉडल नही है जो कि अल्पाधिकारी समस्या का पूर्ण समाधान प्रस्तुत करे।'[2] जब जॉन वॉन न्यूमन (John Von Neumann) तथा ऑस्कर मारगनस्टर्न (Oskar Morgenstern) ने 1944 मे अपनी पुस्तक *The Theory of Games and Economic Behaviour* को प्रकाशित किया तो विस्तृत रूप से यह आशा की गई थी कि यह नया सिद्धान्त अल्पाधिकारी समस्या के समाधान को एक नया दृष्टिकोण प्रदान करेगा। परन्तु इन आशाओ को प्राप्त नही किया जा सका है। इस प्रकार प्रो० डोनल्ड वॉटसन (Donald Watson) का कहना है 'यद्यपि 1944 से खेल सिद्धान्त का विकास हुआ है परन्तु अल्पाधिकारी सिद्धान्त म इसके योगदान के सम्बन्ध म बहुत निराशा हुई है।'[3] टेक्सास विश्वविद्यालय के प्रो० एच० एच० लीभाफ्स्की (H H Leibhafsky) ने भी इसी प्रकार से कहा "खेल सिद्धान्त का विश्लेषण के इस क्षेत्र म प्रयोग करने की जो बड़ी आशाएँ थीं उनकी प्राप्ति नहीं हुई है।

1 William J Baumol, *op cit*, p 352

2 *Op cit*, p 531

3 Donald Watson, *Price Theory and Its Uses*, 1963, p 256

वस्तुत इसकी मुख्य उपयोगिता इस बात मे है कि यह एक ऐसा उर्वर क्षेत्र प्रदान करता है जिसमे अल्पाधिकारी समस्याओं का विश्लेषण करने मे कल्पना विचरण करती रह सकती है" (*So far the great hopes* which have been held *for the application* of the game theory in this area of analysis have not been realised Indeed, its principal *value seems to be in the fact that it* provides a fertile field wherein the imagination may roam in analysing oligopoly problems) ।[1]

1 H H Leibhafsky, *The Nature of Price Theory*, 1963 p 280

33

पूर्ण-लागत कीमत-निर्धारण सिद्धान्त
(FULL-COST PRICING THEORY)

पूर्ण-लागत कीमत निर्धारण सिद्धान्त
(Full Cost Pricing Theory)

अब तक हमने अल्पाधिकार के अन्तर्गत मूल्य एव उत्पादन मात्रा निर्धारण के उन सिद्धान्तो की व्याख्या की है (खेल सिद्धान्त को छोडकर) जो 'लाभ को अधिकतम करने' की मान्यता पर आधारित थे। सीमान्तवादी क्रान्ति के उपरान्त एक फर्म द्वारा अर्जित अधिकतम लाभ की व्याख्या सामान्यतया सीमान्त विश्लेषण के *माध्यम से की जाती है अर्थात् सीमान्त* आय एव सीमान्त लागत की धारणाओ के प्रयोग द्वारा की जाती है। लाभ को अधिकतम करने के सिद्धान्त एव इस पर आधारित सीमान्त विश्लेषण के स्थान पर एक अन्य महत्त्वपूर्ण वैकल्पिक विश्लेषण का प्रयोग किया जाता है। वह है 'पूर्ण लागत कीमत निर्धारण सिद्धान्त' जो यह मानकर नहीं चलता कि विवेकशील फर्में लाभ को अधिकतम करने का प्रयास करती हैं। प्रारम्भ मे ही यह बता देना उचित होगा कि 'पूर्ण लागत कीमत निर्धारण सिद्धान्त' (*Full-cost pricing theory*) को अनेक नाम दिये गये हैं। पूर्ण लागत कीमत निर्धारण सिद्धान्त' को 'औसत लागत मूल्य-निर्धारण सिद्धान्त' (Average Cost Pricing Theory) भी कहा जाता है क्योंकि इस सिद्धान्त मे किसी पदार्थ का मूल्य उसकी औसत लागत के आधार पर निश्चित किया जाता है। इसे *'Cost plus pricing* या *Mark-up pricing* भी कहते हैं, क्योंकि "यह सिद्धान्त इस बात की कल्पना करता है कि मूल्य निश्चित करने के उद्देश्य से व्यवसायी अपनी औसत लागत मे कुछ वृद्धि कर देते है" (This theory visualises that in order to fix price businessmen add a mark-up to their average cost of production)'[1]

ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के हाल एव हिच ने सीमान्त विश्लेषण पर एव 'लाभ को अधिकतम करने की धारणा' पर प्रबल प्रहार *किया है तथा यह विचार* प्रस्तुत किया है कि वास्तविक जगत् मे व्यावसायिक फर्में अपना मूल्य प्रति इकाई परिवर्तनशील लागत (Variable cost) एव उसमे प्रति इकाई उपरिव्यय (Overhead cost) और सामान्य अथवा रूढिगत लाभ की मात्रा को जोडकर, उसके आधार पर निश्चित करती हैं। उन्ही के शब्दो मे, 'जिस प्रकार से व्यवसायी यह निश्चित करते हैं कि वे पदार्थ का क्या मूल्य

1 R L Hall and C J Hitch, Price Theory and Business Behaviour, *Oxford Economic Papers*, vol 2,1939

ले तथा कितनी मात्रा का उत्पादन करें, यह कीमत एव उत्पादन नीति के सीमान्त आय एव सीमान्त लागत सम्बन्धी परम्परागत विश्लेषण की सामान्य प्रयोज्यता के सम्बन्ध मे एक सन्देह को जन्म देता है तथा उद्यमकर्ता के व्यवहार की एक ऐसी प्रणाली की ओर सकेत करता है जिसकी वर्तमान आर्थिक सिद्धान्त उपेक्षा करता है।' (The way in which businessmen decide what price to charge for their products and what output to produce casts doubt on the general applicability of conventional analysis of price and output policy in terms of marginal cost and marginal revenue and suggest a mode of entrepreneurial behaviour which current economic doctrine tends to ignore) "[1]

जैसा कि पूर्व में बताया गया है, हाल एव हिच ने पदार्थ के मूल्य के निर्धारण के सम्बन्ध मे व्यावसायिक फर्मों के व्यवहार का एक अनुभवगम्य अध्ययन किया है, इस अध्ययन म उन्होने 38 उपक्रमियो का इन्टरव्यू लिया जिनमे से 33 विभिन्न पदार्थों के निर्माता 3 फुटकर व्यापारी तथा 2 भवन आदि का निर्माण करने वाले (Builders) थे। इस अनुभवगम्य अध्ययन मे जैसा कि उपयुक्त उदाहरण से स्पष्ट है, उन्होने यह पाया कि फर्मे अपना मूल्य निश्चित करने के लिये सीमान्त आय एव सीमान्त लागत को बराबर करके अपने लाभ को अधिकतम नही करती है। यहां यह बता देना उपयुक्त होगा कि उन्होने फर्मों द्वारा मूल्य निर्धारण के केवल सीमान्त विश्लेषण के विरुद्ध ही अपना तर्क नही दिया बल्कि इस धारणा को भी चुनौती दी है कि मूल्य को निर्धारित करते समय फर्मे अपना लाभ अधिकतम करती है। उनके अनुसार 'लाभ अधिकतम करने' का सिद्धान्त व्यावसायिक फर्मों द्वारा मूल्य निर्धारण की समस्या पर विचार करने का एक गलत तरीका है। वस्तुत उन्होने यह बताया कि वास्तविक जगत मे व्यावसायिक फर्मे एक सन्तोषजनक लाभ अथवा दूसरे शब्दो मे लाभ की एक सामान्य अथवा रूढिगत (conventional) दर प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। अत उनके अनुसार मूल्य पूर्ण लागत के आधार पर निश्चित होते हैं, अर्थात् औसत परिवर्तनशील लागत + औसत उपरिव्यय + कुछ लाभ की मात्रा। इस प्रकार एक पूर्ण लागत मूल्य मे (1) औसत परिवर्तनशील लागत जिसे हाल एव हिच औसत प्रत्यक्ष लागत (direct cost) कहते हैं (2) औसत उपरिव्यय (overhead cost) तथा (3) सामान्य या सन्तोषजनक लाभ की मात्रा सम्मिलित होती है। यह ध्यान रखना चाहिये कि औसत प्रत्यक्ष लागत तथा औसत उपरिव्यय (overhead cost) की गणना एक समयावधि मे प्रत्याशित उत्पादन मात्रा या किसी रूढिगत उत्पादन मात्रा के आधार पर की जाती है।

"पूर्ण लागत के आधार पर कीमत क्यो निर्धारित करते है" यह पूछने पर उपक्रमियो ने इसके लिये अनेक कारण बताये। सर्वप्रथम उन्होने यह बताया कि यदि वे औसत लागत से ऊपर मूल्य निश्चित करेंगे जिससे उन्हें असामान्य लाभ प्राप्त होगा, तो इन लाभो के लिये प्रतियोगिता करने वाले वास्तविक एव सम्भाव्य प्रतियोगियो का भय सदा बना रहेगा। इसके अतिरिक्त उन्होने औसत एव सीमान्त आय की धारणा से अपनी अनभिज्ञता प्रकट की, और सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत से सम्बन्धित आंकडो की अनुपस्थिति की ओर भी सकेत किया। MC एव MR से सम्बन्धित आंकडों की अनुपस्थिति को दृष्टिगत रखते हुए उनके लिये यह कैसे सम्भव होता कि वे इनके आधार पर मूल्य निश्चित करते। साथ ही हाल एव हिच के अनुसार अपने पदार्थों का मूल्य निश्चित करते समय उद्यमकर्ता इस नैतिक सिद्धान्त के अनुसार व्यवहार करते है कि पदार्थ का एक मूल्य होता है जिसे ही वसूल करना चाहिये और यह मूल्य है "पूर्ण लागत मूल्य" जिसमे सामान्य लाभ सम्मिलित रहता है, तथा वे सोचते हैं कि यही सही मूल्य है जो उन्हें अच्छे एव बुरे दोनों व्यावसायिक समयो अर्थात् मन्दी एव समृद्धि काल मे वसूल करना चाहिये। इस प्रकार हाल एव हिच के अनुसार मूल्यो में बार-बार परिवर्तन नहीं होते हैं। उनके अनुसार पूर्ण-लागत मूल्य निर्धारण

1 *Op cit*, p 2

(अ) गुप्त अथवा खुली कपट-संधि (Collusion) (ब) दीर्घकालीन माग एव लागत सम्बन्धी विचार (स) फर्मों के नैतिक विचार तथा (द) मूल्य मे वृद्धि अथवा कमी के अनिश्चित प्रभावो का परिणाम होता है।

उनका यह मत है कि अल्पाधिकारी फर्मों को विकुंचित माँग वक्र का सामना करना पड़ता है और इसके कारण ही वे अल्पकाल मे मूल्य की विरोधवृत्ति पर जोर देते हैं। जैसा कि पूर्व के अध्याय मे व्याख्या की गयी है, विकुंचित माँग वक्र जिसमे प्रचलित मूल्य पर विकुंचन होता है, इस पूर्वधारणा पर बनाया जाता है कि एक अल्पाधिकारी जितनी मूल्य-वृद्धि करता है, उसके प्रतिद्वन्द्वी उतनी मात्रा मे नही करते, परन्तु मूल्य मे कमी का उसके प्रतिद्वन्द्वी तुरन्त अनुसरण करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि माँग वक्र का एक भाग, जो प्रचलित मूल्य के ऊपर होता है अत्यधिक लोचदार होता है, जबकि उस मूल्य से नीचे वाला माँग वक्र का भाग बहुत ही कम लोचदार होता है।

हाल और हिच पूर्ण लागत कीमत-निर्धारण को विकुंचित माँग वक्र विश्लेषण के साथ सयुक्त करते हैं। पदार्थ का प्रचलित मूल्य पूर्ण लागत के आधार पर निर्धारित होता है (जैसा कि ऊपर परिभाषित किया गया है) तथा माँग वक्र मे एक विकुंचन इसी मूल्य पर बनता है। पूर्ण लागत कीमत निर्धारण तथा उसके साथ विकुंचित माँग वक्र विश्लेषण को रेखाकृति 33 1 मे दिखाया गया है। मान लीजिए फर्म OM मात्रा उत्पादन करने का निश्चय करती है। जैसा कि ऊपर बताया गया है यह उत्पादन मात्रा एक समयावधि मे प्रत्याशित बिक्री की मात्रा अथवा किसी परम्परागत स्तर (Conventional Standard) के आधार पर निश्चित होती है। OM उत्पादन मात्रा पर फर्म तब (1) औसत प्रत्यक्ष (परिवर्तनशील) लागत जो श्रम, कच्चे माल इत्यादि पर उठाई जाती है तथा (2) औसत ऊपरि व्यय (overhead cost) जो पूँजीगत उपकरण इत्यादि पर उठाई जाती है की गणना करती है। इसमे फिर वह अपने लाभ की सामान्य अथवा रूढिगत मात्रा को सम्मिलित करती है। इन तीनो मदो का योग ही पूर्ण लागत होता है जिसे हम रेखाकृति 33 1 मे MK मान लें। अत वह फर्म OP मूल्य निश्चित करेगी जो MK के बराबर है। इससे यह ज्ञात होगा कि माँग वक्र
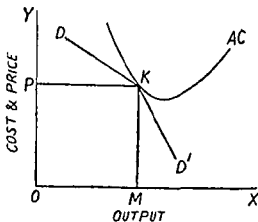
रेखाकृति 33 1 पूर्ण-लागत कीमत निर्धारण सिद्धांत एव विकुंचित माँग वक्र

मे विकुंचन (kink) इसी मूल्य OP या MK पर ही बनेगा।

हाल एव हिच द्वारा प्रयुक्त 'पूर्ण लागत कीमत-निर्धारण सिद्धान्त' के साथ विकुंचित माँग वक्र विश्लेषण अल्पाधिकार के अन्तर्गत अल्पकाल मे मूल्यो म स्थिरता अथवा दृढ़ता के लिए एव व्याख्या प्रस्तुत करता है। माँग मे वृद्धि अथवा कमी साधारणतया विकुंचन को दाहिने अथवा बायें ओर सरका देगी परन्तु मूल्य को अपरिवर्तित छोड देगी। परन्तु हाल एव हिच ने इस सामान्य नियम के दो अपवाद बतलाये हैं जिनम पदार्थ का मूल्य परिवर्तित होता है —

1 यदि माँग मे अत्यधिक वृद्धि हो जाय तथा माँग निम्न स्तर पर कुछ समय तक बनी रहे तो इस बात की सम्भावना होती है कि उत्पादन मात्रा को यथावत् बनाये रखने के लिए मूल्य मे कमी हो जायेगी। हाल एव हिच के अनुसार माँग मे मन्दी के सदर्भ मे मूल्य मे इस कमी का कारण यह है कि एक उद्यम-कर्त्ता आतंकित हो सकता है और उसका अविवेकपूर्ण व्यवहार अन्यो को भी कीमत मे कटौती के लिये बाध्य कर देता है।

2 यदि सभी फर्मों का औसत लागत वक्र साधन-मूल्यों या प्रौद्योगिकी (technology) मे परिवर्तन के कारण समान मात्रा मे सरक जाय तो सम्भव है कि "पूर्ण लागत" मूल्य का पुनर्मूल्यन हो जाय। मगर हाल एव हिच यह बताते हैं कि मूल्यो मे मजदूरी तथा कच्चे माल की लागत की अपेक्षा अधिक बढने अथवा घटने की प्रवृत्ति नही होती है।

ध्यान रहे कि यदि यह दिया हुआ हो कि औसत लागत वक्र उत्पादन की पर्याप्त अधिक मात्रा तक गिरता जाता है तो पूर्ण लागत कीमत-निर्धारण सिद्धान्त यह व्यक्त करता है कि पदार्थ का मूल्य उत्पादन मात्रा मे परिवर्तन की विलोम दिशा (inversely) मे बदलता है। उत्पादन की कम मात्रा पर प्रति इकाई लागत ऊँची पडेगी और इस कारण ऊँचा मूल्य निश्चित होगा। परन्तु हाल एव हिच के अनुसार अल्पाधिकारी अल्प उत्पादन मात्रा का उत्पादन नही करेंगे और इसलिए वे ऊँचे मूल्य वसूल नही करेंगे। इसका कारण यह है कि अल्पाधिकारी (1) मूल्य स्थिरता पसन्द करते है, (2) माँग वक्र मे विकुचन के कारण मूल्य बढाने मे बाधा होती है तथा (3) उनमे उत्पादन मात्रा के ऊँचे स्तर पर उत्पादन करने की प्रवृत्ति होती है अथवा पुन हाल एव हिच के शब्दो मे, "वे सयन्त्र को जितना अधिक सम्भव हो उस सीमा तक चालू रखने के इच्छुक रहते हैं जिससे मूल्य कम करने के पक्ष मे एक सामान्य भावना बनी रहती है।"

पूर्ण लागत कीमत निर्धारण : एन्ड्र्यूज का विचार

(Full-Cost Pricing : Andrews' Version)

प्रो० एन्ड्र्यूज ने भी व्यवसायियो द्वारा मूल्य निर्धारण के एक पूर्ण-लागत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। एन्ड्र्यूज का विश्लेषण भी हाल एव हिच के विश्लेषण से मिलता-जुलता है, पर इन दोनो मे कुछ अन्तर है। इन दोनो मे एक महत्वपूर्ण अन्तर एन्ड्र्यूज द्वारा "परिव्ययाकन अन्तर" ("Costing margin") की धारणा के प्रयोग मे है। एन्ड्र्यूज द्वारा "परिव्ययाकन अन्तर" स्थिर औसत प्रत्यक्ष लागत मे एक वृद्धि के रूप मे अभिव्यक्त किया गया है तथा "सामान्यत यह उत्पादन के अप्रत्यक्ष साधनो की लागत को समाविष्ट करने एव शुद्ध लाभ का एक सामान्य स्तर प्रदान करने की प्रवृत्ति रखेगा" ("will normally tend to cover the costs of the indirect factors of production and provide a normal level of net profit.")[1] इस प्रकार हाल एव हिच के विश्लेषण की भाँति ही पदार्थ के मूल्य निर्धारण के लिए औसत परिवर्तनशील लागत मे 'परिव्ययाकन अन्तर' का योग भी लाभ को अधिकतम करने के सिद्धान्त पर आधारित परम्परागत मूल्य निर्धारण सिद्धान्त के विरुद्ध जाता है। अत. एन्ड्र्यूज की 'परिव्ययाकन अन्तर' की धारणा हाल एव हिच की कीमत लागत-अन्तर (mark-up) धारणा के समान ही है। पर इनमे एक अन्तर है। जबकि हाल एव हिच एक स्थिर या दृढ कीमत लागत अन्तर (mark-up) या उपरिव्यय तथा सामान्य लाभ के अन्तर को व्यक्त करते हैं, एन्ड्र्यूज उन परिस्थितियो का विस्तार से वर्णन करते हैं जिनमे 'परिव्ययाकन अन्तर' प्रतियोगी एव बाजार सम्बन्धी शक्तियो की प्रतिक्रिया स्वरूप कुछ परिवर्तनशील हो सकता है। जैसा कि बाद मे स्पष्ट रूप से प्रकट होगा, 'परिव्ययाकन अन्तर' मे परिवर्तनशीलता का प्रयोग एन्ड्र्यूज के पूर्ण लागत मूल्य सिद्धान्त को लाभ को अधिकतम करने के सिद्धान्त पर आधारित कीमत-सिद्धान्त के काफी निकट ला देता है। एन्ड्र्यूज तथा हाल एव हिच के 'पूर्ण-लागत मूल्य निर्धारण सिद्धान्त' के सिद्धान्तों मे एक दूसरा अन्तर यह है कि जबकि हाल एव हिच पूर्ण-लागत कीमत-निर्धारण के साथ विकुचित माँग वक्र का प्रयोग करते हैं, एन्ड्र्यूज अपने पूर्ण लागत सिद्धान्त मे विकुचित माँग वक्र परिकल्पना का कोई प्रयोग नही करते हैं। इसके अतिरिक्त दोनो के बीच एक अन्य महत्वपूर्ण अन्तर यह भी है कि जबकि हाल एव हिच यह विचार करते हैं कि औसत लागत उत्पादन की मात्रा के साथ-साथ परिवर्तित होती है तथा औसत लागत वक्र U आकृति का होता है, एन्ड्र्यूज यह विचार व्यक्त करते हैं कि उत्पादन मात्रा

1. *Op. cit*, p, 184

के एक बृहत् सम्बद्ध क्षेत्र तक औसत परिवर्तनशील (variable) लागत स्थिर होती है।

एन्ड्रयूज के पूर्ण लागत सिद्धान्त को निम्नलिखित रूप मे संक्षिप्त किया जा सकता है

(i) व्यावसायिक फर्मों द्वारा निश्चित मूल्य उत्पादन की अनुमानित औसत प्रत्यक्ष लागत + परिव्ययांकन अन्तर (costing margin) के बराबर होगा। दूसरे शब्दो मे मूल्य प्रति इकाई उत्पादन की पूर्ण लागत के बराबर होगा।

(ii) दूसरे, एन्ड्रयूज अनुभवगम्य अध्ययन के आधार पर यह मानते हैं कि औसत प्रत्यक्ष लागत (अर्थात् औसत परिवर्तनशील लागत) उत्पादन की एक बृहत् मात्रा तक स्थिर रहती है यदि प्रत्यक्ष साधनो (अर्थात् परिवर्तनशील साधनो) की कीमतें अपरिवर्तित रहें। अत एन्ड्रयूज के अनुसार यदि परिवर्तनशील साधनो की कीमतें स्थिर रहती हैं तो औसत प्रत्यक्ष लागत वक्र अपने बडे भाग तक क्षितिज के समानान्तर रेखा होगा।

(iii) जैसा कि ऊपर बताया गया है, 'परिव्ययांकन अन्तर' मे उत्पादन के अप्रत्यक्ष साधनो (अर्थात् स्थिर साधनो) पर तथा लाभ की सामान्य दर पर किया गया व्यय समाविष्ट होता है। एक बार निश्चित हो जाने के बाद 'परिव्ययांकन अन्तर' स्थिर रहेगा चाहे उत्पादन की मात्रा कुछ भी हो। किन्तु 'परिव्ययांकन अन्तर' उत्पादन के अप्रत्यक्ष साधनो (स्थिर साधनो) की कीमतो मे स्थायी परिवर्तन के परिणामस्वरूप परिवर्तित होगी। जैसा कि पहले बताया गया है कि एन्ड्रयूज भी प्रतियोगी एव बाजार की शक्तियो की प्रतिक्रिया स्वरूप 'परिव्ययांकन सीमा' मे परिवर्तन का निरूपण करता है।

(iv) चौथे, एन्ड्रयूज का अध्ययन यह भी बताता है कि उत्पादन के प्रत्यक्ष साधनो की कीमतो के दिये होने पर, पदार्थ का मूल्य यथावत् रहेगा चाहे उत्पादन की मात्रा कुछ भी हो।

(v) अन्त में पूर्ण-लागत के आधार पर निश्चित मूल्य पर दिये हुए पदार्थ का बाजार सुनिश्चित होगा तथा फर्म उस मूल्य पर क्रेताओ द्वारा माँग की गई पदार्थ की मात्रा को बेचेगी।

एन्ड्रयूज द्वारा प्रतिपादित पूर्ण-लागत कीमत-निर्धारण सिद्धान्त को रेखाकृति 33 2 मे प्रदर्शित किया गया है। इसमे लागत वक्र AC औसत प्रत्यक्ष लागत (अर्थात् औसत परिवर्तनशील लागत) को निरूपित करता है। आप यह देखेंगे कि औसत प्रत्यक्ष लागत-वक्र AC की आकृति एक प्लेट के समान है अर्थात् यह पहले नीचे को गिरता है फिर पर्याप्त अधिक मात्रा मे उत्पादन की वृद्धि तक स्थिर रहता है और फिर उसके बाद यह अन्ततः ऊपर को उठने लगता है। इसके अनुरूप MC सीमान्त लागत वक्र है जो शुरू मे नीचे को गिरता है और AC वक्र के नीचे होता है। तत्पश्चात् यह AC वक्र के साथ एकाकार हो जाता है और अन्ततः जब यह ऊपर को उठने लगता है तो AC वक्र के ऊपर हो जाता है। व्यावसायिक फर्मों को अपने
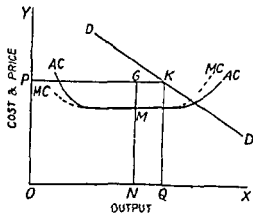
रेखाकृति 33 2 पूर्ण-लागत के आधार पर मूल्य निर्धारण

उत्पादन का मूल्य निश्चित करने के लिए औसत प्रत्यक्ष लागत के अतिरिक्त कुल अप्रत्यक्ष लागतो (स्थिर लागतो) की तथा जो लाभ व अर्जित करना चाहती है उसकी मात्रा की भी गणना करनी पड़ती है। कुल अप्रत्यक्ष लागतो तथा लाभ की आयोजित मात्रा के योग से मुद्रा की एक निश्चित मात्रा प्राप्त

होगी जो अल्पकाल मे मूल्य निर्धारण मे स्थिर रहेगी। एन्ड्र्यूज के अनुसार परिव्ययाकन अन्तर मुद्रा की इस निश्चित मात्रा को किसी अभीष्ट उत्पादन की मात्रा से विभाजित करके प्राप्त किया जाता है।

इस अभीष्ट उत्पादन मात्रा को जिसका प्रयोग परिव्ययाकन अन्तर का अनुमान लगाने के लिए किया जाता है, अनेक प्रकार से निश्चित किया जा सकता है। प्रथमत इसे दिए हुए सयन्त्र की उत्पादन क्षमता (capacity output) के आधार पर निश्चित किया जा सकता है (उत्पादन क्षमता का अर्थ उस अधिकतम उत्पादन से है जिसका दिए हुए सयन्त्र के साथ उत्पादन किया जा सकता है)। दूसरे, अभीष्ट उत्पादन मात्रा को पूर्ववर्ती उत्पादन अवधि मे उत्पादन की बिक्री अथवा पहले की विभिन्न उत्पादन अवधियो मे बिक्री के प्राप्त औसत के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। और तीसरे, उत्पादन मात्रा को भविष्य की किसी अवधि मे जिसके लिए उत्पादन किया जा रहा हो, प्रत्याशित बिक्री के आधार पर निश्चित किया जा सकता है।

यदि एक नई फर्म को अपने पदार्थ का मूल्य निश्चय करना हो अथवा फर्म ने एक नये पदार्थ का उत्पादन प्रारम्भ किया हो जिसका मूल्य उसे निश्चित करना हो, तब 'परिव्ययाकन अन्तर' का अनुमान लगाने के लिए उत्पादन की मात्रा को निश्चय करने के, ऊपर बताये गये दूसरे तरीके को छोड दिया जाता है, और इन परिस्थितियो मे केवल पहला एव तीसरा तरीका ही उपयुक्त होता है। वस्तुत जब कोई फर्म नयी होती है अथवा वह किसी नये पदार्थ का उत्पादन शुरू करती है तो उत्पादन मात्रा का चुनाव करने के पहले एव तीसरे दोनो तरीको का अर्थ एक ही होता है। इसका कारण यह है कि सयन्त्र की परिकल्पित क्षमता (designed capacity of the plant) भविष्य मे पदार्थ की प्रत्याशित बिक्री द्वारा निर्धारित होती है।

रेखाकृति 33 2 मे हम यह मान लें कि फर्म ने 'परिव्ययाकन अन्तर' का आकलन करने के लिए तथा पदार्थ का मूल्य निश्चित करने के लिए ON उत्पादन की मात्रा को निश्चित किया है। इसके बाद मान लीजिए कि यदि 'मुद्रा की निश्चित मात्रा' जो कुल उपरिव्यय (overhead cost) (या अप्रत्यक्ष लागत) तथा लाभ के सामान्य स्तर का प्रतिनिधित्व करती है, को निर्धारित उत्पादन मात्रा ON से विभाजित किया जाता है तो इससे MG मात्रा प्राप्त होती है, जो 'परिव्ययाकन अन्तर' है। पदार्थ का मूल्य निर्धारण करने के लिए औसत प्रत्यक्ष लागत मे जोडा जाता है। रेखाकृति 33 2 मे यह देखा जा सकता है कि ON उत्पादन की मात्रा पर औसत प्रत्यक्ष लागत NM है। यदि हम 'परिव्ययाकन अन्तर' (राशि) MG को NM में जोड दे तो हमे NG के बराबर पूर्ण लागत प्राप्त होती है। अत मूल्य OP पूर्ण-लागत NG के बराबर निश्चित होगा। यह ध्यान देने योग्य है कि पूर्ण लागत NG के आधार पर निश्चित मूल्य OP अपरिवर्तित रहेगा चाहे पदार्थ की माँग एव उस अवधि मे पदार्थ की उत्पादित मात्रा (वास्तविक) कुछ भी हो। अब यदि पदार्थ की माँग DD माँग वक्र द्वारा दी हुई हो तो रेखाकृति मे यह देखा जा सकता है कि OP मूल्य पर पदार्थ की OQ मात्रा की माँग होगी और अत इसी मात्रा का उत्पादन किया जायेगा।[1] पदार्थ की माँग बढे अथवा घटे तो भी मूल्य OP पर अपरिवर्तित रहेगा बशर्ते कि माँग की मात्रा स्थिर औसत प्रत्यक्ष लागत के क्षेत्र मे ही रहे अर्थात् माँग वक्र के क्षैतिज सीधी रेखा वाले भाग मे रहे, साथ ही यह भी आवश्यक है कि परिव्ययाकन अन्तर अपरिवर्तित रहे। इस प्रकार हम देखते हैं कि एण्ड्रयूज के कथनानुसार पूर्ण लागत सिद्धान्त भी मूल्य मे परिवर्तन प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष उत्पादन लागतो मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप होगा न कि माँग मे परिवर्तन के फलस्वरूप। अत पूर्ण लागत सिद्धान्त के अनुसार, "मूल्य, माँग मे परिवर्तन की प्रतिक्रिया स्वरूप नही, बल्कि केवल प्रत्यक्ष एव अप्रत्यक्ष साधनो

---

1 ध्यान रहे कि यदि दी हुई माँग को पूरा करना है तो OQ उत्पादन मात्रा फर्म के अधिकतम उत्पादन सामर्थ्य के भीतर ही होनी है। यदि OQ फर्म की अधिकतम उत्पादन क्षमता से अधिक हो जाय किन्तु फर्म के पास पूर्ववर्ती उत्पादन का संचित भण्डार हो तब वह उस माँग को पूरा करने के लिए अपने स्टाक का प्रयोग कर सकती है।

के मूल्यो मे परिवर्तन के प्रत्युत्तर मे परिवर्तित होगा।" (The price will not be altered in response to changes in demand, but only in response to changes in the prices of the direct and indirect *factors*")[1]

पूर्ण-लागत मूल्य-निर्धारण का अधिक विशद-विस्तृत विश्लेषण
(Full-Cost Pricing Analysis further Elaborated and Extended)

ऊपर हमने पूर्ण-लागत कीमत-निर्धारण सिद्धान्त की दो मिलती-जुलती व्याख्याओ का विवेचन किया है। पूर्ण-लागत सिद्धान्त का मूल तत्त्व यह है कि मूल्य निर्धारित करने के लिए सीमान्त आय एव सीमान्त लागत को बराबर करने के बजाय फर्मों द्वारा मूल्य पूर्ण लागत के आधार पर निश्चित किया जाता है, और यह मूल्य माँग की मात्रा मे परिवर्तन होने से अपरिवर्ती रहता है। पूर्ण-लागत कीमत-निर्धारण सिद्धान्त का अगला निहितार्थ यह है कि फर्मों को मूल्य, माँग एव पूर्ति द्वारा निर्धारित मूल्य के रूप मे स्वीकार करने की आवश्यकता नही पडती है। वस्तुत वास्तविक जगत मे फर्में, विशेषकर जो अल्पाधिकार की दशा म कार्य करती हैं, अपने मूल्यो पर नियन्त्रण रखती हैं अर्थात् वे अपनी कीमतो को स्वय निर्धारित करती हैं। यदि पूर्ण-लागत पर आधारित निश्चित मूल्यो पर पदार्थ की माँग एव पूर्ति सन्तुलन मे नही हैं तो पूर्ण-लागत-कीमत-निर्धारण विश्लेषण मे माँग एव पूर्ति को सन्तुलन मे लाने के लिए मूल्य मे समायोजन नही होता है, सामान्यत मूल्य स्थिर एव दृढ होता है। मार्शल के मूल्य विश्लेषण मे (श्रीमती जोन राबिन्सन एव चैम्बरलिन की अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य-निर्धारण विश्लेषण भी इस सम्बन्ध मे मार्शल की रीति का अनुगमन करता है।) जब कभी माँग एव पूर्ति मे असन्तुलन होता है तो मूल्य मे परिवर्तन अथवा समायोजन द्वारा उनमे अस्थायी सन्तुलन पुन स्थापित किया जा सकता है। यही कारण है कि प्रो० जे० आर० हिक्स मार्शल की रीति को **'लचीला-मूल्य बाजार'** (Flux-Price Market) (अथवा अल्पकालीन सन्तुलन रीति) कहते हैं।[2] 'लचीला-मूल्य बाजार' से उनका अभिप्राय यह है कि मूल्य नमनीय (लचकदार) होता है और *जब भी कभी बाजार (अर्थात् माँग एव पूर्ति मे)* मे असन्तुलन होता है तो मूल्य मे परिवर्तन द्वारा सन्तुलन पुन स्थापित हो जाता है। परन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है पूर्ण-लागत कीमत-निर्धारण सिद्धांत मे माँग एव पूर्ति मे अस्थायी सन्तुलन स्थापित करने के लिए मूल्य मे इस प्रकार का समायोजन नही होता है। अत पूर्ण-लागत मूल्य-निर्धारण विश्लेषण वही बात व्यक्त करता है जिसे हिक्स ने **"स्थिर-मूल्य बाजार"** (Fix-Price Market) कहा है, जिसका अर्थ यह होता है कि मूल्य-स्थिर रहता है और यदि माँग एव पूर्ति असन्तुलन में है तो यह उन्हें पुन सन्तुलन मे लाने के लिए परिवर्तित नही होता है।

अब एक प्रसगानुकूल प्रश्न यह उठता है कि एक स्थिर-मूल्य बाजार मे, जहाँ कीमतें पूर्ण लागत पर आधारित होती हैं, जब माँग एव पूर्ति मे असन्तुलन है तो क्या होता है? हम इस प्रश्न पर विचार दो स्थितियों मे करेंगे। प्रथमत जब एक निश्चित पूर्ण-लागत मूल्य पर माँग पूर्ति से अधिक होती है तथा दूसरे जब निश्चित पूर्ण-लागत मूल्य पर पूर्ति माँग से अधिक होती है।

पूर्ण-लागत स्थिर-मूल्य बाजार और आधिक्य माँग (Full Cost Fix-Price Market and Excess Demand)

रेखाकृति 33 3 पर ध्यान दीजिए। फर्म के उत्पादन की माँग DD है तथा फर्म ने अपने पूर्ण लागत के बराबर OP मूल्य निश्चित किया है। OP मूल्य पर फर्म OQ मात्रा का उत्पादन एव पूर्ति कर रही है जो कि माँग की भी मात्रा है। इस प्रकार माँग एव पूर्ति सन्तुलन मे है। अब मान लीजिए कि फर्म के उत्पादन की माँग बढ कर $D'D'$ हो जाती है। माँग मे इस वृद्धि के परिणामस्वरूप OP मूल्य पर उत्पादन की

1 W J L Ryan, *Price Theory*, Macmillon, London 1958, p 377

2 J R Hicks, *Capital and Growth*, Chapter V and VI.

PT अथवा OQ' मात्रा की माँग की जाती है। अत OP मूल्य पर आधिक्य माँग GT उत्पन्न हुई है। अब यदि इस आधिक्य माँग के फलस्वरूप मूल्य QK तक
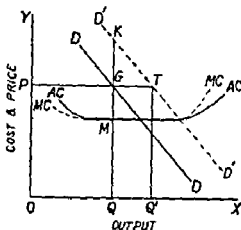
रेखाकृति 33 3 पूर्ण-लागत कीमत-निर्धारण तथा आधिक्य माँग

बढ सकता है तो माँग एव पूर्ति के बीच सन्तुलन पुन स्थापित हो जायेगा। किन्तु पूर्ण-लागत कीमत निर्धारण विश्लेषण मे आधिक्य माँग की स्थिति मे मूल्य को परिवर्तित होने की आवश्यकता नही है। इस स्थिति मे फर्म द्वारा उत्पादन का सचित स्टॉक (भण्डार) परिवर्तित हो सकता है। आधिक्य माँग की स्थिति म सचित स्टाक से माल आधिक्य माँग को पूरा करने के लिये निकाला जायेगा। लेकिन यदि आधिक्य माँग अधिक और स्थिर होगी तो स्टाक के खाली होने के साथ-साथ मूल्य मे भी कुछ वृद्धि करनी होगी। परन्तु यदि फर्म यह सोचती है कि माँग मे वृद्धि स्थायी है, तब दीर्घ-काल मे यह अपनी उत्पादन क्षमता को बढायेगी और यह दिया हुआ होने पर जैसा कि पूर्ण-लागत मूल्य सिद्धान्त मे मान लिया गया है कि लागतें स्थिर होती हैं, यह अतिरिक्त उत्पादन की पूर्ति उसी मूल्य पर करेगी अत 'मूल्य सन्तुलन स्तर से नीचे रोक कर रखा जायेगा, यदि उत्पादक यह सोचते हैं कि माँग मे वृद्धि अस्थायी है, यदि नयी उत्पादन क्षमता निकट भविष्य मे उपलब्ध हो जाने की सभावना अथवा यदि आधिक्य माँग को पूरा करने के लिए आयात को निरापद रूप से बढाया जा सकता है।'[1] यह दिया हुआ होने पर कि दीर्घकालीन लागत वक्र क्षैतिज (horizontal) होता है पूर्ण लागत पर आधारित मूल्य के स्थिर होने की सम्भावना होती है। स्टोनियर एव हेग आगे कहते हैं 'मूल्य मे वृद्धि एक अल्पकालिक तरीका हो सकता है। यह स्थिति जब तक नयी क्षमता स्थापित न हो जाय तब तक रहती है। मूल्य मे इस प्रकार की अल्पकालिक वृद्धि पर सावधानीपूर्वक विचार किया जायेगा। मूल्य मे वृद्धि तभी होगी जबकि यह अल्प-कालीन न कि दीर्घकालीन माँग को घटायेगी। यदि मूल्य वृद्धि का परिणाम पर्याप्त मात्रा मे माँग को स्थायी रूप से दूसरे उद्योगो द्वारा उत्पादित पदार्थों की ओर या आयातित वस्तुओ की ओर आकर्षित होने के रूप मे होता है तो यह लगभग निश्चित है कि मूल्य नहीं बढाया जायेगा।'[2]

पूर्ण लागत स्थिर मूल्य बाजार एव आधिक्य पूर्ति (Full Cost Fix Price Market and Excess Supply)

उपर्युक्त समस्या के विपरीत समस्या भी पूर्ण लागत स्थिर-मूल्य बाजार मे उत्पन्न हो सकती है।
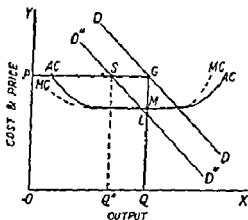
रेखाकृति 33 4 पूर्ण-लागत मूल्य निर्धारण तथा आधिक्य पूर्ति

यह पूर्ण-लागत पर आधारित प्रचलित कीमत पर आधिक्य पूर्ति की उपस्थिति की समस्या है। आधिक्य

1 Stonier and Hague *op cit* p 47
2 *Op cit* p 247

पूर्ति उस समय उत्पन्न हो सकती है जब एक सन्तुलन स्थिति से माँग मे कमी हो जाती है। चूँकि पूर्ण-लागत स्थिर-मूल्य बाजार मे माँग मे कमी होने की प्रतिक्रिया-स्वरूप, माँग एव पूर्ति मे पुन सन्तुलन लाने के लिये *सामान्यतया मूल्य कम नही होता है* अत आधिक्य पूर्ति का उदय होना स्वाभाविक है। रेखाकृति 33 4 पर ध्यान दीजिये जिसमे *प्रारम्भ मे माँग वक्र* DD है तथा पूर्ण लागत मूल्य OP नियत है। मान लीजिए कि OP कीमत पर माँग को पूरा करने के लिए OQ मात्रा का उत्पादन किया जा रहा है। इस तरह माँग एव पूर्ति सन्तुलन मे है। अब कल्पना कीजिये कि माँग घट कर $D''D''$ हो जाती है। यदि लचीला-मूल्य बाजार होता तो मूल्य गिर कर QL के बराबर हो जाता तथा माँग एव पूर्ति के बीच अस्थायी सन्तुलन इस निचले मूल्य QL पर स्थापित हो गया होता। परन्तु स्थिर-मूल्य बाजार होने के कारण $D''D''$ माँग वक्र के अनुसार OP मूल्य पर उत्पादन की OQ'' मात्रा का माँग की जायेगी। किन्तु चूँकि उत्पादन या वस्तु की पूर्ति OQ है अत QQ'' के बराबर *आधिक्य* पूर्ति उत्पन्न होगी। लेकिन आधिक्य पूर्ति की समस्या आधिक्य माँग की समस्या की अपेक्षा सरल है। इसका कारण यह है कि जब आधिक्य पूर्ति होती है तो वस्तु का स्टॉक बढ़ाया जा सकता है जिससे बाजार मे अति-*रिक्त मात्रा को रोककर सचित किया जा सके।* किन्तु स्टाक को रोकने तथा सचित करने की वित्त व्यवस्था बडी मँहगी होती है। इसके अतिरिक्त उन उद्योगो मे जहाँ तकनीकी परिवर्तन तेजी से हो रहा है, स्टॉक मे रखा हुआ उत्पादन पदार्थ की माँग के पुराने स्तर पर आने के पहले ही, *अप्रचलित (out of date) तथा* अप्रयोज्य हो जायेगा। "स्टाक तो आधिक्य पूर्ति का दबाव केवल कुछ समय के लिये हो सह सकते है। एक बार जब वे उस स्थिति, जिसे अधिकतम सहनीय स्तर कहा जाता है, पर पहुच जाते है, तो उद्योग पर अधिक माँग का *सृजन करने के लिये कीमतो को घटाने अथवा* उत्पादन मात्रा को कम करने के लिये दबाव पडने लगेगा। ' '' वस्तुत क्या होता है, यह भिन्न-भिन्न उद्योगो मे अलग-अलग होगा। यदि माँग म कमी के अस्थायी होने की आशा है तो मूल्य की अपेक्षा उत्पादन की मात्रा मे कटौती सम्भाव्य होती है। केवल उस दशा मे जबकि माँग मे कमी स्थायी रूप से अथवा अधिक समय के लिए हुई हो तो मूल्य मे कमी हो जायगी क्योकि प्रत्येक उत्पादक छोटे बाजार मे अपना भाग बनाये रखने का प्रयास करता है।"[1]

उपर्युक्त विश्लेषण का यह तात्पर्य निकलता है कि *पूर्ण-लागत मूल्य-निर्धारण मे माँग मे अल्पकालीन* परिवर्तनो की दशा मे मूल्य के स्थिर होने की सम्भा-*वना रहती है।* पूर्ण लागत पर आधारित मूल्यो के लिये वस्तु का स्टाक उपधान (cushion) प्रदान करता है। अत मूल्यो का पूर्ण लागत विश्लेषण अल्पाधिकारिक बाजार मे दिखाई पडने *वाली मूल्य-स्थिरता* की एक दूसरी व्याख्या है।

पूर्ण-लागत सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of Full-Cost Theory)

हमने पूर्ण-लागत कीमत-निर्धारण सिद्धान्त की *विस्तृत रूप से व्याख्या की है। इसके अनुभवगम्य अन्वेषण पर आधारित होने के* बावजूद पूर्ण-लागत मूल्य निर्धारण सिद्धान्त अर्थशास्त्रियो के बीच सामान्य स्वीकृति नही पा सका है। अनेक अर्थशास्त्रियो ने इस सिद्धान्त की आलोचना की है तथा उन्होने सीमान्त-वाद एव लाभ अधिकतम करने के सिद्धान्त का समर्थन *किया है।*

सर्वप्रथम, यह दावा किया गया है कि पूर्ण-लागत *सिद्धान्त, सीमान्त आय को सीमान्त लागत से समानता* (लाभ अधिकतम करने) पर आधारित मूल्य निर्धारण का खण्डन नही कहा जा सकता तथा यह कि पूर्ण-लागत कीमत-निर्धारण (अथवा कीमत-लागत अन्तर मूल्य निर्धारण भी इसे कभी-कभी कहा जाता है) *सीमान्त विश्लेषण तथा लाभ अधिकतम करने के* सिद्धान्त पर आधारित मूल्य-निर्धारण के यह पर्याप्त अनुरूप है। यह दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि 'परि-व्ययांकन अन्तर' (costing margin) या 'लागत-मूल्य

1 Stonier and Hague, *Op cit*, p 248

अन्तर' (mark-up) इस बात पर विचार करने के बाद चुना जाता है कि किसी विशेष पदार्थ की माँग की मूल्यसापेक्षता क्या है। यदि मूल्यसापेक्षता अधिक है तो कम 'लागत-मूल्य अन्तर' (mark-up) निश्चित किया जाता है, तथा यदि पदार्थ के माँग की मूल्यसापेक्षता कम है तो अधिक लागत-मूल्य अन्तर' (greater mark-up) निश्चित होगा। पूर्ण-लागत मूल्य-निर्धारण की मूल्य-निर्धारण के सीमान्त विश्लेषण के साथ अविरुद्धता एवं अनुरूपता को किस प्रकार प्रमाणित किया जा सकता है इसकी व्याख्या नीचे की गयी है।

हम मूल्य (P) मूल्य सापेक्षता (e) तथा सीमान्त आय (MR) के बीच सम्बन्धों के अपने पूर्ववर्ती विश्लेषण से यह जानते है कि—

$$P = MR \frac{e}{e-1} \qquad (1)$$

चूँकि सन्तुलन की स्थितियों मे $MR = MC$ होता है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि

$$P = MC \frac{e}{e-1}$$

अब, जैसा कि सामान्यतया वास्तविक जगत मे होता है तथा जैसा कि पूर्ण-लागत सिद्धान्त मे भी मान लिया जाता है, यदि स्थिर लागतें प्रचलित हों तब सीमान्त लागत (MC) औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) के बराबर होगी। अत समीकरण (1) मे MC के स्थान पर AVC लिखने पर निम्न निष्कर्ष होगा।

$$P = AVC \frac{e}{e-1}$$

$$= AVC \left(1 + \frac{1}{e-1}\right)$$

$$= AVC + AVC \times \frac{1}{e-1}$$

अत मूल्य $P = AVC + \text{Mark-up}$

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'लाभ अधिकतम करने' की पूर्वधारणा के आधार पर 'लागत-मूल्य अन्तर' (mark-up) अथवा 'परिव्ययांकन अन्तर' (costing margin) $AVC \frac{1}{e-1}$ के बराबर है।

मान लीजिए पदार्थ की माँग की मूल्यसापेक्षता 5 है, तब $\text{Mark-up} = AVC \frac{1}{e-1} = AVC \frac{1}{5-1}$ $= \frac{1}{4} AVC$ इसका अर्थ यह हुआ कि निश्चित लागत-मूल्य अन्तर' (mark-up) AVC का 25% होगा। मूल्य $AVC + 25\%$ of AVC (as mark-up) के बराबर होगा।

उपर्युक्त व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत के आधार पर निश्चित मूल्य निर्धारण औसत परिवर्तनशील लागत में एक 'लागत-मूल्य अन्तर' (mark-up) जोड़ने पर आधारित 'पूर्ण-लागत मूल्य निर्धारण' के अनुरूप होगा। इसीलिए यह दृढतापूर्वक कहा गया है कि पूर्ण लागत कीमत निर्धारण मे आवश्यक रूप से यह अर्थ नही निकाला जाता है कि फर्म अपना लाभ अधिकतम नही करती है। माँग की मूल्य सापेक्षता के आधार पर निश्चित 'लागत-मूल्य अन्तर' (mark-up) का अर्थ होता है लाभ अधिकतम करना। इस प्रकार प्रो० बिलास के कथनानुसार[1] 'आर्थिक दशाओं तथा माग ही मौसमी परिवर्तनों के साथ समय-समय पर 'लागत-मूल्य अन्तर' परिवर्तित होता रहेगा। ये परिवर्तन माँग वक्र के आकार तथा माँग की मूल्य-सापेक्षता (e) मे परिवर्तन उत्पन्न करते हैं। इसलिए जब एक व्यवसायी परिवर्तनशील लागत के साथ 'लागत मूल्य, अन्तर' जोड कर मूल्य लगाता है और इसका 'लागत-मूल्य अन्तर' बाजार की अनुमति के आधार पर (by "feel of the market") निर्धारित किया जाता है तब हम जानते हैं कि यह वास्तव मे, माँग की मूल्य-सापेक्षता के गुणांक के बारे में ही एक अटकल मात्र है तथा यह कि आर्थिक सिद्धान्त इससे आवश्यक रूप से खण्डित नहीं हो रहा है।" (The mark-up will vary from time to time with economic

1 R. A. Bilas, *Microeconomic Theory*, Second edition, 1971 p 231

conditions as well as with seasonal changes These variations bring about changes in the shape of the demand curve and in e Therefore, when the businessman prices at variable cost plus a mark-up and his mark-up charge is arrived at by a "feel of the market", we know that it is really a guess at the co-efficient of price elasticity of demand and that economic theory is not necessarily being contradicted ")[1]

इसी प्रकार स्टोनियर एव हेग लिखते हैं—"यदि पूर्ण-लागत कीमत-निर्धारण अस्तित्व मे होता है तो इसका आवश्यक रूप से यह अर्थ नही होता है कि फर्में, आर्थिक सिद्धान्त द्वारा सुझाये गये तरीके से बहुत भिन्न रूप मे व्यवहार करती हैं। चाहे किसी उद्योग मे 'पूर्ण-लागत' मूल्य लेने की व्यापक रूप से अपनायी गयी परम्परा प्रचलित हो तो भी एक सन्तोषजनक लाभ की मात्रा क्या होगी, यह प्रतियोगी दशाओ द्वारा उस उद्योग मे उपलब्ध लाभ के अन्तरो की समयोपरि-स्थापित समझदारी द्वारा निश्चित हो सकती है। 'परम्परागत लाभ अन्तर' तो फर्मों को केवल लगभग उतना ही मूल्य वसूल करने के लिए समर्थ बना सकता है, जितना मूल्यस्तर उस उद्योग के बाजार की प्रतियोगी दशाओ द्वारा उस उद्योग के बाजार मे प्राप्त हो सकता है। पूर्ण लागत नियम का प्रयोग करके मूल्य निकालना लगभग उसी परिणाम को प्राप्त करने की एक सरल विधि मात्र है, जिस परिणाम पर वह फर्म सीमान्त लागत को सीमान्त आय के समान करके पहुचती।"

परन्तु पूर्ण-लागत और सीमान्त लागत मूल्य निर्धारण के मध्य उपर्युक्त स्थापित सश्लेषण इस दृष्टिकोण पर आधारित है (जिसे कुछ अनुभवगम्य आधार भी प्राप्त है) कि 'लागत-मूल्य अन्तर' (mark-up) पदार्थ की माँग की मूल्यसापेक्षता को ध्यान मे रखकर निश्चित किया जाता है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त निष्कर्ष, कि पूर्ण-लागत कीमत-निर्धारण तथा लाभ अधिकतम करने के सिद्धान्त पर आधारित कीमत निर्धारण का सीमान्त विश्लेषण का तात्पर्य एक ही होता है, वस्तुत इस मान्यता पर आधारित है कि उत्पादन मात्रा मे परिवर्तन होने के साथ औसत परिवर्तनशील लागत स्थिर रहती है। यदि औसत परिवर्तनशील लागत स्थिर न रहे बल्कि उत्पादन मात्रा के साथ परिवर्तित होती हो तो सन्तुलन की स्थिति मे सीमान्त लागत औसत परिवर्तनशील लागत (*AVC*) के बराबर नही होगी तथा इसीलिये उपर्युक्त स्थापित सश्लेषण उपयुक्त नही होगा। दूसरे, सश्लेषण प्रस्तुत करते समय यह मान लिया गया है कि 'लागत-मूल्य अन्तर' औसत कुल लागत पर आधारित न होकर औसत परिवर्तनशील लागत (*AVC*) पर आधारित है। यदि लागत-मूल्य अन्तर औसत कुल लागत पर आधारित है, तो त्रुटियो का होना प्रारम्भ हो जायेगा तथा 'लागतोपरि मूल्य-निर्धारण' (cost-plus pricing) लाभ को अधिकतम नही कर सकेगा।

यह ध्यान देने योग्य है कि इस तथ्य के बारे मे, कि वास्तविक जगत मे फर्मे पूर्ण-लागत या लागतोपरि मूल्य-निर्धारण का अनुसरण करती है, बहुत कम असहमति देखने को मिलती है। इस लागतोपरि (cost-plus) मूल्य निर्धारण का समर्थन करने वाले अनुभवगम्य अध्ययन पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध हैं। किन्तु इस सम्बन्ध मे जो कुछ तर्क दिया जाता है, वह यह है कि माँग एव अन्य दशाओ मे परिवर्तन के साथ 'लागत-मूल्य अन्तर' मे परिवर्तन करने का अर्थ यह है कि फर्मे मूल्यो को निश्चित करते समय लाभ अधिकतम करने के सिद्धात का अनुगमन कर रही हैं, हालाँकि यह हो सकता है कि वे पूर्ण लागत अथवा लागतोपरि मूल्य के आधार पर अपना मूल्य निर्धारण करती हो। चाहे फर्म का उद्देश्य अल्पकालीन लाभ को, दीर्घकालीन लाभ को अथवा बिक्री से प्राप्त कुल आय को अधिकतम करना हो, वस्तुत इन सभी स्थितियो मे लागतोपरि मूल्य-निर्धारण नियम का प्रयोग किया जा सकता है। अत प्रो० हॉकिन्स का मन्तव्य है, "इसका कोई कारण समझ में

1 Stonier and Hague, *A Textbook of Economic Theory*, 4th Edition, 1972, p 245

नही भाता कि अल्पकालीन लाभ अर्जित करने वाले या दीर्घकालीन लाभ कमाने वाले अथवा आय अधिकतम करने वाले सभी मूल्य-निर्धारण मे लागतोपरि (cost-plus) का प्रयोग एक साधन के रूप मे क्यों न करें। कुछ भी हो ये सभी अपने उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए विभिन्न लागत-मूल्य अन्तर का चुनाव कर सकते हैं।" (There is no reason why short run profit maximisers long run profit maximisers and revenue maximisers should not all use cost-plus as a means of setting price They could all, however, choose different mark up in order to meet their objectives ")[1]

इसके अतिरिक्त पूर्ण लागत मूल्य-निर्धारण के सम्बन्ध मे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठाया जाता है कि 'पूर्ण लागत कीमत-निर्धारण' को प्रयोग क्यो किया जाता है। दूसरे शब्दो मे, पूर्ण लागत के आधार पर मूल्य-निर्धारण के पीछे क्या प्रयोजन होता है। हाकिन्स को ही हम पुन उद्धृत करते हैं "यह देखते हुए कि कोई प्रयोजन व्यक्त नही किया गया है, केवल यह कह देना ही पर्याप्त नही होगा कि व्यवहार मे इसका (cost-plus pricing, लागतोपरि मूल्य निर्धारण का) प्रयोग किया जाता है। और जब तक प्रयोजन ज्ञात न हो तब तक बदलती दशाओ मे फर्मों की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने अथवा वे किसी विशेष लागत-मूल्य अन्तर (Mark up) का चुनाव क्यो करती हैं, जानने का कोई तरीका नहीं है।"

किन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि जिन्होने भी पूर्ण-लागत सिद्धान्त का प्रतिपादन अथवा समर्थन किया है, वे 'पूर्ण-लागत मूल्य' को निश्चित करने के प्रयोजनो की ओर निश्चित रूप से सकेत करते हैं। पूर्ण-लागत कीमत निर्धारण के अभिप्रेरणात्मक पक्ष के बारे मे एक सुझाव यह है कि फर्में 'maximizers' (अधिकतम कर्त्री) नही अपितु 'satisficers' (तोष कर्त्री) होती हैं अर्थात वे लाभ का एक समुचित (या सन्तोषजनक) स्तर प्राप्त करना अपना लक्ष्य रखती हैं न कि अधिकतम सम्भव लाभ प्राप्त करना। अत उनके अनुसार mark-up अथवा 'लागत-मूल्य अन्तर' के अन्तर्गत यही समुचित अथवा सन्तोषजनक लाभ सम्मिलित होता है। दूसरा, यद्यपि इससे सम्बन्धित, एक सुझाव यह है कि फर्म लाभ की केवल एक उचित या न्यायपूर्ण दर चाहती हैं तथा लाभ की उचित दर की अपेक्षा अधिक वसूल करना अनैतिक समझती हैं।

पूर्ण-लागत कीमत-निर्धारण के पक्ष मे इस तर्क को कि फर्मे केवल समुचित अथवा उचित लाभ की दर ही प्राप्त करना चाहती है, अनेक अर्थशास्त्रियो ने अवास्तविक एव अविश्वासप्रद माना है। आलोचको ने यह सकेत किया है कि अधिकाश अनुभवगम्य प्रमाण, जिनमे हाल एव हिच का प्रमाण भी सम्मिलित है, यह बताते हैं कि लागत मूल्य अन्तर' परिवर्तनशील आर्थिक दशाओ के प्रत्युत्तर मे बदलता रहता है।[2] ऐसी परिस्थिति मे, यदि फर्मे केवल उचित एव न्याय-सगत लाभ ही चाहती हैं तो फिर 'समृद्धि काल' (Boom) मे वे अपने Mark up या 'अन्तर' को ऊँचा, तथा मन्दी काल (Depression) मे नीचा क्यो करेंगी। प्रो० हाकिन्स ठीक ही कहते हैं, "अधिकाश प्रमाण यह मत व्यक्त करते हैं कि अतिरेक अन्तर (Plus margin) का आकार परिवर्तित होता है, यह समृद्धि (Boom) के समय मे बढ़ता है तथा यह माँग की मूल्यसापेक्षता एव नये प्रवेश पर अवरोधो के अनुसार भिन्न भिन्न होता है। यह आश्चर्यजनक लगता है कि लोगो की उचित लाभ की धारणा सामान्यत लाभार्जन की सुगमता के साथ इतने व्यवस्थित रूप से बदलती हो।" ("the bulk of the evidence suggests that the size of the 'plus' margin varies it grows in boom times and it varies with elasticity of demand and barriers to entry

1 *Op cit*, p 74

2 हाल एव हिच के Business Behaviour and Price Policy 1939 के अतिरिक्त अन्य अनुभवगम्य अध्ययन जो यह पाते हैं कि Mark up अथवा 'सीमा' परिवर्तित होती है वे हैं, (1) A D A Kaplan, J B Dirlam तथा R P Lanzillotti का *Pricing in Big Business A Case Approach*, Brookings Institution, Washington D C 1958 (2) B Fog का *Industrial Pricing Policies*, translated by A Bailey, North Holland Publishing Co, Amsterdam, 1960

It seems strange that people's concept of a fair' profit should generally vary so systematically with the ease of profit making')[1]

किन्तु ध्यान रहे कि यद्यपि लाभ की मात्रा में परिवर्तन उचित अथवा न्यायसंगत लाभ की धारणा के अनुरूप प्रतीत नहीं होता है, किन्तु यह एच० ए० साइमन[2] द्वारा बताये हुए *Satisficing Behaviour* के अनुरूप अवश्य है। साइमन के *Satisficing Behaviour* के अनुसार लोग लाभ के सम्बन्ध में एक महत्वाकांक्षा का स्तर निश्चित कर लेते है। और जब यह आकांक्षित लाभ का स्तर प्राप्त हो जाता है, तब वे लाभ के आकांक्षित स्तर को, जिसको वे प्राप्त करने की आशा या इच्छा करते हैं, ऊँचा कर देते है। लाभ के इस आकांक्षित स्तर को अधिकतम सम्भावित सीमा पर निश्चित करना आवश्यक नहीं होता है। कहने का आशय यह है कि पूर्ण-लागत अथवा लागतोपरि (Cost-Plus) मूल्य निर्धारण सिद्धान्त का प्रयोग करने वाली फर्मों का प्रयोजन अल्पकालीन लाभ को अधिकतम करने का ही हो यह आवश्यक नहीं है। इस सम्बन्ध में एक अनुभवगम्य प्रमाण है जो यह बतलाता है कि फर्में प्रायः अपना मूल्य सन्तुलन स्तर, (अर्थात् जहाँ माँग की मात्रा पूर्ति की मात्रा के बराबर होती है) के नीचे रखती है।[3] यह तर्क दिया जाता है कि यदि वे लाभ अधिकतम करने के सिद्धान्त का अनुसरण कर रही होती तो उन्हें आधिक्य माँग एवं पदार्थ की कमी की दशा में अपना मूल्य बढ़ा देना चाहिये था। तथापि हाकिन्स ने दृढ़तापूर्वक कहा है कि फर्म के आधिक्य माँग की दशा में सन्तुलन स्तर से नीचे मूल्य रखने के व्यवहार से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि फर्म का उद्देश्य केवल उचित अथवा न्यायसंगत मूल्य प्राप्त करना है। उन्होंने यह तर्क दिया है कि जब आधिक्य माँग होती है तो फर्म सन्तुलन स्तर से नीचे कीमत इसलिये रख सकती है 'क्योंकि मूल्य में वृद्धि दीर्घकालीन माँग को हतोत्साहित करेगी, ग्राहकों की सद्भावना को कम करेगी और शोषण करने वाली प्रतीत होगी। आधिक्य माँग केवल अस्थायी प्रकृति की भी हो सकती है और हो सकता है कि निकट भविष्य में फर्म को पुनः कीमत घटाने की आवश्यकता पड़े।"[4] दूसरे शब्दों में फर्म का अल्पकाल में सन्तुलन स्तर से नीचे मूल्य रखने का उद्देश्य दीर्घकालीन लाभ को अधिकतम करना भी हो सकता है।

व्यवसायियों द्वारा पूर्ण-लागत अथवा लागतोपरि मूल्य-निर्धारण के सिद्धान्त के प्रयोग का दूसरा कारण यह दिया जाता है कि हम एक बहुत ही अनिश्चित जगत में रहते है, जहाँ पूर्ण सूचना के अभाव के कारण किसी पदार्थ की प्रचलित महीने, अथवा प्रचलित वर्ष या किसी भी भावी समय की माँग के बारे में ठीक-ठीक भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है। और यह दावा किया गया है कि वर्तमान मूल्य नीति भविष्य के वर्षों में होने वाली पदार्थ की माँग को प्रभावित कर सकती है। साथ ही इस बात का भी संकेत दिया गया है कि व्यवहार में यह निश्चित करना कि अधिकतम लाभ प्रदान करने वाला अथवा अनुकूलतम मूल्य क्या है बहुत कठिन है, विशेषकर इस तथ्य के कारण कि अनेक परिवर्तनशील तत्व इसको प्रभावित करते है तथा फर्म को उन सभी परिवर्तनशील तत्वों के सभी प्रतिवर्तनों का आकलन करना पड़ता है जो अधिकतम लाभ देने वाले (अनुकूलतम) मूल्य को प्रभावित करते है। इन जोड़ों अथवा प्रतिवर्तनों (permutations)

1 *Op cit*, p 75

2 H A Simon, Theories of decision Making in Economics and Behavioural Sciences, *American Economic Review*, 1959

3 हाकिन्स (op cit p 75) ने दो वास्तविक प्रकरणों का उल्लेख किया है जिनमें निर्माताओं ने अपने मूल्यों को सन्तुलन स्तर से नीचे रखा था। पहला प्रकरण इग्लैंड की Jagaur Cars Company से सम्बन्धित है। जब इस कम्पनी ने अपना *XJ 12* मॉडल निकाला तो उस समय के प्रचलित मूल्य पर इसकी अत्यधिक माँग थी। परन्तु कम्पनी ने माँग एवं पूर्ति को बराबर करने तथा इस प्रकार से अपने अल्पकालीन लाभ को अधिकतम करने के लिए कीमत को नहीं बढ़ाया। दूसरा प्रकरण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कारों की कमी तथा उनकी आधिक्य माँग होने के बावजूद इग्लैंड में कार निर्माताओं ने मूल्य में कोई वृद्धि न करके उन्हें स्थिर रखा। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि फर्में को अल्पकालीन लाभ को अधिकतम करने की दिशा में व्यवहार नहीं करती है, वे दीर्घकालीन लाभ को अधिकतम करने के लिए दीर्घकालीन माँग तथा ग्राहकों की सद्भावना (Goodwill) पर अधिक ध्यान देती है।

4 *Op cit* p 75

की संख्या इतनी अधिक हो सकती है कि कम्प्यूटर भी इसमे सहायता नही कर सकता है। इसके अतिरिक्त इन असंख्य निर्धारक परिवर्तनशील तत्त्वो के कारण अधिकतम लाभ देने वाले मूल्य का अनुमान लगाना एक बहुत ही खर्चीली प्रक्रिया है। उदाहरण के लिए एक विशिष्ट बडी विभागीय दूकान मे (जो सैकडो प्रकार की वस्तुओ की बिक्री करती है), इन सैकडो प्रकार की वस्तुओ के अधिकतम लाभ प्रदान करने वाले मूल्यो की गणना करना लगभग असम्भव है। इसी कारण सीयर्ट एव मार्च[1] अपने "*Behavioural Theory of Firm*" मे यह सुझाव देते है कि फर्मों के लिए प्रथम आसन्नता के रूप मे एक मानक लागत-मूल्य अन्तर (Mark up) जो फर्म के अनुभव के अनुसार उचित कहा जा सके, का प्रयोग करके लागतोपरि (Cost plus) मूल्य निर्धारण का प्रयोग करना अधिक अच्छा है। वे यह दावा करते है कि इस लागतोपरि-मूल्य (Cost plus Price) पर जो भी माँग होती है, फर्म उसकी पूर्ति करने के लिये तत्पर रहती है। इसके अतिरिक्त उनके अनुसार माँग मे अप्रत्याशित परिवर्तनो के प्रभावो को शान्तिपूर्वक दबाने के लिए स्टाक का प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु उनका यह भी कहना है कि एक समय के बाद फर्म परिवर्तनशील दशाओ के प्रत्युत्तर मे (जैसे समृद्धि, मन्दी, प्रतियोगिता की मात्रा आदि) अतिरिक्त-राशि (Plus margin) अथवा लागत मूल्य अन्तर मे परिवर्तन करने का निश्चय कर सकती है तथा विभिन्न लागत-मूल्य अन्तरो का परीक्षण करके एव अनुभव से ज्ञान प्राप्त करके वे एक उपयुक्त लागत मूल्य अन्तर पर पहुचने मे सफल हो सकती है। इस दृष्टि से फर्मो द्वारा लागतोपरि मूल्य निर्धारण का प्रयोग, एक अनिश्चित जगत मे जहाँ माँग सम्बन्धी दशाए, प्रतियोगिता की शक्ति, टेक्नालाजी आदि सभी तेजी के साथ परिवर्तित होते रहते है, ही सर्वोत्तम है। साथ ही इस मत के अनुसार परिवर्तनशील दशाओ के प्रत्युत्तर मे लागत-मूल्य अन्तर मे परिवर्तन करते समय इस लागतोपरि मूल्य निर्धारण को अपनाने मे लाभ वास्तव मे अधिकतम होते है अथवा नही, यह फर्म की बदलती दशाओ के सन्दर्भ मे सही प्रतिक्रिया करने की योग्यता एव कुशलता पर निर्भर करता है।

पूर्ण-लागत कीमत-निर्धारण सिद्धात की आलोचना इसके इस दावे के कारण भी की गयी है कि वास्तविक जगत मे फर्म अपने लाभ को अधिकतम नही करती है। अनेक अर्थशास्त्रियो ने दृढतापूर्वक यह दावा किया है कि फर्म के व्यवहार के सम्बन्ध मे 'लाभ अधिकतम करने' (Profit Maximisation) की मान्यता ही एक तर्कसगत एव सैद्धान्तिक दृष्टि से सुदृढ मान्यता है। इस प्रकार शयन के अनुसार, "इस बात के बहुत कम प्रमाण दिखायी पडते है कि व्यावसायिक लोग अधिकतम शुद्ध आय अर्जित करने की चेष्टा नही करते है। जब उनके अन्य उद्देश्य होते है जैसे सुरक्षा, तो ये उद्देश्य जिस सीमा तक प्राप्त होते है वे साधारणतया न्यूनाधिक मात्रा मे अर्जित लाभ के साथ सीधे परिवर्तित होते है। जहाँ वे अधिकतम लाभ की खोज से दूर रहते अथवा उसका त्याग करते प्रतीत होते है वहाँ यह कारण दिया जा सकता है कि माँग एव लागत के व्यावहार के बारे मे उनकी प्रत्याशा के सम्बन्ध मे उनकी स्वभावगत विलक्षणता है अथवा उनकी आयोजन परिधि का विस्तार ही कुछ ऐसा है जिसमे वे अधिकतम लाभ से विलग रहते प्रतीत होते है।" ('There seems to be a little evidence that businessmen do not seek to earn the greatest net revenue when they have other aims, such as security, the extent to which these are achieved will usually vary more or less directly with the profits earned, where they appear to eschew the quest for the maximum profits, the explanation is likely to lie in idiosyncracies in their expectations about the behaviour of demand and cost or in the extent of their planning horizon ")[2] इसी प्रकार से प्रो॰

1. Cyert and March, *Behavioural Theory of the Firm*, Prentice Hall 1963, pp 436 47

2 *Op cit*, p. 379

स्टोनियर एवं हेग भी अपने पूर्ण-लागत कीमत-निर्धारण की व्याख्या से सम्बंधित उपखण्ड का समापन करते हुए यह निष्कर्ष निकालते है कि "जैसा कि अनेक अवसरों पर हमने बताया है हम यह विश्वास करते हैं कि बहुत से उद्योगों में पर्याप्त समय के लिए एक ऐसा विश्लेषण, जो पूर्वमान्यता करता है कि फर्में सीमान्त आय एवं सीमान्त लागत को बराबर करती है, सत्य से अधिक दूर नहीं होगा।" इसके अतिरिक्त मैकलप जो लाभ अधिकतम करने के विचार के कट्टर समर्थक एवं पक्षपोषक है यह तर्क प्रस्तुत करते है कि वास्तविक विवाद इस बात पर नहीं है कि वास्तविक जगत में फर्में अपने लाभ का अधिकतम करने की चेष्टा करती हैं अथवा नहीं बल्कि यह है कि लाभ अधिकतम करने की मान्यता से फर्मों के व्यवहार के सम्बन्ध में व्युत्पादित भविष्यवाणियाँ तथा निष्कर्ष क्या वास्तविक जगत के मान्य विवरण हैं। उनका विचार है कि लाभ अधिकतम करने का सिद्धान्त हमें वास्तविक जगत के व्यावसायिक व्यवहार के सम्बन्ध में बिल्कुल सही भविष्यवाणी अथवा निष्कर्ष तक अवश्य ले जाता है। उनके अनुसार प्रश्न यह नहीं है कि वास्तविक जगत की फर्में सचमुच अपने लाभ को अधिकतम करेंगी या वे अपने मौद्रिक लाभ को अधिकतम करने का प्रयास भी करेंगी, बल्कि वस्तुतः यह है कि क्या यह मान्यता, कि सैद्धान्तिक फर्मों का, जो हमारी व्याख्या के कृत्रिम जगत में कार्य करती है, यह उद्देश्य क्या हमें स्वीकृत अधिक वास्तविक मान्यताओं से व्युत्पादित निष्कर्षों से बहुत भिन्न निष्कर्ष पर ले जायेगा ?" ('The question is not whether the firms of the real world will really maximize profits or whether *they even strive to* maximize their money profits, but rather whether assumption that this is the objective of the theoretical firms in the artificial *world of our construction will lead to* conclusions very different, from those derived from admittedly more realistic assumptions")[1]

1 Machlup Theories of the Firm : *Marginalist, Behavioural, Managerial, American Economic Review*, March 1967

यहाँ यह बता देना उचित होगा कि 'लाभ अधिकतम करने' के सिद्धान्त के विरुद्ध व्यवसायियों द्वारा दिये गये साक्षात्कार अथवा उनके द्वारा भरी गयी प्रश्नावलियों पर आधारित अनुभवगम्य प्रमाण भी सन्देह से मुक्त नहीं हैं क्योंकि हो सकता है कि जो बात लोग बताते है उसे व्यवहार में न लाते हो। कहने का तात्पर्य यह है कि इन प्रमाणों में जिस कार्य को करना लोग बताते हैं, वास्तविक व्यवहार में वह कार्य लोग नहीं करते है। व्यावसायिक फर्मों, उद्यमकर्ताओं तथा प्रबन्धकों की अभिप्रेरणा अथवा उत्पादन के प्रयोजन के बारे में जानकारी प्राप्त करने में अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। *बहुधा मूल्य एवं लाभ के सम्बन्ध में पूछे गये विभिन्न प्रश्नों के जो उत्तर वे देते हैं वे परस्पर विरोधी होते हैं।* उदाहरण के लिये लेन्ज़ीलोत्ती (Lanzillotti)[2] जिन्होंने बड़ी संख्या में अमेरिकन कम्पनियों का इन्टरव्यू लिया, के अनुसार कम्पनियों ने यह बताया कि लाभ प्राप्त करना उनका प्रधान उद्देश्य नहीं था परन्तु जब उन्हीं लोगों से कीमत-निर्धारण के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा गया तो उन्होंने कहा कि वे मूल्य में परिवर्तन नहीं करते क्योंकि इससे उनका दीर्घकालीन लाभ नहीं बढ़ता है। इसका यह अर्थ हुआ कि कीमतों में परिवर्तन करते समय वे दीर्घकालीन लाभ को ही मुख्य रूप से ध्यान में रखते हैं, *यद्यपि लाभ की भावना के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने पर उन्होंने जवाब दिया कि उनका प्रधान उद्देश्य लाभ प्राप्त करना नहीं होता है।* इस भाँति ई० ए० जी० रॉबिन्सन[3] एवं काहन[4] (Kahn) ने भी इस बात की ओर इंगित किया है कि हाल एवं हिच द्वारा जाँच किये गये अनेक व्यवसायियों के मूल्य-निर्धारण सम्बन्धी निर्णयों में लाभ अधिकतम करने अथवा हानि न्यूनतम करने का तत्त्व समाविष्ट रहा है। इसके अलावा हाल एवं हिच ने स्वयं इस बात पर अधिक बल दिया है कि अल्पाधिकार की दशा के अन्तर्गत व्यक्तिगत फर्मों को विकुंचित माँग वक्र का

2 R F Lanzillotti, *Pricing Objectives in Large Companies, American Economic Review*, Dec 1958

3 E A G Robinson, The Pricing of Manufactured Products, *Econ. Journal*, Dec 1950

4 R F Kahn, Oxford Studies in the Price Mechanism, *Econ Journal*, March, 1952

सामना करना पड़ता है जो अल्पकाल मे स्थिर मूल्य (sticky prices) सुनिश्चित करता है। जैसा कि उन्होने स्वयं व्यक्त किया है कि प्रचलित मूल्य पर माँग वक्र का विकुचन इस मूल्य को सीमान्त लागत के विस्तृत क्षेत्र तक अधिकतम लाभ प्रदान करने वाले मूल्य के रूप मे प्रस्तुत करता है क्योकि विकुचन के कारक सीमान्त आय वक्र मे विकुचन के नीचे लम्बरूप मे एक विलगता (discontinuity) होती है।

पूर्ण लागत कीमत-निर्धारण के विरुद्ध एक अन्य महत्वपूर्ण आलोचना आर० एफ० काहन द्वारा दी गयी है जिन्होने यह दिलचस्प प्रश्न उठाया है कि जब बड़ी सख्या मे अथवा कम सख्या मे फर्में एक ही पदार्थ को अथवा एक दूसरे से मिलते जुलते पदार्थ को बेचने के लिए आपस मे स्पर्धा करती हैं तो पदार्थ का मूल्य किस फर्म की कुल लागत पर निर्धारित होगा। उनके अनुसार यदि कोई उद्योग किसी अर्थ मे प्रतिस्पर्धी है तो उसमे कार्यरत फर्में, अन्य फर्मों की लागतो से अनभिज्ञ रह कर, अपनी पूर्ण-लागत पर अपनी कीमत निश्चित करने मे समर्थ नही हो सकती हैं। अत ऐसी कुछ फर्मों का होना आवश्यक है जिनकी लागतो पर अन्य फर्में अपनी कीमत आधारित करती है। वह फर्म, जिसकी लागत के आधार पर उद्योग की अन्य फर्में अपना मूल्य निश्चित करेंगी, कीमत नेता के रूप मे प्रकट होगी। इसलिए पूर्ण लागत कीमत निर्धारण के सिद्धान्त को निश्चय ही कीमत नेतृत्व की सम्भावना पर विचार करना चाहिए। हाल एव हिच ने कीमत-नेतृत्व की व्याख्या सन्तोषप्रद ढग से नही की थी जबकि एण्ड्रयूज ने इस विषय पर कोई विचार नही किया है वस्तुत एण्ड्रयूज फर्म द्वारा जोडे जाने वाले 'परिव्ययाकन अन्तर' (costing margin) पर अधिक जोर देता है और इसीलिए सिल्बर्स्टन के अनुसार एण्ड्रयूज के विश्लेषण मे एक फर्म "रक्षात्मक तरीके को कीमत नीति का अनुसरण करती है जो एक मूल्य-नेता की अपेक्षा एक मूल्य अनुयायी (Price Follower) के लिये अधिक उपयुक्त नीति है।"[1]

पूर्ण-लागत (अथवा Cost-plus) मूल्य निर्धारण को अपनाने के लिए दूसरा कारण अथवा प्रयोजन (Motive) जो बताया गया है, वह यह है कि नयी फर्मों के प्रवेश का पूर्वानुमान करने के लिये फर्में सामान्य अथवा उचित स्तर से अधिक लाभ वसूल नही करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि नयी फर्मों के उद्योग मे प्रवेश के फलस्वरूप सम्भावी प्रतियोगिता के भय के कारण उद्योग मे वर्तमान फर्में लागतोपरि (Cost-plus) कीमत निर्धारण का प्रयोग केवल सामान्य लाभ के साथ ही करेंगी। फर्म की लागतोपरि मूल्य-निर्धारण नीति के प्रयोग करने का दूसरा कारण यह है कि यह अल्पाधिकार मे प्रतियोगियो की अनिश्चित प्रतिक्रियाओ की समस्या को ठीक कर सकता है। लागतोपरि कीमत निर्धारण का प्रयोग किसी उद्योग की फर्मों को प्राप्त किये जाने वाले मूल्य के सम्बन्ध मे गुप्त अभिसधि करने मे, समर्थ बनाता है। एक अल्पाधिकारिक उद्योग मे विभिन्न फर्में अपनी परस्पर निर्भरता को समझते हुए उसी मानक लागत-मूल्य अन्तर का प्रयोग करती हैं। उद्योग मे कार्यरत सभी फर्मों द्वारा एक से मानक लागत-कीमत अन्तर (Standard mark-up) का प्रयोग करने से वे परिवर्तनशील दशाओ जैसे लागत वृद्धि की दशाओ मे एक दूसरे की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी कर सकती हैं। यह तथ्य कि, विभिन्न फर्में अपनी लागत मे से मानक लागत कीमत अन्तर का प्रयोग करती है, उनके मूल्यो को बिना किसी औपचारिक अभिसधि के लगभग एक ही स्तर पर स्थिर रखता है। सीयर्ट एव मार्च[2] ने यह तर्क दिया है कि अल्पाधिकारिक उद्योग के अन्तर्गत व्यावसायिक फर्में पूर्ण लागत कीमत-निर्धारण का प्रयोग आशिक रूप से इसी कारण करती हैं कि वे अपनी परस्पर निर्भरता को समझती है, कीमत-युद्ध (Price-war) के भविष्य को नापसन्द करती हैं तथा दृष्टिकोण की समानता की आवश्यकता को स्वीकार करती हैं।

1. Aubrey Silberston, Price Behaviour of Firms, *Economic Journal*, 1970

2 *Behavioural Theory of the Firm*, Prentice-Hall, 1963

34

अल्पाधिकार का बिक्री-अधिकतम मॉडल
(SALES MAXIMIZATON MODEL OF OLIGOPOLY)

अल्पाधिकार का बिक्री-अधिकतम मॉडल, लाभ अधिकतम करने के मॉडल का एक अन्य विकल्प है। इसका प्रतिपादन अमेरिकन अर्थशास्त्री प्रो० डब्ल्यू० जे० बामोल ने किया है। अध्याय 20 म हमने बामोल के बिक्री अधिकतम मॉडल की साराश में व्याख्या की थी तथा यह बताया था कि प्रो० बामोल किस तरह 'प्रबन्धक प्रधान' (manager-dominated) व्यावसायिक सगठन के सुसगठित स्वरूप के इस युग म व्यावसायिक व्यवहार के सम्बन्ध म लाभ अधिकतम करने की मान्यता को चुनौती देते हैं, और यह दर्शाते हैं कि बिक्री-अधिकतम किस तरह से व्यावसायिक व्यवहार की एक युक्तिसगत एव यथार्थवादी मान्यता हो सकती है। इसके अतिरिक्त उस विश्लेषण मे हमने यह भी सकेत किया था कि बिक्री अधिकतम का विचार व्यावसायिक व्यवहार के बारे मे विवेकशीलता की मान्यता के पूर्ण अनुरूप है। उस अध्याय मे हमने यह भी देखा कि बिक्री-अधिकतम मॉडल फर्म के प्रबन्धकीय सिद्धान्तो मे से एक है, क्योकि इसमे प्रबन्धकीय भूमिका को तथा उसके मूल्य, उत्पादन मात्रा एव विज्ञापन-नीति के निर्माण मे आत्म-हित को बढ़ावा देने मे निरन्तर लगे रहने को बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। प्रो० बामोल का विचार है कि प्रबन्धक लाभ की अपेक्षा बिक्री को अधिकतम करने मे अधिक रुचि लेते है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि बिक्री-अधिकतम से बामोल का तात्पर्य बिक्री की भौतिक मात्रा को अधिकतम करने से नही बल्कि बिक्री से प्राप्त कुल आय को अधिकतम करने से अर्थात् की गई बिक्री के मौद्रिक मूल्य से है। इसलिये उसका सिद्धान्त आय अधिकतम (Revenue Maximisation) मॉडल के नाम से भी जाना जाता है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि अध्याय 20 मे उल्लेख किया गया है, प्रो० बामोल लाभ की अभिप्रेरणा (Profit motive) की पूर्णरूपेण उपेक्षा नही करते हैं। उनका यह तर्क है कि लाभ का न्यूनतम स्वीकार्य स्तर होता है जो प्रबन्ध को अवश्य मिलना चाहिए ताकि धारित लाभ के माध्यम से फर्म के *भावी विकास की वित्त-व्यवस्था हो सके, तथा साथ* ही सम्भावी अशधारियो को कम्पनी की शेयर पूंजी को स्वीकार करने के लिये प्रोत्साहित किया जा सके। अत उनके अनुसार अल्पाधिकारिक फर्मों का प्रबन्ध (management) इस न्यूनतम लाभ के बन्धन की शर्त के साथ बिक्री अथवा दूसरे शब्दो मे कुल आय को अधिकतम करने की चेष्टा करता है। वे लिखते हैं[1] '*मेरी परिकल्पना तब यह है कि अल्पाधिकारिक* विशिष्ट रूप से न्यूनतम लाभ प्रतिबन्ध की शर्त के साथ अपनी बिक्री को अधिकतम करने का प्रयत्न करते हैं। *न्यूनतम उचित स्वीकार्य लाभ के स्तर का निर्धारण* एक प्रमुख विश्लेषणात्मक समस्या है तथा मै यहाँ केवल यही सुझाव दूंगा कि यह दीर्घकालीन तथ्यो द्वारा निर्धारित किया जाता है। लाभ इतना ऊँचा अवश्य होना चाहिए जो प्रचलित विस्तार योजनाओं को

1 W. J. Baumol, On the Theory of Oligopoly, *Economica*, new series, vol 25, 1958.

वित्त व्यवस्था के लिये आवश्यक धारित आय प्रदान कर सके, साथ ही यह इतना लाभांश प्रदान करे जो सम्भावी क्रेताओं के लिये, शेयरों के भावी निर्गमन को आकर्षक बना सके। अन्य शब्दों में, फर्मों का उद्देश्य लाभ का वह स्रोत होता है जो अधिकतम दीर्घकालीन बिक्री की वित्त व्यवस्था करता हो। इसके लिये *व्यावसायिक शब्द यह है कि प्रबन्ध*, विकास के लिए समस्त बुद्धिसम्मत सुरक्षित अवसरों का लाभ प्राप्त करने के लिए तथा अंशधारियों को उचित प्रतिफल प्रदान करने के लिए, आय को पर्याप्त मात्रा में अपने अधिकार में बचा कर रखने की चेष्टा करता है।"

न्यूनतम लाभ प्रतिबन्ध की शर्त के साथ बिक्री-अधिकतम को व्यावसायिक फर्मों के उद्देश्य के रूप में लेकर बामोल एक अल्पाधिकारिक फर्म द्वारा कीमत-उत्पादन मात्रा के निर्धारण, इनके द्वारा किये गये विज्ञापन व्यय, उत्पादन एवं साधनों के संयोगों (output-input combination) के चुनाव तथा उपरिव्यय (overhead cost) में हुए परिवर्तनों के पदार्थ के मूल्य पर प्रभाव की व्याख्या करते हैं। इन चीजों के सम्बन्ध में प्राप्त निष्कर्षों को वे अपने बिक्री अधिकतम मॉडल में और आगे विस्तृत करते हैं तथा यह बताते है कि ये लाभ-अधिकतम मॉडल से किस प्रकार भिन्न होते हैं। हम, बामोल के बिक्री अधिकतम मॉडल के इन सभी पहलुओं की नीचे व्याख्या करेंगे।

बिक्री अधिकतम करना कीमत तथा उत्पादन निर्धारण (Sales Maximization Price Output Determination)

प्रो॰ बामोल ने बिक्री या कुल आय को अधिकतम करने के मॉडल को रेखाकृति की सहायता से स्पष्ट कर सकते हैं। रेखाकृति 34 1 को देखिए जिसमें Y-अक्ष पर कुल आय, कुल लागत तथा कुल लाभों को (रुपयों में) मापा गया है। X-अक्ष पर कुल उत्पादन मापा गया है। TR तथा TC क्रमशः कुल आय तथा कुल लागत वक्र हैं। TC के आरम्भ बिन्दु (O) से प्रारम्भ होने का अर्थ यह है कि रेखाकृति का सम्बन्ध दीर्घकाल की लागत एवं आय से है। TP कुल लाभ वक्र है जो कि आरम्भ में ऊपर को उठता है और बाद में नीचे को गिरता है। उत्पादन के विभिन्न स्तरों पर कुल लाभ के कुल आय तथा कुल लागत में अन्तर होने के
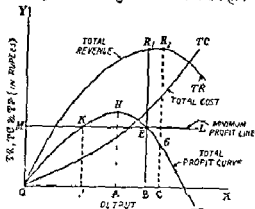
रेखाकृति 34 1 बिक्री अधिकतम सिद्धान्त का निरूपण

कारण, कुल लाभ वक्र उत्पादन के विभिन्न स्तरों पर TR तथा TC में लम्बरूप दूरी है।

यदि फर्म का उद्देश्य लाभों को अधिकतम करना है तो यह OA मात्रा का उत्पादन करेगी। इसका कारण यह है कि OA उत्पादन TP वक्र के उच्चतम बिन्दु पर है। परन्तु जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, प्रो॰ बामोल (Baumol) के अनुसार फर्म का उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना नहीं है। दूसरी ओर, यदि फर्म बिक्री (या कुल आय) को अधिकतम करना चाहती है तो वह उत्पादन का स्तर OC निर्धारित करेगी जो कि OA से अधिक है। OC उत्पादन पर कुल आय CR_2 है जो कि रेखाकृति में अधिकतम है। इस कुल आय (बिक्री) अधिकतम करने वाले उत्पादन स्तर OC पर, फर्म CG के बराबर कुल लाभ प्राप्त कर रही है जो कि AH अधिकतम लाभों जिनको प्राप्त किया जा सकता है, से कम है। रेखाकृति से यह स्पष्ट है कि (बिक्री या कुल आय) अधिकतम उत्पादन OC, लाभ अधिकतम उत्पादन OA से अधिक है। प्रो॰ बामोल का कहना है कि व्यापारिक फर्मों का उद्देश्य कुल आय (बिक्री) को अधिकतम करना होना है, परन्तु

शर्त यह है कि न्यूनतम लाभ अवश्य प्राप्त हो। अब OM यदि न्यूनतम कुल लाभ हैं जो कि फर्म प्राप्त करना चाहती है तो ML न्यूनतम लाभ रेखा होगी। अब यह न्यूनतम लाभ रेखा ML कुल लाभ वक्र TP को E बिन्दु पर काटती है। इसलिए यदि फर्म OM न्यूनतम लाभों के साथ अधिकतम कुल आय (बिक्री) चाहती है, जैसा कि प्रो० बामोल ने कहा है, तो यह OB मात्रा का उत्पादन व बिक्री करेगी। OB उत्पादन पर, फर्म को BR_1 कुल आय प्राप्त होगी जो कि अधिकतम सम्भव कुल आय OR_2 से कम है। परन्तु कुल आय BR_1 अधिकतम सम्भव आय है जो OM न्यूनतम लाभ प्राप्त करने के लिए आवश्यक है। यह ध्यान देने योग्य है कि फर्म ON मात्रा का उत्पादन करके भी OM न्यूनतम लाभों को प्राप्त कर सकती है (न्यूनतम लाभ रेखा ML कुल लाभ वक्र TP को K बिन्दु पर भी काटती है)। परन्तु ON उत्पादन पर कुल आय, OB उत्पादन पर प्राप्त हो रही कुल आय से बहुत कम है। इसलिए, जब कि फर्म का उद्देश्य न्यूनतम लाभ अश के साथ कुल आय को अधिकतम करना है तो फर्म K बिन्दु पर रह कर ON मात्रा का उत्पादन नहीं करेगी। इस रेखाकृति से यह पता चलता है कि OB उत्पादन मात्रा OA तथा OO के मध्य है, अर्थात् यह अधिकतम लाभ उत्पादन OA से अधिक है परन्तु अधिकतम आय उत्पादन OQ से कम है। इस प्रकार, प्रो० बामोल के मॉडल में एक अल्पाधिकारी फर्म OB उत्पादन पर सन्तुलन में होगी तथा BE (या OM) लाभ प्राप्त कर रही होगी। इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि न्यूनतम लाभ अश के साथ अधिकतम आय (या बिक्री) का उद्देश्य (लाभ अधिकतम करने वाले उत्पादन की तुलना में) अधिक उत्पादन तथा कम कीमत की ओर ले जाता है। अधिकतम आय स्थिति में कीमत कम होगी क्योंकि, जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, इस स्थिति में उत्पादन अधिक है और जबकि माँग या औसत आय वक्र नीचे को झुका हुआ होता है, उत्पादन अधिक होने पर कीमत कम होगी। OB उत्पादन पर जो कीमत वसूल की जाएगी वह होगी

$$\frac{\text{कुल आय}}{\text{उत्पादन}} = \frac{\text{Total Revenue}}{\text{Output}} \text{ अर्थात् } \frac{BR_1}{OB}$$

अब मान लीजिए कि न्यूनतम स्वीकार्य लाभ AH के बराबर है (जो कि दी हुई लागत-आय दशाओं में अधिकतम सम्भव लाभ हैं) तब भी न्यूनतम लाभ अश के साथ अधिकतम आय को प्राप्त करने के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, फर्म अधिकतम उत्पादन OA को प्राप्त करेगी। परन्तु OA मात्रा का उत्पादन वह लाभों को अधिकतम करने के लिए नहीं, अपितु AH न्यूनतम लाभ के साथ अधिकतम आय को प्राप्त करने के लिए करेगी। अब मान लीजिए कि उद्यमकर्त्ता को न्यूनतम स्वीकार्य लाभ AH से अधिक है, तब इस रेखाकृति से यह स्पष्ट है कि इस रेखाकृति (34.1) में दी हुई लागत-आय स्थितियों में वह AH से अधिक लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए, उद्यमकर्त्ता को या तो न्यूनतम स्वीकार्य लाभ स्तर को नीचा करना होगा या उद्योग से बाहर निकलना पड़ेगा।

बिक्री अधिकतम : अनुकूलतम विज्ञापन व्यय (Sales Maximization : Optimal Advertising Expenditure)

हम जानते हैं कि अल्पाधिकारिक बाजार की दशाओं में उत्पादन करने वाली फर्में केवल मूल्य में ही नहीं बल्कि विज्ञापन व्यय, वस्तु विभेद एवं क्रेताओं को दी जाने वाली विशेष सेवाओं को लेकर भी आपस में प्रतिस्पर्धा करती हैं। यहाँ हम एक अल्पाधिकारी द्वारा किये गये अनुकूलतम विज्ञापन व्यय के प्रश्न पर विचार करेंगे तथा इस सम्बन्ध में हमें जो निष्कर्ष प्राप्त होंगे वे अनुकूलतम उत्पादन निर्धारण की समस्या तथा अल्पाधिकारी द्वारा दी जाने वाली विशेष सेवाओं की अनुकूलतम मात्रा के प्रश्न पर भी समान रूप से लागू होंगे, जब वह अपनी बिक्री (कुल आय) को अधिकतम करने का निर्णय लेता है।

विज्ञापन के बारे में महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये एक फर्म कितना विज्ञापन व्यय करेगी। कोई फर्म कितना विज्ञापन व्यय करेगी, यह मुख्यतः फर्म के उद्देश्य से प्रभावित होता है, कि वह बिक्री को अधिकतम करना चाहती है अथवा अपने लाभ को। बिक्री-अधिकतम एवं लाभ अधिकतम दोनों दृष्टिकोणों से हम अनुकूलतम विज्ञापन व्यय को रेखाकृति 34.2 में प्रदर्शित किया गया है। इसमें

विज्ञापन व्यय को X-अक्ष पर तथा कुल लागत, कुल आय एवं कुल लाभ को Y-अक्ष पर मापा गया है। बामोल, कुल आय अथवा बिक्री पर विज्ञापन व्यय के प्रभाव के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण मान्यता को अपनाते हैं। वे यह मानते है, तथा इसके लिये अनुभवगम्य प्रमाणों को भी उद्धरित करते हैं, कि किसी फर्म द्वारा विज्ञापन व्यय मे वृद्धि सदैव बिक्री की कुल भौतिक मात्रा मे वृद्धि करेगी, यद्यपि एक बिन्दु के उपरान्त यह बिक्री घटती दर पर बढेगी। ऐसी दशा मे पदार्थ के मूल्य के दिये हुए रहने पर कुल आय (अर्थात् बिक्री के मौद्रिक मूल्य) म वृद्धि विज्ञापन व्यय मे वृद्धि के फलस्वरूप बिक्री की भौतिक मात्रा मे वृद्धि के अनुपात मे होगी। अत विज्ञापन व्यय मे वृद्धि हमेशा कुल आय मे वृद्धि उत्पन्न करेगी यद्यपि एक सीमा के बाद घटते प्रतिफल के लागू होने की सम्भावना बनी रहती है। रेखाकृति 34 2 मे TR कुल आय वक्र है जो, पदार्थ के मूल्य के दिये हुए होने पर, जैसे-जैसे

रेखाकृति 34 2 अनुकूलतम विज्ञापन व्यय

विज्ञापन व्यय बढता है कुल आय मे होने वाले परिवर्तनो का निरूपण करता है। वक्र OD विज्ञापन व्यय को चित्रित करता है एव इस प्रकार खीचा गया है कि यह X-अक्ष के साथ $45°$ का कोण बनाये। इसका कारण यह है कि हमने केवल X-अक्ष पर प्रदर्शित विज्ञापन व्यय को Y-अक्ष पर विज्ञापन लागत के रूप मे स्थानान्तरित कर दिया है (उदाहरण के लिये $OS = SK$)। फर्म की अन्य लागतो को, जो वह स्थिर एव परिवर्तनशील साधनो पर लगाती है, विज्ञापन व्यय की मात्रा से पूर्णत स्वतन्त्र रखा गया है। इसलिये अन्य लागतो की एक निश्चित मात्रा (OC के बराबर) को विज्ञापन लागत वक्र OD से जोड देने पर हमे कुल लागत वक्र CC प्राप्त होती है। अन्त मे कुल आय वक्र (TR) तथा कुल लागत वक्र (CC) का अन्तर निकाल कर हम कुल लाभ वक्र PP' खीचते हैं।

अब रेखाकृति 34 2 से यह देखा जा सकता है कि यदि फर्म अपने लाभ को अधिकतम करने की कोशिश करती है तो यह OA_1 के बराबर विज्ञापन व्यय करेगी जिस पर कि लाभ वक्र अपने अधिकतम बिन्दु M पर पहुँचता है। दूसरी ओर यदि OP_1 न्यूनतम लाभ का बन्धन है तथा फर्म OP_1 न्यूनतम लाभ बन्धन पर अपनी कुल आय को अधिकतम करने का निर्णय करती है तो यह OA_2 मात्रा विज्ञापन पर खच करेगी जो OA_1 की अपेक्षा अधिक है। इस तरह हम देखते हैं कि प्रतिबन्धित आय अधिकतम उद्देश्य मे लाभ अधिकतम उद्देश्य की अपेक्षा विज्ञापन व्यय का उच्च स्तर होता है। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिए कि यहाँ अप्रतिबन्धित बिक्री अथवा आय के अधिकतम होने की कोई सम्भावना नही होती है जैसा कि रेखाकृति 34 1 मे उत्पादन मात्रा OC की अनुरूपी है। इसका कारण यह है कि कीमत मे कमी के विपरीत विज्ञापन व्यय मे वृद्धि सदैव कुल आय या बिक्री मे वृद्धि करती है (मान्यतानुसार)। फलस्वरूप प्रो० बामोल यह निष्कर्ष निकालते हैं कि 'बिक्री अधिकतम करने वाले के लिये यह हमेशा लाभप्रद होगा कि यह अपने विज्ञापन व्यय को तब तक बढाता जाय जब तक कि वह लाभ के बन्धन द्वारा न रोक दिया जाय—जब तक कि लाभ न्यूनतम स्वीकार्य सीमा तक कम न हो जाएँ। इसका अर्थ यह है कि बिक्री अधिकतम करने वाला व्यक्ति, लाभ अधिकतम करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा कम नही बल्कि सामान्यत उससे अधिक विज्ञापन व्यय करता है क्योंकि जब तक यह स्थिति न हो कि अधिकतम लाभ स्तर A_1M अपेक्षित न्यूनतम OP_1 से अधिक न हुआ हो, विज्ञापन को बिना किसी लाभ

प्रतिबन्ध का उल्लघन किये लाभ-अधिकतम सीमा OA_1 से कुछ आगे बढाना सम्भव है। इसके अतिरिक्त, यह वृद्धि अपेक्षित होगी क्योंकि मान्यतानुसार यह भौतिक बिक्री को बढायेगी तथा उसके साथ ही डालर मे बिक्री आनुपातिक रूप से बढ जायेगी।"[1]

बिक्री अधिकतम करना उत्पादन मात्रा एवं साधन संयोगो का चुनाव
(Sales Maximization Choice of Output and Input Combinations)

वास्तविक जगत मे एक अल्पाधिकारिक फर्म एक बहु-पदार्थ फर्म होती है अर्थात् यह अनेक प्रकार
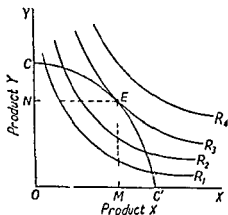
रेखाकृति 34 3 दो पदार्थों की उत्पादन मात्राओं का चयन

के पदार्थों का उत्पादन करती है और कभी-कभी तो एक फर्म द्वारा उत्पादित पदार्थों की सख्या सैकडो मे पहुँच जाती है। इसके अतिरिक्त एक फर्म बहुत बडी सख्या म उत्पादन के साधनो (inputs) को भी कार्य मे लगाती है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या 'बिक्री-अधिकतम' उद्देश्य के कारण विभिन्न उत्पादित पदार्थों की उत्पादन मात्राओ के चुनाव तथा इन पदार्थों के उत्पादन मे प्रयुक्त विभिन्न साधनो (inputs) के सयोगों के चुनाव मे कोई अन्तर आयेगा। अपने विश्लेषण को हम केवल दो पदार्थों की उत्पादन मात्रा एव केवल दो साधनो के बीच चुनाव तक ही सीमित रखेंगे। रेखाकृति 34 3 पर विचार कीजिए जिसम पदार्थ X की उत्पादन मात्रा को X-अक्ष पर तथा पदार्थ Y की उत्पादन मात्रा को Y-अक्ष पर नापा गया है।

CC' वक्र उत्पादन सम्भावना वक्र (Production Possibility or Transformation Curve) है जो X एव Y वस्तु की उत्पादनमात्राओ के उन विभिन्न सयोगो को दर्शाता है जो एक दिये हुए निश्चित व्यय अथवा लागत से उत्पादित किये जा सकते हैं। R_1, R_2 एव R_3 इत्यादि सम आय वक्र (Iso-revenue curves) हैं। एक सम-आय वक्र दो पदार्थों के उन सभी सयोगो को प्रदर्शित करने वाले बिन्दुओ का मार्ग (Locus) है जिनकी बिक्री से समान आय प्राप्त होती है। सम आय वक्र R_1, R_2 तथा R_3 कुल आय के उत्तरोत्तर उच्चतर स्तरो को प्रकट करते हैं। कुल लाभ दो वस्तुओ के E सयोग के चुनाव पर अधिकतम होगा जहाँ दिया हुआ 'उत्पादन-सम्भावना वक्र' CC', जो एक दिए हुए व्यय अथवा लागत को व्यक्त करता है, सम आय वक्र R_3 को स्पर्श करता है। परन्तु दो वस्तुओ का E सयोग एक ऐसा सयोग भी है जिस पर बिक्री आय अधिकतम होती है। इसका कारण यह है कि बिन्दु E, उत्पादन-सम्भावना वक्र CC' द्वारा प्रतिरूपित दिये हुए कुल व्यय अथवा लागत द्वारा प्राप्त होने वाले उच्चतम आय वक्र पर स्थित होता है। अब प्रश्न यह है कि लाभ अधिकतम करने का बिन्दु आय अधिकतम करने के बिन्दु से एकमेल क्यो होता है। इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त सरल है। चूँकि लागत स्तर के दिये हुए होने पर, लाभ उतना ही होता है जितना आय मे से लागत को कम कर देने पर बचता है (लाभ = आय − लागत) अत जो भी चीजें लाभ को अधिकतम करेंगी, वे ही अवश्य ही आय को अधिकतम करेंगी। अत बॉमोल के अनुसार, एक दिए हुए लागत-स्तर अथवा कुल व्यय के आवटन के फलस्वरूप इस बात मे कोई अन्तर नहीं पडेगा कि लाभ अधिकतम करने वाली की उत्पादन मात्रा का चुना जाय या बिक्री अधिकतम करने वाले की उत्पादन-मात्रा को। अन्तर यही होगा कि उत्पादन-मात्रा अधिक हो जायगी (जिसम कुल-लागत और

1 *Op cit* p 202

आय भी अधिक हो जायेगी) । यदि न्यूनतम लाभ के प्रतिबन्ध को विचार मे लिया जाय तो दो पदार्थों के बीच कुल-व्यय के आबण्टन के सम्बन्ध मे, बिक्री अधिकतम मॉडल से एक दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला जा सकता है । प्रो० बामोल मानते हैं कि अधिकतम सम्भव लाभ तथा बिक्री अधिकतम करने वाले उत्पादक के इच्छित न्यूनतम लाभ मे अन्तर "सत्याज्य लाभो की एक ऐसी निधि है जिसे पदार्थों की उत्पादन मात्राओ को बढा कर कुल आय अथवा बिक्री मे वृद्धि के लिए प्रयोग किया जाता है ।" ("as a fund of sacrificeable profits which is to be devoted to increasing revenue as much as possible"[1] by increasing the outputs of the products ") । कारण यह है कि अधिकतम लाभ के बिंदु के बाद उत्पादित पदार्थ की अतिरिक्त मात्रा ऋणात्मक सीमान्त लाभ अर्जित करेगी । दूसरे शब्दो मे जब भी किसी पदार्थ की उत्पादन मात्रा इसकी कुल आय को बढाने के लिये अधिक लाभ के बिन्दु से आगे बढायी जाती है तो फर्म को अपने 'त्याग करने योग्य लाभ' (sacrificeable profits) के कोष का प्रयोग अवश्य करना चाहिये । त्याग करने योग्य लाभो के इस कोष का पदार्थों के उत्पादन मात्राओ के बीच आवटन इस तरह करना चाहिये कि कुल आय अधिकतम हो जाय । इसे प्राप्त करने के लिए त्याग करने योग्य लाभो के कोष का इस प्रकार आवटन होना चाहिए कि एक पदार्थ से त्याग किये गये लाभ के एक रुपये का सीमान्त आय उत्पादन, दूसरे पदार्थ से एक रुपये के सीमान्त आय उत्पादन के समान हो जाय । इसे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

$$\frac{\text{Marginal Revenue Product of } X}{\text{Marginal Profit Yield of } X} = \frac{\text{Marginal Revenue Product of } Y}{\text{Marginal Profit Yield of } Y}$$

इस सम्बन्ध से यह आशय निकलता है कि यदि फर्म अपनी बिक्री को अधिकतम करने का निर्णय लेती है तथा इसके लिये अधिक मात्रा का उत्पादन करती है, तो भी यह सापेक्ष रूप से अलाभदायक पदार्थों के उत्पादन को टालेगी।

1 *Economic Theory and Operations Analysis*, p 330

ऊपर हमने पदार्थों के उत्पादन सयोगो के चुनाव की व्याख्या की है । ठीक उसी विश्लेषण एव उसी रेखाकृति 34 3 का प्रयोग किसी पदार्थ के उत्पादन के लिये साधनो के चुनाव के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है । साधन सयोगो के चुनाव की व्याख्या करने के लिये एक साधन की मात्रा को X-अक्ष पर तथा दूसरे साधन की मात्रा को Y अक्ष पर निरूपित किया गया है (रेखाकृति 34 3 मे) । CC' जैसा कि हमने अपने सम-उत्पाद वक्र विश्लेषण मे व्याख्या की थी, अब इस रेखाकृति मे सम-लागत रेखा हो जायेगी । इसी प्रकार R_1 R_2 R_3 R_4 सम आय रेखाऐं होगी जिनमे से प्रत्येक को, एक पदार्थ की सम-मात्राओ मे पदार्थ के दिये हुए मूल्य का गुणा कर के प्राप्त किया जा सकता है । साधनो का सयोग, जिसका चुनाव दोनो लाभ अधिकतम करने वाली फर्म तथा बिक्री अधिकतम करने वाली फर्म करेंगी, वह E बिन्दु द्वारा प्रस्तुत किया गया है । अत कुल आय का स्तर दिया हुआ होने पर दोनो, लाभ अधिकतम करने वाली फर्म तथा बिक्री अधिकतम करने वाली फर्म, समान मात्राओ मे दिए हुए साधनो का प्रयोग करेंगी । मगर लाभ अधिकतम करने वाली फर्म की अपेक्षा बिक्री अधिकतम करने वाली फर्म द्वारा कुल आय को जितना ही अधिक करने का प्रयत्न किया जायेगा प्रयुक्त साधनो की मात्रा उतनी ही अधिक रखनी पडेगी । फलतः बॉमोल उत्पादन एवं साधन के सयोगों के चुनाव के सम्बन्ध मे निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुचते हैं : "व्यय (अर्थात् लागत) के स्तर के दिये हुए होने पर, बिक्री अधिकतम करने वाली फर्म प्रत्येक पदार्थ की उसी मात्रा का उत्पादन करेगी तथा उनकी बिक्री भी उसी तरह करेगी जिस प्रकार लाभ अधिकतम करने वाली फर्म करती है । इसी प्रकार उनकी कुल आय के दिये हुए स्तर होने पर दोनो प्रकार की फर्में एक से साधनो का समान मात्रा मे अनुकूलतम रीति से प्रयोग करेंगी तथा उन साधनो का आवटन

भी बिल्कुल एक ही तरह से करेंगी · · अत लाभ-अधिकतम एव बिक्री अधिकतम करने वालों की उत्पादन-सरचना (output composition) अथवा साधन आवटन मे अन्तर का कारण निश्चित रूप से दिये हुए लागत (या आय) स्तर का पुनर्वण्टन नही, अधिक मात्रा (और फलत कुल लागतो एव आयो मे वृद्धि) है, जिसकी जैसा कि हम देखते हैं, बिक्री अधिकतम के साथ बढने की आशा की जाती है।'[1]

बिक्री अधिकतम कीमत-निर्धारण तथा उपरिव्यय मे परिवर्तन
(Sales Maximization Pricing and Changes in Overhead Costs)

बामोल द्वारा बिक्री अधिकतम परिकल्पना से व्युत्पादित एव महत्त्वपूर्ण निहितार्थ है उत्पादित पदार्थों के मूल्यो पर उपरिव्यय म परिवर्तन का प्रभाव। लाभ अधिकतम की मान्यता पर आधारित परम्परागत मूल्य सिद्धान्त का दावा है कि जब तक उपरिव्यय (overhead cost) उत्पादन मात्रा के साथ परिवर्तित नही होता, उसम परिवर्तन उत्पादित पदार्थ के मूल्यों को किसी प्रकार प्रभावित नही करेगा यहाँ तक कि वह पदार्थों के उत्पादित होने वाले उत्पादन को भी प्रभावित नही करता है। परन्तु दूसरी ओर वास्तविक व्यवहार मे यह देखा गया है कि उपरिव्यय मे परिवर्तन मूल्य एव उत्पादन मात्रा को प्रभावित करता है। अत बामोल का कथन है, प्राप्त सिद्धान्त का यह अश निश्चय ही व्यावसायिक व्यवहार से भिन्न है, जिसमे स्थिर लागतो म वृद्धि, सामान्यत मूल्य-वृद्धि के लिये गम्भीरता से विचार करने का अवसर होती है।" ('This piece of received doctrine is certainly at variance with business practice where an increase in fixed costs is usually the occasion for serious consideration for a price increase')[2]

1. *Op cit*, pp 257 59
2. *Op. cit*, p 264

ऐसी दशा मे बामोल दृढतापूर्वक कहते हैं कि बिक्री अधिकतम परिकल्पना, जिसके साथ न्यूनतम लाभ बन्धन होता है, उपरिव्यय मे परिवर्तन के फलस्वरूप मूल्यो म होने वाले परिवर्तनो की व्याख्या करके उसे प्रमाणित कर सकती है जबकि लाभ अधिकतम सिद्धान्त, जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है, इसको स्पष्ट नही कर सकता है। यदि एक फर्म न्यूनतम स्वीकार्य लाभ के बधन के साथ अपनी बिक्री को अधिकतम करना निश्चित करती है तथा वह सतुलन मे भी है तब उपरिव्यय मे वृद्धि के कारण कुल लागतो मे वृद्धि हो जायेगी तथा उसके परिणामस्वरूप फर्म का लाभ न्यूनतम स्वीकार्य लाभ स्तर से भी नीचे गिर जायेगा। लाभ स्तर मे इस प्रकार की गिरावट को रोकने के लिए तथा फर्म को पुन सन्तुलन की स्थिति मे लाने के लिये सयत या प्रतिबन्धित बिक्री अधिकतम फर्म पदार्थ के उत्पादन को कम कर देगी जिससे उत्पादन का विक्रय मूल्य बढाया जा सके।

उपर्युक्त तर्क को रेखाकृति 34 4 की सहायता से अच्छी तरह समझा जा सकता है जिसमे कुल लागत
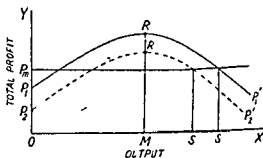
रेखाकृति 34 4
उपरिव्यय मे वृद्धि से कीमत मे वृद्धि

एव कुल आय वक्रो से वचित केवल कुल लाभ वक्रो को प्रदर्शित किया गया है। मान लीजिए कि लागत एव आय की एक निश्चित स्थिति के दिये होने पर कुल लाभ वक्र P_1P_1' है। यदि OP_m न्यूनतम लाभ बन्धन है, तब OP_m न्यूनतम लाभ प्रतिबन्ध के साथ बिक्री अधिकतम करने वाली फर्म OS उत्पादन की मात्रा पर सन्तुलन मे होगी। दूसरी ओर लाभ अधिक-

तम करने वाली फर्म OM उत्पादन मात्रा पर सन्तुलन में होगी।

अब मान लीजिए कि उपरिव्यय में P_1P_2 मात्रा के बराबर वृद्धि होती है। उपरिव्यय में इस वृद्धि से कुल लाभ वक्र में एकसम (uniform) विचलन नीचे की ओर P_1P_2 के बराबर मात्रा में होगा। इस प्रकार विचलन के बाद हमें P_2P_2' कुल लाभ वक्र प्राप्त होता है। रेखाकृति 34.4 से यह जानकारी प्राप्त होती है कि नये लाभ वक्र P_2P_2' से भी लाभ अधिकतम करने वाली उत्पादन की मात्रा पूर्व के स्तर OM पर रहती है। अत उपरिव्यय में वृद्धियाँ 'लाभ की पहाड़ी (Profit Hill) की ऊँचाई को समान रूप से कम करती हैं परन्तु वे इसकी चोटी की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं करती है।" किन्तु एक बिक्री अधिकतम करने वाली फर्म OP_m लाभ प्रतिबन्ध के साथ उत्पादन की मात्रा को OS' तक घटायेगी। उत्पादन मात्रा में यह कमी फर्म को अपने उत्पादित पदार्थ के बिक्री मूल्य को बढ़ाने की स्वीकृति देगी। इस प्रकार बामोल के अनुसार 'न्यूनतम लाभ प्रतिबन्ध' के साथ बिक्री-अधिकतम परिकल्पना की सहायता से हम उपरिव्यय में परिवर्तन की प्रतिक्रिया स्वरूप कीमतों एव उत्पादन मात्रा में होने वाले परिवर्तनों के सम्बन्ध में व्यवसायियों के व्यवहार को अधिक अच्छी तरह प्रमाणित कर सकते हैं।

उपरिव्ययों में परिवर्तनों के कीमतों एव उत्पादन मात्राओं पर पड़ने वाले प्रभावों के समान ही बिक्री अधिकतम सिद्धान्त कीमतों एव उत्पादन मात्रा पर 'निगम आय कर' (corporation income tax) के आघात (impact) की भी व्याख्या कर सकता है। निगम आय कर के कीमतों और उत्पादन मात्राओं के प्रभाव का विश्लेषण बिल्कुल वही है जो उपरिव्यय में परिवर्तन का होता है तथा रेखाकृति 34.4 में P_1P_2 को निगम आय कर की लगायी गयी मात्रा समझा जा सकता है। लाभ अधिकतम परिकल्पना पर आधारित परम्परागत मूल्य सिद्धान्त के अनुसार कोई फर्म निगम आय अथवा लाभ कर के किसी भी अंश को उपभोक्ताओं अथवा अपने कर्मचारियों पर डालने के लिए कुछ नहीं कर सकती है और न तो लाभ अधिकतम करने वाली फर्म इस निगम आय कर लगने के फलस्वरूप कीमत में वृद्धि करके अथवा अपनी उत्पादन मात्रा में कोई हेर फेर करके कुछ लाभ प्राप्त कर सकती है बशर्ते कि कर की दरें इस प्रकार निर्धारित हों कि कर के पूर्व अर्जित लाभ की मात्रा जितनी ही अधिक रही हो, कर का भुगतान करने के बाद उतनी ही अधिक मात्रा वह अपने हाथ में रखेगी। अतएव लाभ अधिकतम करने वाली फर्म की कीमत एव उत्पादन मात्रा, निगम आय-कर के लगने अथवा इसमें परिवर्तन होने के फलस्वरूप, अपरिवर्तित रहेगी। अत बामोल के अनुसार, 'तर्क-पद्धति लगभग ठीक वही है जो स्थिर-लागत विश्लेषण में थी। निगम कर कुल लाभ वक्र की ऊँचाई को कम करता है परन्तु यह वक्र की चोटी को न तो दाहिनी ओर को सरकाता है और न बायी ओर को।" (The argument is almost exactly the same as the fixed cost analysis The Corporation tax reduces the height of *total profit curve but it moves the peak of* the curve neither to the right nor to the left ")[1]

किन्तु यदि फर्म का उद्देश्य, न्यूनतम लाभ प्रतिबन्ध के साथ बिक्री को अधिकतम करना है तो जब निगम आय कर बढ़ा दिया जाता है तब फर्म अपने उत्पादन का मूल्य बढ़ा देगी और उत्पादन मात्रा कम कर देगी। बामोल के ही शब्दों में, "जब कर बढ़ा दिए जाते हैं, तो फर्म अपने खोये हुए लाभ को पूरा करने की दृष्टि से अपनी कीमत को बढ़ाने के लिये (और इसीलिए उत्पादन मात्रा को कम करने के लिए) प्रेरित होगी। प्रत्यक्ष रूप से इस अविवर्तनीय (unshiftable) कर की विवर्तनशीलता (shiftability) की व्याख्या सरल है—बिक्री अधिकतम करने वाली फर्म वस्तुत लाभ का एक सुरक्षित कोष रखेगी जिसका इसने प्रयोग नहीं किया है (क्योंकि इसने अपने लाभ को अधिकतम नहीं किया है) परन्तु जब कर लागत में वृद्धि के कारण आवश्यक होगा तो यह इसका आश्रय लेगी

1 *Op cit*, p 33

यद्यपि यह अपने पुराने लाभ की स्थिति को, अपनी बिक्री का कुछ परित्याग करके ही प्राप्त कर सकती है।"

बिक्री अधिकतम के अन्तर्गत गैर-कीमत प्रतिस्पर्धा पर बल (Emphasis on Non price Competition in Sales Maximization)

बामोल के फर्म के बिक्री अधिकतम-सिद्धान्त की अगली महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह सिद्धान्त अल्पाधिकार के अन्तर्गत कीमत प्रतिस्पर्धा की तुलना मे गैर-कीमत प्रतिस्पर्धा पर अधिक बल देता है। अनेक अर्थशास्त्रियों ने इसे अनुभव किया है कि अल्पाधिकारी बहुधा *अपनी बिक्री को बढ़ाने के लिए कीमत-कटौती का प्रयोग* करने मे अत्यधिक विरक्त रहते है। बामोल का कथन यही है कि अल्पाधिकारियों द्वारा मूल्य को एक प्रतिस्पर्धी हथियार के रूप मे प्रयोग करने के प्रति इस विरक्ति का उत्तर केवल यह नहीं दिया जा सकता है कि वे शान्तिपूर्ण जीवन जीना चाहते है। इसका कारण यह है कि अल्पाधिकार के अन्तर्गत जब प्रतियोगिता अधिक गहन एव तीक्ष्ण हो जाती है तो यह कीमत मे कटौती के रूप मे नहीं बल्कि गैर-कीमत हथियारों जैसे अधिक विज्ञापन व्यय, पदार्थ-सुधार, ग्राहकों के लिये विशेष सुविधाओं का प्रचलन आदि रूपों मे हो सकती है।

अल्पाधिकार के अन्तर्गत गैर-कीमत प्रतिस्पर्धा मे आसक्ति की अत्यधिक प्रवृत्ति को लाभ अधिकतम लक्ष्य की अपेक्षा बिक्री अधिकतम लक्ष्य की दशा मे अधिक अच्छी तरह समझाया जा सकता है। इसका कारण यह है कि विज्ञापन इत्यादि पर किया गया अतिरिक्त व्यय बिक्री की भौतिक मात्रा को बढ़ाता है, साथ ही इससे कुल आय भी बढ़ती है, यद्यपि कीमत मे कटौती का कुल आय पर प्रभाव सदिग्ध रहता है क्योंकि 'मूल्य मे कटौती एक दुधारी तलवार की तरह है जो, जबकि यह कुल आय मे वृद्धि के लिये प्रभाव के रूप मे कार्य करती है उसमे यह बेची जाने वाली इकाइयों की सख्या मे कुछ वृद्धि करती है, किन्तु साथ ही यह बेची जाने वाली प्रत्येक इकाई से प्राप्त आय को कम कर के विपरीत दिशा मे कार्य करती है। दूसरे शब्दो मे, जैसा कि अर्थशास्त्रियों को अच्छी तरह ज्ञात है, इस बात पर निर्भर होते हुए कि माँग लोचदार है अथवा नहीं, डालर रूप मे बिक्री को बढ़ाने के लिये कीमत मे कटौती एक अत्यन्त ही अनिश्चित तरीका है।"[1]

कीमत मे कटौती का लाभ पर प्रभाव और अधिक अनिश्चित है, क्योंकि यदि यह कुल आय को बढाने मे असफल रहता है तो जहाँ तक सम्भव है, यह लाभ को कम करेगा, क्योंकि मूल्य मे कमी के परिणामस्वरूप उत्पादन मात्रा मे वृद्धि कुल लागतो को बढा देगी। दूसरी ओर, जबकि विज्ञापन, पदार्थ-सुधार, सुधरी हुई सेवा की लाभदायकता सदिग्ध होती हैं, बिक्री पर उनका अनुकूल प्रभाव पर्याप्त निश्चित होता है। अत बामोल के अनुसार, "विज्ञापन, सुधरी सेवाओं इत्यादि का बिक्री पर प्रभाव पर्याप्त मात्रा मे निश्चित होता है, जबकि प्राय इनकी लाभदायकता पर्याप्त रूप से सदिग्ध हो सकती है। अत बिक्री-अधिकतम सिद्धात यह एक बडी परिकल्पना करता है कि व्यवसायी गैर-कीमत प्रतिस्पर्धा को अधिक लाभदायक विकल्प समझेगा।" (The effect of advertising improved services etc on sales is fairly sure while, very often, their profitability may be quite doubtful. Thus sales maximisation makes far greater presumption that the businessman will consider non-price competition to be more advantageous alternative)"[2]

बिक्री-अधिकतम सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Appraisal of Sales Maximisation Theory)

बामोल के बिक्री-अधिकतम सिद्धान्त का निहितार्थ यह है कि लाभ-अधिकतम (सिद्धान्त) की अपेक्षा

1 Baumol, On the Theory of Oligopoly p. 260

2 *Ibid*, p 266 267

बिक्री-अधिकतम के अन्तर्गत मूल्य कम तथा उत्पादन की मात्रा अधिक होगी। इसका कारण यह है कि कुल आय (total revenue) उस कीमत-उत्पादन स्तर पर अधिकतम होती है जहाँ सीमान्त आय शून्य हो, जबकि उत्पादन के लाभ-अधिकतम स्तर पर (यह दिये हुए होने पर कि सीमान्त लागतें धनात्मक है) सीमान्त आय धनात्मक होती है। ऊपर हमने यह स्पष्ट किया है कि 'न्यूनतम लाभ प्रतिबंध' सहित बिक्री अधिकतम उद्देश्य के अन्तर्गत भी लाभ अधिकतम उद्देश्य की अपेक्षा उत्पादन की मात्रा अधिक तथा मूल्य कम होगा। यदि यह सही है कि अल्पाधिकारी बिक्री अथवा कुल आय को अधिकतम करने की चेष्टा करते है तब अधिक मात्रा में उत्पादन एवं पदार्थ का नीचा मूल्य लोगो के कल्याण पर अनुकूल प्रभाव डालेंगे।

जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है, बिक्री अधिकतम का एक अन्य निहितार्थ यह है कि इसके अन्तर्गत अधिक विज्ञापन व्यय किया जाता है। इसके अलावा अल्पाधिकारियो के बिक्री अधिकतम उद्देश्य के अन्तर्गत मूल्य की प्रवृत्ति दृढ होने की होती है तथा विभिन्न फर्में सम्भवत गैर-कीमत प्रतियोगिता मे अधिक आसक्त होती है। वास्तविक जगत् मे अल्पाधिकारिक बाजार स्थिति के अन्तर्गत वस्तुत यही होता है। बामोल के मॉडल का अगला प्रमुख अभिप्राय अथवा निहितार्थ यह है कि 'दीर्घकाल एव अल्पकाल मे कीमत-निर्धारण मे एक प्रतिद्वंद्विता हो सकती है। अल्प-काल की दशा मे जहाँ, उत्पादन मात्रा सीमित होती है, यदि कीमतो को बढा दिया जाय तो आय बहुधा बढ जाती है, किन्तु दीर्घकाल मे बाजार के एक बडे भाग को हस्तगत करने के लिये अधिक प्रभावी ढग से प्रतिस्पर्धा करने की दृष्टि से कीमत को नीचे रखना अधिक लाभदायक हो सकता है। अत अल्पकाल मे पालन की जाने वाली मूल्य नीति, तब अल्पकालीन निर्णयो का दीर्घकालीन आय पर प्रत्याशित प्रतिप्रभावो या प्रतिक्रियाओ पर निर्भर होगी।[1]

परन्तु बिक्री अधिकतम मॉडल के भी अनेक आलोचक है। शेफर्ड[2] ने बलपूर्वक कहा है कि एक अल्पाधिकारी विकुंचित माँग वक्र का सामना करता है तथा, यह कि यदि विकुंचन काफी बडा है तो समान ही उत्पादन स्तर पर कुल आय (अर्थात बिक्री) एव कुल लाभ अधिकतम होंगे। परन्तु हाकिंस[3] ने यह बताया है कि शेफर्ड का निष्कर्ष नियमविरुद्ध हो जाता है यदि अल्पाधिकारिक फर्में किसी भी प्रकार की गैर-कीमत स्पर्धा जैसे कि विज्ञापन, पदार्थ विभेद, सेवा मे सुधार इत्यादि मे आसक्त होती है और वास्तविक जगत् मे वे सामान्य रूप से ऐसा करती है।

बिक्री अधिकतम मॉडल के विरुद्ध एक महत्वपूर्ण एव विश्वासोत्पादक आलोचना हाकिंस[4] द्वारा की गयी है। जैसा कि ऊपर लिखा गया है कि बॉमोल के अनुसार बिक्री अधिकतम करने वाली फर्म लाभ अधिकतम करने वाली फर्म की तुलना मे अधिक मात्रा उत्पादित करती है तथा अधिक विज्ञापन करती है। परन्तु हाकिंस ने यह बताया है कि यह निष्कर्ष सामान्यतया नियमविरुद्ध है। उनके अनुसार एक पदार्थ का उत्पादन करने वाली फर्मो की दशा मे, लाभ अधिकतम करने वाली फर्म की तुलना मे बिक्री अधिकतम करने वाली फर्म अधिक कम अथवा समान उत्पादन मात्रा का उत्पादन करेगी तथा अधिक, कम अथवा समान विज्ञापन व्यय करेगी। यह सब मूल्य मे कटौती के प्रति माँग एव कुल आय की प्रतिक्रियात्मकता की तुलना मे विज्ञापन व्यय के प्रति माँग अथवा कुल आय मे प्रतिक्रियात्मकता पर निर्भर होता है। जहाँ तक बहु पदार्थ फर्मों जो आजकल के वास्तविक जगत मे सामान्यत पायी जाती है, का प्रश्न है, स्थैतिक माडल मे बिक्री अधिकतम एव लाभ अधिकतम दोनो परिकल्पनाएँ उत्पादन

1 A Silberston, Price Behaviour of Firms, *Economic Journal*, 1970

2 W G Shephard, On Sales Maximising and Oligopoly Behaviour, *Economica*, 1962

3 C J Hawkins, On the Sales Revenue Maximisation Hypothesis, *Journal of Industrial Economics*, April 1970

4 C J Hawkins, 'The Revenue Maximization Oligopoly Model Comment, *American Economic Review* March 1977

मात्रा एवं साधन संयोगों के चुनाव में एक ही निष्कर्ष पर पहुंचती हैं।[1]

परन्तु स्थैतिक मॉडल के अतिरिक्त बामोल ने बिक्री अधिकतम करने वाली फर्म का एक विकास मॉडल[2] भी विकसित किया है जिसे विलियम्सन[3] ने सिद्ध किया है कि लाभ अधिकतम करने वाली फर्म की तुलना में इससे भिन्न परिणाम प्राप्त होते हैं।

1 See C J Hawkins, On the Sales Revenue Maximization Hypothesis,' *Journal of Industrial Economics*, April, 1970

2 See W. J Baumol's 1 Business Behaviour, Value and Growth 1937, 2 On the Theory of Expansion of the Firm *American Economic Review*, vol 52, pp 1078 87

3 J H Williamson, Profit, Growth and Sales Maximisation, *Economica*, vol 33, 1966

उपर्युक्त आलोचनाओं के बावजूद हमारा यह मत है कि प्रो॰ बामोल का बिक्री अधिकतम मॉडल लाभ अधिकतम सिद्धान्त का महत्वपूर्ण विकल्प है तथा हमें वास्तविकता के अधिक निकट लाता है क्योंकि अनेक दशाओं में, जैसा कि हमने ऊपर इस माडल की व्याख्या में बताया है, यह वास्तविक जगत में व्यावसायिक व्यवहार की व्याख्या लाभ अधिकतम सिद्धान्त की अपेक्षा अधिक अच्छी प्रकार से करता है। यद्यपि कुछ दशाओं में बिक्री एवं लाभ अधिकतम परिकल्पनाओं से समान अथवा मिलते-जुलते परिणाम निकलते हैं तो भी प्रबन्धक अधिरोहित बड़े व्यावसायिक निगमों (Corporations) के इस युग में प्रबन्धकीय अभिप्रेरणा में मनोरम अन्तर्दृष्टि प्रदान करके तथा साथ ही अपने माडल में विज्ञापन एवं गैर-कीमत प्रतिस्पर्धा के अन्य रूपों को सुस्पष्ट रूप से सम्मिलित करके बामोल ने हमारे कीमत सिद्धान्त में महत्वपूर्ण योगदान किया है।

35

अपूर्ण प्रतियोगिता में आधिक्य क्षमता
(EXCESS CAPACITY UNDER IMPERFECT COMPETITION)

चैम्बरलिन के एकाधिकारिक प्रतियोगिता तथा श्रीमती रॉबिन्सन के अपूर्ण प्रतियोगिता सिद्धान्तो ने इस बात को स्पष्ट किया कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता में फर्म दीर्घकालीन सन्तुलन मे सामाजिक दृष्टि से अनुकूलतम अथवा आदर्श उत्पादन से कम उत्पादन करती है। इसका अर्थ यह है कि फर्म दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के गिरते हुए भाग पर कार्य करती है, अर्थात्, वह उस मात्रा का उत्पादन नही करती जिस पर कि दीर्घकालीन औसत लागत न्यूनतम होती है। एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे एक फर्म दीर्घकालीन सन्तुलन उस स्थिति मे प्राप्त करती है जबकि इसका मांग वक्र (औसत आय वक्र) इसके दीर्घकालीन औसत लागत वक्र को स्पर्श करता है और इसको केवल सामान्य लाभ प्राप्त होते हैं। इस स्थिति मे फर्म अपने उत्पादन को दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के न्यूनतम बिन्दु तक उत्पादन को बढ़ाकर अपनी औसत लागत (और इस प्रकार कीमत) को कम कर सकती हैं। परन्तु वे ऐसा नही करतीं क्योंकि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के न्यूनतम बिन्दु से पहले ही उनके लाभ अधिकतम (सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय मे समानता की स्थापना) हो जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि एक एकाधिकारिक प्रतियोगी फर्म सामाजिक दृष्टि से अनुकूलतम उत्पादन (जो कि दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के न्यूनतम बिंदु के तदनुरूपी उत्पादन होता है), से कम उत्पादन करती है। समाज के उत्पादन साधनो का पूर्ण उपयोग उस समय होता है जबकि उनके प्रयोग से उत्पादन का वह स्तर प्राप्त किया जाय जिस पर दीर्घकालीन औसत लागत न्यूनतम हो। यह पूर्ण प्रतियोगिता मे दीर्घकालीन सन्तुलन स्थिति के बिल्कुल विपरीत है जहाँ फर्म अपनी दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के न्यूनतम बिन्दु पर कार्य करती है। एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे एक फर्म का वास्तविक दीर्घकालीन उत्पादन तथा सामाजिक दृष्टि से अनुकूल उत्पादन का अन्तर उसकी आधिक्य क्षमता (Excess Capacity) का माप होता है।

अपूर्ण या एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे आधिक्य क्षमता को रेखाकृति 35 1 तथा 35 2 की सहायता से समझा जा सकता है। रेखाकृति 35 2 पूर्ण प्रतियोगिता फर्म की दीर्घकालीन स्थिति को बताती है जो कि *ON* उत्पादन स्तर पर, जिस पर इसकी दीर्घकालीन औसत लागत न्यूनतम है, दीर्घकालीन सन्तुलन

में है। ON उत्पादन पर ही दीर्घकालीन उत्पादन की दोहरी शर्त—कीमत$=MC=AC$—पूरी होती है। अत यह स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता में फर्में सामाजिक दृष्टि से आदर्श मात्रा का उत्पादन करती है। दूसरी ओर, रेखाकृति 35 1 म, एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे फर्म OM उत्पादन पर सन्तुलन मे है क्योकि इस पर इसकी सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय बराबर है तथा कीमत औसत लागत के बराबर है (औसत आय वक्र (AR) औसत लागत वक्र (AC) का बिन्दु F पर स्पर्श करता है जो OM उत्पादन के तदनुरूपी है)। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि उत्पादन OM पर औसत लागत गिर रही है और ON उत्पादन तक गिरती रहती है। इसका अर्थ यह है कि फर्म ON तक अपने उत्पादन को बढा कर दीर्घकालीन उत्पादन लागत को न्यूनतम कर सकती है। आदर्श उत्पादन ON है जिस पर कि दीर्घकालीन औसत लागत न्यूनतम है। इसलिए फर्म आदर्श उत्पादन से MN मात्रा का कम उत्पादन कर रही है। यह MN उत्पादन आधिक्य क्षमता का द्योतक है जो कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण उत्पन्न होती है।
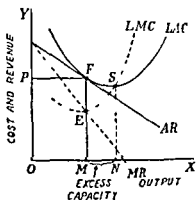
रेखाकृति 35 1

यह ध्यान देने योग्य है कि आधिक्य क्षमता की धारणा का सम्बन्ध केवल दीर्घकाल से है। इसका कारण यह है कि अल्पकाल मे किसी भी मार्किट रूप म (पूर्ण प्रतियोगिता को सम्मिलित करके) आदर्श से विचलन (departures from ideal) कई प्रकार के हो सकते है जो कि प्रचलित मार्किट स्थितियो के अनुसार पूर्ण रूप से समायोजन न होने को दर्शाते है। ध्यान देने योग्य अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे आधिक्य क्षमता फर्म के नीचे को गिरते हुए माँग वक्र (या औसत आय वक्र) के कारण उत्पन्न होती है। नीचे को गिरता हुआ वक्र, U आकार की औसत लागत वक्र के केवल गिरते हुए भाग का ही स्पर्श कर सकता है। केवल क्षैतिज माँग वक्र या औसत आय वक्र (जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता मे वास्तव म होता है) ही U आकृति के औसत लागत वक्र के न्यूनतम बिन्दु को स्पर्श कर सकता है। इस का यह अर्थ निकलता है कि औसत आय (या माँग) वक्र की नीच एक एकाधिकारिक प्रतियोगी फर्म के लिए जितनी अधिक होगी आधिक्य क्षमता उतनी ही कम तथा विलोम क्रम। फर्म का माग वक्र यदि पूर्णतया लोचदार हो जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता मे होता है तो आधिक्य क्षमता शून्य होगी।

केसल्स (Cassels) के अनुसार आधिक्य क्षमता (excess capacity) दो प्रकार की होती है। इसको रेखाकृति 35 3 म चित्रित किया गया है। दीर्घ-

रेखाकृति 35 2
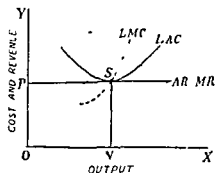
कालीन एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे एक फर्म OM उत्पादन पर सन्तुलन म है और SAC_1 अल्पकालीन औसत लागत वक्र वाले प्लाट का प्रयोग कर रही है। इस प्रकार फर्म के दृष्टिकोण से SAC_1 प्लाट अनुकूलतम है। परन्तु फर्म इस प्लाट की सम्पूर्ण उत्पादन

क्षमता का प्रयोग नहीं कर रही है, अर्थात् फर्म SAC_1 के न्यूनतम बिन्दु पर नहीं, बल्कि इसके बायीं ओर कार्य कर रही है। इसका अर्थ यह है कि फर्म जिस प्लाट या प्लाट में लगे हुए साधनों का वास्तव में प्रयोग कर रही है उसका वह पूर्ण या कुशलतम प्रयोग नहीं कर रही है। SAC प्लाट में कुशलतम प्रयोग तब होगा जब कि इससे OT मात्रा का उत्पादन किया जाय। परन्तु वास्तव में फर्म OM मात्रा का उत्पादन करती है क्योंकि OM उत्पादन पर ही दीर्घकालीन उत्पादन की जुड़वा शर्तें, $MR = MC$ तथा $AR = AC$, पूरी होती है। इस प्रकार OM तथा OT में अन्तर, MT, आधिक्य उत्पादन क्षमता का माप है। परन्तु सामाजिक दृष्टिकोण से, फर्म द्वारा SAC_2 प्लाट का उपयोग करके ON मात्रा का उत्पादन करने पर साधनों का कुशलतम प्रयोग होगा। अतः सामाजिक दृष्टिकोण से अनुकूलतम उत्पादन ON है। इस प्रकार आधिक्य क्षमता का एक भाग जिसको TN द्वारा प्रदर्शित किया गया है, इसलिए है क्योंकि सामाजिक दृष्टि से आदर्श अथवा अनुकूलतम प्लाट व्यक्तिगत अनुकूलतम प्लाट से भिन्न होता है। सामाजिक अनुकूलतम के लिए आवश्यक है कि फर्म SAC_2
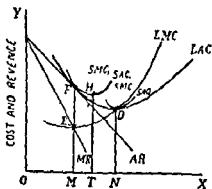
रेखाकृति 35.3 : आधिक्य क्षमता की दो धारणाएँ

आकार के प्लाट के लिए आवश्यक साधनों का प्रयोग करके इसका उपयोग D बिन्दु तक करे। परन्तु फर्म वास्तव में SAC_1 प्लाट द्वारा प्रदर्शित साधनों का प्रयोग करती है। इससे यह अर्थ निकलता है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता के दीर्घकालीन सन्तुलन में फर्म न्यूनतम औसत लागत को प्राप्त करने के लिए समाज के साधनों का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग नहीं करती। इस प्रकार समाज के दृष्टिकोण से कुल आधिक्य क्षमता MN है जिसका MT भाग इसलिए है क्योंकि फर्म प्लाट अथवा साधनों का उपयोग इस प्रकार से नहीं करती कि औसत उत्पादन लागत न्यूनतम हो। इसका TN भाग इस कारण है क्योंकि प्रयुक्त प्लाट सामाजिक दृष्टि से अनुकूलतम प्लाट से भिन्न है।

आधिक्य क्षमता की उपर्युक्त धारणा तथा माप *आदर्श उत्पादन* के विशिष्ट विचार पर आधारित है। मार्शल, काह्न (Kahn)[1], हैरड (Harrod)[2], केसल्स (Cassels)[3] तथा श्रीमती रॉबिन्सन (Robinson) ने आदर्श उत्पादन (ideal output) अथवा फर्म के अनुकूलतम आकार को वह उत्पादन माना है जिस पर इसकी दीर्घकालीन औसत लागत न्यूनतम होती है। श्रीमती रॉबिन्सन के अनुसार, 'पूर्ण प्रतियोगी उद्योग में पूर्ण सन्तुलन अवस्था में प्रत्येक फर्म उस मात्रा का उत्पादन करती है जिस पर इसकी औसत लागत न्यूनतम होती है। तब प्रत्येक फर्म अनुकूलतम आकार की होती है ' यदि प्रतियोगिता अपूर्ण है, तो व्यक्तिगत फर्म के उत्पादन का माँग वक्र नीचे को गिरता हुआ होगा और सन्तुलन की दोहरी शर्तों को उत्पादन की उस मात्रा पर प्राप्त किया जा सकेगा जिस पर औसत लागत गिर रही है। इस प्रकार फर्मों को जब सामान्य लाभ प्राप्त होंगे तो वे अनुकूलतम से कम आकार की

1. R. F. Kahn, "Some Notes on Ideal Output" *Economic Journal* XIV (1951), pp 1—35

2. R. F. Harrod, Doctrines of Imperfect Competition, *Quarterly Journal of Economics* VLIX(1934 35) pp 442-70

3. J. M. Cassels, Excess Capacity and Monopolistic Competition, *Quarterly Journal of Economics*, LI (1936 37) pp. 426-43.

होगी। • केवल पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं के होने पर ही फर्में अनुकूलतम आकार की होंगी और यह सोचने मे कोई तर्क नही है कि वास्तविक जगत मे भी ये फर्में अनुकूलतम आकार की होगी क्योंकि वास्तविक जगत मे प्रतियोगिता पूर्ण नही होती।"[1]

चम्बरलिन का आदर्श उत्पादन (कल्याणकारी आदर्श) का विचार तथा उसकी आधिक्य क्षमता की धारणा

[Chamberlin's View of Ideal Output (Welfare Ideal) and his Concept of Excess Capacity]

आदर्श उत्पादन का उपरिवर्णित विचार पूर्ण अथवा शुद्ध प्रतियोगिता अथवा उससे सम्बन्धित पदार्थ *समानता पर आधारित है जिसके कारण एक फर्म के* पदार्थ का मांग वक्र क्षैतिज होता है जिसके परिणाम-स्वरूप पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्म का दीर्घकालीन सतुलन दीर्घकालीन औसत लागत के न्यूनतम बिन्दु पर होता है। पदार्थ समानता की पूर्ण प्रतियोगिता मे दीर्घ-कालीन औसत लागत वक्र के न्यूनतम बिन्दु पर जो उत्पादन होता है उसको सामाजिक कल्याण के दृष्टि-कोण से 'आदर्श' माना जाता है। परन्तु चैम्बरलिन का तर्क है कि इस 'प्रतियोगी आदर्श' (Competitive Ideal) को एकाधिकारिक प्रतियोगिता म आदर्श नहीं माना जा सकता। एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे पदार्थ विभेदीकरण होता है जिसके कारण मांग वक्र सदा नीचे को गिरता हुआ होता है। पदार्थ समूह मे अबाधित प्रवेश के साथ नीचे गिरते मांग वक्र और सक्रिय कीमत प्रतियोगिता के कारण दीर्घ-कालीन सन्तुलन अनिवार्यतः औसत लागत वक्र के न्यूनतम बिन्दु के बायीं ओर होता है। चैम्बरलिन के अनुसार पदार्थ विभेदीकरण स्वत अभीष्ट है और इसलिए अबाधित प्रवेश म तथा सक्रिय कीमत प्रतियोगिता के अन्तर्गत एकाधिकारिक प्रति-योगिता फर्म का दीर्घकालीन सन्तुलन उत्पादन को प्रदर्शित करता है। अबाधित प्रवेश तथा सक्रिय कीमत प्रतियोगिता मे न्यूनतम औसत लागत के दीर्घकालीन सन्तुलन उत्पादन का विचलन (departure) उत्पादन को आदर्श होने से रोकता है। यह विचलन पदार्थ विभेदीकरण के कारण है जो कि उपभोक्ताओं द्वारा स्वत अभीष्ट है।

चैम्बरलिन ने पदार्थ विभेदीकरण को पदार्थ का गुण माना जिसकी अन्य किसी भी गुण के समान, लागत होती है। पदार्थ विभेदीकरण की लागत
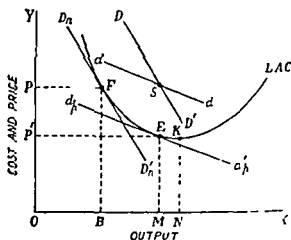
रेखाकृति 35 4 चैम्बरलिन की आधिक्य क्षमता की धारणा।

न्यूनतम औसत लागत के बायी ओर के दीर्घकालीन उत्पादन द्वारा प्रदर्शित की जाती है। इसका अर्थ यह है कि "वास्तविक दीर्घकालीन उत्पादन तथा न्यूनतम लागत उत्पादन का अन्तर विभेदीकृत पदार्थ की लागत है आधिक्य क्षमता का माप नहीं।"[2] परन्तु चैम्बरलिन के अनुसार, यह केवल तभी सत्य है जबकि बाजार मे प्रभावपूर्ण कीमत प्रतियोगिता हो क्योंकि विक्रेताओं म प्रभावपूर्ण कीमत प्रतियोगिता की स्थिति मे ही *उस श्रेणी का पदार्थ विभेदीकरण सम्भव होगा जिससे* कि क्रेता अपनी इच्छा की वस्तुओं को खरीद सकें।

चैम्बरलिन ने जिस आदर्श उत्पादन की कल्पना की उसको रेखाकृति 35 4 मे चित्रित किया गया है।

1 Joan Robinson, *Economics of Imperfect Competition*, pp 96-97.

2 C F Ferguson, *Microeconomic Theory* (1966), p 262

चैम्बरलिन के अनुसार एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे दीर्घकालीन सन्तुलन उस बिन्दु पर स्थापित होता है जहाँ पर आत्मगत या कल्पित माँग वक्र dd' दीर्घ-कालीन औसत लागत वक्र को स्पर्श करता है और बाजार माँग वक्र DD' इस स्पर्श बिन्दु को काटता है। इसको E बिन्दु पर प्राप्त किया गया है जहाँ $d_e d'_e$ LAC को स्पर्श करता है तथा DD' इस बिन्दु को LAC पर काटता है। यह दीर्घकालीन सन्तु-लन उस समय प्राप्त होता है जब कि समूह की काफी फर्मों मे परिवर्तन हो चुका होता है और कीमत प्रतियोगिता पूर्ण रूप से कार्यशील हो चुकी होती है। फर्म का उत्पादन OM है जो कि दीर्घकालीन सन्तुलन बिन्दु E के अनुरूप है। परन्तु E बिन्दु दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के गिरते हुए भाग पर स्थित है। चैम्बरलिन ने E बिन्दु के तदनुरूप OM दीर्घकालीन उत्पादन को पदार्थ विभेदीकृत एकाधिकारिक प्रति-योगिता म आदर्श उत्पादन माना है। चैम्बरलिन के अनुसार ON उत्पादन जो कि LAC दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के न्यूनतम बिन्दु के अनुरूप है पदार्थ विभेदीकृत एकाधिकारिक प्रतियोगिता की स्थिति मे आदर्श उत्पादन को नही बताता। अत सक्रिय कीमत प्रतियोगिता म दीर्घकालीन सन्तुलन जब E बिन्दु पर होता है, जहाँ आत्मगत माँगवक्र (imagined demand curve) $d_e d_e'$ औसत लागत वक्र को स्पर्श करता है और फर्म OM मात्रा का उत्पादन करती है जो कि पदार्थ विभेदीकरण की स्थिति म आदर्श है तो आधिक्य क्षमता शून्य है। इसलिये चैम्बरलिन के अनुसार, जब तक बाजार म सक्रिय कीमत प्रतियोगिता है, एकाधिकारिक प्रतियोगिता के कारण कोई आधिक्य क्षमता उत्पन्न नही होती है।

चैम्बरलिन के विचार से आधिक्य क्षमता तब उत्पन्न होती है जब फर्मों का अबाध प्रवेश (free entry) होता है, परन्तु कीमत प्रतियोगिता नही होती। इस प्रकार एकाधिकारिक प्रतियोगी समूह मे दीर्घकाल मे फर्मों का प्रवेश ही, कीमत प्रतियोगिता की अनु-पस्थिति मे, आधिक्य क्षमता का कारण है। रेखाकृति 35 4 मे, अल्पकाल मे, फर्म OP कीमत पर S बिन्दु पर सन्तुलन मे है। यह कीमत चूँकि औसत लागत से अधिक है इसलिये फर्म को असामान्य लाभ प्राप्त होंगे। यह समूह मे अन्य फर्मों को आकर्षित करेगा। उद्योग मे फर्मों के प्रवेश से बाजार माँग वक्र DD', जिसका सामना फर्म कर रही है, बायी ओर को विवर्तित हो जायेगा और वह विवर्तन तब तक होता रहेगा जब तक यह औसत लागत वक्र को स्पर्श नही करने लगता और इस स्थिति पर लाभ समाप्त हो जाते हैं। रेखाकृति 35 4 मे फर्मों के प्रवेश से फर्म जिस बाजार माँग वक्र का सामना कर रही है वह $Dn\ D'n$ स्थिति ग्रहण कर लेता है जहाँ यह F बिन्दु पर LAC को स्पर्श करता है। अब F बिन्दु पर फर्म स्थायी सन्तुलन मे होगी और OB मात्रा का उत्पादन करेगी। ऐसा तब होगा जब कि विभिन्न फर्मों मे कोई कीमत प्रतियोगिता नही है। अब फर्मों मे कीमत प्रतियोगिता के अभाव मे आत्मगत माँग वक्र dd' अप्रासंगिक हो जाता है। अत कीमत प्रतियोगिता के अभाव मे आत्मगत माँग वक्र dd' बाजार माँग वक्र $Dn\ D'n$ पर नीचे की ओर विवर्तित नही होगा और फर्म का दीर्घकालीन स्थायी सन्तुलन F बिन्दु पर होगा जहाँ कीमत OP होगी और उत्पादन OB। चैम्बरलिन के अनुसार आदर्श उत्पादन OM है। अत अबाध प्रवेश के साथ तथा कीमत प्रतियोगिता के अभाव मे, एकाधिकारिक प्रतियोगिता के दीर्घकालीन सन्तुलन की स्थिति मे फर्म आदर्श उत्पादन से BM कम उत्पादन कर रही होगी। चैम्बरलिन के विचार से BM आधिक्य क्षमता को प्रदर्शित करता है जो कि कीमत प्रतियोगिता के अभाव के कारण है।

एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे कीमत प्रतियोगिता के अभाव के चैम्बरलिन ने विभिन्न कारण दिये हैं। सर्वप्रथम, व्यापारिक फर्में 'जियो और जीने दो' की नीति का पालन कर सकती हैं। इस नीति का पालन करने पर वे कीमत-कटौतियो की नीति का अनुसरण नही करती। माँग के स्थान पर वे अपनी कीमतें लागत (साधारण लाभो को सम्मिलित करके) से निर्धारित करके अधिकतम लाभ के स्थान पर सामान्य लाभो को ही ध्यान मे रखती हैं। वे, कम या अधिक,

यह मान लेती है कि उनको कुल बाजार माग मे से उचित भाग मिलता रहेगा। दूसरे, एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे व्यापारिक फर्में औपचारिक अथवा अनौपचारिक समझौते कर सकती हैं। वे कीमत-सघ (Price Association) बना सकती हैं जो कि निश्चित कीमत को बनाये रखते है और कीमत कटौतियों को रोकते हैं। तीसरे, 'व्यापारिक तथा व्यावसायिक नैतिकता' भी उनको कीमत कटौतियों द्वारा बाजार म विघ्न डालने से रोकती है। कीमत के आधार पर *प्रतियोगिता करना व्यवसायो मे, सामान्यत, अनैतिक* माना जाता है। कीमत कटौती को रोकने वाला चौथा कारण यह भय है कि कहीं कीमत कम करने से उपभोक्ताओं मे यह भ्रम न फैल जाय कि इस पदार्थ का स्तर ठीक नहीं है। वास्तविक जगत म अधिकाश *क्रेता सामान्यत आंख मीच कर क्वालिटी का सम्बन्ध* कीमत मे स्थापित कर देते हैं।

पाचवें, *व्यापारिक फर्में प्रत्यक्ष रूप मे कीमत स्थिरता* को बनाये रखती हैं किन्तु प्रच्छन्न रूप से कीमतो मे कटौतियाँ कर सकती हैं। प्रत्यक्ष रूप मे कीमतो मे परिवर्तन करने पर चूँकि प्रतिद्वन्द्वियो की ओर से प्रतिक्रियाएँ होती हैं, इसलिये फर्में गैर-कीमत सुविधाएँ *और मुफ्त सेवाएँ जैसे नि शुल्क कूपन, प्रीमियम आदि*, देना अधिक अच्छा समझती हैं। ये सब अतिरिक्त गैर-कीमत सुविधाएँ कीमत मे छिपी कटौतियाँ ही हैं। अन्त मे, परम्परा या रूढि द्वारा कीमत निर्धारित होने के कारण कई बार कीमतो को उतार-चढाव की *स्वतन्त्रता नहीं होती।*

जैसा कि ऊपर बताया गया, यदि कीमत प्रतियोगिता वास्तव मे अनुपस्थित है तो व्यक्तिगत फर्म कल्पित माँग वक्र dd' के अस्तित्व के बारे मे चिन्तित नहीं होंगी। वे केवल बाजार माँग वक्र DD' के बारे में चिन्तित होंगी जो कि यह बताती है कि समूह की सब फर्में यदि एक साथ कीमत को बढ़ा दें या कीमत को कम कर दें तो कीमत वृद्धि या कीमत कमी के क्या प्रभाव होंगे। चेम्बरलिन के अनुसार, "एकाधिकारिक प्रतियोगिता में फर्मों में कीमत प्रतियोगिता के अभाव का परिणाम आधिक्य क्षमता होगी जिसके लिये कोई स्वय चालक उपचार नहीं है। वास्तव मे इस प्रकार की आधिक्य क्षमता शुद्ध प्रतियोगिता मे उत्पन्न हो सकती है जिसमे इसका कारण उत्पादकों द्वारा ठीक प्रकार से अनुमान न लगाना या माँग व लागत दशाओ मे आकस्मिक उतार-चढाव होता है। परन्तु यह एकाधिकारिक प्रतियोगिता की विशेषता है जो कि स्वतन्त्रता से दीर्घकाल मे उत्पन्न हो जाती है। कीमत प्रतियोगिता की असफलता तथा कीमत का लागत के बराबर होने के कारण यह स्थिति सामान्य व स्थायी भी हो सकती है। आधिक्य क्षमता को कभी समाप्त नहीं किया जाता और इसका परिणाम है ऊँची कीमतें तथा अपव्यय।"[2] उन्होंने आगे कहा कि उनका एकाधिकारिक प्रतियोगिता का सिद्धान्त "*आर्थिक व्यवस्था मे इस प्रकार की अमितव्ययताओ* की व्याख्या करता है—इनके अपव्ययो को प्रतियोगिता के अपव्यय (Wastes of Competition) कहा जाता है। वास्तव मे ये अमितव्ययताएँ कभी भी शुद्ध प्रतियोगिता मे उत्पन्न नहीं होती। ये एकाधिकार के *अपव्यय (Wastes of monopoly)* हैं, एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे एकाधिकारिक तत्व के कारण।"[3]

आधिक्य क्षमता धारणा की हेरड द्वारा समालोचना
(Harrod's Critique of the Excess Capacity Doctrine)

एकाधिकारिक अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत आधिक्य क्षमता की धारणा की आलोचना बहुत से अर्थशास्त्रियों, मुख्यत. हेरड तथा केलडर, ने की है। हेरड के अनुसार, आधिक्य क्षमता की धारणा का भावार्थ यह है कि युक्तियुक्त अथवा विवेकशील उद्यमकर्त्ता सगत रूप से व्यवहार करता है। एकाधिकारिक प्रतियोगी सन्तुलन मे, जैसा कि चेम्बरलिन और श्रीमती राबिन्सन ने वर्णन किया है, हेरड के विचार से असगति उत्पन्न हो जाती है क्योंकि उद्यमकर्त्ता अल्प-

2 *Ibid*, p 109.
3 *Ibid*, p 109.

कालीन सीमान्त आय वक्र तथा दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र की सहायता से अनुकूलतम प्लांट एवं उत्पादन का निर्धारण करता है। एक युक्तियुक्त (rational) उद्यमकर्त्ता का एक ओर अल्पकालीन सीमान्त आय वक्र तथा, दूसरी ओर, दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र के प्रयोग का व्यवहार काफी सीमा तक असंगत है। हेरड का विश्वास है कि संगति से व्यवहार करने वाला उद्यमकर्ता अनुकूलतम उत्पादन तथा प्लांट के आकार के निर्धारण के लिये दीर्घकालीन सीमान्त आय वक्र के साथ दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र का प्रयोग करेगा। दीर्घकाल में अन्य फर्मों के प्रवेश की आशा होने की दशा में दीर्घकालीन सीमान्त आय वक्र (दीर्घकालीन मांग वक्र भी) अल्पकालीन सीमान्त आय वक्र की तुलना में अधिक लोचदार होता है। परिणामस्वरूप, दीर्घकालीन सीमान्त आय वक्र, चैम्बरलिन या श्रीमती रॉबिंसन द्वारा निर्धारित उत्पादन की तुलना में, अधिक उत्पादन मात्रा के स्तर पर दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र को काटेगा (दीर्घकालीन औसत आय वक्र दीर्घकालीन औसत लागत वक्र को स्पर्श करेगा) तथा यह उत्पादन शुद्ध प्रतियोगिता उत्पादन के काफी निकट होगा।

इसके अतिरिक्त हेरड (Harrod) का विचार यह है कि चैम्बरलिन तथा श्रीमती रॉबिन्सन ने विश्लेषण में फर्म को अदूरदर्शी मान लिया गया है क्योंकि यह फर्मों के प्रवेश पर अपनी कीमत नीति के प्रभावों को ध्यान में नहीं रखती। उसका विश्वास है कि फर्म इससे अधिक दूरदर्शी तरीके से व्यवहार करती है और फर्मों के प्रवेश पर अपनी कीमत नीति के सम्भावी प्रभावों को ध्यान में रखती है। अतः चैम्बरलिन का एकाधिकारिक प्रतियोगिता का मॉडल तथा श्रीमती रॉबिंसन की अपूर्ण प्रतियोगिता का सिद्धांत यह मान लेता है कि उद्यमकर्त्ता अत्यधिक विवेकशील (*rational*) है, परन्तु बहुत अधिक अदूरदर्शी (*short-sighted*) है। हेरड ने कहा कि "प्रत्यक्ष रूप से उद्यमी होना तथा मनोविकार से पीड़ित होना असम्भव है।"[1] एक दूरदर्शी विवेकशील फर्म उनके अनुसार, अधिकतम अल्पकालीन लाभ से कम कीमत रख कर फर्मों के प्रवेश को रोकने का प्रयत्न करेगी। इस प्रकार एक दूरदर्शी फर्म अल्पकालीन लाभों का त्याग करेगी जिससे कि फर्मों के प्रवेश को रोका जा सके। वास्तव में हेरड का विचार है कि विवेकशील तथा दूरदर्शी फर्म वह कीमत वसूल करेगी जिससे केवल सामान्य लाभों की प्राप्ति हो, यद्यपि यह सम्भव है कि उस कीमत पर अल्पकालीन सीमान्त आय अल्पकालीन सीमान्त लागत से कम हो। हेरड ने निष्कर्ष निकाला कि "अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण सामान्यतः आधिक्य क्षमता के उत्पन्न होने की प्रवृत्ति नहीं होती।" इसलिये अर्थशास्त्रियों को इस "सामान्यतः स्वीकृत धारणा" का त्याग कर देना चाहिए।[2]

केलडर द्वारा आधिक्य क्षमता सिद्धान्त की आलोचना
(Kaldor's Critique of the Theory of Excess Capacity)

एक प्रसिद्ध कैम्ब्रिज अर्थशास्त्री प्रो० निकोलस केलडर ने भी इस सिद्धान्त की आलोचना की कि अपूर्ण या एकाधिकारिक प्रतियोगिता में आधिक्य क्षमता उत्पन्न हो जाती है। प्रो० केलडर ने आलोचना के लिये एकाधिकारिक प्रतियोगिता में आधिक्य क्षमता सृजन के चैम्बरलिन के विचार को चुना है। प्रारम्भ में ही यह बता देना श्रेयस्कर होगा कि केलडर ने एकाधिकारिक प्रतियोगिता में आधिक्य क्षमता के सृजन की सम्भावना को पूर्ण रूप में अस्वीकृत नहीं किया है। परन्तु उनके अनुसार कुछ परिस्थितियों में जिनसे आधिक्य क्षमता का सृजन होता है, वह उस आधिक्य क्षमता से बहुत कम होगी जिसका वर्णन चैम्बरलिन ने अपने विश्लेषण में किया। ऊपर हम देख चुके हैं कि *चैम्बरलिन के विश्लेषण में आधिक्य क्षमता का सृजन तब होता है जबकि उद्योग अथवा व्यापार में नई फर्में* या नए उद्यमकर्त्ता प्रवेश करते हैं और उनके प्रवेश करने के कारण फर्म के माँग वक्र उस स्थिति पर विवर्तित हो जाएँगे जहाँ पर वे दीर्घकालीन औसत लागत वक्र को स्पर्श करते हैं। कीमत प्रतियोगिता की

1. R. F. Harrod *op. cit.*

2. *Ibid*

अनुपस्थिति मे इसके कारण व्यक्तिगत फर्मों के उत्पादन मे कमी तथा उत्पादन लागतो मे वृद्धि हो जाती है। इसको ही आधिक्य क्षमता या सामाजिक साधनो का अपव्यय कहा जाता है।

प्रो० केलडर के अनुसार चैम्बरलिन की इस स्पष्ट अथवा निहित अव्यावहारिक मान्यता के कारण एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे आधिक्य क्षमता उत्पन्न होती है। यदि इन विशिष्ट मान्यताओ को छोड दिया जाय तो चैम्बरलिन का यह सिद्धान्त, कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे बडी मात्रा मे आधिक्य क्षमता होती है छिन्न भिन्न हो जाता है। इस प्रकार वे कहते है, "इसलिये, तर्क के आधार पर उसकी आलोचना करना उचित नही होगा क्योकि प्रो० चैम्बरलिन के विश्लेषण का तर्क वास्तव मे श्रेष्ठ है। जो बात उसने ध्यान मे नही ली है वह यह है कि उनकी प्रारम्भिक मान्यताओ मे अव्यावहारिकता की मात्रा बहुत अधिक है तथा उसके निष्कर्ष बडी मात्रा मे उन मान्यताओ पर आधारित है।"[1] केलडर के अनुसार, चैम्बरलिन का आधिक्य क्षमता सृजन का सिद्धान्त निम्न मान्यताओ पर आधारित है

(1) प्रथम, यह मान लिया गया है कि उत्पादको व फर्मों की सख्या बहुत अधिक है जो कि विभेदीकृत पदार्थों, जो एक दूसरे के निकट स्थानापन्न है, का उत्पादन कर रही है। इससे यह अर्थ निकलता है कि उसके पदार्थ का मांग वक्र नीचे को गिरता हुआ होता है और विभिन्न उत्पादको के पदार्थों की माग की प्रति लोच (cross elasticity of demand) बहुत अधिक होती है, परन्तु अनन्त नही।

(2) दूसरे, यह मान लिया गया है कि "उपभोक्ता के अधिमान विभिन्न विभेदीकृत पदार्थों मे समान रूप से वितरित हैं।" इस बात को ध्यान मे रखते हुए तथा इस वास्तविकता के कारण कि फर्मों की सख्या बहुत अधिक होती है, एक फर्म द्वारा कीमत या पदार्थ म परिवर्तन के प्रभाव उसके प्रतियोगियो की बडी सख्या पर इतने कम होते हैं कि प्रत्येक पर इसका जो प्रभाव पडता है वह इतना नगण्य होता है कि उसके प्रतियोगियो को न तो पुन समायोजन करना पडता है और न ही उनकी ओर से कोई प्रतिक्रिया होती है। इसी मान्यता के कारण समस्त प्रतियोगी फर्मों की कीमतो को दिया हुआ मान लिया जाता है और एक दी हुई फर्म के मांग वक्र को खीचा जाता है।

(3) तीसरे, केलडर के अनुसार एकाधिकारिक प्रतियोगिता सिद्धान्त म यह मान लिया गया है कि किसी भी पदार्थ की किस्मो पर सस्थागत एकाधिकार" (Institutional Monopoly) प्राप्त नही है और इसलिए दिए हुए समूह अथवा उद्योग मे नई फर्मों का प्रवेश पूर्णतया अबाधित है।

(4) चौथे, सब फर्मों के दीर्घकालीन लागत वक्रो को एक बिन्दु तक ही गिरता हुआ माना गया है जिसका अर्थ है कि फर्मों को पैमाने की बचतें (economies of large scale) केवल एक निश्चित उत्पादन तक ही प्राप्त होती हैं।

उपर्युक्त मान्यताओ के दिया हुआ होने पर, केलडर ने यह निष्कर्ष निकाला कि दीर्घकालीन एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे आधिक्य क्षमता नई फर्मों के प्रवेश के कारण उत्पन्न होती है। यदि फर्में अल्पकाल मे असामान्य लाभ कमा रही है, तो नई फर्में उद्योग मे प्रवश कर जाएँगी जो कि निकट स्थानापन्न वस्तुओ का उत्पादन करेंगी। परिणामस्वरूप वर्तमान फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की मांग कम हो जाएगी और उनके पदार्थों का मांग वक्र नीचे को विवर्तित हो जाएगा। नई फर्मों के प्रवेश की प्रक्रिया तब तक जारी रहेगी जब तक कि मांग वक्र औसत लागत वक्र को स्पर्श नही करने लगता और उसके लाभ पूर्णतया समाप्त नही हो जाते। अत अन्त मे आधिक्य क्षमता के साथ सन्तुलन स्थापित होगा। 'नए प्रतियोगियो के प्रवेश के कारण यह आवश्यक नही है कि वर्तमान पदार्थों की कीमत कम हो जाएगी। यह कीमत बढ भी सकती है। उद्यमकर्त्ता जिस लाभ का अर्जन कर रहा है वह कम कीमतो के रूप म उपभोक्ताओ को नही सौंप दिया जायगा बल्कि कम उत्पादन कुशलता में लग

1 N Kaldor, Imperfect Competition and Excess Capacity, *Readings in Price Theory* (AEA).

जाएगा।"[1] इसलिए केलडर का विचार है : "इसमे बहुत कम शका है कि दी हुई मान्यताओ मे यह सिद्धान्त अखण्डनीय है। इसलिए जो भी आलोचना की जाए वह मान्यताओ की सगति तथा उपयोगिता पर होनी चाहिए।"[2]

केलडर ने स्वीकार किया है कि प्रथम मान्यता उचित है परन्तु उसने अन्य तीन मान्यताओ को चुनौती दी है। उसके विचार मे एक फर्म के पदार्थ की माँग की प्रति लोच, समूह के प्रतिद्वन्द्वियो के अन्य पदार्थों की कीमतो के साथ समान आकार की नही होती। उनके अनुसार, हम यह नही कह सकते कि एक फर्म की कीमत या पदार्थ मे परिवर्तन के प्रभाव उसके समस्त प्रतियोगियो पर समान रूप से पडेंगे। विभिन्न उत्पादको के पदार्थों (किसी भी अन्य विशिष्ट पदार्थ की तुलना मे) मे समान मात्रा की स्थानापत्ति नही होगी। किसी भी विशिष्ट उत्पादक को सदा उन प्रतिद्वन्द्वियो का सामना करना पडेगा जिनमे से कुछ उसके समीप होगे और कुछ दूर। वास्तव मे, स्वय के दृष्टिकोण से उसमे अपने प्रतिद्वन्द्वियो को उनकी कीमतो से उसकी माँग पर पडने वाले प्रभावो के आधार पर किसी निश्चित क्रम के अनुसार वर्गीकृत करने की क्षमता होनी चाहिए (यह आवश्यक नही कि यह उसी क्रम से हो जिस क्रम से यह उसके किसी प्रतिद्वन्द्वी पर लागू होती है।)[3] इस प्रकार, केलडर के अनुसार एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे विक्रेता अथवा फर्मों को 'एक समूह मे एकत्र नही किया जा सकता परन्तु केवल एक क्रम मे रखा जा सकता है। प्रत्येक 'पदार्थ' को क्रम के एक विशेष स्थान पर कल्पित किया जा सकता है। क्रम का निर्माण इस प्रकार से किया जाय कि वे पदार्थ एक दूसरे के पास रखे हुए हो जिनके लिए उपभोक्ता की प्रतिस्थापन सापेक्षता (elasticity of substitution) बहुत अधिक है··· प्रत्येक उत्पादक अपने दोनो ओर के निकटतम प्रतिद्वन्द्वियो के सम्मुख है। इनकी कीमतो के प्रति उसके अपने पदार्थ की माँग बहुत सवेदनशील होगी, जैसे-जैसे कोई उससे दूर हटता है यह सवेदनशीलता कम होती जाती है।

सक्षेप मे, प्रो० केलडर के तर्कों का सार यह है कि जब फर्मों की सख्या अधिक भी हो, जैसा कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे होता है, तब भी यह नही माना जा सकता कि एक एकल उत्पादक द्वारा कीमत या पदार्थ मे परिवर्तन के प्रभाव समान रूप से उसके बहुत अधिक प्रतिद्वन्द्वियो पर फैल जाएँगे और व्यक्तिगत रूप से उनमे से प्रत्येक पर ये प्रभाव नगण्य होगे जिसके कारण वे बदले में कोई प्रतिक्रिया नही करेगे। इस प्रकार प्रो० केलडर ने कहा कि प्रतिद्वन्द्वी उत्पादको की कीमतो तथा पदार्थों को दिया हुआ नही माना जा सकता और इसलिए एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत एक उत्पादक के लिए माँग वक्र खीचा ही नही जा सकता। अत एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे एक उत्पादक के लिए माँग वक्र, अल्पाधिकार अथवा द्वि अधिकार के समान, अनिश्चित (indeterminate) है क्योकि यह बहुत सी सम्भावित प्रतिक्रियाओ (counter-moves) पर, जो कि उसका प्रतिद्वन्द्वी पहले वाले की कीमत अथवा उत्पादन परिवर्तन के प्रतिक्रिया स्वरूप करता है, निर्भर है। अब जबकि उत्पादक को उसके लिए जो वास्तविक माँग वक्र है उसका पता ही नही है तो उस स्थिति मे यह प्रश्न कि दीर्घकाल म उसका माँग वक्र उसके सीमात औसत वक्र को स्पर्श करेगा और वह प्राधिक्य क्षमता के साथ सन्तुलन मे होगा—उठता ही नही।

दूसरे, केलडर ने बताया कि एक उत्पादक अपनी कीमत नीति की रचना करते समय केवल अपने प्रतिद्वन्द्वी की अपनी क्रियाओ के प्रति, प्रतिक्रियाओ को ही ध्यान मे नही रखता बल्कि नये पदार्थों से भावी प्रतियोगिता, जैसे नये या सम्भावी उद्यमकर्त्ताओ के पदार्थों को भी ध्यान मे रखता है। उसका तर्क यह है कि एक नये पदार्थ को किन्ही दो निश्चित पदार्थों के बीच मे रखना चाहिए। इस प्रकार एक नया पदार्थ अपने निकटतम 'पडोसी' की माँग को प्रभावित करेगा। इस भावी प्रतियोगिता को ध्यान मे रखते हुए एकाधिकारिक

1 Kaldor, *op cit*, p 388
2 *Ibid*, p 388
3 *Ibid*, p 390

प्रतियोगिता मे एक उत्पादक दूरदर्शी तरीके से व्यवहार करता है और अपने पदार्थ के लिए कम कीमत वसूल करके साधारण लाभो का अर्जन करता है। यह दूरदर्शी कीमत नीति नए प्रतियोगियो के प्रवेश को रोकेगी और परिणामस्वरूप उत्पादक सीमान्त लागत के स्पर्शता बिन्दु की ओर नही धकेला जाएगा अथवा अन्य शब्दो मे, 'आधिक्य क्षमता की स्थिति की ओर नही धकेला जाएगा। यदि एक उत्पादक को यह पता है कि वह आज ऊँची कीमत प्राप्त करता है तो कल उसका प्रतिद्वन्द्वी आ जाएगा जिसके केवल अस्तित्व मात्र से ही वह स्थायी रूप से बुरी स्थिति मे आ जाएगा, तो वह ऐसी कीमत प्राप्त करेगा जिस पर लाभ कम होगा यदि वह स्थायी रूप से अपने लाभो की सुरक्षा की आशा करता है और यही 'दूरदर्शिता' उसको आधिक्य क्षमता की स्थिति की ओर जाने से रोकेगी।"

तीसरे, केलडर का विचार यह है कि यदि पैमाने की मितव्ययिताएँ बिलकुल भी उपलब्ध न हो रही हो तो आधिक्य क्षमता सिद्धान्त छिन्न-भिन्न हो जाता है। हमे पता है कि केलडर के अनुसार पैमाने की मितव्ययिताएँ उस समय उपलब्ध नही होती जब कि समस्त उत्पादन-साधन पूर्णतया विभाज्य होते है। जब पैमाने की मितव्ययिताएँ या अमितव्ययिताएँ उपलब्ध नही होती तो *दीर्घकालीन औसत लागत वक्र एक सीधी* क्षितिज के समानान्तर रेखा होगा और दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र इसमे विलीन हो जाएगा। जब समस्त साधन पूर्णतया विभाज्य हों, और इस कारण पैमाने की मितव्ययिताएँ पूर्णतया अनुपस्थित हो तो *पदार्थ विभेदीकरण* के बावजूद आर्थिक शक्तियो की अबाधित क्रियाशीलता के कारण पूर्ण प्रतियोगिता आवश्यक रूप से स्थापित हो जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता होने पर माँग वक्र पूर्णतया लोचदार या क्षितिज के समानान्तर हो जाता है। इसलिए, क्षितिज के समानान्तर लागत तथा माँग वक्रो के होने पर यह सम्भव नही है कि आधिक्य क्षमता के साथ सन्तुलन की स्थापना हो।

अब प्रश्न यह उठता है कि पैमाने की मितव्ययिताओं की पूर्ण अनुपस्थिति मे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थापना किस प्रकार से होगी? ऐसा इसलिए है कि जब पैमाने की मितव्ययिताएँ अनुपस्थित हैं, अर्थात् दीर्घकालीन लागत वक्र क्षितिज के समानान्तर है तो, जब तक माँग की लोच अनन्त से कम है, लाभो की पूर्ण समाप्ति नही होगी। जब नए उत्पादक उद्योग मे प्रवेश करेगे तो व्यक्तिगत फर्मों का उत्पादन गिर जाएगा और माँग वक्रो की लोच कम हो जाएगी। *परन्तु क्षितिज के समानान्तर औसत लागत वक्र के सबंध* मे उत्पादको द्वारा तब तक लाभ-अर्जन की सम्भावना है जब तक कि माँग वक्र भी क्षैतिज नही हो जाता। परन्तु माँग वक्र के क्षितिज के समानान्तर बन जाने का अर्थ है पूर्ण प्रतियोगिता की स्थापना। इस प्रकार केलडर का कहना है 'नए उत्पादको का प्रवेश जारी रहेगा जिसके कारण वर्तमान उत्पादको के उत्पादन मे निरन्तर कमी होती रहेगी जब तक कि उनकी माँग की लोच अनन्त होकर 'औसत लागतों' के बराबर नही हो जाती। यहाँ प्रवेश समाप्त हो जायेगा। परन्तु प्रत्येक फर्म का उत्पादन गिर कर इतना कम हो जायेगा कि बाजार पर उसका कुछ भी नियन्त्रण नही रहेगा।"

यदि पैमाने की मितव्ययिताएँ (economies of scale) अविभाज्यता की उपस्थिति के कारण वर्तमान हैं, तब भी, केलडर के अनुसार, आधिक्य क्षमता का सृजन नही होगा। उनके यह सोचने का कारण यह है कि जब पैमाने की मितव्ययिताएँ वर्तमान होती है तो भावी प्रतियोगिता कभी भी व्यक्तिगत माँग व लागत वक्रो की स्पर्शता प्राप्त करने मे सफल नही होगी। पैमाने की बाह्य मितव्ययिताएँ (external economies) *होने पर, नई फर्मों का उद्योग मे प्रवेश तब तक* जारी रहेगा जब तक कि माँग की लोच अनन्त नही हो जाती। यह लागतों मे वृद्धि के कारण उससे बहुत पहले रुक जाएगा क्योंकि नई फर्मों के प्रवेश के कारण व्यक्तिगत फर्मों के उत्पादन कम हो जाते हैं। परन्तु केलडर का तर्क है "यह मानने का कोई कारण नहीं है कि यह केवल उसी बिन्दु पर रुकेगा जहाँ पर माँग व लागत वक्र एक दूसरे को स्पर्श करते हैं।" जब कि पैमाने की मितव्ययिताएँ उपस्थित होती है तो नई फर्में लाभ प्राप्त करने की आशा से उद्योग मे प्रवेश

नही करती जब तक कि वे पर्याप्त रूप से बडे आकार के प्लाट की स्थापना नही करती जिससे पैमाने की मितव्ययिताएँ प्राप्त हो सकें। परन्तु उनके प्रवेश से प्रत्येक फर्म की माँग, मुख्यत उसके निकटतम प्रतिद्वन्द्वियो तथा उनकी स्वय की माग मे कमी हो जाएगी। उनके प्रवेश से माँग मे इतनी कमी हो सकती है कि माँग वक्र औसत-लागत वक्रो के नीचे हो जाये और फर्मों को हानि होने लगे। हानि का भय नई फर्मों के प्रवेश को रोकेगा। प्रवेश की इस बाधा के कारण, वर्तमान फर्मों का माँग वक्र औसत लागत वक्र के स्पर्शता बिन्दु से ऊपर रहेगा और इस प्रकार वे फर्में लाभो का अर्जन करेंगी। उस दशा मे वे बहुत अधिक आधिक्य क्षमता के साथ उत्पादन नही करेंगी। इस प्रकार, प्रो० केलडर का निष्कर्ष है कि जो कारण प्रतियोगिता को 'पूर्ण' होने से रोकता है, अर्थात् अविभाज्यता, वही कारण लाभो की पूर्ण समाप्ति को भी रोकेगा।"[1]

चौथे, केलडर ने चैम्बरलिन के आधिक्य उत्पादन सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर की है कि यह सस्थागत एकाधिकार (Institutional Monopoly) की अनुपस्थिति मान लेता है। सस्थागत एकाधिकार की अनुपस्थिति चैम्बरलिन के विश्लेषण मे निहित है क्योंकि वह मान लेता है कि सब फर्मों के लागत वक्र समरूप होते है। यदि विभिन्न फर्मों के लागत वक्र भिन्न-भिन्न होते तो इसका अर्थ यह होगा कि निम्न लागत फर्मों के पास जो कुछ है वह अन्य फर्मों के पास नही है। इस प्रकार लागत मे भिन्नता का अर्थ है सस्थागत एकाधिकार की उपस्थिति। केलडर के अनुसार, "इस प्रकार के सस्थागत एकाधिकार पेटेन्ट, कॉपी राइट, ट्रेड मार्क या व्यापारी नाम आदि के रूप मे हो सकते हैं। ये कानून द्वारा प्रदान किये जा सकते हैं या स्वामित्व द्वारा या केवल जनता की इच्छा द्वारा।"[2] वे आगे स्पष्ट करते है, "इस प्रकार कोई भी कारण जिसके कारण एक की तुलना मे दूसरे उत्पादक की लागत ऊँची हो जाती है (चाहे यह एक उद्यमकर्ता के पास विलक्षण साधनो के होने के कारण है अथवा क्रेताओ की अक्रियाशीलता के कारण जिससे नये उत्पादको को विशेष 'प्रवेश लागत' को वहन करना पड़ता है), तो इसका अर्थ 'सस्थागत एकाधिकार' की उपस्थिति होगा।"[3]

इन सस्थागत एकाधिकारियो की उपस्थिति आधिक्य क्षमता के सृजन मे दोनो ओर क्रियाशील हो सकती है। यदि उपभोक्ताओ का विभेदीकरण कम विभिन्न उत्पादको के पदार्थों के मध्य स्थिर रहे तो "सस्थागत एकाधिकार, जिस सीमा तक यह उपस्थित है, आधिक्य क्षमता के सृजन को रोकेगा क्योंकि उस सीमा तक, एक उत्पादक द्वारा अर्जित लाभ दूसरे उत्पादक द्वारा, प्रतियोगिता करके समाप्त नही किए जा सकते।"[4] परन्तु सस्थागत एकाधिकार की उपस्थिति, केलडर के अनुसार विपरीत दिशा मे भी क्रियाशील हो सकती है अर्थात् आधिक्य क्षमता का सृजन कर सकती है। इसका कारण यह है कि सस्थागत एकाधिकार, अपूर्ण प्रतियोगिता की मात्रा को बढ़ा कर, व्यक्तिगत उत्पादको के पदार्थों की माँग की लोच को कम कर देता है जिससे आधिक्य क्षमता म वृद्धि होने की सम्भावना है। इस प्रकार केलडर ने कहा, 'विभिन्न प्रकार के सस्थागत एकाधिकार स्वय के बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता की मात्रा को बढा देते है और इस प्रकार आधिक्य क्षमता के सृजन मे सहायक होते हैं।'[5] सस्थागत एकाधिकार की इन दो विपरीत प्रवृत्तियो के निवल प्रभाव, एक दूसरे को नष्ट करने अथवा न करने के कारण, आधिक्य क्षमता म कमी अथवा वृद्धि करने म से कोई भी एक परिणाम हो सकता है।

अन्त मे, केलडर ने एक और निहित मान्यता का वर्णन किया है जिस पर चैम्बरलिन का 'आधिक्य क्षमता' सिद्धान्त आधारित है। यह मान्यता है कि प्रत्येक उत्पादक केवल 'एक पदार्थ' (single product) का उत्पादन करता है। चैम्बरलिन के आलो-

1 *Ibid*, p 394
2 *Ibid*, p 396
3 *Ibid*, p 397
4 *Ibid*, p 397
5 *Ibid*, p 397

चकों द्वारा यह कहा गया है कि वास्तव में अनेक उत्पादक केवल एक नहीं बल्कि बहुत से पदार्थों (multiple products) का उत्पादन करते हैं। यह भी कहा गया है कि यदि एक पदार्थ की पर्याप्त रूप से बड़ी माँग नही है (ऐसा तब होता है जबकि एकाधिकारिक प्रतियोगिता मे नई फर्मे उद्योग मे प्रवेश करती हैं और तदनुसार प्रत्येक उत्पादक के पदार्थ की माँग कम हो जाती है) और इस कारण आधिक्य क्षमता उत्पन्न हो जाती है तो प्रथम पदार्थ के साथ-साथ उत्पादक किसी अन्य पदार्थ का उत्पादन भी प्रारम्भ कर सकते हैं और इस प्रकार क्षमता का पूर्ण प्रयोग कर सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि फर्म अपने उत्पादन मे पदार्थों की सख्या को बढ़ा कर (diversifying his production), अर्थात् बहुत से पदार्थों का एक-साथ उत्पादन करके, आधिक्य क्षमता के सृजन को रोक सकती हैं। और कहा जाता है कि वास्तविक जगत मे, वे ऐसा करती भी हैं।

परन्तु श्री केलडर के विचार मे, उत्पादन मे, विविधता लाकर आधिक्य क्षमता को दूर करने का तर्क पूर्णरूप से सत्य नही है। उनके विचार से, नई फर्मों के प्रवेश से प्रतियोगिता मे वृद्धि के कारण आधिक्य क्षमता का सृजन अथवा लागत मे वृद्धि होगी या नही, यह "सयुक्त उत्पादित पदार्थों (jointly produced products) के लागत-फलनो की प्रकृति" पर निर्भर करता है। उन्होंने बताया कि अधिकाश स्थितियो मे, अविभाज्य साधन पूर्ण तथा अविशिष्ट (unspecialised) नही होते और इसलिए "उत्पादन म विभिन्नता"[1] (diversification of production) का सम्बन्ध सदा लागत की किसी मात्रा से होता है अर्थात्, साधनों की दी हुई मात्रा की भौतिक उत्पादकता, किसी भी पदार्थ मे गणना करने पर, जितनी अधिक अलग-अलग वस्तुओं का उत्पादन एक साथ किया जाता है सदा उतनी ही कम होगी। सयुक्त रूप से उत्पादित अधिकाश वस्तुओं के लिए यह सत्य है, यह इस बात से पता चलता है कि किसी भी उद्योग के विकास के साथ 'विशिष्टीकरण' (specialisation) तथा 'अविच्छेदीकरण' (disintegration) अर्थात् प्रत्येक फर्म द्वारा उत्पादित वस्तुओं की सख्या मे कमी सदा सम्बद्ध होते हैं।"[2] उसका तर्क है कि यदि सयुक्त रूप से उत्पादित लागत-फलनो (cost functions) की प्रकृति उपर्युक्त प्रकार की है, तो केवल नई फर्मों द्वारा बढ़ी हुई प्रतियोगिता मे वृद्धि के कारण ही नही बल्कि वर्तमान फर्मों द्वारा विभिन्न पदार्थों के उत्पादन के कारण, (जो कुछ फर्मों द्वारा एक से अधिक पदार्थों का उत्पादन करने की प्रतिक्रिया है), प्रत्येक एकल पदार्थ (single product) का माँग वक्र और अधिक लोचदार हो जाएगा। इसका कारण यह है कि अब प्रत्येक उत्पादक प्रत्येक पदार्थ के छोटे से हिस्से का उत्पादन कर रहा होगा और प्रत्येक पदार्थ की उत्पादन लागत म काफी वृद्धि हो जाएगी (इसके कारण की व्याख्या ऊपर कर दी गई है)। इस बढ़ी हुई प्रतियोगिता के कारण उत्पादकों के लाभ समाप्त हो जाएँगे। परन्तु उत्पादन म विभिन्नता के कारण उत्पादन लागत म वृद्धि हो जाएगी। इस स्थिति मे, जिस प्रकार से चैम्बरलिन तथा जोन रॉबिन्सन ने बताया, आधिक्य क्षमता बहुत अधिक नही होगी (अर्थात् फर्मों द्वारा उत्पादन मे वृद्धि के कारण प्रति इकाई लागत मे कमी हो जायगी), क्योंकि वे उत्पादन म विभिन्नता लाकर क्षमता का पूर्ण प्रयोग कर रहे होंगे। परन्तु तकनीकी अपव्यय बहुत अधिक होगा और इसके परिणाम-स्वरूप लागतें बढ़ जाएँगी क्योंकि 'साधनों की भौतिक उत्पादकता उस स्थिति की तुलना मे कम होगी जबकि प्रत्येक उत्पादक कम पदार्थों का उत्पादन करे और कुल उत्पादन म प्रत्येक का भाग काफी अधिक हो'।"[3]

आधिक्य क्षमता सिद्धान्त पर केलडर की समालोचना के सम्बन्ध मे निष्कर्षात्मक टिप्पणियाँ (Concluding Remarks on Kaldor's Critique of Excess Capacity Theory)

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि केलडर ने आधिक्य क्षमता सिद्धान्त के दृढ रूप की आलोचना

[1] 'उत्पादन में विभिन्नता' का अर्थ है एक साथ बहुत से पदार्थों का उत्पादन।

[2] *Ibid*, p 402

[3] *Ibid*, p 402

की है। अपने दृढ़ रूप में यह सिद्धान्त बताता है कि मांग वक्र (या सीमान्त आय वक्र) नई फर्मों के प्रवेश तथा उनसे अधिक प्रतियोगिता के कारण औसत लागत वक्र को स्पर्श करने लगता है। उसका विश्वास है कि यदि लाभ पूर्ण रूप से समाप्त न भी हो तो भी अपूर्ण प्रतियोगिता में कुछ आधिक्य क्षमता की सम्भावना है। वास्तव में, केल्डर का विचार यह है कि इस प्रकार से सर्जित आधिक्य क्षमता उस आधिक्य क्षमता से कम होगी जिसकी कल्पना चैम्बरलिन व अन्यों ने की है। उनके अनुसार, "यह पूर्वमान्यता है कि यदि समस्त लाभ प्रतियोगिता के कारण समाप्त न हो जाय तो भी आधिक्य क्षमता की कुछ मात्रा का सृजन अवश्य हो जाएगा, क्योंकि नये प्रतियोगियों के उद्योग में प्रवेश करने से 'अविभाज्यताएँ' लागतों में वृद्धि को रोकने में समर्थ नहीं होंगी। इसलिए, यदि सिद्धान्त को दृढ़ रूप (मांग वक्रो की लागत वक्रों को स्पर्श करने की प्रवृत्ति) में प्रतिपादित किया जाय, तो इसके विरुद्ध जो बहुत सी आपत्तियाँ उठायी जाती हैं वे इसकी आधारभूत प्रस्तावना को कि नई फर्मों से प्रतियोगिता में वृद्धि से और परिणामस्वरूप अर्जित लाभों के स्तर में कमी होने से कीमतों में कमी के स्थान पर लागतों में वृद्धि हो सकती है को प्रभावित नहीं करती।"[1] केलडर के अनुसार यदि पैमाने की मितव्ययिताओं के कारण पूर्ण प्रतियोगिता प्राप्त नहीं हो पाती, तो स्वतन्त्र प्रतियोगिता के परिणामस्वरूप जितनी आधिक्य क्षमता का सृजन होगा" यह निम्न पर निर्भर करेगा : (1) उत्पादकों की दूरदर्शिता अथवा अदूरदर्शिता की मात्रा पर अर्थात् अपनी कीमत व उत्पादन सम्बन्धी नीति का निर्णय करते समय वे भावी प्रतियोगिता को कितना ध्यान में रखते हैं। (2) सस्थागत एकाधिकार की उपस्थिति की मात्रा। (3) 'मांग की विभिन्न प्रति लोचों' के आकार में किस सीमा तक अन्तर है।[2]

निष्कर्ष (Conclusion)

एकाधिकारिक अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता में आधिक्य क्षमता के प्रश्न पर विस्तार से विचार किया जा चुका है। हेरड तथा केलडर, जिनके विचारों की व्याख्या की गयी है, के अतिरिक्त अन्य अर्थशास्त्रियों[3] ने भी आधिक्य क्षमता के वाद-विवाद में भाग लिया है। आधिक्य क्षमता के सम्बन्ध में ये अन्य अर्थशास्त्री और भी भिन्न निष्कर्षों पर पहुंचे हैं। वास्तव में, विभिन्न लेखकों के निष्कर्षों में अन्तर होने का कारण यह है कि प्रत्येक लेखक चैम्बरलिन द्वारा निर्धारित मान्यताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य भिन्न मान्यताएँ भी निर्धारित करता है। हैरड तथा केलडर ने अतिरिक्त मान्यताओं, जैसे कि उत्पादक यह अनुमान लगा सकते हैं कि उनकी नीति के क्या प्रभाव प्रवेश करने वाले नये उत्पादकों पर पड़ेंगे, की सहायता से ही चैम्बरलिन के निष्कर्षों से कुछ अलग निष्कर्ष निकाले। अन्य अर्थशास्त्रियों ने चैम्बरलिन की मान्यताओं में कुछ अन्य परिवर्तन करके और भी भिन्न निष्कर्ष निकाले हैं। इसलिए वर्तमान लेखक को प्रो० के०जे० कोहन तथा आर० एम० कार्यट से इस सम्बन्ध में सहमति है कि 'हैरड, केलडर तथा आधिक्य क्षमता सिद्धान्त के अन्य आलोचक वास्तव में चैम्बरलिन के मॉडल की विशेषताओं का विश्लेषण करने के स्थान पर अपूर्ण प्रतियोगिता के अपने-अपने मॉडल का विकास कर रहे हैं।" (Harrod, Kaldor and other critics of the excess capacity theory really are developing their own models of imperfect competition rather than analysing the properties of Chamberlin's Model)'[4]

---

1. *Op cit*, p 398.
2. *Ibid*, pp. 398-399.

3. यहां इनका विशेष वर्णन किया जा सकता है. H R Edwards "Price Formation in Manufacturing Industry and Excess Capacity' *Oxford Economic Papers*, New Series, 7, No 1 (February, 1955), pp 94 118, F H Hahn, "Excess Capacity and Imperfect Competition" *Ibid*, 1 No 3 (October, 1955) pp 229 40, Paul Streeten, "Two comments on the Articles by Mrs Paul and Professor Hicks" *Ibid*, 259 64 and H F Lydall, "Conditions of New Entry and the Theory of Price", *Ibid* pp 300 11

4. K J. Cohen and R M Cyert, *Theory of the Firm, Resource Allocation in a Market Economy* (1965), p. 226.

36

एकाधिकारी शक्ति की मात्रा का माप

(MEASUREMENT OF THE DEGREE OF MONOPOLY POWER)

एकाधिकार केवल एक मात्रा (degree) का प्रश्न है। एकाधिकारी शक्ति केवल शुद्ध अथवा पूर्ण एकाधिकारी (Pure or Perfect Monopolist) के पास ही नही होती बल्कि उन सब बाजार स्थितियो, जिनमे एकाधिकारी तत्त्व, कम या अधिक मात्रा मे, वर्तमान हैं के उत्पादको तथा विक्रेताओं को भी प्राप्त होती है। इस प्रकार एकाधिकारिक प्रतियोगिता तथा अल्पाधिकार मे कार्यरत उत्पादकों तथा विक्रेताओं को, कम या अधिक मात्रा में, एकाधिकारी शक्ति प्राप्त होती है। एकाधिकारी शक्ति से हमारा तात्पर्य उस स्वनिर्णय की मात्रा से है जो कि उत्पादक या विक्रेता को अपनी कीमत व *उत्पादन नीति का निर्धारण करने के सम्बन्ध में प्राप्त* है। एकाधिकारी शक्ति नियन्त्रण की उस मात्रा का द्योतक है जो कि उत्पादक या विक्रेता को अपने पदार्थ की कीमत तथा उत्पादन पर प्राप्त होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि एकाधिकारी शक्ति की मात्रा को मापने की सर्वोत्तम विधि क्या है? एकाधिकारी शक्ति को मापने की अनेक विधियो को सुझाया गया है परन्तु यहाँ हम केवल तीन की ही विवेचना करेंगे।

माँग की लोच द्वारा एकाधिकारी शक्ति की माप

(Elasticity of Demand as a Measure of Monopoly Power)

विक्रेता के पदार्थ की माँग की लोच को बहुत समय से एकाधिकारी शक्ति की मात्रा या माप माना गया है। जैसा कि हमको पता है शुद्ध या पूर्ण प्रतियोगिता मे, जिसमे एकाधिकारी तत्त्व नही होता, एक व्यक्तिगत विक्रेता या फर्म के पदार्थ का माँग वक्र पूर्णतया लोचदार होता है। इसलिए इस स्थिति से *विचलन भी एकाधिकार की कुछ मात्रा को बतायेगा।* एक विक्रेता का अपने पदार्थ की कीमत तथा उत्पादन पर कितना नियन्त्रण है, यह उसके पदार्थ की माँग की लोच पर निर्भर करता है। पूर्ण या शुद्ध प्रतियोगिता के अन्तर्गत जिसमे एक व्यक्तिगत फर्म के पदार्थ का माँग वक्र पूर्णतया लोचदार होता है, विक्रेता का अपने पदार्थ की कीमत पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। वह बाजार मे प्रचलित कीमत को दिया हुआ तथा स्थिर

मान लेता है और उसके अनुसार अपने उत्पादन को निश्चित करता है। अत, शुद्ध अथवा पूर्ण प्रतियोगिता मे एक विक्रेता या फर्म को किसी भी प्रकार की एकाधिकारी शक्ति प्राप्त नही होती। जबकि मांग वक्र पूर्ण लोच से कम होता है, अर्थात् जब यह नीचे को गिरता हुआ होता है, जैसा कि अपूर्ण प्रतियोगिता की विभिन्न श्रेणियो मे (साधारण एकाधिकार, एकाधिकारिक प्रतियोगिता, बिना पदार्थ-विभेदीकरण तथा पदार्थ विभेदीकरण के साथ अल्पाधिकार) होता है, तो एकाधिकारी तत्त्व की कुछ मात्रा वर्तमान होती है जो इस बात की द्योतक है कि विक्रेता को कुछ एकाधिकारी शक्ति प्राप्त है। उसके पदार्थ की मांग वक्र के नीचे की ओर गिरते होने के कारण उत्पादक अपने पदार्थ की कीमत को, यदि वह चाहे तो, बढा सकता है, और इससे उसके समस्त क्रेता उसके पदार्थ को क्रय करना छोड नही देंगे। वह अपने प्रतिद्वन्द्वियो की तुलना मे निम्न कीमत भी निर्धारित कर सकता है और इस प्रकार उनके कुछ क्रेताओ को आकर्षित करके अपने पदार्थ की मांग वक्र को ऊपर उठा सकता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब मांग वक्र नीचे को गिरता हुआ होता है (अर्थात् वह पूर्ण लोच से कम होता है) तो उत्पादक अपने पदार्थ की कीमत निर्धारित करने मे कुछ स्वेच्छा का प्रयोग कर सकता है। किसी विक्रेता के पदार्थ की मांग की लोच जितनी कम होगी, उसके एकाधिकारी नियन्त्रण की मात्रा उतनी ही अधिक होगी और विलोम क्रम। जब उसके पदार्थ का मांग वक्र पूर्णतया बेलोचदार होगा तो विक्रेता अपने पदार्थ की कोई भी कीमत (चाहे यह कितनी ही अधिक हो) वसूल कर सकता है और फिर भी उसके पदार्थ की मांग मे कोई परिवर्तन नहीं होगा। उसके पास पूर्ण एकाधिकारी शक्ति होगी।* अत नीचे गिरती मांग वक्र की लोच जितनी अधिक होगी, एक फर्म की एकाधिकारी शक्ति उतनी ही कम होगी।

* पूर्णतया मूल्यनिरपेक्ष (बेलोचदार) माग को स्थिति (माग वक्र का सरल उदग्र रेखा (vertical straight line का होना) पूर्ण या शुद्ध एकाधिकार की एक धारणा है।

मांग की लोच के व्युत्क्रम (converse) को एकाधिकारी शक्ति का निश्चित माप कहा जा सकता है। अत एकाधिकारी शक्ति की मात्रा (degree of monopoly power) $= \frac{1}{e_p}$ जहां e_p मांग की कीमत लोच है। इस प्रकार जब मांग की कीमत लोच 1/4 है तो एकाधिकारी शक्ति की मात्रा $\frac{1}{\frac{1}{4}} = 4$ के बराबर होगी। यदि मांग की लोच 3 है तो एकाधिकारी शक्ति की मात्रा $\frac{1}{e_p} = \frac{1}{3}$ के बराबर होगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मांग लोच जितनी कम होगी विक्रेता की एकाधिकारी शक्ति उतनी ही अधिक होगी। मांग की लोच अधिक होने पर एकाधिकारी शक्ति कम होगी।

आलोचना (Criticism)—किसी एक बाजार स्थिति मे एक विक्रेता की एकाधिकारी शक्ति का एक द्योतक नि संदेह मांग की कीमत लोच है, परन्तु एकाधिकारी शक्ति की मात्रा का यह पूर्णरूपेण ठीक सूचक नही है। एक विक्रेता की नीचे गिरते मांग वक्र की आकृति तथा इसके स्तर के दिया हुआ होने पर, यदि माग की लोच को एकाधिकारी शक्ति का माप मान लिया जाय, तो एक विक्रेता की एकाधिकारी शक्ति उत्पादन के विभिन्न स्तरो पर भिन्न भिन्न होगी क्योकि मांग वक्र के विभिन्न बिन्दुओ पर मांग की लोच भिन्न-भिन्न होती है (सरल मांग रेखा के मध्य बिन्दु पर लोच एक के बराबर होती है, मध्य बिन्दु से ऊपर यह एक से अधिक होती है और मध्य बिन्दु से नीचे, एक से कम)। इससे यह अर्थ निकलता है कि दिये हुए आकार तथा स्तर के एक मांग वक्र के विभिन्न बिन्दुओ पर एकाधिकारी शक्ति की मात्रा भिन्न भिन्न होगी। यह बहुत विचित्र तथा अव्यावहारिक लगता है।

इसके अतिरिक्त, उन अल्पाधिकारी उद्योगों मे मांग की लोच द्वारा एकाधिकारी शक्ति का माप नही हो सकता है जिनमे कुछ विक्रेताओ मे प्रतियोगिता सक्रिय होती है और प्रत्येक कीमत युद्ध से इतना डरता

है कि कोई भी विक्रेता कीमत के आधार पर प्रतियोगिता नहीं करता। इसके स्थान पर प्रत्येक कीमत को दिया हुआ अथवा स्थिर मान लेता है और गैर-कीमत सवर्धन क्रियाओ (जैसे पदार्थ विभेदीकरण, विज्ञापन तथा अन्य विक्रय लागतो) के आधार पर अपने उत्पादन को निर्धारित करता है। इस प्रकार, अल्पाधिकार के कुछ उदाहरणो मे, एक अल्पाधिकारी के सन्मुख जो मांग वक्र होता है, पूर्ण प्रतियोगी विक्रेता के समान, वह भी पूर्णतया लोचदार होता है। इसका अर्थ यह है कि अल्पाधिकारी की एकाधिकारी शक्ति शून्य है। परन्तु कोई भी इस बात से मुह नही मोड सकता कि कुछ बडी फर्मों, जो कि सम्पूर्ण अल्पाधिकारी उद्योग की सरचना करती हैं, के पास किसी प्रकार की एकाधिकारी शक्ति नहीं होती। इस प्रकार हम देखते हैं कि एकाधिकारी शक्ति के माप के रूप मे मांग की लोच से कुछ स्थितियो मे भ्रमात्मक परिणाम निकल सकते हैं।

लरनर द्वारा प्रतिपादित एकाधिकारी शक्ति का माप (Lerner's Measure of Monopoly Power)

प्रो० लरनर ने एकाधिकारी शक्ति के माप का एक तरीका बनाया है जिसको काफी लोकप्रियता मिली है और जिसका विस्तृत रूप से वर्णन किया जाता है। एकाधिकारी शक्ति को मापने के लिये लरनर ने पूर्ण प्रतियोगिता को विचलन का आधार माना है। उसने शुद्ध अथवा पूर्ण प्रतियोगिता को सामाजिक अनुकूलतम अथवा अधिकतम कल्याण की स्थिति माना। इससे कोई भी विचलन किसी एकाधिकारी शक्ति की उपस्थिति का द्योतक होगा जिससे साधनों का श्रेष्ठ आवण्टन अथवा सामाजिक अनुकूलतम प्राप्त नहीं होगा। जैसा कि हमको पता है, पूर्ण प्रतियोगिता मे सन्तुलन की स्थिति मे कीमत सीमान्त लागत के बराबर होती है और पूर्ण प्रतियोगिता की कीमत और सीमान्त लागत की समता ही अधिक सामाजिक कल्याण तथा साधनों के अनुकूलतम आवण्टन (Optimum allocation) को निश्चित करती है।

जब प्रतियोगिता पूर्ण प्रतियोगिता से कम होती है, फर्म के सम्मुख जो मांग वक्र होगा वह नीचे की ओर झुका हुआ होता है और सीमान्त आय वक्र उसके नीचे होता है। परिणामस्वरूप, जब प्रतियोगिता शुद्ध (पूर्ण) से कम होती है (अर्थात्, जब वह अपूर्ण होती है) तो विक्रेता की सन्तुलन स्थिति मे, सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होगी और कीमत सीमान्त लागत या सीमान्त आय से अधिक। कीमत तथा सीमान्त लागत मे यह अन्तर, प्रो० लरनर के अनुसार एकाधिकारी शक्ति के अस्तित्व का द्योतक है। कीमत और सीमान्त लागत मे यह अन्तर जितना अधिक होगा, उत्पादक की एकाधिकारी शक्ति उतनी ही अधिक होगी। इस आधार पर ही लरनर ने एकाधिकारी शक्ति को मापने का एक निश्चित सूचक बताया जो निम्न है :

$$\text{एकाधिकारी शक्ति का सूचक (Index of Monopoly Power)} = \frac{P-MC}{P}$$

यहाँ P कीमत तथा MC उत्पादन के सन्तुलन स्तर पर सीमान्त लागत को दर्शाते हैं।

जब प्रतियोगिता पूर्ण होती है, तो कीमत P, सीमान्त लागत के बराबर होती है और इसलिए लरनर का एकाधिकारी शक्ति का सूचक शून्य के बराबर होगा। जिसका अर्थ यह है कि उत्पादक के पास कोई एकाधिकारी शक्ति नही है। जब कीमत सीमान्त लागत के बराबर है तो, $P-MC$ शून्य के बराबर होगा और उपर्युक्त समीकरण से सूचक का मूल्य शून्य प्राप्त होगा।

इस प्रकार शुद्ध अथवा पूर्ण प्रतियोगिता मे, लरनर का एकाधिकारी शक्ति का सूचक,

$$\frac{P-MC}{P} = \frac{0}{P} = 0$$

दूसरी ओर, जब कि एकाधिकारी द्वारा उत्पादित पदार्थ की कोई भी उत्पादन लागत नही होगी, अर्थात् यदि पदार्थ निःशुल्क वस्तु (free good) है जिसकी पूर्ति एक व्यक्ति द्वारा नियन्त्रित की जाती है तो सीमान्त लागत शून्य के बराबर होगी और लरनर का एकाधिकारी शक्ति का सूचक $\left(\frac{P-MC}{P}\right)$ इकाई या

एक के बराबर होगा। अत जब MC शून्य के बराबर है तो,

$$\frac{P-MC}{P}=\frac{P-0}{P}=\frac{P}{P}=1$$

अत स्पष्ट है कि लरनर का एकाधिकारी शक्ति का सूचक एक से लेकर शून्य के बीच मे हो सकता है। इस परिक्षेत्र के अन्दर इस सूचक $\left(\frac{P-MC}{P}\right)$ का मूल्य जितना अधिक होगा, विक्रेता की एकाधिकारी शक्ति भी उतनी ही अधिक होगी। उदाहरण के लिए, यदि किसी पदार्थ की कीमत 15 रु० प्रति इकाई है और इसकी सीमान्त लागत 10 रु० है, तो सूचक का मूल्य होगा $\frac{15-10}{15}=\frac{5}{15}=\frac{1}{3}$

$=0\cdot33$ और जब कीमत 20 रु० है और सीमान्त लागत 10 रु०, तो एकाधिकारी शक्ति का सूचक होगा

$$\frac{20-10}{20}=\frac{10}{20}=\frac{1}{2}=0\cdot5$$

यह सिद्ध किया गया है कि लरनर का एकाधिकारी शक्ति का सूचक मांग की कीमत लोच (price elasticity) के व्युत्क्रम (inverse) के अतिरिक्त कुछ नही। इसको हम निम्न प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं.

सतुलन स्तर पर, चूंकि सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय बराबर होते है, हम उपर्युक्त समीकरण मे सीमात लागत के स्थान पर सीमात आय का प्रयोग कर सकते हैं।

लरनर का एकाधिकारी शक्ति का सूचक

$$=\frac{P-MC}{P}$$

$$=\frac{P-MR}{P} \quad \ldots(1)$$

हमे पता है कि $MR=P\left(\frac{e-1}{e}\right)$, जहाँ e सतुलन उत्पादन पर मांग की कीमत लोच है। अतः उपर्युक्त (1) मे MR के स्थान पर $P\left(\frac{e-1}{e}\right)$ को रख सकते हैं।

तब,

लरनर का एकाधिकारी शक्ति का सूचक

$$=\frac{P-P\left(\frac{e-1}{e}\right)}{P}$$

$$=\frac{P-P\left(1-\frac{1}{e}\right)}{P}$$

$$=\frac{P\left[1-\left(1-\frac{1}{e}\right)\right]}{P}$$

$$=1-1+\frac{1}{e}$$

$$=\frac{1}{e}$$

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लरनर का एकाधिकारी शक्ति का सूचक मांग की मूल्यसापेक्षता (कीमत लोच) के व्युत्क्रम के बराबर है। अत केवल सतुलन उत्पादन पर मांग की लोच को जान कर एकाधिकारी शक्ति की मात्रा का पता लगाया जा सकता है। एकाधिकारी शक्ति वस्तु की मांग की लोच से विपरीत रूप से सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध मे यह जानना महत्वपूर्ण है कि जब कि लरनर के सूचक मे मांग की लोच का सम्बन्ध केवल सतुलन उत्पादन पर लोच से है, एकाधिकारी शक्ति के माप के पहले वाली विधि मे, जिसका वर्णन ऊपर किया गया, लोच का सम्बन्ध केवल सतुलन उत्पादन मात्रा से ही नही है।

लरनर के एकाधिकारी शक्ति के माप के तरीके की आलोचना (Criticism of Lerner's Measure of Monopoly Power)

लरनर की विधि मे बहुत-सी कमियाँ हैं। इसके विरुद्ध की गई आलोचनाएँ लगभग वही हैं जो कि

उपर्युक्त प्रथम विधि के विरुद्ध भी की गई हैं। सर्वप्रथम, इस विधि की मुख्य कमी यह है कि इसकी सहायता से गैर कीमत प्रतियोगिता की दशा में एकाधिकारी तथा प्रतियोगी तत्त्वों की शक्ति को नहीं मापा जा सकता। पदार्थ विभेदीकरण, एकाधिकारिक प्रतियोगिता तथा विभेदीकृत अल्पाधिकारों में भी इस सूचक का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अधिक से अधिक लरनर का सूचक कीमत-प्रतियोगिता की दशाओं में एकाधिकारी व प्रतियोगी तत्त्वों की शक्ति को मापता है। परन्तु जब उत्पादक एकाधिकार तथा एकाधिकारिक प्रतियोगिता में कीमत के स्थान पर पदार्थ परिवर्तन (product variation), विज्ञापन तथा विक्रय लागतों के अन्य तरीकों के आधार पर प्रतियोगिता करते हैं तो लरनर का सूचक इन बाजार स्थितियों में एकाधिकारी तथा प्रतियोगिता की मात्राओं को वास्तविक रूप में दर्शाने में असमर्थ रहता है। परन्तु इसका अर्थ आवश्यक रूप से यह नहीं है कि विक्रेता के पास अधिक एकाधिकारी शक्ति होगी और वह कम प्रतियोगिता का सामना करेगा। यह हो सकता है कि विभिन्न प्रकार के पदार्थों के विक्रेता कीमत के आधार पर प्रतियोगिता न कर रहे हों और पदार्थ परिवर्तन और विज्ञापनबाजी तथा विक्रय लागतों जैसे बिक्री बढ़ाने के अन्य तरीकों के माध्यम में गहन प्रतियोगिता में संलग्न हों। इन गैर-कीमत प्रतियोगिता कारकों के कारण कुछ फर्मों को अपने पदार्थों पर दूसरों की तुलना में अधिक एकाधिकारी नियन्त्रण प्राप्त होता है। इस प्रकार प्रो० चैम्बरलिन ने ठीक कहा है कि ये दोनों विधियाँ—लोच तथा लरनर का सूचक तरीका—'गैर कीमत क्षेत्र में प्रतियोगिता तथा एकाधिकार की महत्त्वपूर्ण समस्याओं की पूर्णतया उपेक्षा करती हैं, पदार्थ के गुण-सम्बन्धी तथा अन्य पक्षों की जिसमें स्थिति तथा विज्ञापन तथा विक्रय लागतों के अन्य रूप भी सम्मिलित हैं।"[1]

दूसरे, लरनर की माप करने की विधि एकाधिकार के केवल एक पक्ष अर्थात् कीमत पर नियन्त्रण पर आधारित है, जोकि वर्तमान में स्थानापन्न वस्तुओं की उपलब्धि तथा प्रभावशीलता पर निर्भर है। यह भावी स्थानापन्न पदार्थों जो कि उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश से उत्पन्न हो जाते हैं, के कारण एकाधिकारी शक्ति पर जो अवरोध लगते हैं, उनकी अवहेलना करती है। जैसा कि विख्यात है, उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश का भय वर्तमान फर्मों की एकाधिकारी शक्ति को सीमित करने वाला एक प्रबल कारक है। प्रो० चैम्बरलिन को हम पुनः उद्धृत कर सकते हैं 'लोच और लरनर का सूचक दोनों में से कोई भी वर्तमान स्थानापन्न पदार्थों की प्रभावशीलता (effectiveness) को नहीं मापता, यह भावी स्थानापन्न पदार्थों (जोकि प्रवेश की महत्त्वपूर्ण समस्या है) का कुछ भी वर्णन नहीं करता।[2]

तीसरे, प्रो० चैम्बरलिन ने लरनर के तरीके की आलोचना इस आधार पर की है कि पदार्थ विभेदीकरण वाली वास्तविक-जगत की बाजार स्थितियों में समान पदार्थ वाली शुद्ध प्रतियोगिता को विक्रेताओं की एकाधिकारी शक्ति के माप का आधार नहीं बनाया जा सकता। उसका कहना है कि शुद्ध प्रतियोगिता काफी सीमा तक काल्पनिक, अवास्तविक तथा कृत्रिम है क्योंकि स्थितियों, व्यक्तियों की रुचियों और आयों, तथा पदार्थों की बिक्री से सम्बन्धित दशाओं में अन्तरों के कारण बाजार में सदा पदार्थ विभेदीकरण होता है। उसका विश्वास है कि एकाधिकारी व प्रतियोगिता की मिश्रित वास्तविक स्थिति की तुलना कृत्रिम रूप से मानी गई एकाधिकारी तत्त्वों रहित पूर्ण प्रतियोगिता से करके एकाधिकार शक्ति की मात्रा का माप करने का कोई लाभ नहीं है। इस प्रकार उनका कथन है, "इन तर्कों का परिणाम यह है कि वास्तव में विभिन्न पदार्थ विभेदीकृत (Heterogeneous) होते हैं। इनके कारण ये हैं कि विक्रेताओं का माँग क्षेत्र विभिन्न रुचियों तथा आयों के विस्तृत परिक्षेत्र में फैला हुआ होता है। इसलिए शुद्ध प्रतियोगिता वाले उद्योगों की परिकल्पना करना पूर्णतः काल्पनिक है। अतः एक वास्तविक स्थिति की जिसमें एकाधिकारी तथा प्रतियोगी तत्त्व मिले-जुले रूप

1 E H Chamberlin, Measuring the Degree of Monopoly and Competition, printed in his *"Towards General a Theory of Value"*

2. E H Chamberlin, *op cit.*

मे होते हैं, तुलना एक कल्पित स्थिति, जिसमे एकाधिकारी तत्व नही है से करना काफी सीमा तक असम्भव है।"[1]

इसके अतिरिक्त प्रो० चैम्बरलिन ने पूर्ण प्रतियोगिता को **कल्याणकारी आदर्श** (Welfare Ideal) **अथवा सामाजिक अनुकूलतम** (Social Optimum) की स्थिति स्वीकार नही किया है। उसका तर्क है कि पदार्थ विभेदीकरण स्वत वांछनीय है और इसलिए कल्याणकारी आदर्श अधिकतम आदर्श की वह स्थिति भी हो सकती है जिसमे एकाधिकारी तथा प्रतियोगी तत्व (वस्तु विभेदीकरण की उपस्थिति के कारण) निहित हो। इस प्रकार उसने कहा "केवल वास्तविक जगत ही नही बल्कि कल्याणकारी आदर्श भी एकाधिकार तथा प्रतियोगिता का मिश्रण है। केवल विभेदीकरण को स्वय तथा एक उद्योग मे इसकी माग को अस्तित्वहीन अथवा अयुक्तियुक्त (जो मेरे विचार से श्रीमती राबिन्सन की अपूर्ण प्रतियोगिता का वास्तविक अर्थ है) मान कर ही यह सम्भव है कि पूर्ण प्रतियोगिता को कल्याणकारी आदर्श भी माना जाय। लरनर का सूचक स्पष्ट रूप से सामाजिक अनुकूलतम से विचलनो को मापने के लिए बनाया गया है, और इस सम्बन्ध म अपूर्ण प्रतियोगिता को भी न कि मेरी एकाधिकारक प्रतियोगिता को।"[2]

माग की प्रति लोच द्वारा एकाधिकारी शक्ति का माप
(Cross Elasticity of Demand as a Measure of Monopoly Power)

एकाधिकारी शक्ति को मापने के एक और तरीके मे माँग की प्रति लोच की धारणा का उपयोग किया गया है। सम्भवत, माँग की प्रति लोच की धारणा की सहायता से एकाधिकारी मात्रा को मापने का सर्वप्रथम सुझाव केलडर[3] ने दिया था परन्तु इस पर अधिक ध्यान रॉबर्ट ट्रिफिन ने दिया जिसने अपनी कृति *"Value Theory and General Equilibrium Analysis"* से इसको लोकप्रिय बनाया। माँग की प्रति लोच का अर्थ है एक पदार्थ की कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप दूसरे पदार्थ की माँग मे आनुपातिक परिवर्तन। माँग की प्रति लोच यह बताती है कि एक फर्म के पदार्थ की माग की दूसरी फर्म के पदार्थ की कीमत पर निर्भरता की मात्रा कितनी है। यदि एक फर्म के पदार्थ की माँग दूसरी फर्म के पदाथ की कीमत पर निभर नही करती, तब वह फर्म दूसरी फर्म की कीमत व उत्पादन नीतियो के प्रभावो से स्वतन्त्र होगी और उसके पदाथ की माग की प्रति लोच शून्य होगी। एक फर्म के पदार्थ की माँग की प्रति लोच जितनी कम होगी, फर्म की एकाधिकारी शक्ति की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी तथा विलोम क्रम। दो फर्मों, i तथा j के पदार्थों की माँग की प्रति लोच को निम्न बीजगणित रूप मे लिखा जा सकता है

$$ec = \frac{\Delta q_i}{q_i} \div \frac{\Delta P_j}{P_j} = \frac{\Delta q_i}{q_i} \times \frac{P_j}{\Delta P_j}$$

$$= \frac{\Delta q_i}{q_i} \cdot \frac{P_j}{\Delta P_j} = \frac{\Delta q_i}{\Delta P_j} \cdot \frac{P_j}{q_i}$$

इसका अथ यह है कि एक फर्म i के पदाथ की माँग की प्रति लोच फर्म j के पदार्थ की कीमत मे सापेक्ष परिवर्तन के कारण i फर्म के पदार्थ की माँग मे हुए सापेक्ष परिवर्तन से है।

जब कि एक फर्म या विक्रेता के उत्पादन की माँग पर अन्य फर्म की कीमत का प्रभाव नही पडता तो इसके पदाथ की माँग की प्रति लोच शून्य होती है, अर्थात्, $\Delta q_i\ p_j/\Delta p_j\ q_i$ शून्य होगा। इस प्रकार, किसी भी दूसरी फर्म के पदार्थ के सदर्भ मे एक फर्म के पदार्थ की प्रति लोच शून्य है तो फम को अपनी कीमत व उत्पादन नीति अपनाने के लिए पूण एकाधिकारी शक्ति प्राप्त होगी। अत रॉबर्ट ट्रिफिन ने शुद्ध एकाधिकार की परिभाषा उस स्थिति से की जिसमे फर्म के पदार्थ की प्रति लोच शून्य है। एक फर्म के पदार्थ की माँग की प्रति लोच जितनी अधिक होगी, फर्मों मे प्रतियोगिता की मात्रा उतनी ही अधिक होगी और एकाधिकारी शक्ति उतनी ही कम। पूर्ण

1 *Ibid*

2 *Ibid*

3 N Kaldor, *Market Imperfections and Excess Capacity*

प्रतियोगिता मे, विभिन्न फर्मों द्वारा बेचे गये पदार्थ पूर्ण रूप से समान होते हैं और इसलिए ये पदार्थ एक दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न होते हैं। अतः पूर्ण प्रतियोगिता मे यदि कोई फर्म अपने पदार्थ की कीमत मे कमी कर देती है, तो वह अन्य फर्मों के समस्त ग्राहकों को आकर्षित कर लेती है, जिसका परिणाम यह होता है कि इसके प्रतिद्वन्द्वियों के पदार्थों की माग शून्य रह जाती है। इस प्रकार, ट्रिफिन व बहुत से अन्य अर्थशास्त्रियों के अनुसार, पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्मों मे विभिन्न फर्मों के पदार्थों के मध्य माँग की प्रति लोच अनन्त होती है और इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता में फर्मों को कोई भी एकाधिकारी शक्ति प्राप्त नही होती।

इस प्रकार शुद्ध एकाधिकारी को, माँग की प्रति लोच के शून्य होने के कारण, पूर्ण एकाधिकारी शक्ति प्राप्त होती है और पूर्ण प्रतियोगी फर्मों की माँग की प्रति लोच अनन्त होने के कारण, उनके पास शून्य एकाधिकारी शक्ति होती है। परन्तु ये दोनो चरम सीमा की स्थितियाँ हैं। इन दो सीमाओं के बीच माँग की प्रति लोच का गुणांक (अर्थात् $\Delta q_1 \; p_2/\Delta p_2 \; q_1$ का मूल्य) जितना कम होगा एकाधिकारी शक्ति उतनी ही अधिक होगी तथा विलोम क्रम। श्री ट्रिफिन ने माँग की प्रति लोच के आधार पर विभिन्न बाजार स्थितियों का वास्तव मे वर्गीकरण किया है।

आलोचना (Criticism)—माँग की प्रति लोच से एकाधिकारी शक्ति के माप के तरीके के प्रयोग की तीव्र आलोचना की गई है। सर्वप्रथम, बहुत से लेखकों ने यह बताया कि किसी भी एक शुद्ध प्रतियोगी फर्म की माँग की प्रति लोच, किसी भी दूसरी फर्म के सम्बन्ध मे शून्य होती है। उनका कहना है कि यदि शुद्ध प्रतियोगी फर्म दूसरी फर्म के ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए अपने पदार्थ की कीमत गिराती है तो यह कम कीमत पर समस्त माग को पूरा करने मे असमर्थ होगी। इसका कारण उसकी बढ़ती हुई सीमान्त लागत है जो उत्पादन मे विस्तार के कारण बढ़ती है' और यह कहा गया है कि शुद्ध अथवा पूर्ण प्रतियोगिता में वर्द्धमान सीमान्त लागतें अनिवार्य हैं क्योंकि ह्रासमान या स्थिर लागतो की कोई सगति पूर्ण प्रतियोगिता से नही होती है। चूँकि जिस फर्म ने अपनी कीमत घटा दी है वह अतिरिक्त माँग को पूरा करन म समर्थ नही इसलिए उसके प्रतिद्वन्द्वियो की विक्रियां महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित नही होगी। परिभाषा के अनुसार पूर्ण प्रतियोगिता मे कोई भी फर्म इतनी बडी नही होती कि वह अपनी व्यक्तिगत क्रियाओं से अन्य फर्मों की कीमत तथा विक्रियो को प्रभावित कर सके।

इसके अतिरिक्त शुद्ध प्रतियोगिता मे एक फर्म की प्रति लोच इसलिए भी शून्य होती है क्योंकि यह जिस पदार्थ का उत्पादन कर रही होती है उसके पूर्ण स्थानापन्न वस्तुओं की सख्या अधिक होती है। अत, एक फर्म द्वारा कीमत या उत्पादन मे किए गए परिवर्तनो के प्रभाव इतनी अधिक फर्मों पर पड़ेंगे कि प्रत्येक पर पड़ने वाले प्रभाव का भार इतना नगण्य होगा कि कोई इस ओर ध्यान ही नही देगा। अत प्रिंसटन विश्वविद्यालय (अमेरिका) के प्रो० ओलसन (Olson) तथा मेक्फरलड (Mcfarland) ने ठीक ही कहा है, "चूँकि निकट अथवा समान स्थानापन्न वस्तुओं का उत्पादन करने वाली फर्मों की सख्या इतनी अधिक है कि जब कोई पूर्ण प्रतियोगी अपनी कीमत या अपने उत्पादन मे परिवर्तन करता है तो कोई भी इन पर ध्यान नही देता। यदि पूर्ण प्रतियोगी अपनी कीमत बढ़ाने का एकपक्षीय प्रयत्न करता है तो उसकी फर्म के उत्पादन के लिए अन्य फर्मों के पदार्थों का प्रतिस्थापन काफी अधिक होगा, क्योंकि ये अन्य स्थानापन्न वस्तुएँ यथार्थत समान हैं। परन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कोई भी फर्म किसी भी परिवर्तन की कल्पना नहीं करती क्योंकि फर्मों की सख्या बहुत अधिक है।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बहुत से आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार, एक शुद्ध अथवा पूर्ण प्रति-

1. The Restoration of Monopoly and the Concept of Industry, *Quarterly Journal of Economics*, Vol 76 (Nov 1962), pp 613-31.

योगी पदार्थ तथा उसके प्रतिद्वन्द्वी पदार्थों के बीच माग की प्रति लोच शून्य होती है। अब जबकि शुद्ध एकाधिकारी तथा शुद्ध प्रतियोगिता दोनो मे माँग की प्रति लोच समान है माँग की प्रति लोच की धारणा चरम सीमा की दोनो बाजार स्थितियो—पूर्ण एकाधिकारी शक्ति वाले शुद्ध एकाधिकार तथा बिना एकाधिकारी शक्ति वाली शुद्ध प्रतियोगिता मे भेद करने मे सफल नही होती।

इसके अतिरिक्त, एकाधिकारी शक्ति के माप के रूप मे माँग की प्रति लोच की धारणा उन सब कमियो से युक्त है जो लरनर की विधि मे थी। यह भी भावी स्थानापन्न वस्तुओ के उदभव की सम्भावना के कारण एकाधिकारी शक्ति पर पडने वाले नियंत्रणो पर ध्यान नही देता। इसके अतिरिक्त, लरनर की विधि के समान, यह कीमत को प्रतियोगिता का एकमात्र आधार मानता है, गैर-कीमत क्षेत्र (जैसे पदार्थ की किस्म (variety), स्थिति (location) मे अन्तर, पदार्थ विभेदीकरण, विज्ञापन तथा अन्य विक्रय सवर्धन विधियो) से सम्बन्धित एकाधिकारी तथा प्रतियोगी तत्वो की पूर्ण अवहेलना करता है। कुछ फर्मों को जो अत्यधिक एकाधिकारी लाभ प्राप्त होते हैं, वे उनकी विज्ञापन करने और अन्य विक्रय लागतो को वहन करने की अधिक क्षमता के कारण होते हैं। कुछ को अधिक एकाधिकारी शक्ति इसलिए प्राप्त होती है क्योकि उनकी दूकानें या कारखाने अधिक अच्छी स्थिति पर होते हैं। एकाधिकारी शक्ति के इन पहलुओ पर प्रति लोच की धारणा विचार करने मे असफल रहती है।

37

द्विपक्षीय एकाधिकार में कीमत-निर्धारण
(PRICE DETERMINATION UNDER BILATERAL MONOPOLY)

इस अध्याय मे हम यह व्याख्या करेंगे कि द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत कीमतें तथा उत्पादन की मात्रा कैसे निर्धारित होती है, जो आर्थिक सिद्धान्त का एक बहुत ही विवादग्रस्त विषय रहा है। द्विपक्षीय एकाधिकार उस समय होता है जब किसी पदार्थ अथवा साधन के एकाकी विक्रेता (Single Seller) को उसके एकाकी क्रेता (Single Buyer) का सामना करना होता है। इस प्रकार द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत एक विक्रेता अथवा पूर्तिकर्त्ता अपने पदार्थ अथवा साधन का एकाधिकारी होता है तथा एकाकी क्रेता उस पदार्थ अथवा साधन का क्रय एकाधिकारी होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत एकाधिकारी एक क्रय एकाधिकारी का सामना करता है। चूंकि विक्रेता को उस वस्तु का एकाधिकार प्राप्त है अतः उस वस्तु का कोई निकट का स्थानापन्न उपलब्ध नहीं होगा। विक्रेता के पास अपनी वस्तु को बेचने का कोई अन्य क्रेता नही है तथा क्रेता के पास कोई अन्य स्रोत नहीं है जहाँ से वह उस वस्तु को खरीद सके। वैसे उत्पादन या पदार्थ के बाजार मे द्विपक्षीय एकाधिकार की स्थिति बहुत कम पायी जाती है परन्तु यह आगतों (inputs) अथवा उत्पादन के साधनों के बाजार में प्राय पायी जाती है। द्विपक्षीय एकाधिकार की एक महत्वपूर्ण स्थिति उस समय उपस्थित होती है जब एक ट्रेड यूनियन, जिसे श्रमिकों की सेवाओं को बेचने का एकाधिकार प्राप्त होता है का सामना एक विशालकाय निगम से होता है जिसे श्रमिकों के सगठन से श्रम खरीदना होता है और मुख्य प्रश्न यह उपस्थित होता है कि श्रम का विनिमय किस दर पर सम्पन्न हो। इसके अतिरिक्त दो व्यक्तियों के बीच दो वस्तुओं का विनिमय भी वस्तुत द्विपक्षीय एकाधिकार की दशा है, जिसकी हम पहले ही अध्याय 8 के 'अनधिमान वक्रों के प्रयोग एव उपादेयता" म व्याख्या कर चुके है। इस अध्याय म हम केवल पदार्थ बाजार म द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत एव मात्रा के निर्धारण की समस्या तक ही अपना विश्लेषण सीमित रखेंगे तथा द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत *मजदूरी निर्धारण के प्रश्न को बाद* के अध्याय के लिये स्थगित रखेंगे।

द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत एव उत्पादन मात्रा (Price and Output under Bilateral Monopoly)

अन्तिम पदार्थ के बाजार मे द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत एकाकी क्रेता अथवा क्रय-एकाधिकारी एक उपभोक्ता होता है। फर्म, जो उस वस्तु का उत्पादन

करती है (वस्तु की कोई निकट स्थानापन्न वस्तु नहीं होती) एकाधिकारी पूर्तिकर्ता अथवा विक्रेता होती है। द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत एवं उत्पादन मात्रा का विश्लेषण लगभग वही है जो हमने दो व्यक्तियों के बीच दो वस्तुओं के विनिमय की दशा में किया था। *अनधिमान वक्रों*, एजवर्थ की बाक्स रेखाकृति तथा संविदा वक्र (Contract curve) की धारणाएँ, *जिनकी व्याख्या पहले की गयी है, वे सभी इस वर्तमान* स्थिति मे भी लागू की जा सकती हैं। फिर भी थोड़ा सा अन्तर यह है कि वर्तमान स्थिति मे एकाकी क्रेता उपभोक्ता है जिसके पास उस वस्तु के बदले जिसकी वह माँग करता है तथा खरीदता है, देने के लिये मुद्रा है। इसलिये हम एक पदार्थ को लेंगे जिसका उत्पादन एकाधिकारी करता है एवं बेचता है तथा दूसरी ओर मुद्रा को लेंगे जिसे उस पदार्थ का एकाकी क्रेता पदार्थ पर खर्च करता है। *किन्तु अनधिमान वक्रों तथा संविदा* वक्र (Contract curve) की सहायता से द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत एवं उत्पादन मात्रा के *निर्धारण की व्याख्या करने से पहले हमें उनकी व्याख्या* साधारण माँग, सीमान्त आय, तथा सीमान्त लागत वक्रों के साथ करना आवश्यक है। रेखाकृति 37.1 पर ध्यान दीजिए जिसमे क्रेता की पदार्थ के लिए माँग वक्र DD है जो उसके सीमान्त उपयोगिता वक्र पर *आधारित होगी*। चूँकि पदार्थ का एकाकी क्रेता है अतः माँग वक्र DD ही वह माँग वक्र होगी जिसका सामना एकाधिकारी पूर्तिकर्ता (विक्रेता) को करना है और इसीलिए DD *उसके लिए औसत आय* (AR) वक्र होगा। MR, एकाधिकार पूर्तिकर्ता के माँग वक्र DD के अनुरूपी, सीमान्त आय वक्र होगा। MC एकाधिकारी पूर्तिकर्ता (विक्रेता) *का सीमान्त-लागत*-वक्र है।

अब हमे इन प्रासंगिक वक्रों की व्याख्या क्रय-एकाधिकारी के लिए करनी चाहिए। यदि क्रय-एकाधिकारी यह मानकर चलता है कि पूर्तिकर्ता की लागत स्थिति के अधीन उसके पास मूल्य निश्चित करने की पूर्ण शक्ति है तब वह एकाधिकारी के सीमांत लागत वक्र MC को अपना पूर्ति वक्र (पदार्थ का) मानेगा। दूसरे शब्दों मे, यदि वह सोचता है कि वह पूर्तिकर्ता (विक्रेता) को *अपना नियत मूल्य स्वीकार* करने के लिए बाध्य कर सकता है तब उसे विक्रेता (पूर्तिकर्ता) पदार्थ की उतनी मात्रा प्रदान करेगा जिस पर उसकी *सीमान्त लागत* क्रय-एकाधिकारी क्रेता द्वारा निश्चित मूल्य के बराबर होगी। इस प्रकार यदि क्रय एकाधिकारी सोचता है कि *उसे मूल्य निश्चित करने का पूरा अधिकार है तो एकाधिकारी का सीमांत* लागत वक्र औसत पूर्ति-कीमतों को प्रदर्शित करेगा जिन पर पदार्थ की विभिन्न तदनुरूपी मात्राएँ उसके लिए *बिक्री हेतु प्रस्तुत की जायेंगी*। अतएव एकाधिकार का सीमान्त लागत वक्र MC उसके लिए पूर्ति वक्र या औसत पूर्ति-कीमतों का वक्र होगा जिसे हम

रेखाकृति 37.1
द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत एवं उत्पादन मात्रा की सीमाएँ

रेखाकृति 37.1 मे ASP नाम देते हैं। चूँकि क्रय-एकाधिकारी के लिए औसत पूर्ति मूल्य (ASP), ज्यों ज्यों वह पदार्थ की अधिक मात्रा प्राप्त करता है, बढ़ता जाता है अतः उसके लिये सीमान्त पूर्ति मूल्य (MSP) औसत पूर्ति मूल्य (ASP) की अपेक्षा अधिक होगा और इसलिए *सीमान्त पूर्ति मूल्य का वक्र (जिसे* सीमान्त पूर्ति लागत भी कहा जाता है) को रेखाकृति 37.1 में MSP द्वारा व्यक्त किया गया है, ASP वक्र

से ऊपर रहता है। अत सीमान्त पूर्ति मूल्य (MSP) का वक्र औसत पूर्ति (ASP) के वक्र के ऊपर सीमात है।

अब यदि एकाधिकारी पूर्तिकर्ता (विक्रेता यह सोचे कि पदार्थ के एकाधिकारी के रूप में उसे क्रेता के मांग वक्र पर कोई भी मूल्य एव उत्पादन मात्रा निर्धारित करने का रीतिगत अधिकार है तब अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये वह अपनी सीमान्त लागत को सीमान्त आय के बराबर करेगा। जैसा कि रेखाकृति 37 1 मे आप देखेगे, वह OQ_1 मात्रा का उत्पादन (या पूर्ति) करेगा तथा OP_1 मूल्य निश्चित करेगा जिस पर सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर है। दूसरे शब्दो मे एकाधिकारी पूर्तिकर्ता (विक्रेता) के लिये सर्वाधिक लाभदायक मूल्य OP_1 है तथा उत्पादन एव पूर्ति की सबसे अधिक लाभ प्रदान करने वाली मात्रा OQ_1 है।

दूसरी ओर क्रय-एकाधिकारी विक्रेता यह मान कर कि उसके पास मूल्य निश्चित करने का पूर्ण अधिकार है तथा अपनी सन्तुष्टि को अधिकतम करने की दृष्टि से वह अपनी सीमान्त पूर्ति कीमत (MSP) को अपनी सीमान्त उपयोगिता (या उस मूल्य के जो वह देने को तैयार है) से बराबर करेगा। चूँकि मांग वक्र DD उसकी सीमान्त उपयोगिता अथवा उस मूल्य को व्यक्त करता है जो वह देने के लिये तैयार है अत वह OQ_2 मात्रा को खरीदकर तथा OP_2 मूल्य निश्चित करके अपनी सन्तुष्टि को अधिकतम करेगा। रेखाकृति 37 1 से यह ज्ञात हो सकता है कि मूल्य OP_2 मूल्य OP_1 की अपेक्षा काफी कम है अर्थात् OP_1 मूल्य जिसे एकाधिकारी निश्चित करना चाहता है, OP_2 मूल्य जिसको क्रय एकाधिकारी निश्चित करना चाहता है, से अधिक है।

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि जब क्रेता एव विक्रेता (पूर्तिकर्ता) दोनो स्वय को मूल्य निश्चित करने वाला (Price Marker) समझते हों तथा स्वतत्र रूप से कार्य करते हो तो वे भिन्न भिन्न कीमतें तथा भिन्न-भिन्न मात्राएँ निर्धारित करते हैं। परन्तु परिभाषा के अनुसार न तो क्रेता के लिये और न ही विक्रेता के लिये ही कोई वैकल्पिक मार्ग होता है तथा दोनो एक दूसरे से विनिमय करने के लिये बाध्य होते है, अत उन्हे किसी एक मूल्य पर सहमत होना पड़ता है। वास्तविक मूल्य जिस पर पारस्परिक बातचीत तथा सौदाकारी के परिणामस्वरूप सहमति होगी, OP_1 तथा OP_2 के मध्य कही भी हो सकता है। आर्थिक सिद्धांत यह बताने मे हमारी सहायता नही करता है कि बातचीत एव सौदाकारी के फलस्वरूप कौन सी वास्तविक कीमत प्रकट होगी क्योंकि यह किसी आर्थिक कारक पर निर्भर नही होती है। वास्तविक मूल्य जिस पर समझौता होगा क्रेता एव विक्रेता की सौदाकारी की निपुणता एव शक्ति पर निर्भर होता है। चूँकि मूल्य OP_1 एव OP_2 के बीच कही भी निश्चित हो सकता है, अत यह इन सीमाओं के बीच अनिश्चित होता है।

द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत एव उत्पादन मात्रा की सविदा वक्र की सहायता से व्याख्या (Price and Output under Bilateral Monopoly explained with thehelp of Contract Curve)

सविदा वक्र (Contract Curve) की धारणा, जिसकी व्याख्या हमने अध्याय 8 मे की थी, द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत उत्पादन मात्रा एव मूल्य निर्धारण की व्याख्या करने के लिये बहुत ही उपयोगी है। हम द्विपक्षीय एकाधिकार की ऐसी दशा की व्याख्या करेंगे जब किसी वस्तु का एक एकाकी उत्पादक या पूर्तिकर्ता होता है। रेखाकृति 37 2 पर विचार कीजिये जिसमे X-अक्ष पर वस्तु X की मात्रा तथा Y-अक्ष पर मुद्रा की मात्रा प्रदर्शित की गयी है। रेखाकृति 37 2 मे हमने उपभोक्ता (क्रेता) के वस्तु X एव मुद्रा के बीच B_1, B_2 एव B_3 अनधिमान वक्रो को खीचा है। प्रत्येक अनधिमान वक्र वस्तु X एव मुद्रा की मात्रा के उन सभी सयोगो का मार्ग (locus) है जो उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि प्रदान करते हैं। तथापि अनधिमान वक्र का स्तर जितना ही अधिक होगा सन्तुष्टि का स्तर उतना ही अधिक होगा। इसके अतिरिक्त यह माना गया है कि क्रेता के पास OM मुद्रा है जिसे वह वस्तु के ऊपर व्यय कर सकता है।

ध्यान देने की बात यह है कि रेखाकृति 37 2 मे दिये गये अनधिमान वक्र मे उपभोक्ता पदार्थ X की एक निश्चित मात्रा के लिये मुद्रा की जो मात्रा देता है उसको हम M से नीचे की ओर पढ़ते हैं। अत यदि विनिमय के फलस्वरूप उपभोक्ता C बिन्दु पर अपना विनिमय बन्द कर देता है तो इसका यह अर्थ हुआ कि उसने M_{m1} मात्रा मे मुद्रा दी है तथा पदार्थ की OX_1 मात्रा प्राप्त की है। इसी प्रकार यदि वह D बिन्दु पर समाप्त करता है तो इसका तात्पर्य यह होता है कि उसने M_{m2} मात्रा मे मुद्रा का भुगतान किया है और वस्तु की OX_2 मात्रा प्राप्त की है। बिलकुल इसी ढग से हम X पदार्थ के एकाधिकारी विक्रेता (पूर्तिकर्ता) के लिये मुद्रा एव X पदार्थ के बीच लाभ-अनधिमान वक्रो (अथवा सम-लाभ वक्रो) को भी खीच सकते हैं। एक लाभ अनधिमान वक्र X वस्तु की पूर्ति की गयी मात्रा तथा मुद्रा के उन सभी विभिन्न कीमतो पर भिन्न-भिन्न मात्राओ की पूर्ति करेगा (हमने एकाधिकारी पूर्तिकर्ता के अनधिमान चित्र को अलग से नही दिखाया है)।

हम क्रय एकाधिकारी तथा एकाधिकारी पूर्तिकर्ता के अनधिमान चित्रो को एजवर्थ के बाक्स के रूप मे, जैसा कि रेखाकृति 37 3 मे दर्शाया गया है, सयुक्त कर सकते है। इसमे हमने एकाधिकारी पूर्तिकर्ता के अनधिमान चित्र के ऊपर के भाग को घुमा कर नीचे कर दिया है और दोनो अक्षो के छोरो को मिला दिया है। $O'N$ एकाधिकारी विक्रेता (Supplier) की X वस्तु का अधिकतम पूर्ति क्षमता स्तर है। इसलिये ऊर्ध्वाधर (Vertical) अक्ष की लम्बाई क्रय-एकाधिकारी के पास उपलब्ध मुद्रा की मात्रा OM के बराबर तथा क्षैतिज अक्ष (Horizontal Axis) की लम्बाई एकाधिकारी के पदार्थ की अधिकतम क्षमता स्तर $O'N$ के बराबर है। ध्यान देने की बात यह है

रेखाकृति 37 2
एक क्रेता के अनधिमान वक्र

रेखाकृति 37 3

सयोगो का मार्ग (locus) है जो पूर्तिकर्ता के लिये समान लाभ उत्पन्न करते हैं (उत्पादन लागत को घटाने के बाद)। ध्यान रहे कि पदार्थ X की अधिकतम मात्रा, जिसकी पूर्ति विक्रेता (Supplier) कर सकता है, उसकी उत्पादन क्षमता द्वारा निर्धारित होती है जिसे हम एक दी हुई निश्चित मात्रा मान लेते हैं (जो रेखाकृति 37 3 मे $O'N$ मान ली गई है)। अपने अधिकतम उत्पादन क्षमता स्तर मे से एकाधिकारी
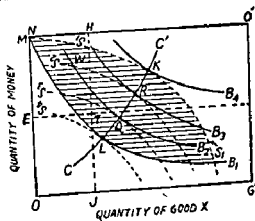
कि रेखाकृति 37 3 मे प्रदर्शित एजवर्थ बाक्स मे B_1, B_2, B_3 क्रेता के अनधिमान वक्र हैं जो मूल बिंदु के प्रति उन्नतोदर हैं (Convex to the origin) तथा S_1, S_2, S_3 तथा S_4 पूर्तिकर्ता के सम-लाभ वक्र हैं जिन्हें उल्टा घुमा दिया गया है तथा इसलिये वे भी मूल बिन्दु O' के प्रति उन्नतोदर हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि एजवर्थ की इस बाक्स रेखाकृति मे कोई भी बिन्दु विनिमय बिन्दु को

प्रदर्शित करता है क्योकि यह बताता है कि एकाधिकारी एव क्रय एकाधिकारी (क्रेता एव विक्रेता) दोनो, विनिमय की क्रिया के बाद कहाँ अपना विनिमय समाप्त करेंगे । उदाहरण के लिये T बिन्दु को लीजिये जो क्रेता एव विक्रेता के बीच एक विशेष विनिमय स्थिति को प्रस्तुत करता है । बिन्दु T पर क्रेता ने X वस्तु की OJ मात्रा खरीदी है तथा उसके पास OE मुद्रा शेष बची है—अर्थात् पदार्थ X की OJ मात्रा $(=ET)$ प्राप्त करने के लिये उसने मुद्रा की ME मात्रा का भुगतान किया है । एकाधिकारी विक्रेता ने X पदार्थ की NH $(=OJ)$ मात्रा की बिक्री की है तथा उसके बदले मे उसे मुद्रा की ME मात्रा प्राप्त हुई है । एकाधिकारी पूर्तिकर्ता अपने पास शेष पूर्ति क्षमता, जो $O'H$ के बराबर है, को अप्रयुक्त रखता है ।

ठीक इसी भाँति एजवर्थ की बाक्स रेखाकृति का कोई दूसरा बिन्दु भी क्रेता एव विक्रेता के बीच विनिमय अथवा व्यापार का प्रतिनिधित्व करता है । चूँकि क्रेता के पास मुद्रा की एक निश्चित मात्रा OM उपलब्ध है, अत मुद्रा की मात्रा, जो वह X वस्तु प्राप्त करने के लिये देता है विक्रेता के पास जाती है तथा इसी प्रकार विक्रेता जो X वस्तु देता है उसके पास भी X वस्तु की पूर्ति की एक निश्चित क्षमता होती है । विक्रेता जो भी पूर्ति करता है वह क्रेता के पास जाती है तथा शेष क्षमता उसके पास बनी रहती है । रेखाकृति 37 3 में B_1, B_2, B_3 तथा B_4 क्रेता के अनधिमान वक्र हैं और S_1, S_2, S_3 तथा S_4 विक्रेता के लाभ अनधिमान वक्र (सम-लाभ वक्र) हैं ।

क्रेता एव पूर्तिकर्ता के अनधिमान वक्रों के स्पर्श बिन्दुओ को मिला देने पर हमे CC' वक्र प्राप्त होता है जिसे, जैसा कि अध्याय 8 मे बताया गया है, संविदा वक्र (Contract Curve) कहा जाता है । इसका कारण यह है कि इसी वक्र के किसी एक बिन्दु पर दोनो के बीच विनिमय अथवा अनुविदा सम्पन्न होगा । द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण एव उत्पादन मात्रा (output) का विश्लेषण करने की दृष्टि से हम यह मान्यता करते हैं कि क्रेता एव विक्रेता ने आपसी बातचीत द्वारा एक मूल्य (अर्थात् विनिमय दर) सहमत होकर तय कर लिया है । आगे हम यह भी कल्पना करते हैं कि वे दोनो एक दूसरे के अनधिमान चित्र को जानते हैं ।

व्यापार प्रारम्भ करते समय वे यह अनुभव करेंगे कि संविदा वक्र (Contract Curve) से विलग प्रत्येक बिन्दु के बदले संविदा वक्र (Contract Curve) पर कुछ बिन्दु होंगे जो दोनो के लिये अधिक हितकर सिद्ध होंगे । उदाहरण के लिये एजवर्थ की बाक्स रेखाकृति मे बिंदु W को लीजिये जो संविदा वक्र CC' से दूर स्थित है तथा जिस बिन्दु पर क्रेता एव विक्रेता के दो अनधिमान वक्र B_2 तथा S_2 एक दूसरे को काटते हैं । आप देख सकते हैं कि अनधिमान वक्रों B_2 एव S_2 द्वारा घेरे गये क्षेत्र से होकर क्रेता एव विक्रेता दोनो के उच्चतर अनधिमान वक्र गुजरते हैं । अत Q एव R के बीच स्थित संविदा वक्र पर के सभी बिन्दु दोनो पक्षो के उच्चतर अनधिमान वक्रो (इन वक्रो को रेखाकृति मे नहीं [illegible] गया है) पर होंगे । अत संविदा वक्र (Cont[illegible] Curve) के किसी भी बिन्दु पर (Q तथा R के बीच, [illegible] W की अपेक्षा क्रेता एव विक्रेता दोनो श्रेष्ठतर [illegible] मे होंगे क्योकि वे अपने उच्चतर अनधिमान वक्र पर होंगे । अतएव यदि वे बिन्दु W को सोचकर भी व्यापार शुरू करें तो भी अन्तत वे संविदा वक्र पर Q तथा R के बीच किसी बिन्दु पर पहुँचेंगे और उसके अनुसार व्यापार करेंगे । अत हम यह देखते हैं कि वे संविदा वक्र से विलग किसी भी बिन्दु से व्यापार क्यों न शुरू करें, वे उसका समापन अन्तत संविदा वक्र पर स्थित किसी बिन्दु पर ही करेंगे । इस प्रकार प्रो० बॉमोल के अनुसार, "वास्तविक विनिमय संविदा वक्र CC' पर ही कहीं समाप्त होना चाहिये क्योकि इसके अतिरिक्त किसी अन्य स्थिति मे क्रेता और विक्रेता दोनों के लिये पुन सौदा करना लाभप्रद होगा तथा केवल संविदा वक्र पर स्थित किसी बिन्दु पर ही इस प्रकार का विनिमय दोनो के लिये लाभकारी होगा ।" ("Actual trading must end up somewhere along the contract curve, CC' for anywhere else it will be mutually advantageous to buyer and seller to renegotiate their deal,

and only at a point on the contract curve will no such negotiations be profitable to both "][1]

किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सविदा वक्र (contract curve) के साथ-साथ चलन (movement) दोनो के लिये लाभदायक नही होता है। हम सविदा वक्र के साथ साथ ज्यो-ज्यो ऊपर की ओर (बढते) चलते हैं क्रेता अपने उच्चतर अनधिमान वक्रो पर पहुँचता जायेगा तथा विक्रेता क्रमश निम्नतर अनधिमान वक्रो पर खिसकता जायेगा। इसके विपरीत सविदा वक्र पर नीचे की ओर किसी भी चलन का अर्थ यह होगा कि क्रेता की स्थिति पहले से खराब होती जायेगी तथा विक्रेता पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर होगा। आर्थिक विश्लेषण यह बताने मे सहायक नही होता है कि क्रेता एव विक्रेता के बीच विनिमय सविदा वक्र (contract curve) पर स्थित किस निश्चित बिन्दु पर सम्पन्न होगा तथा तदनुसार कीमत एव वस्तु की मात्रा का निर्धारण कहाँ होगा। चूँकि क्रेता एव विक्रेता के बीच व्यापार का समापन तथा इसीलिये मूल्य एव उत्पादन की मात्रा का निर्धारण सविदा वक्र पर ही किसी बिन्दु पर होगा। अत अर्थशास्त्रियो का कहना है कि पदार्थ की कीमत एव मात्रा द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत अनिश्चित होती है।

परन्तु अनिश्चितता के विस्तार को (अर्थात् सभावित विनिमय बिन्दुओ एव, इस प्रकार, कीमत तथा उत्पादन मात्रा की सीमा) को कम किया जा सकता है। सविदा वक्र के KL चाप (Arc) के किसी बिन्दु पर दो पक्षो के बीच विनिमय (व्यापार) सम्पन्न होगा। इसकी व्याख्या सरलता से की जा सकती है। जब दोनो पक्षो मे व्यापार नही होता है तो वे दोनो M बिन्दु पर होते है (अथवा N पर, M तथा N एक ही से हैं), क्रेता के पास OM मुद्रा की मात्रा तथा विक्रेता (supplier) के पास X वस्तु की पूर्ति के लिये $O'N$ मात्रा (क्षमता) रहती है। अत M (अथवा N) व्यापार विहीन बिंदु" (no trade point) को व्यक्त करता है। रेखाकृति 37 3 मे यह देखा जा सकता है कि क्रेता का अनधिमान वक्र B_1 तथा विक्रेता का लाभ अनधिमान वक्र S_1, बिन्दु M से गुजरते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि यदि पारस्परिक विनिमय क्रेता और विक्रेता को ऐसे बिन्दु पर ला देता है, जो क्रमश B_1 तथा S_1 अनधिमान वक्रो की अपेक्षा निचले अनधिमान वक्रो पर स्थित हैं तो वे विनिमय करने के लिये राजी नही होगें। दूसरे शब्दो मे, यदि निर्धारित मूल्य इस प्रकार का हो कि क्रेता विनिमय का समापन किसी ऐसे बिन्दु अथवा अनधिमान वक्र पर करे जो अनधिमान वक्र B_1 से बायें स्थित है तो क्रेता पूर्तिकर्त्ता के साथ किसी प्रकार का विनिमय अस्वीकार कर देगा क्योकि इसका अर्थ यह होगा कि व्यापार उसकी स्थिति को बिन्दु M पर की स्थिति से भी खराब बना देगा। इसीलिये हमने क्रेता एव विक्रेता के अनधिमान वक्रो, क्रमश B_1 तथा S_1 द्वारा घेरे गये क्षेत्र को छायाकित कर दिया है। M बिन्दु, जहाँ दोनो के बीच किसी प्रकार का व्यापार नही होता है, से छायाकित क्षेत्र के भीतर किसी भी बिन्दु तक चलन दोनो के लिये पारस्परिक रूप से लाभदायक होगा तथा यह दोनो को M बिन्दु की स्थिति से श्रेष्ठतर बनायेगा। इसका कारण यह है कि छायाकित क्षेत्र मे कोई बिन्दु क्रमश B_1 तथा S_1 की अपेक्षा उनके उच्चतर अनधिमान वक्र पर स्थित होगा। अत सम्भावित विनिमय (व्यापार) बिन्दु (तथा मूल्य एव मात्रा का निर्धारण) बिन्दु M से गुजरने वाले अनधिमान वक्रो (अर्थात B_1 एव S_1) के बीच छायाकित क्षेत्र के भीतर होगा।

किन्तु जैसा कि ऊपर बताया गया है, सविदा वक्र से पृथक किसी बिन्दु के अनुरूपी सविदा वक्र पर जो बिन्दु होते हैं वे दोनो क्रेता एव विक्रेता, के लिये अधिक लाभप्रद होगे, इसलिये सम्भावित व्यापार बिन्दु सविदा वक्र CC' के LK चाप (जो छायाकित क्षेत्र के अन्दर है) पर होगा। कहने का अर्थ यह है कि दोनो पक्षो के बीच सन्तुलन बिन्दु अथवा व्यापार सविदा वक्र CC' पर L तथा K के बाहर नही होगा। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तु का सन्तुलन मूल्य एव मात्रा सविदा वक्र CC' के चाप LK पर कही भी

1 W. J Baumol, *Economic Theory and Operations Analysis*, 3rd edition p 351

निर्धारित होगा। अन्तिम सन्तुलन अथवा विनिमय के समावित क्षेत्र कोइससे और अधिक सीमित करना कठिन होता है। अत द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत एव मात्रा का निर्धारण, सविदा वक्र के LK चाप की सीमाओ के अन्दर अनिश्चित होता है। निश्चित बिन्दु, जिस पर अन्तिम सतुलन अथवा व्यापार होगा वह सविदा वक्र के LK चाप पर स्थित, दोनो क्रेता तथा विक्रेता की सापेक्ष सौदाकारी की शक्ति एव निपुणता पर निर्भर होगा। मान लीजिय कि अन्तिम सन्तुलन बिन्दु Q पर है। दोनो Q बिन्दु पर M बिन्दु की अपेक्षा अच्छी स्थिति म है परन्तु क्रेता की तुलना मे विक्रेता की स्थिति अधिक अच्छी हुई है क्योकि Q विक्रेता के-S_3 अनधिमान वक्र पर तथा क्रेता के B_2 अनधिमान वक्र पर पडता है। सन्तुलन बिन्दु Q पर निर्धारित मूल्य सरल रेखा MQ के ढाल के बराबर होगा (किसी प्रकार का भ्रम न हो इसलिये MQ रेखा को रेखाकृति म नही बताया गया है)। सापेक्ष सौदाकारी की शक्ति एव निपुणता के आधार पर सन्तुलन अथवा विनिमय बिन्दु R पर स्थित हो सकता है जिस पर दोनो M की अपेक्षा श्रेष्ठतर स्थिति म हैं परन्तु यहाँ पर क्रेता पूतिकर्त्ता (विक्रेता) की अपेक्षा अधिक अच्छी स्थिति मे है। सन्तुलन बिन्दु R पर निर्धारित मूल्य एक सरल रेखा MR के ढाल के बराबर होगा (MR रेखाकृति म प्रदर्शित नही है)। सविदा वक्र के LK चाप पर व्यापार (विनिमय) बिन्दु जैसे-जैसे L की ओर चलता जायेगा विक्रेता की स्थिति अच्छी होती जायेगी तथा क्रेता की स्थिति खराब होती जायेगी। यही कारण है कि सविदा वक्र को कभी-कभी सघर्ष वक्र भी कहा जाता है क्योकि इसके साथ-साथ चलन एक को श्रेष्ठतर बनाता है तो दूसरे को खराब स्थिति मे डालता है, यद्यपि पुन यह ध्यान दिलाने योग्य है कि दोनो व्यक्ति सविदा वक्र के अतिरिक्त अन्य बिन्दुओं तथा व्यापार विहीन बिन्दु (no trade-point) M की अपेक्षा श्रेष्ठतर होगे। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत तथा रेखाकृति मे दर्शायी गयी स्थिति मे कीमत-मात्रा सन्तुलन सविदा वक्र के LK चाप (arc) के क्षेत्र में अनिश्चित रहता है।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि कीमत मात्रा सन्तुलन की अनिश्चितता का यह अर्थ नही है कि आर्थिक घटना की व्याख्या प्रस्तुत करना सर्वथा असम्भव है (यहाँ आर्थिक घटना से तात्पर्य द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत कीमत तथा उत्पादन मात्रा है) सच तो यह है कि हमारा द्विपक्षीय एकाधिकार की समस्या सम्बन्धी विश्लेषण इसके अन्तर्गत कीमत एव उत्पादन मात्रा के निर्धारण पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। इसके अतिरिक्त सन्तुलन की 'अनिश्चितता' का यह अर्थ भी नही है कि अन्तिम सन्तुलन की अवस्था पर वास्तविक रूप से नही पहुँचा जा सकता है। वस्तुत क्रेता एव विक्रेता किसी कीमत-मात्रा की सहमति पर अवश्य आते हैं। अत 'अनिश्चितता' का तात्पर्य यह है कि अन्तिम समाधान की भविष्यवाणी अथवा पूर्वानुमान आर्थिक सिद्धान्त पूर्णत नही कर सकता, साथ ही, कि यह भी सम्भव है कि अन्तिम निष्कर्ष आर्थिक विचारो पर आधारित न हो। फिर-हमारा सरल विश्लेषण निश्चित रूप से अन्तिम समाधान या निष्कर्ष की सीमाओ को निर्धारित कर देता है। (Thus 'the indeterminacy means that the final solution is not fully predictable by economic analysis and this because the final outcome may not rest on economic considerations". Our simple analysis does however establish the boundaries of the final solution ")[1]

यहाँ पर यह बतलाना आवश्यक प्रतीत होता है कि सिडनी साइजेल तथा लारेन्स ई० फाउरेकर[2] ने अर्थशास्त्र एव मनोविज्ञान को एक साथ मिलाकर द्विपक्षीय एकाधिकार का एक सैद्धान्तिक समाधान प्रस्तुत किया है। उनका यह मत है कि द्विपक्षीय

1 Charles L Cole, *Microeconomics A Contemporary Approach*, Harcourt Brace, Jovanvich, 1973, p 257

2 Sidney Siegel and Lawrence E Fouraker, *Bargaining and Group Decision Making Experiments in Bilateral Monopoly*, McGraw Hill, New York, 1960

एकाधिकार के अन्तर्गत क्रेता एव विक्रेता की प्रवृत्ति सयुक्त लाभ को अधिकतम करने की होती है। फिर इसके बाद क्रेता एव विक्रेता इस लाभ को किसी सम्मत फार्मूला (Agreed Formula) के आधार पर आपस मे बाँट लेते हैं। सयुक्त लाभो को अधिकतम करने की प्रवृत्ति उस दशा मे अत्यधिक प्रबल हो जाती है जबकि क्रेता एव विक्रेता एक दूसरे की आवश्यकताओ तथा अधिमानो के बारे मे अच्छी प्रकार जानकारी रखते हैं। अत उनके अनुसार एक दूसरे के बारे मे जानकारी ही वह नियत्रक शक्ति होती है जो सयुक्त लाभों को अधिकतम करने की प्रवृत्ति को निर्धारित करती है। साइजेल एव फाउरेकर इस बात को भी स्पष्ट करते हैं कि द्विपक्षीय एकाधिकार की समस्या का समाधान क्रेता और विक्रेता के "महत्त्वाकाक्षा के स्तरो" (Levels of aspiration) द्वारा भी अत्यधिक प्रभावित किया जाता है। महत्त्वाकाक्षा का स्तर एक मनोवैज्ञानिक धारणा है तथा इसका अर्थ होता है 'अधिकतम करने की इच्छा' की तीव्रता। एक व्यक्ति, जिसने पहले (अतीत मे) व्यापार से पर्याप्त सफलता अर्जित कर ली है तथा भविष्य मे भी और अच्छी तरह कार्य करने की आशा करता है, उसकी महत्त्वाकाक्षा का स्तर उस व्यक्ति की तुलना मे ऊँचा होता है जो बीते दिनो मे असफलता का सामना कर चुका है। किन्तु प्रो० बॉमोल द्विपक्षीय एकाधिकार की समस्या के सयुक्त-लाभ अधिकतम के समाधान को स्वीकार नही करते है। बॉमोल द्वारा द्विपक्षीय एकाधिकार की समस्या के समाधान के लिये "अनेक सुझाव दिये गये हैं—उदाहरण के लिये सयुक्त लाभ अधिकतम बिन्दु (वह बिन्दु जो क्रेता एव विक्रेता के लाभो के सम्मिलित योग को अधिकतम करता है)। किन्तु यह समझना कठिन है कि कोई यह उम्मीद क्यो करेगा कि सौदाकारी करने वालो मे सदैव यह आशा करे कि वे किसी ऐसे ही एक बिन्दु पर अपना विनिमय बन्द कर दें। इसी कारण अनेक अर्थशास्त्रियो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि द्विपक्षीय एकाधिकार की समस्या 'अनिश्चित' है।" [Several suggestions have been offered for example, the joint profit maximum point (the point which maximizes the sum of profits of the buyer and seller together) However, it is difficult to see why one may expect that bargainers should always be expected to end at any such point For that reason, many economists have concluded that the bilateral monopoly problem is "indeterminate"][1]

1 Op cit, p 351

भाग 6
वितरण का सिद्धान्त
(THEORY OF DISTRIBUTION)

38

वितरण का सिद्धान्त : सामान्य विश्लेषण
(THEORY OF DISTRIBUTION : GENERAL ANALYSIS)

हमने गत अध्यायो मे वस्तु की कीमत के निर्धारण के नियमो का अध्ययन किया है और फर्मों के सतुलन की शर्तों के सम्बन्ध मे भी पढा है। किसी वस्तु की कीमत समस्त उपभोक्ताओ की समूची मांग और समूची पूर्ति की शक्तियो की परस्पर क्रिया पर निर्भर करती है। व्यक्तिगत फर्मों का सतुलन उस कीमत-उत्पादन पर होता है जहाँ सीमात आय (Marginal Revenue) और सीमान्त लागत (Marginal Cost) समान होते है। वितरण के सिद्धान्त मे उत्पादन के साधनो की सेवाओ की कीमतो के निर्धारण की व्याख्या की जाती है। अत अब हम भूमि (Land), श्रम (Labour), पूजी (Capital) और उद्यम (Enterprise) आदि साधनो की कीमत का विश्लेषण करेंगे। अतएव वितरण के सिद्धान्त के अन्तर्गत हम भूमि का किराया (Rent), श्रम की मजदूरी (Wages), पूजी पर ब्याज (Interest) तथा उद्यम के लाभ (Profits) का विश्लेषण करते हैं।

यह भली भाति समझ लेना चाहिए कि कीमतो के निर्धारण से तात्पर्य वस्तुत साधनो की कीमतो का निर्धारण नही (लिखने के लिये हम साधनो की कीमतें लिखते है परन्तु ऐसा केवल समझाने की सुगमता के लिये करते है), बल्कि उनकी सेवाओं की कीमतो का निर्धारण है। उदाहरणत वितरण के सिद्धान्त मे हम इस बात की व्याख्या नही करते कि भूमि की प्रति एकड़ क्या कीमत है, बल्कि यह कि भूमि के प्रयोग का क्या किराया निर्धारित होता है। इस प्रकार हम यह नही बताते कि श्रमिक कितने को बेचे और खरीदे जाते है (बेचे और खरीदे जाने वालो को तो गुलाम कहते हैं)। हमने केवल यह देखना है कि एक श्रमिक को एक दिन मे काम करने की कितनी मजदूरी मिलती है। श्रमिक अपने आप को नही बेचता, वह तो केवल अपनी सेवा ही बेचता है। स्पष्ट है कि वस्तु या पदार्थ अवश्य बिकते हैं और बाजार मे उनकी कीमत पड़ती है किन्तु उत्पादन के साधन स्वय नही बिकते, बल्कि उनकी सेवाओ (Services) का मूल्य ही बाजार मे निर्धारित होता है।

एक और बात जो हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं वह यह है कि वितरण के सिद्धान्त (Theory of

Distribution) मे प्राय: वैयक्तिक वितरण (personal distribution) की व्याख्या नही करते बल्कि कार्यानुसार वितरण (functional distribution) की व्याख्या करते हैं। कार्यानुसार वितरण मे विभिन्न साधनो की सेवाओ की कीमतो के निर्धारण की विवेचना की जाती है, इस बात की नही कि समाज के विभिन्न व्यक्तियो मे राष्ट्रीय आय का वितरण किस प्रकार होता है। विभिन्न व्यक्तियो मे आय का वितरण (अर्थात् वैयक्तिक वितरण) न केवल व्यक्तियो के साधनो की कीमतो पर निर्भर करता है अपितु इस पर भी कि वे साधनो की कितनी मात्रा के स्वामी हैं।

वितरण के व्यष्टिपरक तथा समष्टिपरक सिद्धान्त (Micro and Macro Theories of Distribution)

कार्यानुसार वितरण का भी दो दृष्टियो से अध्ययन किया जाता है। ये हैं व्यष्टिपरक तथा समष्टिपरक दृष्टिकोण। वितरण का व्यष्टिपरक सिद्धान्त (Micro-theory of Distribution) इस बात की व्याख्या करता है कि विभिन्न उत्पादन-साधनो के **पुरस्कार अथवा पारिश्रमिक की दरें** (*rates of reward*) किस प्रकार निर्धारित होती है। अन्य शब्दो मे, उत्पादन साधनो की सापेक्ष **कीमतें** (*relative prices*) जैसे कि श्रमिको की मजदूरी की दर, भूमि पर लगान की दर, पूंजी पर ब्याज की दर का किस प्रकार निर्धारण होता है। इसके विपरीत, वितरण का समष्टिपरक सिद्धान्त (Macro-theory of Distribution) राष्ट्रीय आय मे विभिन्न साधनो के **समस्त भागों** (*total or aggregate shares*) के निर्धारण की व्याख्या करता है। इन समस्त भागो की राष्ट्रीय आय के प्रतिशत अथवा अनुपात के रूप मे विवेचना की जाती है। वितरण के समष्टिपरक सिद्धान्त के विभिन्न साधनो के सापेक्ष **भागों** (*relative shares*) की व्याख्या करने के कारण, इसे **वितरणात्मक भागो का सिद्धान्त** (Theory of Distributive Shares) भी कहा जाता है। इस प्रकार वितरण का समष्टिपरक सिद्धान्त यह बताता है कि राष्ट्रीय आय मे श्रमिको का समस्त भाग (अर्थात् सभी श्रमिको को प्राप्त मजदूरियो का जोड), देश के सभी उद्यमकर्त्ताओ को राष्ट्रीय आय से प्राप्त कुल लाभ इत्यादि किस प्रकार निर्धारित होते हैं। यह उल्लेखनीय है कि वितरण के समष्टिपरक सिद्धान्त मे किसी एक श्रमिक को प्राप्त मजदूरी अथवा किसी एक उद्यमकर्त्ता को प्राप्त लाभ कैसे निर्धारित होते हैं की विवेचना नही की जाती है।

कीमत (या मूल्य) के सिद्धान्त की एक विशेष दशा के रूप मे वितरण का सिद्धान्त [Theory of Distribution as a Special Case of Theory of Price (or Value)]

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त मे वितरण का सिद्धान्त कीमत के सिद्धान्त की केवल एक विशेष दशा है। जिस प्रकार पदार्थों की कीमतो की व्याख्या उनकी माँग तथा पूर्ति के प्रतिच्छेद की सहायता से की जाती है ठीक उसी प्रकार वितरण की अर्थात् साधनो की कीमतो के निर्धारण की व्याख्या उनकी (साधनो की) माँग तथा पूर्ति के प्रतिच्छेद की सहायता से की जाती है। आय, जो एक साधन प्राप्त करेगा, बाजार अर्थात् माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित कीमत तथा उस साधन को प्रयुक्त या नियुक्त की जाने वाली मात्रा पर निर्भर करती है। अन्य शब्दो मे, ये स्वतन्त्र बाजार की शक्तियाँ अर्थात् माँग तथा पूर्ति हैं जो विभिन्न साधनो की आय निर्धारित करती है, यह सम्पत्ति का अधिकार जैसा कोई संस्थागत ढाँचा नही। इसके अतिरिक्त विभिन्न साधनो का विशिष्ट सामाजिक वर्गों के साथ सम्बन्ध, जैसे भूस्वामी वर्ग का भूमि से, पूँजीपतियो का पूँजी से, कार्यकारी वर्ग का श्रमिको से सम्बन्ध पर भी जोर नही दिया जाता है। वास्तव मे, साधनो को केवल उत्पादक कार्यकर्ता तथा उनमे आय के वितरण को उत्पादन मे उनके योगदान के लिए केवल कार्यात्मक पुरस्कार के रूप मे समझा जाता है। अन्य शब्दो मे, वितरण का समसामयिक सिद्धान्त केवल आय के कार्यात्मक वितरण की व्याख्या करता है आय के व्यक्तिगत वितरण की नही। लिप्से वितरण के समसामयिक (Contemporary) सिद्धान्त की निम्न प्रकार व्याख्या करते हैं—

परम्परागत सिद्धान्त[1] कहता है कि वितरण साधारण रूप में कीमत सिद्धान्त की एक विशेष दशा है। किसी उत्पादन के साधन की आय (और इसलिए राष्ट्रीय उत्पादन की मात्रा जिसे वह प्राप्त करने में समर्थ है) साधन का भुगतान की जाने वाली कीमत तथा उसकी प्रयोग की जाने वाली मात्रा पर निर्भर रहती है। इस प्रकार यदि हम वितरण सिद्धान्त का निर्माण करना चाहते है तो हम साधनो की कीमत के सिद्धान्त की आवश्यकता होती है। इस प्रकार स्वतन्त्र बाजार में वितरण की समस्या साधनो की मांग तथा पूर्ति के निर्धारक तत्त्वो के प्रश्न तक सीमित हो जाती है।[2]

प्रो० ए० के० दास गुप्ता समसामयिक वितरण के सिद्धान्त के स्वभाव की अत्यधिक स्पष्टता से व्याख्या करते हैं। वे विशेष रूप से कहते है "वितरण मूल्य के सिद्धान्त का एक विस्तार प्रतीत होता है" जो उत्पादन के साधनो की कीमत निर्धारित करने की समस्या मात्र है। इस प्रकार आर्थिक समस्या के दो पहलू एकीकृत तथा तार्किक रूप से आत्म सगत प्रणाली में सम्मिलित कर दिये जाते हैं। अन्तिम रूप में एक वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता से व्युत्पन्न किया जाता है तथा साधनो का मूल्य उन वस्तुओ द्वारा आकलित उत्पादकता द्वारा व्युत्पन्न किया जाता है जिन्हें उत्पादित करने मे वे सहायता करते हैं। साधनो के भूमि, श्रमिक तथा पूंजी मे प्राचीन त्रिखण्डी या त्रिभागी विभाजन को बनाये रखा गया है परन्तु सामाजिक वर्गों से उनका प्राचीन सम्बन्ध त्याग दिया गया है। साधनो को उस संस्थागत ढांचे से स्वतन्त्र रूप में उत्पादक कार्यकर्ता समझा गया है जिसमें कि वे कार्यशील होते हैं।[3]

वर्तमान लेखक की राय में वितरण का समसामयिक सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण आधार पर है। आय का वितरण अर्थात् एक समाज में राष्ट्रीय आय का कितना भाग कौन प्राप्त करता है इसकी व्याख्या केवल बाजार की अवैयक्तिक शक्तियो के तन्त्र द्वारा अर्थात् साधनो की मांग तथा पूर्ति के मध्य सन्तुलन द्वारा नहीं की जा सकती है। एक समाज में सम्पत्ति या उत्पादन के साधनो पर अधिकार, शक्ति संरचना आदि द्वारा शासित उत्पादन सम्बन्ध राष्ट्रीय आय के वितरण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है। समसामयिक सिद्धान्त इस स्पष्ट कथन द्वारा कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति या प्रत्येक साधन अपने सीमान्त उत्पादन के मूल्य के अनुसार पुरस्कृत किया जाता है आय के वर्तमान वितरण के न्यायसगत या उचित होने की अप्रत्यक्ष स्वीकृति है। परन्तु यह सत्यता से बहुत दूर है क्योंकि आधुनिक युग में (भारत को सम्मिलित करते हुए) पूजीवादी देशो में पाया जाने वाला आय का अत्यधिक विषम वितरण अधिकांशतः सम्पत्ति पर असमान अधिकार उस पर आधारित उत्पादन सम्बन्ध तथा समाज में शक्ति संरचना द्वारा निर्धारित हुआ है। कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि आय के निर्धारक तत्त्व के रूप में सीमान्त उत्पादकता बिल्कुल महत्त्वहीन है परन्तु उपर्युक्त संस्थागत तत्त्वो के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

मूल्य, उत्पादन तथा वितरण के मध्य अन्त सम्बन्ध (Interrelationship between Value, Production and Distribution)

मूल्य, उत्पादन तथा वितरण व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त के विभिन्न भाग है परन्तु वे एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। मूल्य, उत्पादन तथा वितरण के मध्य इस घनिष्ठ अन्त सम्बन्ध के कारण व्यष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त अर्थव्यवस्था की कार्य प्रणाली का एकीकृत तथा तार्किक रूप से आत्मसगत चित्र प्रस्तुत करता है।

मूल्य तथा वितरण (Value and Distribution)

आइए, हम सर्वप्रथम देखें कि मूल्य तथा वितरण किस प्रकार परस्पर अन्त सम्बन्धित हैं। जैसा कि ऊपर

---

1 प्रो० लिप्से जिसे परम्परागत सिद्धान्त कहते हैं, वास्तव में समसामयिक या आधुनिक सिद्धान्त है।

2 Richard G Lipsey, *An Introduction to Positive Economics*, 3rd edition, 1971, p 329

3 A K Das Gupta, *Tendencies in Economic Theory*, Presidential Address to the 43rd Annual Conference of the Indian Economic Association, held at Chandigarh, December, 1960

ा की जा चुकी है कि पूर्ण प्रतियोगिता की ओं के अन्तर्गत उत्पादन के साधन सीमान्त उत्पा- के मूल्य (VMP) के अनुसार पुरस्कृत होते हैं। न्तु एक साधन के सीमान्त उत्पादन का मूल्य, धन का सीमान्त भौतिक उत्पादन (MPP_l) पदार्थ कीमत का गुणा होता है जिसे उत्पादित करने में हायता करता है। पदार्थ की कीमत जितनी धिक होगी श्रमिक के सीमान्त उत्पादन का मूल्य तना ही अधिक होगा और इसलिए उसकी कीमत या आय भी उतनी ही अधिक होगी। वास्तव में, एक साधन का माँग-वक्र श्रमिक के सीमान्त उत्पादन के मूल्य (या सीमान्त आय उत्पादन) वक्र से व्युत्पन्न किया जाता है। यदि उस पदार्थ की कीमत बढ़ जाती है जिसको एक साधन उत्पादित करता है तो श्रम का म्पूर्ण माँग वक्र ऊपर की ओर सरक जायगा तथा सके परिणामस्वरूप साधन की कीमत तथा आय ढ़ जायगी। वस्तुत एक साधन की माँग व्युत्पन्न ंग कही जाती है, यह उस पदार्थ की माँग से व्युत्पन्न जाती है जिसको उत्पादित करने मे एक साधन हायता करता है। इसलिए पदार्थों का मूल्य तथा क साधन को प्राप्त होने वाली कीमत या आय एक सरे से *घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।*

उत्पादन तथा वितरण (Production and Distribution)

उत्पादन तथा वितरण के सिद्धान्त भी एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। हमने पहले ही एक अध्याय मे वितरण के सिद्धान्त के लिए उत्पादन के सिद्धान्त की महत्ता की व्याख्या की है। ऊपर हम सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (क्लार्क तथा मार्शल-हिक्स दोनो रूपान्तरो मे) की व्याख्या मे देख चुके हैं *कि एक साधन को उसके सीमान्त उत्पादन अर्थात्* कुल उत्पादन मे उसके योगदान के अनुसार भुगतान किया जाता है। एक साधन का सीमान्त उत्पादन जितना ही अधिक होगा, वह उतना ही अधिक पुरस्कार आय प्राप्त करेगा। अब एक साधन का सीमान्त उत्पा उत्पादन फलन के स्वरूप तथा प्रकृति पर ही निर्भर रहा है।

जैसा कि पहले व्याख्या की जा चुकी है, उत्पादन फलन $P=f(L,K)$ के रूप मे लिखा जाता है जहाँ P कुल उत्पादन, L श्रमिको की मात्रा, K प्रयुक्त पूँजी की मात्रा को प्रदर्शित करता है। यदि K को स्थिर रखते हुए हम L की थोड़ी मात्रा बढ़ाते हैं तो हम जान सकते हैं कि P मे कितनी वृद्धि होती है और वह वृद्धि उत्पादन फलन का अवकलज (partial derivative) कहलाता है। अवकलज $\frac{\partial P}{\partial L}$ के रूप मे लिखा जाता है। इसी प्रकार हम L को स्थिर रख सकते हैं तथा K को न्यून मात्रा मे बढ़ा सकते हैं इसके परिणामस्वरूप P मे होने वाली वृद्धि K के कारण उत्पादन फलन की अवकलज है तथा $\frac{\partial P}{\partial K}$ के रूप मे लिखा जाता है। $\frac{\partial P}{\partial L}$ तथा $\frac{\partial P}{\partial K}$ के लिए आर्थिक शब्द क्रमश श्रमिक तथा पूँजी का सीमान्त उत्पादन है। श्रमिक तथा पूँजी के सीमान्त उत्पादन वितरण के नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त (अर्थात् सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त) म महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं जो आधुनिक अर्थशास्त्रियो द्वारा भी स्वीकार की गयी है। *मजदूरी श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता के बराबर* तथा पूँजी पर ब्याज उसके सीमान्त उत्पादन के बराबर होता है। जैसा कि हम ऊपर सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के आलोचनात्मक मूल्यांकन मे व्याख्या कर चुके हैं कि यह साधनो के पुरस्कार या आय की पूर्ण रूप से पर्याप्त व्याख्या नही है किन्तु नि संदेह रूप से यह उत्पादन के साधनो का पुरस्कार निर्धारित करने मे एक बहुत महत्त्वपूर्ण शक्ति है।

जैसा कि ऊपर व्याख्या की जा चुकी है कि साधनो के पुरस्कार की उनकी सीमान्त उत्पादकताओ से समानता इस मान्यता पर आधारित है कि उद्यमकर्त्ता लाभ अधिकतम करना चाहते हैं। प्रो० पेन ठीक ही लिखते हैं, "उद्यमकर्त्ता उत्पादन का संगठन करता है। यह मान लेना मूर्खता नही है कि वह श्रमिक तथा पूँजी को उस अनुपात मे जुटाता है जो उसके लिए सर्वाधिक सम्भव लाभप्रद है। अब यदि मजदूरी, जो

उसे प्रत्येक श्रमिक को भुगतान करनी पडती है उस अतिरिक्त उत्पादन की अपेक्षा कम है जोकि एक अतिरिक्त कार्यकर्ता (श्रमिक) उत्पन्न करता है तो उस कार्यकर्ता (श्रमिक) को नियुक्त करना उद्यमकर्त्ता के हित या लाभ में है। जब तक पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ब्याज की दर की अपेक्षा अधिक है, वह अपेक्षाकृत अधिक पूंजी को लगाना चाहेगा। सम्भवत उद्यमकर्ता अपनी उत्पादन प्रक्रिया मे अनुकूलतम सम्बन्धो को ठीक-ठीक प्राप्त करने म सफल नही होता ह—जटिलताएँ घटित होती है "'परन्तु फिर भी उत्पादन के साधनो व पुरस्कार तथा उनकी सीमान्त उत्पादकताओं म समानता को प्राप्त करने वाली निरन्तर शक्ति कार्यशील होती है।'[1] वे आगे टिप्पणी करते है, ज० बी० क्लार्क द्वारा प्रतिपादित यह सरल सत्य प्रारम्भ म महत्त्वपूर्ण है, यह उत्पादन सिद्धान्त तथा वितरण सिद्धान्त के मध्य सामजस्य की पूर्ति करता है[2]

उत्पादन फलन का एक विशेष लक्षण वितरण के सिद्धान्त के लिए अत्यधिक प्रासगिक है और वह एक साधन का ह्रासमान सीमान्त प्रतिफल है। हमने ऊपर देखा है कि एक उद्यमकर्त्ता तब तक श्रमिक या पूँजी को नियुक्त करता जाता है जब तक कि उसका सीमान्त उत्पादन मजदूरी या ब्याज क स्तर तक कम नही हो जाता है। यदि एक साधन का सीमान्त उत्पादन घटने के बजाय बढता है अथवा स्थिर रहता है तो सीमान्त उत्पादन के साथ साधन के पुरस्कार की उपर्युक्त समानता प्राप्त नही की जा सकती है तथा वितरण का सम्पूर्ण सिद्धान्त नष्ट हो जाता है।

उत्पादन फलन का अन्य महत्त्वपूर्ण लक्षण, जो कि वितरण के सिद्धान्त क लिए अत्यधिक प्रासगिक है, (वह) साधनो के मध्य प्रतिस्थापन की सम्भावना है। यदि उत्पादन साधनो म स्थिर या दृढ सम्बन्ध होते हैं तो उन्ह स्थिर अनुपात म प्रयुक्त होना पडेगा और उस दशा में सीमान्त उत्पादकताएँ शून्य होगी और शून्य सीमान्त उत्पादकताओ पर कोई भी वितरण का सिद्धान्त आधारित नही किया जा सकता है। यह तथ्य, कि साधनो के मध्य पर्याप्त मात्रा मे प्रतिस्थाप विद्यमान है सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के आध पर वितरण के सिद्धान्त का निर्माण करना स बनाता है। प्रो० जे० आर० हिक्स[3] ने साधनो प्रतिस्थापन सापेक्षता के विचार को प्रस्तुत किय विभिन्न साधनो के वितरणात्मक भागो को नि करने के लिए उसके महत्त्व को प्रदर्शित किया। स्थापन सापेक्षता का विचार दो साधनो की की के अनुपात म परिवर्तन के प्रत्युत्तर म प्रयोग किये ज वाले दो साधनो के अनुपात मे परिवर्तन से सम्बन्ि है। उदाहरणार्थ—यदि श्रमिको की मजदूरी पूँजी ब्याज की अपेक्षा बढ जाती है तो उद्यमकर्त्ता श्रमिक लिए पूँजी को प्रतिस्थापित करेगा। पूँजी का रोजगा बढेगा तथा श्रमिक का (रोजगार) कम होगा। य श्रमिक के पदार्थ का वितरण भाग कम तथा पूँजी क वितरणात्मक अश अधिक कर सकता है। हम विभिन्न साधनो के वितरणात्मक अशो को निर्धारित करने मे प्रतिस्थापन सापेक्षता की भूमिका की बाद वाले अध्याय म सविस्तार विवेचना करेंगे।

इसके अतिरिक्त उत्पादन फलन मे साधनो के मध्य प्रतिस्थापन की सम्भावना श्रम सघो की मजदूरी मे वृद्धि करने कार्यकारी वर्ग के जीवन-स्तर मे सुधा करने की शक्ति पर प्रतिबन्ध लगा देती है। यदि श्र सघ मजदूरी म वृद्धि करने के लिए प्रयत्न करते तथा इसमे सफल हो जाते हैं तो उद्यमकर्त्ता श्रमिक के लिए पूँजी को प्रतिस्थापित करेगा और इसके परिणाम स्वरूप श्रमिको का रोजगार कम होगा जिससे कुछ कार्यकर्ता (श्रमिक) बेरोजगार हो जायेंगे। बेरोजगारी सृजित होने का यह भय श्रम सघो को मजदूरी मे वृद्धि करने के लिए मना करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण स यह तात्पर्य निकलता है कि उत्पादन घनिष्ठ रूप से वितरण से सम्बन्धित है तथा वितरण का सिद्धान्त, उत्पादन के सिद्धान्त पर आधारित है।

1. J. Pen, *op. cit.* pp 79-80
2 *Ibid*, p 80

3 J. R Hicks, *The Theory of* Macmillan, 1932

उत्पादकता की धारणाएँ (Concepts of Productivity)

उत्पादकता का अर्थ है कि उत्पादन के किसी साधन के प्रयोग से वस्तु की कितनी मात्रा उत्पन्न की जा सकती है। उदाहरण के तौर पर 5 एकड़ भूमि से कितनी उपज हुई या 5 बढ़इयों ने कितनी कुर्सियाँ बनाई। यदि हम उनकी केवल उत्पादन मात्रा ही देखें तो यह उनकी पदार्थ या भौतिक उत्पादकता (Marginal Productivity) होती है। यह सीमान्त उत्पादकता कई प्रकार की है।

(क) सीमान्त भौतिक या पदार्थ उत्पादकता (Marginal Physical Productivity)—इसका अर्थ है कि उत्पादन मे साधन की एक इकाई बढ़ाने से कितना अतिरिक्त उत्पादन प्राप्त होता है। (Marginal physical productivity is the addition made to the total output of a commodity by the addition of one unit of factor of production)। उदाहरण के तौर पर, यदि एक फार्म पर 5 की बजाय 6 श्रमिक लगा दिए जाएँ जिससे गेहूँ की उपज 15 क्विंटल के स्थान पर 20 क्विंटल हो जाए, तो सीमान्त भौतिक उत्पादकता (Marginal Physical Productivity) 5 क्विंटल होगी।

(ख) सीमान्त उत्पादन का मूल्य (Value of Marginal Product)—दूसरी प्रकार की सीमान्त उत्पादकता है, सीमान्त उत्पादकता का मूल्य (Value of the Marginal Product)। यदि सीमान्त भौतिक उत्पादकता को बाजार कीमत के साथ गुणा किया जाए, तो हम सीमांत उत्पादन का मूल्य प्राप्त होता है।

(ग) तीसरी है सीमान्त आय उत्पादकता (Marginal Revenue Productivity)। हमें सीमांत भौतिक उत्पादकता (marginal physical productivity) बाजार कीमत के साथ गुणा करके (Value of Marginal Product) ज्ञात है। यदि सीमांत भौतिक उत्पादन को सीमांत आय (Marginal Revenue) के साथ गुणा करें तो सीमान्त आय उत्पादकता (Marginal Revenue Productivity) ज्ञात होती है। चूँकि सम्पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में कीमत और सीमांत आय परस्पर समान होती हैं, इसलिए इन दो धारणाओं अर्थात् Value of Marginal Product और Marginal Revenue Productivity में कोई अन्तर नहीं होता अर्थात् पूर्ण प्रतियोगिता मे ये दोनो एक होंगी। परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता में चूँकि सीमान्त आय (Marginal revenue) कीमत से कम होती है, इसलिए इस दशा मे सीमान्त उत्पादन का मूल्य (Value of Marginal Product) तथा सीमान्त आय उत्पादकता (Marginal Revenue Productivity) समान नहीं होगी। चूँकि पदार्थ मार्किट में अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सीमांत आय (Marginal Revenue) कीमत से कम होती है, इसलिए जब पदार्थ मार्किट में अपूर्ण प्रतियोगिता हो तो किसी साधन के सीमान्त उत्पादन का मूल्य उसकी सीमान्त आय उत्पादकता से अधिक होता है।

(क) औसत भौतिक उत्पादकता—यह हम पहले वर्णन कर चुके हैं कि 5 बढ़ई यदि 5 कुर्सियाँ बनाते हैं तो औसत भौतिक उत्पादकता 1 कुर्सी होती है।

(ख) औसत आय उत्पादकता (Average Revenue Productivity)—यह हम इस प्रकार निकालते हैं कुल उत्पादन मात्रा को बेच कर जो कुल आय होती है, उसको उत्पादन के साधन की मात्रा से भाग दिया जाता है, यह होगी औसत कुल आय उत्पादकता (Average Gross Revenue Productivity)। यदि इसमें से वह आय निकाल दी जाय जो उत्पादन के अन्य साधनो के कारण प्राप्त हुई है, तो वह उस विशेष साधन की औसत निवल आय उत्पादकता (Average Net Revenue Productivity) होगी।

औसत आय उत्पादकता तथा सीमान्त आय उत्पादकता में परस्पर सम्बन्ध वही है जो औसत और सीमान्त मात्राओं का होता है। यह सम्बन्ध इस प्रकार का है कि यदि औसत मात्रा बढ़ रही हो, तो सीमांत मात्रा उससे अधिक होती है। यदि औसत मात्रा

स्थिर रहे तो सीमांत मात्रा उसके समान होती है। यदि औसत मात्रा घट रही हो, तो सीमांत मात्रा उससे कम होती है। यही संबंध सीमांत आय उत्पादकता और औसत आय उत्पादकता में है। हम उत्पादन के सिद्धान्त के अध्ययन में बता आये हैं कि औसत भौतिक उत्पादकता वक्र (Average Physical Productivity Curve) उल्टे U की आकृति का होता है, इसलिए औसत आय उत्पादकता वक्र भी ऐसी आकृति का होगा।

वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (Marginal Productivity Theory of Distribution)

आय के कार्यानुसार वितरण (functional distribution) अर्थात् साधनों की कीमतों के निर्धारण के विषय की महत्त्वपूर्ण व्याख्या वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त द्वारा की जाती है। इस सिद्धांत के अनुसार साधनों की कीमतें उनकी सीमान्त उत्पादकताओं (marginal productivities) द्वारा निर्धारित होती हैं अर्थात् प्रत्येक साधन को उसके उपयोग के लिए उतना पुरस्कार (reward) मिलता है जितनी उसकी सीमान्त उत्पादकता होती है। (Factors are paid rewards equal to their marginal productivities)। सर्वप्रथम सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत मजदूरी के निर्धारण (Determination of Wages) की व्याख्या के लिए प्रस्तुत किया गया परंतु बाद में अन्य साधनों, भूमि, पूँजी आदि की कीमतों के निर्धारण की व्याख्या इससे की गई है। जे० बी० क्लार्क (J B Clark), जेवन्स (Jevons), विकस्टीड, वालरस (Walras), मार्शल और जे० आर० हिक्स (J R Hicks) आदि अर्थशास्त्रियों ने सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत को प्रतिपादित किया तथा इसे लोकप्रिय बनाया। स्मरण रहे कि इन सभी अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सीमांत उत्पादकता सिद्धांत समान नहीं है, इस विषय में उनके विचारों में बड़ा अंतर है। हम यहाँ पर जे बी क्लार्क (J. B Clark) तथा मार्शल द्वारा प्रस्तुत सीमांत उत्पादकता सिद्धांतों की व्याख्या करेंगे। इसके अतिरिक्त हम श्रम की मजदूरी को लेकर सीमांत उत्पादकता सिद्धांत की व्याख्या करेंगे, परन्तु यह व्याख्या अन्य साधनों की कीमतों के निर्धारण के संबंध में भी समान रूप में लागू होगी।

जे० बी० क्लार्क का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (J. B Clark's Marginal Productivity Theory)

पहले लीजिए क्लार्क द्वारा प्रतिपादित सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत। जे० बी० क्लार्क ने जो कि एक प्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री हो गुजरे हैं, यह सिद्धान्त अपनी पुस्तक *'Distribution of Wealth'* में प्रतिपादित किया। उसने अपना यह सिद्धांत पूर्णतया गतिहीन समाज (Completely Static Society) की पूर्वधारणा के आधार पर प्रतिपादित किया अर्थात् उसने जनसंख्या, पूँजी की उपलब्ध मात्रा, उत्पादन की तकनीक आदि को स्थिर मान लिया। गतिहीन अर्थव्यवस्था की पूर्वधारणा के अतिरिक्त उसने श्रम बाजार (labour market) में पूर्ण प्रतियोगिता तथा श्रम और पूँजी में पूर्ण गतिशीलता को मान कर अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

प्रत्येक विवेकशील उद्यमी अपनी पूँजी (अर्थात् मशीनों, उपकरणों आदि) की मात्रा को इस प्रकार प्रयोग करेगा जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त हो। इसके लिए वह पूँजी की उपलब्ध मात्रा के साथ उतने श्रमिक काम पर लगाएगा जितने कि उसके लिए लाभकर होंगे। एक व्यक्तिगत उद्यमी अथवा कोई उद्योग पूँजी की एक स्थिर मात्रा के साथ जैसे जैसे अधिक श्रमिक काम पर लगाता है, श्रमिकों की सीमांत उत्पादकता घटती जाती है। सीमांत उत्पादकता का अर्थ है कि एक अतिरिक्त श्रमिक को काम पर लगाने से कुल उत्पादन में कितनी वृद्धि होती है। एक उद्यमी (अथवा उद्योग) तब तक श्रमिकों को काम पर लगाता जाएगा जब तक कि उनकी सीमांत उत्पादकता (marginal productivity) प्रचलित मजदूरी की दर (wage rate) से अधिक है। उसका सन्तुलन उस स्थिति में होगा जहाँ वह इतने श्रमिक काम पर लगा रहा होगा जिससे श्रम की सीमांत उत्पादकता प्रचलित मजदूरी की दर के बराबर होगी, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसके लाभ अधिकतम होंगे। यह बात रेखाकृति 38 I से स्पष्ट

हो जाएगी जिसमे X-अक्ष पर श्रम की मात्रा और Y-अक्ष पर सीमांत उत्पादकता (Marginal Productivity) मापी गई है। रेखा MP श्रम का सीमांत उत्पादकता वक्र है। यदि प्रचलित मजदूरी की दर OW है तो उद्यमी के लिए यह लाभकर होगा कि वह अतिरिक्त श्रमिको को काम पर लगाता जाए जब तक कि उनकी सीमांत उत्पादकता घट कर OW के बराबर
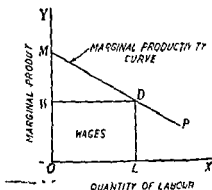
रेखाकृति 38 1

नही हो जाती। रेखाकृति 38 1 को देखने से ज्ञात होगा कि मजदूरी की दर OW पर उद्यमी OL श्रमिक काम पर लगाएगा क्योकि OL श्रमिक काम पर लगाने से ही श्रमिकों की सीमांत उत्पादकता (marginal productivity) घट कर OW के समान होती है और इससे उसके लाभ अधिकतम होते हैं। मजदूरी की प्रचलित दर OW होने पर OL से अधिक या कम श्रमिक काम पर लगाने से लाभ अपेक्षाकृत कम होंगे। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि उद्यमी उतने श्रमिक काम पर लगाएगा जितने से उनकी सीमांत उत्पादकता प्रचलित मजदूरी की दर के समान हो जाती है। स्मरण रहे कि श्रम बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता पायी जाती है। कोई व्यक्तिगत उद्यमी फर्म अथवा उद्योग अकेले मजदूरी की दर को प्रभावित नही कर सकता। इसलिए एक व्यक्तिगत उद्यमी फर्म अथवा उद्योग को केवल यह निश्चय करना होता है कि वह मजदूरी की प्रचलित दर पर कितने श्रमिक लगाए जिससे उसके लाभ अधिकतम हो सकें।

उपर्युक्त व्याख्या से यह पता नही चलता कि प्रचलित मजदूरी की दर किस प्रकार निर्धारित होती है। इसकी व्याख्या के लिए क्लार्क ने समूची अर्थव्यवस्था का उदाहरण लिया और श्रम के पूर्ण रोजगार (Full Employment of Labour) की पूर्वकल्पना की अर्थात् उसने यह मान लिया कि देश में उपलब्ध सभी श्रमिको को काम मिल जाता है। सीमांत उत्पादकता सिद्धात के अनुसार मजदूरी की वह दर निर्धारित होगी जो अर्थव्यवस्था मे श्रमिको की उपलब्ध मात्रा की सीमांत उत्पादकता के समान होगी, मजदूरी की दर के श्रमिको की उपलब्ध मात्रा की सीमांत उत्पादकता से अधिक होने पर सभी श्रमिको को काम (रोजगार) नही मिल सकेगा। परिणामस्वरूप बेकार श्रमिको की प्रतियोगिता के कारण मजदूरी की दर घट कर कुल उपलब्ध श्रमिको की सीमान्त उत्पादकता के समान हो जाएगी। और यदि मजदूरी की दर कुल उपलब्ध श्रमिको की सीमांत उत्पादकता से कम है तो उद्यमियो को अधिक श्रमिक काम पर लगाने से लाभ होगा। पर जितने श्रमिक उपलब्ध हैं वे पहले ही काम पर लगे होगे। अतएव उद्यमियों में उपलब्ध मात्रा से अधिक श्रमिक काम पर लगाने की चेष्टा के कारण मजदूरी की दर बढ कर उपलब्ध श्रमिको की सीमांत उत्पादकता के बराबर हो जाएगी। यह बात रेखाकृति 38 2 से स्पष्ट हो जाएगी। इसमे वक्र MP श्रमिको की सीमांत उत्पादकता का वक्र (marginal productivity curve) है। मान लो समूची अर्थव्यवस्था मे OL श्रम की मात्रा उपलब्ध है। OL श्रम की मात्रा की सीमांत उत्पादकता LD है। अतएव श्रमिको की मजदूरी दर LD जो कि OW के बराबर है, निर्धारित होगी, इससे कम या अधिक नही। यदि मजदूरी की दर OW' हो तो इस पर उद्यमी OL' श्रमिको को काम पर लगायेंगे क्योकि OL' श्रमिको की ही सीमांत उत्पादकता ऊँची मजदूरी की दर OW' के बराबर होगी। परिणामस्वरूप LL' श्रमिको को काम नहीं मिल पायेगा। इन बेकार श्रमिको की प्रतियोगिता के कारण मजदूरी गिर कर OW के समान हो जाएगी। इसके विपरीत, यदि मजदूरी की दर OW'' है तो उद्यमी उस पर OL'' श्रमिक काम पर लगाने को

प्रोत्साहित होंगे क्योंकि OL'' श्रमिक लगाने से ही उनकी सीमान्त उत्पादकता मजदूरी की कम दर OW'' के बराबर होगी। पर अर्थव्यवस्था में कुल OL श्रमिक ही उपलब्ध हैं। अतएव OW'' मजदूरी की दर पर उपलब्ध मात्रा से अधिक श्रमिक काम पर लगाने की चेष्टा से मजदूरी की दर बढ़ कर OW हो जाएगी जैसाकि रेखाकृति से विदित होगा। मजदूरी की दर OW उपलब्ध श्रमिकों की मात्रा OL की सीमांत उत्पादकता LD के बराबर है। अत हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मजदूरी की दर सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में उपलब्ध मात्रा की सीमांत उत्पादकता (marginal productivity) के समान निर्धारित होगी।
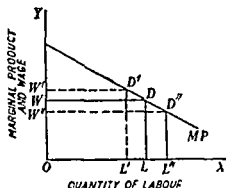
रेखाकृति 38 2

ऊपर हमने श्रमिकों की मजदूरी को लेकर सीमांत उत्पादकता सिद्धांत की व्याख्या की। यह समस्त व्याख्या भूमि के लगान और पूंजी पर ब्याज के निर्धारण पर भी समान रूप से लागू होती है। यह दोहरा देना उपयोगी होगा कि क्लार्क के सीमांत उत्पादकता सिद्धांत मे निम्न पूर्व धारणाएँ मौजूद हैं

(1) एक गतिहीन समाज की कल्पना की गई है जिसमें जनसंख्या, पूंजी के स्टाक तथा उत्पादन की तकनीक में कोई परिवर्तन नहीं होता।

(2) श्रम बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है।

(3) श्रमिक पूर्ण रूप से गतिशील हैं।

(4) पूर्ण रोजगार की स्थिति मानी गई है अर्थात् सभी उपलब्ध श्रमिकों को संतुलन की अवस्था मे काम मिल जाता है।

मार्शल और हिक्स का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (Marshall Hicks Marginal Productivity Theory)

मार्शल और हिक्स का सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत क्लार्क के सिद्धांत से कुछ भिन्न है। मार्शल के विचार म यह समझना गलत है कि श्रमिकों की मजदूरी तथा अन्य साधनों की कीमतें उनकी सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारित (determined) होती है। उनके अनुसार सीमांत उत्पादकता केवल साधनों की मांग को निर्धारित करती है अर्थात सीमांत उत्पादकता से हम केवल यह पता चलता है कि उद्यमी विभिन्न मजदूरी की दरों पर कितने श्रमिक काम पर लगाएगा अर्थात् वह कितने श्रमिकों की मांग करेगा। मार्शल और हिक्स के अनुसार मजदूरी (तथा अन्य साधनों की कीमतें) मांग और पूर्ति दोनों शक्तियों द्वारा निर्धारित होती हैं। हां, जो मजदूरी श्रमिकों के मांग वक्र और पूर्ति वक्र द्वारा निर्धारित होगी वह काम पर लगाए गए श्रमिकों की सीमांत उत्पादकता के बराबर होगी। स्पष्ट है कि जिस प्रकार मार्शल ने पदार्थों की कीमतों के निर्धारण मे मांग और पूर्ति दोनों पर बल दिया, उसी तरह मजदूरी अथवा अन्य साधनों की कीमतों के निर्धारण मे मांग और पूर्ति दोनों पक्षों को समान महत्व दिया। उनके अनुसार अन्य सीमांत मात्राओं की भांति सीमांत उत्पादकता भी कीमत (अथवा मजदूरी) के साथ ही मांग और पूर्ति की अन्तर्क्रिया द्वारा निर्धारित होती है (*According to Marshall,* wages are not *determined* by marginal products, since like all other marginal *quantities, marginal products are determined together with the wage* (i e price of a factor) by the interaction of demand and supply)। हम पुन दोहरा देना चाहते हैं कि मार्शल के सिद्धांत में भी मजदूरी का निर्धारण तो मांग और पूर्ति द्वारा होता है पर मजदूरी की दर जो भी निर्धा-

रित होगी यह वास पर लगाए गए श्रमिकों की सीमांत उत्पादकता के बराबर होगी और यह सीमांत उत्पादकता कितनी होगी यह तो काम पर लगाए गए श्रमिकों की मात्रा पर निर्भर करता है।

अब हम इस सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त, जिसके अनुसार साधनों की कीमतें मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती हैं, परन्तु उनकी सीमांत उत्पादकताओं के समान होती हैं, की सविस्तार विवेचना करेंगे। जैसे पदार्थ के बाजार में वस्तु की कीमत मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है, उसी प्रकार साधन-बाजार में साधनों की कीमत भी उनकी मांग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। पहले मांग का पक्ष लें। साधन की मांग प्रत्यक्ष मांग (direct demand) नहीं होती। वास्तव में, मांग तो वस्तुओं या पदार्थों की होती है और साधनों की आवश्यकता उन वस्तुओं के उत्पादन के लिए होती है। इसलिए साधनों की मांग वस्तुओं की मांग से निकलती है (Demand for factors is derived from the demand for the goods they produce)। इसलिए यदि वस्तुओं की मांग बढ़ जाए तो उन साधनों की मांग भी बढ़ जाती है जिनकी सहायता से उन वस्तुओं का उत्पादन होता है। हां, यदि वस्तुओं की मांग मूल्य-निरपेक्ष (inelastic) हो तो उन वस्तुओं के उत्पादन में प्रयोग होने वाले साधनों की मांग भी मूल्य निरपेक्ष होगी।

नियोक्ता (employer) की ओर से किसी साधन की मांग उस साधन की सीमान्त आय उत्पादकता (Marginal Revenue Productivity) पर निर्भर करती है। हम पहले पढ़ चुके हैं कि फर्म कीमत के अनुसार ही साधनों की मात्रा प्रयोग करेगी। रेखाकृति 38.3 में एक फर्म की सन्तुलन अवस्था दिखलाई गई है। जब साधन की कीमत OP है तो सन्तुलन E बिन्दु पर होता है और साधन की ON मात्रा की मांग होती है। उसी प्रकार OP' मजदूरी पर ON' और OP'' पर ON'' मात्रा की मांग है। अतः MRP वक्र इस फर्म द्वारा उपयोग हो रहे साधन का मांग-वक्र है (Marginal revenue productivity curve is the demand curve for a factor of production of an individual firm)

परन्तु सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में किसी एक साधन की कीमत निर्धारण के लिए हमें उस साधन की कुल मांग को देखना होगा न कि केवल उसकी एक फर्म की मांग को। हमें उस उत्पादन से सम्बन्धित उद्यम की समस्त मांग का ज्ञान होना चाहिए। इस कुल मांग का वक्र इन समस्त फर्मों की सीमान्त उत्पादकता वक्रों को जोड़कर बना सकते हैं। इस समस्त मांग वक्र को हमने रेखाकृति 38.4 (b) में DD वक्र द्वारा दिखाया है। स्पष्ट है कि Y-अक्ष का पैमाना दोनों रेखाकृतियों में
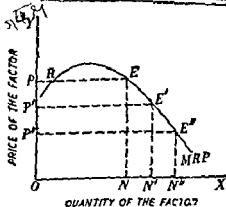
रेखाकृति 38.3

एक ही है, परन्तु X-अक्ष का पैमाना दोनों रेखाकृतियों में भिन्न भिन्न है। हम यह मान लेते हैं कि उस उद्योग में 200 फर्में हैं। OP मजदूरी पर एक फर्म की साधन की मांग ON है और सम्पूर्ण उद्योग की मांग OM है, जो $200 \times ON$ के समान है (क्योंकि फर्मों की संख्या 200 है)। इस प्रकार OP' पर फर्म की मांग ON' है और समग्र उद्योग की मांग OM' है जो $200 \times ON'$ के बराबर है और OP'' पर फर्म की मांग ON'' तथा उद्योग की मांग OM'' है जो $200 \times ON''$ के समान है, इत्यादि।

रेखाकृति 38.4 से स्पष्ट है कि मांग वक्र DD की ढाल (slope of the demand curve) बायें से दायें नीचे की ओर है। इसका कारण यह है कि MRP वक्र, जिनके योग से यह DD वक्र बनाया गया है, वह सम्बन्धित भाग (relevant portion) में दाईं ओर नीचे को झुका हुआ है। इसका अर्थ यह है कि घटते सीमांत

उत्पादकता के नियम के अनुसार जितनी ही अधिक मात्रा में साधन प्रयोग किया जाता है, उसकी सीमान्त उत्पादकता उतनी ही घटती जाती है।

पूर्ति के पक्ष के विषय मे हम बता देना चाहते हैं कि साधन की पूर्ति एक जटिल बात है। भूमि समूचे तौर पर सीमित मात्रा मे होती है, परन्तु किसी फर्म या उद्योग के लिए वह सीमित नही होती, क्योंकि किराया बढाकर अधिक भूमि प्राप्त की जा सकती है। साधारणतया हम वस्तुओ के सम्बन्ध मे देखते है कि कीमत निर्धारण के लिए इन दोनो की आवश्यकता होती है। जिस मजदूरी पर माँग की मात्रा और पूर्ति की मात्रा बराबर हो, वह मजदूरी ही बाजार मे निर्धारित हो जाती है। माँग और पूर्ति वहाँ पर बराबर होती है जहाँ माँग-वक्र और पूर्ति-वक्र एक दूसरे को काटते हैं। रेखाकृति 38 5 मे ये एक-दूसरे को बिन्दु E पर काटते है, इसलिए साधन की कीमत OP निर्धारित होगी। यदि कीमत OP' हो तो माँग मात्रा $P'S$ होगी। और पूर्ति होगी $P'H$ जो कि माँग से अधिक है।
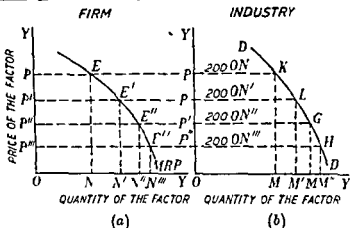
रेखाकृति 38 4 : उद्योग द्वारा साधन के मांग वक्र की व्युत्पत्ति

यदि कीमत बढ जाए तो पूर्ति भी बढ जाती है, परन्तु यह बात साधनो पर अवश्य लागू नही होती। श्रम का उदाहरण लें। कई बार यह होता है कि यदि मजदूरी बढ जाए और मजदूरो की आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँ, तो श्रम की पूर्ति कम हो जाती है। श्रम की पूर्ति का वक्र एक अवस्था के बाद पीछे की ओर मुडा हुआ (backward sloping supply curve) होता है। श्रम की पूर्ति केवल आर्थिक कारणो पर ही निर्भर नही करती, बल्कि इस पर राजनैतिक एव सामाजिक कारणो का भी प्रभाव पड़ता है। साधारणतया हम यह कह सकते हैं कि यदि साधन की कीमत बढ़ जाए तो इसकी पूर्ति बढ जाती है और इसका विलोम भी सत्य है। इस कारण पूर्ति वक्र बायें से दायें और ऊपर चढता है जिस प्रकार रेखाकृति 38 5 मे SS है।

अब हमने माँग-वक्र की भी और पूर्ति वक्र की भी व्याख्या कर ली है और उसे बना लिया है। साधना की इसलिए साधन की पूर्ति करने वालो की परस्पर प्रतियोगिता के कारण कीमत कम होकर OP पर आ जाएगी। यदि कीमत OP'' हो तो माँग $P''R$ होगी, परन्तु पूर्ति $P''Q$ होगी, जो माँग से बहुत कम है। इस दशा मे साधनो के नियोक्ताओं (employers) मे परस्पर स्पर्धा के कारण कीमत बढ कर OP हो जाएगी। इसलिए इस अवस्था मे साधन बाजार मे सन्तुलन OP की कीमत पर ही होगा तथा ON साधन मात्रा प्रयोग होगी।

साधन की कीमत उसकी माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है, परन्तु यह साधन की सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) के बराबर होती है। यह बात रेखाकृति 38 6 से आसानी से समझ आ जाएगी। रेखाकृति 38 6 (a) से स्पष्ट है कि माँग और पूर्ति के सन्तुलन से साधन की OP कीमत निर्धारित होती है। परन्तु सभी फर्म OP कीमत को

स्थिर मान कर साधन विशेष की इतनी इकाइयाँ काम पर लगाएँगी कि उनकी सीमान्त आय उत्पादकता कीमत OP के बराबर हो। रेखाकृति 38 6 (b) से विदित होगा कि एक व्यक्तिगत फर्म साधन की OP कीमत पर उसकी
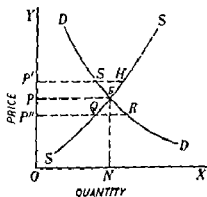
रेखाकृति 38 5
साधन की मांग और पूर्ति मे सन्तुलन

OM मात्रा प्रयोग करेगी जिस पर कि साधन की कीमत और उसकी सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) बराबर है।

सभी फर्में समान कार्यकुशल होने की स्थिति में सभी असामान्य लाभ कमा रही होंगी। परिणामस्वरूप दीर्घकाल मे मुक्त प्रतियोगिता के कारण नई फर्में प्रवेश कर जायेंगी क्योकि वर्तमान फर्में असामान्य लाभ (super-normal profits) अर्जित कर रही हैं। नई फर्मों के प्रवेश करने से श्रम की माँग बढ जाएगी। इसलिए मजदूरी की दर बढ जाएगी। इसको रेखाकृति 38 7 मे दिखाया गया है जिसमे साधन की कीमत बढ गई है। रेखाकृति 38 7 मे सतुलन के बिन्दु T पर असामान्य लाभ समाप्त हो जाते है क्योकि साधन कीमत न केवल सीमात आय उत्पादकता के बराबर है बल्कि औसत आय उत्पादकता (Average Revenue Productivity) के बराबर भी हो गई है। साधन की कीमत इससे अधिक हो, तो सतुलन T के ऊपर होगा और उस अवस्था मे मजदूरी औसत आय उत्पादकता से अधिक होगी जहाँ पर फर्म को, लाभ की बजाय हानि हो रही होगी। दीर्घकाल मे कुछ फर्में इस उद्योग को छोड कर चली जाएँगी, परिणाम-स्वरूप मजदूरी कम हो जाएगी और हानि समाप्त हो जाएगी तथा सतुलन T पर पुन स्थापित हो जाएगा। यह सतुलन दीर्घकाल की दशा मे है। इसलिए दीर्घकाल मे

रेखाकृति 38 6

फर्में अल्पकाल मे लाभ भी कमा सकती हैं और हानि भी उठा सकती है। रेखाकृति 38 6 (b) से ज्ञात होगा कि फर्म साधन की OP कीमत पर $PTGH$ के समान असामान्य लाभ अर्जित कर रही है। इसी प्रकार
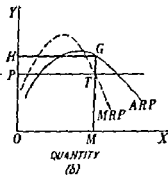
साधन के बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे सतुलन वहाँ पर होगा जहाँ AFC (average factor cost) अथवा साधन की कीमत $= MFC$ (marginal factor cost अथवा साधन की सीमात लागत) $= MRP$

(Marginal Revenue Productivity) $= ARP$ (Average Revenue Productivity)। अतएव जब साधन मार्किट मे पूर्ण प्रतियोगिता हो तो दीर्घ-

LONG RUN EQUILIBRIUM OF A FIRM IN FACTOR MARKET
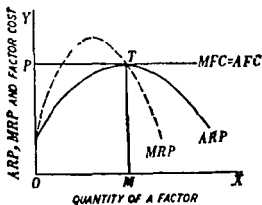
रेखाकृति 38 7

कालीन सतुलन की अवस्था मे साधन की कीमत सीमान्त आय उत्पादकता तथा औसत आय उत्पादकता दोनों के बराबर होगी।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of Marginal Productivity Theory)

वितरण के परम्परागत सिद्धान्त मे सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त एक स्तम्भ रहा है और आज भी यह यद्यपि कुछ कम कठोर रूप मे, साधन-कीमत निर्धारण के आधुनिक विश्लेषण मे एक महत्त्वपूर्ण कारक के रूप मे बना हुआ है। जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है, चूंकि इस सिद्धान्त के अनेक कथन हैं अत सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का अर्थ क्या है अथवा यह किस बात की व्याख्या करता है, निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है। इस सिद्धान्त की अनेक आलोचनाओ का श्रेय इसके समर्थको द्वारा दी गई परस्पर विरोधी व्याख्याओं को दिया जा सकता है। उदाहरण के लिये इस सिद्धान्त के कुछ प्रवक्ताओं का यह विश्वास था कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत से उन्होंने न केवल आय के वितरण की वर्तमान प्रणाली की व्याख्या करने अथवा उस तरीके को जिसके अनुसार साधन मूल्य निर्धारित होते हैं, समझने मे ही सफलता प्राप्त की वरन् वे इस सिद्धांत की नैतिक वाछनीयता को भी प्रदर्शित करने मे सफल हुए। दूसरे शब्दों में, उनका विचार था कि साधनो की कीमतें सीमांत उत्पादकता द्वारा केवल निर्धारित ही नही होती बल्कि साधनों का प्रतिफल उनकी सीमांत उत्पादकता के अनुसार दिया भी जाना चाहिए। उनकी दृष्टि से साधनो की कीमतें न केवल सीमात उत्पादकता द्वारा तथा इसके बराबर निर्धारित ही होती है वरन् सामाजिक दृष्टि से यह उचित तथा नैतिक दृष्टि से वाछनीय भी है कि विभिन्न साधनो को भुगतान कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे उनके अशदान के समान, अर्थात् उनकी सीमांत उत्पादकता के बराबर किया जाय।

सीमांत उत्पादकता सिद्धात का उचित रीति से मूल्याकन करने के लिये यह ध्यान देना उपयोगी है कि सीमांत उत्पादकता सिद्धांत के कम-से-कम दो दृष्टिकोण—क्लार्क का तथा मार्शल का—हैं जो मुख्य रूप से अपने अन्तर्भाव मे भिन्न-भिन्न हैं। सीमांत उत्पादकता सिद्धांत सबधी क्लार्क की व्याख्या बतलाती है कि दीर्घकाल मे तथा प्रतियोगी सतुलन एव स्थिर साधन पूर्ति की दशाओ के अन्तर्गत, साधन-मूल्य सीमांत उत्पादकता द्वारा निर्धारित होते हैं तथा विभिन्न प्रयोगो मे एक साधन की कीमतो के समान होने की प्रवृत्ति पायी जायेगी। दूसरी ओर मार्शल की व्याख्या यह कहती है कि किसी साधन की माँग उसके सीमांत उत्पादन द्वारा निर्धारित होती है। तथापि मार्शल की व्याख्या मे भी सन्तुलन की अवस्था मे एक साधन की कीमत इसके सीमान्त उत्पादन के बराबर होगी तथा साधन की इसके विभिन्न प्रयोगो मे कीमतें दीर्घकाल मे बराबर होने की प्रवृत्ति रखती हैं।

क्लार्क के सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्शल का नियम समाहित है तथा मार्शल की अपेक्षा यह अधिक विस्तृत होने का दावा करता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे मार्शल का 'नियम' जिसे हमने अपने ऊपर के विश्लेषण मे एक 'सिद्धान्त' (Theory) के बदले सीमांत उत्पादकता-नियम (Principle) कहना पसन्द किया था, अब भी साधन-कीमत निर्धारण के आधुनिक सिद्धांत

सीमांत उत्पादकता की धारणा पूर्णत भ्रामक है । साथ ही यह कि उनके पारिश्रमिक की व्याख्या केवल 'शक्ति सरचना' (Power structure) द्वारा ही की जा सकती है । उन्ही के शब्दो मे, 'अधिकारियो तथा कार्यकारी स्टाफ का पारिश्रमिक एव अन्य तरीके से निश्चित होता है । सामाजिक परम्परा, 'शक्ति सरचना' तथा पद एव प्रतिष्ठा के विचार सीमांत उत्पादकता की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं तथा यही बात उन लोगो के लिये भी सही होती है जो किसी उद्योग मे कार्य नहीं करते हैं । उदाहरण के लिये शिक्षक (अर्थशास्त्र के ज्ञान के योगदान मे उसकी सीमांत उत्पादकता क्या है) तथा चिकित्सक (एक मानव जीवन की क्या सीमांत उत्पादकता है) । ये वे क्षेत्र हैं जिनमे उत्पादन के व्युत्पन्न (Derivatives of Production) की तुलना म दूसरे नियम लागू होते है । अर्थशास्त्री प्राय इसे भूल जाते है ।" [Remuneration of executives and staff work are fixed in another way social conventions, the power structure considerations of prestige and status play a much larger part than marginal productivity *And that also holds* good for the remuneration of the people not working in industry of teachers for instance (what is the marginal productivity of a contribution to the knowledge of economics ?) and of doctors (what is the marginal productivity of a human life ?) These are the sectors in which other laws apply than the derivatives of production Economists often forget this '][1]

निष्कर्ष—ऊपर हमने वितरण के सीमांत उत्पादकता सिद्धांत के विरुद्ध की गयी विभिन्न आलोचनाओ की व्याख्या की है । वितरण का सीमांत उत्पादकता सिद्धात सभी साधन कीमतों के निर्धारण की पूर्णत व्याख्या नही करता है । परन्तु किसी एक साधन की सीमांत उत्पादकता साधनो की कीमतों को शासित करने वाला महत्त्वपूर्ण आर्थिक कारक है । अन्य कारक, जैसे शक्ति, सामाजिक परम्पराएँ, पद एव प्रतिष्ठा साधनो के प्रतिफल के निर्धारण मे भूमिका निभाते तो है किन्तु सीमांत उत्पादकता का आर्थिक तत्त्व साधन-प्रतिफल के निर्धारण पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है ।

1 *Op cit* p 86

क्रय एकाधिकार मे साधनो का कीमत निर्धारण
(Factor Pricing under Monopsony)

सीमांत उत्पादकता सिद्धांत साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की पूर्व धारणा पर आधारित है । जब साधन बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता होती है तो सन्तुलन मे साधन की कीमतें उसकी सीमांत आय उत्पादकता (*MRP*) के समान नही होतीं । अब हम यह
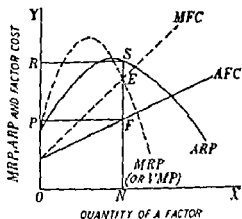
रेखाकृति 39 8
क्रय एकाधिकार मे साधनो का कीमत निर्धारण

स्पष्ट करेंगे कि (जब साधन बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती हो, तो साधन की कीमत किस प्रकार निर्धारित होती है तथा उसकी सीमान्त आय उत्पादकता (marginal revenue productivity) से क्या सम्बन्ध होता है । यहाँ पर अपूर्ण प्रतियोगिता की एक चरम सीमा वाली दशा क्रय एकाधिकार (Monopsony) का विवेचन करेंगे । साधन क्रय के क्षेत्र मे एकाधिकार (Monopsony) उस स्थिति को कहते है जब साधन खरीदने वालों का एकाधिकार हो या खरीदने वाला एक ही हो । अब स्पष्ट करें कि एक

विशेष प्रकार का साधन खरीदने वाला एक ही नियोजक (sole employer) है। स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता के विपरीत इस अवस्था मे नियोजक मजदूरी की दर को प्रभावित कर सकता है, अर्थात् साधन की कीमत घटा-बढ़ा सकता है। यह बात भी समझनी आसान ही है कि यदि उसकी साधन की माँग अधिक हो जाय तो उसे अधिक मजदूरी देनी पड़ेगी। इसलिए साधन की औसत लागत अथवा कीमत (Average Factor cost) वक्र AFC बायें से दायें को ऊपर की ओर चढ़ता है और सीमांत साधन लागत वक्र (Marginal Factor Cost Curve) MFC इसके ऊपर होता है। रेखाकृति 38 8 मे ARP औसत आय उत्पादकता (Average Revenue Productivity) का वक्र है और MRP सीमांत आय उत्पादकता (Marginal Revenue Productivity) का वक्र है।

इस दशा मे फर्म का सन्तुलन वहाँ होगा जहाँ सीमांत साधन लागत (MFC) और सीमांत आय उत्पादकता (MRP) आपस मे बराबर हो। ये E बिंदु पर समान हैं क्योंकि इस बिंदु पर ये दोनो वक्र MFC और MRP परस्पर काटते हैं। अत नियोजक का सतुलन बिंदु E पर होगा और वह ON साधन की इकाइयाँ काम पर लगाएगा। इस संतुलन की दशा म आप देखेंगे कि साधन की औसत कीमत OP अथवा NF निर्धारित हुई है जो सीमांत आय उत्पादकता (MRP), जो इस रेखाकृति मे NE है, से कम है। इसका अर्थ यह है कि साधन नियोक्ता के लिए उत्पादन तो अधिक करते है, परन्तु नियोक्ता उन्हे कीमत कम देता है। इससे नियोक्ता को अनुचित लाभ प्राप्त होता है या वह उनका शोषण (exploitation) करता है। अर्थशास्त्री इसको क्रय एकाधिकारिक शोषण (Monopsonistic Exploitation) कहते हैं। यह बात आसानी से समझ मे आ सकती है कि यदि पूर्ण प्रतियोगिता न हो और नियोक्ता (employer) का एकाधिकार हो, तो स्वभावत वह श्रमिकों व अन्य साधनो का शोषण करेगा और मजदूरी कम देगा। इसलिए क्रय एकाधिकार (monopsony) या अपूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था मे श्रम का शोषण (exploitation of labour) होगा।

साधन बाजार मे क्रय एकाधिकार तथा पदार्थ बाजार में एकाधिकार अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता (Monopsony in the Factor Market and Monopoly or Imperfect Competition in the Product Market)

ऊपर साधनो की कीमतो के निर्धारण की विवेचना, उस स्थिति मे की जब कि साधन बाजार मे क्रय एकाधिकार हो किन्तु पदार्थ बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती हो। अब प्रश्न है कि जब साधन बाजार मे क्रय एकाधिकार के साथ पदार्थ मार्केट मे भी एकाधिकार अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता पायी जाती हो, साधनो की कीमत किस प्रकार निश्चित होगी। इस स्थिति मे भी फर्म सन्तुलन मे तब होगी जब सीमांत आय उत्पादकता तथा सीमांत साधन लागत परस्पर समान होंगी ($MRP = MFC$)। किन्तु अब जबकि पदार्थ बाजार मे एकाधिकार (अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता) है, सीमांत आय उत्पादकता (MRP) सीमांत उत्पादन के मूल्य (Value of Marginal Product or VMP) के बराबर नही होगी। चूंकि इस स्थिति मे भी, ऊपर की तरह साधन मार्केट मे क्रय-एकाधिकार है, सीमांत साधन लागत (MFC) वक्र, औसत साधन लागत (AFC) वक्र के ऊपर स्थित होगा।

ऐसी फर्म-जिसको साधन बाजार मे क्रय-एकाधिकार तथा पदार्थ बाजार मे एकाधिकार प्राप्त हो की सन्तुलन स्थिति रेखाकृति 38 9 मे प्रदर्शित की गयी है। इस रेखाकृति पर दृष्टि डालने से ज्ञात होगा कि फर्म बिंदु E जहाँ पर कि सीमांत आय उत्पादकता (MRP) तथा सीमांत साधन लागत परस्पर बराबर है सन्तुलन मे है और इसके तदनुरूप साधन की ON इकाइयाँ नियोजित (employ) की जा रही हैं। सतुलन स्थिति मे साधन की FN कीमत निर्धारित हुई है जो MRP तथा VMP दोनो से कम है। इस प्रकार नयी स्थिति मे फर्म के सतुलन की शर्तें को निम्न प्रकार लिख सकते हैं —

$$VMP > MRP = MFC > P_f$$

जहाँ P_f साधन की कीमत का सूचक है।

स्पष्ट है कि साधन बाजार मे क्रय एकाधिकार तथा पदार्थ बाजार मे एकाधिकार (Conditions of

का केन्द्र है हालांकि अधिक समाविष्ट है, क्लार्क का सिद्धान्त, जो केवल एक-पक्षीय है, त्याग दिया गया है। नीचे हम सीमांत उत्पादकता सिद्धांत के विरुद्ध उठायी गयी विभिन्न आपत्तियों का विस्तार से वर्णन करेंगे तथा यह बतायेंगे कि कौन सी आपत्तियाँ मान्य हैं तथा कौन सी सिद्धांत का गलत अर्थ लगाने के कारण दी गयी हैं और इस प्रकार भूल से उन पर विश्वास कर लिया गया है। अधिकांश आलोचनाएँ क्लार्क की व्याख्या को लक्ष्य कर के की गयी हैं परन्तु कुछ आपत्तियाँ सीमांत उत्पादन की मूल धारणा पर ही उठायी गयी हैं और इस तरह वे मार्शल के सीमांत उत्पादकता सिद्धांत, जो साधन कीमत-निर्धारण के आधुनिक सिद्धांत का मूलभूत सिद्धांत है, पर लागू होती हैं।

1 बहुधा यह तर्क दिया जाता है कि सीमांत उत्पादकता सिद्धांत ऐसी अनेक पूर्वधारणाएँ करता है जो अवास्तविक होती हैं। इसीलिए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि इस सिद्धांत में प्रामाणिकता नहीं है। सीमांत उत्पादकता सिद्धांत (क्लार्क का व्याख्यान्तर) गतिहीन व्यवस्था, पूर्ण प्रतियोगिता, साधनों की पूर्ण गतिशीलता, क्रेताओं और विक्रेताओं की समान सौदाकारी की शक्ति तथा पूर्ण ज्ञान की पूर्वधारणा करता है जो वास्तविक जगत की प्रचलित दशाओं से दूरस्थ होती हैं। वास्तविक जगत स्थैतिक नहीं होता बल्कि इसमें निरन्तर विकास होते रहते हैं जो वास्तविक जगत को प्रावैगिक बना देते हैं। वास्तविक जगत में पूर्ण प्रतियोगिता भी नहीं पायी जाती है। बाजार में अत्यधिक अपूर्णताएँ होती हैं, जो पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित साधन के मूल्य निर्धारण के किसी भी विश्लेषण को पूर्णतया निरर्थक बना देती हैं। साधन सेवाओं के क्रेताओं एवं विक्रेताओं, उदाहरण के लिए नियोक्ता तथा श्रमिक की सौदाकारी की शक्ति भी बराबर नहीं होती है। फलतः कमजोर पक्ष के शोषण की सम्भावना बनी रहती है।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के एक प्रमुख समर्थक प्रो० पाल डगलस[1] ने सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त द्वारा अपनायी गयी पूर्वधारणाओं की निम्नलिखित सूची प्रस्तुत की है .

(i) नियोक्ता किसी साधन के सीमान्त उत्पादन का माप एवं पूर्वानुमान करने में सक्षम होते हैं।

(ii) नियोक्ताओं में स्वतन्त्र एवं पूर्ण प्रतियोगिता होती है।

(iii) श्रमिक को अपनी सीमान्त उत्पादकता की जानकारी होती है।

(iv) श्रमिकों में रोजगार के लिये स्वतन्त्र एवं पूर्ण प्रतियोगिता होती है।

(v) पूंजी पूर्णतया गतिशील होती है।

(vi) श्रम पूर्णतया गतिशील होता है।

(vii) सभी श्रमिक रोजगार संलग्न होते हैं।

(viii) सभी पूंजी पूर्णत नियोजित (Employed) होती है।

(ix) श्रमिक तथा प्रबन्ध की सौदाकारी की शक्ति बराबर होती है।

(x) मजदूरी सम्बन्धी समझौतों में सरकार हस्तक्षेप नहीं करती है।

इन मान्यताओं के अन्तर्गत प्रथम दृष्टि से कोई यह धारणा बना सकता है कि एक सिद्धान्त जो इस प्रकार की अवास्तविक मान्यताओं की कल्पना करता है, शायद ही उपयोगी हो। परन्तु प्रो० डगलस ने इस सिद्धान्त की पुष्टि में सशक्त तर्क प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने यह इंगित किया है कि अधिकांश पूर्वधारणाएँ दीर्घकालीन वास्तविक बाजार दशाओं का यथोचित विवरण प्रस्तुत करती हैं तथा इस प्रकार यह सामान्यतया दीर्घकाल में लागू होता है।

2 सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (दोनों क्लार्क एवं मार्शल हिक्स व्याख्यान्तर) के विरुद्ध दूसरी महत्त्वपूर्ण आलोचना यह है कि साधन एवं वस्तु-बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की पूर्वधारणा पर आधारित होने के कारण यह सिद्धान्त अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत साधन एवं वस्तु बाजार में साधनों के मूल्य निर्धारण की व्याख्या करने में असमर्थ है। जैसा कि हम ऊपर पढ़ चुके हैं, चैम्बरलिन एवं श्रीमती जोन रॉबिन्सन

1 Paul Douglas, *Theory of Wages*, p 68

द्वारा एकाधिकारिक प्रतियोगिता तथा अपूर्ण प्रतियोगिता के सिद्धान्त के विकास के बाद सीमान्त उत्पादकता की दो धारणाएँ, क्रमश 'सीमान्त आय उत्पादन' (*MRP*) तथा सीमान्त उत्पादन का मूल्य' (*VMP*) विकसित हुई। अत जब वस्तु बाजार म अपूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित हो (साधन बाजार म पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता के साथ) तो उत्पादन के साधन को, सीमान्त उत्पादन के मूल्य के बराबर पारिश्रमिक जैसा कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त म सामान्यतया मान लिया गया है प्राप्त नही होता है। वस्तु बाजार म अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत उत्पादन के एक साधन को उसका पुरस्कार एक पृथक सिद्धान्त के अनुसार दिया जाता है वह है सीमान्त-आय उत्पादन' (*MRP*) जो 'सीमान्त उत्पादन के मूल्य' की अपेक्षा कम होता है। श्रीमती जोन राबिन्सन[1] के अनुसार यदि किसी साधन को उसके सीमान्त उत्पादन के मूल्य से कम पुरस्कार दिया जाता है तो उसका शोषण होता है जबकि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त मे (जैसा कि यह नव प्रतिष्ठित आर्थिक विचारो म प्रस्तुत किया गया था) कुल उत्पादन का उचित एव न्यायपूर्ण वितरण होता है अर्थात् प्रत्येक साधन कुल उत्पादन म अपने योगदान के बराबर हिस्सा पाता है।

अत हमारा यह विचार है कि वस्तु बाजार म अपूर्ण प्रतियोगिता के सन्दर्भ म सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त मे सशोधन की आवश्यकता है।

3 यदि साधन बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा क्रय एकाधिकार प्रचलित हो तो एक साधन अपने सीमान्त आय उत्पादन (*MRP*) के बराबर भी पुरस्कार नही पायेगा। साधन बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा क्रय-एकाधिकार अथवा क्रय-अल्पाधिकार के अन्तर्गत सन्तुलन म होने के लिये फर्म श्रम की सीमान्त मजदूरी को श्रम के सीमान्त आय उत्पादन (*MRP*) क बराबर करेगी और, जैसा कि आगे चलकर देखा जायेगा, यह सीमान्त मजदूरी, औसत मजदूरी अथवा श्रम को दी जाने वाली मजदूरी दर से अधिक होती है। अगले अध्याय मे हम इसका रेखाकृति द्वारा प्रस्तुतीकरण करेंगे कि क्रय एकाधिकार के अन्तर्गत निर्धारित मजदूरी दर श्रम के सीमान्त आय उत्पादन (*MRP*) से भी कम कैसे होती है। जब किसी साधन को उसके सीमान्त आय उत्पादन से कम पुरस्कार दिया जाता है तो श्रीमती जोन राबिन्सन[2] इसे क्रय-एकाधिकारिक शोषण (Monopsonistic Exploitation) कहती है। अत हम देखते है कि क्रय-एकाधिकार या अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत साधन अपने सीमान्त आय उत्पादन (*MRP*) के बराबर पुरस्कार प्राप्त नही करते है। सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त, जैसा कि यह मार्शल-हिक्स द्वारा प्रस्तुत किया गया है, श्रम अथवा उत्पादन के किसी अन्य साधन के शोषण की सम्भावना को दृष्टिगत नही करता है।

4 सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की एक गम्भीर त्रुटि यह है कि यह उन साधनो के पुरस्कार की व्याख्या करने म असमर्थ रहता है जिनका प्रयोग निश्चित अनुपातो मे होता है। सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त इस बात को एक स्वीकृत तथ्य मानता है कि उत्पादन के साधनो के बीच प्रतिस्थापन सापेक्षता पर्याप्त मात्रा मे होती है जिससे अन्य साधनो की मात्रा यथावत् रखते हुए एक साधन की मात्रा म वृद्धि से कुल उत्पादन मे अतिरिक्त वृद्धि होती है अर्थात् इसमे धनात्मक सीमात उत्पादकता होती है और इसीलिए उत्पादन मे अपने योगदान के लिये धनात्मक पुरस्कार इसे मिलता है। परन्तु ऐसी स्थिति मे जब कि साधनो का प्रयोग एक निश्चित अनुपात मे किया जाता है, अन्य साधनो को यथावत् रखते हुए एक साधन की मात्रा मे वृद्धि कुल उत्पादन की मात्रा मे किसी प्रकार की वृद्धि नही ला सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि निश्चित अनुपातों अथवा साधनो के बीच निश्चित सम्बन्धो की दशा मे साधन की सीमान्त उत्पादकता शून्य होगी। उनकी शून्य सीमान्त उत्पादकता की दृष्टि से तो सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार उनका पुरस्कार अथवा कीमतें शून्य होनी चाहिए। परन्तु इस तरह का विचार अनुचित है उत्पादन के साधन जब एक दूसरे से निश्चित

1 Joan Robinson, *Economics of Imperfect Competition*, p 283

2 *Ibid*, p 295

अनुपात में होते हैं तो भी धनात्मक पुरस्कार प्राप्त करते है। प्रो० जे० पेन के शब्दो मे, 'यदि श्रम एव पूँजी के बीच सम्बन्ध पूर्णरूपेण निश्चित होता—जैसा कि बहुत से लोग इसे मानते हैं—तो वितरण का परम्परागत सिद्धात समाप्त हो जायेगा क्योंकि यदि L (अर्थात् श्रम) तथा K (अर्थात् पूँजी) के बीच सम्बन्ध निश्चित है, तो दोनो की सीमात उत्पादकताएँ शून्य होगी। पूँजी की मात्रा को यथावत् रहने पर श्रम की एक इकाई मे अतिरिक्त वृद्धि किसी प्रकार का उत्पादन नही करती है। इसी प्रकार श्रम की एक अतिरिक्त इकाई के बिना पूँजी मे अतिरिक्त वृद्धि भी कोई उत्पादन नही देगी। ऐसी स्थिति मे मजदूरी तथा ब्याज दोनो शून्य होंगे। सचमुच मे यह एक गलत बात है, वस्तुत L तथा K के बीच निश्चित सम्बन्ध होने के बावजूद मजदूरी दर तथा ब्याज दर का अस्तित्व अवश्य होता है परन्तु इनकी विवेचना के लिये सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त उपयुक्त नही होगा। इसके लिये किसी अन्य सिद्धात का आश्रय लेना आवश्यक है।" [If the relation between labour and capital were fully fixed—as many people think it is—the traditional distribution theory would collapse For if the relation between L (i e, Labour) and K (i e capital) is fixed, the marginal product of both is zero An addition of a unit of labour, with equipment constant, yields nothing, any more than an extra amount of capital, without the addition of labour, would In such a case the wage would also be zero and also the interest That is of course nonsense, in fact a wage rate and an interest rate come about even with fixed relations between L and K, but the marginal productivity theory is no longer suitable for explaining them Recourse must then be had to other principles "][1]

1 *Op cit*, p 82

5. सीमात उत्पादकता सिद्धात का एक और गम्भीर दोष यह है कि इसके मौलिक एव दृढ व्याख्यान्तर मे श्रम सघ अथवा सामूहिक सौदाकारी बिना बेरोजगारी उत्पन्न किये श्रमिको की मजदूरी को ऊँचा नही कर सकती है। अत इस सिद्धात के अनुसार श्रम सघ अनावश्यक है तथा उनके द्वारा की जाने वाली सामूहिक सौदाकारी एक निरर्थक क्रिया है। सीमात उत्पादकता वक्र के नीचे की ओर गिरती प्रकृति के दिये होने पर, श्रम सघ द्वारा प्राप्त ऊँची मजदूरी होने पर उद्यमकर्त्ता पूर्व की अपेक्षा कम मात्रा मे श्रम की माँग करेगा अथवा कम श्रमिको को काम पर लगायेगा। फलत कुछ श्रमिक बेरोजगार हो जायेंगे। परन्तु जैसा कि हम आगे के अध्याय मे देखेंगे, श्रम सघो द्वारा मजदूरी की वृद्धि हमेशा बेरोजगारी को जन्म नही देती है। वस्तुत वहाँ हम अध्ययन करेंगे कि क्रय-एकाधिकार की दशा मे श्रम सघ द्वारा मजदूरी दर मे वृद्धि के साथ-साथ बेरोजगारी उत्पन्न होने के बजाय रोजगार मे और भी वृद्धि होती है। जैसा कि ऊपर देखा गया, वस्तु एव साधनो के बाजार म अपूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ के अन्तर्गत श्रम (या कोई भी अन्य साधन) शोषित होता है अर्थात् इसे भुगतान इसके सीमात उत्पादन के मूल्य अथवा इसके सीमात आय उत्पादन से कम दिया जाता है। इस सदर्भ मे श्रम सघ मजदूरी दरो को सीमात उत्पादन के मूल्य (VMP) अथवा सीमात आय उत्पादन (MRP) स्तर तक ऊँचा उठाकर श्रम के शोषण को समाप्त करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते है।

6 सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की आलोचना इसके समष्टिपरक आर्थिक क्षेत्र मे प्रयोग तथा इस सम्बन्ध मे निकाले गये त्रुटिपूर्ण निष्कर्षों के लिये भी की गयी है। 1929-33 की कष्टप्रद मन्दी एव बेरोजगारी के समय प्रसिद्ध नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री प्रो० ए० सी० पीगू ने सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के आधार पर यह तर्क प्रस्तुत किया था कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे श्रम की मजदूरी म कटौती रोजगार की मात्रा को बढायेगी क्योंकि श्रम के गिरते हुए सीमान्त आय उत्पादकता वक्र के दिये होने पर नीची मजदूरी दर पर अधिक श्रमिकों को काम पर लगाया जायेगा तथा

अर्थव्यवस्था मन्दी के क्रूर पजो से बाहर निकलने मे समर्थ होगी। जे० एम० केन्ज ने उपर्युक्त तर्क को सफलतापूर्वक चुनौती दी। उनके अनुसार एक एकाकी उद्योग अथवा फर्म की दशा मे, जो मान्य (valid) है वह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिये मान्य नही हो सकता। उन्होने इस समस्या के समष्टिपरक दृष्टिकोण के पक्ष मे तर्क दिया जिसके अनुसार मजदूरी किसी फर्म या उद्योग की उत्पादन लागत ही नही होती बल्कि श्रमिको के लिये आय भी होती है, जो समाज के बहुमत का निर्माण करते हैं। अत: केन्ज के अनुसार यदि श्रमिको की मजदूरी मे सर्वव्यापी कटौती की जाती है, तो उनकी आय कम हो जायेगी जो फलत: वस्तुओ की कुल माँग मे कमी उत्पन्न कर देगी। कुल माँग मे इस गिरावट का अर्थव्यवस्था मे रोजगार के अवसरो तथा उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। केन्ज के अनुसार इस प्रकार मजदूरी मे कटौती बेरोजगारी एव मन्दी को दूर करने के बदले इन्हें और गहन बना देगी। अत: हम देखते हैं कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का समष्टिपरक स्तर पर प्रयोग अत्यधिक गलत तथा अमान्य परिणामो को जन्म देता है।

7. सीमान्त उत्पादकता सिद्धात साधनो के पुरस्कार एव उनकी उत्पादकता के बीच धनात्मक परस्पर-सम्बन्धों (विशेषकर मजदूरी एव श्रम की कार्यक्षमता अथवा उत्पादकता के बीच) की भी उपेक्षा करता है। हम इस बात का सकेत पहले दे चुके हैं कि मजदूरी मे वृद्धि का श्रम की कार्यक्षमता एव श्रम की उत्पादकता पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। ऊँची मजदूरियो से श्रमिक बेहतर जीवन-स्तर तथा बेहतर स्वास्थ्य बनाये रख सकते हैं जो आगे चलकर उनकी उत्पादकता तथा कार्यक्षमता को बढ़ायेगा। मजदूरी एवं श्रम की कुशलता के बीच इस प्रकार का धनात्मक सम्बन्ध विशेष रूप से अविकसित देशो जैसे भारतवर्ष की स्थिति मे अधिक सही होता है जहाँ अनेक उद्योगो मे प्रचलित मजदूरी दरें न्यूनतम जीवन-निर्वाह स्तर से भी नीचे होती हैं। जीवन-निर्वाह स्तर से भी नीची मजदूरी से श्रमिक आधे-पेट भोजन पाते हैं तथा अल्पपोषित रह जाते हैं जिससे फलत वे अस्वस्थ तथा अकुशल हो जाते हैं। यदि मजदूरी मे वृद्धि के बाद श्रम की कुशलता एव उत्पादकता मे सुधार होता है तब उद्यमकर्त्ता के दृष्टिकोण से मजदूरी मे वृद्धि करना उपयुक्त हो सकता है। इसलिए कभी-कभी यह निश्चयपूर्वक कहा गया है कि "ऊँची मजदूरियाँ मितव्ययितापूर्ण होती हैं" अथवा "ऊँची मजदूरियो की मितव्ययिता होती है।" परन्तु जैसा कि ऊपर व्यक्त किया गया है सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त ऊँची मजदूरियो के श्रम की उत्पादकता पर इस अनुकूल प्रभाव की पूर्णतया उपेक्षा करता है।

अब यदि ऊँची मजदूरी के श्रम उत्पादकता पर अनुकूल प्रभाव को स्वीकार कर लिया जाय तब सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त मे स्थापित मजदूरी सन्तुलन का विशिष्ट स्तर मान्य नही होगा। मजदूरी दर मे प्रत्येक वृद्धि से श्रम की सीमात उत्पादकता का भिन्न वक्र तथा मजदूरी-रोजगार सन्तुलन भी भिन्न होगा। अत उत्पादकता एव कुशलता पर आश्रित मजदूरी सन्तुलन की अनेक स्थितियाँ होगी तथा फर्म अथवा उद्योग के लिये इनमे से किसी एक का चुनाव करने का विकल्प रहेगा। जैसा कि सीमांत उत्पादकता सिद्धात के दृढ एव कठोर व्याख्यातर का दावा है कि एक अनन्य मजदूरी सतुलन होता है, वह स्वीकार्य नही है।

8 वस्तु के मूल्य-निर्धारण के नव-प्रतिष्ठित सिद्धात की भाँति ही वितरण का सीमात उत्पादकता सिद्धान्त भी, जो नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो द्वारा विकसित किया गया है, एक सीमातवादी दृष्टिकोण है तथा इसी कारण यह मान लेता है कि उद्यमी या नियोक्ता अपने लाभ को अधिकतम करना चाहते हैं। यदि नियोक्ता 'लाभ अधिकतम करने वाले' हैं तभी वे मजदूरी को श्रम की सीमात उत्पादकता के बराबर करेंगे। यदि वे अपना लाभ अधिकतम नही करना चाहते हैं तब वे श्रम की उस मात्रा को रोजगार में लगायेंगे जिस पर श्रम की सीमान्त उत्पादकता मजदूरी की अपेक्षा अधिक होती है। इसी प्रकार वे श्रमिको को उस सख्या मे काम पर लगा सकते हैं जिस पर सीमात उत्पादकता मजदूरी से भी नीची हो। जिस प्रकार हाल एव हिच ने सीमातवादी दृष्टिकोण, जैसा कि यह

वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण म प्रयुक्त होता है, की आलोचना इस आधार पर की है कि उद्यमी लाभ को अधिकतम नहीं करते है, उसी तरह अमेरिकन अर्थशास्त्री आर० ए० लेस्टर[1] ने वितरण क सीमात उत्पादकता सिद्धात की आलोचना इस आधार पर की है कि उद्यमी एक लाभ अधिकतम करने वाले व्यक्ति के रूप मे व्यवहार नही करते हैं तथा इस कारण से वास्तविक जगत मे मजदूरियाँ श्रम की सीमात उत्पादकता से भिन्न होती हैं। लेस्टर ने अपने मत की पुष्टि क लिये अनुभवगम्य प्रमाण भी प्रदान किया है। परन्तु मैकलप[2] एव पेन[3] ने वितरण के सीमात उत्पादकता सिद्धात का तथा लाभ-अधिकतम की पूर्वधारणा जिस पर यह सिद्धात आधारित है, का समर्थन किया है। पेन के शब्दो मे, "प्रत्येक उद्यमी के लिये सन्तुलन की सही स्थिति को प्राप्त करने मे समर्थ होना आवश्यक नहीं है, कुछ श्रम एव सीमात उत्पादन की समानता का अतिलंघन करेंगे तो कुछ इससे नीचे ही बने रहेंगे। फिर भी प्रवृत्ति समानता की ओर होती है। इस अर्थ मे यह सिद्धात 'समानता' की ओर काफी समीपता प्रदान करता है परन्तु इस रूप मे भी शायद यह बुरा नही है।" [It is not necessary for every entrepreneur to be able to find the exact point of equilibrium, some will overshoot the equality of wage and marginal product, others will remain below it However the trend is towards equality In this sense the theory gives only a rough approximation of equality, but as such it is probably not bad ")[4]

9 सीमात उत्पादकता सिद्धान्त पर आपत्ति इस आधार पर भी उठायी गयी है कि यह इस बात को मानकर चलता है कि उद्यमियो को अपने उत्पादन फलन की पूरी जानकारी होती है या दूसरे शब्दो मे वे यह जानते हैं कि विभिन्न साधनो की सीमान्त उत्पादकताएँ क्या हैं तथा वे अपने रोजगार के विस्तार के साथ किस प्रकार परिवर्तित होती हैं। अनुभवगम्य जाँचों मे उद्यमियो से जब यह पूछा गया कि क्या वे विभिन्न साधनो को रोजगार में लगाने के लिये उनकी सीमान्त उत्पादकताओ का अनुमान लगाते हैं तथा इस पर विचार करते हैं तो उन्होने साफ इन्कार कर दिया। वे आर्थिक जाँचकर्ता के प्रश्नो का उत्तर सामान्यत निम्नलिखित रूप मे देते हैं: "देखिये आप कह रहे हैं कि मैं मानसिक प्रक्रियाएँ करता हूँ तथा गणनाएँ करता हूँ परन्तु मैं यह नहीं करता और वस्तुत यदि करना भी चाहूँ तो नही कर सकता क्योंकि मैं जानता ही नही कि उत्पादन-फलन क्या है। आपका सम्पूर्ण वितरण सिद्धान्त एक ऐसी चीज है जिसे आपने स्वय बना लिया है। यह सब बहुत ही सुकल्पित है परन्तु इसमे न तो कोई तुक है और न ही कोई प्रयोजन" ['Look, you are telling that, I perform mental processes and calculat ons that I don't perform and in fact could not perform if I wanted to, because I do not know the production function. Your whole distribution theory is something you have made up It's all very ingenious but there's no rhyme or reason to it "][5]

परन्तु अनेक अर्थशास्त्रियो ने उपर्युक्त तर्क का यह बताते हुए उत्तर देने का प्रयास किया है कि उद्यमी भले ही चेतन रूप से विभिन्न साधनों की सीमात उत्पादकताओ की गणना तथा उसके अनुसार निर्णय न लेते हों परन्तु अचेतन अथवा अवचेतन रूप से वे सीमात उत्पादकता की युक्ति के अनुसार व्यवहार अवश्य करते हैं क्योंकि वे लाभ अधिकतम करने के लिये ही उत्पादन मे आते हैं। आगे वे यह इंगित करते हैं कि प्रतियोगिता की शक्ति उन्हे सीमात उत्पादकता सिद्धात के अनुरूप व्यवहार करने के लिये बाध्य करती

1 R A Lester, Shortcomings of Marginal Analysis for Wage Employment Problems, *American Econo Review*, 1946

2 F Machlup Marginal Analysis and Empirical Research, *American Economic Review*, Vol 36, 1946

3 J Pen—*Income Distribution*, Penguin Books, 1971

4 *Op. cit*, p 84.

5 J Pen, *op cit*, p 85

हैं। इसके अतिरिक्त यह भी इंगित किया गया है कि उत्पादन के विभिन्न साधनो को रोजगार मे लगाने के लिये एक दूसरे से स्वतन्त्र होकर कार्य करने वाले अनेक उद्यमी होते हैं। कुछ साधनो को उनकी सीमात उत्पादकता से अधिक पुरस्कार देकर रोजगार म लगा सकते है तथा कुछ को उनकी सीमात उत्पादकता से कम पुरस्कार पर भी काम मे लगा सकते है। परन्तु प्रतियोगिता की शक्तियाँ यह आश्वस्त करती है कि ये विसगतियाँ एक सीमा के अन्दर ही होती हैं तथा औसतन एक साधन का पुरस्कार लगभग इसकी सीमात उत्पादकता के समान होता है। इस प्रकार जे० पन के अनुसार, 'अपने अस्तित्व को बनाये रखने का कठिन सघर्ष इन विसगतियो को एक सीमा मे रखता है, उद्यमी जो ठीक प्रणाली से दूर होकर कार्य करता है बाजार की शक्तियो द्वारा बरबाद हो जाता है। प्रतियोगिता K (पूँजी) एव L (श्रम) के बीच एक ऐसा सम्बन्ध प्राप्त कर लेती है जिस पर कमोबेश मात्रा मे सीमात उत्पादकता सिद्धात लागू होता है।" ["the hard struggle for survival keeps the discrepancies within bounds, the entrepreneur who gets right off course is destroyed by the market Competition achieves a relation between K (capital) and L (labour) at which the marginal productivity theory more or less applies "][1]

ध्यान रहे कि साधनों का पुरस्कार यदि उनकी सीमात उत्पादकता के लगभग बराबर है तो सीमांत उत्पादकता सिद्धात सही एव मान्य होगा। अर्थशास्त्री साधनो के पुरस्कार की उनकी सीमात उत्पादन से बिल्कुल ठीक एव सुनिश्चित समानता पर जोर नही देते हैं। प्रो० पन का कथन सही है कि, "भेदात्मक भागफल के प्रयोग के माध्यम से अर्थशास्त्री कभी-कभी भ्रांतिपूर्ण यथार्थता (exactness) का प्रयोग करते प्रतीत होते हैं। हमे अपने मस्तिष्क को ठीक पटरी पर रखने के लिए उस स्पष्ट यथार्थता की आवश्यकता है परन्तु हमें इसका शिकार भी नही बनना चाहिये।" [Through the use of differential quotients economists sometimes convey the impression of a misleading precision We need that apparent exactitude to keep our mind on the rails but we must not fall victim to it][2]

10 सीमात उत्पादकता सिद्धात के विरुद्ध एक और आधारभूत आपत्ति यह उठायी गयी है कि किसी वस्तु के उत्पादन के लिए विभिन्न साधनों की माँग सयुक्त रूप से की जाती है। तात्पर्य यह है कि किसी वस्तु का उत्पादन अन्तत विभिन्न साधनो के सहयोग का फल होता है तथा उनकी व्यक्तिगत उत्पादकताओं का अलग-अलग आकलन करना असम्भव होता है। इसके अतिरिक्त किसी वस्तु के उत्पादन के लिए सभी साधनो की जरूरत पडती है। श्रम, बिना पूंजीगत पदार्थों की सहायता के लगभग नही के बराबर उत्पादन करता है तथा इसी तरह पूंजी भी श्रम के सहयोग के अभाव मे किसी प्रकार का उत्पादन करने मे असमर्थ होगी। ऐसी दशा मे जबकि कोई साधनो की व्यक्तिगत उत्पादकता को नहीं बता सकता या जबकि हम साधनो की व्यक्तिगत उत्पादकता की गणना ही नही कर सकते, तब साधनो को उनकी सीमात उत्पादकता के बराबर पुरस्कार देने का प्रश्न ही नही उठता है। इस तर्क को अंग्रेजी साहित्य के बर्ट्रेण्ड रसेल एव बर्नार्ड शा सरीखे विद्वानो ने भी दृढतापूर्वक प्रस्तुत किया था। बर्नार्ड शा लिखते हैं, 'जब एक किसान तथा उसका मजदूर खेत मे फसल बोते है और फसल काटते हैं तो इस पृथ्वी पर कोई भी व्यक्ति यह नही बता सकता कि दोनो मे से प्रत्येक ने कितना गेहूँ पैदा किया है।" [When a farmer and his labourers sow and reap a field no body on earth can say how much of the wheat each of them has grown][3]

1 *Op cit*, p 86

2 *Op cit*, p 86

3 Bernard Shaw, *Intelligent Woman's Guide to Socialism* p 21, quoted by Dennis Robertson, *Principles of Economics*, The Fontana Library edition, p 186

इसी प्रकार बर्ट्रेण्ड रसल ने भी लिखा है, 'एक औद्योगिक प्रणाली में एक व्यक्ति किसी वस्तु का पूर्ण रूप में उत्पादन कभी नहीं करता है बल्कि वह लाखों वस्तुओं के हजारवें भाग का उत्पादन करता है। इन परिस्थितियों में यह कहना अनुचित है कि कोई व्यक्ति अपने श्रम की उपज का अधिकारी होता है। एक रेलवे के कुली पर विचार कीजिए जिसका काम मालगाड़ियों की शन्टिंग करना है। ढोए जाने वाले माल का कौन सा अनुपात उसके स्वयं के श्रम की उत्पत्ति का प्रतिनिधित्व करेगा। यह प्रश्न पूर्णतः असाध्य है।' ['In an industrial system a man never makes the whole of every thing but makes the thousandth part of a million things Under these circumstances it is totally absurd to say that a man has the right to the produce of his own labour Consider a porter on a railway whose business is to shunt goods trains What proportion of the goods carried can be said to represent the produce of his own labour? The question is wholly insoluble '][1]

ध्यान देने की बात यह है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का यह विश्वास है कि उत्पादन के विभिन्न साधनों के बीच प्रतिस्थापन सापेक्षता की मात्रा अधिक होती है। इसलिए साधनों की मात्रा को यथावत् रखते हुए एक साधन की मात्रा में थोड़ा बहुत हेर-फेर किया जा सकता है। इसी आधार पर उनका तर्क है कि विभिन्न साधनों की सीमान्त उत्पादकता का आकलन अलग अलग किया जा सकता है।

11 सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त से सम्बन्धित एक विवादास्पद समस्या यह है कि यदि विभिन्न साधनों का पुरस्कार उनकी सीमान्त उत्पादकता के अनुरूप दिया जाता है तो क्या कुल उत्पादन पूर्णतः विभाजित हो जायगा। मान लीजिए कि किसी वस्तु के उत्पादन में केवल उत्पादन के दो ही साधन, श्रम एवं पूँजी हैं। अब प्रश्न यह है कि जब श्रम को उसके सीमान्त उत्पादन के बराबर मजदूरी का भुगतान कर दिया जाता है तो कुल उत्पादन का बचा हुआ भाग पूँजी के सीमान्त उत्पादन के बराबर है, इससे कम है अथवा इससे अधिक है। इस कठिनाई को वितरण की सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की 'योगीकरण की समस्या' अथवा 'उत्पादन के पूर्ण रूप से विभाजित हो जाने की समस्या' कहा जाता है। विभिन्न साधनों को उनके सीमान्त उत्पादन के बराबर भुगतान करने से कुल उत्पादन पूर्णतः विभाजित हो जाता है अथवा नहीं, यह 'उत्पादन-फलन' के रूप पर निर्भर होता है। यदि उत्पादन फलन समरूप से रैखिक (Linear) है अथवा आर्थिक शब्दावली में पैमाने का स्थिर प्रतिफल लागू है, तब गणित के यूलर प्रमेय की सहायता से यह प्रमाणित हो चुका है कि साधनों को उनके सीमान्त उत्पादन के बराबर भुगतान देने पर कुल उत्पादन पूर्णतः विभाजित हो जाता है। परन्तु 'व्यावहारिक प्रश्न यह उठता है कि वास्तविक जगत में पैमाने का स्थिर प्रतिफल लागू होता है अथवा नहीं, पुनः यह उद्योग की विभिन्न शाखाओं में भी पूर्ण रूप से भिन्न भिन्न होता है। कुछ स्थानों में कुछ-न-कुछ अवश्य बच जाएगा। यह भी इस बात को प्रदर्शित करता है कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त वास्तविकता से केवल निकट मात्र होता है।" [The practical question is whether constant returns to scale do or do not occur in reality once again, that differs entirely for the different branches of industry At some places, something will be left That too shows that the marginal productivity theory gives only a rough approximation of reality "][2]

12 एक अन्य आलोचना जो कि यद्यपि सिद्धान्त की गलत विवेचना पर आधारित है, यह है कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त साधन मूल्य निर्धारण के पूर्ति पक्ष की उपेक्षा करता है तथा केवल इसके माँग पक्ष का ही वर्णन करता है। यह इंगित किया गया है कि श्रम के सीमान्त उत्पादन को मजदूरी के बराबर, पूँजी के

1 Bertrand Russel, *Prospects of Industrial Civilisation*, p 146, quoted by Dennis Robertson *op cit.*, 186-87.

2 J Pen, *Op cit*, p 85

सीमांत उत्पादन को ब्याज के बराबर एव इसी प्रकार अन्य साधनों के सीमांत उत्पादन को उनके प्रतिफल के बराबर करने की तकनीक यह है कि उद्यमकर्ता जो अधिकतम लाभ के लिए कार्य करता है, अपने श्रम के रोजगार को दी हुई मजदूरी तथा अपनी पूँजी के रोजगार को एक दिये हुए ब्याज दर के अनुसार समायोजित करता है। यह सिद्धांत इस बात की व्याख्या नहीं करता कि दी हुई मजदूरी तथा ब्याज की दरें किस प्रकार निर्धारित होती हैं। अत यह कहा जाता है कि सीमांत उत्पादकता सिद्धात मजदूरी अथवा ब्याज निर्धारण का सिद्धांत होने के बजाय श्रम-नियोजन अथवा पूँजी नियोजन का सिद्धांत अधिक है। यह निष्कर्ष विशेषतया सीमांत उत्पादकता सिद्धांत के क्लार्क के व्याख्यान्तर के सदर्भ मे निकाला गया है। जैसा कि ऊपर, सीमात उत्पादकता सिद्धांत के क्लार्क के व्याख्यान्तर मे वर्णित किया गया है, यदि इसे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर लागू किया जाय और साथ ही पूर्ति-फलन अथवा वक्र को श्रम के पूर्ण रोजगार के स्तर पर पूर्णतया बेलोचदार मान लिया जाय तो क्लार्क की यह व्याख्या भी मजदूरी निर्धारण का सिद्धांत बन जाती है। अत क्लार्क का यह व्याख्यान्तर पूर्ति पक्ष की उपेक्षा नहीं करता बल्कि पूर्ण रोजगार स्तर पर इसे पूर्णतया बेलोचदार स्वीकार करता है। जहाँ तक मार्शल-हिक्स के सीमांत उत्पादकता सिद्धांत के कथन का प्रश्न है, यह श्रम के लोचदार पूर्ति फलन को प्रस्तुत करता है अर्थात मजदूरी दर में वृद्धि से श्रम की पूर्ति मे भी वृद्धि होगी। इस तरह यह माँग एव पूर्ति की क्रियाओं के माध्यम से मजदूरी निर्धारण की व्याख्या करता है। अत हम देखते हैं कि यदि सही रूप मे प्रस्तुत किया जाय तो सीमांत उत्पादकता सिद्धांत साधनो की माँग एव पूर्ति दोनों पक्षों को ध्यान म रखता है।

13 वितरण के सीमांत उत्पादकता सिद्धांत की एक और महत्वपूर्ण आलोचना यह है कि यह उद्यमी के प्रतिफल अर्थात् लाभ की व्याख्या नहीं करता है। किसी साधन की सीमांत उत्पादकता तभी जानी जा सकती है जब कि अन्य साधनों की मात्रा के यथावत् रखते हुए इसकी मात्रा में परिवर्तन किया जाय। परन्तु एक फर्म मे उद्यमी केवल एक तथा निश्चित होता है तथा उसमें किसी प्रकार की वृद्धि या कमी सम्भव नही होती है। अत एक फर्म के दृष्टिकोण से उद्यमी की सीमात उत्पादकता का विचार अर्थहीन है। यदि अन्य सभी साधनो की मात्रा को यथावत् रखते हुए अकेले उद्यमी को फर्म से अलग कर दिया जाय तो फर्म की सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया ध्वस्त हो जायेगी और इसी तरह किसी फर्म मे एक और उद्यमी की वृद्धि अर्थहीन होगी। नये उद्यमी का अर्थ है नये सिरे से एक नयी फर्म की स्थापना। यही कारण है कि वितरण के नव-प्रतिष्ठित सिद्धात मे लाभ को एक अतिरेक अथवा अवशिष्ट आय बताया गया है—यह नही कि इसका निर्धारण सीमांत उत्पादकता द्वारा होता है।

14 अन्त मे, वितरण का सीमान्त उत्पादकता सिद्धात शक्ति सरचना (Power structure), सामाजिक परम्पराओ, सामाजिक स्तर तथा श्रमिको मे एक समूह की प्रतिष्ठा को भी श्रमिको के विभिन्न वर्गों अथवा श्रमिकों के विभिन्न वर्गों के प्रतिफल के निर्धारण मे कोई महत्व नहीं देता है। प्रो० पेन ठीक ही कहते हैं कि "पूर्ण प्रतियोगिता पर आधारित सीमांत उत्पादकता सिद्धांत पुरुषो तथा महिलाओ के बीच, विभिन्न जातियो के बीच तथा विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच प्रचलित भेदभाव की भी व्याख्या नहीं करता है। यह इस बात को स्पष्ट नहीं करता कि शीर्षस्थ अधिकारी (Top Executive) अधिक वेतन क्यों पाते हैं तथा श्रम सघ मजदूरी मे वृद्धि को किस प्रकार सम्भव बनाते हैं।" [Marginal productivity theory based on perfect competition "does not explain discrimination between men and women, between races and between social classes, it does not make it clear why top executives earn as much as do and why unions can push up wages]'[1] पेन के अनुसार एक फर्म के शीर्षस्थ अधिकारी द्वारा लिए गए वेतन की व्याख्या सीमांत उत्पादकता सिद्धांत द्वारा नहीं की जा सकती है क्योंकि उनके सम्बन्ध में

1 *Op cit*, p 80

[m]onopsony-monopoly) में किसी साधन का दोहरा शोषण (double exploitation) होगा।
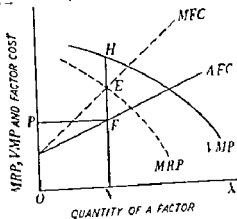
रेखाकृति 38·9

एकाधिकार तथा क्रय एकाधिकार के अन्तर्गत साधनों की कीमत का निर्धारण

रेखाकृति 38·9[1] में MRP तथा AFC में अन्तर EF साधन बाजार में क्रय एकाधिकार के होने के कारण है और इसलिए यह साधन के क्रय एकाधिकारिक शोषण (monopsonistic exploitation) को मापता है। सन्तुलन स्थिति में VMP तथा MRP में अन्तर HE पदार्थ मार्किट में एकाधिकार के पाये जाने के कारण है और इसलिए यह साधन के एकाधिकारिक शोषण (monopolistic exploitation) को मापता है।

यूलर प्रमेय तथा योगीकरण समस्या (अथवा उत्पादन के पूर्णरूपेण विभाजित हो जाने की समस्या)

(Euler's Theorem and Adding up Problem, or Product Exhaustion Problem)

जैसा कि यह प्रतिपादित किया गया कि उत्पादन साधनों को उनकी सीमांत उत्पादकताओं (marginal products) के बराबर पारिश्रमिक मिलते हैं तो इससे एक बड़ी समस्या खड़ी हो गई जिस पर कि उस समय के प्रसिद्ध अर्थशास्त्रियों में वाद-विवाद छिड़ गया। समस्या यह थी कि यदि सभी साधनों को उनकी सीमांत उत्पादकताओं के समान पारिश्रमिक प्राप्त होते हैं तो क्या इससे कुल उत्पादन (total product) पूर्णतया वितरित हो जाएगा और शेष कुछ नहीं बचेगा (If all factors were paid rewards equal to their marginal products, would the total product be just exactly exhausted?)। दूसरे शब्दों में, जब प्रत्येक उत्पादन के साधन को उसकी सीमांत उत्पादकता के समान पारिश्रमिक अथवा कीमतें मिलती हैं तो कुल उत्पादन किसी शेष अतिरेक (surplus) अथवा घाटे (deficit) के बिना पूर्णतया वितरित हो जाएगा। सिद्ध करने की इस समस्या को कि साधनों को सीमांत उत्पादकताओं के बराबर पारिश्रमिक देने पर कुल उत्पादन पूर्णतया वितरित हो जाएगा, योगीकरण की समस्या (Adding Up Problem) कहा गया है।

उत्पादन के पूर्ण रूप से विभाजित हो जाने की समस्या को, यह मानते हुए कि उत्पादन के लिए केवल दो साधन श्रम एवं पूँजी आवश्यक हैं, हम चित्र द्वारा समझाएँगे। a श्रम के लिए तथा b पूँजी के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। यह याद रखना होगा कि किसी साधन का सीमांत उत्पादन तभी ज्ञात किया जा सकता है जबकि अन्य साधनों की मात्रा को स्थिर रखते हुए,
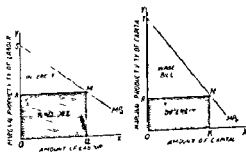
रेखाकृति 38·10   रेखाकृति 38·11

उसकी मात्रा में परिवर्तन किया जाय। जब परिवर्तनशील साधन की एक निश्चित मात्रा का प्रयोग किया

1 जटिलता से बचने के लिये इस रेखाकृति में ARP वक्र को नहीं दिखाया गया है। इस रेखाकृति के विषय में उल्लेखनीय बात यह है कि VMP तथा MRP में लम्बवत अन्तर बढ़ता जाता है जैसे कि साधन की अधिक मात्रा प्रयोग की जाती है क्योंकि उत्पादन बढ़ाने पर AR तथा MR में लम्बरूप अन्तर बढ़ता जाता है।

जाता है अथवा उसे रोजगार मे लगाया जाता है तब परिवर्तनशील साधन का पुरस्कार उसके सीमात उत्पादन के बराबर दिखाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में स्थिर साधन का पुरस्कार, कुल उत्पादन में से परिवर्तनशील साधन को उसके सीमांत उत्पादन के बराबर पुरस्कार देने के बाद उत्पन्न अतिरिक्त (अवशिष्ट आय) के रूप मे प्रदर्शित किया जा सकता है। रेखाकृति 38 10 पर विचार कीजिए जिसमें श्रम (a) को परिवर्तनशील साधन माना है तथा उसे X अक्ष पर दिखाया गया है एव पूंजी को स्थिर साधन के रूप में लिया गया है। यदि कार्मरत श्रमिकों की सन्तुलन मात्रा OL है तो श्रम का सीमात उत्पादन LM है तथा इसके अनुसार निर्धारित मजदूरी OW है। कुल मजदूरी बिल अर्थात् श्रम को प्राप्त होने वाला हिस्सा $OLMW$ के बराबर है। कुल उत्पादन ΣMP है अर्थात् श्रम के सीमान्त उत्पादकता वक्र के अन्तर्गत आने वाला समस्त क्षेत्र $OSML$। श्रम के सीमात रूप से निर्धारित पुरस्कार $OLMW$ को देने के बाद अवशिष्ट आय पूंजी को ब्याज के रूप मे प्राप्त होगी। इस प्रकार पूंजी पर कुल ब्याज $OSML-OLMW=WMS$ के बराबर होगा। सीमात रूप मे निर्धारित मजदूरी $OLMW$ तथा ब्याज की अवशिष्ट आय WMS के रूप मे प्रदान करने से कुल उत्पादन पूर्ण रूप से विभाजित हो जाता है। किन्तु उत्पादन के पूर्ण रूप से विभाजित होने की समस्या यह प्रदर्शित करना है कि अवशिष्ट आय के रूप मे निर्धारित पूंजी पर ब्याज वस्तुत प्रयुक्त पूंजी के सीमात उत्पादन एव प्रयुक्त पूंजी की मात्रा के गुणनफल के बराबर होगा। इसे प्रदर्शित करने के लिए हमें पूंजी को एक परिवर्तनशील साधन तथा श्रम को स्थिर साधन के रूप मे लेना होगा। इसे रेखाकृति 38 11 मे श्रम की पहले वाली मात्रा को ही स्थिर साधन के रूप मे लेकर बतलाया गया है। अब पूंजी को X-अक्ष पर नापा गया है। अब यदि प्रयुक्त पूंजी की सन्तुलन मात्रा OK है तो पूंजी का सीमान्त उत्पादन KN होगा जिसके बराबर ब्याज दर OR निर्धारित होती है। अत $OKNR$ सीमांत रूप से निर्धारित ब्याज पूंजी पर आय होगी। अब अवशिष्ट आय श्रम को मजदूरी के रूप में प्राप्त होगी। अत रेखाकृति 38 11 मे RNT क्षेत्र मजदूरी बिल को बतलाता है जो अवशिष्ट आय के रूप मे निर्धारित हुई है। अब यह बतलाने के लिये कि श्रम एव पूंजी दोनो को उनकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार भुगतान कुल उत्पादन को पूर्ण रूप से विभाजित करेगा, यह सिद्ध करना आवश्यक है कि रेखाकृति 38 11 मे प्रदर्शित क्षेत्र $OKNR$ रेखाकृति 38 10 मे प्रदर्शित क्षेत्र WMS के बराबर है एव रेखाकृति 38 11 मे RNT क्षेत्र, रेखाकृति 38 10 के $OLMW$ के बराबर है। इस तरह से हम यह बता सकते हैं कि किसी साधन की सीमान्त रूप मे निर्धारित आय उस साधन की निर्धारित अवशिष्ट आय के बराबर होती है।

ध्यान रहे कि हमने उत्पादन के पूर्ण रूप से विभाजित करने की समस्या को सिद्ध नही किया है केवल उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है।

फिलिप विकस्टीड (Philip Wicksteed) उन अर्थशास्त्रियों मे से है जिन्होंने सर्वप्रथम इस समस्या की चर्चा की और इसका समाधान प्रस्तुत किया। विकस्टीड ने इस बात को सिद्ध करने के लिए कि सभी साधनो को उनकी सीमात उत्पादकताओ के समान कीमतें देने पर कुल उत्पादन पूर्णतया वितरित हो जाएगा, गणित के एक प्रसिद्ध प्रमेय (mathematical theorem), जिसे यूलर का प्रमेय (Euler's Theorem) कहा जाता है, का प्रयोग किया। मान लीजिए कि P कुल उत्पादन का, a श्रम का, b पूंजी का तथा c उद्यमकर्ता का सूचक है। यह पूर्वधारणा लेते हुए कि उत्पादन में यही तीन साधन प्रयुक्त होते हैं, योगीकरण की समस्या का निम्न अर्थ होगा।

$$P=MP_a\times a+MP_b\times b+MP_c\times c$$

जहाँ MP_a, MP_b और MP_c क्रमश साधन a (श्रमिक), साधन b (पूंजी) और साधन c (उद्यमकर्ता) की सीमात उत्पादकताओं को व्यक्त करते हैं।

उपर्युक्त समीकरण का अर्थ यह है कि सभी साधनों की मात्राओं a, b और c को जब उनकी सीमान्त उत्पादकताओं से गुणा किया जाता है तो उनका योग (sum) कुल उत्पादन P के बराबर होता है। विभिन्न साधनों

की सीमान्त उत्पादकताओं को आंशिक व्युत्पन्नों (partial derivatives) में व्यक्त किया जा सकता है। फलतः साधन a (श्रम) की सीमान्त उत्पादकता को $\frac{dp}{da}$, साधन b (पूंजी की) सीमान्त उत्पादकता को $\frac{dp}{db}$ और साधन c (उद्यमकर्त्ता की सीमान्त उत्पादकता) को $\frac{dp}{dc}$ लिखा जा सकता है। यदि ऐसा किया जाए तो योगीकरण समस्या (adding up problem) की समस्या का समाधान तब होगा जब निम्न समीकरण की पूर्ति होती हो

$$P=a\frac{dp}{da}+b\frac{dp}{db}+c\frac{dp}{dc}$$

जहाँ $a\frac{dp}{da}$ श्रम को प्राप्त होने वाले हिस्से (share) को सूचित करता है,

$b\frac{dp}{db}$ पूंजी को प्राप्त होने वाले हिस्से को सूचित करता है, तथा

$c\frac{dp}{dc}$, उद्यमकर्त्ता को प्राप्त होने वाले हिस्से को सूचित करता है

यूलर प्रमेय के अनुसार यदि P प्रथम डिग्री का समरूप फलन है (*if P is the homogeneous function of the first degree*) तो निम्न शर्तें पूरी होगी :

$$P=a\frac{dp}{da}+b\frac{dp}{db}+c\frac{dp}{dc}$$

अर्थात् यदि उत्पादन फलन प्रथम डिग्री का समरूप फलन है (*if production function is homogeneous of the first degree*), तो कुल उत्पादन साधनों की प्रयुक्त मात्राओं के उनकी सीमान्त उत्पादकताओं के गुणा करने से प्राप्त योग के बराबर होगा।

अतः कुल उत्पादन

$$P=a\frac{dp}{da}+b\frac{dp}{db}+c\frac{dp}{dc}$$

जहाँ $\frac{dp}{da}$, $\frac{dp}{db}$ और $\frac{dp}{dc}$ क्रमश श्रम, पूंजी व उद्यमकर्त्ता की सीमान्त उत्पादकताओं के सूचक हैं। यूलर प्रमेय के अनुसार यदि P (उत्पादन) प्रथम कोटि का समरूप फलन (homogeneous function of the first degree) है अर्थात् यदि $P=f(a, b, c)$ में विभिन्न चरों, a, b, c को किसी n मात्रा द्वारा बढ़ाया जाय तो उत्पादन P में भी ठीक n मात्रा द्वारा वृद्धि होगी। प्रथम कोटि का समरूप फलन अथवा रैखीय फलन निम्न प्रकार का होता है —

$$nP=f(na, nb, nc)$$

इस प्रथम कोटि के समरूप फलन की दशा में यूलर प्रमेय (Euler's theorem) के अनुसार

$$P=a\frac{dP}{da}+b\frac{dP}{db}+c\frac{dP}{dc}$$

अब यदि P उत्पादन को व्यक्त करे तथा a, b, c क्रमश श्रम, पूंजी तथा उद्यमकर्त्ता को दर्शाते हों तो $\frac{dP}{da}$, $\frac{dP}{db}$, $\frac{dP}{dc}$ उत्पादन फलन के आंशिक व्युत्पन्न (derivatives) होंगे और इसलिए वे क्रमश श्रम, पूंजी तथा उद्यमकर्त्ता की सीमान्त उत्पादकताओं (marginal products) को व्यक्त करेंगे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि उत्पादन फलन प्रथम कोटि का समरूप फलन है तो यूलर प्रमेय के अनुसार यदि विभिन्न साधनों a, b तथा c को उनकी सीमान्त उत्पादकताओं के अनुसार पुरस्कार (rewards) दिये जायें तो कुल उत्पादन मात्रा P पूर्णतया वितरित (exhaust) हो जायेगी।

उत्पादन के पूर्णतया व्यय हो जाने (Product exhaustion problem) की समस्या को यूलर प्रमेय की सहायता से अधिक स्पष्ट रूप से सिद्ध कर सकते हैं। सामान्य उत्पादन फलन $P=\sqrt{ab}$ को लीजिये जिसमें a तथा b दो साधनों A और B की मात्राओं को व्यक्त करते हैं। कल्पना कीजिए कि यही दो साधन किसी वस्तु के उत्पादन के लिए आवश्यक हैं।

$$P = \sqrt{ab} = a^{1/2} b^{1/2}$$

उपर्युक्त फलन के आंशिक व्युत्पन्न (derivatives) हैं —

$$\frac{dP}{da} = \frac{1}{2} a^{-1/2} b^{1/2} = \frac{1}{2\sqrt{a}} \sqrt{b} = \frac{\sqrt{b}}{2\sqrt{a}}$$

$$\frac{dP}{db} = \frac{1}{2} b^{-1/2} a^{1/2} = \frac{1}{2\sqrt{b}} \sqrt{a}$$

$$= \frac{\sqrt{a}}{2\sqrt{b}}$$

इन आंशिक व्युत्पन्नों (derivatives) के मूल्यों को यूलर प्रमेय $P = \frac{dP}{da} a + \frac{dP}{db} b$ में प्रतिस्थापित करने पर हमें निम्न समीकरण प्राप्त होता है —

$$P = \frac{\sqrt{b}}{2\sqrt{a}} a + \frac{\sqrt{a}}{2\sqrt{b}} b$$

$$P = \frac{\sqrt{b}\ \sqrt{a}}{2\sqrt{a}} + \frac{\sqrt{a}\ \sqrt{b}}{2\sqrt{b}}$$

$$P = \sqrt{b}\ \sqrt{a}$$

यह यूलर प्रमेय का एक रूप है। सभी साधनों को उनकी सीमांत उत्पादकताओं के अनुसार पुरस्कार देने से कुल उत्पादन के पूर्णतया वितरित हो जाने को सिद्ध करने के लिए कल्पना कीजिए कि किसी वस्तु के उत्पादन में प्रयुक्त दो साधनों a तथा B की मात्राएँ क्रमशः 4 और 16 हैं तो उत्पादन फलन में

$$P = \sqrt{ab} = \sqrt{4 \times 16} = \sqrt{64} = 8$$

साधनों की दो मात्राओं को यूलर प्रमेय के निकाले गये उपर्युक्त रूप में

$$P = \sqrt{b}\ \sqrt{a} = \sqrt{16}\ \sqrt{4} = 4 \times 2 = 8$$

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब उत्पादन फलन प्रथम कोटि का समरूप फलन होता है तो यूलर प्रमेय की सहायता से हम योगीकरण की समस्या अथवा उत्पादन के पूर्णतया व्यय हो जाने (Product Exhaustion Problen) को प्रमाणित कर सकते हैं

इस प्रकार विकस्टीड ने पैमाने के स्थिर प्रतिफल (constant returns to scale) की पूर्वधारणा करते हुए और यूलर प्रमेय को निहित करके योगीकरण की समस्या (adding up problem) का समाधान प्रस्तुत किया अर्थात् यह सिद्ध किया कि यदि सभी साधनों को उनकी सीमान्त उत्पादकताओं के अनुसार पारिश्रमिक (rewards) दिए जाते हैं तो कुल उत्पादन पूर्णतया वितरित हो जाएगा।

योगीकरण समस्या के विकस्टीड के समाधान की वालरस (Walras) बरोन (Barone), एजवर्थ (Edgeworth) और परेटो (Pareto) द्वारा आलोचना की गई। इन लेखकों द्वारा यह मत प्रकट किया गया कि उत्पादन फलन प्रथम डिग्री का समरूप फलन नहीं है अर्थात् वास्तविक जगत में पैमाने के प्रतिफल स्थिर नहीं होते। एजवर्थ ने विकस्टीड पर व्यंग्य करते हुए कहा there is magnificence in this generalisation which recalls the youth of philosophy Justice is a perfect cube, said the ancient sage and rational conduct is a homogeneous function, adds the modern savant." आलोचकों का कहना है कि उत्पादन फलन इस प्रकार का होना है कि हमें दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) वक्र अंग्रेजी के अक्षर U की आकृति का प्राप्त होना है। दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) वक्र की U आकृति का अर्थ है कि उत्पादन पैमाना बढ़ने पर कुछ मात्रा तक पैमाने के बढ़ते प्रतिफल प्राप्त होते हैं और उसके पश्चात् घटते प्रतिफल प्राप्त होने लगते हैं। किन्तु जब कोई फर्म पैमाने के बढ़ते प्रतिफल के अन्तर्गत काय कर रही होती है तो सभी साधनों को उनकी सीमांत उत्पादकताओं के बराबर पारिश्रमिक देने पर कुल पारिश्रमिक की मात्रा कुल उत्पादन से अधिक होगी (the total factor rewards would exceed the total output)। इसके विपरीत, यदि फर्म पैमाने के घटते प्रतिफल के अन्तर्गत काम कर रही होती है तो साधनों को उनकी सीमान्त उत्पादकताओं के समान पारिश्रमिक देने पर कुल उत्पादन पूर्णतया वितरित नहीं होता, बल्कि कुछ शेष बच रहेगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब पैमाने के बढ़ते प्रतिफल अथवा घटते प्रतिफल प्राप्त होते हैं तो यूलर प्रमेय (Euler's Theorem) लागू नहीं होता और इस प्रकार योगीकरण समस्या का समाधान नहीं होता।

विकस्टीड के समाधान की एक और त्रुटि यह बताई गई है कि जब पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त हो तो दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) वक्र क्षितिज के समानान्तर सरल रेखा होता है जो कि पूर्ण प्रतियोगिता के विरुद्ध (incompatible) है (क्षितिज के समानान्तर दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के अन्तर्गत कोई निश्चित सन्तुलन की स्थिति नही हो सकती)। परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता सीमात उत्पादकता सिद्धात और फलत विक्स्टीड समाधान के लिए अत्यावश्यक है। इस प्रकार हम देखते है कि विकस्टीड समाधान दो परस्पर विरोधी बातो पर आधारित है।

विकस्टीड के पश्चात विकसेल (Wicksell), वालरस (Walras) और बरोन (Barone) ने स्वतन्त्र रूप से इस समस्या का अधिक सतोषजनक समाधान किया कि सीमात उत्पादकताओ द्वारा निर्धारित उत्पादन साधनो के कुल पारिश्रमिक किस प्रकार कुल उत्पादन के बराबर होगे। इन लेखको ने यह पूर्वधारणा की कि सामान्य रूप से उत्पादन फलन प्रथम डिग्री का समरूप नही होता, अपितु ऐसा होता है कि U आकृति का दीर्घकालीन औसत लागत वक्र प्राप्त होना है। उन्होने यह बताया कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकाल मे कम दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) वक्र के निम्नतम बिन्दु पर सन्तुलन मे होनी है। दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के निम्नतम बिंदु पर पैमाने के प्रतिफल क्षण भर के लिए स्थिर होते हैं। इस प्रकार सीमात उत्पादकताओ द्वारा निर्धारित साधनो के कुल पारिश्रमिको के कुल उत्पादन के बराबर होने की आवश्यक शर्त (अर्थात पैमाने के स्थिर प्रतिफल का पाया जाना) की पूर्ति दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के निम्नतम बिंदु पर हो जाती है। अत पूर्ण प्रतियोगिता मे दीर्घकालीन सन्तुलन की स्थिति मे उत्पादन-साधनो को उनकी सीमात उत्पादकताओ के बराबर पारिश्रमिक प्राप्त होने पर कुल उत्पादन पूर्णतया वितरित हो जाएगा (In the case of perfectly long-run equilibrium, if the factors *are paid rewards equal to their marginal* products, the total product would be just exactly exhausted)।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि "योगीकरण समस्या" (adding up problem) के दो समाधान अर्थशास्त्रियो द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। प्रथम विकस्टीड द्वारा प्रतिपादित समाधान है जो कि पैमाने के स्थिर प्रतिफल के होने पर आधारित है। द्वितीय, विकसेल, बरोन और वालरस द्वारा प्रस्तुत समाधान है जो कि फर्मों के औसत लागत वक्र के निम्नतम बिंदु पर उत्पादन करने पर आधारित है।

39

श्रम पूर्ति तथा मजदूरी निर्धारण
(LABOUR SUPPLY AND WAGE DETERMINATION)

यह जानना बहुत आवश्यक है कि विभिन्न मजदूरी दरो पर एक श्रमिक कितने घण्टे काम करने के लिए तैयार होगा। अन्य शब्दों म, विभिन्न मौद्रिक मजदूरी दरो पर एक श्रमिक की श्रम क्रिया की पूर्ति कितनी होगी? सामान्यत, श्रमिक द्वारा की गई श्रम क्रिया (work effort) मे मजदूरी दरो मे परिवर्तन होने पर परिवर्तन होगा। हम मान लेते हैं कि श्रमिक एक नियोक्ता (Employer) से समझौता करता है कि वह निश्चित प्रति घण्टा मजदूरी की दर से उसके पास काम करेगा और वह सप्ताह मे कितने घंटे काम करेगा इसका निर्णय वह स्वय करेगा। यहाँ यह बता देना आवश्यक है, यह मान्यता पूर्णतया वास्तविक नही है क्योकि सामान्यत श्रमिक सप्ताह म निश्चित घण्टे काम करने के लिए लगाए जाते हैं। सप्ताह मे कार्य करने के घण्टे कानून द्वारा निर्धारित हो सकते हैं या सम्पूर्ण श्रमिको (या उनके श्रम सघ) और नियोक्ताओ के बीच एक समझौते से। अत, वास्तविक जीवन मे, एक श्रमिक को यह स्वतन्त्रता नहीं होती कि वह अपने कार्य करने के घण्टों में परिवर्तन करे। फिर भी यह बताया जा सकता है कि कुछ सीमा तक श्रमिक यह तय करके कि वह अतिरिक्त समय (over time) काम करे या न करे, झूठे बहाने बना कर छुट्टी लेकर या कुछ इसी प्रकार से समायोजन करके, काम के घण्टो मे फेर बदल कर सकता है। यह उनके सम्बन्ध म अधिक सत्य हैं जो मजदूरी या वेतन के आधार पर काम करते हैं। परन्तु स्वय नियोज्य व्यक्ति भी होते हैं जैसे किसान, व्यापारी, स्वामी, स्वतन्त्र व्यवसायी आदि जो स्वय यह निर्धारित करते हैं कि वे सप्ताह मे कितने घण्टे काम करेंगे और उनका निर्णय इस बात पर निर्भर करेगा कि उनके काम के बदले मौद्रिक पारिश्रमिक कितना है। एक व्यक्तिगत श्रमिक की श्रम या कार्यश्रम की पूर्ति के सम्बन्ध मे सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए हम यह मान लेंगे कि एक श्रमिक सप्ताह मे काम के घण्टो मे परिवर्तन करने के लिए पूर्णतया स्वतन्त्र है।

श्रमिक के कार्यश्रम या श्रम जो वह करता है, के बदले मे उसकी आय की माँग पर विचार कीजिए। एक श्रमिक को जितनी अधिक आय प्राप्त होगी वह उतना ही सुखी होगा। परन्तु मजदूरी की दर के दिया हुआ होने पर, वह अधिक मौद्रिक आय तभी प्राप्त कर सकता है जबकि वह अधिक कार्य (या श्रम) प्रदान करे अर्थात् एक सप्ताह मे अधिक घण्टे काम करे। परन्तु अधिक घण्टे काम करने का अर्थ होगा अधिक अवकाश का त्याग। अत यह स्पष्ट है कि इन

दशाओं में श्रमिक अवकाश में कमी करके ही अधिक आय प्राप्त कर सकता है। और अवकाश, इस पर ध्यान देना चाहिए, ऐसी वस्तु है जो व्यक्ति को उसी प्रकार से सतुष्टि प्रदान करती है जिस प्रकार से अन्य वस्तुएँ। अत अधिक कार्य करके श्रमिक को अधिक आय प्राप्त होने से जो सतुष्टि प्राप्त होती है उसकी तुलना सतुष्टि की उस हानि से करनी होगी जो अवकाश की कमी के कारण होती है। इससे यह अर्थ निकलता है कि जबकि मजदूरी दरो मे वृद्धि हो जाती है, तो श्रमिक सप्ताह मे अधिक घण्टे काम करने के लिए तैयार होगा या नहीं, यह उसके, आय की तुलना मे, अवकाश के अधिमान पर निर्भर करेगा।

यह तथ्य, कि अवकाश का अर्थ, 'कार्य न करने से है', महत्वपूर्ण है। अवकाश के दौरान श्रमिक अपने बच्चो के साथ खेल सकता है, बागबानी कर सकता है, रेडियो सुन सकता है या टेलीविजन देख सकता है, वस्तुओ का खान पान कर सकता है, सिनेमा देखने जा सकता है आदि। अधिकाश उपभोक्ता वस्तुओ का आनन्द अवकाश के दौरान लिया जाता है। वास्तव मे "ससार की अधिकाश वस्तुओ का आनन्द, यदि लेना है तो अवकाश के दौरान ही लिया जा सकता है।"[1] अत अवकाश का अर्थ है "आय के लिए कार्य न करना"। आय की आवश्यकता साधारण उपभोक्ता वस्तुओ का उपभोग करने के लिए होती है। परन्तु, जैसा कि ऊपर बताया गया, अवकाश से भी श्रमिक को सतुष्टि प्राप्त होती है। इसलिए, एक श्रमिक को यह तय करना होता है कि उसको कितने घण्टे काम करना चाहिए जिससे उसको साधारण उपभोक्ता वस्तुओ का उपभोग करने के लिए आय प्राप्त हो आय तथा उसको कितने घण्टे का अवकाश चाहिए। किसी के रहन-सहन का स्तर उपभोक्ता वस्तुओ की मात्रा तथा उनके गुण और साथ ही अवकाश की मात्रा जिसको वह प्राप्त करता है, पर निर्भर करता है।

जब मजदूरी दरो मे वृद्धि होती है तो श्रमिक अधिक घण्टे काम करने के लिए प्रेरित होगा या नही, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि आय तथा अवकाश के लिए उसका अधिमान क्या है। आधुनिक आर्थिक सिद्धात मे, आय तथा अवकाश मे सापेक्ष अधिमान अनधिमान वक्रो द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। इन वक्रो को दर्शाते समय एक अक्ष पर आय ली जाती है तथा दूसरे अक्ष पर अवकाश। अत, यह अध्ययन करने से पहले, कि आय व अवकाश से सम्बन्धित किन अधिमानो के अन्तर्गत श्रमिक मजदूरी दरो मे वृद्धि के कारण अधिक कार्य करेगा, हम आय तथा अवकाश के मध्य अनधिमान वक्रो की व्याख्या करेंगे।

आय तथा अवकाश के मध्य अनधिमान वक्र (Indifference Curves between Income and Leisure)

जैसा कि ऊपर बताया गया, मजदूरी दर के दिया हुआ होने पर, अधिक आय तभी प्राप्त होती है जबकि श्रमिक अधिक घण्टे कार्य करे अर्थात् अवकाश के कम घण्टे प्राप्त करे। अन्य शब्दो मे, अधिक आय को अवकाश का त्याग करके ही प्राप्त किया जा सकता है।
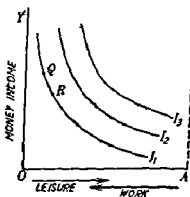
रेखाकृति 39 1

इस प्रकार आय तथा अवकाश स्थानापन्न हैं। आय व अवकाश को स्थानापन्न मानते हुए, एक व्यक्ति की आय व उसके अवकाश के सम्बन्ध को दिखाने के लिए अनधिमान वक्र बनाए गए हैं। ये अनधिमान वक्र आय व अवकाश के प्रति उसके ,ष्टिकोण को बताते हैं। रेखाकृति 39 1 मे इस प्रकार के तीन अनधिमान वक्र हैं जिसमें Y-अक्ष पर प्रति सप्ताह अर्जित आय दिखाई

1 Stonier and Hague, op cit, p 168.

गई है जबकि X-अक्ष पर बायें से दायें प्रति सप्ताह अवकाश के घंटो तथा दायें से बायें, प्रति सप्ताह कार्य के घण्टो को दिखाया गया है। जैसा कि पता ही है, एक सप्ताह मे 168 घटे होते है। मान लीजिए एक दिन के 12 घटे (सप्ताह मे 84 घटे), व्यक्ति द्वारा, रात को सोने, कपडे पहनने, खाना खाने, तथा कार्य-स्थान को आने-जाने मे व्यतीत किये जाते हैं। इस प्रकार शेष 84 घण्टो (168—84=84) को ही श्रमिक अवकाश या कार्य के घण्टो मे विभाजित कर सकता है। रेखाकृति 39 1 मे OA, 84 घण्टो को जो *कार्य करने के अधिकतम घण्टे हैं, बताता है।*

आय व अवकाश से सम्बन्धित अनधिमान वक्र आय व अवकाश के उन विभिन्न सयोगो को बताते हैं जो कि समान सतुष्टि प्रदान करते हैं और जिनके बीच व्यक्ति उदासीन होता है। अनधिमान वक्र I_1 के दो सयोगो Q तथा R पर विचार कीजिए। Q तथा R सयोगो के एक ही अनधिमान वक्र I_1 पर होने के कारण व्यक्ति इन दोनो के मध्य उदासीन होगा। Q से R पर जाने मे व्यक्ति को कुछ आय का त्याग करना पडता है और इसकी क्षतिपूर्ति के लिए उसको अधिक अवकाश प्राप्त करना होता है जिससे R सयोग से भी उसको उतनी ही सतुष्टि प्राप्त हो सके जितनी उसको Q सयोग से मिल रही है। इसी प्रकार, I_1 अनधिमान वक्र पर आय व अवकाश के अन्य सयोग व्यक्ति के लिए समान रूप से इच्छित हैं। यह माना गया है कि अन्य बातें समान रहने पर, कम आय की तुलना म अधिक आय सदा पसद की जाती है और, अन्य बातें समान रहने पर, कम अवकाश पर अधिक अवकाश को प्राथमिकता दी जाती है। तब अनधिमान वक्र I_2 पर कोई भी सयोग, अनधिमान वक्र I_1 के किसी भी सयोग की तुलना मे अधिक अच्छा माना जाएगा। अनधिमान वक्र I_3 और भी ऊँचा है और इस पर पडने वाले आय व अवकाश के सयोग, अनधिमान वक्र I_2 तथा I_1 की तुलना मे, श्रमिक द्वारा अधिक पसन्द किए जाएँगे।

अब प्रश्न यह उठता है कि आय व अवकाश स सबधित अनधिमान वक्र की आकृति कैसी होगी? आय व अवकाश के लिए अनधिमान वक्र की आकृति समवत उन्नतोदर होगी यह पहले तीव्रतापूर्वक नीचे गिरेगी और फिर कुछ समतल हो जाएगी। इसका अभिप्राय यह है कि जब अवकाश के घटे कम हैं तो अवकाश के एक घन्टे की उपयोगिता अधिक होगी और इसलिए अवकाश के एक घण्ट का त्याग करने के लिए अधिक आय के प्रलोभन की आवश्यकता होगी। जब अवकाश के घटे अधिक है तो अवकाश के एक घटे की उपयोगिता कम होगी और एक अतिरिक्त घण्टे (अवकाश के) का त्याग करन के लिए कम आय का त्याग करना होगा। *आय व अवकाश के सबध म यह सामान्य* दृष्टिकोण है और इसके कारण ही आय व अवकाश के अनधिमान वक्र उद्गम की ओर उन्नतोदर होते है। आय व अवकाश के प्रति दृष्टिकोण के कुछ अन्य अपवादी ढाँचे भी हो सकते है और उनके सबध मे अनधिमान वक्रो की आकृति भिन्न होगी। यदि कोई व्यक्ति बिल्कुल भी अवकाश प्राप्त करना नही चाहता, तो आय व अवकाश के प्रति उसका अनधिमान वक्र पूर्णतया समतल होगा अर्थात् X-अक्ष के समानान्तर। यदि कोई व्यक्ति अधिकाश अवकाश प्राप्त करना चाहता है अर्थात्, वह घूमने, मनोरजन मे समय व्यतीत करने, सोने आदि मे बहुत अधिक रुचि रखता है, तो आय व अवकाश के प्रति उसका अनधिमान वक्र अत्यधिक ढलवाँ (steep) होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अनधिमान वक्र की विभिन्न आकृतियाँ आय व अवकाश के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणो को बताती हैं परन्तु जैसा कि ऊपर बताया गया, आय व अवकाश के मध्य अनधिमान वक्र की सामान्य आकृति उद्गम की ओर उन्नतोदर की है, जो प्रारम्भ मे तेजी से गिरती है और फिर काफी समतल हो जाती है।

एक व्यक्ति कितनी मौद्रिक आय अर्जित करेगा यह केवल कार्य के घण्टो पर ही निर्भर नही है, बल्कि प्रति घण्टा मजदूरी दरों पर भी निर्भर है। एक व्यक्ति आय व अवकाश के अनधिमान चित्र में से आय व अवकाश के कौन से विशेष सयोग को लेगा, अर्थात्, वह कितने घण्टे काम करेगा और कितने घटे अवकाश

मे व्यतीत करेगा, यह प्रति घंटे मजदूरी-दर पर निर्भर होगा। इसलिए रेखाकृति में मजदूरी दरो का प्रयोग करना होगा। जैसा कि ऊपर बताया, एक सप्ताह मे 84 घण्टा को मौद्रिक आय के बदले मे काम तथा अवकाश मे विभाजित किया जा सकता है। रेखाकृति 39 2 म OA 84 घण्टो को दर्शाता है। मजदूरी की दर के 50 पैसे प्रतिघण्टा होने पर, श्रमिक को सप्ताह म 84 घण्टे काम करने पर 42 रु० की प्राप्ति होगी। OW_1, Y-अक्ष पर, 42 रु० की मौद्रिक आय दिखाता है। इस प्रकार AW_1 मजदूरी रेखा है जिसकी ढाल प्रति घटा मजदूरी दर को बताती है। मजदूरी दर के बढ कर 75 पैसे प्रति घटा हो जाने पर श्रमिक 84 घण्टे काम करके 63 रु० की (Y-अक्ष पर OW_2) मौद्रिक

रेखाकृति 39 2

आय प्राप्त कर सकता है। अत, AW_2 75 पैसे प्रति घटा मजदूरी दर पर मजदूरी रेखा है। अब यदि मजदूरी दर बढ कर 1 रु० प्रति घटा हो जाती है तो मजदूरी रेखा विवर्तित होकर AW_3 हो जाएगी।

आय व अवकाश मे व्यक्ति का सतुलन : कार्य व अवकाश में अनुकूलतम चयन (Individual's Equilibrium between Income and Leisure Optimum Choice of Work and Leisure)

रेखाकृति 39 3 एक अनधिमान चित्र को दर्शाती है जो कि व्यक्ति की आय व अवकाश के लिए इच्छाओ को तथा उनके विभिन्न सयोगो के लिए सापेक्ष अधिमानो को बताता है। मान लीजिए कि मजदूरी की दर 75 पैसे प्रति सप्ताह है और मजदूरी रेखा AW है। AW मजदूरी रेखा की ढाल मजदूरी दर को बताती है (अर्थात $\frac{OW}{OA}$ = मजदूरी दर = 75 पैसे प्रति घटा) है। हम व्यक्ति को युक्तियुक्त मानते हैं अर्थात्, हम मानते है कि व्यक्ति आय व अवकाश के उस सयोग का चयन करेगा जिससे उसको अधिकतम सतुष्टि प्राप्त होगी। परन्तु अधिकतम सतुष्टि को प्राप्त करने की उसकी श्रमक्रिया मे व्यक्ति पर दो अवरोध हैं एक तो समय जो उसको उपलब्ध है और दूसरे प्रतिघटा मजदूरी की दर जो कि यह बताती है कि
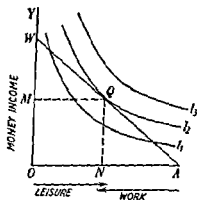
रेखाकृति 39 3

किस समय किस दर पर मौद्रिक आय का क्रय कर सकता है। इन अवरोधो के दिया हुआ होने पर उपभोक्ता उच्चतम सम्भव अनधिमान वक्र पर पहुँचने का प्रयत्न करेगा। इस प्रकार रेखाकृति 39 3 मे मजदूरी रेखा AW दी हुई है (जो यह बताती है कि प्रतिघण्टा मजदूरी की दर $\frac{OW}{OA}$ = 75 पैसे है।), तो व्यक्ति उस AW रेखा के उस बिंदु पर सतुलन (अर्थात् अपनी सतुष्टि को अधिकतम कर रहा होगा) मे होगा जो उसके उच्चतम अनधिमान वक्र पर स्थित है। ऐसा बिंदु Q है जिस पर AW मजदूरी रेखा अनधिमान वक्र I_2 को स्पर्श करती है। सतुलन स्थिति Q पर व्यक्ति

को ON अवकाश प्राप्त हो रहा है और OM मौद्रिक आय। इसके अतिरिक्त, वह AN घंटे काम कर रहा है। AN घण्टे काम करके वह OM के बराबर आय प्राप्त करता है। इस प्रकार रेखाकृति से यह स्पष्ट है कि मजदूरी दर के दिया होने पर वह एक सप्ताह में AN कार्य घण्टों की पूर्ति करता है।

मजदूरी वृद्धि का श्रमक्रिया पर प्रभाव आय प्रभाव तथा स्थानापत्ति प्रभाव (Effect of Wage Increase on Work Effort · Income Effect and Substitution Effect)

जबकि मजदूरी दरों में वृद्धि होती है तो मजदूरी रेखा ऊपर की ओर विवर्तित हो जाती है और व्यक्ति ऊँचे अनधिमान वक्र पर सन्तुलन में होगा। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न होता है, मजदूरी दर में वृद्धि के परिणामस्वरूप नये सन्तुलन बिन्दु पर क्या व्यक्ति पहले की तुलना में अधिक कार्य करने के लिये तैयार होगा ? अन्य शब्दों में, मजदूरी दरों में वृद्धि के प्रति एक व्यक्ति की प्रतिक्रिया क्या होगी ?

यह देखने से पहले कि ऊँची मजदूरी दरों पर एक व्यक्ति किन दशाओं में अधिक घंटे काम करने के लिए तैयार होगा, हम पहले यह बतायेंगे कि मजदूरी दर में वृद्धि के प्रभाव को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव। रेखाकृति 30.4 में जबकि मजदूरी दर में वृद्धि हो जाती है और मजदूरी रेखा AW से विवर्तित होकर AW' हो जाती है तो व्यक्ति अनधिमान वक्र I_1 के Q बिन्दु से हटकर अनधिमान वक्र I_2 के R बिन्दु पर आ जाता है। इस प्रकार जब मजदूरी दर में वृद्धि हो जाती है तो व्यक्ति ऊँचे अनधिमान वक्र पर चला जाता है और वह अब पहले से अधिक सुखी होता है। यह इसी प्रकार है जैसे मजदूरी दर में वृद्धि न हुई हो और WE के बराबर उसको अतिरिक्त मुद्रा दे दी गई हो (EF रेखा AW के समानान्तर है और इसलिए AW द्वारा इंगित मजदूरी दर को दिखाती है)। EF काल्पनिक मजदूरी रेखा से व्यक्ति I_2 अनधिमान वक्र के H बिन्दु पर सन्तुलन में है। Q से H बिन्दु पर गति आय प्रभाव के कार्यचालन का परिणाम है (जो कि मजदूरी दर में वृद्धि के कारण हुई है)। परन्तु मजदूरी में वृद्धि केवल आय प्रभाव ही उत्पन्न नहीं करती बल्कि प्रतिस्थापन प्रभाव का भी सृजन करती है। मजदूरी-दर में वृद्धि
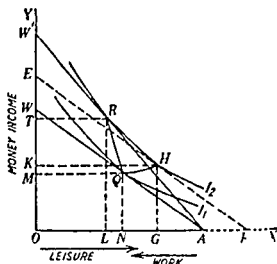
रेखाकृति 30.4

होने पर काम में लगाया गया प्रत्येक घंटा पहले से अधिक आय लाता है अर्थात् मजदूरी-दर में वृद्धि अवकाश को पहले से अधिक महंगा बना देती है जिससे प्रेरित होकर श्रमिक अवकाश का आय से प्रतिस्थापन करता है। अतः H से R की गति प्रतिस्थापन प्रभाव का परिणाम है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि मजदूरी दर में वृद्धि के कारण अनधिमान वक्र I_1 के Q बिन्दु से अनधिमान वक्र I_2 के R बिन्दु पर गमन दो शक्तियों के कार्यशील होने का परिणाम है, सर्वप्रथम आय प्रभाव जो कि QH के दौरान क्रियाशील है और व्यक्ति को अनधिमान वक्र I_2 पर ले जाता है और उसको, इस प्रकार पहले से अधिक सुखी बनाता है। दूसरे, प्रतिस्थापन प्रभाव, जो अनधिमान वक्र I_2 पर क्रियाशील है और उसको H से R पर ले जाता है। व्यक्ति अवकाश का प्रतिस्थापन आय से करता है। यह ध्यान देने योग्य है कि मजदूरी-दर में वृद्धि के प्रतिस्थापन प्रभाव का परिणाम सदा श्रमक्रिया में वृद्धि तथा अवकाश में कमी होना है। इसका कारण

यह है कि जब मजदूरी की दरों में वृद्धि होती है तो व्यक्ति सदा भ्राय का जिसको अब वह सस्ता क्रय कर सकता है, प्रतिस्थापन अवकाश से करता है। रेखाकृति 39 4 में केवल प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण, व्यक्ति GL घटे अधिक कार्य करता है। केवल आय प्रभाव के परिणामस्वरूप व्यक्ति को अधिक आय प्राप्त हो सकती है और अधिक अवकाश भी या अधिक आय और पहले जितना अवकाश या अधिक अवकाश और पहले जितनी आय। आय व अवकाश पर प्रभाव उसकी आय व अवकाश के सापेक्ष अधिमान पर निर्भर करेगा। रेखाकृति 39 4 में मजदूरी दर म वृद्धि के केवल आय प्रभाव के कारण अवकाश म NG की वृद्धि होती है और आय मे MK के बराबर। अवकाश मे NG की वृद्धि का अर्थ है कि श्रम क्रिया म NG या GN के बराबर कमी हो जाना। अत यदि केवल आय प्रभाव ही क्रियाशील होता तो श्रम क्रिया म NG घटो की कमी हो जाती। अत यह स्पष्ट है कि मजदूरी दर मे वृद्धि के प्रतिस्थापन प्रभाव तथा आय प्रभाव विपरीत दिशाओ म काय करते हैं, जबकि प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण श्रम क्रिया मे वृद्धि की प्रवृत्ति होती है, आय प्रभाव श्रम क्रिया को कम कर देता है। इन दोनों की क्रियाशीलता का शुद्ध प्रभाव इन दोनों की सापेक्ष प्रबलता पर निर्भर करेगा।

यदि मजदूरी दर म वृद्धि का प्रतिस्थापन प्रभाव इसके आय प्रभाव से प्रबल हो, तो शुद्ध प्रभाव श्रम कार्य की मात्रा म वृद्धि का होगा, अर्थात्, जब मजदूरी दर मे वृद्धि होगी तो अधिक घटे काम किया जाएगा। इसको रेखाकृति 39 4 मे दिखाया गया है जहाँ आय प्रभाव श्रम क्रिया मे NG के बराबर कमी होना है जबकि प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण GL के समान श्रम क्रिया म वृद्धि होना है। जैसा कि रेखाकृति से स्पष्ट है GL NG की तुलना मे NL अधिक है। अत शुद्ध परिणाम श्रम क्रिया मे NL घण्टे प्रति सप्ताह की वृद्धि है। दूसरी ओर यदि आय प्रभाव प्रतिस्थापन प्रभाव से प्रबल है तो मजदूरी दर म वृद्धि से श्रम क्रिया मे कमी हो जाएगी। इसको रेखाकृति 39 5 मे दिखाया गया है जहाँ आय प्रभाव के कारण श्रम क्रिया मे NV के बराबर कमी हो जाती है और प्रतिस्थापन प्रभाव श्रम क्रिया मे VD वृद्धि करता है। परन्तु NV, VD से ND अधिक है। अत शुद्ध परिणाम यह होगा कि श्रम क्रिया म ND घन्टे की कमी हो जायगी।
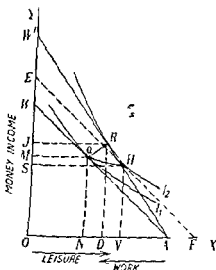
रेखाकृति 39 5

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि मजदूरी दर म वृद्धि के कारण व्यक्ति अधिक श्रम क्रिया की पूर्ति करेगा या कम की यह आय तथा प्रतिस्थापन प्रभावो की सापेक्ष शक्तियो पर निर्भर करेगा।

मजदूरी निर्देश वक्र तथा श्रम की पूर्ति वक्र (Wage Offer Curve and Supply Curve of Labour)

अब हम यह बतायेगे कि मजदूरी दर म परिवर्तन से श्रम क्रिया या व्यक्तिगत श्रमिक द्वारा श्रम पूर्ति किस प्रकार प्रभावित होती है? रेखाकृति 39 6 (a) को देखिये। प्रारम्भ म, मजदूरी रेखा AH_1 है और इस मजदूरी रेखा की ढाल यह बतलाती है कि प्रति घटे मजदूरी दर कितनी है। मजदूरी रेखा AH_1 होने पर व्यक्ति अनधिमान वक्र I_1 के बिन्दु Q पर सन्तुलन मे है और वह सप्ताह म AL_1 घण्टे काम कर रहा है। मान लो मजदूरी दर म वृद्धि हो जाती है और नई मजदूरी रेखा AH_2 है। मजदूरी रेखा AH_2 होने पर व्यक्ति अनधिमान वक्र I_2 के R बिन्दु पर सन्तुलन

मे है और अब AL_2 घन्टे प्रति सप्ताह काम कर रहा है जो पहले से अधिक है। अब यदि मजदूरी दर पुन बढ जाती है और नई मजदूरी रेखा AW_3 है तो व्यक्ति अनधिमान वक्र I_3 के S बिन्दु पर सन्तुलन म है और AL_3 घट काम करता है जो AL_1 और AL_2 से अधिक है। मान लीजिए मजदूरी दर में पुन वृद्धि हो जाती है और नई मजदूरी रेखा AW_4 है। AW_4 मजदूरी रेखा पर व्यक्ति T बिन्दु पर सन्तुलन म होगा और AL_4 घण्टे काम करेगा। यदि Q R,S तथा T बिन्दुओं को मिला दिया जाय तो जो वक्र बनता है उसको मजदूरी निवेद वक्र (Wage Offer Curve) कहते हैं। यह वक्र बताता है कि विभिन्न मजदूरी दरो पर व्यक्ति कितने घटे काम करने को तैयार होगा। इस पर ध्यान देना चाहिए कि मजदूरी निवेद वक्र श्रम का पूर्ति वक्र नहीं है यद्यपि बराबर मजदूरी दर तथा इसी प्रकार AW_3 तथा AW_4 मजदूरी रेखाए क्रमश P_3, P_4 के बराबर मजदूरी दरें दर्शाती है। यह स्पष्ट है कि जब मजदूरी दर P_1 से बढ कर P_4 हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप मजदूरी रेखा AW_1 से AW_4 हो जाती है तो काम किये गये घण्टो की मात्रा अर्थात् श्रम पूर्ति की मात्रा, L_1 से बढ कर L_4 हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप, रेखाकृति 39.6 (b) म श्रम का पूर्ति वक्र ऊपर की ओर को उठता हुआ है। रेखाकृति 39.6 (a) मे प्रदर्शित अनधिमान चित्र यह बताता है कि मजदूरी दर मे वृद्धि का प्रतिस्थापन प्रभाव इसके आय प्रभाव से शक्तिशाली है जिसके परिणामस्वरूप मजदूरी दर म वृद्धि होने पर श्रमकार्य की पूर्ति मे वृद्धि हो जाती है।
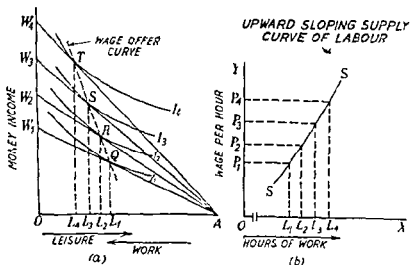
रेखाकृति 39.6

इससे वही सूचना प्राप्त होती है जो पूर्ति वक्र से। श्रम का पूर्ति वक्र तब प्राप्त होता है जब कि मजदूरी दर Y-अक्ष पर प्रत्यक्ष रूप मे प्रदर्शित की जाती है और विभिन्न मजदूरी दरो पर उपलब्ध श्रम-पूर्ति X-अक्ष पर। रेखाकृति 39.6 (b) म रेखाकृति 39.6 (a) द्वारा प्रदत्त सूचना के आधार पर श्रम के पूर्ति वक्र को खीचा गया है। मान लो AW_1 मजदूरी रेखा P_1 के बराबर मजदूरी दर दर्शाती है, AW_2 मजदूरी रेखा P_2 के

परन्तु श्रम का पूर्ति वक्र सदा ऊपर की ओर उठता हुआ नहीं होता। जब एक व्यक्ति आय की तुलना मे अवकाश को अधिक पसद करता है तो श्रम की पूर्ति (काम के घटे) मजदूरी बढने पर, कम हो जाती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि इस प्रकार की स्थिति मे आय प्रभाव, जिसकी प्रवृत्ति श्रम क्रिया को कम करने की होती है, प्रतिस्थापन प्रभाव, जिसकी प्रवृत्ति श्रम क्रिया को बढाने की होती है, से प्रबल

होता है। रेखाकृति 39.7 (a) में एक ऐसा अनधिमान वक्र दिखाया गया है जिसकी सहायता से पीछे को झुकता हुआ श्रम पूर्ति वक्र प्राप्त होता है जो यह बताता है कि मजदूरी दरों में वृद्धि होने पर प्रति सप्ताह के घंटों में कमी हो जाती है। AW_1, AW_2, AW_3 तथा AW_4 मजदूरी रेखाएँ हैं, जबकि मजदूरी दरें क्रमशः P_1, P_2, P_3, P_4 हैं। Q, R, S तथा T क्रमशः मजदूरी रेखाओं

(a) रेखाकृति 39.7 (b)

AW_1, AW_2, AW_3 तथा AW_4 पर सन्तुलन बिन्दु है। रेखाकृति 39.7 (a) से यह स्पष्ट है कि जब मजदूरी की दरों में वृद्धि हो जाती है और परिणाम स्वरूप मजदूरी रेखा AW_1 से विवर्तित होकर AW_4 हो जाती है, तो प्रति सप्ताह काम के घण्टों की पूर्ति AL_1 से गिर कर AL_4 हो जाती है। रेखाकृति 39.7 (b) में पूर्ति वक्र को खींचा गया है। यहाँ Y-अक्ष पर प्रति घंटे मजदूरी दरें हैं तथा X-अक्ष पर प्रति सप्ताह कार्य घंटे जो विभिन्न मजदूरी दरों पर उपलब्ध हैं। रेखाकृति 39.7 (b) से पता चलता है कि जब मजदूरी की दर P_2 से बढ़कर P_4 हो जाती है तो श्रम की पूर्ति (प्रति सप्ताह कार्य के घंटे) OL_1 से गिर कर OL_4 हो जाती है। अन्य शब्दों में, श्रम का पूर्ति वक्र पीछे को झुकता हुआ है, अर्थात् दायीं ओर से बायीं ओर को ऊपर चढ़ता हुआ है। इस पर ध्यान देना चाहिए कि आय व अवकाश से सम्बन्धित अनधिमान वक्रों की प्रकृति या संरचना ही पीछे को झुकते श्रम पूर्ति वक्र का कारण है। रेखाकृति 39.6 (a) तथा रेखाकृति 39.7 (a) पर एक दृष्टि डालने से यह पता चलता है कि दोनों में अनधिमान वक्रों की प्रकृति भिन्न-भिन्न है। जैसे ऊपर बताया, अनधिमान वक्र की प्रकृति आय व अवकाश के मध्य सापेक्ष अधिमान पर निर्भर करती है। रेखाकृति 39.7 (a) में आय तथा अवकाश के मध्य अनधिमान वक्र इस प्रकार के हैं कि आय की तुलना में, व्यक्ति का अवकाश के लिए अधिमान सापेक्ष रूप से अधिक है। इस स्थिति में, जबकि मजदूरी दर में वृद्धि होती है तो व्यक्ति अधिक अवकाश का आनन्द लेता है और तदनुरूप प्रति सप्ताह काम के घण्टों में कमी कर देता है।

परन्तु सामान्यतः ऐसा होता है कि जब प्रति घंटा मजदूरी दर बहुत निम्न स्तर से बढ़ कर साधारणतः अच्छे स्तर तक पहुँचती है तो प्रति सप्ताह कार्य घंटों में वृद्धि होती है और इसके उपरांत जब मजदूरी दरों में वृद्धि होती है तो प्रति सप्ताह कार्य घण्टों में कमी होने लगती है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति की कुछ न्यूनतम आवश्यकताएँ होती हैं जिनको सन्तुष्ट करने के लिए एक दी हुई मौद्रिक आय की आवश्यकता होती है। जबकि मजदूरी की दर इतनी कम होती है कि वह अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए पर्याप्त आय प्राप्त नहीं कर रहा है तो आय के

लिए, अवकाश की तुलना में उसका अधिमान सापेक्षत अधिक होगा। इसलिए जब मजदूरी दर में वृद्धि होगी तो व्यक्ति सप्ताह में अधिक घंटे कार्य करेगा। जब मजदूरी दर बढ़ कर उस स्तर पर पहुँच जाती है जहाँ कि वह अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त आय प्राप्त कर लेता है, तब मजदूरी दर में वृद्धि होने पर प्रति सप्ताह कार्य-घण्टे में कमी हो जाएगी, क्योंकि अब व्यक्ति अधिक अवकाश का आनन्द उठाने की सोच सकता है और साथ ही इतनी आय भी प्राप्त कर सकता है कि उसकी न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी हो जाएँ।

बढ़ कर P_2 हो जाने पर मजदूरी रेखा विवर्तित होकर AW_2 हो जाती है और एक व्यक्ति द्वारा प्रति सप्ताह किए गए कार्य (घण्टों में) में वृद्धि हो जाती है। परन्तु जब मजदूरी पुनः बढ़ जाती है और बढ़ कर P_3 तथा P_4 हो जाती है तो मजदूरी रेखाएँ भी विवर्तित होकर, क्रमशः AW_3 तथा AW_4 हो जाती है और व्यक्ति द्वारा किए गए कार्य की मात्रा में कमी हो जाती है। रेखाकृति 39.8 (b) से यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि P_2 मजदूरी दर तक (अर्थात् K बिन्दु तक) श्रम का पूर्ति वक्र ऊपर को चढ़ता हुआ है परन्तु इसके उपरान्त पीछे को मुड़ा हुआ है।

सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए श्रम का पूर्ति वक्र (Supply Curve of Labour for the Economy as a Whole)

एक अर्थव्यवस्था में व्यक्तियों के समूह के पूर्ति वक्र या सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के पूर्ति वक्र को प्राप्त

(a)

(b)

रेखाकृति 39.8

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि एक निश्चित मजदूरी दर तक श्रम का पूर्ति वक्र बायीं ओर से दायीं ओर ऊपर को चढ़ता हुआ होगा और उसके उपरान्त मजदूरी दरों में वृद्धि होने पर पूर्ति वक्र पीछे को मुड़ने लगेगा।

रेखाकृति 39.8 (a) में मजदूरी रेखाओं AW_1, AW_2, AW_3 तथा AW_4 (जो क्रमशः P_1, P_2, P_3 तथा P_4 मजदूरी दरें दर्शाती हैं) के साथ एक अनधिमान चित्र दिखाया गया है। मजदूरी दर के P_1 से
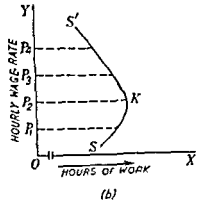
करने के लिए व्यक्तियों के पूर्ति वक्रों का क्षैतिज योग करना पड़ेगा। इस पर ध्यान देना चाहिए कि सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए श्रम का पूर्ति वक्र ऊपर को चढ़ता हुआ होगा या नीचे को गिरता हुआ, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि अर्थव्यवस्था में, सापेक्षत ऊपर चढ़ते श्रम पूर्ति वक्र वाले व्यक्तियों की संख्या नीचे गिरते श्रम पूर्ति वक्र वाले व्यक्तियों की संख्या से अधिक है या कम। इसके अतिरिक्त, विभिन्न व्यक्तियों का उनके पूर्ति वक्रों में पीछे को मुड़ना भाग विभिन्न

मजदूरी दरो पर क्या होगा ? इसके कारण सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का श्रम शक्ति का पूर्ति वक्र बनाने मे कठिनाई उत्पन्न हो जाती है । सामान्यत यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि जब बहुत निम्न स्तर के मजदूरी दरो मे वृद्धि होती है तो सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे श्रम की पूर्ति बढ़ती है और यह पूर्ति तब तक बढ़ती रहती है जब तक मजदूरी दरें साधारणत अच्छे स्तर तक नही पहुँच जाती (अर्थात् एक निश्चित मजदूरी की दर तक सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए श्रम का पूर्ति वक्र ऊपर को चढता है।) परन्तु इस सीमा के पश्चात् भी मजदूरी दरो मे वृद्धि होने पर श्रम की पूर्ति गिरती है और श्रम का पूर्ति वक्र पीछे को झुकने लगता है। अत अर्थव्यवस्था के लिए जो श्रम पूर्ति वक्र होता है वह रेखाकृति 30 8 (b) मे बने वक्र की आकृति का होता है ।

पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे मजदूरी का निर्धारण
(Wage Determination under Perfect Competition)

हमने पिछले अध्याय मे बताया कि पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे उत्पादन के किसी एक साधन की कीमत कैसे निर्धारित होती है । अब आप मान लें कि वह साधन श्रम (labour) है । जो कुछ हमने वहाँ पर एक साधन की कीमत के निर्धारण के विषय मे लिखा है, वह सब श्रम की मजदूरी पर भी लागू होता है, अर्थात् किसी साधन की कीमत का निर्धारण होता है, उसी प्रकार जैसे श्रम की कीमत, अर्थात् मजदूरी, निर्धारित होती है । जब किसी साधन की कीमत माँग और पूर्ति की शक्तियो के सतुलन द्वारा निर्धारित होती है, उसी प्रकार इन्ही दो शक्तियो द्वारा मजदूरी का निर्धारण होता है । अब हम श्रम की माँग और पूर्ति की शक्तियो की व्याख्या करेंगे । पहले माँग का पक्ष लें ।

श्रम की माँग (Demand of Labour)—जिस प्रकार किसी दूसरे साधन की माँग उस साधन द्वारा बनाए गए पदार्थों की माँग पर निर्भर करती है, इसी प्रकार श्रम की माँग भी उन पदार्थों की माँग मे निहित है जो ये श्रमिक तैयार करते हैं (Demand for labour is derived just as the demand for any other factor is derived from the demand for its output) । यदि उपभोक्ताओ की किसी पदार्थ के लिए माँग बढ़ जाती है, तो उत्पादक लोगो को भी उस पदार्थ की पूर्ति बढाने के लिए उन श्रमिको की माँग अधिक हो जाएगी जो उस पदार्थ को बनाते हैं । इसके विपरीत, यदि किसी वस्तु की माँग घट जाए तो उस वस्तु का उत्पादन कम किया जाएगा। इसके परिणामस्वरूप उन श्रमिको की माँग घट जाएगी जो उस वस्तु को बनाते हैं । श्रम की माँग मूल्य-सापेक्षता इसके द्वारा उत्पादित पदार्थों की माँग की मूल्यसापेक्षता पर निर्भर करती है ।

श्रम की माँग के बारे में एक और बात भी उल्लेखनीय है । वह यह है कि श्रम की माँग, दूसरे साधनो, जो इसके साथ मिलकर पदार्थ तैयार करते हैं, की कीमतो पर निर्भर करती है । यदि कपड़ा बुनने वाली मशीनें सस्ती हो जाएँ, तो नियोक्ता श्रम की अपेक्षा मशीनें अधिक प्रयोग करेंगे और श्रम की माँग घट जाएगी । इसके विपरीत, यदि मशीनो की अपेक्षा श्रम सस्ता हो जाता है, तो श्रम की माँग बढ जाएगी।

श्रम की माँग तकनीकी बातो (technical matters) पर निर्भर रहती है । कई उत्पादन क्रियाओ मे यत्र और श्रम एक निश्चित अनुपात मे प्रयुक्त होते हैं । यदि एक खड्डी (loom) को चलाने के लिए एक श्रमिक की आवश्यकता है, तो जितनी खड्डियाँ लगाई जाएँगी, उतने ही श्रमिको की माँग होगी । यदि तकनीकी उन्नति (technical progress) हो जाए, जैसे स्वचालित खड्डियाँ (automatic looms) कपडा बुनने मे प्रयुक्त होने लगें और एक श्रमिक दो या तीन खड्डियो को चला सके, तो उस अवस्था मे श्रम की माँग घट जाएगी ।

परन्तु वास्तव मे इन सब बातो, अर्थात् तकनीकी तथ्य, पदार्थों की कीमतें, अन्य साधनो की कीमतें आदि देखकर उद्यमकर्ता श्रम को एक मूलभूत तथ्य के अनुसार काम पर लगाता है । यह आधारभूत तथ्य 'सीमान्त आय उत्पादकता' (marginal revenue productivity) का है । श्रम की माँग वस्तुत इसकी सीमान्त

आय उत्पादकता पर निर्भर करती है। (The demand for labour depends upon its marginal revenue productivity)। सीमान्त आय उत्पादकता की विस्तारपूर्वक व्याख्या हम गत अध्याय में कर चुके हैं और इस बात की चर्चा भी कि श्रम की माँग किस प्रकार इसकी सीमान्त आय उत्पादकता पर निर्भर करती है। यहाँ पर दो रेखाकृतियाँ 38·4 (a) और 38·4 (b) दी गई हैं। इनको एक बार फिर देख लो। रेखाकृति 38·4 (a) में श्रम की एक फर्म द्वारा माँग दिखाई गई है और रेखाकृति 38·4 (b) में संपूर्ण उद्योग की श्रम के लिए माँग दिखाई गई है। यह बात *आपको याद होनी चाहिए कि बाजार में मजदूरी की* दर का निर्धारण सारे उद्योग की श्रम के लिए माँग करेगी, न कि एक व्यक्तिगत फर्म की माँग। इसलिए पहले हमने एक फर्म की श्रम के लिए माँग दिखाई है, और फिर उसके अनुसार सारे उद्योग (जिसमें समस्त फर्में शामिल हैं) की श्रम के लिए माँग को ज्ञात किया गया है। सारे उद्योग का श्रम का माँग-वक्र व्यक्तिगत फर्मों के माँग-वक्रों को एक दूसरे के साथ-साथ रखकर जोड़ (lateral summation of the demand curves of individual firms) द्वारा निकाला गया है। यह सब कुछ गत अध्याय में भली भाँति समझा जाए हैं। यह तो हुआ माँग का पक्ष। अब हम पूर्ति के पक्ष की व्याख्या करेंगे।

श्रम की पूर्ति (Supply of Labour)—पहले तो श्रम की पूर्ति का अर्थ समझना चाहिए। जैसे आप जानते हैं कि किसी पदार्थ की पूर्ति का अर्थ है कि विभिन्न कीमतों पर विक्रेता पदार्थ की कितनी-कितनी मात्रा बेचने को तैयार हैं (Supply is always at a price)। इसी प्रकार श्रम की पूर्ति है। इसका अर्थ है कि विभिन्न मजदूरी की दरों पर कितने श्रमिक अपने श्रम को बेचने को तैयार हैं (By the supply of labour, we mean the various numbers of workers of a given type of labour which would offer themselves for employment at various wage rates)।

श्रम की पूर्ति के तीन भाव हैं: (क) किसी एक फर्म के लिए श्रम की पूर्ति (supply of labour to a firm), (ख) किसी एक उद्योग के लिए श्रम की पूर्ति (supply of labour to an industry) (ग) समस्त अर्थव्यवस्था के लिए श्रम की पूर्ति (supply of labour to the entire economy)। पूर्ण प्रतियोगिता में, जैसा कि हम पहले पढ़ चुके हैं, फर्मों की संख्या बहुत होती है जिस कारण कोई एक फर्म श्रम की कीमत या मजदूरी पर प्रभाव नहीं डाल सकती। उसे तो बाजार में प्रचलित मजदूरी की दर को स्वीकार करना पड़ता है और इस दर पर जितने श्रमिक वह चाहे प्राप्त कर सकती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता में किसी एक फर्म *के श्रम की माँग में परिवर्तन होने से श्रम की संपूर्ण* पूर्ति पर तुच्छ मात्र ही प्रभाव पड़ता है। इसलिए किसी एक फर्म के लिए श्रम का पूर्ति वक्र प्रचलित मजदूरी की दर पर पूर्णतया मूल्य-सापेक्ष (perfectly elastic) होता है (Hence the supply of labour to a given firm is infinitely elastic at the current wage rate)। परन्तु ऐसा केवल पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में होता है।

परन्तु श्रम की पूर्ति सम्पूर्ण उद्योग के लिए पूर्णतया मूल्यसापेक्ष नहीं होती। यदि कोई एक उद्योग अधिक श्रम की मात्रा प्राप्त करना चाहता है तो उसे मजदूरी की दर को बढ़ाना पड़ेगा क्योंकि वह अधिक मजदूरी देकर श्रमिकों को दूसरे उद्योगों से अपनी ओर खींच सकता है। जब एक उद्योग किसी विशेष प्रकार के श्रम की मजदूरी बढ़ायेगा तो मिलते-जुलते व्यवसायों (similar occupations) से श्रमिक उस विशेष श्रम में आने की चेष्टा करेंगे। इससे उस उद्योग के लिए उस प्रकार के श्रम की पूर्ति बढ़ जाएगी। मजदूरी की दर बढ़ने पर वर्तमान श्रमिक अतिरिक्त समय (overtime) काम करने को तैयार हो जाएँगे। यही कारण है कि जब एक उद्योग किसी विशेष प्रकार के श्रम की मजदूरी बढ़ाता है तो उसके लिए श्रम की पूर्ति बढ़ जाती है। इसलिए एक उद्योग के लिए श्रम की पूर्ति का वक्र बाएँ से दाएँ ऊपर को चढ़ता है। (The supply curve for an industry slopes upwards from left to right)।

सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए श्रम का पूर्ति वक्र (supply curve of labour for the whole industry) कई आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि बातों पर निर्भर करता है। सारे देश में श्रम की पूर्ति मुख्यत जनसख्या के आकार, उसके आयु और लिंग के अनुसार वितरण (size and composition of the population, age and sex distribution etc) पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त श्रम की पूर्ति इन बातों पर भी निर्भर करती है कि उस देश की स्त्रियाँ काम करती हैं या उनमें पर्दे में रहने का रिवाज है, देश के लोग किस आयु तक काम करते हैं, और स्कूलों और कालेजो में पढ़ने वालों के लिए कुछ समय (part time) काम करने के लिए व्यवस्था या परम्परा है अथवा नहीं। श्रम की पूर्ति इस बात पर भी निर्भर करती है कि किसी देश में दिन में कितने घण्टे काम करने का कानून अथवा परम्परा है। अन्त में श्रम की कुल समर्थ पूर्ति (effective supply)

रेखाकृति 39 9
पीछे को मुड़ता हुआ श्रम का पूर्ति वक्र

उस देश के श्रमिको की कार्यकुशलता पर भी निर्भर करती है। यदि किसी देश में मजदूरी की दर बढ़ती जाय तो प्रारंभिक अवस्थाओं (initial stages) में श्रम की पूर्ति बढ़ जाएगी। इसी तरह यदि मजदूरी की दर बढ़ती जाय तो एक ऐसी अवस्था आती है जहाँ पर श्रमिको का जीवन निर्वाह आसानी से हो सके। इस अवस्था के पश्चात् भी यदि मजदूरी की दर बढ़ जाय तो श्रमिक दिन में कम घण्टे काम करने लगेंगे या सप्ताह और मास में कम दिन काम करना आरम्भ कर देंगे क्योंकि अधिक मजदूरी की दर पर वे कम घण्टे या कम दिन काम करने से भी जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त आय कमा सकते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि वे अधिक मजदूरी की दर पर काम की अपेक्षा अवकाश (leisure) को अधिक पसन्द करते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि एक विशेष अवस्था के बाद मजदूरी की दर बढ़ती जाए, तो श्रम की पूर्ति घटने लगती है। इसका यह अर्थ निकलता है कि एक अवस्था के बाद श्रम की पूर्ति पीछे को अर्थात् Y-अक्ष की ओर बढ़ना आरम्भ कर देती है। इसे अर्थशास्त्र में पीछे को मुड़ता हुआ श्रम का पूर्ति वक्र (backward sloping supply curve of labour) कहते हैं।

जिस प्रकार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के श्रम का पूर्ति-वक्र एक अवस्था के पश्चात् पीछे को Y-अक्ष की ओर बढ़ता है, उसी तरह किसी एक व्यक्तिगत श्रमिक (an individual labourer) का श्रम-पूर्ति-वक्र पीछे की ओर अर्थात् Y-अक्ष की ओर बढ़ता है, क्योंकि जब मजदूरी की दर बढ़ती है तो एक विशेष अवस्था के बाद वह कम घण्टे या कम दिन काम करना आरम्भ कर देता है और अवकाश (leisure) का आनन्द प्राप्त करने लग जाता है।

रेखाकृति 39 9 में एक श्रमिक का पूर्ति वक्र (supply curve of an individual labourer) बनाया गया है। X-अक्ष पर घण्टों की मात्रा, अर्थात् जितने घण्टे वह श्रमिक काम करने को तैयार है, दिखाई गई है और Y-अक्ष में मजदूरी की दर दिखाई गई है। रेखाकृति में आप देखेंगे कि जब तक मजदूरी की दर OW तक बढ़ती जाती है, तो श्रमिक भी अधिक घण्टे काम करता है, परन्तु जब मजदूरी की दर OW से ऊपर बढ़ती है तो श्रमिक कम घण्टे काम करने लगता है और जितनी ही मजदूरी अधिक होती है, काम के घण्टे उतने ही कम होते हैं।

इसलिए OW मजदूरी दर पर श्रम का पूर्ति-वक्र पीछे को Y-अक्ष की ओर बढना आरम्भ कर देता है।

सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए भी श्रम का पूर्ति-वक्र इस प्रकार पीछे को Y अक्ष की ओर बढता हुआ हो सकता है। एक तो प्रत्येक श्रमिक का श्रम कम हो सकता है, जैसे कि ऊपर व्याख्या की गई है, और दूसरे जब मजदूरी की दर बढती है तो घर की स्त्रियाँ काम करना छोड देती हैं और बच्चों को अधिक आयु तक स्कूलों व कॉलिजों मे रखा जाता है, जिससे अधिक मजदूरी पर काम करने वालो की सख्या कम हो जाती है।

माग और पूर्ति मे सतुलन (Equilibrium between Demand and Supply)—ऊपर हमने माँग और पूर्ति के पक्षो की अच्छी प्रकार जानकारी प्राप्त कर ली है। अब हम देखेंगे कि श्रम की माँग और पूर्ति की शक्तियो के सन्तुलन द्वारा मजदूरी की दर किस प्रकार निर्धारित होती है। रेखाकृति 39 10 मे प्रदर्शित है कि किस प्रकार श्रम का माग-वक्र और पूर्ति-वक्र एक-दूसरे को काट करके मजदूरी की दर को निर्धारित करते हैं। हमने ऊपर श्रम की पूर्ति की व्याख्या तीन दशाओं मे की है; श्रम की पूर्ति किसी एक फर्म के लिए, श्रम की पूर्ति किसी एक उद्योग के लिए और श्रम की पूर्ति सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए। यहाँ पर किसी एक उद्योग के लिए श्रम की पूर्ति का वक्र ही लिया जाएगा, क्योंकि केवल इसी की हमे यहाँ पर आवश्यकता है। रेखाकृति 39 10 मे SS एक उद्योग के लिए श्रम का पूर्ति-वक्र है, जो बायें से दायीं ओर ऊपर को चढता है। इसका अर्थ यह है कि जब उस उद्योग म एक विशेष प्रकार के श्रम की मजदूरी बढती है तो श्रमिक दूसरे उद्योग से और मिलते-जुलते व्यवसायो से निकल कर उस उद्योग मे आ जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उस उद्योग मे उस विशेष प्रकार के श्रम की पूर्ति बढ जाती है। रेखाकृति 39 10 म DD आरम्भिक माँग वक्र है। आप देखेंगे कि DD माँग वक्र और SS पूर्ति-वक्र बिन्दु E पर या OW_1 मजदूरी की दर पर एक-दूसरे को काटते हैं। अब OW_1 (N_1E) मजदूरी की दर निर्धारित होगी क्योंकि इस दर पर ही माँग और पूर्ति सन्तुलन की अवस्था म है।

रेखाकृति 39 10

उद्योग-विशेष मे किसी भी व्यक्तिगत फर्म को OW_1 मजदूरी की दर स्वीकार करनी पडेगी। इस प्रचलित मजदूरी की दर को मानकर वह इतने श्रमिक काम पर लगाएगा जिससे उसे अधिकतम लाभ हो सके। जब प्रचलित मजदूरी की दर OW_1 है, तो किसी एक फर्म के लिए श्रम का पूर्ति वक्र OW_1 स्तर पर

रेखाकृति 39 11

पूर्णतया मूल्यसापेक्ष (perfectly elastic) होगा और उसकी X-अक्ष के समानान्तर रेखा बनेगी। इसका अर्थ है कि फर्म OW_1 दर पर जितने चाहे श्रमिक लगा सकती है। यह समानान्तर रेखा औसत मजदूरी वक्र (average wage curve) भी होगा और सीमान्त मजदूरी वक्र (marginal wage curve) भी। फर्म

को अधिकतम लाभ उतने श्रमिक लगाने से होगा जहाँ पर सीमान्त मजदूरी (marginal wage) और सीमान्त आय उत्पादकता (marginal revenue productivity) समान हों। हम रेखाकृति 39.11 में देखते हैं कि OW_1 मजदूरी की दर पर सीमान्त मजदूरी वक्र $AW_1 = MW_1$ सीमान्त आय उत्पादकता वक्र MRP को बिन्दु B पर काटता है। इसलिए OW_1 मजदूरी की दर पर बिन्दु B फर्म का सन्तुलन बिन्दु है और इस सन्तुलन की अवस्था में फर्म OM श्रम की मात्रा को अपने यहाँ नियुक्त करेगी। इस सन्तुलन की अवस्था में औसत आय उत्पादकता (Average Revenue Productivity) ML है जो औसत मजदूरी MB ($= OW_1$) से अधिक है। इसलिए रेखाकृति में दिखाई गई फर्म OW_1 मजदूरी दर पर असामान्य लाभ (supernormal profits) अर्जित कर रही है। फर्म द्वारा अर्जित कुल असामान्य लाभ $BLHW_1$ के बराबर है। चूँकि हम यह पूर्व-कल्पना कर लेते हैं

रेखाकृति 39.12

कि सभी फर्में एक जैसी है, इसलिए OW_1 मजदूरी की दर पर उद्योग में सभी फर्में असामान्य लाभ अर्जित कर रही होंगी। इन असामान्य लाभों को देखकर बाहर से और फर्में इसमें प्रवेश करने लगेंगी, जिससे श्रम की माँग अधिक हो जाएगी और मजदूरी की दर बढ़ जाएगी। इसका परिणाम यह होगा कि असामान्य लाभ घट जायेंगे। बाहर से फर्में तब तक आती रहेंगी जब तक कि असामान्य लाभ समाप्त नहीं हो जाते। रेखाकृति 39.10 में नया माँग-वक्र $D'D'$ है, जो पहले माँग-वक्र से ऊपर को है और उस समय की श्रमिकों की माँग को व्यक्त करता है, जब उद्योग में फर्में इतनी आ जाती हैं और श्रम की माँग इतनी बढ़ जाती है कि असामान्य लाभ बिल्कुल नहीं रहते। यह नया माँग-वक्र $D'D'$ पूर्ति-वक्र SS को F बिन्दु पर काटता है और OW_2 मजदूरी दर निर्धारित होती है। रेखाकृति 39.12 से स्पष्ट है कि OW_2 मजदूरी की दर पर फर्म का सन्तुलन T बिन्दु पर होता है और इस दशा में औसत मजदूरी (average wage) और औसत आय उत्पादकता (Average Revenue Productivity) परस्पर समान हैं और फर्म केवल सामान्य लाभ (normal profits) कमा रही है और असामान्य लाभ समाप्त हो गए हैं। यही अवस्था अन्य सभी फर्मों की होगी।

यदि किसी समय उस उद्योग में इतनी फर्में आ जाती हैं कि रेखाकृति 39.10 में श्रम का माँग वक्र
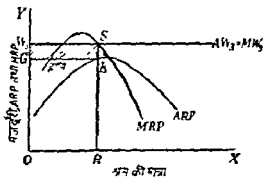
रेखाकृति 39.13

$D''D''$ हो जाता है, तो यह $D''D''$ माँग-वक्र पूर्ति-वक्र SS को OW_3 मजदूरी की दर पर काटता है। रेखाकृति 39.13 से स्पष्ट हो जाएगा कि OW_3 मजदूरी की दर पर फर्म का सन्तुलन OR श्रम की मात्रा पर होगा और इस अवस्था में औसत आय उत्पादकता (Average Revenue Productivity) RK, औसत मजदूरी (average wage), OW_3 (या RS) से कम है, जिससे फर्म को हानि होगी। OR श्रम की मात्रा पर औसत आय उत्पादकता RK है जबकि औसत मजदूरी

की दर RS (जो कि OW_2 के बराबर है) है। अतः फर्म को श्रम की प्रति इकाई पर RS के बराबर हानि होती है और कुल हानि $OKSW_2$ के क्षेत्र के बराबर है। इस हानि की दशा का परिणाम यह होगा कि कुछ फर्में उस उद्योग को छोड़ कर बाहर चली जाएँगी। कुछ फर्मों के उद्योग छोड़ने से श्रम की मांग घट जाएगी और फर्मों की संख्या तब तक कम होती जाएगी जब तक मांग वक्र $D'D'$ नहीं हो जाता और मजदूरी की दर कम होकर OW_1 नही हो जाती। इस OW_1 पर, जैसे ऊपर बताया गया है, फर्मों को केवल सामान्य लाभ (normal profits) ही प्राप्त होते हैं। रेखाकृति 39·12 से स्पष्ट है कि OW_1 मजदूरी की दर पर फर्म के सन्तुलन की अवस्था मे मजदूरी OW_1 सीमान्त आय उत्पादकता के समान तो है परन्तु साथ ही औसत आय उत्पादकता के भी समान है। अतः तब फर्म केवल सामान्य लाभ प्राप्त कर रही है। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में दीर्घकाल मे मजदूरी की दर श्रम की सीमान्त आय उत्पादकता (marginal revenue productivity) तथा औसत आय उत्पादकता (average revenue productivity) दोनों के बराबर होती है। (Under perfect competition in the long run, wage rate is equal both to the marginal revenue productivity and the average revenue productivity)।

क्रय-एकाधिकार में मजदूरी का निर्धारण (Wage Determination under Monopsony)

ऊपर हमने देखा कि श्रम-बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत मजदूरी की दर का निर्धारण किस प्रकार होता है। अब हमे यह विवेचन करना है कि यदि श्रम के खरीदने मे अपूर्ण प्रतियोगिता (imperfect competition) हो (जो कि वास्तविक जीवन के अधिक समीप है) तो श्रम की मजदूरी किस प्रकार निर्धारित होती है। श्रम बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता के कई रूप हो सकते हैं, इनमे से एक महत्वपूर्ण रूप क्रय-एकाधिकार (monopsony) का है। हम यहाँ क्रय-एकाधिकार के अन्तर्गत मजदूरी की दर के निर्धारण की व्याख्या करेंगे।

श्रम बाजार मे क्रय एकाधिकार का अभिप्राय है कि श्रम को खरीदने वाले का एकाधिकार हो अर्थात् श्रम को खरीदने वाला केवल एक व्यक्तिगत नियोजक (individual employer) अथवा फर्म हो, जबकि श्रमिको की संख्या बहुत हो और उनमे श्रम बेचने के लिए पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती हो। क्रय-एकाधिकार प्रायः उस अवस्था मे पाया जाता है जबकि किसी शहर में केवल एक बहुत बड़ा उत्पादक हो जिसको उस शहर के श्रमिकों को काम अथवा नौकरी देने मे लगभग एकाधिकार प्राप्त हो क्योंकि उसकी प्रतियोगिता करने वाले कोई अन्य उत्पादक न हों। इसके अतिरिक्त, क्रय-एकाधिकार तब भी हो सकता है जबकि एक शहर मे कई उत्पादक हो पर वे श्रम खरीदने के लिए आपस में मिलकर एक संयोग (combination) बना लें और समान मजदूरी एवं श्रम-नीति निर्धारित करें। यहाँ पर एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि क्रय-एकाधिकार तभी सफल हो सकता है यदि श्रमिको मे गतिशीलता का अभाव हो। यदि श्रमिक एक शहर से दूसरे शहरो को सरलता से जा सकते हो तो एक शहर के उत्पादक का क्रय-एकाधिकार सफल नही हो सकेगा।

क्रय-एकाधिकार की अवस्था मे मजदूरी की दर का निर्धारण रेखाकृति 39·14 मे दर्शाया गया है। क्रय-एकाधिकार की अवस्था मे नियोजक (employer) मजदूरी की दर को प्रभावित कर सकता है अर्थात् वह मजदूरी घटा-बढा सकता है। यदि वह कम श्रमिक काम पर लगाता है तो उसे कम मजदूरी देनी होगी और यदि वह अधिक श्रमिक काम पर लगायेगा तो उसे अधिक मजदूरी देनी होगी। अतएव उसके लिए औसत मजदूरी वक्र (Average Wage Curve) अर्थात् श्रमिको का पूर्ति वक्र दायें से बायी ओर ऊपर को चढ़ता हुआ होगा जैसा कि रेखाकृति 39·14 मे वक्र AW है। चूंकि औसत मजदूरी वक्र (Average Wage Curve, AW) ऊपर को चढ़ता हुआ है, इसलिए सीमान्त मजदूरी वक्र (Marginal Wage Curve, MW) उसके ऊपर स्थित होगा। रेखाकृति 39·14 मे

MW सीमान्त मजदूरी वक्र हुआ कि AW वक्र के ऊपर है। रेखाकृति 39.14 में ARP औसत आय उत्पादकता (Average Revenue Productivity) का वक्र है और MRP सीमान्त आय उत्पादकता का वक्र है।

क्रय एकाधिकार की दशा में उत्पादक का संतुलन वहाँ होगा जहाँ सीमान्त मजदूरी (MW), सीमान्त आय उत्पादकता के बराबर होगी अर्थात् वह इतने श्रमिक काम पर लगाएगा जिससे उसके लिए सीमान्त मजदूरी, सीमान्त आय उत्पादकता के बराबर हो जाए। ऐसा करने से ही वह अधिकतम लाभ कमाएगा जो कि उसका लक्ष्य है। रेखाकृति से यह प्रकट है कि उत्पा-

रेखाकृति 39.14
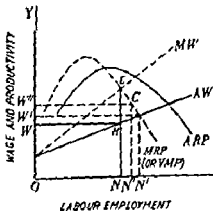
दक का सन्तुलन ON श्रम की मात्रा लगाने पर होगा क्योंकि ON श्रम की मात्रा पर सीमान्त मजदूरी (MW) और सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) परस्पर समान हैं। सीमान्त मजदूरी वक्र (MW) और सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) वक्र एक दूसरे को बिन्दु E पर काटते हैं जो ON श्रम की मात्रा के अनुरूप है।

अब यह देखना है कि इस सन्तुलन की अवस्था में मजदूरी की दर क्या निर्धारित होगी। यह हमें औसत मजदूरी वक्र (Average Wage Curve) AW से ज्ञात होगा। रेखाकृति से स्पष्ट है कि ON श्रम की मात्रा पर औसत मजदूरी (average wage) NH है जो कि OW के बराबर है। अतएव सन्तुलन की अवस्था में मजदूरी की दर NH अथवा OW निर्धारित हुई है। सन्तुलन की दशा में आप देखेंगे कि औसत मजदूरी OW ($=NH$) सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) जो इस रेखाकृति में NE है, से कम है। इसका अर्थ यह है कि मजदूर नियोक्ता के लिए उत्पादन तो अधिक करते हैं, परन्तु नियोक्ता मजदूरी कम देता है। अत: क्रय-एकाधिकार में नियोक्ता श्रमिकों का शोषण (exploitation) करता है। अर्थशास्त्री इसको क्रय-एकाधिकार जनित शोषण (monopsonistic exploitation) कहते हैं। यह बात सुगमता से समझ में आ सकती है कि यदि पूर्ण प्रतियोगिता न हो और नियोक्ता (employer) का एकाधिकार हो, तो स्वभावतः वह श्रमिकों का शोषण करेगा और मजदूरी कम देगा। अत: क्रय-एकाधिकार (monopsony) की अवस्था में श्रम का शोषण (exploitation of labour) होता है। यदि पूर्ण प्रतियोगिता होती तो मजदूरी की दर OW' और रोजगार की मात्रा ON' निश्चित होती। स्पष्ट है कि क्रय-एकाधिकार में मजदूरी और रोजगार दोनों कम होते हैं।

यहाँ पर यह बता देना उपयोगी होगा कि श्रम बाजार में क्रय-एकाधिकार के अतिरिक्त यदि अपूर्ण प्रतियोगिता का कोई अन्य रूप पाया जाए तो फिर भी उपर्युक्त विश्लेषण उस पर लागू होगा। उदाहरणतया यदि एक के स्थान पर श्रमिकों के दो अथवा तीन क्रेता (buyers) हों तो भी व्यक्तिगत क्रेता मजदूरी की दर को प्रभावित करने की स्थिति में होगा। श्रम का पूर्ति वक्र अर्थात् औसत मजदूरी (AW) वक्र बायें से दायीं ओर ऊपर को चढ़ता हुआ होगा और परिणामस्वरूप सीमान्त मजदूरी (MW) वक्र उसके ऊपर होगा। इसलिए इस अवस्था में भी सन्तुलन में मजदूरी की दर श्रमिक की सीमान्त आय उत्पादकता से कम होगी और इस प्रकार नियोजक श्रमिकों का शोषण करेंगे।

श्रम का शोषण
(Exploitation of Labour)

हम ऊपर व्याख्या कर चुके हैं कि श्रमिक तब शोषित होता है जबकि पदार्थ या वस्तु बाजार में

अपूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित होती है तथा जब श्रम बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता या क्रय-एकाधिकार होता है। प्रथम दशा मे यह एकाधिकारिक शोषण तथा बाद वाली दशा मे क्रय-एकाधिकारी शोषण कहा जाता है। उपर्युक्त विश्लेषण मे हमने श्रमिक के शोषण मे जोन राबिन्सन के दृष्टिकोण का अनुसरण किया है। जैसा कि हमने एक गत अध्याय मे देखा कि अनेक अर्थशास्त्रियो विशेषतया चैम्बरलिन द्वारा राबिन्सन की श्रमिक के शोषण की परिभाषा मान्य नही की जाती है। इसलिए श्रमिक के शोषण के विचार तथा विभिन्न अर्थ एव श्रमिक के शोषण के निर्वचन की विवेचना लाभप्रद है जो कि प्रस्तुत किये गये हैं।

पीगू-राबिन्सन का शोषण का विचार (Pigou-Robinson's Concept of Exploitation)

ए० सी० पीगू का अनुसरण करते हुए श्रीमती जोन राबिन्सन ने श्रमिक के शोषण को श्रमिक के सीमान्त उत्पादन के मूल्य (VMP) की अपेक्षा उसे कम भुगतान करने के रूप मे परिभाषित किया तथा सीमान्त उत्पादन का मूल्य, सीमान्त भौतिक उत्पादन को पदार्थ की विक्रय कीमत से गुणा द्वारा प्राप्त किया जाता है। जोन राबिन्सन को उद्धृत करते हुए—"वास्तव मे शोषण का क्या अर्थ होता है, वह सामान्यतया यह है कि मजदूरी, विक्रय कीमत (selling price) पर मूल्यांकित श्रमिक के सीमान्त भौतिक उत्पादन की अपेक्षा कम है।"[1]

उपर्युक्त विचारधारा के अनुसार श्रमिक का शोषण तब होता है जबकि श्रम को खरीदने (श्रम-बाजार) मे अपूर्ण प्रतियोगिता (या क्रेता एकाधिकार) होती है तथा जब पदार्थ बाजार मे अपूर्ण या एकाधिकारिक प्रतियोगिता होती है। इस प्रकार इस परिभाषा के आधार पर श्रमिक का शोषण तब नही हो सकता जबकि श्रम तथा पदार्थ बाजार दोनो मे पूर्ण प्रतियोगिता होती है। श्रीमती जोन राबिन्सन तथा चैम्बरलिन द्वारा अपूर्ण तथा एकाधिकारिक प्रतियोगिता सिद्धान्तो के विकास के पूर्व यह विश्वास किया जाता था कि जब श्रम बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता होती है तो श्रमिक शोषित होगा क्योकि उस दशा मे मजदूरी, सीमान्त भौतिक उत्पादन तथा पदार्थ की कीमत के गुणनफल (अर्थात् सीमान्त उत्पादन के मूल्य VMP) की अपेक्षा कम होगी। किन्तु पदार्थ या वस्तु बाजार के सम्बन्ध मे अपूर्ण तथा एकाधिकारिक प्रतियोगिता सिद्धान्तो के विकास से यह स्पष्ट हो गया कि यदि श्रम बाजार (अर्थात् श्रम खरीदने मे) पूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित भी होती है तो भी श्रमिक पदार्थ या वस्तु बाजार म अपूर्णताओ के कारण शोषित होगा।

रेखाकृति 39 15 तथा 39 16 पर ध्यान दे। रेखाकृति 39 15 मे वह दशा प्रदर्शित है जबकि श्रम तथा वस्तु बाजार दोनो मे पूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित होती है। चूंकि फर्म द्वारा उत्पादित पदार्थ के बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित होती है अत कीमत तथा सीमान्त आय बराबर होगी और इसलिए सीमात उत्पादन का मूल्य (VMP) श्रमिक के सीमान्त आय उत्पादन (MRP) के बराबर होगा। इसके अतिरिक्त चूंकि श्रम बाजार मे भी पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान होती है अत फर्म का मजदूरी दर पर कोई नियन्त्रण नही होगा और इसलिए औसत मजदूरी वक्र (AW) पूर्णतया लोचदार होगा तथा सीमान्त मजदूरी वक्र उसे ठीक-ठीक ढक लेगा। रेखाकृति 39 15 से स्पष्ट होगा कि फर्म श्रमिक के ON रोजगार पर सन्तुलन मे होगी जहाँ पर वे मजदूरी दर को सीमान्त उत्पादन के मूल्य (VMP) के बराबर कर रही हैं जो सीमांत आय उत्पादन (MRP) के बराबर है। इस प्रकार श्रम तथा पदार्थ बाजार दोनो मे पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ के अन्तर्गत यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रमिक को उसके सीमात उत्पादन के मूल्य के बराबर मजदूरी दर भुगतान की जाती है। पीगू राबिन्सन की परिभाषा के आधार पर जब श्रम तथा पदार्थ बाजार दोनो म पूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित होती है तो कोई शोषण विद्यमान नही होता है।

अब रेखाकृति 39 16 पर ध्यान दे जहाँ उस दशा को प्रदर्शित किया गया है जबकि पदार्थ बाजार म अपूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित होती है किन्तु श्रम बाजार मे

---

1 *Economics of Imperfect Competition*, p 282 and A C Pigou, *Economics of Welfare*, p 549

पूर्ण प्रतियोगिता होती है। राबिन्सन-पीगू की परिभाषा के आधार पर इस दशा में श्रमिक शोषित होगा। *चूंकि श्रम बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता है अत:* औसत तथा सीमान्त मजदूरी वक्र एक दूसरे मे मिल जाते है तथा प्रचलित मजदूरी दर पर पूर्णतया लोचदार होते हैं। पदार्थ बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण सीमान्त आय, पदार्थ की कीमत से कम है और इसलिए सीमान्त आय उत्पादन (MRP), सीमान्त उत्पादन के मूल्य की अपेक्षा कम है और इसलिए इन दोनो के वक्र एक दूसरे से विचलित हो जाते हैं, MRP वक्र, VMP

रेखाकृति 39 15
जब श्रम तथा पदार्थ मार्केट मे पूर्ण प्रतियोगिता हो तो श्रम का शोषण नहीं होता
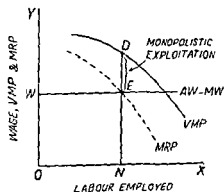
वक्र के नीचे स्थित होता है। इस परिस्थिति म सन्तुलन मे होने के लिए एक फर्म मजदूरी को सीमान्त आय उत्पादन के बराबर करेगी। रेखाकृति 39 16 से दृष्टिगत होगा कि फर्म श्रमिक की ON मात्रा नियुक्त कर रही है जिस पर सीमान्त आय उत्पादन, OW मजदूरी के बराबर है। रेखाकृति 39 16 से यह देखा जायगा कि श्रमिकों की ON नियुक्त मात्रा के सीमान्त उत्पादन का मूल्य ND है जबकि उसे सीमान्त आय उत्पादन NE ($NE = OW$) के बराबर मजदूरी भुगतान किया जा रहा है। और OW या NE, सीमान्त उत्पादन के मूल्य ND की अपेक्षा कम है अर्थात् श्रमिक को सीमान्त उत्पादन के मूल्य की अपेक्षा ED कम मात्रा मे भुगतान किया जा रहा है जो राबिन्सन-पीगू की परिभाषा के आधार पर श्रमिक के शोषण को प्रदर्शित करती है। चूंकि श्रमिक को भुगतान की गयी मजदूरी तथा श्रमिक के सीमान्त उत्पादन के मूल्य का अन्तर (अन्य शब्दो मे, VMP तथा MRP मे भिन्नता) पदार्थ बाजार मे (एकाधिकार को सम्मिलित करते हुए) अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण उत्पन्न हुआ है अत इसे श्रीमती जोन राबिन्सन द्वारा एकाधिकारिक शोषण (Monopolistic Exploitation) कहा गया है।[1]

मजदूरी दर तथा श्रमिक के सीमान्त उत्पादन के मूल्य के मध्य भिन्नता श्रम बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण भी उत्पन्न हो सकती है। जब श्रम

रेखाकृति 39 16
जब पदार्थ की मार्केट मे अपूर्ण प्रतियोगिता हो तो श्रम का शोषण होता है

बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता या क्रेता एकाधिकार होता है तो श्रमिक का पूर्ति वक्र (औसत मजदूरी वक्र) पूर्णतया लोचदार नही होता बल्कि ऊपर की ओर उठता हुआ होता है। इसके परिणामस्वरूप सीमान्त मजदूरी वक्र (MW), औसत मजदूरी वक्र के ऊपर स्थित होता है। इस दशा मे मजदूरी (अर्थात् औसत मजदूरी) तथा श्रमिक के सीमान्त उत्पादन के मूल्य मे भिन्नता, सीमान्त मजदूरी तथा तथा औसत मजदूरी मे अन्तर के कारण उत्पन्न होती है जो क्रमश श्रम बाजार मे क्रेता-एकाधिकार (Monopsony) या अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण होती है। सीमान्त मजदूरी तथा औसत मजदूरी मे यह भिन्नता और इसलिए

1 *Economics of Imperfect Competition*, Chapter 25

सीमान्त उत्पादन के मूल्य (VMP) तथा मजदूरी दर में भिन्नता बनी रहती है भले ही पदार्थ बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान हो और इसलिए MRP तथा VMP एक समान होते हैं। रेखाकृति 39 17 पर ध्यान दें जो श्रमिक के शोषण को प्रदर्शित करती है जबकि श्रम बाजार मे क्रेता एकाधिकार तथा पदार्थ बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान होती है। सतुलन मे होने के लिए फर्म श्रमिक की ON मात्रा नियुक्त करेगी जिसके अनुरूप सीमान्त मजदूरी (MW), सीमान्त आय उत्पादन (MRP) (जो कि यहाँ VMP के बराबर है) के बराबर है। श्रमिक को OW (= NS) मजदूरी का भुगतान किया जा रहा है जो नियुक्त श्रमिक की ON मात्रा पर सीमात उत्पादन के मूल्य (VMP) NE की अपेक्षा कम है। दोनो के बीच ES का अन्तर है जो श्रमिक के शोषण को प्रदर्शित करता है। चूँकि ES शोषण श्रम बाजार म क्रेता एकाधिकार या अपूर्ण प्रतियोगिता क कारण उत्पन्न हुआ है, अत श्रीमती जोन राबिन्सन द्वारा इसे 'श्रमिक का क्रेता-एकाधिकारिक शोषण (Monopsonistic Exploitation of labour) का नाम दिया गया है।[1]

रेखाकृति 39 17
श्रम का क्रेता-एकाधिकारिक शोषण

क्रेता एकाधिकारिक शोषण इस कारण उत्पन्न होता है कि श्रमिक का पूर्ति वक्र पूर्णतया लोचदार नही होता है और इसलिए सीमान्त मजदूरी वक्र (MW) औसत मजदूरी वक्र (AW) के ऊपर स्थित होता है।

अब, जैसा कि पहले व्याख्या की जा चुकी है कि जब श्रम तथा पदार्थ बाजार दोनो मे (एकाधिकार तथा क्रेता एकाधिकार को सम्मिलित करते हुए) अपूर्ण प्रतियोगिता होती है, तो श्रमिक का एकाधिकारिक तथा क्रेता-एकाधिकारिक दोहरा शोषण (double exploitation) होगा। यह दशा रेखाकृति 39 18 मे प्रदर्शित है। पदार्थ बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण सीमान्त आय उत्पादन (MRP) वक्र, सीमात उत्पादन के मूल्य वक्र (VMP) के नीचे स्थित होता है और अपूर्ण प्रतियोगिता (या साधन बाजार मे क्रेता-एकाधिकार) के कारण सीमान्त मजदूरी वक्र (MW), औसत मजदूरी वक्र (AW) के ऊपर स्थित होता है। सतुलन मे होने के लिए फर्म सीमान्त मजदूरी को सीमान्त आय उत्पादन के बराबर करेगी और इसलिए

रेखाकृति 39 18

श्रमिक की ON मात्रा नियुक्त करेगी। रेखाकृति 39 18 से दृष्टिगत होगा कि श्रमिक को OW मजदूरी दर का भुगतान किया जा रहा है जो कि न केवल सीमान्त उत्पादन के मूल्य NF की अपेक्षा कम है, वरन् सीमान्त आय उत्पादन NH की अपेक्षा भी कम है। इसके परिणामस्वरूप पीगू राबिन्सन के शोषण क विचार के अनुसार श्रमिक का कुल शोषण FH है जिसका EF (VMP तथा MRP का अन्तर) भाग

1 *Op cit*, Chapter 26.

एकाधिकारिक शोषण तथा *EH* (मजदूरी तथा *MRP* का अन्तर) भाग क्रेता-एकाधिकारिक शोषण है।

यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि पीगू-राबिन्सन का श्रमिक के शोषण का विचार अर्थात् श्रमिक को सीमान्त उत्पादन के मूल्य की अपेक्षा कम भुगतान किया जा रहा है, पूर्ण प्रतियोगिता को 'आदर्श' के रूप में तथा इसमे निर्धारित मजदूरी दर को न्यायसंगत, उचित तथा वास्तविक मान लेता है। इस पूर्णतया प्रतियोगी मजदूरी से कोई विचलन शोषण समझा जाता है। इस प्रकार Rothschild के अनुसार, "प्रो० पीगू तथा उनका अनुसरण करते हुए जोन राबिन्सन ने पूर्ण प्रतियोगिता के आदर्श को अपना प्रारम्भ बिन्दु बनाया है जैसा कि हमने देखा, इस प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिक सीमान्त भौतिक उत्पादन के मूल्य के बराबर मजदूरी प्राप्त करता है। इससे प्रत्येक विचलन शोषण समझा जाता है।"[1]

शोषण का उपर्युक्त विचार दो दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। प्रथम, यह उन मजदूरी भुगतानों की व्याख्या करने के विशुद्ध तकनीकी उपाय (*purely* technical way) के रूप में देखा जा सकता है जो उनकी अपेक्षा कम हैं जो पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओं के अन्तर्गत प्रचलित होतीं। शोषण के इस विशुद्ध तकनीकी दृष्टिकोण में उद्यमी का कोई हानिकारक रूप या अशुभ उद्देश्य अन्तर्निहित नहीं होता है। द्वितीय, पीगू-राबिन्सन के शोषण के विचार को उस विचार के रूप में देखा जा सकता है जो पूर्ण प्रतियोगिता की मजदूरियों को न्यायसंगत, उचित तथा ठीक मजदूरी के रूप में समझता है जो उद्यमी द्वारा श्रमिकों को भुगतान किया जाना चाहिए। द्वितीय अर्थ में शोषण के विचार को भावात्मक रंग दिया गया है तथा उद्यमी में अशुभ उद्देश्य (sinister motive) अन्तर्निहित है। इसके अतिरिक्त, शोषण के द्वितीय अर्थ में यह भी अन्तर्निहित है कि एक पदार्थ की बाजार कीमत अपने सामाजिक मूल्य को प्रतिबिम्बित करती है। पीगू तथा कुछ कम सीमा तक राबिन्सन ने शोषण को द्वितीय अर्थ में समझा अर्थात् नैतिक स्तर तथा भावात्मक रंग के दृष्टिकोण से समझा। वर्तमान लेखक की राय में 'पूर्ण प्रतियोगिता से विचलन" को अनैतिक समझना अन्यायपूर्ण तथा अनुचित है। अतः हम Rothschild से सहमत होते हैं जो लिखते हैं, "शोषण का यह प्रयोग .. एक अस्पष्ट मान्यता के रूप में समझा जा सकता है कि पूर्ण प्रतियोगिता की मजदूरियाँ श्रमिक की ठीक या उचित मजदूरियाँ हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार नैतिक निम्न स्तर प्रो० पीगू की परिभाषा का अंग है जो नव-विकसित सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के प्रभाव के अन्तर्गत स्थित रहा और कुछ कम सीमा तक यह सम्भवतः जोन राबिन्सन के लिए भी सत्य है। तथापि यह स्पष्ट होना चाहिए कि इस प्रकार की मान्यता का समर्थन करने का कोई वैज्ञानिक कारण नहीं है। पूर्ण प्रतियोगिता सन्तुलन से विचलन को 'शोषण' कहने द्वारा यह तात्पर्य नहीं निकलता कि यह सन्तुलन कोई श्रेष्ठ नैतिक अथवा राजनैतिक गुण धारण करता है।'[2]

पीगू-राबिन्सन के शोषण के विचार की चैम्बरलिन की समीक्षा तथा श्रमिक शोषण का उनका विचार (Chamberlin's Critique of Pigou Robinson's Concept of Exploitation and his Concept of Labour Exploitation)

हम पहले ही एक गत अध्याय में चर्चा कर चुके हैं कि चैम्बरलिन ने पीगू-राबिन्सन के शोषण के विचार की आलोचना की तथा अपना स्वयं का शोषण का विचार प्रस्तुत किया है। चैम्बरलिन के अनुसार (पदार्थ बाजार में) अपूर्ण या एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत न केवल श्रमिक वरन् सभी साधन अपने सीमांत उत्पादन के मूल्य की अपेक्षा कम पुरस्कार प्राप्त करते हैं। इसका कारण है कि जो तर्क श्रमिक के लिए उपयुक्त है, वह सभी साधनों पर समान रूप लागू होता है। चैम्बरलिन तर्क देते हैं कि पदार्थ बाजार में

1 K W Rothschild *The Theory of Wages*, Augustus M Kelley, New York 1966

2 *Op cit*, p 103

अपूर्ण या एकाधिकारिक प्रतियोगिता की दशाओं के अन्तर्गत चूंकि सीमांत आय, कीमत की अपेक्षा कम होती है अत यदि सभी साधनों को उनके सीमांत उत्पादन के मूल्य के बराबर भुगतान किया जाता है तो सभी साधनों के कुल भुगतानों का योग, फर्म को प्राप्त होने वाली कुल आय की अपेक्षा अधिक हो सकता है। तब फर्म के लिए साधनों को उनके सीमांत उत्पादन के मूल्य के अनुसार भुगतान करना कैसे सम्भव हो सकता है। चैम्बरलिन के अनुसार, इस तथ्य, कि कुछ साधन सीमान्त उत्पादन के मूल्य की अपेक्षा कम प्राप्त करते हैं, का अर्थ यह नहीं होता कि कुछ अन्य सीमान्त उत्पादन के मूल्य की अपेक्षा अधिक प्राप्त कर रहे होंगे। उनके अनुसार जब पदार्थ बाजार में अपूर्ण अथवा एकाधिकारिक प्रतियोगिता होती है तो (उद्यमियों को सम्मिलित करते हुए) सभी साधन एक भिन्न सिद्धान्त अर्थात् सीमान्त आय उत्पादन के अनुसार पुरस्कार प्राप्त करते है जो सीमान्त उत्पादन के मूल्य (VMP) से कम होता है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से चैम्बरलिन के अनुसार श्रमिक तब शोषित होता है जब कि उसे सीमान्त आय उत्पादन (MRP) की अपेक्षा कम भुगतान किया जाता है। इस प्रकार रेखाकृति 39 16 में प्रदर्शित मजदूरी दशा में जहाँ पदार्थ बाजार में अपूर्ण (या एकाधिकारिक) प्रतियोगिता तथा श्रम बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित होती है, श्रमिक OW मजदूरी प्राप्त कर रहा है जो श्रमिक के सीमान्त आय उत्पादन NE के बराबर है किन्तु श्रमिक के सीमान्त उत्पादन के मूल्य ND की अपेक्षा कम है। अत चैम्बरलिन के अनुसार, इस दशा में अर्थात् जब पदार्थ बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता तथा श्रम बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित होती है, तो श्रमिक का कोई शोषण नहीं होता है, यद्यपि पीगू-राबिन्सन की परिभाषा के आधार पर इस परिस्थिति में श्रमिक शोषित होता है क्योंकि श्रमिक की मजदूरी सीमान्त उत्पादन के मूल्य की अपेक्षा कम होती है।

रेखाकृति 39 17 में जो मजदूरी परिस्थिति प्रदर्शित करती है जब कि श्रम बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता या क्रेता एकाधिकार तथा पदार्थ बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित होती है, तो श्रमिक चैम्बरलिन तथा पीगू-राबिन्सन के शोषण के विचार के अनुसार शोषित होता है क्योंकि इस दशा में MRP, VMP के बराबर है तथा श्रमिक को भुगतान की गयी मजदूरी उनकी अपेक्षा कम है। इसके अतिरिक्त, रेखाकृति 39 18 में भी जिसमें पदार्थ बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता (या एकाधिकार) तथा श्रम बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता है, मजदूरी दर, VMP तथा MRP दोनों की अपेक्षा कम है और इसलिए राबिन्सन-पीगू तथा चैम्बरलिन के शोषण की परिभाषा के आधार पर श्रमिक के शोषण का अस्तित्व रहेगा। परन्तु चैम्बरलिन की परिभाषा के आधार पर शोषण केवल HE के बराबर होगा जबकि पीगू-राबिन्सन की परिभाषा के आधार पर श्रमिक का शोषण HF के बराबर होगा जो $HE+EF$ के बराबर है।

उपर्युक्त से यह तात्पर्य निकलता है कि चैम्बरलिन की परिभाषा के आधार पर श्रमिक का शोषण श्रम बाजार में क्रेता एकाधिकार या अपूर्ण प्रतियोगिता से उत्पन्न होता है जहाँ श्रमिक को भुगतान की गयी मजदूरी, सीमान्त आय उत्पादन की अपेक्षा कम होती है। नि सन्देह रूप से चैम्बरलिन का शोषण का विचार सैद्धान्तिक रूप से अपेक्षाकृत अधिक सुदृढ़ है तथा शोषण के शुद्ध रूप से तकनीकी पहलू की ओर ध्यान आकर्षित करता है। तथापि शोषण शब्द के साथ सामान्यतया भावात्मक रंग (emotional colouring) जुड़ा होता है और यह भावात्मक रंग चैम्बरलिन के शोषण के विचार में नहीं है।

श्रमिक का शोषण किस प्रकार दूर किया जा सकता है? (How can Labour Exploitation be Removed)?

हमने ऊपर शोषण के दो विचारों की विवेचना की है तथा उन दशाओं को भी स्पष्ट किया जिनके अन्तर्गत श्रमिक का शोषण उत्पन्न होता है। अब, एक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि श्रमिक का यह शोषण कैसे दूर किया जा सकता है अर्थात् क्या श्रम संघ (trade unions) अथवा सरकार श्रमिकों की मजदूरियों में वृद्धि द्वारा शोषण दूर कर सकती है—अथवा शोषण को दूर करने के लिए कुछ अन्य कदम उठाने पड़ते हैं।

जहाँ तक रेखाकृति 39·16 मे प्रदर्शित *ED* तथा रेखाकृति 39·18 मे एक भाग *EF*, एकाधिकारिक शोषण, जो कि पदार्थ बाजार म अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण उत्पन्न हुआ है का सम्बन्ध है, वह श्रम सघो द्वारा मजदूरी मे वृद्धि करने से दूर नही किया जा सकता है। *यही कारण है कि इस परिस्थिति मे यदि श्रम सघ मजदूरी वृद्धि मे सफल हो जाते हैं, तो नियोक्ता श्रमिक की कम मात्रा नियुक्त* करेगा ताकि नवीन ऊँची मजदूरी दर श्रमिक के सीमात आय उत्पादन के बराबर हो जाय। परन्तु महत्त्वपूर्ण उल्लेखनीय बात यह है कि अपेक्षाकृत कम रोजगार तथा अपेक्षाकृत ऊँची मजदूरी के साथ अब भी श्रमिक शोषित होगा क्योंकि इस नवीन मजदूरी की दशा मे भी सीमान्त उत्पादन का मूल्य (*VMP*), सीमान्त आय उत्पादन की अपेक्षा अधिक होगा जिसके साथ नियोक्ता द्वारा नवीन ऊँची मजदूरी बराबर की जायगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जोन राबिन्सन द्वारा अभिव्यक्त श्रमिक का एकाधिकारिक शोषण (Monopolistic Exploitation of Labour) श्रम सघो अथवा सरकार द्वारा मजदूरी बढाने द्वारा दूर नहीं किया जा सकता है। एकाधिकारिक शोषण जो पदार्थ बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता की दशाओ का सृजन करके ही दूर किया जा सकता है। *राज्य पदार्थ बाजार से एकाधिकारिक दशाओ या अपूर्णताओ को* दूर करने के लिए उपाय अपना सकता है।

परन्तु जहाँ तक श्रमिक के क्रेता-एकाधिकारिक शोषण (Monopsonistic Exploitation of Labour) का सम्बन्ध है, यह श्रम सघो अथवा सरकार के माध्यम से मजदूरियो मे वृद्धि द्वारा ही दूर किया जा सकता है। हम इस अध्याय मे इसकी व्याख्या पहले ही कर चुके है।

40

मजदूरी के निर्धारण में श्रम संघों तथा सामूहिक सौदाकारी का महत्त्व
(ROLE OF TRADE UNIONS AND COLLECTIVE BARGAINING IN WAGE DETERMINATION)

बहुत समय तक अर्थशास्त्री यह विश्वास करते रहे कि श्रमिक संघ (trade unions) और उनके द्वारा सामूहिक सौदाकारी श्रमिकों की मजदूरी बढ़ाने अथवा उनकी आर्थिक दशा सुधारने में महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकती। दूसरे शब्दों में, उनका विचार था कि मजदूर संघ श्रमिकों की मजदूरी बढ़ाने और इस प्रकार उनकी आर्थिक दशा सुधारने के साधन के रूप में प्रभावहीन (ineffective and superfluous) हैं और उनके द्वारा सामूहिक सौदाकारी बेकार की बात (futile undertaking) है। इसलिए 19वीं शताब्दी के मजदूरी सिद्धान्तों में मजदूरी के निर्धारण में श्रमिक संघों तथा सामूहिक सौदाकारी (collective bargaining) के महत्त्व की पूर्णतया उपेक्षा की गई। इस प्रकार मजदूरी का जीवन-निर्वाह सिद्धान्त (subsistence theory of wages) अथवा जिसे मजदूरी का लोह नियम (Iron law of wages) भी कहते हैं, के अनुसार मजदूरी की दर जीवन-निर्वाह के स्तर द्वारा निर्धारित होती है और दीर्घकाल में मजदूरी की दर जीवन-स्तर के बराबर रहती है। अल्पकाल में जीवन-स्तर से मजदूरी की दर ऊपर बढ़ जाने पर श्रमिक लोग अधिक सन्तान उत्पन्न करने के लिए प्रोत्साहित होंगे जिससे जनसंख्या और श्रमशक्ति बढ़ जाएगी। जनसंख्या और श्रमशक्ति में वृद्धि से मजदूरी की दर पुनः घट कर जीवन-स्तर के बराबर हो जाएगी। इसके विरुद्ध यदि मजदूरी की दर जीवन-स्तर से घट जाती है तो इससे श्रमिकों में भुखमरी की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी जो कि मृत्यु दर को बढ़ा देगी। मृत्यु दर बढ़ने पर देश की जनसंख्या और श्रमशक्ति कम हो जाएगी जिससे पुनः दीर्घकाल में मजदूरी की दर बढ़ कर आरम्भिक जीवन-निर्वाह स्तर के बराबर हो जाएगी।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जीवन-निर्वाह सिद्धान्त अथवा मजदूरी के लोह नियम के अनुसार मजदूरी दीर्घकाल में जीवन-निर्वाह स्तर से बंधी रहती है। दूसरे शब्दों में, इस सिद्धान्त के अनुसार श्रम का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र जीवन-निर्वाह स्तर पर पूर्णतया मूल्यसापेक्ष अथवा लोचदार (perfectly

elastic) होता है जैसा कि रेखाकृति 40 1 मे दिखाया
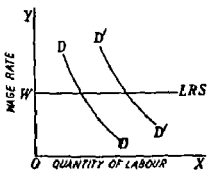
रेखाकृति 40 1

गया है जिसमे OW जीवन निर्वाह के बराबर मजदूरी को व्यक्त करता है । श्रम के इस पूर्णतया मूल्यसापेक्ष पूर्ति वक्र का यह अर्थ है कि श्रमिक सघो द्वारा श्रमिको का पारिश्रमिक बढ़ाने का कोई प्रयत्न व्यर्थ और असफल होगा क्योकि जैसा कि ऊपर बताया गया है, जीवन निर्वाह से ऊपर मजदूरी की दर बढ़ने पर जनसख्या और श्रमशक्ति बढ़ जाएगी जो कि मजदूरी की दर को घटा कर प्रारम्भिक जीवन निर्वाह स्तर पर ला देगी । इसके अतिरिक्त, दीर्घकाल मे श्रम के पूर्णतया मूल्यसापेक्ष पूर्ति वक्र का यह अर्थ है कि श्रमिक न्यूनतम जीवन-स्तर से अधिक आय और मजदूरी प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकते चाहे उनके श्रम की माँग कितनी ही क्यो न बढ़ जाए और चाहे दीर्घकाल मे उनकी उत्पादकता कितनी ही क्यो न बढ़ जाए । रेखाकृति 40 1 से स्पष्ट है कि जब श्रम के लिए माँग DD से बढकर $D'D'$ हो जाती है तो दीर्घकालीन सतुलन मे मजदूरी की दर OW के समान ही रहती है ।

इसी प्रकार मजदूरी निधि सिद्धान्त (Wage Fund Theory) मे भी यह विचार मौजूद था कि श्रमिक सघो या सामूहिक सौदाकारी से सामान्य रूप से मजदूरी की दर नहीं बढ़ाई जा सकती। इस सिद्धात के अनुसार मजदूरी दो बातो पर निर्भर करती है (1) श्रम को खरीदने के लिए निश्चित रखी गई मजदूरी निधि (wages fund) अथवा चल पूजी (working capital) । (2) रोजगार मे लगे श्रमिकों की सख्या । अत इस सिद्धान्त मे भी मजदूरी नहीं बढ़ सकती जब तक कि या तो मजदूरी निधि नहीं बढ़ाई जाती अथवा श्रमिको की सख्या कम नहीं हो जाती । परन्तु चूकि यह सिद्धान्त मजदूरी निधि को एक निश्चित मात्रा मानता है, इसलिए इसमे मजदूरी की दर केवल श्रमिकों की सख्या मे कमी हो जाने के कारण ही बढ सकती है । अतएव यह स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त के अनुसार श्रमिक सघो द्वारा मजदूरी मे सामान्य वृद्धि करने का प्रयास व्यर्थ है । यदि श्रमिक सघ एक व्यवसाय अथवा अन्य उद्योग मे मजदूरी की दर बढाने मे सफल हो जाते हैं तो यह केवल किसी अन्य उद्योग अथवा व्यवसाय मे श्रमिको की कम मजदूरी के स्थान पर ही हो सकता है और चूँकि मजदूरी निधि निश्चित और स्थिर है और श्रमिक सघो का जनसख्या पर कोई प्रभाव अथवा नियन्त्रण नहीं होता, इसलिए स्पष्ट है कि श्रमिक सघ तथा उनके द्वारा सामूहिक सौदाकारी समस्त श्रमिक वर्ग की मजदूरी नही बढा सकती ।

इसी प्रकार मजदूरी के सीमात उत्पादकता सिद्धात (Marginal Productivity Theory), जो कि पूर्ण प्रतियोगिता तथा श्रम की निश्चित मात्रा और
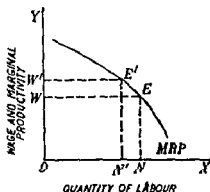
रेखाकृति 40 2

पूर्ति की पूर्वमान्यताएँ करता है के अनुसार भी श्रमिक सघ बेरोजगारी पैदा किए बिना मजदूरी बढ़ाने मे सफल नहीं हो सकते । इस सिद्धान्त के अनुसार सीमात आय उत्पादकता वक्र (marginal revenue productivity) उद्यमकर्ताओ या श्रम के लिए माँग वक्र

होता है । रेखाकृति 40 2 को देखिए जहाँ MRP श्रम का सीमान्त आय उत्पादकता वक्र है। यदि ON उपलब्ध श्रम की मात्रा (पूर्ति) है तो मजदूरी की दर OW निर्धारित होगी। अब यदि श्रमिक संघो द्वारा सामूहिक सौदाकारी से मजदूरी दर को OW' तक बढा दिया जाता है तो NN' के बराबर श्रमिक बेकार अथवा बेरोजगार हो जायेंगे क्योकि OW' मजदूरी की दर पर उद्यमकर्ता ON' श्रम की मात्रा काम पर लगायेंगे । अत. श्रमिक संघो द्वारा मजदूरी मे वृद्धि से NN' के बराबर श्रमिक बेरोजगार हो जाएगे। यदि ये बेरोजगार श्रमिक प्रतियोगिता करने मे स्वतन्त्र हैं तो उनकी प्रतियोगिता से मजदूरी की दर घट कर OW के बराबर हो जाएगी। यदि ये NN' के बराबर श्रमिक किसी न किसी कारण प्रतियोगिता करने मे स्वतन्त्र नहीं हैं तो वे बेरोजगार रहेंगे। स्पष्ट है कि सीमात उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार भी श्रमिक सघ मजदूरी बढाने मे असफल है अथवा बेरोजगारी उत्पन्न किए बिना मजदूरी नही बढा सकते ।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि 19वी शताब्दी के प्रसिद्ध मजदूरी सिद्धातो मे श्रमिक सघो तथा सामूहिक सौदाकारी द्वारा श्रमिको की मजदूरियाँ निश्चित करने तथा बढाने के लिए कोई स्थान नही है यद्यपि उस समय श्रम मार्किट की स्थितियाँ श्रमिक सघो तथा उनके द्वारा सामूहिक सौदाकारी के परिणामस्वरूप बिल्कुल बदल गई थीं। श्रमिक संघो की असमर्थता और असफलता का यह विचार 20वी शताब्दी के प्रारम्भ मे भी प्रचलित रहा यद्यपि बहुत से सिद्धान्तकर्ताओ ने इस विचार के ठीक होने पर सन्देह और शकाएँ प्रकट की थी। 20वी शताब्दी के तृतीय दशक मे ही आर्थिक सिद्धान्त मे श्रमिक सघो और सामूहिक सौदाकारी को स्थान दिया जाने लगा और उनके श्रमिको की मजदूरी निश्चित करने मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाने को मान्यता प्राप्त हुई।

इस तथ्य ने कि जानकारी के वास्तविक ससार मे पूर्ण प्रतियोगिता केवल अपवाद मात्र ही है समस्त कीमत तथा मजदूरी सिद्धान्त पर पुनः विचार करने के लिए प्रेरित किया परन्तु मजदूरी निर्धारण के उत्पादकता दृष्टिकोण को स्थिर रखा गया और सीमान्त उत्पादकता सिद्धात को अपूर्ण प्रतियोगिता (Imperfect Competition) की दशाओ मे विकसित किया गया जिसमे श्रमिक सघो तथा सामूहिक सौदाकारी का मजदूरी बढाने मे महत्त्व दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त, श्रमिक सघो के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण के दो सिद्धान्त, एक सस्थागत (institutional) दूसरे मनोवैज्ञानिक (Psychological) विकसित किए गए है। इन सिद्धान्तो मे सीमान्त उत्पादकता दृष्टिकोण का अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे सामूहिक सौदाकारी के महत्त्व से समन्वय करने की चेष्टा नही की गई है, बल्कि इनमे मजदूरी निर्धारण मे श्रमिक सघो तथा सामूहिक सौदाकारी को सर्वोच्च स्थान और महत्व दिया गया है। इस प्रकार इन सस्थागत तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तो मे श्रमिक सघ और सौदाकारी को पिछले द्वार से प्रवेश नही कराया जाता, बल्कि प्रारम्भ मे ही इसे केन्द्रीय स्थान प्रदान किया जाता है। हाल के वर्षों मे मजदूरी के निर्धारण मे श्रमिक सघो या सामूहिक सौदाकारी के कार्य को समुचित स्थान दिया गया है और अनेक सौदाकारी के सिद्धांत (Collective Bargaining Theories) प्रतिपादित किए गए है। वे सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण की विभिन्न वैकल्पिक व्याख्याएँ नही हैं, बल्कि उन विभिन्न तत्त्वो पर प्रकाश डालते हैं जो सामूहिक प्रक्रिया मे मजदूरी निर्धारण मे भाग लेते हैं; विभिन्न सिद्धान्त (Theories) भिन्न-भिन्न तत्त्वों पर बल देते हैं।

सामूहिक सौदाकारी तथा सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त
(Collective Bargaining and Marginal Productivity Theory)

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के प्रारम्भिक रूपो मे सौदाकारी को कोई स्थान प्राप्त नही था। सर्वप्रथम मजदूरी के सम्बन्ध मे सामूहिक सौदाकारी के दृष्टिकोण का विकास हुआ जिसमे सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की रूपरेखा

मे सामूहिक सौदाकारी का महत्त्व दर्शाया गया। ऐसा सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की कुछ पूर्वमान्यताओ को, जो कि इसके प्रारम्भिक रूपो की आवश्यक तत्त्व थी, त्याग कर किया गया। इसके बाद अपूर्ण प्रतियोगिता, क्रय एकाधिकार तथा अल्पाधिकार के सिद्धान्तो के विकसित होने से सीमान्त उत्पादकता नियम के अन्तर्गत सामूहिक सौदाकारी के दृष्टिकोण मे विस्तार किया गया।

सर्वप्रथम सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की स्थैतिक पूर्वमान्यताओं को चुनौती दी गई है। यह तो सर्वविदित है कि सीमान्त उत्पादकता वक्र उद्यमकर्ताओ का श्रम के लिए मांग वक्र है और यह सीमान्त उत्पादकता वक्र दिए हुए होने पर श्रमिक संघो द्वारा मजदूरी की दर मे वृद्धि से बेरोजगारी उत्पन्न हो जाएगी। परन्तु यह बताया जाता

रेखाकृति 40 3
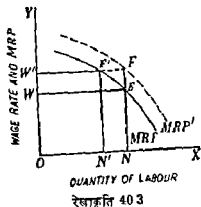
है कि जब सफल सौदाकारी से मजदूरी मे वृद्धि प्राप्त होती है तो सीमान्त उत्पादकता वक्र समान न रह कर ऊपर को सरक जाएगा। सीमान्त उत्पादकता वक्र ऊपर को इसलिए सरक जाएगा क्योंकि ऊँची मजदूरी पर श्रमिको की कार्यकुशलता (efficiency) बढ़ जाएगी। जब श्रमिको की कार्यकुशलता मजदूरी मे वृद्धि के कारण बढ़ती है और परिणामस्वरूप सीमान्त उत्पादकता वक्र ऊपर को उठ जाता है तब श्रमिक संघ द्वारा मजदूरी की दर मे वृद्धि से बेरोजगारी उत्पन्न हो जाने का इतना भय नही होता। ऐसा रेखाकृति 40 3 मे प्रदर्शित किया गया है। प्रारम्भ मे सीमान्त उत्पादकता वक्र *MRP* है और सन्तुलन मजदूरी *OW* है और उपलब्ध रोजगार *ON* के बराबर है। अब कल्पना कीजिए कि श्रमिक संघ द्वारा सफल सामूहिक सौदाकारी से मजदूरी *OW'* तक बढा दी जाती है। यदि सीमान्त उत्पादकता वक्र *MRP* अपरिवर्तित रहे तो तब ऊँची मजदूरी की दर *OW'* पर केवल *ON'* श्रमिको को रोजगार प्राप्त होगा जिसका अर्थ यह है कि *NN'* के बराबर श्रमिक बेरोजगार हो जाएँगे। परन्तु यदि मजदूरी मे वृद्धि कार्यकुशलता और उत्पादकता मे इतनी वृद्धि कर देती है जिससे कि सीमान्त उत्पादकता वक्र ऊपर *MRP'* (टूटे हुए वक्र) तक पहुँच जाता है तो उस स्थिति मे कोई बेरोजगारी उत्पन्न नही होगी। रेखाकृति 40 3 से स्पष्ट है कि जब सीमान्त उत्पादकता वक्र *MRP'* है तो ऊँची मजदूरी की दर *OW'* पर *ON* व्यक्ति ही रोजगार अथवा काम पर लगाए जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि हम मजदूरी के सम्बन्ध मे सामूहिक सौदाकारी का श्रमिकों की कार्यकुशलता अथवा सीमान्त उत्पादकता में वृद्धि पर प्रभाव को दृष्टि मे रखें तो तब श्रमिक संघ बेरोजगारी पैदा किये बिना मजदूरी बढ़ाने में सफल हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त, मजदूरी मे वृद्धि उद्यमकर्ताओ को उत्पादन प्रक्रिया की कार्यकुशलता बढ़ाने मे बाध्य कर सकती है जिसके परिणामस्वरूप ऊँची मजदूरी की दर पर पहले जितने श्रमिक ही लगाए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि सामूहिक सौदाकारी द्वारा मजदूरी मे की गई वृद्धि उत्पादित पदार्थ की कीमत बढ़ा कर उपभोक्ताओं पर डाली जा सकती है तो इससे भी सीमान्त आय उत्पादकता वक्र ऊपर को सरक जाएगा। ऐसी स्थिति मे इतनी बेरोजगारी उत्पन्न होने का भय नही होगा और ऊँची मजदूरी की दर ऊँची सीमान्त आय उत्पादकता के बराबर नई सन्तुलन स्थिति होगी। इसलिए मजदूरी निर्धारण के सामूहिक सौदाकारी के समर्थको का विचार है कि जब हम सामूहिक सौदाकारी के मजदूरी पर प्रभाव का विश्लेषण करते हैं तो इतना महत्त्व सीमान्त उत्पादकता वक्र पर चलने का नही है जितना कि इस वक्र का ऊपर सरकना है।

इसी प्रकार जब सामूहिक सौदाकारी द्वारा मजदूरी की दर बढ़ाई जाती है तो श्रम की पूर्ति भी कम

हो सकती है जिससे कि ऊँची मजदूरी अनैच्छिक बेरोजगारी के बिना सन्तुलन मजदूरी हो सकती है। श्रम की पूर्ति इसलिए घट सकती है क्योंकि जब मजदूरी की दर बढती है और पुरुष श्रमिक ऊँची मजदूरी अथवा आय अर्जित करने लग जाते हैं तो उनकी स्त्रियाँ काम करना बन्द कर सकती हैं (अर्थात् औरतें अपने आपको श्रम शक्ति से निकाल लेती हैं और घरो पर ही रहती हैं) तथा बच्चे अब अधिक समय के लिए स्कूल मे पढाए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त, ऊँची मजदूरी पर व्यक्ति सप्ताह मे कम घटे अथवा प्रत्येक मास और वर्ष में कम दिन काम करने लगते हैं। इस प्रकार उनकी मजदूरी का दर पर श्रम की पूर्ति मे कमी के कारण ऊँची मजदूरी की दर ही सन्तुलन मजदूरी की दर हो सकती है जहाँ श्रमिको की माँग और पूर्ति बराबर होते हैं। रेखाकृति 40 4 पर विचार कीजिए जहाँ कि SS' श्रम का पूर्ति वक्र है और DD' श्रम का माँग वक्र है। कल्पना कीजिए कि आरम्भिक सन्तुलन P बिन्दु पर है जहाँ ON श्रम को NP मजदूरी की दर पर रोजगार उपलब्ध है। अब विचार कीजिए कि श्रमिक सघ सामू-

रेखाकृति 40 4
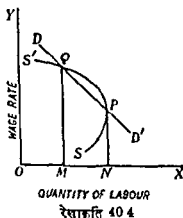
हिक सौदाकारी द्वारा मजदूरी की दर को MQ तक बढाने मे सफल हो जाता है। मजदूरी की दर मे इस वृद्धि से NM के बराबर श्रम बेरोजगार हो जाएगा। परन्तु दीर्घकाल मे इस ऊँची मजदूरी की दर से श्रम की पूर्ति घटकर OM हो जाएगी (क्योंकि पूर्ति वक्र पीछे को मुड़ता हुआ है) जिससे कि MQ नई सन्तुलन मजदूरी निर्धारित होगी जिस पर कि OM श्रम की मात्रा काम अथवा रोजगार पर लगाई जाती है। यह ध्यान से समझ लेना चाहिए कि नए सतुलन बिन्दु Q पर NM श्रमिक बेरोजगार नही हैं वे तो ऊँची मजदूरी MQ पर स्वेच्छा से रोजगार छोड गए है। इसके अतिरिक्त, यह भी नोट कर लेना चाहिए कि ऊँचे स्तर के सतुलन पर जहाँ पर श्रम की पूर्ति पहले से कम है, श्रमिको को राष्ट्रीय आय का पहले से अधिक आनुपातिक भाग प्राप्त होगा और वे ऊँचे अवकाश और शिक्षा के स्तर प्राप्त करेंगे। (राष्ट्रीय आय इसलिए बढ़ेगी क्योंकि ऊँची मजदूरी की दर पर अधिक उत्पादकता से जो उत्पादन बढेगा वह श्रम की पूर्ति मे कमी के कारण उत्पादन मे हानि से अधिक होगा।)

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि जब श्रमिक सघो द्वारा सामूहिक सौदाकारी से मजदूरी मे वृद्धि होती है तो मजदूरी एव रोजगार सम्बन्धी स्थिति को निर्धारित करने वाले तत्त्वो मे ऐसे परिवर्तन हो जाते हैं जिनसे कि ऊँची मजदूरी की दर बेरोजगारी उत्पन्न किए बिना सन्तुलन मजदूरी हो जाती है। प्रोफेसर रोथचाइल्ड (Rothschild) का कथन उचित है कि "ऊँची मजदूरी से आरम्भ मे कुछ बेरोजगारी उत्पन्न हो सकती है परन्तु इससे मजदूरी एव रोजगार की स्थिति के निर्धारक तत्त्वो मे ऐसे परिवर्तन हो जाएँगे जिनके कारण बेरोजगारी दूर हो जाएगी और ऊँची मजदूरी ही सन्तुलन मजदूरी बन जाती है।" ("The imposition of a higher wage may lead initially to some unemployment, but may then produce such a change in the determinants of the wage-employment situation that the unemployment disappears and the higher wage becomes an equilibrium wage)[1]

स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे तथा सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की गत्यात्मक रूपरेखा मे मजदूरी बढ़ाने में सामूहिक सौदाकारी के लिए पर्याप्त स्थान

1 K W Rothschild, Approaches to the Theory of Bargaining printed in the *Theory of Wage Determination*, edited by J. T Dunlop, p 281

है। इसके अतिरिक्त, इस जाग्रति के कारण वास्तविक ससार मे पूर्ण प्रतियोगिता प्रचलित न हो कर विभिन्न *प्रकार की अपूर्ण प्रतियोगिता जैसे कि अल्पाधिकार*, एकाधिकार क्रय एकाधिकार (monopsony), क्रय-अल्पाधिकार (oligopsony) आदि प्रचलित होते हैं सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के मजदूरी निर्धारण के सामूहिक सौदाकारी सिद्धान्त से समन्वय करने के कई *अवसर उत्पन्न हो गए हैं।*

अपूर्ण मार्किट की विभिन्न किस्मो मे से क्रय-एकाधिकार की किस्म विशेष उल्लेखनीय है जिसमे कि श्रम का केवल एक क्रेता होता है। *जैसा कि गत* अध्याय मे बताया गया है क्रय एकाधिकारी सीमात आय उत्पादकता नियम के अनुसार काम करता है और वह सन्तुलन अवस्था मे श्रम की सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) को सीमान्त मजदूरी (MW) के बराबर करता है। ऐसी स्थिति मे मजदूरी की दर (अर्थात् औसत मजदूरी) जो निर्धारित होती है, वह सीमान्त आय उत्पादकता से कम होती है। रेखाकृति 40 5 से स्पष्ट है कि क्रय-एकाधिकार मे मजदूरी की दर OW और रोजगार की मात्रा ON निर्धारित हुई है। अब *यदि श्रमिक* अपने को श्रमिक सघो मे सगठित कर लेते है तो वे *बेरोजगारी उत्पन्न किये बिना मजदूरी*

रेखाकृति 40 5

बढाने मे सफल हो सकते हैं। वास्तव मे ऐसी स्थिति *मे कुछ सीमा तक मजदूरी की दर मे वृद्धि से रोजगार की मात्रा मे भी वृद्धि होगी। जब श्रमिको द्वारा श्रमिक* सघ बना लिए जाते हैं और *श्रम की पूर्ति श्रमिक सघो* द्वारा होती है और ये श्रमिक सघ मालिको अथवा नियोक्ताओ के साथ किसी विशेष मजदूरी की दर पर *जिसकी वे माँग करते हैं* "सभी को रोजगार दो अथवा किसी को भी नही" के आधार पर सौदाकारी करते हैं अर्थात् उस विशेष मजदूरी की दर से कम कोई भी श्रम की पूर्ति नही की जाती और सभी श्रमिक-सघ के *सदस्य श्रमिक उस मागी गई मजदूरी* की दर पर ही श्रम की पूर्ति करने को राजी होंगे। इसका अर्थ यह है कि श्रमिक सघ की अवस्था में श्रम का पूर्ति वक्र एक विशेष मजदूरी की दर पर पूर्णतया मूल्यसापेक्ष (perfectly elastic) हो *जाता है।* रेखाकृति 40 5 से स्पष्ट है *कि यदि श्रमिक सघो की सामूहिक* सौदाकारी द्वारा मजदूरी की दर OW' निश्चित होती है तो श्रम की पूर्ति मजदूरी की दर OW' पर पूर्णतया मूल्य-सापेक्ष हो जाएगी और नया औसत मजदूरी (AW') वक्र, सीमान्त मजदूरी (MW') वक्र के साथ मिल *जाएगा। यह देखा जाएगा कि मजदूरी की इस दर पर तथा पूर्ति वक्र के* $AW' = MW'$ होने पर उद्यमकर्ता का सन्तुलन F बिन्दु पर होगा जिस पर कि रोजगार की ON' मात्रा उपलब्ध की जाएगी जो कि ON से अधिक है।

यह ध्यान से समझ लेना चाहिए कि एक शक्तिशाली श्रमिक सघ मजदूरी की दर OW'' तक ही बढा सकता है अर्थात् मजदूरी की दर आरम्भिक रोजगार के स्तर ON पर सीमान्त आय उत्पादकता के स्तर तक *ही बढाई जा सकती है।* जब मजदूरी की दर सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत OW'' निश्चित की जाती है और फलस्वरूप श्रम का पूर्ति वक्र मजदूरी की दर OW'' पर पूर्णतया मूल्यसापेक्ष हो जाता है तो सतुलन रोजगार की मात्रा ON पर ही होगा जो कि प्रारम्भ मे था। इस प्रकार क्रय-एकाधिकार की स्थिति मे एक *शक्तिशाली श्रमिक सघ बेरोजगारी पैदा करने के भय के बिना ही मजदूरी की दर को सीमात उत्पादकता* तक बढा सकता है। श्रमिक सघ की अनुपस्थिति में क्रय-एकाधिकारी श्रमिको का EL अथवा WW'' के बराबर शोषण (exploitation) करेगा। अत स्पष्ट है कि श्रमिक अपने को श्रमिक सघों मे सगठित करके

और क्रय-एकाधिकारी के साथ सामूहिक सौदाकारी करके अपनी मजदूरी को सीमान्त उत्पादकता के स्तर तक बढा सकते हैं और इस प्रकार क्रय-एकाधिकारी द्वारा शोषण को समाप्त कर सकते हैं।

क्रय-एकाधिकार के अतिरिक्त श्रम बाजार मे अन्य प्रकार की अपूर्ण प्रतियोगिता मे भी एक फर्म के लिए श्रम का पूर्ति वक्र, श्रमिको के श्रमिक सघ मे सगठित न होने की स्थिति मे ऊपर को चढेगा जिससे सीमात मजदूरी वक्र औसत मजदूरी वक्र के ऊपर स्थित होगा। इस दशा मे भी श्रमिक सघ द्वारा मजदूरी की दर बढाने का वही परिणाम होगा जो कि हम ऊपर क्रय एकाधिकार की स्थिति मे बता चुके हैं।

इसके अतिरिक्त, यदि पदार्थ के बाजार मे अल्पाधिकार (Oligopoly) भी विद्यमान हो जैसा कि पूँजीवादी देशों मे प्राय पाया जाता है तो उस स्थिति में भी श्रमिक सघों द्वारा मजदूरी की दर को बेरोजगारी पैदा किए बिना बढाया जा सकता है। सामान्यत यह विश्वास किया जाता है कि अल्पाधिकारी के सम्मुख
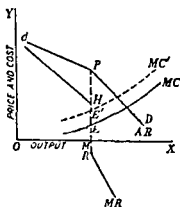
रेखाकृति 40 6

मांग वक्र विकुचन (kinked demand curve) होता है जिससे पदार्थ की प्रचलित कीमत पर विकुचन होता है जिसके अनुरूप सीमान्त आय वक्र का किक के सीधे नीचे टूटा हुआ भाग होता है। ऐसी स्थिति मे यदि श्रमिक सघ द्वारा सामूहिक सौदाकारी के कारण मजदूरी की दर मे वृद्धि होती है तो सीमान्त लागत वक्र ऊपर को सरक जाएगा लेकिन मजदूरी की दर मे कुछ सीमा तक वृद्धि होने से यह नया सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय वक्र के टूटे हुए भाग मे से गुजरेगा जैसा कि रेखाकृति 40 6 मे दिखाया गया है। यह इस बात को प्रकट करता है कि मजदूरी की दर मे वृद्धि तथा उसके फलस्वरूप लागत मे वृद्धि के बावजूद उत्पादन अपरिवर्तित तथा समान रहेगा। मजदूरी की दर मे वृद्धि के परिणामस्वरूप उत्पादन मात्रा मे कोई परिवर्तन न होने का अर्थ यह है कि रोजगार की मात्रा समान रहेगी बशर्तें कि नियोजक अथवा उद्यमकर्ता श्रम का मशीनरी द्वारा प्रतिस्थापन नही करता। इससे *यह निष्कर्ष निकलता है कि ऐसी स्थिति मे भी रोजगार के स्तर को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किए बिना* श्रमिक सघ तथा उनके द्वारा सामूहिक सौदाकारी मजदूरी की दर को बढाने मे सफल हो सकती है। अल्पएकाधिकारी मार्किट व्यवस्था नियोजक को इस प्रकार की कीमत और उत्पादन नीति अपनाने को बाध्य करती है जिससे कि मजदूरी की दर मे कुछ सीमा तक वृद्धि को स्वय वहन करना पडता है। इस प्रकार *अल्पाधिकारी मार्किट व्यवस्था मे श्रमिक सघ पूँजी*वादी नियोजक के लाभो को घटा कर मजदूरी की दर बढाने मे सफल हो सकते हैं।

क्रय एकाधिकारिक विभेदीकरण (monopsonistic discrimination) की दशाओ मे भी श्रमिक सघ श्रमिकों की मजदूरी अथवा आर्थिक दशा बढ़ाने मे महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। क्रय एकाधिकारिक विभेदीकरण तब होता है जब क्रय एकाधिकारी विभिन्न श्रमिको को भिन्न-भिन्न मजदूरियाँ अदा करता है। हमने क्रय एकाधिकारी की दशा के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण के विश्लेषण मे यह माना था कि नियोजक को श्रम की अतिरिक्त पूर्ति प्राप्त करने के लिए अधिक मजदूरी देनी पडेगी। इसके अतिरिक्त, वहाँ पर हमने यह भी मान्यता की थी कि ऊँची अथवा अधिक मजदूरी न केवल नये श्रमिकों को ही दी जाएगी बल्कि पहले से काम कर रहे श्रमिको को भी देनी पडेगी। ऐसी स्थिति मे श्रम का सीमांत लागत वक्र (सीमांत मजदूरी वक्र) श्रम के पूर्ति वक्र के ऊपर स्थित होता है। परन्तु विभेदकारी क्रय एकाधिकार मे

नियोजक केवल नये श्रमिको को ही ऊँची मजदूरी अदा करेगा और पुराने श्रमिको को वह उतनी मजदूरी देता रहेगा जितनी उनको वहाँ पर काम करते रहने को प्रेरित करने के लिए आवश्यक होती है। दूसरे शब्दो म, वह अपने पुराने प्रत्येक श्रमिक को उनकी वैकल्पिक आय के बराबर ही मजदूरी अदा करेगा और जिन श्रमिको की वैकल्पिक आय कम होगी उनको कम मजदूरी देगा और जिनकी वैकल्पिक आय अधिक होगी उनको अधिक मजदूरी देगा। क्रय एकाधिकारिक विभेदीकरण के अन्तर्गत नियोजक प्रत्येक श्रमिक जिसको कि वह काम देता है के साथ पृथक रूप से सौदा करेगा। इस प्रकार के विभेदीकरण मे श्रम का सीमांत लागत वक्र श्रम के पूर्ति वक्र के समान होगा अर्थात् उससे मिलकर हुआ होगा क्योंकि अतिरिक्त श्रमिक को काम पर लगाने से जितनी उसको मजदूरी दी जाती है उसके समान ही श्रम-लागत मे वृद्धि होगी। इसलिए क्रय एकाधिकारिक विभेदीकरण के अन्तर्गत सन्तुलन वहाँ पर होगा जहाँ श्रम का पूर्ति वक्र उसके माँग वक्र को काटता है जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता की हालत मे होता है। लेकिन यह ध्यान से समझ लेना चाहिए कि विभेदकारी एकाधिकार द्वारा अर्जित लाभ *पूर्ण प्रतियोगिता तथा साधारण क्रय एकाधिकार की तुलना मे काफी अधिक होंगे।*

क्रय एकाधिकारिक विभेदीकरण वास्तविक संसार म काफी अधिक पाया जाता है *जहाँ श्रमिक असंगठित* होते है और बेरोजगारी के भय के कारण उन्हें आवश्यक न्यूनतम मजदूरी स्वीकार करनी पड़ती है। ऐसी स्थितियो मे, यदि श्रमिक अपने को शक्तिशाली संघो मे संगठित कर लेते हैं, तो वे क्रय एकाधिकारी को विभेदीकरण समाप्त करने के लिए बाध्य कर सकते हैं और उसे एक प्रकार के श्रमिको को समान मजदूरी प्रदान करने को बाध्य करके विभेदीकरण के कारण अर्जित अत्यधिक लाभों को घटा सकते हैं। विकसित देशो मे तथा अच्छी प्रकार स्थापित उद्योगो मे श्रमिको का *शक्तिशाली श्रमिक संघ बना लेने तथा उनके नियोजको के साथ सामूहिक सौदाकारी करने के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण क्रय एकाधिकारिक विभेदी-*करण (अर्थात् भिन्न-भिन्न श्रमिको मे विभेदीकरण) खत्म हो गया है। परन्तु विकसित तथा अल्प-विकसित सभी प्रकार के देशो मे वर्ग-विभेदीकरण *(group discrimination) काफी प्रचलित है। वर्ग-विभेदीकरण से तात्पर्य समाज के विभिन्न समूहो अथवा वर्गों* मे विभेदीकरण करना है। इस प्रकार एक प्रकार के कार्य के लिए महिलाओ को पुरुषो की तुलना मे प्राय कम मजदूरी अदा की जाती है। कुछ देशो मे काले लोगो को श्वेत लोगो की अपेक्षा एक ही प्रकार के काम के लिए कम मजदूरी दी जाती है। इसी तरह लड़को को पुरुषो की अपेक्षा कम मजदूरी दी जाती है। *वर्ग विभेदीकरण को समाप्त किया जा सकता है यदि ये वर्ग अपने को शक्तिशाली श्रमिक संघो मे संगठित कर लें। सरकार द्वारा भी इस समूहगत* विभेदीकरण को विभिन्न नीतियो द्वारा समाप्त किया जा सकता है।

एक और विशेष स्थिति है जिसमे श्रमिक संघ रोजगार को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किए बिना श्रमिको की मजदूरी बढाने मे सफलतापूर्वक भूमिका निभा सकते हैं। यह स्थिति नियोजको द्वारा **एक दूसरे से समझौता है** जिसका क्रय एकाधिकार के विचार से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब किसी विशेष प्रकार के श्रम को खरीदने के लिए केवल थोड़ी ही फर्में होती हैं तो वह इस बात को समझ सकते हैं कि एक फर्म द्वारा श्रम की माँग बढ़ने पर मजदूरी बढ जाए जिससे इन सभी को ऊँची मजदूरी देनी पड़ेगी। यदि एक फर्म श्रमिको को आकर्षित करने के लिए ऊँची मजदूरी *प्रदान करती है तो अन्य फर्मों को भी जो उस प्रकार के श्रम का प्रयोग करती हैं, श्रमिको को अपने पास रखने के लिए ज्यादा मजदूरी देनी पड़ेगी। ऐसी परिस्थितियो मे फर्मों में प्रबल इच्छा उत्पन्न हो जाएगी* कि किसी न किसी तरह श्रम के खरीदने मे यह प्रतियोगिता समाप्त की जाए। इससे विभिन्न फर्मों के बीच खुला अथवा प्रच्छन्न समझौता हो सकता है मजदूरी न बढाने के लिए।

जब विभिन्न फर्मों मे मजदूरी न बढ़ाने के लिए *समझौता होता है तो उस स्थिति मे सन्तुलन मे होने*

के लिए श्रम की सीमांत उत्पादकता को श्रम की सीमांत लागत के बराबर नहीं किया जाएगा। नियोजकों में समझौते की स्थिति में मजदूरी की दर को एक परम्परागत स्तर अथवा समझौते द्वारा निश्चित स्तर पर बनाये रखा जाएगा चाहे सीमांत आय उत्पादकता मजदूरी की दर से अधिक ही क्यों न हो। यद्यपि फर्म श्रम की मात्रा उस बिन्दु तक बढ़ा कर जहाँ कि श्रम की सीमांत आय उत्पादकता और सीमांत लागत बराबर होते हैं अपने लाभ को बढ़ा सकती है किन्तु ऐसा करने के लिए उसे मजदूरी की दर बढ़ानी पड़ेगी जिसकी समझौते के अन्तर्गत मनाही होती है। इस समझौते की स्थितियों में श्रमिकों द्वारा श्रमिक संघों में संगठित होना नियोजकों को सीमांत आय उत्पादकता के बराबर मजदूरी देने के लिए बाध्य कर सकता है। श्रमिक संघ के दबाव में ऐसी स्थिति में मजदूरी की दर के सीमांत उत्पादकता के स्तर पर बढ़ने से कोई बेरोजगारी उत्पन्न नहीं होगी क्योंकि मजदूरी की दर में इस प्रकार वृद्धि केवल सीमांत आय उत्पादकता और श्रम की सीमांत लागत में अन्तर को समाप्त करेगी, इसलिए यह श्रम की सीमान्त लागत को सीमांत आय उत्पादकता से अधिक नहीं करेगा। रेखाकृति 40.7 पर विचार कीजिए जहाँ कि OW मजदूरी की दर है जो कि नियोजकों में समझौते की स्थिति में दी जा रही है और इस स्थिति में इस मजदूरी पर एक फर्म श्रमिकों की ON मात्रा काम अथवा रोजगार पर लगा रही है। अब कल्पना कीजिए कि फर्म द्वारा श्रम के लिए माँग DD से बढ़ कर $D'D'$ हो जाती है जिसके फलस्वरूप श्रम की ON मात्रा की सीमान्त आय उत्पादकता NR से बढ़ कर NP के बराबर हो जाती है। परन्तु नियोजकों में मजदूरी की दर न बढ़ाने के विषय में समझौते के कारण फर्म मजदूरी की दर OW ही देती रहेगी यद्यपि श्रम की ON मात्रा की सीमान्त आय उत्पादकता मजदूरी की दर OW अथवा NR से अधिक है। रेखाकृति से यह स्पष्ट है कि यदि फर्म मजदूरी की दर को बढ़ाने में स्वतन्त्र होती तो इसने ऐसा कर लिया होता और रोजगार को बिन्दु K तक बढ़ा लिया होता जहाँ कि श्रम की सीमांत लागत और सीमान्त आय उत्पादकता बराबर है। परन्तु ऐसा वह अन्य फर्मों से कुछ श्रमिक खींच कर करती। परन्तु समझौते के अन्तर्गत वह समझौता की गई मजदूरी की दर OW ही प्रदान करती रहेगी और श्रम की ON मात्रा ही रोजगार पर लगायेगी, यद्यपि उसकी श्रम के लिए माँग बढ़ गई है
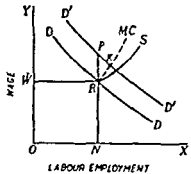
रेखाकृति 40.7

और श्रम की ON मात्रा की सीमान्त आय उत्पादकता बढ़ कर NP हो गई है। इसलिए इस उद्योग में श्रमिक संघ के दबाव के कारण रोजगार की मात्रा में कमी किए बिना मजदूरी की दर को सीमान्त उत्पादकता के स्तर NP तक बढ़ाया जा सकता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि श्रमिक संघ बेकार नहीं हैं और उनके द्वारा सामूहिक सौदाकारी फजूल की क्रिया नहीं है। वस्तुतः वे श्रमिकों की मजदूरियों को बढ़ाने में महत्वपूर्ण कार्य कर सकते हैं और उनको नियोजकों के शोषण से बचा सकते हैं। वास्तव में कई स्थितियों में तो श्रमिक संघ बेरोजगारी उत्पन्न किए बिना मजदूरियाँ बढ़ा सकते हैं।

श्रमिक संघों अथवा सामूहिक सौदाकारी अथवा द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण

(Wage Determination under Trade Unions or Collective Bargaining or Bilateral Monopoly)

एक श्रमिक संघ का एक नियोजक (employer)

के साथ सामूहिक सौदाकारी करना अथवा जब सामूहिक सौदाकारी समस्त उद्योग मे हो जहाँ कि उस उद्योग का श्रमिक सघ नियोजको का सघ (Association of Employers) के साथ सौदाकारी करता है, ऐसी स्थिति को दर्शाता है जिसमे मार्किट मे एक विक्रेता, एक क्रेता का सामना करता है (a single buyer faces a single seller) अर्थात् यह द्विपक्षीय एकाधिकार (bilateral monopoly) की स्थिति है। ऐसी स्थिति मे श्रमिक सघ श्रमिको की सेवाओ का एक मात्र विक्रेता है और नियोजक अथवा नियोजको का सघ श्रमिको का एक मात्र क्रेता है। इस प्रकार सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत श्रम के एक विक्रेता तथा श्रम के एक क्रेता के सौदाकारी द्वारा मजदूरी का निर्धारण होना है। श्रम मार्किट मे द्विपक्षीय एकाधिकार (bilateral monopoly in he labour market) मे मजदूरी का निर्धारण उसी प्रकार अनिश्चित (indeterminate) है जैसा कि पदार्थ बाजार मे द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत पदार्थ की कीमत का निर्धारण अनिश्चित होता है। दूसरे शब्दो मे सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत मजदूरी की दर के निर्धारण के विषय मे हम सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी निश्चित परिणाम पर नही पहुँचते। सामूहिक सौदाकारी तथा द्विपक्षीय एकाधिकार के अन्तर्गत मजदूरी के निर्धारण के विश्लेषण से हम केवल दो सीमाओ (two limits) उच्चतम सीमा जिसको श्रमिक सघ प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे और निम्नतम सीमा जो कि नियोजक निश्चित करेगा, को ही स्पष्ट कर पाते हैं। इन दो सीमाओ के बीच अन्तर मे ही सामूहिक सौदाकारी द्वारा मजदूरी की दर निश्चित होगी, वास्तव मे यह किस विशेष स्तर पर निश्चित होगी, यह हम निश्चित रूप से नही कह सकते। सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत क्या मजदूरी की दर उच्चतम सीमा के निकट निर्धारित होगी अथवा निम्नतम सीमा के निकट, यह दो पक्षो की सापेक्ष सौदाकारी शक्ति (relative bargaining strength) पर निर्भर करता है। सैद्धान्तिक रूप मे उच्चतम और निम्नतम सीमाओ के बीच सामूहिक सौदाकारी द्वारा वास्तविक रूप से निर्धारित मजदूरी अनिश्चित है; इन दो सीमाओं के अन्तर (range between the two limits) मे मजदूरी की दर कही भी निश्चित हो सकती है।

किन्तु उपर्युक्त दो सीमाओ अथवा उनके बीच अन्तर (range) जिसमे कि सामूहिक सौदाकारी द्वारा मजदूरी का निर्धारण होगा, का विश्लेषण करना महत्त्वपूर्ण है। यह विश्लेषण करने मे प्रारम्भ मे जो एक कठिनाई है, वह यह है कि श्रमिक सघो का क्या उद्देश्य अथवा कैसा व्यवहार होता है। एक मौलिक प्रश्न इस सम्बन्ध मे यह है कि क्या श्रमिक सघ आर्थिक, राजनीतिक अथवा राजनीतिक एव आर्थिक सस्थाएँ है। और यदि श्रमिक सघो के उद्देश्य पूर्णतया आर्थिक हैं तो वे क्या आर्थिक नीति अपनाएँगे और किस मात्रा को अधिकतम करेंगे। क्या श्रमिक सघ ऐसी मजदूरी की दर प्राप्त करने की माँग करेंगे जो इसके सदस्यो की आयों को अधिकतम करेगी (will maximise the incomes of its members) अथवा श्रमिक सघ मजदूरी की उस दर की माँग करेंगे जो उसके सदस्यो की सख्या को अधिकतम करेगी will maximise the number of its members)। और क्या इस प्रकार सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत श्रमिक सघ रोजगार की मात्रा की कुछ पर्वाह न करते हुए मजदूरी की दर को अधिकतम सम्भव स्तर तक बढ़ाने की चेष्टा करेगा अथवा मजदूरी तथा रोजगार की मात्रा के इष्टतम सयोग (optimum combination of wage rate and employment) की। श्रमिक सघो के ये विभिन्न वैकल्पिक उद्देश्य हैं जो उनके नियोजक के साथ सौदाकारी करने मे भिन्न-भिन्न व्यवहार ढाँचे को व्यक्त करते हैं।

आधुनिक आर्थिक सिद्धात मे प्राय माना जाता है कि श्रमिक सघो का मजदूरी और रोजगार के बीच अधिमान फलन (preference functions) अथवा अनधिमान फलन (indifference functions) होता है। श्रमिक सघो, जिनका श्रम के विक्रय मे एकाधिकार

होता है, के अधिमान फलन पदार्थ बाजार के एकाधिकार के पूर्ति वक्र (अथवा लागत फलन) की तरह हैं। अब प्रश्न यह है कि श्रमिक संघों के इन अधिमान फलनों अथवा अनधिमान वक्रों की क्या आकृति होती है। यदि श्रमिक संघ अधिकतम सम्भव मजदूरी की दर को प्राप्त करना चाहते हैं और इसके रोजगार (employment) की मात्रा पर प्रभाव की उन्हें कोई चिन्ता नहीं तो मजदूरी की दर तथा रोजगार की मात्रा के बीच श्रमिक संघों के अनधिमान वक्रों की आकृति क्षितिज के समानान्तर सरल रेखाओं (horizontal straight lines) की होगी जैसा कि रेखाकृति 40 8 मे दर्शाया गया है। जैसे हम Y-अक्ष पर ऊपर की ओर जाते हैं क्रमश प्रत्येक उच्चतर अनधिमान वक्र उच्चतर मजदूरी की दर को दर्शाएगा। रेखाकृति 40 8 में अनधिमान वक्र I_1 मजदूरी की दर $OW1$ होने पर श्रमिक संघ के सन्तुष्टि के स्तर (level of satisfaction) को दर्शाता है। इसी प्रकार मजदूरी की
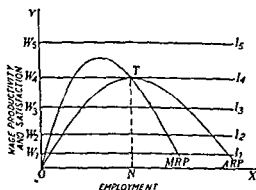
रेखाकृति 40 8
सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत मजदूरी निर्धारण की उच्चतम तथा निम्नतम सीमाएँ

दरों OW_2, OW_3, OW_4 और OW_5 पर सन्तुष्टि के स्तर क्रमश अनधिमान वक्र I_2 I_3 I_4 I_5 द्वारा दर्शाए जाते हैं। विभिन्न अनधिमान वक्र इस प्रकार खींचे गए हैं ताकि प्रत्येक दो अनधिमान वक्रों के बीच की दूरी बढ़ती जा रही है जैसे कि हम ऊपर की ओर जाते हैं। रेखाकृति 40 8 मे यह देखा जाएगा कि जैसे हम ऊपर की ओर जाते हैं अर्थात् जैसे मजदूरी की दर बढ़ती है प्रत्येक दो अनधिमान वक्रों के बीच की दूरी बढ़ती जा रही है। कारण यह है कि श्रमिक संघ की सन्तुष्टि मे समान वृद्धि करने के लिए मजदूरी की दर मे उत्तरोत्तर अधिक वृद्धि की आवश्यकता होती है। इस रेखाकृति मे ARP श्रमिकों का औसत आय उत्पादकता वक्र (average revenue productivity curve) है और MRP उनका सीमांत आय उत्पादकता वक्र (marginal revenue productivity curve) है।

यदि श्रमिक संघ का उद्देश्य रोजगार की मात्रा पर प्रभाव को ध्यान मे न रखते हुए अधिकतम सम्भव मजदूरी की दर को प्राप्त करना है, तो श्रमिक संघ, यदि वह इतना शक्तिशाली है कि स्वयं मजदूरी की दर को निश्चित कर सकता है तो वह उस मजदूरी की दर को निश्चित करेगा जिस पर सम्बन्धित माँग वक्र औसत आय उत्पादकता वक्र (ARP) को स्पर्श करता है। प्रोफेसर फैलनर उचित ही कहते हैं "यदि श्रमिक संघ सामूहिक सौदाकारी की समस्त शक्ति रखता है अर्थात् जब वह स्वयं मजदूरी की दर निर्धारित करने की स्थिति में है तो वह सीधी रेखा के अनधिमान वक्रों मे से उस मजदूरी रेखा का चयन करेगा जो ARP वक्र को स्पर्श करती है" (If the union possessed all the bargaining power ··· that is if it could set the conditions unilaterally · · then with linear indifference maps that wage line would be chosen which is tangential to ARP)। रेखाकृति 40 8 में श्रमिक संघ मजदूरी की दर OW_4 को चुनेगा क्योंकि मजदूरी की दर OW_4 के तदनुरूपी अनधिमान वक्र I_4, औसत आय उत्पादकता वक्र (ARP) को स्पर्श करता है। यह ध्यान से समझ लेना चाहिए कि श्रमिक संघ OW_4 से उच्चतर मजदूरी को निश्चित नहीं करेगा यद्यपि मजदूरी के अधिक बढ़ने पर इसकी सन्तुष्टि मे वृद्धि होगी। इसका कारण यह है कि औसत आय उत्पादकता (ARP) मे ऊँची मजदूरी की दर पर नियोजक

(employer) को हानि उठानी पड़ेगी और इसलिए वह औसत आय उत्पादकता से अधिक मजदूरी देने के बजाय उत्पादन को बन्द कर देगा। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि श्रमिक संघ यदि स्वयं मजदूरी की दर निश्चित करने की शक्ति रखता है तो वह औसत आय उत्पादकता (*ARP*) अर्थात् OW_4 से अधिक मजदूरी निश्चित करने की चेष्टा नही करेगा। (हम यह मान लेते है कि श्रमिक संघ औसत आय उत्पादकता के स्तर को जानता है)। अत रेखाकृति 40 8 मे उच्चतम सम्भव अनधिमान वक्र है जिस पर कि श्रमिक संघ जा सकता है और इसलिए OW_4 सौदाकारी अन्तर (bargaining range) की उच्चतम सीमा (upper limit) है जो कि श्रमिक संघ निश्चित करेगा।

उच्चतम सीमा की तरह, मजदूरी की दर की निम्नतम सीमा (lower limit) भी होगी जिसके नीचे मजदूरी की दर सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत नीचे नही जा सकती। यदि सौदाकारी शक्ति पूर्णतया नियोजक (employer) के पास है अर्थात् यदि नियोजक स्वयं एक पक्षीय रूप से (unilaterally) मजदूरी की दर निश्चित करने की स्थिति मे है तो वह इस निम्नतम सीमा के समान मजदूरी निर्धारित करेगा। यह ध्यान से समझ लेना चाहिए कि मजदूरी की यह निम्नतम सीमा भी वह होगी जो कम से कम श्रमिक संघ को स्वीकार हो (which is still acceptable to the union)। अनधिमान चित्र मे ऐसी मजदूरी की दर होगी जिसके नीचे मजदूरी की दर को श्रमिक संघ कदापि स्वीकार नहीं करेगा। वह उससे कम मजदूरी स्वीकार करने के बजाय अपने सदस्यों को हड़ताल (strike) करने को कहेगा। निम्नतम सीमा निश्चित करते समय नियोजक इस तत्व को ध्यान मे रखेंगे।

इसके अतिरिक्त नियोजकों द्वारा निश्चित मजदूरी की निम्नतम सीमा व्यावसायिक दशाओं पदार्थ की माग की मूल्यसापेक्षता (price elasticity), श्रम और पूँजी मे प्रतिस्थापन सापेक्षता (elasticity of substitution between labour and capital) मजदूरी की वर्तमान दर, श्रमिकों का जीवन-निर्वाह व्यय (cost of living) इत्यादि से प्रभावित होती है। स्पष्ट है कि मजदूरी की निम्नतम सीमा की धारणा अस्पष्ट धारणा (vague concept) है। किन्तु फिर भी ऐसी मजदूरी की दर अवश्य होगी जिसके नीचे मजदूरी की दर सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत नही जा सकती।

श्रमिक संघ तथा नियोजक के बीच सामूहिक सौदाकारी से उपर्युक्त उच्चतम और निम्नतम सीमाओं (upper and lower limits) के बीच दो पक्षों की सापेक्ष सौदाकारी शक्तियों द्वारा निर्धारित किसी दर पर मजदूरी निश्चित होगी। यदि श्रमिक संघ अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली है तो सामूहिक सौदाकारी द्वारा निर्धारित मजदूरी की दर उच्चतम सीमा के निकट होगी और उसके विरुद्ध यदि नियोजक की सौदाकारी शक्ति अपेक्षाकृत अधिक है तो मजदूरी निम्नतम सीमा के निकट निश्चित होगी। इस प्रकार उच्चतम और निम्नतम सीमाओं के बीच की दूरी सौदाकारी अन्तर (bargaining range) को दर्शाती है जिसके बीच मजदूरी की दर वास्तव मे निर्धारित होगी। आर्थिक सिद्धान्त हमे यह नही बता सकता कि सौदाकारी अन्तर के बीच किस विशेष बिन्दु पर मजदूरी की दर निश्चित होगी। अत **सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत वास्तविक मजदूरी की दर का निर्धारण** अनिश्चित (indeterminate) है।

हमने अपने उपर्युक्त विश्लेषण मे यह माना है है कि श्रमिक संघ मजदूरी की दर के निर्धारण के विषय मे निर्णय लेते समय उसके रोजगार की मात्रा पर प्रभाव को ध्यान मे नही लाते। परन्तु यह पूर्वधारणा इतनी वास्तविक नही है। वास्तव मे श्रमिक संघ मजदूरी की दर तथा उस पर उपलब्ध रोजगार की मात्रा दोनों को ध्यान मे रखकर सामूहिक सौदाकारी करेंगे। यदि किसी ऊँची मजदूरी की दर पर श्रमिकों मे बड़ी मात्रा म बेरोजगारी उत्पन्न हो जाने की सम्भावना है तो वे उस मजदूरी की दर को रद्द कर देंगे। वस्तुत वे मजदूरी की दर तथा रोजगार की मात्रा का इष्टतम संयोग (optimum combination

of wage rate and level of employment) प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे। ऐसी दशा में जबकि श्रमिक संघ मजदूरी की दर और रोजगार की मात्रा दोनों को
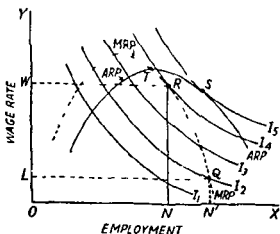
रेखाकृति 40.9

ध्यान में रखता है तो मजदूरी की दर तथा रोजगार की मात्रा में अनधिमान वक्र (indifference curves) अथवा अनधिमान फलन (preference functions) क्षितिज के समानान्तर सीधी रेखा न होकर मूल बिन्दु की ओर उन्नत (convex) होंगे जैसा कि रेखाकृति 40.9 में दर्शाया गया है जिसमें वक्र I_1, I_2, I_3, I_4 और I_5 क्रमशः उच्चतर सन्तुष्टि देने वाले मजदूरी और रोजगार की मात्रा के संयोगों को व्यक्त करते हैं।

हम मान लेते हैं कि सामूहिक सौदाकारी में केवल मजदूरी की दर का निर्णय होता है और इस प्रकार जो मजदूरी की दर निश्चित होती है उस पर नियोजक रोजगार की मात्रा जितनी चाहे उपलब्ध कर सकता है। जैसा कि हम जानते हैं, दी हुई मजदूरी की दर पर नियोजक (employer) इतने श्रमिकों को रोजगार उपलब्ध कराएगा जिससे कि मजदूरी की दी हुई दर पर श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता के समान हो जाय क्योंकि ऐसा करने में ही उसके लाभ अधिकतम होंगे। रेखाकृति 40.9 में ARP और MRP श्रमिकों के क्रमशः औसत आय उत्पादकता (average revenue productivity) तथा सीमांत आय उत्पादकता (marginal revenue productivity) के वक्र हैं। जो भी मजदूरी और रोजगार का संयोग निर्धारित होगा वह श्रमिकों के सीमान्त आय उत्पादकता वक्र (marginal productivity curve) MRP के किसी बिन्दु पर स्थित होगा।

अब प्रश्न यह है कि रेखाकृति 40.9 में मजदूरी और रोजगार में उत्तल अनधिमान वक्रों की स्थिति में श्रमिक संघ कौन-से मजदूरी और रोजगार के संयोग को प्राप्त करने की चेष्टा करेगा। श्रमिक संघ को दिए हुए सीमांत आय उत्पादकता (MRP) वक्र के उस बिन्दु पर अधिकतम सम्भव सन्तुष्टि प्राप्त होगी जहाँ पर कि यह वक्र श्रमिक संघ के किसी अनधिमान वक्र को स्पर्श करता है। अतएव श्रमिक संघ इस स्पर्श बिन्दु द्वारा व्यक्त मजदूरी की दर प्राप्त करने की चेष्टा करेगा। रेखाकृति 40.9 में देखा जायेगा कि सीमान्त आय उत्पादकता वक्र MRP, श्रमिक संघ के अनधिमान वक्र I_4 के बिन्दु R को स्पर्श कर रहा है। स्पर्श बिन्दु R के अनुसार मजदूरी की दर OW है जिस पर कि नियोजक रोजगार की ON मात्रा उपलब्ध करेगा। मजदूरी की दर OW और रोजगार की मात्रा ON श्रमिक संघ के लिए इष्टतम है अर्थात् यह जोड़ उसको अधिकतम सन्तुष्टि देगा। अतः सामूहिक सौदाकारी में श्रमिक संघ OW मजदूरी की दर प्राप्त करने की चेष्टा करेगा। अतः स्पर्श बिन्दु R द्वारा व्यक्त मजदूरी उच्चतम सीमा (upper limit) है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, श्रमिक संघ की सन्तुष्टि का ऐसा स्तर भी होगा जिसके नीचे वह कदापि नहीं जायेगा। मान लीजिए कि रेखाकृति 40.9 में अनधिमान वक्र I_2 श्रमिक संघ की निम्नतम सन्तुष्टि को दर्शाता है जिसके नीचे वह नहीं जायेगा। अनधिमान वक्र I_2 सीमान्त आय वक्र MRP को बिन्दु Q पर काट रहा है। अतएव बिन्दु Q मजदूरी और रोजगार की मात्रा का ऐसा संयोग है जो निम्नतम सीमा (lower limit) को व्यक्त करता है जिसके नीचे

सामूहिक सौदाकारी के अन्तर्गत मजदूरी और रोजगार का सयोग नही जा सकता। यहाँ पर मजदूरी की मात्रा OL है जो कि बिन्दु Q के अनुसार है। अत MRP वक्र का बिन्दु R उच्चतम सीमा (upper limit) है और Q निम्नतम सीमा (lower limit) है। सामूहिक *सौदाकारी के अन्तर्गत बिन्दु R (अर्थात् मजदूरी की* दर OW) और बिन्दु Q (अर्थात् मजदूरी OL) के बीच वास्तविक मजदूरी का निर्धारण होगा। LW के बीच किस विशेष बिन्दु अथवा मजदूरी की दर का निर्धारण होगा यह तो दो पक्षो की सापेक्ष सौदाकारी शक्तियो पर निर्भर कर सकता है। यदि श्रमिक सघ की सौदाकारी शक्ति अधिक है तो मजदूरी OW के निकट निश्चित होगी और यदि नियोजक की सौदा*कारी शक्ति अधिक है तो मजदूरी की दर OL के* निकट निर्धारित होगी। अत L और W के बीच मजदूरी का निर्धारण अनिश्चित (indeterminate) है।

41

लगान का सिद्धान्त
(THEORY OF RENT)

श्रम की मजदूरी के निर्धारण की विवेचना के बाद अब हम लगान जो कि भूमि के प्रयोग की कीमत है, के निर्धारण की व्याख्या करेंगे। परन्तु आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त में लगान (rent) शब्द का प्रयोग भूमि के प्रयोग की कीमत के भाव में ही केवल नहीं, बल्कि कई और अर्थों में भी किया जाता है। वस्तुतः लगान शब्द का विस्तार करके इसे एक भिन्न धारणा के लिए प्रयोग किया जाता है जिसमें कि अब लगान का केवल भूमि के साथ सम्बन्ध नहीं रहा है। पहले, हम लगान की भूमि के उपयोग की कीमत के भाव में व्याख्या करेंगे और फिर इसके सम्बन्ध में आधुनिक धारणा की विवेचना की जाएगी।

[भूमि का एक विशेष लक्षण यह है कि समाज के लिए इसे उपलब्ध कराने के लिए कोई मानवीय प्रयत्न अथवा परित्याग (sacrifice) नहीं किया गया है। चूंकि भूमि मनुष्य द्वारा उत्पादित नहीं की जाती, इसकी पूर्ति पूर्णतया मूल्य-निरपेक्ष तथा बेलोच (perfectly inelastic) होती है, यद्यपि विभिन्न प्रकार के सुधारों जैसे कि भूमि को स्वच्छ करने, नालियों की व्यवस्था करने, सिंचाई की सुविधाएँ उपलब्ध कराने आदि से भूमि की उत्पादकता बढ़ाई जा सकती है। भूमि के उपयोग की यह कीमत अथवा जिसे आम तौर पर भूमि लगान अथवा किराया कहा जाता है, समाज के उन लोगों को प्राप्त होती है जो भूमि के स्वामी होते है। चूंकि भूमि के इन भू-स्वामियों ने भूमि के उत्पन्न करने के लिए कोई वास्तविक लागत नहीं उठाई है, इसलिए उनके द्वारा भूमि लगान की प्राप्ति उनके लिए एक अतिरेक अथवा बेशी की आय (surplus income) है। इसलिए भूमि से समस्त आय अर्थात् भूमि लगान (भूमि पर विभिन्न सुधारों के लिए पूंजी निवेश के प्रतिफल को छोड़कर) आधिक्य अथवा अतिरेक (surplus) है क्योंकि भूमि तो समाज को हर अवस्था में उपलब्ध ही है और इसे उपलब्ध कराने के लिए कोई लागत अथवा मानवीय प्रयत्न नहीं कि[illegible] गये हैं। लागत (rent) जो कि पहले भूमि के प्रयोग की कीमत के भाव में प्रयुक्त किया जाता था, अब किसी भी साधन द्वारा उसकी सेवा प्राप्त करने की लागत से अतिरिक्त आय अथवा अधिशेष (surplus) के भाव में भी प्रयुक्त होने लगा है। चूंकि सम्पूर्ण समाज के लिए कुल भूमि प्रकृति की मुफ्त देन होने के कारण इसको उत्पादन के लिए प्रयोग करने के लिए समाज को कोई लागत उठानी नहीं पड़ती, इसलिए भूमि से समस्त आय अथवा लगान सारे समाज के लिए अधिशेष अथवा बेशी की आय है। आधुनिक आर्थिक

सिद्धान्त मे इस अधिशेष अथवा बेशी की आय को आर्थिक लगान (Economic Rent) कहा जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भूमि से समस्त आय समाज के दृष्टिकोण से आर्थिक लगान (Economic Rent) है। आर्थिक लगान की इस धारणा की विस्तारपूर्वक विवेचना हम आगे जाकर करेंगे।

आर्थिक लगान शब्द का प्रयोग निम्न भावो मे किया जाता है

1 प्रथम, लगान शब्द का प्रयोग उन उत्पादन-साधनो के लिए प्रदान की जाने वाली कीमत के भाव म किया जाता है जिनका अस्तित्व अथवा उपलब्धि किसी मानवीय प्रयास अथवा परित्याग पर निर्भर नही करती। ऐसे साधन का प्रमुख उदाहरण, जिसकी उपलब्धि किसी मानवीय प्रयास का परिणाम नही है, भूमि है। भूमि प्रकृति की ओर से समाज को मुफ्त देन है। भूमि प्राप्त करने के लिए समाज को कोई लागत नही उठानी पड़ती है। इसके अतिरिक्त, भूमि को उत्पादित नही जा सकता। यही हाल अन्य प्राकृतिक साधनो का भी है। वस्तुत भूमि शब्द के प्रयोग, जैसा कि प्राय अर्थशास्त्र मे किया जाता है, मे सभी प्राकृतिक साधन सम्मिलित हैं। चूँकि भूमि की पूर्ति तथा अन्य प्राकृतिक साधनो की पूर्ति पूर्णतया बेलोच और मूल्य निरपेक्ष (perfectly inelastic) होती है, इसलिए आर्थिक लगान के शब्द का प्रयोग सभी पूर्णतया बेलोच और मूल्यनिरपेक्ष उत्पादन के साधनो के प्रयोग की कीमत के भाव मे किया जाता है (The term economic rent has often been defined as the price paid for the use of perfectly inelastic factors of production)

2 द्वितीय, लगान शब्द का प्रयोग किसी उत्पादन क साधन की एक इकाई द्वारा अपने वर्तमान प्रयोग, उद्योग अथवा व्यवसायों मे काम करते रहने के लिए न्यूनतम आवश्यक आय से अतिरिक्त अर्जित आय के भाव मे किया जाता है। न्यूनतम आय जो कि किसी साधन की इकाई को उसके वर्तमान अथवा उद्योग मे काम करते रहने के लिए प्रेरित करने के लिए आवश्यक होती है, वह उस आय के बराबर होती है जो उस साधन की वह इकाई अपने अधिकतम अच्छे वैकल्पिक उपयोग अथवा उद्योग (alternative use or industry) मे कमा सकती है। अधिकतम अच्छे वैकल्पिक उपयोग, पेशे अथवा उद्योग मे अर्जित की जाने वाली आय को विकल्प आय (transfer earnings) कहते हैं। यदि किसी साधन की इकाई को अपने वर्तमान उपयोग मे कम से कम अपनी विकल्प आय के बराबर आय प्राप्त नही होती तो वह अपने वैकल्पिक उपयोग अथवा पेशे मे चली जाएगी। अतएव इस द्वितीय अर्थ मे आर्थिक लगान किसी साधन की इकाई की उसकी विकल्प आय से अतिरिक्त आय है (Economic rent is defined as the payment to a unit of a factor of production in excess of its transfer earnings)

3 तृतीय, मार्शल ने लगान (rent) की धारणा का विस्तार किया और इसे अल्पकाल मे अचल पूँजी-उपकरणो जैसे कि मशीनरी आदि द्वारा अल्पकाल मे अर्जित की गई आय के लिए प्रयुक्त किया। भूमि का एक विशेष लक्षण यह है कि इसकी पूर्ति पूर्णतया बेलोच और मूल्यनिरपेक्ष है और इसलिए इसकी आय अधिकतर इसके लिए माँग पर-निर्भर करती है। परन्तु अल्पकाल मे अचल पूँजी, मशीनरी, भवनो (buildings) आदि की पूर्ति भी पूर्णतया बेलोच और मूल्यनिरपेक्ष होती है और इसके उत्पादित किए जाने के बाद इसकी उत्पादन लागत का इसकी पूर्ति पर कोई प्रभाव नही पडता। अतएव अल्पकाल मे अचल पूँजी, मशीनरी आदि की आय भी उसके लिए माँग पर निर्भर करती है और इस प्रकार यह भूमि के लगान के समान ही है और यही कारण है कि मार्शल ने अल्पकाल में अचल पूँजी, मशीनरी, भवनो आदि से आय को लगान (rent) की सज्ञा दी। चूँकि पूँजी-मशीनो की पूर्ति भूमि के समान सदा के लिए निश्चित नहीं होती और दीर्घकाल मे उनकी पूर्ति लोचदार होती है अर्थात् दीर्घकाल मे उनकी पूर्ति में वृद्धि की जा सकती है, इसलिए मार्शल ने अल्पकाल मे उनके द्वारा अर्जित आय को लगान अथवा अधिशेष न कह कर अर्ध लगान अथवा अधिशेषवत (Quasi Rent) कहा।

4 अन्तत लगान शब्द का प्रयोग साधन की अधिक उत्पादक एव कार्यकुशल इकाइयो की अतिरिक्त आयो अथवा भुगतानो के भाव मे भी किया गया है। उत्पादन के साधन की विभिन्न इकाइया प्राय एक जैसी नही होती। कई इकाइया अधिक श्रेष्ठ, कार्यकुशल और उत्पादक होती हैं, जबकि कई अन्य इकाइयाँ कम कार्यकुशल और कम उत्पादक होती है। किसी साधन की अधिक उत्पादक अथवा कार्यकुशल इकाई की उस साधन की न्यूनतम कुशल इकाई की आय से अतिरिक्त अर्जित आय को भी प्राय लगान कहा जाता है। (The excess of earnings of a more efficient unit of a factor in excess of the earnings of least efficient unit of that factor is often called economic rent)

अब हम लगान की उपर्युक्त सभी धारणाओ की विवेचना करेंगे। हम अपना अध्ययन लगान के प्रतिष्ठित अथवा रिकार्डियन सिद्धान्त से आरम्भ करेंगे जो कि भूमि तथा अन्य प्राकृतिक साधनो के प्रयोग की कीमत की समस्या का अध्ययन करता है। इसके बाद हम आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त मे लगान अथवा अधिशेष की धारणा की व्याख्या करेंगे जो कि किसी उत्पादन के साधन की इकाई द्वारा उसके वर्तमान उपयोग अथवा पेशे मे काम करते रहने के लिए प्रेरित करने के लिए आवश्यक आय से अतिरिक्त अर्जित आय की विवेचना करती है। अन्त मे हम मार्शल द्वारा प्रतिपादित अर्ध-लगान अथवा अधिशेषवत् (Quasi Rent) की धारणा की व्याख्या करेंगे।

लगान का प्रतिष्ठित अथवा रिकार्डियन सिद्धान्त (Classical or Ricardian Theory of Rent)

लगान का प्रतिष्ठित सिद्धान्त प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के कृषि म घटते प्रतिफल के नियम के लागू होने पर आधारित है। प्रतिष्ठित लेखक जैसे कि वैस्ट (West), टोरेन्ट्स (Torrents), माल्थस और रिकार्डो ने स्वतन्त्र रूप से भेदात्मक लगान (differential rent) का सिद्धान्त विकसित किया। परन्तु डेविड रिकार्डो द्वारा विकसित और प्रस्तुत लगान का प्रतिष्ठित सिद्धांत अधिक लोकप्रिय बन गया है यद्यपि सभी प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के भूमि के लगान के सम्बन्ध मे विचार बुनियादी रूप से समान थे। रिकार्डो ने लगान के सिद्धान्त को विकसित करने मे वैस्ट और माल्थस को अपना पूर्वगामी (forerunner) कहा है।

रिकार्डो ने लगान की परिभाषा इस प्रकार की "लगान भूमि के उत्पादन का वह भाग है जो भूमि के स्वामी को भूमि की मूल तथा अविनाशी शक्तियो के प्रयोग के लिए दिया जाता है"। (Rent is that portion of the produce of earth which is paid to the landlord for the use of the original and indestructible powers of the soil)। यह ध्यान देने योग्य बात है कि रिकार्डो की परिभाषा के अनुसार आर्थिक लगान केवल भूमि के प्रयोग के लिए भुगतान है और यह संविदा लगान (contract rent) से भिन्न है क्योकि संविदा लगान मे भूमि के स्वामी द्वारा नालियो, कुओ, आदि मे किए गए पूंजी निवेश की कीमत अथवा प्रतिफल भी सम्मिलित होता है। भूमि के स्वामी द्वारा भूमि मे किए गए पूंजी निवेश के प्रतिफल को संविदा लगान से निकाल कर जो शेष रहता है, वह शुद्ध आर्थिक लगान है जो कि केवल भूमि के प्रयोग अथवा भूमि की मूल तथा अविनाशी शक्तियो के प्रयोग की कीमत है।

मान्यताए

रिकार्डो के सिद्धान्त मे लगान की उत्पत्ति भली प्रकार समझने के लिए यह जरूरी है कि उन पूर्वमान्यताओ को स्पष्ट किया जाय जो कि रिकार्डो ने अपने सिद्धात म मानी थी। प्रथम, रिकार्डो समस्त समाज की दृष्टि से भूमि की पूर्ति का विचार करता है और वह भूमि की पूर्ति अथवा मात्रा को पूर्णतया स्थिर और निश्चित मान लेता है। भूमि के प्रयोग की कीमत चाहे कितनी ही क्यो न बढा दी जाय, उसकी पूर्ति अधिक नही हो सकती। अतएव भूमि की कुल पूर्ति पूर्णतया मूल्य निरपेक्ष अर्थात किराए मे विभिन्न परिवर्तन के प्रति नितान्त बेलोच होती है। द्वितीय, रिकार्डो भूमि के वैकल्पिक उपयोगो (alternative uses) को विचार म नहीं लाता। वह यह कल्पना करता है कि भूमि को केवल एक वस्तु अर्थात्

अन्न उत्पादित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। इसलिए उसके सिद्धात मे भूमि को केवल एक फसल अर्थात् अन्न उत्पादित करने के लिए पूर्णतया विशिष्ट (specific) माना गया है। इस प्रकार रिकार्डो के सिद्धान्त में भूमि को या तो अन्न उत्पादित करने के प्रयोग मे लाया जा सकता है अन्यथा यह बेकार हो रहेगी। अत. भूमि के दो वैकल्पिक प्रयोग है इसका अन्न उत्पादित करने के लिए प्रयोग अथवा इसको अप्रयुक्त रखना। अतएव रिकार्डो ने भूमि की विकल्प आय शून्य मानी है (In Ricardian Theory, transfer earnings of land are zero)। कोई भी भूमि का स्वामी अपनी भूमि को अप्रयुक्त नही रखना चाहेगा, इसलिए वह इस किसी भी लगान पर चाहे वह कितना ही कम क्यो न हो देने के लिए तैयार होगा यदि भूमि के क्रय-विक्रय मे पूर्ण प्रतियोगिता हो।

3 तृतीय, रिकार्डो ने भूमि को भिन्न-भिन्न कोटि (quality) का माना है। उसके सिद्धान्त मे भूमि की कई किस्मे है जो एक दूसरे से, उर्वरता (fertility) अथवा उत्पादकता और स्थिति (location) मे भिन्न-भिन्न है। भूमि के कुछ टुकडे अन्य टुकडो से अधिक उपजाऊ तथा उत्पादक होते हैं और कई भूमि के टुकडे अन्य टुकडो की तुलना मे बाजार केन्द्रो से अधिक निकट स्थित होते हैं।

4 चतुर्थ, रिकार्डो ने भूमि के बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता का होना माना है। दूसरे शब्दो मे, ऐसे बहुत से भूमिपति हैं जो लगान पर भूमि देते हैं और ऐसे बहुत से किसान हैं जो अन्न उत्पादन के लिए लगान पर भूमि प्राप्त करते है। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक भूस्वामी और कृषक का भूमि के लगान पर कोई प्रभाव नही होता। लगान उत्पन्न होने के कारण

उपर्युक्त पूर्वमान्यताए दी हुई होने पर प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार लगान दो कारणो से उत्पन्न होता है। प्रथम, यदि भूमि बिल्कुल एक समान है अर्थात् एक जैसी कोटि की है तो माग की तुलना मे भूमि की दुर्लभता से लगान उत्पन्न हो जायगा। रिकार्डो ने इसे दुर्लभता का लगान (scarcity rent) कहा है। द्वितीय, जब भूमि उर्वरता और स्थिति की दृष्टि से भिन्न-भिन्न होती है तो भूमि की श्रेष्ठ किस्मो पर भेदात्मक लगान (differential rents) उत्पन्न हो जाएँगे। हम नीचे दुर्लभता के लगान तथा भेदात्मक लगानो की उत्पत्ति की व्याख्या करेंगे।

दुर्लभता का लगान (Scarcity rent)

प्रतिष्ठित सिद्धान्त म भूमि के किराए की उत्पत्ति की व्याख्या एक ऐसे नए द्वीप के उदाहरण म की जा सकती है जिसकी अभी खोज की गई है और जहाँ पर कुछ लोग आकर बस गये है। हम यह कल्पना करते है कि इस द्वीप म समस्त भूमि एक समान है अर्थात् एक जैसी काटि की है। दूसरे शब्दो मे, इस द्वीप मे भूमि के सभी टुकडो की उर्वरता समान है और वे समान रूप से स्थित (equally well situated) हैं। इस द्वीप मे कृषि करने के लिए उपलब्ध भूमि की मात्रा निश्चित और स्थिर है इसलिए यह पूर्णतया मूल्य निरपेक्ष होगी। इसके अतिरिक्त, भूमि का केवल अन्न की खेती करने के लिए ही उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त, भूमि का अन्य कोई वैकल्पिक प्रयोग नही है। जब लोग उस द्वीप पर आकर बसना प्रारम्भ करते हैं तो वे उस पर श्रम और पूँजी द्वारा अन्न का उत्पादन करेंगे। जब समस्त उपलब्ध भूमि इस प्रकार अन्न उत्पादन के लिए प्रयुक्त नही हो जाती तो अन्न की कीमत श्रम और पूँजी पर उठाई गई औसत लागत के बराबर होगी और किसान लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु पर काम करेंगे। यदि श्रम और पूँजी का प्रयोग लाभकारी होना है तो अन्न की कीमत आवश्यक रूप से औसत लागत अर्थात् श्रम और पूँजी पर उठाई गई औसत लागत के बराबर होनी चाहिए। चूँकि हम अन्न की मार्किट मे पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना कर रहे हैं, इसलिए किसान का सन्तुलन दीर्घकालीन औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु पर स्थापित होगा। इसको रेखाकृति 41 1 मे दर्शाया गया है। किसान का सन्तुलन उत्पादन की OM मात्रा पर है जबकि अन्न की कीमत OP के बराबर है जो कि निम्नतम औसत लागत ML के बराबर है (स्मरण

रहे कि यहाँ औसत लागत मे केवल श्रम और पूँजी की लागतें सम्मिलित हैं)। अब द्वीप की जनसख्या मे वृद्धि तथा अर्थव्यवस्था के विकास के साथ अन्न के लिए माग बढ़ जाएगी जिससे अन्न की कीमत अस्थाई रूप से औसत लागत से बढ़ जाएगी। चूँकि अभी भूमि की समस्त उपलब्ध मात्रा को उपयोग मे नही लाया गया है, इसलिए अनाज की कीमत औसत लागत से बढ जाने के फलस्वरूप कृषक अप्रयुक्त पडी भूमि को अन्न के उत्पादन के लिए प्रयोग करने को प्रोत्साहित होंगे।
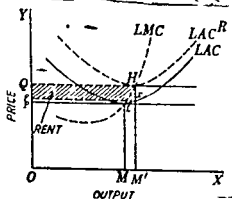
रेखाकृति 41 1
रिकार्डो का दुर्लभता लगान

कृषकों द्वारा अतिरिक्त भूमि पर उत्पादन प्रारम्भ करने पर पूर्ति बढ जाएगी जिससे उसकी कीमत घट जाएगी। किसानों द्वारा नई भूमियो पर उत्पादन लागत पुरानी भूमियो पर लागत के बराबर होगी क्योंकि हम यह पूर्वमान्यता कर रहे हैं कि समस्त भूमि एक जैसी है। अन्न की पूर्ति मे वृद्धि के फलस्वरूप उसकी कीमत घट कर प्रारम्भिक स्तर OP तक पहुँच जाएगी। जब तक कुछ भूमि अप्रयुक्त पडी होती है तो नई भूमि को खेती के अन्तर्गत लाकर अन्न का उत्पादन बढाया जा सकता है, अर्थात् जब तक भूमि दुर्लभ (scarce) नहीं है तब तक अन्न की कीमत स्थायी रूप से श्रम और पूजी की औसत लागत से अधिक नही बढ सकती। चूंकि अन्न की कीमत, दीर्घकालीन सन्तुलन मे, श्रम और पूँजी की औसत लागत के बराबर होती है, इसलिए जब तक समस्त भूमि कृषि के लिए प्रयोग नहीं हो जाती तब तक भूमि पर कोई अधिक लगान अथवा अधिशेष (rent) प्राप्त नही होगा। अन्य शब्दो मे, इसका अर्थ यह है कि जब तक कुछ भूमि, जिसका अभी तक कृषि के लिए उपयोग नही किया गया है, उपलब्ध रहती है तो किसानो द्वारा भूस्वामियों को उनकी भूमि के प्रयोग का कोई लगान नही देना पडेगा।

यदि भूस्वामियो से पूर्ण प्रतियोगिता है जैसा कि यहाँ हम मान कर चल रहे हैं, तो जब तक कोई अप्रयुक्त भूमि उपलब्ध है, तब तक कोई लगान उत्पन्न नही होगा क्योंकि ऐसी स्थिति मे भूमि के लिए माँग उसकी पूर्ति की तुलना में कम होगी। दूसरे शब्दो मे, जब तक भूमि माँग की तुलना मे दुर्लभ (scarce in relation to demand) नही है तब तक उसके प्रयोग का कोई लगान नही देना पडेगा। किसी वस्तु की कीमत तब उत्पन्न होती है जब वह माँग की तुलना मे दुर्लभ होती है। जब तक कुछ भूस्वामियो के पास अप्रयुक्त भूमि उपलब्ध है, तब तक यदि कोई भूस्वामी लगान प्राप्त करने का यत्न करता है, तो कृषक उन भूस्वामियो से जिनके पास अतिरिक्त भूमि उपलब्ध है खेती करने के लिए ले लेंगे। इस स्थिति में किसी भूस्वामी को भूमि के प्रयोग के लिए लगान अथवा किराया देने की कोई आवश्यकता नही है क्योंकि भूमि का एक मात्र वैकल्पिक उपयोग इसे बेकार रखना है। सक्षेप मे, जब तक भूमि दुर्लभ (scarce) नही होती उस पर लगान नहीं देना पडेगा। उस स्थिति मे कीमत श्रम और पूँजी की न्यूनतम औसत लागत के बराबर होगी। कल्पना कीजिए कि जनसख्या और बढ जाती है जिससे कि अन्न की माँग में इतनी वृद्धि हो जाती है कि समस्त उपलब्ध भूमि खेती के लिए उपयोग की जाने लगती है। यदि उस द्वीप की जनसख्या मे और अधिक वृद्धि होती है तो अन्न की माँग इतनी बढ़ जाएगी जिससे कि अन्न की कीमत श्रम और पूजी की न्यूनतम औसत लागत से अधिक हो जाएगी। अब कीमत अपने प्रारम्भिक स्तर OP तक घट कर नही पहुँच सकती क्योंकि अब उत्पादन बढाने के लिए कोई अप्रयुक्त भूमि उपलब्ध नही है, समस्त भूमि को पहले ही उत्पादन के लिए प्रयोग किया जा रहा है। कल्पना कीजिए कि अन्न के लिए

माँग इतनी बढ़ गई है कि उसकी कीमत रेखाकृति 41.1 में बढ़कर OQ हो गई है, तो ऐसी स्थिति में प्रत्येक कृषक अपने उत्पादन में इतना विस्तार करेगा जिससे कि सीमांत लागत (MC), नई कीमत OQ के बराबर हो जाए। रेखाकृति 41.1 में देखा जाएगा कि कृषक का सन्तुलन बिन्दु H पर होगा जहाँ कि सीमान्त लागत (MC) नई कीमत OQ के बराबर है। इस नई सन्तुलन स्थिति में कृषक उत्पादन की OM' मात्रा उत्पादित करेगा। व्यक्तिगत कृषकों द्वारा अपने उत्पादन में वृद्धि करने से अन्न की कीमत कुछ घट जाएगी परन्तु यह अपने प्रारम्भिक स्तर OP तक नहीं पहुँचेगी। इसका कारण यह है कि यदि माँग इतनी बढ़ जाए कि कीमत OP, जो कि न्यूनतम औसत लागत के बराबर है, पर अन्न की माँग-मात्रा उस पर प्रस्तुत उत्पादन और पूर्ति से अधिक है तो नई कीमत अवश्य ही OP कीमत से अधिक होगी। हमने रेखाकृति 41.1 में यह मान लिया है कि नई कीमत अन्तत OQ पर निश्चित होगी।

रेखाकृति 41·1 से स्पष्ट है कि अन्न की कीमत तथा श्रम और पूँजी पर उठाई गई औसत लागत में अन्तर पैदा हो गया है। दूसरे शब्दों में, कृषकों को अब उनके द्वारा श्रम और पूँजी पर उठाई गई लागत से अधिक आय प्राप्त होती है। जबकि उनके द्वारा श्रम और पूँजी पर उठाई गई औसत लागत $M'E$ के बराबर है, अन्न की कीमत $M'H$ (जो कि OQ के बराबर है)। अतएव कीमत और श्रम व पूँजी की औसत लागत में EH के बराबर अन्तर उत्पन्न हो गया है। यह EH ही प्रति इकाई उत्पादन पर लगान होगा जो कि कृषक भूस्वामी को देगा। कृषक द्वारा भूस्वामी को दिया जाने वाला कुल लगान $FEHQ$ के क्षेत्रफल के बराबर होगा। यह लगान (कीमत और लागत में अन्तर) कृषकों द्वारा नई भूमि पर उत्पादन आरम्भ करने से समाप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि समस्त भूमि पहले ही उत्पादन के लिए प्रयुक्त हो रही है। भूमि पर यह किराया भूमि के दुर्लभ हो जाने (niggardliness) के कारण ही उत्पन्न हुआ है। अन्य शब्दों में, लगान प्रकृति की कृपणता के कारण ही उत्पन्न हुआ है। प्रकृति ने समाज को इतनी भूमि प्रदान नहीं की है जिससे कि अनाज की माँग को न्यूनतम औसत लागत से उत्पादित करके पूरा किया जा सके। अन्न की माँग इतनी बढ़ गई है जिससे कि आवश्यक उत्पादन को भूमि की उपलब्ध मात्रा से न्यूनतम औसत लागत पर उत्पादित नहीं किया जा सकता। बढ़ी हुई माँग की पूर्ति के लिए उत्पादन को सीमान्त लागत के बिन्दु H तक बढ़ाना पड़ता है जिससे नई कीमत OQ सीमान्त लागत $M'H$ के बराबर हो जाए। सीमान्त लागत $M'H$ जो कि कीमत OQ के बराबर है औसत लागत $M'E$ से अधिक है। अत कीमत और औसत लागत में EH के बराबर अन्तर उत्पन्न हो गया है जो कि भूमि पर लगान (rent) होगा और जिसे कृषक द्वारा भूस्वामी को देना होगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रतिष्ठित सिद्धांत में लगान उत्पादन लागत के ऊपर *अधिशेष अथवा आधिक्य* (surplus) के रूप में पैदा होता है। प्रतिष्ठित लेखकों ने लगान को उत्पादन लागत का भाग नहीं माना। परन्तु यदि हम समस्त भूमि पर अर्जित लगान $FEHQ$ को स्थिर लागत मानकर उसको औसत लागत वक्र में सम्मिलित कर लें तो हमें एक नया वक्र LAC^R प्राप्त होगा जिसको पृथक रूप से रेखाकृति 41.1 में दिखाया गया है।

लगान की जिस धारणा का हमने ऊपर विवेचन किया है उसे **दुर्लभता का लगान** (scarcity rent) कहते हैं। इसको दुर्लभता का लगान इसलिए कहते हैं क्योंकि यह समान प्रकार की भूमि की दुर्लभता के कारण ही उत्पन्न हुआ है। यहाँ पर चूँकि समस्त भूमि को एक समान माना गया है, इसलिये भूस्वामियों और कृषकों में पूर्ण प्रतियोगिता होगी और सभी कृषकों को समान मात्रा में लगान देना होगा। भूमि पूर्णतया बेलोच (inelastic) है अर्थात् इसकी मात्रा निश्चित और स्थिर होने के कारण लगान में वृद्धि होने पर और अधिक भूमि उपलब्ध नहीं हो जाएगी। अतएव शुद्ध दुर्लभता के लगान की यह विशेषता है कि जबकि अन्य साधनों की कीमतों में वृद्धि होने पर उनकी पूर्ति में वृद्धि की जाती है (कम से

कम दीर्घकाल मे), परन्तु लगान के बढने पर भूमि की पूर्ति नही बढाई जा सकती। अत "भूमि पर अधिक आय दीर्घकाल मे भी अर्जित की जा सकती है जबकि अन्य साधनो की स्थिति मे ऐसा होने की सम्भावना नही है क्योकि उनकी माँग म वृद्धि को पूरा करने के लिए उनकी पूर्ति बढाई जाएगी। समान भूमि की पूर्ति की यह निश्चित और स्थिर मात्रा ही है जो कि एक समान भूमि को और उसकी दुर्लभता के लगान को अन्य उत्पादन के साधनो तथा उनकी कीमतो से भिन्न बनाती है। दुर्लभता का लगान आवश्यक रूप से भूमि की स्थिर और निश्चित पूर्ति का परिणाम है।"[1] ('Higher earnings can therefore persist for land even in the long run, whereas with other factors this is not very likely to happen because supply will increase to meet the increased demand It is the fixity of its supply which distinguishes homogeneous land and its scarcity from other factors of production and their prices Scarcity rent is essentially the result of the fact that land is in inflexible supply)'[2]

भेदात्मक लगान (Differential Rent)

दुर्लभता के लगान की उपर्युक्त व्याख्या मे हमने यह पूर्वमान्यता की है कि समस्त भूमि एक समान (homogeneous) है अर्थात् वह समान रूप से उत्पादक है तथा एक समान ही स्थित है। परन्तु यह पूर्व मान्यता वास्तविक नही है। वस्तुत रिकार्डो लगान की उत्पत्ति ऐसी स्थिति म दिखाना चाहता था जब कि भूमि के गुणो (quality) म अन्तर हो अर्थात् भूमि के विभिन्न टुकडे उत्पादकता और स्थिति (location) मे भिन्न भिन्न हों, भूमि के कुछ टुकडे अन्य टुकडों से अधिक उत्पादक हों और कुछ टुकडे अन्यों की तुलना मे अधिक अनुकूल स्थिति म हों अर्थात् वे मार्किट केन्द्रों से जहाँ पर कि उपज को बेचा जाना है, के निकट हों।

भूमि के विभिन्न टुकडों की उत्पादकता मिट्टी की प्रकृति, तापमान, वर्षा तथा अन्य ऋतुगत तत्वों पर निर्भर करती है। श्रम और पूँजी की एक दी हुई मात्रा लगाने पर भूमि के कुछ टुकडो से दूसरो की तुलना मे प्रति हैक्टर उत्पादन अधिक होता है। इस प्रकार उत्पादकता अथवा उर्वरता मे अन्तर विभिन्न प्रकार की भूमि पर काम करने वाले विभिन्न कृषको की उत्पादन लागत मे अन्तर उत्पन्न कर देता है। श्रेष्ठ अथवा अधिक उत्पादक प्रकार की भूमि पर काम करने वाले कृषको का औसत लागत वक्र घटिया अथवा कम उपजाऊ भूमि के टुकडो पर काम करने वाले कृषको की तुलना म कम स्तर पर होगा। इसी प्रकार स्थिति मे अन्तर से भी परिवहन की लागतो म अतर के कारण विभिन्न कृषको की उत्पादन लागत म अन्तर उत्पन्न हो जाएगा। वास्तव मे, भूमि अनेक प्रकार की होती है, सर्वोत्तम कोटि से लेकर निम्नतम कोटि तक। अपने विश्लेषण को सरल बनाने के लिए यह मान लेते हैं कि द्वीप मे चार प्रकार की भूमि है जिसम A प्रकार की भूमि सबसे श्रेष्ठ है। उससे कम श्रेष्ठ B प्रकार की भूमि है और उससे भी कम उत्पादक C प्रकार की भूमि है और D प्रकार की भूमि निम्नतम क्वालिटी की है।

जब द्वीप में कुछ लोग आकर बसते हैं तो सर्वप्रथम वे अन्न के लिए A प्रकार की भूमि का प्रयोग करेंगे। जब तक A प्रकार की भूमि की कुछ मात्रा अभी अप्रयुक्त पडी है तो कोई लगान नहीं देना पडेगा। जब उस द्वीप की जनसख्या बढने पर अथवा उस द्वीप का विकास होने पर अन्न की माँग बढ जाती है, तो A प्रकार की समस्त भूमि अन्न के उत्पादन के लिए प्रयोग की जाने लग जायेगी। इस अवस्था मे प्रत्येक कृषक जो कि A प्रकार की भूमि का प्रयोग कर रहा होगा, औसत लागत वक्र के न्यूनतम बिन्दु पर काम करेगा, जैसा कि रेखाकृति 41 2 मे दिखाया गया है। जब A प्रकार की समस्त भूमि उत्पादन के लिए प्रयोग में लाई जा चुकी होगी तो उसके बाद द्वीप की जनसख्या अथवा आर्थिक विकास के कारण अन्न की माँग और बढ जाती है तो उत्पादन बढाने

1 Stonier and Hague, *A Textbook of Economic Theory*, 4th edition, p 312

के दो उपाय हैं। प्रथम, B प्रकार की भूमि को उत्पादन के लिए प्रयोग किया जाने लगेगा और दूसरे A प्रकार की भूमि पर अधिक श्रम और पूँजी लगाकर अधिक गहन अथवा सघन रूप से (more intensive) खेती की जाएगी।

B प्रकार की भूमि तभी उत्पादन के लिए प्रयोग की जा सकती है यदि कीमत इतनी बढ़ जाती है कि B प्रकार की भूमि पर उठाई गई उत्पादन लागत पूरी हो जाती है। दूसरे शब्दों मे, कीमत इतनी अधिक होनी चाहिए जिससे कि B प्रकार की भूमि पर न्यूनतम औसत लागत को पूरा करे अन्यथा B प्रकार की भूमि पर खेती करना लाभप्रद नही होगा। अर्थात् यदि अन्न की कीमत B प्रकार की भूमि की न्यूनतम औसत लागत से कम है तो उस पर उत्पादन करने से श्रम और पूँजी की लागत पूरी नही होगी और इसलिए इसे कृषि के लिए प्रयोग नही किया जा सकेगा। रेखाकृति 41 2 से स्पष्ट है कि यदि B प्रकार की भूमि को उत्पादन के लिए प्रयोग किया जाना है तो अन्न की कीमत अवश्य ही कम-से कम OP' के समान होनी चाहिए।

B प्रकार की भूमि तक पहुँच गई है। दूसरे शब्दों में, B प्रकार की भूमि अब कृषि की विस्तृत सीमा (extensive margin of cultivation) पर है। B प्रकार की भूमि पर खेती करने वाला प्रत्येक कृषक रेखाकृति 41 2 मे औसत लागत वक्र के निम्नतम बिन्दु पर काम करेगा। चूंकि अनाज की कीमत OP', B प्रकार की भूमि पर औसत श्रम और पूँजी की लागत के समान है, इसलिए यहाँ पर उत्पादन लागत के ऊपर कोई अधिशेष अथवा आधिक्य (surplus) नही है और इसीलिए B प्रकार की भूमि कोई लगान अर्जित नहीं करेगी। परन्तु चूंकि कीमत OP', A प्रकार की भूमि पर न्यूनतम औसत लागत से अधिक है, इसलिए उस पर उत्पादन लागत से ऊपर अधिशेष अथवा आधिक्य प्राप्त होगा। यह अधिशेष ही लगान है जो कि भूस्वामी को देना होगा। यह उल्लेखनीय है कि B प्रकार की भूमि पर खेती की सीमा बढ़ाने के साथ-साथ A प्रकार की भूमि पर भी श्रम और पूँजी की अधिक इकाइयाँ लगाकर अधिक गहन रूप से अथवा सघनता से खेती की जाएगी। दूसरे शब्दो में, खेती की गहन सीमा (intensive margin of cultivation) भी बढ़ाई जाएगी। रेखाकृति 41 2 में इसका
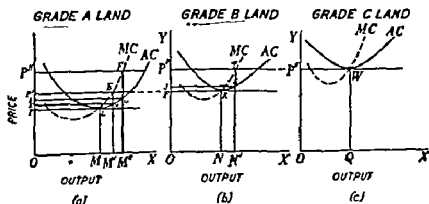
रेखाकृति 41 2 रिकार्डो के भेदात्मक लगान का रेखाकृति द्वारा निरूपण

अब कल्पना कीजिए कि अन्न की माँग इतनी बढ़ गई है कि उसकी कीमत OP' हो गई और फलस्वरूप B प्रकार की भूमि को भी उत्पादन के लिए प्रयोग किया जाने लगा है। इस प्रकार अब कृषि की सीमा बढ़ कर

यह अर्थ होगा कि A प्रकार की भूमि पर काम करने वाले कृषक अब औसत लागत के निम्नतम बिन्दु पर उत्पादन नहीं करेंगे, वे भी बढ़ी हुई माँग को पूरा करने के लिए अपना उत्पादन बढ़ायेंगे। उत्पादन में

वृद्धि से A प्रकार की भूमि पर सीमान्त लागत बढ़ जाएगी। A प्रकार की भूमि पर सीमान्त लागत मे इस वृद्धि को पूरा करने के लिए अन्न की कीमत भी बढ़नी चाहिए यदि श्रम और पूँजी पर उठाई गई अतिरिक्त लागतें पूरी करनी हैं। रेखाकृति 41 2 मे जब A प्रकार की भूमि पर खेती करने वाले कृषक माँग मे वृद्धि के फलस्वरूप गहन कृषि की सीमा बढ़ाते हैं तो उनकी नई सन्तुलन स्थिति वहाँ होगी जहाँ सीमान्त लागत नई ऊँची कीमत OP' के समान है अर्थात् जब वह सीमान्त लागत वक्र के बिन्दु E पर है तथा अन्न की OM' मात्रा का उत्पादन कर रहे है।

रेखाकृति 41 2 में यह देखा जाएगा कि यद्यपि नई कीमत OP' सीमान्त लागत $M'E$ के समान है, परन्तु यह श्रम और पूँजी की औसत लागत $M'H$ से अधिक है। औसत लागत से अतिरिक्त कीमत जो कि HE के समान है उत्पादन की प्रति इकाई पर भूमि का लगान अथवा अधिशेष है जो कि भूस्वामी को देना होगा। कृषक द्वारा दिया जाने वाला कुल लगान $KHEP'$ के समान होगा। यह ध्यान से समझ लेना चाहिए कि A प्रकार की भूमि पर लगान तब भी उत्पन्न होता चाहे उस पर गहन कृषि न होती और उत्पादन OM तक ही सीमित रखा जाता क्योंकि कीमत OP' भूमि की A प्रकार पर OM उत्पादन मात्रा की न्यूनतम औसत लागत ML से अधिक है। किन्तु, वास्तव मे, विस्तृत तथा गहन सीमाएँ दोनों माँग मे वृद्धि को पूरा करने के लिए बढ़ाई जाती हैं और उत्पादन लागत के ऊपर अधिशेष अर्थात् अधि-सीमान्त भूमियों (intra-marginal lands) पर विस्तृत तथा गहन खेती के कारण लगान उत्पन्न हो जाता है। इस अवस्था मे B प्रकार की भूमि सीमान्त भूमि (marginal land) है जो कोई भी लगान अर्जित नहीं करती और A प्रकार की भूमि अधि-सीमान्त भूमि है जो कि $KHEP'$ के समान लगान प्राप्त करती है। यह ध्यान से समझ लेना चाहिए कि A प्रकार की भूमि पर लगान A प्रकार की भूमि तथा B प्रकार की भूमि में अन्तर के कारण उत्पन्न नहीं हुआ है, बल्कि यह A प्रकार की श्रेष्ठ भूमि की दुर्लभता (scarcity) के कारण उत्पन्न हुआ है।

अब कल्पना कीजिए कि द्वीप की जनसंख्या में और वृद्धि होती है जिससे भूमि की अन्न के उत्पादन के लिए माँग और बढ़ जाती है और फलस्वरूप अन्न की कीमत बढ़ कर OP'' हो जाती है। परिणाम-स्वरूप C प्रकार की भूमि भी खेती के अन्तर्गत लाई जाएगी और A तथा B प्रकार की भूमि पर पहले से अधिक गहन रूप से खेती की जाएगी। कीमत OP'', C प्रकार की भूमि की निम्नतम औसत आय के बराबर है। C प्रकार की भूमि पर उत्पादन लागत के ऊपर कोई भी अधिशेष नहीं है। इसलिए C प्रकार की भूमि कोई लगान अर्जित नहीं करेगी। C प्रकार की भूमि अब कृषि की विस्तृत सीमा पर है। इस प्रकार C प्रकार की भूमि अब सीमान्त भूमि है। इसके अति-रिक्त, कीमत OP'' पर A और B प्रकार की भूमियों पर श्रम और पूँजी की पहले से अधिक इकाइयाँ लगा कर गहन रूप से खेती की जाएगी। परिणाम-स्वरूप A और B प्रकार की भूमि पर उत्पादन को और बढ़ाया जाएगा जिससे कि सीमान्त लागत नई कीमत OP'' के बराबर हो जाए। रेखाकृति 41 2 मे स्पष्ट है कि उत्पादन को A प्रकार की भूमि पर OM'' तक बढ़ाया गया है और B प्रकार की भूमि पर ON' तक। अब B प्रकार की भूमि पर भी लागत के ऊपर आधिक्य (surplus) उत्पन्न हो गया है। अनाज की ON' मात्रा उत्पादित करने पर B प्रकार की भूमि पर $ON'TP''$ के बराबर कुल आय प्राप्त हो रही है, जबकि श्रम और पूँजी की लागत $ON SJ$ के बराबर है। इस प्रकार कुल आय का कुल लागत पर आधिक्य $JSTP''$ के बराबर है, जो कि B प्रकार की भूमि पर इस अवस्था मे लगान निर्धारित होगा। कीमत के OP'' तक बढ़ जाने के परिणामस्वरूप भूमि A पर अर्जित कुल आय $OM''FP''$ हो जाएगी जबकि उस पर कुल उत्पादन की लागत $OM''GL$ होगी। इस प्रकार A भूमि पर उत्पादन लागत के ऊपर आधिक्य (surplus) बढ़ कर $LGFP''$ हो जाएगा जो कि अब उस पर लगान (rent) निर्धारित होगा। अन्न की कीमत OP'' के बराबर हो जाने से C प्रकार की भूमि सीमान्त भूमि हो गई है जिसे कोई लगान प्राप्त नहीं होता, जबकि A और B प्रकार की भूमियाँ अधि-

सीमान्त भूमियाँ हैं और अधिक श्रेष्ठ *A* प्रकार की भूमि, *B* प्रकार की भूमि से अधिक लगान अर्जित कर रही है।

प्रतिष्ठित अथवा रिकार्डियन लगान सिद्धान्त के विषय मे एक महत्वपूर्ण बात समझने की यह है कि इसमे भूमि का लगान उत्पादन लागत का भाग नही होता। जैसा कि हमने ऊपर देखा है, इसमे भूमि का लगान उत्पादन लागत के ऊपर की आय होती है। चूँकि भूमि का लगान उत्पादन लागत मे सम्मिलित नही होता, इसलिए यह कीमत को निर्धारित नही करता। अन्न की कीमत (अथवा भूमि द्वारा उत्पादित वस्तु की कीमत) सीमान्त भूमि की न्यूनतम औसत लागत के अवश्य बराबर होनी चाहिए। परन्तु सीमान्त भूमि कोई लगान अर्जित नही करती, इसलिए स्पष्ट है कि रिकार्डो के सिद्धान्त मे लगान कीमत का निर्धारक (price determining) नही है। वस्तुत इस सिद्धान्त मे लगान कीमत द्वारा निर्धारित होता है (rent is price determined) अर्थात् यह कीमत ही है जो लगान को निर्धारित करती है। इसलिए रिकार्डो ने कहा कि अन्न की कीमत इसलिए ऊँची नहीं है कि लगान देना पडता है बल्कि लगान इसलिए दिया जाता है क्योकि अन्न की कीमत ऊँची है। (*Corn is not high because rent is paid, but a rent is paid because corn is high*")।

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त का मूल्यांकन (Critical Appraisal of Ricardian Rent Theory)

आधुनिक अर्थशास्त्री रिकार्डो के लगान सिद्धान्त से बहुत सीमा तक सहमत है। रिकार्डो की तरह आधुनिक अर्थशास्त्रियो का भी विचार है कि लगान भूमि की दुर्लभता (scarcity of land) के कारण उत्पन्न होता है। यद्यपि रिकार्डो ने प्रत्यक्ष रूप से भूमि के माँग और पूर्ति वक्रो द्वारा लगान के निर्धारण की व्याख्या नही की, परन्तु सैद्धान्तिक रूप से उसकी व्याख्या मे भूमि के लिए माँग और उसकी पूर्ति उस पर लगान को निर्धारित करते हैं। इसके अतिरिक्त, रिकार्डो के अनुसार भूमि के लिए माँग उसके द्वारा उत्पादित वस्तु, अर्थात् अनाज (corn) के लिए माँग द्वारा उत्पन्न होती है और उसकी उत्पादकता (productivity) पर निर्भर करती है। ऐसा ही विचार आधुनिक अर्थशास्त्रियो का है। अतएव आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा भूमि लगान के निर्धारण की माँग और पूर्ति द्वारा व्याख्या रिकार्डो के सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं, किन्तु उसके अनुसार है तथा उस पर आधारित है। अब हम रिकार्डो के लगान सिद्धान्त को प्रत्यक्ष रूप से भूमि के माँग और पूर्ति वक्रो द्वारा व्याख्या करेंगे जैसा कि आधुनिक अर्थशास्त्री प्राय करते हैं।

भूमि का लगान इसके उपयोग की कीमत है और यह अन्य पदार्थों और उत्पादन साधन की कीमतो की तरह माँग और पूर्ति मे सतुलन द्वारा निर्धारित होती है। हम अब इन दोनो पक्षो की व्याख्या करेंगे।

माँग पक्ष—भूमि की माँग उत्पादन के अन्य साधनो की तरह अपने उत्पादित पदार्थों की माँग पर निर्भर करती है अर्थात भूमि की माँग प्रत्यक्ष नही प्रत्युत परोक्ष है (Demand for land like other factors is derived from the demand for its products)। लोगो के गेहूँ की माँग से ही भूमि की माँग उत्पन्न होती है, क्योकि गेहूँ भूमि द्वारा ही उत्पादित किया जा सकता है। इस भूमि की माँग गेहूँ जैसी फसलो से जो भूमि द्वारा उत्पादित की जाती हैं, पर निर्भर करती है। स्पष्ट है कि यदि गेहूँ आदि पदार्थों की माँग बढ जाए तो भूमि की माँग भी बढ जाएगी। उदाहरणत यदि किसी देश की जनसख्या बढ जाए, तो गेहूँ आदि पदार्थों की माग बढ जाएगी, जिसके कारण भूमि की माँग और किराया भी बढ जाएगा। दूसरी ओर कल्पना करें कि किसी देश मे किसी सकट के आ जाने के कारण कुछ लोग वहाँ से चले जाते है। इसका परिणाम यह होगा कि गेहूँ आदि पदार्थों की माँग कम हो जाएगी और भूमि की माँग और उसका किराया घट जाएगा। नए देश मे जनसख्या कम होने के कारण कृषि उत्पादन की माग कम होती है, जिस कारण लगान भी कम होते है।

हम पिछले अध्याय मे बता चुके हैं कि उत्पादन के किसी साधन की माँग उसकी सीमान्त आय उत्पा-

दकता (marginal revenue productivity) पर निर्भर करती है। जैसे-जैसे उत्पादन के किसी साधन की मात्रा बढ़ायी जाती है, उसकी सीमान्त आय उत्पादकता, ह्रासमान प्रतिफल के नियम (law of diminishing returns) के कारण घटती जाती है। इसलिए अन्य साधनों की तरह भूमि का माँग-वक्र बायीं से दायीं ओर को नीचे गिरेगा। भूमि का माँग वक्र रेखाकृति 41.3 में DD द्वारा दिखाया गया है। इसमें समझने योग्य बात यह है कि भूमि का लगान माँग पक्ष में इसकी सीमान्त आय उत्पादकता के अनुसार निर्धारित होगा, न कि कुल उत्पादकता द्वारा।

पूर्ति-पक्ष (Supply side)—यह तो स्पष्ट है कि कोई व्यक्ति अपने लिए भूमि की पूर्ति बढ़ा सकता है परन्तु यदि सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से देखा जाय तो भूमि की पूर्ति स्थिर और निश्चित है। कई बार भूमि सुधार करने और समुद्रों और वनों को पीछे हटा कर भूमि की पूर्ति बढ़ाने के प्रयत्न किए जाते हैं। परन्तु इन प्रयत्नों द्वारा जो भूमि प्राप्त की जा सकती है, वह इतनी थोड़ी होती है कि नगण्य (negligible) है। इसलिए भूमि के किराए के विश्लेषण में हम भूमि की सम्पूर्ण समाज के लिए कुल पूर्ति को पूर्णतया मूल्य-निरपेक्ष (perfectly inelastic supply) मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि चाहे भूमि पर लगान कितना ही क्यों न बढ़ जाए या कितना ही क्यों न घट जाये, इसका भूमि की पूर्ति पर बिल्कुल प्रभाव नहीं पड़ता, वह तो उतनी ही रहेगी। इसके विपरीत, यदि ब्याज की दर घट या बढ़ जाये तो पूँजी की पूर्ति कम या अधिक हो जाती है। परन्तु लगान के घटने या बढ़ने से भूमि की पूर्ति में कमी या वृद्धि नहीं हो सकती, भूमि तो प्रकृति की निःशुल्क देन (free gift of nature) है और जितनी है उतनी ही रहती है।'

हमने ऊपर भूमि की माँग और पूर्ति दोनों की व्याख्या कर ली है। जैसा हम पहले बता चुके हैं, चूँकि लगान भूमि के उपयोग की कीमत है, इसलिए यह भी भूमि की माँग और पूर्ति के सन्तुलन द्वारा निर्धारित होता है (Rent as price for the use of land like factor-price is determined by the demand for and supply of land)। भूमि के लगान का निर्धारण रेखाकृति 41.3 में दिखाया गया है। इसमें हमने यह पूर्व मान्यता कर ली है कि सभी भूमि बिल्कुल एक समान (homogeneous) है और केवल एक ही उपयोग में लाई जाती है, जैसे गेहूँ की कृषि के लिए। इन दशाओं में भूमि का माँग-वक्र भी केवल एक होगा और भूमि का पूर्ति वक्र भी एक बनेगा। इस विश्लेषण में हमने यह भी मान्यता (assumption) कर ली है कि भूमि के खरीदने और बेचने दोनों में पूर्ण प्रतियोगिता है।

रेखाकृति 41.3 में SS भूमि का पूर्ति-वक्र है और यह एक सरल सम्बरूप रेखा (vertical line) है। यह पूर्णतया मूल्य निरपेक्ष (absolutely inelastic supply) को व्यक्त करती है। आरम्भ में DD भूमि का कुल
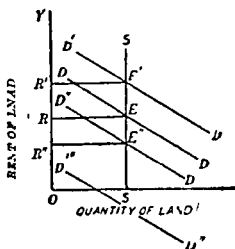
रेखाकृति 41.3
रिकार्डो के सिद्धान्त का माँग और पूर्ति द्वारा भूमि लगान के निर्धारण का स्पष्टीकरण

माँग वक्र (total demand curve) है। ये दो वक्र एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं। इसलिए इस अवस्था में (अर्थात् पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में) OR लगान निर्धारित होगा। यदि लगान OR से कम हो जाए तो भूमि की माँग बढ़ जाएगी, परन्तु इस भूमि की पूर्ति उतनी अर्थात् OS ही रहेगी। इसका

अर्थ यह हुआ कि यदि लगान OR से कम है तो भूमि की मांग भूमि की पूर्ति से अधिक होगी, जिसका परिणाम यह होगा कि भूमि की मांग करने वालो में परस्पर प्रतियोगिता के कारण किराए की दर बढ़ कर पुन OR हो जाएगी। इसके विपरीत, यदि लगान की दर OR से अधिक हो तो भूमि की मांग घट जाएगी, जबकि भूमि की पूर्ति उतनी, अर्थात् OS, ही रहेगी इस दशा मे भूमि की पूर्ति भूमि की मांग की अपेक्षा अधिक होगी, जिससे भूमि की पूर्ति करने वालो मे परस्पर प्रतियोगिता के कारण लगान घटकर पुन OR स्तर पर आ जाएगा। इसलिए जब मांग वक्र DD है तो लगान OR निश्चित होगा।

अब कल्पना करें कि जनसंख्या की वृद्धि या किसी और कारण से भूमि की मांग बढ़ जाती है। इस नई मांग दशा को हमने रेखाकृति 41 3 में D'D' द्वारा दिखाया है। भूमि की पूर्ति तो उतनी ही है जो SS वक्र द्वारा दिखाई गई है। ये दोनों वक्र (D'D' और SS) एक दूसरे को बिन्दु E' पर काटते हैं। इस नई दशा मे लगान OR' निर्धारित होगा। इसके विपरीत, यदि किसी कारणवश भूमि की मांग घटकर D''D'' हो जाए (भूमि की पूर्ति तो वही SS ही रहेगी), तो लगान OR'' निश्चित होगा। यदि कोई देश नया है और वहाँ पर भूमि की मांग भूमि की पूर्ति की अपेक्षा कम है तो वहाँ पर भूमि का कोई लगान नही होगा—वहाँ पर भूमि नि शुल्क (लगान के बिना) ही होगी। ऐसी दशा जबकि भूमि नि शुल्क (free) मिलती हो D'' D'' मांग वक्र द्वारा दिखाई गई है। इससे स्पष्ट है कि भूमि के लगान के निर्धारण में पूर्ति का पक्ष निष्क्रिय (passive) है और मांग का पक्ष सक्रिय (active) है।

मांग और पूर्ति तथा भेदात्मक लगान (Demand and Supply and Differential Rents)

आधुनिक अर्थशास्त्री रिकार्डो के भेदात्मक लगानो की धारणा तथा उनकी उत्पत्ति की व्याख्या से सहमत हैं। उपर्युक्त विश्लेषण मे भूमि एक सी (homogeneous) तथा उसके खरीदने और बेचने मे पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यताओ के कारण भी भूमि का लगान एक ही (same) होगा और यह भूमि की समूची मांग और समूची पूर्ति पर निर्भर करेगा। यदि भूमि भिन्न भिन्न कोटि (quality) की है, इनके मांग वक्र अलग अलग बनेंगे और लगान भी भिन्न भिन्न (different) होंगे। बढ़िया भूमि की मांग भी अधिक होगी और लगान भी अधिक होगा। श्रेष्ठ भूमि की मांग इसलिए अधिक होगी कि उसकी सीमान्त उत्पादकता अधिक होती है। इस तरह इस सिद्धान्त द्वारा भिन्न भिन्न लगानों (differential rents) की व्याख्या हो जाती है।

उपर्युक्त व्याख्या से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्य साधनो की तरह भूमि का लगान भी भूमि की मांग और उसकी पूर्ति मे सन्तुलन द्वारा निर्धारित होता है। अन्य शब्दो मे, यह भूमि की मांग की तुलना मे उसकी दुर्लभता (scarcity of land in relation to demand) ही है जो उसके लगान को निर्धारित करती है। वास्तव मे यह भूमि के उपयोग के लिए इसीलिए दिया जाता है क्योकि भूमि की उपज उसकी मांग की तुलना मे दुर्लभ (scarce) है—भूमि की दुर्लभता उसकी उपज की दुर्लभता के कारण होती है। सभी प्रकार की कीमतें दुर्लभता के कारण उत्पन्न होती हैं और भूमि के उपयोग की कीमत अर्थात् लगान इस नियम का कोई अपवाद नहीं है।

भूमि के वैकल्पिक उपयोग तथा लगान (Alternative Uses of Land and Rent)

रिकार्डो ने लगान का निर्धारण समस्त अर्थव्यवस्था अथवा समाज के दृष्टिकोण से किया। वह अपने सिद्धान्त मे भूमि के वैकल्पिक उपयोगो को विचार मे नहीं लाया। इसलिए उसने भूमि की पूर्ति को पूर्णतया मूल्य निरपेक्ष तथा बेलोचदार माना। इस बारे मे आधुनिक अर्थशास्त्री रिकार्डो से सहमत नहीं हैं। आधुनिक अर्थशास्त्र मे भूमि को न केवल समूचे समाज के दृष्टिकोण से देखा जाता है बल्कि इस पर विभिन्न वैकल्पिक उपयोगों की दृष्टि से भी विचार किया जाता है। किसी विशेष उपयोग अथवा उद्योग के लिए भूमि पूर्णतया मूल्य निरपेक्ष (perfectly inelastic) नहीं होती, बल्कि उसके लिए यह मूल्यसापेक्ष

(elastic) होती है और पूर्तिवक्र बायें से दायीं ओर को ऊपर को चढ़ता है। किसी विशेष उपयोग अथवा उद्योग के लिए भूमि का पूर्ति वक्र उसकी विकल्प आय (transfer earnings) पर निर्भर करता है अर्थात् इस बात पर निर्भर करता है कि वह भूमि वैकल्पिक उपयोगों में कितनी आय अर्जित कर सकती है। भूमि की यह विकल्प आय किसी विशेष उपयोग अथवा उद्योग के लिए भूमि की पूर्ति कीमत (supply price) को निर्धारित करती है और उसकी उत्पादन लागत में सम्मिलित होकर लगान को निर्धारित करने में भाग लेती है।

अब हम किसी विशेष उपयोग (use) अथवा उद्योग (industry) के लिए भूमि की मांग और पूर्ति द्वारा उसके किराये के निर्धारण की व्याख्या करेंगे। इस दशा में भूमि की पूर्ति स्थिर (fixed) नहीं होती। किसी विशेष उपयोग या उद्योग में भूमि का अधिक लगान अथवा किराया देकर दूसरे उपयोगों अथवा उद्योगों में से उस विशेष उपयोग या उद्योग के लिए अधिक भूमि प्राप्त की जा सकती है इसलिए विशेष उपयोग अथवा उद्योग के लिए भूमि की पूर्ति पूर्णतया मूल्य-निरपेक्ष (inelastic) नहीं होती, अपितु मूल्य-सापेक्ष (elastic) होती है और इसलिए भूमि का पूर्ति वक्र बायें से दायें ऊपर चढ़ने वाला होगा जैसा कि रेखाकृति 41·4 में SS वक्र द्वारा दिखाया गया है।

कल्पना करो कि पूर्ति वक्र SS गन्ने की फसल के लिए प्रयोग हो रही भूमि का है। प्रारम्भ में गन्ने के लिए भूमि का मांग वक्र DD है। ये दोनों वक्र SS और DD एक दूसरे को बिन्दु E पर काटते हैं, और इसलिए लगान OR निर्धारित होगा और भूमि की OM मात्रा गन्ने की उपज के लिए उपयोग हो रही होगी। अब कल्पना करें कि गन्ने की मांग बढ़ने पर भूमि की मांग का वक्र $D'D'$ हो जाता है। इस नई दशा में सन्तुलन E' बिन्दु पर होगा जहाँ पर SS वक्र और नया मांग-वक्र $D'D'$ एक दूसरे को काटते हैं। इसलिए अब OR' लगान निर्धारित होगा और गन्ने के लिए भूमि का उपयोग बढ़कर OM' हो जाएगा। इससे तो यह ज्ञात होता है कि गन्ने के लिए भूमि का किराया बढ़ जाने से $M'M$ भूमि दूसरे उपयोगों से गन्ने की ओर आ गई है। यदि गन्ने की मांग घट जाने से गन्ने के उपयोग में भूमि का लगान कम हो जाय तो कुछ भूमि गन्ने की उपज के उपयोग में निकल कर दूसरे उपयोगों में चली जायगी। रेखाकृति 41·4 में अब मांग-वक्र गिर कर $D''D''$ हो गया है और लगान घट कर OR'' हो गया है और गन्ने के उपयोग में भूमि की मात्रा कम होकर OM'' हो गई है, जिसका भाव यह है कि MM'' भूमि गन्ने की उपज से निकल कर दूसरी उपजों में, जैसे कपास आदि के लिए चली गई है।
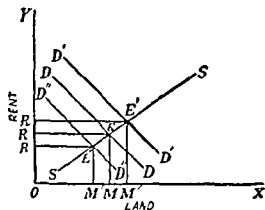
रेखाकृति 41·4
विशेष उद्योग अथवा उपयोग में भूमि के लगान का निर्धारण

आधुनिक अर्थशास्त्री भूमि को न केवल वैकल्पिक उपयोगों की दृष्टि से देखते हैं, बल्कि विभिन्न व्यक्तिगत किसानों की दृष्टि से भी। व्यक्तिगत किसानों, जो लगान पर भूमि लेकर उस पर अन्न तथा अन्य कृषि-जन्य वस्तु उत्पादन करते हैं, के लिए लगान "उत्पादन की लागत" में सम्मिलित होता है और इस प्रकार अन्न अथवा अन्य कृषि वस्तुओं की कीमतों को निर्धारित करता है। अतः आधुनिक अर्थशास्त्री रिकार्डो के इस विचार से भी सहमत नहीं हैं कि लगान अन्न की कीमत को निर्धारित करता है। लगान उसी प्रकार कृषि-वस्तुओं की कीमत को निर्धारित करता है जिस प्रकार कि अन्य साधनों की कीमतें

का पूर्ति वक्र SS है जो क्षितिज के समानान्तर है अर्थात् साधन की पूर्ति पूर्णतया मूल्यसापेक्ष (supply is perfectly elastic) है। दूसरे शब्दों में, साधन की प्रत्येक इकाई OS कीमत पर उपयोग अथवा उद्योग विशेष के लिए अपनी सेवा प्रस्तुत करने को तैयार है। इसका अर्थ यह हुआ कि साधन की प्रत्येक इकाई की विकल्प आय OS के समान है। माँग और पूर्ति वक्र एक दूसरे को बिन्दु P पर काटते हैं जिससे साधन की कीमत OS प्रति इकाई निर्धारित होती है। हम अभी ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं कि साधन की प्रत्येक इकाई की विकल्प आय OS के ही समान है। अतएव स्पष्ट है कि साधन की पूर्ति के पूर्णतया मूल्यसापेक्ष होने की स्थिति में साधन की प्रत्येक इकाई की वर्तमान उद्योग अथवा उपयोग में प्राप्त कीमत या आय उसको विकल्प आय के समान होगी जिससे उनको कोई अधिशेष (economic rent) प्राप्त नहीं होगा। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब किसी साधन की पूर्ति किसी उपयोग अथवा उद्योग-विशेष के लिए पूर्णतया मूल्यसापेक्ष होती है तो उस साधन की किसी इकाई को कोई अधिशेष प्राप्त नहीं होगा।

अब उस स्थिति को लीजिए जब किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया मूल्यसापेक्ष (perfectly elastic) से कम हो। इस स्थिति में अधिशेष (economic rent) उत्पन्न होगा। इस विषय में दो प्रकार की स्थितियाँ हो सकती हैं। एक तो यह कि साधन की पूर्ति पूर्णतया मूल्यसापेक्ष से तो कम हो परन्तु पूर्णतया मूल्य-निरपेक्ष न हो। दूसरे साधन की पूर्ति पूर्णतया मूल्य-निरपेक्ष हो जैसे कि समस्त समाज के लिए भूमि की पूर्ति है। इन दो प्रकार की स्थितियों में अधिशेष अथवा आर्थिक लगान की उत्पत्ति को हम नीचे समझाएँगे।

जब साधन की पूर्ति पूर्णतया मूल्यसापेक्ष से कम हो (When supply of a factor is less than perfectly elastic)

किसी साधन की पूर्ति का पूर्णतया मूल्यसापेक्ष से कम होने का अभिप्राय यह है कि उसकी सभी इकाइयों की विकल्प आय समान नहीं है। जैसे किसी उपयोग अथवा उद्योग में किसी साधन विशेष की कीमत बढ़ती जाती है इसकी अधिक इकाइयाँ उस उपयोग अथवा उद्योग के लिए अपनी सेवाएँ प्रस्तुत करेंगी। मान लो किसी उद्योग व उपयोग में किसी साधन की प्रति इकाई कीमत 200 रुपये मासिक है। स्पष्ट है कि इस कीमत पर उस साधन की केवल वही इकाइयाँ उस उद्योग अथवा उपयोग के लिए अपनी सेवाएँ पेश करेंगी जिनकी विकल्प आय 200 रु० से कम होगी। इस प्रकार जैसे-जैसे किसी उद्योग में साधन की प्रति इकाई कीमत बढ़ेगी उस साधन की अधिक इकाइयाँ उद्योग-विशेष में काम करने को तैयार होंगी। स्पष्ट है किसी उद्योग अथवा उपयोग के लिए किसी साधन की पूर्ति
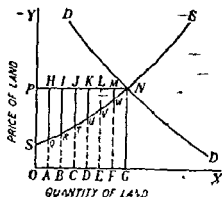
रेखाकृति 41.6

उसकी विभिन्न इकाइयों की विकल्प आयों (transfer earnings) पर निर्भर करती है। रेखाकृति 41.6 को देखिए जिसमें अक्ष-X पर साधन की मात्रा और अक्ष-Y पर साधन की कीमत दर्शायी गई है। इसमें SS पूर्ति वक्र है जो कि मूल्यसापेक्ष है परन्तु पूर्णतया मूल्य-सापेक्ष से कम है। पूर्ति वक्र SS यह प्रकट करता है कि साधन की विभिन्न कीमतों पर उसकी कितनी-कितनी इकाइयों की पूर्ति होगी। दूसरे शब्दों में साधन का पूर्ति वक्र उसकी विभिन्न इकाइयों की विकल्प आयों (transfer earnings) को प्रकट करता है। रेखाकृति 41.6 में साधन की A-वीं इकाई की विकल्प आय अथवा उद्योग के लिए पूर्ति कीमत (supply price) AQ है अर्थात् उस उद्योग के लिए A-वीं इकाई को प्राप्त करने के लिए अथवा उसको उद्योग में कार्य

करते रहने के लिए कम से कम AQ कीमत अवश्य देनी होगी। इसी प्रकार B-वी इकाई की पूर्ति कीमत BR है अर्थात् B-वी इकाई को उस उद्योग में आकृष्ट करने के लिए अथवा उसको उस उद्योग में लगाए रखने के लिए कम से कम BR कीमत देनी आवश्यक है। अतएव BR, B-वी इकाई की विकल्प आय है। इसी तरह साधन की C, D, E, F और G इकाइयों की पूर्ति कीमतें अथवा विकल्प आयें क्रमश: CT DU, EV, FW और GN हैं। कल्पना कीजिए साधन की सभी इकाइयाँ उद्योग विशेष के लिए एक-जैसी कार्यक्षम हैं। अतएव उस उद्योग में साधन की सभी इकाइयों की समान कीमत निर्धारित होगी। साधन का उद्योग के लिए पूर्ति वक्र SS और उद्योग द्वारा साधन का माँग वक्र DD एक दूसरे को बिन्दु N पर काटते है जिससे साधन की OP सन्तुलन कीमत निर्धारित होती है। इसलिए उद्योग में प्रयुक्त साधन की प्रत्येक इकाई को OP कीमत अथवा आय मिलेगी। स्पष्ट है कि केवल सीमान्त इकाई G को ही वर्तमान उद्योग अथवा उपयोग में उसकी विकल्प आय के बराबर कीमत मिलेगी (G-वी इकाई की विकल्प आय GN कीमत OP के समान है)। परन्तु उद्योग मे काम कर रही अन्य इकाइयों को विकल्प आयें उनको उस उद्योग में दी जा रही कीमत OP से कम है। अतएव G-वी इकाई को छोड़ कर साधन की अन्य सभी इकाइयों को अपनी वैकल्पिक आयों से अधिक कीमत दी जाएगी अर्थात् उनको अधिशेष (economic rent) प्राप्त होगा। विभिन्न इकाइयों द्वारा प्राप्त अधिशेष की मात्रा भिन्न-भिन्न होगी क्योंकि उनकी वैकल्पिक आयें भिन्न भिन्न हैं। A-वी इकाई की वैकल्पिक आय AQ है जबकि उसको वर्तमान उद्योग में OP ($= AH$) कीमत मिल रही है। इसलिए A-वी इकाई को $AH - AQ$ अर्थात् QH अधिशेष प्राप्त हो रहा है। इसी तरह B वी इकाई की वैकल्पिक आय अथवा पूर्ति कीमत BR है जबकि उसको वर्तमान उद्योग में OP कीमत (जो कि BI के बराबर है) मिल रही है। इसलिए B-वी इकाई $BI - BR$ अर्थात् RI अधिशेष प्राप्त कर रही है। इसी तरह C, D, E और F द्वारा प्राप्त अधिशेष क्रमश: TJ, UK, VL, WM है। स्पष्ट है कि जब किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया मूल्यसापेक्ष से कम होती है तो उसकी कई इकाइयाँ अधिशेष प्राप्त करती हैं तथा विभिन्न इकाइयाँ भिन्न भिन्न अधिशेष प्राप्त करती है। रेखाकृति 41.6 में उद्योग में प्रयुक्त OG इकाइयों की कुल मिला कर वैकल्पिक आय $OSNG$ क्षेत्र के बराबर है और OG इकाइयों को कुल मिला कर $OP \times OG = OPNG$ क्षेत्र के बराबर कुल आय प्राप्त हो रही है। अतएव साधन की प्रयुक्त समस्त OG मात्रा को कुल अधिशेष (economic rent) $OPNG - OSNG$ अर्थात् SPN क्षेत्र के समान अधिशेष प्राप्त हो रहा है।

उपर्युक्त विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जब किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया मूल्यसापेक्ष से कम हो तो साधन द्वारा वर्तमान उद्योग अथवा उपयोग में प्राप्त आय का कुछ भाग तो वैकल्पिक आय होता है और शेष भाग अधिशेष (economic rent) होता है।

साधन की पूर्ति की मूल्यसापेक्षता की तीसरी प्रकार पूर्णतया मूल्यनिरपेक्ष (perfectly inelastic) की है। इस विषय में प्रमुख उदाहरण सम्पूर्ण समाज अथवा अर्थव्यवस्था के लिए भूमि की पूर्ति का है। हम पहले बता आए है कि एक समाज अथवा अर्थव्यवस्था के पास भूमि की मात्रा में घट बढ़ नहीं हो सकती। भूमि का किराया अथवा लगान चाहे कितना ही क्यों न बढ़ जाए समाज के लिए भूमि की पूर्ति उतनी ही रहती है, बढ़ाई नहीं जा सकती। रेखाकृति 41.7 में पूर्ति-वक्र SS' पूर्णतया मूल्यनिरपेक्ष है—जो समस्त समाज या अर्थव्यवस्था के लिए भूमि की पूर्ति को दर्शाता है। चूँकि सम्पूर्ण समाज या अर्थव्यवस्था के लिए भूमि की मात्रा बिल्कुल स्थिर (fixed) होती है, इसलिए भूमि का पूर्ति-वक्र एक लम्बरूप (vertical) रेखा होता है। यदि भूमि के उपयोग की कीमत व किराया शून्य (zero) भी हो जाए तो भी समूची अर्थव्यवस्था के लिए भूमि की मात्रा या पूर्ति उतनी ही रहती है। इसका अर्थ यह हुआ कि समूची अर्थव्यवस्था की दृष्टि से भूमि की वैकल्पिक कीमत या आय (transfer price or transfer earning) शून्य होती है। रेखाकृति 41.7 को पुन: देखें। DD' भूमि का कुल माँग-वक्र है और SS'

पूर्ति वक्र है। ये दोनों वक्र एक-दूसरे को R बिन्दु पर काटते हैं। सन्तुलन की अवस्था में भूमि के प्रयोग की कीमत OP प्रति इकाई निर्धारित होगी और भूमि की कुल आय $OPRS$ क्षेत्र के बराबर प्राप्त होगी। चूंकि इस अवस्था में भूमि की वैकल्पिक आय शून्य है इसलिए भूमि की सारी की सारी आय, जो $OPRS$ के बराबर है, अधिशेष (rent as surplus over transfer earnings) होगी। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए भूमि के दो प्रयोग हैं, या तो इसे खेती तथा अन्य कामों के लिए उपयोग किया जाए और या इसे बेकार पड़ा रहने दिया जाए। इसलिए समस्त समाज अथवा अर्थ-

रेखाकृति 41 7 समस्त आय अधिशेष है
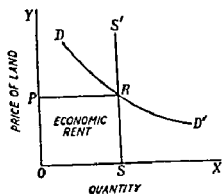
व्यवस्था के लिए भूमि की वैकल्पिक आय शून्य है और भूमि को उपयोग में लाकर जो भी आय प्राप्त होती है वह सारी-की-सारी अधिशेष ही होती है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जब किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया मूल्य-निरपेक्ष होती है तो उसके द्वारा अर्जित समस्त आय अधिशेष होगी।

अधिशेष की उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि अधिशेष तब उत्पन्न होता है जब किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया मूल्यसापेक्ष से कम होती है। अधिशेष के विषय में एक उल्लेखनीय बात यह है कि यह सम्पूर्ण समाज और विभिन्न विशेष उपयोगों के लिए भिन्न भिन्न हो सकता है। भूमि का उदाहरण लीजिए। किसी विशेष फसल के लिए तो भूमि की वैकल्पिक आय अवश्य धनात्मक होगी और जैसे-जैसे किसी फसल के अन्तर्गत भूमि से आय बढ़ती जाएगी उस फसल विशेष के लिए भूमि की पूर्ति बढ़ती जाएगी। अतएव किसी विशेष फसल के लिए भूमि की पूर्ति मूल्यसापेक्ष होगी और उसका पूर्ति वक्र रेखाकृति 41 7 के SS' वक्र जैसा होगा। इस स्थिति में भूमि द्वारा वर्तमान उपयोग में कमाई गई आय का कुछ भाग तो वैकल्पिक आय (transfer earnings) होगी और उससे ऊपर जो आय भूमि से होगी वह अधिशेष होगी। किन्तु जैसा कि हम ऊपर बता आए हैं कि सम्पूर्ण समाज के लिए भूमि की कोई वैकल्पिक आय नहीं होती और इसलिए सम्पूर्ण समाज के लिए भूमि द्वारा अर्जित सारी-की-सारी आय अधिशेष (economic rent) होती है। इसके अतिरिक्त, यदि एक व्यक्तिगत कृषक (individual farmer) की दृष्टि से देखा जाए तो भूमि का सारे-का सारा लगान वैकल्पिक कीमत होगी क्योंकि यदि वह भूमि को अपने पास रखने के लिए प्रचलित लगान नहीं देता तो भू-स्वामी द्वारा वह भूमि किसी और को दे दी जाएगी। अतएव स्पष्ट है कि किसी व्यक्तिगत कृषक के लिए भूमि की पूर्ति प्रचलित कीमत पर पूर्णतया मूल्यसापेक्ष होती है, इसलिए उसके लिए भूमि कोई अधिशेष (surplus over transfer earnings) अर्जित नहीं करती, जबकि समूची अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से भूमि से प्राप्त समस्त आय अधिशेष होती है (The land, the whole earnings of which are rent from the viewpoint of the *economy as a whole*, earns no rent from an *individual's* point of view)।

भूमि लगान और कीमत
(Land Rent and Price)

भूमि के लगान के वर्तमान सिद्धान्त और रिकार्डो के सिद्धान्त में एक महत्वपूर्ण अन्तर है। रिकार्डो का विश्वास था कि भूमि लगान अथवा किराए का उत्पादन-लागत से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए इसका कोई प्रभाव कीमत पर नहीं पड़ता। कीमत में वृद्धि के कारण भूमि के लगान का जन्म होता है, न कि इसकी विपरीत स्थिति में। हम यह देख चुके हैं कि रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार भूमि लगान, लागत के प्रति-

रिक्त प्राप्त होने वाले आधिक्य को ही कहते हैं। कीमत सीमान्त भूमि की, जिस पर कोई लगान नही होता, उत्पादन लागत द्वारा निश्चित होती है और इसलिए भूमि के लगान का वस्तु की कीमत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। श्रम तथा पूंजी की सीमान्त इकाई का भुगतान अपने आप हो जाता है। सच तो यह है कि रिकार्डो के सिद्धान्त के अनुसार कीमत सीमान्त स्थिति निश्चित करती है, न कि सीमान्त स्थिति कीमत को। अतएव भूमि लगान कीमत का कोई भाग नही होता। भूमि लगान वास्तव में कीमत द्वारा निश्चित किया जाता है (price determined) न कि भूमि लगान कीमत निर्धारक (price-determining) है।

यह सच है कि भूमि की विभिन्नता से कीमत नियत नहीं होती। यदि 'A' भूमि, 'B' भूमि की अपेक्षा अधिक मूल्यवान है तो 'A' भूमि को जो अतिरिक्त लाभ होगा, उससे वस्तु की कीमत पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा। वास्तव मे ये दो विभिन्न बातें हैं। चूंकि हर भूमि को उसके उपजाऊपन तथा सीमान्त उत्पादन के आधार पर कीमत मिलेगी इसलिए भूमि के दो टुकड़ो के किरायों मे अन्तर होगा। इसी प्रकार मजदूरी की दरो में अन्तर होता है और यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार की भिन्न भिन्न मजदूरी की दरों (differential payments) का श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु के मूल्य पर कोई प्रभाव नही पड़ता। परन्तु यह गलत है क्योंकि श्रम की मजदूरी का उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की कीमत पर प्रभाव पड़ता है।

जब हम समस्त भूमि का नहीं, बल्कि भूमि के केवल उस भाग का, जिसका कोई विशेष प्रयोग हो रहा हो, अध्ययन कर रहे हैं, तब भूमि का लगान उत्पादित वस्तु की कीमत को अवश्य प्रभावित करता है। विकल्प लागत (opportunity cost) के सिद्धान्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है। भूमि के अधिकतर भागों मे कई प्रयोग होते हैं। यदि भूमि का एक वस्तु के उत्पादन में प्रयोग हो रहा है तो वह दूसरे प्रयोग मे नहीं लाई जा सकती। न्यूनतम कीमत जिसका इसको भुगतान करना होगा, इतनी होगी जो कि यह भूमि अपने सबसे लाभदायक वैकल्पिक प्रयोग (alternative use) मे प्राप्त करती है। यह अवसर लागत अथवा विकल्प लागत (opportunity cost) अथवा विकल्प आय (transfer earnings) कहलाती है। भूमि के प्रयोग के लिए इस अवसर लागत अथवा विकल्प आय का प्रभाव कीमत पर पड़ता है। हम जानते हैं कि बाजार कीमत उस बिन्दु पर निर्धारित होती है, जहां कीमत अधिकतम मूल्य वाली भूमि (जिसको उपयोग में रखना पड़ता है) की सीमांत लागत के बराबर है और इस सीमान्त लागत मे विकल्प आय मिली होती है।

प्रत्येक फर्म के दृष्टिकोण से भूमि का सारा किराया उत्पादन-लागत मे शामिल होना चाहिए और इसलिए *कीमत को प्रभावित करना चाहिए। यदि कृषक* किसी दूसरे की भूमि प्रयोग मे ला रहा है, तो जो लगान वह देता है, वह उसकी लागत है। स्वामी कृषक की दशा मे भी किराया लागत है, हां इसकी उपस्थिति छिपी हुई है। यदि वह इस भूमि को खुद नहीं जोतता तो उसके लिए उसको जो भुगतान मिलता वह इस भूमि की वैकल्पिक आय है।

इस समस्या का एक दूसरा पक्ष भी है। वस्तु की कीमत दुर्लभता (scarcity) द्वारा निश्चित होती है। वह उद्यमी जो किराया देता है, वह उसकी लागत का एक अंग होता है। यदि किराया अधिक होगा तो वह कम भूमि प्रयोग करने का प्रयत्न करेगा। और यदि किराया कम होगा तो वह अधिक भूमि का प्रयोग करेगा। यदि उद्यमी अधिक भूमि का प्रयोग करेगा तो दूसरे प्रयोगों के लिए भूमि की कमी हो जाएगी। और यदि वह कम भूमि का प्रयोग करेगा तो दूसरे कार्मो के लिए भूमि की मात्रा बढ़ जाएगी। इस प्रकार विभिन्न प्रयोगों मे भूमि की पूर्ति को प्रभावित करके किराया भिन्न-भिन्न वस्तुओ के मूल्य पर निश्चयात्मक प्रभाव डालता है।

अर्ध-लगान अथवा अधिशेषवत (Quasi Rent)

मार्शल ने अर्ध-लगान की धारणा को प्रतिपादित किया। भूमि के लगान के विश्लेषण से मालूम होता है कि यह एक आधिक्य (surplus) है जो भूमि की

पूर्ति के पूर्णतया मूल्यसापेक्ष होने के कारण उत्पन्न होता है। मार्शल के अनुसार भूमि और पूँजीगत पदार्थों जैसे मशीनो, उपकरण, इमारतो आदि मे इतना अन्तर है कि भूमि की मात्रा अल्पकाल और दीर्घकाल दोनो में स्थिर (fixed) होती है जबकि पूँजीगत पदार्थों की पूर्ति अल्पकाल मे तो निश्चित होती है, केवल दीर्घकाल मे बढाई जा सकती है। अत अल्पकाल मे पूँजीगत पदार्थों द्वारा उत्पादित वस्तुओ की माँग बढ जाने से पूँजीगत वस्तुओ से जो अतिरिक्त आय प्राप्त होती है वह भूमि लगान के सदृश है क्योंकि वह भी अल्पकाल मे पूर्ति के मूल्यनिरपेक्ष होने के कारण उत्पन्न होती है। चूँकि मशीनें तथा अन्य पूँजीगत साज-सामान सदा के लिए निश्चित नही होते और दीर्घकाल मे उनकी पूर्ति बढ़ाई जा सकती है, इसलिए मार्शल ने उनसे प्राप्त अल्पकालीन आय को लगान की बजाय अर्ध-लगान (Quasi-Rent) कहा है। अर्ध-लगान एक अस्थाई आधिक्य (temporary surplus) है जो कि अल्पकाल मे मशीनो तथा अन्य पूँजीगत साज-सामान के स्वामियो को प्राप्त होता है परन्तु जो दीर्घकाल मे इनकी पूर्ति बढ जाने के कारण समाप्त हो जाता है।

मशीनें तथा अन्य पूँजीगत साज-सामान (Capital equipment) मनुष्यकृत उत्पादन के साधन हैं इसलिए दीर्घकाल मे उनकी पूर्ति को बढ़ाया जा सकता है। अत माँग के बढ़ने पर दीर्घकाल मे मशीनो आदि की पूर्ति बढाये जाने के फलस्वरूप उनसे अल्पकाल मे प्राप्त आधिक्य समाप्त हो जाता है। प्रो० स्टोनियर और हेग (Stonier and Hague) उचित ही लिखते हैं, "मशीनो की पूर्ति अल्पकाल मे निश्चित होती है चाहे उनसे प्राप्त आय अधिक हो अथवा कम। इसलिए वे एक प्रकार का लगान अर्जित करती हैं। दीर्घकाल में यह लगान समाप्त हो जाता है क्योंकि यह पूर्ण अथवा शुद्ध लगान नही होता बल्कि एक समाप्त हो जाने वाली आय अर्थात् अर्ध लगान ही होता है।" ("The supply of machines is fixed in the short run whether they are paid much money or little, so they earn a kind of rent In the long run this rent disappears, for it is not a true rent, but only an ephemeral reward—a quasi rent")[1]। इसके विपरीत, भूमि प्रकृति की नि शुल्क देन है और इसे मानव द्वारा उत्पादित नही किया जा सकता, इसलिए भूमि की पूर्ति को दीर्घकाल मे भी बढ़ाया नही जा सकता। फलस्वरूप भूमि से प्राप्त आधिक्य दीर्घकाल मे भी अर्जित किया जाता रहता है।

किसी वस्तु का उत्पादन तब सम्भव होता है जब कुछ परिवर्तनशील साधनो (variable factors) को स्थिर साधनो (fixed factors) जैसे कि मशीनरी, उपकरण, इमारतो आदि के साथ कार्य पर लगाया जाता है। वस्तु उत्पादन के लिए उपयोग की गई परिवर्तनशील साधनो की मात्रा तो उत्पादन की मात्रा पर निर्भर करती है, जबकि स्थिर साधनो की मात्रा अल्पकाल मे स्थिर (fixed) रहती है चाहे उत्पादन की मात्रा कितनी ही क्यो न हो। अल्पकाल मे परिवर्तनशील लागतें (Variable costs) तो अवश्य पूरी होनी चाहिए नही तो उत्पादन नही किया जाएगा। अल्पकाल मे परिवर्तनशील लागतो के अतिरिक्त जो भी आय होती है वह मशीनो आदि जैसे स्थिर साधनो के कारण है। इसलिए अर्द्ध-लगान की परिभाषा इस प्रकार भी की गई है कि यह अल्पकाल मे कुल परिवर्तनशील लागतो के अतिरिक्त आय है। अत

अर्ध लगान = कुल आय
— कुल परिवर्तनशील लागतें।

(Quasi Rent = Total Revenue
— Total Variable Costs)

अल्पकाल मे अर्ध लगान का निर्धारण तथा दीर्घकाल मे उसकी समाप्ति को रेखाकृति 41 8 मे दिखाया गया है जिसमे वस्तु की उत्पादन मात्रा को अक्ष-X पर और उसकी कीमत एव लागत को अक्ष-Y पर दर्शाया गया है। वक्र ATC तथा AVC क्रमश वस्तु के अल्पकालीन औसत कुल लागत वक्र तथा औसत परिवर्तनशील लागत (average variable cost) वक्र हैं।

1 A W. Stonier and D C Hague, *A Textbook of Economic Theory*, 4th edition p. 293

यह ध्यान से समझ लेना चाहिए कि AVC वक्र मे परिवर्तनशील साधन जैसे कि श्रम, कच्चा माल तथा मशीनरी को कार्यकारी दशा मे रखने पर व्यय आदि सम्मिलित हैं (मशीनरी को कार्यकारी दशा म रखने के लिए उठाई जाने वाली लागत परिवर्तनशील लागत का ही भाग है)।

अब कल्पना कीजिए कि पदार्थ की माँग इतनी है कि कीमत OP निर्धारित होती है। पदार्थ की कीमत OP होने पर व्यक्तिगत उद्यमकर्त्ता की कीमत रेखा (price line) PL है जो सीमान्त आय तथा औसत आय दोनो को व्यक्त करती है। कीमत रेखा PL से
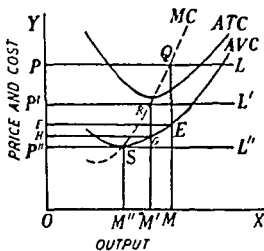
रेखाकृति 41 8
अर्धलगान का निर्धारण

उद्यमकर्त्ता MC वक्र के बिन्दु Q पर सन्तुलन मे है और पदार्थ की OM मात्रा उत्पादित कर रहा है। रेखाकृति मे देखा जाएगा कि उत्पादन मात्रा OM पर उद्यमकर्त्ता की कुल आय $OMQP$ है तथा कुल लागत $OMEF$ है। क्षेत्रफल $FEQP$ कुल परिवर्तनशील लागतो (total variable costs) के अतिरिक्त अर्जित की गई कुल आय है $FEQP = OMQP - OMEF$) (The area $FEQP$ represents the surplus of total revenue earned over total variable costs)। इस प्रकार $FEQP$ अर्ध लगान (quasi rent) है अर्थात् मशीनरी द्वारा अर्जित अल्पकालीन आय है।

अब कल्पना कीजिए कि पदार्थ की माँग घट जाती है जिससे कीमत घट कर OP हो जाती है। कीमत के OP' के स्तर पर होने पर कीमत रेखा $P'L'$ है म। उद्यमकर्त्ता का सन्तुलन MC वक्र के बिन्दु R पर है और इस स्थिति मे वह पदार्थ की OM' मात्रा उत्पादित कर रहा है। OM' उत्पादन पर उद्यमकर्त्ता द्वारा अर्जित कुल आय $OM'RP'$ है, जबकि उसकी कुल परिवर्तनशील लागत (total variable costs) $OM'GH$ है। मशीनरी द्वारा अर्जित अर्द्ध-लगान अथवा अधिशेषवत् $HGRP'$ है ($HGRP' = OM'RP' - OM'GH$)। यदि पदार्थ की माँग और घट जाती है जिससे कीमत और घट कर OP'' हो जाती है, तो उद्यमकर्त्ता के सम्मुख कीमत रेखा $P''L''$ होगी और उसका सतुलन MC वक्र के बिन्दु S पर होगा जो कि औसत परिवर्तनशील लागत वक्र (AVC) का न्यूनतम बिन्दु भी है। बिन्दु S पर उद्यमकर्त्ता द्वारा अर्जित कुल आय कुल परिवर्तनशील लागत (total variable costs) के बराबर है और इस प्रकार अब मशीनरी द्वारा अर्जित अर्ध-लगान अथवा अधिशेषवत् शून्य हो गया है। यदि कीमत OP'' से भी नीचे गिर जाती है तो उद्यमकर्त्ता वस्तु का उत्पादन करना बन्द कर देगा क्योंकि OP' से कम कीमत पर तो उसकी कुल परिवर्तनशील लागतें (TVC) भी पूरी नही होगी। इससे स्पष्ट है कि अर्ध-लगान कभी ऋणात्मक नही हो सकता।

चूंकि दीर्घकाल मे सभी प्रकार की लागतें परिवर्तनशील होती हैं और पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म को प्राप्त कुल लागत (जिसमें उद्यमी के सामान्य लाभ भी सम्मिलित हैं) के समान होती है, कुल परिवर्तनशील लागत के अतिरिक्त कोई आय नहीं होती और इसलिए दीर्घकाल मे मशीनों द्वारा कोई अधिशेष नहीं अर्जित किया जाता। अब यह स्पष्ट है कि अर्ध लगान एक अल्पकालीन तत्त्व (short-run phenomenon) है और दीर्घकाल म मशीनो की पूर्ति बढने के कारण यह समाप्त हो जाता है। यह स्मरण रहे कि माँग के बढने के कारण अल्पकाल मे मशीनो द्वारा अर्जित किया गया अर्द्ध-लगान उन लोगों को प्राप्त होता है जो उनके स्वामी होते हैं।

अर्ध-लगान केवल पूजी पदार्थों (मशीनो, उपकरणो आदि) द्वारा ही नही अर्जित किया जाता यह श्रम (Labour) तथा उद्यम (Enterprise) द्वारा भी अल्पकाल मे अर्जित किया जा सकता है। एक विशेष प्रकार के श्रम की मांग बढ़ने के कारण अल्पकाल में मजदूरी की दर बहुत अधिक बढ जाएगी क्योंकि अल्पकाल मे उसकी पूर्ति का बढना बहुत कठिन है। अतएव अल्पकाल मे उन विशेष प्रकार के श्रमिको द्वारा अर्जित किया गया आयाधिक्य अर्ध-लगान ही होगा। इसी प्रकार, चूंकि उद्यमियो की सख्या भी अल्पकाल मे सरलता से नही बढ़ सकती है, अल्पकाल मे उनके द्वारा अर्जित असामान्य लाभ (abnormal profits) भी अर्ध-लगान के ही प्रकार के हैं। इसलिए मार्शल ने कहा है, "भूमि लगान एक बडी जाति की प्रमुख उपजाति है" ("Land rent is the leading species of a large genus")।[1] इससे मार्शल का तात्पर्य यह है कि लगान जैसी आय केवल भूमि को ही प्राप्त नहीं होती, अन्य उत्पादन के साधन जैसे पूँजी पदार्थ, विशिष्ट प्रकार के श्रम, उद्यमियो को भी प्राप्त होती है। स्मरण रहे कि लगान जैसी आय भूमि को तो अल्पकाल तथा दीर्घकाल दोनों मे प्राप्त होती है क्योकि इसकी पूर्ति सदा के लिए मूल्यनिरपेक्ष है, जबकि अन्य साधनो को केवल अल्पकाल मे ही प्राप्त होती है क्योकि केवल अल्पकाल मे ही उनकी पूर्ति निरपेक्ष होती है, दीर्घकाल मे तो उनकी पूर्ति बढाई जा सकती है। यही कारण है कि मार्शल भूमि से अतिरिक्त अन्य साधनो की अल्पकालीन आय को अर्ध-लगान कहता है। स्मरण रहे कि यहाँ लगान का यह अर्थ लिया जाता है कि लगान उन साधनो की आय अथवा कीमत को कहते हैं जिनकी पूर्ति मूल्यनिरपेक्ष होती है (Rent is the price of those factors which are perfectly inelastic)।

1 Marshall, *Principles of Economics*,
1

42

ब्याज का सिद्धान्त

(THEORY OF INTEREST)

भूमि के लगान तथा श्रम की मजदूरी के निर्धारण की विवेचना कर चुकने के पश्चात् अब हम ब्याज के सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे। सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि ब्याज से हमारा क्या तात्पर्य है। ब्याज की कई प्रकार से परिभाषा की गई है और इसके कई अर्थ लिये गए हैं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री ब्याज को पूँजी से आय के रूप मे मानते थे अर्थात् उनके विचार में ब्याज पूँजी पर प्रतिफल की दर (rate of return on capital) है। अन्य शब्दो मे, पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को ब्याज की दर कहा जाता था। कुछ प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने ब्याज की प्राकृतिक अथवा वास्तविक दर (real or natural rate of interest) और ब्याज की मार्किट दर (market rate of interest) मे अन्तर किया। ब्याज की मार्किट दर वह दर है जिस पर कि बाजार मे मुद्रा को ऋण लिया जा सकता है, जबकि ब्याज की वास्तविक दर पूँजी निवेश पर प्रतिफल की दर अथवा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (marginal productivity of capital) से है। जब ब्याज की प्राकृतिक दर ब्याज की मार्किट दर से अधिक होती है तो तब अधिक मात्रा मे निवेश होगा जिसके परिणामस्वरूप ब्याज की प्राकृतिक दर अर्थात् पूँजी पर प्रतिफल की दर घट जाएगी। सन्तुलन वहाँ स्थापित होगा जहाँ ब्याज की प्राकृतिक दर ब्याज की मार्किट दर के बराबर हो जाती है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने ब्याज को भौतिक पूजी की सीमान्त उत्पादकता के रूप मे माना था, परन्तु चूँकि भौतिक पूँजी को मुद्रा द्वारा ही क्रय करना है, इसलिए ब्याज की दर भौतिक पूँजी मे निवेशित मुद्रा पर प्रतिफल की दर हो जाती है। चूँकि मुद्रा जिसको भौतिक पूँजी मे निवेशित किया जाता है किसी न किसी द्वारा बचाई जानी होती है, इसलिए ब्याज बचत की क्रिया मे निहित उपभोग परित्याग (abstinence) अथवा प्रतीक्षा (waiting) अथवा समय अधिमान (time preference) की कीमत हो जाता है। ब्याज के स्वरूप के विषय में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो म पूर्ण सहमति नहीं थी। उनमे से कुछ ने ब्याज की व्याख्या पूर्ति पक्ष के दृष्टिकोण से की अर्थात् बचत के दृष्टिकोण और इसलिए उन्होने ब्याज के निर्धारण मे उपभोग परित्याग, प्रतीक्षा अथवा समय अधिमान के महत्त्व पर बल दिया। इसके विपरीत, नाइट (Knight) और जे० बी० क्लार्क (J B Clark) आदि ने ब्याज की व्याख्या पूँजी की माँग के दृष्टिकोण से की और इसलिए उन्होने ब्याज के निर्धारण मे पूँजी की उत्पादकता

पर बल दिया। इर्विंग फिशर (Irving Fisher), बॉम बावर्क (Bohm Bawerk) और कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों ने ब्याज की प्रकृति और उसके निर्धारण की व्याख्या समय अधिमान (जो कि पूर्ति पक्ष की ओर क्रियाशील होता है) और पूँजी की उत्पादकता जो कि मांग पक्ष की ओर क्रियाशील होती है, दोनों प्रकार के तत्त्वों को ध्यान में रख कर की। स्पष्ट है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने ब्याज के निर्धारण में वास्तविक तत्त्वों जैसे बचत (अर्थात् उपभोग परित्याग अथवा प्रतीक्षा), समय अधिमान और पूँजी की उत्पादकता के महत्त्व पर जोर दिया। इसलिए प्रतिष्ठित सिद्धान्त को ब्याज का वास्तविक सिद्धान्त (Real Theory) भी कहा जाता है।

इसके विरुद्ध, नव प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों जैसे कि विकसिल (Wicksell), ओहलिन (Ohlin), हैबरलर (Haberler), राबर्टसन (Robertson), वाइनर (Viner) आदि ने ब्याज का एक नया सिद्धान्त प्रतिपादित और विकसित किया जिसे ब्याज का ऋण-योग्य राशियों का सिद्धान्त (Loanable Funds Theory) अथवा ब्याज का नव-प्रतिष्ठित सिद्धान्त (Neo-Classical Theory) कहते हैं। इन लेखकों के अनुसार ब्याज दर के निर्धारण में मौद्रिक तथा गैर-मौद्रिक दोनों प्रकार की शक्तियाँ क्रियाशील होती हैं। उनके लेखों में ब्याज का सिद्धान्त पूर्णतया वास्तविक अथवा गैर-मौद्रिक सिद्धान्त न रहा। उनके मतानुसार वास्तविक तत्त्वों के साथ मौद्रिक तत्त्व (monetary factors) भी ब्याज की दर निर्माण में भाग लेते हैं। वस्तुत ऋण-योग्य राशियों का ब्याज सिद्धान्त भी एक प्रकार से ब्याज का मौद्रिक सिद्धान्त है।

परन्तु विख्यात अर्थशास्त्री जे० एम० केन्ज की प्रसिद्ध पुस्तक "ब्याज, मुद्रा और रोजगार का सामान्य सिद्धान्त" (*General Theory of Employment, Interest and Money*) के प्रकाशन से ब्याज के मौद्रिक सिद्धान्त को अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। केन्ज के अनुसार ब्याज पूर्णतया एक मौद्रिक तत्त्व है और इसीलिए यह मुद्रा की मांग (अर्थात् तरलता अधिमान—liquidity preference) और मुद्रा की पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। उनके मतानुसार ब्याज उपभोग परित्याग, प्रतीक्षा अथवा समय अधिमान के बलिदान की कीमत नहीं है, बल्कि यह तरलता (liquidity) को त्यागने का पुरस्कार है। चूंकि उन्होंने ब्याज दर के निर्धारण में तरलता अधिमान की भूमिका पर बल दिया, इसलिए उनके सिद्धान्त को ब्याज का तरलता अधिमान सिद्धान्त (Liquidity Preference Theory) भी कहा जाता है। केन्ज का ब्याज सिद्धान्त ब्याज का पूर्णतया मौद्रिक सिद्धान्त है।

जे० आर० हिक्स (J. R Hicks), ए० पी० लर्नर (A P Lerner) और ए०एच० हैन्सन (A. H Hansen) जैसे कुछ आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने ब्याज दर के एक ओर प्रतिष्ठित तथा नव-प्रतिष्ठित और दूसरी ओर ब्याज दर के केन्ज द्वारा प्रतिपादित तरलता अधिमान सिद्धान्त में समन्वय स्थापित करके ब्याज दर का एक नया और आधुनिक सिद्धान्त विकसित किया है। प्रस्तुत अध्याय में ब्याज दर के इन विभिन्न सिद्धान्तों की हम विवेचना करेंगे। यह ध्यान देने योग्य है कि ब्याज दर के ये सभी सिद्धान्त ब्याज के निर्धारण की व्याख्या माग और पूर्ति की शक्तियों में सन्तुलन द्वारा करते हैं। अन्य शब्दों में, ये सभी सिद्धान्त माग और पूर्ति सिद्धान्त हैं। ब्याज के इन विभिन्न सिद्धान्तों में अन्तर इस बात में पाया जाता है कि माँग किस चीज की और पूर्ति किस चीज की। प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर का निर्धारण निवेश अथवा विनियोग के लिए बचतों की माग तथा बचतों की पूर्ति द्वारा होता है। ऋण-योग्य राशियों का सिद्धान्त ब्याज दर के निर्धारण की व्याख्या ऋण-योग्य राशियों के लिए मांग तथा उनकी पूर्ति में सन्तुलन द्वारा करता है। ऋण-योग्य राशियों में बचत के अतिरिक्त और भी ऋण-योग्य राशियों के स्रोत सम्मिलित हैं। ब्याज का केन्ज द्वारा प्रतिपादित तरलता अधिमान सिद्धान्त ब्याज दर के निर्धारण की व्याख्या मुद्रा के लिए माग तथा मुद्रा पूर्ति में सन्तुलन द्वारा करता है।

ब्याज सिद्धान्त के विषय में एक उल्लेखनीय बात यह है कि ब्याज सिद्धान्त को दो बातों की व्याख्या

करनी होती है। प्रथम इस बात की कि ब्याज क्यो उत्पन्न होता है। दूसरे यह कि ब्याज की दर किस प्रकार निर्धारित होती है। ब्याज दर के उपर्युक्त तीनो सिद्धान्त ब्याज के इन दोनो पहलुओ की व्याख्या करते हैं।

ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धान्त (Classical Theory of Interest)

ब्याज के बारे मे सबसे पहले सिद्धान्त को प्रतिष्ठित सिद्धान्त या वास्तविक सिद्धान्त (Real Theory) कहते हैं। इसे वास्तविक सिद्धान्त इसलिए कहते हैं क्योंकि यह वास्तविक कारको जैसे कि पूँजी की उत्पादकता (productivity of capital), बचत की प्रवृत्ति (saving or thrift) आदि पर आधारित है। इसमे पूँजी की बचत और पूँजी की उत्पादकता द्वारा ब्याज दर का निर्धारण दिखाया गया है। हम प्रतिष्ठित सिद्धान्त के दो अगो की व्याख्या करेंगे, प्रथम यह कि ब्याज की दर उत्पन्न क्यो होती है। द्वितीय, यह कि इसके अनुसार ब्याज की दर का निर्धारण किस प्रकार होता है।

ब्याज क्यों उत्पन्न होता है ? (Why does rate of interest arise ?)

ब्याज क्यो उत्पन्न होता है, के बारे मे विभिन्न प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का अलग-अलग मत है। इसके बारे मे कई सिद्धान्त प्रस्तुत किये गए जिनका विवेचन हम आगे करते हैं।

पूँजी की सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (Marginal Productivity of Capital Theory)—कुछ अर्थशास्त्रियो का विचार था कि पूंजी पर ब्याज इसलिए दिया जाता है क्योंकि पूँजी की अपनी उत्पादन शक्ति होती है। पूँजी द्वारा उत्पादन अधिक होता है, अत पूँजी प्राप्त करने वाला पूंजी पर ब्याज देने को तैयार हो जाता है। किन्तु ब्याज क्यो दिया जाता है यह सिद्धान्त इसकी पूर्ण व्याख्या नही करता। इस सिद्धात मे केवल यह बतलाया गया है कि ऋण लेने वाला ब्याज देने को क्यो प्रेरित होता है। इस सिद्धान्त मे इस बात का स्पष्टीकरण नही मिलता कि पूँजी का ऋण देने वाले को ब्याज क्यो मिलना चाहिए। अतएव यह सिद्धान्त ब्याज के केवल मांग पक्ष की ही ओर ध्यान देता है, पूर्ति पक्ष को यह सिद्धान्त विचार मे नही लाता। इसके अतिरिक्त, यह सिद्धान्त इस बात की भी व्याख्या नही करता कि उपभोग के लिए दिए गए ऋण पर ब्याज क्यो दिया जाता है। उपभोग के लिए ऋण तो उत्पादनशील नही होता, पर ब्याज उस पर भी दिया जाता है।

उपभोग स्थगन तथा प्रतीक्षा सिद्धान्त (Abstinence and Waiting Theory)—उपभोग स्थगन का सिद्धान्त प्रसिद्ध अर्थशास्त्री सीनियर ने प्रतिपादित किया। उनके विचार मे बचत करने मे व्यक्ति कुछ त्याग करता है और यह त्याग है उपभोग का स्थगन। उपभोग को स्थगित करना एक दुखद बात है, इसलिए व्यक्ति को उपभोग का स्थगन करने को प्रेरित करने के लिए कुछ पुरस्कार मिलना चाहिए और यह पुरस्कार ब्याज ही है। अत इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज उपभोग स्थगन का ही पुरस्कार है। समाजवादी लेखक कार्ल मार्क्स (Karl Marx) द्वारा सीनियर के इस सिद्धान्त पर आपत्ति की गई। उसने बताया कि धनी व्यक्तियो द्वारा अपनी सब आवश्यकताएँ पूरी करने के पश्चात् जो कुछ बचता है, वह वे ऋण पर देते हैं। अत उनके विचार मे धनी व्यक्ति कोई उपभोग के स्थगन का त्याग नही करते। मार्क्स की इस आलोचना के कारण ही मार्शल ने उपभोग स्थगन के स्थान पर प्रतीक्षा (waiting) शब्द का प्रयोग किया। उसके अनुसार जब कोई व्यक्ति रुपया बचाकर किसी को ऋण देता है तो वह कुछ समय तक उसका उपभोग नही कर पाता और प्रतीक्षा मे रहता है और इस प्रतीक्षा के त्याग के लिए ही उसे ब्याज मिलता है। अत मार्शल के अनुसार ब्याज प्रतीक्षा के त्याग का पुरस्कार है। धनी व्यक्ति भी यदि अपना बचा हुआ धन उधार देता है तो उसे भी प्रतीक्षा का त्याग करना ही होता है और इसलिए उसे ब्याज अवश्य मिलना चाहिए। अत इस सिद्धान्त के अनुसार लोगो को बचत करने और ऋण देने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए ब्याज दिया जाता है।

इस सिद्धान्त मे सच्चाई का पर्याप्त अश है परन्तु यह भी ब्याज के स्वरूप की पूर्ण व्याख्या नही करता। यह केवल पूँजी के पूर्ति पक्ष की व्याख्या करता है, पूँजी के माँग पक्ष पर क्रियाशील शक्तियो की ओर ध्यान नही देता।

ब्याज का बट्टा सिद्धान्त (Agio Theory)—यह सिद्धान्त आस्ट्रियन अर्थशास्त्री बॉम बावर्क (Bahm Bawerk) ने प्रस्तुत किया। उसके अनुसार ब्याज इसलिए उत्पन्न होता है क्योकि मनुष्य ही भावी उपभोग की अपेक्षा वर्तमान उपभोग को अधिक पसन्द करता है अर्थात् मनुष्य समान भावी उपभोग की अपेक्षा वर्तमान उपभोग को अधिक अधिमान्यता देते हैं। मनुष्य अपनी भावी आवश्यकताओ को वर्तमान आवश्यकताओ की तुलना मे कम महत्त्व देते हैं। ब्याज वह प्रलोभन है जो मनुष्य को अपने उपभोग को किसी भविष्य समय तक स्थगित करने के लिए दिया जाता है। बॉम बावर्क ने मनुष्य द्वारा भावी आवश्यकताओ को कम महत्त्व देने और वर्तमान उपभोग को अधिक अधिमान्यता देने के दो कारण बतलाए हैं। प्रथम यह कि मनुष्य अपनी भावी आवश्यकताओ की तीव्रता को नही जान सकता और उसकी वर्तमान की आवश्यकताएँ अधिक तीव्र और प्रबल होती हैं। द्वितीय यह कि भविष्य अनिश्चित है और इसलिए मनुष्य अपनी उपभोग की सन्तुष्टि को अनिश्चित भविष्य मे स्थगित करना नही चाहता। इस भविष्य के बट्टे (underestimation of future) के कारण ही मनुष्य को बचत करने तथा ऋण देने के लिए ब्याज देना पड़ता है।

फिशर का समय अधिमान्यता सिद्धान्त (Time Preference Theory of Fisher)—यह सिद्धान्त इर्विग फिशर ने प्रस्तुत किया और उनका सिद्धान्त बाम बावर्क के बट्टा सिद्धान्त से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। ब्याज क्यो दिया जाता है की व्याख्या फिशर समय अधिमान्यता (time preference) द्वारा करता है। समय अधिमान्यता से तात्पर्य एक समान मूल्य वाली तथा समान निश्चितता की भावी तुष्टि की अपेक्षा मनुष्य वर्तमान तुष्टि को अधिक अधिमान्यता देता है। वर्तमान तुष्टि के लिए अधिमान्यता के कारण ही वह अपनी आय को वर्तमान उपभोग पर व्यय करने के लिए व्यग्र रहता है। मनुष्य रुपया बचाकर ऋण देने के लिए तभी प्रेरित होगा जब उसे कोई प्रलोभन दिया जाये और यह प्रलोभन है ब्याज। अतएव ब्याज वह कीमत है जो मनुष्य द्वारा अपनी आय को वर्तमान उपभोग पर व्यय करने की व्यग्रता को दूर करने के लिए दी जाती है अर्थात् ब्याज इसलिए दिया जाता है कि मनुष्य अपनी वर्तमान तुष्टि के लिए अधिमान्यता को त्यागने के लिए राजी हो जाये। विभिन्न व्यक्तियो की समय अधिमान्यता की दरें भिन्न-भिन्न होती हैं। कई व्यक्तियो की समय अधिमान्यता की दर अधिक होती है और कई की कम। व्यक्ति की समय अधिमान्यता कई बातो पर निर्भर है जैसा कि उसकी आय कितनी है, भविष्य मे उसकी आय की क्या प्रवृत्ति होगी, भविष्य मे अपनी आय से तुष्टि प्राप्त कर सकने की कितनी निश्चितता है, उसका स्वभाव कैसा है इत्यादि। यदि अधिमान्यता की दर अधिक है तो अधिक ब्याज देना पड़ेगा।

निष्कर्ष—हमने ऊपर ब्याज क्यो उत्पन्न होता है, के बारे मे विभिन्न प्रतिष्ठित सिद्धान्तो की व्याख्या की है। कोई एक सिद्धान्त ब्याज क्यो उत्पन्न होता है की पूरी व्याख्या नही करता, परन्तु प्रत्येक सिद्धान्त मे सत्य का अश विद्यमान है। इसलिए सभी सिद्धान्तो को मिलाकर ही ब्याज की पूर्ण व्याख्या होती है। माँग के पक्ष मे तो पूँजी की अधिक उत्पादन शक्ति का तत्त्व क्रियाशील है, जबकि पूर्ति पक्ष पर उपभोग स्थगन, प्रतीक्षा तथा समय अधिमान्यता सभी प्रभाव डालते हैं।

ब्याज दर का निर्धारण (Determination of Rate of Interest)

प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार ब्याज-दर निवेश के लिए बचत की माँग तथा बचत की पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। बाजार मे ब्याज की वह दर निर्धारित होगी जिस पर कि बचत की माँग (demand for saving) और बचत की पूर्ति (supply of saving) सन्तुलन मे है।

माँग का पक्ष (Demand Side)—पूँजी की माँग उन उद्यमियों द्वारा होती है जो रुपया व्यापार अथवा उद्योग मे लगाना चाहते हैं। ये फर्मे फैक्ट्रियाँ बनाना चाहती हैं और मशीनें तथा औजार बनाना अथवा अन्य

करना चाहती हैं। इन पूँजी पदार्थों द्वारा उपभोक्ता वस्तुएँ उत्पादित करने में समय लगता है। पूँजी पदार्थों (capital goods) द्वारा वस्तुएँ अधिक मात्रा मे तथा अच्छी कोटि (quality) में बनाई जा सकती है। दूसरे शब्दो मे, पूँजी पदार्थों म उत्पादकता का गुण है (capital has its productivity)। पूँजी पदार्थों की सहायता से अधिक मात्रा म उत्पादन सम्भव होता है जिससे अतिरिक्त आय प्राप्त होती है। यदि उस आय से मूल्य ह्रास को घटा दिया जाय तो पूँजी-पदार्थों से प्राप्त आय ज्ञात हो जाती है और यदि उसको पूँजी पर व्यय की राशि प्रतिशत के रूप म व्यक्त किया जाय तो हमे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ज्ञात हो जाएगी। इस कारण ही पूँजी पदार्थों की माँग होती है। पूँजी पदार्थों की माँग इसलिए है कि उनकी सहायता से उपभोक्ता पदार्थों का उत्पादन किया जा सकता है अर्थात् उत्पादन के अन्य साधनो के समान पूँजी पदार्थों मे आय-उत्पादकता शक्ति है। किन्तु पूँजी उत्पादकता का माप करना कठिन है। वह इस कारण कि पूँजी मे समय का महत्त्व अधिक है। एक मशीन कई वर्ष उपयोग होती है। मशीन के बनाने म भी समय लगता है, परन्तु रुपया इसके बनाने से पहले ही व्यय करना पडता है जिस पर कि ब्याज देना पडता है। चूँकि मशीन से कई वर्ष काम लेना होता है, इसलिए हमे केवल इसकी वर्तमान उत्पादकता ही नहीं, अपितु इसके समस्त जीवनकाल मे प्रत्याशित उत्पादकता अथवा आय का विचार करना पडता है। जब कोई नया पूँजी-पदार्थ अथवा नई मशीन स्थापित की जाएगी तो इससे फर्म की आय म वृद्धि होती है, उस वृद्धि को पूँजी की सीमान्त आय उत्पादकता (marginal revenue productivity of capital) कहते हैं। इसको सीमान्त भावी आय (marginal prospective yield) भी कहते हैं।

ज्यों-ज्यों एक उद्यमकर्ता समान प्रकार की अधिक मशीनें लगाता जाएगा, मशीन की सीमान्त आय उत्पादकता घटती जाएगी क्योंकि जितनी अधिक मात्रा मे समान प्रकार की मशीनें स्थापित होगी उनसे कुल आय मे वृद्धि क्रमश कम होती जाएगी। इसलिए पूँजी का सीमान्त आय उत्पादकता वक्र बायें से दायें को नीचे की ओर झुका हुआ होता है। (Marginal revenue productivity of capital curve slopes downward)। रेखाकृति 42 1 मे MRP वक्र पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को दर्शाता है। उद्यमी तब तक मशीनो को बढ़ाता जाएगा जब तक कि मशीन की सीमान्त आय उत्पादकता प्रचलित ब्याज की दर के समान नही हो जाती। यदि ब्याज की दर कम हो जाए तो उद्यमकर्ता अधिक मशीनो की माँग
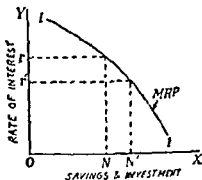
रेखाकृति 42 1
पूँजी का सीमान्त उत्पादकता वक्र
अथवा निवेश वक्र

करेंगे ताकि मशीन की सीमान्त उत्पादकता कम होकर नई ब्याज की दर के बराबर हो जाए। रेखाकृति 42 1 म जब ब्याज की दर Or है तो उद्यमकर्ता ON निवेश अथवा पूँजी (capital) की माँग करेंगे क्योंकि ON पर ही पूँजी की सीमान्त आय उत्पादकता वर्तमान ब्याज की दर Or के बराबर होती है। अब यदि ब्याज की दर घट कर Or' हो जाए तो मशीनों अथवा पूँजी की माँग बढ़ कर ON' हो जाएगी क्योंकि ON' पूँजी की मात्रा से ही पूँजी की सीमान्त आय उत्पादकता नई ब्याज की दर Or' के बराबर होती है। स्पष्ट है कि ब्याज दर के कम होने से पूँजी की माँग बढ़ जाती है। MRP वक्र पूँजी का माँग वक्र अथवा निवेश के लिए बचतो का माँग वक्र है। इसे निवेश माँग वक्र (Investment Demand Curve) कहते हैं। चूँकि ब्याज की दर घटने से पूँजी अथवा निवेश माग बढ जाती है, इसलिए निवेश-माँग वक्र की ढाल बायें से

दायें नीचे की ओर होती है जैसा कि रेखाकृति 42 1 में MRP वक्र से स्पष्ट है।

पूर्ति का पक्ष (Supply Side)—ऊपर हमने माँग के पक्ष की व्याख्या की, अब हम पूर्ति के पक्ष की व्याख्या करेंगे। निवेश करने के लिए बचत की आवश्यकता होती है। निवेश के लिए इन बचतों की पूर्ति उन लोगों द्वारा की जाती है जो अपनी सारी आय का उपभोग नहीं करते। यदि बचत करने में कोई कष्ट नहीं होता तो पूर्ति-वक्र अक्ष-X के बिल्कुल साथ हो रहेगा अर्थात् दोनों एक ही बनेंगे और पूँजी वहाँ तक प्रयोग होगी जब निवेश माँग वक्र अक्ष-X पर पहुँच जाए अर्थात् सीमान्त आय उत्पादकता शून्य हो जाएगी। परन्तु इस संसार में बचत बिना असुविधा के नहीं हो सकती। कुछ सीमा के बाद बचत की लागत का उपभोग स्थगित करने के कष्ट से ज्ञान होता है। लोग 100 रुपये आज व्यय करने को 100 रु० कल व्यय करने पर प्राथमिकता देते हैं। इस प्राथमिकता के कारण उनको ब्याज के रूप में 100 रुपये से अधिक रुपये मिलने चाहिए तब ही वे बचत करेंगे। यदि 105 रुपये मिलने चाहिए तो उनकी समय अधिमान्यता (time preference) 5% है। यदि बचत अधिक करनी है तो ब्याज अधिक देना पड़ेगा क्योंकि जब उपभोक्ता अधिक उपभोग का त्याग करता है तो उसके लिए मुद्रा का सीमान्त तुष्टिगुण बढ़ जाता है। अतः कम ब्याज की दर पर कम मात्रा में बचत की पूर्ति होगी और ऊँची ब्याज की दर पर अधिक मात्रा में बचत की पूर्ति होगी। अतः बचत पूर्ति वक्र बायें से दायें ऊपर की ओर चढ़ता हुआ होता है, जैसा कि रेखाकृति 42 2 में वक्र SS द्वारा दिखाया गया है। इस सिद्धांत में ये बातें मानी जाती हैं कि (क) बचतों को संग्रह (hoard) कर नहीं रखा जाता बल्कि बचत करने वाले अपनी बचतों को उधार देते हैं। (ख) कुल आय (income) स्थिर रहती है।

माँग और पूर्ति का सन्तुलन (Balance between Demand and Supply)—अब हमने माँग और पूर्ति दोनों पक्षों की जानकारी कर ली है और दोनों वक्रों के स्वरूपों को जान लिया है। अब हम देखेंगे कि माँग और पूर्ति की शक्तियों की परस्पर क्रिया से ब्याज की दर कैसे निर्धारित होगी। ब्याज की दर उस स्तर पर निर्धारित होगी जिस पर निवेश के लिए बचतों की माँग और बचतों की पूर्ति एक दूसरे के बराबर होंगे। रेखाकृति 42 2 में II निवेश माँग वक्र (Investment Demand Curve) है और SS बचतों का पूर्ति वक्र (supply curve of savings) है। निवेश माँग वक्र II और बचत पूर्ति वक्र SS एक
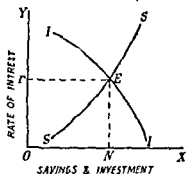
रेखाकृति 42 2

दूसरे को Or ब्याज की दर पर काटते हैं। अतएव ब्याज की दर Or निर्धारित होगी। इस सन्तुलित ब्याज की दर Or पर निवेश के लिए बचत की माँग और बचत की पूर्ति दोनों ON मात्रा के बराबर हैं।

यदि ब्याज की दर Or से अधिक हो तो इस पर बचत की पूर्ति बचतों की माँग की अपेक्षा अधिक होगी। इसका परिणाम यह होगा कि बचत करने वालों में प्रतियोगिता के फलस्वरूप ब्याज की दर घट कर Or दर पर आ जाएगी। यदि ब्याज की दर Or से कम हो तो बचतों की माँग बचतों की पूर्ति की अपेक्षा अधिक हो जाएगी जिससे बचत की माँग करने वालों की परस्पर प्रतियोगिता के कारण ब्याज की दर बढ़ कर पुनः Or हो जाएगी।

ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा (Critical Appraisal of the Classical Theory of Interest)

ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की कई दृष्टियों से आलोचना की गई है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जे० एम० केन्ज ने इस सिद्धांत की कटु आलोचना की और ब्याज

के एक नए सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसे ब्याज का तरलता अधिमान सिद्धान्त कहते हैं। पहले हम ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धान्त पर की गई आलोचनाओं पर विचार करेंगे।

पूर्ण रोजगार की मान्यता (Full Employment Assumption)—ब्याज के सिद्धान्त की साधनों के पूर्ण रोज़गार की पूर्वमान्यता करने के लिए आलोचना की गई है। यह आपत्ति की गई है कि साधनों के पूर्ण रोजगार की पूर्वमान्यता गलत और अयथार्थ है। साधनों के पूर्णरोजगार की स्थिति में अधिक निवेश अर्थात् अधिक पूँजी पदार्थों का उत्पादन उपभोग को घटा कर ही सम्भव हो सकता है क्योंकि उपभोग को घटा देने से उत्पादन के साधन उपभोक्ता पदार्थों से निकल कर पूँजी-पदार्थों के उत्पादन में लगाए जा सकते हैं। इसलिए जब साधनों को पूर्ण रोजगार अथवा काम प्राप्त होता है तो लोगों को उपभोग का परित्याग करने के लिये प्रेरित करने के लिए ब्याज देना पड़ता है ताकि उपभोक्ता पदार्थों के उत्पादन से साधनों को हटा कर पूँजी पदार्थों के उत्पादन में लगाया जा सके। जब साधन बड़ी मात्रा में बेकार पाए जाते हैं तब लोगों को अधिक बचत और निवेश करने के लिए उपभोग का परित्याग अथवा स्थगन करने के लिए प्रेरित करने की आवश्यकता नहीं होती। ऐसी अवस्था में अप्रयुक्त उत्पादन के साधनों को काम पर लगा कर अधिक निवेश (investment) सम्भव हो सकता है। प्रोफेसर डिलर्ड (Dillard) उचित ही कहते हैं, "ऐसे सिद्धान्त की रूपरेखा में जिसका निर्माण पूर्ण रोजगार की मान्यता पर किया गया है प्रतीक्षा अथवा उपभोग परित्याग के पुरस्कार के रूप में ब्याज दर की धारणा स्वीकार्य है। किन्तु यह धारणा कि साधन पूरी तरह से रोजगार अथवा काम में लगे हुए हैं आधुनिक संसार की परिस्थिति की दृष्टि से स्वीकार्य नहीं है।" ("Within the framework of a system of theory built on the assumption of full employment, the notion of interest as reward for waiting or abstinence is highly plausible It is the premise that resources are typically fully employed that lacks plausibility in the contemporary world")।[1]

आय स्तर में परिवर्तनों की उपेक्षा (Changes in the income level ignored)—पूर्ण रोजगार की मान्यता ग्रहण करके प्रतिष्ठित सिद्धान्त ने आय स्तर में परिवर्तनों तथा उसके बचत और निवेश पर प्रभाव की उपेक्षा की है, प्रतिष्ठित सिद्धान्त ब्याज दर और बचत की मात्रा के बीच सीधा फलन सम्बन्ध (direct functional relationship) स्थापित करता है। जैसे ब्याज की दर बढ़ती है, बचत की मात्रा भी अधिक होती है। परन्तु ब्याज की ऊँची दर पर निवेश अथवा विनियोग के लिए माँग घट जाती है जिसके परिणामस्वरूप ब्याज की दर घट कर उस स्तर पर पहुँच जाती है जहाँ बचत और निवेश सन्तुलन में होते हैं। परन्तु यह वास्तविक प्रतीत नहीं होता। प्रथम, इसलिए क्योंकि बचत और ब्याज की दर में सीधा फलन संबंध सन्देहपूर्ण है और, द्वितीय, इसलिए कि जब ब्याज दर के बढ़ने के फलस्वरूप अधिक बचत की जाती है तो बचत की इस अधिक मात्रा से अधिक निवेश होना चाहिए क्योंकि प्रतिष्ठित सिद्धान्त में निवेश, बचत की मात्रा द्वारा निर्धारित होता। इसके अतिरिक्त, प्रतिष्ठित सिद्धान्त में समायोजन की समस्त प्रक्रिया में आय में परिवर्तन को बिल्कुल ही विचार में नहीं लाया जाता। वस्तुत जब ब्याज की दर बढ़ती है और फलस्वरूप निवेश घट जाता है तो आय में कमी हो जाएगी। आय में कमी हो जाने से बचत की मात्रा घट जाएगी। अतएव बचत और निवेश में समानता ब्याज दर में परिवर्तन द्वारा नहीं होती, अपितु यह तो आय में परिवर्तन द्वारा होती है।

अब विपरीत स्थिति को लीजिए। यदि ब्याज की दर घटती है तो प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार निवेश माँग बढ़ जायेगी। परन्तु ब्याज की कम दर पर बचत की अधिक मात्रा की पूर्ति नहीं होगी। इसलिए प्रतिष्ठित सिद्धान्त में बचत की कम दरों पर अधिक निवेश नहीं हो सकता क्योंकि ब्याज की कम दरों पर बचत

1 D Dillard, *Economics of J. M. Keynes*, p 162.

की मात्रा कम होती है। परन्तु ऐसा वास्तव में नहीं होता। कम ब्याज की दर पर अधिक निवेश होगा और निवेश की मात्रा मे वृद्धि से गुणक प्रभाव (multiplier effect) द्वारा आय मे वृद्धि हो जाएगी और अधिक आय मे से अधिक मात्रा मे बचत सम्भव होगी। इस प्रकार हम देखते है कि बचत और निवेश मे समान होने की प्रवृत्ति आय मे परिवर्तन द्वारा लाई जाती है न कि ब्याज दर मे परिवर्तन से। इसके अतिरिक्त, ब्याज दर मे कमी निवेश और आय मे वृद्धि करके बचत की मात्रा को बढा देती है। परन्तु यह प्रतिष्ठित सिद्धान्त के बिल्कुल विपरीत है क्योंकि उसमे तो कम ब्याज की दर पर बचत की मात्रा को कम माना गया है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रतिष्ठित सिद्धान्त मे आय मे परिवर्तनो की उपेक्षा करके ब्याज दर को बचत और निवेश मे समानता लाने का कारक मानकर बडी भूल की गई है। प्रतिष्ठित सिद्धान्त आय स्तर मे परिवर्तनो की अवहेलना इसलिए करता है क्योंकि यह साधनो के पूर्ण उपयोग की पूर्वमान्यता कर लेता है। जब साधन पूरी तरह से उपयोग हो रहे होते है, तब उत्पादन तकनीक के स्थिर रहने पर आय-स्तर समान ही रहेगा। यह केन्ज (Keynes) ही था जिसने साधनो के पूर्ण उपयोग और रोजगार की मान्यता का परित्याग किया और आय स्तर मे परिवर्तन को तथा उसके बचत और निवेश के सम्बन्ध को ध्यान मे रखा। प्रोफेसर डिलर्ड (Dillard) लिखते हैं कि "ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धांत और केन्ज के ब्याज सम्बन्धी मुद्रा सिद्धान्त मे महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि एक तो साधनो के पूर्ण रोजगार और उपयोग का अर्थशास्त्र है और दूसरा पूर्ण रोजगार से कम का अर्थशास्त्र है" ("The difference between the traditional theory of interest and Keynes' money theory of interest is a fundamental aspect of the difference between the economics of full employment and the economics of less than full employment)।[1]

1. *Op cit* p 160.

अल्प उपभोग के निवेश पर प्रतिकूल प्रभाव की उपेक्षा (Disincentive Effect of Lesser Consumption on Investment Ignored)—प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार अधिक निवेश अथवा विनियोग उपभोग घटाने से ही सम्भव हो सकता है। उपभोग मे जितनी ही अधिक कमी की जाएगी उतनी अधिक मात्रा मे पूँजी पदार्थों मे निवेश होगा। जैसा कि हम जानते है पूँजी पदार्थों की माँग उपभोक्ता पदार्थों के लिए माँग से उत्पन्न होती है। इसलिए उपभोग मे कमी जिसका अर्थ है उपभोक्ता पदार्थों के लिए माग मे कमी पूँजी पदार्थों की माँग को घटा देगी। और इस प्रकार निवेश करने की प्रेरणा (inducement to invest) पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगी। उपभोग की इस कमी के निवेश पर प्रतिकूल प्रभाव की प्रतिष्ठित सिद्धान्त मे उपेक्षा की गई है।

आगे चल कर हम देखेंगे कि केन्ज के सिद्धान्त मे अधिक मात्रा मे निवेश उपभोग को घटा कर सम्भव नही होता। केन्ज के सिद्धात मे साधनो के बेकार अथवा अप्रयुक्त होने की दशा मे अप्रयुक्त तथा अल्प-प्रयुक्त साधनो का प्रयोग करके अधिक निवेश किया जा सकता है। जब निवेश बढता है तो इससे आय के स्तर मे वृद्धि होती है। आय मे वृद्धि से लोगो का उपभोग बढ़ता है। इस प्रकार केन्ज के विश्लेषण मे अधिक निवेश से अधिक उपभोग होता है अथवा दूसरे शब्दो मे निवेश और उपभोग दोनो साथ-साथ चलते हैं। केन्ज का विश्लेषण अर्थव्यवस्था मे साधनो के बेकार अथवा अप्रयुक्त पाए जाने की दृष्टि से अधिक वास्तविक और यथार्थ माना जाता है।

बचत अनुसूची का निवेश अनुसूची से स्वतन्त्र होने की पूर्वमान्यता (Independence of Savings Schedule from Investment Schedule Assumed)—पूर्ण रोजगार तथा स्थिर आय के स्तर की पूर्वमान्यता का एक और निहित भाव यह है कि इससे बचत अनुसूची मे किसी परिवर्तन के बिना निवेश माँग की अनुसूची मे परिवर्तन होना माना गया है। उदाहरणार्थ प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार यदि रेखाकृति 42 3 मे निवेश माँग का वक्र आशसाएँ घट जाने के कारण

नीचे को सरक कर $I'I'$ की स्थिति मे आ जाता है तो ब्याज की नई सतुलन दर Or' हो जाएगी जिस पर कि नया निवेश माँग वक्र $I'I'$ दिए गए पूर्ति वक्र SS को काटता है। किन्तु यह ठीक नही है क्योकि निवेश मे कमी के फलस्वरूप आय घट जाएगी। चूंकि बचत का पूर्ति वक्र किसी दिए हुए आय के स्तर को स्थिर मान कर खीचा जाता है, इसलिए जब आय घटती है तो बचत पहले की तुलना मे कम हो जाएगी और फलस्वरूप बचत का पूर्ति वक्र दायी ओर नीचे को सरक जाएगा। परन्तु प्रतिष्ठित सिद्धान्त मे निवेश मे परिवर्तन के फलस्वरूप आय स्तर में परिवर्तन होना नही माना जाता और बचत अनुसूची को निवेश अनुसूची से बिल्कुल स्वतन्त्र होना समझा जाता है जो कि ठीक और यथार्थ नही है।
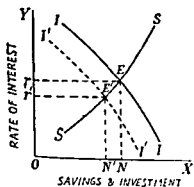
रेखाकृति 42·3 : बचत तथा निवेश में सन्तुलन द्वारा ब्याज का निर्धारण

ब्याज दर निश्चित रूप से निर्धारित नहीं होती है (Indeterminateness of the Rate of Interest)—प्रतिष्ठित सिद्धान्त में, जैसा कि केन्ज महोदय द्वारा बताया गया था, ब्याज दर निश्चित रूप से निर्धारित नही होती। बचत वक्र की स्थिति आय स्तर पर निर्भर करती है अर्थात् बचत वक्र की स्थिति आय स्तर मे परिवर्तन से बदलती रहती है। आय के विभिन्न स्तरो पर बचत अनुसूची अथवा बचत वक्र भिन्न-भिन्न होगे। जैसे आय मे वृद्धि होती है तो बचत वक्र दायी ओर सरक जाएगा और जैसे आय मे कमी होती है बचत वक्र बायी ओर सरक जाएगा। इस प्रकार यदि हमें आय का स्तर ज्ञात न हो तो हम बचत वक्र की स्थिति नही जान सकते और यदि हमें बचत वक्र की स्थिति की जानकारी न हो तो हम ब्याज दर ज्ञात नही कर सकते। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हम ब्याज की दर नही जान सकते यदि हमें पहले ही आय का स्तर मालूम न हो। परन्तु हमे आय का स्तर ज्ञात नही हो सकता यदि हमे पहले ब्याज दर का पता न हो क्योंकि ब्याज दर मे परिवर्तन से निवेश मात्रा बदल जाएगी जो कि आय के स्तर को प्रभावित करती है। इस प्रकार हम देखते है कि ब्याज दर के निर्धारण का प्रतिष्ठित सिद्धान्त कोई निश्चित समाधान प्रस्तुत नही करता और इस सिद्धान्त मे ब्याज दर निश्चित रूप से निर्धारित नही होती।

वर्तमान आय से बचत मुद्रा राशि की पूर्ति का केवल मात्र स्रोत नहीं है (Savings out of current income is not the only source of the supply of funds)—जैसाकि हम ऊपर देख आए हैं, प्रतिष्ठित सिद्धान्त केवल वर्तमान आय मे से बचत को ही मार्किट मे ऋण-योग्य राशियों की पूर्ति मानता है। लेकिन वर्तमान आय मे से बचत ही मुद्रा पूर्ति का एक मात्र स्रोत नही है। लोगो के पास प्रायः गत वर्षों से संचित किया हुआ धन भी होता है जिसको किसी वर्ष मे भी निकाला जा सकता है जिससे मार्किट मे ऋण-योग्य राशियो की पूर्ति बढ जाती है। इसके अतिरिक्त, आजकल बैंक साख (Bank Credit) भी निवेश योग्य राशियों का अतीव महत्त्वपूर्ण स्रोत बन गई है जिसकी भी प्रतिष्ठित सिद्धान्त में उपेक्षा की गई है।

हमने ऊपर प्रतिष्ठित सिद्धान्त का आलोचनात्मक अध्ययन किया है। प्रतिष्ठित सिद्धान्त की कुछ त्रुटियो को ऋण-योग्य राशियो के सिद्धान्त ने दूर किया। अब हम ब्याज के ऋण-योग्य राशियो के सिद्धान्त का विवेचन करेंगे।

ऋण-योग्य राशियों का सिद्धान्त अथवा नव-प्रतिष्ठित सिद्धान्त
(Loanable Funds Theory of Interest or Neo-Classical Theory)

ब्याज के सम्बन्ध मे एक और विचारधारा विकसित की गई है जिसको ब्याज का ऋण योग्य राशियो का सिद्धान्त कहा जाता है। ऋण-योग्य राशियो के सिद्धान्त को विकसित करने वाले अर्थशास्त्रियो मे प्रमुख अर्थशास्त्री विकसेल, बर्टिल ओहलिन, राबर्टसन, लिडहल, वाइनर आदि हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक शक्तियाँ जैसे कि बचत करने की भावना, प्रतीक्षा, समय-अधिमान्यता तथा पूँजी की उत्पादकता ही केवल ब्याज दर को निर्धारित नही करते बल्कि मुद्रा का सचय तथा असचय करना (hoarding and dishoarding of money), बैंको द्वारा मुद्रा का सृजन, उपभोग के प्रयोजनो के लिए मुद्रा ऋण की माँग भी ब्याज दर के निर्धारण मे भाग लेते हैं। इस प्रकार ऋण-योग्य राशियो के सिद्धान्त के समर्थको ने ब्याज का निर्धारण मौद्रिक (monetary) तथा गैर-मौद्रिक (non-monetary) दोनो प्रकार की शक्तियों द्वारा होना माना है। अतएव *ऋण-योग्य राशियो का सिद्धान्त वास्तव मे ब्याज का मौद्रिक सिद्धान्त है* यद्यपि यह केवल अपूर्ण रूप से ही मौद्रिक है क्योंकि इसमे ब्याज दर के निर्धारण मे बचत तथा पूँजी की उत्पादकता जैसी वास्तविक शक्तियो के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया है।

इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर ऋण-योग्य राशियो की माँग तथा उनकी पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। ऋण-योग्य राशियो की पूर्ति मे आय मे से की गई बचतें, असचित किया गया मुद्रा धन, बैंको द्वारा सृजन की गई मुद्रा तथा व्यवसायियो द्वारा निर्निवेश (disinvestment) आदि शामिल हैं। ऋण-योग्य राशियो के लिए माँग मे निवेश के लिए माँग, उपभोग के लिए माँग तथा मुद्रा सचय (hoard) करने के लिए माँग सम्मिलित है। इसलिए हम नीचे *ऋण-योग्य राशियो की पूर्ति तथा माँग के विभिन्न स्रोतो* को सविस्तार विवेचना करेंगे।

ऋण-योग्य राशियों (Loanable Funds) की माँग

ऋण-योग्य राशियो की माँग तीन प्रकार से होती है। कई लोग रुपया व्यापार या उद्योग में निवेश के लिए माँग करते हैं। कई लोग अपने पास रुपया सचय करके (hoarding) रखना चाहते हैं। *(i) साधारण समय मे ऋण पर रुपया लेने की माँग* अधिकतर उन व्यवसायो अथवा फर्मों द्वारा होती है, जो रुपयों को व्यापार अथवा उद्योग मे निवेश करते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार विनियोग अथवा निवेश की मात्रा ब्याज की दर के साथ बदलती है अर्थात्

रेखाकृति 42.4

निवेश ब्याज-दर सापेक्ष (interest elastic) होता है। निवेश से जिस प्रतिशत लाभ की आशा होती है उसकी ब्याज की दर से तुलना की जाती है। यदि ब्याज की दर कम हो तो निवेश मे अधिक रुपया लगाया जाता है और यदि ब्याज की दर अधिक हो जाए तो निवेश मे कम रुपया लगाया जाता है। स्पष्ट है कि ब्याज की दर बढ जाये तो निवेश के लिए ऋण योग्य राशियो की मांग घट जाएगी और ब्याज की दर घट जाए तो निवेश के लिए ऋण-योग्य राशियो की मांग बढ जाएगी। अत निवेश के लिए ऋण-योग्य राशियो के मांग का वक्र बायें से दायें नीचे की ओर झुका हुआ होगा जैसा कि रेखाकृति 42 4 म वक्र I द्वारा दर्शाया गया है।

(ii) उपभोग के लिए ऋण (Consumption for Loans)—ऋण-योग्य राशियो की मांग उपभोग के लिए की जाती है। उपभोग के लिए ऋण वे लोग लेते है जो अपनी आय तथा संचित धन से अधिक उपभोग करना चाहते हैं। उपभोग के लिए ऋण प्राय टिकाऊ उपभोक्ता पदार्थ (durable consumer goods) जैसे कि गृह निर्माण, मोटर कार, स्कूटर, टेलीविजन, रेफ्रीजरेटर आदि क्रय करने के लिए प्राप्त किये जाते है। उपभोग के लिए ऋण की मांग भी ब्याज-दर सापेक्ष (interest-elastic) होती है। जब ब्याज की दर कम होती है तो लोग टिकाऊ उपभोक्ता पदार्थों के लिए अधिक ऋण लेने के लिए प्रेरित होंगे। अत उपभोग के लिए ऋण की मांग (जिसे dissavings भी कहते हैं) का वक्र बायें से दायें नीचे की ओर झुका हुआ होता है जैसा कि रेखाकृति 42 4 मे DS वक्र द्वारा प्रकट है।

(iii) सचय के लिए मांग (Demand for Hoarding)—मुद्रा अथवा धन का सचय भी ऋण-योग्य राशियो की मांग को प्रभावित करता है। सचय के लिए मुद्रा की मांग का अर्थ है लोग अपने पास अधिक नकद रुपया रखना चाहते हैं। जब लोग अपनी आय से कम उपभोग करते हैं तो वे कुछ रुपया बचा लेते हैं। इस प्रकार अपनी बचतो को या तो वे उधार पर दे सकते हैं या इनसे शेयर, ऋण-पत्र आदि खरीद सकते हैं अथवा उन्हे अपने व्यापार मे लगा सकते हैं। यदि वे यह सब न करना चाहे तो अपनी बचत का नकदी के रूप म सचय (hoard) कर सकते हैं। जब लोग अपने शेयर, ऋण-पत्रो तथा अन्य परिसम्पत्तियों (assets) को बेच देते हैं और उनसे प्राप्त समस्त रुपयो को उपभोग के लिए प्रयोग नही करते तो बाकी रुपयो का सचय कर सकते हैं। यह स्मरण रहे कि सचय के लिए लोग दूसरो से ऋण नही लेते पर अपने पास उपलब्ध ऋण योग्य राशिया को सचय करने के लिए प्रेरित होते हैं। जब ब्याज की दर अधिक होगी तो लोग अपेक्षाकृत अधिक रुपया ऋण पर दे देंगे और कम मात्रा म सचय करेंगे और जब ब्याज की दर कम होगी तो वे कम रुपया उधार पर देंगे और अधिक मात्रा मे रुपया का सचय करेंगे।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सचय के लिए मुद्रा की मांग का वक्र भी बायें से दायें नीचे को झुका हुआ होगा जैसा कि वक्र H द्वारा प्रकट है।

ऋण-योग्य राशियों की पूर्ति (Supply of Loanable Funds)

ऋण योग्य राशियो की पूर्ति के पक्ष के भी कई अग हैं, जैसे बचत (saving), दबे हुए रुपयो मे से रुपए निकालना (dishoarding), बैंक साख (bank credit) और व्यापार और उद्योग मे निवेश किए गए रुपए म से निकालना (disinvestment) आदि। अब हम पृथक्-पृथक् इनकी व्याख्या करेंगे।

(i) बचत (Saving)—ऋण-योग्य राशियो की पूर्ति का सबसे बड़ा स्रोत बचत है। बचत आय और उपभोग के अन्तर से उत्पन्न होती है। कुछ बचत तो प्रत्याशित आय और प्रत्याशित उपभोग की मात्राओ पर निर्भर करती है। साधारणत एक अवधि (period) की आय को जब अगली अवधि मे पूरा उपभोग न किया जाए तो बचत का सृजन होता है। चूंकि ब्याज दरो पर बचत की मात्रा भी विभिन्न होती है, इसलिए बचत की अनुसूची ब्याज की दरो के अनुसार निर्मित की जा सकती है। निजी बचत मनुष्य की आय पर निर्भर करती है। परन्तु यह माना जाता है कि यदि आय निश्चित हो तो बचत ब्याज की दर पर निर्भर करती है अर्थात् एक निश्चित आय मे से अधिक ब्याज की

दर पर अधिक बचत की जाएगी और कम ब्याज की दर पर कम बचत की जाएगी। अत बचत का वक्र बायें से दायें ऊपर की ओर चढता है जैसा कि रेखाकृति 42 4 मे वक्र S द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

व्यक्तिगत बचतो (personal savings) के अतिरिक्त और प्रकार की भी बचतें होती हैं। ये दूसरी प्रकार की बचतें व्यवसायो अथवा फर्मों द्वारा की जाती हैं। फर्म के लाभ का कुछ भाग तो हिस्सेदारों मे बाँट दिया जाता है और शेष उन कम्पनियों की बचत (corporate saving) है। कम्पनियों की बचत (corporate savings) भी ब्याज की दर पर निर्भर करती है, ऊँची ब्याज की दर पर एक फर्म मार्किट मे ऋण लेने के बजाए अपनी बचत मे वृद्धि करेगी। व्यक्तिगत बचतो (personal savings) और कम्पनियो की बचत (corporate savings) को जोड कर हम कुल बचत का वक्र S प्राप्त होता है।

(ii) असचय (Dishoarding)—पूर्ति का दूसरा भाग है सचित धन से कुछ रुपया निकाल लेना (dis hoarding)। इस क्रिया से पूर्व सचित धन सक्रिय मुद्रा (active balance) का रूप धारण कर लेता है और ऋण के लिए उपलब्ध हो जाता है। इसलिए 'असचय' से ऋण-योग्य राशियो की पूर्ति बढ़ जाती है। यदि ब्याज की दर बढ जाय तो कई व्यक्ति जो रुपया सचय करते हैं वे रुपया निकाल कर ऋण पर देने को तैयार हो जाते है और यदि ब्याज की दर कम हो जाए तो वे अधिक मात्रा मे रुपयो को सचय करके रखते है और कम रुपयो को ऋण पर देने के लिए तैयार होते हैं। इसलिए असचय का वक्र बायें से दायें ओर को ऊपर चढता हुआ होता है। रेखाकृति 42 4 मे DH असचय (dishoarding) का वक्र है और यह पूर्ति का एक भाग बन जाता है।

(iii) बैंक साख (Bank Credit)—पूर्ति का एक और भाग बैंक साख (bank credit) है। जब बैंक नये ऋण देते है या जब वे बॉड (bonds) क्रय करते हैं तो इनका भुगतान साख (credit) का सृजन करके करते हैं और यह बैंक साख ऋणयोग्य राशियों की पूर्ति को बढाती है। आधुनिक युग मे तो देश की मुद्रा पूर्ति मे बैंक साख एक बहुत महत्त्वपूर्ण अग बन गई है। बैंक साख को बैंक मुद्रा (Bank Money) भी कहते हैं क्योंकि बैंक साख उतनी ही अच्छी मुद्रा है जितनी कि किसी और प्रकार की मुद्रा। बैंक साख की पूर्ति भी ब्याज की दर पर निर्भर होती है। साधारणतया बैंक ऊँची ब्याज की दर पर कम मात्रा मे ऋण देने को प्रेरित होते हैं। इसलिए बैंक साख की पूर्ति का वक्र भी बाएँ से दाएँ और ऊपर को चढता है। रेखाकृति 42 4 मे बैंक साख की पूर्ति BM वक्र द्वारा दिखाई गई है।

(iv) निर्निवेश (Disinvestment)—ऋण योग्य राशियो की पूर्ति का एक और स्रोत निर्निवेश है। निर्निवेश का अर्थ है कि उद्योगपतियो द्वारा व्यवसाय मे लगाये हुए रुपए को निकाल लेना और उसे ऋण देने के लिए तैयार हो जाना। ऐसा तब होता है जब उद्योगपतियो को निवेश की गई पूँजी पर लाभ की दर प्रचलित ब्याज की दर से कम प्राप्त हो रही है। जब किसी उद्योग मे लाभ की दर बहुत घट गई है तो उसके उत्पादक अपने पास मूल्यह्रास आरक्षणो (Depreciation reserves) को उस उद्योग मे मशीनो आदि के प्रतिस्थापन करने के बजाय इन आरक्षणो को मार्किट मे ऋण देने के लिए तैयार हो जाते हैं। निर्निवेश का वक्र भी ब्याज दर सापेक्ष होता है और ऊपर को चढता है जैसा कि वक्र DI है।

माँग और पूर्ति मे सन्तुलन (Equilibrium between Demand and Supply)

ऊपर हमने ऋण योग्य राशियो की माँग (demand for loanable funds) और उनकी पूर्ति (supply of loanable funds) के पक्षो की व्याख्या की है। इन माग और पूर्ति की शक्तियो के सन्तुलन द्वारा ब्याज की दर निर्धारित होती है। ब्याज की दर उस स्तर पर सन्तुलन मे होगी जहाँ ऋण-योग्य राशियो की माग की मात्रा व उनकी पूर्ति की मात्रा बराबर होगी। अत ब्याज-दर का सन्तुलन उस स्तर पर होगा जहाँ

निवेश माँग + सचय + उपभोग के लिए ऋण = बचत + बैंक साख + असचित धन + निर्निवेश।

अर्थात Investment (I) + Hoarding (H) + Consumption Loans or Dissavings (DS) = Saving (S) + Bank Credit (BM) + Dishoarding (DH) + Disinvestment (DI)

इस समीकरण का बायाँ पक्ष पूर्ति के विभिन्न मागो को दर्शाता है। रेखाकृति 42.4 मे इन दोनो पक्षो के विभिन्न मागो और इनको समूचे तौर पर दिखाया गया है।

इस रेखाकृति 42.4 म SL वक्र रुपये की समस्त पूर्ति को दर्शाता है और DL समस्त माँग को। SL वक्र DH, DI, S और BM वक्रो के क्षैतिज जोड (horizontal addition) से प्राप्त होता है। इसी प्रकार DL माग वक्र तीन वक्र I, H और DS के क्षैतिज जोड से प्राप्त किया जाता है। ये दो वक्र SL और DL एक दूसरे को E विन्दु पर काटते हैं। इससे हमे सन्तुलित ब्याज की दर ज्ञात होती है। अत ब्याज की दर Or अथवा ME निर्धारित होगी। इस ब्याज की दर Or पर ऋण योग्य राशियो की माँग मात्रा और पूर्ति की मात्रा परस्पर समान हैं।

ऊपर लिखे समीकरण से निम्नलिखित समीकरण निकाले जा सकते हैं।

$$(I-DI)+(H-DH)=(S-DS)+BM$$
$$or \quad \text{net } I + \text{net } H = \text{net } S + BM$$

इस समीकरण से पता चलता है कि ब्याज की सन्तुलन दर पर निवल निवेश + निवल सचय निवल बचतो और बैंक साख के समान होते हैं।

यह आवश्यक नही कि दोनो पक्षो के अलग माग एक दूसरे के समान हो। उदाहरणत यह आवश्यक नही कि ऋण देने वालो की बचत की मात्रा और ऋण लेने वालो का निवेश समान हो। यही बात दूसरे मागो के विषय मे भी लागू होती है। परन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि अभीष्ट बचत (desired or planned savings) और अभीष्ट अथवा पूर्वायोजित निवेश (Desired or Planned investment) के सन्तुलन की अवस्था मे बराबर हो। यदि किसी सन्तुलित ब्याज की दर पर पूर्वायोजित बचत और पूर्वायोजित निवेश परस्पर समान नहीं हैं तो वह अवस्था स्थायी सन्तुलन (stable equilibrium) की नही होगी और इसलिए उसमे परिवर्तन होने की प्रवृत्ति पाई जाएगी। उदाहरणार्थ रेखाकृति 42.4 मे Or ब्याज की दर पर पूर्वायोजित बचत (planned savings) और पूर्वायोजित निवेश (planned investment) परस्पर समान नही हैं, इसलिए ब्याज की दर Or पर स्थिर नही हो सकती। Or ब्याज की दर पर पूर्वायोजित निवेश की मात्रा (planned investment) जो rB के बराबर है पूर्वायोजित बचत (planned savings) जो rA के बराबर है, से अधिक है। इसलिए यह अवस्था स्थायी नहीं रह सकती (When planned investment exceeds or falls short of planned savings, the situation is unstable and can not continue)। पूर्वायोजित निवेश से अधिक होने का परिणाम यह होता है कि पदार्थो और सेवाओ की माँग बढ जाती है और इसके फलस्वरूप लोगो की आय मे वृद्धि होने के कारण बचत बढ कर निवेश के बराबर हो जाती है अर्थात् जब किसी समय पूर्वायोजित बचत और पूर्वायोजित निवेश मे अन्तर हो तो कुल आय मे वृद्धि या कमी होने के कारण अन्त मे पूर्वायोजित बचत और पूर्वायोजित निवेश बराबर हो जायेंगे।

जब आय मे परिवर्तन के फलस्वरूप बचत और निवेश बदल जाते हैं तो समूचा बचत वक्र (S) और समूचा निवेश माँग वक्र (I) अपनी पूर्व स्थिति से विवर्तित हो जाएँगे। परिणामस्वरूप ऋण-योग्य राशियो का पूर्ति वक्र SL और ऋण-योग्य राशियो का माग वक्र DL भी बदल जाएँगे। इन परिवर्तनो से अन्त मे वह ब्याज की दर निर्धारित होगी जहाँ (1) ऋण-योग्य राशियो की मांग और उनकी पूर्ति परस्पर समान हैं और (2) पूर्वायोजित निवेश और पूर्वायोजित बचत परस्पर समान हैं।

ऋण-योग्य राशियो के सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा (Critical Evaluation of the Loanable Funds Theory)

ऋण-योग्य राशिया का सिद्धान्त ब्याज के प्रतिष्ठित सिद्धान्त से अधिक उत्कृष्ट है। इस सिद्धान्त ने

ऋण-योग्य राशियो के लिए माग और उनकी पूर्ति निर्धारित करने वाले तत्वो और शक्तियो के सम्बन्ध मे हमारी जानकारी को काफी बढाया है। यह ब्याज के निर्धारण का एक व्यापक विश्लेषण करता है और ब्याज दर को प्रभावित करने वाले सभी तत्वो जैसे कि बचत, निवेश, माग सचय और असचय (hoarding and dishoarding) तथा बैंक साख आदि को विचार मे लाता है। परन्तु केन्ज और केन्ज़ियन अर्थशास्त्रियो ने ऋण-योग्य राशियो के सिद्धान्त की आलोचना की है। प्रथम, केन्ज ने यह आपत्ति की कि ऋण-योग्य राशियो के सिद्धान्त मे प्रयुक्त सचय की धारणा (concept of hoarding) गलत और अयथार्थ है। इसका कारण यह है कि केन्ज के मतानुसार यदि मुद्रा की मात्रा समान रहती है तो मुद्रा सचय मे कमी और वृद्धि नही हो सकती। चलन मे मुद्रा किसी समय किसी व्यक्ति के पास नकदी के रूप मे अवश्य होगी। उनके अनुसार यदि मुद्रा की मात्रा समान रहती है तो किसी समय-अवधि (time period) से पूर्व और अन्त मे नकदी की मात्रा भी समान रहेगी किसी व्यक्ति द्वारा मुद्रा का अधिक सचय किसी अन्य व्यक्ति द्वारा असचय से रद्द हो जाएगा। परन्तु ऋण-योग्य राशियो के सिद्धान्त की यह आलोचना भ्रमपूर्ण है। वास्तव मे किसी समाज मे मुद्रा की समर्थ और वास्तविक पूर्ति केवल मुद्रा की मात्रा पर ही निर्भर नही करती, यह मुद्रा के चलन वेग (*velocity of circulation*) पर भी निर्भर करती है और मुद्रा का यह चलन वेग ही है जिसमे सचय अथवा असचय के फलस्वरूप परिवर्तन होता है और जिससे मुद्रा की वास्तविक पूर्ति प्रभावित होती है, यद्यपि मुद्रा की मात्रा समान ही क्यो न रहे। प्रोफेसर जी० एन० हाम (G N Halm) ठीक ही लिखते हैं "किसी समय-अवधि से पूर्व और अन्त मे मुद्रा की मात्रा समान चाहे रहे परन्तु मुद्रा का चलन वेग बदल सकता है और यह मुद्रा के चलन वेग मे परिवर्तन ही है जो कि सचय तथा असचय द्वारा निर्धारित होता है। निष्क्रिय राशियों मे वृद्धि और सक्रिय राशियों मे कमी ही सचय है जो कि मुद्रा के चलन वेग को घटा देता है। मुद्रा के बेकार और निष्क्रिय रहने के समय मे परिवर्तन हो सकता है जो कि ऋण-योग्य राशियो की पूर्ति को बदल देगा।"[1]

इस प्रकार हम देखते है कि किसी समय-अवधि मे परिचलन मे मुद्रा की मात्रा समान रहने पर भी सचय सम्भव हो सकता है और इसलिए ऋण-योग्य राशियो के सिद्धान्त पर केन्ज द्वारा की गई आपत्ति युक्तिसगत नही है। वास्तव मे, केन्ज ने स्वय सक्रिय तथा निष्क्रिय राशियो (active and inactive balances) मे अन्तर किया और जैसा कि हमने ऊपर हाम (Halm) के कथन मे देखा कि सक्रिय राशियो के स्थान पर निष्क्रिय राशियो मे वृद्धि ही सचय है जिससे मुद्रा के चलन वेग मे कमी होती है। यदि मुद्रा की निष्क्रियता की समय-अवधि (अर्थात् दो हस्तातरणो मे विश्राम का समय) मे वृद्धि होती है तो इसका अर्थ सचय होगा जो कि ऋण-योग्य राशियो की पूर्ति को घटा देगा और इस प्रकार ब्याज दर के निर्धारण को प्रभावित करेगा।

केन्ज ने ऋण-योग्य राशियो के सिद्धान्त की इस आधार पर भी आलोचना की कि यह भी प्रतिष्ठित सिद्धान्त की तरह ब्याज दर के निर्धारण का पूर्णतया निश्चित समाधान (determinate solution) प्रस्तुत नही करता। इसमे वृत्ताकार तर्क (circular reasoning) निहित है। उनके अनुसार चूँकि बचत ऋण-योग्य राशियो की पूर्ति का महत्त्वपूर्ण साधन है तो आय स्तर मे परिवर्तन से ऋण योग्य राशियो का पूर्ति वक्र भी बदल जाएगा। अतएव आय स्तर को जाने बिना हम ब्याज दर को नही जान सकते और हमे आय का स्तर मालूम नही हो सकता जब तक कि हमे ब्याज दर मालूम न हो क्योकि ब्याज दर निवेश को प्रभावित करती है जिससे आगे आय का स्तर निर्धारित होता है। केन्ज की तरह हेन्सन (*Hansen*) ने भी ऋण योग्य राशियो के सिद्धान्त की आलोचना की है और लिखते हैं कि 'ऋण-योग्य राशियो की पूर्ति अनुसूची मे बचत तथा नई मुद्रा एव निष्क्रिय राशियो के

1. G N Halm, *Monetary Theory*, 2nd ed (1955), p 334

असंचय द्वारा ऋण-योग्य राशियों में शुद्ध वृद्धि शामिल है। परन्तु चूंकि पूर्ति का बचत वाला भाग आय के स्तर के परिवर्तन से बदलता है, इसलिए इससे निष्कर्ष निकलता है कि ऋण-योग्य राशियों का कुल पूर्ति वक्र भी आय में परिवर्तन से बदल जाएगा जिसके परिणामस्वरूप ब्याज दर अनिश्चित हो जाती है।"[1]

आय स्तर में परिवर्तन के बचतों की पूर्ति पर प्रभाव की उपेक्षा करने के लिए केन्ज द्वारा प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना तो ठीक थी परन्तु उसके द्वारा ऋण-योग्य राशियों के सिद्धान्त पर भी की गई यही आलोचना ठीक नहीं है। इसका कारण यह है कि ऋण-योग्य राशियों का सिद्धान्त ब्याज दर के निर्धारण की एक अवधि के समय अन्तर (one period time lag) की समय-अवधि विश्लेषण (period analysis) द्वारा व्याख्या करता है जिससे यह सिद्धान्त ब्याज दर का निश्चित सिद्धान्त प्रस्तुत करने में सफल हो गया है। ऋण-योग्य राशियों के सिद्धान्त में बचत की पूर्ति पिछली अवधि की आय द्वारा निर्धारित होती मानी गई है और इस प्रकार निर्धारित बचत पूर्ति के अन्य स्रोतों सहित और ऋण-योग्य राशियों के लिए माँग द्वारा वर्तमान-समय अवधि में ब्याज दर का निर्धारण होना माना गया है। इस प्रकार निर्धारित वर्तमान ब्याज दर निवेश द्वारा अगली समय अवधि के आय स्तर को प्रभावित करती है। प्रोफेसर हाम (Halm) ठीक ही कहते हैं कि "यह चक्राकार तर्क नहीं है कि आय निवेश द्वारा प्रभावित होती है, निवेश ब्याज दरों द्वारा और ब्याज की दरें ऋण-योग्य राशियों की पूर्ति द्वारा, ऋण-योग्य राशियों की पूर्ति बचतों द्वारा और बचतें पिछली समय-अवधि में प्राप्त आय द्वारा निर्धारित होती हैं।"[2] यह स्पष्ट है कि ऋण-योग्य राशियों के सिद्धान्त के विरुद्ध यह आलोचना कि इसमें ब्याज दर निश्चित रूप से निर्धारित नहीं होती, गलत है। वस्तुतः यह केन्ज का अपना तरलता अधिमान सिद्धान्त ही है जो ब्याज दर का निश्चित सिद्धान्त नहीं है। यह हम आगे जाकर देखेंगे।

ऋण-योग्य राशियों के सिद्धान्त के विरुद्ध एक और आपत्ति यह की जाती है कि यह भी साधनों के पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित है जोकि वास्तविक जगत के विरुद्ध बात है और केन्ज के सिद्धान्त की उत्कृष्टता इस बात पर साबित करने की चेष्टा की जाती है कि यह अपूर्ण रोजगार की वास्तविक पूर्व-मान्यता पर आधारित है। 'ऋण-योग्य राशियों का सिद्धान्त पूर्ण रोजगार के आधार पर निर्माण किया गया है। इसके विरुद्ध केन्ज यह बताता है कि आर्थिक व्यवस्था पूर्ण रोजगार से कम स्तर पर भी स्थायी सन्तुलन में हो सकती है। वह ऐसे सिद्धान्त का निर्माण करता है जोकि इस प्रकार के समाज पर लागू होगा। इस पूर्व मान्यता के बुनियादी अन्तर के कारण ही विश्लेषण में अन्तर है क्योंकि इन दो प्रकार के समाज में लोगों की प्रवृत्तियाँ भिन्न भिन्न होंगी।"[3] प्रोफेसर प्रसाद का तात्पर्य यह है कि ऋण-योग्य राशियों का सिद्धान्त पूर्ण रोजगार से कम स्तर की अवस्था में लागू नहीं होता। परन्तु ऋण-योग्य राशियों के सिद्धान्त का यह अर्थ ठीक नहीं है। जैसा कि हमने ऊपर ऋण-योग्य राशियों के सिद्धान्त की व्याख्या में पढ़ा कि इसमें निवेश के फलस्वरूप आय स्तर में परिवर्तन को तथा उसके बचत पर प्रभाव को समुचित रूप से ध्यान में रखा गया है। यदि ऋण-योग्य राशियों का सिद्धान्त पूर्ण रोजगार की मान्यता पर आधारित होता तो आय कैसे बढ़ सकती।

---

1 "The schedule of loanable funds is compounded of savings plus net additions to loanable funds from new money and dishoarding of idle balances. But since savings portion of the schedule varies with the level of disposable income it follows that the total supply schedule of loanable funds also varies with income making the rate of interest indeterminate."—E H Hansen, *Guide to Keynes*, p 141.

2 "It is not circular reasoning to say that income is influenced by investment, investment by rates of interest, rates of interest by the supply of loanable funds, the supply of loanable funds by savings, *and savings, in turn, by income received in the last period*."—G N Halm, *op cit* p 47 (italics added)

वास्तव में ऋण-योग्य राशियों का सिद्धान्त प्रतिष्ठित सिद्धान्त और केन्ज के तरलता अधिमान सिद्धान्त में एक समन्वय ही है क्योंकि यह प्रतिष्ठित सिद्धान्त की बचतों की पूर्ति और निवेश माँग और दूसरी ओर केन्ज के सिद्धान्त के तरलता अधिमान (liquidity preference) दोनों को विचार में लाता है। संचय और असंचय को ध्यान में लाकर यह तरलता अधिमान को विश्लेषण के अन्तर्गत लाता है जिसको केन्ज ने ब्याज दर के निर्धारण का महत्वपूर्ण तत्व माना है। इसके अतिरिक्त, ऋण-योग्य राशियों के सिद्धान्त को एक प्रावैगिक सिद्धान्त (dynamic theory) कहा गया है। अत प्रोफेसर एच० जी० जानसन (H. G Johnson) का विचार है कि केन्ज का सिद्धान्त स्थैतिक (static) है क्योंकि यह अल्पकाल में सन्तुलन स्थिति के विवरण की व्याख्या करता है और स्थिति में परिवर्तन किस प्रकार सन्तुलन मूल्यों को बदलेंगे, जबकि ऋण-योग्य राशियों का सिद्धान्त प्रावैगिक है जोकि यह व्याख्या करने की चेष्टा करता है कि जब स्थितियाँ बदल जाती हैं तो किस प्रकार ब्याज तथा आय एक सन्तुलन स्तर से दूसरे सन्तुलन स्तर को प्राप्त करेंगे।" ('Keynesian theory is static seeking only to explain the state of affairs in a short period equilibrium and how changes in circumstances will alter the equili brium values, while the loanable funds theory is dynamic and seeks to explain precisely how 'interest and income move from one equilibrium level to another when circumstances have changed)"[1]

केन्ज का ब्याज सम्बन्धी नकदी-अधिमान सिद्धान्त (Keynes's Liquidity Preference Theory of Interest)

केन्ज ने ब्याज-दर के विषय में प्रतिष्ठित और ऋण-योग्य राशियों वाले ब्याज सिद्धान्तों को गलत सिद्ध किया और इसके स्थान पर एक सर्वथा नवीन सिद्धान्त प्रतिपादित किया, जिसे **ब्याज-दर का नकदी-अधिमान सिद्धान्त** (Liquidity Preference Theory of the Rate of Interest) कहते हैं। यह सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए केन्ज ने नकदी-अधिमान (liquidity preference) की एक नई धारणा प्रस्तुत की और इसी नई धारणा के आधार पर अपना यह नया ब्याज-दर सिद्धान्त स्थापित किया। अत: हमें सिद्धान्त की व्याख्या करने से पूर्व हमें समझना होगा कि नकदी अधिमान का क्या अर्थ है और लोगों में नकदी-अधिमान किन कारणों से होता है। केन्ज का ब्याज-सिद्धान्त इस बात की भी व्याख्या करता है कि ब्याज क्यों दिया जाता है और इसकी भी कि ब्याज-दर का निर्धारण कैसे होता है।

नकदी-अधिमान का अर्थ (Liquidity Preference its Meaning)—**केन्ज की इस धारणा में** नकदी (liquidity) तथा अधिमान (preference) दो शब्द हैं। जैसा कि आप सम्भवत. जानते होंगे preference शब्द का अर्थ होता है किसी वस्तु को अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अच्छा समझ कर उसे अधिक पसन्द करना। केन्ज ने तरलता के भाव को मुद्रा तथा ब्याज-दर के प्रसंग में प्रयोग किया है। उन्होंने बताया कि हम अपने धन तथा आय को कई रूपों में रख सकते हैं। उन विभिन्न रूपों में सबसे तरल रूप (liquid form) मुद्रा या नकदी है क्योंकि यदि हमारा धन नकदी के रूप में हो तो हम इसे इच्छानुसार प्रयोग कर सकते हैं, ऐसा करने में हमें तनिक भी कष्ट या कठिनाई नहीं होती जबकि यदि हम इसे किसी और रूप में रखते तो यह कम सुविधाजनक होता। उदाहरणतया जो हमारा धन भूमि, मकान, कारखाने शेयरों तथा सरकारी ऋण-पत्रों या प्रतिभूतियों (securities) में हो उसे हम तत्काल अपनी इच्छानुसार प्रयोग नहीं कर सकते, उसे पहले मुद्रा या नकदी के रूप में बदलना पड़ता है, तब जाकर उसमें हम अपनी वांछित वस्तु या सेवा प्राप्त कर सकते हैं। अत. इस प्रसंग में तरलता (liquidity) से हमारा अभिप्राय नकदी (cash) है।

---
1. H. G. Johnson, 'Some Cambridge Controversies in Monetary Theory", *Review of Economic Studies*, Vol. XIX No 49 (1951-52).

हाँ, यह बात अवश्य है कि अपने धन को नकदी के रूप में न रखकर भूमि, मकान, कारखाने, शेयर तथा ऋण-पत्रों के रूप मे रखने से भी एक लाभ होता है. वह यह कि आय इन सभी रूपो म हम अपने धन से और आय प्राप्त करते हैं; शेयरों से लाभांश मिलता है, ऋणपत्रों से ब्याज प्राप्त होता है और भूमि मकान आदि से किराया मिलता है, जहाँ कि अपने धन को यदि नकदी के रूप मे ही रख लिया जाय तो हमे अन्यथा जो आय होती, उससे वंचित होना पड़ता है।

इसका तात्पर्य यह है कि धन को नकदी के रूप मे रखने मे लाभ तथा हानियाँ दोनो ही हैं, अत यह हमारे अपने निर्णय पर निर्भर करेगा कि किसी समय हम नकदी को धन के अन्य रूपों की तुलना मे कितना अधिमान प्रदान करते हैं। यदि सभी सम्बद्ध परिस्थितियों को देखते हुए हम यह निर्णय करें कि अपने धन के अधिकतर भाग को मुद्रा अर्थात् नकदी के रूप म रखें तो केन्ज के उक्त विचारानुसार हम यह कहेंगे कि इस समय हम तरलता अर्थात् नकदी, को अधिक अधिमान दे रहे हैं। दूसरे शब्दो मे, हमारी नकदी के लिए माँग अधिक है। इसके विपरीत ऐसी स्थितियाँ भी होती हैं जिनमे हम अपने धन को नकदी के रूप में न रखकर अन्य रूपों मे रखना ही अधिक हितकर समझते हैं। उस समय हमारा नकदी अधिमान (liquidity preference) कम होता है। दूसरे शब्दा मे तब हमारी नकदी की माँग (demand for money) कम होती है।

उपर्युक्त व्याख्या से स्पष्ट है कि इस प्रसंग या संदर्भ में तरलता (liquidity) का अर्थ है मुद्रा अथवा नकदी और अधिमान (preference) का अर्थ है इच्छा या माँग (demand)। अत तरलता-अधिमान या नकदी-अधिमान (liquidity preference) का सरल शब्दों में अर्थ है नकदी की माँग (demand for money or cash)। अत: जब यह कहा जाय कि तरलता-अधिमान अथवा नकदी अधिमान अधिक है तो इसका अर्थ है कि लोगों तथा व्यवसायों की नकदी की माँग अधिक है और उसके विपरीत नकदी का अधिमान कम होने का अर्थ यह है कि नकदी की माँग कम है।

किसी भी समय व्यक्तियों का नकदी के लिए कुछ अधिमान होता है, अर्थात् अपने पास अमुक मात्रा मे नकदी रखते हैं। किन्तु यदि उनको उस नकदी के लिए उस समय की प्रचलित ब्याज-दर से ऊँची दर दी जाये तो अधिक सम्भावना यह होगी कि वे अपनी नकदी या कुछ भाग ऋण पर दे देंगे और अपने पास कम नकदी रखने पर उद्यत हो जायेंगे, अर्थात् उनकी धन की अवस्था पहले की अपेक्षा कम तरल हो जायेगी। इसी बात को हम अन्य शब्दों मे यो कह सकते हैं कि ब्याज ऐसा प्रलोभन या पुरस्कार है जिसके द्वारा लोगों की तरलता या नकदी की इच्छा या अधिमान को खरीदा जा सकता है, वे ब्याज प्राप्त करके अपनी तरलता की स्थिति को खो देने को उद्यत हो जाते हैं। उनमे तरलता या नकदी-अधिमान जितना अधिक होगा, ब्याज की उतनी ही ऊँची दर उन्हें चुकानी पड़ेगी, तब कहीं जाकर वे अपनी नकदी उधार पर देने को उद्यत होंगे। इसके विपरीत, यदि उनकी नकदी की माँग या तरलता अधिमान कम हो, तो वे कम ब्याज-दर पर भी अपनी नकदी उधार पर दे देंगे। ब्याज का स्वरूप जान लेने के पश्चात् हमें यह विश्लेषण करना है कि ब्याज दर कैसे निर्धारित होती है। परन्तु उससे पूर्व यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि लोग तरलता अर्थात् नकदी, को क्यों चाहते हैं। दूसरे शब्दो मे, नकदी के लिये अधिमान (liquidity preference) अथवा मुद्रा के लिये माँग (demand for money) किन कारणों से होती है?

नकदी-अधिमान के प्रयोजन (Motives Behind Liquidity Preference)

जैसा कि ऊपर बताया गया है नकदी-अधिमान का अर्थ है मुद्रा की माँग। आप तनिक विचार करें तो देखेंगे कि नकदी की माँग निम्नलिखित तीन प्रयोजनो (motives) से या उद्देश्यों के लिए की जाती है—

(क) क्रय-विक्रय का काम चलाने का प्रयोजन (Transactions Motive)

(ख) पूर्वोपायी प्रयोजन (Precautionary Motive)

(ग) सट्टा प्रयोजन (Speculative Motive)

अब हम इनमे से प्रत्येक की व्याख्या करेंगे।

(क) क्रय विक्रय का काम चलाने का प्रयोजन (Transactions Motive)—सभी लोगो को कुछ मुद्रा या नकदी की इस अभिप्राय के लिए आवश्यकता होती है कि वे अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ तथा सेवाए खरीद सकें। प्राय उनकी आय उन्हे प्रतिक्षण नहीं मिल रही होती, वरन् समय की कुछ निश्चित अवधि के पश्चात् ही उन्हे मिलती है। वेतन ही को लीजिए। प्राय यह मासिक होता है अर्थात् एक मास के अन्तर पर मिलता है। परन्तु मासिक वेतन पाने वाले लोगो को प्रतिदिन कोई न कोई खर्च चुकाना पड़ता है। अत उनके पास अपने वेतन का कुछ भाग नकदी के रूप मे रहना चाहिए जिससे कि वे वाछित क्रय विक्रय कर सकें। पाश्चात्य देशो मे अधिकतर रिवाज साप्ताहिक मजदूरी (weekly wages) का है, अर्थात् श्रमिको को उनका पारिश्रमिक एक सप्ताह के पश्चात् मिलता है। जब तक उन्हे अगली साप्ताहिक मजदूरी नहीं मिलती, उनके पास कुछ नकदी अवश्य होनी चाहिए जिससे वे अपनी दैनिक आवश्यताओ को खरीद सकें।

क्रय-विक्रय का काम चलाने के लिये नकदी की आवश्यकता केवल व्यक्तियो तथा परिवारो (households) को ही नही होती, वरन् व्यवसायो (businesses) को भी होती है। उनकी आय (receipts) प्रतिदिन नियमित रूप से नही होती और उनका दैनिक खर्च (कच्चे माल की खरीद पर, श्रमिको को मजदूरी देने पर इत्यादि) उनकी दैनिक आय के समान ही नहीं होता—किसी दिन आय तो कम होती है परन्तु खर्च अधिक और किसी दिन आय अधिक परन्तु खर्च कम, अत उन व्यवसायो के सचालक अपने अनुभव के आधार पर सदैव अपने पास पर्याप्त नकदी रखते हैं जिससे कि वे अपने क्रय विक्रय का काम चला सकें।

क्रय-विक्रय का काम चलाने के लिए नकदी की माँग देश मे आय तथा रोजगार की मात्रा कितनी है, आयें कितने-कितने समय के अन्तर पर प्राप्त होती हैं (frequency of income payment) तथा आय के व्यय करने की आवृत्ति (frequency of expenditure) क्या है, पर निर्भर करती है।

प्रत्येक देश मे व्यक्तियो तथा व्यवसायो की आय-प्राप्ति की आवृत्ति (frequency of income payment) तथा व्यय की आवृत्ति अल्पकाल मे नहीं बदलती क्योकि ये तो उस देश विशेष के रिवाज या प्रथाओ के अनुसार होती हैं जो पर्याप्त समय तक स्थिर रहते हैं, परन्तु देश की आय तथा रोजगार का स्तर अल्पकाल मे बदलता रहता है और लोगो की व्यक्तिगत आय भी बदलती रहती है। अत अल्पकाल मे नकदी की क्रय विक्रय सम्बन्धी माँग मे परिवर्तन मुख्यतया आय मे हुए परिवर्तनो के कारण ही होते हैं। दूसरे शब्दो मे नकदी की क्रय विक्रय सम्बन्धी माँग आय-सापेक्ष (income-elastic) होती है।

(ख) पूर्वोपायी प्रयोजन (Preacautionary Motive)—प्रत्येक व्यक्ति तथा व्यवसाय की यह प्रवृत्ति होती है कि वह कुछ नकदी अपने पास इसलिए रखे कि उसे आडे समय मे काम आए। व्यक्ति दुर्घटनाओ के शिकार हो जाते हैं। वे लम्बी बीमारी में फँस जाते हैं, कई बार उन्हे अपनी नौकरी से भी जवाब मिल जाता है, इत्यादि। ये कुछेक उदाहरण हैं जो यह बतलाते हैं कि किसी भी सूझबूझ वाले तथा दूरदर्शी व्यक्ति को इन अदृश्य दुर्घटनाओ का सामना करने के लिए कुछ नकदी जोड कर अपने पास रखनी पड़ती है जो कि आवश्यकता पड़ने पर उसके काम आये। ऊपर बताये जोखिम ऐसे हैं जिनका पूर्णतया बीमा (insurance) नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि नकदी रखना आवश्यक हो जाता है। कोई व्यक्ति कितनी नकदी इस पूर्वोपायी प्रयोजन के लिए रखेगा यह उसकी अपनी प्रकृति (nature), मनोवैज्ञानिक वृत्ति तथा आय पर निर्भर करेगा। कई लोग बडे आशावादी तथा निर्भीक होते हैं और कई लोग बडे निराशावादी, डरपोक तथा वहमी होते हैं। कई लोग

मूर्खतावश अपने भविष्य की उपेक्षा करते हैं तो कई बड़े बुद्धिमान होते हैं और उक्त प्रतिकूल स्थितियो के लिए पर्याप्त व्यवस्था करते हैं। दूसरे शब्दो मे, लोगो में पूर्वोपाय का भाव जितना अधिक होगा उतनी ही अधिक नकदी वे पूर्वोपायी प्रयोजन के लिए रखेंगे अर्थात् उनकी मुद्रा की माँग अधिक होगी।

ऊपर हमने व्यक्तियों की नकदी की पूर्वोपायी माँग का उल्लेख किया। व्यवसायो के सम्मुख भी विभिन्न प्रतिकूल परिस्थितियाँ सहसा उत्पन्न हो जाती हैं अत वे भी उन परिस्थितियो का सामना करने के लिए नकदी रखने की व्यवस्था करती हैं। यह पूर्वोपायी प्रयोजन की माँग अकेली व्यक्तिगत प्रकृति पर ही नही निर्भर करती। एक मनुष्य भले ही विवेकशील हो, परन्तु यदि वह निर्धन है तो उसके पास पूर्वोपायी प्रयोजन के लिए रखी गई नकदी अधिक नही हो सकती। इसके विपरीत सामान्यतया धनी लोग अधिक नकदी इस प्रयोजन से रखेंगे। भाव यह कि पूर्वोपायी प्रयोजन के लिए नकदी या मुद्रा की माँग भी आय-सापेक्ष होती है।

(ग) सट्टा प्रयोजन (Speculative Motive)—नकदी चाहने का यह तृतीय प्रयोजन केन्ज के मस्तिष्क का आविष्कार है। अपने ब्याज-दर निर्धारण के सिद्धान्त में केन्ज ने नकदी की माँग के इसी तीसरे प्रयोजन पर सबसे अधिक बल दिया है। लोगो मे सट्टाबाजी या जुआबाजी की प्रवृत्ति रहती है। मुद्रा या नकदी के विषय मे सट्टाबाजी का शब्द प्रयोग करने का केन्ज का अभिप्राय यह था कि लोग प्राय अपने पास नकदी रखना चाहते हैं जिससे कि वे बाण्डो या प्रतिभूतियो (securities) के मार्किट मे होने वाले उतार-चढाव से लाभ कमा सकें। मान लीजिए आपका विचार है कि आज बाण्डो की कीमत बडी तेज है और कुछ दिनो मे यह गिरेगी तो आपकी यह प्रवृत्ति होगी कि अपने पास मुद्रा या नकदी रख लें जो कि धन का तरल रूप (liquid form) है और जब बाण्डो की कीमतें वास्तव में गिर जायेंगी तो आप उस समय बाण्ड खरीद लेंगे। इस प्रकार आप हानि होने से बच जायेंगे। अब इसके विपरीत स्थिति लें। मान लें आपके विचार से बाण्डो की कीमत कुछ दिनो में बढ़ेगी तो आप अपनी नकदी से बाण्ड अब खरीद लेंगे और जब आपके अनुमान के अनुसार बाण्डो की कीमत वास्तव मे ही चढ जाएगी तो आप उन्हे बेच कर नकदी मे परिणत कर लेंगे और ऐसा करने से आपको लाभ होगा।

उक्त उदाहरणो से स्पष्ट है कि लोग मुद्रा को इसलिए माँग या संग्रह (store) करते हैं कि वे बाण्ड मार्किट मे होने वाले उतार-चढ़ाव से लाभान्वित हो सकें। स्पष्ट है कि नकदी न होने की अवस्था मे यह लाभ प्राप्त नही किया जा सकता।

नकदी अधिमान के सट्टा प्रयोजन मे एक निहित बात यह है कि लोग जब इस प्रयोजन से अपने पास अधिक या कम नकदी रखते है तो उनके मन मे यह आशा होती है कि उनको ऐसा करने से लाभ होगा। परन्तु यह लाभ तभी होता है जब बाण्डो की कीमत के उतार-चढ़ाव के विषय मे उनका अनुमान बाण्ड मार्किट के बहुमत से अधिक सही होता है। यदि उनका अपना अनुमान मार्किट के बहुमत की भाँति हो तो उन्हे लाभ नही होगा ? इसी तथ्य के आधार पर केन्ज ने नकदी-अधिमान के सट्टा-प्रयोजनो की परिभाषा यो दी है "The speculative motive for liquidity preference may be defined as attempting to secure a profit from knowing better than the market what the future will bring"[1]। अत लोग सट्टा प्रयोजन के अन्तर्गत मुद्रा की माँग इस उद्देश्य या प्रयोजन से करते हैं कि इसी मुद्रा की सहायता से तथा भविष्य के सम्बन्ध मे मार्किट के अनुमान की अपेक्षा वे स्वय अधिक सही अनुमान लगा कर लाभ कमायेंगे। पूर्व बताए गए अन्य दो प्रयोजनो से यह प्रयोजन कैसे भिन्न है, यह समझना कठिन नही होगा। इसमे नकदी या मुद्रा की माँग साधारण क्रय-विक्रय या आड़े दिनों का सामना करने के उद्देश्यो से नहीं की जाती, अपितु लाभ कमाने की आशा मे एक प्रकार का सट्टा करने के लिए की जाती है। सट्टा-प्रयोजन का भाव या

1 J M Keynes, *The General Theory of Employment, Interest and Money* Macmillan

मुद्रा नकदी की माँग इस इच्छा से करना है कि मनुष्य अपने धन के एक भाग को नकदी के रूप मे रख कर बाण्ड मार्किट की कीमतों में होने वाले परिवर्तनो से लाभ उठा सके।

नकदी अधिमान अनुसूची तथा वक्र (Liquidity Preference Schedule and Curve)

ऊपर के विवेचन के पश्चात् अब हम नकदी की माँग की अनुसूची तथा वक्र बना सकते है। किसी देश या अर्थव्यवस्था की नकदी अधिमान अनुसूची (liquidity preference schedule) या मुद्रा-माँग अनुसूची (schedule of demand for money to hold) एक प्रकार की सारणी है जिसमे यह दिया जाता है कि उस अर्थव्यवस्था मे लोग तथा व्यवसाय विभिन्न ब्याज-दरो पर कुल कितनी नकदी अपने पास रखना चाहते है। जब ऐसी सारणी को वक्र रूप मे व्यक्त किया जाए तो यह नकदी अधिमान वक्र (liquidity preference curve) या नकदी अधिमान फलन या फक्शन (liquidity preference function) कही जाती है।

रेखाकृति 42 5 मे Y अक्ष पर ब्याज दर तथा X-अक्ष पर नकदी की माँग की मात्रा दिखाई गई है और LP वक्र अर्थव्यवस्था के किसी निश्चित आय स्तर पर के नकदी-अधिमान को व्यक्त करता है। हम देख चुके हैं कि क्रय विक्रय का काम चलाने तथा ऐहतियाती प्रयोजनो से नकदी की जो माँग होती है, वह अर्थव्यवस्था के आय स्तर पर निर्भर करती है अत अर्थव्यवस्था के किसी दिए हुए आय स्तर पर नकदी की जो माँग होगी, अर्थात् सक्रिय नकदी (active money) की माँग (इसका प्राय L_1 अक्षर द्वारा उल्लेख किया जाता है), वह उसी आय स्तर के अनुरूप एक निश्चित मात्रा होगी। परन्तु सट्टा-प्रयोजन के लिए इच्छित नकदी, अर्थात् निष्क्रिय नकदी (idle or passive money) की मात्रा (इसे प्राय L_2 लिखते हैं), भिन्न ब्याज दरो पर भिन्न होगी। रेखाकृति 42 5 मे, जब ब्याज दर Or है, अर्थात् काफी ऊँची है, तो कुल OM नकदी की माँग होगा (इसमे पहले दो प्रयोजनो के लिए इच्छित मुद्रा की निश्चित मात्रा भी सम्मिलित है।) अब आप मान लीजिए कि ब्याज-दर गिर कर Or' हो जाती है तो लोग मुद्रा की OM' मात्रा की माँग करेंगे जो पहले से काफी अधिक है।[1] ऐसा क्यो ? जब ब्याज दर ऊँची थी तो इसका यह अर्थ था कि नकदी उधार पर न देकर अपने
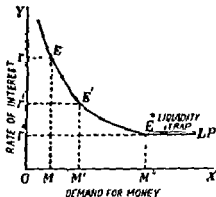
रेखाकृति 42 5

पास रख लेने म बडी हानि थी, क्योकि मुद्रा को उधार पर दे देने से ब्याज की ऊँची दर होने के कारण जो पर्याप्त आय होनी थी उससे उन्हे वचित होना पडता। दूसरे शब्दो मे ऊँची ब्याज दर के होते हुए मुद्रा अपने पास रख लेना बडा महँगा पडता है। यही कारण है कि तब कम मुद्रा रखी जाती है, अर्थात् मुद्रा की माँग कम होती है। इसके विपरीत ब्याज दर जब कम होती है तो इसका यह अर्थ होता है कि मुद्रा को उधार पर न देकर अपने पास रख लेना महँगा नही पडता। दूसरे शब्दो मे, तब मुद्रा या नकदी रख लेने मे केवल थोडा सा त्याग (sacrifice) करना पडता है। अर्थशास्त्र मे हम इसे यह कहेगे कि तब मुद्रा या नकदी का विकल्प त्याग (opportunity cost) कम होता है। यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो जैसा कि हमने पहले व्याख्या की, वास्तविक कारण यह है कि जब ब्याज-दर बहुत ऊँची होती है तो जिन्होने मुद्रा उधार पर देनी है उनका तब विचार यह होता है कि ब्याज की इतनी ऊँची दर रह नही

1 इसमें भी पहले दो प्रयोजनो के लिए माँगी गई मुद्रा भी सम्मिलित है, परन्तु चूँकि आय स्तर वही रहता है, इसलिए उसकी मात्रा पूर्ववत् रहेगी और केवल सट्टा प्रयोजन के लिए माँग में विस्तार होगा

सकती वरन् कम होगी अर्थात् बाण्डो की कीमते बढ़ेंगी अत वे अपने पास मुद्रा न रख कर इसे बाण्डो मे परिणत कर लेते हैं। दूसरे शब्दो मे उनकी मुद्रा माँग कम होती है। इसके विपरीत जब ब्याज-दर कम होती है तो उनका यह विचार होता है कि यह चढ़ेगी, अर्थात् उनके विचार के अनुसार यह सभावना होती है कि बाण्डो की कीमतें गिरेंगी। अत तब लोगो मे यह प्रवृत्ति होती है कि वे बाण्डो को नकदी मे परिणत कर लें और नकदी अपने पास बहुत रखें।

कई बार कुछेक कारणो से अर्थव्यवस्था म आय स्तर पूर्ववत् रहते हुए भी लोगो मे क्रय-विक्रय का काम चलाने तथा ऐहतियाती प्रयोजनो या सट्टा-प्रयोजन के लिए नकदी अधिमान या मुद्रा की माँग पहले से बढ या घट जाती है। तब नकदी-अधिमान वक्र अपनी पहली स्थिति से सरक जाएगा। मान लीजिए महायुद्ध छिड जाने के डर से लोग अब अपने पास पहले से अधिक मुद्रा रखना चाहते हैं, यद्यपि अर्थव्यवस्था की आय के स्तर मे कोई परिवर्तन नही आया। इसका परिणाम यह होगा कि नकदी अधिमान का नया वक्र पुराने वक्र से दायी ओर ऊपर को सरक जाएगा। इसका यह अर्थ होगा कि अब ब्याज की किसी भी दर पर लोग पहले की अपेक्षा अधिक नकदी अपने पास रखना चाहेगे। नकदी अधिमान-वक्र का यह स्थिति-परिवर्तन या सरकना (shift) इसलिए होता है कि लोगो की आशसाए (expectations) किन्ही कारणो से बदल जाती है। ऊपर हमने युद्ध की आशसा का उदाहरण दिया है।

वास्तव मे युद्ध छिडने की आशसा से लोगो की भविष्य के विषय मे आशसाएँ (expectations) बदलना तो आर्थिक तत्त्व नही। हमे यहाँ यह जानना है कि कौन से मुख्य ऐसे आर्थिक तत्त्व (economic factors) हैं जिनके कारण आशसाएँ बदल जाती हैं और लोगो का नकदी-अधिमान बदल जाता है, अर्थात् उनका नकदी-अधिमान वक्र अपनी पहले से आ रही स्थिति से सरक जाता है। ये आर्थिक तत्त्व ये हैं, कीमतों का सामान्य स्तर, देश में नकदी मजदूरी का स्तर, केन्द्रीय बैंक की मुद्रा-नीति, कराधान की सरकारी नीति (taxation policy of the state), और अन्त मे, परन्तु बडा महत्त्वपूर्ण कारण अर्थव्यवस्था का आय-स्तर है। यदि देश मे कीमतो का सामान्य स्तर या नकद-मजदूरी स्तर ऊँचे हो जायें, तो स्पष्ट है कि अब लोगो का नकदी अधिमान वक्र ऊपर को सरक जायेगा। इसके विपरीत की स्थिति आप स्वय समझ सकते हैं। अब मुद्रा-नीति को लें। यदि लोगो का यह विचार हो जाय कि केन्द्रीय बैंक आगे चलकर मुद्रा मात्रा को बहुत कम देगा तो लोग अपने पास अधिक नकदी रखना चाहेगे और उनका नकदी अधिमान वक्र ऊपर को सरक जायगा।

अर्थव्यवस्था के आय-स्तर बदलने पर भी नकदी-अधिमान-वक्र प्राय सरक जाता है। मान लीजिये किन्ही अनुकूल अवस्थाओ के उत्पन्न हो जाने के कारण लोगो का रोजगार तथा आय बढ जाते हैं। स्पष्ट है कि अब क्रय-विक्रय का काम चलाने तथा ऐहतियाती प्रयोजन के लिये पहले से अधिक मुद्रा की आवश्यकता होगी। यदि मुद्रा की सट्टा प्रयोजन की माँग पूर्ववत् रहे तो मुद्रा की कुल माँग पहले से बढ जायेगी। अत किसी एक ब्याज-दर पर लोग अब पहले से अधिक नकदी अपने पास रखना चाहेगे और पहले जितनी नकदी अब वे पहले से ऊँचे ब्याज दर पर रखेंगे। दूसरे शब्दो मे, नकदी-अधिमान-वक्र ऊपर दायी ओर सरक जायेगा।

केन्ज के सिद्धान्त के अनुसार ब्याज का निर्धारण (Determination of Rate of Interest in Keynes's Theory)

हमने ऊपर पढ़ा कि केन्ज के सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर क्यो दी जाती है। हमने यह भी पढ लिया कि नकदी अधिमान क्या है और नकदी अधिमान के क्या प्रयोजन है। अब हम इस स्थिति मे हैं कि केन्ज के सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर के निर्धारण की व्याख्या करें। केन्ज के सिद्धान्त के अनुसार ब्याज-दर मुद्रा या नकदी की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। किसी समय देश मे मुद्रा की पूर्ति कितनी होगी इसका निर्णय देश के मुद्रा अधिकारी (monetary authorities) के हाथ मे होता है और इस

पर देश के लोगो तथा व्यवसायो का लगभग कुछ भी प्रभाव नही होता। जहाँ तक मुद्रा की पूर्ति या मुद्रा-मात्रा का प्रश्न है, वह तो सरकार या मुद्रा अधिकारियो द्वारा अपनायी गई नीति पर ही निर्भर करती है। किन्तु दूसरी ओर मुद्रा की माँग लोगो तथा व्यवसायो के नकदी-अधिमान की अवस्था द्वारा निर्धारित होती है। अत. जब भी देश मे किसी समय मुद्रा की कोई एक निश्चित मात्रा चलन मे है, अर्थात् मुद्रा की पूर्ति हमे ज्ञात है, तो तब ब्याज दर क्या होगी यह लोगो तथा व्यवसायो के उस समय के नकदी-अधिमान द्वारा निर्धारित होगी। अब हम इस सिद्धान्त की कुछ विस्तारपूर्वक व्याख्या करेंगे।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, मुद्रा की माँग इसलिए होती है कि मुद्रा ही परिस्थितियो का सबसे अधिक तरल रूप (liquid form) है; अत जिनके पास यह नही होती वे इसका प्रयोग कर सकने के लिए
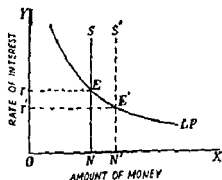
रेखाकृति : 42 6

कुछ कीमत चुकाने के लिए तैयार होते हैं। परन्तु जिन लोगों के पास मुद्रा होती है, वे अपनी मुद्रा उधार पर तभी देंगे जब उन्हें इसके लिए कुछ भुगतान किया जाएगा। अतः ब्याज मानो तरलता के परित्याग करने का पुरस्कार है या यों कहें कि मुद्रा का संचय न करने का पुरस्कार है (*Interest is the reward for parting with liquidity* or, putting it differently, the reward *for not hoarding*) —

ब्याज का यह केन्ज द्वारा प्रस्तुत स्वरूप (nature) जान लेने पर यह समझना कठिन नहीं होगा कि ब्याज की दर इस बात पर निर्भर करती है कि नकदी की पूर्ति की तुलना में नकदी-अधिमान अर्थात् नकदी रखने की इच्छा कितनी प्रबल है। दूसरे शब्दो मे, नकदी-अधिमान जितना अधिक प्रबल होगा, उतना ही ब्याज दर अधिक होगी, और मुद्रा की पूर्ति या मात्रा जितनी अधिक होगी, उतनी ब्याज दर कम होगी। यदि किन्हीं कारणो से मुद्रा-मात्रा कम हो जाये तो ब्याज-दर बढ जायेगी।

रेखाकृति 42 6 को देखने से सारी बात स्पष्ट हो जाती है। मान लीजिये कि मुद्रा-मात्रा ON है और लोगो का नकदी-अधिमान इतना है कि जिसे LP नकदी अधिमान वक्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। तब ब्याज-दर Or होगी, क्योंकि इस ब्याज-दर पर मुद्रा की माँग तथा इसकी पूर्ति एक दूसरे के बराबर हैं। अब यदि नकदी अधिमान तो वही रहे (अर्थात् नकदी अधिमान-वक्र LP ही हो) परन्तु केन्द्रीय बैंक मुद्रा
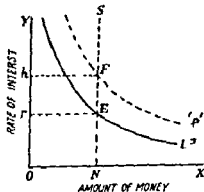
रेखाकृति . 42 7

मात्रा को बढा कर ON' कर दे, तो ब्याज-दर Or' हो जायेगी जो पूर्व ब्याज दर से काफी कम है। अब मान लीजिए कि युद्ध के डर से या व्यवसायो मे निराशा की भावना फैल जाने से लोगो का नकदी-अधिमान बढ जाता है परन्तु मुद्रा-मात्रा पूर्ववत् ON रहती है। नकदी-अधिमान बढने से समूचा नकदी-अधिमान-वक्र ऊपर की ओर सरक जाएगा, अर्थात् हमे एक नया नकदी-अधिमान-वक्र लेना होगा। रेखाकृति 42 7 मे इसे $L'P'$ द्वारा दर्शाया गया है। नकदी अधिमान की इस वृद्धि का ब्याज-दर पर यह परिणाम होगा कि यह (ब्याज-

दर) बढ़ जाएगी . Or की बजाय Oh हो जायेगी। हाँ, यदि नकदी-अधिमान को बढ़ाने के साथ-साथ केन्द्रीय बैंक मुद्रा-मात्रा को भी पर्याप्त मात्रा में बढ़ा दें तो यह सम्भव है कि ब्याज-दर उसी पुराने स्तर (Or) पर ही रहे।

अतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि ब्याज दर भी मुक्त बाजार की अन्य कीमतों की भाँति उस स्तर पर स्थापित हो जाती है जिस पर कि माँग तथा पूर्ति एक दूसरे के साथ सन्तुलन में होती हैं।

केन्ज के इस सिद्धान्त में समझने योग्य एवं महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जब भी कभी नकदी-अधिमान अर्थात् मुद्रा-माँग बढ़ जाए तो इसे दो तरीकों से पूरा किया जा सकता है या तो मुद्रा की कीमत, अर्थात् ब्याज दर, बढ़ जाएगी, या मुद्रा-मात्रा को उसी के अनुसार बढ़ाया जाए। चूँकि मुद्रा-मात्रा को बढ़ाना लोगों के अपने बस की बात नहीं अतः नकदी अधिमान के बढ़ जाने का प्रत्यक्ष (direct) परिणाम यह होगा कि ब्याज-दर बढ़ जाएगी न कि मुद्रा-मात्रा में आवश्यक वृद्धि होगी, अर्थात् जिनके पास नकदी है उनसे नकदी उधार लेने के लिए अब उन्हें पहले से अधिक पुरस्कार देना पड़ेगा। ब्याज-दर के अधिक हो जाने का अर्थ यह है कि अब सचय न करने का जो पुरस्कार देना पड़ता है, वह पहले से अधिक देना पड़ेगा और वे लोग जिन्हें कि पहले से अधिक मात्रा नकदी रख कर ही तसल्ली होती थी, अब उन्हें उतनी तसल्ली इस प्रकार करवा दी जायेगी कि उन्हें नकदी अपने पास न रखने के बदले पहले से अधिक पुरस्कार दे दिया जाए।

मान लीजिए कि नकदी-अधिमान के बढ़ जाने पर ब्याज-दर नहीं बढ़ती परन्तु नकदी-अधिमान के बढ़ने का तो यह अर्थ है कि उस समय जितनी नकदी लोगों के पास वास्तव में होगी, वे अपने पास उससे अधिक नकदी रखना चाहेंगे, अर्थात् माँग पूर्ति से अधिक होगी। माँग के पूर्ति से अधिक हो जाने का यह परिणाम होगा कि ब्याज-दर बढ़ जाएगी और ब्याज दर बढ़ कर उस स्तर पहुंच जाएगी जिस पर लोग इतनी नकदी अपने पास रखना चाहेंगे कि जितनी नकदी वास्तव में उनके पास है। अब इसकी विपरीत स्थिति लें। यदि नकदी-अधिमान के कम हो जाने पर ब्याज-दर कम न हो तो लोगों के पास वास्तव में जितनी नकदी होगी वह उनकी वांछित मुद्रा-मात्रा से अधिक होगी, अर्थात् वास्तविक नकदी का कुछ भाग लोग अपने पास रखना नहीं चाहेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि ब्याज दर गिर जाएगी और उस स्तर पर पहुँच जाएगी जिस पर वे इतनी अधिक नकदी अपने पास रखना चाहेंगे जितनी उनके पास वास्तव में है। इस प्रकार मुद्रा की माँग तथा पूर्ति में फिर से सन्तुलन स्थापित हो जाएगा।

अतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि जब भी कभी मुद्रा की माँग या पूर्ति में परिवर्तन आ जाने से उनमें असमानता आ जाती है तो इसके परिणामस्वरूप ब्याज की दर में ऐसा उतार-चढ़ाव आ जाता है कि मुद्रा की माँग और पूर्ति में फिर सन्तुलन हो जाता है। हम इस बात को यों भी कह सकते हैं कि मुद्रा-माँग के मुद्रा-पूर्ति की तुलना में बढ़ या घट जाने पर ब्याज-दर इतनी बढ़ या घट जाती है कि मुद्रा-माँग और मुद्रा-पूर्ति परस्पर सन्तुलन की स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सन्तुलन ब्याज-दर स्थापित हो जाने का अर्थ यह है कि देश में लोग उस समय की विभिन्न परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपनी कुल परिसम्पत्ति का जितना भाग नकदी के रूप में (अर्थात् ऐसे रूप में जिससे कोई आय नहीं होती) और जितना भाग बाण्डों, शेयरों आदि के रूप में (अर्थात् ऐसे रूप में जिससे ब्याज या लाभांश द्वारा आय होती है) उस प्रचलित ब्याज दर के होते हुए रखना चाहते हैं, वास्तव में भी उतना ही रखते हैं और जब तक परिस्थितियों तथा लोगों की इच्छाओं तथा अभिप्रायों (intentions) में कोई परिवर्तन न आए वही स्थिति बनी रहेगी। हाँ, परिस्थितियों तथा लोगों के अभिप्रायों के बदलने पर सन्तुलन ब्याज-दर बदल जायेगी (At the equilibrium rate of interest, the community will *actually hold* as much cash and *bonds* as it would *wish to hold*. Such an equilibrium position signifies that

the community's choice between non earning liquid cash and earning non liquid assets—e g. stocks and bonds—has no tendency to change Otherwise, the equilibrium market rate of interest would be upset)

सन्तुलन ब्याज-दर की अवस्था को निम्न समीकरण के रूप मे व्यक्त किया जा सकता है —

$$L(r, y) - M = O \quad \ldots(i)$$

इसे इस प्रकार भी लिखा जा सकता है।

$$L(r, y) = M \quad \ldots(ii)$$

इन समीकरणो मे L से हमारा अभिप्राय नकदी की माँग से है। r से ब्याज-दर, y से राष्ट्रीय आय तथा M से मुद्रा की मात्रा जो वास्तव मे लोगो के पास है। $L(r, y)$ का अर्थ यह है कि नकदी की माँग ब्याज-दर (r) तथा आय (y) पर निर्भर करती है (इसे यो पढें L ब्याज की दर तथा आय का फलन है)। समूचे समीकरण का अर्थ यह है कि सन्तुलन अवस्था मे नकदी की माँग $[L(r, y)]$ और नकदी की पूर्ति (M) एक दूसरे के बराबर होगे। जैसा कि हम पहले देख आए है, यदि ये दोनो एक दूसरे के बराबर नही होंगे तो सन्तुलन ब्याज-दर बदल जायेगी।

केन्ज के ब्याज के नकदी अधिमान की आलोचना (Critical Appraisal of Keynes' Liquidity Preference Theory of Interest)

1.—**केन्ज ने ब्याज के निर्धारण मे वास्तविक तत्वों की उपेक्षा की** (Keynes ignored real factors in the determination of the rate of interest)—प्रथम, यह विचार प्रस्तुत किया गया कि ब्याज की दर पूर्णतया मौद्रिक तत्त्व नही है। ब्याज दर के निर्धारण मे पूंजी की उत्पादकता और बचत की भावना जैसी वास्तविक शक्तियाँ भी महत्वपूर्ण भाग लेती हैं। केन्ज महोदय ने ब्याज दर को निवेश माँग से स्वतन्त्र बताया है। वस्तुत यह स्वतन्त्र नही है। व्यवसायियो की नकदी की राशिया अधिकांशत पूंजी निवेश के लिए माँग द्वारा निर्धारित होती है। पूंजी-निवेश के लिए माँग पूंजी की सीमान्त आय उत्पादकता (marginal revenue productivity of capital) पर निर्भर करती है। अतएव ब्याज दर पूंजी की सीमात आय उत्पादकता तथा निवेश माँग से स्वतन्त्र रूप से निर्धारित नही होती। जब लाभ की आशाएँ बढने के कारण निवेश माँग मे वृद्धि होती है अथवा, अन्य शब्दो मे, जब पूंजी की सीमान्त आय उत्पादकता बढ जाती है तो निवेश के लिए मुद्रा की माँग मे वृद्धि हो जाएगी जिसके परिणामस्वरूप ब्याज दर बढ जाएगी। परन्तु केन्ज का सिद्धान्त इसकी उपेक्षा करता है। इसी प्रकार केन्ज ने ब्याज दर पर बचतो की पूर्ति के प्रभाव की भी उपेक्षा की। उदाहरणार्थ यदि लोगो की उपभोग प्रवृत्ति (propensity to consume) बढ जाती है तो बचतें घट जाएँगी। फलस्वरूप मार्किट मे मुद्रा की पूर्ति घट जाएगी जिससे ब्याज दर मे वृद्धि होगी।

2—**केन्ज के सिद्धान्त मे भी ब्याज दर निश्चित रूप से निर्धारित नहीं होती** (Keynes' Theory is also Indeterminate)—केन्ज के सिद्धान्त पर यह भी आलोचना की गई है जो केन्ज ने स्वय प्रतिष्ठित तथा ऋण योग्य राशियो के सिद्धान्त पर की थी। यह बताया गया है कि प्रतिष्ठित और ऋण-योग्य राशियो के सिद्धान्तो की तरह केन्ज के सिद्धान्त मे भी ब्याज दर निश्चित रूप से निर्धारित नही होती। केन्ज के अनुसार ब्याज दर मुद्रा के लिए सट्टा माग (speculative motive) तथा उसको सन्तुष्ट करने के लिए मुद्रा की पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। किन्तु कुल मुद्रा पूर्ति दी हुई होने पर हम यह नही जान सकते कि मुद्रा के लिए सट्टा माँग कितनी होगी यदि हमे पहले मुद्रा के लिए क्रय विक्रय की माग (transactions demand for money) मालूम न हो। चूंकि आय का स्तर मालूम न हो तो हमे मुद्रा के लिए क्रय विक्रय की माग भी ज्ञात नही हो सकती इसलिए प्रतिष्ठित सिद्धान्त की तरह केन्ज के सिद्धान्त मे भी ब्याज दर निश्चित रूप से निर्धारित नही होती। विख्यात अमेरिकी अर्थशास्त्री प्रोफेसर हैन्सन (Hansen) ने लिखा

है, "केन्ज के सिद्धान्त मे मुद्रा की माँग तथा पूर्ति की अनुसूचियों से ब्याज की दर निर्धारित नहीं हो सकती यदि हमें पहले आय का स्तर मालूम न हो। प्रतिष्ठित सिद्धान्त में बचत के लिए माँग और पूर्ति की अनुसूचियों से भी समस्या का समाधान नहीं होता यदि आय ज्ञात न हो। यही बात ऋण-योग्य राशियों के सिद्धान्त के लिए भी ठीक है। केन्ज द्वारा प्रतिष्ठित और ऋण-योग्य राशियों के सिद्धान्त पर की गई आलोचना उसके अपने सिद्धान्त पर भी लागू होती है।" (In the Keynesian case the supply and demand for money schedules cannot give the rate of interest unless we already know the income level, in the classical case the demand and supply schedules for savings offer no solution until the income is known Precisely the same is true of loanable funds theory Keynes's criticism of the classical and loanable funds theories applies equally to his own theory) [1]

बचतों के बिना तरलता सम्भव नहीं (No Liquidity Without Savings)—केन्ज के अनुसार ब्याज तरलता अथवा नकदी त्यागने का पुरस्कार है और यह बचत-प्रेरणा अथवा प्रतीक्षा करने का पुरस्कार नहीं है। परन्तु प्रश्न यह है कि बचत के बिना तरल अथवा नकदी के रूप में रखने के लिए मुद्रा राशियाँ कहाँ से उपलब्ध होंगी और नकदी अथवा तरलता त्यागने का प्रश्न ही नहीं उठता यदि पहले से मुद्रा बचाई न गई हो। जैकब वाइनर उचित ही कहते हैं—"**बचत के बिना नकदी त्यागने का प्रश्न ही नहीं होता**" (Without savings there can be no liquidity to surrender) इस प्रकार ब्याज की दर का बचत से घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसकी ब्याज दर के निर्धारण में केन्ज ने उपेक्षा की है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि केन्ज का ब्याज सिद्धान्त भी त्रुटियों से रहित नहीं है। परन्तु केन्ज द्वारा नकदी अधिमान पर ब्याज दर के निर्धारक के रूप में दिया गया महत्त्व ठीक है। वास्तव में, ऋण-योग्य राशियों के सिद्धान्त के प्रस्तुतकर्त्ताओं ने भी अपने सिद्धान्त में सचय तथा असचय पर अधिक बल देकर नकदी अधिमान को अपने सिद्धान्त में सम्मिलित किया। हम प्रोफेसर हैमबर्ग (Hamberg) से सहमत हैं जिन्होंने कहा है कि 'केन्ज ने कोई नए सिद्धान्त का निर्माण नहीं किया जैसा कि उसने और उसके अनुयायियों ने सोचा। वास्तव में उसके द्वारा सचय का ब्याज दर पर प्रभाव को महत्त्व देना ब्याज के सिद्धान्त में एक मूल्यवान योगदान था जिसको कि ऋण-योग्य राशियों के सिद्धान्तकर्त्ताओं ने अपने सिद्धान्त में सम्मिलित किया जिससे यह अधिक पूर्ण बन जाए।"[2]

हिक्स और हैनसन द्वारा प्रतिष्ठित तथा केन्ज के ब्याज सिद्धान्त का समन्वय
(Hicks Hansen Synthesis of Classical and Keynes's Theories of Interest)

हमने ऊपर बताया कि ऋण-योग्य राशियों का सिद्धान्त (Loanable Funds Theory) प्रतिष्ठित तथा केन्ज के ब्याज सिद्धान्तों में समन्वय (synthesis) है और इसमें केन्ज द्वारा वर्णित नकदी-अधिमान के तत्त्व को सम्मिलित कर लिया गया है। किन्तु कुछ अर्थशास्त्री जैसे कि जे० आर० हिक्स (J R Hicks) और ए० एच० हैन्सन (A H Hansen) इससे सतुष्ट नहीं हैं। उनके अनुसार ऋण-योग्य राशियों का सिद्धान्त ब्याज निर्धारण का निश्चित समाधान (determinate solution) प्रस्तुत नहीं करता। उनके अनुसार न ही केन्ज का नकदी (तरलता) अधिमान सिद्धान्त ब्याज का पूर्ण एवं निश्चित समाधान (adequate and determinate solution) है। अतएव उन्होंने अपने तरीके से प्रतिष्ठित और केन्ज के ब्याज सिद्धान्तों में समन्वय किया है। वे केन्ज के नकदी अधिमान सिद्धान्त की सहायता से एक वक्र जिसे *LM* वक्र की सज्ञा दी गई है, व्युत्पादित करते हैं और प्रतिष्ठित सिद्धान्त से एक वक्र जिसे *IS* वक्र कहा गया है, निकालते हैं। और फिर इन दो वक्रों *LM*

1 A H Hansen, *Guide to Keynes*, p. 141

2 D Hamberg, *Business Cycles*, p 183.

और *IS* की परस्पर क्रिया द्वारा ब्याज दर के निर्धारण की व्याख्या करते हैं। हिक्स और हैनसन द्वारा ये *LM* और *IS* के वक्र किस प्रकार व्युत्पादित किए जाते हैं, इसका विश्लेषण हम नीचे प्रस्तुत करते हैं।

अब हमे देखना है कि केन्ज का नकदी अधिमान सिद्धान्त ब्याज दर निर्धारित करने मे हमारी कहाँ तक सहायता कर सकता है। यदि हम अर्थव्यवस्था की आय के भिन्न स्तरो के अनुरूप भिन्न-भिन्न नकदी अधिमान-वक्र बनाएँ और फिर मुद्रा की पूर्ति जो कि देश के मुद्रा-अधिकारियो द्वारा उस समय निश्चित की गई हो, उसका भी वक्र खीचें, तो यह मुद्रा पूर्ति का वक्र नकदी अधिमान के विभिन्न वक्रो को जिस-जिस बिन्दु पर काटेगा, उनसे हमे मालूम होगा कि विभिन्न आय-स्तरो पर तथा उनके अनुरूप मान ली गई नकदी-अधिमान अवस्थाओ पर ब्याज-दर कितनी-कितनी होगी। इससे हमे *LM* वक्र प्राप्त होगा। केन्ज के *नकदी-अधिमान सिद्धान्त से तो हम केवल यही कुछ जान सकते हैं, हम यह नही जान सकते कि किसी* विशेष समय मे नकदी अधिमान अनुसूची तथा मुद्रा-पूर्ति की परस्पर क्रिया द्वारा निर्धारित इन विभिन्न सन्तुलन ब्याज-दरो मे से कौन सी ब्याज दर (तथा आय-स्तर) प्रचलित होगी।[1]

निश्चित ब्याज दर का पता लगाने के लिए हमे प्रतिष्ठित सिद्धान्त का भी उपयोग करना होगा और *यह देखना पडेगा कि उस समय की* प्रचलित निवेश-माँग अनुसूची के होते हुए तथा विभिन्न आय-स्तरो पर लोगो की जो विभिन्न बचत प्रवृत्तियाँ (अर्थात् उनके अनुसार बचत अनुसूचियाँ) होगी, उनकी (निवेश-माँग अनुसूची तथा विभिन्न बचत अनुसूचियो की) परस्पर-क्रिया द्वारा विभिन्न सन्तुलन ब्याज दरें कितनी-कितनी होगी। ("The Loanable Funds or the Neo-Classical theory gives us a set of loanable funds or savings schedules (including also bank credit, dishoarding and *disinvestment*) at various income levels These together with the *investment demand* schedule give us a curve which can tell us what the various levels of income will be (given the investment demand schedule and a set of loanable fund schedules) at *different rates of interest* But this curve does not tell us what the rate of interest will be")[2]

रेखाकृति 42 8 a और b मे *यह दर्शाया गया है* कि केन्ज के नकदी (तरलता) अधिमान सिद्धान्त से *LM* वक्र किस प्रकार प्राप्त किया जाता है। यह *LM* वक्र हमे यह बताता है कि मुद्रा की मात्रा तथा विभिन्न आय स्तरो पर विभिन्न नकदी अधिमान वक्र दिये हुए होने पर, *विभिन्न आय स्तरो पर ब्याज की दरें क्या होगी*। रेखाकृति 42 8 (a) से स्पष्ट है कि जैसे आय बढती है, नकदी अधिमान वक्र *LP* ऊपर को विवर्तित होता जाएगा जिससे मुद्रा की पूर्ति *ON* पर स्थिर रहने पर ब्याज की दर बढती जाएगी। रेखाकृति 42 8 (a) से स्पष्ट है कि विभिन्न आय के स्तरो, Y_1, Y_2, Y_3, Y_4 और Y_5 पर नकदी अधिमान वक्र क्रमश LP_1 LP_2, LP_3, LP_4 और LP_5 हैं और उनके अनुसार ब्याज की दरें क्रमश r_1, r_2, r_3 r_4 और r_5 है। रेखाकृति 42 8 (a) से प्राप्त जानकारी से रेखाकृति 42 8 (b) मे स्पष्ट एव प्रत्यक्ष रूप से विभिन्न आय के स्तरो पर विभिन्न ब्याज दरो को दिखाया है जिससे हमे *LM* वक्र प्राप्त होता है। *LM* वक्र से हमे निश्चित रूप से ब्याज दर मालूम नही होती, यदि हमे पहले आय स्तर का पता न हो।

1 "The Keynesian theory gives us a set of liquidity preference schedules at various income levels These, together with the supply of money fixed by the monetary authority, give us a curve that tells us what the various rates of interest will be (given the quantity of money and the set of liquidity preference curves) at different levels of income But the liquidity schedules alone cannot tell us *what* the rate of interest will be" A H Hansen, *Guide to Keynes*, p 143

2 A. H Hansen, *op cit*, p 143

तरलता अधिमान जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण आर्थिक चरो (variables) मे परिवर्तनो के ब्याज दर पर प्रभाव की व्याख्या करने मे अपेक्षाकृत अधिक समर्थ है।

मुद्रा की पूर्ति मे परिवर्तन (Changes in the Supply of Money)—आइए, सर्वप्रथम ध्यान दें कि क्या घटित होगा यदि केन्द्रीय बैंक की क्रिया द्वारा मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि कर दी जाती है। तरलता अधिमान अनुसूची के दिये होने पर मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होने पर आय के प्रत्येक स्तर पर अपेक्षाकृत अधिक मुद्रा सट्टे के उद्देश्य से रखी जायगी और ब्याज दर को कम होना पड़ेगा। इसके परिणामस्वरूप LM वक्र दाहिनी ओर सरक जायगा। LM वक्र मे दाहिनी ओर
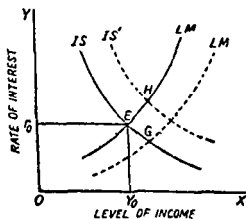
रेखाकृति 42 11

इस सरकने से नवीन सन्तुलन अवस्था मे पहले की अपेक्षा ब्याज दर कम तथा आय का स्तर अधिक होगा। यह रेखाकृति 42 11 मे प्रदर्शित है जहाँ मुद्रा की दी हुई पूर्ति के साथ LM तथा IS वक्र E बिंदु पर प्रतिच्छेद करते हैं। मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि से LM से बिंदु रेखांकित दशा LM' को सरक जाता है तथा IS अनुसूची के यथावत् रहने पर नवीन सन्तुलन G बिंदु पर होगा तथा तत्सवादी ब्याज दर E की अपेक्षा कम तथा आय स्तर अपेक्षाकृत अधिक होगा। अब कल्पना कीजिए कि मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि करने के बजाय देश का केन्द्रीय बैंक मुद्रा की पूर्ति को कम करने के कदम उठाता है। मुद्रा की पूर्ति मे कमी से आय के प्रत्येक स्तर पर सट्टे के उद्देश्य से कम मुद्रा उपलब्ध होगी और इसके परिणामस्वरूप LM वक्र E के बायीं ओर सरक जायगा और IS वक्र के अपरिवर्तित रहने पर नवीन सन्तुलन अवस्था मे (रेखाकृति 42 11 म प्रदर्शित नही है) पहले की अपेक्षा ब्याज दर ऊँची तथा आय का स्तर कम होगा।

बचत करने की इच्छा या उपभोग प्रवृत्ति में परिवर्तन (Changes in the Desire to Save or Propensity to Consume)—आइए ध्यान दें कि ब्याज दर को क्या घटित होता है जब बचत करने की इच्छा या अन्य शब्दो मे उपभोग प्रवृत्ति परिवर्तित होती है। जब लोगो की बचत करने की इच्छा कम होती है अर्थात् जब उपभोग प्रवृत्ति बढ़ती है तो ब्याज दर पर आय का स्तर बढ़ेगा। इसके परिणामस्वरूप IS वक्र दाहिनी ओर खिसक जायगा। रेखाकृति 42 11 मे कल्पना कीजिए कि बचत करने की इच्छा मे दी हुई निश्चित कमी (या उपभोग प्रवृत्ति मे वृद्धि) से IS वक्र दाहिनी ओर IS' की दशा को सरक जाता है। LM वक्र अपरिवर्तित रहने पर नवीन सन्तुलन दशा H पर स्थापित होगी तथा तत्सवादी ब्याज दर तथा आय का स्तर E की अपेक्षा अधिक होगा। इस प्रकार बचत करने की इच्छा मे कमी ब्याज दर तथा आय के स्तर दोनो मे कमी कर देती है। दूसरी ओर, यदि बचत करने की इच्छा बढ जाती है अर्थात् यदि उपभोग प्रवृत्ति कम हो जाती है तो प्रत्येक ब्याज दर पर राष्ट्रीय आय का स्तर कम होगा और इसके परिणामस्वरूप IS वक्र बायीं ओर सरक जायगा। इससे तथा LM वक्र के अपरिवर्तित रहने पर नवीन सन्तुलन दशा (रेखाकृति 42 11 मे प्रदर्शित नही) E के बायीं ओर स्थापित होगी। तत्सवादी ब्याज दर तथा राष्ट्रीय आय का स्तर E की अपेक्षा कम होगा।

निवेश तथा सरकारी व्यय मे परिवर्तन (Changes in Investment and Government Expenditure)—निवेश तथा सरकारी व्यय में परिवर्तन भी IS वक्र को सरकायेंगे। यदि या तो निजी निवेश बढ़ता है या सरकार अपने व्यय को तीव्रतर करती है,

तो इसके कारण राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी। यह *IS* अनुसूची को दाहिनी ओर सरका देगी तथा *LM* वक्र दिये हुए होने पर ब्याज दर तथा आय का स्तर बढ़ेगा। इसके विपरीत, यदि किसी कारण निजी निवेश कम होता है या सरकार अपना व्यय कम करती है तो आय का स्तर गिरेगा। इससे *IS* वक्र बायीं ओर सरक जायगा तथा *LM* वक्र के दिये होने पर ब्याज दर कम होगी।

तरलता अधिमान मे परिवर्तन (Changes in Liquidity Prefenence)—तरलता अधिमान मे परिवर्तन *LM* वक्र मे परिवर्तन उत्पन्न करेंगे। यदि लोगो का तरलता अधिमान बढ़ता है, तो *LM* वक्र बायीं ओर सरक जायेगा। यही कारण है कि मुद्रा की पूर्ति दी हुई होने पर अपेक्षाकृत ऊँचा तरलता अधिमान राष्ट्रीय आय के प्रत्येक स्तर पर ब्याज को बढ़ा देगा। *LM* वक्र मे बायीं ओर सरकने से, *IS* वक्र के दिये होने पर, सन्तुलन ब्याज दर मे वृद्धि होगी तथा राष्ट्रीय आय के स्तर मे कमी होगी।

इसके विपरीत, यदि लोगो का तरलता अधिमान गिरता है, *LM* वक्र दाहिनी ओर सरक जायगा। यही कारण है कि मुद्रा की पूर्ति दी होने पर तरलता अधिमान वक्र मे नीचे की ओर सरकने का अर्थ होता है कि आय के प्रत्येक स्तर पर ब्याज दर अपेक्षाकृत कम होगा। *LM* वक्र मे दाहिनी ओर सरकने से, *IS* वक्र दिया हुआ होने पर ब्याज दर का सतुलन स्तर कम होगा तथा राष्ट्रीय आय के सन्तुलन स्तर मे वृद्धि होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बचत करने की इच्छा (या उपभोग प्रवृत्ति) निवेश या सरकारी व्यय, मुद्रा की पूर्ति तथा तरलता अधिमान मे परिवर्तन *IS* या *LM* वक्रो मे विवर्तन (shifts) उत्पन्न करेंगे और उसके द्वारा ब्याज दर तथा राष्ट्रीय आय मे परिवर्तन उत्पन्न करेंगे। प्रतिष्ठित तथा केन्सीय ब्याज के सिद्धान्तों का हिक्स हैन्सन एकीकरण स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है कि सरकार मौद्रिक अथवा राजकोषीय उपायों के माध्यम से राष्ट्रीय आय के स्तर अथवा आर्थिक क्रिया को प्रभावित कर सकती है। एक उचित मौद्रिक नीति (मुद्रा की पूर्ति मे परिवर्तन करना) के माध्यम से सरकार *LM* वक्र को सरका सकती है तथा एक उचित राजकोषीय नीति (व्यय तथा करारोपण नीति) अपना कर सरकार *IS* वक्र को सरका सकती है। इस प्रकार मौद्रिक तथा राजकोषीय नीति दोनो देश मे आर्थिक क्रिया की दर को नियन्त्रित करने मे लाभप्रद भूमिका निभा सकती हैं।

हिक्स हैन्सन सश्लेषण या समन्वय की आलोचनाएँ (Criticisms of Hicks-Hansen Synthesis)

प्रतिष्ठित तथा केन्सीय ब्याज के सिद्धान्तों का हिक्स-हैन्सन समन्वय ब्याज दर निर्धारण की व्याख्या करने मे महत्त्वपूर्ण प्रगति करता है। यह ब्याज दर निर्धारण के अधिक सामान्य, समावेशी तथा वास्तविक दृष्टिकोण को प्रदर्शित करता है। इसके अतिरिक्त, हिक्स-हैन्सन एकीकरण राजकोषीय नीति को मौद्रिक नीति से तथा आय निर्धारण के सिद्धान्त को मुद्रा के सिद्धान्त से समन्वय करने मे सफल होता है। परन्तु ब्याज सिद्धान्तो का हिक्स-हैन्सन समन्वय परिसीमाओ (limitations) से रहित नही है। प्रथम, यह इस मान्यता पर आधारित है कि ब्याज दर बिल्कुल लचीली अर्थात परिवर्तन के लिए स्वतन्त्र है तथा केन्द्रीय बैंक द्वारा दृढ़तापूर्वक स्थिर नही। यदि ब्याज दर बिल्कुल अलोचपूर्ण (inflexible) है तो उपर्युक्त व्याख्या किये गये उचित समायोजन नही होंगे। द्वितीय, समन्वय इस मान्यता पर भी आधारित है कि निवेश ब्याज-सापेक्ष (interest elastic) है अर्थात् निवेश ब्याज दर के साथ परिवर्तित होता है। यदि निवेश ब्याज सापेक्ष है, जैसा कि पर्याप्त अनुभवाश्रित प्रमाणो से सुझाव दिया गया है, तो हिक्स हैन्सन समन्वय भी नष्ट हो जाता है क्योंकि अपेक्षित समायोजन घटित नही होते हैं। तृतीय, डॉन पेटिनकिन तथा मिल्टन फ्रीडमैन (Milton Friedman) ने हिक्स-हैन्सन समन्वय की अत्यधिक कृत्रिम तथा अति-सरलीकृत (over-simplified) रूप मे आलोचना की है। उनकी राय मे, अर्थव्यवस्था का दो क्षेत्रो—मौद्रिक तथा वास्तविक मे

विभाजन कृत्रिम तथा अवास्तविक है। उनके अनुसार मौद्रिक तथा वास्तविक क्षेत्र एक दूसरे से बिल्कुल गुँथे हुए हैं तथा एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। इसके अतिरिक्त पेटिनकिन ने संकेत दिया है कि हिक्स-हैन्सन समन्वय ने वस्तुओं के कीमत स्तर में परिवर्तन की सम्भावना की उपेक्षा की है। उनके अनुसार विभिन्न आर्थिक चर जैसे—मुद्रा की पूर्ति, उपभोग की बचत प्रवृत्ति, निवेश तथा तरलता अधिमान न केवल ब्याज-दर तथा आय के स्तर को ही प्रभावित करते हैं वरन् वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतों को भी प्रभावित करते हैं। उन्होंने एक अधिक एकीकृत तथा सामान्य सन्तुलन दृष्टिकोण का सुझाव दिया है जिसमें न केवल ब्याज-दर तथा आय के स्तर का एक साथ निर्धारण सम्मिलित है वरन् वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें भी सम्मिलित हैं। हम यहाँ पेटिनकिन के विचारों की विवेचना नहीं करेंगे क्योंकि वह हमें समष्टिपरक अर्थशास्त्र के विस्तार में ले जायगा।

43

लाभ का सिद्धान्त
(THEORY OF PROFITS)

भूमि का किराया, श्रम की मजदूरी तथा पूंजी पर ब्याज के निर्धारण की विवेचना करने के पश्चात् अब हम लाभ का अध्ययन करेंगे जो कि उद्यम का पारितोषिक है। निस्सन्देह लाभ का सम्बन्ध उद्यम तथा उसके कार्यों से है, परन्तु भिन्न-भिन्न समय पर अर्थशास्त्रियों ने लाभ की प्रकृति, उसकी उत्पत्ति और महत्त्व के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किए हैं। अभी तक भी अर्थशास्त्रियों में लाभ की प्रकृति एवं उसकी उत्पत्ति के विषय में पूर्ण सहमति नहीं है। वास्तव में, समस्त आर्थिक सिद्धान्त में शायद कोई ऐसा विषय नहीं है जो कि इतना जटिल और अस्पष्टता का हो जितना कि लाभ का सिद्धांत है। लाभ के सिद्धान्त के विषय में अस्पष्टता का कारण विभिन्न अर्थशास्त्रियों में उद्यमकर्त्ता के वास्तविक अथवा सही कार्य के विषय में मतभेद है। कई अर्थशास्त्रियों का विचार है कि उद्यमकर्ता का कार्य उत्पादन के अन्य साधनों को संगठित करना है तथा उनमें समन्वय करना है। उनके अनुसार उद्यमकर्त्ता यही कार्य करने के बदले में ही लाभ अर्जित करता है। इस विचारधारा के अनुसार उद्यम एक विशेष प्रकार का श्रम ही है और लाभ विशेष प्रकार की मजदूरी ही है। अन्य अर्थशास्त्रियों के अनुसार उद्यमकर्त्ता का कार्य उत्तरदायित्व अर्थात् अन्तिम जोखिम को वहन करना और व्यवसाय पर नियन्त्रण करना अर्थात् नीति निर्धारण करना है। उनके अनुसार उद्यमकर्त्ता को इसलिए लाभ प्राप्त होते हैं क्योंकि वह अपनी कीमत और उत्पादन नीतियों में निहित जोखिम को उठाता है। एक और प्रसिद्ध अर्थशास्त्री शुम्पीटर (Schumpeter) ने उद्यमकर्ता का कार्य नवप्रवर्तन (innovations) लाना बतलाया है और इस नवप्रवर्तन को करने का ही पारिश्रमिक (reward) लाभ है। अन्तत: एक और प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एफ० एच० नाईट (F. H Knight) ने अर्थव्यवस्था में निहित अनिश्चितता पर बल दिया है और कहा है कि इस अनिश्चितता के कारण ही लाभ* उत्पन्न होते हैं और इस अनिश्चितता को वहन करना ही उद्यमकर्ता का वास्तविक कार्य है।

इसके अतिरिक्त, कुछ अर्थशास्त्री लाभ को गैर-कार्यात्मक आय (non-functional income) मानते हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जे० एम० केन्ज ने यह विचार प्रस्तुत किया कि लाभ सामान्य कीमत स्तर में अनुकूल परिवर्तन के कारण उत्पन्न होते हैं। श्रीमती जोन रॉबिन्सन, प्रोफेसर चैम्बरलिन और कलेस्की (Kal-

ecki) लाभ को अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकार के कारण उत्पन्न होना मानते हैं। उनके अनुसार अपूर्णता की मात्रा (degree of imperfection) जितनी ही अधिक होगी अर्थात् एक व्यवस्था मे एकाधिकारी शक्ति (monopoly power) जितनी अधिक होगी उद्यमकर्त्ता को उतने ही अधिक लाभ प्राप्त होंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि लाभ का सम्बन्ध एफ० एच० नाईट के अनुसार अनिश्चितता से है। शुम्पीटर के अनुसार नवप्रवर्तन से है। हाले के अनुसार जोखिम वहन करने से है और श्रीमती जोन रॉबिन्सन, प्रो० चैम्बरलिन और कलेस्की के अनुसार एकाधिकारी शक्ति से है। वास्तव मे लाभ इन सभी स्रोतों (sources) से उत्पन्न होते हैं। इसलिए लाभ की कोई एक व्याख्या पर्याप्त नही है क्योंकि प्रत्येक विचारधारा किसी न किसी महत्वपूर्ण आर्थिक तत्त्व की उपेक्षा करती है जिसका लाभ के साथ सम्बन्ध होता है। प्रो० बी० एस० कीरस्टेड (B S Keirstead) यह मत प्रकट करते हैं कि लाभ एकाधिकार, सफल नवप्रवर्तन और निश्चित भविष्य का ठीक पूर्व-अनुमान लगाने के कारण उत्पन्न होते हैं। अत उसके अनुसार लाभ एकाधिकार अथवा क्रय-अधिकार के फलस्वरूप उत्पन्न हो सकते हैं। नवप्रवर्तन (innovations) करने के पारिश्रमिक के कारण तथा किसी विशेष उद्योग अथवा सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे अनिश्चित भविष्य के ठीक पूर्व-अनुमान लगाने के कारण उत्पन्न हो सकते हैं (Profits may come to exist as a result of monopoly or monopsony, as a reward for innovation, as a reward for the correct estimate of uncertain future, either particular to the industry or general to the whole economy")[1]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि लाभ एक अवशिष्ट आय (residual income) हैं जो कि उत्पादन के अन्य साधनों को पहले से संविदा (contract) द्वारा निश्चित कीमतें चुकाने के बाद बचे रहते हैं। उद्यमकर्त्ता जब अन्य साधनों को काम पर लगाता है तो उनके साथ उनकी मजदूरी आदि के बारे मे संविदा करता है। इस प्रकार वह श्रमिकों को मजदूरी देता है, भूमि पर लगान देता है और संविदा द्वारा पहले से निश्चित ऋणों पर ब्याज अदा करता है। वास्तव मे उद्यमकर्त्ता अपने उत्पादन की बिक्री से बहुत पहले इन साधनों को उनकी कीमतें प्रदान करता है। साधनों के संविदा द्वारा निश्चित आय (contractual incomes) का भुगतान कर चुकने के बाद जो शेष बच रहता है वह उद्यमकर्त्ता को लाभ के रूप मे प्राप्त होता है। अत लाभ गैर-संविदा आय (non-contractual income) है और इसलिए वे धनात्मक (positive) भी हो सकते है और ऋणात्मक (negative) भी। जबकि अन्य साधनों की संविदा द्वारा निश्चित आय जैसे कि मजदूरी, ब्याज और लगान सदा ही धनात्मक होते है। यह उल्लेखनीय है कि उद्यमकर्त्ता के शुद्ध लाभ (pure profits) वे हैं जो उसकी कुल आय से उसके द्वारा भूमि, पूँजी आदि स्वय लगाने की कीमतें (किराया और ब्याज) निकाल लेने के बाद प्राप्त किए जाते है। उसके शुद्ध लाभ प्राप्त करने के लिए उसके द्वारा प्रबन्ध करने की मजदूरी भी निकाल ली जाती है।

लाभ एक गत्यात्मक आधिक्य है
(Profits as a Dynamic Surplus)

लाभ के विषय मे एक लोकप्रिय धारणा यह है कि वे एक गत्यात्मक अर्थव्यवस्था अर्थात् ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमे लगातार परिवर्तन हो रहे हों, उत्पन्न होते हैं। एक स्थिर अथवा गतिहीन अर्थव्यवस्था (a static economy) मे जहाँ कोई परिवर्तन नही होते, लाभ उत्पन्न नही हो सकते। यह जे० बी० क्लार्क (J. B Clark) एक अमेरिकन अर्थशास्त्री थे जिन्होने सर्व प्रथम यह विचार प्रस्तुत किया कि लाभ एक गत्यात्मक आधिक्य (Dynamic Surplus) है। उनका यह तर्क था कि एक स्थिर और गतिहीन अर्थव्यवस्था मे जहाँ माँग और पूर्ति की दशाओं मे कोई परिवर्तन नही हो रह होते सीमान्त उत्पादकता के आधार पर साधनों को दी गई कीमतें, उत्पादन के कुल मूल्य को समाप्त कर देंगी और इसलिए उद्यमकर्त्ता को कोई लाभ प्राप्त नही

1 B S Keirstead, *Capital, Interest and Profits* (1959), p 6

होगे । लाम तब उत्पन्न होते हैं जब वस्तुमो की विक्रय कीमते उनकी उत्पादन लागत से अधिक होती हैं । पूर्ण प्रतियोगिता मे दीर्घकालीन सन्तुलन की अवस्था म कीमत औसत लागत जिसमे कि सामान्य लाम भी मम्मिलित होते है के बराबर होती है । इसलिए ऐसी अवस्था मे उद्यमकर्त्ता को कोई शुद्ध लाम प्राप्त नही होते । अत यदि मांग और पूर्ति की दशाम्रो मे कोई परिवर्तन नही होते तो सम्पूर्ण प्रतियोगी सतुलन बना रहेगा और उद्यमकर्त्ता कोई लाम अर्जित नही करेगा। इसके विपरीत, यदि मांग अथवा पूर्ति मे परिवर्तनो के कारण वस्तु की कीमत उत्पादन लागत से अधिक होती है तो लाम उत्पन्न हो जाएंगे । यदि इन परिवर्तनो के कारण वस्तु की कीमत उत्पादन लागत से कम हो जाती है तो उद्यमकर्त्ता को ऋणात्मक लाम अर्थात् हानि उठानी पडेगी । स्पष्ट है कि मांग अथवा पूर्ति म परिवर्तन असन्तुलन की अवस्था पैदा कर देते हैं जिससे लाम उत्पन्न हो जाते है । दूसरे शब्दो मे, लाम मांग और पूर्ति की दशाम्रो मे परिवर्तन द्वारा असन्तुलन (dis-equilibrium) उत्पन्न हो जाने के कारण अर्जित किये जाते है । प्रो० स्टिगलर उचित ही कहते हैं, "एक प्रतियोगी उद्योग मे फर्मों को असन्तुलन की अवस्था के कारण लाम प्राप्त हो सकते है—यह लाम तब भी उत्पन्न हो सकते है यदि समस्त उद्यमकर्त्ता एक समान हो क्योंकि असन्तुलन उद्योग व्यापक हो सकता है । यदि प्रत्याशित स्तरों (expected levels) से कीमतें अधिक हैं अथवा लागते कम है तो उद्यमकर्त्ताओ को अपने ससाधनो की वैकल्पिक कीमतो से अधिक आयें प्राप्त होगी । यदि प्रत्याशित स्तरो से कीमतें अथवा लागतें अधिक है तो उद्यमकर्त्ताम्रो को अपने ससाधनो की वैकल्पिक कीमतो से कम आय प्राप्त होगी अर्थात् उन्हें ऋणात्मक लाम (negative profits) मिलेंगे । धनात्मक लाम काफी समय तक अर्जित किये जा सकते है यदि उद्योग के बाहर की फर्में उद्योग मे प्रवेश करने मे देरी लगाएँ और ऋणात्मक लाभ तब तक हो सकते हैं जब तक उस उद्योग मे नियुक्त मशीनी पूंजी से आय उसके किसी अन्य प्रयोग से अधिक होती रहती है ।"[1]

यह ध्यान से समझ लेना चाहिए कि असन्तुलन के कारण लाम मांग और लागत की दशाम्रो मे अप्रत्याशित परिवर्तनों (unexpected changes) के कारण उत्पन्न होते हैं । यदि परिवर्तनों का पहले से पूर्व-अनुमान लगाया जा सकता तो उन प्रत्याशित परिवर्तनो के अनुसार समुचित कार्यवाही की जा सकती जिससे प्रतियोगी शक्तियां लाम को बिल्कुल समाप्त कर देती ।

अब प्रश्न यह है कि अर्थव्यवस्था मे कौन से परिवर्तन होते हैं जिनके कारण लाम उत्पन्न हो जाते हैं । क्लार्क ने ऐसे पांच परिवर्तनो का उल्लेख किया जो कि एक गत्यात्मक अर्थव्यवस्था मे होते हैं और जिनके कारण लाम उत्पन्न हो जाते हैं । ये पांच परिवर्तन हैं —मानवीय आवश्यकताम्रो की मात्रा और क्वालिटी मे परिवर्तन, उत्पादन की तकनीक मे परिवर्तन, पूंजी की मात्रा मे परिवर्तन और व्यावसायिक सगठन के स्वरूप मे परिवर्तन । ये परिवर्तन अर्थव्यवस्था मे लगातार होते रहते हैं और उनके कारण कीमत और लागत मे अन्तर पैदा हो जाता है और उद्यमकर्त्ताम्रों के लाम धनात्मक अथवा ऋणात्मक होते हैं । यदि वस्तु की मांग जनसख्या मे वृद्धि अथवा लोगो की आयो मे वृद्धि अथवा वस्तु के लिए उपमोक्ताम्रो की रुचि मे वृद्धि के कारण बढ जाती है तो इससे उस वस्तु की कीमत बढ़ जाएगी और यदि लागत स्थिर रहती है तो उस वस्तु के उत्पादको को लाम प्राप्त होगे। इसके विपरीत, यदि उत्पादन की नई तकनीको का प्रयोग करने के फलस्वरूप अथवा कच्चे माल की कीमतें सस्ती हो जाने के कारण उत्पादन की लागत घट जाती है और यदि वस्तु की कीमत स्थिर रहती है अथवा इतनी नही गिरती तो ऐसी अवस्था में भी उद्यमकर्त्ताम्रो को लाम प्राप्त होगे । क्लार्क द्वारा वर्णित उपर्युक्त पांच परिवर्तनो के अलावा कई अन्य परिवर्तन भी हैं जो अर्थव्यवस्था मे होते रहते हैं । वे सभी परिवर्तन जो एक गत्यात्मक अर्थव्यवस्था मे होते हैं और जिनके कारण लाम उत्पन्न होते हैं, दो प्रकार के हैं :—(1) नवप्रवर्तन (innovations) और (2) बाह्य परिवर्तन (exogenous changes) । नवप्रवर्तन उन परिवर्तनो का व्यक्त करते हैं जो व्यक्तिगत उद्यम-

[1] G J Stigler, *The Theory of Price* (revised edition, 1952) p 181

कर्त्ताओं द्वारा स्वयं लाए जाते है। उद्यमकर्त्ता द्वारा नवप्रवर्तन जैसे कि नया पदार्थ, उत्पादन की नयी और सस्ती तकनीक, पदार्थ को बेचने की नयी विधि, विज्ञापन का नया तरीका, आदि आरम्भ करने से लाभ प्राप्त होते हैं। ये नवप्रवर्तन पदार्थ की लागत को घटाते हैं अथवा उसकी मांग को बढाते हैं और इस प्रकार लाभ उत्पन्न कर देते हैं। वे उद्यमकर्ता जो सफल नव-प्रवर्तन करते हैं अधिक मात्रा मे लाभ कमाते हैं परन्तु जैसे ही ये नव-प्रवर्तन अन्य उद्यमकर्त्ताओं को मालूम हो जाते हैं अथवा वे भी इस प्रकार के अन्य नव-प्रवर्तन करते हैं तो वे लाभ जो किसी विशेष नव-प्रवर्तन से उत्पन्न हुए थे समाप्त होने लगते हैं। किन्तु उद्यमकर्त्ताओं द्वारा प्राय निरन्तर नए नव-प्रवर्तन होते रहते हैं और उनके कारण उनको लाभ मिलते रहते है।

बाहरी परिवर्तन (exogenous changes) वे परिवर्तन हैं जो कि फर्मों अथवा उद्योगों द्वारा स्वय नही किए जाते किन्तु उनके बाहर से होते हैं। ये परिवर्तन उद्योग की सभी फर्मों को प्रभावित करते है और कभी-कभी तो अर्थव्यवस्था के सभी उद्योगों को। युद्ध का छिड जाना, व्यावसायिक चक्रों के कारण कभी तो समृद्धि का समय आ जाना और कभी मन्दी की अवस्था उत्पन्न हो जाना, सरकार की मौद्रिक तथा राजकोषीय नीतियो (monetary and fiscal policies) मे परिवर्तन, उत्पादन तकनालोजी मे परिवर्तन, उपभोक्ताओं की रुचियो और अधिमानो मे परिवर्तन, लोगों की आयो और उनकी उपभोग की आदतो मे परिवर्तन, स्थानापन्न पदार्थों की उपलब्धि मे परिवर्तन, उद्योगो के सम्बन्ध मे सरकारी अधिनियमो और कानूनो म परिवर्तन और लोगो द्वारा आय और अवकाश (leisure) के मध्य अधिमानो मे परिवर्तन, आदि ये सभी परिवर्तन या तो पदार्थों की उत्पादन लागत को प्रभावित करते हैं अथवा उनकी मांग को और इससे धनात्मक अथवा ऋणात्मक लाभ उत्पन्न कर देते हैं। उदाहरणतया युद्ध के समय जब वस्तुओं की कीमतें अत्यधिक बढ़ जाती हैं, जबकि लागतें इतनी नही बढ़ती, तो उद्यमकर्त्ताओं को बहुत लाभ प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार जब लोगो की आयो मे वृद्धि के कारण वस्तुओं की माग बढ जाती है और उसके फल-स्वरूप कीमतें बढ़ जाती है तो इससे भी फर्मों को लाभ प्राप्त होते है। इसी प्रकार जनसख्या म वृद्धि अथवा मुद्रा पूर्ति मे विस्तार के कारण जब कीमतें बढ जाती है तो लाभ उत्पन्न हो जाते है। इसके विपरीत जब समस्त मांग घट जाने के कारण मन्दी की व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है तो उद्यमकर्ताओं को भारी मात्रा मे हानि उठानी पड़ती है और ऐसी अवस्था म कई उद्यमकर्ता दिवालिए (bankrupts) हो जाते है। मंदी के समय सभी कीमतें, किराए मजदूरी और ब्याज घट जाते है। किन्तु गैर-सविदा होने के कारण लाभों मे अधिक तेजी मे गिरावट आती है और वे प्राय ऋणात्मक हो जाते है अर्थात् हानि म बदल जाते हैं।

यहां पर गत्यात्मक परिवर्तनो जिनमे अर्थव्यवस्था मे लाभ उत्पन्न होते हैं, के सम्बन्ध मे प्रोफेसर एफ० एच० नाईट के विचार उल्लेखनीय है। उनके मतानुसार, "गत्यात्मक परिवर्तन लाभो को केवल तभी उत्पन्न कर सकते है यदि ये परिवर्तन और उनके परिणामो का पूर्व-अनुमान न लगाया जा सकता हो अत ये परिवर्तन नही हैं जो कि लाभ उत्पत्ति का कारण बनते हैं क्योंकि यदि परिवर्तन का नियम मालूम हो जैसा कि प्राय होता है, तो कोई लाभ उत्पन्न नही हो सकते। लाभ और परिवर्तन मे सम्बन्ध अनिश्चित है और सदा ही अप्रत्यक्ष है। परिवर्तन ऐसी दशा उत्पन्न कर सकता है जिससे लाभ प्राप्त होगे परन्तु ऐसा तभी हो सकता है यदि इस सम्बन्ध मे भविष्य के बारे मे पूर्व ज्ञान न हो · अत यह गत्यात्मक परिवर्तन नही है और न ही कोई भी परिवर्तन है जिसके कारण लाभ उत्पन्न होते है बल्कि पूर्व-अनुमानित दशाओं से वास्तविक दशाओं का भिन्न होना है जिनके कारण लाभ उत्पन्न होते हैं। इसलिए लाभ की सन्तोषजनक व्याख्या गत्यात्मक सिद्धान्त से नही बल्कि भविष्य की अनिश्चितता (uncertainty of the future) से होती है।"

जहाँ तक अप्रत्याशित पूर्व अनुमानित परिवर्तनों और भविष्य के अनिश्चित होने के कारण लाभो के उत्पन्न होने का सम्बन्ध है, प्रोफेसर नाईट से मतभेद नही हो सकता। परन्तु उसके इस आग्रह से

गत्यात्मक परिवर्तन लाभ का कारण नहीं हैं, मतभेद हो सकता है। नाइट के विचार के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यदि कोई परिवर्तन न हो तो भविष्य के बारे में अनिश्चितता भी नहीं होगी और न ही लाभ उत्पन्न होंगे। अतः लाभ उत्पन्न करने के लिए परिवर्तन का तत्त्व महत्त्वपूर्ण और आधारभूत है। प्रोफेसर स्टोनियर और हेग (Stonier and Hague) ठीक ही कहते हैं, ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होते, कोई लाभ नहीं होंगे। ऐसी अवस्था में भविष्य के बारे में कोई अनिश्चितता नहीं होगी और इसलिए कोई जोखिम नहीं होंगे और कोई लाभ नहीं होंगे" (in an economy where nothing changes, there can be no profits There is no uncertainty about the future, so there are no risks and no profits)[1]

नवप्रवर्तन तथा लाभ (Innovations and Profits)

हम सफल गत्यात्मक परिवर्तन करने और उनका लाभ का स्रोत बनने के बारे में सफल नवप्रवर्तन का ऊपर उल्लेख कर आए हैं। परन्तु चूँकि नवप्रवर्तन को लाभ उत्पत्ति का एक अतीव महत्त्वपूर्ण साधन बतलाया गया है, इसलिए इनका पृथक रूप से अध्ययन करना जरूरी है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जोसिफ शुम्पीटर (Schumpeter) के अनुसार उद्यमकर्त्ता का प्रमुख कार्य अर्थव्यवस्था में नवप्रवर्तन ही करना है और इस कार्य करने के बदले में ही उसे लाभ मिलते हैं। अब प्रश्न यह है कि नवप्रवर्तन क्या है? नवप्रवर्तन का शुम्पीटर के भाव में बहुत विस्तृत और व्यापक अर्थ है। उद्यमकर्त्ता द्वारा पदार्थ का मांग बढ़ाने अथवा उत्पादन की लागत घटाने के लिए कोई नयी नीति अथवा नया कदम नवप्रवर्तन है। इस प्रकार नवप्रवर्तन को दो किस्मों में विभक्त किया जा सकता है। पहली प्रकार का वह नवप्रवर्तन है जो उत्पादन की लागत को कम कर देता है अथवा दूसरे शब्दों में उत्पादन फलन (production function) को बदल देता है। इस पहली प्रकार के नवप्रवर्तन में नई प्रकार की मशीनों का प्रयोग करना, उत्पादन के नये और सस्ते तरीकों का प्रयोग करना, कच्चे माल के नये स्रोत का उपयोग करना, उत्पादन को नई तथा श्रेष्ठ विधियों से सगठित करना, आदि सम्मिलित हैं। दूसरी प्रकार के नवप्रवर्तन वे हैं जो पदार्थ की माग को बढ़ाते हैं अर्थात् जो माग अथवा तुष्टिगुण फलन (utility function) को बदल देते हैं। इन दूसरी प्रकार के नवप्रवर्तनों में नये पदार्थों का उत्पादन, पदार्थ की नई प्रकार अथवा डिजाइन का उत्पादन, विज्ञापन का नया तथा उत्कृष्ट तरीका, नई मण्डियों की खोज, आदि सम्मिलित हैं। यदि नवप्रवर्तन सफल सिद्ध होता है अर्थात् यदि उत्पादन लागत घटाने अथवा पदार्थ की माग बढ़ाने का उद्देश्य पूरा होता है तो इससे लाभ उत्पन्न हो जाएँगे। लाभ इसलिए उत्पन्न होते हैं क्योंकि सफल नवप्रवर्तन द्वारा या तो पदार्थ की प्रचलित कीमत से लागत घट जाती है अथवा इससे उद्यमकर्त्ता पदार्थ को पहले से अधिक मात्रा में अथवा अधिक कीमत पर बेचता है। यह स्मरण रहे कि लाभ उसको नहीं होते हैं जो नवप्रवर्तन का विचार करता है और न ही उसको होते हैं जो नवप्रवर्तन की वित्त व्यवस्था (finance) करता है बल्कि उसको होते हैं जो वास्तव में नवप्रवर्तन करता है। इसके अतिरिक्त, जब भी कोई नवप्रवर्तन किया जाता है तो इससे साधनों का नया सयोग अथवा ससाधनों का पुनर्वण्टन आवश्यक हो जाता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि किसी विशेष नवप्रवर्तन द्वारा उत्पन्न लाभ केवल अस्थायी होते हैं और जैसे ही अन्य उद्यमकर्त्ता उसकी अनुकृति करते हैं तो वे लाभ समाप्त हो जाते हैं। जब अन्य उद्यमकर्त्ताओं को किसी विशेष नवप्रवर्तन का पता चलता है और वे भी उसे ग्रहण कर लेते हैं तो नवप्रवर्तन नवीन नहीं रहता। जब एक उद्यमकर्त्ता कोई नवप्रवर्तन करता है तो वह एक एकाधिकारी की अवस्था में होता है क्योंकि वह नवप्रवर्तन केवल उसी तक ही सीमित होता है। इसलिए उसे बड़ी मात्रा में लाभ प्राप्त होते हैं। किन्तु जब कुछ समय बाद अन्य उद्यमकर्त्ता भी लाभ

1. Stonier and Hague, *A Textbook of Economic Theory*, p. 327.

में कुछ भाग प्राप्त करने के लिए नवप्रवर्तन को ग्रहण कर लेते हैं तो पहले उद्यमकर्त्ता के लाभ समाप्त हो जाएँगे।

यदि कानून अनुमति देता है और उद्यमकर्त्ता अपने नवप्रवर्तन को अर्थात् नये पदार्थ को पेटेन्ट करवा लेता है तो उसे लाभ मिलते रहेंगे। परन्तु प्रतियोगी अर्थव्यवस्था में और पेटेन्ट कानूनों की उपस्थिति में वर्तमान प्रतियोगी फर्में अथवा नई फर्में शीघ्र ही सफल नवप्रवर्तनों को ग्रहण कर लेंगी और इस प्रकार लाभ समाप्त हो जाएँगे। परन्तु एक प्रतियोगी और परिवर्तनशील अर्थव्यवस्था में उद्यमकर्त्ता निरन्तर नये नवप्रवर्तन करते रहते हैं और इस प्रकार उनसे उन्हें लाभ मिलते रहते हैं। प्रोफेसर स्टिगलर उचित ही कहते हैं, "यदि कोई स्थायी एकाधिकार स्थापित नहीं कर होता तो ऐसे लाभ जो सफल नवप्रवर्तनों से प्राप्त होते है आवश्यक रूप से अस्थायी होते हैं और अन्य फर्मों द्वारा समाप्त कर दिये जाते हैं। किन्तु ये लाभ अन्य फर्मों के अज्ञान के कारण अथवा नई फर्मों के प्रवेश करने में समय लगने के कारण काफी समय तक अर्जित किये जा सकते हैं। एक और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सफल नवीनकर्त्ता नये असन्तुलन लाभ लगातार प्राप्त कर सकता है क्योंकि सम्भव नये नवप्रवर्तन की कोई सीमा नहीं।"[1] अतः स्पष्ट है कि नवप्रवर्तन लाभ के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। नये नवप्रवर्तन करने के लिए लाभ प्राप्ति आवश्यक प्रोत्साहन (incentive) है और इस नवप्रवर्तन से देश के आर्थिक विकास को बढ़ावा मिलता है। चूँकि सफल नवप्रवर्तन से लाभ उत्पन्न होते हैं और ये लाभ नवप्रवर्तन करने का उद्देश्य और ध्येय भी हैं इसलिए लाभ नवप्रवर्तन का कारण और कार्य (cause and effect) दोनों ही हैं।

जोखिम, अनिश्चितता और लाभ : नाईट का लाभ सिद्धान्त (Risk, Uncertainty and Profits Knight's Theory of Profits)

एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त लाभ को जोखिम और अनिश्चितता के साथ जोड़ता है। एफ० एच० नाईट के अनुसार लाभ अनिश्चितता वहन करने का पुरस्कार है। नाईट से पूर्व एफ० बी० हाले और ए० सी० पीगू ने भी यह बताया था कि उद्यमकर्त्ता इसलिए लाभ अर्जित करते हैं क्योंकि उन्हें वस्तुओं का उत्पादन करने में निहित जोखिमों को वहन करना पड़ता है। परन्तु नाईट ने अनिश्चितता पर आधारित लाभ के सिद्धान्त को अधिक विकसित किया है। उसने एक ओर जोखिम और अनिश्चितता में अन्तर किया है और दूसरी ओर पूर्व अनुमान योग्य (predictable) और पूर्व-अनुमान-अयोग्य (unpredictable) परिवर्तनों में अन्तर बतलाया है। उनके अनुसार गत्यात्मक परिवर्तन केवल तभी लाभ को उत्पन्न करते हैं यदि वे परिवर्तन और उनके परिणाम पूर्व-अनुमान-अयोग्य (unpredictable) होते हैं। केवल वे परिवर्तन जिनके घटने का पूर्व ज्ञान नहीं हो सकता लाभ उत्पन्न करते हैं।

जैसे कि हम ऊपर बता आए हैं कि यदि कोई परिवर्तन न होते अथवा यदि परिवर्तन का पूर्व-ज्ञान और पूर्व-अनुमान हो सकता तो भविष्य के बारे में कोई अनिश्चितता न होती और इसलिए कोई लाभ भी न होते। लाभ भविष्य की अनिश्चितता के कारण उत्पन्न होते हैं। यदि भविष्य की दशाएँ पहले से पूरी तरह जानी जा सकतीं तो उस अवस्था में प्रतियोगिता द्वारा एक आदर्श स्थिति की व्यवस्था हो जाती जिसमें सभी कीमतें लागतों के बराबर होतीं और लाभ उत्पन्न न होते। इस प्रकार भविष्य के बारे में यह हमारा अज्ञान है और यह भविष्य की अनिश्चितता है जिसके कारण लाभ उत्पन्न होते हैं। अन्य शब्दों में, यह वास्तविक दशाओं का प्रत्याशित दशाओं पर जिनके आधार पर व्यावसायिक व्यवस्था की जाती है का भिन्न होना है जिससे अनिश्चितता और लाभ उत्पन्न होते हैं। प्रोफेसर ए० के० दास गुप्ता (A K Dass Gupta) उचित ही कहते हैं, "अनिश्चितता अर्थव्यवस्था का एक स्थायी लक्षण है। यह एक मानवीय अज्ञान है कि उसे भविष्य के विषय में पूर्ण जानकारी नहीं हो सकती। व्यापारियों द्वारा अनुभव तथा सांख्यिकीय जानकारी से पर्याप्त पता लग सकता है लेकिन जहाँ तक भौतिक तथा मानवीय प्रकृति की गतिविधि का

1. G J. Stigler, *Op cit* p 182

सम्बन्ध है, भविष्य लगभग सदा ही अनिश्चित होगा।"[1] वह आगे लिखते हैं "जब तक उद्यमकर्त्ता मार्किट की अवस्था के विषय में अपूर्ण ज्ञान से काम-काज आरम्भ करते हैं और जब तक भाड़े पर लिए गए साधनों का प्रत्याशित सीमान्त उत्पादन, वास्तविक उत्पादन से भिन्न होता है तब तक लाभ रूपी आधिक्य उत्पन्न होता रहेगा।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्यमकर्त्ता अनिश्चितता की दशाओं में उत्पादन कार्य करते हैं। उन्हें पदार्थ की माँग तथा अन्य तत्वों का जो कीमत और लागत को प्रभावित करते हैं, का पूर्व-अनुमान करना होता है। अपने पूर्व-अनुमान और प्रत्याशाओं के आधार पर वे उत्पादन के साधनों के पूर्तिकर्त्ताओं के साथ निश्चित दरों पर उत्पादन की बिक्री से पहले संविदा करते हैं। उन्हें भाड़े पर लिए गए साधनों द्वारा उत्पादित माल का मूल्य उसको उत्पादित करने और मार्किट में बेचने के बाद प्राप्त होता है। किन्तु पदार्थों को उत्पादित करने और बेचने में बहुत समय लगता है। अतः स्पष्ट है कि उद्यमकर्त्ता द्वारा साधनों से निश्चित दरों पर सौदा करने और उनके द्वारा उत्पादित माल का मूल्य प्राप्त करने में बहुत समय व्यतीत होता है। जैसे कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि साधनों के साथ उनकी कीमतों के विषय में संविदा भविष्य की दशाओं के बारे में पूर्व अनुमानों पर निर्धारित होते हैं। परन्तु साधनों के साथ सौदा करने और उनके द्वारा उत्पादित माल की बिक्री के बीच समय में कई परिवर्तन हो सकते हैं जो कि पूर्व-अनुमानों तथा आशाओं से भिन्न परिणाम लाने के उत्तरदायी होते हैं और इससे लाभों की उत्पत्ति होती है। यदि उत्पादन की बिक्री के समय की भविष्य में प्रचलित होने वाली दशाओं का पूर्व-ज्ञान अथवा पूर्व अनुमान हो सकता तो कोई अनिश्चितता न होती और न ही कोई लाभ होते। अतः अनिश्चितता अर्थात् माँग और पूर्ति की भविष्य की दशाओं के बारे में अज्ञान लाभ-उत्पत्ति का कारण है। यह ध्यान से समझ लेना चाहिए कि धनात्मक लाभ उन उद्यमकर्त्ताओं को होते हैं जो भविष्य के बारे में ठीक अनुमान लगाते हैं अथवा जिनकी आशसाएं ठीक और सही सिद्ध होती हैं। उन उद्यमकर्त्ताओं को जिनकी आशसाएँ गलत सिद्ध होती हैं, हानि उठानी पड़ती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लाभ एक अवशिष्ट तथा गैर-संविदा आय है जो उद्यमकर्त्ताओं को अनिश्चितता के कारण प्राप्त होती है। उद्यमकर्त्ता एक गैर-भाड़े का (unhired) साधन है। यह तो अन्य साधनों को उत्पादन के लिए भाड़े अथवा किराए पर लेता है। इसलिए वह उद्यमकर्त्ता ही है जिसे अनिश्चितता वहन करनी होती है और वह इसके पुरस्कार के रूप में लाभ अर्जित करता है। प्रोफेसर वैस्टन (Weston) जो कि लाभ की अनिश्चितता के सिद्धान्त के प्रवर्तक और समर्थक रहे हैं, लाभ की उत्पत्ति की व्याख्या इस प्रकार करते हैं, "अनिश्चितता की स्थिति में कुल उत्पादन मूल्य, कुल लागत के बराबर नहीं होता क्योंकि आशसाएं पूर्ण नहीं होतीं। ऐसा क्यों होता है, इसका संक्षेप में उल्लेख किया जा सकता है। उत्पादन साधनों के स्वामियों के दो वर्ग किए जा सकते हैं। पहली प्रकार के वे साधन हैं जिनके पुरस्कार अथवा मेहनताना की दरें उत्पादन के परिणाम से पहले निश्चित की जाती हैं, उनको किराए अथवा भाड़े के साधन कहते हैं और उन्हें संविदा द्वारा निश्चित पुरस्कार मिलते हैं। दूसरी प्रकार के साधन वे हैं जिनका पुरस्कार उत्पादन के परिणाम पर निर्भर करता है और जिन्हें गैर-भाड़े के साधन (unhired factors) कहा जाता है और जिन्हें गैर-संविदा (non-contractual) अथवा अवशिष्ट आय (residual income) प्राप्त होती है। साधनों के साथ संविदा करने का चाहे कोई भी आधार क्यों न हो, अनिश्चितता के कारण वास्तविक परिणाम पूर्णतया सही नहीं जाने जा सकते। अतः साधनों के साथ सौदा करने का चाहे कोई भी आधार हो वास्तविक परिणाम वही नहीं होते, यही आर्थिक लाभ का अर्थ है। यह पहले से जानना असम्भव होता है कि कुल उत्पादन मूल्य अथवा कुल लागत क्या होगी।"

1, A K Dass Gupta, *The Conception of Surplus in Theoretical Economics*, p 188

अब प्रश्न यह है कि वे कौन से परिवर्तन हैं जिनके कारण अर्थव्यवस्था मे अनिश्चितता उत्पन्न होती है। जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, दो प्रकार के परिवर्तन हैं जिनके कारण अनिश्चितता की स्थिति उत्पन्न होती है। प्रथम प्रकार के परिवर्तन तो नवप्रवर्तन (उदाहरण के लिए नये पदार्थ का उत्पादन, नये और सस्ते उत्पादन के तरीको का प्रयोग आदि) हैं जो उद्यमकर्त्ताओ द्वारा स्वय लाए जाते हैं। ये नवप्रवर्तन न केवल प्रतिद्वन्द्वियो अथवा प्रतियोगियो के लिए अनिश्चितता पैदा करते हैं बल्कि उद्यमकर्त्ता जो उन्हें करता है, के लिए भी अनिश्चितता को उत्पन्न करते हैं क्योकि कोई भी इस बारे में निश्चित नही हो सकता कि क्या कोई नवप्रवर्तन अवश्य ही सफल सिद्ध होगा। अनिश्चितता उत्पन्न करने वाले दूसरे प्रकार के परिवर्तन वे हैं जो फर्मों और उद्योगो के बाहर से घटते हैं। ये परिवर्तन हैं : लोगो की रुचियो और फैशन मे परिवर्तन, कराधान, मजदूरी, श्रम सम्बन्धी सरकार की नीतियों व कानूनो मे परिवर्तन, तेजी और मदी के कारण कीमतों में घट-बढ, लोगो की आयो में परिवर्तन, उत्पादन तकनॉलोजी मे परिवर्तन आदि। ये सभी परिवर्तन अनिश्चितता उत्पन्न करते हैं और धनात्मक अथवा ऋणात्मक लाभ की प्राप्ति का कारण बनते हैं। हमने ऊपर देखा है कि उद्यमकर्त्ता अनिश्चितता की स्थिति में कार्य करते हैं और वे अनिश्चितता को वहन करते हैं और उसके पुरस्कार के रूप मे लाभ प्राप्त करते हैं। यहाँ पर एफ० एच० नाईट द्वारा बीमा-योग्य जोखिमों (insurable risks) और बीमा अयोग्य जोखिमों (non-insurable risks) मे अन्तर उल्लेखनीय है। अर्थव्यवस्था मे हो रहे निरन्तर परिवर्तनों के कारण उद्यमकर्त्ताओ को अनेक जोखिमों को उठाना पड़ता है। परन्तु ये सभी जोखिम अनिश्चितता उत्पन्न नहीं करते और इस प्रकार लाभ की उत्पत्ति का कारण नहीं बनते। वे केवल बीमा अयोग्य जोखिम हैं जिनमें अनिश्चितता निहित होती है और उद्यमकर्त्ताओं के ये बीमा-अयोग्य जोखिम वहन करने के लिए लाभ अर्जित होते हैं। अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार के जोखिम बीमा-योग्य होते हैं और किस प्रकार के बीमा-अयोग्य। उद्यमकर्त्ता को आग, चोरी, दुर्घटना आदि जैसे जोखिम उठाने पड़ते हैं जिनके कारण उसे भारी मात्रा मे हानि हो सकती है परन्तु आग, चोरी, दुर्घटना आदि जोखिम का बीमा हो सकता है और उनके लिए एक निश्चित दर से प्रीमियम (premium) दिया जाता है। यह बीमा प्रीमियम उत्पादन लागत मे शामिल होता है।

इस प्रकार जहाँ तक व्यक्तिगत उद्यमकर्त्ताओ का सम्बन्ध है, बीमा-योग्य जोखिम से कोई अनिश्चितता उत्पन्न नही होती और इसलिए ये जोखिम लाभ उत्पन्न नही करते। केवल उन जोखिमो का ही बीमा हो सकता है जिनके घटने का अनुमान पहले से लगाया जा सकता है। इस प्रकार एक बीमा कम्पनी गत वर्षों के आकड़ो के आधार पर यह गणना कर सकती है कि एक वर्ष मे कितनी फैक्ट्रियो में आग लगेगी। इस जानकारी अथवा गणना के आधार पर वह अपने प्रीमियम की दर निश्चित करेगी और इस प्रकार फैक्ट्रियो का आग के विरुद्ध बीमा हो सकता है। परन्तु ऐसे जोखिम भी हैं जिनका बीमा नहीं हो सकता और इसलिए उन्हें उद्यमकर्त्ताओं को वहन करना पड़ता है। ये बीमा-अयोग्य जोखिम कीमत एव उत्पादन सम्बन्धी नीतियों अथवा निर्णयो के परिणामों के सम्बन्ध मे होते हैं। क्या उद्यमकर्त्ता के लिए उत्पादन को बढाना अथवा घटाना लाभकारी होगा और क्या इस उत्पादन-निर्धारण की नीति का परिणाम लाभ अथवा हानि होगा। इसके अतिरिक्त क्या उद्यमकर्त्ता को अपने पदार्थ की कीमत घटानी चाहिए अथवा बढ़ानी चाहिए और इस सम्बन्ध में इसके द्वारा लिए गए किसी विशेष निर्णय से लाभ व हानि के रूप मे क्या परिणाम होंगे। इसी प्रकार, उसे विज्ञापन के तरीके अथवा उस पर व्यय की जाने वाली राशि के बारे में निर्णय करना होता है और इसी ही तरह अपने पदार्थ में परिवर्तन के बारे में। यह सभी निर्णय लेने के लिए उसे माँग और लागत की दशाओं का अनुमान लगाना होता है और अपने निर्णय से होने वाली सम्भव हानियों का जोखिम उठाना होता है। कोई भी बीमा कम्पनी उद्यमकर्त्ताओ को उनकी कीमत, उत्पादन और पदार्थ में परिवर्तन

सम्बन्धी नीतियों से उत्पन्न व्यापारिक हानियों का बीमा नहीं कर सकती और न ही वह उन हानियों का बीमा कर सकती है जो अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक (structural), चक्रीय और बाहरी एवं स्वतन्त्र परिवर्तन होने के कारण उद्यमकर्त्ताओं को उठाने पड़ते हैं। स्पष्ट है कि ये बीमा-अयोग्य जोखिम हैं जो अनिश्चितता की दशा को उत्पन्न करते हैं और जिनके कारण लाभ उत्पन्न होते हैं। नाईट ठीक ही कहते हैं कि "बीमा-योग्य जोखिम से भिन्न यह अनिश्चितता ही है जो उद्यमकर्त्ता के संगठनात्मक कार्य को उत्पन्न करती है और इसी से ही बदनाम 'लाभ' की आय होती है। ("It is uncertainty distinguished from insurable risk that effectively gives rise to the entrepreneurial form of organisation and to the much condemned 'profit' as an income from it.")[1]

एकाधिकार तथा लाभ (Monopoly and Profits)

हमने ऊपर व्याख्या की है कि लाभ प्रावैगिक परिवर्तनों, नवप्रवर्तनों तथा अनिश्चितता की दशाओं के अन्तर्गत भविष्य का ठीक-ठीक अनुमान करने से उत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु एकाधिकार लाभ का अन्य स्रोत है। स्थैतिक तथा प्रावैगिक दोनों दशाओं में एकाधिकारिक दशा लाभ को उत्पन्न करती है। एकाधिकारी एक पदार्थ की कीमत पर नियन्त्रण रखता है और इसलिए अपनी एकाधिकारी शक्ति के कारण लाभ प्राप्त करने में सफल होता है। वह अपने उत्पादन के स्तर को नियन्त्रित करके कीमत को बढ़ा देता है तथा उसके द्वारा लाभ प्राप्त करता है। एकाधिकार केवल अंश (degree) का ही विषय है। एकाधिकारी शक्ति न केवल एक शुद्ध एकाधिकारी द्वारा प्रयुक्त की जाती है जो एक ऐसे पदार्थ का उत्पादन करता है जिसके कोई निकट के स्थान पन्न नहीं होते वरन् कुछ कम सीमा तक एकाधिकारिक प्रतियोगिता तथा अल्पाधिकार में उत्पादकों द्वारा भी प्रयुक्त की जाती है। हमने अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत पदार्थ की कीमत निर्धारण के अध्यायों में देखा है कि अपूर्ण प्रतियोगिता की विभिन्न श्रेणियों जैसे—विशुद्ध एकाधिकारिक प्रतियोगिता तथा अल्पाधिकार में एकाधिकारी तत्त्व विद्यमान होता है। यह अपूर्ण प्रतियोगिता की इन श्रेणियों में इस एकाधिकारी तत्त्व के कारण है कि उनमें माँग वक्र नीचे की ओर गिरता हुआ होता है। इस प्रकार एकाधिकारी शक्ति नीचे की ओर गिरते हुए माँग वक्र से सम्बन्धित है।

हम शुद्ध एकाधिकारिक प्रतियोगिता तथा अल्पाधिकार के अन्तर्गत कीमत तथा उत्पादन निर्धारण के अध्यायों में देख चुके हैं कि एकाधिकारी शक्ति तथा उसके परिणामस्वरूप नीचे की ओर गिरते हुए माँग वक्र के कारण फर्म का सतुलन अर्थात् सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत की समानता उस कीमत पर होती है जो उत्पादन की सीमान्त लागत की अपेक्षा अधिक होती है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार निर्धारित कीमत प्रायः उत्पादन की औसत लागत की अपेक्षा भी अधिक होती है जो अधिक अथवा कम अंश तक एकाधिकारी शक्ति का भोग करने वाली फर्म के लिए धनात्मक लाभ उत्पन्न करती है। नई फर्मों के प्रवेश पर कड़े नियन्त्रण होने के कारण शुद्ध एकाधिकार तथा अल्पाधिकार के अन्तर्गत कार्यशील फर्में दीर्घकाल में भी असामान्य लाभ (supernormal profits) प्राप्त करती हैं। अधिक संख्या में फर्मों वाली एकाधिकारिक प्रतियोगिता में भी उद्योग में प्रवेश पदार्थ विभेदीकरण के कारण पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं होता है जैसा कि चैम्बरलिन द्वारा स्वयं बाद में अनुभव किया गया। पदार्थ विभेदीकरण एक फर्म को अपनी स्वयं की कीमत निर्धारित करने में एक निश्चित अंश तक एकाधिकारी शक्ति प्रदान करता है तथा एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत कोई भी नवीन फर्म, विद्यमान फर्म के ठीक समान (exactly the same) पदार्थ नहीं बना सकती है। एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत केवल सीमित प्रवेश से माँग वक्र दीर्घकाल में भी औसत लागत वक्र के स्पर्श अवस्था तक नहीं गिरता है इसलिए एकाधिकारिक प्रतियोगिता के

1. F. H. Knight, *Risk, Uncertainty and Profits.*

अन्तर्गत कार्यशील उद्यमी भी अपनी एकाधिकारी शक्ति के कारण धनात्मक लाभ प्राप्त करते रहते है। लाभ के स्रोत के रूप में एकाधिकार पर टीका-टिप्पणी करते हुए प्रो० पेन लिखते हैं वास्तविक एकाधिकारी अर्थात् उद्योग की शाखा में एक मात्र पूर्तिकर्ता दुर्लभ (rare) है परन्तु अनेक दशाओं में एकाधिकार का तत्त्व प्रतियोगिता में सम्मिलित होता है। एक मार्का (brand) दूसरे के ठीक समान नहीं होता है—अर्थशास्त्री इसे पदार्थ विभेदीकरण कहते है जिसके परिणामस्वरूप बाजार में एकाधिकारी शक्ति का तत्त्व उत्पन्न हो जाता है जो पूर्तिकर्ता के लिए अतिरिक्त लाभ उत्पन्न करता है। वह अपनी स्वय की कीमत निर्धारित कर सकता है जो पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत असम्भव होता है और सम्भवत वह अपने उत्पादन की मात्रा अन्यथा किये हुए की अपेक्षा कम विस्तृत करता है। कुछ दशाओं में उत्पादन की यह परिसीमा एक प्रत्यक्ष भय है, सर्जित दुर्लभता छोटे से वर्ग के लिए लाभ तथा जनता के लिए हानि उत्पन्न करती है (The real monopolist—the one and the only supplier in a branch of industry—is rare, but in many cases of breath of monopoly pervades competition One brand is not the same as another—economists call that product-differentiation and as a result an element of monopoly power creeps into the market that yields an extra profits for the supplier He can fix his own price, which is not possible under perfect competition and perhaps he extends his volume of production a little less than he would otherwise have done In some cases this limitation of production is an obvious danger, contrived scarcity leads to profits for a small group and to harm for the public "[1]

जैसाकि हम पूर्व अध्याय में विवेचना कर चुके हैं कि ए० पी० लर्नर ने किसी बाजार परिस्थिति में विद्यमान एकाधिकार के अंश का परिमाणात्मक माप प्रस्तुत किया है। लर्नर का एकाधिकार के अंश (degree of monopoly) का परिमाणात्मक माप इस तथ्य पर आधारित है कि जब कभी एकाधिकार विद्यमान है तथा उसके परिणामस्वरूप माँग वक्र गिरता हुआ है उत्पादक द्वारा निर्धारित कीमत सीमान्त लागत से विचलित होगी। इसके अतिरिक्त एकाधिकार के अंश का यह माप आदर्श बाजार परिस्थिति अर्थात् पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति पर आधारित है जिसमें एकाधिकारी तत्त्व पूर्णतया अनुपस्थित होता है तथा सन्तुलन में कीमत सीमान्त लागत के बराबर होती है। लर्नर के अनुसार यदि p कीमत तथा m सीमान्त लागत का प्रतिनिधित्व करता है तो उनका अन्तर $p-m$ पूर्ण प्रतियोगिता के आदर्श से विचलन या अन्य शब्दों में किसी वास्तविक बाजार परिस्थिति में विद्यमान एकाधिकारी शक्ति की सीमा की माप करता है। कीमत के एक अंश के रूप में व्यक्त अन्तर $p-m$ अर्थात् $\frac{p-m}{p}$ लर्नर के एकाधिकार के अंश का माप है। अब, लाभ के एकाधिकार सिद्धान्त के अनेक प्रतिपादकों विशेषतया एम० कैलेस्की द्वारा दृढ़तापूर्वक कहा गया है कि एकाधिकार का अंश $\left(\frac{p-m}{p}\right)$ जितना ही अधिक होगा फर्म या उद्यमकर्ता द्वारा अर्जित किए जाने वाले लाभ की मात्रा उतनी ही अधिक होगी। एम० कैलेस्की के अनुसार लर्नर द्वारा किया गया एकाधिकार के अंश का माप $\frac{p-m}{p}$ लाभ की मात्रा निर्धारित करने का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। वास्तव में, उनके अनुसार यह लाभ के स्तर का एकमात्र निर्धारक तत्त्व है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि एक फर्म की एकाधिकारी शक्ति का अंश या अन्य शब्दों में, उसकी सीमान्त लागत की अपेक्षा अधिक कीमत निर्धारित करने की शक्ति माँग वक्र की मूल्यसापेक्षता पर

---

1 Jan Pen, *Income Distribution* Penguin Books, p 134

निर्भर रहती है। हम एक गत अध्याय मे पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि लर्नर के एकाधिकार के अंश का माप $\left(\frac{p-m}{p}\right)$ माँग की मूल्यसापेक्षता का व्युत्क्रम (reciprocal) अर्थात् $\frac{1}{e}$ होता है। अर्थात् माँग की मूल्यसापेक्षता जितनी ही कम होगी, एकाधिकारी शक्ति का अंश भी उतना ही अधिक होगा। परन्तु किसी फर्म के पदार्थ की माँग की मूल्यसापेक्षता उस सीमा (extent) पर निर्भर करती है जिस तक वह अन्य (पदार्थों) की अपेक्षा भिन्न है। इसका पदार्थ जितनी अधिक सीमा तक विभेदीकृत होगा, मूल्य सापेक्षता उतनी ही कम होगी और परिणामस्वरूप एकाधिकार का अंश अधिक होगा।

दूसरा तत्व, जिस पर एक फर्म की एकाधिकारी शक्ति निर्भर करती है, वह बाजार या उद्योग के कुल उत्पादन मे उसका भाग है। किसी उत्पादक का औद्योगिक उत्पादन या बाजार मे भाग जितना ही अधिक होगा एकाधिकारी शक्ति की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी। यही कारण है कि बाजार अथवा बाजार के कुल उत्पादन मे उसका भाग जितना ही अधिक होगा, कीमत निर्धारित करने मे उसकी इतनी ही अधिक स्वतन्त्रता होगी। अब अपने पदार्थ के विभेदीकरण के परिमाण (extent) तथा कुल उत्पादन या बाजार मे अपने भाग द्वारा प्राप्त एकाधिकारी शक्ति के कारण उत्पादक उत्पादन लागत की अपेक्षा अधिक कीमत निर्धारित करने मे सफल हो जाता है तथा उसके द्वारा स्वयं असामान्य (supernormal) लाभ अर्जित करता है।

यह प्राय संकेत किया जाता है कि एक उत्पादक द्वारा धारित एकाधिकारी शक्ति धनात्मक लाभ के लिये कोई गारंटी (guarantee) नही है, जब पदार्थ की माँग अपर्याप्त तथा उत्पादन लागत ऊँची है। प्रतिकूल माँग लागत परिस्थितियो की दशा मे शुद्ध एकाधिकार, एकाधिकारिक प्रतियोगिता तथा अल्पाधिकार के अन्तर्गत कार्यशील उत्पादक जो विभिन्न अंशो मे एकाधिकारी शक्ति को धारण करते हैं हानि प्राप्त कर सकते हैं। वास्तव मे, अध्याय 24 में रेखाकृति 21 8 (पृष्ठ 445) तथा अध्याय 26 मे रेखाकृति 26 2 (पृष्ठ 469) मे हमने भी प्रदर्शित किया है कि क्रमश शुद्ध एकाधिकार तथा एकाधिकारिक प्रतियोगिता के अन्तर्गत उत्पादक एकाधिकारी शक्ति धारण करने के बावजूद अल्पकाल मे हानियाँ प्राप्त करते हैं। इस प्रकार प्रो० बोवर के अनुसार, "वह पतली बर्फ पर चलता है जो लाभ को एकाधिकार के साथ तथा एकाधिकार को लाभ के साथ जोड़ता है।" ("he scates on thin ice who identifies profits with monopoly and monopoly with profits")[1]

इसमे सन्देह नही कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता (जब फर्मों की संख्या अधिक होती है) के अन्तर्गत फर्मों द्वारा अल्पकाल मे हानि प्राप्त किये जाने की पर्याप्त सम्भावना है परन्तु शुद्ध एकाधिकार अथवा अल्पाधिकार की दशा मे हानि की सम्भावना अतिशयोक्ति नही होनी चाहिए, शुद्ध एकाधिकार तथा अल्पाधिकार बड़े व्यवसायो मे सामान्यतया साथ-साथ होते हैं जो निगम के आधार पर सगठित होते हैं। विशुद्ध एकाधिकार तथा अल्पाधिकार के अन्तर्गत कार्यशील तथा पर्याप्त मात्रा मे एकाधिकारी शक्ति धारण करने वाली निगमित फर्मे उपभोक्ता की माँग को दी हुई के रूप मे स्वीकार नही करती हैं वरन् माँग को प्रभावित तथा सर्जित करने का प्रयत्न करती हैं तथा ऐसा करने के लिए पर्याप्त ससाधन रखती हैं। पदार्थ-विभेद, विज्ञापन तथा अन्य बिक्री प्रोत्साहक उपायो के माध्यम से पर्याप्त एकाधिकारी शक्ति धारण करने वाली निगमित बड़ी फर्मे अपने पदार्थ के माँग वक्र को विवर्तित करने मे सफल हो जाती हैं। इस प्रकार विज्ञापन, पदार्थ विभेद तथा अन्य बिक्री प्रोत्साहक क्रियाओं के माध्यम से अपेक्षाकृत अधिक एकाधिकारी शक्ति वाली बड़ी फर्मे यह देखती रहती हैं कि उनके पदार्थ का माँग वक्र उत्पादन लागत के ऊपर स्थित रहता है जो उनके लिए पर्याप्त मात्रा मे लाभ प्रदान करता है।

---

1 M M Bober, *Intermediate Price and Income Theory*

इसके अतिरिक्त, विभिन्न एकाधिकारी शक्ति के अंशों वाली फर्में न केवल अपेक्षाकृत ऊँची कीमत निर्धारित करके उपभोक्ताओं का शोषण करती हैं तथा उसके द्वारा लाभ प्राप्त करती हैं वरन् वे प्राय विभिन्न साधन बाजारों में क्रेता एकाधिकारी या क्रेता-अल्पाधिकारी भी होती हैं। अपनी क्रेता-एकाधिकारी शक्ति से वे साधनों, विशेषतया श्रमिकों का शोषण करती हैं और उन्हें उनकी सीमान्त आय उत्पादन (MRP) से कम भुगतान करती है। किराये पर रखे गये साधनों के शोषण द्वारा वे अपने लाभ के अंश को बढाती हैं।

एक फर्म की एकाधिकारी शक्ति अपने पदार्थ की कीमत में वृद्धि करने की क्षमता द्वारा स्पष्ट होती है। परन्तु यदि एक फर्म अपेक्षाकृत अधिक कीमत निर्धारित करती है और उसके द्वारा अत्यधिक मात्रा में लाभ प्राप्त करती है, तो वह अन्य फर्मों को उद्योग में आकर्षित करेगी और विद्यमान फर्मों की एकाधिकारी शक्ति को कम करेंगी तथा अत्यधिक लाभों को समाप्त कर देगी। अत ए० मैकलप[1], एफ० एच० हाम[2] तथा जीन मार्चल[3] जैसे लेखकों ने जोर दिया है कि फर्मों की एकाधिकारी शक्ति चिरस्थायी रहने तथा एकाधिकारी लाभ प्राप्त करने के लिए फर्मों के प्रवेश पर सबल प्रतिबन्ध (strong barriers) होने चाहिए, इस प्रकार एकाधिकारी शक्ति तथा उसके कारण प्राप्त होने वाला लाभ अन्तत फर्मों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध पर निर्भर करता है। आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति पर नियन्त्रण, कुछ दशाओं जैसे पेटेण्ट अधिकार में वैधानिक प्रतिबन्ध, वर्तमान फर्मों द्वारा प्राप्त ख्याति (good will) का अस्तित्व, वर्तमान फर्मों के पदार्थों के व्यापार नामों तथा छाप आदि की ख्याति, बड़े पैमाने के उत्पादन की मितव्ययिताएँ, बड़े पैमाने पर उत्पादन को सगठित करने की कठिनाई आदि कुछ महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो फर्मों के प्रवेश पर नियन्त्रण रखते है तथा एकाधिकारी शक्ति धारण करने वाली वर्तमान फर्मों द्वारा एकाधिकारी लाभ की प्राप्ति को सम्भव बनाते है।

लाभ के एकाधिकारी सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of the Monopoly Theory of Profit)

यह निश्चित रूप से सत्य है कि एकाधिकार लाभ का एक अच्छा स्रोत है। श्रीमती जोन राबिन्सन तथा चैम्बरलिन द्वारा प्रस्तुत नीचे की ओर गिरते हुए माँग वक्र वाले क्रमश अपूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकारिक प्रतियोगिता के सिद्धान्त ने कीमत निर्धारित करने की शक्ति के अभिप्राय से न केवल कीमत सिद्धान्त में महत्त्वपूर्ण योगदान किया वरन् लाभ सिद्धान्त में भी योगदान किया। परन्तु कैलेस्की का यह दृढ कथन उचित नहीं है कि एकाधिकार ही लाभ का एक मात्र स्रोत या निर्धारक तत्त्व है। प्रावैगिक परिवर्तन, उद्यमियों द्वारा नवप्रवर्तन, अनिश्चितता भी लाभ के महत्त्वपूर्ण कारण हैं और लाभ की किसी पर्याप्त व्याख्या में इन बातों की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त लाभ में अनिश्चितता तथा एकाधिकार सिद्धान्तों में कोई अन्तर्विरोध नहीं है जैसा कि कैलेस्की द्वारा गलत रूप में समझा गया है। वास्तव में, जैसा कि एफ० एच० हाम[4] का मत है कि एकाधिकारिक प्रतियोगिता तथा अल्पाधिकार में बाजार अपूर्णताएँ अनिश्चितता में वृद्धि करती हैं और यह अनिश्चितता भी फर्मों के प्रवेश को अपेक्षाकृत अधिक कठिन बना देती है। इस प्रकार वह सिद्धान्त जो लाभ का कारण एकाधिकारी शक्ति बताता है केवल लाभ के अनिश्चितता वहन सिद्धान्त को प्रतिस्थापित करने के बजाय उसका पूरक है।

1 F Machlup, Competition, Pilopoly and Profits, *Economica*, Vol XI, 1942

2 F H Halm, A Note on Profits and Uncertainty, *Economica*, Vol XIX, 1947

3 Jean Marchal, The Construction of a New Theory of Profits, *American Economic Review*, Vol XLI, 1954

4 *Op cit* p 177

कैलेस्की के एकाधिकार के अंश $\left(\frac{p-m}{p}\right)$ का विचार तथा उस पर आधारित लाभ के सिद्धान्त की आलोचना की गई है। उदाहरणार्थ—पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत एकाधिकार के अंश $\left(\frac{p-m}{p}\right)$ का माप शून्य होता है क्योंकि कीमत सीमान्त लागत के बराबर होती है। इसका अभिप्राय है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत शून्य एकाधिकार के अंश के कारण लाभ (अर्थात् पूँजी) का भाग शून्य होगा तथा श्रमिक का भाग 100% होगा जो स्पष्टतया अवास्तविक तथा हास्यास्पद है। पन को उद्धृत करते हुए, 'सूक्ष्म परीक्षण करने पर दुर्भाग्यवश कैलेस्की का सिद्धान्त निराशाजनक सिद्ध होता है। जब हम परीक्षण करते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता अर्थात् नव प्रतिष्ठित जगत् के अन्तर्गत क्या होता है तो हमें इसका पूर्ण ज्ञान होता है। तब सूत्र अनूठा परिणाम उत्पन्न करता है एकाधिकार का भाग शून्य तथा श्रमिक का भाग 100% होता है। किन्तु जब तक पूँजी दुर्लभ तथा उत्पादक होगी है तब तक यह असम्भव है कि वह कोई पारितोषिक प्राप्त नहीं करेगी। वास्तव में, यह तर्क दिया जा सकता है कि कैलेस्की का सिद्धान्त इस प्रकार के जगत् के लिए नहीं बनाया गया था। परन्तु सभी के समान इसे भी सीमा रेखा दशा (Borderline case) को सम्मिलित करने में समर्थ होना चाहिए।

यह ध्यान देने योग्य है कि लाभ के एकाधिकार सिद्धान्त के विरुद्ध अधिकांश आलोचनाएँ कैलेस्की द्वारा एकाधिकार के अंश के माप तथा उसके लाभ से सम्बन्ध के विरुद्ध है। यह कि एकाधिकार लाभ का एक महत्त्वपूर्ण कारण तथा स्रोत है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कैलेस्की ने विशेषकर एकाधिकार के समष्टिपरक अंश का प्रयोग किया तथा इसकी सहायता से राष्ट्रीय आय में लाभ तथा मजदूरी के वितरणात्मक अंशों की व्याख्या की। लर्नर के अंश के विचार पर आधारित कैलेस्की के वितरण के इस समष्टिपरक सिद्धान्त की विवेचना हम अगले अध्याय में करेंगे।

44

आय वितरण के समष्टिपरक सिद्धान्त

(MACRO-THEORIES OF INCOME DISTRIBUTION)

गत कुछ अध्यायों में हमने बताया कि विभिन्न साधनों, भूमि श्रम, पूँजी तथा उद्यमकर्त्ता की कीमतें किस प्रकार निर्धारित होती हैं। साधन-कीमतों (अर्थात् लगान, मजदूरी, ब्याज और लाभ) के निर्धारण के सिद्धान्तों को वितरण का सिद्धान्त माना जाता है क्योंकि इन साधनों की कीमत पर ही, कुछ सीमा तक यह निर्भर करता है कि इन उत्पादन के साधनों के स्वामियों में राष्ट्रीय आय तथा उत्पादन का वितरण किस प्रकार से होता है। यह उल्लेखनीय है कि आर्थिक सिद्धान्त में हमारा सम्बन्ध आय के कार्यात्मक वितरण (functional distribution) से होता है अर्थात् विभिन्न साधनों में उनके द्वारा राष्ट्रीय उत्पादन में योगदान देने के कारण उनकी निर्धारित कीमतों के साथ होता है न कि आय के व्यक्तिगत वितरण (personal distribution) अर्थात् न कि आय के समाज के विभिन्न व्यक्तियों में वितरण से। ये दोनों प्रकार के वितरण, यद्यपि पृथक् हैं, पर परस्पर निर्भर भी हैं। भौतिक साधनों जैसे भूमि, कारखाना, पूँजी वस्तुओं आदि, के स्वामित्व का वितरण, जो कि सम्पत्ति अधिकारों के सामाजिक ढाँचे पर निर्भर होता है, दिया हुआ होने पर आय का व्यक्तिगत वितरण विभिन्न साधनों की कीमतों पर निर्भर करता है।

परन्तु अभी तक वितरण की समस्या के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण मुख्यतः नव-प्रतिष्ठित (Neo-Classical) रहा है। नव-प्रतिष्ठित लेखकों के हाथों वितरण का सिद्धान्त समाज में लगान, मजदूरियों तथा लाभों के सकल भागों में राष्ट्रीय आय के वितरण के स्थान पर मुख्यतः सापेक्ष साधन-कीमतों (relative factor prices) के निर्धारण का सिद्धान्त बन कर रह गया। इस प्रकार नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त जिसको कि आधुनिक अर्थशास्त्र की अधिकांश पुस्तकों में सम्मिलित किया गया, का सम्बन्ध साधन कीमतों—लगान मजदूरी, ब्याज—के निर्धारण की प्रक्रिया तथा एक व्यक्तिगत फर्म अथवा उद्योग द्वारा साधन की माँग से है। अन्य शब्दों में, नव-प्रतिष्ठित सिद्धान्त में आय के वितरण को व्यष्टिपरक आर्थिक समस्या समझा गया। यह हमको इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न कि श्रम व पूँजी के समान विभिन्न साधनों की सकल माँग किस प्रकार निर्धारित होती है, का उत्तर नहीं देता। अन्य शब्दों में यह हमको नहीं बताता कि कुल मजदूरी आय (अर्थात्

श्रम वर्ग का कुल भाग) तथा कुल लाभ (सम्पत्ति के स्वामी वर्ग का कुल भाग) का निर्धारण किस प्रकार होता है। विभिन्न वर्गों में राष्ट्रीय आय के भागों का निर्धारण किस प्रकार होता है, यही वितरण के समष्टिपरक सिद्धान्त का क्षेत्र है। इसको आय वितरण का सकल सिद्धान्त (Aggregative Theory of Income Distribution) भी कहा जाता है। इस प्रकार, जब कि वितरण का व्यष्टिपरक सिद्धान्त इस बात का विश्लेषण करता है कि साधनों की सापेक्ष कीमतें किस प्रकार निर्धारित होती हैं, वितरण के समष्टिपरक सिद्धान्त का सम्बन्ध कुल राष्ट्रीय आय मे साधनों के सापेक्ष हिस्से के निर्धारण के विश्लेषण से है।

आय की साधनों में वितरण की समस्या मे सर्व प्रथम रुचि रिकार्डो ने ली जिसने इस बात पर बल दिया कि विभिन्न सामाजिक वर्गों—भूस्वामियों श्रमिकों और पूंजीपतियों में राष्ट्रीय आय का वितरण किस प्रकार से होता है। यही आर्थिक विश्लेषण की प्रमुख समस्या है। राष्ट्रीय आय मे वितरणात्मक हिस्सों के निर्धारण की समस्या मे रिकार्डो की रुचि इस प्रश्न के स्वतः महत्व के कारण ही नही थी। इस रुचि का कारण उसका यह विचार था कि सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के कार्यचालन तथा इसके आर्थिक विकास के निर्धारित करने वाली शक्तियों को समझने के लिए वितरण का सिद्धान्त महत्वपूर्ण है। अतः प्रो० केलडर ने कहा है, 'रिकार्डो की वितरण की समस्या मे रुचि केवल हिस्सों के वितरण की समस्या में स्वतः रुचि के कारण नहीं थी, बल्कि उसके इस विश्वास के कारण थी कि अर्थव्यवस्था के सम्पूर्ण संयत्र के समझने, विकास की दर को निर्धारित करने वाली शक्तियों, करारोपण के अन्तिम भार, संरक्षण के प्रभावों आदि का उत्तर वितरण के सिद्धान्त के पास है। वितरणात्मक हिस्सों को नियन्त्रित करने वाले नियमों की सहायता में 'वह एक सरल समष्टिपरक आर्थिक मॉडल' बनाने की आशा कर रहा था।"[1]

वितरण के समष्टिपरक सिद्धान्त में वर्तमान रुचि कुछ अनुभवगम्य अध्ययनों के कारण उत्पन्न हुई जिनसे यह पता चला कि पिछले 100 वर्षों में कुछ देशों में उत्पादन तकनीकों में परिवर्तनों प्रति व्यक्ति आयों में तीव्र वृद्धि तथा अर्थव्यवस्था में पूंजी सचय के बावजूद राष्ट्रीय आय में श्रम का भाग स्थिर (constant) रहा है। राष्ट्रीय आय में श्रम के भाग की ऐतिहासिक स्थिरता (Historical Constancy of Labour's Share in National Income) की जाँच करने के लिए आवश्यक है कि इस बात की व्याख्या की जाय कि राष्ट्रीय आय में मजदूरी, लाभ आदि का हिस्सा कैसे निर्धारित होता है। यह बताने योग्य है कि राष्ट्रीय आय मे श्रम के हिस्से की ऐतिहासिक स्थिरता रिकार्डो की कल्पना के विपरीत है। रिकार्डो ने अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा, 'समाज की विभिन्न अवस्थाओं (stages) में भूमि के सम्पूर्ण उत्पादन का अनुपात इन (तीन) वर्गों को लगान, लाभ व मजदूरी के नाम से मिलेगा वह अनिवार्य रूप से भिन्न होगा।"[2]

नीचे हम कुछ उन सिद्धान्तों की व्याख्या करेंगे जो राष्ट्रीय आय में मजदूरियों, लाभों आदि सकल भागों (aggregative shares) का निर्धारण करते हैं। वितरणात्मक हिस्सों की व्याख्या करने वाले विभिन्न सिद्धान्तों को निम्न चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है

(1) रिकार्डियन अथवा प्रतिष्ठित सिद्धान्त।
(2) मार्क्सवादी सिद्धान्त।
(3) नव प्रतिष्ठित या सीमानवादी सिद्धान्त
(4) केन्ज़ियन अथवा केलडर का सिद्धान्त।

हम प्रत्येक सिद्धान्त का अलग से अध्ययन करेंगे।

आय वितरण का रिकार्डियन या प्रतिष्ठित सिद्धान्त
(The Ricardian Theory or Classical Theory of Income Distribution)

रिकार्डो के सिद्धान्त में अर्थव्यवस्था को दो क्षेत्रों

1 N Kaldor, Alternative Theories of Distribution, *Review of Economic Studies* vol 23, pp 83—100 reprinted in his *Essays on Value and Distribution*

2 Quoted by Kaldor in his *Alternative Theories of Distribution*

मे विभाजित किया गया है—कृषि तथा उद्योग। परन्तु रिकार्डो के मॉडल म कृषि क्षेत्र को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है क्योंकि कृषि क्षेत्र म काय कर रही वितरणात्मक शक्तियां ही उद्योग म वितरणात्मक भागो का निर्धारण करती है। इसके अतिरिक्त, रिकार्डो का सिद्धान्त तीन मान्यताओं पर आधारित है। सर्वप्रथम, यह मान लिया गया है कि कृषि म ह्रासमान प्रतिफल का नियम लागू होता है अर्थात जब भूमि पर अधिक श्रम का प्रयोग किया जाता है तो श्रम के औसत तथा सीमान्त उत्पादन घट जाते है। दूसरे, रिकार्डो ने माल्थस के जन-सख्या सिद्धान्त के सत्य होने को स्वीकार किया जिसके अनुसार मजदूरी दरो के न्यूनतम निर्वाह-स्तर स अधिक हो जाने पर जनसख्या म वृद्धि होने लगती है और न्यूनतम निर्वाह स्तर म कम मजदूरी होने पर जनसख्या गिरने लगती है। मजदूरी दरो के निर्वाह स्तर से ऊपर अथवा नीचे होने के कारण जनसख्या म समायोजन और इसके परिणामस्वरूप जनसख्या म परिवर्तन के कारण मजदूरी दरें दीर्घकाल म निर्वाह-स्तर के समान हो जाती है। तीसरे, रिकार्डो ने यह माना कि लाभ पूँजी सचय, जो कि आर्थिक विकास का आधार है, के लिए आवश्यक प्रेरणा है।

रिकार्डो ने राष्ट्रीय उत्पादन के लगानो, मजदूरियो तथा लाभो मे वितरण की व्याख्या की। प्रो० केलडर के अनुसार रिकार्डो का आय वितरण का सिद्धान्त दो पृथक सिद्धान्तो पर आधारित है, 'सीमान्त सिद्धान्त' तथा 'अधिशेष सिद्धान्त' ('Marginal Principle' and 'Surplus Principle')। सीमान्त सिद्धान्त की *सहायता से रिकार्डो के सिद्धान्त ने बताया कि राष्ट्रीय* उत्पादन म से लगान का भाग (share) किस प्रकार निर्धारित होता है और अधिशेष सिद्धान्त की सहायता से बताया कि बचा हुआ राष्ट्रीय उत्पादन (अर्थात् *राष्ट्रीय उत्पादन—लगान) किस प्रकार मजदूरियो* और लाभो मे वितरित होता है। जैसाकि सर्वविदित है, रिकार्डो के सिद्धान्त म *लगान श्रम द्वारा श्रेष्ठ* भूमियो पर किये गए उत्पादन तथा 'सीमान्त भूमि' (अर्थात् वह भूमि जो केवल उत्पादन प्रदान करती है कि उत्पादन लागत ही पूरी हो सके) पर किये गए उत्पादन का अन्तर है। यदि खेती की दोनो सीमाओ, *गहन और विस्तृत पर विचार किया जाए, तो भूमि* का लगान भूमि पर लगाई गई उत्पादन लागतो तथा इससे प्राप्त कुल उपज का अन्तर है। रिकार्डो के सिद्धात मे चूकि सतुलन स्थिति मे प्रति इकाई उत्पादन लागत सदा श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी, इसलिए उत्पादन की कुल लागतो का पता लगाने के लिए श्रम के सीमांत उत्पादन को काम पर लगाई गई श्रम-इकाइयो से गुणा करना होता है। दूसरी ओर, औसत उत्पादकता को काम पर लगाई गई श्रम-इकाइयों से गुणा करके कुल उत्पादन को प्राप्त किया जा सकता है। कुल उत्पादन तथा कुल उत्पादन लागत का अन्तर ही लगान कहलाएगा। तनिक चिन्तन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि दी हुई भूमि पर श्रम की सीमान्त उत्पादकता तथा औसत उत्पादकता का अन्तर ही उस लगान की मात्रा के बराबर होगा जो काम पर लगाई गई प्रति श्रम-इकाई से प्राप्त होगा और कुल लगान उसके गुणनफल के बराबर होगा जो कि औसत उत्पादन व सीमांत उत्पादन के अन्तर को काम पर लगाई गई श्रम इकाइयो से गुणा करने पर प्राप्त होगा। प्रो० *केलडर के अनुसार, "लगान सीमात भूमि पर श्रम के* उत्पादन तथा औसत भूमि पर श्रम के उत्पादन में अन्तर है, अथवा (गहन तथा विस्तृत सीमान्तो पर ध्यान देते हुए) औसत तथा सीमान्त श्रम उत्पादकताओं मे अन्तर है।"[1]

रिकार्डो ने सीमात सिद्धान्त तथा अधिशेष सिद्धान्त का प्रयोग करके लगानो, मजदूरियो तथा लाभो के सापेक्ष भागो (relative shares) के निर्धारण की *व्याख्या जिस प्रकार से की थी उसको रेखाकृति 44.1* की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।[2] इस रेखाकृति मे X अक्ष पर कृषि भूमि पर लगाई गई श्रम-मात्रा को दिखाया गया है और Y-अक्ष पर उत्पादित कृषि उत्पादन को। AP तथा MP वक्र क्रमश श्रम की औसत तथा सीमांत उत्पादकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। AP तथा MP दोनों ही वक्र नीचे को गिरते

1. N Kaldor, *Op cit*

2 इस रेखाकृति का प्रयोग केलडर ने अपने उपर्युक्त वर्णित लेख में किया है।

हुए हैं। इसका कारण ह्रासमान प्रतिफल के नियम का क्रियाशील होना है। अब मान लीजिए कि कृषि में OM श्रम का प्रयोग किया जाता है, तो श्रम का सीमांत उत्पादन ME होगा और श्रम का औसत उत्पादन MD। सीमांत तथा औसत उत्पादन में अन्तर ED के बराबर है। जैसा कि ऊपर बताया गया है श्रम के सीमांत व औसत उत्पादनों में अन्तर उस लगान को प्रदर्शित करता है जो भूमि पर प्रति इकाई श्रम का प्रयोग करने पर प्राप्त होता है। इस प्रकार ED भूमि द्वारा प्राप्त कुल लगान है जो कि प्रति इकाई श्रम का प्रयोग करने पर प्राप्त होता है। भूमि द्वारा प्राप्त कुल लगान $BEDC$ (अर्थात् $ED \times BE$) के क्षेत्र के बराबर है। इस प्रकार कुल उत्पादन $OMDC$ में से लगान का भाग $BEDC$ है।

अब शेष बचा हुआ $OMEB$ भाग श्रम तथा पूंजी में वितरित होगा। यह ध्यान देने योग्य है कि आधुनिक

रेखाकृति 44 1

रिकार्डो के समष्टिपरक आर्थिक मॉडल में सापेक्ष हिस्सों का निर्धारण

अर्थशास्त्र के सामान्य विचार के विरुद्ध रिकार्डो के सिद्धान्त में श्रम की मजदूरी दरें श्रम की सीमांत उत्पादकता द्वारा निर्धारित नहीं होती। रिकार्डो के सिद्धान्त में सीमांत उत्पादन (marginal product) को मजदूरियों तथा लाभों की मात्रा के बराबर माना गया है। रिकार्डो के विश्लेषण में मजदूरी दर न्यूनतम निर्वाह-स्तर से, जो केवल न्यूनतम निर्वाह-स्तर पर श्रम को जीवित रखने के लिए अनिवार्य है (जो कि रिकार्डो के विश्लेषण में शारीरिक तथा सांस्कृतिक कारकों से निर्धारित होता है) निर्धारित होती है। मान लीजिए कि न्यूनतम निर्वाह-स्तर कृषि (अर्थात् अन्न) के OW उत्पादन के बराबर है। तब दीर्घकाल में जो मजदूरी की दर निर्धारित होगी वह OW के बराबर होगी। श्रम की सीमांत उत्पादन की मात्रा, चूंकि, रिकार्डो की व्यवस्था में मजदूरियों और लाभ के बराबर है इसलिए $KE(=WB)$ दूरी प्रति इकाई श्रमिक (काम पर लगाये गए) पर लाभ की दर को मापती है। काम पर लगाये गए श्रम की मात्रा OM तथा मजदूरी दर के OW होने पर मजदूरियों का भाग $OMKW$ होगा। इस प्रकार बचे हुए उत्पादन $OMEB$ (अर्थात् उत्पादन—लगान) में मजदूरियों का भाग (श्रम का हिस्सा) $OMKW$ के समान होगा। कुल उत्पादन में से बचा हुआ उत्पादन, $WKEB$ लाभों का हिस्सा होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि रिकार्डो के सिद्धान्त में लाभों को अवशिष्ट (residual) आय माना गया है जोकि मजदूरियों और लगानों का वितरण करने के पश्चात् बच रहता है। अन्य शब्दों में, कुल उत्पादन में से मजदूरियों व लगानों को निकालने पर जो अधिशेष रह जाता है, वह लाभ है।

रेखाकृति 44 1 में हमने यह मान लिया है कि OM श्रम की वह मात्रा है जिसको काम पर लगाया गया है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि श्रम-रोजगार के स्तर को कौन से तत्त्व निर्धारित करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि रिकार्डो के विश्लेषण में श्रम की कितनी मात्रा का उपयोग किया जाएगा यह मजदूरी दर तथा सीमांत उत्पादकता वक्र द्वारा निर्धारित नहीं होता। रिकार्डो के सिद्धान्त में रोजगार का स्तर अर्थव्यवस्था में पूंजी-संचय पर निर्भर करता है। जब अधिक पूंजी संचित की जाती है तो अधिक वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए अधिक श्रम को काम पर लगाया जाता है। इस प्रकार, पूंजी के स्टॉक में वृद्धि होने पर, श्रम की मांग में और इस प्रकार रोजगार में वृद्धि होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि औद्यो-

गिक क्षेत्र मे रोजगार का स्तर उपलब्ध पूँजी स्टॉक द्वारा निर्धारित होता है।

जैसा कि हमने ऊपर बताया, श्रम की OM मात्रा का प्रयोग करने पर कृषि उत्पादन मे लाभो का हिस्सा $WKEB$ के बराबर है तथा मजदूरी का हिस्सा OM-KW के बराबर। इसके परिणामस्वरूप जो अनुपात, *लाभो/मजदूरियो का प्राप्त होता है, वह विनियोजित* मुद्रा पर प्राप्त लाभ की प्रतिशत दर को दर्शाता है। सतुलन स्थिति मे पूँजी विनियोग (investment) पर मौद्रिक लाभ की प्रतिशत दर कृषि तथा उद्योग मे समान होनी चाहिए। यह इसलिए है क्योकि उनकी गतिशीलता के दिये हुए होने पर, जब तक दोनो क्षेत्रो मे लाभ की दर समान नहीं हो जाएगी तब तक पूँजी कोष एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र को स्थानातरित होते रहेगे। परन्तु कृषि क्षेत्र की एक मुख्य विशेषता यह है कि इसमे मौद्रिक लाभो के दर उन दरो से भिन्न नही हो सकते जिनको इसके स्वय के उत्पादनो मे (अर्थात् अन्न मे लाभ की दर) पाया जाता है। इसका कारण यह है कि कृषि क्षेत्र मे आगत (input), [मजदूरी कोष (wage fund) जिसका प्रयोग श्रम को मजदूरी देने के लिए किया जाता है] तथा उत्पादन दोनो एक ही वस्तु हैं, नामत अन्न हैं। परन्तु विनिर्माणकारी उद्योग मे आगत तथा उत्पादन भिन्न वस्तुऐं होती हैं। विनिर्माण उद्योग मे जबकि पहत श्रमिको को दी गई (अनाज के रूप मे) मजदूरियां हैं, उत्पादन निर्मित वस्तुओ के रूप में होता है। अब आगत अन्न-मजदूरी (corn-wages) एक निश्चित मात्रा है जिसका *निर्धारण न्यूनतम निर्वाह-स्तर से होता है* और तकनीकी ज्ञान का स्तर दिया हुआ होने पर, निर्मित वस्तुओ के रूप मे प्रति श्रमिक उत्पादन भी स्थिर होता है। इससे यह अर्थ निकलता है कि उद्योग मे अन्न-मजदूरी या प्रति श्रमिक उत्पादन मे परिवर्तन होने के कारण मौद्रिक लाभ की दर मे परिवर्तन नही हो सकता (क्योकि ये दोनो स्थिर होते हैं)। उद्योग मे मौद्रिक लाभ की दर के परिवर्तित होकर सतुलन मे होना तथा कृषि मे मौद्रिक लाभ की दर के समान होना कृषि पदार्थों की तुलना मे विनिर्मित पदार्थों की सापेक्ष कीमत मे केवल परिवर्तन द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार उद्योग मे मौद्रिक लाभ की दर को कृषि मे अन्न मे लाभ की दर के बराबर होना पड़ेगा। स्थिति इसके विपरीत नही होती। इस प्रकार रिकार्डो के कार्यक्रम मे, उद्योग मे मौद्रिक लाभ की दर कृषि मे अन्न-लाभ की दर पर निर्भर करती है (जो कि कृषि मे मौद्रिक लाभ की दर के बराबर है)। इस प्रकार इससे यह अर्थ निकलता है कि विनिर्माण उद्योग मे मौद्रिक लाभ की दर कृषि मे अन्न-लाभ की दर (corn rate of profit) पर निर्भर करती है। कृषि मे अन्न-लाभ की दर मे गिरावट के कारण विनिर्माणकारी उद्योग मे मौद्रिक लाभ की दर मे भी गिरावट आ जाएगी।

अब यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि आर्थिक विकास का सापेक्ष वितरणात्मक हिस्सो पर क्या प्रभाव पड़ता है? अर्थव्यवस्था मे चूकि लाभो, मजदूरियो तथा लगानो के सापेक्ष हिस्सो के निर्धारण मे कृषि-क्षेत्र का व्यवहार बहुत महत्त्वपूर्ण है, हम कृषि के विकास से ही प्रारम्भ करते हैं। पूँजी-सचय से, कृषि मे श्रम-रोजगार तथा उत्पादन विस्तृत होता है। श्रम-रोजगार तथा उत्पादन मे वृद्धि के परिणामस्वरूप श्रम की मांग मे वृद्धि होती है। श्रम की मांग में वृद्धि होने पर मजदूरियो की दरें न्यूनतम निर्वाह अथवा 'प्राकृतिक' स्तर से अधिक हो जाएँगी। इससे जनसख्या में वृद्धि होगी। जनसख्या मे वृद्धि से मजदूरी की दर में गिरावट आएगी और श्रम पूर्ति में वृद्धि के कारण मजदूरी की दर गिर कर न्यूनतम निर्वाह-स्तर तक पहुच जाएगी। परन्तु जनसख्या में वृद्धि के कारण कृषि पदार्थों की मांग में वृद्धि हो जाएगी। जैसे अधिक श्रमिको को कृषि में लगाकर कृषि उत्पादन में वृद्धि की जाएगी, ह्रासमान प्रतिफल नियम के कार्यशील होने के कारण श्रम के औसत तथा सीमात उत्पादनो में गिरावट आ जाएगी। रेखाकृति 44.1 से जब अधिक श्रम का प्रयोग किया जाता है तो श्रम के औसत तथा सीमांत उत्पादन में गिरावट आ जाती है। ऐसा इसलिए है क्योकि ह्रासमान प्रतिफल के नियम के क्रियाशील होने के कारण AP तथा MP वक्र नीचे को गिरते हुए हैं। इसका अर्थ यह है कि जब कृषि मे श्रम-रोजगार मे

वृद्धि होने पर कृषि रोजगार में विस्तार होता है और परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन बढ़ता है, तो लगानों में वृद्धि होगी,क्योंकि जैसा कि हमने ऊपर देखा, लगान श्रम के औसत तथा सीमांत उत्पादनों मे अन्तर है।

रेखाकृति 44·1 पर एक दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायगा कि AP तथा MP वक्रो मे लम्बरूप (vertical) दूरी श्रम की मात्रा मे वृद्धि के साथ-साथ बढ़ती जाती है। OM श्रम का प्रयोग करने पर औसत उत्पादन (AP) तथा सीमान्त उत्पादन (MP) का अन्तर, (अर्थात् भूमि पर प्रति श्रम इकाई लगान) ED है। यह भी स्पष्ट है कि M के दाई ओर दोनो मे अन्तर बढ़ता जा रहा है। इस प्रकार, तकनीकी ज्ञान के दिया हुआ होने पर, कृषि के विकास के कारण लगानों मे वृद्धि होगी।

इसके अतिरिक्त, श्रम के औसत तथा सीमान्त उत्पादन घट जाने का अर्थ है उत्पादन लागत मे वृद्धि। उत्पादन लागत मे वृद्धि के कारण, कृषि उत्पादन की कीमतो मे वृद्धि हो जायगी। कृषि उत्पादन या अन्न की ऊंची कीमत होने पर श्रमिकों को ऊंची मजदूरियो का देना आवश्यक हो जायेगा जिससे कि वे रहन-सहन के स्तर को बनाए रख सकें। परन्तु इस पर ध्यान देना चाहिए कि जब मुद्रा की दरों मे मजदूरियो मे वृद्धि होगी, अन्न की दरों मे मजदूरियों में परिवर्तन नहीं होगा और वे न्यूनतम निर्वाह स्तर (OW) पर दीर्घकाल में स्थिर रहेंगी। रिकार्डो के मॉडल मे, दीर्घकाल में यद्यपि वास्तविक मजदूरी की दरें OW पर स्थिर रहेगी परन्तु कृषि मे रोजगार तथा उत्पादन की वृद्धि पर कुल उत्पादन मे मजदूरियो का हिस्सा बढ़ जाएगा। यह रेखाकृति 44·1 से स्पष्ट है, जहाँ जब कृषि मे लगाये गए श्रमिको की सख्या बढ़ कर N तक पहुच जाती है तो श्रमिको का कुल मजदूरी हिस्सा बढ़ कर $OWTN$ के क्षेत्र के बराबर हो जाता है जो कि OM रोजगार स्तर पर प्राप्त हो रहे $OWKM$ मजदूरी भाग से अधिक है। श्रम का कुल उत्पादन में कुल सापेक्ष हिस्सा बढ़ गया है। इस पर ध्यान देना चाहिये कि मजदूरी भाग मे जो वृद्धि हो रही है वह लाभो की लागत पर हो रही है क्योंकि रोजगार व उत्पादन मे वृद्धि होने पर वे निरन्तर गिर रहे हैं। अर्थव्यवस्था मे विकास होने पर लाभो मे गिरावट आएगी यह रेखाकृति 44·1 से स्पष्ट है। जैसा कि ऊपर देखा प्रति श्रम इकाई पर अर्जित लाभ श्रमिक के सीमान्त उत्पादन तथा श्रमिकों को प्रदान की गई निर्वाह मजदूरी (subsistence wage) का अन्तर है। रेखाकृति 44·1 से यह स्पष्ट है कि K बिन्दु के या OM से अधिक उत्पादन के बाईं ओर सीमान्त उत्पादन तथा न्यूनतम निर्वाह मजदूरी रेखा (WL) मे दूरी कम हो रही है और T बिन्दु पर यह दूरी बिल्कुल समाप्त हो जाती है। बिन्दु T पर रोजगार ON है जहाँ श्रम का सीमान्त उत्पादन, निर्वाह मजदूरी OW के बराबर है अर्थात् M बिन्दु से आगे जैसे-जैसे रोजगार बढ़ता है लाभ कम होता है, और ON रोजगार स्तर पर यह गिरकर शून्य हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कृषि मे रोजगार तथा उत्पादन में वृद्धि होने पर, जबकि मजदूरियो का सापेक्ष हिस्सा अधिक होता जाता है, लाभो का हिस्सा कम होता जाता है और अन्त में शून्य हो जाता है। इस प्रकार ध्यान देना चाहिए कि लाभों मे गिरावट का कारण कृषि में ह्रासमान प्रतिफल का नियम (श्रम का घटता सीमान्त उत्पादन) है.

अब प्रश्न यह है कि कृषि में उत्पादन व रोजगार मे विस्तार होने का क्या प्रभाव औद्योगिक क्षेत्र के वितरणात्मक हिस्सो पर पड़ता है? रिकार्डो के मॉडल मे विनिर्माणकारी उद्योग मे भी लाभो मे कमी होगी। इसका कारण यह है कि कृषि उत्पादन की कीमतो मे वृद्धि के परिणामस्वरूप निर्वाह-स्तर की मौद्रिक लागत में वृद्धि हो जाएगी और इसलिए उद्योग को अपने श्रमिको को ऊंचे वेतन देने होंगे।[1] श्रमिको की मज-

---

1. चूंकि कृषि क्षेत्र स्वयं उन वस्तुओं का उत्पादन करता है, अर्थात् अन्न जिनमें वास्तविक मजदूरी को निर्धारित किया जाता है, इस कारण ह्रासमान प्रतिफल के कारण कृषि कीमतों में वृद्धि के कारण मौद्रिक मजदूरियों में वृद्धि कृषि को प्रभावित नहीं करती, क्योंकि वास्तविक मजदूरी—अन्न में मजदूरी—समान रहती है। परन्तु जैसा ऊपर बताया गया, औद्योगिक क्षेत्र के लिये ऐसा नहीं है। उद्योग, चूंकि, अन्न का, जिस पर मजदूरियों को खर्च किया जाता है, उत्पादन नहीं करते, (अन्न में वास्तविक मजदूरी के स्थिर रहने की दशा में भी) इसलिए उनको अधिक मौद्रिक मजदूरियाँ देनी होती हैं और इससे उनके लाभ प्रभावित होते हैं।

दूरियो मे वृद्धि का अर्थ है कि उद्योगो के लाभो मे कमी। इस प्रकार विनिर्माणकारी उद्योगो के लाभों मे कमी होती है। इस कमी का कारण कृषि मे ह्रासमान प्रतिफल नियम का लागू होना तथा कृषि उत्पादन की कीमतो तथा लागतो मे तदनुरूपी वृद्धि है। यह कमी तब भी होती है जबकि उद्योग मे ह्रासमान प्रतिफल का नियम लागू न हो रहा हो। इसके अतिरिक्त हमने ऊपर यह भी बताया है कि यह माने जाने के कारण कि पूंजी पूर्णतया गतिशील है, कृषि मे लाभ की दरो मे भी कमी होने पर उद्योग की लाभ दरो मे भी गिरावट होगी अन्यथा पूंजी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में चली जायगी। इसके पीछे तर्क वही है जिसका वर्णन हमने ऊपर किया नामदा कृषि क्षेत्र मे लाभ मे कमी होने पर उद्योग के लाभ मे भी कमी हो जाएगी क्योकि कृषि पदार्थों की कीमतों में वृद्धि हो जाएगी (अर्थात् कृषि कीमतो की तुलना मे औद्योगिक कीमतें गिर जाएँगी) और बाध्य होकर उद्योगपतियो को ऊँची मजदूरियाँ देनी होगी।

ऊपर हमने देखा कि रिकार्डो के समष्टिपरक आर्थिक मॉडल मे, अर्थव्यवस्था के दोनो क्षेत्रो—कृषि व उद्योग मे लाभो की दरो मे कमी होने की प्रवृत्ति होती है। रिकार्डो के सिद्धान्त मे लाभो को अर्थव्यवस्था मे पूंजी-सचय के लिये अनिवार्य प्रेरणा माना गया है। जब लाभ दरों मे कमी होती है तो पूजी-सचय की दर घटती जाती है, और अन्त में, जबकि लाभ की दर घट कर शून्य हो जाती है तो निवेश (investment) तथा पूंजी-सचयो का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और अर्थव्यवस्था स्थिरता की स्थिति (stationary state) में पहुँच जाती है जहाँ भावी विकास पूर्णरूप से रुक जाता है। रिकार्डो के सिद्धान्त का यही निष्कर्ष है। रिकार्डो के सकल आय वितरण तथा अर्थव्यवस्था के विकास के सिद्धान्त का सार प्रो० पेटरसन (Patterson) के निम्न शब्दों मे दिया जा सकता है "स्थिर तकनीक तथा स्थिर 'प्राकृतिक' मजदूरी (वास्तविक दरों में) के दिये हुए होने पर, उत्पादन तथा रोजगार के स्तर में वृद्धि होने पर कुल उत्पादन मे मजदूरियों का सापेक्ष हिस्सा बढ़ जायेगा, लाभ का सापेक्ष हिस्सा कम हो जायगा और अन्त मे शून्य रह जायगा। यह बिन्दु परम्परावादी सिद्धान्त की प्रसिद्ध 'स्थिर' दशा (stationary state) है जिस पर अर्थव्यवस्था पहुँच जाती है। यह गम्भीर स्थिति है जिसमे सचय, जनसख्या मे वृद्धि तथा तकनीकी विकास रुक जाता है। इस दशा को लाने की कारणभूत शक्ति कृषि मे ह्रासमान प्रतिफल की वास्तविकता है। यह शोचनीय प्रवृत्ति है जिसको तकनीकी विकास द्वारा केवल कुछ समय के लिए टाला जा सकता है। अन्य शब्दो मे, तकनीकी विकास अन्तत लाभो की पूर्ण समाप्ति और स्थिर स्थिति के प्रारम्भ होने से सदा के लिये नही रोक सकता है।"[1]

श्री पाल डेविडसन का विचार था कि जबकि रिकार्डो का आर्थिक सिद्धान्त इस बारे मे स्पष्ट है कि आर्थिक विकास की दशा मे कुल उत्पादन मे मजदूरियो का सापेक्ष हिस्सा बढ़ जाता है और यह वृद्धि लाभो की लागत पर होती है, परन्तु रिकार्डो विकास के दौरान कुल उत्पादन मे लगान के सापेक्ष हिस्से मे परिवर्तन के बारे मे स्पष्ट तथा निश्चित नही था। अब यदि उत्पादन तथा रोजगार मे विकास होने पर अर्थव्यवस्था उसी प्रकार से व्यवहार करती है जिस प्रकार से कि रेखाकृति 44 1 मे दिखाया गया है तो मजदूरियों के कुल हिस्से मे वृद्धि के साथ-साथ लगान के सापेक्ष हिस्से मे भी वृद्धि हो जायगी। इसका कारण यह है कि श्रम के रोजगार मे क्रमिक वृद्धि से औसत उत्पादन तथा सीमान्त उत्पादन मे अन्तर (जोकि लगान के बराबर है) बढता जायगा।

रिकार्डो सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Ricardian Theory)

रिकार्डो का सिद्धान्त प्रथम साहसपूर्ण तथा कल्पनापूर्ण प्रयत्न था जिसने आय के, लगान, मजदूरियो तथा लाभो के सापेक्ष कार्यात्मक हिस्सो मे, वितरण की महत्त्वपूर्ण समस्या पर विचार किया।

---

1. Wallace C Patterson, *Income, Employment and Economic Growth* (New York, 1962) p 430

परन्तु इस सिद्धान्त मे बहुत सी कमियाँ हैं । सर्वप्रथम, विकास के दौरान वास्तविक घटनाएं उन घटनाओं से बिल्कुल विपरीत हैं जिनको रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त में सोचा । इस प्रकार रिकार्डो के विचार के विपरीत कुल उत्पादन में श्रम के सापेक्ष हिस्से में कोई वृद्धि नहीं होती है । अनुभव-गम्य अध्ययन से यह पता चला है कि राष्ट्रीय आय में श्रम का सापेक्ष हिस्सा (मजदूरी), पश्चिम के पूंजीवादी देशों में पिछले 100 वर्षों में स्थिर रहा है । इसके अतिरिक्त, ह्रासमान प्रतिफल नियम के क्रियाशील होने के कारण लाभ की गिरती दर भी, जिसकी रिकार्डो ने पूर्व घोषणा की, वास्तविक जगत में नहीं पाई गई। कुल उत्पादन में लाभों का हिस्सा, सामान्यत, स्थिर ही रहा है । इसके अतिरिक्त, पूंजीवादी देशों मे तीव्र आर्थिक विकास हुआ है । रिकार्डो की इस शोचनीय भविष्यवाणी कि अर्थ-व्यवस्थाएँ निश्चित रूप से स्थिरता की अवस्था की ओर अग्रसर होंगी, के विपरीत इन अर्थव्यवस्थाओं मे तेजी से आर्थिक विकास हुआ है । इस प्रकार हम देखते है कि वास्तविक घटनाओं ने रिकार्डो के सिद्धान्त को सत्य सिद्ध नहीं किया और रिकार्डो एक असत्य भविष्यवाणी करने वाला सिद्ध हुआ है ।

दूसरे, रिकार्डो का विश्लेषण इसलिए भी असन्तोष-जनक है क्योंकि ह्रासमान प्रतिफल के नियम से इसका निकटतम सम्बन्ध स्थापित किया गया है । ह्रासमान प्रतिफल के नियम के क्रियाशील होने के आधार पर ही रिकार्डो ने यह निष्कर्ष निकाला कि लाभों की दर व उनके हिस्से में कमी आएगी जबकि मजदूरियो तथा लगान के हिस्से मे वृद्धि होगी । रिकार्डो के अनुसार, तकनीकी विकास इतना तीव्र कभी भी नहीं हो सकता कि वह ह्रासमान प्रतिफल के नियम के कार्यचालन को रोक दे । किन्तु वास्तव में तकनीकी विकास इतना तीव्र गति से हुआ है कि ह्रासमान प्रतिफल नियम का कार्यचालन टल गया है । तकनीकी विकास की तीव्र वृद्धि के कारण ही इतनी तेजी से आर्थिक विकास सम्भव हुआ है ।

तीसरे, रिकार्डो ने माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त, नामत, वास्तविक मजदूरी दरों के निर्वाह-स्तर से अधिक हो जाने पर जनसंख्या मे वृद्धि होगी, को स्वीकार किया । यह पूर्णतया असत्य है और पश्चिमी देशो के वास्तविक अनुभवों से गलत सिद्ध हो गया है । वास्तविक आय की प्रत्येक वृद्धि से जनसंख्या नहीं बढ़ती । वास्तव मे, विकसित पश्चिमी देशो मे मजदूरी दरों तथा प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि के कारण जन्म दरों में कमी होने से जनसंख्या में भी कमी हो गई है ।

आय वितरण का मार्क्सवादी सिद्धान्त (The Marxian Theory of Income Distribution)

समष्टिपरक आय वितरण के मार्क्सवादी सिद्धान्त को रिकार्डो के सिद्धान्त से व्युत्पन्न किया गया, यद्यपि इसके (मार्क्स) विश्लेषण से कुल उत्पादन मे वितरणात्मक हिस्सों के व्यवहार के सम्बन्ध में जो निष्कर्ष निकाले वे रिकार्डो के सिद्धान्त से बिल्कुल विपरीत हैं । इस सम्बन्ध मे प्रो० केलडर ने कहा, "मार्क्सवादी सिद्धान्त मूल रूप में रिकार्डो के 'अविशेष सिद्धान्त' का ही संशोधित रूप है ।"[1] मार्क्स का वितरण का सिद्धान्त उसके पूंजीवाद के विकास के सामान्य सिद्धान्त का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है क्योंकि उसने सोचा था कि वितरणात्मक भागो में परिवर्तन पूंजी-वादी अर्थव्यवस्था मे विकास की गति को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित करते हैं ।

मार्क्स का आय वितरण विश्लेषण मूल्य के श्रम सिद्धान्त (labour theory of value) पर आधारित है । यह सिद्धान्त मार्क्स ने एडम स्मिथ तथा रिकार्डो से लिया था । मार्क्स के श्रम के मूल्य सिद्धान्त के अनुसार, किसी भी वस्तु का मूल्य उस श्रम-समय द्वारा निर्धारित होता है जो उस वस्तु के बनाने मे लगा है । श्रम ही समस्त मूल्यो का अन्तिम स्रोत है । मार्क्स के अनुसार, पूंजी, साज-सज्जा और कच्चे माल से मूल्य उत्पन्न नहीं होता, वे तो केवल वस्तु को अपना मूल्य हस्तांतरित कर देते हैं । दूसरी ओर, एक वस्तु के उत्पादन मे जितना श्रम शक्ति का मूल्य लगता है, श्रम उससे अधिक मूल्य का सृजन करता है । अन्य

1. N Kaldor, *Alternative Theories of Distribution.*

शब्दो मे, श्रम-शक्ति (labour power) की विलक्षण विशेषता यह है कि यह अपने मूल्य से अधिक मूल्य का सृजन करती है। (Labour creates more value than its own value)। अन्य शब्दों मे, श्रम-शक्ति का निर्धारण श्रम के पुनरुत्पादन की लागत पर निर्भर है, अर्थात उन वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य पर जो श्रमिक को न्यूनतम निर्वाह-स्तर पर बनाये रखने के लिए आवश्यक है। अत श्रम-शक्ति के मूल्य का अर्थ है न्यूनतम निर्वाह मजदूरी जो कि मजदूरो को जीवित रखने के लिए आवश्यक है। श्रम-शक्ति के मूल्य का तात्पर्य श्रम की पूर्ति कीमत से है। श्रम की पूर्ति कीमत वह कीमत है जिस पर श्रमिक पूँजीपतियो को अपनी सेवाएँ (श्रम) उत्पादन प्रक्रिया मे प्रयोग के लिए देते हैं। परन्तु, जैसा कि ऊपर कहा गया, श्रम अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य की तुलना मे कही अधिक उत्पादन करता है, अर्थात् उस उत्पादन से अधिक जो उसके न्यूनतम निर्वाह-स्तर को बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

श्रम का मूल्य सिद्धान्त तथा श्रम-शक्ति के मूल्य के न्यूनतम निर्वाह-स्तर के बराबर होने की धारणाएँ दोनो मार्क्सवादी सिद्धान्त मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं क्योकि ये ही मार्क्स के अधिशेष मूल्य सिद्धान्त के आधार हैं। अधिशेष मूल्य का सिद्धान्त ही पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे मजदूरियो तथा लाभो मे समस्त आय वितरण की व्याख्या करता है।[1] श्रम चूंकि अपने पदार्थ के मूल्य या श्रम-शक्ति के मूल्य से अधिक मूल्य का सृजन करता है, अर्थात्, न्यूनतम निर्वाह से अधिक उत्पादन इसलिए जिस अधिशेष का उद्गम होता है वह पूँजीपति द्वारा हस्तगत कर लिया जाता है, जोकि उत्पादन के भौतिक साधनो जैसे पूँजी, साज-सज्जा, भूमि और कच्चे माल (जिसकी सहायता से उत्पादन करने मे श्रमिक को लगाया जाता है), का स्वामी होता है। इस अधिशेष को मार्क्स अधिशेष मूल्य (surplus value) कहते हैं। यह अधिशेष मूल्य पूँजीपतियो के लाभ का प्रतिनिधित्व करता है। मार्क्स के अनुसार, यह अधिशेष मूल्य अथवा लाभ, जोकि श्रम द्वारा अपनी श्रम-शक्ति के मूल्य अथवा निर्वाह आवश्यकताओ से अधिक उत्पन्न किया जाता है अनुचित तरीको द्वारा पूँजीपति वर्ग द्वारा हस्तगत कर लिया जाता है। अन्य शब्दो मे अधिशेष मूल्य जो कि पूँजीपति द्वारा श्रम से छीना जाता है श्रम के शोषण (exploitation of labour) का प्रतिनिधित्व करता है। उत्पादन के अमानवीय साधनो के स्वामित्व के कारण ही पूँजीपति श्रमिको का शोषण करते हैं और इनसे अधिशेष मूल्य छीन लेते हैं। अत कुल उत्पादन के मूल्य म लाभो का हिस्सा इस बात पर निर्भर करता है कि श्रम से छीने गये अधिशेष मूल्य का आकार क्या है। प्रो० पेटरसन ने ठीक ही कहा है "मार्क्सवादी आय वितरण के सिद्धान्त मे अधिशेष मूल्य की धारणा बहुत महत्त्वपूर्ण है अधिशेष मूल्य सब लाभो का स्रोत है और पूँजीपति वर्ग द्वारा छीने गए अधिशेष का आकार ही कुल आय मे लाभो के सापेक्ष हिस्से (relative share) का निर्धारण करेगा।"[2]

मार्क्सवादी विश्लेषण मे, उत्पादन के कुल मूल्य मे तीन तत्त्व होते हैं। सर्वप्रथम, इसमे पूँजी और कच्चा माल, जिसका प्रयोग वस्तुओ और सेवाओ का उत्पादन करने मे किया जाता है, का मूल्य सम्मिलित होता है। मार्क्स ने इसको स्थिर पूँजी (constant capital) माना और इसको '*C*' द्वारा व्यक्त किया। दूसरे, कुल उत्पादन के मूल्य मे श्रम शक्ति, जिसका प्रयोग वस्तुओ और सेवाओ का उत्पादन करने के लिए किया जाता है, का मूल्य सम्मिलित होता है अर्थात, न्यूनतम निर्वाह मजदूरी की दरो मे श्रमिको को दी गई कुल मजदूरियाँ। मार्क्स ने इसको परिवर्तनशील पूँजी (variable capital) माना और इसको *V* द्वारा व्यक्त किया। तीसरे, कुल उत्पादन के मूल्य मे अधिशेष मूल्य सम्मिलित होता है जो कि श्रम-शक्ति के मूल्य से अधिक श्रमिको द्वारा सृजित किया जाता है। यह

1 इस पर ध्यान देना चाहिए कि मार्क्स ने दो वर्गों के बारे में ही सोचा—श्रमिक तथा पूँजीवादी—जिनमें कुल आय का वितरण होता है। लाभ को उसने सम्पत्ति स्वामी वर्ग की आय माना। इसलिए भूमि से लगान लाभ में सम्मिलित है।

2 Wallace C Patterson, *op cit*, p 432

जैसा कि ऊपर देखा गया, पूँजीपति वर्ग द्वारा लाभ के रूप में श्रमिकों से हथिया लिया जाता है। अत

उत्पादन का कुल मूल्य = स्थिर पूँजी + परिवर्तनशील पूँजी + अधिशेष मूल्य

$$= C + V + S$$

'C', जैसा कि ऊपर बताया गया है, पूँजी उपयोग के लिए प्रयुक्त किया गया है। इस पर ध्यान देना चाहिए कि संपूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए 'C' में केवल स्थिर पूँजी के उपयोग को ही सम्मिलित किया गया है क्योंकि कच्चा माल मध्यवर्ती पदार्थ होते हैं और उनके मूल्य को अन्तिम पदार्थों के मूल्य में सम्मिलित कर लिया जाता है। यदि हम कुल उत्पादन में से 'C' का मूल्य निकाल दें तो हमको निवल उत्पादन मूल्य (net value output) प्राप्त हो जाता है जिसमें श्रम-शक्ति या परिवर्तनशील पूँजी (V) का मूल्य तथा अधिशेष मूल्य (S) सम्मिलित होगा। V तथा S शुद्ध उत्पादन में क्रमशः मजदूरियों का हिस्सा तथा लाभों का हिस्सा है। अत

निवल उत्पादन मूल्य $= V + S$

= मजदूरियों का भाग + लाभों का भाग

$$\frac{\text{लाभों का भाग}}{\text{मजदूरियों का भाग}} = \frac{S}{V}$$

$\frac{S}{V}$ अनुपात को मार्क्स ने शोषण की दर (rate of exploitation) कहा है। शोषण की दर $\frac{S}{V}$ ही राष्ट्रीय आय में लाभों के भाग का मजदूरियों के भाग से अनुपात का प्रतिनिधित्व करती है। इस अनुपात में वृद्धि का अर्थ है शोषण की दर में वृद्धि और इसलिए राष्ट्रीय आय में मजदूरियों के हिस्से की तुलना में लाभों के हिस्से में वृद्धि। इस अनुपात के घटने का अर्थ है राष्ट्रीय आय में लाभों के हिस्से की तुलना में मजदूरियों के हिस्से में वृद्धि। प्रो० पटरसन को हम फिर से उद्धृत कर सकते हैं "मार्क्स के विश्लेषण में लाभों के हिस्से का मजदूरियों के हिस्से से अनुपात की धारणा का विशेष महत्त्व है क्योंकि यह अनुपात $\frac{S}{V}$ शोषण की दर के माप के अतिरिक्त और कार्य भी करता है। $\frac{S}{V}$ में परिवर्तन का अर्थ है कि कुल उत्पादन में मजदूरी और गैर-मजदूरी आय के हिस्सों में परिवर्तन हो गया है। तदनुसार यदि हम यह समझें कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आधार शक्तियों के कार्य करने की प्रतिक्रियास्वरूप इस अनुपात में परिवर्तन को मार्क्स ने किस प्रकार सोचा, तो हम मार्क्सवादी आय वितरण के सिद्धान्त के सार को समझ सकते हैं।"[1]

मार्क्स के अनुसार एक पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में जो शक्तियाँ क्रियाशील होती हैं उनके कारण श्रम के शोषण की दर में वृद्धि होती है। आधार कार्यशक्ति पूँजीपतियों में शोषण की दर अर्थात् $\frac{S}{V}$ अनुपात में वृद्धि के लिए परस्पर प्रतियोगिता है। इस प्रकार वे अपने लाभों को बढ़ाने का यत्न करते हैं। अब प्रश्न यह है कि पूँजीपति ऐसा करते किस प्रकार हैं? समझने योग्य प्रथम बात यह है कि मार्क्स ने, रिकार्डो के समान, यह माना कि दीर्घकाल में बाजार में मजदूरी की दर की प्रवृत्ति न्यूनतम निर्वाह-स्तर के बराबर होने की है। अन्य शब्दों में, मार्क्स के अनुसार केवल अल्पकाल को छोड़ कर मजदूरी की दर निर्वाह स्तर से ऊपर नहीं जाती परन्तु न्यूनतम निर्वाह मजदूरियों के अस्तित्व के लिए जो कारण मार्क्स ने दिये थे, वे उन कारणों से भिन्न हैं जो रिकार्डो ने दिए थे। रिकार्डो के अनुसार जनसंख्या के निर्वाह-स्तर मजदूरी से अधिक हो जाने के कारण मजदूरी निर्वाह-स्तर पर बनी रहती है। मार्क्स के विश्लेषण में श्रम की पूर्ति की तुलना में श्रम की वर्तमान पूर्ति ही मजदूरियों को न्यूनतम निर्वाह-स्तर से ऊपर उठने से रोकती है। श्रम की पूर्ति के माँग से निरन्तर अधिक बने रहने के कारण बेरोजगार श्रमिकों की बड़ी संख्या सदा बनी रहती है जिसको मार्क्स ने 'श्रम की आरक्षित फौज" (the reserve

1 Op cit p 435

army of labour) का नाम दिया। अत श्रम की प्रारक्षित फौज (अर्थात् बेरोजगार श्रमिक) ही मजदूरियो को न्यूनतम निर्वाह-स्तर से ऊपर नही उठने देती। अब प्रश्न यह है कि श्रम की पूर्ति सापेक्ष रूप से इसकी माग से अधिक क्यो रहती है ?" मार्क्स ने माना कि जब पूंजीवादी उद्यमो (capitalist enterprises) पूर्व-पूंजीवादी (pre-capitalist) उद्यमो की लागत पर आगे बढता है तो गैर-पूंजीवादी या हस्तकला इकाइयो के समाप्त होने से जो श्रमिक बेकार होते हैं उन सबको पूंजीवादी क्षेत्र मे रोजगार प्राप्त नही हो सकता क्योंकि दोनो क्षेत्रो मे प्रति व्यक्ति उत्पादकताओ मे अन्तर होता है। जब तक पूंजीवादी उद्यमो का विकास पूर्व-पूंजीवादी उद्यमो की लागत पर होता है, मजदूरी पर काम करने वाले श्रम की पूर्ति मजदूरी पर काम करने वाले श्रम की मांग की तुलना मे अधिक रहती है।"[1]

मजदूरियो के न्यूनतम निर्वाह-स्तर पर स्थिर होने के कारण, जो तरीके श्रम के उत्पादन को बढाते है वे शोषण की दर मे भी वृद्धि कर देते है और इस प्रकार पूंजीपतियो के लाभ बढ जाते हैं। मार्क्स के अनुसार, वे पूंजीपति जो उत्पादन के भौतिक साधनो के स्वामी होते है, एक दूसरे से प्रतियोगिता करते हैं जिससे कि वे शोषण की दर (S/V) मे वृद्धि कर सकें और अपने लाभो को बढ़ा सकें। अत प्रो० पेटरसन ने कहा "मार्क्स के सिद्धान्त मे शोषण की दर, या यूं कहना चाहिए कि कुल आय मे गैर-मजदूरी हिस्से मे वृद्धि करने के लिए उत्पादन के भौतिक साधनों के स्वामियों म प्रतियोगिता सघर्ष का रूप धारण कर लती है।[2]

शोषण की दर या आधिक्य मूल्य मे वृद्धि करने के तीन तरीके हैं। सर्वप्रथम, कार्य करने के घण्टो म वृद्धि करके शोषण की दर को अधिक किया जा सकता है। जब श्रमिको को दिन म पहले से अधिक घण्टे काम करना पडता है तो कुल उत्पादन मे वृद्धि हो जाती है, और उनकी मजदूरियों के स्थिर होने पर, शोषण की दर या पूंजीपतियो द्वारा हथियाये गए लाभो मे वृद्धि हो जाती है। दूसरे, अधिशेष मूल्य या शोषण की दर म वृद्धि श्रम के अधिक गहन उपयोग (increasing the intensity of labour use) द्वारा की जा सकती है। इसके अन्तर्गत श्रम का कार्य करने के घण्टे तो स्थिर रखे जाते हैं परन्तु उससे अधिक उत्पादन करने के लिए कहा जाता है। परन्तु इन दो तरीको से अधिशेष मूल्य की मात्रा म बहुत अधिक वृद्धि नही की जा सकती। मार्क्स के अनुसार अधिशेष मूल्य बढ़ाने का तीसरा और महत्त्वपूर्ण तरीका है **तकनीकी विकास द्वारा श्रम की भौतिक उत्पादकता मे वृद्धि।** तकनीकी विकास का अर्थ है उत्पादन तकनीको मे सुधार। उत्तम तथा सुधरी तकनीक की सहायता से काम करने वाले श्रमिक पहले जितने घण्टे तथा पहली जितनी गहनता मे काम करके भी पहले से अधिक उत्पादन करते हैं। इसके परिणामस्वरूप उनके द्वारा उत्पादित कुल उत्पादन मे वृद्धि हो जाती है। मजदूरियो के न्यूनतम निर्वाह-स्तर पर बने रहने के कारण, तकनीकी सुधार के कारण कुल उत्पादन तथा निर्वाह उत्पादन मे अन्तर पहले से अधिक हो जाता है और इस प्रकार अधिशेष मूल्य या शोषण की दर मे वृद्धि हो जाती है।

परन्तु तकनीकी विकास को केवल पूंजी-सचय की सहायता से ही प्राप्त किया जा सकता है। परिणामस्वरूप पूंजीपतियो म अधिशेष मूल्य मे वृद्धि को प्राप्त करने की प्रतियोगिता के कारण अर्थव्यवस्था मे पूंजी सचय अथवा निवेश तीव्र गति से होता है। परन्तु मार्क्सवादी योजना म, जैसा कि केलडर ने बताया, पूंजी-सचय लाभ के प्रलोभन से नही किया जाता परन्तु यह तो पूंजीपतियो म प्रतियोगी सघर्ष के कारण उन पर लाद दिया जाता है। इस प्रकार पूंजी-सचय मे निहित प्रेरणाओ पर विचार प्रकट करते हुए केलडर ने कहा . "रिकार्डो ने इसकी व्याख्या लाभ की ऊंची दर के प्रलोभन से की। पूंजीपति ऐच्छिक रूप से तब तक सचय करते रहते हैं जब तक कि लाभ की दर पूंजी के उत्पादक प्रयोग मे जोखिम या कष्ट के लिए न्यूनतम 'आवश्यक क्षतिपूर्ति' से अधिक है। मार्क्स के लिए पूंजीपति उपक्रमी द्वारा सचय चयन का नही बल्कि आवश्यकता का प्रश्न है। कारण है पूंजीपति द्वारा स्वय की गई प्रतियोगिता। इसको बड़े पैमाने की मितव्ययताओं की सहायता से स्पष्ट किया गया (इस

1 Kaldor *op cit*
2 *Op. cit* p 433

निहित मान्यता के साथ कि किसी भी विशिष्ट पूँजी-पति द्वारा प्रयुक्त पूँजी उसके अपने सचय से नियन्त्रित होती है)। इस वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए कि 'परिचालन का पैमाना जितना बड़ा होगा उतना ही कुशल उसका उत्पादन होगा,' प्रत्येक उत्पादक अपने लाभो के पुन निवेश द्वारा अपने उत्पादन के आकार को बढाने के लिए बाध्य हो जाता है। वह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि वह प्रतियोगी सघर्ष मे पीछे नही रहना चाहता।'[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि तकनीकी विकास तथा पूँजी-सचय के आगे बढने के कारण जैसे-जैसे पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था का विकास होता है, वैसे-वैसे पूँजीपतियो मे प्रतियोगी सघर्ष के कारण शोषण की दर अथवा श्रमिको से प्राप्त अधिशेष मूल्य मे वृद्धि होती जाती है। परिणामस्वरूप, पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के विकास के साथ राष्ट्रीय आय मे मजदूरियो के सापेक्ष हिस्से (श्रम के हिस्से) में गिरावट आ जाएगी और लाभो के सापेक्ष भाग (पूँजीपति के हिस्से) मे वृद्धि हो जाएगी। अत, पूँजीपति अर्थव्यवस्था के कार्यचालन का अर्थ है श्रमिक वर्ग की रहन-सहन की दशाओ का खराब होते जाना। इसको मार्क्स ने **'श्रमिको का कष्टाधिक्यकरण'** (The immiseration of the proletariat) या **'श्रमिक वर्ग के कष्टो में वृद्धि का नियम'** (The law of increasing misery of the working classes) नाम दिया। इस नियम के अनुसार एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे तकनीकी विकास तथा पूँजी सचय और तदनुरूपी राष्ट्रीय आय मे वृद्धि के कारण राष्ट्रीय आय मे मजदूरियो के सापेक्ष हिस्से में गिरावट होना आवश्यक है तथा लाभो के सापेक्ष हिस्से मे वृद्धि। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पूँजीवादी व्यवस्था के विकास से सापेक्ष हिस्सो मे परिवर्तन के सम्बन्ध मे मार्क्स जिस निष्कर्ष पर पहुँचा, वह रिकार्डो के निष्कर्ष से एकदम विपरीत है। रिकार्डो का विचार था कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास के साथ मजदूरियों का सापेक्ष हिस्सा अधिक हो जाएगा तथा लाभो का सापेक्ष हिस्सा कम। प्रो० पेटरसन ने ठीक ही कहा कि मार्क्सवादी आय वितरण के समष्टि-परक आर्थिक मॉडल मे "मजदूरियो के सापेक्ष भाग मे कमी हो जाने का आधारभूत कारण तकनीकी विकास है, जिसके पूर्ण लाभ उत्पादन के भौतिक साधनो के स्वामियो को प्राप्त होते हैं। श्रमिक वर्ग का बढता हुआ कष्ट वास्तविक मजदूरियो के स्तर मे गिरावट के कारण नही आता क्योंकि निरपेक्ष रूप मे (in absolute terms) उनके 'कष्टो' मे कोई वृद्धि नही होती। इसका कारण है उत्पादन मे वृद्धि के साथ-साथ वास्तविक मजदूरियो म वृद्धि का न हो सकना। यही मार्क्स के वितरण के सिद्धात का सार है।"[2]

यद्यपि मार्क्स ने यह निष्कर्ष निकाला कि पूँजी-वादी अर्थव्यवस्था के विकास होने पर तकनीकी विकास तथा पूँजी सचय म वृद्धि के कारण लाभो के सापेक्ष हिस्से मे वृद्धि हो जाएगी, परन्तु रिकार्डो का अनुसरण करते हुए उन्होने भी यह विचार स्वीकार किया कि पूँजी-सचय मे वृद्धि होने पर लाभ की दर मे गिरावट आ जाएगी।[3] अत इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि मार्क्स के विचार मे, जब पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का विकास होने पर लाभो का सापेक्ष भाग बढता है तो लाभ की दर मे गिरावट आती है। यह विरोधा-भास लगता है परन्तु मार्क्स ने इनके सहअस्तित्व की व्याख्या की।[4] परन्तु रिकार्डो के समान मार्क्स ने ह्रास-मान प्रतिफल के नियम के क्रियाशील होने की सहायता से लाभ की दर के गिरने की व्याख्या नही की। उसने लाभ की गिरती हुई दर की व्याख्या 'पूँजी की सघ-टित सरचना' (Organic Composition of Capital) मे वृद्धि के आधार पर की। पूँजी की सघटित सरचना का अर्थ स्थिर पूँजी (C) के कुल पूँजी ($C+V$) के अनुपात से है। इस प्रकार पूँजी की सघ-

1 Kaldor *op cit*

2 *Op cit*, p 134

3 Kaldor *op cit*

4 बहुत से लेखकों ने यह बताया है मार्क्सवादी सिद्धान्त से यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि लाभ की दर में अवश्य गिरावट होगी। परन्तु मार्क्स ने इस विचार को दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया और सिद्ध किया कि लाभ की दर में गिरने की प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त, मार्क्स ने गिरती लाभ की प्रवृत्ति से ही पूँजीवादी व्यवस्था की अन्तिम समाप्ति की व्याख्या की।

टित सरचना $\frac{C}{C+V}$ है। लाभ की दर कुल अधिशेष (S) के प्रयोग मे लाई गई कुल पूँजी ($C+V$) के अनुपात से है, अर्थात्, लाभ की दर $\frac{S}{C+V}$ के बराबर है।

यदि हम p का प्रयोग लाभ की दर के लिए करें तो हम निम्न सम्बन्ध की स्थापना कर सकते हैं

$$p=\frac{S}{C+V}$$

$$p=\frac{S}{V}\cdot\frac{V}{C+V}$$

$\frac{V}{C+V}$ परिवर्तनशील पूँजी से कुल पूँजी का अनुपात है। यदि हम 1 मे से $\frac{C}{C+V}$ को घटा दें तो हमको परिवर्तनशील पूँजी से कुल पूँजी का अनुपात प्राप्त हो जाता है, क्योकि कुल पूँजी बराबर है $C+V$

अत

$$p=\frac{S}{V}\left(1-\frac{C}{C+V}\right)$$

उपर्युक्त समीकरण से यह अर्थ निकलता है कि यदि $\frac{S}{V}$ (शोषण की दर) स्थिर रहे तो $\frac{C}{C+V}$ अर्थात् पूँजी की सघटित सरचना मे वृद्धि होने पर लाभ की दर मे कमी होने लगेगी। इस प्रकार यह मान कर कि लाभो के सापेक्ष हिस्सो मे वृद्धि होती है, मार्क्स ने यह माना कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था म पूँजी-सचय तथा तदनुरूपी पूँजी की सघटित सरचना मे वृद्धि के कारण लाभ की दर घट जायेगी।

आधुनिक शब्दावली मे हम यह कह सकते है कि मार्क्स का विचार यह था कि जब अधिक पूँजी का सचय होता है और उत्पादन प्रक्रिया में पूँजी-उत्पादन अनुपात मे वृद्धि हो जाती है या अन्य शब्दो मे जब अधिक पूँजी प्रधान उत्पादन तकनीकों का प्रयोग किया जाता है तो लाभ की दर घट जाती है।

मार्क्सवादी सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Marxian Theory)

मार्क्सवादी सिद्धान्त की आलोचना कई आधारो पर की गई है। मार्क्स एक असत्य भविष्यवाणी करने वाला व्यक्ति सिद्ध हुआ। अपने सिद्धान्त के आधार पर उसने जो भविष्यवाणियाँ की वे सत्य सिद्ध नही हुई और वास्तविक घटनाएँ मार्क्सवादी विचार के अनुसार नही हुई है। मार्क्स ने यह भविष्यवाणी की थी कि राष्ट्रीय आय मे मजदूरियो का सापेक्ष हिस्सा गिर जाएगा और श्रमिकों की आर्थिक दशा बहुत खराब हो जायेगी। यह सब कुछ नही हुआ है। अनुभवगम्य अध्ययन से यह पता चला है कि पश्चिमी पूँजीवादी देशो म राष्ट्रीय आय म श्रम का हिस्सा स्थिर रहा है और, जैसा कि मार्क्स ने बताया था, इसमे कोई गिरावट नही आई है। तकनीकी विकास तथा पूँजी सचय के कारण पूँजीवादी देशो मे भौतिक उत्पादकताओ मे जो वृद्धियाँ हुई हैं उनमे श्रम को पर्याप्त हिस्सा मिला है। इसके परिणामस्वरूप, निरपेक्ष रूप में, श्रमिकों की रहन सहन की दशाओ मे अत्यधिक सुधार हुए हैं और इस कारण वे अब पहले से कम क्रान्तिकारी हैं। इसके अतिरिक्त, लाभ की दर के गिरने के उदाहरण नही मिलते है। गिरते हुए लाभ की दर तथा कुछ व्यक्तियो के हाथो मे/क्रयशक्ति के केन्द्रीयकरण के कारण ही मार्क्स ने यह भविष्यवाणी की थी कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओ मे समय-समय पर सकट आएँगे और अन्त मे यह व्यवस्था नष्ट हो जाएगी। वास्तविक घटनाओ ने मार्क्स की शोचनीय भविष्यवाणी को गलत सिद्ध कर दिया है। यह सत्य है कि इन अर्थव्यवस्थाओ मे व्यापार-चक्र आते रहते हैं परन्तु इन अल्पकालीन उतार-चढ़ावो के बावजूद पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाओ ने पिछले 100 वर्षों मे द्रुत गति से आर्थिक विकास किया है और इसके कारण ही ये देश धनी बन गए हैं। प्रो० पेटरसन ने ठीक ही कहा है "मार्क्स ने सोचा था कि गम्भीर होते हुए सकटो के कारण पूँजीवादी अर्थव्यवस्था तेजी से अस्त-व्यस्त होती जाएगी और अन्त मे श्रमिक वर्ग द्वारा की गई क्रान्ति के कारण यह पूर्णतया समाप्त हो जाएगी और इस प्रकार साम्यवाद का प्रारम्भ होगा। मार्क्स ने

केवल राष्ट्रीय आय मे मजदूरी के हिस्से के व्यवहार के सम्बन्ध मे ही नही, बल्कि पूँजीवाद के दीर्घकालीन विकास के सम्बन्ध मे भी गलत भविष्यवाणी की।"[1]

इसके अतिरिक्त, पूँजी की सघटित सरचना मे वृद्धि होने पर लाभ की दर गिरने की मार्क्सवादी धारणा मे बहुत सी सैद्धान्तिक कमियाँ है। बहुत से लेखकों[2] ने यह बताया कि बढती हुई पूँजी की सघटित सरचना के नियम से लाभ की गिरती दर के नियम को व्युत्पादित नही किया जा सकता। मार्क्स ने चूँकि यह माना कि श्रमिकों की वास्तविक मजदूरियाँ निर्वाह-स्तर पर स्थिर रहती हैं, इसलिए पूँजी-सचय तथा तकनीकी विकास के कारण पूँजी की सघटित सरचना मे वृद्धि के परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति उत्पादन मे अत्यधिक वृद्धि होगी, और वास्तविक मजदूरी के निर्वाह स्तर पर स्थिर रहने के कारण, पूँजीपतियो द्वारा अर्जित अधिशेष मूल्य (अर्थात् लाभों) मे तेजी से वृद्धि होने के कारण लाभ की दरो मे भी वृद्धि होने लगेगी। इस सम्बन्ध मे प्रो० केलडर के विचार उद्धरण योग्य हैं। उन्होने कहा है, "मार्क्स ने चूँकि यह माना कि जब पूँजी की सघटित सरचना और इसके परिणाम-स्वरूप प्रति व्यक्ति उत्पादन म वृद्धि होती है तो वस्तुओ की दरो मे श्रम की पूर्ति कीमत स्थिर रहती है इसलिए यह मानने मे कोई तर्क नही है कि 'सघटित सरचना' मे वृद्धि होने पर ऊँची दर के स्थान पर लाभ की निम्न दर प्राप्त होगी। यदि कुछ समय के लिए यह भी मान लिया जाय कि प्रति व्यक्ति पूँजी ('स्थिर'+'परिवर्तनशील') की तुलना मे प्रति व्यक्ति उत्पादन धीमी गति से बढता है, तो भी प्रति व्यक्ति 'अधिशेष मूल्य' (दी हुई न्यूनतम मजदूरियो पर प्रति व्यक्ति उत्पादन का आधिक्य) प्रति व्यक्ति उत्पादन की तुलना मे तेजी से बढता है और लाभ की बढती हुई दर को प्राप्त किया जा सकता है, चाहे स्थिर पूँजी पर श्रमिक की बढती हुई इकाइयो का प्रयोग करने से ह्रासमान उत्पादकता प्राप्त हो।"[3]

1 Patterson, *op cit*, p 43o
2 Joan Robinson, *An Essay on Marxian Economics*, pp 75 82 and Kaldor, *Alternative Theories of Distribution*
3 Kaldor, *op cit*

अन्त मे, मार्क्स का आय वितरण का सिद्धान्त मूल्य के श्रम सिद्धान्त (Labour theory of value) पर जो कि आधुनिक अर्थशास्त्रियो को स्वीकार्य नही है आधारित है। मार्क्स का अधिशेष मूल्य अथवा श्रम के शोषण का विश्लेषण प्रत्यक्ष रूप से इस धारणा पर आधारित है कि समस्त मूल्य का सृजन श्रम द्वारा किया जाता है और पूँजी तो केवल अपना मूल्य वस्तु के मूल्य को हस्तान्तरित कर देती है। पूँजी प्रक्रिया की उत्पादकता मे महत्त्वपूर्ण वृद्धि करती है और काफी मूल्य का सृजन करती है। इसको अस्वीकार करना अपने पक्षपाती दृष्टिकोण का प्रदर्शन करना है। इसके अतिरिक्त, मूल्य का श्रम सिद्धान्त उत्पादन लागत सिद्धान्त का ही केवल एक रूप है। जैसा कि मार्शल ने बहुत पहले बताया था कि केवल उत्पादन लागतें (श्रम के साथ-साथ पूँजी की लागतें भी) ही कीमत या मूल्य का निर्धारण नहीं करती। मूल्य इस बात पर भी निर्भर है कि वस्तु का सीमान्त तुष्टिगुण अथवा माँग कितनी है। किसी वस्तु के मूल्य का निर्धारण माँग और पूर्ति की शक्तियो की अन्त-क्रिया से होता है। अत मार्क्स की धारणा, कि किसी वस्तु का मूल्य उस श्रम-समय मे निर्धारित होता है जो इसके बनाने पर लगा है, बिल्कुल गलत है और आधुनिक अर्थशास्त्रियो को मान्य नही है। अत जबकि मूल्य का श्रम सिद्धान्त गलत है तो इस पर आधारित आधिक्य मूल्य तथा शोषण का सिद्धान्त भी गलत सिद्ध हो जाता है।

कैलेस्की का वितरणात्मक अंशों का एकाधिकारी-अंश' सिद्धान्त (Kalecki's 'Degree of Monopoly' Theory of Distribution)

वितरणात्मक अंशों का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त एम० कैलैस्की[1] द्वारा विकसित किया गया जिन्होंने

1 M. Kalecki, 'The Distribution of National Income," in his essays on the Theory of Economic Fluctuations, reprinted in the *Theory of Firm*, edited by G C Archibold, Penguin Modern Economic Readings 1971 The referen e to the page numbers will be from the later book

व्याख्या की कि राष्ट्रीय आय का लाभ तथा मजदूरी मे वितरण अर्थव्यवस्था मे एकाधिकार के अश पर निर्भर करता है। प्रारम्भ मे ही यह चर्चा कर देना उचित है कि कैलेस्की ने लर्नर के एकाधिकार के व्यष्टि-परक आर्थिक अश $\left(\frac{p-m}{p}\right.$ जहां p कीमत तथा m सीमान्त लागत का प्रतिनिधित्व करता है) को समष्टिपरक स्तर पर प्रयुक्त किया। इस प्रकार उन्होंने अर्थव्यवस्था मे समस्त व्यक्तिगत उपक्रमो के एकाधिकार के अशो के औसत का अनुमान करने द्वारा एकाधिकार के औसत या समष्टिपरक आर्थिक अश (macro-economic degree) का प्रयोग किया।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि कैलेस्की के एकाधिकार के अश के प्रतिपादन मे प्रति इकाई उत्पादन पर श्रम तथा कच्चे माल की लागत सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त कैलेस्की के सिद्धान्त म श्रम लागत म केवल शारीरिक श्रम की मजदूरी सम्मिलित है क्योंकि उन्होने वेतनों अर्थात् सफेद पोशाक श्रमिकों (white collar workers) की मजदूरी को पूँजीपति वर्ग की आय के साथ सम्मिलित कर दिया है। इस प्रकार $p-m$ पूँजीपति वर्ग की प्रति इकाई उत्पादन पर आय व्यक्त करता है तथा उद्यमकर्त्ता के लाभ (जिसमें लाभाश सम्मिलित है) तथा कुल उपरि लागत (ब्याज, घिसावट तथा वेतनों) को सम्मिलित करता है।

राष्ट्रीय आय मे पूँजीवादी आय के वितरणात्मक अशों तथा श्रमिक के अश के निर्धारण की व्याख्या करने के लिए कैलेस्की ने दो मान्यताएँ की हैं। प्रथम, वे मानते हैं कि 'व्यावहारिक क्षमता' के अनुरूप एक निश्चित बिंदु तक शारीरिक श्रम तथा कच्चे माल की अल्पकालीन औसत लागत, अल्पकालीन सीमान्त लागत के बराबर होती है। द्वितीय, वे मानते हैं कि वास्तविक जगत् मे फर्मों मे उत्पादन इस अधिकतम व्यावहारिक क्षमता से कम होता है। इस प्रकार वे अर्थव्यवस्था मे आधिक्य क्षमता के अस्तित्व की कल्पना करते हैं। "वास्तविक जगत् मे एक उपक्रम व्यावहारिक क्षमता के पश्चात् बहुत कम प्रयुक्त किया जाता है, यह एक तथ्य है जो सामान्य बाजार अपूर्णता तथा अत्यधिक विस्तृत एकाधिकारो या अल्पाधिकारो का प्रदर्शन है।" (In the real world an enterprise is seldom employed beyond the practical capacity, a fact which is therefore a demonstration of general market imperfection and widespread monopolies and oligopolies)[1].

उपर्युक्त मान्यताओं को स्वीकार करते हुए कैलेस्की अपने सिद्धान्त की व्याख्या निम्न प्रकार करते हैं।

अकेली फर्म क एकाधिकारी अश का लर्नर का माप कीमत (p) तथा सीमान्त लागत (m) मे अन्तर का कीमत (p) के साथ अनुपात है अथवा

$\mu=\frac{p-m}{p}$ जहां μ एकाधिकार के अश को व्यक्त करता है। चूँकि कैलेस्की स्थिर लागतो की मान्यता करते हैं, अत सीमान्त लागत, औसत लागत के बराबर होगी और इसलिए उपर्युक्त सूत्र में हम सीमान्त लागत 'm' के लिये औसत लागत 'a' का प्रतिस्थापन कर सकते हैं और इसलिये अकेली फर्म के एकाधिकार के अश के सूत्र को निम्न प्रकार लिख सकते हैं —

$$\mu=\frac{p-a}{p} \qquad (i)$$

$$\text{या} \quad p\mu=p-a \qquad (ii)$$

($p-a$) पदार्थ की कीमत तथा प्रति इकाई उत्पादन पर भौतिक श्रम तथा कच्चे माल की औसत लागत का अन्तर है। इस प्रकार यह ($p-a$) अतर उद्यमकर्ताओं के लाभ, ब्याज, घिसावट तथा वेतनो का योग है और इसलिए नियोक्ता के प्रति इकाई उत्पादन पर (वेतनों को समाविष्ट करते हुए) कुल पूँजीवादी आय प्रदर्शित करता है। अकेले नियोक्ता की कुल पूँजीवादी आय ज्ञात करने के लिए हमें उपर्युक्त व्युत्पन्न समीकरण (2) के दोनों पक्षों को अकेली फर्म के कुल उत्पादन से गुणा करना पड़ता है। माना कि x फर्म के कुल उत्पादन का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार समीकरण (2) के दोनो पक्षों को x से गुणा करने पर हम प्राप्त करते हैं -

1 M Kalecki, *op cit*

$$xp\mu = x(p-a) \qquad (111)$$

इसलिए $x(p-a)$ नियोक्ता की कुल पूँजीवादी आय (वेतन सम्मिलित) प्रदर्शित करता है। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की कुल पूँजीवादी आय ज्ञात करने के लिए हमे अर्थव्यवस्था मे समस्त फर्मों की कुल पूँजीवादी आयो का योग करना होता है जिसमे अनेक सख्या मे फर्में होती हैं। इस प्रकार के योगीकरण से समीकरण (111) निम्न प्रकार लिखा जा सकता है।

$$\Sigma xp\mu = \Sigma x(p-a) \qquad (10)$$

इस प्रकार $\Sigma x(p-a)$ सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की समी फर्मों की कुल पूँजीवादी आय के बराबर होगी है तथा Σxp अर्थव्यवस्था मे उत्पादित तथा विक्रीत समस्त वस्तुओं के उत्पादन के कुल मूल्य के बराबर होगा। इस प्रकार Σxp अर्थव्यवस्था के कुल क्रय विक्रय (Total turnover) को प्रकाशित करता है जिसको हम T के रूप मे लिख सकते हैं। इस प्रकार $T = \Sigma xp$। यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि कुल क्रय विक्रय (T) कुल राष्ट्रीय उत्पादन तथा उत्पादित तथा विक्रीत कच्चे माल के मूल्य का योग है। यदि हम उपर्युक्त व्युत्पन्न समीकरण (10) के दोनों पक्षो को कुल क्रय विक्रय (T) से विभाजित करें तो

$$\frac{\Sigma xp\mu}{T} = \frac{\Sigma x(p-a)}{T}$$

चूँकि $T = \Sigma xp$

$$\therefore \frac{\Sigma xp\mu}{\Sigma xp} = \frac{\Sigma x(p-a)}{T}$$

$\frac{\Sigma xp\mu}{\Sigma xp}$ एकाधिकार के व्यष्टिपरक अशों के μ के भारित औसत का व्यक्तीकरण है अथवा अन्य शब्दो मे यह एकाधिकार के समष्टिपरक अश का व्यक्तीकरण है जिसे हम $\bar{\mu}$ के रूप मे लिखते हैं।

$$\bar{\mu} = \frac{\Sigma x(p-a)}{T} \qquad (v)$$

अथवा एकाधिकार का समष्टिपरक अश $=$ $\dfrac{\text{कुल पूँजीवादी आय}}{\text{कुल क्रय विक्रय}}$

उपर्युक्त समीकरण से (v) यह तात्पर्य निकलता है कि "कुल क्रय-विक्रय मे कुल पूँजीवादी आय तथा वेतनो का सापेक्ष अश अत्यधिक सन्निकटन से एकाधिकार के औसत अश के बराबर होता है। ('The relative share of gross capitalist income and salaries in the aggregate turn-over is with great approximation equal to the average degree of monopoly"[1])

समीकरण (v) के सूत्र से यह तात्पर्य निकलता है कि a मे सम्मिलित कच्चे माल की लागत दी हुई होने पर एकाधिकारी शक्ति के औसत अश μ म वृद्धि श्रमिको के अश को हानि पहुँचा कर अर्थात् श्रमिको के अश म कमी करके कुल पूँजीवादी आय के अश मे वृद्धि करेगी। इस प्रकार कैलस्की के अनुसार, "प्रत्यक क्षण उद्योग के पदार्थ का वितरण एकाधिकार के अश द्वारा निर्धारित होता है। इसलिए हमारा सूत्र अल्पकाल तथा दीर्घकाल दोनो मे सत्य सिद्ध होता है यद्यपि यह शुद्ध अल्पकालीन दृष्टिकोण के आधार पर निगमित किया गया था। और सामान्य विचार के विपरीत न तो अन्वेषण और न ही पूँजी तथा श्रमिकों के मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता ही आय के वितरण पर कोई प्रभाव डालते हैं।"[2]

राष्ट्रीय आय में श्रमिकों के अ श तथा एकाधिकार का अ श (*Labour's Share in National Income and Degree of Monopoly*)

कैलेस्की अर्थव्यवस्था मे एकाधिकार के समष्टिपरक या औसत अश पर राष्ट्रीय आय मे श्रमिक के अश की निर्भरता को प्रदर्शित करने मे अधिक इच्छुक थे। यदि A राष्ट्रीय आय तथा W अर्थव्यवस्था मे कुल मजदूरी भुगतान का प्रतिनिधित्व करता है तो $A-W$ अर्थव्यवस्था म पूँजीपति की कुल आय को प्रदर्शित करेगा।[3] परन्तु जैसा कि ऊपर व्याख्या की जा चुकी

1. *Op cit* p 222
2. *Ibid*, p 223
3. यह ध्यान दिया जाना चाहिए कि राष्ट्रीय उत्पादन का मूल्य A या राष्ट्रीय आय तथा कुल क्रय-विक्रय एक समान तथ्य या वस्तु नहीं है। जबकि राष्ट्रीय आय A केवल अन्तिम वस्तुओं के मूल्य का समावेश करती है तो कुल क्रय विक्रय अन्तिम वस्तुओं के मूल्य तथा कच्चे माल जैसे मध्यस्थ वस्तुओं के मूल्य का योग है।

है कि पूँजीपति की कुल आय $\Sigma x(p-a)$ के भी बराबर है अत उपर्युक्त व्युत्पन्न समीकरण म $\Sigma x(p-a)$ के स्थान पर $A-W$ का प्रतिस्थापन करने पर हम प्राप्त करते हैं

$$\bar{\mu} = \frac{\Sigma x(p-a)}{T} \text{ या } \bar{\mu} = \frac{A-W}{T} \qquad (\text{vi})$$

दोनो पक्षों को T/W से गुणा करने पर हम

$$\bar{\mu} \cdot T/W = \frac{A-W}{T} \cdot \frac{T}{W} \text{ प्राप्त करते हैं।}$$

$$\text{या} \quad \bar{\mu} \cdot \frac{T}{w} = \frac{A-W}{W}$$

$$\bar{\mu} \cdot \frac{T}{w} = \frac{A}{W} - 1$$

$$\text{या} \quad A/W = 1 + \bar{\mu} \cdot \frac{T}{W}$$

उपर्युक्त का व्युत्क्रम लिखने पर हम

$$\frac{W}{A} = \frac{1}{1 + \bar{\mu} \cdot \frac{T}{w}} \quad (\text{vii}) \text{ प्राप्त करते हैं।}$$

$\frac{W}{A}$ अर्थात $\frac{\text{मजदूरी}}{\text{राष्ट्रीय आय}}$ राष्ट्रीय आय मे मजदूरी के सापक्ष अश को प्रदर्शित करता है। समीकरण (vii) स यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय में मजदूरियो का सापेक्ष अश (W/A) एकाधिकारी शक्ति $\bar{\mu}$ तथा T/W से विपरीत रूप म सम्बन्धित है। सूत्र स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करता है कि एकाधिकारी शक्ति के अश म वृद्धि मजदूरिया के सापक्ष अश (अर्थात शारीरिक श्रम के अश) का कम कर देगा। श्रमिक का अश न केवल एकाधिकारी शक्ति क अश μ म वृद्धि के कारण कम हो जाएगा वरन् इसलिए भी कि एकाधिकार के अश म वृद्धि द्वारा T/W बढ़ जाता है क्योकि यह मजदूरी की अपेक्षा कीमतों को अधिक बढ़ा देता है' (but also because T/W is increased by a rise in the degree of monopoly since this raises prices in relation to wages')[1]

पुन यह ध्यान देने योग्य है कि कैलेस्की के अनुसार एकाधिकार के अश में परिवर्तन के कारण के अतिरिक्त उद्योगों म मजदूरी लागतों की अपेक्षा आधारभूत कच्चे माल की कीमतो मे परिवर्तनो के परिणामस्वरूप (T/W) भी परिवर्तित हो सकता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है कुल क्रय विक्रय T समस्त उत्पादनो (कच्चे माल को सम्मिलित करते हुए) के मूल्य को समाविष्ट करता है और यह मूल्य भौतिक उत्पादनों को उनकी कीमतो से गुणा करके प्राप्त किया जाता है। इसलिए *आधारभूत कच्चे माल की कीमतें* परिवर्तित होती हैं तो कुल क्रय-विक्रय परिवर्तित हो जायगा और परिणामस्वरूप T/W भी परिवर्तित हो जायगा, जो एकाधिकार के अश क दिए होने पर राष्ट्रीय आय म मजदूरी के अश W/A को प्रभावित करेंगे तथा विलोमत। कैलेस्की को उद्धृत करते हुए 'सूत्र से यह स्पष्ट है कि एकाधिकार का अश दिया हुआ होने पर शारीरिक श्रम का सापेक्ष अश गिरता है, जब T/W बढता है। परिणामस्वरूप मजदूरी लागतो की तुलना म आधारभूत कच्चे माल की कीमतो म वृद्धि को T/W म वृद्धि करने द्वारा शारीरिक श्रम क सापेक्ष अश को कम अवश्य करना चाहिए।"[2] राष्ट्रीय आय मे श्रम के अश के अपने विश्लेषण मे कैलेस्की दो निष्कर्ष निकालते हैं (1) "*एकाधिकार के अश म वृद्धि शारीरिक श्रम क सापेक्ष* अश A/W म कमी करती है। (2) मजदूरी लागत की अपेक्षा आधारभूत कच्चे माल की कीमतो म वृद्धि W/A म कमी करती है परन्तु बहुत न्यून अनुपात म।'[3]

कैलेस्की किस प्रकार राष्ट्रीय आय में श्रम के अश की स्थिरता की व्याख्या करते हैं (How Kalecki explains Constancy of Labour's Share in National Income)

पर्याप्त मात्रा मे अनुभवाश्रित प्रमाणो ने प्रकट किया है कि अनेक पूँजीवादी देशो का राष्ट्रीय आय में श्रम का अश लगभग स्थिर रहा है। राष्ट्रीय आय म मजदूरी-अश की स्थिरता की व्याख्या करना एक वृहत समस्या थी। अपने वितरण के एकाधिकारी अश सिद्धान्त की सहायता से कैलेस्की ने श्रम के अश की इस

1 *Op cit* p 227 28
2 *Op cit* p 228
3 *Op cit*, p 228

स्थिरता की व्याख्या की। उन्होने उपनिवेशी देशो को अपने विश्लेषणात्मक प्रतिदर्श मे सम्मिलित करके इस प्रकार व्याख्या की जो कि उन पूँजीवादी देशो का कच्चे माल की पूर्ति करते थे जो उन पर शासन करते थे। पूँजीवादी देशो द्वारा उपनिवेशी देशो के शोषण के बिना पूँजीवादी देशो में राष्ट्रीय आय मे श्रमिको का अश कम हो गया होता। इस प्रकार कॅलेस्की के सिद्धात के अनुसार पूँजीवादी देशो मे श्रमिक उपनिवेशी देशो के शोषण के पक्षपाती हैं तथा वे इससे लाभान्वित हुए हैं।

कॅलेस्की के अनुसार पूँजीवादी देशो मे उद्योगो क सकेन्द्रण मे वृद्धि हुई है तथा वे फर्मे निरन्तर बडी हो रही हैं जिन्होने अर्थव्यवस्था मे एकाधिकार के अश का बढ़ा लिया है। उद्योग की अनेक शाखाएँ अल्पाधिकारी हो गयी हैं तथा अनेक अल्पाधिकार कार्टेल (cartel) मे परिवर्तन हो गये हैं। यदि केवल एकाधिकार का बढ़ता हुआ अश क्रियाशील होता तो यह श्रम के सापेक्ष अश मे कमी कर दिये होता। परन्तु जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, कि आधारभूत कच्चे माल की कीमतें भी राष्ट्रीय आय मे श्रमिक के भाग को प्रभावित करती हैं और उपनिवेशी देशों द्वारा पूँजीवादी देशो को पूर्ति किये गय इन आधारभूत कच्चे माल की कीमतें, पहले (उपनिवेशी देशो) के विपक्ष मे व्यापार की शर्तों मे परिवतन के कारण कम हुई हैं। आधारभूत कच्चे माल की कीमतो म इस कमी ने राष्ट्रीय आय में श्रम के अश मे वृद्धि की है। इस प्रकार कॅलेस्की के अनुसार वर्द्धमान एकाधिकारी अश आधारभूत कच्चे माल की कीमतो म कमी द्वारा प्रतिसन्तुलित कर दिया जाता है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय मे श्रम का अश लगभग स्थिर रहता है।

कॅलेस्की व्यापार चक्र की अवधि के अन्तर्गत भी राष्ट्रीय आय मे श्रम के अश की स्थिरता की व्याख्या करने मे समथ हुए हैं। उनके अनुसार कच्चे माल की कीमतें तथा एकाधिकारी अश मन्दी तथा तेजी की अवधि मे इस प्रकार परिवर्तित होते हैं कि राष्ट्रीय आय मे श्रम का अश स्थिर रहता है। कॅलेस्की तर्क देते हैं कि मन्दी मे लाभ बचाने के लिए कार्टेल सृजित की जाती हैं और उद्यमियो मे अन्य प्रतियोगियो को उसी प्रकार करने के लिए प्रेरित करने के भय से कीमतो मे कमी करने के प्रति अनिच्छा होती है। इसके कारण कीमत तथा सीमान्त लागत मे अन्तर बढ़ता है तथा उसके परिणामस्वरूप मन्दी की अवधि के अन्तर्गत एकाधिकार का अश बढता है। मन्दी की अवधि मे एकाधिकार के अश मे वृद्धि राष्ट्रीय आय मे श्रम के अश को कम करने की प्रवृत्ति रखती है। किन्तु मन्दी की अवधि मे कच्चे माल की कीमतों मे कमी उसमे वृद्धि करने की प्रवृत्ति रखती है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय मे श्रम के अश को निर्धारित करने वाली दो शक्तियाँ विपरीत दिशा म कार्य करती हैं और इसलिए एक दूसरे को प्रतिसन्तुलित करती हैं जिसके परिणाम स्वरूप मन्दी की अवधि में राष्ट्रीय आय मे श्रम का अश स्थिर रहता है।

दूसरी ओर, कॅलेस्की के अनुसार व्यापार चक्र की तेजी की अवधि मे, जब व्यापार पुनर्जीवित होता है तो स्वतन्त्र क्रिया की सुधरती हुई प्रत्याशाओं तथा उद्योग मे अन्य के प्रवेश के कारण कार्टेल (cartels) भग हो जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप तेजी की अवधि मे प्रतियोगिता बढ़ती है जो एकाधिकार के अश को कम करती है। एकाधिकार के अश म कमी तेजी की अवधि मे राष्ट्रीय आय मे श्रम के अश मे कमी करने की प्रवृत्ति रखती है किन्तु तेजी की अवधि मे कच्चे माल की कीमतो मे वृद्धि उसे कम करने की प्रवृत्ति रखती है। इस प्रकार तेजी की अवधि मे पुन दोनो शक्तियाँ एक दूसरे को प्रतिसन्तुलित कर देती है और इसके परिणामस्वरूप तेजी की अवधि मे भी श्रम का अश स्थिर रहता है। इस प्रकार कॅलेस्की निष्कर्ष निकालते हैं 'यदि हम राष्ट्रीय आय मे शारीरिक श्रम के सापेक्ष अश के अपने आँकडो को देखते हैं तो हमे ज्ञात होता है कि सामान्यत व्यापार-चक्र की अवधि मे यह अधिक परिवर्तित नही होता है। किन्तु मजदूरियो की अपेक्षा आधारभूत कच्चे माल की कीमतें मन्दी की अवधि मे गिरती हैं तथा तेजी की अवधि मे बढ़ती हैं और यह तेजी की अवधि में उसे बढ़ाने की प्रवृत्ति रखती है। यदि शारीरिक श्रम का सापेक्ष

श्रम लगभग स्थिर रहता है तो यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एकाधिकार का अंश मन्दी में बढ़ने तथा तेजी में कम होने की प्रवृत्ति रखता है" ("If we look at our data on the relative share of manual labour in the national income we see that in general it does not change much during the business cycle But the prices of basic raw materials fall in the slump and rise in the boom as compared with wages and this tends to raise it in the boom If the relative share of manual labour remains more or less constant it can be concluded that the degree of monopoly tends to increase in the depression and decline in the boom)[1]

वितरण के एकाधिकार के अंश सिद्धान्त की समीक्षा (Critique of the 'Degree of Monopoly Theory' of Distribution)

कैलेस्की पूँजीवादी देशों में राष्ट्रीय आय में श्रम के अंश की स्थिरता की व्याख्या करने में समर्थ थे जिसने दीर्घकाल तक अर्थशास्त्रियों को उलझन में डाले रखा। इसके अतिरिक्त, एकाधिकार या प्रतियोगिता का अंश एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो लाभ को निर्धारित करता है और इसलिए राष्ट्रीय आय में वितरणात्मक अंशों को निर्धारित करता है। परन्तु यह सिद्धान्त कमियों से विहीन नहीं है तथा इसकी अत्यधिक आलोचना की गयी है।

प्रथम, पेन ने संकेत किया है कि कैलेस्की ने लाभ को केवल एकाधिकार के अंश से सम्बन्धित करके लाभ उत्पन्न करने वाले तथा वितरणात्मक अंशों को प्रभावित करने वाले अन्य तत्त्वों की उपेक्षा की है। इसके अतिरिक्त, उनके अनुसार लर्नर के एकाधिकार के अंश का समष्टिपरक स्तर पर प्रयोग हमें लाभों के सम्बन्ध में त्रुटिपूर्ण निष्कर्षों पर ले जाता है। पेन को उद्धृत करते हुए—'कुछ सिद्धान्तों, विशेषतया वितरणात्मक अंशों पर एम० कैलेस्की के सिद्धान्त में एकाधिकार का अंश केन्द्रीय स्थिति ग्रहण करता है। यह लाभ के स्तर का एकमात्र निर्धारक तत्त्व है। अब यह हमें अतिशयोक्ति प्रतीत होती है क्योंकि इस विचार की कठिनाइयों में से एक यह है कि समष्टिपरक आर्थिक दृष्टिकोण से प्रयोग करना अत्यधिक कठिन है। प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागतें विभिन्न स्तर पर होती है, कुशल फर्में अकुशल फर्मों की अपेक्षा कम लागत वक्र रखती है। अब यदि कुशल फर्में अतिरिक्त लाभ प्राप्त करती हैं तो यह नेतृत्व करने के बोनस (Bonus) द्वारा उत्पन्न होता है। यदि हम एकाधिकार के समष्टिपरक आर्थिक अंश का प्रयोग करते हैं तो यह भय होता है कि हम लाभ के एक भाग को एकाधिकारी परिस्थिति के अस्तित्व से सम्बन्धित करेंगे जो कि कार्यकुशलता में अन्तर के परिणामस्वरूप प्राप्त हुआ है। यह वास्तव में आय वितरण के कारणों को भंग कर देता है।'

कैलेस्की के सिद्धान्त पर पुनः आक्रमण करते हुए पेन लिखते हैं, "यह निश्चित रूप से सत्य है कि प्रतियोगिता का अंश महत्त्वपूर्ण है तथापि अन्य क्रियाशील शक्तियाँ है जो लाभ, ब्याज को उसी प्रकार प्रभावित करती हैं जिनकी व्याख्या 'एकाधिकार' तथा प्रतियोगिता' जैसे शब्द से नहीं की जा सकती। एक ऐसी शक्ति पूँजी की कमी है। अन्य तत्त्व फर्मों के मध्य लागत अन्तरों का अस्तित्व है जो सम्भवतः अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि कुशल तथा अकुशल फर्में साथ साथ कार्य करती हैं तो बृहद विभेदक लाभ (differential profits) उत्पन्न हो सकते हैं। ये प्रतियोगिता द्वारा लुप्त नहीं होते और न ही वे एकाधिकार द्वारा निर्धारित किये जाते हैं। अन्तरकारी लाभ आय की एक ऐसी श्रेणी है जिसका कैलेस्की की प्रणाली से मेल नहीं हो सकता। और इससे भी बदतर, अपेक्षाकृत अधिक उत्पादकता के लिए बोनस उसके मस्तिष्क में एकाधिकार के परिणाम के रूप में प्रतीत होते हैं—शराब को पानी में परिवर्तित करने का एक प्रतीकात्मक उदाहरण (a typical example of how to turn wine to water)[3]

1 Op cit 231-32

2 Op cit, p 135

3 Op cit., p 177

द्वितीय, कैलेस्की ने श्रमिको की शक्ति की पूर्ण रूप से उपेक्षा की है, उन्होने केवल पूँजीपतियो की शक्ति पर बल दिया है। और यह उनके विश्लेषण को वर्तमान पूँजीवाद की पक्षपातपूर्ण व्याख्या बना देता है। जैसा कि जे० के० गैलब्रेथ[1] द्वारा जोर दिया गया है कि श्रम संघ विनिर्माण उद्योगो के अधिकारी पूँजीपतियो की शक्ति पर समकारी शक्ति का प्रयोग करते हैं। अर्थव्यवस्था मे एकाधिकार के अंश को कम करने की प्रवृत्ति रखते हैं और परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय में श्रम के अंश को अधिक करते हैं। परन्तु कैलेस्की श्रम संघो की शक्ति की स्थिति को अनदेखी कर देते हैं। वे केवल पूँजीपतियो की शक्ति को देखते हैं ताकि समकारी शक्ति द्वारा एकाधिकार के अंश मे क[illegible] चित्र अर्थात् वर्णन से बाहर रहे।[2]

इसके अतिरिक्त वर्तमान लेखक के विचार में श्रम संघ अपनी सामूहिक सौदाकारी शक्ति के माध्यम से मौद्रिक लाभो की प्राप्त कर लेने मे सफल हुए हैं जो कि ऊँची कीमतो के रूप मे उपभोग करने वाली सामान्य जनता पर डाल दिये जाते हैं। यह लागत स्फीति के रूप मे परिणत हुई है और जो समाज मे अन्य वर्गों की वास्तविक आय को कम कर देती है। भारतवर्ष जैसे अर्द्धविकसित देश मे निजी तथा सार्वजनिक दोनो क्षेत्रो मे संगठित श्रमिक अपनी मजदूरियो मे वृद्धि कराने मे सफल हुए हैं जो देश मे मुद्रास्फीति के लिए आंशिक रूप से उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त इन बढी हुई मजदूरियो ने निजी तथा सार्वजनिक दोनो क्षेत्रो मे अतिरेको को कम कर दिया है जिनका उनके रोजगार तथा आय के सृजन के लिए प्रयोग किया जा सकता था जो असंगठित हैं तथा निर्धनता रेखा के नीचे जीवित रहते हैं। सार यह है कि श्रम संघ प्रभावशाली शक्तियाँ हैं और अपनी एकाधिकारी शक्ति से वे असंगठित श्रमिक की क्षति पर संगठित श्रमिक के अंश मे वृद्धि कराने की प्रवृत्ति रखते हैं। पूँजीपति वर्ग की एकाधिकारी शक्ति के समान, श्रम संघो की एकाधिकारी शक्ति भी समाज मे विभिन्न वर्गों के वितरणात्मक अंशों को प्रभावित करती है। कैलेस्की ने श्रम संघो की एकाधिकारी शक्ति तथा समाज मे आय के वितरण पर उसके प्रभाव की उपेक्षा की है। सम्भवतः यह उसके उद्देश्य के लिए उपयुक्त नही था।

इसके अतिरिक्त, कैलेस्की ने गलत रूप से औद्योगिक संकेन्द्रण तथा एकाधिकार के अंश के मध्य धनात्मक सम्बन्ध स्थापित किया। कैलेस्की के अनुसार, उद्योग मे संकेन्द्रण जितना अधिक होगा लाभ की सीमा (कीमत तथा उत्पादन लागत के मध्य अन्तर) उतनी ही अधिक होगी और इसलिए एक व्यक्तिगत उपक्रम की एकाधिकारी शक्ति का अंश भी अधिक होगा। इसके अतिरिक्त, कैलेस्की के अनुसार एक उद्योग की अनेक अल्पाधिकारी संस्थाएं गठबन्धन करने अथवा कार्टेल का निर्माण करने की प्रवृत्ति रखती हैं तथा उनके द्वारा एकाधिकार के अंश को और अधिक बढ़ाती हैं। इन सब को चुनौती दी जा चुकी है। इस प्रकार पेन का मत है, 'यह विश्वास करना सस्ता भ्रम है कि बडी संस्थाएँ गुप्त रूप से एक दूसरे की सहायता करती हैं। एक दूसरे के साथ, समन्वय करने वाली कुछ फर्मों के रूप में अल्पाधिकार की व्याख्या करना सरल है परन्तु जो पाठक व्यवसाय जगत् से परिचित है, वह जानता है कि बहुत बडी संस्थाओ के मध्य प्रतियोगिता विशेष रूप से गम्भीर हो सकती है, कीमतो के सम्बन्ध मे भी। संस्थाएँ बाजार के लिए लडती हैं और प्रक्रिया मे वे सदैव कीमत कम करने मे भयभीत नही होती हैं। कभी-कभी अल्पाधिकारिक प्रतियोगिता अस्थिर बाजार दशाओ को उत्पन्न करती है तथा कीमतें गिरती हैं। यह वास्तव में सत्य है कि बृहत् संस्थाओं के बाजार अंश मे वृद्धि कुल लाभ मे उनके अंश को बढ़ाती है ... तथापि वह सार या मुख्य बात नही है, एकाधिकार के अंश के सन्दर्भ मे जो वाद विषय है वह लाभ का अन्तर (margin) है। सामान्यतया यह सिद्ध नहीं किया गया है कि यह छोटी की अपेक्षा बडी फर्मों के लिए अधिक होती है। छोटी फर्मों को कभी-कभी उद्योग में स्थित रहने के लिए अपेक्षाकृत ऊँची लाभ की सीमाओं की आव-

1 J K Galbraith, *American Capitalism*
2 Jan Pen, *op cit* p 177

दयकता होती है और वे प्राय अपेक्षाकृत अधिक कीमत वसूल करने में सफल होती हैं ।"[1]

केल्डर ने कैलेस्की के सिद्धान्त की मांग की मूल्य-सापेक्षता से सम्बन्ध होने के कारण आलोचना की है। जैसा कि पहले व्याख्या की जा चुकी है कि 'एकाधिकारी शक्ति का अंश' मांग की मूल्यसापेक्षता के विपरीत होता है। वास्तव में, कैलेस्की ने स्पष्टतया कल्पना की कि एकाधिकार अथवा अल्पाधिकारी फर्में अपने लाभ की सीमाएँ या अधिक मूल्य (mark-ups) मांग की मूल्यसापेक्षता पर निर्धारित करती थीं। कैलेस्की के सिद्धान्त पर टीका-टिप्पणी करते हुए केल्डर लिखते हैं, "तथापि निकटतर निरीक्षण करने पर व्यक्तिगत फर्म के मांग वक्र की मूल्यसापेक्षता उसके प्रतिपक्ष, साधनों के मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता की अपेक्षा टूटे नरकट के समान सिद्ध हो गयी (On closer inspection, however, the elasticity of the demand curve facing an individual firm turned out to be no less of a broken reed than its counterpart, the elasticity of substitution between factors) । कोई प्रमाण नहीं है कि अपूर्ण बाजारों में फर्में अपनी कीमतें अपने बिक्री फलन (sales function) के सन्दर्भ द्वारा निर्धारित करती हैं अथवा यह कि अल्पकालीन कीमत-निर्धारण स्वतन्त्र आय तथा लागत फलन के सदर्भ द्वारा लाभ को अधिकतम करने के लिए किसी आयोजित प्रयत्न (deliberate attempt) का परिणाम है। वास्तव में अकेली फर्म के पदार्थ के मांग वक्र की धारणा ही अनुचित है यदि विभिन्न फर्मों द्वारा वसूल की जाने वाली कीमतों को एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं माना जाता।"[2]

हम निष्कर्ष निकालते हैं कि कैलेस्की ने केवल एक तत्त्व पर जोर दिया है जिसका आय वितरण से सम्बन्ध होता है। यह निश्चित रूप से सत्य है कि कीमत निर्धारित करने की शक्ति से फर्में आय के वितरण को प्रभावित करेंगी। परन्तु अन्य तत्त्वों के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

वितरण का नव-प्रतिष्ठित समष्टिपरक सिद्धान्त (Neo Classical Macro-Theory of Distribution)

वितरण का नव-प्रतिष्ठित समष्टिपरक सिद्धान्त, वितरण के नव-प्रतिष्ठित व्यष्टिपरक सिद्धान्त से व्युत्पन्न किया गया है। जैसा कि हमने अपने पहले अध्यायों में व्याख्या की है कि वितरण का नव-प्रतिष्ठित व्यष्टिपरक सिद्धान्त साधनों की सीमान्त उत्पादकता के आधार पर साधनों के पुरस्कार की व्याख्या करता है। नव-प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार सीमान्त सिद्धान्त का सभी साधनों में उन्हें परिवर्तनशील साधन मानते हुए प्रयुक्त किया जा सकता है और इसलिए उनके सीमान्त उत्पादन के बराबर उनके पुरस्कार निर्धारित किये जाते हैं। इस प्रकार श्रमिक सीमान्त उत्पादन के बराबर वास्तविक मजदूरी दर प्राप्त करता है, पूंजी अपने सीमांत उत्पादन के बराबर ब्याज दर प्राप्त करती है, भूमि अपने सीमांत उत्पादन के बराबर लगान प्राप्त करती है। एक साधन का कुल निरपेक्ष भाग, उसके सीमान्त उत्पादन (अर्थात् वास्तविक रूप में पारितोषिक) × प्रयुक्त साधन की मात्रा द्वारा निर्धारित होता है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय में श्रम का निरपेक्ष भाग उत्पादन में प्रयुक्त श्रम की मात्रा × उसके सीमान्त उत्पादन (अर्थात् वास्तविक मजदूरी दर) द्वारा निर्धारित होता है तथा एवमेव—

$$\text{राष्ट्रीय आय में श्रम का सापेक्ष भाग} = \frac{\text{निरपेक्ष भाग}}{\text{कुल राष्ट्रीय उत्पादन}} \text{ है।}$$

यह ध्यान देने योग्य है कि नव-प्रतिष्ठित सिद्धान्त में कीमत से स्वतन्त्र रूप में सभी साधनों की पूर्ति दी हुई तथा स्थिर मानी जाती है तथा सभी साधन सीमित अंश तक एक दूसरे के स्थानापन्न समझे जाते हैं। साधनों की स्थिर तथा दी हुई पूर्ति के कारण विभिन्न साधनों के सीमान्त उत्पादन फलन से ज्ञात किये जाते

1 *Op cit*, p 178

2 N Kaldor, Alternative Theories of Distribution, *Review of Economic Studies*, Vol 23, pp 83 100

हैं। साधन के इन सीमान्त उत्पादनों (जिसके बराबर साधनों के वास्तविक पुरस्कार निर्धारित किये जाते हैं) का ज्ञान होने के कारण साधनों के निरपेक्ष तथा सापेक्ष भाग ज्ञात किये जा सकते हैं। श्रम की दशा को लें जिसकी मात्रा हम L से प्रदर्शित करते हैं। माना कि श्रम की L इकाइयाँ दी हुई तथा नियुक्त होने पर उत्पादित कुल उत्पादन Q से प्रदर्शित है। तब हम श्रमिक के सीमान्त उत्पादन को $\frac{\triangle Q}{\triangle L}$ के रूप में लिख सकते हैं जिसका अर्थ श्रम में सीमान्त इकाई से परिवर्तन के परिणामस्वरूप उत्पादन में परिवर्तन से होता है। श्रम का सीमान्त उत्पादन $\frac{\triangle Q}{\triangle L}$ तथा प्रयुक्त श्रम की दी हुई कुल मात्रा होने पर श्रम का निरपेक्ष भाग—

$$=\frac{\triangle Q}{\triangle L}\ L \text{ होगा।}$$

निरपेक्ष भाग को कुल राष्ट्रीय उत्पादन (Q) से विभाजित करने पर हमें श्रम का सापेक्ष भाग प्राप्त हो जायगा जिसे हम λ से प्रदर्शित करते हैं। अत राष्ट्रीय उत्पादन में श्रम का सापेक्ष भाग—

$$\lambda=\frac{\triangle Q}{\triangle L}\ \frac{L}{Q}$$

$$\lambda=\frac{\triangle Q}{Q}\ \frac{L}{\triangle L}$$

$$=\frac{\triangle Q}{Q}-\frac{\triangle L}{L}$$

परन्तु $\frac{\triangle Q}{Q}-\frac{\triangle L}{L}$ का अर्थ, L साधन में सापेक्ष परिवर्तन के परिणामस्वरूप उत्पादन में सापेक्ष परिवर्तन से होता है। अन्य शब्दों में, $\frac{\triangle Q}{Q}-\frac{\triangle L}{L}$, श्रम के कारण उत्पादन की लोच को प्रदर्शित करता है। अत. तात्पर्य यह निकलता है कि राष्ट्रीय आय में श्रम का सापेक्ष भाग, श्रम के कारण उत्पादन की लोच के बराबर होता है। सख्यात्मक शब्दों में, यदि श्रम की मात्रा में 1% परिवर्तन से राष्ट्रीय उत्पादन में 25% परिवर्तन करता है तो राष्ट्रीय उत्पादन में श्रमिकों का भाग 25% होगा।

इसी प्रकार पूँजी का सापेक्ष भाग, जिसे हम k से प्रदर्शित करते हैं, निश्चित किया जा सकता है।

$$k=\frac{\triangle Q}{\triangle K}\ \frac{K}{Q}=\frac{\triangle Q}{Q}\ \frac{K}{\triangle K}$$

$$=\frac{\triangle Q}{Q}-\frac{\triangle K}{K}$$

जो पूँजी के कारण कुल उत्पादन की लोच की अभिव्यक्ति (expression) है। इस प्रकार राष्ट्रीय आय में पूँजी का सापेक्ष भाग k, पूँजी के कारण उत्पादन की लोच के बराबर होता है।

जहाँ तक राष्ट्रीय उत्पादन (अर्थात् राष्ट्रीय आय) में श्रम के निरपेक्ष भाग तथा श्रम की मात्रा में परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उसमे परिवर्तन का सम्बन्ध
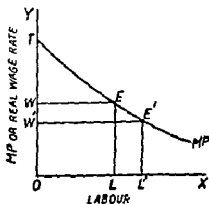
रेखाकृति 44·2

है, यह साधन के सीमान्त उत्पादकता वक्र की सहायता से अच्छी तरह समझा जा सकता है। रेखाकृति 44 2 पर ध्यान दें। यदि OL श्रम की दी हुई मात्रा है तो उसका सीमान्त उत्पादन $\frac{\triangle Q}{\triangle L}$ या वास्तविक मजदूरी दर OW होगी। राष्ट्रीय उत्पादन में श्रम का निरपेक्ष भाग $OW \times OL$ अर्थात् $OLEW$ आयत का क्षेत्रफल है। अब माना कि श्रम की मात्रा OL' तक बढ जाती है तो सीमान्त उत्पादन (या वास्तविक मजदूरी दर) कम होकर OW' हो जाती है। अब राष्ट्रीय आय में श्रम का निरपेक्ष भाग नये आयत $OL'E'W'$ के क्षेत्रफल के बराबर होगा। अब इस

नवीन आयत $OL'E'W'$ का क्षेत्रफल (और इसलिए राष्ट्रीय उत्पादन मे श्रम का नवीन निरपेक्ष भाग) पहले के आयत (अर्थात् पहले के श्रम के भाग) की अपेक्षा अधिक, कम या समान होगा यह इस पर निर्भर करता है कि क्या सीमान्त उत्पादन वक्र की लोच एक से अधिक, एक से कम या एक के बराबर है। इस प्रकार यदि सीमान्त उत्पादन वक्र की लोच एक से अधिक है तो श्रम की मात्रा मे वृद्धि होने से राष्ट्रीय आय म श्रम का भाग पूँजी की अपेक्षा बढेगा। और यदि यह लोच एक से कम है तो श्रम का भाग कम होगा तथा यदि यह एक के बराबर है तो पूँजी की मात्रा को स्थिर रखते हुए श्रम की मात्रा मे वृद्धि करने पर श्रम का भाग पूर्ववत् रहेगा।

चूँकि नव-प्रतिष्ठित आर्थिक विचार में एक साधन के प्रयोग या रोजगार के स्तर के दिये हुए होने पर उसके सीमान्त उत्पादन (MP) के अनुसार पुरस्कृत करने का सीमान्त सिद्धान्त सभी उत्पादन के साधनो मे प्रयुक्त होता है अत शेष उत्पादन WET अन्य साधनो को पुरस्कृत करने के लिए ठीक पर्याप्त होना चाहिए। इस प्रकार यदि सभी उत्पादन के साधनों को उनके सीमान्त उत्पादन के बराबर पुरस्कार भुगतान किया जाता है तो कुल उत्पादन किसी अतिरेक (surplus) अथवा घाटे (deficit) के बिना ठीक समाप्त हो जाता है। हमने एक पूर्व अध्याय (देखिए पृष्ठ 627-631) म देखा है कि नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री या तो प्रथम अश के समरूप उत्पादन फलन (अर्थात् स्थिर पैमाने के प्रतिफल)—homogeneous production function of first degree (i e. constant returns to scale) को मानते थे या पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दीर्घकालीन सन्तुलन की दशा (दीर्घकालीन औसत लागत वक्र का न्यूनतम बिंदु) को यह सिद्ध करने के लिए स्वीकार किया कि वास्तव म यदि सभी उत्पादन के साधनो को उनके सीमान्त उत्पादन के बराबर पुरस्कार भुगतान किया जाता है तो कुल उत्पादन ठीक समाप्त हो जायगा।

वितरणात्मक भागों के नव-प्रतिष्ठित सिद्धान्त म सामान्यतया दो उत्पादन के साधनो—श्रम तथा पूँजी पर विचार किया गया है जबकि भूमि, पूँजी मे सम्मिलित मानी गयी है, उद्यमियों पर बिल्कुल भी विचार नहीं किया गया है जो लाभ प्राप्त करते हैं। वास्तव म, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र म पूर्ण प्रतियोगिता को मानते हुए उद्यमी के लाभ दीर्घकालीन सन्तुलन की दशा मे शून्य होते हैं। नव-प्रतिष्ठित वितरण सिद्धान्त म उत्पादन फलन उद्यमियो को एक आगत के रूप म सम्मिलित नही करता है। इस प्रकार पन के अनुसार "नव प्रतिष्ठित विचार म केवल दो उत्पादन के साधन होते हैं अत $\lambda + k = I$, परन्तु यह धारणा, कि आय का अश उत्पादन फलन की आंशिक लोच के बराबर है, समाज मे किसी समुदाय (group) पर बिना कठिनाई के प्रयुक्त की जा सकती है। बढइयो का अश बढ़ईगीरी (carpentry) के कारण राष्ट्रीय उत्पादन की लोच के बराबर होता है, भारी चिकनी मिट्टी (heavy clay) का अश, भारी मिट्टी के कारण राष्ट्रीय उत्पादन की लोच के बराबर होता है। केवल उद्यमियो के सम्बन्ध मे हमारा सूत्र प्रयुक्त होने मे असफल हो जाता है। यह उत्पादन का साधन उत्पादन फलन मे एक आगत (input) के रूप मे समक्ष नही आता है। विशुद्ध लाभ इस कहानी मे उचित नही बैठता—उसके लिए किसी अन्य की खोज करनी होगी।"[1]

प्रतिस्थापन सापेक्षता के विचार को सहायता से एक साधन के सापेक्ष भाग की व्याख्या (Relative Share of a Factor explained with the concept of Elasticity of Substitution)

नव-प्रतिष्ठित वितरण सिद्धान्त मे एक साधन के सापेक्ष भाग की व्याख्या प्रतिस्थापन सापेक्षता के विचार की सहायता से अधिक अच्छी तरह की जा सकती है जो जे० आर० हिक्स[2] द्वारा प्रस्तुत तथा विकसित किया गया। हम पहले ही अध्याय 14 (देखिए पृष्ठ 257-260) मे ही साधनो के मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता के विचार की व्याख्या कर चुके हैं। साधनो के मध्य

1 *Op cit*, p 171

2 J R Hicks, *Theory of Wage*, Macmillan, 1932

प्रतिस्थापन सापेक्षता प्रतिस्थापन के सीमान्त दर मे आनुपातिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप साधन अनुपात (factor ratio) मे आनुपातिक परिवर्तन को प्रदर्शित करती है। और यह स्मरणीय है कि दो साधनो के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर, दो साधनो के सीमान्त उत्पादन के अनुपात $\frac{MP_L}{MP_K}$ के बराबर होती है।

अत प्रतिस्थापन सापेक्षता (σ) को निम्न प्रकार लिखा जा सकता है।

$$\sigma = \frac{\Delta\left(\frac{L}{K}\right)}{\frac{L}{K}} - \frac{\Delta\left(\frac{MP_L}{MP_K}\right)}{\frac{MP_L}{MP_K}}$$

$$= \frac{\Delta\left(\frac{L}{K}\right)}{\frac{L}{K}} - \frac{\Delta\left(\frac{W}{r}\right)}{\frac{W}{r}}$$

कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे श्रम तथा पूँजी के सापेक्ष मागो की व्याख्या करने के लिए हम रेखाकृति 44 3 मे प्रतिस्थापन वक्र SS खीचते है जो श्रम पूँजी-अनुपात (Capital-labour ratio) मे परिवर्तन के परिणामस्वरूप प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS) या $\left(\frac{MP_L}{MP_K}\right)$ मे परिवर्तनो को प्रदर्शित करता है। इस रेखाकृति 44 3 मे हम दो साधनो के सीमान्त उत्पादन के अनुपात $\frac{MP_L}{MP_K}$ (या अन्य शब्दो में प्रतिस्थापन की सीमान्त दर) को Y-अक्ष पर तथा श्रम-पूँजी अनुपात को X-अक्ष पर मापते है। जैसा कि पूर्व अध्याय मे व्याख्या की जा चुकी है कि इस प्रतिस्थापन वक्र SS की लोच साधनो के मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता होती है।

अब माना कि OL प्रयुक्त श्रम पूँजी अनुपात है। तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि $OLEW$ आयत का क्षेत्रफल, श्रम तथा पूँजी के सापेक्ष मागो के अनुपात के बराबर है।

इस प्रकार, $OLEW$ आयत का क्षेत्रफल $= OW \times OL$ ... (1)

चूँकि OW प्रतिस्थापन की सीमान्त दर या दो साधनो के सीमान्त उत्पादन का अनुपात $\left(\text{अर्थात्} \frac{MP_L}{MP_K}\right)$ है तथा OL प्रयुक्त विशिष्ट श्रम-पूँजी अनुपात (L/K) है। उपर्युक्त समीकरण (1) से यह तात्पर्य निकलता है कि $OLEW$ आयत का क्षेत्रफल $= \frac{MP_L}{MP_K} \times \frac{L}{K} = \frac{MP_L\ L}{MP_K\ K}$

चूँकि नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त मे साधन के पुरस्कार उनके सीमान्त उत्पादन के बराबर होते हैं अत श्रमिक की मजदूरी दर (W), MP_L के बराबर होगी तथा पूँजी पर प्रतिफल (r), MPK के बराबर होगा। अत समीकरण (2) मे MP_L के लिए w तथा MPK के लिए r का प्रतिस्थापन करने पर हम $OLEW$ आयत का क्षेत्रफल $= \frac{w}{r}\frac{L}{K}$ प्राप्त करते हैं।

अश तथा हर को राष्ट्रीय उत्पादन Q से विभाजित करने पर हम

$$OLEW \text{ आयत का क्षेत्रफल} = \frac{\frac{wL}{Q}}{\frac{rK}{Q}}$$

$$= \frac{\text{श्रम का सापेक्ष माग}}{\text{पूँजी का सापेक्ष माग}}$$ प्राप्त करते हैं।

अत हम निष्कर्ष निकालते हैं कि प्रतिस्थापन वक्र के एक बिन्दु पर आयत का क्षेत्रफल श्रम तथा पूँजी के सापेक्ष माग के अनुपात की माप करता है।

अब रेखाकृति 44 3 तथा प्रतिस्थापन सापेक्षता के विचार की सहायता से यह प्रदर्शित किया जा सकता है कि साधन कीमत अनुपात मे परिवर्तनो के परिणामस्वरूप श्रम तथा पूँजी के सापेक्ष माग किस प्रकार परिवर्तित होंगे अर्थात् पूँजी पर प्रतिफल (r) की अपेक्षा श्रम की मजदूरी (w) कब परिवर्तित होती है। यह स्मरण किया जाना चाहिए कि प्रतिस्थापन सापेक्षता का चिन्ह ऋण (—) होता है जिसका अर्थ है कि जैसे जैसे w/r गिरता है, L/K अनुपात बढता है तथा विलोमत, अर्थात् दो अनुपात विपरीत

दिशा मे परिवर्तित होते हैं। अब रेखाकृति 44 3 पर ध्यान दें। माना कि पूंजी पर प्रतिफल (r) की अपेक्षा मजदूरी दर (w) अधिक कम हो जाती है। इसका अर्थ है कि w/r अनुपात कम होता है तथा परिणामस्वरूप L/K अनुपात बढता है।
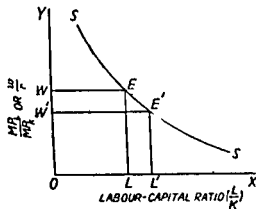
रेखाकृति 44 3

रेखाकृति 44 3 मे यदि E बिन्दु पर प्रतिस्थापन वक्र S की सापेक्षता (या अन्य शब्दो मे श्रम तथा पूंजी के मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता) एक से अधिक है ($\sigma > 1$) तो जैसा कि हम अपने माँग की मूल्य-सापेक्षता के ज्ञान से जानते हैं कि जैसे-जैसे हम X अक्ष के साथ दाहिनी ओर चलेंगे आयत का क्षेत्रफल बढ़ता जाएगा जिसका अर्थ है कि श्रम का भाग ($w L$) पूंजी के भाग की अपेक्षा अधिक बढता है। इस प्रकार राबर्टसन के अनुसार, "श्रम, गैर श्रम के लिए जितना ही अधिक प्रतिस्थापनीय होगा अर्थात् श्रम की बढी हुई पूर्तियाँ जितनी अधिक सरलता से उत्पादन प्रक्रिया मे प्रयोग हो सकती हैं, श्रम के सापेक्ष भाग मे वृद्धि की उतनी ही अधिक सम्भावना होगी। यह सरलता जितनी अधिक होगी श्रम की पूर्ति मे वृद्धि होने पर श्रम की सीमान्त उत्पादकता उतनी ही कम घटायी जाएगी ("Labour's relative share will be more likely to increase the more substitutable it is for non-labour, the greater the ease with which increased supplies of it can, as it were worm and work their way into the productive process The greater this ease, the less will the marginal productivity of labour be reduced and the less will the marginal productivity of non-labour be raised as the supply of labour increases"[1])

अब कल्पना कीजिए कि w/r कम होता है तथा परिणामस्वरूप L/K बढता है। यदि प्रतिस्थापन सापेक्षता (σ) एक से कम है, (जिसका अर्थ है कि L/K अनुपात w/r मे कमी के अनुपात की अपेक्षा कम बढता है) तो जैसे-जैसे हम X-अक्ष के साथ दाहिनी ओर चलते हैं आयत का क्षेत्रफल कम होता जायेगा जिसका अभिप्राय है कि श्रम का सापेक्ष भाग पूंजी के भाग की अपेक्षा कम होता जायेगा।

अब कल्पना कीजिए w/r कम होता है तथा परिणामस्वरूप L/K बढता है परन्तु प्रतिस्थापन सापेक्षता एक के बराबर है ($\sigma = 1$) जिसका अर्थ है कि L/K मे आनुपातिक वृद्धि w/r मे आनुपातिक कमी के बराबर है। इस दशा मे X-अक्ष के साथ दाहिनी ओर चलने पर आयत का क्षेत्रफल पूर्ववत् रहेगा। इस प्रकार हम देखते है कि साधन-कीमत अनुपात (w/r) मे परिवर्तनो के परिणामस्वरूप साधन अनुपात (L/K) मे परिवर्तन प्रतिस्थापन सापेक्षता पर निर्भर करते हैं जो साधन कीमत अनुपात मे परिवर्तन होने पर श्रम तथा पूंजी साधनो के सापेक्ष भागो मे परिवर्तनो को निर्धारित करता है।

अब विपरीत दशा पर ध्यान दीजिए। माना कि पूंजी पर प्रतिफल की अपेक्षा श्रम की मजदूरी दर (w) बढती है और इसलिए w/r बढ़ता है। इसके परिणामस्वरूप साधन अनुपात (L/K) कम होगा। अब यदि श्रम तथा पूंजी के मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता एक से अधिक है ($\sigma > 1$) तो रेखाकृति 44 3 मे X-अक्ष के साथ बायी ओर चलने पर आयत का क्षेत्रफल कम होगा जिसका अर्थ है कि पूंजी की अपेक्षा श्रम का भाग कम होगा। दूसरी ओर, यदि प्रतिस्थापन

1. D. H Robertson, *Lectures on Economic Principles*, Fontana Library edition p. 190

सापेक्षता एक से कम है ($\sigma < 1$) तो रेखाकृति 44 3 मे X-अक्ष के साथ बायीं ओर चलने पर आयत का क्षेत्रफल बढ़ेगा जिसका अर्थ है कि पूँजी की अपेक्षा श्रम का भाग बढ़ेगा। इसके अतिरिक्त यदि प्रतिस्थापन सापेक्षता 'इकाई के बराबर है ($\sigma = 1$) तो साधन कीमत अनुपात w/r मे वृद्धि तथा परिणामस्वरूप साधन अनुपात (L/K) मे कमी, रेखाचित्र 44 3 मे X-अक्ष पर बायी ओर चलने पर आयत का क्षेत्रफल पूर्ववत् होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्या प्रतिस्थापन सापेक्षता एक से अधिक, एक से कम या एक के बराबर है, यह विभिन्न सामाजिक, आर्थिक समुदायो के सापेक्ष वितरणात्मक भागो को निर्धारित करने मे अत्यधिक महत्वपूर्ण है। अनुभवाश्रित अध्ययनो (empirical studies) से प्रकट हुआ है कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था मे युद्धोत्तर काल मे राष्ट्रीय आय मे श्रम का सापेक्ष भाग बढा है तथा मजदूरी दर भी बढी है तथा श्रम-पूँजी अनुपात भी घटा है।

हमारे उपर्युक्त विश्लेषण से यह तात्पर्य निकलता है कि w/r अनुपात मे वृद्धि तथा अनुगामी (consequent) श्रम-पूँजी अनुपात मे कमी के परिणामस्वरूप पूँजी की अपेक्षा श्रम का भाग, प्रतिस्थापन सापेक्षता एक से कम होने पर ही बढ़ेगा। वास्तव मे, अनुभवाश्रित प्रमाण बिल्कुल दृढ है कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था तथा सम्पूर्ण निर्माण उद्योग के लिए प्रतिस्थापन सापेक्षता एक से पर्याप्त कम है।[1] इस प्रकार एक से कम प्रतिस्थापन सापेक्षता की अनुभवाश्रित खोज अमेरिकी अर्थव्यवस्था मे युद्धोत्तर वर्षों मे सापेक्ष मजदूरी दर तथा श्रम के सापेक्ष अंश में वृद्धि के अनुरूप है।

तथापि, यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि अमेरिकी अर्थव्यवस्था तथा अन्यत्र प्रत्येक उद्योग मे श्रम तथा पूँजी के मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता इकाई से कम होती है। वास्तव मे, सी० ई० फर्गुसन ने ज्ञात किया है कि अमेरिका मे अनेक विशिष्ट उद्योगो तथा पदार्थ समूहों का उत्पादन फलन ऐसा है जिनकी प्रतिस्थापन सापेक्षता एक से अधिक है।[2] इस प्रकार के उद्योगो मे पूँजी पर प्रतिफल की अपेक्षा मजदूरी दर मे वृद्धि तथा श्रम पूँजी अनुपात मे अनुगामी कमी (या पूँजी-श्रम अनुपात मे वृद्धि) के परिणामस्वरूप उद्योग के कुल उत्पादन मे श्रम का सापेक्ष भाग कम होता है। इस प्रकार के उद्योगो मे प्रतिफल की सापेक्ष दर मे कमी होने पर भी पूँजी के सापेक्ष भाग मे वृद्धि हुई है।

उपर्युक्त से यह तात्पर्य निकलता है कि प्रतिस्थापन सापेक्षता अर्थात सापेक्ष 'साधन कीमतो मे परिवर्तन की प्रयुक्त साधन अनुपातो की प्रत्युत्तरदायिता (responsiveness) पर निर्भर उनकी सापेक्ष कीमतो मे परिवर्तनो के प्रत्युत्तर मे श्रम तथा पूँजी के सापेक्ष भाग परिवर्तित हो गये हैं। परन्तु अनेक वर्षों म सापेक्ष भागो मे अवलोकित परिवर्तन उस तकनीकी प्रगति के स्वभाव पर भी निर्भर करते है जो कि घटित हुई है। तकनीकी प्रगति या तो तटस्थ या अभिनत (biased) हो सकती है। यदि यह अभिनत है तो यह या तो पूँजी प्रयोग करने वाली या श्रम प्रयोग करने वाली हो सकती है। तटस्थ तकनीकी प्रगति उत्पादन फलन को इस प्रकार विवर्तित करती है कि पूँजी-श्रम अनुपात (अर्थात साधन अनुपात) अपरिवर्तित रहता है, जो साधन कीमतो के दिए होने पर, श्रम तथा पूँजी के सापेक्ष भागो को अप्रभावित छोड देता है। यदि तकनीकी प्रगति पूँजी प्रयोग करने वाली अर्थात् पूँजी अभिनत प्रकार (Capital bias type) की है तो यह पूँजी श्रम अनुपात मे वृद्धि कर देगी और साधन-कीमतो के दिये होने पर पूँजी के सापेक्ष भाग मे वृद्धि कर देगी। दूसरी ओर, यदि तकनीकी परिवर्तन श्रम प्रयोग करने

1. See J W Kendrick and Ryuzo Sato, Factor Prices, Productivity and Growth *American Economic Review*, LIII 1963, pp 974-10903

2 See C E Ferguson, "Cross Section Production Functions and the Elasticity of Substitution in American Manufacturing Industry" *Review of Economics and Statistics* XLV (1963) pp 305 13 and Time Series Production Functions and Technological Progress in American Manufacturing Industries, *Journal of Political Economy* LXIII (1965), pp 135-47.

वाला (अर्थात् श्रम अभिनत) है तो यह श्रम-पूँजी अनुपात मे वृद्धि कर देगा तथा साधन कीमतो के दिये होने पर यह श्रम के सापेक्ष भागो मे वृद्धि कर देगा।

काब-डगलस उत्पादन फलन तथा श्रम एव पूँजी के वितरणात्मक भाग (Cobb-Douglas Production Function and Distributive Shares of Labour and Capital)

नव-प्रतिष्ठित वितरण के सिद्धान्त मे श्रम तथा पूँजी के वितरणात्मक भागो की काब-डगलस उत्पादन फलन की सहायता से व्याख्या करना दीर्घकाल से प्रचलित है। इसका कारण यह है कि काब-डगलस उत्पादन फलन मे कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण लक्षण पाये जाते हैं जोकि श्रम तथा पूँजी के वितरणात्मक भागो को सरलतापूर्वक तथा सुचारु रूप से प्रदर्शित कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त काब-डगलस उत्पादन फलन राष्ट्रीय आय मे श्रम के अश की स्थिरता की व्याख्या करने के लिये आदर्श सिद्ध हुआ जिसको अर्थशास्त्री दीर्घकाल तक अनुभवाश्रित रूप से सत्य समझते थे।

काब-डगलस उत्पादन फलन निम्न प्रकार है :

$$Q = A L^{\propto} K^{1-\propto}$$

जहाँ L श्रमिक, K पूँजी तथा Q उत्पादन का प्रतिनिधित्व करते हैं। A तथा $\propto$ स्थिराक (constants) हैं। A एक महत्त्वहीन स्थिराक है जो कि इकाइयो के चुनाव पर निर्भर करता है जिसमे चर (variables) व्यक्त किये जाते हैं जबकि $\propto$ एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थिरांक है जिसे श्रम तथा पूँजी के वितरणात्मक भागों को निर्धारित करना होता है। काब-डगलस उत्पादन फलन के महत्त्वपूर्ण लक्षण पाए जाते हैं जिनमे से कुछ यहाँ उल्लेखनीय हैं। प्रथम, इस उत्पादन फलन से यह तात्पर्य निकलता है कि पूँजी के बिना उत्पादन असम्भव है, क्योंकि L तथा K को एक दूसरे से गुणा किया जाता है। द्वितीय $\propto$ तथा $1-\propto$ का योग 1 के बराबर है। इसका अर्थ यह है कि काब-डगलस उत्पादन फलन पैमाने के स्थिर प्रतिफल को प्रदर्शित करता है अर्थात् उत्पादन के पैमाने में वृद्धि का उत्पादकता पर कोई प्रभाव नही पडता। यदि L तथा K को किसी दी हुई निश्चित संख्या g से गुणा किया जाता है तो कुल उत्पादन भी g गुना बढ जाता है (काब-डगलस उत्पादन फलन का अभिप्राय पैमाने के स्थिर प्रतिफल से होता है इसके प्रमाण के लिए इस पुस्तक का पृष्ठ 269 देखिए)।

काब-डगलस उत्पादन फलन का ध्यान देने योग्य पहलू $\propto$ घातांक (exponent) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है जो श्रम के कारण उत्पादन की लोच के बराबर सिद्ध होता है और जैसा कि हम पहले सिद्ध कर चुके है कि श्रम के कारण उत्पादन की लोच राष्ट्रीय आय मे श्रम के सापेक्ष भाग के बराबर होती है। इस प्रकार काब-डगलस उत्पादन फलन मे $\propto$ घाताक राष्ट्रीय उत्पादन मे श्रम के सापेक्ष भाग को मापता है। काब-डगलस उत्पादन फलन मे α घाताक श्रम के कारण उत्पादन की लोच और इसलिए राष्ट्रीय आय मे श्रम के सापेक्ष भाग के बराबर है, को नीचे सिद्ध किया गया है।

चूँकि वास्तविक मजदूरी दर (w), श्रम के सीमांत उत्पादन $\left(\frac{\Delta Q}{\Delta L}\right)$ के बराबर होती है अतः काब-डगलस उत्पादन फलन के अन्तर्गत—

$$w = \frac{\Delta Q}{\Delta L} = \propto A L^{\propto - 1} K^{1-\propto}$$

चूँकि राष्ट्रीय आय मे श्रम का निरपेक्ष भाग वास्तविक मजदूरी दर को श्रम की कुल मात्रा L से गुणा करके ज्ञात किया जा सकता है। अतः

$$\text{श्रम का निरपेक्ष भाग} = w L = \frac{\Delta Q}{\Delta L} . L = \propto A L^{\propto - 1 + 1} K^{1-\propto}$$

$$= \propto A L^{\propto} K^{1-\propto}$$

अब राष्ट्रीय उत्पादन मे श्रम का सापेक्ष भाग, निरपेक्ष भाग को कुल राष्ट्रीय उत्पादन Q से विभाजित करके प्राप्त किया जा सकता है। अत.

$$\text{श्रम का सापेक्ष भाग} = \frac{wL}{Q} = \frac{\triangle Q}{\triangle L} \cdot \frac{L}{Q}$$

$$= \frac{\alpha AL^{\alpha} K^{1-\alpha}}{AL^{\alpha} K^{1-\alpha}}$$

$$= \alpha$$

यह ध्यान देने योग्य है कि $\frac{\triangle Q}{\triangle L} \frac{L}{Q}$ श्रम के कारण उत्पादन की लोच की अभिव्यक्ति (expression) है। अत. हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि काब-डगलस उत्पादन फलन मे राष्ट्रीय उत्पादन मे श्रम का सापेक्ष भाग, श्रम के कारण उत्पादन सापेक्षता तथा घाताक α, जो कि फलन मे श्रम का घाताक है, के बराबर होता है। फलन मे K का घाताक $1-\alpha$ राष्ट्रीय आय में पूँजी के सापेक्ष भाग की माप करता है। इस प्रकार हम काब-डगलस उत्पादन फलन के सम्बन्ध मे एक अद्भुत निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि घाताक (exponents) श्रम तथा पूँजी के सापेक्ष भागो के प्रत्यक्ष माप हैं। काब-डगलस द्वारा किये गये अनुभवाश्रित अन्वेषण के अनुसार α घाताक का मूल्य 3/4 है और इसलिए $1-\alpha$ का मूल्य 1/4 है। अन्य शब्दो मे, राष्ट्रीय आय मे श्रम का सापेक्ष भाग 75% तथा पूँजी का उसमे (राष्ट्रीय आय मे) सापेक्ष भाग 25% है।

काब-डगलस उत्पादन फलन के सम्बन्ध मे अन्य महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि श्रम तथा पूँजी के कारण उत्पादन सापेक्षताएँ अर्थात् क्रमश α तथा $1-\alpha$, "K/L अनुपात, पूँजी प्रधानता या प्रति श्रमिक पूँजी की मात्रा से स्वतन्त्र है। हम उत्पादन प्रक्रिया मे चाहे जितनी अधिक पूँजी लगा दें आय वितरण पूर्ववत् बना रहता है। अन्य शब्दो मे, पूँजी सचय द्वारा आय के भाग प्रभावित नही होते हैं। वर्द्धमान K/L से उत्पादन के साधनो का कीमत सम्बन्ध अवश्य परिवर्तित होता है। वास्तविक मजदूरियाँ बढती हैं तथा वास्तविक ब्याज दर कम हो जाती है। इन कीमतो के परिवर्तनों के प्रश्न को ठीक ठीक कहा जा सकता है। यदि प्रति श्रमिक पूँजी की मात्रा 1% बढती है, तो काब-डगलस के अन्तर्गत ब्याज-मजदूरी अनुपात 1% से कम हो जाता है। दो परिवर्तन (अर्थात r/w तथा K/L मे) एक दूसरे की क्षतिपूर्ति इस प्रकार करते है कि श्रम का सापेक्ष भाग पूर्ववत् बना रहता है।"[1]

चूँकि r/w मे परिवर्तनो से K/L की प्रत्युत्तर-दायिता प्रतिस्थापन सापेक्षता का माप करती है अत प्रतिस्थापन सापेक्षता के शब्दो मे भी उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुचा जा सकता है। काब-डगलस उत्पादन फलन मे श्रम तथा पूँजी के मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता 1 के बराबर होनी है जिसका अर्थ है कि जैसे-जैसे पूँजी सचित की जाती है और परिणामस्वरूप उस पर वास्तविक प्रतिफल (अर्थात् पूँजी का सीमान्त उत्पादन) कम होता है तथा परिणामस्वरुप साधन कीमत अनुपात r/w कम होना है तो पूँजी-श्रम मे आनुपातिक वृद्धि r/w मे आनुपातिक कमी के बराबर होती है। इसके परिणामस्वरूप अधिक पूँजी सचित होने पर श्रम का सापेक्ष भाग पूर्ववत् बना रहता है। इस प्रकार काब-डगलस उत्पादन फलन को सम्मिलित करने वाले वितरण के नव-प्रतिष्ठित सिद्धान्त म पूँजी-सचय श्रम तथा पूँजी के सापेक्ष भागो को प्रभावित या निर्धारित नही करता है। अत, नव-प्रतिष्ठित वितरण सिद्धान्त मे वितरणात्मक भागो के निर्धारक तत्व के रूप मे पूजी-सचय को त्याग दिया गया है।

इस प्रकार काब डगलस उत्पादन फलन के प्रयोग द्वारा नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री राष्ट्रीय आय मे श्रम के सापेक्ष भाग की स्थिरता को प्रदर्शित करने मे समर्थ हुए थे। इस पर टीका-टिप्पणी करते हुए प्रो० पेन लिखते है—"वास्तव मे, काब डगलस श्रम के स्थिर अश की व्याख्या करने के लिए आदर्श है, यह ईश्वर प्रेषित था। यद्यपि इसके अन्वेषक आरम्भ मे वितरण की अपेक्षा विकास दर को समझने के लिए अधिक उत्सुक थे किन्तु यह फलन उस समय प्रचलित एक अचर λ (invariable λ अर्थात् श्रम के सापेक्ष भाग) मे पूर्ण रूप से सही निकला। यह तथा काब डगलस का सैद्धान्तिक सौन्दर्य इसकी बृहत् लोक-

---

1 Jan Pen, *Op cit* p 192

प्रियता की व्याख्या करता है। अनेक अर्थमितिज्ञो ने अनुभवाश्रित शोध के लिए इसे प्रारम्भिक विषय के रूप मे स्वीकार किया है। इसने विस्तृत रूप से निश्चित कर दिया है जो कि अन्वेषक मस्तिष्क मे रखते थे अर्थात् अपरिवर्तित वितरण।"[1]

सोलो का उत्पादन फलन, *SMAC* उत्पादन फलन तथा श्रम एवं पूँजी के सापेक्ष भाग (Solow's Production *Function, SMAC Production Function* and Relative Shares of Labour & Capital)

युद्धोत्तर वर्षों मे अमेरिका तथा ब्रिटेन दोनो म *यह पाया गया है कि राष्ट्रीय आय म श्रम का सापेक्ष* भाग बढता रहा है और स्थिर नही रहा है जैसा कि काब-डगलस उत्पादन फलन से तात्पर्य निकलता है। अत श्रम के बढते हुए अंश की व्याख्या करने के लिए एक नवीन उत्पादन फलन की आवश्यकता थी। प्रो० आर० एम० सोलो[2] ने एक नवीन उत्पादन फलन का सुझाव दिया जिसने नई परिस्थितियो की व्याख्या करने के लिए अर्थशास्त्रियो की सहायता की। सोलो का उत्पादन फलन निम्न प्रकार है।

$$Q=(L^{\alpha}+K^{\alpha})^{1/\alpha}$$

जहाँ Q कुल उत्पादन, L श्रमिक, K पूँजी का प्रतिनिधित्व करते है तथा α एक स्थिराक है। *यद्यपि सोलो का उत्पादन फलन*, काब-डगलस उत्पादन फलन की भांति रैखिक रूप से समरूप (अर्थात् पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्रदर्शित करता है,) परन्तु दोना म महत्त्वपूर्ण अन्तर है। प्रथम, सोलो के उत्पादन फलन मे प्रतिस्थापन सापेक्षता एक के बराबर नही वरन् $\frac{1}{1-\alpha}$ के बराबर है। जैसा कि हम नीचे देखेंगे कि सापेक्षता के इस मूल्य के अनुसार *श्रम तथा पूँजी के* वितरणात्मक भागो मे वे परिवर्तन हो सकते है जो कि प्रतिस्थापन सापेक्षता के एक के बराबर होने पर न हो सकते। द्वितीय, काब-डगलस उत्पादन फलन के विपरीत सोलो उत्पादन फलन मे श्रम के कारण उत्पादन सापेक्षता α घाताक के बराबर नही है वरन् निम्न जटिल अभिव्यक्ति (expression) के बराबर होती है।

$$\text{श्रम के कारण उत्पादन की लोच} = \frac{L^{\alpha}}{L^{\alpha}+K^{\alpha}}$$

तथा पूँजी के कारण उत्पादन की लोच

$$= \frac{K^{\alpha}}{L^{\alpha}+K^{\alpha}}$$

उत्पादन की लोच की उपर्युक्त अभिव्यक्तियाँ K तथा L के साधन अनुपात म परिवर्तन के पूर्णतया प्रत्युत्तरदायी या संवेदनशील हैं। इसका अर्थ यह है कि सोलो क उत्पादन फलन के अन्तर्गत राष्ट्रीय आय का श्रम तथा पूँजी के मध्य वितरण पूँजी सचय पर निर्भर करेगा। 'यदि उत्पादन मे अधिक पूँजी लगायी जाती है तो श्रम के कारण उत्पादन की लोच बढती है और इसलिए श्रम का भाग भी" (बढता है)।[3]

हम सोलो के उत्पादन फलन मे पूँजी प्रधानता म वृद्धि के प्रभाव को प्रतिस्थापन सापेक्षता की सहा*यता से अपेक्षाकृत अधिक अच्छी तरह व्यक्त कर सकते* हैं। सोलो का उत्पादन फलन प्रतिस्थापन सापेक्षता के बहुत भिन्न मूल्यो के साथ ही सत्य हो सकता है। प्रतिस्थापन सापेक्षता एक से कम हो सकती है या यह एक से अधिक भी हो सकती है। प्रतिस्थापन सापेक्षता के *वास्तविक मूल्य को अनुभवाश्रित अध्ययनो के* माध्यम से अर्थमितिज्ञो को ज्ञात करना होता है। श्रम तथा पूँजी के वितरणात्मक भागो को निर्धारित करने म प्रतिस्थापन सापेक्षता का मूल्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होता है। जे० आर० हिक्स ने बहुत समय पूर्व व्याख्या की कि *"न्यून प्रतिस्थापन सापेक्षता का अर्थ होना है* कि तीव्र गति से बढते हुए उत्पादन-साधन को कीमतो मे अपेक्षाकृत अधिक कमी करके ही उत्पादन प्रक्रिया मे स्वय प्रविष्ट होना होता है। कीमतो म यह कमी परिभाषा के अनुसार

1 *Op cit* 193

2 A Contribution to the Theory of Economic Growth, *Quarterly Journal of Economics*, 1956

3 Jan Pen, *op. cit* p 194.

मात्रा के सापेक्ष आकार की अपेक्षा अधिक होती है। शुद्ध प्रभाव यह होता है कि उस तीव्र गति से बढने वाले साधन का आय भाग कम हो जाता है। इसे हिक्स का नियम कहा जा सकता है। वास्तव मे, दो उत्पादन के साधनो मे से पूँजी अपेक्षाकृत अधिक तेजी से बढने वाली है—इसलिए एक से कम प्रतिस्थापन सापेक्षता ($\sigma < 1$) का अभिप्राय पूँजी के घटते हुए भाग से होता है।"[1] पूँजी सचय के साथ पूँजी का घटता हुआ भाग तथा पूँजी प्रधानता मे वृद्धि का परिणाम श्रम के भाग मे वृद्धि होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि प्रतिस्थापन सापेक्षता श्रम तथा पूँजी के वितरणात्मक भागो की एक महत्त्वपूर्ण निर्धारक तत्त्व है। हाल के वर्षों मे (In recent years) पर्याप्त शोध कार्य किया गया है तथा स्थिर प्रतिस्थापन सापेक्षता फलन (सक्षेप मे *CES* फलन) नामक नवीन उत्पादन फलन प्रस्तुत किये गये हैं। इन उत्पादन फलनो मे, यद्यपि प्रतिस्थापन सापेक्षता एक के बराबर नही होती किन्तु जब तक फलन स्थिर बना रहता है वह स्थिर रहती है या अन्य शब्दो मे, पूँजी प्रधानता बढने पर प्रतिस्थापन सापेक्षता स्थिर या अपरिवर्तित बनी रहती है। स्थिर प्रतिस्थापन सापेक्षता फलन का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रकार *SMAC* फलन (Solow, Minhas, Arrow, Chenery Function)[2] है जो कि इसके अन्वेषको के नाम से जाना जाता है। हाल के वर्षों मे आर्थिक विकास की व्याख्या करने के लिए *SMAC* तथा अन्य *CES* फलनो के आधार पर पर्याप्त अनुभवाश्रित शोध की गयी है। किन्तु एक उप उत्पाद (by product) के रूप मे इसने श्रम तथा पूँजी के मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता के वास्तविक मूल्य तथा आय वितरण पर उसके अनुगामी प्रभाव के सम्बन्ध मे सूचना प्रदान की है। इस अनुभवाश्रित शोध ने प्रकट किया है कि प्रतिस्थापन सापेक्षता लगभग सदैव 1 से कम होती है तथा लगभग 0 6 के बराबर होती है। प्रतिस्थापन सापेक्षता का यह चित्र "समाज की प्रक्रिया अर्थात कार्य प्रणाली पर नवीन प्रकाश डालता है जिसमे हम निवास करते हैं। यह सिद्ध करता है कि पूँजी का सचय श्रमिको का मित्र है। इसके परिणामस्वरूप न केवल श्रम-उत्पादकता और इस प्रकार सम्पन्नता मे वृद्धि होती है वरन् इसके अतिरिक्त वर्द्धमान पूँजी प्रधानता श्रम के वर्द्धमान भाग का नेतृत्व करती है।"[3] प्रतिस्थापन सापेक्षता 0 6 होने का अभिप्राय यह होता है कि पूँजी प्रधानता मे प्रत्येक 1% वृद्धि से श्रम का भाग लगभग 0 2% बढता है। प्रो० पेन ने ज्ञात किया है कि यह सयुक्त राष्ट्र तथा ब्रिटेन म वास्तविक के लगभग अनुरूप है। वे इस प्रकार लिखते हैं, 'सयुक्त राष्ट्र जैसे देश मे शताब्दी के आरम्भ की तुलना मे प्रति श्रमिक पूँजी की मात्रा लगभग दुगुनी हो गयी है। उसके परिणामस्वरूप श्रम के भाग मे 20% वृद्धि होती है। और वास्तव मे, वृद्धि की मात्रा उतनी ही है, उन दिनो श्रम का सापेक्ष भाग 55% था और अब लगभग 70% अर्थात् 25% की वृद्धि है। हम भूमि के लगान को सम्मिलित करते हुए किन्तु लाभ को छोडते हुए पूँजी के शुद्ध भाग का विचार कर सकते हैं जो कि 1900 ई० से लगभग 2/3 कम हो गया है जबकि समीकरण 60% की कमी व्यक्त करता है।"[4]

नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त का आलोचनात्मक मूल्यांकन (Critical Evaluation of the Neo Classical Theory)

श्रम तथा पूँजी क मध्य प्रतिस्थापन सापेक्षता पर बल देकर नव-प्रतिष्ठित सिद्धान्त निश्चित रूप से सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व को स्पष्ट करता है जो कि समाज मे वितरणात्मक भागो को निर्धारित करता है। जैसा कि ऊपर दिये हुए पेन के उद्धरण से स्पष्ट है, कि वितरणात्मक भागो मे वास्तविक परिवर्तन नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त के पूर्वानुमानो (predictions) से केवल मोटे रूप मे तथा लगभग अनुरूप होते हैं। एक अवशेष बना रहता है जिसकी व्याख्या नही होती। अत उत्पादन फलन तथा प्रतिस्थापन सापेक्षता के अतिरिक्त अन्य तत्त्व भी

1 J Pen, 196

2 K Arrow, H Chenery, B Minhas & R Solow, "Capital Labour Substitution and Economic Efficiency", *Review of Economic Statist* # 1961

3 J Pen, *op cit* 198

4 J Pen, *op cit* 198

श्रम तथा पूँजी के मध्य आय वितरण के निर्धारण मे भूमिका निभाते हैं। इन तत्त्वो मे से एक अर्थव्यवस्था मे एकाधिकार का अंश (degree of monopoly) है जैसा कैलेस्की द्वारा बल दिया गया है। अन्य तत्त्व यह है कि मजदूरियो तथा वेतनो को संस्थागत रूप से अर्थात् श्रम संघो द्वारा बढ़ा दिया गया है। इसके अतिरिक्त, रीति रिवाज, प्रतिष्ठा तथा सामाजिक स्तर भी आय वितरण के निर्धारण मे भूमिका निभाते है। इसके अतिरिक्त समष्टिपरक परिवर्तन, जैसे मुद्रा स्फीति तथा आर्थिक मन्दी की दशाएँ भी आय के वितरण को प्रभावित करती है।

कैल्डर ने नव-प्रतिष्ठित सिद्धान्त की इस आधार पर आलोचना की है कि श्रम तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ज्ञात करने के लिए नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अन्तर्गत आवश्यक पूँजी की माप करना कठिन है। वे इस प्रकार लिखते हैं, "सम्पूर्ण दृष्टिकोण के साथ आधारभूत कठिनाई ' '' उत्पादन के साधन के रूप मे 'पूँजी' के अर्थ मे ही निहित है। जबकि भूमि को प्रति वर्ष एकड मे तथा श्रम को श्रम घण्टो म मापा जा सकता है किन्तु पूँजी को (पूँजीगत वस्तुओ से भिन्न) भौतिक इकाइयो के रूप मे मापा नही जा सकता है।"[1]

इसके अतिरिक्त, कैल्डर के अनुसार पूँजी तथा इसलिए पूँजी तथा श्रम के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर की माप तभी ज्ञात की जा सकती है यदि लाभ पहले से ही ज्ञात हो। और उनके अनुसार यह वितरण के नव प्रतिष्ठित सिद्धान्त मे चक्राकार तर्क (Circular Reasoning) सम्मिलित करता है। उन्हें उद्धृत करते हुए, "वास्तव मे सम्पूर्ण दृष्टिकोण, जो उत्पादन मे मजदूरी तथा लाभ के भाग को पूँजी तथा श्रम के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर द्वारा निर्धारित होना स्वीकार करता है, ' ' आधुनिक अर्थशास्त्रियो को बहुत कम स्वीकार्य है। ज्योही ज्ञात हो जाता है कि श्रम तथा भूमि के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर से भिन्न पूँजी तथा श्रम के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर, लाभ की दर तथा मजदूरी की दर के पूर्व ज्ञान होने पर ही निर्धारित की जा सकती है त्योही इसकी अपर्याप्तता स्पष्ट हो जाती है। समान तकनीकी विकल्प अत्यधिक भिन्न 'प्रतिस्थापन की सीमान्त दर' उत्पन्न कर सकते हैं जो कि लाभ का मजदूरियों मे अनुपात पर निर्भर करता है।"[2]

परन्तु वर्तमान लेखक की राय म यदि पूँजी के माप की कठिनाई को स्वीकार किया जाता है तो भी यह सत्य रहता है कि उत्पादन फलन का स्वभाव तथा प्रतिस्थापन मापक्षता बहुत महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो समाज म आय वितरण को निर्धारित करते है।

आय वितरण का केलडर का अथवा केन्जवादी सिद्धान्त (Kaldor's or Keynesian Theory of Income Distribution)

प्रो० केलडर ने भी आय वितरण के एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिसका महत्त्वपूर्ण स्थान आय वितरण समष्टिपरक सिद्धान्तों के साथ साथ आर्थिक विकास के सिद्धान्तो म भी है। इसका कारण यह है कि विकास का सिद्धान्त आय मे लाभो तथा मजदूरियो म वितरण पर निभर है। कलडर न इस सिद्धान्त को **केन्जवादी वितरण का समष्टिपरक सिद्धान्त** (Keynesian Macro theory of Distribution) का नाम दिया क्योकि उसने आय क लाभो तथा मजदूरियो के वितरण करने वाले तत्त्वो की व्याख्या के लिए केन्ज के सैद्धान्तिक ढाँचे या केन्जवादी उपकरणा का प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त, इसको केन्जवादी सिद्धान्त इसलिए भी कहा जाता है क्योकि केलडर का विचार है कि यह सिद्ध करने के लिए प्रमाण उपस्थित किये जा सकते है कि 'केन्ज के विचार म विकसित होने के किसी चरण म केन्ज ने इस प्रकार के सिद्धान्त का निर्माण करने के बारे म सोचा था।'[3]

---

1 N Kaldor, *Alternative Theories of Distribution, op cit*

2 N Kaldor *op cit*

3 इस सिद्धांत को वितरण का नव-केन्जवादी सिद्धांत (Neo-Keynesian Theory of Distribution) के नाम से भी जाना जाता है।

केलडर ने भी राष्ट्रीय आय को दो भागो में विभाजित किया—मजदूरियां तथा लाभ जो कि क्रमश श्रमिक वर्ग तथा सम्पत्ति के स्वामी वर्ग के हिस्से हैं। इस प्रकार लाभ की परिभाषा सम्पत्ति के स्वामी वर्ग की आय के रूप में की और इसलिए इसमें सामान्य लाभ, लगान व ब्याज सम्मिलित हैं। मजदूरियों में केवल शारीरिक कार्य करने वालो का पारिश्रमिक ही नही बल्कि वेतन भी सम्मिलित है।

केलडर के आय वितरण सिद्धान्त की व्याख्या करने से पहले उन मान्यताओ का वर्णन करना आवश्यक है जिनके आधार पर केलडर ने यह बताया कि राष्ट्रीय आय का मजदूरियों व लाभो म वितरण किन कारणों पर निर्भर होता है। सर्वप्रथम, उसने माना है कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति होती है जिस कारण कुल उत्पादन या रोजगार दिया हुआ होता है। दूसरे, उसने माना है कि मजदूरी अर्जित करने वाले तथा सम्पत्ति के स्वामियो की बचत या उपभोग करने की सीमात प्रवृत्तियां स्थिर रहती हैं और पूंजीपति तथा लाभ प्राप्त करने वालो की तुलना मे श्रमिक की बचत करने की प्रवृत्ति कम होती है। केलडर के सिद्धान्त के महत्त्वपूर्ण पहलुओ को समीकरणों की शृंखला की सहायता से बीजगणितीय तरीके से सम झाया जा सकता है।

मान लीजिए W का प्रयोग समस्त मजदूरियो के लिए किया जाता है तथा P कुल लाभो के लिए और S_w मजदूरियो म से समस्त बचतो के लिए है तथा S_p लाभो मे से समस्त बचतो के लिए तथा Y राष्ट्रीय आय के लिए तो तब

$$Y = W + P \qquad (i)$$

उपर्युक्त समीकरण केवल एक तत्समक (Identity) है जो यह बताता है कि राष्ट्रीय आय (Y) समस्त मजदूरियो तथा समस्त लाभो से मिल कर बनी हुई है।

अब, सन्तुलन स्थिति मे अभीष्ट (प्रत्याशित ex-ante) बचतो का अभीष्ट (प्रत्याशित, ex-ante) निवेश (investment) के समान होना आवश्यक है। चूंकि हमारा सम्बन्ध पूर्ण रोजगार पर सतुलन की स्थिति से है, इसलिए

$$I = S \qquad (ii)$$

अब, मजदूरियों तथा लाभों से समस्त बचतो का योग ही समाज मे कुल बचतों का निर्माण करता है। इसलिए

$$S = S_w + S_p \qquad (iii)$$

निवेश को दिया हुआ मान कर यदि हम श्रमिको की बचत करने की औसत प्रवृत्ति के लिए s_w का तथा लाभ अर्जित करने वालो की बचत करने की औसत प्रवृत्ति के लिए s_p का प्रयोग करें तब

$$S_w = s_w \times W$$
$$S_p = s_p \times P$$

(ii) तथा (iii) से यह निम्न प्राप्त होता है

$$I = s_p P + s_w W$$

(i) से हमे पता चलता है कि

$$W = Y - P$$

अत

$$I = s_p P + s_w (Y - P)$$
$$I = s_p P + s_w Y - s_w P$$
$$I = (s_p - s_w) P + s_w Y$$

दोनो भागो को Y से भाग देने पर

$$\frac{I}{Y} = (s_p - s_w) \frac{P}{Y} + s_w$$

दोनो भागो को $(s_p - s_w)$ से भाग देकर उपयुक्त समीकरण को पुनर्योजित करने से

$$\frac{P}{Y} = \frac{1}{s_p - s_w} \frac{I}{Y} - \frac{s_w}{s_p - s_w}$$

चूंकि P लाभो के लिए है तथा Y राष्ट्रीय आय के लिए,

अत

$$\frac{\text{लाभ}}{\text{आय}} = \frac{1}{s_p - s_w} \frac{I}{Y} - \frac{s_w}{s_p - s_w}$$

यह समीकरण बताता है कि पूंजीपतियों तथा श्रमिको की बचत करने की प्रवृत्तियाँ दी हुई होने पर

लाभो का राष्ट्रीय आय से अनुपात $\left(\frac{P}{Y}\right)$, निवेश के राष्ट्रीय आय से अनुपात $\left(\frac{I}{Y}\right)$ पर निर्भर होता है। निवेश-आय अनुपात (Investment-Income Ratio) $\frac{I}{Y}$, मे वृद्धि होने पर, अर्थात् निवेश की दर मे वृद्धि होने पर आय मे लाभो के हिस्से $\left(\frac{P}{Y}\right)$ मे वृद्धि हो जाएगी और आय मे मजदूरियो के हिस्से, $\left(\frac{W}{Y}\right)$ मे तदनुरूपी कमी।

केलडर के उपर्युक्त मॉडल मे निवेश की दर अथवा निवेश का कुल आय से अनुपात (जैसा कि केन्जवादी सिद्धान्त मे था) को एक स्वतन्त्र चर (independent variable) माना गया है, अर्थात् बचत करने की प्रवृत्ति (s_p तथा s_w) मे परिवर्तन होने पर निवेश मे परिवर्तन नही होते। इसके अतिरिक्त, केलडर का आय वितरण का मॉडल केवल तभी ठीक होता है जबकि पूंजीपतियो (अर्थात् लाभ प्राप्त करने वाले) तथा श्रमिको (मजदूरी प्राप्त करने वाले) की बचत प्रवृत्तियो मे अन्तर हो तथा लाभो मे से बचत करने की सीमान्त प्रवृत्ति, मजदूरियो मे से बचत करने से अधिक हो अर्थात् यह मॉडल तभी क्रियाशील होगा जबकि

$$s_p \neq s_w$$

तथा $$s_p > s_w$$

यदि लाभो मे से बचत प्रवृत्ति, s_p, मजदूरियो मे से बचत करने की प्रवृत्ति से कम हो तो व्यवस्था स्थिर नही होगी। इसका कारण यह है कि यदि $s_p < s_w$, तब निवेश मे कमी होने पर और तदनुरूपी कीमतो मे गिरावट होने पर माँग मे भी कमी होगी जिसके फलस्वरूप कीमतो मे और कमी होगी तथा यह क्रम चलता रहेगा। इस प्रकार $s_p < s_w$ की स्थिति मे, कीमतो मे कमी सचयी होगी और व्यवस्था अस्थिर। इसी प्रकार, यदि $s_p < s_w$ है तो कीमतो मे वृद्धि से माँग मे वृद्धि होगी और इससे कीमतो मे और वृद्धि होगा। अतः व्यवस्था की स्थिरता के लिये $s_p > s_w$ एक अनिवार्य दशा है। केलडर के अनुसार "व्यवस्था मे स्थिरता की मात्रा निर्भर करती है सीमान्त प्रवृत्तियो के अन्तर पर अर्थात् $\frac{1}{s_p - s_w}$ पर जिसकी परिभाषा आय वितरण की सवेदनशीलता के गुणांक (Co-efficient of Sensitivity of income distribution) के रूप मे की जा सकती है, क्योकि यह आय मे लाभो के हिस्से मे परिवर्तन को बताता है जो कि उत्पादन मे निवेश के अनुपात मे परिवर्तन के कारण उत्पन्न होता है। यह मान्यता $S_p > S_w$ केवल स्थिरता के लिये ही आवश्यक नही है अपितु यह राष्ट्रीय आय मे लाभो के हिस्से की वृद्धि के लिये, जबकि निवेश-आय अनुपात, $\frac{I}{Y}$, मे वृद्धि होती है, भी एक आवश्यक दशा है।"[1] यहाँ निहित विचार यह है कि आय का स्तर दिया हुआ होने पर (क्योकि केलडर ने पूर्ण रोजगार की कल्पना की है), केवल एक तरीका है जिसमे बचत आय अनुपात मे वृद्धि हो सकती है और यह ऊँचे निवेश-आय अनुपात के बराबर हो सकता है जिसमे नवीन सन्तुलन की स्थापना हो जाय, वह यह है कि या तो बचत करने की प्रवृत्तियो मे परिवर्तन हो (इसको केलडर ने s_w तथा s_p के मूल्यो को स्थिर मानकर अस्वीकृत कर दिया) या कम बचत-प्रवृत्ति वाले श्रमिक वर्ग से वास्तविक आय का वितरण अधिक बचत प्रवृत्ति वाले पूंजीपति वर्ग के पक्ष मे हो जाय।

केलडर के मॉडल का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि राष्ट्रीय आय मे लाभ का हिस्सा निवेश-आय अनुपात (investment-income ratio) का फलन है, निवेश-आय अनुपात जितना अधिक होगा आय मे लाभो का हिस्सा उतना ही अधिक होगा तथा विलोम क्रम। पूर्ण रोजगार की स्थिति मे निवेश व्यय मे वृद्धि से नया सन्तुलन स्थापित हो सकता है जिसमे वास्तविक निवेश का स्तर ऊँचा होगा। ऐसा तब होगा जब निवेश में वृद्धि से निवेश-आय अनुपात, $\frac{I}{Y}$ तथा बचत-आय अनुपात $\frac{S}{Y}$ दोनों के वास्तविक

1 Kaldor, *Op. cit.*

दरो मे वृद्धि हो जाय। अब यदि निवेश व्यय म वृद्धि के परिणामस्वरूप, बचत-आय अनुपात मे वास्तविक रूप से वृद्धि नही होती, तो कीमतो मे निरन्तर वृद्धि होगी। अत केलडर के सिद्धान्त मे, पूँजीपति वर्ग के पक्ष मे आय के वितरण मे विवर्तन होना आवश्यक है। यह अर्थव्यवस्था मे वास्तविक निवेश के ऊँचे स्तर द्वारा निरन्तर पूर्ण रोजगार सन्तुलन के लिये आवश्यक है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि निवेश व्यय मे वृद्धि के परिणामस्वरूप पूँजीपतियो (लाभ प्राप्त करने वाले) के पक्ष मे आय का वितरण किस प्रकार परिवर्तित होता है? ऐसा कीमत-स्तर मे परिवर्तन के माध्यम से होता है। पूर्ण-रोजगार के स्तर के दिया हुआ होने पर, जब निवेश व्यय मे वृद्धि होती है तो कीमतो मे सामान्य वृद्धि होती है। केलडर के अनुसार चूंकि मजदूरियाँ कीमतो से पीछे रह जाती है, इसलिए पूँजीपतियो के लाभो की सीमाओ (margins) मे वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार कीमतो मे वृद्धि तथा मौद्रिक मजदूरियो के साथ-साथ न बढने के कारण राष्ट्रीय आय मे लाभो के हिस्से मे वृद्धि हो जाती है और मजदूरियो के हिस्से मे तदनुरूपी कमी। मजदूरियो मे से बचत करने की प्रवृत्ति चूँकि लाभो मे से बचत करने की प्रवृत्ति से कम होती है, इसलिये कीमतो मे सामान्य स्तर मे वृद्धि के कारण आय के वितरण मे जो परिवर्तन लाभ प्राप्त करने वालो के पक्ष मे होते हैं उनसे अर्थव्यवस्था मे बचतो के स्तर मे वृद्धि हो जाती है। नया सन्तुलन तब प्राप्त होता है जबकि उपर्युक्त प्रक्रिया द्वारा बचत-आय अनुपात मे फिर से वृद्धि हो जाती है जिससे यह ऊँचे निवेश आय अनुपात के बराबर हो जाय। इसलिये प्रो० पेटरसन ने ठीक कहा है 'केलडर की व्यवस्था मे सबसे महत्त्वपूर्ण यह मान्यता है कि मजदूरी प्राप्त करने वालो की तुलना मे लाभ प्राप्त करने वालो की बचत करने की प्रवृत्ति अधिक होती है। इस मान्यता के बिना वास्तविक बचत-आय अनुपात मे वृद्धि नही होगी, चाहे आय के वितरण मे कोई भी परिवर्तन क्यो न हो, और इस प्रकार व्यवस्था अस्थायी बन जाएगी।"[1]

1. Patterson, *op. cit* p 444

कैल्डर के वितरण के सिद्धात का आलोचनात्मक मूल्याकन

(Critical Appraisal of Kaldor's Theory of Distribution)

आय वितरण का कैल्डर का प्रतिदर्श (Model) इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि अन्य बातो के साथ-साथ बचत तथा निवेश आय के वितरण को सयुक्त रूप से निर्धारित करते है और यह आय का वितरण ही है जो अन्य बातो के साथ-साथ मुख्य रूप से राष्ट्रीय आय के अन्तिम आकार को निर्धारित करता है।

प्रतिदर्श का अन्य भेदकारी लक्षण यह है कि यहां यह आय के स्तर मे परिवर्तनो के बजाय वितरण मे परिवर्तन है जो बचत तथा निवेश के मध्य समायोजन की क्रियाविधि प्रदान करता है। यह पहलू इस विचार मे प्रतिकूल दिशा मे अग्रसर होता है कि बचत निष्क्रिय रूप से निवेश से समायोजन करती है किन्तु समाज मे बचत प्रवृत्ति पर निर्भर नही होता। उद्यमियो द्वारा निवेश निर्णय वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त द्वारा स्वीकृत भूमिका की अपेक्षा अधिक बृहत् भूमिका निभाते हैं। वास्तव मे उद्यमियो के निवेश निर्णयो मे बचत निर्णय उत्तरवर्ती (Subsequential) होते हैं, अनुगामी (Consequential) नही। इस केन्द्रीय लक्षण के चारो ओर आय-वितरण के समष्टिपरक प्रतिदर्श का निर्माण कर लेने पर कैल्डर का विश्लेषण अवलोकित तत्त्वो की अपेक्षाकृत अधिक वास्तविक व्याख्या प्रस्तुत करने की ओर एक निश्चित प्रगति करता है।

तथापि, इसमे कुछ ऐसे दोष हैं जो कैल्डर के प्रतिपादन को अत्यधिक दृढ (rigid) तथा कम स्वीकार्य बना देते हैं। उदाहरणार्थ कैल्डर की व्याख्या मे निहित प्रतिबन्ध प्रतिदर्श (Model) को वास्तविकता के प्रसग मे कुछ निरर्थक बना देते हैं। प्रतिबन्ध (1) का अभिप्राय यह है कि मौद्रिक मजदूरियाँ सामाजिक रूप से स्वीकार्य न्यूनतम जीवन-निर्वाह के स्तर की अपेक्षा अधिक होनी चाहिए। तभी प्रत्याशित (ex ante) बचतो की तुलना मे अधिक निवेश के

लाभ-अन्तरों $\left(\frac{P}{Y}\right)$ में कमियाँ हों क्योंकि दूसरी ओर, तकनीकी प्रगति कीमतों में कमी की अपेक्षा इकाई लागतों को अधिक कम कर सकती है। कैल्डर का सिद्धान्त इस प्रकार की सम्भावना की पूर्ण रूप से उपेक्षा करता है। इस प्रकार जिस सीमा तक कीमतों में कमी $\frac{P}{Y}$ में आनुपातिक कमी उत्पन्न करने में असफल होती है उस सीमा तक समग्र माँग में कमी को दूर करने के लिए वितरणात्मक क्रिया विधि कार्यशील होने में असफल होगी। और इसलिए उस सीमा तक पूर्ण रोजगार से नीचे की ओर अर्थ-व्यवस्था अग्रसर होगी।

अन्त उपर्युक्त तर्कों से यह तात्पर्य निकलता है कि कैल्डर के प्रतिदर्श (Model) में सापेक्ष आय-भागों में अलोचपूर्णता (inflexibility) का गम्भीर अर्थात् बृहत् भ्रम हो सकता है। परिणामस्वरूप, उनका प्रतिदर्श उस क्रियाविधि (mechanism) के सम्बन्ध में हमें पूर्ण रूप से अन्धकार में छोड़ देता है, जो W/Y तथा P/Y पर प्रतिबन्धों या सीमाओं को निश्चित करती है। और इस प्रतिदर्श में आय-भागों की दृढ़ता के महत्वपूर्ण तत्व का अभिप्राय यह होता है कि यह वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का कोई सन्तोषजनक विकल्प प्रदान करने में असफल रहता है।

भाग : 7

कल्याणकारी अर्थशास्त्र

(WELFARE ECONOMICS)

45

कल्याणकारी अर्थशास्त्र तथा परेटो अनुकूलतम (WELFARE ECONOMICS AND PARETO-OPTIMUM)

कल्याणकारी अर्थशास्त्र का अर्थ (Meaning of Welfare Economics)

आर्थिक सिद्धान्त के दो प्रमुख पहलू वास्तविक (Positive) तथा आदर्शात्मक (Normative) होते हैं। इस अध्याय मे हम अर्थशास्त्र के दूसरे पहलू से ही प्रमुख रूप से सम्बन्धित होंगे जिसके अन्तर्गत किसी आर्थिक नीति की वाछनीयता (Desirability) अथवा अवाछनीयता की व्याख्या की जाती है। आदर्शात्मक विज्ञान के रूप मे अर्थशास्त्र किसी आर्थिक क्रिया अथवा नीति के अच्छाई अथवा बुराई के विषय मे मूल्यगत निर्णय (Value Judgement) करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र के आदर्शात्मक पहलू (Normative Aspect) का सम्बन्ध 'क्या होना चाहिए' (What ought to be) से होता है। वास्तव मे अर्थशास्त्र का आदर्शात्मक पहलू ही कल्याणकारी अर्थशास्त्र का आधार है। हाल के वर्षों मे कल्याणकारी अर्थशास्त्र म पर्याप्त विकास हुआ है। कल्याणकारी अर्थशास्त्र का विचार जे० बेन्थम (J Bentham) ने उपयोगितावाद (Utilitarianism) के नाम से बहुत पहले ही दिया था किन्तु कल्याणकारी अर्थशास्त्र के रूप म नहीं जाना जाता था। इसके पश्चात् मार्शल, पीगू, कैल्डोर, हिक्स, सिटोवस्की, परेटो, सैमुएल्सन, बर्गसन, ग्राफ, लिटिल, ऐरो एव रेडर आदि अर्थशास्त्रियों ने कल्याणकारी अर्थशास्त्र के विकास मे महत्वपूर्ण योगदान किया।

इस प्रकार कल्याणकारी अर्थशास्त्र आर्थिक नीतियों के औचित्य निर्धारित करने का मानदण्ड प्रस्तुत करता है अर्थात् अनेक कारण परिणाम-सम्बन्धों के विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों पर आधारित आर्थिक नीतियों के उचित अथवा अनुचित होने के विषय में मूल्यगत निर्णय देता है। जैसा कि सिटोवस्की ने कल्याणकारी अर्थशास्त्र को निम्न प्रकार परिभाषित किया है :

"कल्याणकारी अर्थशास्त्र अर्थ विज्ञान की वह शाखा है जो आर्थिक नीतियो के लिए औचित्य के मानदण्ड की स्थापना तथा प्रयोग करने का प्रयत्न करती है।"[1]

---

1 Welfare economics is the branch of economic science that attempts to establish and apply criteria of propriety to economic policies "—Reder, M W

"कल्याणकारी अर्थशास्त्र आर्थिक सिद्धान्त का वह भाग है जो मुख्यतया नीति से सम्बन्धित होता है।"[1]

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि कल्याणकारी अर्थशास्त्र तथा नीति शास्त्र (Ethics) का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

वास्तविक तथा कल्याणकारी अर्थशास्त्र (Positive and Welfare Economics)

वास्तविक तथा कल्याणकारी अर्थशास्त्र मे अन्तर तथा सम्बन्ध का विश्लेषण करने से पूर्व उनके अर्थ के विषय मे स्पष्ट होना आवश्यक है। वास्तविक अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हम कारण-परिणाम सम्बन्ध (Cause and Effect Relationship) तक ही सीमित रहते हैं। उन परिणामो के नैतिक पहलू का अध्ययन अर्थशास्त्र के क्षेत्र के बाहर होता है। उदाहरणार्थ "पूर्ति स्थिर रहने पर माँग मे वृद्धि होने से मूल्यो मे वृद्धि होती है' वास्तविक अर्थशास्त्र तो ऐसा क्यो होता है, की व्याख्या तक ही सीमित रहता है यह "मूल्यो मे वृद्धि वाछनीय है अथवा नहीं" इसके विषय मे कोई निर्णय नही देता है। इस प्रकार वास्तविक अर्थशास्त्र आर्थिक घटना 'क्या' है (What is) प्रश्न से सम्बन्धित होता है। इसके विपरीत, कल्याणकारी अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हम कारण परिणाम सम्बन्धो की वाछनीयता अथवा अवाछनीयता से सम्बन्धित होते हैं अर्थात् उपर्युक्त उदाहरण मे यदि मूल्य मे वृद्धि हो जाती है तो क्या 'यह वाछनीय है अथवा नहीं' इससे सम्बन्धित होते हैं। इसके साथ ही यदि मूल्यो मे वृद्धि वाछनीय नही है तो उसे कम करने के उपाय के विषय मे भी कल्याणकारी अर्थशास्त्र सुझाव देता है। इस प्रकार कल्याणकारी अर्थशास्त्र 'What ought to be' (क्या होना चाहिए) ? प्रश्न से सम्बन्धित होता है।

वास्तविक तथा कल्याणकारी अर्थशास्त्र मे अन्तर हाल के वर्षों मे हुआ जो कोई सुस्पष्ट अन्तर नहीं है। वास्तविक अर्थशास्त्र के निष्कर्षों की कुछ मान्यताओ के आधार पर कुछ वास्तविक जगत से एकत्रित आकडो के आधार पर परीक्षण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ आकडो द्वारा यह परीक्षण किया जा सकता है कि अन्य बातो के समान रहने पर यदि मूल्य कम होता है तो उसकी माँगी गयी मात्रा बढ जाती है। कल्याणकारी अर्थशास्त्र के निष्कर्षों का आँकडो द्वारा परीक्षण नहीं किया जा सकता क्योकि कल्याण एक मानसिक विचार है जिसका ठीक-ठीक माप सम्भव नही है। उदाहरणार्थ यदि राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो जाय तो हम निश्चित रूप से नही कह सकते कि समाज का कल्याण पहले की अपेक्षा अधिक हो गया है। एक व्यक्ति या समाज के कल्याण को परिभाषित करने के पश्चात् उन दशाओ को निर्धारित किया जा सकता है जिससे सामाजिक कल्याण मे वृद्धि होती है। किन्तु यदि उन दशाओ के पूरा होने पर भी सामाजिक कल्याण मे वृद्धि नही होती है तो हमारी मान्यताएँ निश्चित रूप से अनुचित हैं। इस प्रकार "वास्तविक अर्थशास्त्र मे एक सिद्धान्त के परीक्षण की सामान्य विधि उसके निष्कर्षों का परीक्षण करना है जब कि कल्याणकारी प्रस्तावों के परीक्षण की सामान्य विधि उनकी मान्यताओं के परीक्षण करने की है।"[2] अत किसी कल्याणकारी प्रस्ताव का परीक्षण करने के लिए हमे उसकी मान्यताओ का परीक्षण करना आवश्यक होता है।

वास्तविक तथा कल्याणकारी अर्थशास्त्र एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। आर्थिक सिद्धान्त को आदर्शात्मक पहलू से अलग नही किया जा सकता है। पीगू ने अर्थशास्त्र को केवल प्रकाश दायक (light bearing) के रूप में ही नहीं वरन् फल दायक (fruit bearing) शास्त्र के रूप मे स्वीकार किया। राबिन्स ने अर्थशास्त्र का नीतिशास्त्र अर्थात् वास्तविक अर्थशास्त्र का आदर्शात्मक पहलू से कोई सम्बन्ध नही स्थापित किया। वास्तविक अर्थशास्त्र के निष्कर्षों की भाँति ही कल्याणकारी अर्थशास्त्र के प्रस्तावो को अनेक मान्यताओ के

1 "Welfare economics is that part of general body of economic theory which is concerned with policy"—Scitovsky, T

2 "Whereas the normal way of testing a theory in positive economics is to test its conclusions, the normal way of testing a welfare proposition is to test its assumptions'—Graff, J D V

आधार पर व्युत्पन्न किया जा सकता है। इस प्रकार वास्तविक तथा कल्याणकारी अर्थशास्त्र परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं।

व्यक्तिगत तथा सामाजिक कल्याण (Individual and Social Welfare)

व्यक्तिगत कल्याण मनुष्य के मस्तिष्क में स्थित होता है जो उपयोगिता अथवा सन्तोष के रूप में होता है। पीगू के अनुसार, "कल्याण के तत्व चेतनता की अवस्थाएँ और सम्भवत उनके सम्बन्ध होते हैं।"[1] किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री ग्राफ (Graff) व्यक्तिगत कल्याण को व्यक्तिगत चुनाव से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित करते हैं। यदि कोई व्यक्ति वस्तुओं के A संयोग को B संयोग की अपेक्षा अधिक पसन्द करके चुनाव करता है तो A संयोग के उपभोग से व्यक्ति विशेष को अपेक्षाकृत अधिक सन्तोष प्राप्त होगा। इस प्रकार व्यक्तिगत चुनावों को विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्तिगत कल्याण की तुलना के लिए एक वस्तुपरक परीक्षण के रूप में स्वीकार किया गया है। सामाजिक अथवा समूह कल्याण (group welfare) का माप अत्यधिक कठिन समस्या है क्योंकि समाज का एक संयुक्त मस्तिष्क नहीं होता है। सामाजिक कल्याण वास्तव में विभिन्न व्यक्तियों के मस्तिष्क में निवास करता है। सामाजिक चुनाव सर्वसम्मत (unanimous) नहीं होते। अतः सामाजिक कल्याण से हमारा अभिप्राय समाज के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा प्राप्त किए जाने वाले सन्तोष के योग से होता है। डा० ग्राफ (Dr Graff) ने सामाजिक कल्याण के तीन विभिन्न विचार प्रस्तुत किए हैं।

प्रथम विचार पितृत्व सत्ता (Paternalist Authority) का है जो किसी व्यक्ति के कल्याण का नहीं वरन् पितृत्व सत्ता द्वारा सामाजिक कल्याण के संदर्भ में लिये गए निर्णय की व्याख्या करता है। द्वितीय विचार वह है जो परेटो तथा उनके अनुयायियों द्वारा प्रयुक्त किया गया जिसके अनुसार यदि किसी नीति परिवर्तन से एक व्यक्ति की परिस्थिति श्रेष्ठतर हो जाए तथा दूसरे व्यक्ति की परिस्थिति पूर्ववत् रहे तो यह सामाजिक कल्याण में वृद्धि को प्रकट करता है। तृतीय विचार अधिक वास्तविक प्रतीत होता है जो इस बात की व्याख्या करता है कि आर्थिक संगठन में परिवर्तन कुछ व्यक्तियों को श्रेष्ठतर (*better off*) तथा कुछ को हीनतर (*worse off*) बना देते हैं। इसके अन्तर्गत अन्तर्वैयक्तिक तुलना सम्मिलित है जो कि स्पष्ट मूल्यगत निर्णय द्वारा की जाती है। इस विचार के अन्तर्गत बर्गसन के सामाजिक कल्याण फलन का निर्माण किया जाता है जो समाज के विभिन्न व्यक्तियों के उपयोगिता फलन को प्रकट करता है। इस प्रकार सामाजिक कल्याण के माप के संदर्भ में *अर्थशास्त्रियों में अत्यधिक मतभेद हैं जिन्होंने गणनावाचक अथवा क्रमवाचक (ordinal) उपयोगिता के विचारों के आधार पर मानदण्ड प्रस्तुत किए हैं।*

नव-प्रतिष्ठित कल्याणकारी अर्थशास्त्र (Neo-classical Welfare Economics)

नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री मार्शल, पीगू तथा कैनन आदि ने अर्थशास्त्र को एक कल्याणकारी विज्ञान के रूप में अवलोकित किया है।

मार्शल ने अपनी पुस्तक '*Principles of Economics*' में उपभोक्ता की बचत के विचार के आधार पर कल्याणकारी अर्थशास्त्र का विचार प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त मार्शल का 'राष्ट्रीय लाभांश' (National Dividend) का विचार भी कल्याणकारी *अर्थशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है।* मार्शल ने उपयोगिता की मापनीयता के आधार पर उपभोक्ता की बचत का विचार प्रस्तुत किया और आंशिक विश्लेषण द्वारा आर्थिक कल्याण का विचार प्रस्तुत किया। मार्शल का विचार था कि उपभोक्ताओं की बचत में प्रत्येक वृद्धि समाज के आर्थिक कल्याण में वृद्धि का द्योतक (indicator) है। मार्शल ने उपभोक्ता की बचत को निम्न प्रकार परिभाषित किया "किसी वस्तु के प्रयोग से वंचित रहने की अपेक्षा उपभोक्ता जो मूल्य देने को तैयार रहता है तथा जो वह वास्तव में भुगतान करता है, उसका आधिक्य ही

1. "The elements of welfare are states of consciousness and perhaps their relations"—*Pigou, A C*

अतिरिक्त सन्तुष्टि का आर्थिक माप है। इसे उपभोक्ता की बचत अथवा अतिरेक कहते है।"[1]

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार माँग वक्र तथा मूल्य के मध्य का क्षेत्र व्यक्तिगत उपभोक्ताओ के कुल अतिरेक का माप है। मार्शल का यह माप उपयोगिता की मापनीयता तथा मुद्रा की स्थिर सीमान्त उपयोगिता तथा स्वतन्त्र उपयोगिताओ के विचार पर आधारित है। किसी उपभोक्ता द्वारा प्राप्त किया जाने वाला अतिरेक उसकी आवश्यकता की तीव्रता तथा समकालीन आर्थिक सामाजिक, वैधानिक तथा तकनीकी परिस्थितियो पर निर्भर करता है। जिन देशो म आर्थिक, सामाजिक तथा तकनीकी वातावरण पर्याप्त उन्नत होता है उपभोक्ता का अतिरेक अधिक तथा विपरीत दशा मे सामान्यतया कम अतिरेक प्राप्त होता है। उपभोक्ता के अतिरेक के विचार के आधार पर ही मार्शल ने अधिकतम सन्तोष के विचार का प्रतिपादन किया। उनके अनुसार पूर्णतया प्रतियोगी अर्थव्यवस्था की सतुलन अवस्था अधिकतम सन्तोष की भी अवस्था होती है क्योंकि जब तक माँग मूल्य, पूर्ति मूल्य की अपेक्षा अधिक होता है तो उन मूल्यो पर विनिमय किया जा सकता है जो क्रेता अथवा विक्रेता अथवा दोनो को अतिरेक प्रदान करते है। इस प्रकार दोनो पक्षो का अतिरेक तब तक बढता जाता है जब तक अर्थव्यवस्था का दीर्घकालीन प्रतियोगी सन्तुलन नही प्राप्त हो जाता है। मार्शल का विचार था कि वर्धमान दीर्घकालीन लागत उद्योगो पर करारोपण से प्राप्त धनराशि द्वारा ह्रासमान दीर्घकालीन लागत उद्योगों को आर्थिक सहायता देकर सामाजिक कल्याण मे वृद्धि की जा सकती है क्योंकि इसके परिणामस्वरूप कुल अतिरेक मे वृद्धि होगी और समाज का सन्तोष अधिकतम होगा जिसके परिणामस्वरूप कुल आर्थिक कल्याण म वृद्धि हो जायगी।

1 "The excess of price which he would be willing to pay rather than go without the thing, over that which he actually does pay in the economic measure of surplus satisfaction It may be called consumer's surplus" —Marshall

नव-प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो मे दूसरे महत्वपूर्ण अर्थशास्त्री प्रो० पीगू थे जिन्होने 'कल्याण का अर्थशास्त्र' (*Economics of Welfare*) नामक पुस्तक के रूप म कल्याणकारी अर्थशास्त्र का एक वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत किया। पीगू के अनुसार कल्याण व्यक्ति की मानसिक स्थिति या चेतनता मे स्थित होता है जो सन्तोष या उपयोगिताओ स निर्मित होता है। अत कल्याण का आधार मनुष्य की आवश्यकताओ की सन्तुष्टि होना है। पीगू ने सामान्य कल्याण तथा आर्थिक कल्याण म अन्तर स्पष्ट किया तथा आर्थिक कल्याण को सामान्य कल्याण का एक भाग बनाया। सामान्य कल्याण एक अत्यधिक जटिल तथा विस्तृत शब्द है जो कि व्यक्ति क सन्तोष को प्रभावित करने वाले आर्थिक सामाजिक राजनैतिक तथा धार्मिक तत्वो का अध्ययन करता है। पीगू ने कल्याणकारी अर्थशास्त्र को केवल आर्थिक कल्याण तक ही सीमित किया। उनके अनुसार "आर्थिक कल्याण सामाजिक (सामान्य) कल्याण का वह भाग है जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे मुद्रा के मापदण्ड से सम्बन्धित किया जा सकता है।"[1] इस प्रकार पीगू का आर्थिक कल्याण से अभिप्राय विनिमय योग्य वस्तुओ तथा सेवाओ के प्रयोग से प्राप्त सन्तोष से होता है।

पीगू का कल्याणकारी अर्थशास्त्र निम्न मान्यताओं पर आधारित है

(i) एक व्यक्ति विभिन्न वस्तुओ तथा सेवाओं पर किये गए व्यय मे अधिकतम सन्तोष प्राप्त करना चाहता है।

(ii) व्यक्ति अपने सन्तोष की दूसरों से तथा स्वय द्वारा उपभोग की गयी वस्तुओ तथा सेवाओ की विभिन्न मात्राओ मे प्राप्त सन्तोष से तुलना कर सकता है।

(iii) आय पर सीमान्त उपयोगिता ह्रास नियम लागू होता है।

2 "Economic welfare is that part of social (general) welfare that can be brought directly or indirectly into relation with the measuring rod of money," —Pigou, A C

(iv) विभिन्न व्यक्ति समान वास्तविक आय से समान सन्तोष प्राप्त करते है।

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर पीगू ने राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण को समानार्थी स्वीकार *किया तथा आर्थिक कल्याण अधिकतम करने के लिए* उन्होंने दो मानदण्डो की व्याख्या की

(i) रुचि तथा आय के वितरण के *अपरिवर्तित* रहने पर यदि राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती है तो आर्थिक कल्याण मे वृद्धि हो जायगी।

(ii) राष्ट्रीय आय के स्थिर रहने पर समाज के धनी वर्ग से निर्धन वर्ग की ओर आय का हस्तातरण होने से भी आर्थिक कल्याण मे वृद्धि हो जाती है।

इसके अतिरिक्त पीगू ने अपने द्वैध मानदण्ड *म स्पष्ट किया कि (A) अन्य किसी वस्तु की मात्रा* कम किये बिना एक वस्तु की मात्रा मे वृद्धि अथवा उत्पादन के साधनो की अपेक्षाकृत अधिक सामाजिक *महत्त्व की क्रियाओं मे हस्तान्तरित करके राष्ट्रीय* आय मे वृद्धि होना कल्याण मे वृद्धि को प्रदर्शित करता है यदि निर्धनो के अश मे कोई कमी न हो। (B) अर्थ-*व्यवस्था का ऐसा पुनर्गठन जो निर्धनो के अश को* कम किए बिना राष्ट्रीय आय म वृद्धि करता है आर्थिक कल्याण मे वृद्धि को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार प्रो० पीगू राष्ट्रीय आय तथा उसके वितरण के आधार पर *आर्थिक कल्याण की व्याख्या करते है किन्तु* अनेक दृष्टिकोणो से पीगू द्वारा प्रस्तुत कल्याणकारी अर्थशास्त्र की अनेक आलोचनाएँ की गयी है।

नव प्रतिष्ठित कल्याणकारी अर्थशास्त्र पर की गई आलोचनाएँ (Criticisms of Neo Classical Welfare Economics)

*(i) उपयोगिता की मापनीयता तथा अन्तर्वैय*क्तिक तुलना की मान्यता अनुचित है। *(ii) राष्ट्रीय* आय आर्थिक कल्याण का उचित मानदण्ड नही होता है *क्योकि मूल्यो मे परिवर्तन होने से राष्ट्रीय आय म* परिवर्तन होता है *यद्यपि वास्तविक वस्तुओं तथा* सेवाओं की मात्रा मे कोई परिवर्तन न हुआ हो। *अतिरिक्त राष्ट्रीय आय की सही गणना असम्भव है।* (iii) पीगू ने मूल्यगत निर्णयो की स्पष्ट व्याख्या नही की जो कल्याणकारी अर्थशास्त्र मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। (iv) पीगू की विभिन्न 'मनुष्यों की समान क्षमता' की मान्यता वैज्ञानिक सिद्धान्तो पर आधारित न होकर नैतिक सिद्धान्तो पर आधारित है। (v) डा० प्राफ *का मत है कि मुद्रा आर्थिक कल्याण को मापने का एक उचित मानदण्ड प्रस्तुत नही करती है।*

उपर्युक्त आलोचनाओं के कारण आधुनिक युग म अधिकाश अर्थशास्त्री कल्याणकारी अर्थशास्त्र का विश्लेषण उपयोगिता के क्रमवाचक विचार (ordinal *concept*) पर आधारित करते हैं।

परेटो अनुकूलतम
(*Pareto Optimum*)

वी० परेटो सर्वप्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने उपयोगिता के क्रमवाचक विचार (ordinal concept of utility) के आधार पर कल्याणकारी अर्थशास्त्र का विचार प्रस्तुत किया। परेटो न उपयोगिता की मापनीयता तथा उसकी अन्तर्वैयक्तिक तुलना के विचार को गलत सिद्ध किया तथा स्पष्ट किया कि पूर्ण प्रतियोगिता समाज को अनुकूलतम कल्याण की स्थिति को प्राप्त करने मे सहायक होती है। अत परेटो ने सामान्य अनुकूलतम (*General optimum*) का विचार प्रस्तुत किया। परेटो की सामान्य (अथवा सामाजिक) अनुकूलतम वह स्थिति है जिसके अन्तर्गत साधनो (inputs) अथवा उत्पादन (outputs) के पुनराबटन (re allocation) द्वारा बिना कम से कम एक व्यक्ति को हीनतर (worse off) किये हुए किसी अन्य व्यक्ति को श्रेष्ठतर (better off) करना सम्भव नही होता है। जैसाकि परेटो ने स्वय *स्पष्ट रूप म लिखा है* "*हम लोग अधिकतम सन्तुष्टि* या कल्याण की स्थिति को परिभाषित करते हैं जिसके अन्तर्गत किसी प्रकार का ऐसा सूक्ष्म परिवर्तन करना असम्भव होता है कि स्थिर रहने वाली संतुष्टियो को छोड़कर, सभी व्यक्तियो की सन्तुष्टियाँ बढ़ जाएँ

अथवा घट जाएँ। इस प्रकार परेटो अनुकूलतम की दशा मे ससाधनो के पुनर्गठन द्वारा बिना किसी अन्य व्यक्ति के कल्याण को कम किए किसी अन्य व्यक्ति के कल्याण मे वृद्धि करना असभव होता है। अत. यदि किसी स्थिति मे समाज से वस्तुओ तथा सेवाओ अथवा उत्पादन के साधनो के विभिन्न प्रयोगो मे पुनर्वितरण द्वारा कल्याण मे वृद्धि सम्भव है तो वह अनुकूलतम दशा नही होगी।[1]

परेटो मानदण्ड (Pareto Criterion)

परेटो के मानदण्ड के अनुसार यदि कोई परिवर्तन किसी को हानि नही पहुचाता तथा कुछ लोगो को श्रेष्ठतर बनाता है, तो वह सुधार है। जैसा कि बामोल (Baumol) ने स्पष्ट से व्याख्या निम्न शब्दो मे की है "कोई परिवर्तन जो किसी को हानि नही पहुचाता तथा कुछ लोगो को (उनके स्वय के अनुमान म) श्रेष्ठतर बनाता है, आवश्यक रूप से सुधार समझा जाना चाहिए।"[2]

परेटो के इस विचार को एजवर्थ बाउले बॉक्स रेखाचित्र द्वारा सरलतापूर्वक समझा जा सकता है जो उपयोगिता की अमापनीयता तथा अन्तर्वैयक्तिक तुलना की असत्यता की मान्यता पर आधारित है। माना कि समाज मे दो व्यक्ति A तथा B है जो वस्तु X तथा Y का उपभोग करते हैं। X तथा Y के विभिन्न सयोगो के उपभोग से प्राप्त होने वाले दोनो व्यक्तियो के सन्तोष के स्तर अनधिमान वक्रो द्वारा प्रदर्शित है। रेखाकृति 45 1 मे A तथा B व्यक्ति के मूल बिन्दु क्रमश. O_A तथा O_B हैं। अत I_{a1}, I_{a2} I_{a3} क्रमश A व्यक्ति के बढते हुए सन्तोष को प्रदर्शित करते है। इसी प्रकार I_{b1} I_{b2} I_{b3} B व्यक्ति की क्रमश बढती सन्तुष्टि को प्रदर्शित करते हैं। माना कि X तथा Y वस्तुओ का A तथा B व्यक्ति मे वितरण की स्थिति K है जो स्पष्ट करता है कि A व्यक्ति के पास X वस्तु की OG तथा Y वस्तु की GK मात्रा

रेखाकृति 45 1

है। इसी प्रकार B व्यक्ति के पास X वस्तु की KF तथा Y वस्तु की KE मात्रा है। इस प्रकार X तथा Y वस्तु की कुल मात्रा A तथा B व्यक्तियो मे वितरित है।

परेटो मानदण्ड के अनुसार यदि K बिन्दु से S बिन्दु की ओर कोई पुनर्वितरण होता है तो B व्यक्ति की सन्तुष्टि पूर्ववत् रहती है किन्तु A व्यक्ति के सन्तोष का स्तर पहले की अपेक्षा बढ जाता है क्योकि B व्यक्ति एक ही अनधिमान वक्र I_{b1} पर रहता है (K तथा S, I_{b1}, पर ही है) तथा A व्यक्ति I_{a1} की अपेक्षा ऊँचे अनधिमान वक्र I_{a3} पर पहुँच जाता है। अत K बिंदु परेटो के अनुसार सामान्य अनुकूलतम की स्थिति (Position of General Optimum) नही है।

इसी प्रकार यदि K से R की ओर कोई परिवर्तन किया जाता है तो भी A व्यक्ति का सन्तोष पूर्ववत् तथा B व्यक्ति का सन्तोष पहले की अपेक्षा बढ जाता है। अत R तथा S दोनो स्थितियाँ K की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। दोनो व्यक्तियो के विभिन्न अनधिमान वक्रो के स्पर्श बिन्दु सामान्य अनुकूलतम के बिन्दु होते हैं। जिन्हे एक वक्र से जोड़ देने पर प्रसंविदा वक्र (cont-

1 'We are led to define as a position of maximum ophelimity (welfare) as one where it is possible to make a small change of any sort such that ophelimities of all the individuals, except those that remain constant, are either all increased or all diminished"
—Pareto, V

2 Any change which harms no one and which makes some people better off (in their own estimations) must be considered an improvement"
—W J Baumol

ract curve) प्राप्त हो जाता है। इस वक्र पर यदि हम ऊपर अथवा नीचे की ओर चलते है तो एक के सतोष मे वृद्धि होती है तो दूसरे के सन्तोष मे कमी हो जाती है जिसके कारण इसे संघर्ष वक्र (conflict curve) भी कहते है। उपर्युक्त रेखाकृति विश्लेषण मे R तथा S मे से कौन सी स्थिति अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है, इस प्रश्न का उत्तर परेटो का मानदण्ड प्रदान नही करता है।

परेटो के सामान्य अनुकूलतम को समुएल्सन द्वारा प्रस्तुत उपयोगिता सम्भावना वक्र (utility possibility curve) द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। "उपयोगिता सम्भावना वक्र वस्तुओ के एक निश्चित समूह से दो व्यक्तियो द्वारा प्राप्त उपयोगिताओ के विभिन्न सयोगो का बिन्दुपथ है।"[1] रेखाकृति 45 2 मे
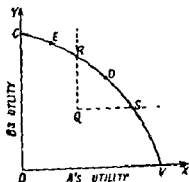
रेखाकृति 45 2

X तथा Y अक्ष पर क्रमश A तथा B व्यक्ति की उपयोगिता को प्रदर्शित किया गया है। CV वक्र दोनो व्यक्तियो द्वारा प्राप्त की जाने वाली उपयोगिताओ के विभिन्न सयोगो को प्रदर्शित करता है जो कि उन्हे वस्तुओ की एक निश्चित मात्रा के सम्मिलित रूप से उपभोग से प्राप्त होती है। दो व्यक्तियो मे वस्तुओ की वितरित मात्रा मे परिवर्तन के साथ उनकी उपयोगिताओ के स्तर भी परिवर्तित हो जाते हैं।

1 "Utility possibility curve is the locus of various combinations of utilities derived by two persons from a particular bundle of commodities"

परेटो के मानदण्ड के अनुसार Q बिन्दु से R, D तथा S बिन्दु की ओर कोई परिवर्तन सामाजिक कल्याण मे वृद्धि को प्रकट करता है क्योकि इसके परिणाम स्वरूप A अथवा B अथवा दोनो की उपयोगिताओ मे वृद्धि होती है। किंतु Q बिंदु से RS के बाहर की ओर किसी परिवर्तन के कल्याण पर प्रभावो को परेटो के मानदण्ड से ज्ञात नही किया जा सकता है। इस प्रकार E बिन्दु परेटो अनुकूलतम की स्थिति को व्यक्त नही करता है तथा CV वक्र के RS भाग पर स्थित सभी बिंदु परेटो अनुकूलतम की स्थितियाँ है किन्तु कौन सा बिन्दु श्रेष्ठतम है? परेटो मानदण्ड इसका उत्तर देने मे असमर्थ रहता है क्योकि इसके लिए कुछ मूल्यगत निर्णयो का आश्रय लेना आवश्यक है जिसको परेटो अपने विश्लेषण मे समाविष्ट नही करते हैं।

परेटो अनुकूलतम की दशाएं (Conditions of Pareto Optimum)

पैरेटो ने सामाजिक कल्याण को अधिकतम (अनुकूलतम) करने के लिए उत्पादन तथा विनिमय क्षेत्र की अनेक दशाओ की व्याख्या की है जिसके द्वारा उत्पादन तथा उसके वितरण को अधिकतम सामाजिक कल्याण के अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया जाता है। यहाँ पर परेटो अनुकूलतम की विभिन्न दशाओ की व्याख्या करने के पूर्व उनकी मान्यताओ के विषय मे जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

परेटो अनुकूलतम की मान्यताएँ (Assumptions of Pareto Optimum)

(1) उपयोगिता एक क्रमवाचक विचार है तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए क्रमवाचक उपयोगिता फलन (ordinal utility function) दिया हुआ है। (2) उत्पादक या फर्म का उत्पादन फलन (production function) एक निश्चित अवधि के अन्तर्गत दिया हुआ है। (3) प्रत्येक व्यक्ति अपने सन्तोष को अधिकतम करना चाहता है। (4) उत्पादक न्यूनतम लागत पर किसी वस्तु का अधिकतम उत्पादन करना चाहता है ताकि उसका लाभ अधिकतम हो सके। (5) सभी वस्तुएँ पूर्णतया विभाज्य (perfectly divisible) हैं

तथा सभी व्यक्ति प्रत्येक वस्तु की एक निश्चित मात्रा का प्रयोग करते हैं, (6) पूर्ण प्रतिस्पर्धा के कारण सभी उत्पादन के साधन पूर्णतया गतिशील हैं।

उपर्युक्त मान्यताओं को ध्यान मे रखते हुए हम अनुकूलतम की दशाओं या प्रथम क्रम की दशाओं (First Order Conditions) या सीमान्त दशाओं (Marginal Conditions) की व्याख्या कर सकते हैं, जो नीचे दी गई हैं।

1. उपभोग क्षेत्र मे विनिमय अनुकूलतम (Exchange Optimum in Consumption Sector)

पहली अनुकूलतम दशा वस्तुओं की मात्रा के विभिन्न उपभोक्ताओं मे अनुकूलतम वितरण से सम्बन्धित है। इस दशा के अनुसार, "समाज म प्रत्यक व्यक्ति के लिए किन्ही दो वस्तुओं के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (*MRS*) समान होनी चाहिए।"[1] किन्हीं दो वस्तुओं के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर किसी वस्तु की सीमान्त इकाई के उपभोग म कमी होने से सन्तोष म क्षति की क्षतिपूर्ति के लिए आवश्यक अन्य वस्तु की मात्रा होती है ताकि कल्याण का स्तर यथावत् रहे। यदि प्रतिस्थापन की सीमान्त दर समान नही है तो दोनो व्यक्ति परस्पर विनिमय करेंगे जिससे किसी एक अथवा दोनों व्यक्तियों के सन्तोष के स्तर म वृद्धि होगी।

इस दशा का स्पष्टीकरण एजवर्थ-बाउल बॉक्स रेखाकृति द्वारा किया जा सकता है। रेखाकृति 45 3 म *X* तथा *Y* अक्ष पर क्रमश *X* तथा *Y* वस्तुओं की मात्राएँ प्रदर्शित हैं जो दो व्यक्ति *A* तथा *B* द्वारा उपभोग की जाती हैं। *A* व्यक्ति का मूल बिन्दु O_A तथा *B* व्यक्ति का O_B है। I_{a1}, I_{a2} तथा I_{a3} अनधिमान वक्र *A* व्यक्ति के बढते हुए सन्तोष के स्तर तथा I_{b1}, I_{b2} तथा I_{b3} अनधिमान वक्र *B* व्यक्ति के क्रमश बढते हुए सन्तोष को प्रदर्शित करते हैं। *CC'* रेखा अनुबिंदा वक्र (contract curve) है जो विभिन्न अनधिमान वक्रों के स्पर्श बिन्दुओं से होकर जाती है। इन बिन्दुओं पर दोनो व्यक्तियो के लिए दोनो वस्तुओं के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर समान होती है। अनुबिंदा वक्र से दूर दोनो व्यक्तियो के किसी वस्तु संयोग पर प्रतिस्थापन की सीमान्त दर समान नही होती है।
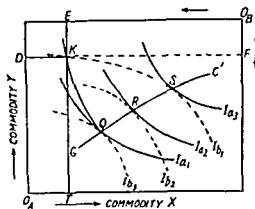
रेखाकृति 45 3

उदाहरणार्थ यदि दोनों व्यक्तियों द्वारा उपभोग की जाने वाली *X* तथा *Y* की मात्रा *K* द्वारा प्रदर्शित है तो यह अनुकूलतम स्थिति नही होगी क्योंकि *K* से *S* अथवा *K* से *Q* वस्तु-संयोग की ओर परिवर्तन होने से एक व्यक्ति का सन्तोष स्थिर रहते हुए दूसरे व्यक्ति के सन्तोष म वृद्धि होती है। इसी प्रकार *K* से *R* संयोग की ओर परिवर्तन होने पर दोनो व्यक्तियो के कल्याण म वृद्धि होती है क्योंकि दोनों अपेक्षाकृत ऊँचे अनधिमान वक्र पर जाने म सफल होते हैं।

चूँकि अनधिमान वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर ढाल प्रतिस्थापन की सीमान्त दर प्रदर्शित करता है, अत दोनो व्यक्तियों के लिए दो वस्तुओं के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर उनके अनधिमान वक्रो के स्पर्श बिंदुओं पर ही समान होती है। विभिन्न स्पर्श बिंदुओं मे से कौन सर्वश्रेष्ठ है, यह परेटो की कसौटी के अनुसार अनिर्धारणीय (indeterminate) है।

2 उत्पादन क्षेत्र मे उत्पादन अनुकूलतम (Production Optimum in Production Sector)

उत्पादन के क्षेत्र म अनुकूलतम स्थिति प्राप्त करने के लिए विभिन्न साधनों के अनुकूलतम प्रयोग तथा

1 For each individual in society, marginal rate of substitution between two goods must be the same"

उत्पादन की अनुकूलतम मात्रा की व्याख्या की जाती है। अब हम उत्पादन के क्षेत्र में इन दोनों दशाओं की व्याख्या करेंगे।

2. A साधनों के प्रयोग की अनुकूलतम दशा (Optimum Condition of Utilisation of Factors) इस दशा को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है। किसी वस्तु विशेष के उत्पादन में दो साधनों का प्रयोग करने वाली किन्हीं दो फर्मों के लिए दो साधनों के मध्य तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर समान होनी चाहिए। यदि यह दशा पूरी नहीं होती है तो साधनों को एक फर्म से दूसरी फर्म में हस्तान्तरित करके कुल उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। इसके परिणामस्वरूप एक वस्तु का उत्पादन अपरिवर्तित रहते हुए दूसरी वस्तु के उत्पादन में वृद्धि हो जाती है अथवा दोनों वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हो जाती है।
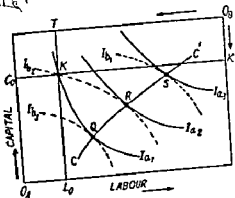
रेखाकृति 45.4

एजवर्थ-बाउले बॉक्स रेखाकृति में समोत्पादन वक्रों का प्रयोग करके इस दशा को सरलतापूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है।

रेखाकृति 45.4 में X तथा Y अक्षों पर क्रमशः श्रम तथा पूँजी की कुल मात्रा प्रदर्शित है जिनका प्रयोग करके A तथा B फर्में किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा का उत्पादन करती हैं।

A फर्म का मूल बिन्दु O_A तथा B फर्म का O_B है। I_{a1}, I_{a2}, I_{a3} तथा I_{b1}, I_{b2}, I_{b3} क्रमशः A तथा B फर्म के बढ़ते हुए उत्पादन के स्तर को प्रदर्शित करते हैं। सममात्रा वक्र (Isoquant) की प्रत्येक बिन्दु पर ढाल तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को प्रदर्शित करती है। अतः जिस बिन्दु पर दोनों फर्मों के सममात्रा वक्र स्पर्श रेखाएँ हैं वहाँ दोनों के लिए दोनों साधनों के मध्य तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर समान है। रेखाकृति में Q, R, S, बिन्दु अनुकूलतम स्थिति को प्रदर्शित करते हैं। उदाहरणार्थ यदि K बिन्दु द्वारा व्यक्त साधन संयोग प्रयोग होता है तो वह अनुकूलतम स्थिति नहीं होगी क्योंकि ऐसी दशा में K से R की ओर तथा K से Q की ओर साधन संयोग परिवर्तित करके दोनों फर्मों के कुल उत्पादन में वृद्धि हो सकती है। K से R की ओर परिवर्तन से A फर्म के उत्पादन में वृद्धि होती है तथा B फर्म का उत्पादन पूर्ववत् रहता है। इसी प्रकार K से Q की ओर परिवर्तन से B फर्म के उत्पादन में वृद्धि होती है तथा A फर्म का उत्पादन यथावत् रहता है। इस प्रकार कुल उत्पादन में वृद्धि होती है। इस प्रकार Q तथा R दोनों ही संयोग कुल उत्पादन में वृद्धि करते हैं किन्तु इन दोनों में कौन अपेक्षाकृत अधिक कुल उत्पादन प्रदान करता है, यह अनिर्धारणीय है।

2 B उत्पादन क्षेत्र में विशिष्टता के अनुकूलतम अंश की दशा (Condition of Optimum Degree of Specialisation in Production Sector) इस दशा का सम्बन्ध दो फर्मों में दो वस्तुओं के उत्पादन की अनुकूलतम मात्रा निर्धारित करने से है। इस दशा के अनुसार, 'किन्हीं दो फर्मों के लिए किन्हीं दो वस्तुओं के मध्य रूपान्तरण की सीमान्त दर समान होनी चाहिए जो दोनों वस्तुओं का उत्पादन करती है।'[1] किसी फर्म की दो वस्तुओं के मध्य रूपान्तरण की सीमान्त दर साधनों के स्थिर रहने पर एक वस्तु की वह मात्रा है जो दूसरी वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई उत्पादन करने के लिए त्याग करनी पड़ती है।

1 "Marginal rate of transformation between any two goods must be the same for any two firms producing the same goods."

एक रूपान्तरण वक्र (Transformation Curve) या उत्पादन सम्भावना वक्र (Production Possibility Curve) के प्रत्येक बिन्दु पर दो वस्तुओं के मध्य रूपांतरण की सीमान्त दर को व्यक्त करती है। रूपान्तरण वक्र दो वस्तुओं के उन विभिन्न संयोगों का बिन्दुपथ है जिनको एक उत्पादक अपने दिये हुए साधनों के प्रयोग से उत्पादित कर सकता है।"[1]

उपर्युक्त अनुकूलतम दशा को दो फर्मों के रूपान्तरण वक्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है। रेखाकृति 45 5 (a) तथा 45 5 (b) में क्रमशः A तथा B फर्म के रूपान्तरण वक्र प्रदर्शित हैं जो वर्द्धमान अवसर लागत के विचार पर आधारित हैं अर्थात् एक वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई का उत्पादन करने के लिए दूसरी वस्तु के उत्पादन की अधिकाधिक मात्रा का त्याग करना पड़ता है। इसीलिए दोनों वक्र मूल बिन्दु के नतोदर (concave) हैं।
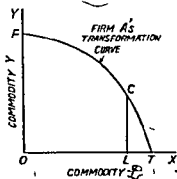
रेखाकृति 45 5 (a)
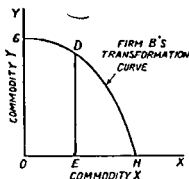
रेखाकृति 45 5 (b)

मानाकि फर्म A वस्तु X की OL तथा Y वस्तु की LC मात्रा उत्पादित करती है। इसी प्रकार फर्म B वस्तु X तथा Y की क्रमशः $O'E$ तथा ED मात्रा उत्पादित करती है। इस प्रकार X वस्तु का दोनों फर्मों द्वारा कुल उत्पादन $OL+O'E$ तथा Y वस्तु का कुल उत्पादन $LC+DE$ मात्रा के बराबर है। दोनों फर्मों द्वारा उत्पादित X तथा Y वस्तु की कुल मात्राओं को रेखाकृति 45 6 में एक साथ प्रदर्शित किया गया है। दोनों फर्मों के दोनों वस्तुओं के उत्पादन को एक साथ प्रदर्शित करने के लिए रेखाकृति 45 6 में रेखाकृति 45 5 (b) को उल्टा करके रेखाकृति 45 5 (a) पर इस प्रकार रख दिया गया है कि फर्म A तथा Y वस्तु B के रूपान्तरण वक्रों के C तथा D बिन्दु एक दूसरे से मिल (coincide) लें। इस प्रकार रेखाकृति 45 6 में X वस्तु का कुल उत्पादन $(MC+CN)=MN$ जहाँ $MC=OL$ तथा $CN=O'E$ है। इसी प्रकार Y वस्तु का कुल उत्पादन $LC+CE=LE$ है। रेखाकृति 45 6 से स्पष्ट होता है कि C बिन्दु पर दोनों फर्मों के रूपान्तरण वक्र एक दूसरे की स्पर्श रेखाएँ न होकर परस्पर प्रतिच्छेद (intersection) करते हैं। अतः दोनों फर्मों के रूपांतरण की सीमान्त दर समान नहीं है। अतः परेटो के अनुसार यह विशिष्टीकरण की अनुकूलतम दशा नहीं है। अनुकूलतम स्थिति की प्राप्ति के लिए B फर्म के रूपान्तरण वक्र को इस प्रकार सरकाया (shift) किया गया है कि वह A फर्म के रूपान्तरण वक्र को K बिन्दु पर स्पर्श करता है। ऐसी दशा में दोनों फर्मों द्वारा X वस्तु का उत्पादन ST हो जाता है जो पहले के संयुक्त उत्पादन $MN=SQ$ की अपेक्षा QT अधिक है। इसी प्रकार Y वस्तु का संयुक्त उत्पादन भी पहले के संयुक्त उत्पादन, $LE=WR$ की अपेक्षा RJ मात्रा अधिक है। इस प्रकार इस दशा की पूर्ति होने पर दोनों

1 "Transformation curve is a locus of various combinations of two goods which a producer can produce from the use of his given resources."

वस्तुओं का कुल उत्पादन पहले की अपेक्षा बढ़ जाता है। अनुकूलतम की स्थिति में फर्म A वस्तु Y के उत्पादन में तथा फर्म B वस्तु X के उत्पादन में पहले की अपेक्षा अधिक विशिष्टीकरण (specialisation) करती है।

K स्पर्श बिंदु कोई अकेला बिंदु नहीं वरन् अनेक बिन्दुओं में से एक है जिसके रूपान्तरण वक्र एक दूसरे को स्पर्श कर सकते हैं। यह बिंदु O'' की स्थिति पर निर्भर करता है। O'' की विभिन्न सम्भव स्थितियों को एक वक्र द्वारा जोड देने से अनुकूलतम बिन्दु पथ (optimum locus) UV प्राप्त हो जाता है। U तथा V पर O''
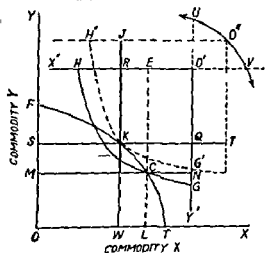
रेखाकृति 45 6

की स्थिति होने पर क्रमश केवल Y तथा X के कुल उत्पादन में वृद्धि होगी तथा अन्य वस्तु की कुल मात्रा पूर्ववत् रहेगी। O'' की स्थिति UV के मध्य कहीं होने पर दोनों वस्तुओं के कुल उत्पादन में वृद्धि होगी। UV वक्र के किस बिंदु पर उत्पादन सर्वश्रेष्ठ होगा। इसका उत्तर देने में परेटो का मानदण्ड असमर्थ है।

3 उत्पादन में किसी साधन के अनुकूलतम प्रयोग की दशा (Condition of Optimum Utilisation of any Factor in Production)

इस दशा के अनुसार किसी साधन का प्रयोग किसी फर्म द्वारा उस सीमा तक किया जाना चाहिए कि दोनों फर्मों में साधन की सीमान्त उत्पादकता समान है। इस दशा को प्रो० रेडर ने निम्न प्रकार व्यक्त किया है। 'किसी साधन तथा किसी पदार्थ के मध्य रूपान्तरण की सीमान्त दर किन्हीं दो फर्मों के लिए समान होनी चाहिए जो उस साधन का प्रयोग तथा पदार्थ का उत्पादन करती हैं।'[1]

यदि ऐसा नहीं है तो एक फर्म में से दूसरी फर्म में साधन का स्थानान्तरण (transfer) करके वस्तु विशेष के कुल उत्पादन में वृद्धि की जा सकती है। रेखाकृति 45 6 में X-अक्ष पर यदि फर्म A द्वारा प्रयुक्त साधन की मात्रा को दाहिनी से बाईं ओर तथा फर्म B द्वारा प्रयुक्त साधन की मात्रा को बाईं से दाहिनी ओर पढ़ें तथा उत्पादित वस्तु को Y-अक्ष पर प्रदर्शित करें तो OF तथा $O'G$ रेखाएँ साधन के वस्तु के रूप में रूपान्तरण व्यक्त करती हैं। फर्म A द्वारा साधन के प्रयोग में वृद्धि से वस्तु का उत्पादन बढ़ता जाता है। यही स्थिति B फर्म का रूपान्तरण वक्र भी प्रदर्शित करता है। रेखाकृति 45 6 से स्पष्ट है कि दोनों रूपान्तरण वक्रों के प्रतिच्छेद करने पर वस्तु के उत्पादन की कुल मात्रा $LC+CE=LE$ है किन्तु दोनों रूपान्तरण रेखाओं के स्पर्श बिंदु से स्पष्ट होता है कि वस्तु का उत्पादन $WK+KJ=WJ$ हो जाता है जो $LE=WR$ की अपेक्षा RJ अधिक है। यही परेटो के अनुसार अनुकूलतम साधन प्रयोग की स्थिति है।

4 उत्पादन के अनुकूलतम दिशा की दशा (Condition of Optimum Direction of Production)

यह दशा उत्पादन की तकनीकी दशाओं तथा उपभोक्ता के अधिमानों (consumer's preferences) पर आधारित है। इस दशा द्वारा विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की अनुकूलतम उत्पादन की मात्रा का निर्धारण किया जाता है। प्रो० रेडर ने इस दशा को निम्न प्रकार परिभाषित किया है :

1 "Marginal rate of transformation between any factor and any product must be the same for any pair of firms using the factor and producing the product "

—Reder, M.W.

"दोनों वस्तुओं का उपभोग करने वाले किसी एक व्यक्ति के लिए दोनों वस्तुओं के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS) समुदाय (community) के लिए उनके मध्य रूपान्तरण की सीमान्त दर समान होनी चाहिए।"[1]

इस दशा के अनुसार समाज में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन इस प्रकार किया जाना चाहिए कि वह यथासम्भव उपभोक्ताओं की पसन्द (tastes) के अनुरूप हो। इससे कल्याण को अधिकतम किया जा सकेगा। इस दशा को रेखाकृति 45 7 की सहायता से सरलतापूर्वक प्रदर्शित किया जा सकता है

रेखाकृति 45 7 में X तथा Y अक्ष पर क्रमशः X तथा Y वस्तु की मात्राएँ प्रदर्शित हैं। AB समाज के लिए दोनों वस्तुओं के मध्य रूपान्तरण वक्र है। W_1
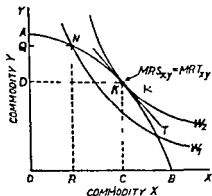
रेखाकृति 45 7

तथा W_2 समाज के अनधिमान वक्र हैं। K बिन्दु पर समाज की दोनों वस्तुओं के मध्य रूपान्तरण की सीमान्त दर (MRT) तथा प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS) समान है। यही अनुकूलतम स्थिति है जिसमें Y वस्तु की OD मात्रा तथा X वस्तु की OC मात्रा का उत्पादन समाज में किया जाता है। यदि N बिन्दु द्वारा व्यक्त वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है तो यह समाज के अधिमान के अनुरूप नहीं है क्योंकि Y वस्तु का कम तथा X वस्तु का अधिक उत्पादन करके समाज अपेक्षाकृत ऊँचे अनधिमान वक्र W_2 पर के बिन्दु K को जा सकता है। रेखाकृति 45 7 में देखा जायेगा कि बिंदु K पर उत्पादन सम्भावना वक्र समाज के अनधिमान वक्र W_2 को स्पर्श कर रहा है। जिससे बिंदु K पर वस्तु X तथा Y में रूपान्तरण की सीमान्त दर (MRT_{xy}) समाज के उनमें प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) के समान है। अतः N बिन्दु अनुकूलतम स्थिति व्यक्त नहीं करता।

5 साधन के समय के अनुकूलतम वितरण की दशा (Condition of Optimum Allocation of Factor's Time)

यह दशा किसी उत्पादन के साधन विशेषतया मानवीय (human) साधनों के समय के कार्य (work) तथा अवकाश (leisure) के मध्य अनुकूलतम वितरण से सम्बन्धित है। इस दशा के अनुसार, 'किसी वस्तु की उत्पादित मात्रा तथा उसमें व्यय समय (spent time) के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर, साधन द्वारा व्यय किये गए समय तथा वस्तु के उत्पादन के रूपान्तरण की सीमान्त दर (MRT) के समान होनी चाहिए।" एक श्रमिक का अनधिमान वक्र अवकाश (leisure) तथा कार्य करने से प्राप्त आय के विभिन्न संयोगों को व्यक्त करता है जिन्हें श्रमिक समान रूप से अधिमान प्रदान करता है। अनधिमान वक्र का प्रत्येक बिंदु कार्य करने से प्राप्त आय अर्थात् मजदूरी तथा अवकाश के मध्य प्रतिस्थापन की दर व्यक्त करता है। इसी प्रकार श्रमिक के निश्चित समय तक कार्य करने पर वस्तु का उत्पादन होता है। अतः कार्य करने के समय तथा समाज के लिए वस्तु के विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करने वाला रूपान्तरण वक्र होता है जिसका प्रत्येक बिंदु आय के घण्टे तथा वस्तु के मध्य रूपान्तरण की सीमान्त दर को प्रदर्शित करता है। जहाँ पर अनधिमान वक्र तथा रूपान्तरण वक्र एक दूसरे की स्पर्श रेखा होती है वह बिंदु इस अनुकूलतम की स्थिति को व्यक्त करता है। उसके अतिरिक्त कोई अन्य बिंदु अनुकूलतम नहीं होता है।

1 "The marginal rate of substitution between any pair of products for any person consuming both must be the same as the marginal rate of transformation (for the community) between them"

—Reder, M W

6 पूँजी के अन्त कालीन अनुकूलतम की दशा (Inter-temporal Optimum Condition of Capital)

यह दशा पूँजी के उधार देने तथा उधार लेने से सम्बन्धित है। इस दशा के अनुसार उधार लेने वाले व्यक्ति के लिए पूँजी पर ब्याज दर, उधार लेने वाले व्यक्ति की पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के बराबर होनी चाहिये। इस दशा की व्याख्या निम्न रेखाकृति की सहायता से सरलतापूर्वक की जा सकती है। रेखाकृति 45 8 मे X तथा Y अक्ष पर क्रमश भविष्य तथा वर्तमान मे आय के रूप मे द्रव्य की मात्रा प्रदर्शित की गयी है। K_1, K_2 दो अनधिमान वक्र हैं जो वर्तमान तथा भविष्य की आय के उन विभिन्न सयोगों को प्रदर्शित करते है जिससे उधार देने वाले व्यक्ति को
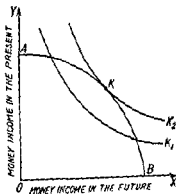
रेखाकृति 45 8

समान सन्तोष प्राप्त होता है। वर्तमान तथा भविष्य मे आय की मात्रा के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दर निरन्तर घटती हुई है जो स्पष्ट करती है कि उधार दाता भविष्य की एक निश्चित मात्रा मे आय प्राप्त करने के लिए वर्तमान मे निरन्तर कम आय त्यागना चाहता है। इसी प्रकार AB उधार लेने वाले व्यक्ति की उत्पादन सम्भावना रेखा है जो मूल बिन्दु के नतोदर है जिसका अभिप्राय यह है कि वर्तमान की अपेक्षा भविष्य मे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता घटती हुई होने के कारण उत्पादन की लागत बढ़ती हुई होती है। रेखाकृति में K_2 वक्र तथा AB वक्र बिंदु K पर एक दूसरे को स्पर्श करते हैं। अत, K अनुकूलतम स्थिति को व्यक्त करता है।

परेटो अनुकूलतम की द्वितीय क्रम की तथा समस्त दशाएँ (The Second Order and Total Conditions of Pareto Optimum)

ऊपर के अध्ययन मे हमने परेटो अनुकूलतम की जो सीमान्त दशाओ अथवा प्रथम क्रम की दशाओ की व्याख्या की है, वे अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति के लिए आवश्यक तो हैं किन्तु पर्याप्त (sufficient) नहीं। कारण यह है कि ये सीमान्त दशाएँ तो न्यूनतम सामाजिक कल्याण की स्थिति मे भी पूरी होगी। इसलिए अधिकतम सामाजिक कल्याण अथवा परेटो अनुकूलतम की प्राप्ति के लिए उपर्युक्त सीमान्त (प्रथम क्रम) दशाओ के अतिरिक्त द्वितीय क्रम की दशाओ (second order conditions) की पूर्ति भी आवश्यक है। इन द्वितीय क्रम की दशाओं के अनुसार जहाँ पर सीमान्त दशाओ की पूर्ति है वहाँ यदि अनधिमान वक्र मूल बिन्दु की ओर उत्तल (convex) हो और रूपान्तरण वक्र (transformation curves) मूल बिन्दु की ओर अवतल (concave) हो तो सामाजिक कल्याण अधिकतम होगा अर्थात् परेटो अनुकूलतम की स्थिति प्राप्त होगी।

समस्त दशाएँ (Total Conditions)—परन्तु यदि प्रथम क्रम तथा द्वितीय क्रम दोनो प्रकार की शर्तें पूरी होती हैं तो भी यह आवश्यक नही कि अधिकतम सामाजिक कल्याण की स्थिति प्राप्त हो क्योकि किसी स्थिति मे इन दशाओ के पूरा होने पर भी यह सम्भव हो सकता है कि वहाँ से किसी ऐसी स्थिति तक जाया जा सके जिसमें सामाजिक कल्याण अधिक है। अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति के लिए एक अन्य प्रकार की दशाओ, जिनको जे० आर० हिक्स (J R Hicks) ने समस्त दशाओं (Total conditions) की सज्ञा दी है, की पूर्ति होना भी आवश्यक है। इन समस्त दशाओं के अनुसार अधिकतम कल्याण की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसी वस्तु उत्पादित करके जो पहले उत्पादित नही की जा रही है अथवा ऐसे साधन का प्रयोग करके जिसका प्रयोग नहीं हो रहा है कल्याण मे वृद्धि करना असम्भव हो।

(If welfare is to be maximum, it must be impossible to increase welfare by producing a product not otherwise produced or by using a factor not otherwise used)[1]

यदि वर्तमान स्थिति ऐसी है कि किसी नये पदार्थ को उत्पन्न करके अथवा अप्रयुक्त साधन को उत्पादन के लिए प्रयोग करके सामाजिक कल्याण में वृद्धि की जा सकती है तो हिक्स की समस्त दशाओं की पूर्ति नहीं होगी और इसलिए वर्तमान स्थिति परेटो अनुकूलतम अथवा अधिकतम सामाजिक कल्याण की स्थिति नहीं होगी।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि परेटो की दृष्टि से अधिकतम सामाजिक कल्याण तभी प्राप्त होगा जबकि सीमान्त दशाओं (दोनों प्रथम तथा द्वितीय क्रम की) एवं समस्त दशाओं की पूर्ति होती है। किन्तु यह परेटो अनुकूलतम (Pareto optimum) भी कोई विशेष स्थिति (Unique situation) नहीं है। कई स्थितियाँ अथवा बिन्दु परेटो अनुकूलतम होते हैं जिनमें सर्वश्रेष्ठ कौन सा है इसका परेटो के मानदण्ड द्वारा निर्धारित नहीं किया जा सकता। परेटो अनुकूलतम की दशाओं का समस्त विश्लेषण वर्तमान आय वितरण की मान्यता पर आधारित है। आय वितरण में परिवर्तन हो जाने से भिन्न भिन्न परेटो अनुकूलतम प्राप्त होंगे जिनमें विभिन्न पदार्थों की पहले से भिन्न मात्राएँ उत्पादित की जायेंगी और परिणामत साधनों का आवण्टन भी भिन्न होगा। परेटो ने कोई ऐसा मानदण्ड प्रतिपादित नहीं किया जिसके आधार पर यह निश्चित किया जा सके कि नया अनुकूलतम पहले के परेटो अनुकूलतम से श्रेष्ठ है या नहीं। ऐसा निश्चय आय वितरण के विषय में कुछ नैतिक निर्णयों के आधार पर किया जा सकता है। परन्तु नैतिक निर्णयों का परेटो के मानदण्ड में कोई स्थान नहीं है।

परेटो मानदण्ड तथा परेटो अनुकूलतम का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(A Critical Evaluation of Pareto Criterion and Pareto Optimality)

परेटो का मानदण्ड तथा परेटो अनुकूलतम और उस पर आधारित अधिकतम सामाजिक कल्याण की अवधारणा का कल्याणकारी अर्थशास्त्र में महत्वपूर्ण स्थान है। विभिन्न व्यक्तियों में वस्तुओं का विनिमय अथवा व्यापार करने के लाभ तथा उससे सामाजिक कल्याण में वृद्धि परेटो अनुकूलतम की अवधारणा से स्पष्ट किया गया है। परन्तु परेटो अनुकूलतम जो कि नीतियों जिनसे कुछ व्यक्तियों चाहे वे धनी क्यों न हों को हानि होती है की वांछनीयता पर विचार नहीं करता की भी कटु आलोचना की गई है। परेटो के कल्याणकारी मानदण्ड तथा उस पर आधारित अनुकूलतम की अवधारणा की निम्न दृष्टिकोणों से आलोचना की जाती है

1 परेटो का मानदण्ड नैतिक निर्णयों से स्वतन्त्र नहीं (Pareto criterion is not free from value judgements)

सर्वप्रथम परेटो के मानदण्ड पर यह आपत्ति की गयी है कि यह नैतिक निर्णयों (value judgements) से पूरी तरह स्वतन्त्र नहीं है। परेटो मानदण्ड के समर्थक यह दावा करते हैं कि यह कुशलता (efficiency) अथवा कल्याण (welfare) का एक वस्तुपरक मानदण्ड (objective criterion) है जिसमें व्यक्ति के नैतिक निर्णयों का कोई स्थान नहीं। किन्तु इस विचार को चुनौती दी गयी है। आलोचकों का कहना है कि परेटो की आधारभूत मान्यता कि अन्य व्यक्तियों की स्थिति पूर्ववत् रहते हुए कुछ व्यक्तियों को यदि लाभ होता है (अर्थात् उनके कल्याण में वृद्धि होती है) तो सामाजिक कल्याण में वृद्धि होगी, यह भी एक नैतिक निर्णय है जो सर्वमान्य नहीं। कारण यह है कि हम ऐसे नीति परिवर्तनों को अपनाने या लागू करने की सिफारिश करते हैं जो परेटो के मानदण्ड पर श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं, चाहे उन नीति परिवर्तनों से लाभ उठाने वाले व्यक्ति पहले ही धनी हों और पूर्ववत् स्थिति में बने रहने वाले व्यक्ति निर्धन। अतएव आर्थिक नीतियों के परिवर्तनों में किन व्यक्तियों को लाभ पहुँचता है और कौन पूर्ववत् स्थिति में रहते हैं को विचार में लाए बिना यह कहना कि यदि किसी नीति के अपनाने से अन्य व्यक्तियों को हानि पहुँचाये बिना यदि कुछ व्यक्तियों को लाभ पहुँचता है तो वह श्रेष्ठ है एक नैतिक निर्णय ही है। जो व्यक्ति कुछ थोड़े से व्यक्तियों के धनी बनने को सामाजिक कल्याण के लिए अच्छा नहीं समझते, वे परेटो के मानदण्ड को नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं समझते।

परेटो के मानदण्ड की सीमित व्यवहार्यता (Limited

1. Reder, *op cit*, p 37.

(Applicability of Pareto's Criterion)

(1) परेटो के मानदण्ड की एक भारी कमी यह है कि यह उन नीति प्रस्तावों की सामाजिक वांछनीयता (social desirability) अर्थात् सामाजिक कल्याण पर उनके प्रभाव की जांच नहीं करता जो समाज के एक वर्ग को लाभ परन्तु किसी दूसरे वर्ग को हानि पहुंचाते हैं। परन्तु ऐसे नीति परिवर्तन बहुत विरले (rare) हैं जो समाज के कुछ व्यक्तियों को हानि पहुंचाए बिना दूसरों को लाभ पहुंचायें। इसलिए परेटो के मानदण्ड का आर्थिक नीति निर्धारण में सीमित व्यावहारिक महत्त्व है क्योंकि इसका प्रयोग उन नीति प्रस्तावों जिनसे विभिन्न व्यक्तियों के हितों का टकराव होता है की सामाजिक अनुकूलता की जांच नहीं कर सकता। कल्याण अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ प्रो० पी० के० पटनायक के अनुसार, "जब विकल्पों की तुलना करनी होती है तो परेटो अनुकूलतम बुरी तरह असफल रहता है। दो विकल्पों के विषय में जब भी दो व्यक्तियों के हितों में टकराव होता है, यह मानदण्ड उन विकल्पों की उत्कृष्टता के बारे में कुछ नहीं बता सकता चाहे समाज के अन्य व्यक्तियों के उन विकल्पों के लिए अधिमान कितने ही अधिक क्यों न हों।"

"Pareto criterion fails seriously when it comes to comparing alternatives whenever there is conflict of preferences of two individuals with respect to these alternatives, the criterion fails to rank those alternatives no matter what the preferences of the rest of individuals in the society might be.")

उन नीति प्रस्तावों की सामाजिक वांछनीयता की जांच करना जिनसे कुछ को हानि और कुछ को लाभ होता है तुष्टिगुणों की अन्तर्व्यक्तिक तुलना (interpersonal comparison of utility) करने की आवश्यकता है जो परेटो मानदण्ड करना नहीं चाहता। अतएव परेटो मानदण्ड तुष्टिगुण के अन्तर्व्यक्तिक तुलना तथा आय वितरण के महत्त्वपूर्ण विषय की उपेक्षा करके सामाजिक कल्याण में वृद्धि अथवा कमी की बात करता है क्योंकि वह केवल उन परिस्थितियों पर विचार करता है जिनमें किसी व्यक्ति को हानि नहीं होती और परिणामस्वरूप आय-वितरण व तुष्टिगुण की अन्तर्व्यक्तिक तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता।"[1]

परेटो अनुकूलतम की अनिश्चितता (Indeterminacy of Pareto optimality)

परेटो अनुकूलतम विश्लेषण की एक और कमी यह है कि इसमें अधिकतम सामाजिक कल्याण के विश्लेषण में बड़ी अनिश्चितता रहती है। कारण यह है कि इस विश्लेषण में संविदा वक्र (contract curve) पर प्रत्येक बिन्दु परेटो मानदण्ड की दृष्टि से अनुकूल (optimal) है। उदाहरण के लिए रेखाचित्र 45.9 में संविदा वक्र CC' पर प्रत्येक बिन्दु जैसे कि Q, R, S आदि संविदा वक्र के बाहर किसी बिन्दु जैसे कि K की तुलना में परेटो दृष्टि से श्रेष्ठ (superior) है। जैसा कि उपर्युक्त विश्लेषण में समझाया गया है, किसी ऐसे नीति परिवर्तन और फलस्वरूप साधनों के पुनरावंटन जिससे संविदा वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक गति होने पर एक व्यक्ति को लाभ तथा दूसरे को हानि पहुंचती है। इसका अर्थ यह है कि परेटो मानदण्ड के आधार पर संविदा वक्र पर स्थित सामाजिक विकल्पों की परस्पर तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि संविदा वक्र पर गति से एक व्यक्ति
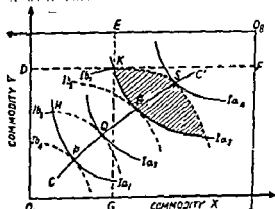
रेखाकृति 45.9 परेटो अनुकूलतम की अनिश्चितता

[1] "Pareto criterion works by side stepping the crucial issue of interpersonal comparison of utility and income distribution that is by dealing with those cases where no one is harmed so that the problem does not arise." —W. J. Baumol *Economic theory and operations analysis* 4th edition 1977, Prentice Hall p. 527

को लाभ और दूसरे को हानि होती है अर्थात् उनमे कल्याण अथवा आय का पुनर्वितरण होता है। इसलिए संविदा वक्र पर स्थित विभिन्न विकल्पो की तुलना और उनमे चयन तुष्टिगुणो की अन्तर्व्यक्ति तुलना और उचित आय वितरण के बारे मे नैतिक-निर्णयो (value judgements) के बिना नही किया जा सकता। परन्तु परेटो ने अर्थशास्त्रियो द्वारा ये नैतिक निर्णय लेना उचित नही समझा और एक वस्तुपरक (objective) अथवा *नैतिक निर्णयो से स्वतन्त्र सामाजिक कल्याण के मानदण्ड* प्रस्तुत करने की चेष्टा की। किन्तु परेटो विश्लेषण अपने मानदण्ड द्वारा किसी निश्चित अनुकूलतम पर पहुँचने मे असफल रहा है। इस मानदण्ड के आधार पर किसी नीति परिवर्तन अथवा आय के पुनर्वितरण के परिणाम स्वरूप बाहर के बिन्दु से उसके ऊपर स्थित बिन्दु पर जाने से सामाजिक कल्याण मे वृद्धि का होना सिद्ध किया जा सकता है परन्तु संविदा वक्र के ऊपर स्थित विभिन्न बिन्दुओं जो सभी परेटो दृष्टि से अनुकूलतम होते है मे चयन नही किया जा सकता। अत सामाजिक कल्याण के परेटो अनुकूलतम विश्लेषण मे बडी मात्रा मे अनिश्चितता (indeterminacy) पायी जाती है क्योकि ऐसे अनगिनत बिन्दु है जो परेटो की दृष्टि से अनुकूल है।

यह अनिश्चितता इसलिए है कि परेटो के विश्लेषण मे सामाजिक कल्याण मे वृद्धि केवल तब ही होती है जब एक व्यक्ति के कल्याण मे वृद्धि किसी दूसरे व्यक्ति के कल्याण मे कमी न हो। जैसा कि हम ऊपर बता आए है यह अनिश्चितता केवल तभी दूर की जा सकती है यदि हम नैतिक निर्णय (value judgements) लेने को तैयार हो।

परेटो अनुकूलतम के विश्लेषण मे वर्तमान आय वितरण का समर्थन (Acceptance of Prevailing Income Distribution)

परेटो अनुकूलतम विश्लेषण मे एक और त्रुटि यह है कि इसमे वर्तमान आय वितरण जो अधिक विषम है को उचित मान लिया गया है और अनुकूल आय वितरण (optimal income distribution) को मालूम करने की कोई कोशिश नही की गयी क्योकि इसके समर्थको के विचारानुसार कोई वस्तुपरक (*objective*) वैज्ञानिक तथा नैतिक मूल्यो से मुक्त (value-free) तरीका नही है। इस प्रकार अनुकूल आय वितरण ज्ञात करने का परेटो *अनुकूलतम का विश्लेषण आय वितरण के विषय मे या* तो चुप है या वर्तमान स्थिति (status quo) के पक्ष मे है। इसके अतिरिक्त परेटो विश्लेषण के आधार पर *वर्तमान आय वितरण* जिसके अन्तर्गत अधिकाश जनता निर्धन और थोडे से व्यक्ति धनी है को बनाये रखने का अनुमोदन किया जा सकता है। इस प्रकार प्रो० बामोल (Baumol) के अनुसार परेटो का दृष्टिकोण कल्याणवादी अर्थशास्त्रियो के पास आय वितरण के विषय पर ध्यान न देने के लिए एक बडा उपकरण है।'[1]

यह समझ लेना जरूरी है कि प्रत्येक आय वितरण की स्थिति के लिए अनेक परेटो अनुकूलतम बिन्दु होगे। रेखाचित्र 45.9 पर विचार कीजिए जिसमे बिन्दु K वर्तमान आय वितरण को व्यक्त करता है तो उसके अनुसार संविदा वक्र CC' के भाग RS पर स्थित सभी बिन्दु परेटो अनुकूलतम होगे। इसी प्रकार बिन्दु H द्वारा व्यक्त आय वितरण अथवा वस्तुओ के वितरण के अनुरूप संविदा वक्र CC' के भाग PQ पर स्थित बिन्दु परेटो अनुकूलतम होगे। अतएव विभिन्न आय वितरण के अनुसार परेटो अनुकूलतम बिन्दु भी अलग-अलग होगे। परेटो विश्लेषण मे कोई ऐसा तरीका नही है जिससे यह बताया जा सके कि आय वितरण का कौन-सा ढांचा अन्यो से श्रेष्ठ है।

अन्त मे यह बता देना आवश्यक है कि परेटो का मानदण्ड बिल्कुल निरर्थक (useless) नही है। यह इस लिए उपयोगी है कि यह "परेटो दृष्टि से गैर-अनुकूल विकल्पो को अलग कर देने से उस क्षेत्र को घटा देता है *जिसमे सर्वोत्तम विकल्पो की खोज हमे करनी है* और इस प्रकार यह एक प्रथम कदम के रूप मे उपयोगी है। कठिनाई तब होती है जब कोई इस प्रथम कदम से इतना मोहित हो जाता है कि वह आगे जाने का प्रयास ही नही करता। परन्तु इसे, परेटो मानदण्ड की त्रुटि नही

---

1 'Ultimately, the Pareto approach can be considered the welfare economist's instrument par excellence for the circumvention of the issue of income distribution "—Baumol, *op*, *cit*, p 503

46

पूर्ण प्रतियोगिता तथा परेटो अनुकूलतम
(PERFECT COMPETITION AND PARETO OPTIMALITY)

पिछले अध्याय मे हमने परेटो अनुकूलतम अथवा संसाधनों के अनुकूलतम आवण्टन की प्राप्ति के लिए आवश्यक शर्तों की व्याख्या की है। कई अर्थशास्त्रियों का दावा है कि पूर्ण प्रतियोगिता एक आदर्श मार्किट व्यवस्था है जिससे परेटो अनुकूलतम अथवा अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति होती है क्योंकि यह सभी आवश्यक सीमांत शर्तों को पूरा करती है। इस अध्याय में हम यह सिद्ध करेंगे कि किस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता परेटो अनुकूलतम के लिए आवश्यक सभी शर्तों को पूरा करती है। परेटो अनुकूलतम को प्राप्त करने में कौन सी बाधाएँ उपस्थित होती हैं, की भी व्याख्या इस अध्याय मे की जाएगी।

पूर्ण प्रतियोगिता तथा वस्तुओं का अनुकूलतम वितरण अर्थात् विनिमय की कुशलता (Perfect Competition and Optimal Distribution of Goods or *Efficiency* in Exchange)

विभिन्न उपभोक्ताओं में वस्तुओं के वितरण के विषय में परेटो अनुकूलतम की स्थिति प्राप्त करने की शर्त यह है कि किन्हीं दो उपभोक्ताओं की दो वस्तुओं X और Y में प्रतिस्थापन की सीमांत दर समान होनी चाहिए। कल्पना कीजिए A और B दो उपभोक्ता है जिनमें दो वस्तुओं X और Y का वितरण होना है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सभी उपभोक्ताओं के लिए वस्तुओं की कीमतें समान होती हैं। हम यह भी मान लेते है कि बजट सीमा के अन्तर्गत प्रत्येक उपभोक्ता अपनी सन्तुष्टि अधिकतम करने की चेष्टा करता है। दो वस्तुओं X तथा Y की कीमतें दी हुई होने पर उपभोक्ता A अपनी सन्तुष्टि को तब अधिकतम करेगा जबकि वह दो वस्तुओं की मात्राएँ खरीद रहा है जिसमें निम्न शर्त की पूर्ति होती है

$$MRS^{A}_{xy} = \frac{P_x}{P_y} \qquad (i)$$

इसी प्रकार उपभोक्ता B भी तब सन्तुलन में होगा अर्थात अपनी सन्तुष्टि अधिकतम करेगा जब

$$MRS^{B}_{xy} = \frac{P_x}{P_y} \qquad .. (ii)$$

चूंकि पूर्ण प्रतियोगिता की यह आवश्यक शर्त है कि दो वस्तुओं की कीमतें सभी उपभोक्ताओं के लिए समान होती है उपरोक्त समीकरण (i) और (ii) में उपभोक्ता A तथा B के लिए दो वस्तुओं की कीमतों का अनुपात $\left(\frac{P_x}{P_y}\right)$ समान होगा। अतएव उपरोक्त समीकरणों (i)

और (ii) से यह सिद्ध होता है कि पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था म उपभोक्ता A और B की दो वस्तुओ के मध्य प्रतिस्थापन की सीमात दर समान होगी । अर्थात्

$$MRS^A_{xy} = MRS^B_{xy}$$

यह निष्कर्ष सभी वस्तुओ तथा किन्ही दो उपभोक्ताओ के बीच वस्तुओ के वितरण पर लागू होगा ।

पूर्ण प्रतियोगिता तथा साधनों का अनुकूलतम आवण्टन (Perfect Competition and Optimal Allocation of Factors)

परेटो अनुकूलतम के लिए आवश्यक द्वितीय सीमात शत वस्तुओ के उत्पादन मे साधनो का अनुकूलतम आवटन है । इस शर्त के अनुसार साधनो के अनुकूलतम वितरण के लिए सभी उत्पादको के लिए दो साधनो (उदाहरणत श्रम और पूँजी) मे तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमात दर (marginal rate of technical substitution) समान होनी चाहिए । पूर्ण प्रतियोगिता इस शर्त की भी पूर्ति करती है । पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत काम करने वाले प्रत्येक उत्पादक के लिए साधनो की कीमतें दी हुई तथा स्थिर होती है और वह सतुलन मे तब होता है जब वह साधनो के उस सयोग का प्रयोग कर रहा होता है जिस पर कि समोत्पाद वक्र (Isoquant) सम-लागत वक्र (iso-cost) को स्पर्श करता है । यह भली भाति विदित है कि समोत्पाद वक्र की ढाल तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमात दर को व्यक्त करती है । अतएव पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कार्यशील उत्पादक सतुलन की अवस्था मे श्रम और पूँजी के बीच तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमात दर ($MRTS_{lk}$) इन साधनो के कीमत अनुपात के समान करेगा । अत पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत

$$MRT^I_{lk} = \frac{P_L}{P_k} \quad .(i)$$

जहाँ P_L और P_k क्रमश श्रम और पूँजी की कीमतो को व्यक्त करते है और $MRTS^I_{lk}$ उत्पादक I की श्रम और पूँजी की सीमात दर को व्यक्त करते हैं ।

इसी प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता मे कार्य कर रहा उत्पादक J भी सतुलन की दशा मे दो साधनो मे प्रतिस्थापन की सीमात दर को साधनो की कीमतो के अनुपात के बराबर करेगा । अतः

$$MRTS^J_{lk} = \frac{P_l}{P_k} \quad .. (ii)$$

चूँकि पूर्ण प्रतियोगिता मे सभी उत्पादको के लिए साधनो की कीमतें समान होती है प्रत्येक उत्पादक (श्रम तथा पूँजी) का इस प्रकार प्रयोग करेगा कि उनकी प्रतिस्थापन की सीमात दर इन साधनो की समान कीमत अनुपात के बराबर हो । दूसरे शब्दो मे, $\frac{P_l}{P_k}$ सभी उत्पादको के लिए समान होगा और सभी उत्पादक श्रम और पूँजी के बीच अपने-अपने प्रतिस्थापन की सीमात दर को इसके बराबर करेंगे । अतएव उपर्युक्त समीकरण (i) और (ii) से सिद्ध होता है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत

$$MRTS^I_{lk} = MRTS^K_{lk}$$

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्ण प्रतियोगिता विभिन्न उत्पादको के बीच वस्तु उत्पादन के लिए साधनो का अनुकूलतम आवण्टन सुनिश्चित करती है ।

पूर्ण प्रतियोगिता तथा अनुकूलतम विशिष्टीकरण (Perfect Competition and Optimum Degree of Specialisation)

अनुकूलतम विशिष्टीकरण से तात्पर्य यह है कि फर्मे (उत्पादक) कितनी कितनी मात्रा मे विभिन्न वस्तुओ का उत्पादन करें जिससे सामाजिक कल्याण अधिकतम हो । इसके लिए आवश्यक शर्त यह है कि किन्ही दो वस्तुओ मे रूपातरण की सीमात दर (marginal rate of transformation) उन दो वस्तुओ को उत्पादित करने वाली किन्ही दो फर्मो के लिए समान होनी चाहिए । मान लीजिए दो फर्में J और K हैं और वे दो वस्तुओ X और Y का उत्पादन कर रही हैं तो वस्तु उत्पादन मे विशिष्टीकरण के अश के विषय मे परेटो अनुकूलतम की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक होगा कि

$$MRT^J_{xy} = MRT^K_{xy}$$

जहाँ MRT_{xy} वस्तु X और Y के बीच सीमात रूपातरण की दर को व्यक्त करता है ।

पूर्ण प्रतियोगिता मे कार्यशील फर्म जो दो वस्तुएँ उत्पादित कर रही है अपने लाभ अधिकतम करने के लिए दो वस्तुओ X और Y के बीच रूपांतरण की सीमात दर

(MRT_{xy}) को उन वस्तुओं के कीमत अनुपात से बराबर करेंगे। एक बहु वस्तु उत्पादक फर्म सतुलन की अवस्था तब ग्रहण करती है जहा दिया हुआ रूपातरण वक्र सम-आय रेखा (iso-revenue line) को स्पर्श करता है। रूपातरण वक्र का सम-आय रेखा से स्पर्श होने की स्थिति मे अभिप्राय दो वस्तुओ के बीच रूपातरण की सीमात दर उनके कीमत अनुपात के बराबर होना है। पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सभी फर्मों के लिए वस्तुओ की कीमतें समान और स्थिर होती है अर्थात् कोई एक फर्म वस्तु की कीमत पर प्रभाव नही डाल सकती और उसे अपने लिए स्थिर समझ कर वस्तु उत्पादन की मात्रा निश्चित करती है। परिणामस्वरूप पूर्ण प्रतियोगिता मे कार्यरत प्रत्येक फर्म X और Y वस्तुओ का उत्पादन इतनी-इतनी मात्रा मे करेगी जिससे कि उनमे रूपातरण की सीमात दर उनकी दी हुई कीमतो के अनुपात के समान होगी। इससे पूर्ण प्रतियोगिता मे कार्यरत सभी फर्मों की दो वस्तुओं में रूपातरण की सीमात दर बराबर होगी।

ऊपर प्रयोग किए गए चिन्हो के रूप मे पूर्ण प्रतियोगिता मे कार्यरत फर्म J सतुलन मे होगी जब

$$MRT^{J}_{xy} = \frac{P_x}{P_y}$$

इसी प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता मे कार्यरत फर्म K भी सतुलन मे होगी जब

$$MRT^{K}_{xy} = \frac{P_x}{P_y}$$

चूकि वस्तुओं की कीमतो मे अनुपात $\left(\frac{P_x}{P_y}\right)$ दोनो फर्मों के लिए समान होगा, इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता मे

$$MRT^{J}_{xy} = MRT^{K}_{xy}$$

अत पूर्ण प्रतियोगिता मे विभिन्न फर्मों द्वारा वस्तु-उत्पादन मे विशिष्टीकरण का अश (degree of specialization in production of commodities) परेटो अनुकूलतम होगा।

पूर्ण प्रतियोगिता द्वारा अनुकूलतम विशिष्टीकरण एक और विधि से भी सिद्ध किया जा सकता है। जैसा कि भली-भाँति विदित है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे कार्यरत फर्म अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए वस्तु की सीमांत लागत को उसकी कीमत के बराबर करती है। चूकि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रत्येक पदार्थ के उत्पादन की सीमात लागत उसकी कीमत के समान की जायेगी, इसलिए दो वस्तुओ की सीमात लागतो का अनुपात उनकी कीमतो के अनुपात के बराबर होगा।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत सतुलन की अवस्था के लिए फर्म J के लिए

$$\frac{MC^{J}_{x}}{MC^{J}_{y}} = \frac{P_x}{P_y}$$

इसी प्रकार फर्म K की सतुलन की दशा मे,

$$\frac{MC^{K}_{x}}{MC^{K}_{y}} = \frac{P_x}{P_y}$$

चूकि पूर्ण प्रतियोगिता मे कार्यरत सभी फर्मों के लिए प्रत्येक वस्तु की कीमत समान होगी, इसलिए दो वस्तुओं की कीमतो का अनुपात सभी के लिए C समान होगा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे,

$$\frac{MC^{J}_{x}}{MC^{J}_{y}} = \frac{MC^{K}_{x}}{MC^{K}_{y}}$$

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दो वस्तुओं की उत्पादन लागतो का अनुपात उनमे रूपातरण की सीमात दर (MRT_{xy}) को व्यक्त करता है। अतएव पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत दो वस्तुओ मे रूपातरण की सीमात दर उनको उत्पादित करने वाली सभी फर्मों मे समान होगी। अर्थात्

$$MRT^{J}_{xy} = MRT^{K}_{xy}$$

अत पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्मों द्वारा अनुकूलतम विशिष्टीकरण होता है।

पूर्ण प्रतियोगिता तथा अनुकूलतम साधन-पदार्थ सम्बन्ध (Perfect Competition and Optimum Factor Product Relationship)

परेटो अनुकूलतम की प्राप्ति के लिए चौथी शर्त यह है कि किसी साधन और वस्तु के बीच रूपान्तरण की सीमान्त दर किन्ही दो फर्मों जो उस साधन के प्रयोग से वस्तु विशेष का उत्पादन करती हैं समान हो। एक साधन की किसी वस्तु मे रूपान्तरण की सीमान्त दर का अर्थ उस साधन

का वस्तु विशेष मे सीमान्त भौतिक उत्पादन (marginal *physical product*) है। इसलिए इस शर्त के अनुसार परेटो अनुकूलतम के लिए किसी साधन का सीमात भौतिक उत्पादन उन सभी फर्मों जो उस साधन का प्रयोग किसी वस्तु उत्पादन के लिए करती है समान हो। पूर्ण प्रतियोगिता इस शर्त की भी पूर्ति करती है। सन्तुलन की अवस्था म साधन मार्किट मे पूर्ण प्रतियोगिता की एक फर्म एक साधन का उतनी मात्रा म प्रयोग करती है जिससे साधन की कीमत उसक सीमात उत्पादन मूल्य (value of marginal product) के बराबर हो। साधन के सीमान्त उत्पादन मूल्य (VMP) का अर्थ है उसके सीमात भौतिक उत्पादन (M/P) से वस्तु की कीमत (P_x) का गुणा। इस प्रकार

साधन का $VMP = MP \cdot P_x$

उपर्युक्त विश्लेषण मे यह सिद्ध होता है कि पूर्ण प्रतियोगिता म एक फर्म की सन्तुलन अवस्था म

$$P_f = VMP^J{}_f = MP^J{}_f P_x$$

$$\frac{P_f}{P_x} = MP^J{}_f \qquad ..(i)$$

इसी प्रकार फर्म K की सतुलन अवस्था म

$$P_f = VMP^K{}_f \quad MP^K{}_f P_x$$

$$\frac{P_f}{P_x} = MP^K{}_f \qquad ...(ii)$$

साधन तथा पदार्थ मार्किटो म पूर्ण प्रतियोगिता की दशा मे प्रत्येक फर्म के लिए साधन तथा पदार्थ की कीमतें समान होने के कारण उपर्युक्त समीकरणो i और (ii) से यह सिद्ध होता है

$$MP^J{}_f = MP^K{}_f$$

अर्थात् किसी साधन का सीमात भौतिक उत्पादन एक वस्तु का उत्पादन करने वाली दोनो फर्मों मे बराबर होगा। यही निष्कर्ष पूर्ण प्रतियोगिता मे कार्यरत किन्ही दो फर्मों की दशा म लागू होगा।

पूर्ण प्रतियोगिता तथा उत्पादन का अनुकूलतम निर्देशन सामान्य आर्थिक क्षमता (Perfect Competition and Optimum Direction of Production General Economic Efficiency)

अधिकतम सामाजिक कल्याण अथवा परेटो अनुकूलतम की प्राप्ति के लिए सबसे महत्वपूर्ण शर्त उत्पादन के *अनुकूलतम निर्देशन अर्थात उत्पादन की अनुकूलतम संरचना* (optimum composition or pattern of production) के विषय मे है। दूसरे शब्दो मे, विभिन्न वस्तुओ का कितनी कितनी मात्रा मे उत्पादन किया जाय और फलस्वरूप उनमे साधनो का आबण्टन किस प्रकार हो कि कुल सामाजिक कल्याण अधिकतम हो। अतएव यह साधनो के अनुकूलतम आबण्टन (optimum allocation of factors) जिसे सामान्य आर्थिक कुशलता (General economic efficency) भी कहते है की शर्त है। इसकी पूर्ति तब होती ह जबकि प्रत्येक उपभोक्ता की दो वस्तुओ मे प्रतिस्थापन की सीमात दर समाज के लिए उन दो वस्तुओ की रूपातरण की सीमात दर के बराबर होती है।

पूर्ण प्रतियोगिता मे प्रत्येक फर्म सतुलन की अवस्था मे वस्तु की उतनी मात्रा का उत्पादन करती है जिसमे उसकी सीमात लागत वस्तु की कीमत के समान होती है। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगी फर्म के लिए,

$$MC_x = P_x$$
$$MC_y = P_y$$

जहाँ MC_x तथा MC_y क्रमश वस्तु X और Y की सीमान्त लागत तथा P_x तथा P_y उन वस्तुओ की कीमता को व्यक्त करत है। इसस यह सिद्ध होता है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे कार्यरत फर्में वस्तुओं की उतनी-उतनी मात्राओ का उत्पादन करेंगी ताकि

$$\frac{MC_x}{MC_y} = \frac{P_x}{P_y}$$

चूँकि दो वस्तुओ की सीमात लागतो का अनुपात MC_x/MC_y उन वस्तुओ म रूपातरण की सीमात दर को व्यक्त करता है, इस लिए पूर्ण प्रतियोगिता के लिए हमे निम्न शर्त प्राप्त होती है

$$MRT_{xy} = \frac{MC_x}{MC_y} = \frac{P_x}{P_y} \qquad (i)$$

जब वस्तुओ के उपभोक्ताओ अथवा क्रेताओ म भी पूर्ण प्रतियोगिता पायी जाती है तो प्रत्येक उपभोक्ता अपनी सतुष्टि को अधिकतम करेगा अर्थात् सन्तुलन की

अवस्था म होगा जहाँ दी हुई कीमत रेखा अनधिमान वक्र को स्पर्श करती है। दूसरे शब्दो मे, सन्तुलन की अवस्था मे प्रत्येक उपभोक्ता के लिए

$$MRS_{xy} = \frac{P_x}{P_y} \qquad (\ )$$

पूर्ण प्रतियोगिता मे दो वस्तुओ की कीमतो का अनुपात उपभोक्ताओ तथा उत्पादको के लिए समान होने के कारण उपरोक्त समीकरणो (i) और (ii) से यह निष्कर्ष निकलता है कि

$$MRS_{xy} = MRT_x$$

यह दशा पूर्ण प्रतियोगिता म अन्य वस्तुओ के उत्पादन व उपभोग पर लागू होती है। इस प्रकार हम देखते है कि पूर्ण प्रतियोगिता परेटो दृष्टि से अनुकूलतम उत्पादन की दिशा अथवा ढांचे के लिए आवश्यक शर्तों की भी पूर्ति करती है। इसे रेखाकृति 46 1 मे प्रदर्शित किया गया है जिसमे AB वक्र समाज का उत्पादन सम्भावना वक्र (रूपान्तरण वक्र) है और IC_1 तथा IC_2 समाज के
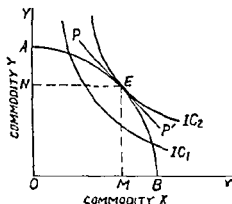
रेखाकृति 46 1 पूर्ण प्रतियोगिता तथा उत्पादन का अनुकूलतम हल

अनधिमान वक्र हैं। PP रेखा दो वस्तुओ X और Y की दी हुई कीमतो को व्यक्त करती है। समाज के उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए बिन्दु E पर सन्तुलन म होगे जहाँ पर दी हुई कीमत रेखा PP सामाजिक अनधिमान वक्र IC_2 को स्पर्श कर रही है। अत इस स्पर्श बिन्दु पर,

$$MRS_{xy} = \frac{P_x}{P_y} \qquad ..\ (i)$$

दूसरी ओर समाज के उत्पादक अपने लाभ अधिकतम करेंगे जहाँ पर रूपान्तरण वक्र दी हुई कीमत रेखा को स्पर्श करता है। रेखाकृति से स्पष्ट है कि यह बिन्दु E है और इस स्पर्श बिन्दु पर

$$MRT_{xy} = \frac{P_x}{P_y} \qquad .\ (ii)$$

उपर्युक्त समीकरण (i) और (ii) से यह निष्कर्ष निकलता है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे,

$$MRS_{xy} = MRT_{xy}$$

अत पूर्ण प्रतियोगिता म उत्पादन का निदेशन अनुकूलतम होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के अनुसार ही यह सुगमतापूर्वक सिद्ध किया जा सकता है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे किसी साधन के समय के अनुकूलतम वितरण तथा पूँजी के अन्तकालीन अनुकूलतम वितरण के लिए आवश्यक शर्तों की भी पूर्ति होती है। इस प्रकार हम देखते है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे परेटो अनुकूलतम अथवा अधिकतम सामाजिक कल्याण के लिए आवश्यक प्रथम क्रम की सभी सीमान्त शर्तों की पूर्ति होती है। इसलिए प्राय यह दावा किया जाता है कि पूर्ण प्रतियोगिता एव आदर्श मार्किट व्यवस्था है जिसमे अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति होती है।

पूर्ण प्रतियोगिता से सर्वद परेटो अनुकूलतम अथवा अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति नहीं होती (Perfect Competition does not always ensure Pareto optimality)

यह स्मरण रहे कि पूर्ण प्रतियोगिता से सभी अवस्थाओ मे परेटो अनुकूलतम की प्राप्ति नही होती। प्रथम, पूर्ण प्रतियोगिता यह सुनिश्चित नही करती कि परेटो अनुकूलतम के लिए आवश्यक द्वितीय क्रम की शर्तों (second order conditions) की भी पूर्ति होगी। यदि द्वितीय क्रम की शर्तें पूरी नही होती तो प्रथम क्रम

अधिकतम नही होगा यदि उपर्युक्त चार दशाओ मे कोई भी अनुपस्थित हो।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आजकल की मुक्त निजी उद्यम अथवा पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओ मे पूर्ण प्रतियोगिता सामान्य दशा होने के बजाय एक अपवाद मात्र है। वास्तव मे वर्तमान पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओ मे एकाधिकार, अल्पाधिकार तथा एकाधिकारिक प्रतियोगिता की मार्किट व्यवस्थाए ही प्रचलित हैं। जैसाकि हम अगले अध्याय मे पढ़ेंगे ये मार्किट व्यवस्थाएँ परेटो अनुकूलतम अथवा अधिकतम सामाजिक कल्याण को प्राप्त करने मे बाधा उपस्थित करती हैं।

47

नवीन कल्याणकारी अर्थशास्त्र : क्षतिपूर्ति सिद्धान्त
(NEW WELFARE ECONOMICS COMPENSATION PRINCIPLE)

नवीन कल्याणकारी अर्थशास्त्र की नींव परेटो ने अपने सामान्य (या सामाजिक) अनुकूलतम के विचार को प्रस्तुत करके डाल दी थी जो उपयोगिता के क्रमवाचक विचार तथा अन्तर्वैयक्तिक तुलना की असम्भाव्यता (impossibility) के विचार पर आधारित था। इस प्रकार परेटो ने मूल्यगत निर्णयों से स्वतन्त्र (value free) कल्याण मे वृद्धि का वस्तुपरक मानदण्ड प्रस्तुत किया जिसके द्वारा उन्होंने स्पष्ट किया कि कोई नीति परिवर्तन जो समाज के एक व्यक्ति को कोई हानि नहीं पहुँचाता तथा समाज के किसी अन्य व्यक्ति की स्थिति मे सुधार करता है अर्थात् कल्याण मे वृद्धि करता है तो वह सामाजिक कल्याण मे वृद्धि को प्रदर्शित करता है। किन्तु परेटो मानदण्ड ऐसी परिस्थितियों मे समाज के कल्याण म परिवर्तन को माप करने मे असमर्थ है जिसके अन्तर्गत किसी नीति परिवर्तन से समाज के एक वर्ग को हानि तथा दूसरे वर्ग को लाभ होता है। ऐसी दशा म सामाजिक कल्याण मे वृद्धि अथवा कमी को परेटो के मानदण्ड द्वारा ज्ञात नहीं किया जा सकता।

'क्षतिपूर्ति सिद्धान्त' (Compensation Principle) उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर से ही सम्बन्धित कॅल्डर-हिक्स तथा सिटोवस्की आदि ने अनेक मानदण्ड प्रस्तुत किए हैं जिसके द्वारा सामाजिक कल्याण में विशुद्ध वृद्धि अथवा कमी को ज्ञात किया जा सकता है।

क्षतिपूर्ति सिद्धान्त निम्न मान्यताओं पर आधारित है : 1. एक व्यक्ति की रुचियाँ स्थिर रहती हैं तथा उत्पादन एवं उपभोग में बाह्य प्रभाव अनुपस्थित रहते हैं। 2. कल्याण की अन्तर्वैयक्तिक तुलना को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। 3. एक व्यक्ति अपने कल्याण का सर्वश्रेष्ठ निर्णायक होता है। इस प्रकार इस मान्यता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण एक दूसरे से स्वतन्त्र रहता है। 4. यद्यपि सामाजिक कल्याण उत्पादन तथा वितरण के स्तर पर निर्भर करता है किन्तु क्षतिपूरक विधि केवल उत्पादन के स्तर के सामाजिक कल्याण पर प्रभाव को स्वीकार करती है अर्थात् 'सामाजिक कल्याण का स्तर' उत्पादन के स्तर पर निर्भर करता है।

उपर्युक्त मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए कॅल्डर-हिक्स तथा सिटोवस्की ने 'क्षतिपूरक भुगतान' का विचार देकर आर्थिक कल्याण या सामाजिक कल्याण का वस्तुपरक मानदण्ड प्रस्तुत करने का दावा किया है

तथा उनका विचार है कि मूल्यगत निर्णयों से स्वतन्त्र मानदण्ड वैज्ञानिक हैं।

अब हम विभिन्न मानदण्डों की व्याख्या करेंगे।

1 कैल्डर का मानदण्ड (Kaldor's Criterion)

प्रो० कैल्डर सर्वप्रथम अर्थशास्त्री थे जिन्होंने क्षतिपूरक भुगतान पर आधारित सामाजिक कल्याण के माप का मानदण्ड प्रस्तुत किया। यह मानदण्ड एजवर्थ बाउले बॉक्स रेखाकृति (Edgeworth Bowley Box Diagram) के शब्दों में किसी प्रसंविदा वक्र (contract curve) पर ऊपर अथवा नीचे चलने पर सामाजिक कल्याण की विशुद्ध वृद्धि अथवा कमी की व्याख्या करता है। कैल्डर के मानदण्ड को निम्न शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है "एक परिवर्तन सुधार होता है यदि वे, जो लाभान्वित होते हैं, क्षतिग्रस्त व्यक्तियों द्वारा अपनी हानियों के निर्धारित मूल्य की अपेक्षा अपने लाभों को अधिक ऊँची संख्या पर मूल्यांकित करते हैं।"[1] साधारण शब्दों में, किसी नीति परिवर्तन से यदि समाज के एक वर्ग को हानि तथा दूसरे वर्ग को लाभ होता है तो ऐसी दशा में यदि लाभ प्राप्त करने वाला वर्ग अपने लाभों का मूल्यांकन, हानि सहन करनेवाले वर्ग की हानि की अपेक्षा अधिक करता है तो यह सामाजिक कल्याण में वृद्धि को प्रदर्शित करता है।

कैल्डर ने अपने मानदण्ड को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है, 'सभी परिस्थितियों में ''जहाँ एक निश्चित नीति भौतिक उत्पादकता और इस प्रकार समग्र वास्तविक आय में वृद्धि करती है, सभी व्यक्तियों को पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर या किसी हद तक बिना किसी की दशा हीनतर (worse off) किये कुछ लोगों को श्रेष्ठतर बनाना सम्भव होता है। यह प्रदर्शित करना ···· पर्याप्त है कि यदि उन सभी व्यक्तियों को ··· जो क्षतिग्रस्त होते हैं, उनकी क्षति की पूर्णतया पूर्ति कर दी जाती है तो भी शेष समुदाय पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर होगा।"[2] कैल्डर के इस मानदण्ड को उपयोगिता सम्भावना वक्र (Utility Possibility Curve) द्वारा सरलतापूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है। रेखाकृति 47.1 में X तथा Y अक्षों पर क्रमश: A तथा B व्यक्ति की उपयोगिताओं को क्रमवाचक रूप में प्रदर्शित किया गया है। DE एक उपयोगिता
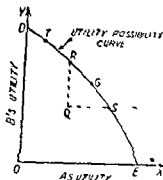
रेखाकृति 47·1

सम्भावना वक्र है जो, वस्तुओं तथा सेवाओं के एक निश्चित समूह (bundle) के दोनों व्यक्तियों A तथा B के मध्य वितरण के परिणामस्वरूप उन्हें प्राप्त होने वाली व्यक्तिगत उपयोगिताओं के विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार DE वक्र दोनों व्यक्तियों के उन विभिन्न उपयोगिताओं के संयोगों को प्रदर्शित करता है जो वस्तुओं तथा सेवाओं के एक निश्चित समूह के पुनर्वितरण (redistribution) के परिणामस्वरूप प्राप्त होती हैं।

कल्पना कीजिए कि वस्तु के एक निश्चित वितरण से प्राप्त होने वाली दोनों व्यक्तियों की उपयोगिताएँ

1. "A change is in improvement if those who gain evaluate their gains at a higher figure than the value which the losers set upon their losses."
—W. J. Baumol

1. "In all cases · · · where a certain policy leads to an increase in physical productivity, and thus of aggregate real income ·····It is possible to make every body better off without making any body worse off. It is Quite sufficient · ··to show that even if all those who suffer as a result are fully compensated for their loss, the rest of the community will still be better off than before."
—Kaldor

Q बिंदु द्वारा व्यक्त है। यदि वस्तु तथा सेवा का पुनर्वितरण किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप A व्यक्ति द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं की कुछ मात्रा को B व्यक्ति को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। अतः B व्यक्ति की उपयोगिता में वृद्धि तथा A व्यक्ति की उपयोगिता में कमी हो जाती है। रेखाकृति 47 1 में Q बिंदु से R बिंदु की ओर चलन (movement) इसी स्थिति को प्रदर्शित करता है। रेखाकृति 47 1 में Q बिंदु से R S अथवा RS के किसी बिंदु पर चलन को परेटो के मानदण्ड के अनुसार मूल्यांकित किया जा सकता है क्योंकि Q से R अथवा S अथवा G पर जाने पर बिना दूसरे की उपयोगिता में कमी हुए एक की उपयोगिता में वृद्धि होती है अथवा दोनों की उपयोगिता में वृद्धि होती है। अतः परेटो के मानदण्ड के अनुसार Q बिंदु से R, S अथवा G को चलन कल्याण में वृद्धि को प्रदर्शित करता है।

किन्तु Q बिंदु से T बिंदु पर चलन को परेटो के मानदण्ड के अनुसार मूल्यांकित नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसा होने पर B व्यक्ति की क्रमवाचक उपयोगिता में वृद्धि तथा A व्यक्ति की उपयोगिता में कमी हो जाती है। DE उपयोगिता सम्भावना वक्र T बिंदु से होकर भी जाता है जिसका अर्थ है कि वस्तुओं तथा सेवाओं के वितरण से प्राप्त दोनों व्यक्तियों की उपयोगिताओं, जिसे T बिंदु द्वारा प्रदर्शित किया गया है, को पुनर्वितरित करके R, G, S उपयोगिता संयोगों को प्राप्त किया जा सकता है। R, G, S संयोग A बिंदु की अपेक्षा निश्चित रूप से सामाजिक कल्याण में वृद्धि (परेटो के मानदण्ड के अनुसार) को प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार Q बिंदु से T बिंदु की ओर चलन कल्याण में वृद्धि को प्रदर्शित करता है क्योंकि T बिंदु पर प्राप्त वस्तुओं तथा सेवाओं को दोनों व्यक्तियों में इस प्रकार वितरित किया जाना सम्भव है कि किसी व्यक्ति की उपयोगिता Q बिंदु द्वारा प्रदर्शित उपयोगिता के स्तर से कम नहीं होती है।

T बिन्दु से R बिन्दु पर तथा निश्चित रूप से G बिंदु पर A व्यक्ति की उपयोगिता की हानि की क्षतिपूर्ति कर दी गयी है अर्थात B व्यक्ति अपनी उपयोगिता में लाभ को A व्यक्ति की उपयोगिता में हानि की अपेक्षा अधिक मूल्यांकित करता है जो कैल्डर के मानदण्ड के अनुसार सामाजिक कल्याण में वृद्धि है। इस प्रकार कैल्डर के अनुसार Q बिन्दु से T बिन्दु की ओर चलन केवल तभी सुधार होता है यदि Q बिन्दु T बिन्दु से होकर गुजरने वाले उपयोगिता सम्भावना वक्र के नीचे होता है।

कैल्डर के कल्याणकारी मानदण्ड के अनुसार जब किसी नीति परिवर्तन के फलस्वरूप उपयोगिता सम्भावना वक्र ऊपर को विवर्तित हो जाता है तो यह एक सुधार (improvement) होगा अर्थात इससे सामाजिक कल्याण में वृद्धि होगी। रेखाकृति 47 2 पर विचार
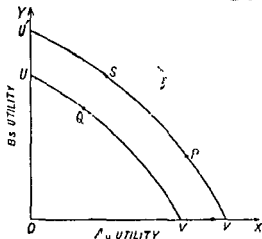
रेखाकृति 47 2

कीजिए। इसमें प्रारम्भ में उपयोगिता सम्भावना वक्र UV है जिसके बिन्दु Q पर व्यवस्था सन्तुलन में है। अब कल्पना कीजिए कि किसी नीति परिवर्तन के कारण उपयोगिता सम्भावना वक्र ऊपर की ओर विवर्तित होकर $U'V'$ हो जाता है जिसकी सन्तुलन अवस्था अब बिन्दु R पर आ गई है। बिन्दु R पर बिन्दु Q की तुलना में A का तुष्टिगुण (utility) अधिक है जबकि B का तुष्टिगुण कम है। किन्तु निचले उपयोगिता सम्भावना वक्र UV के बिन्दु Q से ऊपर के उपयोगिता सम्भावना वक्र $U'V'$ के बिन्दु R को चलन कैल्डर हिक्स मानदण्ड की दृष्टि से सामाजिक कल्याण में वृद्धि

करेगा। कारण यह कि बिन्दु R से केवल पुनर्वितरण द्वारा ऐसे बिन्दु जैसे कि S तक पहुचा जा सकता है जो कि निश्चय ही Q की तुलना में श्रेष्ठतर है अर्थात् पुनर्वितरण द्वारा हम R स किसी अन्य बिन्दु तक पहुँच सकते है जिस पर या तो Q की तुलना मे दोनो व्यक्तियो का तुष्टिगुण (उपयोगिता) अधिक है या एक व्यक्ति का अधिक है जबकि दूसरे व्यक्ति का Q बिन्दु पर प्राप्त तुष्टिगुण के बराबर है। अत अर्थव्यवस्था का बिन्दु Q से बिन्दु R तक की चलन कैल्डर हिक्स मानदण्ड के अनुसार सामाजिक कल्याण की दृष्टि से सुधार है।

2 हिक्स का मानदण्ड (Hicks' Criterion)

जे० आर० हिक्स ने भी कैल्डर के मानदण्ड के समान ही अन्य शब्दो मे अपना मानदण्ड प्रस्तुत किया है जिसके द्वारा असविदा वक्र पर चलन के परिणामस्वरूप सामाजिक कल्याण में परिवर्तन को मापा जा सकता है। हिक्स ने अपने मानदड को निम्न शब्दो मे व्यक्त किया है 'यदि परिवर्तन द्वारा A को इतना अधिक श्रेष्ठतर बना दिया गया है कि वह B पूर्ति की क्षति की कर सके तथा फिर भी उसके पास कुछ अतिरेक शेष रह जाता है तो पुनर्व्यवस्था (reorganisation) सुस्पष्ट रूप से सुधार है।'[1] साधारण शब्दो म, 'कोई परिवर्तन तब सुधार अर्थात् सामाजिक कल्याण म वृद्धि करता है जबकि परिवर्तित स्थिति म क्षतिग्रस्त (losers) व्यक्ति, लाभान्वित (gainers) व्यक्तियो को मौलिक स्थिति म परिवर्तन न होने के लिए घूस देकर (bribe) भी प्रेरित करने म समर्थ नही होते है।'[2]

इस प्रकार हिक्स के इस मानदण्ड से भी स्पष्ट है कि यदि किसी परिवर्तन से जिन व्यक्तियो को लाभ होता है, व क्षतिग्रस्त व्यक्तियो की हानि की क्षतिपूर्ति करने के पश्चात् भी पहले की अपेक्षा श्रेष्ठतर दशा मे रहते है तो यह सामाजिक कल्याण में वृद्धि को प्रदर्शित करता है। यह तब सम्भव होगा जब किसी नीति परिवर्तन से लाभान्वित व्यक्तियो द्वारा प्राप्त किया जाने वाला लाभ हानिग्रस्त व्यक्तियो की हानि की अपेक्षा अधिक है। ऐसी दशा मे ही लाभान्वित व्यक्ति लाभप्रद रूप से (profitably) क्षतिग्रस्त व्यक्तियों की क्षतिपूर्ति कर सकते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कैल्डर तथा हिक्स के मानदण्डो मे केवल शब्दावली का अन्तर है।

हिक्स के मानदण्ड को भी रेखाकृति 46.1 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इस रेखाकृति के रूप म यदि Q बिन्दु से T बिन्दु को कोई परिवर्तन होता है तो A व्यक्ति की उपयोगिता मे कमी तथा B व्यक्ति की उपयोगिता मे वृद्धि होती है। रेखाकृति से स्पष्ट है कि क्षतिग्रस्त A की उपयोगिता मे कमी लाभान्वित व्यक्ति B की उपयोगिता म वृद्धि की अपेक्षा कम है क्योकि A व्यक्ति, B व्यक्ति को मौलिक स्थिति से परिवर्तन न करने के लिए प्रेरित करने म समर्थ न हो सकेगा क्योकि परिवर्तित स्थिति से B व्यक्ति की उपयोगिता मे वृद्धि, A व्यक्ति की उपयोगिता मे सम्भावित हानि की अपेक्षा अधिक है।

इस प्रकार कैल्डर हिक्स ने एजवर्थ बाउले बाक्स रेखाकृति के रूप म असविदा वक्र पर चलन के परिणामस्वरूप सभावित सामाजिक कल्याण म परिवर्तन (changes in potential welfare) की व्याख्या की है। कैल्डर ने मुख्यतया लाभान्वित व्यक्तियो (gainers) के दृष्टिकोण से तथा हिक्स न हानिग्रस्त (losers) व्यक्तियो के दृष्टिकोण म सभावित कल्याण मे परिवर्तन की व्याख्या की। यही कारण स्पष्ट है कि सामान्यतया उपयुक्त दोनो मानदण्डो को सम्मिलित रूप मे कैल्डर हिक्स मानदण्ड के नाम से जाना जाता है। कैल्डर हिक्स मानदण्ड की अनेक दृष्टिकोणो स आलोचना की गई है जो निम्न प्रकार है—

सिटोवस्की का दोहरा मानदण्ड (Scitovsky's Double Criterion)

6 टी० सिटोवस्की (T Scitovsky) का विचार है

---

1 'If A is made so much better off by the change that he could compensate B for his loss, and still have something left over, then the reorganisation is unequivocal improvement" —J R Hicks

2 'A change is an improvement if the losers in the changed situation are not able to persuade the gainers not to change from the original situation' —Hicks J R

कि कैल्डर हिक्स मानदंड में आन्तरिक विरोध (inner contradiction) है क्योंकि इस मानदण्ड के अनुसार यह सम्भव है कि यदि A स्थिति B स्थिति की अपेक्षा अधिक सामाजिक कल्याण को व्यक्त करती है तो वही मानदंड यह स्पष्ट कर सकता है कि A स्थिति में पुनः B स्थिति को परिवर्तन भी अधिक सामाजिक कल्याण प्रदर्शित करता है। इस प्रकार एक समय A स्थिति B स्थिति की अपेक्षा श्रेष्ठ है तथा किसी अन्य समय में B स्थिति, A स्थिति की अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध होती है, जिसे वास्तव में अपेक्षाकृत हीन (worse off) होना चाहिए। अतः कैल्डर हिक्स मानदण्ड में आन्तरिक विरोध (inner contradiction) है। चूंकि इसका स्पष्टीकरण टी० सिटोवस्की ने किया अतः इसे सिटोवस्की विरोधाभास (Scitovsky Paradox) कहा जाता है। इसी प्रकार चूंकि एक स्थिति को उल्टा (reverse) करके भी सामाजिक कल्याण में परिवर्तन को ज्ञात किया जाता है अतः इसे 'विपरीत परीक्षण' (Reversal Test) कहा जाता है।

सिटोवस्की विरोधाभास की उपयोगिता सम्भावना वक्र (utility possibility curve) द्वारा सरलतापूर्वक व्याख्या की जा सकती है। रेखाकृति 47 3 में GH तथा JK दो उपयोगिता सम्भावना वक्र हैं। कैल्डर हिक्स मानदण्ड के आधार पर स्थिति C स्थिति D की अपेक्षा अधिक सामाजिक कल्याण को व्यक्त करती है क्योंकि D स्थिति, C बिन्दु से होकर जाने वाले उपयोगिता सम्भावना वक्र JK के नीचे स्थित है। किन्तु कैल्डर-हिक्स मानदण्ड से ही यह सिद्ध किया जा सकता है कि स्थिति D, स्थिति C की अपेक्षा श्रेष्ठ है क्योंकि D बिन्दु से होकर जाने वाली उपयोगिता सम्भावना रेखा पर ही एक बिन्दु F स्थित है जो निश्चित रूप से C स्थिति की अपेक्षा अधिक सामाजिक कल्याण प्रदर्शित करता है क्योंकि F बिन्दु C की अपेक्षा दोनों व्यक्तियों की उपयोगिता में वृद्धि को प्रदर्शित करता है। अतः स्थिति D भी स्थिति C की अपेक्षा अधिक सामाजिक कल्याण को व्यक्त करती है क्योंकि C बिन्दु D, F बिन्दुओं से होकर जाने वाले GH वक्र के नीचे स्थित है।

अतः स्पष्ट है कि कैल्डर हिक्स मानदण्ड से एक बार D की अपेक्षा C स्थिति श्रेष्ठ तथा दूसरी बार C की अपेक्षा D श्रेष्ठ है जो असंगत (inconsistent) निष्कर्ष है। इसे ही सिटोवस्की विरोधाभास (Scitovsky Paradox) कहा जाता है। इस विरोधाभास को दूर करने के उद्देश्य से सिटोवस्की ने अपना दोहरा मानदण्ड प्रस्तुत किया।

रेखाकृति 47 3
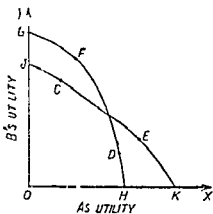
कैल्डर हिक्स मानदण्ड की असंगति (inconsistency) को दूर करने के लिए सिटोवस्की ने दोहरा मानदंड प्रस्तुत किया जिसके अन्तर्गत कैल्डर हिक्स के मौलिक मानदण्ड की पूर्ति तथा विपरीत परीक्षण (reversal test) की पूर्ति न होने की आवश्यकता है। सिटोवस्की की इस दोहरे मानदण्ड की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है "कोई परिवर्तन सुधार होता है यदि परिवर्तित स्थिति से लाभान्वित व्यक्ति (gainers) परिवर्तित स्थिति को स्वीकार करने के लिए क्षतिग्रस्त व्यक्तियों (losers) को प्रेरित करने में समर्थ हैं तथा साथ ही क्षतिग्रस्त व्यक्ति लाभान्वित व्यक्तियों को मौलिक स्थिति में

बने रहने के लिए प्रेरित करने में असमर्थ है।"[1] यही कारण है कि यह मानदंड 'सिटोवस्की का दोहरा मानदण्ड' के नाम से जाना जाता है। साधारण शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि यदि B स्थिति A की अपेक्षा श्रेष्ठ है तो उसी मानदण्ड के द्वारा B स्थिति से A स्थिति को पुन परिवर्तन श्रेष्ठ नहीं है।

सिटोवस्की के मानदण्ड को रेखाकृति द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। रेखाकृति 47 4 में CD तथा EF दो उपयोगिता सम्भावना वक्र हैं जो एक दूसरे का कहीं भी प्रतिच्छेद (intersection) नहीं
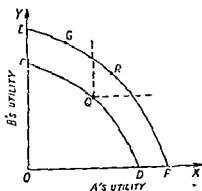
रेखाकृति 47 4

करते हैं। ऐसी दशा में Q से G बिन्दु को परिवर्तन कैल्डर हिक्स के मानदण्ड के अनुसार सुधार है अर्थात् सामाजिक कल्याण में वृद्धि को व्यक्त करता है क्योंकि G बिन्दु ऐसी उपयोगिता सम्भावना वक्र पर स्थित है जो R बिन्दु से होकर जाता है। R बिन्दु वस्तु तथा सेवा के एक निश्चित समूह के पुनर्वितरण से प्राप्त उपयोगिता के संयोग को व्यक्त करता है जहाँ पर Q की अपेक्षा दोनों व्यक्तियों को अधिक उपयोगिता प्राप्त होती है। इसके विपरीत G बिन्दु से Q बिन्दु को परिवर्तन सुधार नहीं है क्योंकि वह R बिन्दु की अपेक्षा दोनों व्यक्तियों की कम उपयोगिता का संयोग है तथा G एवं R प्रदत्त वस्तुओं तथा सेवाओं के भिन्न-भिन्न वितरण से प्राप्त उपयोगिता के संयोग प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार कैल्डर-हिक्स मानदण्ड की पूर्ति हो जाती है तथा साथ ही विपरीत परीक्षण (reversal test) की पूर्ति नहीं होती है।

यद्यपि सिटोवस्की ने कैल्डर-हिक्स की अपेक्षा श्रेष्ठ मानदण्ड प्रस्तुत किया जो कैल्डर तथा हिक्स द्वारा प्रस्तुत मानदण्डों पर ही आधारित है किन्तु इसकी भी अनेक आलोचनाएँ की जाती हैं।

कैल्डर-हिक्स के कल्याणकारी मानदण्ड (क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त) की आलोचनात्मक समीक्षा (Critical Evaluation of Kaldor-Hicks Welfare Criteria or Compensation Principle)

कैल्डर, हिक्स तथा सिटोवस्की द्वारा प्रतिपादित क्षतिपूर्ति सिद्धान्त कल्याणकारी अर्थशास्त्र में सन् 1939 से लेकर अब तक बड़े वाद विवाद का प्रश्न रहा है। सर्वप्रथम कैल्डर ने अन्तर्वैयक्तिक तुष्टिगुण की तुलना के बिना क्षतिपूर्ति सिद्धान्त द्वारा उस दशा में सामाजिक कल्याण में वृद्धि अथवा कमी जानने का मानदण्ड प्रस्तुत किया। सन् 1940 में हिक्स ने इसका समर्थन किया यद्यपि उन्होंने क्षतिपूर्ति सिद्धान्त को कुछ भिन्न शब्दों में व्यक्त किया। सिटोवस्की ने क्षतिपूर्ति पर आधारित अपने दोहरे मानदण्ड के प्रतिपादन द्वारा कैल्डर हिक्स के कल्याणकारी मानदण्ड पर सुधार किया। क्षतिपूर्ति पर आधारित कल्याणकारी मानदण्ड (Welfare Criteria) के प्रतिपादकों का दावा है कि वे क्रमवाचक तुष्टिगुण (Ordinal utility) की अवधारणा पर आधारित तथा नैतिक मूल्यों (Value judgements) से मुक्त कल्याणकारी मानदण्ड विकसित करने में सफल हुए हैं। किन्तु क्षतिपूर्ति सिद्धान्त की भी कड़ी आलोचना की गई है।

1 यह कल्याण का मानदण्ड नहीं (This is not a Criterion of Welfare)—सर्वप्रथम एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० लिटिल के मतानुसार कैल्डर ने कल्याण का कोई नवीन मानदण्ड प्रस्तुत नहीं किया क्योंकि यह

"1 A change is an improvement if gainers in the changed situation are able to persuade the losers to accept the change and simultaneously losers are not able to persuade the gainers to remain in the original situation"

कल्याण को उत्पादन अथवा आर्थिक कुशलता में वृद्धि का फलन मानता है तथा कल्याण पर वितरण के प्रभाव की उपेक्षा करता है। इस प्रकार लिटिल के अनुसार कॅल्डर ने क्षतिपूर्ति पर आधारित धन अथवा आर्थिक कुशलता में वृद्धि (increase in wealth or economic efficiency) की परिभाषा मात्र प्रस्तुत की है। यह उल्लेखनीय है कि स्वयं कॅल्डर ने क्षतिपूर्ति सिद्धान्त का अर्थ ही इसी प्रकार व्यक्त किया है। कॅल्डर के मतानुसार, "जब धन के उत्पादन में वृद्धि होती है तो ऐसा आय-वितरण मालूम किया जा सकता है जिससे किसी के हानि-ग्रस्त हुए बिना कुछ लोगों को लाभ प्राप्ति होती है" (When the production goes up some income distribution could be found which makes some people better off and no one worse off than before")। इस प्रकार लिटिल के अनुसार चूंकि कॅल्डर-हिक्स के कल्याणकारी मानदण्ड में क्षतिपूर्ति द्वारा वांछित आय वितरण केवल काल्पनिक (hyhothetical) है, यह कल्याण में वृद्धि का मानदण्ड न होकर अति-क्षतिपूर्ति के शब्दों में आर्थिक कुशलता की परिभाषा है। (It is not a welfare test but a definition of economic efficiency in terms of over compensation")[1]

2 नैतिक निर्णयों से मुक्त नहीं (Not Free From Value Judgements)—अनेक अर्थशास्त्रियों का मत है कि कॅल्डर-हिक्स का मानदण्ड भी नैतिक निर्णयों से स्वतन्त्र नहीं है। प्रो० लिटिल और बामोल (Baumol) के विचार में यह कहना कि वे सभी परिवर्तन जिनके फलस्वरूप लाभ प्राप्त करने वाले व्यक्ति हानि-ग्रस्त व्यक्तियों की क्षतिपूर्ति करने के बाद भी पहले से श्रेष्ठतर रहते हैं, अच्छे और वांछनीय हैं स्वयं नैतिक निर्णय है। लिटिल के अनुसार यह कहना कि नीति परिवर्तन (जो कॅल्डर-हिक्स के मानदण्ड पर पूरा उतरता है) समाज के उत्पादन अथवा कुशलता में वृद्धि करता है वास्तव में उसका अनुमोदन करना है। उसका विचार है कि कॅल्डर-हिक्स ने "कुशलता" की जो परिभाषा प्रस्तुत की है उसमें निहित नैतिक मूल्यों अथवा नैतिक निर्णयों को अधिकांश व्यक्ति अच्छा नहीं समझते। कॅल्डर-हिक्स के मानदण्ड में क्षतिपूर्ति केवल काल्पनिक होने के कारण किसी नीति परिवर्तन जिसका यह मानदण्ड अनुमोदन करता है, से गरीब व्यक्ति अधिक गरीब भी बन सकते हैं। अतएव लिटिल के अनुसार कॅल्डर-हिक्स के मानदण्ड में निहित नैतिक निर्णयों को यदि स्पष्ट (explicit) रूप में व्यक्त किया जाय तो कॅल्डर-हिक्स का यह दावा कि उन्होंने नैतिक निर्णयों से स्वतन्त्र कल्याण में वृद्धि की जाँच करने का मानदण्ड खोज निकाला है अधिकांश लोगों को स्वीकार्य नहीं होगा।

इसी तरह बामोल का भी विचार है कि कॅल्डर-हिक्स का कल्याणकारी मानदण्ड ऐसे निहित नैतिक निर्णयों पर आधारित है जो स्वीकार्य नहीं है। "ऐसे मानदण्ड का प्रयोग करके जिसमें सम्भाव्य मौद्रिक क्षतिपूर्ति का प्रावधान है में प्रच्छन्न रूप से मुद्रा रूप में अन्तर्व्यक्तिक तुलना पायी जाती है।"[1] यदि एक व्यक्ति A अपने लाभ की कीमत 500 रुपये आंकता है जबकि दूसरा व्यक्ति B उसी आर्थिक परिवर्तन से हुई हानि 75 रुपये के बराबर बताता है तो हम इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल सकते कि सामाजिक कल्याण में वृद्धि हुई है क्योंकि यदि हानि-ग्रस्त निर्धन व्यक्ति है और लाभ प्राप्त करने वाला धनी व्यक्ति है तो यह सम्भव है कि 75 रुपये की हानि से निर्धन की सन्तुष्टि में कमी धनी के 500 रुपये के लाभ से सन्तुष्टि में वृद्धि की तुलना में बहुत अधिक हो। कारण यह है कि निर्धन द्वारा प्राप्त एक रुपये से सीमान्त तुष्टि गुण धनी व्यक्ति की अपेक्षा बहुत अधिक होता है। इस प्रकार वास्तविक क्षतिपूर्ति के बिना, प्रस्तावित परिवर्तन से व्यक्ति B के कल्याण में भारी क्षति होगी और व्यक्ति A के कल्याण में तुच्छ वृद्धि। अतः बॉमोल के अनुसार, "कॅल्डर और सिटावस्की के मानदण्डों ने अन्तर्व्यक्तिक तुलना की मौलिक समस्या को छिपा दिया है जिसकी ऐसे नीति परिवर्तन जो व्यक्ति A को हानि तथा B को लाभ पहुँचाता है के सामाजिक कल्याण पर प्रभाव आंकने के लिए आवश्यकता है। इस समस्या को वे यह कह कर छिपा देते हैं कि किसी नीति परिवर्तन का अनुमोदन A और B व्यक्तियों की इच्छा और मूल्य चुकाने की क्षमता पर

1. I M D Little, *A Critique of Welfare Economics*, Oxford University Press

निर्भर करता है ।'[1]

3. वितरण से स्वतन्त्र उत्पादन में वृद्धि का कोई अर्थ नहीं (Increase in production without considering distribution has no meaning)—कैल्डर व हिक्स का दावा है कि क्षतिपूर्ति के नियम द्वारा वे उत्पादन में परिवर्तन को वितरण में परिवर्तन (जो उत्पादन मे परिवर्तन से सम्बन्धित होता है) से अलग करने में सफल हो गये है । ऐरो (Arrow), सैमुएल्सन, बॉमोल का विचार है कि वितरण से स्वतन्त्र उत्पादन मे वृद्धि का कोई अर्थ नहीं अर्थात् क्या उत्पादन मे वृद्धि हुई है या नहीं यह उत्पादित वस्तुओं के विभिन्न व्यक्तियों मे वितरण पर भी निर्भर करता है। उदाहरणत मान लीजिए किसी नीति परिवर्तन के फलस्वरूप कैम्पा कोला के उत्पादन मे वृद्धि और अग्रेजी शराब के उत्पादन म कमी हो जाती है । यदि व्यक्ति A कैम्पाकोला को और व्यक्ति B अग्रेजी शराब को पसन्द करे तो इस प्रश्न का उत्तर कि क्या सामाजिक उत्पादन में वृद्धि हुई है इस बात से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है कि वस्तुओं का वितरण A और B व्यक्ति मे किस प्रकार हो रहा है।

इसके अतिरिक्त कैल्डर और हिक्स का यह विचार कि उत्पादन का स्तर ही सामाजिक कल्याण का प्रमुख निर्धारक है और इस सम्बन्ध मे वितरण की भूमिका गौण है अधिकाश अर्थशास्त्रियो को स्वीकार्य नही है। वस्तुत कल्याण के दो पक्ष है निरपेक्ष और सापेक्ष (absolute and relative) गरीब लोगो की असन्तुष्टि न केवल इसलिए होती है कि वे निर्धन हैं बल्कि इसलिए भी कि कुछ अन्य लोग उन से बहुत अधिक धनी है । यदि समाज के सभी लोग गरीब होते तो उनकी असन्तुष्टि इतनी अधिक न होती । इस प्रकार सम रूप से वितरित निम्न कुल उत्पादन, विषम रूप से वितरित अधिक उत्पादन से सामाजिक कल्याण की दृष्टि से श्रेष्ठ है (A lower total output equitably distributed is preferred to a large output, inequitably distributed *from the point of view of social welfare*)

4. कैल्डर-हिक्स का मानदण्ड वास्तविक सामाजिक कल्याण पर विचार नहीं करता (Kaldor Hicks Criterion does not envisage *actual social welfare*)—लिटिल ऐरो तथा बामोल का मत है कि केवल काल्पनिक क्षतिपूर्ति को विचार मे लाकर कैल्डर हिक्स का कल्याणकारी मानदण्ड वास्तविक (actual) सामाजिक *कल्याण की उपेक्षा करता है । क्षतिपूर्ति सिद्धान्त के अनुसार लाभान्वित व्यक्तियो* द्वारा हानिग्रस्त व्यक्तियो को क्षतिपूर्ति कर सकने के पश्चात भी पहले से बेहतर रहते है तो प्रस्तावित परिवतन सामाजिक कल्याण को बढा येगा, किन्तु यह क्षतिपूर्ति वास्तव म करना आवश्यक नहीं । परन्तु यह सही नही है । वे नीति परिवतन जो वास्तविक क्षतिपूर्ति के साथ सामाजिक कल्याण को बढाते हैं, आवश्यक नही कि वे क्षतिपूर्ति के बिना भी सामाजिक कल्याण को बढाये । एक उदाहरण लीजिए । एक उद्योग मे श्रम का प्रतिस्थापन करने वाली नयी उत्पादन तकनीक का प्रयोग किया जाता है और फलस्वरूप उत्पादन की लागत घट जाती है और उद्योग की फर्मों को बहुत लाभ पहुचते हैं । परन्तु साथ ही मशीनों द्वारा श्रम के प्रतिस्थापन से बडी मात्रा मे श्रमिको को कार्य से हाथ धोना पडता है और इस प्रकार वे बेरोजगार हो जाते है । मान लीजिए कि नयी तकनॉलोजी से लाभान्वित फर्म बेरोजगार हुए *श्रमिको की क्षतिपूर्ति करने के बाद भी पहले से अधिक लाभ* अर्जित करती है, परन्तु यह क्षतिपूर्ति वास्तव मे नही की जाती । अतएव क्षतिपूर्ति वास्तव मे न होने से सामाजिक कल्याण घट जायगा क्योंकि बेरोजगार हुए श्रमिको के कल्याण मे बहुत कमी होगी । इस प्रकार क्षतिपूर्ति काल्पनिक होने से एक आर्थिक परिवतन गरीब को अधिक गरीब और धनी को अधिक धनी बना कर सामाजिक कल्याण मे कमी करेगा चाहे यह परिवर्तन कैल्डर हिक्स मानदण्ड द्वारा सफलता स पारित होता है ।

उपर्युक्त विश्लेषण से सिद्ध होता है कि कैल्डर हिक्स का क्षतिपूर्ति सिद्धान्त *वास्तविक कल्याण को बजाय सम्भाव्य कल्याण* (Potential welfare) को दृष्टि मे रखता है क्योंकि इसमें क्षतिपूर्ति वास्तव मे करने का प्रावधान नही । वास्तविक क्षतिपूर्ति के बिना कोई यह नहीं कह सकता कि क्या किसी नीति परिवर्तन के फलस्वरूप

---

1 Baumol *op cit* p 530

2 "The Kaldor and Scitovsky criteria have thus ducked the basic problem of the inter personal *comparison required to evaluate a policy change* which harms A but aids B They duck it by saying implicitly that the recommendation should by based on X's and Y's relative willingness and ability to pay for what they want"

सामाजिक कल्याण मे वृद्धि हुई है यदि वह वांछ नैतिक निर्णय (Value judgements) लेने को तैयार नही है। अत कल्याणकारी अर्थशास्त्र मे नैतिक निर्णय लेना विशेषकर वे जो आय अथवा कल्याण के वितरण से सम्बन्धित होते हैं, अनिवार्य है। हमारे विचार मे अर्थशास्त्रियो को वे नैतिक निर्णय जो समाज के अधिकांश लोगों को मान्य हो लेने से सकोच नही करना चाहिए।

5. क्षतिपूर्ति सिद्धान्त द्वारा उपभोग तथा उत्पादन के बाहरी प्रभावों पर ध्यान न देना (External effects on Consumption and Production ignored by the Compensation Principle)—कैल्डर व हिक्स के क्षतिपूर्ति सिद्धान्त की एक और महत्त्वपूर्ण त्रुटि यह है कि यह इस ओर ध्यान नही देता कि एक व्यक्ति की सतुष्टि (कल्याण) न केवल उसके अपने उपभोग अथवा उत्पादन पर निर्भर करती है बल्कि इस पर भी कि अन्य व्यक्तियो का वस्तुओ तथा सेवाओ का उपभोग अथवा उत्पादन कितना और किस प्रकार का है। एक व्यक्ति अधिक सतुष्ट होता है जैसे कि समाज मे उसकी सापेक्ष आर्थिक स्थिति (relative economic position) श्रेष्ठतर होती है। अतएव यदि कोई आर्थिक परिवर्तन एक व्यक्ति को पूर्ववत् स्थिति मे रखता है परतु किसी अन्य व्यक्ति को लाभ पहुँचाता है तो पहले व्यक्ति की सतुष्टि पूर्व स्थिति के समान नही रहेगी, बल्कि घट जायेगी। कारण यह है कि आर्थिक परिवर्तन द्वारा अन्य व्यक्तियो को लाभ पहुचने के कारण और फलस्वरूप उनकी आर्थिक दशा मे सुधार पहले व्यक्ति पर बाहरी प्रभाव डालेगा जिससे उसकी सतुष्टि कम हो जायगी।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि कैल्डर व हिक्स के क्षतिपूर्ति सिद्धात की अनेक आलोचनाएँ की गयी हैं विशेषकर उसके द्वारा अस्वीकार्य निहित नैतिक निर्णयो (implicit value judgements) पर क्षतिपूर्ति सिद्धात की। इन त्रुटियो के कारण कुछ अर्थशास्त्री जैसे कि बर्गसन (Bergson), सैमुएलसन (Samuelson) तथा ऐरो (Arrow) ने सामाजिक कल्याणकारी फलन (Social welfare function) की अवधारणा विकसित की है जिसमे स्पष्ट रूप से (explicitly) नैतिक निर्णयों को समाविष्ट किया जाता है और इसके आधार पर नीति परिवर्तनो के सामाजिक कल्याण पर प्रभावो की जाच की जाती है और इससे विशिष्ट सामाजिक अनुकूलतम (unique social optimum) की प्राप्ति सम्भव होती है।

लिटिल की कसौटी (Little's Criterion)

डा० लिटिल ने क्षतिपूर्ति सिद्धान्त' की मुख्यतया इस आधार पर आलोचना की कि यह 'वास्तविक कल्याण मे परिवर्तन' की व्याख्या न करके 'सम्भाव्य कल्याण मे परिवर्तन' की व्याख्या करता है। अत डा० लिटिल ने वास्तविक सामाजिक कल्याण मे परिवर्तन को मापने का अपना मानदण्ड प्रस्तुत किया है। इस प्रकार लिटिल का मानदड 'सम्भाव्य कल्याण' (potential welfare) मे परिवर्तन के बजाय 'वास्तविक कल्याण' मे परिवर्तन को मापता है। लिटिल के अनुसार कल्याणकारी अर्थशास्त्र मे मूल्यगत निर्णय आवश्यक होते है अत वे अपने मानदड को निम्न दो मूल्यगत धारणाओ (value premises) पर आधारित करते हैं (1) किसी व्यक्ति का कल्याण उसके द्वारा चुनी गयी स्थिति मे अन्य सभी स्थितियो की अपेक्षा अधिक होता है। (2) कोई परिवर्तन, जो सभी व्यक्तियो को पहले की अपेक्षा श्रेष्ठ बनाता है, सामाजिक कल्याण मे वृद्धि करता है। उपर्युक्त धारणाओ पर आधारित लिटिल के मानदण्ड को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

कोई आर्थिक परिवर्तन सामाजिक कल्याण मे वृद्धि तब करता है जबकि उसके परिणामस्वरूप पुनर्वितरण मौलिक वितरण की अपेक्षा हीन (worse off) नही है तथा मौलिक स्थिति मे समाज को उतना श्रेष्ठ बनाना असम्भव है जितना कि परिवर्तित स्थिति मे रहता है। अन्य शब्दो म, वर्तमान स्थिति से नवीन स्थिति को परिवर्तन सामाजिक कल्याण मे वृद्धि करता है यदि उसके परिणामस्वरूप वितरण म सुधार होता है तथा सम्भाव्य क्षतिग्रस्त व्यक्ति (potential losers), परिवर्तन का विरोध करने के लिए सभाव्य लाभान्वित व्यक्तियो (gainers) को लाभप्रद रूप मे घूस नही दे सकते हैं। डा० लिटिल ने स्वय अपने मानदण्ड की निम्न प्रकार व्याख्या की है

"एक परिवर्तन आर्थिक दृष्टिकोण से वाछनीय है यदि इसके परिणामस्वरूप कल्याण का वितरण अच्छा हो जाता है तथा यदि मुद्रा के एकमुश्त (lump-sum) हस्तान्तरण द्वारा पुनर्वितरण की नीति प्रत्येक व्यक्ति को उतना श्रेष्ठ नही बना सकेगी जितना कि वे परिवर्तन कर देने के पश्चात् होंगे।"[1] इस प्रकार लिटिल के मानदण्ड के अनुसार परिवर्तित स्थिति में वितरण अपेक्षाकृत अधिक न्यायपूर्ण होना चाहिए तथा साथ ही परिवर्तन के कारण समाज के एक वर्ग को होने वाला लाभ, दूसरे वर्ग की सभावित हानि से अधिक होना चाहिए। लिटिल के मानदण्ड के प्रोफेसर मीड, रावर्टसन तथा मिशान ने विभिन्न प्रकार के निर्वचन (interpretation) प्रस्तुत किये हैं किन्तु जैसा कि प्रो० लिटिल ने स्वय स्पष्ट लिखा है कि डा० ए० के० सेन (A K Sen) ने हमारे मानदण्ड का सही अर्थ समझा है। अत हम यहाँ पर प्रो० सेन के निर्वचन पर आधारित लिटिल के मानदण्ड की व्याख्या करेंगे। प्रो० सेन ने लिटिल की कसौटी के तीन प्रमुख लक्षण बताए हैं (1) परेटो के समान ही लिटिल ने भी सामाजिक कल्याण को समाज के व्यक्तिगत सदस्यो के कल्याण पर आधारित किया है। (2) परेटो के समान ही लिटिल भी स्वीकार करते हैं कि यदि किसी परिवर्तन से एक व्यक्ति के कल्याण मे वृद्धि होती है तथा दूसरे व्यक्ति के कल्याण मे कोई कमी नही होती है तो सामाजिक कल्याण पहले की अपेक्षा अधिक हो जाता है। (3) प्रो० लिटिल किसी गैर-परेटो (Non-Paretian) चुनाव करने पर सामाजिक कल्याण मे परिवर्तन का कोई ठीक-ठीक निर्णय प्रस्तुत नही करते किन्तु इस प्रकार का निर्णय सक्रिय (transitive) होना चाहिए।

लिटिल के इस मानदण्ड की उपयोगिता सम्भावना वक्र द्वारा व्याख्या की जा सकती है। रेखाकृति 47 5 में CD तथा EF दो उपयोगिता सम्भावना वक्र हैं। माना कि सामाजिक कल्याण को W द्वारा प्रदर्शित किया गया है। माना कि कोई आर्थिक परिवर्तन समाज को स्थिति Q_1 से Q_2 पर ले जाता है। Q_1 तथा Q_2 व्यक्तियों के कल्याण की दो भिन्न स्थितियों को प्रदर्शित करते हैं। माना कि इन दो स्थितियों मे सामाजिक कल्याण क्रमश SW_1 तथा SW_2 द्वारा प्रदर्शित है। लिटिल के मानदण्ड के अनुसार Q_1 से Q_2 को परिवर्तन वितरण के दृष्टिकोण से भी परखना आवश्यक है। इसलिए प्रो० लिटिल EF उपयोगिता सम्भावना वक्र, जो Q_1 से होकर जाता है पर J बिंदु की कल्पना करते हैं जो वितरण के
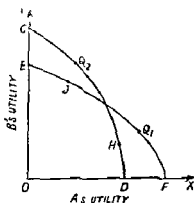
रेखाकृति 47 5

दृष्टिकोण से Q_1 की अपेक्षा श्रेष्ठ है। J तथा Q_1 बिंदु एक ही उपयोगिता सम्भावना वक्र EF पर ही स्थित हैं अत वे वस्तुओं तथा सेवाओं के एक निश्चित समूह के ही भिन्न वितरण को प्रदर्शित करते हैं। लिटिल की मान्यता के अनुसार J बिंदु पर Q_1 बिंदु की अपेक्षा पुनर्वितरण सुधरा हुआ (improved) है अर्थात् J बिंदु पर दोनों व्यक्तियों में वस्तु तथा सेवा की एक निश्चित मात्रा का पुनर्वितरण बिंदु Q_1 पर वितरण की अपेक्षा श्रेष्ठ है। अत Q_1 से J को परिवर्तन सामाजिक कल्याण म वृद्धि करता है।

इसी प्रकार J बिंदु से Q_2 बिंदु को परिवर्तन परेटो के मानदण्ड के अनुसार सुधार है जिसके परिणामस्वरूप Q_1 से Q_2 को परिवर्तन निश्चित रूप से

1. "a change is economically desirable if it results in a good redistribution of welfare, and if a policy of redistributing money by lump sum transfers could not make every one as well off as they would be if the change were made" —Little I. M D.

एक सुधार सिद्ध होता है क्योंकि $SW_J > SW_{Q1}$ वितरण के दृष्टिकोण से तथा $SW_{Q2} > SW_J$ परेटो के मानदण्ड से तो $SW_{Q2} > SW_{Q1}$ होगा। चूँकि Q_2 स्थिति Q_1 की अपेक्षा श्रेष्ठ वितरण प्रदर्शित करती है तथा साथ ही Q_2 को परिवर्तन से क्षतिग्रस्त व्यक्ति (losers) लाभान्वित व्यक्तियों को लाभप्रद रूप में परिवर्तन का विरोध करने के लिए घूस देने में असमर्थ हैं।

प्रो० मिशान ने लिटिल के मानदण्ड का भिन्न प्रकार से निर्वचन किया है। प्रो० सेन ने अपने लेख में स्पष्ट किया कि लिटिल का मानदण्ड सक्रियता (transitivity) के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यद्यपि प्रो० लिटिल ने क्षतिपूर्ति सिद्धान्त की आलोचना की तथा अपना मानदण्ड प्रस्तुत किया किन्तु वह भी सामाजिक कल्याण में परिवर्तन की व्याख्या करने में सफल नहीं हुआ। अतः अनेक दृष्टिकोणों से इस मानदण्ड की आलोचना की जाती है।

लिटिल के मानदण्ड की आलोचनाएँ (Criticisms of Little's Criterion)

1 लिटिल द्वारा व्यक्त सुधार हुआ पुनर्वितरण कुछ अस्पष्ट मान्यताओं पर आधारित प्रतीत होता है। लिटिल ने Q_1 से J बिन्दु को परिवर्तन वितरण के दृष्टिकोण से न्यायपूर्ण बताया किन्तु इसे तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि यह A तथा B व्यक्ति की रुचियों (tastes) के अनुरूप हो। ऐसा न होने पर J बिन्दु पर वास्तविक कल्याण का स्तर Q_1 की अपेक्षा कम हो जायगा।

2 लिटिल के मानदण्ड में $SW_J > SW_{Q1}$ तथा $SW_{Q2} > SW_J$ को सक्रिय (transitive) नहीं माना जा सकता क्योंकि दोनों में भिन्न-भिन्न मानदण्डों का प्रयोग किया गया है।

3 लिटिल के मानदण्ड से भी सामाजिक कल्याण में परिवर्तन के विषय में कोई स्पष्ट निर्णय नहीं लिया जा सकता है।

इस प्रकार क्षतिपूर्ति सिद्धान्त, जो सामाजिक कल्याण में सम्भाव्य परिवर्तन पर आधारित था, कल्याण में परिवर्तन की व्याख्या करने में असफल रहा। डा० लिटिल ने इस कमी को दूर करने के लिए सामाजिक कल्याण में वास्तविक परिवर्तन पर आधारित अपना मानदण्ड प्रस्तुत किया किन्तु यह भी सामाजिक कल्याण में परिवर्तन की व्याख्या करने में असफल सिद्ध हुआ।

48

सामाजिक कल्याण फलन
(SOCIAL WELFARE FUNCTION)

कल्याणकारी अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे समय समय पर विभिन्न अर्थशास्त्रियो ने आर्थिक अथवा सामाजिक कल्याण मे परिवर्तन का मानदण्ड प्रस्तुत किया है। किन्तु अधिकाश की व्याख्या सन्तोषजनक नही है। प्राचीन कल्याणकारी अर्थशास्त्र सामाजिक कल्याण के माप को उपयोगिता की मापनीयता तथा अन्तर्वैयक्तिक तुलना पर आधारित करता है। परेटो की कसौटी के अनुसार उस दशा मे कल्याण मे परिवर्तन की माप अनिर्धारणीय हो जाती है जब किसी नीति परिवर्तन से *समाज के एक वर्ग के कल्याण मे वृद्धि तथा दूसरे वर्ग* के कल्याण मे कमी हो जाती है। क्षतिपूर्ति सिद्धान्त सम्भाव्य कल्याण (potential welfare) की विचार-धारा पर आधारित है वास्तविक कल्याण (actual welfare) पर नही। इसी प्रकार लिटिल ने भी कुछ अवास्तविक मान्यताओ के आधार पर अपना मानदण्ड प्रस्तुत किया है। यद्यपि परेटो, कैल्डर-हिक्स तथा सिटोवस्की ने मानदण्डों को उपयोगिता के क्रमवाचक विचार पर आधारित किया किन्तु उन अर्थशास्त्रियो ने 'वस्तुपरक आर्थिक मानदण्डो' (objective economic criteria) के आधार पर कल्याणकारी अर्थशास्त्र की व्याख्या की जो मूल्यगत निर्णयो से स्वतन्त्र है।

आधुनिक अर्थशास्त्री सैमुएल्सन बर्गसन तथा टिन्टनर आदि ने मूल्यगत निर्णयो को अत्यधिक महत्त्व दिया तथा स्पष्ट किया कि यदि कल्याणकारी अर्थशास्त्र मूल्यगत निर्णयो का समावेश नही करता तो वह व्यर्थ है तथा उसका कोई व्यावहारिक महत्त्व नही रह जाता है। इन अर्थशास्त्रियो के अनुसार कल्याणकारी अर्थशास्त्र आवश्यक रूप से आदर्शात्मक अध्ययन (normative study) है। अत नैतिक निर्णयो को समाविष्ट करके ही आर्थिक कल्याण मे परिवर्तन के लिए किसी नीति का सुझाव दिया जा सकता है।

प्राचीन काल मे अर्थशास्त्र के कल्याणकारी पहलू के अध्ययन का उद्देश्य सामाजिक कल्याण को अधिकतम करना है। अधिकतम कल्याण के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक सन्तोषजनक *'सामाजिक कल्याण फलन'* (social welfare function) की आवश्यकता होती है। अत *कल्याणकारी अर्थशास्त्र के सिद्धान्त का उद्देश्य सन्तोषजनक सामाजिक कल्याण फलन ज्ञात करना होता है।*

प्राचीन दार्शनिक अर्थशास्त्री बेन्थम (Bentham) के उपयोगितावाद मे सामाजिक कल्याण फलन व्यक्तिगत उपयोगिताओ का योगफल है। मार्शल पीगू

कल्याणकारी अर्थशास्त्र उपयोगिता की मापनीयता तथा अन्तर्वैयक्तिक तुलना के रूप में सामाजिक कल्याण फलन का प्रतिपादन करता है। 'क्षतिपूर्ति सिद्धान्त' काल्पनिक क्षतिपूर्ति पर आधारित सामाजिक कल्याण फलन प्रस्तुत करता है। निकट भूतकाल में बर्गसन-सैमुएल्सन तथा उनके अनुयायियों ने क्रमवाचक अधिमानों पर आधारित सामाजिक कल्याण फलन प्रस्तुत किया है।

बर्गसन-सैमुएलसन सामाजिक कल्याण फलन (Bergson Samuelson Social Welfare Function)

प्रो० बर्गसन ने सर्वप्रथम अपने लेख 'A Reformulation of Certain Aspects of Welfare Economics' में सामाजिक कल्याण फलन का प्रतिपादन किया। इस प्रतिपादन के आधार पर उत्पादन तथा विनिमय की 'अनुकूलतम दशाएँ' अधिकतम कल्याण के लिए आवश्यक दशाएँ स्वीकार की जाती हैं। बर्गसन-सैमुएल्सन सामाजिक कल्याण फलन का प्रतिपादन स्पष्ट मूल्यगत निर्णयों पर आधारित है। ये मूल्यगत निर्णय किसी स्थिति का मूल्यांकन करने में किसी नीति-निर्माता की सहायता करते हैं। सामाजिक कल्याण फलन समाज के कल्याण का क्रमवाचक सूचकांक (ordinal index) होता है जो विभिन्न व्यक्तियों की क्रमवाचक उपयोगिताओं पर निर्भर करता है। विभिन्न व्यक्तियों की क्रमवाचक उपयोगिताओं का मूल्य उन सभी चरों (variables) पर निर्भर करता है जो व्यक्तिगत उपयोगिताओं को प्रभावित करते हैं।

सामाजिक कल्याण फलन का प्रतिपादन निम्न रूप में किया जा सकता है

$$W = w(u_1, u_2, u_3 \ldots u_n)$$

[जहाँ पर W सामाजिक कल्याण को u_1, u_2, u_3, तथा u_n विभिन्न व्यक्तियों की क्रमवाचक उपयोगिता तथा w उपयोगिताओं तथा सामाजिक कल्याण के मध्य कार्यात्मक सम्बन्ध (functional relationship) का प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त फलन यह स्पष्ट करता है कि समाज का कल्याण विभिन्न व्यक्तियों के उपयोगिता सूचकांक u_1, u_2, u_3 तथा u_n पर निर्भर करता है। u_1, u_2, u_3 तथा u_n का मूल्य उन अनेक चरों पर निर्भर करता है जिन पर विभिन्न व्यक्तियों के क्रमवाचक उपयोगिता सूचकांक निर्भर करते हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सामाजिक कल्याण फलन का रूप उस व्यक्ति अथवा संस्था के मूल्यगत निर्णय पर निर्भर करेगा जिसे सामाजिक कल्याण के विषय में मूल्यगत निर्णय (value judgement) देने का अधिकार प्रदान किया गया है।

यह व्यक्ति अथवा संस्था कोई भी हो सकता है किन्तु वास्तविक स्थिति का निर्णय देने के लिए आवश्यक है कि वह निष्पक्ष (unbiased) व्यक्ति अथवा संस्था हो क्योंकि उसके निर्णय पर ही सामाजिक कल्याण में परिवर्तन निर्भर करेगा और उस निर्णय को समाज के सभी व्यक्तियों को स्वीकार करना होता है। जैसा कि प्रो० बॉमोल ने निम्न शब्दों में लिखा है, "ये निर्णय, जो वितरण में न्याय तथा सुधार करते हैं, वे स्वयं अर्थशास्त्री के अथवा वे जो कानून द्वारा निर्मित होते हैं, किसी अन्य सरकारी अधिकारी अथवा किसी अन्य अनिर्दिष्ट (unspecified) व्यक्ति अथवा समुदाय द्वारा निर्मित होते हैं।"[1] इसके अतिरिक्त प्रो० सैमुएल्सन ने इस फलन के नैतिक तत्त्व पर जोर देते हुए निम्न मत व्यक्त किया है "फलन हितैषी तानाशाह अथवा पूर्ण स्वार्थी अथवा समस्त हितैषी व्यक्तियों के कुछ नैतिक विश्वास की व्याख्या करता है।"[2] इस प्रकार एक सन्तोषजनक सामाजिक कल्याण

1 "These judgements as to what constitute justice and virtue in distribution may be those of the economist himself, or those set up by the legislature, by some other governmental authority or by some other unspecified persons or group."

—W. J. Baumol

2 "The function describes some ethical belief of a benevolent despot or a complete egotist or all men of good will."

—Samuelson P. A.

फलन *सामान्य जनमत* के आधार पर प्राप्त किया जा सकता है अथवा यह समाज पर एक तानाशाह द्वारा लागू किया जा सकता है। अत यदि किसी प्रकार के व्यक्ति को मूल्यगत निर्णय लेने का अधिकार प्रदान किया गया है तो सामाजिक कल्याण मे परिवर्तन के विषय मे उसके निर्णय अन्तिम होगे तथा समाज को उन्हे स्वीकार करना पडेगा।

यहा पर यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भ मे जब बर्गसन ने सामाजिक कल्याण फलन का प्रतिपादन किया तो इसे उन आर्थिक घटनाओ मे परिवर्तन पर निर्भर बताया जो व्यक्तिगत कल्याण को प्रत्यक्ष रूप मे प्रभावित करती है।

चूंकि सामाजिक कल्याण के विषय मे मूल्यगत निर्णयो द्वारा ही सामाजिक कल्याण के स्तर मे परिवर्तन ज्ञात किया जाता है, अत प्रश्न उठता है कि मूल्यगत निर्णय कौन ले ? वास्तव मे वह व्यक्ति ऐसा होना चाहिए जो सामाजिक कल्याण को सर्वोपरि रखे तथा निष्पक्ष रूप से कोई निर्णय दे। बर्गसन तथा सैमुएल्सन ने इस सदर्भ मे एक महात्मा (superman) की कल्पना की है जो समाज के कल्याण मे परिवर्तन के विषय मे कोई मूल्यगत निर्णय लेता है। सामाजिक कल्याण मे वृद्धि के लिए वह महात्मा ही निर्णय लेता है कि समाज मे किस वस्तु का उत्पादन किया जाय, कितना उत्पादन किया जाय, वस्तु का गुण तथा प्रकार क्या होना चाहिए, किन आवश्यकताओ की पूर्ति हो तथा उनमे भी किस आवश्यकता को पहले तथा किस आवश्यकता को बाद मे सन्तुष्ट किया जाय तथा समाज मे धन का वितरण किस प्रकार होना चाहिए आदि।

इन अनेक प्रश्नो का उत्तर महात्मा (superman) ही देगा तथा समाज के सभी व्यक्तियो को उन निर्णयो को स्वीकार करना होगा क्योकि समाज ने उस व्यक्ति को निर्णय लेने का अधिकार यह सोचकर दिया है कि वह अपने स्वार्थ को नही वरन् सामाजिक कल्याण को अधिकतम करने को ध्यान मे रखकर कोई निर्णय देता है। इस प्रकार एक महात्मा की कल्पना द्वारा हम उपयोगिता की अन्तर्वैयक्तिक तुलना, जोडने, घटाने तथा मापने, की समस्याओ से मुक्ति पा जाते हैं। आधुनिक प्रजातान्त्रिक सरकारो के युग मे समाज के विभिन्न व्यक्ति अपने प्रतिनिधियो का चुनाव करते हैं जो मिलकर सरकार (*Govt*) का गठन करते हैं। सरकार का निर्माण बहुलता (majority) के आधार पर होता है। इस प्रकार समाज की प्रतिनिधि सरकार (Representative Govt) अनेक नीतियो का निर्माण कुछ मूल्यगत निर्णयो के आधार पर करती है जिससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह सभी नीति निर्णय सामाजिक कल्याण को अधिकतम करने के उद्देश्य से करेगी, किसी व्यक्ति अथवा सामाजिक वर्ग विशेष के कल्याण को अधिकतम करने के उद्देश्य से नही। बर्गसन तथा सैमुएल्सन ने जिस महात्मा (superman) की कल्पना की है उसके सभी मूल्यगत निर्णय परस्पर सगत (consistent) होने आवश्यक है जिसका अभिप्राय है कि किसी दी हुई परिस्थिति मे X को Y की तुलना मे अधिक अधिमान (preference) देता है तथा Y को Z की अपेक्षा अधिक अधिमान देता है तो उसे X को Z से भी अधिक अधिमान देना चाहिए।

बर्गसन-सैमुएल्सन द्वारा प्रतिपादित सामाजिक कल्याण का विश्लेषण करने से निम्न प्रमुख लक्षण ज्ञात होते हैं :

(1) बर्गसन-सैमुएल्सन का सामाजिक कल्याण फलन अन्तर्वैयक्तिक तुलना पर आधारित है। मूल्यगत निर्णय इसी का परिणाम है। यह अन्तर्वैयक्तिक तुलना उपयोगिता के गणनावाचक विचार पर आधारित न होकर क्रमवाचक (*ordinal concept*) विचार पर आधारित है। (2) यह फलन एक सामान्यीकृत (generalised) सामाजिक कल्याण फलन है जिसके अन्तर्गत मार्शल-पीगू तथा कैल्डर-हिक्स सिटोवस्की के कल्याणकारी अर्थशास्त्र को सम्मिलित किया जा सकता है। (3) सामाजिक कल्याण फलन किसी एकमात्र मूल्यगत निर्णय का ही समावेश न करके किसी प्रकार के भी मूल्यगत निर्णय को समाविष्ट करता है। (4) इस कल्याण फलन मे जो नैतिक विचार सम्मिलित है, वे पूर्णतया क्रमवाचक हैं, गणनावाचक नही। (5)

मूल्यगत निर्णयों के आधार पर एक बार सामाजिक कल्याण फलन के निर्धारित हो जाने के पश्चात् अनुकूलतम कल्याण के स्तर को प्राप्त करने के लिए कीमत सिद्धान्त द्वारा साधनों का आवंटन विभिन्न क्षेत्रों में किया जा सकता है तथा वस्तुओं के उत्पादन को उपभोक्ताओं में न्यायपूर्ण ढंग से वितरित किया जा सकता है ताकि सामाजिक कल्याण अधिकतम हो सके।

ऐसी एक अर्थव्यवस्था जिसमें दो व्यक्ति ही हो की दशा में सामाजिक कल्याण फलन को सामाजिक अनधिमान वक्रों के समूह (a family of social indifference curves) द्वारा व्यक्त किया जा सकता है जैसाकि रेखाकृति 48.1 में प्रदर्शित किया गया है। इस रेखाकृति में दो व्यक्तियों A तथा B के तुष्टिगुणों को क्रमशः X-अक्ष और Y-अक्ष पर मापा गया है। W_1, W_2, W_3 आदि सामाजिक अनधिमान वक्र (social indifference curves) हैं। एक सामाजिक
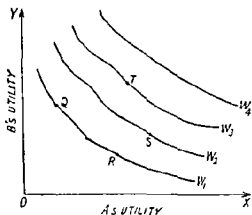
रेखाकृति 48.1
दो-व्यक्ति अर्थव्यवस्था की दशा में सामाजिक कल्याण फलन

अनधिमान वक्र जैसे कि W_1, व्यक्ति A और B के तुष्टिगुणों के विभिन्न संयोगों को बताता है जो सामाजिक कल्याण के एक समान स्तर को उत्पन्न करते हैं (A social indifference curve represents the various combinations of A's and B's utilities that ensure a same level of social welfare)।

इन सामाजिक अनधिमान वक्रों की विशेषताएँ व्यक्तिगत उपभोक्ता के अनधिमान वक्रों के समान ही हैं। *सामाजिक अनधिमान जितना ही अधिक ऊँचा होगा सामाजिक कल्याण का स्तर उतना ही अधिक होगा।* सामाजिक कल्याण फलन अथवा सामाजिक अनधिमान वक्रों का समूह दिए हुए होने पर किसी प्रस्तावित परिवर्तन के सामाजिक कल्याण पर प्रभाव को निश्चित रूप से मूल्यांकित (evaluate) किया जा सकता है। उदाहरणतः यदि कोई नीति परिवर्तन जो अर्थव्यवस्था को Q से T को ले जाता है सामाजिक कल्याण में वृद्धि करेगा, यदि वह अर्थव्यवस्था को S से Q को लाता है, *तो सामाजिक कल्याण में कमी होगी* और यदि कोई नीति परिवर्तन अर्थव्यवस्था को Q से R को पहुँचाता है तो सामाजिक कल्याण पूर्ववत् रहेगा।

सदैव से ही कल्याणकारी अर्थशास्त्र का उद्देश्य एक मान्य सामाजिक कल्याण फलन की खोज करना रहा है। प्रो० सैमुएलसन तथा बर्गसन ने इस फलन को प्रस्तुत करके समस्या का समाधान किया है। इस सामाजिक कल्याण फलन के अन्तर्गत किसी व्यक्ति के कल्याण को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्वों का समावेश किया जा सकता है वे चाहे आर्थिक हों अथवा अनार्थिक। चूँकि सामाजिक कल्याण, व्यक्तिगत कल्याण पर निर्भर स्वीकार किया गया है जिसके विषय में एक महात्मा (superman) अथवा अधिकृत संस्था (authorised institution) निर्णय लेती है। यही कारण है कि डा० लिटिल ने इस फलन के महत्व को निम्न प्रकार बताया है "यह एक प्रतिभाशाली सैद्धान्तिक निर्माण है जो कल्याणकारी अर्थशास्त्र की *औपचारिक गणितीय प्रणाली की पूर्ति करता है।*"[1]

परेटो अनुकूलतम की व्याख्या को इस सामाजिक कल्याण फलन द्वारा सरलतापूर्वक स्पष्ट किया जा सकता है। एजवर्थ बॉक्स रेखाकृति में प्रसंविदा वक्र (contract curve) का प्रत्येक बिंदु परेटो अनुकूल-

1 "It is a brilliant theoretical construct which completes the formal mathematical system of welfare economics"
—Little, I. M. D.

तम होता है किन्तु इस वक्र के ऊपर दाहिनी ओर अथवा नीचे बायी ओर चलने पर एक व्यक्ति के कल्याण मे वृद्धि तथा दूसरे व्यक्ति के कल्याण मे कमी होती है। ऐसी दशा मे परेटो के मानदण्ड के अनुसार सामाजिक कल्याण मे परिवर्तन अनिर्धार्य (indeterminate) हो जाता है किन्तु इस सामाजिक फलन के अनुसार कुछ वितरणात्मक मूल्यगत निर्णयो (distributional value judgements) द्वारा हम सामाजिक कल्याण मे परिवर्तन ज्ञात कर सकते है।

उच्चतम तुष्टिगुण सीमा तथा अधिकतम सामाजिक कल्याण

(Grand Utility Possibility Frontier and Maximization of Social Welfare)

वस्तुओ के उत्पादन, व्यक्तियो मे वितरण तथा वस्तु उत्पादन की सरचना (composition) के विषय म परेटा के अनुकूलतम सिद्धान्त मे कोई एक निश्चित अनुकूलतम हल (*unique optimum solution*) नही होता जो कि अधिकतम सामाजिक कल्याण को व्यक्त करता हो। अनेक ऐसे हल होते है जो परेटो के मानदण्ड की दृष्टि से अनुकूलतम होते हैं जिससे परेटो अनुकूलतम विश्लेषण हमे अधिकतम सामाजिक कल्याण का कोई निश्चित हल प्रदान नही करता है। किन्तु सामाजिक कल्याण फलन की सहायता से हम अधिकतम सामाजिक कल्याण का हल प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् सामाजिक कल्याण फलन को परेटो अनुकूलतम विश्लेषण से जोड कर हम साधनो के सयोग (input combination), उत्पादन के वितरण तथा कुल उत्पादन मे विभिन्न वस्तुओ की मात्रा (*composition* of output) के सम्बन्ध मे एक विशेष हल प्राप्त कर सकते हैं जो अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति सुनिश्चित करे (हम दो व्यक्तियों, दो साधनो, दो पदार्थों की व्यवस्था का ही विश्लेषण करेंगे)। सामाजिक कल्याण फलन की सहायता से अधिकतम सामाजिक कल्याण हल को ज्ञात करने के लिये हमे परेटो के अनुकूलतम विश्लेषण से एक महत्वपूर्ण आधुनिक धारणा "उच्चतम तुष्टिगुण सम्भावना सीमा (अथवा वक्र) (Grand Utility Possibility Frontier or Curve) को निर्मित करना आवश्यक है। उच्चतम तुष्टिगुण सम्भावना वक्र (सीमा) किस प्रकार बनाया जाता है, यह रेखाकृति 48 2 मे दर्शाया गया है। गत अध्याय मे हमने देखा कि उत्पादन की दिशा
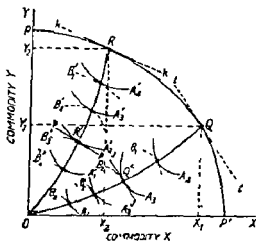
रेखाकृति 48 2

अथवा सरचना (direction or composition of o tput) के परेटो अनुकूलतम होने के लिये दो वस्तुओ के मध्य रूपान्तरण की सीमान्त दर (marginal rate of transformation or MRT), प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (marginal rate of substitution) के समान होना आवश्यक है। इस बात को ध्यान मे रखते हुए रेखाकृति 48 2 पर विचार कीजिए जिसमे साधनो की मात्रा तथा उत्पादन तकनॉलोजी दी हुई होने पर PP' दो वस्तुओ X और Y का उत्पादन सम्भावना वक्र (Production Possibility Curve) है जिसे रूपान्तरण वक्र (*transformation curve*) भी कहते हैं। उत्पादन सम्भावना वक्र PP' पर स्थित बिन्दु Q दो वस्तुओ X और Y की विशेष मात्राओ (वस्तु X की OX_1 मात्रा तथा वस्तु Y की OY_1 मात्रा) को व्यक्त करता है। वस्तु X और Y की क्रमश OX_1 तथा OY_1 मात्राएँ दी हुई होने पर उनका एक ऐजवर्थ बॉक्स बनाया जा सकता है जिसमे O व्यक्ति A का मूल बिन्दु होगा और Q व्यक्ति B का मूल बिन्दु होगा। इस ऐजवर्थ बॉक्स मे दो व्यक्तियों के अनधिमान वक्रो के स्पर्श बिन्दुओ को

मिलाने से एक प्रसंविदा वक्र (contract curve) OQ बनाया गया है। जैसा कि हम गत अध्याय में पढ़ आये हैं, यह प्रसंविदा वक्र A और B व्यक्तियों में वस्तु X और Y की उपलब्ध मात्राओं के अनुकूलतम विनिमय (optimum exchange) को दर्शाता है। क्योंकि इस प्रसंविदा वक्र के प्रत्येक बिन्दु पर दो व्यक्तियों की वस्तु X और Y में प्रतिस्थापन की
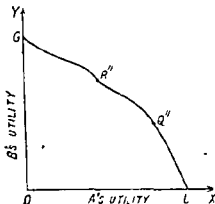
रेखाकृति 48.3
उच्चतम तुष्टिगुण सम्भावना सीमा

सीमान्त दर (MRS_{xy}) समान है, अर्थात् इस प्रसंविदा वक्र के प्रत्येक बिन्दु के अनुसार दो व्यक्तियों में दो वस्तुओं की उपलब्ध मात्राओं का वितरण (distribution of available quantities of two goods between two individuals) परेटो अनुकूलतम होगा। किन्तु प्रसंविदा वक्र OQ पर स्थित सभी बिन्दुओं पर दो व्यक्तियों की वस्तुओं के मध्य प्रतिस्थापन की सीमान्त दरें (MRS_{xy}), वस्तु उत्पादन में रूपान्तरण की सीमान्त दर (marginal rate of transformation or MRT_{xy}) के समान नहीं होगी। जैसा कि ऊपर बताया गया है कि वस्तु उत्पादन की दिशा अथवा सरचना (direction or composition of output) तब परेटो अनुकूलतम (Pareto Optimal) होती है जबकि वस्तुओं के उत्पादन में रूपान्तरण की सीमान्त दर (MRT_{xy}) उपभोक्ताओं की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) के समान होती है। अतः रेखाकृति 48.2 में प्रसंविदा वक्र OQ के ऐसे बिन्दु का चयन किया जाना चाहिये (अर्थात् दो व्यक्तियों में वस्तुओं का वितरण इस प्रकार होना चाहिये) जिस पर दो वस्तुओं में व्यक्तियों की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS), बिन्दु Q' पर (अर्थात् वस्तुओं की दी हुई उत्पादन मात्राओं पर) रूपान्तरण की सीमान्त दर (MRT_{xy}) के समान हो। उत्पादन सम्भावना वक्र के बिन्दु Q पर रूपान्तरण की सीमान्त दर (MRT_{xy}) उस पर खींची गयी स्पर्श रेखा tt की ढाल के बराबर होगी। अब प्रसंविदा वक्र OQ पर दृष्टि डालने से ज्ञात होगा कि बिन्दु Q' पर दो व्यक्तियों की प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}), जो कि उस पर खींची गयी स्पर्श रेखा JJ की ढाल द्वारा व्यक्त है, दो वस्तुओं के रूपान्तरण की सीमान्त दर (MRT_{xy}) के बराबर है (प्रसंविदा वक्र के केवल बिन्दु Q' पर खींची गयी स्पर्श रेखा उत्पादन सम्भावना वक्र के बिन्दु Q पर की स्पर्श रेखा tt के समानान्तर है)। अतः वस्तु X और Y की मात्राएँ OX_1 तथा OY_1 उत्पादित होने पर, रूपान्तरण की सीमान्त दर (MRT_{xy}), प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) के बराबर तब होगी जब बिन्दु Q' द्वारा व्यक्त दो व्यक्तियों में वस्तुओं की दी हुई मात्रा का वितरण होगा। बिन्दु Q' पर दो व्यक्तियों द्वारा प्राप्त तुष्टिगुणों[1] को हम एक भिन्न रेखाकृति जिसके X-अक्ष पर व्यक्ति X का तुष्टिगुण तथा Y-अक्ष पर व्यक्ति B का तुष्टिगुण अंकित करने में बिन्दु Q'' प्राप्त करते हैं। रेखाकृति 48.3 में बिन्दु Q'' दो व्यक्तियों को प्राप्त तुष्टिगुणों को दर्शाता है जबकि बिन्दु Q (रेखाकृति 48.2 में) द्वारा व्यक्त दो वस्तुओं की मात्राओं को व्यक्ति A और B में वितरण परेटो अनुकूलतम है जो कि बिन्दु Q' द्वारा व्यक्त है। अतः बिन्दु Q'' वस्तुओं की दी हुई मात्रा से समाज को प्राप्त अधिकतम अथवा उच्चतम सम्भव तुष्टिगुण (grand utility attainable to the society) को प्रदर्शित करता है।

1. यहाँ पर यह ध्यान देने की बात है कि रेखाकृति 48.2 में बिन्दु Q' पर A का अनधिमान वक्र A_2 और B का B_2 दो व्यक्तियों की इन अनधिमान वक्रों द्वारा व्यक्त क्रमवाचक तुष्टिगुणों को सूचकांक के रूप में दिखाया गया है।

ऊपर की तरह ही हम रेखाकृति 47 2 में उत्पादन सम्भावना वक्र PP' पर एक और बिन्दु R लेते है जो वस्तु X की OX_2 मात्रा तथा वस्तु Y की OY_2 मात्रा व्यक्त करता है। अब R बिन्दु से अनुसार एक ऐजवर्थ बॉक्स निर्मित करके एक नया प्रसविदा वक्र (contract curve) OR प्राप्त करते हैं। बिन्दु R पर रूपान्तरण की सीमान्त दर (MRT_{xy}) प्रसविदा वक्र OR के बिन्दु R' पर व्यक्तियो की दो वस्तुओ मे प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (MRS_{xy}) के समान है (स्पर्श रेखा PP_1 स्पर्श रेखा kk के समानान्तर है)। अब बिन्दु R' वस्तुओ की नयी मात्राओ (X की OX_2 तथा Y की OY_2) के दो व्यक्तियो मे अनुकूलतम वितरण को दर्शाता है। इस बिन्दु R'' द्वारा व्यक्त दो व्यक्तियो द्वारा प्राप्त तुष्टिगुणो को रेखाकृति 48 3 मे अकित करने पर बिन्दु R'' प्राप्त होता है। इस प्रकार उत्पादन सम्भावना वक्र PP' के अन्य प्रत्येक बिन्दु के अनुसार दो व्यक्तियो मे अनुकूलतम वितरण को ज्ञात करके उससे सम्बन्धित दो व्यक्तियो द्वारा प्राप्त तुष्टिगुणो को रेखाकृति 48 3 मे अकित कर सकते है। अब यदि रेखाकृति 48 3 मे Q'', R'' तथा अन्य ऐसे बिन्दुओ को मिला दिया जाय तो हम GU वक्र प्राप्त होता है जिसे उच्चतम तुष्टिगुण सम्भावना वक्र (सीमा) (Grand Utility Possibility Frontier) कहा जाता है। इस उच्चतम तुष्टिगुण वक्र (सीमा) के प्रत्येक बिन्दु पर वस्तुओ के दो व्यक्तियो मे वितरण कुल उत्पादन की दिशा अथवा सरचना (Composition of output), तथा साधनो के प्रयोग परेटो अनुकूलतम होते है। किन्तु याद रहे कि उच्चतम तुष्टिगुण सम्भावना वक्र पर एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु को जाने से एक व्यक्ति का तुष्टिगुण बढता है तो दूसरे का घटता है। अत उच्चतम तुष्टिगुण सम्भावना वक्र पर स्थित अनेक समस्त बिन्दु परेटो अनुकूलतम बिन्दु है जिसे आर्थिक दृष्टि से कुशल (economically efficient) बिन्दु भी कहा जाता है। परेटो के मानदण्ड से उनमे चयन करना सम्भव नही क्योकि वे सभी परेटो अनुकूलतम है। अत परेटो विश्लेषण हमे अधिकतम सामाजिक कल्याण के किसी एक बिन्दु अथवा हल (a unique point or solution of maximum welfare) पर नही पहुँचाता है।

यह सामाजिक कल्याण फलन (Social Welfare Function) है जिसके आधार पर हम अनेक परेटो अनुकूलतम बिन्दुओ मे से चयन कर सकते है। रेखाकृति 48 4 मे उच्चतम तुष्टिगुण सम्भावना वक्र GU के साथ सामाजिक कल्याण फलन को प्रदर्शित करते हुए सामाजिक अनधिमान वक्र (social indifference curves), W_1 W_2 W_3 W_4 दिखाए गए है। जबकि उच्चतम तुष्टिगुण सम्भावना वक्र GU
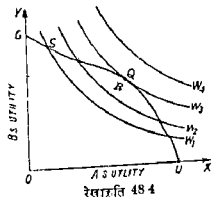
रेखाकृति 48 4

अधिकतम सामाजिक कल्याण

दो व्यक्तियो के उन तुष्टिगुण-सयोगो (utility combinations) को व्यक्त करता है जो कि साधनो की मात्रा तकनोलॉजी का स्तर तथा व्यक्तियो के अधिमान क्रम दिये हुए होने पर भौतिक दृष्टि से सम्भव (physically attainable) हैं, सामाजिक अनधिमान वक्र दो व्यक्तियो के उन तुष्टिगुण सयोगो को दर्शाते है जिनसे समान सामाजिक कल्याण की प्राप्ति होती है। सामाजिक अनधिमान वक्र जितना ही अधिक ऊँचा होगा, सामाजिक कल्याण का स्तर उतना ही अधिक होगा।

रेखाकृति देखने पर ज्ञात होगा कि अधिकतम सामाजिक कल्याण की प्राप्ति बिन्दु Q पर होगी जहाँ पर सामाजिक अनधिमान वक्र W_3 उच्चतम तुष्टिगुण सम्भावना वक्र GU को स्पर्श करता है। इस विशेष बिन्दु Q को प्रतिबन्धित अधिकतम सतोष (Constrained Bliss) का बिन्दु कहा जाता है क्योकि यह ससाधनो की मात्रा तथा तकनोलॉजी-स्तर

के प्रतिबन्ध दिये होने पर अधिकतम सन्तुष्टि (bliss) की प्राप्ति को प्रदर्शित करता है। समाज को बिन्दु Q अथवा W_3 वक्र के ऊपर के वक्रों पर जैसे कि W_4 से अधिक कल्याण प्राप्त होगा परन्तु ससाधन उपलब्धि तथा तकनोलॉजी स्तर के प्रतिबन्ध दिये होने पर उनकी प्राप्ति भौतिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। स्पष्ट है कि सामाजिक कल्याण फलन की सहायता से उच्चतम तुष्टिगुण सम्भावना वक्र पर स्थित असंख्य परेटो अनुकूलतम बिन्दुओं से हम केवल एक विशेष सन्तुलन बिन्दु (a unique equilibrium point) प्राप्त करते हैं जिस पर समाज का कल्याण अधिकतम है। प्रतिबन्धित अधिकतम सतोष (Constrained Bliss) का यह विशेष सन्तुलन बिन्दु विशेष उत्पादन ढांचे, दो व्यक्तियों में विशेष प्रकार से उसके वितरण, ससाधनों के विशेष सयोग से उत्पादन को व्यक्त करता है जिससे अधिकतम सम्भव सामाजिक कल्याण प्राप्त होता है (The point of Constraint Bliss represents the unique pattern of production of goods, unique distribution between the individuals and unique combination of factors employed to produce the goods)

उपर्युक्त विश्लेषण के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि एक परेटो अनुकूलतम अथवा कुशल बिन्दु (Pareto Optimal or Efficient Point), गैर-परेटो अनुकूलतम अथवा अकुशल (Non-Pareto Optimal or Inefficient) बिन्दु से सामाजिक कल्याण की दृष्टि से हीनतर (inferior) हो सकता है। रेखाकृति 48 4 में बिन्दु S उच्चतम तुष्टिगुण सम्भावना वक्र पर स्थित होने के कारण परेटो अनुकूलतम अथवा कुशल बिन्दु है। किन्तु बिन्दु S, बिन्दु R से कम सामाजिक कल्याण प्रदान करता है क्योंकि बिन्दु R उच्चतर सामाजिक कल्याण वक्र W_2 पर स्थित है। परन्तु बिन्दु R परेटो अनुकूलतम बिन्दु नहीं है क्योंकि यह उच्चतम तुष्टिगुण सम्भावना वक्र (Grand Utility Possibility Curve) GU से नीचे स्थित है अतः जो भी सामाजिक कल्याण फलन निर्धारित करता है वह बिन्दु R को कि A और B व्यक्तियों में S बिन्दु से तुष्टिगुण के भिन्न वितरण को प्रदर्शित करता है, को सामाजिक कल्याण की दृष्टि से अधिक श्रेष्ठ समझता है। अधिकतम सम्भव सामाजिक कल्याण का बिन्दु Q एक तो परेटो अनुकूलतम अथवा आर्थिक दृष्टि से कुशल (Pareto-optimal or economically efficient) है और दूसरे यह दो व्यक्तियों में प्रदत्त सामाजिक कल्याण फलन की दृष्टि से इष्टतम वितरण (जिससे उनको प्राप्त तुष्टिगुण निश्चित होते हैं) को व्यक्त करता है। अतः अधिकतम सामाजिक कल्याण सम्बन्धी यह विश्लेषण वितरण अथवा न्याय सम्बन्धी मूल्यगत निर्णय को आर्थिक कुशलता से जोड़ता है। (This solution combines the value judgement on equity or distribution with the economic efficiency or Pareto optimality)

अंत में यह उल्लेखनीय है कि सामाजिक कल्याण फलन को निर्धारित करना कोई सरल बात नहीं है। अभी तक अर्थशास्त्रियों ने सामाजिक कल्याण फलन को निर्धारित करने की कोई विशेष सर्वमान्य विधि नहीं सुझाई है और इस सम्बन्ध में बहुत मतभेद पाया जाता है। अतः 'सामाजिक कल्याण फलन अभी तक एक आदर्शात्मक धारणा है जिसको वास्तविक नीति-निर्माण के उपकरण के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता।" ("The social welfare function remains an idealistic concept that we cannot translate into earthly policy tool)'[1]

बर्गसन सैमुएलसन के सामाजिक कल्याण फलन की आलोचना

(Criticisms of Bergson Samuelson Social Welfare Function)

यद्यपि उपर्युक्त सामाजिक कल्याण फलन मूल्यगत निर्णयों का समावेश करने से अपने पूर्व कल्याणकारी विचारों पर सुधार है किन्तु निम्न प्रमुख दृष्टिकोणों से इस फलन की आलोचनाएं की जाती हैं :

1. Robert Y Awh, *Micro economics: Theory and Policy*, John Wiley, 1976, p 448

1 डा० लिटिल का यह मत है कि सामाजिक कल्याण फलन प्रजातान्त्रिक राज्य अथवा एक दलीय राज्य में भी लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में जितने व्यक्ति होंगे उतनी संख्या में सामाजिक कल्याण फलन होंगे। इस प्रकार यह पूर्णतया सामान्य फलन है जिसका व्यावहारिक महत्त्व बहुत ही कम है।

2 यह फलन अत्यधिक औपचारिक है जिसका सामाजिक जीवन तथा चुनाव के महत्त्वपूर्ण तथ्यों से बहुत कम सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में पाल स्ट्रीटेन (Paul Streeten) ने निम्न प्रकार मत व्यक्त किया है, "आवश्यक प्रकार के सामाजिक कल्याण फलन के मॉडल में कोई राजनैतिक कार्यक्रम अथवा व्यक्तिगत मूल्य मानदण्ड सही नहीं होगा।"[1]

3 प्रो० बॉमल का विचार है कि यह सामाजिक कल्याण फलन उन निर्देशों (instructions) को नहीं बताता है जिसमें कल्याण के विषय में मूल्यगत निर्णय प्राप्त किया जा सके।

4 प्रो० जे० के० मेहता (J K Mehta) का विचार है कि महात्मा (Superman) अथवा अधिकृत संस्था अथवा आधुनिक युग में प्रतिनिधि सरकारों को निष्पक्ष रूप में मूल्यगत निर्णय देना चाहिए किन्तु निष्पक्ष होने के लिए आवश्यक है कि संस्था का व्यक्तिगत स्वार्थ न हो। व्यक्तिगत स्वार्थ का अभाव 'आवश्यकता विहीनता की दशा' (State of Wantlessness) में ही सम्भव है। आवश्यकता विहीनता असम्भव है अतः निष्पक्षता (unbiasedness) भी असम्भव है जिसके परिणामस्वरूप निष्पक्ष मूल्यगत निर्णय भी असम्भव हैं। अतः कोई सामाजिक कल्याण फलन कल्याण के परिवर्तन के विषय में पूर्णतया सत्य निर्णय नहीं दे पाता है।

5 प्रो० ऐरो ने गत वर्षों में स्पष्ट किया है कि बहुलता नियम (majority rule) जो सामाजिक कल्याण फलन के निर्माण के लिए आधार के रूप में कहा जाता है, सामान्यतः विरोधात्मक परिणाम (contradictory results) देता है। अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी व्यक्तिगत अधिमानों पर आधारित कोई भी सामाजिक कल्याण फलन निर्मित नहीं किया जा सकता है। उनके अनुसार एक सामाजिक कल्याण फलन निर्मित किया जा सकता है किन्तु वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति के अधिमानों पर आधारित होना असम्भव है।

ऐरो तथा कल्याणकारी अर्थशास्त्र
(Arrow and Welfare Economics)

बर्गसन तथा सैमुएल्सन ने सामाजिक कल्याण फलन का प्रतिपादन करके कल्याणकारी अर्थशास्त्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किया जिसके अन्तर्गत किसी महात्मा के मूल्यगत निर्णय, जो समाज के विभिन्न व्यक्तियों के क्रमवाचक उपयोगिता सूचकांकों का प्रतिबिम्ब (reflection) होता है। प्रो० ऐरो ने अपनी '*Social Choice and Individual Values*' नामक पुस्तक के प्रकाशन के माध्यम से स्पष्ट किया कि उपर्युक्त प्रकार से सामाजिक कल्याण फलन का निर्माण करना असम्भव है क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों की इच्छाओं को सम्मिलन (reconciliation) द्वारा सामाजिक (समुदाय) निर्णय के लिए उचित विधि का निर्माण करना सरल कार्य नहीं है। के० जे० ऐरो (K. J Arrow) ने 'रुचि' (Taste) तथा 'मूल्य' (Value) में—अन्तर स्पष्ट किया है। ऐरो ने स्पष्ट किया कि बर्गसन ने अपने सामाजिक कल्याण फलन में किसी व्यक्ति की उपयोगिता (अथवा अधिमान) को उपभोग की गयी वस्तुओं की मात्रा पर निर्भर माना है। अतः एक व्यक्ति के वैकल्पिक 'सामाजिक स्तर' के क्रम उसकी 'रुचियों' की व्याख्या करते हैं। ऐरो 'सामाजिक स्तर' को निम्न प्रकार परिभाषित करते हैं :

"एक सामाजिक स्तर की संक्षिप्त परिभाषा प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में प्रत्येक प्रकार की वस्तु की मात्रा, प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पूर्ति किये जाने वाले श्रम की मात्रा, प्रत्येक प्रकार की उत्पादक क्रिया में विनियोजित उत्पादक साधनों की मात्रा तथा नगरीय

---

1 "No Political programme or individual value standard would fit the model of a social welfare function of the required type" —Paul Streeten

सेवाओं, कूटनीति तथा अन्य साधनों से इसकी निरन्तरता तथा प्रसिद्ध मनुष्यों की मूर्ति की स्थापना जैसी विभिन्न प्रकार की सामूहिक क्रिया की पूर्ण व्याख्या होगी।"[1] ऐरो के अनुसार सामाजिक स्तर का व्यक्तिगत क्रम स्वयं के उपभोग पर ही नहीं वरन् अन्य व्यक्तियों के उपभोग पर भी निर्भर करता है। तात्पर्य यह कि एक व्यक्ति का कल्याण उपभोग की निरपेक्ष मात्रा (absolute quantity) पर ही नहीं वरन सापेक्ष मात्राओं (relative quantities) पर भी निर्भर करता है। साधारण शब्दों में, एक व्यक्ति का कल्याण केवल स्वयं द्वारा प्रयुक्त सुख-सुविधाओं पर ही नहीं निर्भर होता है, यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि व्यक्ति-विशेष की तुलना में अन्य व्यक्तियों को उपलब्ध होने वाली सुख-सुविधाएँ कैसी है।

विभिन्न सामाजिक स्तरों के प्रति एक व्यक्ति के इस प्रकार के विचार नैतिक निर्णय कहे जाते हैं जो व्यक्ति-विशेष के मूल्यों (Values) को प्रदर्शित करते है। ऐरो के अनुसार व्यक्तिगत मूल्यों के अनुसार 'सामाजिक स्तरों' को क्रमबद्ध करना सामाजिक कल्याण को अधिकतम करने के लिए अत्यधिक आवश्यक है। किन्तु 'रुचियों' (Tastes) तथा मूल्यों (Values) में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है जैसा कि रोथनबर्ग (Rothenberg) ने स्पष्ट किया है कि ये क्रम चाहे रुचियों पर आधारित हों अथवा मूल्यों पर एक समान होते हैं।

ऐरो की शर्तें
(Arrow's Conditions)

जे० के० एरो ने व्यक्ति तथा समुदाय के निर्णय के मध्य सम्बन्ध के आधार पर सामाजिक कल्याण की व्याख्या की। समाज के विभिन्न सदस्यों की इच्छाओं के ज्ञात होने पर उन इच्छाओं को एक समुदाय के निर्णय (group decision) के रूप में सम्मिलित करने के लिए उचित विधि को ज्ञात करना है। इस उद्देश्य से एरो ने चार दशाएँ बताई हैं जिन्हें व्यक्तियों के अधिमानों को प्रदर्शित करने के लिए सामाजिक चुनावों को अवश्य पूरा करना चाहिए।

1 सामाजिक चुनाव आवश्यक रूप से संगत होने चाहिएँ अर्थात् यदि A स्थिति को B स्थिति की अपेक्षा अधिक तथा B स्थिति को C स्थिति की अपेक्षा अधिक अधिमान प्रदान किया जाता है तो A स्थिति C स्थिति की अपेक्षा भी अधिक अधिमान्य (preferred) होगी।

2 समुदाय के निर्णय किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा न किये जाएँ जो उस समुदाय के बाहर रहते हों। वे निर्णय समुदाय के किसी एक व्यक्ति द्वारा भी न किये जाएँ। इस प्रकार कोई भी निर्णय समुदाय के सभी सदस्यों की इच्छाओं के अनुरूप लिए जाने चाहिए।

3 सामाजिक चुनाव किसी समाज के सदस्यों के चुनाव से विपरीत दिशा में परिवर्तित नहीं होना चाहिए अर्थात सामाजिक चुनाव विभिन्न व्यक्तियों के चुनावों के अनुरूप होने चाहिएँ।

4 दो विकल्पों के मध्य सामाजिक निर्णय तब तक परिवर्तित नहीं होने चाहिए जब तक कि समुदाय का कोई व्यक्ति अपने उस क्रम को परिवर्तित नहीं करता है जिसमें वह अपने अधिमानों के अनुसार इन विकल्पों को क्रमबद्ध करता है। जिसका तात्पर्य यह है कि A तथा B दो विकल्पों के मध्य सामाजिक अधिमान लोगों के केवल इन्हीं दो विकल्पों के सम्बन्ध में मत पर ही निर्भर रहना चाहिए।

---

1. The most precise definition of a social state would be a complete description of the amount of each type of commodity in the hands of each individual, the amount of labour to be supplied by each individual, the amount of each production resource invested in each type of productive activity and the amount of various types of collective activity, such as municipal services, diplomacy and its continuation by other means and the erection of statues to famous men."

—K J Arrow

उपर्युक्त दशाओ को देखने से प्रतीत होता है कि समूह के निर्णय (group decision) के लिए ये उचित दशाएँ हैं किन्तु ऐरो का मत है कि समूह के विषय में निर्णय लेना अत्यधिक कठिन है क्योंकि इनमें से कम-से कम एक दशा आवश्यक रूप से पूरी नही होती है। अत समूह का निर्णय अर्थात सामाजिक चुनाव (social choice) एक कठिन समस्या है। ऐरो ने सामाजिक चुनाव के विषय मे उपर्युक्त प्रकार की कठिनाइयो का स्पष्टीकरण एक उदाहरण द्वारा किया है। समूह के विषय मे निर्णय लेने की सर्वोपयुक्त विधि मतदान (ballot) होता है। किन्तु इसके द्वारा ऐरो की प्रथम शर्त (condition) पूरी नही होती है, जिसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मतदाता के सक्रिय अधिमान (transitive preference) होने पर भी बहुलता नियम (majority rule) इस प्रकार के सामाजिक चुनाव कर सकता है जो सक्रिय (transitive) नही है। इसका अर्थ यह है कि व्यक्तिगत

वैकल्पिक दशाएँ

	A	B	C
X	3	2	1
Y	1	3	2
Z	2	1	3

अधिमान सगत (*consistent*) होने पर भी बहुलता नियम (*majority rule*) पर आधारित सामाजिक चुनाव (social choices) असगत हो सकते हैं। इस तथ्य को उपर्युक्त तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। कल्पना कीजिए कि X, Y तथा Z तीन व्यक्तियो को A, B तथा C तीन विकल्पो मे से चुनाव करना है। माना कि सर्वाधिक, मध्यम तथा न्यूनतम अधिमान को वे क्रमश 3, 2 तथा 1 सख्या लिख कर व्यक्त करते हैं, जिसके आधार पर तीनो विकल्पो के सम्बन्ध विभिन्न व्यक्तियो के उपर्युक्त प्रकार के अधिमान क्रम प्राप्त करते हैं।

उपर्युक्त तालिका को देखने से स्पष्ट होता है कि X व्यक्ति A को B की अपेक्षा तथा B को C की अपेक्षा अधिक अधिमान प्रदान करता है। इसी प्रकार Y व्यक्ति B को C की अपेक्षा तथा C को A की अपेक्षा अधिक अधिमान देता है। इसी प्रकार Z व्यक्ति C को A की अपेक्षा तथा A को B की अपेक्षा अधिक अधिमान प्रदान करता है। इस प्रकार X तथा Z दोनो व्यक्ति A को B की अपेक्षा अधिक अधिमान प्रदान करते है तथा X एव Y दोनो व्यक्ति B को C की अपेक्षा अधिक अधिमान प्रदान करते है। इसी प्रकार Y तथा Z दोनो व्यक्ति C स्थिति को A की अपेक्षा अधिमान्यता देते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि 3 मे से 2 अर्थात् बहुसख्यक (majority) A को B की अपेक्षा तथा B को C की अपेक्षा अधिक अधिमान्यता देते हैं किन्तु बहुसख्यक ही C को A की अपेक्षा अधिक अधिमान्यता देते हैं जब कि सगति परीक्षण (*consistency test*) के अनुसार यदि A को B की अपेक्षा तथा B को C की अपेक्षा अधिक अधिमान्यता दी जाती है तो A को C की अपेक्षा अधिक अधिमान्यता दी जानी चाहिए। किन्तु उपर्युक्त स्पष्टीकरण से हम विरोधात्मक परिणाम (contradictory result) प्राप्त होता है।

अत एक ऐसे सामाजिक कल्याण फलन का निर्माण करना सम्भव नही है जो सभी व्यक्तिगत अधिमानो को समाविष्ट कर सके। इसके अतिरिक्त ऐरो के अनुसार विभिन्न विकल्पो को केवल क्रमबद्ध करने की आवश्यकता है जिसका अर्थ यह है कि किसी विकल्प के प्रति चुनाव को इच्छा की तीव्रता (intensity of desires) के आधार पर कोई भार प्रदान नही किया जाता है क्योंकि किसी सामाजिक पूँजी के निर्माण के प्रति समाज की अनुभूतियो की तीव्रता (intensity of feelings) को मापा नहीं जा सकता है।

ऐरो की उपर्युक्त शर्तें (conditions) ही मूल्य-गत निर्णय कही जाती हैं। इसके साथ ही वे शर्तें नागरिकों की सार्वभौमिकता तथा विवेकशीलता को

सामान्य रूप में प्रदर्शित करती है। अपने विश्लेषण के द्वारा ऐरो स्पष्ट करते हैं कि इन मूल्यगत निर्णयों से विभिन्न सामाजिक स्तरों के व्यक्तिगत मूल्यों के आधार पर उन सामाजिक स्तरों में सामाजिक क्रम का निर्माण करना असम्भव है क्योंकि उपर्युक्त शर्तों में से कम से कम एक शर्त आवश्यक रूप से भंग हो जाती है।

सामाजिक चुनाव तथा व्यक्तिगत मूल्यों की उपर्युक्त व्याख्या करने के पश्चात् ऐरो ने गणित तथा प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र (symbolic logic) की सहायता से 'सामान्य सम्भावना सिद्धान्त (*General Possibility Theorem*) का प्रतिपादन किया है जिसकी सहायता से उन्होंने व्यक्तिगत अधिमाना के आधार पर सामूहिक अधिमान का निर्माण करने को असम्भव सिद्ध किया है। ऐरो ने सर्वप्रथम दो वैकल्पिक स्थितियों के आधार पर यह सिद्ध किया कि ऐसी दशा में बहुसंख्यक नियम, ऐरो की सभी दशाओं को पूरा करते हुए सामाजिक कल्याण फलन का निर्माण कर सकता है। किन्तु यदि तीन या उससे अधिक विकल्प होते हैं तो बहुसंख्यक नियम को स्वीकार करके कोई सही सामाजिक कल्याण फलन निर्मित नहीं किया जा सकता है। यही ऐरो का 'सामान्य सम्भावना सिद्धान्त' (General Possibility Theorem) है जिसकी उन्होंने निम्न प्रकार व्याख्या की है 'यदि हम उपयोगिता की अन्तर्वैयक्तिक तुलना को स्वीकार नहीं करते हैं तो व्यक्तिगत रुचियों से सामाजिक अधिमानों की ओर जाने की एकमात्र विधि, जो सन्तोषजनक होगी तथा जो व्यक्तिगत क्रमों के समूहों के विस्तृत श्रेणी के लिए परिमापित होगी, वह या तो अध्यारोपित अथवा अधिनायकीय (dictatorial) है।"[1]

1 'If we exclude the possibility of interpersonal comparison of utility, then the only method of passing from individual tastes to social preferences which will be satisfactory and which will be defined for a wide range of sets of individual orderings are either imposed or dictatorial'
—K J Arrow

ऐरो के कल्याणकारी अर्थशास्त्र की आलोचनाएँ (Criticisms of Arrow's Welfare Economics)

कल्याणकारी अर्थशास्त्र में प्रो० ऐरो द्वारा प्रस्तुत सामाजिक चुनाव तथा व्यक्तिगत मूल्यों के विचार की अनेक दृष्टिकोणों से आलोचनाएँ की गयी हैं। प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार हैं

1 प्रो० ई० जे० मिशन (E J Mishan) का विचार है कि एरो की सामाजिक अनधिमान की विचार धारा (concept of social indifference) केवल एक व्यक्ति के संदर्भ में ही स्वीकार्य है, समाज के संदर्भ में नहीं। इस विचार के अन्तर्गत ऐरो ने स्पष्ट किया कि यदि सामूहिक रूप में X का Y की अपेक्षा तथा सामूहिक रूप में Y को X की अपेक्षा अधिमान्य नहीं किया जाता तो समाज उन दोनों विकल्पों के प्रति तटस्थ (indifferent) रहता है। प्रो० मिशन के अनुसार यह किसी व्यक्ति के लिए तो स्वीकार्य हो सकता है किन्तु समाज के विषय में यह नहीं स्वीकार किया जा सकता है जबकि समाज के लिए दो विकल्प तीन रूपों में से एक में ही क्रमबद्ध किए जा सकें। इसके अतिरिक्त प्रो० मिशन का यह भी मत है कि ऐरो ने एक उचित सामाजिक कल्याण फलन की खोज में उपयोगिता की मापनीयता तथा अन्तर्वैयक्तिक तुलना को अस्वीकार करने का दावा किया है किन्तु बहुसंख्यक विचार के अन्तर्गत उपयोगिता की मापनीयता तथा अन्तर्वैयक्तिक तुलना का विचार अन्तर्निहित हैं।

2 बॉमोल (Baumol) का विचार है कि यद्यपि व्यक्तिगत क्रमों के आधार पर सन्तोषजनक सामाजिक क्रम निर्मित करना असम्भव है किन्तु इसका कारण ऐरो की मान्यताएँ ही हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न सामाजिक स्तरों में किसी विकल्प के चुनाव के लिए ऐरो ने केवल कोटि क्रम (Ranking) को ही ध्यान में रखा है। इच्छाओं की तीव्रता के आधार पर विभिन्न विकल्पों को भार प्रदान नहीं करता है।

3 प्रो० लिटिल (Little) का विचार है कि ऐरो के सामाजिक कल्याण फलन के सम्बन्ध में नकारात्मक निष्कर्ष अर्थात् असम्भाविता (impossibility) का कल्याण

कारी अर्थशास्त्र में कोई प्रयोग नहीं हैं। अत ऐरो के फलन को सामाजिक कल्याण फलन के बजाय निर्णय करने की प्रक्रिया (decision-making process) के रूप मे समझा जाना चाहिए। इसका अभिप्राय कल्याणकारी अर्थशास्त्र की *अपेक्षा राजनैतिक सस्थाओ के लिए* अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर है। अत डा० लिटिल के विचार से ऐरो के निष्कर्ष का बर्गसन के सामाजिक कल्याण फलन पर कोई प्रभाव नही पडता है।

तथापि रोथनबर्ग (Rothenberg) का इस सदर्भ म यह मत है कि डा० लिटिल ने बर्गसन के सामाजिक कल्याण फलन को सकुचित रूप में समझा है, विस्तृत अर्थ मे बर्गसन के सामाजिक कल्याण फलन से ही ऐरो के *सामाजिक कल्याण फलन को प्राप्त किया जा* सकता है।

इस प्रकार ऐरो (Arrow) के कल्याणकारी अर्थशास्त्र की भी अनेक दृष्टिकोणो मे आलोचना की गई, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि कल्याणकारी अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे इतनी अधिक सैद्धान्तिक (theoretical) तथा व्यावहारिक (applied) प्रगति होने पर भी सामाजिक कल्याण मे परिवर्तन को ज्ञात करने के लिए किसी उचित मानदण्ड की खोज नहीं की जा सकी है। एक वास्तविक सामाजिक कल्याण फलन के अन्तर्गत उन समस्त सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक तत्त्वो को सम्मिलित करना आवश्यक होता है जो समाज के कल्याण को प्रभावित करते हैं। किन्तु एक तो सामाजिक कल्याण को प्रभावित करने वाले अनेक चरो (numerous variables) को सम्मिलित करना असम्भव है तथा इसके साथ उन अनेक चरो की परिमाणात्मक माप (quantitative measurement) भी असम्भव है। अत सर्वमान्य सामाजिक *कल्याण फलन का निर्माण भी असम्भव प्रतीत होता* है।

भाग 8

समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त

(MACRO ECONOMIC THEORY)

49

रोजगार सिद्धान्त

(THEORY OF EMPLOYMENT)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) का विचार था कि अर्थव्यवस्था में सदैव पूर्ण रोजगार (*full employment*) *बना रहता है* अथवा पूर्ण रोजगार स्थापित होने की प्रवृत्ति होती है। उनका यह विचार 'से के नियम' (Say's Law) में विश्वास रखने के कारण था। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का विचार था कि यदि किसी समय में देश में बेरोजगारी (unemployment) उत्पन्न हो जाती है तो इसमें ऐसी आर्थिक शक्तियाँ अपने आप काम करने लग जाएँगी जिससे पूर्ण रोजगार की स्थिति फिर से स्थापित हो जाएगी यदि अर्थव्यवस्था में निर्बाध एवं पूर्ण प्रतियोगिता पायी जाती है। 1929-33 के दौरान पूंजीवादी देशों में एक महान मन्दी (Great Depression) आई जिससे उनमें व्यापक रूप से बेरोजगारी फैल गयी तथा राष्ट्रीय आय का स्तर बहुत गिर गया। इस मन्दी के कारण इन देशों में कई फैक्टरियाँ बन्द हो गईं और अन्य जो चलती रहीं उनमें उत्पादन बहुत घटा दिया गया। इस भीषण मन्दी में उत्पन्न बेरोजगारी, निम्न आय एवं कम उत्पादन के फलस्वरूप लोगों को बहुत विपत्तियों व *कष्टों का सामना करना पड़ा। मन्दी व बेरोजगारी* की यह स्थिति स्वयं दूर होने को नहीं आ रही थी। अतः लोगों, विशेषकर अर्थशास्त्रियों का पूर्ण रोजगार सम्बन्धी प्रतिष्ठित आर्थिक सिद्धान्त पर से विश्वास उठ गया। रोजगार सम्बन्धी प्रतिष्ठित सिद्धान्त अनुभव से असत्य सिद्ध हुआ। इस पृष्ठभूमि में स्वर्गीय जे० एम० केन्ज (J M Keynes) महोदय ने "रोजगार, ब्याज तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त" (*General Theory of Employment, Interest and Money*) नामक पुस्तक की रचना की जिसमें उन्होंने प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त को सैद्धान्तिक दृष्टि से दोषपूर्ण सिद्ध किया। केन्ज ने न केवल प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त की कटु आलोचना ही की और इसे गलत सिद्ध किया, अपितु आय व रोजगार निर्धारण का एक क्रमबद्ध सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया जिसे आज के अर्थशास्त्री अधिकांशतः सही

मानते है। केन्ज आर्थिक विचारधारा मे मौलिक तथा अतीव महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाये जिससे केन्ज के सिद्धान्त को प्राय नवीन अर्थशास्त्र (*New Economics*)[1] की सज्ञा दी जाती है। केन्ज के आर्थिक सिद्धान्त मे किए गए क्रान्तिकारी परिवर्तन से प्रभावित होकर कई अर्थशास्त्री उसके सिद्धान्त को केन्जियन क्रान्ति (*Keynesian Revolution*)[2] कह कर सम्बोधित करते हैं।

इस अध्याय मे हम प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त (से का नियम) तथा केन्ज द्वारा उस पर की गई आलोचनाओ का अध्ययन करेंगे। इसी अध्याय मे ही हम केन्ज के रोजगार सिद्धान्त का सक्षेप मे परिचय देंगे।

रोज़गार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त
(*Classical Theory of Employment*)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री यह समझते थे कि यदि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे कीमत प्रणाली को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने दिया जाय तो देश मे पूर्ण रोज़गार होने की प्रवृत्ति होती है। हाँ यह वे मानते थे कि कभी-कभी कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है जब कि अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार पर सन्तुलन मे नही होती। परन्तु उनका दृढ विचार था कि पूर्ण रोजगार स्थापित होने की प्रवृत्ति (tendency for full employment) अवश्य होती है और जैसे ही ये असामान्य परिस्थितियाँ नही रहती तो पूर्ण रोजगार पुन स्थापित हो जाता है। अत प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री समझते थे कि पूर्ण रोजगार के स्तर से जो उतार-चढ़ाव होते हैं वे कीमत प्रणाली के कार्य करने के फलस्वरूप स्वय (automatically) दूर हो जाते है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के इस रोज़गार सिद्धान्त को आधुनिक अर्थशास्त्री ठीक नहीं मानते। जे० एम० केन्ज (J M Keynes) ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त की पूर्ण रोजगार की धारणा की कटु आलोचना की। *केन्ज द्वारा प्रतिपादित आधुनिक रोजगार तथा आय सिद्धान्त को समझने के लिए प्रतिष्ठित सिद्धान्त की व्याख्या करना आवश्यक है।*

रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त दो आधारभूत धारणाओ पर आधारित था। पहली धारणा यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्ण रोजगार के स्तर पर हुए उत्पादन को क्रय करने के लिए पर्याप्त व्यय होगा अर्थात् इस सिद्धान्त मे पूर्ण रोजगार के स्तर पर उत्पादित वस्तुओ को खरीदने के लिए पर्याप्त व्यय के न होने की सम्भावना नही मानी गई है। द्वितीय, इस सिद्धान्त के अनुसार यदि कुल व्यय मे कमी हो भी जाती है तो भी कीमतो और मजदूरी मे इस प्रकार परिवर्तन हो जाएगा जिससे कि कुल व्यय मे कमी होने पर भी वास्तविक उत्पादन, रोजगार तथा वास्तविक आयो मे कमी नही होगी। प्रतिष्ठित सिद्धान्त का यह विचार कि कुल व्यय मे कमी नही हो सकती "से के नियम' (Say's law) पर आधारित है। जे० बी० से (J B Say) 19वीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध फ्रासीसी अर्थशास्त्री हुए हैं। से का नियम इस धारणा पर आधारित है कि वस्तुओ को उत्पादित करने की प्रत्येक क्रिया उत्पादित वस्तुओ के मूल्य के बराबर आयो को उत्पन्न करती है और ये आयें वस्तुओ को खरीदने पर व्यय की जाती हैं अर्थात् वस्तुओ का उत्पादन अपने खरीदने की क्रय-शक्ति स्वय उत्पन्न करता है। इसलिए से ने अपने नियम को इस प्रकार व्यक्त किया कि **"पूर्ति अपनी माँग स्वय उत्पन्न कर लेती है"** (Supply creates *its own demand*)। *दूसरे शब्दों में उत्पादित वस्तुओं* की प्रत्येक पूर्ति अपने व समान मूल्य की माँग उत्पन्न करती है जिसके परिणामस्वरूप सामान्य अत्युत्पादन (general over production) की समस्या नहीं हो सकती। इस प्रकार से का नियम समस्त माग की कमी अथवा अभाव की सम्भावना को स्वीकार करता है।

---

1 यह नाम प्रो० एस० ई० हैरिस (S E Harris) ने दिया है जिन्होने "*New Economics*" नामक पुस्तक का सम्पादन किया है।

2 यह नाम एल० आर० क्लाईन (L R Klein) न दिया है जिन्होने '*The Keynesian Revolution*" नामक एक पुस्तक लिखी है।

से का नियम स्वतन्त्र विनिमय अर्थव्यवस्था की कार्यविधि के विषय में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य को बतलाता है कि वस्तुओं के लिए माँग का मुख्य स्रोत उत्पादन के कार्य में प्रयुक्त उत्पादन के विभिन्न साधनों द्वारा अर्जित की गई आय है। पहले से बेरोजगार तथा अप्रयुक्त श्रमिक तथा अन्य साधन रोजगार और काम पर लगाने से अपनी माँग स्वय पैदा कर लेते हैं क्योंकि जितनी वे आय अर्जित करते हैं उसके समान ही वस्तुओं के लिए माँग उत्पन्न हो जाती है। एक नया उद्यमकर्ता जब उत्पादन के साधनों को काम पर लगाता है और उनको आय देता है तो वह जब वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि करता है तो साथ ही माँग भी उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह उत्पादन ही है जो वस्तुओं के लिए माँग अथवा मार्केट का सृजन करता है। उत्पादन माँग का एकमात्र कारण है। प्रोफेसर डिलर्ड (Dillard) उचित ही कहते हैं कि 'से का नियम सामान्य अत्युत्पादन की सम्भावना की उपेक्षा करता है अर्थात् यह समस्त माँग की कमी की सम्भावना को नहीं मानता। इसलिए अधिक साधनों को रोजगार देना सदैव लाभकर होगा जिससे कि पूर्ण रोजगार स्थापित हो जाएगा यदि साधन उपलब्ध कराने वाले अपनी भौतिक उत्पादकता से अधिक कीमतें प्राप्त नहीं करना चाहते। इस विचार के अनुसार सामान्य रूप से कोई बेरोजगारी नहीं हो सकती यदि श्रमिक अपनी योग्यता अथवा उत्पादकता के अनुसार अपने पारिश्रमिक लेने को तैयार हों।'[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि से के नियम के अनुसार सदा ही कुल व्यय इतना रहेगा जिससे कि सभी साधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त हो सके। उत्पादन क्रियाओं में भाग लेने से साधनों की पूर्ति करने वालों को जो आय मिलती है वे इसका अधिक भाग उपभोक्ता वस्तुओं पर व्यय कर देते हैं और कुछ भाग बचा लेते हैं। परन्तु प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार जो बचतें होती हैं, वे अपने आप पूँजीगत पदार्थों अर्थात् निवेश कार्यों में व्यय कर दी जाती हैं। अत बचत एक प्रकार का व्यय होने के कारण प्रतिष्ठित सिद्धान्त में समस्त आय व्यय हो जाती है, कुछ उपभोग के लिए तथा कुछ निवेश के लिए। स्पष्ट है कि आय प्रवाह में से कुछ मुद्रा निकल जाने का कोई कारण नहीं है और इसलिए पूर्ति अपनी माँग स्वय उत्पन्न करती है।

अब प्रश्न उठता है कि प्रतिष्ठित सिद्धान्त में बचत किस प्रकार निवेश व्यय के बराबर होती है। प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार यह ब्याज की दर है जो निवेश को बचत के समान बना देती है। जब लोगों की बचतें बढ़ जाती हैं तो ब्याज की दर घट जाती है। ब्याज दर के घटने पर निवेश की माँग बढ़ जाती है और इस प्रकार निवेश बढ़ी हुई बचतों के बराबर हो जाता है। अतएव प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार ब्याज दर रूपी ऐसी व्यवस्था मौजूद है जो बचत और निवेश को बराबर कर देती है और इसलिए से का नियम (Say's law) बचत के होने पर भी लागू होता है और पूर्ण रोजगार की गारण्टी देता है अर्थात् यह ब्याज दर में परिवर्तन है जिसके कारण आय प्रवाह में से बचत के रूप में निकली मुद्रा अपने आप निवेश पर व्यय के रूप में इसमें आकर जुड़ जाती है और परिणामस्वरूप आय प्रवाह घटे बिना जारी रहता है और पूर्ति अपनी माँग स्वय उत्पन्न करती रहती है।

एक और आधारभूत तर्क द्वारा प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने अपनी पूर्ण रोजगार की धारणा को सिद्ध किया। उनके अनुसार उत्पादन की मात्रा जो व्यवसायी अथवा फर्में उपलब्ध कर सकती हैं, वह केवल कुल माँग अथवा कुल व्यय की मात्रा पर ही निर्भर नहीं करती अपितु पदार्थों की कीमतों पर निर्भर करती है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि ब्याज की दर कुछ काल के लिए निवेश को बचत के समान करने में असफल भी रहती है और परिणामस्वरूप कुल माँग में कमी हो जाती है तो भी अत्युत्पादन तथा बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न नहीं होगी। उन्होंने यह विचार प्रकट किया कि कुल माँग में कमी कीमत-स्तर (price level) घट जाने से पूरी हो जाएगी। जब लोगों का व्यय बचत के अधिक होने के कारण कम भी हो जाता है तो इसका प्रभाव पदार्थों की

1 D Dillard, *The Economics of J M Keynes*,

कीमतों पर पड़ेगा। कुल व्यय और माँग के कम होने के कारण पदार्थों की कीमतें घट जाएँगी और इन कम कीमतों पर उनकी माँग बढ़ जाएगी जिससे सभी उत्पादित पदार्थ कम कीमतों पर बिक जाएँगे। इस प्रकार उन्होंने तर्क दिया कि बचत के अधिक होने के कारण कुल व्यय में कमी से भी वास्तविक उत्पादन, वास्तविक आय तथा रोजगार के स्तर में कमी नहीं होगी क्योंकि कुल माँग (व्यय) में कमी के अनुपात में पदार्थों की कीमतें घट जायेंगी।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार एक निर्बाध पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में वास्तव में ऐसा ही होता है। पदार्थों के विक्रेताओं में प्रतियोगिता के कारण कुल व्यय में कमी के परिणामस्वरूप पदार्थों की कीमतें घट जाएगी। कारण यह है कि जब पदार्थों पर कुल व्यय अथवा उनके लिए माँग घट जाती है तो विभिन्न विक्रेता तथा उत्पादक इस भय से कि कहीं उनके पास वस्तुओं के अधिक भण्डार न हो जाएँ उनकी कीमतों को घटा देते हैं। अतः प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के तर्क के अनुसार अधिक बचत से पदार्थों की कीमतें घट जाएँगी न कि उत्पादन व रोजगार। परन्तु अब प्रश्न उठता है कि विक्रेता अथवा उत्पादक लोग पदार्थों की कम कीमतों को कहाँ तक वहन कर सकते है। अपने उत्पादन कार्य को लाभकारी बनाने के लिए उन्हें उत्पादन के कार्य में लगाए गए श्रम आदि साधनों की कीमतों को घटाना होगा। इस सिद्धान्त में वास्तव में ऐसा होने को कहा है कि जब वस्तुओं की माँग घटती है और उनकी कीमतें गिर जाती हैं तो उत्पादक लोग श्रम आदि की मजदूरी भी घटा देते हैं। श्रमिकों की मजदूरी घटने पर सभी श्रमिकों को रोजगार मिल जाता है। यदि कुछ श्रमिक कम मजदूरी पर काम न करना चाहें तो उन्हें काम नहीं मिलेगा अथवा बेरोजगार हो जाएगे। परन्तु प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार बेरोजगार श्रमिकों की प्रतियोगिता के कारण मजदूरी की दर वास्तव में गिर जाती है और सभी श्रमिक काम तथा रोजगार पर लगे रहते हैं। हाँ, उनकी मजदूरी दर घट जाती है। इस प्रकार प्रतिष्ठित सिद्धान्त के अनुसार 'अनैच्छिक बेरोजगारी" (involuntary unemployment) सम्भव नहीं है। जो व्यक्ति तथा श्रम मार्किट में निर्धारित मजदूरी पर काम करना चाहते हैं तो उन्हें काम तथा रोजगार प्राप्त हो जाएगा। 1929 33 की अवधि में महामन्दी के समय प्रसिद्ध प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री पीगू ने उस समय व्यापक भारी मात्रा में बेरोजगारी दूर करने का उपचार मजदूरी दर को घटा देना बतलाया था। उसके विचार में उस समय की बेरोजगारी और महामन्दी का कारण सरकार तथा श्रमिक संघों (trade unions) द्वारा स्वतन्त्र प्रतियोगिता में बाधाएँ उपस्थित करना था और मजदूरी की दर को उच्च स्तर पर स्थिर रखना था। उसके अनुसार यदि मजदूरी की दर घटा दी जाय तो इससे श्रमिकों की माँग बढ़ जायगी जिससे सभी को काम अथवा रोजगार प्राप्त हो जाएगा। यही समय था कि जे० एम० केन्ज ने प्रतिष्ठित सिद्धान्त को चुनौती दी और आय तथा रोजगार के निर्धारण का नया सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उसने आय तथा रोजगार के निर्धारण के विषय में आर्थिक विचारों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया। इसलिए कहा जाता है कि केन्ज ने आर्थिक सिद्धान्त में क्रान्ति ला दी।

रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Classical Theory of Employment)

केन्ज ने अपनी पुस्तक "रोजगार ब्याज, तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त (*General Theory of Employment, Interest and Money*) में रोजगार के प्रतिष्ठित सिद्धान्त की कटु आलोचना की। उसने से के नियम की आलोचना की, विशेषकर पीगू के इस विचार की कि मन्दी और बेरोजगारी के समय मजदूरी को घटा देने से पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित हो सकती है। जैसा कि हमने ऊपर बताया है कि से के नियम के अनुसार उत्पादन की प्रत्येक पूर्ति अपने समान माँग स्वयं उत्पन्न कर लेती है जिससे कि अत्युत्पादन तथा सामान्य बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न नहीं हो सकती। निस्सन्देह यह सच है कि पूर्ति वस्तुओं की माँग उत्पन्न करती है क्योंकि उत्पादन की प्रक्रिया में जो विभिन्न साधन लगाए जाते हैं, वे आय अर्जित

करते हैं जो कि वस्तुओं पर व्यय की जाती है। उदाहरणार्थ जब उत्पादन के साधन कपडा बनाने पर लगाये जाते है तो उन्हे मजदूरी, किराया, ब्याज और लाभ के रूप मे आयें प्राप्त होंगी जो कि वे अपनी इच्छित वस्तुओं पर खर्च करेंगे। परन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि उत्पादन की समस्त पूर्ति अपनी समस्त माँग स्वय उत्पन्न कर लेगी। उत्पादन के साधनो द्वारा अर्जित आयें उनके द्वारा किए गए उत्पादन के मूल्य के बराबर होती हैं, परन्तु उनका यह अर्थ नही कि वे अपनी समस्त आय को किसी दी हुई समय अवधि मे वस्तुओं अथवा सेवाओं पर व्यय कर देंगे। आय का एक भाग बचा लिया जाता है जिससे कि यह भाग वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए माँग उत्पन्न नही करता। यदि निवेशकर्त्ता किसी रोजगार के स्तर पर इच्छित बचतो के बराबर निवेश नहीं करते तो समस्त माँग, जिसमे कि उपभोक्ता वस्तुओं और पूँजीगत वस्तुओं की माँग शामिल होती है उत्पादन की उपलब्ध समस्त पूर्ति के लिए पर्याप्त नही होगी। अत यदि उत्पादन की उपलब्ध पूर्ति के लिए पर्याप्त माँग नही होती तो उत्पादक लोग अपना समस्त उत्पादन नहीं बेच पायेंगे जिसके कारण उनके लाभ घट जायेंगे और वे अपना उत्पादन घटा देंगे जिसके परिणामस्वरूप बेरोजगारी उत्पन्न हो जाएगी।

किसी विशेष समय-अवधि मे उपभोक्ता अपनी आय का एक भाग उपभोग कर देते हैं और शेष बचा लेते हैं। इसी प्रकार प्रत्येक समय-अवधि मे उद्यमकर्त्ता फैक्टरियो, मशीनो आदि पर कुछ व्यय करने की योजना बनाते हैं अर्थात् निवेश करते हैं। समस्त सफल माँग उपभोग तथा निवेश माँग का जोड होती है। परन्तु एक स्वतन्त्र उद्यम पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे बचत करने वाले व्यक्ति प्राय निवेश करने वाले व्यक्तियो से भिन्न होते हैं तथा बचत को निर्धारित करने वाले कारक तथा उद्देश्य उद्यमकर्त्ताओं के निवेश को निर्धारित करने वाले कारको से भिन्न होते हैं। लोग अपनी बचत अपनी वृद्ध आयु मे निर्वाह करने के लिए, बच्चो की शिक्षा व शादी-ब्याह आदि के लिए करते हैं, परन्तु उद्यमकर्त्ताओं द्वारा निवेश पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (लाभ की प्रत्याशित दर), ब्याज की दर, जनसख्या मे वृद्धि, तकनीकी प्रगति आदि कारकों पर निर्भर करती है। अतएव हम देखते हैं कि एक स्वतन्त्र उद्यम पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे कोई ऐसी व्यवस्था नही है जो इस बात की गारन्टी दे कि जो लोग बचत करते हैं, उसके समान ही उद्यमकर्त्ता निवेश करे। सामान्यत अभीष्ट बचत (desired saving) तथा उद्यमकर्त्ताओं द्वारा अभीष्ट निवेश (desired investment) बराबर नही होते। यदि उद्यमकर्त्ता द्वारा अभीष्ट निवेश पूर्ण रोजगार के स्तर पर बचत की मात्रा के समान नही है तो आय और रोजगार का स्तर पूर्ण रोजगार के स्तर से घट जाएगा अर्थात् सन्तुलन पूर्ण रोजगार से कम स्तर (equilibrium at less than full employment level) पर होगा जिससे कि देश मे बेरोजगारी उत्पन्न हो जायेगी। इस प्रकार केन्ज के अनुसार यह कोई कारण नही है कि उपभोग व्यय तथा निवेश व्यय मिलकर किसी उत्पादन के मूल्य के बराबर होगे अर्थात् इस बात की कोई गारण्टी नही कि समस्त माँग (aggregate demand) समस्त पूर्ति (aggregate supply) के समान होगी। इसलिए यह अनिवार्य नही है कि अर्थव्यवस्था का सन्तुलन पूर्ण रोजगार के स्तर पर हो। इससे से का नियम असत्य सिद्ध हो जाता है क्योकि से के नियम के अनुसार अत्युत्पादन और बेरोजगारी नहीं हो सकती।

केन्ज ने पीगू (Pigou) के इस विचार की भी कटु आलोचना की कि मजदूरी मे कटौती कर देने से बेरोजगारी समाप्त हो जाएगी और पूर्ण रोजगार स्थापित हो जाएगा। केन्ज के अनुसार मजदूरी मे सामान्य कमी (general cut in wages) रोजगार मे वृद्धि नही ला सकेगी क्योकि मजदूरी घटाने से देश मे समस्त माँग घट जाएगी। केन्ज ने यह मत प्रकट किया कि मजदूरी न केवल उत्पादन की लागत होती है अपितु यह श्रमिकों, जो देश की जनसख्या का अधिकांश भाग होते हैं, की आय होती है (Wages are not only costs of production, they are also incomes)। मजदूरी घटा देने से

श्रमिकों की माया में कमी हो जाएगी जिससे समस्त माँग घट जाएगी। समस्त माँग के घटने से वस्तुओं का उत्पादन घटाना पड़ेगा जिससे रोजगार की मात्रा बढ़ने के बजाय उल्टा घट जाएगी। निस्सन्देह मजदूरी की दर के घटने के परिणामस्वरूप उद्योगों की लागतें घट जाएँगी, परन्तु उनसे हो पदार्थों की माँग नहीं बढ़ जायेगी क्योंकि श्रमिकों की क्रय-शक्ति मजदूरी के घटने के कारण कम हो जाती है। अतएव मजदूरी में सामान्य रूप में कटौती समस्त माँग को घटा देने के कारण रोजगार की मात्रा को घटा देगी और मंदी को अधिक भीषण बना देगी।

केन्ज और पीगू के विचारों में मौलिक अन्तर है। पीगू का यह विचार है कि रोजगार मौद्रिक मजदूरी (money wages) पर निर्भर करता है और इसको घटाने पर बढ़ाया जा सकता है। इसके विपरीत केन्ज का यह मत है कि रोजगार की मात्रा समस्त माँग द्वारा निर्धारित होती है और यह समस्त माँग मौद्रिक मजदूरी के घटने से घट जाती है। केन्ज के विचार में यदि मजदूरी की दरें बिल्कुल परिवर्तनशील (flexible) ही क्यों न हों बेरोजगारी फिर भी रहेगी यदि समस्त माँग कम है।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री यह तर्क देते थे कि मजदूरी कम होने से लागत में भी कमी आ जाएगी, परन्तु वे यह नहीं देखते थे कि मजदूरी कम होने से लोगों की आयें भी कम हो जाएगी जिससे निर्माताओं का माल नहीं बिक पायेगा। माल के बिकने से ही उद्योगों में उत्पादन बढ़ाया जाता है तथा रोजगार में वृद्धि होती है। यदि हम किसी उद्योग-विशेष को लें तो प्रतिष्ठित सिद्धान्त ठीक सिद्ध हो सकता है। मजदूरी घटने पर एक उद्योग के उत्पादन की लागत कम हो जाएगी तो वह अधिक माल बेच सकेगा, क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि उस उद्योग का माल उसी उद्योग के श्रमिकों को खरीदना है। किन्तु यदि हम सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को लें तो यह विचार सही नहीं जान पड़ता क्योंकि मजदूरी कम होने से आय में भी कमी आ जाएगी जिससे क्रयशक्ति कम होने से माँग भी कम हो जाएगी। साथ ही श्रमिकों के लिए माँग भी कम हो जाएगी, जिससे बेरोजगारी फैल जाएगी। पीगू की व्याख्या में मूल भ्रम यह है कि उसने आंशिक सन्तुलन के विश्लेषण (partial equilibrium analysis) को जो कि केवल व्यक्तिगत उद्योग की स्थिति में सत्य होता है, सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में रोजगार व मजदूरी निर्धारण पर लागू कर दिया। अर्थव्यवस्था में कुल रोजगार की मात्रा कैसे निर्धारित होती है, इसके लिए तो सामान्य सन्तुलन विश्लेषण (general equilibrium analysis) का प्रयोग करना चाहिए।

इन सभी त्रुटियों के कारण प्रतिष्ठित सिद्धान्त के स्थान पर किसी नवीन सिद्धान्त की आवश्यकता थी जो अर्थव्यवस्था की सही व्याख्या कर सके। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था स्वयमेव पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकती। केन्ज ने 1936 में **"रोजगार, ब्याज तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त"**—*General Theory of Employment, Interest and Money* नामक पुस्तक लिखकर प्रतिष्ठित सिद्धान्त का खंडन करते हुए नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

निष्कर्ष—ऊपर हमने से (Say) के नियम की व्याख्या की है। यह नियम प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के लिए मूल-मन्त्र है। यह नियम मूल रूप में तो बड़े थोड़े शब्दों में दिया गया है अर्थात् पूर्ति अपनी माँग को स्वयं उत्पन्न करती है (Supply creates its own demand) किन्तु इससे यह निष्कर्ष ग्रहण किया गया है कि अर्थ-व्यवस्था स्वतः नियन्त्रित रूप से ही चलती रहती है। यदि कहीं मार्ग में कठिनाई आ भी जाए तो उसका समाधान भी स्वयमेव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि बेरोजगारी है तो मजदूरी कम हो जाएगी, नियोक्ता मजदूरी की घटी दर पर अधिक श्रमिकों को नियुक्त करेंगे और बेकारी स्वयमेव दूर हो जाएगी, अतः समय पाकर सभी को पूर्ण रोजगार प्राप्त हो जाएगा। यदि किसी कारणवश अत्युत्पादन हो जाए तो कीमतें गिर जाएँगी तथा माल अपने आप बिक जाएगा। इस कारण सामान्य अत्युत्पादन (general over-production) की अवस्था का रहना असम्भव है। इस प्रकार यदि लोग अधिक बचत करें तो

ब्याज-दर कम हो जाएगी तथा निवेश की माग बढ जाएगी। इस प्रकार बचत तथा निवेश की समस्या भी अपने-आप हल हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि मजदूरी, कीमतो तथा ब्याज दर मे समुचित परिवर्तन हो जाने (wages prices & interest-rates flexibility) के कारण अर्थव्यवस्था मे सदा पूर्ण रोजगार स्थापित होने की प्रवृत्ति होती है। अत सरकार को इसमे हस्तक्षेप करने की कोई आवश्यकता नही। सरकार को 'अबन्ध नीति' (laissez faire policy) का अनुसरण करना ही उचित है। परन्तु केन्ज ने इस नियम को न केवल सैद्धान्तिक रूप मे अमान्य ठहराया, अपितु व्यावहारिक रूप मे भी इसे दोषपूर्ण सिद्ध कर दिया। केन्ज ने नए रोजगार तथा आय सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो कि वास्तविक स्थिति की भली भाँति व्याख्या कर सकता है। इस उद्देश्य के लिए केन्ज ने नये नियमो की स्थापना की, जैसे उपभोग-प्रवृत्ति (propensity to consume), पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (marginal efficiency of capital) तथा नकदी-अधिमान (liquidity preference) आदि, जिनका अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पडता है। केन्ज ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि मजदूरी कम करने से बेकारी दूर नहीं हो सकती तथा न ही ऐसा करने से मन्दी (depression) दूर हो सकती है, बल्कि इस प्रकार तो दशा और भी बिगड जाती है। अब तो यह मान लिया गया है कि आर्थिक समस्याओं को हल करने मे सरकार को भी बडा महत्वपूर्ण भाग लेना चाहिए। किसी भी देश मे अबन्ध की नीति (laissez faire) का सरकार द्वारा अनुसरण नही किया जाता। अब हम आधुनिक अर्थ-विज्ञान के केन्ज द्वारा प्रतिपादित 'रोजगार सिद्धान्त' का अध्ययन करेंगे।

केन्ज का रोजगार सिद्धान्त (Keynes's Theory of Employment)

हम ऊपर पढ चुके है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के रोजगार सिद्धान्त मे क्या त्रुटियाँ है। केन्ज ने अपनी पुस्तक "रोजगार, ब्याज तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त"—*General Theory of Employment, Interest and Money* मे न केवल प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त की आलोचना ही की बल्कि एक नया रोजगार तथा आय सिद्धान्त भी प्रतिपादित किया जिसे आधुनिक अर्थशास्त्री सही मानते है। अपने सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए केन्ज ने विश्लेषण हेतु कई एक नई धारणाओं जैसे कि उपभोग प्रवृत्ति (propensity to consume), गुणक (multiplier) निवेश प्रेरणा (inducement to invest) एव पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (marginal efficiency of capital), नकदी अधिमान (liquidity preference) आदि का स्थापित किया। इन सब धारणाओ की सविस्तार व्याख्या तो हम आगामी अध्यायो मे करेंगे, हम यहाँ पर सक्षेप मे तथा स्थूल रूप से इस सिद्धान्त का परिचय देंगे।

इस विषय मे महत्वपूर्ण बात जो समझ लेनी चाहिए, वह यह है कि केन्ज का रोजगार सिद्धान्त अल्पकाल के लिए ही है क्योकि केन्ज यह मान लेते है कि पूंजी की मात्रा, जनसख्या व श्रम शक्ति, तकनीकी ज्ञान, श्रमिको की कार्यकुशलता आदि मे कोई वृद्धि नही होती। यही कारण है कि केन्ज के सिद्धान्त मे रोजगार की मात्रा, राष्ट्रीय आय अथवा उत्पादन के स्तर पर ही निर्भर करती है क्योकि यदि पूँजी की मात्रा, तकनीकी ज्ञान, श्रमिकों की कार्यकुशलता आदि स्थिर रहे तो अधिक श्रमिको (जो पहले बेरोजगार हो) को काम मे लगाकर (अर्थात् रोजगार देकर) ही राष्ट्रीय आय बढाई जा सकती है। अत केन्ज के अल्पकाल मे राष्ट्रीय आय के अधिक होने का अर्थ है रोजगार की अधिक मात्रा और राष्ट्रीय आय के कम होने का अर्थ है रोजगार की कम मात्रा। अत केन्ज का सिद्धान्त रोजगार निर्धारण का सिद्धान्त भी है और राष्ट्रीय आय निर्धारण का भी। परन्तु विश्लेषण को सरल बनाने के लिए हम इस अध्याय मे तो रोजगार को लेकर केन्ज के सिद्धान्त की व्याख्या करेंगे और जो भी रेखाकृतियाँ हम बनाएँगे उनमे रोजगार के निर्धारण को प्रत्यक्ष रूप से दिखाएँगे। अगले अध्याय मे हम राष्ट्रीय आय को लेकर केन्ज के सिद्धान्त की व्याख्या करेंगे और जो भी हम

वहाँ रेखाकृतियाँ बनाएँगे उनमे राष्ट्रीय प्राय के निर्धारण को प्रत्यक्ष रूप से दर्शाएँगे। परन्तु रोजगार तथा राष्ट्रीय प्राय दोनों को निर्धारित करने वाले तत्त्व समान हैं। केवल उनके निर्धारण की व्याख्या के लिए प्रयोग की गई रेखाकृतियो का ही अन्तर है।

रोजगार (अथवा प्राय) के निर्धारण के विषय मे केन्ज का आधारभूत विचार समर्थ माँग (Effective Demand) का नियम है। किसी देश मे अल्पकाल मे रोजगार की मात्रा वस्तुओ के लिए समस्त समर्थ माँग पर निर्भर करती है। समस्त समर्थ माँग जितनी अधिक होगी रोजगार की मात्रा उतनी अधिक होगी। प्राप जानते हैं कि किसी एक फर्म मे कितने व्यक्तियो को रोजगार पर लगाया जायेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उस फर्म के उद्यमी (entrepreneur) के विचार मे कितने व्यक्तियो को लगाने से उसको अधिकतम लाभ होगा तथा इसी प्रकार सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे कितने व्यक्ति रोजगार मे लगाये जायेंगे, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि उस अर्थव्यवस्था के सभी उद्यमी अपना अपना लाभ अधिकतम करने के लिए कुल कितने व्यक्ति रोजगार मे लगाने का निर्णय करते हैं। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के रोजगार का निर्धारण समस्त पूर्ति कीमत (Aggregate Supply Price) और समस्त माँग कीमत (Aggregate Demand Price) द्वारा होगा।

समस्त पूर्ति की कीमत (Aggregate Supply Price)

समस्त पूर्ति कीमत क्या है? स्थूल रूप से हम यह कहेंगे कि जब अर्थव्यवस्था के सभी उद्यमी श्रमिको की किसी एक सख्या को काम पर लगाते हैं तो उन्हें उन श्रमिको द्वारा बनायी कुल वस्तुओ के लिए जितनी कुल राशि अवश्य मिलनी चाहिए ताकि वे उन श्रमिको को लगाये रखें, वह समस्त पूर्ति कीमत है (At any given level of employment of labour, aggregate supply price is the total amount of money which all the entrepreneurs in the economy, taken together, *must expect to receive* from the sale of the output produced by that given number of men, if it is just worth employing them)। दूसरे शब्दो मे, अर्थव्यवस्था मे श्रमिको की किसी एक सख्या को रोजगार मे लगाने पर उन श्रमिको द्वारा किये गये समस्त उत्पादन की कुल लागत को अर्थव्यवस्था की समस्त पूर्ति कीमत कहते है। स्पष्ट है कि उद्यमियो को जब तक यह कुल लागत प्राप्त न हो रही हो, वे श्रमिको की इस सख्या को कैसे रोजगार पर लगायेंगे? श्रमिको की उस सख्या पर उत्पादन पर लगी हुई कुल लागत पूरी न होने पर उद्यमी उस सख्या से कम श्रमिक लगायेंगे। इसी प्रकार रोजगार पर लगाए गये श्रमिको की भिन्न भिन्न सख्याओ पर अर्थव्यवस्था की कुल लागत या समस्त पूर्ति कीमत (aggregate supply price) भिन्न-भिन्न होगी अर्थात् हम रोजगार पर लगाये गये श्रमिको की भिन्न सख्याओं के अनुसार अर्थव्यवस्था की समस्त पूर्ति कीमत की अनुसूची तैयार कर सकते है और फिर उसको वक्र द्वारा प्रकट किया जा सकता है।

समस्त माँग की कीमत (Aggregate Demand Price)

अब माग पक्ष को लें। जब अर्थव्यवस्था मे श्रमिको की किसी एक सख्या को रोजगार पर लगाने पर जितना उत्पादन होता है, उसको बेचने से अर्थव्यवस्था के सभी उद्यमी कुल जितनी राशि प्राप्त करने की आशा करते है, वह अर्थव्यवस्था की रोजगार के उस स्तर पर की समस्त माँग कीमत होती है (The aggregate demand price at any level of employment is the amount of money which all the entrepreneurs in the economy taken together *do expect* that they will receive if they sell the output produced by this given number of men)। दूसरे शब्दो मे, जब अर्थव्यवस्था मे रोजगार का कोई एक स्तर हो तो उस समय उस स्तर पर हुए कुल उत्पादन के बेचने से जितनी कुल राशि प्राप्त (receipts) होने की प्रत्याशा (expectation) हो, वही कुल राशि रोजगार के उस स्तर की समस्त माँग कीमत होगी (The aggregate demand price represents the expected

receipts when a given volume of employment is offered to workers)। समस्त पूर्ति कीमत की तरह अर्थव्यवस्था म रोजगार के भिन्न-भिन्न स्तरों के अनुसार उनकी अपनी समस्त माग कीमत होगी, अर्थात हम समस्त मांग कीमत की अनुसूची तैयार कर सकते है और उस वक्र के रूप म भी दर्शाया जा सकता है।

रोजगार के सन्तुलन स्तर का निर्धारण (Determination of the Equilibrium Level of Employment)

रेखाकृति न० 49 1 म एक काल्पनिक अर्थव्यवस्था के समस्त पूर्ति वक्र (Aggregate Supply Curve) तथा समस्त मांग-वक्र (Aggregate Demand Curve) खीचे गए हैं। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे जितने व्यक्ति काम पर लगाये गए है, उनकी सख्या को तो X-अक्ष पर दिखाया गया है और उत्पादित वस्तुओ तथा सेवाओं को बेचने से सभी उद्यमियो को कुल प्राप्त होने वाली रकम (receipts or proceeds) को, अर्थात् जितनी कुल रकम सारा समाज उद्यमियो द्वारा प्रस्तुत उत्पादन पर व्यय करता है, उसको Y-अक्ष पर दिखाया गया हैं।

पहले समस्त पूर्ति के वक्र AS को देखें। यह दिखलाता है कि उत्पादन को बेचने से उद्यमियो को जितनी भिन्न भिन्न कुल राशियां प्राप्त होती हैं, उनके अनुसार वे सभी सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे कुल कितने व्यक्तियों को रोजगार पर लगाने के लिए तैयार होंगे। उदाहरणतया, यदि उद्यमियों को निश्चित हो कि उन्हें OC रुपये अवश्य प्राप्त होंगे, तो वे श्रमिकों की ON_1 सख्या को रोजगार पर लगायेंगे। अब समस्त मांग के वक्र AD को देखें। यह दिखलाता है कि रोजगार के भिन्न स्तरो पर उद्यमियों को कितनी-कितनी कुल राशि प्राप्त होने की आशा है। उदाहरणतया जब वे ON_1 व्यक्तियों को रोजगार पर लगाते हैं तो वे आशा करते हैं कि उन्हें OH रुपये ON_1 व्यक्तियों द्वारा किये गये उत्पादन को बेचने से प्राप्त होंगे।

AS वक्र मे एक विशेष देखने योग्य बात यह है कि यह वक्र पहले धीमी गति से ऊंचा उठता है। इसका तात्पर्य यह है कि ज्यो ज्यो रोजगार पर लगाये गए व्यक्तियो की सख्या बढाई जाती है, उत्पादन पर लागत तीव्रता से नही बढती, अर्थात् प्रारम्भ म उत्पादन लागत शीघ्र नही बढती। यदि उद्यमियो को जो राशि प्राप्त होनी है, वह बढती जाती है तो वे रोजगार बढाते जाएँगे यहां तक कि जितने भी व्यक्ति रोजगार चाहते है वे सभी रोजगार म लगा लिए जाते हैं। रेखाकृति 49 1 म कुल ON_f व्यक्ति रोजगार चाहते है, तो ज्योही उद्यमियो को कुल OT राशि प्राप्त होने लग जाती है, व उन सभी व्यक्तियों को लगाने के लिए उद्यत हो जाते हैं। परन्तु अब यदि उद्यमियो को प्राप्त होने वाली राशि OT से भले ही बढ जाय, कुल
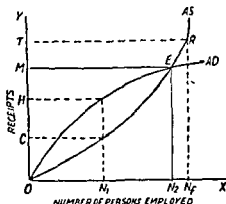
रेखाकृति 49 1
रोजगार की मात्रा का निर्धारण

रोजगार ON_f से आगे नहीं बढ सकता अर्थात् इस बिन्दु पर पूर्ण रोजगार स्थापित हो जाएगा। अत ON_f स्तर पर समस्त पूर्ति वक्र AS लम्बरूप (vertical) हो जाता है। अब AD वक्र की आकृति को ध्यानपूर्वक समझें। यह आरम्भ मे ही बडी तीव्रता से ऊंचा चढने लग जाता है। यह इस बात का सूचक है कि जब पहले-पहल रोजगार बढता है तो उद्यमियों को उत्पादन से जो राशि वास्तव मे प्राप्त होने की आशा होती है, वह तेजी से बढने लग जाती है। परन्तु रोज

गार के पर्याप्त बढ़ जाने पर प्राप्त होने वाली राशि इतनी तेजी से नही बढ़ती।[1]

अर्थव्यवस्था की समस्त मांग और समस्त पूर्ति द्वारा ही यह निर्धारित होता है कि उद्यमियो द्वारा कुल कितने व्यक्ति रोजगार पर लगाए जाएँगे (The aggregate demand and aggregate supply for any community together determine the volume of employment which actually is offered by entrepreneurs)। यदि स्थिति ऐसी हो गई है कि जितनी कुल राशि उद्यमियो को अपना उत्पादन बेचकर मिलने की आशा है (अर्थात् समस्त मांग) वह उस राशि से अधिक है जो उद्यमियो को अवश्य चाहिये जिससे वे रोजगार के उस स्तर को प्रस्तुत करने के लिए तैयार हो (अर्थात् समस्त पूर्ति), तब उद्यमियो मे श्रमिको को अपने यहाँ लगाने के लिए आपस मे प्रतियोगिता रहेगी जिससे अर्थव्यवस्था मे रोजगार बढ़ेगा। रेखाकृति 49 1 मे बिन्दु E मे बाईं ओर, अर्थात् जब तक रोजगार ON_2 नहीं हो जाता, समस्त माग (AD) समस्त पूर्ति (AS) से अधिक है, अर्थात् अर्थव्यवस्था मे उद्यमियो द्वारा प्रस्तुत उत्पादन की मांग-कीमत उनकी पूर्ति कीमत से अधिक है। अत स्वाभाविक है कि उद्यमियो मे और श्रमिक रोजगार पर लगाने के लिए प्रतियोगिता होगी और इसके परिणामस्वरूप अधिक श्रमिक रोजगार पर लगाये जाएँगे।

अब यदि रोजगार पर लगे आदमियों की सख्या ON_2 से बढ़ जाती है, तो AD वक्र AS वक्र के दायी ओर चला जाता है, अर्थात् समस्त पूर्ति कीमत (AS) समस्त मांग कीमत (AD) की तुलना मे अधिक हो जाती है। ON_2 से अधिक रोजगार के हरेक स्तर पर उद्यमियो को अपना कुल उत्पादन बेचकर जितनी कुल रकम मिलने की आशा है वह उस कुल राशि की तुलना मे कम है जो उन्हे रोजगार के उस स्तर पर अवश्य मिलनी चाहिए ताकि वे उतने आदमी काम पर लगाए रखें। दूसरे शब्दो मे, रोजगार ON_2 स्तर से बढ़ जाने पर उद्यमियों को लाभ के स्थान पर हानि होगी, अत. वे कम व्यक्ति काम पर लगायेंगे। इस प्रकार श्रमिको की जो छँटी (retrenchment) होगी, वह तब तक होती चली जाएगी जब तक कि कुल रोजगार ON_2 तक नही पहुच जाता। ON_2 रोजगार का वह स्तर है जहाँ समस्त मांग-वक्र (AD curve) और समस्त पूर्ति-वक्र (AS curve) एक दूसरे को काटते है। दूसरे शब्दो मे, सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे रोजगार तब सन्तुलन की अवस्था मे होगा जब उद्यमियो को अपना उत्पादन बेचने से उतनी राशि मिलने की आशा है जितनी राशि उन्हे अवश्य मिलनी चाहिए जिससे वे रोजगार के उस स्तर को प्रस्तुत करने पर उद्यत हो (Employment in the economy as a whole will be in equilibrium only when the *amount of proceeds which entrepreneurs expect to receive* from providing any given number of jobs is just equal to the amount which they *must receive* if the employment of those men is to be worthwhile for the *entrepreneurs*)

समर्थ मांग (Effective Demand) हमने देखा कि जब अर्थव्यवस्था की समस्त माग और समस्त पूर्ति परस्पर समान होते हैं, तो रोजगार सन्तुलन की स्थिति मे होता है। जब समस्त पूर्ति दी हुई हो तो समस्त माग के बदल जाने पर रोजगार का यह सन्तुलन स्तर बदल जायेगा। परन्तु अल्पकाल मे समस्त मांग वैसी की वैसी रहती है तो यह समस्त मांग और समस्त पूर्ति का सन्तुलन अल्पकालीन सन्तुलन (short-run *equilibrium*) होगा और यह समर्थ माग (effective demand) कहलाता है। हमने देखा कि अर्थव्यवस्था की समस्त मांग या समस्त मांग कीमत की एक अनु-

1 इस समझना कठिन नहीं। जब लोगों की आय कम होती है तो वे बचत नहीं कर पाते और उनकी आय का बहुत बड़ा भाग उपभोग कर लिया जाता है, परन्तु जब रोजगार का स्तर बढ़ने पर अर्थव्यवस्था में उत्पादन बढ़ जाता है, अर्थात् आय बढ़ जाती है, तो अब व्यक्ति अधिक बचत करते हैं, जिसका अर्थ यह है कि वस्तुओं और सेवाओं पर उनका व्यय, उनकी जितनी आय बढ़ती है, उतना नहीं बढ़ता।

सूची (schedule) होती है जो रोजगार के भिन्न-भिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न समस्त मांगों को प्रदर्शित करती है, परन्तु समस्त मांग के इन भिन्न परिमाणों में से सफल (effective) परिमाण वह है जो रोजगार के उस स्तर पर अर्थव्यवस्था की समस्त पूर्ति के भी समान है और इसलिए समस्त मांग और पूर्ति के अल्पकालीन सन्तुलन को दर्शाती है। (Effective demand is that aggregate demand price which becomes "effective" because it is equal to aggregate supply price and thus represents a position of 'short run' equilibrium)। समस्त माग अनुसूची पर अन्य भी अनेक बिन्दु है, परन्तु इन सभी से समर्थ माग का बिन्दु इस बात में भिन्न है कि इसी बिन्दु पर समस्त मांग और समस्त पूर्ति वास्तव मे एक दूसरे के समान सिद्ध होते है, जहाँ कि अन्य बिन्दुओ पर समस्त माग या तो समस्त पूर्ति से अधिक है या कम। आगामी अध्यायो मे हम देखेंगे कि किन कारणो से अर्थव्यवस्था की सफल माग कई बार इतनी कम होती है कि अर्थव्यवस्था का अल्पकालीन सन्तुलन पूर्ण रोजगार से निम्न स्तर पर होता है और अर्थव्यवस्था मे अभी काफी बेरोजगारी होती है।

सन्तुलन मे पूर्ण रोजगार होना आवश्यक नहीं (Equilibrium Not Necessarily at Full Employment)

अब हम इस विश्लेषण की एक और बडी महत्त्वपूर्ण बात देखनी है। वह यह है कि जहाँ समस्त मांग (aggregate demand) और समस्त पूर्ति (aggregate supply) परस्पर समान होने पर रोजगार सन्तुलन की स्थिति मे होता है, वहाँ पर आवश्यक नही कि यह सन्तुलन पूर्ण रोजगार के स्तर पर ही हो (Although with given aggregate demand and supply curves, there will normally be only one position of equilibrium, this need not be at the level of full employment)। यह हो सकता है कि समस्त मांग वक्र (*AD* curve) और समस्त पूर्ति वक्र (*AS* curve) एक दूसरे को उस बिन्दु पर काटते हैं जिस पर कि रोजगार पर लगाये गए श्रमिको की सख्या रोजगार चाहने वाले श्रमिको की सख्या से कम है। इसका परिणाम यह होगा कि कई आदमी अभी ऐसे रह जाएँगे जो रोजगार प्राप्त नही कर सके और इसीलिए बेरोजगार है। रेखाकृति 49 2 मे रोजगार सन्तुलन की दो स्थितियाँ दिखलायी गई है।

मान ले कि *AS* वक्र अर्थव्यवस्था का समस्त पूर्ति वक्र है और *AD* वक्र इसका समस्त मांग वक्र है। इस दशा म चूँकि ये दो वक्र एक दूसरे को *E* बिन्दु पर काटते है जिसका यह अर्थ है कि ON_2 श्रमिक रोजगार पर लगाए जाते है और उद्यमियो को कुल *OM* रुपए प्राप्त होने की आशा है। अर्थव्यवस्था की समस्त मांग और समस्त पूर्ति की इस दी गई दशा मे ON_2 सतुलन रोजगार का स्तर (level of equilibrium employment) है। परन्तु जैसा कि रेखाकृति मे दिखाया गया है, कुल ON_f श्रमिक रोजगार चाहते है, अर्थात् पूर्ण रोजगार तब होगा जब ON_f श्रमिको को रोजगार दिया जाएगा। अन्य शब्दो मे, इस दशा मे रोजगार सन्तुलन की अवस्था मे तो है
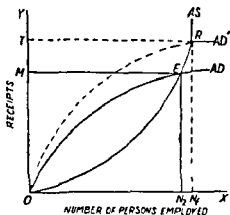
रेखाकृति 49 2

रोजगार का सन्तुलन पूर्ण तथा अपूर्ण रोजगार के स्तरो पर

(Employment Equilibrium at Full and Less than Full Employment Levels)

परन्तु पूर्ण रोजगार नही वरन् N_3N_f श्रमिक अभी बेकार हैं। यह बेकारी तभी हटेगी जब कि किन्ही अनुकूल कारणो से समस्त माँग इतनी बढ जाय (अर्थात् OM रु० से बढ़कर OT रु० हो जाय) कि उद्यमी अब इतने श्रमिक (ON_f) काम पर लगाने को तत्पर हो जाते हैं कि कोई ऐसा व्यक्ति जो काम चाहता है बेकार नही बच रहता। रेखाकृति 49 2 मे केवल F बिन्दु वाली स्थिति पूर्ण रोजगार को प्रकट करती है। अर्थव्यवस्था की वह सन्तुलन स्थिति जिससे पूर्ण रोजगार होता है "इष्टतम" स्थिति कहलाती है। जब कभी अर्थव्यवस्था इस प्रकार की इष्टतम अवस्था मे नही होती तो इसमे बेरोजगारी पाई जाती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री (Classical economists) यह मानने को तैयार नही थे कि अर्थव्यवस्था मे ऐसा सन्तुलन भी हो सकता है जिसमे बेरोजगारी हो परन्तु रेखाकृति 49 2 मे हमने देखा कि जब समस्त माँग और समस्त पूर्ति एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं तब अर्थव्यवस्था सन्तुलन मे तो है परन्तु अभी पर्याप्त बेकारी है (N_3 N_f श्रमिक रोजगार चाहते हैं परन्तु बिना रोजगार के हैं)।

समस्त पूर्ति व समस्त माग के निर्धारक तत्व (Factors Determining Aggregate Supply and Aggregate Demand)

हमने ऊपर देखा कि रोजगार के सन्तुलन स्तर (*equilibrium level of employment*) को ज्ञात करने मे हमे एक ओर समस्त पूर्ति वक्र या समस्त पूर्ति कीमत वक्र (*aggregate supply price curve*) और दूसरी ओर समस्त माँग वक्र या समस्त माग कीमत वक्र (aggregate demand price curve) का प्रयोग करना पडता है। अर्थव्यवस्था की समस्त पूर्ति अनुसूची (aggregate supply schedule) या वक्र कैसे होगे, यह अन्तत उत्पादन सम्बन्धी भौतिक या तकनीकी दशाओ (physical or technical conditions) पर निर्भर करता है। उत्पादन सम्बन्धी भौतिक या तकनीकी दशाएँ अल्पकाल में नही बदलतीं या बहुत कम बदलती हैं। अत किसी भी समय जब ये दशाएँ दी गई हो, उत्पादन तब बढ़ेगा जब रोजगार (employment) बढाया जायेगा। परन्तु उत्पादन तथा रोजगार बढाये तब जा सकते हैं जब उत्पादन पर व्यय बढाया जाय। अत उत्पादन चाह बढ़ती, घटती या समान लागत के नियम के अनुसार हो, जब भी अतिरिक्त उत्पादन किया जायगा या रोजगार बढाया जायेगा तब अतिरिक्त लागत लगानी पड़ेगी। अत किसी व्यवसाय मे पहले से अधिक श्रमिको को तभी काम पर लगाया जायगा जबकि यह आशा होगी कि उनके लगाने से आय बढ़ेगी। अत समस्त पूर्ति वक्र सदैव दायी ओर ऊपर चढ़ेगा। (*The aggregate supply curve will always slope upwards to the right*)। इस वक्र की ढाल कितनी होगी, यह अर्थव्यवस्था के उत्पादन की भौतिक या तकनीकी दशाओ पर निर्भर करेगा। (The steepness of the aggregate supply curve will depend on production conditions in the economy)। हाँ, जब रोजगार चाहने वाले सभी श्रमिको को रोजगार मिल जायगा, उस स्तर पर यह वक्र सीधा उदग्र दिशा मे ऊपर को उठेगा (will rise vertically) क्योकि अब उद्यमियो को चाहे पहले से अधिक भी राशि क्यो न प्राप्त हो, रोजगार में लगने वाले और श्रमिक अब नही हैं।

हमने देखा कि समस्त पूर्ति अनुसूची या वक्र उत्पादन की भौतिक या तकनीकी दशाओ (physical or technical conditions of production) पर निर्भर करता है अर्थात् अर्थव्यवस्था म क्या-क्या मानवी, मशीनी तथा कच्चे माल आदि उत्पादन के साधन उपलब्ध हैं। अत उत्पादन तकनीक को सुधारने या अन्य उत्पादन साधनो की उत्पादकता को बढाने पर AS वक्र परिवर्तित हो जायेगा, परन्तु जब हम बेरोजगारी के साथ सम्बन्धित समस्याओ का विश्लेषण कर रहे हो, तो समस्त पूर्ति अनुसूची या वक्र की ओर अधिक ध्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह इसलिए कि तब तो सबसे बडी समस्या यह होती है कि बेरोजगार उत्पादन के साधनो को रोजगार पर

लगाकर उत्पादन बढ़ाया जाय, न कि इस बात की चिन्ता की जाय कि उत्पादन के श्रेष्ठ ढंग अपनाए जायें, अर्थात् *AS* वक्र को बदलने की आवश्यकता नहीं, रोजगार को बढ़ाने के लिए समस्त माग को बढ़ाने की आवश्यकता है जिससे समस्त माग वक्र ऊँचा सरक जाएगा और समस्त पूर्ति वक्र को पहले से दायीं ओर काटेगा, अर्थात् रोजगार पर लगे श्रमिकों की सख्या बढ़ जायेगी। यही कारण है कि केन्ज महोदय अपने विश्लेषण मे पूर्ति पक्ष को स्थिर मानकर चलते थे और अधिक व्याख्या इस बात की करते थे कि समस्त माग (aggregate demand) किन तत्वों से निर्धारित होती है। हाँ, जब पूर्ण रोजगार की दशा हो, तब समस्त माग के बढ़ने पर रोजगार तो और नही बढ़ सकता वरन् केवल मुद्रा स्फीति (inflation) अर्थात् मूल्यवृद्धि ही होगी। ऐसी दशा म पूर्ति पक्ष की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक हो जाता है और ऐसे उपाय अपनाने पड़ते है जिनसे अर्थव्यवस्था की उत्पादन कुशलता (productive efficiency) बढ़े, तभी तो आर्थिक प्रगति हो सकती है। दूसरे शब्दों म, समस्त पूर्ति वक्र की ओर ध्यान देने की आवश्यकता तब होती है जब हम पूर्ण रोजगार की स्थिति को पहुच चुके होते है और मुद्रास्फीति मे ग्रस्त हुए होते है।

परन्तु चूंकि सामान्यत पूर्ण रोजगार नही होता इसलिए समस्त माग (aggregate demand) का रोजगार सिद्धान्त मे अपेक्षाकृत महत्व बहुत अधिक होता है। जहाँ समस्त पूर्ति तकनीकी तत्वों पर निर्भर करती है, वहाँ समस्त माँग अनुसूची लोगों के मनोविज्ञान (psychology) पर अधिक अवलम्बित होती है। यह दिखलाती है कि रोजगार या उत्पादन के भिन्न स्तरों पर उद्यमियों को अपना उत्पादन बेचकर कुल कितनी राशि मिलने की आशा है अर्थात् समाज द्वारा उत्पादन पर कितना व्यय होने की आशा है। दूसरे शब्दों मे, समाज के सभी खरीदार रोजगार के भिन्न भिन्न स्तरों पर कुल कितनी राशि व्यय करने को तैयार है। उत्पादन दो प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन को क्रय करने पर व्यय किया जाता है. (क) उपभोक्ता वस्तुऐं (consumption goods) और (ख) निवेश वस्तुऐं (investment goods)। अत रोजगार के किसी एक स्तर पर जो समस्त माग वक्र होगा, उसकी शक्ल तथा स्तर (shape and level) समाज के एक तो उपभोग पर किये गए व्यय पर और दूसरा निवेश (investment) पर किये गए व्यय पर निर्भर करेगा।

केन्ज के रोजगार तथा आय के सिद्धान्त का सारांश

(Summary of the Keynesian Theory of Employment and Income)

समर्थ माग के सिद्धान्त को जान लेने पर अब आप समझ गए होंगे कि इसका अर्थ यह है कि किसी समय अर्थव्यवस्था मे कुल उत्पादन पर कुल कितनी राशि व्यय की जा रही होगी। अत देखा जाय तो यह कुल रकम उत्पादन के सभी साधनों की आय है। दूसरे शब्दों मे, जहाँ समर्थ माँग राष्ट्रीय आय के बराबर है, अर्थात् समाज के सभी सदस्यों की आयों का जोड़ है, वहाँ यह अर्थव्यवस्था मे समस्त उत्पादन का भी मूल्य है और समस्त राष्ट्रीय उत्पादन का मूल्य वही सारी राशि है जो उद्यमियों को वस्तुऐं बेचकर प्राप्त होती है क्योंकि सभी वस्तुए या तो उपभोग वस्तुऐं होती है या निवेश वस्तुऐं (investment goods), अत समर्थ माग बराबर है उपभोग तथा निवेश (investment) पर किये गए राष्ट्रीय व्ययों के जोड़ के। संक्षेपत हम यह सकते है कि—

समर्थ माँग = राष्ट्रीय आय = राष्ट्रीय उत्पादन का मूल्य = उपभोक्ता वस्तुओं पर किया गया व्यय + निवेश वस्तुओं पर किया गया व्यय।

(Effective Demand = National Income = Value of National Output = Expenditure on Consumption Goods + Expenditure on Investment Goods)।

अब आपको रोजगार तथा आय के केन्ज द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त का आभास हो जाना चाहिए। हमने देखा कि अल्पकाल म रोजगार समर्थ माँग द्वारा निर्धा-

रित होता है और समर्थ मांग उपभोग वस्तुओ तथा निवेश वस्तुओ पर किये गए राष्ट्रीय व्ययो के जोड के बराबर होती है। अत पते की बात यह है कि रोजगार उपभोग तथा निवेश किये गए व्यय पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दो मे, यदि किसी समय किन्ही कारणो से देश मे या तो उपभोग बढ जाय या निवेश, या दोनो, तो इसका यह अर्थ हुआ कि समर्थ मांग बढ जायगी जिससे देश मे रोजगार भी बढ जायगा। इसी प्रकार इसके विपरीत भी। भाव यह है कि रोजगार तथा आय निर्धारण की कुजी उपभोग तथा निवेश मे है। अत रोजगार तथा आय के सिद्धान्त को भली प्रकार समझने के लिए हमे उपभोग तथा निवेश का सविस्तार अध्ययन करना होगा। केन्ज महोदय ने इसके विषय मे कई एक नई धारणाएँ स्थापित की हैं तथा कई नियम प्रतिपादित किए है। आगामी अध्यायों मे हमे इन धारणाओ तथा नियमो को समझना होगा। 50 वें अध्याय मे उपभोग सम्बन्धी विश्लेषण दिया गया है; विशेषकर उपभोग प्रवृत्ति (propensity to consume) का। 51वे अध्याय मे निवेश की व्याख्या की गई है। इसमे हम देखेगे कि निवेश दो तत्त्वो द्वारा निर्धारित होता है. एक तो पूजी की सीमान्त उत्पादकता (marginal efficiency of capital) और दूसरा ब्याज की दर (rate of interest)। पर पूजी की सीमान्त उत्पादकता भी दो बातो पर निर्भर करती है। एक तो यह कि पूँजी पदार्थ के निवेश से आने वाले वर्षों मे कितना लाभ प्राप्त होने की आशा है, दूसरा यह कि यदि वह पूँजी पदार्थ नये सिरे से खरीदना हो तो आज उस पर कितनी लागत आयेगी। स्पष्ट है कि यदि पूँजी लगाने से अधिक लाभ होने की आशका हो, तो निवेश अधिक किया जायगा और इसी प्रकार यदि पूँजी पदार्थों का मूल्य कम हो जाय तो भी निवेश की प्रेरणा मिलेगी। यह समझना कठिन नही कि ब्याज की दर भी निवेश पर बड़ा भारी प्रभाव डालती है। केन्ज के सिद्धान्त से ब्याज की दर लोगो के तरलता अधिमान (liquidity preference) और मुद्रा-पूर्ति पर निर्भर करती है। आय और रोजगार के इन सब निर्धारक तत्त्वो की विवेचना की जाएगी।

50

राष्ट्रीय आय का निर्धारण
(DETERMINATION OF NATIONAL INCOME)

गत अध्यायों में हमने केन्ज के रोजगार तथा आय सिद्धान्त का परिचय दिया। हमने वहाँ विशेषकर रोजगार को लेकर केन्ज के सिद्धान्त की व्याख्या की। जैसे कि हमने वहाँ बताया कि केन्ज का सिद्धान्त अल्पकाल के लिए है जिसमें कि पूँजी की मात्रा, श्रमिकों की कार्यकुशलता, उत्पादन तकनीक, व्यवसाय संगठन की प्रणाली आदि सब स्थिर रहते हैं। ऐसी स्थिति में रोजगार की मात्रा तथा आय का स्तर एक-साथ घटते-बढ़ते हैं तथा उनको निर्धारित करने वाले तत्व एक ही हैं अर्थात् दोनों समस्त मांग (aggregate demand) तथा समस्त पूर्ति (aggregate supply) द्वारा निर्धारित होते हैं। इस अध्याय में हम राष्ट्रीय आय को लेकर केन्ज के सिद्धान्त की व्याख्या करेंगे। रोजगार तथा राष्ट्रीय आय को निर्धारित करने वाले तत्व समान होने के कारण इस अध्याय में भी गत अध्याय की बहुत-सी बातें दोहरानी होंगी।

राष्ट्रीय आय का निर्धारण
(Determination of National Income)

जैसा कि हमने ऊपर बताया, अल्पकाल (short run) में राष्ट्रीय आय का स्तर समस्त मांग तथा समस्त पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। वस्तुओं की समस्त पूर्ति किसी देश की उत्पादन क्षमता (productive capacity) पर निर्भर करती है। परन्तु किसी देश की अल्पकाल में उत्पादन क्षमता नहीं बदलती परन्तु यह आवश्यक नहीं कि जितनी उत्पादन क्षमता है उतना ही उत्पादन अथवा समस्त पूर्ति हो। उतना उत्पादन किया जाएगा अथवा उतनी समस्त पूर्ति होगी जितनी कि मांग है। यदि समस्त मांग (aggregate demand) अधिक होगी तो अधिक मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन किया जाएगा जिससे राष्ट्रीय उत्पादन (राष्ट्रीय आय) का स्तर भी अधिक होगा। इसके विपरित, यदि समस्त मांग कम होगी तो कम मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन किया जाएगा जिससे राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय भी कम होगी। स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय का सन्तुलन स्तर (Equilibrium Level of National Income) समस्त मांग द्वारा निर्धारित होता है। हम यहाँ पर यह मानकर चलते हैं कि जितनी मांग होगी उतना उत्पादन हो सकना सम्भव होगा।

समस्त मांग (aggregate demand) के दो भाग हैं। एक तो उपभोक्ता पदार्थों के लिए मांग है

जिसे उपभोग मांग (consumption demand) कहते हैं। दूसरी प्रकार की मांग है पूंजी पदार्थों (capital goods) के लिए मांग जिसे निवेश माग (investment demand) कहते है। अत समस्त माग से हमारा अभिप्राय यह है कि लोग तथा सरकार उपभोग *तथा निवेश पर कुल कितना व्यय करना चाहते है।* इसलिए

समस्त माग = उपभोग माग + निवेश माग
Aggregate Demand = Consumption Demand + Investment Demand

AD = C + I

जहाँ तक उपभोग माग का प्रश्न है यह उपभोग प्रवृत्ति (propensity to consume) तथा आय पर निर्भर करती है। यदि उपभोग प्रवृत्ति दी हुई *हो तो जैसे आय बढ़ेगी वैसे उपभोग माग भी* बढ़ेगी। रेखाकृति 30.1 को देखिए। इसमे X अक्ष पर राष्ट्रीय आय (Income) अथवा राष्ट्रीय उत्पादन (GNP) दर्शाया गया है और Y अक्ष पर उपभोग माग (C) तथा निवेश (I) को दिखाया गया है। इस रेखाकृति मे एक *सीधी रेखा OY* अक्ष X के साथ 45° का कोण बनाती हुई खींची गई है। यह 45° वाली रेखा समस्त पूर्ति वक्र (aggregate supply curve) है और इस आय रेखा (Income Line) भी कहते हैं। यह 45° कोण की रेखा दो बातो को *दर्शाती है एक तो कुल उत्पादन अथवा* वस्तुओं की समस्त पूर्ति (उपभोक्ता पदार्थ + पूँजी पदार्थ) को तथा दूसरे मुद्रा के रूप म कुल आय को। वास्तव मे राष्ट्रीय उत्पादन तथा राष्ट्रीय आय एक ही *धारणा के दो नाम हैं। इस रेखाकृति म एक रेखा C* बनाई गयी है जो उपभोग प्रवृत्ति (propensity to consume) का वक्र है। यह उपभोग प्रवृत्ति वक्र (C रेखा) दाईं ओर ऊपर को चढ़ता हुआ दिखाया गया है जिसका अर्थ *यह है कि जैसे आय बढ़ती है वैसे उपभोग (अथवा उपभोग मांग) भी* बढ़ता है। चूंकि 45° कोण वाली रेखा कुल आय को भी दर्शाती है इसलिए उपभोग प्रवृत्ति वक्र (C रेखा) और 45° कोण वाली रेखा के बीच का अन्तर बचत (saving) के *बराबर होगा। ऐसा इसलिए है क्योंकि आय का कुछ* भाग तो उपभोग किया जाएगा और शेष बचा लिया जाएगा अर्थात् राष्ट्रीय आय = उपभोग + बचत। दूसरे शब्दो म $Y = C + S$, जहा Y आय का द्योतक है C उपभोग का तथा S बचत का। रेखाकृति म *यह देखा जाएगा कि जैसे आय बढ़ती है उपभोग प्रवृत्ति* वक्र (C) और आय रेखा OY (*अर्थात् 45° कोण की* रेखा) के बीच का अन्तर बढ़ता जाता है, अर्थात आय के बढ़ने के साथ बचत की मात्रा बढ़ती जाती है।

उपभोग प्रवृत्ति के विषय म एक उल्लेखनीय बात *यह है कि इसम आय अल्पकाल म परिवर्तन नहीं होता अर्थात अल्पकाल म यह स्थिर रहती है।* इसका कारण यह है कि उपभोग प्रवृत्ति (अर्थात उपभोग प्रवृत्ति वक्र C) लोगो की रुचियो (tastes) तथा आवश्यकताओ पर निर्भर करता है और रुचियो व आवश्यकताओ म अल्पकाल म कोई परिवर्तन नहीं *होता। उपभोग प्रवृत्ति के स्थिर रहने का यह अर्थ नहीं कि उपभोग मांग म कोई परिवर्तन नहीं होता* उपभोग माग तो जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है आय के बढ़ने मे बढ़ेगी। उपभोग प्रवृत्ति के स्थिर रहने का अर्थ *यह है कि उपभोग प्रवृत्ति वक्र C अथवा* सम्पूर्ण उपभोग अनुसूची अल्पकाल म नहीं बदलती।

समस्त माग का दूसरा भाग निवेश (investment) है जो आय निर्धारण का बहुत महत्वपूर्ण तत्व है। निवेश दो बातो पर निर्भर करता है (क) पूंजी *की सीमान्त उत्पादकता* (marginal efficiency of capital) और (ख) *ब्याज दर (rate of interest)।* इन दो म से अपेक्षतः ब्याज दर शीघ्र म नहीं बदलती (interest rate is comparatively stable)। अतः निवेश का घट बढ़ जाना अधिकतर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर करता है। *पूंजी की सीमान्त उत्पादकता का अर्थ है कि उसमें* निवेश से कितनी लाभ की दर प्राप्त करने की आशा करते हैं अर्थात् लाभ की प्रत्याशित दर (expected rate of profit) ही पूंजी की सीमान्त उत्पादकता कहलाती है। *पूंजी की सीमान्त उत्पादकता भी दो*

बातों पर निर्भर करती है एक तो पूँजी पदार्थों के पुनरुत्पादन की लागत कीमत (replacement cost) और दूसरा निवेश करने वालों की लाभ की आशाएं (profit expectations of investors)। इन दो में अल्पकाल अत्यधिक महत्त्व लाभ की आशाओं का है। इसका अर्थ यह है कि जब किसी देश में अपनी राष्ट्रीय आय या रोजगार बढ़ाना हो तो उस ऐसे उपाय करने चाहिएँ जिनसे वहाँ के उद्यमियों तथा व्यापारियों के मन में लाभ की आशाएं बढ़ जाय।

किसी वर्ष देश में ब्याज की दर तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को दृष्टि में रखते हुए उद्यमी लाग एक निश्चित मात्रा में निवेश करना चाहेंगे अर्थात् पूँजी पदार्थों के लिए उनकी निश्चित माँग होगी। हम अब मान लेते हैं कि निवेश माँग आय के बढ़ने के साथ नहीं बढ़ती। वास्तव में जब लोगों की आय बढ़ती है तो उनकी वस्तुओं के लिए माँग बढ़ेगी और परिणामस्वरूप उद्यमियों की लाभ-आशाएं बढ़ेंगी। लाभ की आशाएं बढ़ने से पूँजी की सीमान्त उत्पादकता बढ़ जाएगी जो कि निवेश को बढ़ा देगी। परन्तु स्पष्ट है कि निवेश की मात्रा प्रत्यक्षतः आय पर निर्भर नहीं है। अतः हम अपनी रेखाकृति में निवेश माँग को आय के बढ़ने के साथ बढ़ता हुआ नहीं दिखायेंगे।

जैसा कि हमने ऊपर बताया किसी वर्ष देश के उद्यमी एक निश्चित मात्रा में निवेश करने के इच्छुक होंगे। यदि इस निश्चित निवेश माँग (investment demand) को हम उपभोग-प्रवृत्ति वक्र के ऊपर जोड़ दें तो हम समस्त माँग वक्र (aggregate demand curve) $C+I$ प्राप्त होता है जिसमें C उपभोग का सूचक है और I निवेश का। उपभोग प्रवृत्ति वक्र C और समस्त माँग वक्र $C+I$ के बीच का अन्तर निवेश (I) के बराबर है। यदि उपभोग-प्रवृत्ति वक्र दिया हो तो निवेश जितना अधिक होगा समस्त माँग वक्र $C+I$ उतना ही ऊँचे स्तर पर होगा। किसी देश में किसी वर्ष आय किस स्तर पर निश्चित होगी? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आय का स्तर उस बिन्दु पर निर्धारित होगा जिस पर देश की समस्त माँग (aggregate demand) का वक्र अर्थात् $C+I$ वक्र तथा समस्त पूर्ति (aggregate supply) का वक्र अर्थात् $45°$ कोण वाली रेखा एक दूसरे को काटते हैं अर्थात् जिस पर समस्त माँग तथा समस्त पूर्ति परस्पर सन्तुलन में हों। यही बात रेखाकृति 50 में दिखाई गई है।
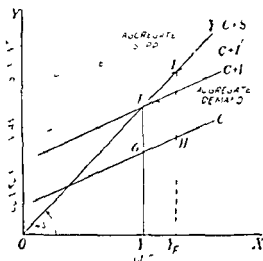
रेखाकृति 50.1
राष्ट्रीय आय का निर्धारण

इस रेखाकृति में हम देखते हैं कि समस्त माँग वक्र $C+I$ समस्त पूर्ति वक्र ($45°$ कोण की रेखा) को E बिन्दु पर काटता है। अतः आय का सन्तुलन स्तर (equilibrium level of income) OY है। रेखाकृति में आप देखेंगे कि जब आय OY से कम या अधिक है, तो समस्त माँग और पूर्ति बराबर नहीं हैं। आप देखेंगे कि यदि आय OY से अधिक हो तो कुल उत्पादन (अर्थात समस्त पूर्ति) समस्त माँग ($C+I$) से अधिक है जिससे सभी उत्पादित माल बिक नहीं सकेगा। परिणाम यह होगा कि उत्पादन घटाया जायगा जिससे आय कम हो जाएगी। इसके विपरीत यदि आय OY से कम है तो कुल उत्पादन (समस्त पूर्ति) से समस्त माँग ($C+I$) अधिक होगी। परिणामस्वरूप उत्पादन बढ़ाया जायेगा जिससे राष्ट्रीय आय बढ़ जाएगी। जब आय OY है तो समस्त माँग ($C+I$), समस्त उत्पादन अथवा पूर्ति के बराबर है जिससे कुल उत्पादन व आय में न बढ़ने की ओर न

घटने की प्रवृत्ति होगी। अत OY आय निर्धारित होगी। अब हमने देख लिया है कि आय का सन्तुलन-स्तर *कैसे अर्थव्यवस्था की समस्त माँग तथा समस्त* पूर्ति की परस्पर क्रिया द्वारा निर्धारित होता है।

अपूर्ण रोजगार सन्तुलन (Under-employment Equilibrium)

आय तथा रोजगार के विषय मे ध्यानपूर्वक समझने योग्य एक अतीव महत्वपूर्ण बात यह है कि यह आवश्यक नही कि इनका सन्तुलन तभी होगा जब पूर्ण रोजगार हो। केन्ज का यह मत प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के मत से सर्वथा भिन्न था। प्रतिष्ठित *अर्थशास्त्रियों के विचारानुसार तो अर्थव्यवस्था सदैव* पूर्ण रोजगार की स्थिति मे रहती है। केन्ज के उक्त विचार को समझने के लिए रेखाकृति 50 1 को फिर देखें। मान लीजिए कि OY_F आय का पूर्ण रोजगार *स्तर है। परन्तु इस रेखाकृति मे आय का सन्तुलन केवल OY है, जो कि पूर्ण रोजगार के स्तर OY_F से* कम है। ऐसे सन्तुलन को **अपूर्ण रोजगार का सन्तुलन** (Under-Employment Equilibrium) कहते है। पूर्ण रोजगार वाला सन्तुलन तो उस दशा मे होगा जब निवेश माँग इतनी अधिक हो कि वह पूर्ण रोजगार पर होने *वाली आय तथा उपभोग मे अन्तर* के बराबर हो (The equilibrium will be established at full employment income only when investment demand is sufficiently large to fill the saving gap between income and *consumption* corresponding to full employment)।

रेखाकृति 50 1 मे यह देखा जाएगा कि पूर्ण रोजगार के अनुरूप आय स्तर OY_F पर बचत HF है। इसलिए जब निवेश माँग HF होगी तो तब ही सन्तुलन पूर्ण रोजगार के स्तर पर *स्थापित होगा।* परन्तु यह निश्चित नही कि निवेश माँग, पूर्ण रोजगार की स्थिति की आय पर जो बचत होगी उसके बराबर होगी। ऐसा इसलिए है कि प्राय बचत करने वाले लोग और होते है और निवेश करने वाले और। इसके अतिरिक्त बचत को निर्धारित करने वाले तत्त्व अथवा कारक और हैं तथा निवेश को निर्धारित करने वाले तत्त्व और हैं अर्थात् बचत और निवेश पृथक-पृथक तत्त्वो पर निर्भर करते हैं। लोग अपने लडके-लडकियो की *शिक्षा व शादी ब्याह, विपत्ति व बीमारी के* समय की जरूरतो को पूरा करने, *भविष्य मे मकान* आदि बनवाने के लिए पैसा जमा करने, वृद्धावस्था मे जीवन यापन करने इत्यादि के लिए बचत करते हैं। परन्तु किसी अवधि मे निवेश तो उद्यमियो की पूँजी *की सीमान्त उत्पादकता* (प्रत्याशित लाभ की दर) तथा ब्याज की दर पर निर्भर करता है। अत यह आवश्यक नही कि निवेश पूर्ण रोजगार के आय स्तर पर होने वाली बचत के समान हो। जब निवेश पूर्ण रोजगार के आय स्तर पर बचत से कम होता है, जैसा कि *प्राय होता है, तो सन्तुलन पूर्ण रोजगार से कम स्तर* पर स्थापित होगा।

राष्ट्रीय आय के सन्तुलन स्तर के निर्धारण को गणितीय रूप मे प्रस्तुत करने से सरलता से समझा जा सकता है। जैसा कि हम ऊपर बता आये है, राष्ट्रीय आय सन्तुलन मे तब होती है जब समस्त माँग तथा समस्त पूर्ति परस्पर समान होते हैं। समस्त *माँग उपभोग माँग (C) तथा निवेश माग (I) का* जोड होती है। अत समस्त माग किसी वर्ष $C+I$ के समान होगी। यदि Y समस्त पूर्ति को व्यक्त करता है तो सन्तुलन मे

$$Y=C+I$$

कल्पना कीजिए कि उपभोग फलन निम्न प्रकार का है

$$C=C_a+cY$$

इसका अर्थ यह है कि उपभोग माँग (C) एक स्थिर राशि C_a, जो कि आय (Y) से स्वतन्त्र होती है, तथा आय के एक निश्चित प्रतिशत (cY) के जोड के बराबर है। यहाँ c सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (*marginal* propensity to consume) को व्यक्त करती है। उपभोग माग फलन मे C_a की स्थिर राशि (constant) होने का अर्थ यह है कि यदि किसी वर्ष आय (Y) शून्य भी हो तो भी उनका उपभोग C के समान होगा, यह उपभोग गत वर्षों की बचतो से सम्भव होता है।

अब मान लीजिये कि निवेश (investment) I_a के समान है। यह I_a स्वतन्त्र निवेश (autonomous) है क्योंकि इसे आय पर निर्भर नहीं माना गया है। अत: हमें राष्ट्रीय आय के सन्तुलन स्तर के निर्धारण की व्याख्या के लिये निम्न तीन समीकरण प्राप्त होते हैं

$$Y = C + I \cdots (i)$$
$$C = C_a + cY \quad . (ii)$$
$$I = I_a \;.. \quad .(iii)$$

C तथा I के मूल्यों को समीकरण (i) में रखने पर निम्न समीकरण प्राप्त होता है

$$Y = C_a + cY + I_a \qquad (ii)$$
$$Y - cY = C_a + I_a$$
$$Y(1-c) = C_a + I_a$$
$$Y = \frac{C_a}{1-c} + \frac{I_a}{1-c}$$
$$= \frac{1}{1-c}(C_a + I_a) \qquad (iv)$$

यह समीकरण (iv) सन्तुलन दशा को व्यक्त करता है जबकि समस्त माँग तथा समस्त पूर्ति परस्पर समान है। समीकरण (iv) यह स्पष्ट करता है कि स्वतन्त्र उपभोग तथा स्वतन्त्र निवेश $(C_a + I_a)$ इतने व्यय तथा आय का सृजन करते हैं जिससे उत्पादन द्वारा उत्पादित आयों के समान हो जायें अर्थात् व्यय तथा उत्पादित आयों में सन्तुलन हो जाय। इस समीकरण (iv) से यह भी पता चलता है कि राष्ट्रीय आय का सन्तुलन स्तर (y) स्वतन्त्र तत्त्वों (autonomous elements) अर्थात् $(C_a + I_a)$ को एक गुणक के साथ गुणा करने से प्राप्त किया जा सकता है और इस गुणक (multiplier) का मूल्य $\frac{1}{1-C}$ के बराबर है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यदि स्वतन्त्र निवेश (I_a) की मात्रा शून्य हो तो राष्ट्रीय आय केवल स्वतन्त्र उपभोग C_a पर निर्भर करेगी। यदि स्वतन्त्र निवेश I_a शून्य है तो उपर्युक्त समीकरण (ii) निम्न प्रकार का होगा

$$Y = C_a + cY$$
$$Y - cY = C_a$$
$$Y(1-c) = C_a$$
$$Y = \frac{1}{1-c} C_a$$

अब कल्पना कीजिये कि उपभोग फलन $C = cY$ है अर्थात् इसमें आय से स्वतन्त्र कोई स्थिर उपभोग राशि (constant autonomous consumption) नहीं है परन्तु स्वतन्त्र निवेश I_a के बराबर है। इस दशा में समीकरण IV निम्न प्रकार का होगा

$$Y = cY + I_a$$
$$Y - cY = I_a$$
$$Y(1-c) = I_a$$
$$Y = \frac{1}{1-c} I_a$$

अत: इस स्थिति में राष्ट्रीय आय को स्वतन्त्र निवेश (I_a) को गुणक $\left(\frac{1}{1-c}\right)$ से गुणा करके प्राप्त किया जा सकता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि धनात्मक राष्ट्रीय आय तब निर्धारित होगी यदि कोई स्थिर तत्त्व जैसे कि C_a तथा I_a वर्तमान हों। अत: यदि स्वतन्त्र निवेश शून्य है और उपभोग माँग फलन $C = cY$ प्रकृति का है तो राष्ट्रीय आय शून्य (zero) होगी। इसे निम्न प्रकार सिद्ध किया जा सकता है —

$$Y = C + I$$
चूँकि I शून्य है, अत:
$$Y = C$$
यदि $C = cY$, तो
$$Y = cY$$
$$Y - cY = 0$$
$$Y(1-c) = 0$$
$$Y = \frac{0}{1-c} = 0$$

इस गणितीय उदाहरण से राष्ट्रीय आय का निर्धारण भली भाँति समझ आ जायेगा। यदि देश में स्वतन्त्र निवेश (I_a) 600 करोड़ रुपये है तथा उपभोग

फलत, $C=200+0.8Y$ है तो राष्ट्रीय आय निम्न प्रकार ज्ञात की जा सकती है

$$Y=C+I$$
$$C=200+0.8Y$$
$$I=600$$

समीकरण (v) से हम जानते है कि —

$$Y=\frac{1}{1-c}(C_a+I_a)$$
$$=\frac{1}{1-0.8}(200+600)$$
$$=\frac{1}{1-\frac{4}{5}}(800)$$
$$=\frac{1}{\frac{1}{5}}(800)$$
$$=5(800)$$
$$=4000$$

सरकार तथा राष्ट्रीय आय (Government and National Income)

हमने ऊपर उपभोग माँग तथा निवेश द्वारा राष्ट्रीय आय के सन्तुलन स्तर के निर्धारण की व्याख्या की है तथा सरकार जो व्यय करती है उसको ध्यान मे नही लिया है। किन्तु आजकल सरकारी व्यय भी राष्ट्रीय आय के निर्धारण मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, इसलिये व्याख्या मे उसे भी सम्मिलित करना वाछनीय है। सरकारी व्यय भी आय से स्वतन्त्र (autonomous) होता है। अतएव रेखाकृति 49 2 मे सरकारी व्यय जिसे हम G द्वारा व्यक्त करते है को $C+I$ वक्र के ऊपर जोड़ने पर समानान्तर सरल वक्र $C+I+G$ प्राप्त होता है जो समस्त माग (aggregate demand) को व्यक्त करता है जिसमे सरकारी व्यय भी सम्मिलित है। राष्ट्रीय आय का सन्तुलन स्तर वहाँ निर्धारित होगा जहाँ समस्त मांग ($C+I+G$) समस्त पूर्ति के समान होगा अर्थात् जिस पर कि $C+I+G$ वक्र समस्त पूर्ति वक्र OZ (45° रेखा) को काटेगा। रेखाकृति 50 2 देखने पर ज्ञात होगा कि समस्त मांग वक्र $C+I+G$, समस्त पूर्ति वक्र OZ को बिन्दु R पर काटता है जिसमे राष्ट्रीय आय का OY_2 स्तर निर्धारित होगा।

रेखाकृति 50 2 देखने पर ज्ञात होगा कि सरकार द्वारा व्यय (G), जो कि $C+I$ वक्र तथा $C+I+G$ वक्र के बीच उम्बरूप दूरी के बराबर है की तुलना मे आय मे वृद्धि जो कि Y_1Y_2 हुई है अपेक्षाकृत अधिक है। इसका कारण गुणक (multiplier) का क्रियाशील होना है जिसकी मात्रा $\frac{1}{1-c}$ के बराबर है। इसको बीजगणित की सहायता से सरलता से समझा जा सकता है।

$$Y=C+I+G$$
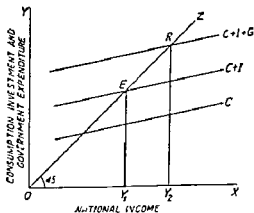
रेखाकृति 50 2 राष्ट्रीय आय का निर्धारण सरकार के व्यय की भूमिका

जहाँ $C=C_a+cY$ और G तथा I स्थिर राशियाँ (constants) है। उपर्युक्त समीकरण को निम्न प्रकार भी लिखा जा सकता है

$$Y=C_a+cY+I+G$$
$$Y-cY=C_a+I+G$$
$$Y(1-c)=C_a+I+G$$
$$Y=\frac{C_a}{1-c}+\frac{I}{1-c}+\frac{G}{1-c}$$
$$Y=\frac{1}{1-c}(C_a+I+G)$$

स्पष्ट है कि सभी स्थिर राशियाँ, C_a, I तथा G समान गुणक $\left(\text{अर्थात् } \frac{1}{1-c}\right)$ द्वारा गुणा होते हैं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी देश की राष्ट्रीय आय सभी स्थिर राशियों को समान गुणक $\left(\text{अर्थात् } \frac{1}{1-c}\right)$ से गुणा द्वारा प्राप्त की जा सकती है। इस गुणक की मात्रा सीमान्त उपभोग प्रवृति 'c' पर निर्भर करती है।

राष्ट्रीय आय का निर्धारण : बचत-निवेश दृष्टिकोण द्वारा व्याख्या (Determination of National Income : Saving and Investment Approach)

हमने ऊपर देखा कि किस प्रकार राष्ट्रीय आय समस्त माँग और समस्त पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। राष्ट्रीय आय का सन्तुलन स्तर वहाँ स्थापित होता है जहाँ समस्त माँग समस्त पूर्ति के बराबर होती है। परन्तु राष्ट्रीय आय के निर्धारण की व्याख्या करने की एक वैकल्पिक पद्धति भी है। यह वैकल्पिक पद्धति प्रत्यक्ष रूप से बचत और निवेश (Saving and Investment) और राष्ट्रीय आय के निर्धारण को स्पष्ट करती है।

पीछे की रेखाकृति 50 1 को देखिए। उसमें राष्ट्रीय आय के सन्तुलन स्तर OY पर बचत और निवेश परस्पर समान हैं—दोनों OE के समान हैं। यदि समस्त माँग वक्र $C+I$ दिया हुआ हो तो OY आय से अधिक आय पर बचत की मात्रा निवेश से अधिक है और OY से कम आय पर निवेश, बचत से अधिक है। इससे स्पष्ट होता है कि आय के सन्तुलन स्तर पर बचत और निवेश एक दूसरे के बराबर होते हैं और जब बचत और निवेश बराबर नहीं होंगे तो राष्ट्रीय आय सन्तुलन में नहीं होगी। आइए हम आपको बताएँ कि ऐसा क्यों होता है और अधिक बचत तथा निवेश द्वारा राष्ट्रीय आय कैसे निर्धारित होती है।

जब किसी आय के स्तर पर उद्यमियों द्वारा इच्छित निवेश, लोगों द्वारा की जाने वाली बचत से अधिक है तो इसका अर्थ है समस्त माँग कुल उत्पादन अथवा समस्त पूर्ति से अधिक होगी। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ाया जायगा जिससे राष्ट्रीय आय बढ़ेगी। अतः जब आय के किसी स्तर पर निवेश बचत से अधिक होता है तो राष्ट्रीय आय में बढ़ने की प्रवृत्ति होगी। इसके विपरीत जब किसी आय के स्तर पर निवेश माँग, बचत से कम है तो इसका मतलब यह है कि समस्त माँग, समस्त पूर्ति से कम होगी अर्थात् उद्यमी सभी उत्पादित माल को दी हुई कीमतों पर नहीं बेच सकेंगे। परिणामस्वरूप उत्पादन घटाया जाएगा जिससे राष्ट्रीय आय घट जाएगी। अतः किसी आय के स्तर पर यदि उद्यमियों द्वारा निवेश माँग लोगों द्वारा अभीष्ट बचत (intended savings) से कम है तो राष्ट्रीय आय घटेगी। जब आय के किसी स्तर पर उद्यमियों द्वारा इच्छित निवेश की मात्रा लोगों द्वारा इच्छित बचत के बराबर है तो इसका अर्थ है कि समस्त माँग, समस्त उत्पादन अथवा पूर्ति के बराबर होगी जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय सन्तुलन में होगी। अतः राष्ट्रीय आय का वह स्तर निर्धारित होगा जिस पर इच्छित निवेश की मात्रा लोगों की इच्छित बचत के समान होती है।

बचत और निवेश द्वारा आय के निर्धारण को हम एक और ढंग से भी समझा सकते हैं। बचत का मतलब है और आय प्रवाह (income stream) से कुछ राशि निकाल लेना (saving is withdrawal of money from income stream)। इसके विपरीत, निवेश का मतलब है आय प्रवाह में कुछ मुद्रा राशि डाल देना (Investment is injection of money into the income stream) अब यदि कोई इच्छित निवेश, इच्छित बचत से अधिक है तो इसका अर्थ हुआ कि आय प्रवाह में मुद्रा राशि डाली तो अधिक जाती है परन्तु निकाली कम। परिणाम यह होगा कि आय-प्रवाह की मात्रा या दूसरे शब्दों में राष्ट्रीय आय बढ़ेगी। इसके विपरीत यदि निवेश इच्छित बचत से कम है तो इसका अर्थ यह है कि मुद्रा प्रवाह में मुद्रा राशि डाली तो कम जाती है परन्तु निकाली अधिक। परिणाम यह होगा कि मुद्रा प्रवाह अर्थात् राष्ट्रीय आय में

वृद्धि होगी। जब निवेश की गई बचत के बिल्कुल बराबर हो तो इसका मतलब है मुद्रा-प्रवाह में जितनी रकम डाली गई है उतनी ही निकाली गई है जिससे मुद्रा-प्रवाह अथवा राष्ट्रीय आय में कोई कमी या वृद्धि नहीं होगी। स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय का वह स्तर निर्धारित होगा जिस पर अभीष्ट निवेश (intended investment) इच्छित बचत के बराबर होगी।
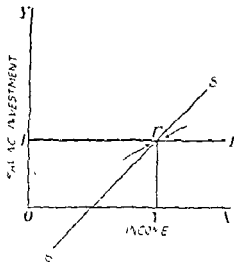
रेखाकृति 50.3

बचत और निवेश द्वारा राष्ट्रीय आय का निर्धारण

बचत और निवेश द्वारा राष्ट्रीय आय का निर्धारण रेखाकृति 50.3 में दर्शाया गया है। इसमें X-अक्ष पर राष्ट्रीय आय तथा Y-अक्ष पर बचत और निवेश दिखाए गए हैं। SS बचत वक्र है जो विभिन्न आय के स्तरों पर अभीष्ट बचत को प्रकट करता है। II निवेश माँग अथवा अभीष्ट निवेश (intended investment) का वक्र है। निवेश माँग वक्र II, X-अक्ष के समानान्तर सीधी रेखा है। ऐसा इसलिए है क्योंकि हमने मान लिया है कि किसी वर्ष उद्यमी लोग एक निश्चित मात्रा में निवेश करने के इच्छुक होंगे अर्थात् हमने यह मान लिया है कि आय के बढ़ने के साथ निवेश नहीं बढ़ता।

बचत वक्र SS और निवेश माँग वक्र II एक दूसरे को E पर काटते है अर्थात् अभीष्ट निवेश और अभीष्ट बचत OY आय के स्तर पर समान है। अत OY, आय का सन्तुलन स्तर है। रेखाकृति 50.3 में यह देखा जाएगा कि OY से कम आय पर अभीष्ट निवेश की मात्रा, अभीष्ट बचत से अधिक है। परिणामस्वरूप आय में वृद्धि होगी। इसके विपरीत OY से अधिक आय पर अभीष्ट निवेश अभीष्ट बचत से कम है जिसका परिणाम यह होगा कि आय में कमी होगी। आय में यह कमी होती जाएगी जब तक कि यह OY के बराबर नहीं हो जाती। OY आय के स्तर पर इच्छित निवेश और इच्छित बचत बराबर है जिससे आय में न बढ़ने की और न घटने की प्रवृत्ति होगी। अत OY राष्ट्रीय आय निर्धारित होगी। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि राष्ट्रीय आय बचत और निवेश द्वारा निर्धारित होती है।

हमने ऊपर राष्ट्रीय आय के निर्धारण को दो विधियों से समझाया है। राष्ट्रीय आय का सन्तुलन स्तर वह होगा जहाँ निम्न शर्तें (conditions) पूरी होती हों :

(i) समस्त माँग=समस्त पूर्ति

अथवा (ii) अभीष्ट निवेश=अभीष्ट बचत

यह समझ लेना महत्वपूर्ण है कि समस्त माँग (aggregate demand) तथा समस्त पूर्ति (aggregate supply) में समानता तथा अभीष्ट-बचत (intended savings) और अभीष्ट निवेश (intended investment) में समानता राष्ट्रीय आय के समान स्तर पर होती है अर्थात् समस्त माँग तथा समस्त पूर्ति की अन्तर्क्रिया द्वारा व्याख्या अभीष्ट बचत एवं निवेश द्वारा समष्टीकरण राष्ट्रीय आय के निर्धारण को समझाने की दो वैकल्पिक विधियाँ है। रेखाकृति 50.4 पर दृष्टि डालने से ज्ञात होगा कि दी हुई उपभोग प्रवृत्ति, बचत तथा निवेश की स्थिति में समस्त माँग $C+I$ तथा समस्त पूर्ति में सन्तुलन तथा बचत और निवेश में सन्तुलन समान राष्ट्रीय आय के स्तर OY, पर होता है। यह बात कि समस्त माँग तथा समस्त पूर्ति में सन्तुलन तथा बचत एवं निवेश में सन्तुलन राष्ट्रीय आय के समान स्तर पर होगा बीजगणित की सहायता से अधिक स्पष्ट हो जायेगी।

सन्तुलन राष्ट्रीय स्तर पर $S=I$ (i)

चूँकि बचत राष्ट्रीय आय (Y) और उपभोग (C_a + cY) का अन्तर है अतः

$$S = Y - (C_a + cY) \quad (ii)$$

समीकरण (i) तथा (ii) से हमें निम्न समीकरण प्राप्त होता है

$$Y - (C_a + cY) = I \quad (iii)$$
$$Y - C_a - cY = I$$
$$Y - cY = C_a + I$$
$$Y(1 - c) = C_a + I$$
$$Y = \frac{1}{1-c}(C_a + I) \quad (iv)$$

रेखाकृति 50 4
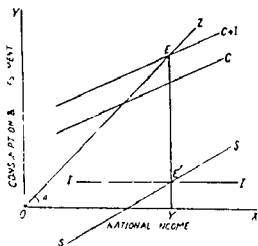
अतः बचत और निवेश के सन्तुलन से भी हम राष्ट्रीय आय (Y) को $\frac{I}{1-c}$ ($C_a + I$) के समान प्राप्त करते है जिसको हमने समस्त माँग तथा समस्त पूर्ति में सन्तुलन विधि से प्राप्त किया था।

स्फीतिकारी तथा अवस्फीतिकारी अन्तर की धारणाएँ (Concepts of Inflationary and Deflationary Gaps)

स्फीतिकारी अन्तर (Inflationary Gap)

स्फीतिकारी अन्तर की धारणा को समझना बड़ा उपयोगी है क्योंकि इससे ही इस बात का पता चलता है कि अर्थव्यवस्था में कीमतों में वृद्धि होने का मुख्य कारण क्या है। जैसा कि हम राष्ट्रीय आय के निर्धारण के अध्याय में अध्ययन कर चुके है, किसी देश की अर्थव्यवस्था का सन्तुलन पूर्ण रोजगार (full employment) के स्तर पर तब निश्चित होता है जबकि समस्त माँग (aggregate demand) अथवा कुल व्यय पूर्ण रोजगार के स्तर पर की राष्ट्रीय आय (अर्थात GNP) के बराबर होता है। ऐसा तब होता है जब देश में निवेश (investment) की मात्रा पूर्ण रोजगार पर राष्ट्रीय आय में होने वाली बचत (saving gap corresponding to full employment level of income) के बराबर होती है। कल्पना कीजिए कि रेखाकृति 50 5 में OY_f पूर्ण रोजगार के स्तर पर राष्ट्रीय आय है। OY_f राष्ट्रीय आय पर सन्तुलन तब होगा जब समस्त माँग ($C+I+G$) अथवा कुल व्यय Y_fF के बराबर होगा ($Y_fF = OY_f$)। चूँकि सभी उत्पादन साधनों (श्रमिकों समेत) का पूर्ण उपयोग अथवा रोजगार प्राप्त है, इसलिए इससे आगे उत्पादन बढ़ने की कोई सम्भावना नही है। अब यदि समस्त माँग पूर्ण रोजगार की राष्ट्रीय आय OY_f को सुनिश्चित करने वाली समस्त माँग Y_fF से अधिक है, उदाहरण के लिए यदि यह Y_fG है तो इससे सन्तुलन OY_f पर स्थापित नही होगा। समस्त माँग Y_fG के पूर्ण रोजगार पर सन्तुलन स्थापित करने के लिए आवश्यक समस्त माँग से FG अधिक होने के कारण राष्ट्रीय आय का सन्तुलन OY_2 से अधिक स्तर पर होगा। चूँकि OY_f पूर्ण रोजगार का स्तर है, इसलिए इससे अधिक वास्तविक उत्पादन तो बढ़ ही नही सकता। अतः अतिरिक्त समस्त माँग FG के कारण वास्तविक उत्पादन तो नहीं बढ़ेगा, परन्तु कीमत-स्तर में वृद्धि हो जाएगी जिससे OY_f उत्पादन का मुद्रा मूल्य बढ़ जाए। पूर्ण रोजगार की राष्ट्रीय आय पर सन्तुलन के लिए आवश्यक समस्त माँग Y_fF से अतिरिक्त माँग FG को स्फीतिकारी अन्तर (inflationary gap) की संज्ञा दी जाती है क्योंकि इसी अतिरिक्त समस्त माँग के कारण ही कीमतों में वृद्धि होती है। रेखाकृति 50 5 से स्पष्ट है कि समस्त माँग Y_fG होने पर समस्त माँग वक्र $C+I+G'$ बनता है जो 45° समस्त पूर्ति रेखा OZ को

बिन्दु R पर काटता है जिससे राष्ट्रीय आय बढ़ कर OY_3 हो गई है। यह ध्यान म समझ लेना चाहिए कि OY_f और OY_3 पर वास्तविक उत्पादन की मात्रा समान है केवल कीमतो क बढ़ने के कारण मुद्रा मूल्य म राष्ट्रीय आय बढ़ कर OY_3 हो गई है।

स्फीतिकारी अन्तर

रेखाकृति 50 5

स्फीतिकारी अन्तर FG समस्त सम्भव उत्पादन अथवा पूर्ति की तुलना म समस्त मांग की अधिकता (excess demand) को व्यक्त करता है जिससे माग प्रेरित स्फीति (demand pull inflation) उत्पन्न होती है। केन्ज ने अपनी प्रसिद्ध क्रान्तिकारी पुस्तक *General Theory of Employment Interest and Money* मे स्फीतिकारी अन्तर की विवेचना नही की क्योंकि वह उस समय मन्दी व अवस्फीति (deflation) के विश्लेषण की समस्या से जूझ रहा था। द्वितीय महायुद्ध के समय जब मुद्रास्फीति की समस्या उत्पन्न हो गई तो केन्ज ने अपने मन्दी व अवस्फीति के विश्लेषण को मुद्रास्फीति की व्याख्या करने के लिए प्रयोग किया और इस प्रकार स्फीतिकारी अन्तर की धारणा को प्रस्तुत किया।

अवस्फीतिकारी अन्तर (Deflationary Gap)

राष्ट्रीय आय तथा रोजगार के सिद्धान्त मे अवस्फीतिकारी अन्तर का बडा महत्त्व है क्योकि इसके कारण ही पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे बेरोजगारी व मन्दी की दशा उत्पन्न हो जाती है। केन्ज के सिद्धान्त के अनुसार अर्थव्यवस्था का सन्तुलन पूर्ण रोजगार की स्थिति पर तब होता है जब समस्त मांग (aggregate demand) अर्थात कुल उपभोग मांग + कुल निवेश मांग + कुल सरकारी व्यय $(C+I+G)$ की मात्रा

अवस्फीतिकारी अन्तर

रेखाकृति 50 6

पूर्ण रोजगार के स्तर की राष्ट्रीय आय के बराबर हो। ऐसा तब होता है जब निवेश माग पूर्ण रोजगार की राष्ट्रीय आय पर होने वाली बचत (saving gap at full employment level of income) के समान हो। यदि समस्त मांग $(C+I+G)$ का स्तर पूर्ण रोजगार पर की राष्ट्रीय आय से कम होता है अर्थात जब निवेश मांग पूर्ण रोजगार की राष्ट्रीय आय पर होने वाली बचत से कम होती है तो इस समस्त मांग (aggregate demand) की न्यूनता के कारण अवस्फीतिकारी अन्तर पैदा हो जाता है जिससे राष्ट्रीय आय तथा रोजगार की मात्रा पूर्ण रोजगार के स्तर से घट जाती है जिससे अर्थव्यवस्था मे बेरोजगारी व मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अवस्फीतिकारी अन्तर की धारणा रेखाकृति 50 6 में प्रदर्शित की गई है जिसम X अक्ष पर राष्ट्रीय आय तथा Y अक्ष पर समस्त माग को व्यक्त किया गया है। मान लीजिए कि पूर्ण रोजगार की स्थिति मे राष्ट्रीय आय OY_F है। OY_F पर सन्तुलन तब होगा जब समस्त मांग (उपभोग मांग +

निवेश माँग) $Y_F F$ (जो कि राष्ट्रीय आय OY_F के समान है) के बराबर होगी। परन्तु यदि वास्तव में समस्त माँग पूर्ण रोजगार की राष्ट्रीय आय OY_F निश्चित होने के लिए आवश्यक समस्त माँग $Y_F F$ से कम हो तो समस्त माँग की न्यूनता की समस्या उत्पन्न हो जाएगी। मान लीजिए कि वास्तव में समस्त माँग $Y_F H$ है जो कि पूर्ण रोजगार पर सन्तुलन के लिए आवश्यक समस्त माँग $Y_F F$ से FH कम है। यह FH अवस्फीतिकारी अन्तर (deflationary gap) को व्यक्त करता है। अतः अवस्फीतिकारी अन्तर पूर्ण रोजगार की राष्ट्रीय आय पर सन्तुलन के लिए आवश्यक समस्त माँग की तुलना में वास्तविक समस्त माँग की कमी की मात्रा को कहते हैं। यह ध्यान में समझ लेना जरूरी है कि अवस्फीतिकारी अन्तर FH के कारण राष्ट्रीय आय तथा रोजगार का स्तर गिर जाएगा। राष्ट्रीय आय तथा रोजगार में गिरावट केवल अवस्फीतिकारी अन्तर FH के बराबर ही नहीं होगी बल्कि इससे कहीं अधिक होगी। राष्ट्रीय आय में यह गिरावट कितनी अधिक होगी, यह गुणक (multiplier) की मात्रा पर निर्भर करता है। रेखाकृति 50.6 में जब समस्त माँग $Y_F H$ है अथवा अवस्फीतिकारी अन्तर FH है तो समस्त माँग वक्र $C + I + G'$ है जो 45° रेखा को बिन्दु Q पर काटता है जिससे सन्तुलन OY_1 राष्ट्रीय आय पर होगा। स्पष्ट है कि OY_1 पूर्ण रोजगार की राष्ट्रीय आय OY_F से कम है जिससे अर्थ-व्यवस्था में मन्दी एवं बेरोजगारी उत्पन्न हो जाएगी। कीन्ज ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रोजगार, ब्याज तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त'—*General Theory of Employment Interest and Money* में अवस्फीतिकारी अन्तर की धारणा द्वारा सिद्ध किया कि पूँजीवादी दशा में किस प्रकार मन्दी, बेरोजगारी तथा अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता (idle productive capacity) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

51

रोजगार तथा राष्ट्रीय आय के निर्धारक : उपभोग प्रवृत्ति
(DETERMINANTS OF EMPLOYMENT AND INCOME : PROPENSITY TO CONSUME)

पिछले अध्याय में हमने राष्ट्रीय आय के निर्धारण के विषय में पढ़ा। इस अध्याय में तथा अगले अध्याय में हम उन तत्त्वों पर विचार करेंगे जो किसी देश की राष्ट्रीय आय तथा रोजगार के स्तर को निर्धारित करते है। सामान्य रूप से देश में राष्ट्रीय आय तथा रोजगार के स्तर को निर्धारित करने वाले दो तत्त्व है (1) उपभोग प्रवृत्ति (Propensity to Consume) और (2) निवेश अथवा विनियोग की प्रेरणा (Inducement to Invest)। हमने पिछले अध्याय में देखा कि ये दोनों तत्त्व मिलकर देश की समस्त माँग को निश्चित करते है और केन्ज़ के मतानुसार यह समस्त माग ही है जो इस बात को निर्धारित करती है कि देश में राष्ट्रीय आय का स्तर कितना होगा तथा उसमे कितनी मात्रा में रोजगार उपलब्ध होगा। अब इस अध्याय में हम उपभोग प्रवृत्ति का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे। किसी देश में उपभोग प्रवृत्ति जितनी ही अधिक होगी, उस देश में वस्तुओं तथा सेवाओं के लिए माग उतनी ही अधिक होगी। उस माग को पूरा करने के लिए अधिक मात्रा में वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाएगा। अधिक उत्पादन से देश की राष्ट्रीय आय तथा रोजगार की मात्रा में वृद्धि होगी। इस प्रकार हम देखते है कि किसी देश में राष्ट्रीय आय तथा रोजगार को निर्धारित करने में उपभोग प्रवृत्ति का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है।

उपभोग प्रवृत्ति अथवा उपभोग फलन का अर्थ
(Meaning of Propensity to Consume or Consumption Function)

हमने माग के अध्याय में पढा कि किसी वस्तु-विशेष की माग की मात्रा उसकी कीमत द्वारा निर्धारित होती है अर्थात् किसी वस्तु की माँग-मात्रा उसकी कीमत पर निर्भर करती है। अब हम यहाँ पर इस विषय की चर्चा करेंगे कि समाज का समस्त उपभोग समस्त आय पर किस प्रकार निर्भर करता है। यहाँ हम किसी व्यक्ति का उपभोग और उसकी आय में सम्बन्ध की विवेचना करेंगे। यहाँ पर हमारा सम्बन्ध सारे देश के उपभोग और उसकी आय से है। किसी समाज का उपभोग उसकी आय पर निर्भर करता है, जब आय बढ़ती है तो कुल उपभोग की मात्रा भी बढ़ती है और जब आय घटती है तो उपभोग की मात्रा भी घटती है। उपभोग और आय में इस सम्बन्ध को उपभोग प्रवृत्ति (propensity to consume or consumption function) अथवा उपभोग फलन कहते है। यहाँ पर भली भाँति यह समझ लेना चाहिए कि उप-

भोग की मात्रा अथवा उपभोग प्रवृत्ति में महत्त्वपूर्ण अन्तर है। उपभोग प्रवृत्ति से हमारा तात्पर्य उस समस्त अनुसूची अथवा वक्र से होता है जो कि यह बताता है कि विभिन्न आय के स्तरों पर उपभोग कितना-कितना होगा, जबकि उपभोग अथवा उपभोग की मात्रा (consumption or amount of consumption) से तात्पर्य आय के किसी विशेष स्तर पर उपभोग मात्रा से है।

एक महत्त्वपूर्ण बात समझने की यह है कि इसमें जब आय में वृद्धि होती है तो उपभोग बढ़ता है, परन्तु उतना नहीं जितनी कि आय बढ़ती है। इसका कारण यह है कि आय में वृद्धि का कुछ भाग बचा लिया जाता है। कल्पना कीजिए कि आय 1000 करोड़ रु० से बढ़कर 1100 करोड़ रु० हो जाती है जिसके फलस्वरूप उपभोग की मात्रा 750 करोड़ रुपये से बढ़ कर 825 करोड़ रुपये हो जाती है अर्थात् आय के 100 करोड़ बढ़ने पर उपभोग में वृद्धि 75 करोड़ रु० हुई है, 25 करोड़ रु० के समान बचत की गई है। इसी प्रकार यदि आय 1100 रु० से बढ़ कर 1200 करोड़ रुपए हो जाती है और परिणामस्वरूप उपभोग की मात्रा 825 करोड़ रु० से बढ़ कर 900 करोड़ रुपए हो जाती है। यहाँ पर भी 100 करोड़ रुपए आय में वृद्धि होने से उपभोग में वृद्धि 75 करोड़ रुपए की गयी है और 25 करोड़ रुपए अतिरिक्त बचत की गयी है। यही बात राष्ट्रीय आय में और वृद्धि होने पर भी स्पष्ट होती है। हम आगे जाकर देखेंगे कि उपभोग की मात्रा के समस्त आय की तुलना में कम बढ़ने पर केन्ज़ ने एक महत्त्वपूर्ण नियम प्रतिपादित किया जिसका समष्टिपरक आर्थिक सिद्धान्त में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

हम उपभोग प्रवृत्ति को एक वक्र के रूप में भी प्रदर्शित कर सकते हैं। ऐसा हमने रेखाकृति 51.1 में किया है जिसमें अक्ष-X पर आय प्रदर्शित की गई है और अक्ष-Y पर उपभोग को दिखाया गया है। इस रेखाकृति में एक रेखा OZ, 45° कोण वाली बनाई गई है। चूँकि यह रेखा अक्ष-X और अक्ष Y के साथ 45° का कोण बनाती है, इसलिए इस पर सभी बिन्दु अक्ष-X और अक्ष-Y से समान दूरी पर होंगे। अतएव यदि OZ रेखा उपभोग प्रवृत्ति का वक्र होती तो इसका अर्थ होता कि आय और उपभोग एक दूसरे के बिल्कुल बराबर हैं और जब आय में वृद्धि होती है तो उपभोग में भी उतनी ही वृद्धि होती है। हम ऊपर बता चुके हैं कि वास्तव में उपभोग, आय में वृद्धि से कम मात्रा में बढ़ता है। रेखाकृति 51.1 में एक वक्र CC खींचा गया है जो कि उपभोग प्रवृत्ति को व्यक्त करता है। रेखाकृति 51.1 से स्पष्ट है कि यह वक्र CC 45° कोण वाली रेखा से भिन्न होता है। आय के कुछ स्तर तक बढ़ जाने पर यह उपभोग वक्र OZ रेखा के नीचे स्थित है जिसका अर्थ यह है कि उपभोग आय से कम है। रेखाकृति में यह देखा जाएगा कि उपभोग और आय में अन्तर बढ़ता जाता है जैसे कि आय बढ़ती है परन्तु वह बिन्दु जिस पर कि CC और OZ वक्र एक दूसरे को काटते हैं के बायीं

रेखाकृति 51.1
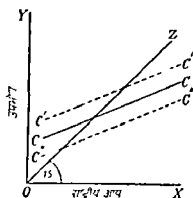
ओर उपभोग वक्र CC, रेखा OZ से ऊपर स्थित है। इसका अर्थ यह है कि कम आय पर उपभोग की मात्रा आय से अधिक है। ऐसा इसलिए है कि जब आय का स्तर निम्न होता है तो लोग अपनी किसी वर्ष में पिछली सचित बचतों अथवा धन से रुपया निकाल कर उपभोग कर लेते हैं। यह भी हो सकता है कि किसी वर्ष में किसी देश ने विदेशों से ऋण प्राप्त करके उपभोग कर लिया हो जिससे उस वर्ष की आय में उपभोग की मात्रा अधिक हो गई हो।

जब उपभोग प्रवृत्ति बदल जाती है तो सारे का सारा उपभोग प्रवृत्ति वक्र बदल जाता है। जब उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि होती है तो इसका अर्थ यह है कि आय के विभिन्न स्तरों पर उपभोक्ता पहले से अधिक मात्रा उपभोग पर व्यय करता है। परिणामस्वरूप उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि से समस्त उपभोग प्रवृत्ति वक्र ऊपर को सरक जाता है जैसा कि रेखाकृति 51.1 में दिखाया गया है। आरम्भ में उपभोग प्रवृत्ति वक्र CC है और जब किसी कारण उपभोग प्रवृत्ति में वृद्धि हो जाती है तो समस्त उपभोग प्रवृत्ति वक्र ऊपर को सरक कर $C'C'$ हो गया है। इसके विपरीत जब उपभोग प्रवृत्ति में कमी आ जाती है तो समस्त उपभोग प्रवृत्ति वक्र नीचे को सरक जाता है अर्थात् उपभोग प्रवृत्ति के कम होने पर उपभोक्ता आय के विभिन्न स्तरों पर पहले से कम उपभोग करते हैं। रेखाकृति 50.1 में उपभोग प्रवृत्ति के कम हो जाने के कारण उपभोग प्रवृत्ति वक्र नीचे को सरक कर $C''C''$ हो गया है।

औसत उपभोग-प्रवृत्ति और सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति
(Average and Marginal Propensities to Consume)

औसत उपभोग प्रवृत्ति (Average Propensity to Consume) और **सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति** (Marginal Propensity to Consume) में अन्तर को स्पष्ट कर देना आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण है। इन धारणाओं की हमें इसलिए आवश्यकता पड़ती है कि इनके द्वारा आय और उपभोग व्यय के आपसी फलन सम्बन्ध (functional relationship) को मापा जा सकता है। हमने यह तो जान लिया है कि आय के बदलने पर उपभोग व्यय बदलता है परन्तु हमें यह देखना है कि कितना बदलता है। इस प्रश्न का उत्तर उपभोग प्रवृत्ति की इन दो धारणाओं से मिलता है। इसी प्रकार यदि हमें यह जानना है कि किसी देश में राष्ट्रीय आय का कितना भाग व्यय किया जाता है और कितना भाग बचाया जाता है तो यह हम देश की उपभोग-प्रवृत्ति से ज्ञात करेंगे। उपभोग-प्रवृत्ति कितनी है यह हम औसत उपभोग प्रवृत्ति और सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति से जानेंगे।

औसत उपभोग प्रवृत्ति (*Average Propensity to Consume*)

जैसे कि हम पहले कह आए हैं, उपभोग प्रवृत्ति का अर्थ वह तालिका या सारी अनुसूची है जो यह बताती है कि आय के बदलने के साथ उपभोग व्यय कैसे कैसे बदलता है। रेखाकृति 51.1 में CC वक्र उपभोग प्रवृत्ति दर्शाता है। दूसरे शब्दों में उपभोग-प्रवृत्ति तो आय और उपभोग के आपसी सम्बन्ध को बताता है परन्तु *औसत उपभोग प्रवृत्ति (Average Propensity to Consume)* कुल आय और कुल उपभोग के आपसी अनुपात को कहते हैं और इसे ज्ञात करने का बड़ा सरल तरीका यह है कि कुल उपभोग को कुल आय पर भाग दिया जाता है। अन्य शब्दों में $APC = \frac{C}{Y}$ [इसमें APC औसत उपभोग प्रवृत्ति (Average Propensity to Consume) है C उपभोग व्यय (Consumption Expenditure) है और Y Income (अर्थात् राष्ट्रीय आय) है।] उदाहरणतया जब आय 1,000 करोड़ रुपया है और उपभोग व्यय 750 करोड़ रुपया है तो औसत उपभोग प्रवृत्ति होगी $\frac{750}{1000} = 0.75$।

इसी प्रकार जब आय 1200 करोड़ रुपए हो और उपभोग 900 करोड़ रुपए तो यहाँ पर औसत उपभोग प्रवृत्ति $\frac{900}{1200} = 0.75$ के बराबर है। यदि आय में वृद्धि होने पर औसत उपभोग प्रवृत्ति समान रहती है तो उपभोग प्रवृत्ति वक्र एक सीधी रेखा होती है जैसा कि रेखाकृति 51.1 में वक्र CC द्वारा दर्शाया गया है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि औसत उपभोग प्रवृत्ति प्रत्येक आय के स्तर पर समान ही रहे। किन्तु

सारणी 51.1 में ऐसी उपभोग प्रवृत्ति दिखाई गई है जिसमें आय के बढ़ने पर औसत उपभोग प्रवृत्ति घटती जाती है।

सारणी 51.1
उपभोग प्रवृत्ति
(Propensity to Consume)

आय करोड़ रु०	उपभोग करोड़ रु०	औसत उपभोग प्रवृत्ति $APC = \frac{C}{Y}$	सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $(MPC) = \frac{\Delta C}{\Delta Y}$
1000	950	0.950	
1100	1040	0.945	0.9
1200	1120	0.933	0.8
1300	1190	0.915	0.7
1400	1250	0.893	0.6
1500	1300	0.866	0.5

उपर्युक्त सारणी में देखा जाएगा कि जब आय 1000 करोड़ रुपये है तो औसत आय उपभोग प्रवृत्ति 0.950 है और जब आय बढ़कर 1500 रुपये हो गई है तो औसत आय उपभोग प्रवृत्ति घट कर 0.866 रह गई है। जब आय के बढ़ने पर औसत उपभोग प्रवृत्ति घटती है तो उपभोग प्रवृत्ति वक्र सीधी रेखा न होकर, एक टेढ़ी रेखा होती है जिसकी ढाल (slope) आय बढ़ने पर कम होती जाती है। ऐसा उपभोग प्रवृत्ति वक्र हमने रेखाकृति 51.1 में दिखाया है। रेखाकृति 51.2 देखने पर ज्ञात होगा कि उपभोग प्रवृत्ति वक्र CC की ढाल आय में वृद्धि होने पर कम होती जाती है।

रेखाकृति 51.1 और 51.2 में उपभोग की प्रवृत्ति समस्त CC वक्र द्वारा व्यक्त की गयी है। परन्तु औसत उपभोग प्रवृत्ति इन वक्रों के किसी एक बिन्दु पर होती है जो उस बिन्दु के आय स्तर पर आय और उपभोग के अनुपात को मापती है। इसे जानने के लिए उपभोग प्रवृत्ति वक्र के उस बिन्दु को रेखाकृति के मूल बिन्दु O के साथ एक सीधी रेखा द्वारा मिला दें। इस सीधी रेखा की ढाल उस बिन्दु की आय पर औसत उपभोग प्रवृत्ति होगी। अब आप सरलता से समझ लेंगे कि यदि उपभोग प्रवृत्ति वक्र की ढाल कम होती जा रही हो जैसा कि रेखाकृति 51.2 में वक्र CC दिखाया गया है तो इसका अर्थ होगा कि औसत उपभोग प्रवृत्ति गिर रही होगी।

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (Marginal Propensity to Consume)

यह धारणा बड़ी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे हमें पता लगता है कि आय में होने वाली वृद्धि का कितना भाग उपभोग पर व्यय किया जायगा और कितना भाग बचा लिया जायगा। सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति जानने के लिए हम आय में हुई वृद्धि और उपभोग व्यय में हुई वृद्धि की तुलना करके इन दोनों वृद्धियों का आपसी अनुपात निकाल लेते हैं (Marginal propensity to consume is the ratio of change in consumption to the change in income)। औसत तथा सीमान्त उपभोग-प्रवृत्तियों के अन्तर को भली भाँति समझ लें। औसत उपभोग-प्रवृत्ति तो आय तथा उपभोग का अनुपात होती है, जबकि सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति आय तथा उपभोग दोनों में हुई वृद्धियों या कमियों का अनुपात होती है (Average propensity to consume is the ratio of consumption to income. But marginal propensity to consume is the ratio of the change in consumption to the change in income)। सारणी 50.1 को ध्यानपूर्वक देखने से आपको यह धारणा बड़ी अच्छी तरह से समझ में आ जायेगी। उसके स्तम्भ चार को देखिये। जब आय 1000 करोड़ रु० से बढ़-

कर 1100 करोड रु० हो जाती है तो आय में वृद्धि 100 करोड रुपये है और उपभोग-व्यय में वृद्धि 90 करोड रु० । इन वृद्धियों का अनुपात है $\frac{90}{100}$ अर्थात 0 9 अर्थात यहाँ सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति 0 9 है । इसी प्रकार जब आय 1100 करोड रुपये से बढकर 1200 करोड रुपये होती है और फलस्वरूप उपभोग 1040 करोड से बढकर 1120 करोड रु० हो जाता है तो अब सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $\frac{80}{100}=0\ 8$ के बराबर होगी ।

सारणी 51 1 और रेखाकृति 51 2 मे आय मे वृद्धि होने पर सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति घटती है । यह उल्लेखनीय है कि जब आय के बढने पर औसत उपभोग प्रवृत्ति (average propensity to consume) घटती है तो सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति औसत उपभोग प्रवृत्ति से कम होती है । यह बात सारणी 50 1 से स्पष्ट होती है । परन्तु जब औसत उपभोग प्रवृत्ति समान रहती है, तो सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति औसत उपभोग प्रवृत्ति के समान होगी ।

सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति को चिन्हों म हम निम्न प्रकार लिख सकते है ।

$$\text{सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति } (MPC)=\frac{\triangle C}{\triangle Y}$$

यहाँ $\triangle C$ उपभोग मे परिवर्तन का और $\triangle Y$ आय मे परिवर्तन का सूचक है।

हम सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति को उपभोग प्रवृत्ति वक्र की ढाल (slope) मे जान सकते है । रेखाकृति 51 1 मे उपभोग-प्रवृत्ति वक्र CC एक सीधी रेखा है जिसका अर्थ यह है कि इसकी ढाल (slope) स्थिर रहती है । अत उपभोग प्रवृत्ति वक्र CC पर सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (marginal propensity to consume) स्थिर (constant) रहती है ।

जब उपभोग-प्रवृत्ति वक्र दायी ओर को कम ढाल वाला (less steep), अर्थात अधिक चपटा (flatter) होता जाता है जैसा कि रेखाकृति 51 2 मे CC वक्र है तो इसका भाव यह है कि आय बढने पर सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति कम होती जाती है । प्राय लोग अपनी
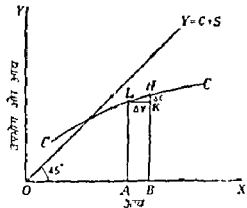
रेखाकृति 51 2

आय मे वृद्धि का 60% से 80% तक भाग उपभोग पर व्यय कर देते है और शेष भाग बचा लेते है । अत सामान्यतया सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति न तो शून्य (zero) होती है और न ही इकाई के समान होती है अर्थात् आम तौर पर न तो ऐसा होता है कि आय म हुई वृद्धि बिल्कुल ही उपभोग न की जाय और न ही यह कि वह वृद्धि सारी की सारी ही उपभोग पर व्यय कर दी जाय । दूसरे शब्दों मे, सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति दो सीमाओ (limits) के बीच कही होती है और वे सीमाएँ हैं शून्य (zero) और इकाई ।

सारणी 51 1 के तीसरे और चौथे स्तम्भ (columns) की तुलना करें तो हम देखते है कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति, औसत उपभोग प्रवृत्ति से कम है । यह तो सामान्य औसत व सीमान्त मात्राओं म सम्बन्ध के कारण है। हम जानते है कि जब कोई औसत मात्रा घटती है तो उसके अनुरूप सीमान्त मात्रा उससे कम होती है ।

उपभोग प्रवृत्ति को निर्धारित करने वाले तत्त्व (Determinants of Propensity to Consume)

अब महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि किसी देश में उपभोग प्रवृत्ति किन तत्त्वों पर निर्भर करती है अर्थात् उपभोग प्रवृत्ति के वक्र का स्तर किन तत्त्वों द्वारा निर्धारित होता है और इस उपभोग प्रवृत्ति में परिवर्तन क्यों होता है। केन्ज ने उपभोग प्रवृत्ति को निर्धारित करने वाले तत्त्वों को दो भागों में विभक्त किया। एक प्रकार के तत्त्वों को उन्होंने व्यक्तिपरक तत्त्व (Subjective Factors) की संज्ञा दी और दूसरे प्रकार के तत्त्वों को उन्होंने वस्तुपरक तत्त्व (Objective Factors) कहा। अब हम इन दो प्रकार के तत्त्वों की विस्तारपूर्वक व्याख्या करेंगे।

व्यक्तिपरक तत्त्व (Subjective Factors)

इन तत्त्वों में लोगों के वे प्रयोजन अथवा उद्देश्य सम्मिलित हैं जो लोगों को अपनी आय में से कुछ बचाने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। प्रथम, लोग अपनी आय में से अज्ञात संकटों (unforeseen contingencies) जैसे कि बीमारी, बेरोजगारी आदि के लिए कुछ धन बचाकर सुरक्षित रखना चाहते हैं। दूसरे, व्यक्ति भविष्य में धन की प्रत्याशित जरूरतों (expected future needs) जैसे कि बच्चों की पढ़ाई, शादी ब्याह को पूरा करने के लिए कुछ धन बचा कर रखना चाहते हैं। तीसरे, कई लोग अपनी वर्तमान आय से इसलिए बचाने के लिए प्रेरित होते हैं ताकि वे बचे हुए धन का निवेश अथवा विनियोग कर सकें जिसमें उनकी भविष्य में आय में वृद्धि हो। निवेश से उनको ब्याज अथवा लाभ की आय प्राप्त होगी जो उनकी आय में बढ़ोत्तरी करेगी। चौथे, कई लोग इसलिए बचाने को प्रेरित होते हैं ताकि वे काफी मात्रा में धन जमा कर सकें जिससे कि वे समाज में ऊँचे स्तर (high social status) के व्यक्ति गिने जाएँ। अधिक धन से वे अपने आप को आर्थिक रूप में स्वतन्त्र समझेंगे तथा अपने धन के बल बूते पर कई बातें कर सकेंगे। पाँचवें, कई व्यक्ति इसलिए भी बचाते हैं ताकि वे अपने बचे हुए धन को सट्टे (speculation) अथवा किन्हीं अन्य व्यावसायिक परियोजनाओं में लगा सकें। इसके अतिरिक्त, कई लोग अपने बच्चों और उत्तराधिकारियों के लिए काफी मात्रा में धन-दौलत छोड़ कर जाना चाहते हैं और इसके लिए वे अधिक मात्रा में बचत को प्रोत्साहित होते हैं। अन्ततः, कई लोग अपनी कृपण आदतों के कारण धन बचाते हैं। अपने बढ़ते हुए धन को देख कर ये कृपण व्यक्ति बड़ा आनन्द लेते हैं।

उपर्युक्त तत्त्व लोगों को बचत करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और इसलिए उपभोग प्रवृत्ति को कम कर देते हैं। परन्तु कई ऐसे तत्त्व भी हैं जो उपभोक्ताओं को अधिक मात्रा में उपभोग करने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार लोगों को दिखावे और फैशन का खर्च करने की इच्छा होती है जिससे कि उपभोग प्रवृत्ति बढ़ जाती है। इसी प्रकार व्यर्थ व्यय तथा आडम्बरपूर्ण उपभोग (conspicuous consumption) पर लोग अपनी आयों का अधिक भाग व्यय कर देते हैं जिससे भी उपभोग प्रवृत्ति बढ़ जाती है।

इसी प्रकार व्यवसायियों की तथा औद्योगिक फर्मों के उपभोग और बचत को कई व्यक्तिपरक तत्त्व निर्धारित करते हैं 1 उद्यम (enterprise)—व्यावसायिक और औद्योगिक फर्में भविष्य में नये उद्यम और निवेश करने के लिए अपनी वर्तमान आय से प्राय बचाने को प्रेरित होती हैं। प्राय व्यावसायिक फर्में अपने वर्तमान व्यवसाय का विस्तार करने के लिए अधिक मात्रा में मुद्रा राशि बचाती हैं। 2 तरलता (liquidity)—व्यावसायिक फर्में भविष्य में आपत्कालीन स्थितियों का सामना करने के लिए कुछ धन को नकदी में रखती हैं। 3 आय में वृद्धि के लिए तथा अपने को सफल प्रबन्धक सिद्ध करने के लिए भी कई व्यवसायी अधिक बचत करके उसको निवेश में लगाना चाहते हैं। उनके द्वारा अधिक निवेश से उनकी व्यावसायिक आय बढ़ेगी जिससे वे सफल प्रबन्धक माने जाएंगे। 4 वित्तीय बुद्धिमत्ता (financial prudence)—व्यावसायिक फर्में अपनी मशीनरी तथा संयन्त्र (plant) आदि की घिसावट के कारण

मूल्यह्रास (depreciation) को पूरा करने के लिए भी पर्याप्त धन बचाकर रखती हैं। कुछ वर्ष पश्चात् व्यावसायिक फर्मों को अपनी मशीनरी का प्रतिस्थापन करना पड़ता है और यदि पर्याप्त मात्रा मे वर्तमान आय से बचा कर न रखा जाय तो उनका प्रतिस्थापन करना सम्भव नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, व्यावसायिक फर्में अपने लिए हुए ऋण को चुकाने (debt repayment) के लिए भी बचाने के लिए प्रेरित होती है। यदि फर्में अपनी आयो से मूल्यह्रास तथा घिसावट के प्रतिस्थापन के लिए कम धन बचा कर सुरक्षित रखना चाहती हैं तो वे हिस्सेदारो मे अधिक धन का वितरण करेंगी जिससे उपभोग प्रवृत्ति अधिक होगी। इसके विपरीत, यदि वे मूल्यह्रास और घिसावट के लिए अधिक मात्रा मे आय से बचा कर सुरक्षित रखना चाहती हैं तो उपभोग प्रवृत्ति कम होगी और बचत अधिक।

वस्तुपरक तत्त्व (Objective Factors)

केन्ज ने छ प्रकार के वस्तुपरक तत्त्व बतलाए जो उपभोग प्रवृत्ति को कम या अधिक बनाते हैं।

1 आकस्मिक लाभ अथवा हानि (Windfall Gains or Losses)—आकस्मिक लाभ और हानियाँ उपभोग प्रवृत्ति को निर्धारित करती हैं। जब शेयरो की कीमत बढ जाती है तो शेयर होल्डर अपने आपको अधिक धनी समझने लग जाते हैं और अधिक उपभोग करने को प्रेरित होते हैं। इसके विपरीत, जब शेयरो की कीमत घट जाती है और शेयर होल्डरो को आकस्मिक हानि उठानी पडती है तो वे पहले से अपने को अपेक्षाकृत निर्धन समझने लग जाते हैं और अपना उपभोग घटा देते हैं। इसी प्रकार अन्य प्रकार के आकस्मिक लाभ अथवा हानियाँ भी उपभोग प्रवृत्ति को बदल देती हैं।

2 राजकोषीय नीति (Fiscal Policy)—राजकोषीय नीति अर्थात् कर-सम्बन्धी नीति भी उपभोग प्रवृत्ति को प्रभावित करती है। किसी देश मे भारी मात्रा मे अप्रत्यक्ष कर जैसे कि बिक्री कर तथा उत्पादन कर (excise duty) लगाने से उपभोग प्रवृत्ति को कम किया जा सकता है। इसी प्रकार जब सरकार लोगो पर करो मे कमी कर देती है तो लोगो का उपभोग बढ जाता है। राशनिंग और कीमतो पर नियन्त्रण से भी उपभोग प्रवृत्ति को कम किया जा सकता है जैसा कि दूसरे महायुद्ध के काल मे किया गया। आधुनिक काल म सरकार द्वारा कल्याणकारी राज्य (Welfare State) की नीति अपनाने पर, जिसके अन्तर्गत धनी व्यक्तियो पर आरोही कर (progressive taxes) लगा कर निर्धन व्यक्तियो को कई सुविधाएँ अथवा सेवाएँ उपलब्ध कराई जाती हैं, ने उपभोग प्रवृत्ति को बढाने की ओर काम किया है।

3 ब्याज की दर (Rate of Interest)—ब्याज की दर भी उपभोग प्रवृत्ति अथवा बचत को निर्धारित करती है। प्राय यह कहा जाता है कि ब्याज की दर बढने पर लोगो द्वारा बचत बढ जाती है जिससे उनकी उपभोग प्रवृत्ति कम होती है। परन्तु ऐसा सभी व्यक्तियो की हालत मे नहीं होता। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं जो भविष्य मे एक स्थिर और निश्चित आय प्राप्त करना चाहते हैं। जब ब्याज दर बढ जाती है तो ऐसे व्यक्तियो की उपभोग-प्रवृत्ति बढ जायेगी अथवा बचत कम हो जायेगी क्योकि ब्याज दर के बढने पर उन्हें एक निश्चित आय प्राप्त करने के लिए कम धन की बचत करने की आवश्यकता पडती है। परिणामस्वरूप जब ब्याज की दर बढ जाती है तो ऐसे व्यक्ति कम बचत करते हैं। इसलिए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ब्याज दर मे परिवर्तन से क्या समस्त समाज की उपभोक्ता प्रवृत्ति मे परिवर्तन होगा या नहीं।

4 कीमत-स्तर में परिवर्तन (Changes in the Price Level)—कीमतो मे परिवर्तन भी उपभोग प्रवृत्ति को निर्धारित करता है। जब कीमतें बढ जाती हैं अर्थात् देश मे मुद्रा-स्फीति (inflation) हो जाती है तो लोग बचत कम करने को बाध्य हो जाते और उनकी उपभोग प्रवृत्ति बढ जाती है। जब कीमतें अधिक हो तब लोगो को अपना व्यय चलाने के लिए आय का अधिक भाग उपभोग पर व्यय करना पडता है। इसके अतिरिक्त, जब कीमतो मे बढने की प्रवृत्ति

पायी जाती है तो लोग यह महसूस करने लग जाते हैं कि रुपये की कीमत भविष्य में घट जाएगी, इसलिए वे बचत करने को इतना लाभकर नहीं समझते। यह भी उपभोग को बढ़ाने की ओर कार्य करता है। इसके विपरीत, जब कीमतें घट जाती है तो लोगों की उपभोग प्रवृत्ति बढ़ जाती है। वस्तुएँ सस्ती होने पर वे अधिक उपभोग करके अपना जीवन-स्तर बढ़ाने के इच्छुक होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि कीमत-स्तर का उपभोग प्रवृत्ति पर बड़ा प्रभाव पड़ता है।

5 आशाओं में परिवर्तन (Changes in Expectations)—लोगों की आशाएँ भी उनकी उपभोग प्रवृत्ति को प्रभावित करती हैं। जब युद्ध छिड़ जाता है तो लोग यह आशा करने लग जाते हैं कि कीमतों में बड़ी वृद्धि हो जाएगी, इसलिए वे अपने निकट भविष्य की आवश्यकताओं को भी पूरा करने के लिए अधिक मात्रा में उपभोक्ता पदार्थों को खरीदने के लिए तत्पर हो जाते हैं। इससे उपभोग प्रवृत्ति बढ़ जाती है। इसके विपरीत, जब कीमतों में घटने की आशा होती है तो लोग वर्तमान में अपना उपभोग कम कर देते है ताकि जब कीमतें वास्तव में घट जाएँ तो वे उस समय उपभोक्ता पदार्थों को क्रय कर सकें।

हमने ऊपर उपभोग प्रवृत्ति को निर्धारित करने वाले विभिन्न व्यक्तिपरक तथा वस्तुपरक तत्वों का अध्ययन किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपभोग प्रवृत्ति अल्पकाल में इतनी नहीं बदलती क्योंकि उपर्युक्त तत्व केवल दीर्घकाल में ही बदलते है। अतः केन्ज का विचार था कि उपभोग प्रवृत्ति लगभग स्थिर रहती है। उपभोग प्रवृत्ति के स्थिर होने का कारण यह है कि यह मानव के मनोवैज्ञानिक रूप से निश्चित व्यवहार तथा वर्तमान सामाजिक व्यवस्था पर निर्भर करती है, विशेषकर उन संस्थागत तत्वों (institutional factors) पर जो आय के वितरण को प्रभावित करते हैं। चूँकि ये मनोवैज्ञानिक तथा संस्थागत तत्व अल्पकाल में स्थिर और समान रहते हैं इसलिए अल्पकाल में किसी देश की उपभोग प्रवृत्ति में प्रायः परिवर्तन नहीं होते।

केन्ज का उपभोग सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक नियम (Keynes's Psychological Law of Consumption)

उपभोग प्रवृत्ति की ऊपर की गयी चर्चा के पश्चात् अब हम इस योग्य हो गये है कि स्वर्गीय लार्ड केन्ज के उपभोग सम्बन्धी नियम को समझ सकें। इस नियम को लार्ड केन्ज के उपभोग सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक नियम या उपभोग सम्बन्धी आधारभूत नियम (Fundamental Law of Consumption) कहते हैं। इस नियम के अनुसार जब किसी देश की समस्त आय बढ़ती है तो उसका उपभोग भी बढ़ता है परन्तु आय में हुई वृद्धि से कुछ कम मात्रा में। जब आय में हुई समस्त वृद्धि उपभोग पर व्यय नहीं कर दी जाती तो स्पष्ट है कि उस वृद्धि का कुछ भाग बचा लिया जाएगा। यह एक साधारण सी बात है कि जब किसी की आय बढ़ जाती है तो वह इस वृद्धि से कुछ तो अपनी पुरानी आवश्यकताओं को पहले से अधिक सन्तुष्ट करता है और कुछ वह अपनी नई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए व्यय करता है और वह शेष बचा लेता है। मनुष्य बचत करना भी आवश्यक समझता है। यह बचत विपत्ति के समय उसके काम आती है और इसके अतिरिक्त इसे पूँजी के रूप में लगा कर वह अपनी आय को और अधिक बढ़ा सकता है। केन्ज के नियम का सारांश यह है कि जब आय में वृद्धि होती है तो उपभोग व्यय तो सामान्यतया अवश्य बढ़ जाता है किन्तु उतना नहीं जितनी कि आय में वृद्धि होती है। दूसरे शब्दों में, यह नियम यह बताता है कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति इकाई से कम होती है (Marginal propensity to consume is less than one)।

उपभोग सम्बन्धी केन्ज के इस नियम को निम्न प्रकार लिखा जा सकता है

$$1 > \frac{\Delta C}{\Delta Y} > 0$$

जहाँ $\frac{\Delta C}{\Delta Y}$ सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति को दर्शाता है।

इसका अर्थ यह है कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $\left(\frac{\Delta C}{\Delta Y}\right)$, 1 से कम है तथा शून्य (zero) से अधिक है। हम अग्रिम विश्लेषण मे यह देखेंगे कि इस नियम का महत्त्वपूर्ण निहित तत्त्व यह है कि गुणक की मात्रा (size of the multiplier) एक से अधिक होगी तथा अनन्त (infinity) से कम। यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति शून्य हो तो गुणक की मात्रा एक होती है और यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति एक हो तो गुणक अनन्त के समान होगा।

किन्तु स्वर्गीय केन्ज महोदय का यह नियम मुख्य तीन मान्यताओ (assumptions) पर आधारित है। इस नियम का पूर्णरूपेण लागू होना भी इन्ही पूर्व-मान्यताओ पर निर्भर है। तात्पर्य यह है कि यदि ये तीन मान्यताएँ पूरी नही होती तो यह नियम काम नही करेगा। ये तीन मान्यताएँ इस प्रकार है —

(a) वर्तमान मनोवैज्ञानिक एव सस्थागत स्थिति मे कोई परिवर्तन न आए (The present psychological and institutional complex remains constant)—तात्पर्य यह है कि उपभोग पूर्णतया आय पर ही निर्भर है। हम यह कल्पना कर लेते हैं कि अन्य किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता केवल आय मे ही परिवर्तन होता है। दूसरे शब्दो मे, उपभोग-प्रवृत्ति मे कोई परिवर्तन नही होता। यदि आय मे परिवर्तन होने पर कही इसमे भी परिवर्तन आ जाए तो हम नही कह सकेंगे कि आय मे परिवर्तन होने पर उपभोग तथा बचत पर क्या प्रभाव पडेगा। केन्ज का उपभोग का नियम पूर्णतया व्यर्थ हो जाएगा। मनोवैज्ञानिक परिवर्तन और सस्थाओ के परिवर्तन तो उपभोग फलन अथवा उपभोग प्रवृत्ति की काया ही पलट देंगे। इसका भाव यह है कि आय के अतिरिक्त अन्य किसी भी तत्त्व मे परिवर्तन न आए अर्थात् आय का वितरण, कीमतें, जनसख्या आदि पूर्ववत् हो रहे। यथार्थ मे अल्पकाल मे इन तत्त्वो मे परिवर्तन आता भी नही। अत यह नियम कुछ यथार्थता पर ही आधारित है। किन्तु दीर्घकाल मे इन तत्त्वो मे परिवर्तन आ जाते है, ऐसी दशा मे उपभोग-प्रवृत्ति भी बदल जाएगी।

(b) दूसरी मान्यता, जिस पर कि यह नियम आधारित है, यह है कि साधारण परिस्थितियाँ (normal conditions) बनी रहे अर्थात् युद्ध न हो, क्राति न हो, मुद्रा अतिस्फीति (hyper inflation) न हो अथवा अन्य प्रकार की कोई असाधारण परिस्थितियाँ उत्पन्न न हो जाएँ। ऐसी दशा मे तो सभी सामान्य नियम बदल जाते है और परिणामस्वरूप उपभोग प्रवृत्ति मे परिवर्तन हो जाते हैं किन्तु केन्ज का नियम तो इसी पूर्वमान्यता पर आधारित है कि उपभोग प्रवृत्ति पूर्ववत् ही बनी रहती है। सम्भव है कि युद्धादि के न होते हुए भी समय के बदलने के साथ-साथ उपभोग प्रवृत्ति मे परिवर्तन आ जाए। सामान्य उत्पादकता के बढने के साथ उपभोग प्रवृत्ति प्राय कुछ बढ जाती है।

(c) तीसरी परिसीमा यह है कि केन्ज का नियम धनी पूँजीवादी समाज पर लागू होता है जिसमे सरकार निजी उद्यम (private enterprise) म किसी प्रकार का हस्तक्षेप नही करती और यदि करती है तो बहुत कम। इसे मुक्त उद्यम (Free Enterprise) अथवा अबन्ध नीति (*laissez faire*) कहते है। यदि कोई देश बहुत ही निर्धन है तो उपभोग तथा बचत म से किसी एक के चयन का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता, वहाँ तो उपभोग ही उपभोग होगा। किन्तु यदि समाज धनी है, किन्तु सरकार ने कानून पारित करके उपभोग तथा बचत को नियमबद्ध कर दिया है तो सरकार के कानून के कारण केन्ज का नियम निष्क्रिय हो जायगा। अत. यह नियम मुक्त तथा मिश्रित अर्थव्यवस्थाओ (free and mixed economies) पर शान्तिकाल मे ही लागू होता है।

केन्ज के उपभोग नियम के निहित तत्त्व (Implications of Keynes's Law of Consumption)

केन्ज के इस नियम के निष्कर्ष स्वरूप कुछ निहित तत्त्व (implications) ये हैं। इस नियम से यह ज्ञात

होता है कि उपभोग व्यय अधिकतर आय पर ही निर्भर करता है तथा उपभोग प्रवृत्ति स्थिर होती है (Consumption function is stable)। इसका भाव यह है कि चूंकि लोग अपनी आय में हुई वृद्धि की अपेक्षा कम व्यय करते हैं, इसलिए जब तक इस कमी को पूरा करने के लिए निवेश की मात्रा नही बढ़ाई जाएगी तब तक अधिक उत्पादन तथा रोजगार उपलब्ध कराना लाभदायक नही होगा। इस नियम का निहित भाव यह है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में वृद्धि या तो उपभोग व्यय में वृद्धि हो अथवा निवेश में वृद्धि हो अन्यथा देश में बेरोजगारी तथा मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। किन्तु चूंकि अल्पकाल में उपभोग प्रवृत्ति स्थिर रहती है इसलिए देश का हित निवेश बढाने में ही है। इससे निवेश के आधारभूत महत्त्व का ज्ञान होता है। सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के इकाई से कम होने के कारण आय में वृद्धि होने पर उपभोग में वृद्धि अपेक्षाकृत कम होती है जिससे बचत अन्तर (over saving gap) की समस्या उत्पन्न हो जाती है। परिणामस्वरूप देश में सामान्य अत्युत्पादन (general overproduction) तथा बेरोजगारी उत्पन्न हो जाने की आशंका होती है। इसलिए सरकार को इसका कुछ न कुछ समाधान करना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में 'अबन्ध-उद्यम' (*laissez faire*) की नीति कल्याणकारी नही हो सकती। यदि उपभोग व्यय न बढ़ाया जाय तो पूंजी की सीमान्त उत्पादकता (marginal efficiency of capital) कम हो जाती है अर्थात् लाभ की प्रत्याशित दर गिर जाती है जिससे निवेश की मांग कम हो जाएगी तथा देश की आगे उन्नति रुक जाएगी। केन्ज के सिद्धान्त में व्यावसायिक चक्र (business cycle) के मोड़-बिन्दुओं (turning points) का भी पता चलता है। जब यह चक्र शिखर पर पहुंच जाता है तथा जनसाधारण की आय बढ़ती हुई होती है तो चक्र नीचे की ओर मुड़ जाता है क्योंकि उपभोग एक सीमा के पश्चात् बढाया नहीं जा सकता। अत चक्र नीचे पहुंच कर पुन ऊपर की ओर इस कारण चल पड़ता है क्योंकि उपभोग-व्यय एक विशेष सीमा के पश्चात और घटाया नही जा सकता।

उपभोग प्रवृत्ति का महत्त्व (Importance of Consumption Function)

उपभोग-प्रवृत्ति की धारणा का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक महत्त्व भी बहुत है। प्रत्येक देश की सरकार तथा जनता यह चाहते हैं कि देश में बेकारी दूर हो, देश प्रफुल्लित हो तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो। इस उद्देश्य के लिए एक सुनियोजित आर्थिक नीति की आवश्यकता है। आर्थिक नीति के निर्माण में देश की उपभोग प्रवृत्ति का बड़ा गहरा हाथ रहता है। अब इस प्रवृत्ति के महत्त्व का विवरण देंगे।

(1) प्रथम तो उपभोग प्रवृत्ति की धारणा की जानकारी से यह बात सिद्ध हो जाती है कि से का नियम (Say's law) सही नही है। इस नियम के अनुसार अर्थव्यवस्था में अत्युत्पादन (general overproduction) नही हो सकता। दीर्घकाल में तो फिर भी यह नियम कुछ अंशों में लागू हो सकता है, किन्तु अल्पकाल में बिल्कुल नही। दीर्घकाल में तो सम्भव है कि मांग इतनी बढ जाय कि देश का सारा उत्पादन बिक जाए। बाजार की शक्तियाँ दीर्घकाल में स्वयमेव (automatically) सम्भवत सन्तुलन में आ जाएँ किन्तु अल्पकाल में इस प्रकार का स्वयमेव सन्तुलन (automatic adjustment) स्थापित नही हो सकता। अत कुछ समय के लिए तो सामान्य अत्युत्पादन हो सकता है। से के नियम (Say's Law) के अनुसार उत्पादन स्वयमेव अपनी मांग को उत्पन्न कर सकता है। किन्तु इस पर आपत्ति यह की जाती है कि यद्यपि उत्पादन अपने पूर्ण मूल्य की आय का निर्माण कर लेता है किंतु जिस आय का निर्माण होता है वह सारी की सारी उपभोग नही की जाती और उसका कुछ भाग बचा लिया जाता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि उपभोग प्रवृत्ति इकाई से कम होती है। इसका यह परिणाम होता है कि सारे का सारा उत्पादन बाजार में बिक नही पाता। अत स्पष्ट है कि पूर्ति अपनी मांग पूरी तरह उत्पन्न नहीं करती और मांग की अपेक्षा अधिक

रहती है। इससे से का नियम (Say's Law) असत्य सिद्ध हो जाता है। पूर्ति के माँग की अपेक्षा अधिक होने के कारण सामान्य अत्युत्पादन तथा सामान्य बेरोजगारी उत्पन्न हो सकती है, जो कि से के नियम के विरुद्ध है।

(ii) उपभोग-प्रवृत्ति की अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इससे निवेश के निर्णायक महत्त्व (crucial importance of investment) का पता चलता है। उपभोग प्रवृत्ति हमे यह बताती है कि लोग अपनी आय मे हुई वृद्धि की अपेक्षा उपभोग कम बढाते हैं। अत यह आवश्यक है कि आय तथा उपभोग के अन्तर की खाई को भरने के लिए आवश्यक निवेश किया जा सके, अन्यथा देश मे उत्पादन अथवा रोजगार बढ़ाना लाभदायक नही होगा। हमे यह भी पता है कि उपभोग प्रवृत्ति लगभग स्थिर रहती है। अत आय तथा रोजगार मे जो परिवर्तन होते है उनका मुख्य कारण निवेश की अस्थिरता है। इससे स्पष्ट होता है कि देश मे आय तथा रोजगार के निर्धारण करने मे निवेश का बडा भारी महत्त्व है। यदि उपभोग प्रवृत्ति बढ़ जाए तो निवेश के बिना भी आय तथा रोजगार बढ़ाए जा सकते हैं। उपभोग-प्रवृत्ति के प्राय स्थिर रहने के कारण पूर्ण रोजगार लाने के लिए निवेश को ही बढ़ाना पड़ेगा।

(iii) उपभोग-प्रवृत्ति का एक और महत्व यह है कि इससे हमे आय गुणक (income multiplier) का पता चलता है कि निवेश मे वृद्धि करने पर इसके फलस्वरूप आय मे वृद्धि हो जाती है। हम अगले अध्याय मे विस्तारपूर्वक बताएँगे कि गुणक, $\frac{1}{1-MPC}$ के बराबर होता है। इसमे MPC उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति (marginal propensity to consume) का सूचक है। इस सूत्र से ज्ञात होता है कि जितनी अधिक उपभोग प्रवृत्ति होगी उतना ही अधिक गुणक होगा। सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के इकाई से कम होने के कारण जब निवेश मे कुछ वृद्धि की जाती है तो फलस्वरूप कुल आय कई गुणा अधिक बढ जाती है। इसमे विचित्र बात यह है कि निवल निवेश करने पर आय मे वृद्धि तो होती है किन्तु यह वृद्धि उत्तरोत्तर घटती जाती है। किन्तु एक निवेश मे वृद्धि के परिणामस्वरूप आय मे हुई कुल वृद्धि निवेश मे हुई वृद्धि से कई गुणा अधिक होती है। अत निवेश मे वृद्धि से आय कितने गुणा बढती है यह गुणक पर निर्भर है और गुणक सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करता है।

(iv) उपभोग प्रवृत्ति से यह भी ज्ञात होता है कि किस प्रकार पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (marginal efficiency of capital) की प्रवृत्ति घटने की ओर होती है। चूँकि आय मे वृद्धि से उपभोग-प्रवृत्ति नही बढ़ती, इसलिए जब आय बढ़ेगी तो वस्तुओ का उपभोग अथवा माँग पर्याप्त मात्रा मे नही बढ़ेगी। वस्तुओ की न्यून माग के कारण भविष्य के लिए उद्यमियो की लाभ की आशाएँ अच्छी नहीं होंगी। परिणामस्वरूप पूँजी की सीमान्त उत्पादकता मे दीर्घ काल मे घटने की प्रवृत्ति होगी। इससे देश मे निवेश निरुत्साहित होगा। निवेश के पर्याप्त मात्रा मे न होने से देश की प्रगति रुक जाती है और दीर्घकालीन बेरोजगारी (chronic unemployment) का संकट उत्पन्न हो जाता है। केन्ज और अमेरिकन अर्थशास्त्री हैनसन (Hansen) ने इसे दीर्घकालीन स्थिर अवस्था (Secular Stagnation) का नाम दिया है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इसका कारण उपभोग प्रवृत्ति की स्थिरता है जिससे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता घट जाती है। यदि उपभोग-प्रवृत्ति आय के बढने के साथ बढती रहती तो दीर्घकालीन स्थिर अवस्था उत्पन्न न होती।

(v) उपभोग प्रवृत्ति से व्यवसाय चक्र के मोडबिंदुओ (turning points of the business cycle) की व्याख्या करने मे सहायता मिलती है। व्यावसायिक चक्र ऊपर से नीचे की ओर इस प्रकार मुड जाता है कि सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति इकाई से कम होने के कारण लोग उतना उपभोग नही बढाते जितनी उनकी आय बढती है। इसी प्रकार व्यावसायिक चक्र नीचे से ऊपर की ओर इस कारण मुड जाता है कि लोग अपने उपभोग व्यय मे उतनी कमी नही कर सकते, जितनी

कमी उनकी आय मे हो जाती है। ऐसा इस कारण होता है कि वे एक विशेष जीवन-स्तर के अभ्यस्त हो चुके होते हैं।

(vi) उपभोग प्रवृत्ति का एक लाभ यह है कि यह हमे स्थायी अति-बचत अन्तर (permanent over-saving gap) उत्पन्न होने वाले खतरो से अवगत कराती है। उपभोग के उतना न बढने से जितनी कि आय बढती है के परिणामस्वरूप स्थायी अति-बचत अन्तर उत्पन्न होने की बहुत सम्भावना रहती है। स्थायी अति बचत का अन्तर का अर्थ यह है कि पूर्ण रोजगार के स्तर पर लोग जो राशि बचाना चाहते हैं तथा उद्यमी जो राशि निवेश करना लाभदायक समझते हैं उसमे अन्तर रह जाता है। कल्पना कीजिए कि लोग अपनी आय मे से सौ करोड रुपये बचाना चाहते हैं किन्तु व्यवसायी लोग वर्तमान परिस्थितियो मे केवल 60 करोड रुपये का निवेश करना चाहते है। (इस प्रकार प्रतिवर्ष बचत और निवेश मे 40 करोड रुपये का अन्तर रह जाता है। यदि यह 40 करोड रुपये) का अधिक निवेश न किया जा सके तो देश मे अधिक बेरोजगारी उत्पन्न हो जाएगी। यदि देश मे उपभोग प्रवृत्ति बढ़ाई जाए तो इस स्थायी अति-बचत अन्तर से सुरक्षित रहा जा सकता है।

52

रोजगार तथा राष्ट्रीय आय के निर्धारक : निवेश प्रेरणा

(DETERMINANTS OF EMPLOYMENT AND INCOME : INDUCEMENT TO INVEST)

गत अध्यायों में हम पढ़ चुके हैं कि राष्ट्रीय आय तथा रोजगार का स्तर समस्त माग (aggregate demand) द्वारा निर्धारित होता है और समस्त माग के दो भाग हैं (1) उपभोग और दूसरा निवेश माग। पिछले अध्याय में हमने उपभोग माँग अथवा उपभोग प्रवृत्ति के बारे में अध्ययन किया है और प्रस्तुत अध्याय में हम निवेश की माग अथवा निवेश प्रेरणा का विश्लेषण करेंगे। किसी देश में राष्ट्रीय आय और रोजगार की मात्रा को निर्धारित करने में निवेश की माँग का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। जैसा कि हम गत अध्याय में पढ़ चुके हैं कि उपभोग प्रवृत्ति अल्पकाल में प्राय स्थिर रहती है अर्थात् उसमें कोई परिवर्तन नही होता, इसलिए अल्पकाल में राष्ट्रीय आय और रोजगार का स्तर निर्धारित करने मे निवेश अधिक सक्रिय भाग लेता है। अल्पकाल में निवेश की मात्रा जितनी अधिक होगी, राष्ट्रीय आय और रोजगार उतना ही अधिक होगा। हम यह भी गत अध्यायो मे उल्लेख कर चुके है कि स्वतन्त्र उद्यम पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार पर सन्तुलन इसलिए नही होता क्योंकि पूर्ण रोजगार के स्तर पर जो बचत होती है निवेश उसके बराबर नही होता। पूर्ण रोजगार के स्तर पर हुई बचत से निवेश कम भी हो सकता है और अधिक भी। जब पूर्ण रोजगार पर बचत की मात्रा से निवेश कम होता है तो अर्थव्यवस्था का सन्तुलन पूर्ण रोजगार की स्थिति से पूर्व ही स्थापित हो जाता है अर्थात् अल्प रोजगार सन्तुलन (under-employment equilibrium) स्थापित हो जाता है। केन्ज ने स्वतन्त्र पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे अल्परोजगार सन्तुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाने के कारण की विवेचना की थी। इसके विपरीत, जब निवेश की मात्रा पूर्ण रोजगार के स्तर पर बचत से अधिक होती है तो देश में मुद्रास्फीति (inflation) अर्थात् मूल्य-वृद्धि की दशा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि देश में राष्ट्रीय आय, रोजगार और कीमतों को निर्धारित करने मे निवेश का महत्वपूर्ण स्थान है।

परन्तु सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि निवेश किसे कहते है। आम तौर पर जब कोई व्यक्ति कम्पनियों के शेयर अथवा बांड खरीदता है या सरकार की प्रतिभूतियो मे अपना रुपया लगाता है तो कहा जाता है कि वह अपने रुपये का निवेश करता है, परन्तु यह

वास्तविक निवेश (real investment) नही है। इसे तो वित्तीय निवेश (financial investment) कहते हैं। सामान्यत जब एक व्यक्ति शेयर खरीदता है और कोई दूसरा उसे बचता है तो इसके परिणामस्वरूप देश की वास्तविक पूँजी म कोई वृद्धि नही होती। अर्थशास्त्र म इसलिए वास्तविक निवेश उसे कहते है जिससे वास्तविक पूँजी म वृद्धि हो। अर्थात् अर्थशास्त्र म निवेश का अर्थ होता है पूँजीगत पदार्थों जैसा कि मशीनें, उपकरण, औजार, निर्माण कार्य जैसे कि मकान दुकान और फैक्ट्रियो की इमारतें आदि तथा सार्वजनिक निर्माण काय जैसे कि नहरें, सड़कें, पुल और बाँधो मे वृद्धि को ही अर्थशास्त्र म निवेश कहा जाता है। इस सभी प्रकार की पूँजी से आगे चलकर देश के उत्पादन मे वृद्धि होती है। केन्ज ने और उसके बाद के अर्थशास्त्रियो ने उपभोक्ता पदार्थों के भंडारो मे वृद्धि (increase in the inventories of consumer goods) को भी देश की पूँजी मे सम्मिलित किया है और इस प्रकार की पूँजी को तरल पूजी (liqui l capital) कहा गया है।

एक और दृष्टि से निवेश दो प्रकार का होता है (1) स्वतन्त्र निवेश (autonomous investment) और (2) प्रेरित निवेश (induced investment)। स्वतन्त्र निवेश से अभिप्राय उस निवेश से है जो आय मे कमी और वृद्धि के फलस्वरूप घटता-बढ़ता है अर्थात् वह आय से स्वतन्त्र होता है। इसके विपरीत, प्रेरित निवेश वह निवेश है जो आय म वृद्धि से बढ़ता है और आय मे कमी से घटता है। इसलिए स्वतन्त्र निवेश आय-निरपेक्ष (income inelastic) होता है और प्रेरित निवेश आय-सापेक्ष (income elastic) होता है। स्वतन्त्र निवेश सरकार द्वारा प्राय. युद्ध अथवा आर्थिक योजनाओ के अन्तर्गत विकास कार्यों पर किया जाता है। देश की जनसंख्या मे वृद्धि तथा तकनॉलोजी मे प्रगति के कारण जो निजी उद्यमियो द्वारा निवेश किया जाता है, वह भी स्वतन्त्र निवेश होता है।

निवेश प्रेरणा के निर्धारक
(Determinants of Inducement to Invest)

राष्ट्रीय आय और रोजगार के निर्धारण मे निवेश के महत्व को पढ चुकने के पश्चात् अब हम इस स्थिति म है कि उन तत्त्वो की व्याख्या करें जिन पर कि निवेश माग निर्भर करती है। निवेश-प्रेरणा मुख्य रूप मे दो तत्त्वो पर निर्भर है (1) निवेश से लाभ की प्रत्याशित दर (expected rate of profits) जिसे केन्ज ने पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (marginal efficiency of capital) की सज्ञा दी है और (2) ब्याज की दर। यह बात सरलता से समझी जा सकती है कि निवेश की प्रेरणा लाभ की प्रत्याशित दर तथा ब्याज की दर पर निर्भर करती है। यदि किसी व्यक्ति के पास बचा हुआ कुछ रुपया है तो उसके दो वैकल्पिक उपयोग हैं। एक तो यह है कि वह उस रुपये को किसी मशीनरी अथवा फैक्टरी आदि म निवेश करे और दूसरा विकल्प यह है कि वह उसे ब्याज पर दूसरो को उधार दे दे। यदि मशीनरी अथवा फैक्टरी आदि मे निवेश करने से उसे अपने रुपए से 15 प्रतिशत लाभ होने की आशा है जबकि उसे उधार देने से 8 प्रतिशत के बराबर ब्याज प्राप्त होता है तो स्पष्ट है कि वह रुपया मशीनरी और फैक्टरी मे निवेश करेगा।

इस प्रकार यदि किसी निवेश को लाभकारी सिद्ध होना है तो उससे लाभ की प्रत्याशित दर कम से कम ब्याज की दर के बराबर होनी चाहिए। यदि लाभ की प्रत्याशित दर, ब्याज दर से अधिक है तो नया निवेश किया जायगा। यदि व्यवसायी निवेश के लिए अपनी मुद्रा का प्रयोग नही करता बल्कि इसके लिए वह दूसरो से उधार पर प्राप्त करता है तो इस दशा मे तो और भी स्पष्ट है कि किसी पूँजी पदार्थ अर्थात् मशीनरी, फैक्टरी आदि मे रुपये के निवेश से प्रत्याशित लाभ की दर अवश्य ही ब्याज दर से ऊँची होनी चाहिए नही तो उद्यमकर्ता के लिए निवेश करना हानिकर होगा। यदि उद्यमकर्त्ता 8 प्रतिशत ब्याज दर पर दूसरो से रुपया उधार लेता है, तो उसके द्वारा निवेश तभी लाभप्रद होगा यदि उसे 8 प्रतिशत से अधिक प्रत्याशित लाभ की दर अर्जित करने की आशा हो। अतएव हम देखते हैं कि निवेश की प्रेरणा दो तत्त्वो—लाभ की प्रत्याशित दर तथा ब्याज की दर—द्वारा निर्धारित होती है। केन्ज

ने पूँजी की एक अतिरिक्त इकाई से प्रत्याशित लाभ की दर को पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (marginal efficiency of capital) की संज्ञा दी। अत: केन्ज के अनुसार निवेश प्रेरणा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा ब्याज की दर द्वारा निर्धारित होती है।

किसी भी प्रकार की पूँजी मे निवेश तब तक किया जाएगा जब तक कि उसमे निवेश करने से लाभ की प्रत्याशित दर अर्थात् पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ब्याज दर के समान नही हो जाती। उद्यमकर्त्ता का सन्तुलन तब होता है जब कि वह इतनी मात्रा मे किसी दिशा मे निवेश करता है जिससे लाभ की प्रत्याशित दर अर्थात् पूँजी की सीमान्त उत्पादकता, घट कर ब्याज की दर के समान हो जाती है। अत हमारे निवेश का यह सिद्धान्त भी उद्यमकर्त्ताओ द्वारा अपने निवेश से प्राप्त आय अथवा लाभ को अधिकतम करने की पूर्वमान्यता पर आधारित है।

निवेश प्रेरणा के निर्धारक दो तत्त्वो के विषय मे एक उल्लेखनीय बात यह है कि ब्याज की दर की तुलना मे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता अथवा प्रत्याशित लाभ की दर का निवेश निर्धारित करने में अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इसका कारण यह है कि ब्याज दर मे इतने परिवर्तन नही होते, ब्याज दर तो लगभग स्थिर ही रहती है। परन्तु लाभ सम्बन्धी आशाओ मे वृद्धि या कमी के कारण पूँजी की सीमान्त उत्पादकता बडी चचल और अस्थिर होती है। फलस्वरूप निवेश माँग मे बहुत घट-बढ होती रहती है और निवेश माँग मे घट-बढ अर्थव्यवस्था की समस्त माँग को घटा और बढा देती है। देश मे समस्त माँग के घटने और बढने के कारण ही आर्थिक उतार चढाव (economic fluctuations) अर्थात् जिन्हे अर्थशास्त्री व्यावसायिक चक्र (Trade Cycles) कहते हैं, आते रहते हैं। जब व्यवसायियो अथवा उद्यमकर्त्ताओ की लाभार्जन की आशाएँ काफी अच्छी होती हैं तो निवेश अधिक मात्रा मे किया जाता है जिससे समस्त माँग बढ जाती है और अर्थव्यवस्था मे तेजी (boom), समृद्धि (prosperity) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत, जब उद्यमकर्त्ताओ की लाभ अर्जित करने की आशाएँ घट जाती है तो वे निवेश को कम कर देते हैं जिसके कारण देश की समस्त माँग घट जाती है और मदी (depression) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अतएव निवेश से लाभ की प्रत्याशित दर अथवा जिसे केन्ज ने पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (*MEC*) कहा है, का निवेश के निर्धारण मे अधिक महत्वपूर्ण भाग है।

हम ब्याज दर के सिद्धान्त मे पढ चुके हैं कि केन्ज के अनुसार ब्याज की दर मुद्रा की पूर्ति (supply of money) तथा नकदी अधिमान (liquidity preference) द्वारा निर्धारित होती है। नकदी अधिमान जितना अधिक होगा, ब्याज की दर उतनी ही ऊँची होगी। नकदी अधिमान तथा आय दी हुई होने पर, मुद्रा की पूर्ति जितनी ही अधिक होगी ब्याज की दर उतनी ही कम होगी। अत: ब्याज की दर के निर्धारण को पढ चुकने के कारण हम केवल नीचे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का विवेचन करेंगे कि यह किन तत्त्वो पर निर्भर करती है और इसे किस प्रकार मापा जाता है।

पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Efficiency of Capital)

जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं कि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का अभिप्राय किसी पूँजी पदार्थ मे निवेश करने से प्रत्याशित लाभ की दर मे है। किसी पूँजी पदार्थ की एक अतिरिक्त इकाई मे निवेश करने से जो लाभ की दर प्राप्त होने की आशा होती है, उसे उस पूँजी की इकाई की सीमान्त उत्पादकता कहते है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को किस प्रकार आँका अथवा मापा जाता है। कल्पना कीजिए कि एक उद्यमकर्त्ता किसी मशीन की खरीद अथवा उसके बनाने मे निवेश करता है तो वह किस प्रकार यह अनुमान लगाएगा कि उसे लाभ की दर कितनी प्राप्त होगी। ऐसा करने के लिए वह उद्यमकर्त्ता पहले तो यह देखेगा कि उस प्रकार की पूँजी क्रय करने के लिए उसे कितना रुपया अथवा कीमत देनी पडती है। जितना रुपया अथवा कीमत

किसी पूँजी पदार्थ को खरीदने के लिए देनी पड़ती है, उसे उसकी पूर्ति कीमत (supply price) कहते हैं। पूँजी की पूर्ति कीमत जानने के बाद वह इस बात का अनुमान लगाएगा कि उस पूँजी पदार्थ से उसे कितनी भावी आय प्राप्त होगी। एक पूँजी पदार्थ अथवा परिसम्पत्ति (asset) कई वर्ष तक उत्पादन करने अथवा आय कमाने के लिए प्रयोग की जा सकती है। इसलिए उद्यमकर्ता को उस पूँजी परिसम्पत्ति से उसकी समस्त जीवन-अवधि में कितनी आय होगी का अनुमान लगाना पड़ता है। किसी पूँजी परिसम्पत्ति से उसकी समस्त जीवन अवधि में होने वाली सम्भावित आय को भावी सम्भावित आय (prospective yields) कहते हैं। पूँजी की पूर्ति कीमत तथा उसकी भावी सम्भावित आय की सहायता से हम पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ज्ञात कर सकते हैं। पूँजी की पूर्ति कीमत तथा भावी सम्भावित आय के अन्तर से लाभ की प्रत्याशित दर अथवा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता मापी जा सकती है। केन्ज ने पूँजी की सीमान्त उत्पादकता की परिभाषा इस प्रकार की 'पूँजी की सीमान्त उत्पादकता मिति-काटा या (बट्टे) की वह दर है जो किसी पूँजी परिसम्पत्ति के सम्पूर्ण जीवन-काल की वार्षिक प्रत्याशित आयों के वर्तमान मूल्यों को उस मशीन की पूर्ति कीमत के बराबर कर देती है' ('I define the marginal efficiency of capital as being equal to that rate of discount which would make the present value of the series of annuities given by the returns expected from the capital asset during its life just equal to its supply price'[1]) अर्थात् केन्ज के अनुसार पूँजी की सीमान्त उत्पादकता मितिकाटा अथवा बट्टे (discount) की वह दर है जिससे एक पूँजी परिसम्पत्ति से उसकी सम्पूर्ण जीवन अवधि में होने वाली सम्भावित प्रत्याशित आयें उस परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत या प्रतिस्थापन लागत (replacement cost) के समान हो जाए।

[1] J M Keynes, *General Theory of Employment, Interest and Money*

पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को निम्नलिखित सूत्र द्वारा मापा जा सकता है —

पूर्ति कीमत (supply price) = मितिकाटा की हुई भावी सम्भावित आयें

= (Discounted Prospective Yields)

अथवा C

$$= \frac{R_1}{1+r} + \frac{R_2}{(1+r)^2} + \frac{R_3}{(1+r)^3} + \frac{R_n}{(1+r)^n}$$

ऊपर के सूत्र में C पूँजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत (supply price) अथवा प्रतिस्थापन लागत (replacement cost) का व्यक्त करता है और R_1, R_2 R_3 R_n आदि पूँजी से प्रति वर्ष सम्भावित आयों का व्यक्त करते है। r से हमारा अभिप्राय मितिकाटा अथवा बट्टे की उस दर से है जो प्रति वर्ष होने वाली आयों को पूर्ति कीमत के बराबर कर देती है अर्थात् r ही पूँजी से प्राप्त होने वाली प्रत्याशित लाभ की दर अथवा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता है।

इस बात को एक गणितीय उदाहरण देकर भी स्पष्ट किया जा सकता है। कल्पना कीजिए कि एक मशीन 3 000 रुपये की आती है तथा उसकी जीवन-अवधि या आयु दो वर्ष है अर्थात् दो वर्ष पश्चात् उसकी कोई कीमत नहीं रह जाएगी। अब मान लीजिए कि सम्भावना यह है कि पहले वर्ष इसके द्वारा 1,100 रुपये की आय होगी तथा दूसरे वर्ष 2,420 रुपये की। इन राशियों से ऊपर दिए सूत्र के अनुसार हम r अर्थात् पूँजी की सीमान्त उत्पादकता निकाल सकते है

पूर्ति कीमत = मितिकाटा की हुई भावी आयें

$$C = \frac{R_1}{(1+r)} = \frac{R_2}{(1+r)^2}$$

$$3,000 = \frac{1,100}{1+r} + \frac{2,420}{(1+r)^2}$$

अत r = 10 अर्थात् 10% है। अत अब हम यदि ऊपर दिए सूत्र में r के स्थान पर 10 भर दें।

$$3,000 = \frac{1,000}{1 \cdot 10} + \frac{2,420}{(1 \cdot 10)^2}$$
$$= 1,000 + 2,000 = 3,000$$

ऊपर हमने किसी विशेष पूंजी पदार्थ (particular capital goods) की पूंजी की सीमान्त उत्पादकता के अर्थ तथा उसको मापने की विधि स्पष्ट की है। किन्तु किसी देश में कुल निवेश को निर्धारित करने में किसी विशेष पूंजी की सीमान्त उत्पादकता का इतना महत्त्व नहीं है जितना कि उस देश में पूंजी की सामान्य सीमान्त उत्पादकता (marginal efficiency of capital in general) से है। अब प्रश्न यह है कि पूंजी की सामान्य सीमान्त उत्पादकता किसे कहते हैं। किसी अर्थव्यवस्था में किसी समय पूंजी की सीमान्त उत्पादकता उस समय उस विशेष पूंजी परिसम्पत्ति की पूंजी सीमान्त उत्पादकता होगी जो उस देश में निवेश करने के लिए सबसे अधिक लाभकारी है। दूसरे शब्दों में, विभिन्न व्यक्तिगत पूंजी परिसम्पत्तियों की व्यक्तिगत सीमान्त उत्पादकताओं में से उस समय जिस पूंजी की सीमान्त उत्पादकता सबसे अधिक होगी वह ही सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की पूंजी की सामान्य सीमान्त उत्पादकता होगी। पूंजी की सामान्य सीमान्त उत्पादकता से हमें अर्थव्यवस्था में किसी समय सबसे अधिक कितनी लाभ की दर प्राप्त हो सकती है, का ज्ञान होता है।

निवेश मांग वक्र
(Investment Demand Curve)

हम ऊपर बता आए हैं कि किस प्रकार किसी विशेष पूंजी परिसम्पत्ति से पूंजी की सीमान्त उत्पादकता की गणना की जा सकती है। अब यदि किसी विशेष प्रकार की पूंजी में अधिक निवेश किया जाता है जिसके फलस्वरूप उस प्रकार की पूंजी के स्टाक में वृद्धि होती है तो हम यह पायेंगे कि उस पूंजी में प्रत्येक वृद्धि करने से जो उससे अतिरिक्त लाभ की दर अर्थात् सीमान्त उत्पादकता प्राप्त होगी वह प्रत्येक निवेश के साथ घटती जाएगी। अतएव हम पूंजी की सीमान्त उत्पादकता की एक अनुसूची तैयार कर सकते हैं जिसमें से किसी प्रकार की पूंजी में निवेश के बढ़ने पर उससे प्राप्त सीमान्त उत्पादकता को घटता हुआ दिखा सकते हैं।

जैसे एक मशीन अथवा एक प्रकार की पूंजी पदार्थ में निवेश बढ़ता है तो उससे प्राप्त पूंजी की सीमान्त उत्पादकता घटती जाती है। उस विशेष पूंजी पदार्थ में प्रथम एक हजार रुपया निवेश करने से 15 प्रतिशत के समान पूंजी की सीमान्त उत्पादकता प्राप्त हो सकती है। जब दूसरे हजार रुपये उसी प्रकार के पूंजी पदार्थ में निवेश किए जाते हैं तो उस दो हजार रुपये के निवेश से प्राप्त पूंजी की सीमान्त उत्पादकता 15 प्रतिशत से घट जायेगी। अब यदि एक और अतिरिक्त हजार रुपया उस विशेष पूंजी पदार्थ में निवेश किया जाता है तो पूंजी की सीमान्त उत्पादकता घट कर और कम स्तर तक पहुंच जायेगी इसी प्रकार जब चौथा हजार रुपया इसी पूंजी पदार्थ में निवेश किया जाता है तो पूंजी की सीमान्त उत्पादकता और अधिक घट जायेगी और इसी तरह आगे भी पूंजी पदार्थ में निवेश बढ़ाने पर अतिरिक्त एक हजार रुपए के निवेश से पूंजी की सीमान्त उत्पादकता घटती जाएगी।

अब प्रश्न यह है कि किसी विशेष पूंजी परिसम्पत्ति में अधिक निवेश करने पर पूंजी की सीमान्त उत्पादकता अथवा पूंजी से लाभ की प्रत्याशित दर क्यों घटती है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि उस पूंजी परिसम्पत्ति में अधिक निवेश करने में उसकी मांग बढ़ जाएगी जिससे कि वह महंगी हो जाएगी और उसकी पूर्ति कीमत बढ़ जाएगी। दूसरी ओर उस पूंजी पदार्थ में अधिक निवेश करने से उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की पूर्ति बढ़ जाएगी जिससे उस वस्तु की कीमत घट जाएगी। पूंजी पदार्थ द्वारा उत्पादित वस्तु की कीमतें घट जाने के फलस्वरूप उससे प्राप्त होने वाली भावी सम्भावित आय कम हो जाएगी। अतएव एक ओर पूंजी की पूर्ति कीमत के बढ़ने और दूसरी ओर उसकी वार्षिक सम्भावित आयों के घटने के कारण उस पूंजी से प्राप्त लाभ की प्रत्याशित दर घट जाएगी और निवेश के बढ़ने पर घटती ही चली जाएगी।

पूँजी की सामान्य सीमान्त उत्पादकता (general marginal efficiency of capital) भी अधिक निवेश होने से घटती है। किसी अर्थव्यवस्था मे सर्वप्रथम उन दिशाओ अथवा पूँजी पदार्थों मे निवेश किया जाता है जिनसे सर्वाधिक प्रत्याशित लाभ की दर प्राप्त होने की आशा होती है। जब उनमे निवेश बढने पर लाभ की प्रत्याशित दर घट जाती है तब अन्य दिशाओ तथा पूँजीगत पदार्थों मे निवेश किया जाता है जिनम प्रथम प्रकार के पूँजीगत पदार्थों से कम लाभ की प्रत्याशित दर प्राप्त होती है। इसी प्रकार समस्त अर्थव्यवस्था म निवेश बढने पर कम लाभकारी पूँजीगत पदार्थों मे निवेश करना पडता है। स्पष्ट है कि विशेष पूँजी की सीमात उत्पादकता की दर की तरह पूँजी की सामान्य उत्पादकता भी निवेश बढने पर घटती है। इसकी भी अनुसूची हम बना सकते हैं जैसे कि हमने विशेष पूँजीगत पदार्थ मे निवेश की बनाई है।

हम पूँजी की घटती सीमान्त उत्पादकता को वक्र के रूप मे भी प्रकट कर सकते हैं। ऐसा वक्र हमने

रेखाकृति 52 1
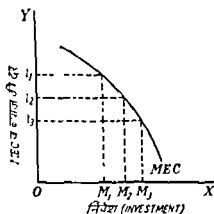
रेखाकृति 52 1 मे बनाया है। चूँकि निवेश के बढने पर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता घटती है, इसलिए पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का वक्र *MEC* भी बायें से दायीं ओर नीचे की ढाल वाला होता है अर्थात् पूँजी का सीमान्त उत्पादकता वक्र नीचे की ओर गिरता है।

सन्तुलित निवेश स्तर का निर्धारण (Determination of Equilibrium Level of Investment)

ऊपर हमने पढा है कि निवेश प्रेरणा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा ब्याज की दर पर निर्भर करती है। अब हम किसी दी हुई ब्याज की दर पर यह ज्ञात कर सकते हैं कि अर्थव्यवस्था म निवेश की मात्रा निर्धारित होगी अर्थात् निवेश किस मात्रा पर सन्तुलन म होगा। ऐसा हम पूजी की सीमान्त आय उत्पादकता की रेखाकृति 52 1 म Y-अक्ष पर सीमान्त आय उत्पादकता के साथ ब्याज दर को भी व्यक्त करके जान सकते है। कल्पना कीजिए कि बाजार मे प्रचलित ब्याज की दर i_1 के बराबर है। अब जैसा कि हम ऊपर पढ चुके हैं कि सन्तुलन मे होने के लिए इतना निवेश किया जाएगा कि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (*MEC*) ब्याज दर के बराबर हो जाए। रेखाकृति 52 1 से स्पष्ट है कि ब्याज की दर i_1 पर OM_1 निवेश किया जायगा अर्थात् उद्यमकर्ता OM_1 निवेश करने को प्रेरित होगे क्योकि OM_1 निवेश करने से ही पूँजी की सीमांत उत्पादकता ब्याज दर i_1 के बराबर होती है। अब यदि ब्याज की दर घट कर i_2 हो जाए तो निवेश की मात्रा बढ कर OM_2 हो जाएगी क्योकि अब OM_2 निवेश करने से ही पूँजी की सीमान्त उत्पादकता नई ब्याज की दर i_2 के बराबर होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पूँजी का सीमान्त उत्पादकता वक्र ही ब्याज की विभिन्न दरो पर निवेश की माँग (demand for investment) अथवा निवेश प्रेरणा (inducement *to invest*) को प्रकट करता है। अत पूँजी का सीमान्त उत्पादकता (*MEC*) वक्र ही निवेश माँग अथवा निवेश प्रेरणा का वक्र होता है। यह निवेश माग वक्र (investment demand curve) *MEC* यह दर्शाता है कि विभिन्न ब्याज की दरों पर उद्यमकर्ता कितनी मात्रा मे निवेश करने के लिए प्रेरित होगे। यदि यह निवेश माँग वक्र *MEC* कम सापेक्ष अथवा कम लोचदार (less elastic) हो तो ब्याज दर बहुत गिर जाने पर भी निवेश की माँग अधिक

नहीं बढ़ेगी। दूसरी ओर यदि यह वक्र अधिक सापेक्ष अथवा लोचदार (more elastic) हो तो ब्याज दर के थोड़ा-सा घटने-बढ़ने पर निवेश की माँग में बहुत परिवर्तन होगा। हमने रेखाकृति 52 1 में जो निवेश माँग वक्र MEC बनाया है वह अपेक्षाकृत ब्याज दर सापेक्ष (interest elastic) है।

हमने ऊपर पढ़ा है कि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता एक ओर तो पूँजी की लागत अथवा पूर्ति कीमत (supply price of capital) पर निर्भर करती है और दूसरी ओर यह भावी सम्भावित आय (prospective yields) पर निर्भर करती है। परन्तु भावी सम्भावित आय व्यवसायियों की आशाओं (expectations) पर आधारित होती है और ये आशाएँ प्राय बदलती रहती है। वस्तुत, केन्ज के अनुसार व्यवसायियों की ये भविष्य में लाभ अर्जित करने की आशाएँ ही है जो वर्तमान में निवेश को प्रभावित करती हैं। व्यवसायियों की लाभ कमाने की आशाएँ जब किसी कारण कम हो जाती हैं तो उनकी पूँजी की सीमान्त उत्पादकता बढ जाती है और फलस्वरूप उनके द्वारा निवेश की माँग घट जाती है। देश मे मंदी का कारण यही होता है। इसके विपरीत, जब व्यवसायियों अथवा उद्यमकर्ताओं की लाभ आशाएँ बढ जाती हैं तो वे अधिक निवेश करने के लिए तत्पर हो जाते हैं। उनके द्वारा अधिक निवेश होने पर अर्थव्यवस्था में समस्त माँग का स्तर बढ जाता है जिससे देश में आय और अर्थव्यवस्था मे और रोजगार की मात्रा में वृद्धि होती है और समृद्धि की दशा उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यवसायियों की लाभ कमाने की आशाओं का निवेश निर्धारित करने और फलत. देश की राष्ट्रीय आय तथा रोजगार की मात्रा निश्चित करने में बड़ा महत्त्व है।

यहाँ पर यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि यदि लाभ की आशाओं मे परिवर्तन हो जाएँ तो समस्त निवेश माँग वक्र MEC ऊपर अथवा नीचे को सरक जाता है। निवेश माँग वक्र MEC का ऊपर अथवा नीचे की ओर सरकना रेखाकृति 52 2 मे दिखाया गया है। कल्पना कीजिए कि युद्ध छिड़ गया है अथवा किसी अन्य कारण से वस्तुओं की माँग बढ गई तो इससे उद्यमियों की लाभ-अर्जन की आशाएँ बढ जाएँगी। परिणामस्वरूप निवेश माँग वक्र अथवा पूँजी का सीमान्त उत्पादकता वक्र MEC ऊपर को उठ जाएगा। रेखाकृति 52 2 मे यह MEC' द्वारा दर्शाया गया है। निवेश माग वक्र (अथवा पूँजी का सीमान्त उत्पादकता वक्र) के ऊपर को सरक जाने का अर्थ यह है कि अब एक दी हुई ब्याज दर पर पहले से अधिक निवेश होगा। रेखाकृति 52 2 देखने पर स्पष्ट होगा कि जब निवेश माँग वक्र MEC है तो i ब्याज की दर पर निवेश OM के बराबर है। निवेश माँग वक्र के ऊपर को सरक कर MEC' हो जाने पर उसी ब्याज दर i पर अब निवेश बढ कर OM' हो गया है।
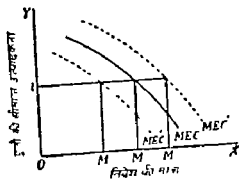
रेखाकृति 52 2

इसी प्रकार यदि किसी कारण से लाभ की सम्भावनाएँ कम हो जाएँ तो निवेश माँग वक्र (अर्थात् पूँजी का सीमान्त उत्पादकता वक्र) नीचे को सरक जाएगा जैसा कि रेखाकृति 52 2 में MEC'' द्वारा दिखाया गया है। अब उसी i ब्याज की दर पर पहले से कम निवेश, जो कि OM'' के बराबर है, होगा।

निवेश माँग के विषय मे एक और देखने की बात यह है कि क्या यह ब्याज दर मे परिवर्तन होने से कम या अधिक बदलती है। दूसरे शब्दों मे, क्या निवेश अधिक ब्याज-दर सापेक्ष (interest elastic) होता है अथवा बहुत कम सापेक्ष। कुछ वर्ष पूर्व अर्थशास्त्रियों

का यह विचार था कि निवेश माँग पर्याप्त अंश तक ब्याज दर सापेक्ष होती है जिससे जब ब्याज की दर घटाई जाती है तो निवेश बढ़ जाता है। परन्तु व्यावहारिक रूप में यह पता चला है कि निवेश माँग बहुत ही कम ब्याज की दर पर निर्भर करती है अर्थात् निवेश माँग ब्याज-दर निरपेक्ष (interest inelastic) होती है। निवेश अधिकतर प्रत्याशित ब्याज की दर (पूँजी की सीमान्त उत्पादकता) पर निर्भर करता है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि सामान्यतया ब्याज दर स्थिर रहती है अर्थात् यह अधिक घटती-बढ़ती नहीं रहती। यदि निवेश अथवा पूँजी पदार्थों की माँग ब्याज-दर पर ही निर्भर होती तो निवेश भी लगभग स्थिर ही रहता इसमें घट बढ़ न होती। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। निवेश तो घटता बढ़ता रहता है। इसका कारण यह है कि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का वक्र ही बदलता रहता है। कभी तो समूचा वक्र ऊपर की ओर सरक जाता है और कभी नीचे की ओर। अतः निवेश बदलता रहता है। पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का वक्र अथवा उसकी अनुसूची लाभ की सम्भावना के साथ साथ बदलते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का महत्त्वपूर्ण लक्षण यह है कि यह अस्थिर होती है। इसका कारण यह है कि सीमान्त उत्पादकता अधिकतर पूँजी की प्रत्याशित आय पर निर्भर करती है। प्रत्याशित प्राप्ति या आय (prospective yields) इन व्यावसायिक आशाओं (business expectations) में परिवर्तन होने के कारण बदलती रहती है।

बचत और निवेश में सम्बन्ध (Relationship between Saving and Investment)

आर्थिक सिद्धान्त में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न बचत और निवेश के सम्बन्ध के विषय में है। बचत और निवेश में सम्बन्ध के विषय में अर्थशास्त्रियों में अधिक मतभेद रहा है। कई अर्थशास्त्रियों ने यह मत प्रकट किया है कि बचत और निवेश प्रायः बराबर नहीं होते, वे केवल सन्तुलन की स्थिति में ही बराबर हो सकते हैं। केन्ज ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "रोजगार, ब्याज तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त"—(*General Theory of Employment, Interest and Money*) में यह विचार प्रस्तुत किया कि बचत और निवेश सदैव बराबर होते हैं। इसमें हमारे अर्थशास्त्र में अधिक समय तक वाद-विवाद चलता रहा कि क्या बचत और निवेश सदा ही बराबर होते हैं अथवा वे असमान भी हो सकते हैं। अब इस वाद-विवाद का समाधान हो गया है और अर्थशास्त्री अब बचत और निवेश में सम्बन्ध के बारे में सहमत हो गए हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री बचत और निवेश दोनों को दो भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग करते हैं। एक अर्थ में तो बचत और निवेश सदा ही बराबर होते हैं। दूसरे अर्थ में बचत और निवेश केवल सन्तुलन की स्थिति में ही बराबर होते हैं असन्तुलन में वे एक दूसरे से भिन्न हो सकते हैं। हम नीचे इन दोनों अर्थों में बचत और निवेश के सम्बन्ध की सविस्तार व्याख्या करेंगे। सर्वप्रथम विद्यार्थियों के लिए बचत और निवेश के *सामान्य अर्थ को समझ लेना आवश्यक है। हम अध्याय के प्रारम्भ में हम निवेश का अर्थ बतला चुके हैं।* निवेश का अर्थ है किसी अर्थव्यवस्था में पूँजी पदार्थों के स्टाक में निवल वृद्धि करना (Investment is the addition made to the stock of capital goods)। पूँजी के स्टाक में नई मशीनें, कच्चा माल, फैक्ट्रियों की इमारतें, औजार और उपकरण तथा उपभोक्ता पदार्थों के भण्डारों में वृद्धि (*addition to the inventories*) सम्मिलित है। जब किसी वर्ष इस विभिन्न प्रकार की पूँजी में शुद्ध वृद्धि होती है तो निवेश होता है। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि निवेश का अर्थ किसी समय पूँजी के स्टाक से नहीं है अपितु पूँजी के स्टाक में निवल वृद्धि से है अर्थात् निवेश एक प्रवाह धारणा (flow concept) है। हाँ, पूँजी के स्टाक में वृद्धि निवेश के प्रवाह द्वारा होती है। प्रति वर्ष निवल निवेश से पूँजी का स्टाक बढ़ता है। किसी देश में निवेश से अथवा पूँजी के स्टाक में निवल वृद्धि से उसकी उत्पादन क्षमता बढ़ती है और आर्थिक विकास होता है।

इसके विपरीत बचत का अर्थ है आय का वह भाग जो उपभोक्ता वस्तुओं तथा सेवाओं पर व्यय नहीं होता। दूसरे शब्दों में, आय तथा उपभोग व्यय में अन्तर को बचत कहते हैं (saving is the difference between income and consumption expenditure)। यह याद रखना चाहिए कि उपभोग व्यय में सभी प्रकार का व्यय सम्मिलित नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग सिंचाई के कार्य के लिए, औजार और मशीनरी खरीदने के लिए व्यय करता है तो वह खर्च उपभोग व्यय नहीं है। इसलिए यह व्यय उपभोग न समझकर निवेश व्यय माना जाता है। बचत निकालने के लिए हम केवल उपभोग व्यय ही निकालते हैं न कि निवेश व्यय। जब व्यक्ति निवेश व्यय करता है तो इसका तात्पर्य है कि वह अपनी बचाई हुई आय अथवा धन से निवेश कर रहा है। उदाहरण के लिए यदि एक किसान की वार्षिक आय 10 हजार रुपये है और वह उसमें से 6 हजार रुपये उपभोक्ता वस्तुओं और सेवाओं पर खर्च करता है और उसमें से एक हजार रुपये से वह एक नया कुँआ बनवाता है तथा एक हजार रुपया अपने खेतों में नालियों तथा बाड़ आदि की व्यवस्था करने पर व्यय करता है तो उसकी बचत 10−6 = 4 हजार की होगी। जो दो हजार रुपया उसने कुएँ, नालियों तथा बाड़ पर व्यय किया है, वह तो बचत में ही शामिल होगा न कि उपभोग में। यदि देश की कुल आय Y है और C उसके कुल उपभोग को व्यक्त करता है तो उस देश की बचत $Y-C$ के बराबर होगी। अतः

$$\text{बचत} = \text{आय} - \text{उपभोग}$$
$$S = Y - C$$

बचत और निवेश सदैव बराबर होते हैं (Saving and Investment are always equal)

केन्ज से पूर्व अर्थशास्त्रियों का यह विचार था कि बचत और निवेश प्रायः बराबर नहीं होते क्योंकि बचत और निवेश करने वाले भिन्न भिन्न व्यक्ति होते हैं। इसके अतिरिक्त, बचत और निवेश भिन्न भिन्न प्रयोजनों अथवा उद्देश्यों के लिए किए जाते हैं, इसलिए प्रायः देश में किसी वर्ष में हुई बचत की मात्रा निवेश की मात्रा के बराबर नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, कुछ अर्थशास्त्रियों ने यह भी बतलाया कि निवेश तो बैंकों से उधार लेकर तथा नई मुद्रा के सृजन से भी सम्भव हो सकता है इसलिए बचत निवेश के बराबर कैसे हो सकती है। परन्तु केन्ज ने जैसा कि ऊपर बताया गया है अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'रोजगार ब्याज और मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त' (*General Theory of Employment, Interest and Money*) में जोरदार शब्दों में यह मत प्रकट किया कि बचत और निवेश सदैव समान होते हैं। इस मत से अर्थशास्त्र में वाद विवाद प्रारम्भ हो गया। परन्तु अब यह विवाद का विषय नहीं रहा है और आधुनिक अर्थशास्त्री बचत और निवेश के सम्बन्ध में सहमत हो गए हैं। उनके विचार में बचत और निवेश एक विशेष अर्थ में सदैव ही बराबर होते हैं, जैसा कि केन्ज ने बतलाया था। परन्तु एक भिन्न अर्थ में बचत और निवेश सदैव समान नहीं होते। इस दूसरे अर्थ में वे केवल सन्तुलन (equilibrium) की स्थिति में ही बराबर होते हैं, अन्यथा नहीं। वस्तुतः केन्ज ने भी अपनी पुस्तक में बचत और निवेश को इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त किया था। बचत और निवेश के ये दो अर्थ निम्नलिखित हैं —

1. प्रथम अर्थ जिसमें बचत और निवेश का प्रयोग होता है, वह है कि किसी वर्ष अथवा समय अवधि में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में वास्तविक रूप से कितनी मात्रा में बचत और निवेश होता है। इसको हम वास्तविक बचत (actual saving) और वास्तविक निवेश (actual investment) कहते हैं। अंग्रेजी में इसे ex-post savings और ex-post investment भी कहते हैं। यदि हम यह देखना चाहें कि भारत में 1983-84 के वर्ष में कितनी बचत और निवेश किया गया है तो हम 1983-84 के वर्ष की भारत की राष्ट्रीय आय से 1983-84 में भारतीयों द्वारा किए गए कुल उपभोग को निकाल देंगे और जो शेष रहेगा वह भारतीय अर्थव्यवस्था की 1983-84 की

वास्तविक बचत होगी। इसी प्रकार भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे 1983 84 के वर्ष मे वास्तव मे किए गए कुल निवेश को वास्तविक निवेश कहगे। वस्तुत राष्ट्रीय आय के आंकडो (National Income Estimates) मे बचत और निवेश को इसी अर्थ मे प्रयोग किया जाता है।

2 दूसरा अर्थ जिसमे बचत और निवेश शब्द का प्रयोग किया जाता है यह है, कि किसी वर्ष अथवा समय अवधि मे लोग कितनी मात्रा मे बचत तथा कितनी मात्रा मे निवेश करना चाहते है अथवा उसकी योजना बनाते हैं। इस अर्थ म बचत और निवेश को इच्छित या अभीष्ट (desired), आयोजित (planned), पूर्वानुमानित या प्रत्याशित (ex-ante or anticipated) बचत तथा निवेश कहते हैं।

केन्ज ने अपनी पुस्तक "रोजगार ब्याज तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त" म यह सिद्ध किया कि भले ही बचत और निवेश भिन्न-भिन्न व्यक्तियो द्वारा किए जाते हो तथा भले ही वे विभिन्न प्रयोजनो और उद्देश्यो के लिए किए जात हो वास्तविक बचत और वास्तविक निवेश सदैव ही बराबर होते हैं। उसने बचत और निवेश मे समानता निम्न प्रकार सिद्ध की।

किसी देश मे राष्ट्रीय आय दो प्रकार से अर्जित की जाती है (1) उपभोक्ता वस्तुओ और सेवाओ को उत्पादित और बेच कर और (2) पूँजी पदार्थों को उत्पादित तथा बेच कर अर्थात् देश की राष्ट्रीय आय उपभोक्ता वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य तथा पूँजी पदार्थों के मूल्य के जोड के बराबर होती है। इससे निम्न समीकरण प्राप्त होता है

राष्ट्रीय आय = उपभोग + निवेश

$$Y = C + I \quad \cdots\cdots \quad (i)$$

ऊपर के समीकरण मे Y राष्ट्रीय आय, C उपभोग तथा I निवेश को व्यक्त करते हैं। उपर्युक्त समीकरण राष्ट्रीय आय के उत्पादन अथवा अर्जित करने के पक्ष को व्यक्त करता है। राष्ट्रीय आय का एक दूसरा पक्ष व्यय का पक्ष है। समस्त आय का उपभोग किया जा सकता है, परन्तु ऐसा प्राय नही किया जाता। समस्त आय का एक भाग तो उपभोग पर व्यय कर दिया जाता है और शेष बचा लिया जाता है। इससे हमे निम्न समीकरण प्राप्त होता है

राष्ट्रीय आय = उपभोग + बचत

$$Y = C + S \quad (ii)$$

इस समीकरण म Y राष्ट्रीय आय, C उपभोग और S बचत के सूचक हैं।

उपर्युक्त समीकरण (i) और (ii) से स्पष्ट है कि आय, उपभोग + निवेश के भी बराबर है तथा उपभोग + बचत के भी बराबर है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि

उपभोग + बचत = उपभोग + निवेश

$$C + S = C + I \quad (iii)$$

चूँकि उपभोग समीकरण (iii) के दोनो ओर है, इसलिए वह रद्द हो जाएगा जिससे हमे निम्न समीकरण प्राप्त होता है

बचत = निवेश

$$S = I$$

अत हमने ऊपर के विश्लेषण से यह सिद्ध किया है कि बचत और निवेश की इस प्रकार परिभाषाएँ की गई हैं कि वे एक दूसरे के बराबर हो जाते हैं। समीकरण (i) मे निवेश राष्ट्रीय आय का वह भाग है जो उपभोग से अतिरिक्त उत्पादन से प्राप्त होता है और समीकरण (ii) मे बचत राष्ट्रीय आय का वह भाग है जो उपभोग पर व्यय नही किया जाता। अत इस प्रकार निवेश तथा बचत परिभाषा से (by definition) ही परस्पर समान होते हैं।

विद्यार्थियों द्वारा यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात समझने की यह है कि रोजगार और आय के केन्ज के सिद्धान्त मे किसी व्यक्ति की बचत तथा किसी व्यक्ति द्वारा निवेश पर विचार नही किया जाता, यहाँ पर तो अभिप्राय समस्त देश अथवा अर्थव्यवस्था की कुल बचत और कुल निवेश तथा कुल उपभोग से है। केन्ज के मतानुसार किसी व्यक्ति की वास्तविक बचत और

निवेश में अन्तर हो सकता है परन्तु समस्त देश की वास्तविक बचत और वास्तविक निवेश सदैव समान होते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि बचत और निवेश सदैव बराबर क्यों होते हैं। उदाहरणार्थ जब निवेश बढ़ जाता है तो कैसे बचत उसके समान हो जाएगी और यदि बचत घट जाती है तो कैसे निवेश उसके बराबर हो जाएगा। इसको समझने के लिए विद्यार्थी याद रखें कि केन्ज ने निवेश में उपभोक्ता पदार्थों की भंडारों अथवा स्टाक में वृद्धि (addition to the inventories of consumer goods) को भी सम्मिलित किया था। अब यदि बचत बढ़ जाती है तो इसका अर्थ यह होगा कि उपभोग कम हो गया है। कम उपभोग का परिणाम यह होगा कि दुकानें अथवा फैक्टरियों के मालिकों के पास उपभोक्ता पदार्थों की इच्छा अथवा पूर्व योजना की तुलना में अधिक भंडार रह जाएँगे। भंडारों में इस अनैच्छिक वृद्धि से उनका वास्तविक निवेश बढ़ जाएगा और इस प्रकार निवेश बढ़ कर बढ़ी हुई बचत के बराबर हो जाएगा। इसके विपरीत, यदि किसी वर्ष बचत बहुत घट जाती है तो इसका यह परिणाम होगा कि दुकानों और फैक्टरियों के मालिकों के पास उपभोक्ता पदार्थों के भंडारों में अधिक कमी हो जाएगी जिससे वे बहुत कम रह जाएँगे और उन पर वास्तविक निवेश घट जाएगा। इस प्रकार निवेश घट कर कम बचत के बराबर हो जाएगा।

दूसरी ओर जब बैंक आदि से उधार लेकर उद्यमकर्ता निवेश की मात्रा को बढ़ा देते हैं तो इसका यह परिणाम होगा कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो जाएगी। आय में वृद्धि होने से बचतें भी बढ़ जाएँगी और इस प्रकार कुल बचत कुल बढ़े हुए निवेश के बराबर हो जाएगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि वास्तविक बचत (ex-post savings) और वास्तविक निवेश (ex-post investment) हमेशा ही बराबर होते हैं।

बचत और निवेश केवल सन्तुलन में ही बराबर होते हैं (Saving and Investment are Equal only in Equilibrium)

ऊपर हमने पढ़ा कि बचत और निवेश वास्तविक भाव में सदैव बराबर होते हैं, किन्तु बचत और निवेश एक अन्य अर्थ में भी प्रयोग किए जाते हैं। इस दूसरे अर्थ में बचत और निवेश का अभिप्राय यह है कि किसी वर्ष लोग कितनी बचत तथा निवेश करना चाहते हैं अर्थात् किसी वर्ष कितनी अभीष्ट (desired) अथवा आयोजित (planned) बचत और निवेश होते हैं। इन्हें पूर्वानुमानित बचत और निवेश (ex-ante saving and investment) भी कहते हैं। किसी वर्ष की अभीष्ट अथवा आयोजित बचत उस वर्ष के आयोजित तथा अभीष्ट निवेश से अधिक या कम हो सकती है। वास्तव में अभीष्ट अथवा पूर्व-आयोजित बचत और निवेश प्रायः एक दूसरे से भिन्न ही होते हैं। कारण यह है कि बचत करने वाले व्यक्ति और होते हैं और निवेश करने वाले व्यक्ति और। बचत तो सर्वसाधारण द्वारा कई उद्देश्यों के लिए की जाती है और निवेश देश के उद्यमकर्ता ही करते हैं। इसके अतिरिक्त, बचत करने के उद्देश्य निवेश करने के उद्देश्यों से भिन्न होते हैं। इसलिए इस भाव में बचत और निवेश एक दूसरे से अधिक या कम हो सकते हैं। किन्तु इस अर्थ में बचत और निवेश केवल सन्तुलन की स्थिति में बराबर होते हैं। बचत और निवेश में यह सन्तुलन आय में घट-बढ़ होने के फलस्वरूप होता है। आय के सन्तुलन स्तर के आगे-पीछे इनमें समान होने की प्रवृत्ति तो होती है किन्तु वे बराबर नहीं होते (Realised or *ex post* saving is equal to realised or *ex-post* investment but anticipated or intended or planned or *ex ante* saving and investment may differ, intended or *ex ante* saving and investment have only a tendency to be equal and are equal only at the equilibrium level of income)

कल्पना करो कि अभीष्ट अथवा प्रत्याशित निवेश, प्रत्याशित बचत से अधिक है तो अधिक निवेश के कारण आय भी बढ़ जाएगी। परिणामस्वरूप बचत भी बढ़ जाएगी और अन्त में दोनों ही सन्तुलन की अवस्था पर पहुँच कर बराबर हो जाएँगी। इसी प्रकार यदि बचत निवेश की अपेक्षा अधिक है तो आय कम हो जाएगी तथा बचत कम होकर निवेश के

बराबर हो जाएगी। इसे रेखाकृति 52 3 द्वारा प्रकट किया गया है।

X-अक्ष पर आय दिखाई गई है और Y-अक्ष पर बचत तथा निवेश। SS अभीष्ट अथवा प्रत्याशित बचत (desired or intended saving) वक्र है तथा II अभीष्ट अथवा प्रत्याशित निवेश (desired or intended investment) वक्र है। ये दोनो E पर एक दूसरे को काटते है। अत यहाँ OY आय का सन्तुलन स्तर
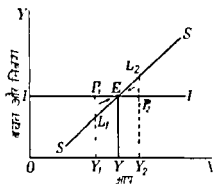
रेखाकृति 52 3
बचत तथा निवेश की सन्तुलन मे समानता

निश्चित होता है। अब आप आय OY_1 को देखे। यहाँ Y_1P_1 अभीष्ट निवेश है किन्तु Y_1L_1 अभीष्ट बचत है जो निवेश से कम है। अत आय बढेगी तथा बढ़कर, OY पर पहुँच जाएगी, जहाँ अभीष्ट बचत तथा अभीष्ट निवेश बराबर हो जाते है। अब OY_2 आय के स्तर को लें। यहाँ अभीष्ट बचत Y_2L_2, अभीष्ट निवेश Y_2P_2 से अधिक है। अत आय गिरेगी तथा गिर कर OY पर आ जाएगी जहाँ ये दोनो बराबर हो जाएँगे। स्पष्ट है कि अभीष्ट बचत तथा निवेश सन्तुलन स्तर पर बराबर है, किन्तु आगे-पीछे असमान है। यह वही बात है जो कि माग तथा पूर्ति के विषय मे होती है माँग तथा पूर्ति सन्तुलन कीमत पर बराबर होती है आगे-पीछे नहीं। जैसे कीमत का गिरना-चढना माँग और पूर्ति को बराबर करता है, वैसे ही आय का घटना-बढना अभीष्ट अथवा पूर्व-आयोजित बचत और निवेश को बराबर करता है। जैसे माँग तथा पूर्ति सन्तुलन के होने पर बराबर होते है वैसे अभीष्ट अथवा पूर्व-आयोजित बचत और निवेश भी सन्तुलन की स्थिति मे होते है और यह सन्तुलन उनमे आय मे कमी या वृद्धि होने से होता है।

अत हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि बचत और निवेश सदैव ही समान होते है और दूसरी ओर केवल सन्तुलन की ही स्थिति मे ही समान होते है। जबकि वास्तविक बचत और निवेश सदा ही समान होते है, चाहे सन्तुलन हो अथवा असन्तुलन, परन्तु अभीष्ट बचत और अभीष्ट निवेश केवल सन्तुलन मे ही समान होते है।

53

गुणक का सिद्धान्त

(THEORY OF MULTIPLIER)

गुणक का अर्थ
(Meaning of Multiplier)

आधुनिक आय तथा रोजगार के सिद्धान्त मे गुणक के सिद्धान्त का बडा महत्त्व है। गुणक का सिद्धान्त सर्वप्रथम एफ० ए० काह्न (F A Kahn) ने प्रस्तुत किया, परन्तु इसको केन्ज ने अधिक विस्तृत और विकसित किया। केन्ज के अनुसार जब निवेश बढाया जाता है तो उससे आय और रोजगार की मात्रा कई गुणा अधिक बढती है। उदाहरण के लिए यदि 100 करोड रुपये का निवेश किया जाता है तो राष्ट्रीय आय मे 100 करोड से कई गुणा अधिक वृद्धि होगी। यदि 100 करोड रुपये के निवेश के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय मे 300 करोड रुपये की वृद्धि होती है तो गुणक तीन होगा। और यदि 100 करोड रुपये के निवेश के परिणामस्वरूप आय मे 400 करोड रुपये के समान वृद्धि होती है तो गुणक 4 होगा। गुणक की मात्रा कितनी होगी, यह लोगो की उपभोग प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। यह हम आगे जाकर देखेंगे कि उपभोग प्रवृत्ति जितनी ही अधिक होगी, गुणक की मात्रा उतनी ही अधिक होगी। गुणक आय मे वृद्धि तथा निवेश मे वृद्धि का अनुपात होता है। यदि निवेश मे वृद्धि को $\triangle I$ द्वारा व्यक्त किया जाय और राष्ट्रीय आय मे वृद्धि को $\triangle Y$ द्वारा व्यक्त किया जाए तो गुणक, $\frac{\triangle Y}{\triangle I}$ के बराबर होगा।

अत $$\text{गुणक} = \frac{\triangle Y}{\triangle I}$$

अब प्रश्न यह उठता है कि निवेश के बढने पर आय मे कई गुणा अधिक वृद्धि क्यो होती है। इसको निम्न प्रकार से समझाया जा सकता है। जब 100 करोड रुपये का नया निवेश किया जाता है तो इसका तात्पर्य यह है कि उस निवेश के कार्य मे श्रमिको, कच्चा माल की पूर्ति करने वाले व्यक्तियो, तथा उस निवेश कार्य को करने मे योगदान देने वाले अन्य व्यक्तियो को, मजदूरी, उनके द्वारा कच्चा माल आदि की पूर्ति की कीमतें, आदि पर 100 करोड रुपया व्यय किया जाएगा। इसलिए उनकी आय मे 100 करोड रुपये के बराबर वृद्धि हो जाएगी। परन्तु बात यहाँ ही समाप्त नही हो जाती। जो व्यक्ति ये 100 करोड रुपये अर्जित करते हैं वे आगे इनको उपभोक्ता पदार्थों पर व्यय

करेंगे। यदि लोगों की सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति 3/4 है, तो वे 100 करोड़ रुपये में से 25 करोड़ रुपये बचाएंगे और 75 करोड़ रुपये उपभोक्ता वस्तुओं पर व्यय कर देंगे। और जब ये लोग 75 करोड़ रुपये उपभोक्ता वस्तुओं पर व्यय करते हैं तो इन उपभोक्ता पदार्थों को बेचने तथा उत्पादित करने वाले लोगों की आय में 75 करोड़ रुपये के बराबर वृद्धि हो जाएगी। अतः पहली बार आय में 100 करोड़ रुपये के बराबर वृद्धि हुई थी और इस बार 75 करोड़ रुपये के बराबर आय में और वृद्धि हो गई है। परन्तु प्रक्रिया यहीं पर भी समाप्त नहीं होगी। जो व्यक्ति ये 75 करोड़ रुपया प्राप्त करेंगे, वे भी आगे अपनी उपभोग प्रवृत्ति के अनुसार व्यय करेंगे जिससे अन्य व्यक्तियों की आय में भी वृद्धि होगी। यदि इन व्यक्तियों की जो यह 75 करोड़ रुपया प्राप्त करते हैं उपभोग प्रवृत्ति भी 3/4 है तो वह 56.25 करोड़ रुपया आगे व्यय कर देंगे जिससे आय में और वृद्धि हो जाएगी। इस प्रकार यह क्रम जारी रहेगा और जैसे ही कुछ व्यक्तियों की आय में वृद्धि होगी वे आगे व्यय करके दूसरों की आय में वृद्धि कर देंगे। यही कारण है कि निवेश में वृद्धि होने से कुल आय में कई गुणा अधिक वृद्धि हो जाती है।

गुणक तथा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (Multiplier and Marginal Propensity to Consume)

गुणक की मात्रा को हम एक अन्य विधि से भी व्युत्पादित कर सकते हैं। चूंकि $Y=C+I$, इसलिए I में $\triangle I$ की वृद्धि से जो Y में वृद्धि ($\triangle Y$) होगी वह $\triangle C+\triangle Y$ के बराबर होगी। अतः

$$\triangle Y=\triangle C+\triangle I$$

चूंकि $\triangle C=c\triangle Y$[1] जहाँ पर c उपभोग प्रवृत्ति को व्यक्त करती है

अतः $\triangle Y=c\triangle Y+\triangle I$

$$\triangle Y-c\triangle Y=\triangle I$$

$$\triangle Y(1-c)=\triangle I$$

$$\triangle Y=\frac{1}{1-c}\ (\triangle I)$$

$$\frac{\triangle Y}{\triangle I}=\frac{1}{1-c}$$

अब $\frac{\triangle Y}{\triangle I}$ तो गुणक है जिसे k द्वारा लिखा जा सकता है अतः

$$k=\frac{1}{1-c}$$

$$=\frac{1}{1-MPC}$$

$$=\frac{1}{s}$$

जहाँ s सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का सूचक है।

यदि इस समस्त क्रय-विक्रय प्रक्रिया में आने वाले लोगों की सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $\frac{3}{4}$ हो तो 100 करोड़ रुपए के निवेश से कुल आय में कुल मिलाकर 400 करोड़ रुपये की वृद्धि होगी। यह नीचे से स्पष्ट है—

$$\text{आय में वृद्धि}=100+100\times\tfrac{3}{4}+100(\tfrac{3}{4})^2+100(\tfrac{3}{4})^3+100(\tfrac{3}{4})^4\ldots$$

$$\text{आय में वृद्धि}=[100(1+(\tfrac{3}{4})+(\tfrac{3}{4})^2+(\tfrac{3}{4})^3+(\tfrac{3}{4})^4\ldots]$$

परन्तु यह गुणोत्तर वृद्धि (geometric progression) है अतः

$$\text{आय में वृद्धि}=100\left(\frac{1}{1-\frac{3}{4}}\right)\ldots\ (1)$$

$$\text{आय में वृद्धि}=100\times\frac{1}{\frac{1}{4}}$$

$$=100\times4$$

$$=400$$

स्पष्ट है कि यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $\frac{3}{4}$ है तो 100 रुपए निवेश करने से आय में 400 रुपए की वृद्धि होगी। अतः यहाँ पर गुणक 4 हुआ। इस गुणक को सामान्य सूत्र (general formula) में भी प्रकट कर सकते हैं। यदि $\triangle Y$ आय में वृद्धि, $\triangle I$ निवेश में वृद्धि और MPC सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का सूचक

---

1 वास्तव में $\triangle C=\triangle(C_a+\triangle CY)$ के बराबर होगी किन्तु चूंकि C_a एक स्थिर राशि है। इसलिए C में परिवर्तन (अर्थात् $\triangle C=\triangle CY$)।

हो तो हमे ऊपर के (i) से निम्न समीकरण प्राप्त होता है

$$\Delta Y = \Delta I \frac{1}{1-MPC}$$

$$\frac{\Delta Y}{\Delta I} = \frac{1}{1-MPC}$$

$\frac{\Delta Y}{\Delta I}$ तो गुणक को दर्शाता है। अत

$$\text{गुणक} = \frac{1}{1-MPC} \quad \ldots \text{(ii)}$$

चूकि $1-MPC$ = सीमात बचत प्रवृत्ति (MPS)

$$\text{अत गुणक} = \frac{1}{MPS} \quad \ldots \text{(iii)}$$

इससे स्पष्ट है कि गुणक की मात्रा सीमांत बचत प्रवृत्ति (marginal propensity to save i e MPS) की व्युत्क्रम (reciprocal) होती है।

इस प्रकार हम देखते है कि गुणक का परिमाण सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (अथवा सीमान्त बचत प्रवृत्ति) पर निर्भर करता है। ऊपर के (ii) अथवा (iii) मे दिये गए सूत्र से हम गुणक की मात्रा ज्ञात कर सकते है, यदि हमे सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति दी गई हो।

यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $\frac{2}{3}$ है तो गुणक को इस प्रकार ज्ञात कर सकते है—

$$\text{गुणक} = \frac{1}{1-MPC}$$

$$= \frac{1}{1-\frac{2}{3}} = \frac{1}{\frac{1}{3}}$$

$$= 3$$

इसी प्रकार सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $\frac{1}{2}$ है तो गुणक

$$= \frac{1}{1-\frac{1}{2}} = \frac{1}{\frac{1}{2}} = 2$$

अत यदि हमे सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति ज्ञात हो तो हम गुणक मालूम कर सकते है। इसकी बडी सरल विधि यह है कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति से सीमान्त बचत प्रवृत्ति को ज्ञात कर ले और फिर सीमान्त बचत-प्रवृत्ति को उलटा दे। इस प्रकार हमे गुणक प्राप्त हो जाएगा।

यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति इकाई हो तो बचत शून्य ($1-1=0$) के समान होगी। गुणक 0 (zero) का व्युत्क्रम (reciprocal) जो अनन्त (infinity) के समान होता है। इसका अर्थ यह है कि यदि हम पूँजी की कुछ राशि लगाएँ तो आय तथा रोजगार अपने आप निरन्तर बढते चले जायेंगे जब तक कि पूर्ण रोजगार (full employment) की स्थिति स्थापित नही हो जाती। इसके पश्चात् रोजगार तो और नही बढ सकता, हाँ मुद्रा आय (money income) बढती जाएगी जिससे मुद्रास्फीति (inflation) हो जाएगी। सामान्यतया सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति एक (one) से कम ही होती है और पिछडे हुए निर्धन देशो मे लगभग $\frac{4}{5}$ या $\frac{5}{6}$ के समान होती है। यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति 0 (zero) हो तो बचत हुई $1-0=1$ और गुणक भी एक होगा अर्थात् जितनी पूँजी विनियोग की जाएगी आय मे केवल उतनी ही वृद्धि होगी। वास्तव मे हमे ज्ञात है कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति 1 (one) से कम होती है किन्तु 0 (zero) से अधिक।

ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट हो गया है कि गुणक का कम या अधिक होना सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति पर सीधे रूप से निर्भर करता है। यदि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति ऊँची होगी, तो गुणक भी अधिक होगा और यदि सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति नीची होगी तो गुणक भी कम होगा (The size of multiplier varies directly with the size of the marginal propensity to consume When the marginal propensity to consume is high, the multiplier is high and when the marginal propensity to consume is low, multiplier is low)

एक बात हम विशेष रूप से बताना चाहते है कि गुणक केवल मुद्रा के रूप मे ही कार्य नहीं करता, अपितु वास्तविक आय अथवा उत्पादन के रूप मे भी करता है (The multiplier not only works in money terms but also in real terms)। दूसरे शब्दो मे, आय मे वृद्धि केवल मुद्रा के रूप मे नहीं

होती, बल्कि उत्पादन अर्थात् पदार्थों और सेवाओं के रूप में भी होती है। जब निवेश के परिणामस्वरूप आयो मे वृद्धि होती जाती है तथा इन आयो को उपभोक्ता वस्तुओं पर व्यय किया जाता है तो इन उपभोक्ता वस्तुओं की बढती हुई मांगों को पूरा करने के लिए उनका उत्पादन भी साथ-साथ बढता जाता है। अत जितनी मुद्रा के रूप मे आयो मे वृद्धि होती है उतनी ही वास्तविक आय (real income) अथवा उत्पादन मे वृद्धि होती है। हाँ, हमने यहाँ मान लिया है कि उपभोक्ता वस्तुओं को उत्पादित करने वाले उद्योगो मे पर्याप्त अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता (excess productive capacity) उपलब्ध है जिससे जब उन वस्तुओं की मांग बढती है तो उनके उत्पादन को सरलता से बढाया जा सकता है।

गुणक का रेखाकृति द्वारा निरूपण (Diagrammatic Representation of Multiplier)

हम पढ चुके है कि राष्ट्रीय आय उस स्तर पर निर्धारित होती है जहाँ समस्त माग वक्र $(C+I)$
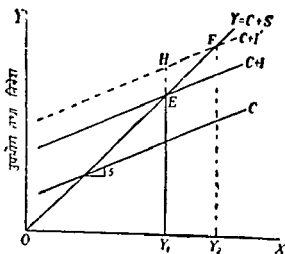
रेखाकृति 53 1

गुणक प्रभाव

समस्त पूर्ति वक्र (अर्थात 45° कोण वाली रेखा) को काटता है। इस प्रकार की रेखाकृति से हम गुणक को भी स्पष्ट कर सकते हैं। रेखाकृति 53 1 को देखिए। इसमे एक उपभोग-प्रवृत्ति वक्र C बनाया गया है।

हमने यह मान लिया है कि सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति $\frac{1}{2}$ है, इसलिए सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति वक्र C की ढाल (slope) 0 5 रखी गई है। समस्त मांग वक्र $C+I$ है जो 45° कोण की रेखा को E बिन्दु पर काटता है जिससे OY_1 आय निर्धारित होती है। अब यदि EH के बराबर निवेश मे वृद्धि $(\triangle I)$ होती है तो हम ज्ञात कर सकते है कि इससे आय म वृद्धि $(\triangle Y)$ कितनी होगी। EH के बराबर निवेश म वृद्धि होने से समस्त माग वक्र अब ऊपर को उठकर $C+I'$ हो गया है। यह नया समस्त माग वक्र $C+I'$, 45° कोण की रेखा को बिन्दु F पर काटता है जिससे OY_2 आय निर्धारित होती है। अत निवेश मे EH वृद्धि होने से आय Y_1Y_2 बढ गई है जो कि EH की दुगुनी है (मापने पर मालूम होगा कि Y_1Y_2 दूरी, EH से दुगुनी है) स्पष्ट है कि गुणक 2 है। यह हमारे सूत्र $\frac{1}{1-MPC}$ के अनुसार ही है क्योंकि जब सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (MPC) $\frac{1}{2}$ हो, जैसा कि हमने रेखाकृति मे माना है, तो इस सूत्र के अनुसार भी गुणक 2 होगा

$$\left(\frac{1}{1-MPC}=\frac{1}{1-\frac{1}{2}}=\frac{1}{\frac{1}{2}}=2\right)$$

गुणक का बचत और निवेश की रेखाकृति द्वारा निरूपण (Illustration of Multiplier through Saving-Investment Diagram)

हम एक गत अध्याय मे पढ आए है कि बचत और निवेश द्वारा भी राष्ट्रीय आय के निर्धारण की व्याख्या हो सकती है। इसलिए बचत और निवेश की रेखाकृति द्वारा गुणक का भी दर्शाया जा सकता है। ऐसा हमने रेखाकृति 53 2 मे किया है जहाँ SS और II क्रमश बचत वक्र तथा निवेश वक्र है। हमने यहाँ सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति(MPC)को $\frac{2}{3}$ के बराबर माना है (अर्थात् सीमान्त बचत प्रवृत्ति, MPS, $\frac{1}{3}$ के बराबर है)। इसलिए बचत वक्र की ढाल (slope) $\frac{1}{3}$ अथवा 0 33 के बराबर बनाई गई है। बचत वक्र SS और निवेश वक्र II एक दूसरे को बिन्दु E पर काटते हैं जिससे OY_1 राष्ट्रीय आय निर्धारित होती है। अब

यदि निवेश II' बढ जाए तो राष्ट्रीय आय मे क्या वृद्धि होगी ? निवेश के II' बढ जाने से नया निवेश वक्र $I'I'$ प्राप्त होता है। नया निवेश वक्र $I'I'$ बचत वक्र SS को बिन्दु F पर काटता है जिससे OY_2 आय का निर्धारण होता है। अत निवेश मे II' की वृद्धि होने
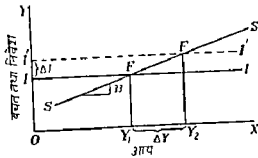
रेखाकृति 53 2
गुणक प्रभाव

से राष्ट्रीय आय Y_1Y_2 बढी है। मापने पर मालूम होगा कि Y_1Y_2 निवेश मे वृद्धि II' की तुलना मे तीन गुणा है। अत गुणक 3 है।

$$\text{गुणक} = \frac{\Delta Y}{\Delta I} = \frac{Y_1Y_2}{II'} = 3$$

यह हमारे गुणक के अनुसार ही है। चूँकि हमने रेखाकृति 53 2 मे सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति $\frac{2}{3}$ अथवा सीमान्त बचत प्रवृत्ति $\frac{1}{3}$ मानी है, इसलिए सूत्र के अनुसार भी गुणक 3 ही प्राप्त होगा

$$\text{गुणक} = \frac{1}{1-\frac{2}{3}} = \frac{1}{\frac{1}{3}} = 3$$

आय-प्रवाह मे विभिन्न छिद्र और उनका गुणक पर प्रभाव

(Leakages in the Income Stream and their Effect on the Multiplier)

उपभोग-प्रवृत्ति के वर्णन मे हमने एक बात देखी थी कि जब आय बढती है तो उपभोग-व्यय आय मे हुई वृद्धि की अपेक्षा कम बढता है। नई आय का जो भाग उपभोग मे नही किया जाता, उसे बचा लिया जाता है। उपभोग मे लाई गई अथवा बचत की गई यह राशि आय-प्रवाह मे छिद्र (leakage) के समान है। यदि यह राशि बचायी न जाती बल्कि उपभोग कर दी जाती तो यह भी किसी न किसी की आय म सम्मिलित होकर देश की समूची आय को बढा देती। इसलिए ये एक प्रकार के छिद्र (leakage) हैं जो राष्ट्रीय आय मे अधिक वृद्धि करने मे बाधा उत्पन्न करते हैं। यदि ये छिद्र न होते तो सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति एक होती जिससे थोडे से निवेश से आय और रोजगार इतने बढ जाते कि पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाती। एक करोड रुपये का निवेश (investment) प्रत्येक पग पर एक करोड रुपए आय बढाता जाता, अर्थात् एक और करोड, फिर एक और करोड तथा फिर एक और करोड। परन्तु वास्तव म जब कुछ राशि निवेश की जाती है तो प्रत्येक पग पर जो आय म वृद्धि होती है, वह कम होती जाती है। इसका कारण यह है कि जो नई आय प्राप्त होती है, वह सारी व्यय नही होती, अपितु उसका कुछ भाग बीच मे ही कहीं न-कहीं लुप्त हो जाता है अथवा निकल (leak) जाता है। यह इस कारण है कि सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति इकाई म कम होती है। यदि आय-प्रवाह मे ये छिद्र न होते तो आय वृद्धि की जो शृंखला बन जाती वह कभी समाप्त न होती, अर्थात् आय निरन्तर तथा समान मात्रा म बढती चली जाती।

ये छिद्र (leakages) किस रूप मे पाए जाते है ? अर्थात् जो रुपया उपभोग व्यय के रूप म आय म वृद्धि नही करता और इस प्रकार गुणक के परिमाण को कम कर देता है, वह कहाँ जाता है ? वह रुपया निम्न छिद्रो से निकल जाता है —

(i) ऋण के भुगतान मे (Paying off Debts)—साधारणतया ऐसा होता है कि व्यवसायी ने बैंको अथवा किन्ही दूसरे व्यापारियो आदि का ऋण चुकाना होता है। उसकी आय का कुछ भाग इस ऋण के भुगतान रूप मे चला जाता है तथा वह इस भाग को उपभोग अथवा उत्पादन के लिए प्रयोग मे नही लाता। ऋण के भुगतान के रूप मे दी गई राशि आय के प्रवाह मे से निकल जाती है। यह भी सम्भव है कि इस लौटाई

हुई राशि को बैंक फिर किन्ही अन्य व्यक्तियो को ऋण के रूप मे दे दे तथा उपभोक्ताओ के हाथ मे आकर वह फिर व्यय हो जाये। इस अवस्था म यह फिर किसी-न-किसी की आय का रूप धारण कर लेगी। यदि बैंको को ऋण लेने वाले न मिलें तो यह राशि निरर्थक ही पडी रहेगी तथा आय के प्रवाह मे से बाहर ही रहेगी। यदि ऋण का भुगतान किसी व्यक्ति को किया जाता है तो भी परिणाम यही होगा।

(ii) आय का कुछ भाग निष्क्रिय नकदी के रूप मे रखना (Holding of Idle Cash Balances)—यदि आय के कुछ भाग को उपभोग करने के बजाय निष्क्रिय नकदी के रूप म रख लिया जाए तो इसे भी छिद्र ही समझा जाना चाहिए। यदि लोग मुद्रा को नकदी रूप मे रखने के बहुत इच्छुक हो ताकि ऐहतियाती प्रयोजन (precautionary motive) तथा सट्टा प्रयोजन (speculative motive) आदि के लिए प्रयोग मे ला सकें तो इसका परिणाम यह होगा कि आय के बढने पर किया गया उपभोग व्यय प्रत्येक पग पर कम होता जाएगा। आय मे हुई वृद्धि का कुछ भाग लोग मुद्रा के रूप मे रख लेंगे और व्यय नही करेंगे भले ही लोग इस आय को अपने पास संग्रह कर रख लें अथवा बैंक के लाकर मे रखें, चाहे चालू खाते (current account) मे अथवा बचत खाते (saving account) मे जमा करवाएँ, इससे कोई अन्तर नही पडता। इस प्रकार निष्क्रिय पडी राशि देश की आय बढाने मे सहायता नही देती।

(iii) आय का वह भाग, जो आयात (Imports) पर व्यय किया जाता है, वह भी देश के आय-प्रवाह मे से निकल जाता है। यह देश मे व्यवसाय अथवा उद्योग को प्रोत्साहन नही देता। वह तो विदेशो के व्यापार अथवा उद्योग को ही समृद्ध बनाता है। समझना चाहिए कि वह राशि निरर्थक ही हाथ मे निकल गई है। इसका लाभ विदेशी (निर्यातक) को ही पहुँचता है और आयात करने वाले देश की आय मे म बाहर हो जाता है। उस अवस्था मे ऐसा विशेष रूप मे होता है यदि उस आयातित माल द्वारा हमारे निर्यात व्यापार को प्रोत्साहन न मिले। किन्तु यदि आयातो द्वारा हमारे निर्यात मे वृद्धि हो रही हो तो इसे छिद्र (leakage) नही समझना चाहिए।

(iv) कई व्यक्ति जब अपनी आय मे से दूसरो से प्रतिभूतियाँ (Securities) खरीदते है तो उस राशि को दबा कर बैठ जाते हैं और इस प्रकार भी वह राशि परिचलन मे म लुप्त हो जाती है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति अपनी आय द्वारा पहले मे स्थापित व्यवसायो के शेयर (shares) खरीद ले, जीवन-बीमा करवा ले अथवा इसी प्रकार किसी अन्य स्थान पर वित्त लगा दे तो इससे आय का कुछ भाग लुप्त हो जाता है जिससे उसे उपभोग-व्यय के रूप मे प्रयोग नही किया जा सकता और इस कारण एक निश्चित निवेश के फलस्वरूप आय मे वृद्धि कम होती है।

(v) कीमत-स्फीति (Price Inflation) अर्थात् कीमतो मे वृद्धि होने से निवेश का वास्तविक आय तथा रोजगार बढाने पर पूर्ण प्रभाव नही पडता। हम ऊपर गुणक की व्याख्या मे बता आए हैं कि गुणक वास्तविक आय अथवा उत्पादन के रूप म तब होता है जबकि उपभोक्ता वस्तुओ के उत्पादन को शीघ्र तथा सरलता से बढाया जा सके। परन्तु जब निवेश के फलस्वरूप मुद्रा आय तथा उपभोक्ता वस्तुओ की माँग बढती है, परन्तु यदि किसी कारण उपभोक्ता वस्तुओ का उत्पादन नही बढाया जा सकता तो उपभोक्ता वस्तुओ की बढी हुई माँग के कारण से उनकी कीमतें बढ जाएँगी। ऐसी दशा मे मुद्रा आय मे जो वृद्धि होगी वह बढे हुए मूल्यो मे ही खप जाएगी और वास्तविक आय तथा उत्पादन मे वृद्धि नहीं होगी। अत जब बढी हुई मुद्रा आय तथा वस्तुओ की माँगो के अनुरूप उपभोक्ता वस्तुओ का उत्पादन नही बढता तो गुणक केवल मुद्रा के रूप मे ही (in monetary terms only) कार्य करेगा, वास्तविक आय अथवा उत्पादन के रूप मे नही। अत कीमतो मे वृद्धि भी एक प्रकार की छिद्र (leakage) है जो वास्तविक आय के रूप मे गुणक को कम कर देती है।

ऊपर दिये गए कुछ रूपो मे आय के कुछ भाग के लुप्त हो जाने का परिणाम यह होता है कि जो निवेश किया जाता है उसका गुणक प्रभाव (multiplier

effect) कम हो जाता है । यदि इन छिद्रों को बन्द कर दिया जाय तो निवेश का आय तथा रोजगार पर अधिक गुणक प्रभाव पड़ेगा । अन्य शब्दों में, सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति को ऊँचा उठाने की आवश्यकता है ताकि आय तथा रोजगार पर गुणक प्रभाव अधिक पड़े ।

गुणक की धारणा का महत्त्व (Importance of the Concept of Multiplier)

अब तक हमने गुणक का वर्णन एक सिद्धान्त के रूप में किया है । आओ अब देखें कि इस सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्त्व क्या है । आजकल तो सरकार देश की अर्थव्यवस्था में सक्रिय रूप में हस्तक्षेप करती है । अतः यह आवश्यक है कि सरकारी निवेश के सन्दर्भ में गुणक के महत्त्व को जानें । वैसे तो यदि देश में मन्दी हो जाय तो साधारण लोग इतना ही कहेंगे कि सरकार द्वारा सार्वजनिक निर्माण कार्य आरम्भ करने पर निवेश करना चाहिए, ताकि बेकार लोगों को कुछ न कुछ रोजगार प्राप्त हो सके । किन्तु यह सिद्ध हो जाने पर कि सरकार के एक करोड़ रुपये के पूँजी निवेश से राष्ट्रीय आय तथा रोजगार कई गुणा अधिक बढ़ सकता है, सार्वजनिक निवेश का महत्त्व बहुत बढ़ गया है अर्थात् गुणक के सिद्धान्त ने सार्वजनिक निवेश के महत्त्व को बढ़ा दिया है ।

जब कोई देश मन्दी से ग्रस्त होता है तो उस समय निजी उद्यमी निवेश करने को प्रेरित नहीं होते क्योंकि उस समय लाभ कमाने की आशाएँ कम होती है । अतः यदि मन्दी से छुटकारा पाना है और देश के आय तथा रोजगार के स्तर को बढ़ाना है तो उस समय सार्वजनिक निवेश को बढ़ाना जरूरी है । उस समय जब सरकार सार्वजनिक कार्यों (public works) पर अपना निवेश बढ़ाती है तो गुणक के कार्य करने से आय, वस्तुओं के लिए माँग तथा रोजगार निवेश की गई राशि की तुलना में कई गुणा अधिक बढ़ जाते हैं । गुणक के कार्य करने से सरकारी निवेश से मन्दी की स्थिति शीघ्र समाप्त होने लगती है और अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की ओर अग्रसर होती है । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जब सरकार निवेश को बढ़ाती है तो गुणक के कार्य करने से लोगों की आय तथा वस्तुओं के लिए माँग कई गुना बढ़ जाती है तो उस दशा में *निजी उद्यमी भी निवेश बढ़ाने के लिए प्रेरित हो जाते* हैं । ऐसा इसलिए होता है क्योंकि जब सार्वजनिक (सरकारी) निवेश से आय और वस्तुओं के लिए माँग कई गुणा अधिक बढ़ जाती है तो उनसे लाभ की आशाएँ (profit expectations) बढ़ जाती है और फलस्वरूप पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (marginal efficiency of capital) बढ़ जाती है । अतः जब मन्दी के समय सरकार निवेश करती है तो गुणक के कार्य करने के कारण निजी निवेश भी प्रोत्साहित होता है । सरकारी निवेश तथा निजी निवेश दोनों में वृद्धि से मन्दी की दशा तेजी से दूर होने लगती है । यदि गुणक कार्य न करता तो सार्वजनिक कार्यों पर सरकारी निवेश से आय और रोजगार कुछ तो बढ़ते परन्तु इतने नहीं जितने कि गुणक के कारण बढ़ते हैं । केन्ज़ के गुणक सिद्धान्त से प्रेरित होकर 1929-33 की महा-मन्दी के समय अमेरिका की सरकार ने सार्वजनिक कार्यों के निर्माण में अधिक निवेश करने की 'नव व्यवस्था नीति' (New Deal Policy) अपनाई । इस नीति को बड़ी सफलता मिली और अमेरिका में मन्दी शीघ्रतापूर्वक दूर हो गई ।

54

मजदूरी तथा रोजगार में सम्बन्ध
(RELATION BETWEEN WAGES AND EMPLOYMENT)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) के मत के अनुसार अर्थव्यवस्था इस प्रकार अपने आप कार्य करती है कि इसमें सदैव पूर्ण रोजगार (full employment) बना रहता है और यदि किसी समय बेरोजगारी (unemployment) हो जाती है, तो यह सर्वथा अस्थायी (purely temporary) होती है और मजदूरी, ब्याज-दर तथा कीमतों के गिर जाने के द्वारा शीघ्र ही फिर पूर्ण रोजगार की स्थिति हो जाती है। गत अध्यायों में हम इस परिणाम पर पहुँचे कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का यह मत गलत है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री तो यह समझते थे कि मजदूरी की दर कम कर देना बेरोजगारी दूर करने का एक बड़ा प्रभावपूर्ण उपाय है। परन्तु आज के अर्थशास्त्री ऐसा नहीं मानते, विशेषकर केन्ज महोदय ने अपने रोजगार सिद्धान्त की सहायता से इसे गलत सिद्ध कर दिया।

नकद मजदूरी तथा वास्तविक मजदूरी (Money Wages and Real Wages)

जब हम मजदूरी की दर का रोजगार में जो सम्बन्ध है, उसका अध्ययन करते हैं तो हमें सर्वप्रथम स्वयं मजदूरी की दर का अर्थ भलीभाँति मालूम होना चाहिए। जब किसी श्रमिक को उसके द्वारा किये गए काम के लिए प्रति घण्टा, प्रति दिन अथवा प्रति सप्ताह आदि जो मजदूरी मुद्रा अर्थात् नकदी के रूप में दी जाती है, अर्थशास्त्र में उसे नकद मजदूरी (money wages) कहा जाता है परन्तु जब हम वास्तविक मजदूरी (real wages) शब्द का प्रयोग करते हैं तो उस समय हमारा भाव यह होता है कि उस नकद मजदूरी से श्रमिक को वास्तव में पदार्थों और सेवाओं के रूप में कितना कुछ मिल रहा है। यदि कहीं किसी कारणवश श्रमिक के जीवन-निर्वाह में प्रयोग आने वाले पदार्थों और सेवाओं की कीमतें चढ़ जायें तो नकद मजदूरी भले ही उसे वही मिले जो पहले मिल रही थी परन्तु स्पष्ट है कि उसकी वास्तविक मजदूरी अब कम हो गयी होगी। इसका विपरीत उदाहरण लीजिए। कुछेक कारणों से श्रमिकों द्वारा उपभोग की जा रही वस्तुओं और सेवाओं की कीमतें पर्याप्त गिर जाती है परन्तु श्रमिकों की नकद मजदूरी (money wages) पूर्ववत् रहती है। अब हम कह सकते है कि श्रमिकों की वास्तविक मजदूरी (real wages) बढ़ गई है, क्योंकि अब उन्हें पहले से अधिक वस्तुएँ तथा सेवाएँ उपलब्ध है।

अब प्रश्न यह है कि यदि हमें नकद मजदूरी मालूम हो तो वास्तविक मजदूरी कैसे जानी जाय ? इसका तरीका यह है कि नकद मजदूरी को सामान्य कीमत स्तर (general price level) मे या जीवन-निर्वाह सूचकांक (cost of living index number) मे हुई कमी-बेशी के अनुसार बढाया घटाया जाय। उदाहरण के लिए मान लीजिये कि नकद मजदूरी वही रहती है, परन्तु सामान्य कीमत-स्तर या जीवन-निर्वाह सूचकांक पहले से दुगुना हो जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वास्तविक मजदूरी पहले से आधी हो गई चाहे नकद मजदूरी पहले जितनी है। इसके विपरीत मान लीजिए जीवन निर्वाह सूचकांक 10 प्रतिशत कम हो जाता है पर नकद मजदूरी वही रहती है। अत. इस बार वास्तविक मजदूरी 10 प्रतिशत बढ जाएगी। अब अर्थशास्त्री वास्तविक मजदूरी और नकद मजदूरी के पारस्परिक सम्बन्ध को निम्न सूत्र (formula) द्वारा प्रकट करते हैं : वास्तविक मजदूरी $= \frac{W}{P}$ जिसमे W का अर्थ नकद मजदूरी है और P का अर्थ है सामान्य कीमत स्तर। दूसरे शब्दो मे वास्तविक मजदूरी जानने के लिए नकद मजदूरी को सामान्य कीमत-स्तर मे हुए उतार-चढाव के अनुपात मे बढाना-घटाना पडता है (in order to find out real wages the average money wage is to be deflated by the price level)।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मजदूरी तथा रोजगार के सम्बन्ध के विषय में मत

(The Classical View regarding the Relationship between Wages and Employment)

इससे पूर्व बत्तीसवें अध्याय मे प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों (Classical Economists) का इस विषय मे जो मत था, उसका संक्षिप्त परिचय दे आए हैं। अब इसकी सविस्तार व्याख्या की जायेगी तथा इसे किन त्रुटियो के कारण आजकल गलत माना जाता है, यह भी बताएँगे।

इन प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत था कि मन्दी तथा बेरोजगारी के समय मे देश के सभी उद्योगो तथा धन्धो मे नकद मजदूरी को पर्याप्त रूप से कम कर दिया जाय (a general cut in money wages) तो बेरोजगारी को न केवल घटाया जा सकता है, वरन् पूर्ण रोजगार की स्थिति लायी जा सकती है। इस मत के समर्थन मे उनका तर्क मोट तौर पर यो था कि जब किसी प्रतियोगी अर्थव्यवस्था मे मजदूरी कम कर दी जाय तो उत्पादको की उत्पादन लागत कम हो जाएगी, अत वे अपनी वस्तुओ की कीमतें कम कर सकेंगे और कम कर देंगे। कीमतों के गिरने के फलस्वरूप उन वस्तुओ की मॉग मे विस्तार हो जायेगा जिससे उद्यमियो की बिक्री बढ जाएगी। जब उनकी बिक्री अधिक होगी तो उन्हे उत्पादन भी बढाना होगा जिसमे अधिक श्रमिक रोजगार पर लगाए जायेंगे। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के इस तर्क मे एक महत्त्वपूर्ण मान्यता (assumption) निहित (implied) है। वह यह कि नकद मजदूरी के कम करने पर श्रमिको की वास्तविक मजदूरी (real wages) भी कम हो जाती है और जिससे उद्यमियो का लाभ पहले से बढ जाता है और उन्हे उत्पादन बढाने की प्रेरणा मिलती है। इस तर्क मे यह बात भी निहित है कि कीमतें इतनी नही गिरती जितनी मजदूरी दर कम हो जाती है, जिससे यह होता है कि उद्यमियो को पहले से अधिक लाभ प्राप्त होता है और वे अपना उत्पादन बढाने को प्रेरित होते है जिससे कि और श्रमिको को रोजगार पर लगाया जाता है। उन प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के उक्त तर्क का शेष भाग यह है कि जैसे जैसे मजदूरी तथा कीमतें कम हो जाती हैं इसके परिणामस्वरूप लाभ तथा रोजगार बढता जाता है, यहाँ तक कि पूर्ण रोजगार हो जाता है क्योकि उन अर्थशास्त्रियो के विचार मे जब भी कभी थोडी बहुत बेरोजगारी किसी कारणवश हो जाती है तो वह ऊपर वर्णित प्रक्रिया द्वारा दूर हो जाती है, जिससे पूर्ण रोजगार की स्थिति फिर लौट आती है। यही कारण है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के विचार से तो अर्थव्यवस्था का केवल

एक सन्तुलन स्तर होता है अर्थात् पूर्ण रोजगार का स्तर।

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मत की कींज द्वारा आलोचना (Keynes's Criticism of the Classical View regarding Wages and Employment)

केन्ज महोदय ने पुराने अर्थशास्त्रियों के उक्त मत की बड़ी आलोचना की, उनके द्वारा प्रस्तुत तर्क को गलत सिद्ध किया और इस विषय पर एक बड़ा युक्तिपूर्ण तथा सर्वांगीण विश्लेषण प्रस्तुत किया जिसे आज के अर्थशास्त्रियों में मान्यता प्राप्त है।

केन्ज के अनुसार प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा मजदूरी और रोजगार में सम्बन्ध के विषय में उक्त तर्क में मुख्य दोष यह है कि इसमें अर्थव्यवस्था की मांग पक्ष की उपेक्षा की गई है, अर्थात् इसमें यह मान लिया गया है कि जब श्रमिक की नकद मजदूरी को कम किया जाता है, तो अर्थव्यवस्था की समस्त समर्थ मांग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, और वह पूर्ववत् ही रहती है (The main flaw in this argument that unemployment can be remedied by cutting wages arises from neglect of effective demand, it assumes that money wages can be reduced with aggregate effective demand remaining unchanged)।

अब प्रश्न यह है कि अर्थव्यवस्था की समस्त मांग, अर्थात् समर्थ मांग (effective demand), की यह उपेक्षा क्यों युक्ति-संगत नहीं और प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों से यह भूल कैसे हुई। उन्होंने देखा कि जब भी कभी किसी एक उद्योग-विशेष में श्रमिकों की नकद मजदूरी कम की जाय, तो तब उस उद्योग में अधिक श्रमिकों को रोजगार पर लगाया जा सकता है।[1] यह इसलिये होता है कि जहाँ मजदूरी दर गिरने से उत्पादित वस्तु की कीमतें गिरती हैं, वहाँ केवल उस उद्योग में मजदूरी दर गिरने से उत्पादित वस्तु की मांग में कोई अन्तर नहीं आता। इसका कारण यह है कि जो श्रमिक उस वस्तु का उत्पादन करने में रोजगार पर लगे हैं वे उस वस्तु के कुल उपभोक्ताओं का केवल एक नगण्य भाग हैं, अर्थात् इनकी नकद मजदूरी गिरने पर उस वस्तु की मांग पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। उस वस्तु की मांग तो लगभग पूर्णतया अन्य लोगों की ओर से है और चूँकि उन अन्य लोगों की नकद मजदूरी कम नहीं हुई, अतः उनकी आय पूर्ववत् चली आ रही है। अतः उस उद्योग द्वारा प्रस्तुत वस्तु की मांग पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा, वरन् उस उद्योग की नकद मजदूरी दर गिरने से उसकी उत्पादित वस्तु की कीमत कम होगी और बिक्री अधिक होगी जिससे उस उद्योग विशेष में रोजगार बढ़ेगा।

परन्तु यह बात जो किसी एक उद्योग पर लागू होती है, वह सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था के विषय में सही नहीं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री तो सभी उद्योगों में नकद मजदूरी कम करने को कहते थे। यदि ऐसा किया जाये, तो स्पष्ट है कि सभी श्रमिकों की आय कम हो जाएगी जिससे अर्थव्यवस्था की समस्त मांग (aggregate demand) कम हो जाएगी। अब विभिन्न उद्योगों में जहाँ नकद मजदूरी दर कम होने पर उत्पादन लागत कम होगी और इस कारण कीमतें घटा दी जायेंगी वहाँ दूसरी ओर सभी श्रमिकों की आय भी कम हो जाएगी अर्थात् अर्थव्यवस्था की समस्त मांग भी तो गिर जायेगी। दूसरे शब्दों में, जब हम सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर विचार कर रहे होते हैं, तो मजदूरी न केवल लागत का भाग है, वरन् मांग का भी स्रोत है (In the economy wages are not only cost, but also sources of demand)। अतः यदि सभी उद्योगों में एक ही समय नकद मजदूरी दर इस अभिप्राय से घटायी जाये कि लागतों तथा कीमतों के गिरने से रोजगार को बढ़ाया जा सकेगा, तो यह उद्देश्य पूरा नहीं होगा क्योंकि नकद मजदूरी गिरने पर यह आवश्यक नहीं कि वास्तविक मजदूरी भी गिरेगी

1 ऐसा क्यों होता है, इसके लिए आप इससे सम्बन्धित अध्याय को पुनः देखें। चूँकि श्रम का सीमान्त उत्पादकता वक्र (marginal productivity curve of labour) दायीं ओर नीचे गिरता है, अतः अधिक श्रमिक तभी लगाये जायेंगे जब मजदूरी गिरेगी।

यह इसलिए कि जहाँ एक ओर श्रमिको की नकद मजदूरी गिरती है, वहाँ दूसरी ओर कीमतें भी गिर जाती है, जिससे उनकी वास्तविक मजदूरी वही की वही रहेगी, यदि नकद मजदूरी और कीमतो मे समान कमी हो।[1] यदि श्रमिको की वास्तविक मजदूरी कम नहीं होगी तो उद्यमियो के लाभ नही बढ सकते और जब तक न बढ़ें, उद्यमियो को अपना उत्पादन बढाने को प्रोत्साहन नही मिलेगा और जब तक उत्पादन नहीं बढाया जायेगा, रोजगार नहीं बढ सकता। अत हमने देखा कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो के तर्क मे गलती इसलिए हुई कि उन्होने इसे केवल किसी एक उद्योग के उदाहरण पर ही आधारित किया जिससे उनका ध्यान अर्थव्यवस्था की समस्त माग की ओर न गया और यह समस्त मांग की उपेक्षा उनके तर्क की भारी तथा घातक त्रुटि है।

सभी उद्योगो मे एक साथ नकद मजदूरी कम करने पर केन्ज द्वारा प्रस्तुत उक्त तर्क के अनुसार वास्तविक मजदूरी नही गिरती और इसलिए रोजगार नहीं बढता। परन्तु यदि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की भाँति हम यह मान भी लें कि वास्तविक मजदूरी सचमुच कुछ कम हो जाती है, तो भी उनका यह विचार युक्तिसगत नही कि ऐसा होने पर बेरोजगारी अवश्य हट जायेगी और अर्थव्यवस्था फिर पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त कर लेगी। मान लीजिए कि सभी उद्यमियो को यह आशा हो जाती है कि नकद मजदूरी कम करने से उनके लाभ बढ जायेंगे। इसलिए वे अपना उत्पादन बढा लेते हैं और अधिक श्रमिक रोजगार पर लगा लेते हैं, परन्तु अब हमे देखना यह है कि क्या उनकी अधिक लाभ कमाने की आशा पूर्ण भी होगी या शीघ्र ही टूट जाएगी। जैसा कि हमने समर्थ माग के नियम में देखा, उद्यमियो के लाभ केवल तभी बढ सकते हैं जब निम्न दो शर्तों मे से कोई एक शर्त पूरी हो :—

(क) लोगो की सीमान्त उपभोग-प्रवृत्ति (Marginal Propensity to Consume) इकाई के बराबर हो, अर्थात रोजगार के बढने के फलस्वरूप आय मे जो वृद्धि हुई है, वह सभी उपभोग पर व्यय की जाएगी और इस प्रकार रोजगार बढने पर उत्पादन मे जितनी वृद्धि होगी वह सभी बिक जाएगी। देखा जाए तो ऐसी स्थिति से का नियम (Say's Law) कि पूर्ति अपनी मांग को स्वय उत्पन्न करती है, सत्य होने पर ही हो सकती है। हम पूर्व अध्याय मे देख आये हैं कि यह नियम क्यो सही नहीं। उपभोग के आधारभूत नियम (fundamental law of consumption) के नियम के अनुसार ज्यो-ज्यो आय बढती है, उपभोग बढता तो है, परन्तु आय की वृद्धि के अनुपात से कम। दूसरे शब्दो मे, सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति का इकाई होना यथार्थता-रहित है। इसका यह अर्थ है कि उत्पादन मे जो वृद्धि होगी उसका एक भाग बिकने

---

1 क्या अर्थव्यवस्था की समस्त माग उस अनुपात में गिरेगी जिसमें नकद मजदूरी दर सभी उद्योगो मे कम की जाती है ? यदि सचमुच ऐसा ही होगा तो स्पष्ट है कि नकद मजदूरी दर के गिरने से कुल रोजगार पूर्ववत रहेगा, बढेगा नहीं। अब हमें यह देखना है कि समस्त मांग कैसे नकद मजदूरी मे को गई कमी के अनुपात मे घटती है। अर्थव्यवस्था की समस्त माग मे दो मुख्य भाग होते हैं। एक तो मजदूरी द्वारा आय प्राप्त करने वाले वर्ग की आय (income of the wage earning group) और दूसरे अन्य वर्गों की आय (income of the non wage group)। नकद मजदूरी के कम होने पर क्या समस्त माग उसी अनुपात में गिरेगी यह इस पर निर्भर होगा कि श्रमिकों के अतिरिक्त अन्य वर्गों की आय पर मजदूरी कम होने का क्या प्रभाव पडेगा। श्रमिको की मजदूरी कम होने पर उद्यमी उत्पादन के अन्य साधनों के स्थान पर श्रम को प्रतिस्थापित करने (substitute) की चेष्टा करेंगे। यदि यह प्रतिस्थापन आसानी से हो सकेगा, तो मजदूरी के गिरने से अन्य साधनों की कीमतें भी शीघ्र ही उतनी ही गिर जायेंगी जितनी कि मजदूरी गिरी थी। परिणाम यह होगा कि समस्त माग उसी अनुपात में कम हो जायेगी। मान लीजिए कि मजदूरी छोड कर शेष अन्य आयें कम नहीं होतीं, परन्तु वे अन्य वर्ग (श्रमिकों को छोड) कीमतें गिरने पर भी वस्तुओ और सेवाओं का उपभोग उतना ही करते हैं जितना कीमतें गिरने से पहले कर रहे थे, अर्थात् वे अपने पहले उपभोग स्तर को बनाये रखते हैं। इसका अर्थ यह होगा कि अन्य वर्गों के समस्त मुद्रा व्यय (aggregate money spending) मे उसी अनुपात से कमी हो जायेगी, जिस अनुपात मे नकद मजदूरी गिरी है। ऐसा होने पर कीमतें तथा समस्त माग उसी अनुपात में गिरेंगी जिस अनुपात मे नकद मजदूरी कम की गई है। और यदि कीमतें और नकद मजदूरी एक अनुपात मे गिरें तो वास्तविक मजदूरी पूर्ववत् रहेगी अर्थात् उसमें कोई कमी नहीं आयेगी।

से रह जायेगा (यह आय में हुई वृद्धि तथा उपभोग में हुई वृद्धि के अन्तर के समान होगा) जिससे उद्यमियों की अधिक लाभ कमाने की आशा पूरी नहीं हो सकेगी।

(ख) दूसरी शर्त यह है कि आय में हुई वृद्धि (increased income) तथा उपभोग में हुई वृद्धि (increased consumption) के बीच जितना अन्तर है, उतनी ही वृद्धि निवेश में हो जाय। अब क्या निवेश माग मे आय म हुई वृद्धि तथा उपभाग में वृद्धि के बीच अन्तर के समान वृद्धि होना अनिवार्य है। निवेश में वृद्धि पूंजी की उत्पादकता बढ जाने से हो सकती है अथवा ब्याज दर कम हो जाने से या ये दोनो बाते हो जाने से। परन्तु नकद मजदूरी को कम करने के परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष रूप मे न तो पूंजी की सीमांत उत्पादकता ही बढती है और न ही ब्याज-दर कम होती है।

उक्त दो शर्तों के पूरे न होने का अर्थ है कि जो उत्पादक अधिक लाभ की आशा में अपना उत्पादन बढायेंगे व अपने माल को लाभ पर नहीं बेच सकेंगे। उद्यमियों को घाटे पड़ने पर उत्पादन का कम हो जाना अनिवार्य हो जाता है, कई श्रमिकों को काम से जवाब दे दिया जायगा, अत उनकी आय कम हो जाएगी और परिणामत उपभोग-मांग भी कम होने लग जाएगी। सकुचन की यह प्रक्रिया तब तक जारी रहेगी जब तक कि उत्पादन तथा रोजगार का स्तर अपने प्रारम्भिक स्तर पर नहीं लौट आता जो नकद मजदूरी को कम करने से पूर्व था। अत निष्कर्ष यह है कि प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने इस ओर ध्यान न दिया कि सभी उद्योगों में एक साथ नकद मजदूरी कम (an all-round reduction in wages or a general cut in wages) कर देने पर अर्थव्यवस्था की समर्थ समस्त मांग (aggregate effective demand) कम हो जाएगी जिससे रोजगार बढाने का उद्देश्य प्राप्त नहीं हो सकेगा।

मजदूरी तथा रोजगार में सम्बन्ध : केन्ज का विश्लेषण

(Relationship between Wages and Employment : the Keynesian Analysis)

अब हम इस विषय पर केन्ज महोदय द्वारा प्रस्तुत विश्लेषण की क्रमश व्याख्या करेंगे।

केन्ज के विश्लेषण में देखने योग्य प्रथम बात यह है कि अर्थशास्त्रियों की भाँति केन्ज का भी यह विचार था कि अन्य बातों के पूर्ववत् रहने पर रोजगार विलोम रूप म वास्तविक मजदूरी दर के अनुसार बदलता है (other things being equal, employment varies inversely with real wages)। दूसरे शब्दों में, श्रमिकों की माँग उनकी वास्तविक मजदूरी दर पर निर्भर करती है, अर्थात् यदि वास्तविक मजदूरी दर कम हो जाय तो श्रमिकों की माँग बढ जाती है और वास्तविक मजदूरी बढ जाने पर उनकी माँग कम हो जाती है। किन्तु केन्ज पुराने अर्थशास्त्रियों के विचार के विपरीत है, यह मानता था कि जब समूची अर्थ-व्यवस्था में, नकद मजदूरी को कम कर दिया जाय तो इससे वास्तविक मजदूरी कम नहीं होगी और इसलिए रोजगार नहीं बढेगा। केन्ज का यह मत था कि जब भी नकद मजदूरी को कम किया जाएगा, तो सामान्यतया इससे अर्थव्यवस्था का समस्त व्यय, मांग तथा कीमतें उसी अनुपात में गिर जायेंगी जिससे वास्तविक मज-दूरी दर में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। जब तक वास्त-विक मजदूरी न गिरे, रोजगार नहीं बढ़ाया जा सकता।

केन्ज के रोजगार सिद्धान्त के अनुसार देश में रोजगार का स्तर समस्त समर्थ मांग (aggregate effective demand) पर निर्भर करता है। अत. केन्ज के विश्लेषण की महत्वपूर्ण बात यह है कि रोज-गार बढ़ाने के लिए यह आवश्यक है कि नकद मजदूरी को स्थिर रखते हुए अर्थव्यवस्था की समस्त मांग

(aggregate demand) को किसी प्रकार बढाया जाए। अब प्रश्न यह उठता है कि समस्त माँग को कैसे बढाया जाय और मजदूरी भी स्थिर रहे। इसका उत्तर केन्ज ने यह दिया कि उचित मुद्रा नीति तथा राजकोषीय नीति (Monetary and Fiscal Policy) द्वारा समस्त माँग मे वृद्धि की जा सकती है और सामूहिक सौदाकारी द्वारा नकद मजदूरी को स्थिर रखा जा सकता है।

नकद मजदूरी को स्थिर रखते हुए जब समस्त माँग मे वृद्धि की जायगी, तो सामान्यतया वास्तविक मजदूरी दर कम हो जायेगी, जिससे रोजगार बढ जायगा। वास्तविक मजदूरी दर कम क्यो हो जायेगी, इसके लिए केन्ज का तर्क यह था कि चूकि अल्पकाल मे उत्पादन का सगठन साजसज्जा तथा तकनीक (organisation, equipment and technique) प्राय नही बदलती, अत जब उत्पादन तथा रोजगार बढाया जायेगा तो उत्पादन की सीमान्त लागत बढ जायगी जिससे कीमते भी बढ जायेगी और कीमतो म वृद्धि होने के कारण वास्तविक मजदूरी कम हो जायेगी। ध्यान देने योग्य इस तर्क मे बात यह है कि वास्तविक मजदूरी म कमी रोजगार बढाने के कारण होगी न कि वास्तविक मजदूरी के कम होने से रोजगार मे विस्तार होगा (The cut in real wages would come about through the increase in employment, not the other way round)। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो का तर्क इसके बिल्कुल विपरीत था।

केन्ज के मतानुसार श्रमिक लोग समस्त माँग की वृद्धि के फलस्वरूप हुई वास्तविक मजदूरी दर की परोक्ष कमी को तो बिना बहुत विरोध के सहन कर लेते है किन्तु यदि प्रत्यक्ष रूप से उनकी नकद मजदूरी को कम किया जाए तो वे प्राय इसका जोरदार विरोध करते है अर्थात् केन्ज के विचार मे श्रमिक धन सम्बन्धी भ्रम (money illusion) का शिकार होते है। अत व्यावहारिक दृष्टि से रोजगार को बढाने का केन्ज द्वारा बताया गया उपाय (अर्थात् समस्त माँग मे वृद्धि) नकद मजदूरी को घटाने वाले उपाय की तुलना मे श्रेष्ठतर है। अपने इस विचार के पक्ष मे केन्ज ने कई तर्क दिए, उदाहरणत वास्तविक मजदूरी मे परोक्ष रूप मे कमी आ जाने के लिए श्रमिक अपने मिल मालिक को दोषी नही समझते, परन्तु नकद मजदूरी के घटाए जाने पर सारा दोष वे अपने मिल मालिक को देते है। कई बार श्रमिको ने ऋण आदि लिए होते है जिनका भुगतान उन्हें चूकि मुद्रा मे करना होता है इसलिए नकद मजदूरी कम हो जाने पर उनका भार बढ जाता है। यदि नकद मजदूरी कम हो जाने पर कीमतें उसी अनुपात मे गिर भी जाएँ तो भी श्रमिक सन्तुष्ट नही होते, क्योकि उन्हे यह आशका होती है कि कीमतें अपने पुराने स्तर पर पुन लौट आयेगी। इस बात को कि कीमतो के गिरने पर निर्वाह खर्च भी गिरता है श्रमिक कम ही समझ पाते है। वे तो इस बात का रोना अधिक रोते है कि उनकी नकद मजदूरी प्रत्यक्ष रूप मे कम कर दी गई है।

केन्ज के विचार म नकद मजदूरी कम करने से रोजगार की मात्रा पर क्या प्रभाव पडता है यह जानने के लिए नकद मजदूरी के गिरने पर इसके परिणामस्वरूप रोजगार तथा आय के मुख्य निर्धारक तत्वो पर क्या प्रभाव पडता है को देखना होता है। चूकि रोजगार के मुख्य निर्धारक तत्वो पर नकद मजदूरी की कमी प्राय अहितकर (unfavourable) प्रभाव डालती है इसलिए ऐसा करने से रोजगार मे वृद्धि होने की आशा नही करनी चाहिए। हाँ, यदि किन्ही कारणोवश ऐसी स्थिति हो जाय जिसमे नकद मजदूरी की कमी से इन निर्धारक तत्वो पर अनुकूल प्रभाव पडे तो बात और है। किन्तु ऐसी अनुकूल दशाएँ बहुत कम देखने मे आती है।

अब हम सम्पूर्ण अथव्यवस्था मे नकद मजदूरी के घटाने का रोजगार के मुख्य निर्धारक तत्वो पर जो प्रभाव पडता है, उसका विश्लेषण करेंगे। हम पूर्व अध्यायो मे देख आए है कि रोजगार समस्त समर्थ माँग पर निर्भर करता है जिसके तीन मुख्य निर्धारक ये है (क) उपभोग प्रवृत्ति, (ख) पूँजी की सीमान्त उत्पादकता, और (ग) ब्याज दर। अब इनको क्रमश लीजिए।

(क) नकद मजदूरी को घटाने का उपभोग प्रवृत्ति पर प्रभाव (A General Cut in Money Wages and the Propensity to Consume)—सामान्यत यह प्रभाव अनुकूल तो कम होगा प्रतिकूल अधिक। ऐसा क्यो ? मजदूरी दर घटाने पर श्रमिक वग की आय कम हो जायेगी और अन्य वर्गों की विशेषतया जिन्हे स्थिर नकद आय होती है (rentier class)[1] उनकी आय पूर्ववत बनी रहेगी। इसका परिणाम यह होगा कि राष्ट्रीय आय का वितरण पहले से अधिक असमान अथवा विषम हो जायेगा। आय के इस पुन वितरण (redistribution of income) म (जिसम आय अधिक उपभोग प्रवृत्ति वाले वर्गों म अधिक बचत करने वाले वर्गों अर्थात् कम उपभोग प्रवृत्ति वाल वर्गों के हाथ चली जाती है) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की औसत उपभोग प्रवृत्ति कम हो जायगी।

नकद मजदूरी के कम हो जाने का उपभोग प्रवृत्ति पर एक और प्रकार से भी प्रभाव पडेगा जो इस पहल की अपेक्षा बढा देगा। केन्ज ने इसकी ओर सर्वथा ध्यान न दिया परन्तु प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र (Classical Economics) के प्रमुख समर्थक प्रोफेसर पिगू (Pigou) न इस प्रभाव की ओर ध्यान दिलाया और इसे बडा महत्व प्रदान किया। अत इसे उसके नाम पर पिगू प्रभाव (Pigou Effect) कहते हैं। लोगो के पास प्राय कई प्रकार की मुद्रा परिसम्पत्तियाँ (money assets) होती है जैसे बैंक-जमा (bank deposits), सरकारी प्रतिभूतियाँ या ऋण पत्र (Government Securities) सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था म नकद मजदूरी कम करने पर प्राय कीमतें भी गिर जाती है अर्थात् मुद्रा का मूल्य बढ जाता है। ऐसा होने पर मुद्रा परिसम्पत्तियो की मात्रा भले ही उतनी रहे उनका वास्तविक मूल्य (real value) बढ जाता है। अत इन मुद्रा परिसम्पत्तियो के स्वामी अपने आपको पहले से अधिक धनी महसूस करते है जिसम उनकी उपभोग प्रवृत्ति पहले से बढ जायगी (According to Pigou the real value of money assets rises as a result of fall in money wages and price This rise in the real value of money assets tends to shift the consumption function upwards)। अत पिगू प्रभाव मुद्रा परिसम्पत्तियो के वास्तविक मूल्य म परिवतन (Change in Real Value of Money Assets) के प्रभाव को व्यक्त करता है। इसे वास्तविक बैलेन्स प्रभाव (Real Balance Effect) भी कहते है।

अब हम देखना है कि उपभोग प्रवृत्ति पर नकद मजदूरी तथा कीमतो के गिरने से हुए आय के पुन विभाजन का या मुद्रा परिसम्पत्तियो के वास्तविक मूल्य म बढ जाने का प्रभाव बलवान है। अधिकांश अर्थशास्त्रियो का मत यह है कि केन्ज द्वारा बताया गया प्रतिकूल (unfavourable) प्रभाव पिगू द्वारा बताये गए अनुकूल (favourable) प्रभाव से कही अधिक बलवान है[1] जिससे हम इस परिणाम पर पहुचते है कि नकद मजदूरी को कम करने से उपभोग प्रवृत्ति कम होती है और ऐसा होने म अर्थव्यवस्था की समस्त माँग कम हो जाएगी और फलत रोजगार म वृद्धि होने की आशा नही की जा सकती।

(ख) नकद मजदूरी को घटाने का पूँजी की सीमान्त उत्पादकता पर प्रभाव (A General Cut in Money Wages and the Marginal Efficiency of Capital) —यदि नकद मजदूरी को घटाने से पूँजी की सीमान्त उत्पादकता बढ जाय तो निवेश

1 जैसे वे लोग जिन्होंने सरकारी प्रतिभूतियाँ (securities) तथा बाण्ड खरीदे हुए होंगे तथा जिनके पास निश्चित ब्याज दर वाले शेयर आदि होंगे या जिन्होंने निश्चित ब्याज दर पर ऋण दे रखे होंगे, उनकी आय मुद्रा में निश्चित होने के कारण पूर्ववत् रहेगी।

1 आज के अर्थशास्त्रियो का यह विचार है कि पिगू प्रभाव से अर्थव्यवस्था की उपभोग प्रवृत्ति विशेष नही बढती। ऐसा क्यो ? एक कारण तो वे यह बताते हैं कि देश के अधिकांश लोगो के पास तो मुद्रा परिसम्पत्तियाँ (money assets) होती ही नहीं। अत उनके लिए तो पिगू प्रभाव होने का प्रश्न ही नही उठता शेष रहे वे लोग जिनके पास मुद्रा परिसम्पत्तियाँ होती हैं। उनके विषय में देखना है कि क्या कीमत गिरने पर सचमुच उनकी उपभोग प्रवृत्ति बढ जाएगी ? विश्वास से यह बात नही कही जा सकती कि उनकी उपभोग प्रवृत्ति बढेगी। प्राय देखने म आता है कि जिन लोगो के मुद्रा-परिसम्पत्तियाँ एकत्रित की होती हैं उनकी संग्रह करने की तृष्णा और भी बढती जाती है।

को प्रोत्साहन मिलेगा जिससे रोजगार बढ जायगा और बेरोजगारी कम हो जायगी। परन्तु इसके विपरीत यदि नकद मजदूरी कम करने के फलस्वरूप पूँजी की सीमान्त उत्पादकता भी कम हो जाय तो उद्यमी *न केवल नया निवेश करने मे हतोत्साहित होंगे वरन अपने पहले व्यवसाय को भी कम करने की चेष्टा करेंगे* और इसका परिणाम यह होगा कि रोजगार भी कम हो जायगा।

नकद मजदूरी कम करने का पूँजी की सीमान्त *उत्पादकता पर अधिकतम अनुकूल प्रभाव तब हो* सकता है जब उद्यमियो का यह विचार हो कि नकद मजदूरी जितनी गिरनी थी गिर चुकी है और अब इससे अधिक नही गिरेगी। ऐसी अवस्था मे मजदूरी दर कम होने के कारण वे अपना कारोबार बढायेंगे जिससे रोजगार भी बढेगा। इसके विपरीत अधिकतम *प्रतिकूल स्थिति तब होगी जब उद्यमियो का विचार यह होगा कि नकद मजदूरी गिरी तो है परन्तु अभी* और भी गिरेगी। ऐसी दशा म उद्यमी अपनी योजनाओ को स्थगित कर देंगे जिससे रोजगार बढने के स्थान पर पहले से भी कम हो जाएगा। अब प्रश्न यह है कि इन दो स्थितियो मे से कौन सी स्थिति की अधिक सम्भावना है। अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि जिस *अर्थव्यवस्था मे मजदूरी श्रमिको तथा नियोक्ताओ की खुली प्रतियोगिता द्वारा* निर्धारित होती है वहाँ अधिक सम्भावना इस बात की है कि जब मजदूरी एक बार कम कर दी गई है तो यह और भी कम हो सकती है। इस प्रकार की कोई गारण्टी नही कि वह और अधिक नही गिरेगी। अत प्रतिकूल प्रभाव होना ही अधिक सभावित है।

नकद मजदूरी कम करने के फलस्वरूप पूँजी की सीमान्त उत्पादकता पर प्रतिकूल प्रभाव पडने की सम्भावना एक और कारण से भी अधिक हो जाती है। पूँजी की *सीमान्त उत्पादकता लाभ की आशसा (expectation of profits)* पर निर्भर करती है। पर जब नियोक्ता श्रमिकों की नकद मजदूरी कम करेंगे तो श्रमिक इसका प्रबल विरोध करेंगे हडताल कर देंगे और नियोक्ताओ तथा श्रमिको के बीच एक संघर्ष प्रारम्भ हो जायगा जिसके कारण देश भर मे औद्योगिक झगडे (industrial disputes) फैल जायेंगे। इस दूषित वातावरण मे लाभ की आशसा तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता गिर जाने की अधिक सम्भावना है।

उद्यमियो की लाभ की आशसा एक और कारण से कम होने की सम्भावना होती है जिससे पूँजी की सीमान्त उत्पादकता भी गिरेगी। वह यह है कि नकद मजदूरी कम होने से कीमतें गिरेंगी और उससे ऋण *का भार पहले से बढ जायेगा। यह सर्वविदित है कि* काम धन्धे अधिकतर उधार ली गयी राशि से चलते हैं। अत मजदूरी मे कमी के फलस्वरूप कीमते गिरने से ऋण का भार अधिक हो जायेगा और उद्यमियो को हतोत्साहित करेगा। सरकारी ऋण (public debt) का भार भी बढ जायेगा। अत इसे उठाने *के लिए सरकार को कई नये कर लगाने पडेंगे या पुराने करो की दर बढानी होगी। ऐसा होने से भी* उद्यमियो की लाभ की आशसा को धक्का पहुँचेगा जिसका निवेश पर भारी प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। किन्तु निर्यात उद्योगो मे लाभ की आशसा बढ जायगी क्योंकि नकद मजदूरी घटने से निर्यात वस्तुओ की लागत या कीमत कम हो जायेगी और ये उद्योग अब *पहले से अधिक निर्यात कर सकेंगे जिससे उनमे रोज* गार बढ जायगा परन्तु हमे यह देखना होगा कि ऐसा हो जाने पर क्या अन्य देश इन निर्यातो की प्रतियोगिता करने अथवा उन्हे हतोत्साहित करने के अभिप्राय से कोई प्रतिकूल कदम तो नही उठाते।

(ग) नकद मजदूरी को घटाने का ब्याज दर पर प्रभाव (General Cut in Wages and the Rate of Interest)—केन्ज ने इसका विश्लेषण बड़ी सूक्ष्म रीति से किया है। उनका तर्क यो है। नकद मजदूरी *गिरने से सामान्य कीमतें कम हो जायेंगी।* इसके परिणामस्वरूप देश मे क्रय विक्रय को सम्पन्न करने के लिए पहले से कम मुद्रा की आवश्यकता पडेगी। अब यदि देश की मुद्रा मात्रा पूर्ववत् रहे, तो मुद्रा की क्रय विक्रय के लिए माँग (transaction motive demand for money) कम हो जाने पर शेष मुद्रा

की मात्रा उसकी वर्तमान सट्टा माँग (speculative demand for money) से अधिक होगी। अत ब्याज दर कम हो जायेगी और ब्याज दर गिरने से निवेश प्रोत्साहित होगा तथा रोजगार बढ़ेगा।

नक्द मजदूरी के गिरने से लेकर ब्याज दर के गिरने और निवेश तथा रोजगार मे वृद्धि होने वाले केन्ज द्वारा प्रस्तुत सारे इस अनुक्रम (sequence) को अर्थशास्त्रियो ने केन्ज प्रभाव (Keynes Effect) की सज्ञा दी है। सामान्यतया नक्द मजदूरी जितनी अधिक गिरेगी, उतनी अधिक कीमतें गिरेंगी और उतनी अधिक मात्रा मे मुद्रा क्रय-विक्रय प्रयोजन से मुक्त होगी और उतनी ही अधिक ब्याज-दर गिरेगी। परन्तु केन्ज प्रभाव (Keynes Effect) के विषय में तीन बातें विशेषतया ध्यान देने योग्य है (i) एक तो यह है कि ब्याज दर मे कमी आना केवल इस पर ही निर्भर नही करता कि मुद्रा की कितनी मात्रा क्रय-विक्रय प्रयोजन (transactions motive) से मुक्त हुई है, वरन् इस पर भी कि नक्दी अधिमान-वक्र की आकृति कैसी है, अर्थात् मुद्रा की सट्टा माँग उस स्तर पर ब्याज-सापेक्ष (interest-elastic) है अथवा ब्याज-निरपेक्ष (interest inelastic)। हो सकता है कि कीमतो मे कमी होने पर क्रय-विक्रय प्रयोजन के लिए अब बहुत कम मुद्रा चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि कुल मुद्रा के पूर्ववत् बने रहने पर सट्टा प्रयोजन के लिए अब पहले से बहुत अधिक मुद्रा बची रहेगी और सामान्यतया ऐसा होने पर ब्याज दर भी पर्याप्त गिरनी चाहिए परन्तु इस समय लोगो मे नक्दी अधिमान इतना अधिक है कि सट्टा-प्रयोजन के लिए मुद्रा-मात्रा बहुत बढ़ जाने पर भी ब्याज-दर कम नही होती। लोग अब ब्याज-दर के थोड़ा-सा गिरने पर सट्टा प्रयोजन के लिए पहले से बहुत अधिक मुद्रा-मात्रा की माँग करते है। हाँ, यदि मुद्रा की सट्टा प्रयोजन माँग ब्याज निरपेक्ष (interest-inelastic) होती है तो ज्योही सट्टा प्रयोजन के लिए मुद्रा मात्रा बढ़ी थी, ब्याज दर बहुत गिर जाती।

(ii) केन्ज प्रभाव के सम्बन्ध मे दूसरी देखने योग्य बात यह है कि नक्द मजदूरी तथा कीमतो के गिरने के फलस्वरूप ब्याज-दर भले ही गिर भी बहुत अधिक जाये किन्तु यदि उस समय नकद मजदूरी के गिरने का उद्यमियो के लाभ की आशंसा पर प्रभाव किसी कारण से प्रतिकूल पड़े तो भी निवेश प्रोत्साहित नही होगा और रोजगार नही बढ़ेगा।

(iii) केन्ज प्रभाव के विषय मे तीसरी और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि नक्द मजदूरी घटाने का यह प्रभाव मुद्रा क्षेत्र के मार्ग से होता है (Keynes Effect takes place through the monetary route)। दूसरे शब्दो मे, रोजगार मे वृद्धि ब्याज-दर के घटने से होती है। परन्तु ब्याज-दर को मुद्रा नीति द्वारा भी घटाया जा सकता है। उदाहरणतया यदि देश का केन्द्रीय बैंक उचित कदम उठा कर मुद्रा मात्रा को बढ़ा दे तो भी वही परिणाम निकलेगा जो नक्द मजदूरी को घटाने से केन्ज प्रभाव के अनुसार निकलता है। अन्य शब्दो मे, रोजगार बढ़ाने के लिए चाहे तो हम नक्द मजदूरी गिराने के उपाय को अपना ले और चाहे तो हम मुद्रा का परिमाण बढ़ाने की नीति को ये दोनो उपाय विश्लेषण की दृष्टि से एक दूसरे के विकल्प है, अर्थात् एक दूसरे का स्थान ले सकते है।

अब यदि ये दो नीतियाँ विश्लेषण की दृष्टि से एक ही है तो हमे देखना चाहिए कि व्यावहारिक दृष्टि से इनमे से कौन सी नीति अपेक्षत अधिक सुविधा-जनक या कम कष्टमय है। केन्ज ने यह प्रश्न उठाया और उसने यह सिद्ध किया कि नक्द मजदूरी घटाने वाले तरीके मे कई इतनी बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ है जो मुद्रा-नीति वाले तरीके अपनाने मे नही उठती। अत केन्ज इस परिणाम पर पहुँचा कि केवल कोई मूर्ख मनुष्य ही मजदूरी दर बदलने वाली नीति को मुद्रा-नीति से बेहतर समझ कर अपनायेगा (In Keynes's words, only a 'foolish person would prefer a flexible wage policy to a flexible money policy')। उनका उल्लेख हम पहले भी अन्य प्रसगो

में कर भाए है। सबसे भारी कठिनाई तो यह है कि श्रमिक नकद मजदूरी के कम किए जाने का कटु विरोध करेंगे देश भर में औद्योगिक झगड़े, हड़तालें तथा तालाबन्दियाँ हो जाने की बड़ी आशंका होगी जिससे वातावरण दूषित होने के अतिरिक्त उत्पादन में भारी क्षति होगी और आय तथा रोजगार दोनों बढ़ने के स्थान पर उल्टा कम हो जायेंगे। इसके विपरीत केन्द्रीय बैंक देश में बिना बहुत कठिनाई के मुद्रा की मात्रा को बढ़ा कर ब्याज दर को कम कर सकता है और रोजगार बढ़ाने वाले उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है। मुद्रा नीति अपनाने में उन सभी अहितकर परिणामों से भी अर्थव्यवस्था बची रहेगी जो कि नकद मजदूरी को घटाने में निकलते हैं।

केन्ज के मजदूरी-रोजगार सम्बन्ध में आधुनिक अर्थशास्त्रियों के कुछ संशोधन

(Some Improvements made by Modern Economists in Keynes's Wage Employment Relationship)

आजकल के अर्थशास्त्री इस विषय में केन्ज के विश्लेषण को पर्याप्त रूप में सही मानते हैं, अतः हम कह सकते हैं कि इस विषय में केन्ज द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त ही आधुनिक सिद्धांत है। किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री केन्ज के विश्लेषण के एक भाग से *पूर्णतया सहमत नहीं*। उसमें उन्होंने अपने तर्क द्वारा संशोधन किया है जिसका उल्लेख करना आवश्यक है। हम पहले देख आए हैं कि केन्ज के अनुसार वास्तविक मजदूरी दर में कमी हो *जाना रोजगार बढ़ने की एक आवश्यक शर्त है*। केन्ज का इस सम्बन्ध में तर्क यों था नकद मजदूरी को स्थिर रखते हुए जब समस्त माँग में वृद्धि की जायेगी तो उत्पादन तथा रोजगार बढ़ेंगे और चूँकि *अल्पकाल में उत्पादन का संगठन, यन्त्र-मशीनरी* तथा तकनीक नहीं बदलती, अतः उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost) बढ़ जायेगी और फलतः कीमतें चढ़ जायेंगी। किन्तु ऐसी दशा में *नकद मजदूरी* स्थिर रहने का अर्थ यह है कि असल मजदूरी कम हो जायेगी। परन्तु आज के अर्थशास्त्री यह नहीं मानते कि समस्त माँग को बढ़ा कर जब रोजगार बढ़ाया जाए तो असल मजदूरी दर में *कमी होना* अनिवार्य है। उनका अपने इस कथन के पक्ष में अथवा केन्ज के मत के विरुद्ध निम्न तर्क है —

(i) उत्पादक अपनी उत्पादित वस्तुओं की कीमत प्रायः अपनी कुल औसत लागत के आधार पर निश्चित करते हैं *न कि सीमान्त लागत* पर (On fixing prices of their products producers usually follow 'full cost' pricing policy rather than fixing them on the basis of marginal costs)। जब कुल लागत पर कीमत निर्धारण किया जाये, तो उत्पादन बढ़ने पर कुछ देर के लिए उत्पादन की कुल प्रति इकाई लागत कम हो जाती है, चाहे सीमान्त लागत बढ़ भी क्यों न रही हो और यह प्रति *इकाई लागत तब तक कम होती जाती है जब तक* कि सीमान्त लागत बढ़ते बढ़ते कुल प्रति इकाई लागत से अधिक नहीं हो जाती (On a full cost pricing policy, prices can be lowered as output expands up to a point at which rising marginal cost finally rises above the unit cost of production)। यदि ऐसी अवस्था को पहुँचने से पहले ही उत्पादन में काफी वृद्धि हो जाय तो इसका यह अर्थ होगा कि उत्पादन तथा रोजगार न केवल कीमतों में वृद्धि हुए बिना ही वरन् कीमतों को वास्तव में कम करके बढ़ाये जा सके हैं।

(ii) केन्ज ने यह मान्यता की कि अल्पकाल में *उत्पादन के संगठन, यन्त्र, मशीनरी तथा तकनीक में* कोई सुधार नहीं होता जिससे उत्पादन लागत अल्पकाल में अवश्य बढ़ेगी और इसके स्थिर रहने या कम होने का प्रश्न ही नहीं उठता परन्तु हम जानते हैं कि *उत्पादन क्षेत्र में तकनीकी तथा अन्य* सुधार निरन्तर होते रहते हैं जिससे *सीमान्त लागत* की बढ़ने की प्रवृत्ति निष्फल हो जाती है।

(iii) आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत यह है कि *सीमान्त लागतों का वक्र* उत्पादन की कई मात्राओं पर लगभग चपटा ही रहता है। यह मत भी केन्ज के मत के विपरीत है क्योंकि केन्ज का यह विचार था कि सीमान्त लागत वक्र उत्पादन को थोड़ा सा भी बढ़ाने

पर ऊपर को बढ जाता है। यदि आधुनिक अर्थशास्त्रियों का विचार सही है तो इसका यह अर्थ निकलता है कि रोजगार तथा उत्पादन के बढने पर यह आवश्यक नही कि उत्पादन लागतें बढें जिससे कीमत बढे और वास्तविक मजदूरी दर कम हो जाय। आधुनिक अर्थशास्त्रियो का यह मत इस बात पर अवलम्बित नही कि अल्पकाल म भी तकनीकी सुधार होते रहते है। इन सुधारा क सम्भव न होने पर भी उनका विचार है कि सीमान्त लागत वक्र काफी समय तक लगभग चपटा रहता है। किन्तु यदि हम मान लें कि अल्पकाल म तकनीकी सुधार निरन्तर होते रहते हैं (और यह वास्तविकता भी है) तो यह भी सम्भव है कि उत्पादन बढने पर सीमान्त लागत कम हो जिससे वास्तविक मजदूरी कम होने के स्थान पर उल्टा बढ जाये।

अत मजदूरी-रोजगार के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे आधुनिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो तथा केन्ज के इस मत को सही नही मानता कि रोजगार तथा वास्तविक मजदूरी दर मे अवश्य विलोम सम्बन्ध है (inverse relationship between real wage rates and empolyment)। दूसरे शब्दो मे, आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार यह आवश्यक नही कि समस्त माँग बढाने से रोजगार तथा उत्पादन बढने पर कीमतें बढें और वास्तविक मजदूरी दर गिरे और श्रमिक वर्ग का जीवन-स्तर अवश्य गिरे। स्पष्ट है कि आधुनिक सिद्धान्त इस बात मे अधिक आशावादी है।

इस ऊपर समझाये गए मतभेद के अतिरिक्त केन्ज के शेष विश्लेषण के साथ आधुनिक अर्थशास्त्री पूर्णतया सहमत हैं। यही कारण है कि इसे मजदूरी तथा रोजगार के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय मे आधुनिक सिद्धान्त भी कहा जाता है।

निष्कर्ष (Conclusion)

केन्ज के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार रोजगार मुख्यतया अर्थव्यवस्था की समस्त माँग पर निर्भर करता है। अत नकद मजदूरी दर गिराने मात्र से रोजगार नही बढ सकता। हमे यह देखना होगा कि नकद मजदूरी दर कम करने का समस्त माँग पर क्या प्रभाव पडता है—क्या यह ऐसा करने से बढती है या घटती है। चूँकि समस्त माँग उपभोग-माँग तथा निवेश-माँग का जोड होती है, अत हमे देखना है कि मजदूरी दर कम करने से उपभोग-प्रवृत्ति तथा निवेश मे क्या परिवर्तन आते हैं। निवेश मुख्यतया उद्यमियो के लाभ की आशाआ (expectations of profits) तथा ब्याज-दर से निर्धारित होता है, अत अति महत्त्व की जो बात हम देखनी है वह यह है कि नकद मजदूरी कम करने से इन दोनो निवेश कारणो पर कैसा प्रभाव पडता है। क्या ये सभी प्रभाव (उपभोग प्रवृत्ति पर और लाभ की आशासा तथा ब्याज-दर पर) रोजगार के लिए अनुकूल होंगे या प्रतिकूल, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता वरन् उस समय की स्थितियो पर निर्भर करेगा। हाँ, केन्ज के मतानुसार अधिकतर सम्भावना यह है कि ये प्रभाव अनुकूल होंगे। विश्लेषण की दृष्टि से भले ही ये प्रभाव अनुकूल हो, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्राय सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था मे नकद मजदूरी गिराने पर रोजगार बढने की बजाय घटता है। इसके अतिरिक्त, नकद मजदूरी गिराने में अर्थव्यवस्था मे जो परिणाम निकलने की आशा की जा सकती है, वही परिणाम उचित मुद्रा नीति अपना कर भी लाये जा सकते हैं। अत मुद्रा नीति द्वारा रोजगार बढाना ही अधिक सुविधाजनक होगा और जो विकट समस्याएँ नकद मजदूरी घटाने से उत्पन्न होती हैं, उनसे बचा जा सकता है।

55

व्यापारिक चक्र सिद्धान्त
(THEORY OF TRADE CYCLES)

उन्नत देशो जैसे सयुक्त राज्य अमेरिका व ग्रेट ब्रिटेन ने गत दो शताब्दियो मे महान् आर्थिक उन्नति की है परन्तु यह आर्थिक उन्नति आर्थिक उतार-चढ़ाव के साथ सम्पन्न हुई है। इन देशो मे आर्थिक विकास के कारण कुल राष्ट्रीय आय (Gross National Product) मे दीर्घकालीन प्रवृत्ति (long-run trend) तो ऊपर जाने को रही है परन्तु विभिन्न वर्षों मे कुल राष्ट्रीय आय कभी ऊपर और कभी नीचे होती रही है। व्यापारिक चक्र (trade cycles) अथवा आर्थिक उतार-चढ़ाव (economic fluctuations) से हमारा अभिप्राय उत्पादन, आय, रोजगार व कीमतो मे अल्पकालीन घट-बढ़ होने से है। कुछ वर्ष तो उत्पादन, आय तथा रोजगार बढते जाते हैं और कुछ वर्ष उत्पादन, आय तथा रोजगार घटते जाते हैं। इन उतार-चढ़ावो की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि ये एक विशेष क्रम के साथ तथा नियमानुसार (regular) रूप से होते हैं।

ऊँची आय, अधिक उत्पादन तथा अधिक रोजगार के काल को समृद्धि का काल (period of prosperity) कहा जाता है और कम आय, कम उत्पादन तथा कम रोजगार के काल को मन्दी का काल (period of depression) कहा जाता है। पूँजीवादी देशो का आर्थिक इतिहास यह बतलाता है कि आर्थिक समृद्धि के काल के बाद मन्दी का काल और मन्दी के काल के बाद समृद्धि का काल लगातार एक दूसरे के बाद आते रहते हैं। इन एक दूसरे के बाद आने वाली समृद्धि व मन्दी की अवस्थाओं को व्यापारिक चक्र अथवा व्यवसाय-चक्र कहते हैं (The alternating periods of prosperity and depression have been called trade cycles or business cycles)।

ऊपर से स्पष्ट है कि व्यापारिक चक्र से अभिप्राय आर्थिक क्रिया के स्तर मे उतार-चढ़ाव होना है। विभिन्न व्यापारिक चक्र एक दूसरे से कई प्रकार से भिन्न होते हैं, परन्तु सभी की चार सामान्य अवस्थाएँ (common phases) होती हैं। इन्हें तेजी (Boom), सुस्ती (Recession), मन्दी (Depression), और समुत्थान (Recovery) कहते हैं। इन सामान्य अवस्थाओ के बावजूद विभिन्न व्यापारिक चक्र एक दूसरे से समय-अवधि (duration) तथा तीव्रता (intensity) मे काफी भिन्न होते हैं। सामान्य बडे व्यापारिक चक्र औसत आठ या नौ वर्ष की समय-अवधि के होते हैं,

लेकिन कई व्यापारिक चक्र तीन छः वर्ष तक के छोटे और कई बारह वर्ष तक के बड़े भी होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न चक्र तीव्रता की दृष्टि से भी एक दूसरे से काफी भिन्न होते हैं, उदाहरण के तौर पर 1929 और 1933 के बीच के वर्षों में जो महान् मन्दी आई, उसमें राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार पर प्रभाव में पहली की मन्दियों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रभाव पड़ा।

अब हम नीचे आर्थिक उतार-चढ़ाव या व्यापारिक चक्रों के कारणों के सम्बन्ध में विभिन्न सिद्धान्तों की विवेचना करेंगे जिसमें यह पता चलेगा कि व्यापारिक चक्र क्यों होते हैं।

व्यापारिक चक्र के प्राचीन सिद्धान्त (Old Theories of Trade Cycle)

व्यापारिक चक्र के पुराने सिद्धान्त (Old Theories of Trade Cycle)—व्यापारिक चक्र के सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों ने समय-समय पर कई सिद्धान्त बताए हैं। ये सिद्धान्त मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं

(i) बाह्य सिद्धान्त (External Theories)

(ii) आन्तरिक सिद्धान्त (Internal Theories)

बाह्य सिद्धान्त (External Theories)—कई अर्थशास्त्रियों का विचार है कि व्यापारिक चक्र बाह्य कारणों से प्रभावित होते हैं। महत्त्वपूर्ण बाह्य कारण ये हैं सूर्य के धब्बे (sun spots), युद्ध, जनसंख्या में वृद्धि, नए आविष्कार, राजनीतिक घटनाएँ आदि। उदाहरण-स्वरूप स्टैन्ले जेवन्स (Stanley Jevons) जो कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का एक प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्री हुआ है, के मतानुसार युद्धकाल के पश्चात् सूर्य के धरातल पर काले-काले धब्बे पड़ जाते हैं, जिनके परिणामस्वरूप वर्षा होती है और इसका कृषि-उपज पर प्रभाव पड़ता है, जिससे व्यापार भी प्रभावित होता है। किन्तु इन धब्बों से कृषि-उपज खराब भी तो हो सकती है। उपज कम हो और कीमतें बहुत चढ़ जाएँ, तो अर्थव्यवस्था को बहुत क्षति पहुँचती है। इस सिद्धान्त से यह नहीं ज्ञात होता कि व्यापार में खराबी, क्या अच्छी उपज किन्तु कम कीमतों से अथवा खराब फसलें किन्तु ऊँची कीमतें होने से आती है। ऊपर दिये बाह्य कारण अर्थ प्रणाली पर चोट तो अवश्य लगाते हैं किन्तु अपने आप व्यापारिक चक्र की गति निर्धारित नहीं कर सकते। खराबी तो अर्थव्यवस्था की अपनी कार्यप्रणाली में ही उत्पन्न होती है। युद्ध छिड़ जाए तो निवेश बढ़ जाता है और वस्तुओं (विशेषकर युद्ध से सम्बन्धित वस्तुओं) का उत्पादन तो बहुत ही बढ़ जाता है किन्तु युद्ध जैसे बाह्य तत्त्व इस बात की व्याख्या नहीं करते कि व्यापार में उतार चढ़ाव इतने नियमित रूप से क्यों आते हैं।

व्यापारिक चक्र के उतार चढ़ाव तो आन्तरिक कारणों (internal causes) से ज्ञात होता है। इसलिए आन्तरिक सिद्धान्तों (Internal theories) की बहुत से अर्थशास्त्रियों ने व्याख्या की है। उनका विचार है कि व्यापारिक उतार-चढ़ाव का ज्ञान अर्थव्यवस्था की आन्तरिक कार्यप्रणाली से होता है। ऐसे बहुत से सिद्धान्त बताए गए हैं पर यहाँ हम ऐसे चार *मुख्य सिद्धान्तों की व्याख्या करेंगे।*

1 मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Psychological Theory)—व्यापारिक चक्रों की व्याख्या करने के लिए कुछ अर्थशास्त्री मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का आश्रय लेते हैं। उनका विचार है कि जब व्यापारी तथा उद्यमी कुछ उत्साह-युक्त तथा आशावान् होते हैं और अधिक लाभ की आशा होती है तो वे उदारतापूर्वक व्यय करते हैं। उपभोक्ता भी अधिक वस्तुएँ खरीदने लगते हैं। किन्तु भविष्य में उनकी कीमतें चढ़ जाती होती है। व्यापार ऊपर को चल पड़ता है। किन्तु जब किसी-न किसी की आशा पूरी नहीं होती तो उसके निराश होने से अन्य भी बहुत से व्यापारी निराश हो जाते हैं (Just as optimism is catching, pessimism is infectious Expectations are cumulative and reinforcing, both upward and downward)। लोग कई बार बिना विशेष कारण के ही बड़े प्रसन्न दिखाई देते हैं तथा कई बार बिना

कारण ही निराश हो बैठते हैं। यह केवल मानसिक वृत्ति है। इससे ही व्यापार मे उतार-चढाव आ जाता है। इस सिद्धान्त से यह ज्ञात नही होता कि आशा तथा निराशा किन बातो पर आधारित है। अत यह सिद्धान्त व्यापारिक चक्र की पूर्ण व्याख्या नही करता।

2 मुद्रा सिद्धान्त (Monetary Theory)—कुछ लेखक यह मानते हैं कि व्यापारिक चक्र जलवायु सम्बन्धी तत्त्वो या मानव प्रकृति की विशेषताओ पर निर्भर नही होता। उनके विचार से व्यापारिक चक्र केवल आर्थिक सगठन—बैंकिंग और साख व्यवस्था पर ही निर्भर करता है। आर० जी० हार्ट्रे (R G Hawtrey) का इस सिद्धान्त मे दृढ विश्वास था। उसके अनुसार, मुद्रा प्रवाह के परिवर्तन व्यापारिक क्रिया-कलापो के एकमात्र निर्धारक तत्त्व हैं। इन्ही तत्त्वो के कारण तो कभी समृद्धि का काल आता है और कभी मदी का। सूखा, बाढ, भूकम्प, युद्ध, हडताल, कुछ उद्योगो का अविकसित विकास आदि केवल आशिक मदी पैदा कर सकते हैं, व्यापक अथवा सामान्य मन्दी नही।

तर्क कुछ इस प्रकार का है अधिकाश व्यापार उधार ली हुई मुद्रा से होता है। जब व्यापार की समावनाएँ अच्छी होती हैं, बैंक बडी उदारता से उधार देते हैं। जब व्यापारियो को सस्ती दर पर उधार मिल जाता है तो वे अपने व्यापार को बढाते चले जाते हैं। इस प्रकार साख (credit) की राशि बहुत अधिक बढ जाती है। यह स्थिति उस समय तक बनी रहती है जब तक कि मुद्रा अथवा ब्याज कम ब्याज की दर पर मिलती रहती है। एक अवस्था वह आती है जब कि कोई बैंक यह सोचता है कि उसने बहुत अधिक उधार दे दिया है। हो सकता है कि उसका आरक्षण अनुपात (reserve ratio) बहुत अधिक गिर गया हो। अपनी रक्षा के लिए वह और अधिक उधार देना बन्द कर देता है तथा उधार दिए हुए रुपये को वापस माँगने लगता है। इस प्रकार अचानक ही उधार मिलना बद हो जाने से व्यापारिक वर्ग के ऊपर वज्र प्रहार हो उठता है। व्यापारियो को बैंक को रुपया चुकाने के लिए जल्दी मे अपना स्टाक बेचना पडता है। इससे बाजार मे मदी आ जाती है। कुछ कमजोर फर्में अपने दायित्वो को पूरा नही कर पाती और वे फेल हो जाती है और इससे अन्य फर्मों को हानि होती है। कई कार्य कुशल फर्में इसलिए असफल हो जाती हैं क्योकि उन्हे बैंको से समय पर वित्तीय सहायता नही मिलती।

तेजी के समय बैंको ने अन्धाधुन्ध रुपये उधार दिये होते है जिससे ईमानदार और बेईमान सभी प्रकार के व्यापारियो ने लाभ उठाया होता है। किन्तु सकट-काल मे बैंक ईमानदार व्यापारियो की सहायता करने से भी हाथ खीच लेते है। फलत व्यापारिक सकट वित्तीय सकट के रूप मे बदल जाता है। इस प्रकार बैंको की मुद्रानीति का व्यापारिक गतिविधियो पर व्यापक प्रभाव पडता है।

इसमे कोई सन्देह नही कि बैंक व्यापारिक गतिविधियो मे महत्वपूर्ण स्थान रखते है। वित्त व्यापार का प्राण है, परन्तु यह कहना सही नही कि ये सकट पैदा करते हैं। अधिक-से-अधिक हम यही कह सकते है कि वे स्थिति को अधिक बिगाड देते हैं। वे अधिक मात्रा मे उधार देकर तेजी की स्थिति मे अधिक तेजी लाते हैं और उधार देना बद करके मन्दी को अधिक भीषण बना देते हैं। परन्तु, एक-मात्र उनके कारण न तो समृद्धि का ही काल आता है और न मन्दी का। इसके अतिरिक्त, आजकल मन्दी ससारव्यापी होती है और उसके लिए अकेले बैंको को ही उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता। इसलिए व्यापारिक चक्र केवल मुद्रा मे दुर्व्यवहार के कारण ही उत्पन्न नही होते, मुद्रा के अतिरिक्त और भी बहुत से तत्त्व हैं जिनका व्यापार पर प्रभाव पडता है। यदि यह सिद्धान्त सही होता तो व्यापारिक चक्रो पर काबू पाना सरल होता क्योकि मुद्रा की मात्रा को तो सरलता से घटाया-बढाया जा सकता है।

3 अति-निवेश सिद्धान्त (Over Investment theory)—कुछ लेखको का कहना है कि समृद्धि अत्यधिक निवेश के कारण उत्पन्न होती है। समृद्धि-

काल मे असतुलन उत्पन्न हो जाता है । इस असन्तुलन को दूर करने के लिए मन्दी आती है । समृद्धिकाल मे निवेश बहुत अधिक होता है—यह इससे भी पता चलता है कि व्यापारिक चक्र के चढाव के समय पूँजी-पदार्थ उद्योग उपभोक्ता पदार्थ उद्योगो की अपेक्षा अधिक तेजी से बढते हैं। इसके विपरीत मन्दी के समय पूँजी-पदार्थ उद्योगो को उपभोक्ता पदार्थ के उद्योगो की अपेक्षा अधिक हानि होती है ।

परन्तु समृद्धिकाल मे पूँजी-पदार्थ उद्योग (capital goods industries) का उपभोक्ता पदार्थ उद्योगो (consumer goods industries) की अपेक्षा अधिक तेजी से विस्तार क्यो होता है ? इस प्रश्न के सम्बन्ध मे विभिन्न अर्थशास्त्रियो मे मतभेद है। हयेक (Hayek), मैकलप (Machlup), रोप (Roppe) और रॉबिन्स (Robbins) जैसे कुछ लेखक इसके लिए बैंकिग पद्धति को उत्तरदायी ठहराते हैं । यद्यपि वे व्यापारिक चक्र का कारण केवल मुद्रा का घटना-बढना नही मानते, तथापि उनका यह विचार है कि यदि बैंकिग पद्धति द्वारा रुपया ऋण देने की नीति मे प्राय इतना परिवर्तन न होता तो उपभोक्ता-पदार्थ के उद्योगो और पूँजी-पदार्थ उद्योगो की वृद्धि दर मे इतना अन्तर न होता। इस दृष्टि से ब्याज की दर कम होने से निवेश के अवसर बढ जाते हैं। किन्तु, एक समय ऐसा आता है जब कि बैंक यह समझते हैं कि वे बहुत ऋण दे गये हैं। फलत ब्याज की दर बढने लगती है। इससे आर्थिक क्रिया मे ह्रास होने लगता है। स्वभावत, इस अवस्था मे निवेश कम हो जाता है और मन्दी प्रारम्भ हो जाती है ।

अति निवेश सिद्धान्त का साराश यह है कि कभी-कभी निवेश इतना बढ जाता है और फलस्वरूप पूँजी-पदार्थ उद्योगो का इतना विस्तार हो जाता है कि अर्थव्यवस्था की उत्पादन क्षमता (productive capacity) बहुत अधिक बढ जाती है। परन्तु उपभोक्ता वस्तुओ की माँग इतनी नही बढ़ती जितनी कि उत्पादन क्षमता बढ गई होती है। परिणामस्वरूप उत्पादन क्षमता अप्रयुक्त रहने लगती है। इससे निवेश हतोत्साहित होता है। निवेश के घटने से उत्पादन, रोजगार, आदि घटने लगते हैं और मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है ।

अति-निवेश सिद्धात (Over-Investment Theory) का यह कहना उचित है कि निवेश की दर मे उतार-चढाव व्यापारिक चक्रो के मुख्य कारण हैं। तथापि, यह सिद्धान्त इस बात की ठीक-ठीक व्याख्या नही कर पाता कि निवेश मे इतने नियमित रूप से क्यो उतार-चढाव होते रहते है। कई लेखक निवेश के उतार-चढाव के लिए बैंको को उत्तरदायी ठहराते हैं। परन्तु, हम देख चुके हैं कि यह बहुत सन्तोषजनक उत्तर नही है ।

4 अल्प-उपभोग सिद्धान्त (Under-Consumption Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार समृद्धिकाल मे बहुत अधिक बचत होती है और अधिक बचत होने से उपभोग की मात्रा कम हो जाती है। जब उत्पादन क्षमता मे तो वृद्धि हो रही हो, परन्तु उपभोग की मात्रा कम हो जाए, तो कुछ समय पश्चात् समृद्धिकाल समाप्त ही हो जाता है। यह सिद्धान्त जे० ए० हाब्सन (J A Hobson) और मेजर डगलस (Major Douglas) ने प्रतिपादित किया है ।

अब प्रश्न यह है कि अत्यधिक बचत या न्यून उपभोग के क्या कारण हैं ? इसका कारण यह बताया जाता है कि समृद्धिकाल मे कीमतें बढ जाती हैं, परन्तु मजदूरी कम रहती है। फलत लाभ निरन्तर बढ़ते जाते हैं। अमीर लोग गरीबो की अपेक्षा अधिक बचत करते हैं। इस तरह बचत की मात्रा मे निरन्तर वृद्धि होती है। यह प्रक्रिया उस समय तक जारी रहती है जब तक कीमतें बढती रहती हैं और मजदूरी कम रहती है। परन्तु, इसका एक परिणाम यह होता है कि उपभोक्ता पदार्थों की माँग कम हो जाती है। इससे उनका उत्पादन कम हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप मन्दी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है ।

इस अल्प-उपभोग सिद्धान्त तथा अति बचत सिद्धान्त (over-saving theory) मे भी सचाई का कुछ अश है। परन्तु यह एकमात्र उपयुक्त स्पष्टी-

करण नही है। उदाहरण के लिए यदि हम अल्प उपभोग सिद्धान्त के अनुसार चलें, तो उपभोक्ता वस्तुओ के उद्योगो से पूँजी पदार्थों के उद्योगो की तुलना में कम उतार-चढाव होना चाहिए। किन्तु वास्तव मे व्यापारिक चक्रो के दौरान इससे बिल्कुल उल्टा होता है।

ये सभी सिद्धान्त ऐतिहासिक हैं तथा ये आंशिक रूप मे ही सत्य हैं, किन्तु ये सभी सिद्धान्त समस्या की पूर्ण व्याख्या नही कर सकते। हां, इनके द्वारा निवेश के महत्व का अवश्य पता चलता है और निवेश मे घट-बढ ही व्यापारिक चक्र का प्रमुख कारण है।

केन्ज द्वारा व्यापारिक चक्र के सिद्धांत में योगदान (Keynes' Contribution to the Theory of Trade Cycle)

केन्ज ने अपनी पुस्तक रोजगार, ब्याज तथा मुद्रा का सामान्य सिद्धान्त—*General Theory of Employment, Interest and Money* मे आय उत्पादन तथा रोजगार के स्तर की व्याख्या की है अर्थात् यह बताया है कि किसी देश मे आय तथा रोजगार कैसे घटते-बढते रहते हैं। उसने व्यापारिक चक्र का कोई विशेष सिद्धान्त नही बताया, किन्तु अपनी पुस्तक मे उसने जो आय तथा रोजगार के घटने-बढने की व्याख्या की है, उससे व्यापारिक चक्र अथवा आर्थिक उतार-चढाव का पता चल जाता है, क्योंकि आर्थिक उतार-चढाव भी एक प्रकार से आय तथा रोजगार का उतार-चढाव ही है। केन्ज ने आय तथा रोजगार के निर्धारण की समुचित व्याख्या प्रस्तुत करके तथा इनके स्तरों से उतार-चढाव लाने वाले विभिन्न तत्वों को स्पष्ट करने से व्यापार चक्रो की उपयुक्त व्याख्या करने मे महत्वपूर्ण योगदान किया है।

केन्ज के अनुसार अल्पकाल मे राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार का स्तर समस्त माँग (aggregate demand) के स्तर पर निर्भर करता है। लाभ द्वारा नियमित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था मे उद्यमी तथा उत्पादक (entrepreneurs) इतनी मात्रा मे वस्तुएँ उत्पादित करेंगे जितनी कि बाजार मे लाभ से बेची जा सकें। यदि समस्त माँग अधिक है अर्थात् लोगो द्वारा वस्तुओं की समस्त माँग अधिक है तो उद्यमी अधिक वस्तुएँ लाभ से बेच सकेंगे और इसलिए वे अधिक मात्रा मे वस्तुओ का उत्पादन करेंगे। ज्यादा उत्पादन करने के लिए वे अधिक श्रमिक तथा भौतिक साधनो का प्रयोग करेंगे। संक्षेपत: समस्त माँग के अधिक होने से राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार भी अधिक होता है। दूसरी ओर यदि समस्त माँग कम है तो कम मात्रा मे वस्तुएँ लाभ से बेची जा सकेंगी। इसलिए उद्यमी कम मात्रा मे वस्तुओ का उत्पादन करेंगे, जिसके फलस्वरूप श्रमिक तथा पूँजी जैसे साधनो का कम प्रयोग होगा। इसका परिणाम यह निकलेगा कि देश मे बेरोजगारी फैल जायेगी।

ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय उत्पादन तथा रोजगार का स्तर समस्त माँग के स्तर पर निर्भर करता है। समस्त माँग जितनी अधिक होगी, राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार का स्तर उतना ही ऊँचा होगा और समस्त माँग जितनी कम होगी, राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार का स्तर भी उतना न्यून होगा। समस्त माँग के घटने या बढने से आय, उत्पादन तथा रोजगार में भी कमी या वृद्धि हो जायेगी। इसलिए आर्थिक उतार-चढाव समस्त समर्थ माँग के घटने-बढने के कारण होते हैं। (Fluctuations in economic activity are due to the fluctuations in *aggregate effective demand*)। समस्त माँग के गिर जाने से राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार भी घट जायेगा अर्थात् अर्थव्यवस्था मे मन्दी की दशाएँ उत्पन्न हो जायेंगी और यदि समस्त माँग बहुत ज्यादा हो जाती है तो तेजी व मूल्यवृद्धि की दशाएँ (conditions of boom) उत्पन्न हो जायेंगी।

अब प्रश्न उठता है कि समस्त माँग मे उतार-चढाव क्यो आते हैं। समस्त माँग उपभोक्ता पदार्थों (consumption goods) की कुल माँग तथा पूँजी पदार्थों की कुल माँग का जोड है। इसलिए समस्त माँग

उपभोक्ताओ द्वारा उपभोक्ता पदार्थों पर किए गए कुल खर्च और उद्यमियो द्वारा पूंजी पदार्थों पर किए गए कुल निवेश सबधी खर्च पर निर्भर करती है। चूंकि उपभोग-प्रवृत्ति अल्पकाल मे लगभग स्थिर रहती है इसलिए समस्त मांग मे घटा-बढी निवेश मांग पर निर्भर करती है। अतः समस्त मांग मे घटा-बढी और आर्थिक उतार-चढाव का कारण निवेश-दर में घटा बढी है तथा निवेश के घटने-बढ़ने के दो कारण हैं ब्याज दर मे परिवर्तन तथा पूंजी की सीमान्त उत्पादकता मे घटा-बढ़ी। किन्तु ब्याज-दर तो लगभग स्थिर रहती है, उसका कोई विशेष प्रभाव नही पडता। अत वास्तविक कारण पूंजी की सीमात उत्पादकता मे परिवर्तन होना है। पूंजी की सीमात उत्पादकता का तात्पर्य है नए निवेश से प्रत्याशित लाभ-दर। अत केन्ज के अनुसार पूंजी की सीमान्त उत्पादकता अथवा निवेश से प्रत्याशित लाभ दर के बदलने से ही आर्थिक उतार-चढाव होता है। पूंजी की सीमान्त उत्पादकता अथवा प्रत्याशित लाभ-दर दो बातो पर निर्भर है · (अ) पूंजी पदार्थों से भावी प्राप्तियां अथवा आय (prospective yields) तथा (आ) पूंजी पदार्थों की लागत अथवा पूर्ति कीमत (cost or supply price of capital goods)। इन दोनो मे से लागत का इतना महत्त्व नहीं है, यह केवल निवेश से भविष्य मे होने वाली प्रत्याशित भावी लाभ मे परिवर्तन को अधिक प्रभावशील बनाती है। अत वास्तविक कारण तो यह है कि यदि निवेश किया जाय तो उसमे से कितने लाभ अथवा आय की आशा की जा सकती है। चूंकि भविष्य में लाभ व आय की सम्भावना बदलती रहती है, अत पूंजी की सीमान्त उत्पादकता भी बदलती रहती है, जिससे निवेश मे घट-बढ होती रहती है। और निवेश में घट-बढ़ के कारण आर्थिक उतार-चढाव होता रहता है। इस व्याख्या को एक बार फिर दोह-राएँ। आर्थिक उतार-चढ़ाव का कारण है निवेश-दर में परिवर्तन, निवेश-दर में परिवर्तन का कारण है पूंजी की सीमान्त उत्पादकता में परिवर्तन। ब्याज-दर का इतना प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि यह अपेक्षत स्थिर रहती है। पूंजी की सीमान्त उत्पादकता अथवा नए निवेश से प्रत्याशित लाभ की दर निवेश मे से भावी आय की आशा के साथ-साथ बदल जाती है।

अब प्रश्न यह है कि केन्ज के सिद्धान्त के अनुसार व्यापारिक चक्र की व्याख्या किस प्रकार की जाती है अर्थात् व्यापार जब इतने ऊँचे शिखर पर पहुंच कर फिर नीचे कैसे मुडता है, तथा जब मन्दी अपनी चरम सीमा को पहुंच जाती है तो फिर अर्थव्यवस्था कैसे ऊपर की ओर चढने लग जाती है। केन्ज का सिद्धान्त इसकी व्याख्या इस प्रकार करता है। जब व्यापार मे तेजी आते-आते यह शिखर पर पहुंच जाता है तो पूंजी की सीमान्त उत्पादकता घटने लग जाती है क्योंकि पूंजी-पदार्थों की बहुलता हो जाती है। पूंजी की सीमान्त उत्पादकता के घटने का अर्थ यह होता है कि निवेश से प्रत्याशित लाभ की दर गिर जाती है। पूंजी की सीमान्त उत्पादकता का कम हो जाना एक ऐसी बात है, जिसका अनुमान लगाया जा सकता है, अर्थात् यह एक वस्तुपरक (objective) बात है। इसके गिरने से व्यापारियो पर जो निराशाजनक प्रभाव पडता है, वह एक मनोवैज्ञानिक बात है। इस मनोवैज्ञानिक निराशा के कारण व्यापार-चक्र तेजी से नीचे की ओर चल पडता है। अत केन्ज के शब्दो मे, अर्थव्यवस्था का तेजी से मन्दी की ओर मुड जाने का कारण पूंजी की सीमान्त उत्पादकता का सहसा अत्यन्त नीचे गिर जाना है।[1]

कुछ समय तक चक्र नीचे को चलता जाता है। जब पूंजी की सीमान्त उत्पादकता के गिर जाने से निवेश घट जाता है तो आय भी घट जाती है तथा गुणक उल्टी दिशा मे चलने लग पडता है (the multiplier works in the reverse direction) अर्थात् निवेश मे आई कमी की अपेक्षा आय कई गुणा अधिक घट जाती है और जब गुणक के प्रभाव के कारण आय और उत्पादन तेजी से घट रहे होते हैं तो रोजगार भी घट जाता है और अर्थव्यवस्था मे मन्दी छा जाती है।

1 It is the collapse in the marginal efficiency of capital which explains the turning point from expansion to contraction or from boom to depression Cyclical swings in the marginal efficiency of capital are made more violent than the facts justify by the uncontrollable and unpredictable psychology of the people

जैसे पूंजी की सीमान्त उत्पादकता का घटना तेजी से मन्दी की ओर मोड का कारण था, इसी प्रकार पूंजी की सीमान्त उत्पादकता का कुछ बढ जाना व्यापार के पुनः उत्थान (*recovery*) का कारण बन जाता है (Just as collapse of marginal efficiency is the cause of the turning point from boom to depression, similarly revival of marginal efficiency is the cause of turning-point from depression to recovery)। कुछ समय के पश्चात् यह पता चलता है कि पूंजी-पदार्थ (मशीनें आदि) घिस चुके हैं तथा तेजी अथवा समृद्धि के समय के उत्पादित माल के भण्डार भी समाप्त हो जाते हैं। हमने ऊपर बताया है कि पूंजी-पदार्थों की बहुलता के कारण पूंजी की सीमान्त उत्पादकता घट गयी थी, इसी प्रकार अब पूंजी पदार्थों की पूर्ति घट जाने से पूंजी की सीमान्त उत्पादकता बढ जायगी। इससे निवेश प्रोत्साहित हो जाएगा। जब निवेश का स्तर ऊँचा उठ जाता है तो आय बढ जाती है तथा गुणक द्वारा आय कई गुना बढ जाती है, जिससे निवेश और बढता जाता है तथा चक्र ऊपर को चल पडता है। व्यापारियों तथा उद्यमियों को प्रोत्साहन मिलता है जिसका और भी कई गुणा प्रभाव पडता है।

केन्ज के व्यापारिक चक्र के सिद्धान्त की मुख्य बातें ये हैं (1) मुख्य रूप से व्यापारिक चक्र निवेश की दर के उतार-चढाव पर निर्भर करता है। (2) निवेश-दर में उतार-चढाव पूंजी की सीमान्त उत्पादकता में परिवर्तन आ जाने के कारण होता है। (3) पूंजी की सीमान्त उत्पादकता में उतार-चढाव दो कारणों से आते हैं : (क) निवेश तथा पूर्वेक्षित लाभ में परिवर्तन, तथा (ख) पूंजी पदार्थों की प्रतिस्थापन लागत अथवा पूर्ति कीमत।

केन्ज के सिद्धात की आलोचना (Criticism of Keynes's Theory)

केन्ज द्वारा व्यापारिक चक्रों की व्याख्या में गुणक (multiplier) का महत्त्वपूर्ण स्थान है। केन्ज के सिद्धान्त की आलोचना इस प्रकार की गई है कि गुणक का सिद्धान्त व्यापारिक चक्र की पूरी व्याख्या नहीं करता। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि व्यापारिक चक्र की गति प्रत्येक पग पर अधिकाधिक बढती क्यों जाती है। जब व्यापारिक चक्र ऊपर को चढता है तो प्रत्येक पग पर पहले से अधिकाधिक तेज क्यों होता जाता है तथा यदि नीचे को चलता है तो प्रत्येक पग पर अधिकाधिक शिथिल क्यों होता जाता है (The multiplier does not explain the cumulative effect of upward and downward swings) इसकी व्याख्या त्वरक सिद्धान्त (acceleration principle) द्वारा होती है, जिसकी केन्ज के सिद्धान्त में उपेक्षा की गई है। यदि गुणक 4 है तो केन्ज का सिद्धान्त तो केवल यही बताता है कि 100 रुपये के निवेश द्वारा आय बढती-बढती अन्त में जाकर 400 रुपये हो जाएगी और तब बस। किन्तु वास्तव में बात ऐसी नहीं है। आय में वृद्धि की गति और भी आगे चलती रहती है। इसकी व्याख्या त्वरक सिद्धान्त द्वारा होती है। **वास्तव में केन्ज का 'सामान्य सिद्धान्त' प्रत्यक्ष रूप में व्यापारिक चक्र का सिद्धान्त नहीं** (Keynes General Theory is not a theory of business cycle as such) यह इसकी अपेक्षा अधिक भी है और कम भी; अधिक इस कारण कि केन्ज का सिद्धान्त रोजगार के सामान्य स्तर के निर्धारण की व्याख्या व्यापारिक चक्र के बिना ही करता है। केन्ज का सिद्धान्त व्यापारिक चक्र के सिद्धान्त की अपेक्षा कम इस कारण है कि यह व्यापारिक चक्र की विभिन्न अवस्थाओं की कोई व्याख्या नहीं करता तथा त्वरक सिद्धान्त का भी इसमें कोई ध्यान नहीं रखा गया।

त्वरक सिद्धान्त
(Acceleration Principle)

यह सामान्य अनुभव की बात है कि जब अर्थ-व्यवस्था में आय बढ जाती है तो निवेश भी बढा दिया जाता है। मान लीजिए, आय में 500 रुपये की वृद्धि हो गई है। इससे वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग बढ जाएगी, क्योंकि लोगों की क्रय शक्ति बढ गई है। वस्तुओं की जब माँग बढ जाएगी तो प्रथम तो वर्तमान पूंजी के स्टाक जैसे कि मशीनों के अधिक उपयोग द्वारा उत्पादन बढाया जाएगा और उद्योगपतियों का लाभ बढ जाएगा। फलस्वरूप वे नये निवेश और करने को

प्रोत्साहित होंगे ताकि उत्पादन को और अधिक बढ़ाकर वे अधिक लाभ प्राप्त करें। इस प्रकार आय के बढ़ने से निवेश अर्थात् पूँजी के स्टाक में वृद्धि को प्रोत्साहन मिलता है। इस प्रकार प्रोत्साहित निवेश 'प्रेरित निवेश' (induced investment) कहलाता है। आय के बढ़ने पर निवेश में कई गुणा अधिक वृद्धि होती है। आय के बढ़ने के फलस्वरूप निवेश में जितने गुणा अधिक वृद्धि होती है इसे त्वरक कहते हैं (The accelerator is the numerical value of the relation between an increase in investment resulting from increase in income)। इस सिद्धान्त से यह निहित तत्त्व प्राप्त होता है कि यदि राष्ट्रीय आय बढ़ रही हो तो निवल निवेश (net investment) धनात्मक (positive) होगा किन्तु यदि राष्ट्रीय आय अथवा उत्पादन स्थिर ही रहे तो निवल निवेश शून्य हो जायगा अथवा घट जायगा (The Acceleration Principle is that the net investment will be positive if national income is increasing and if the national income or output remains constant, the net investment will fall to zero or even decline)।

उत्पादन के एक दिये हुए स्तर को उत्पादित करने के लिए आवश्यक पूँजी की मात्रा को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है

$$K_t = vY_t \qquad \text{(i)}$$

जहाँ K_t आवश्यक पूँजी का स्टाक है, Y_t उत्पादन का स्तर है और v पूँजी-उत्पादन अनुपात (capital-output ratio) है। यह पूँजी-उत्पादन अनुपात $\frac{K}{Y}$ के बराबर होता है और त्वरक के सिद्धान्त में इसे स्थिर (constant) माना जाता है। अतएव पूँजी-उत्पादन अनुपात के स्थिर रहने की दशा में उत्पादन अथवा आय में कोई भी परिवर्तन पूँजी के स्टाक में आनुपातिक परिवर्तन करेगा अर्थात् जब आय Y_t है तो पूँजी का स्टाक $K_t = vY_t$, जब आय Y_{t-1} तो पूँजी का स्टाक $K_{t-1} = vY_{t-1}$, और जब आय Y_{t+1} है तो पूँजी का स्टाक $K_{t+1} = vY_{t+1}$ होगा।

स्पष्ट है कि जब आय अवधि $t-1$ में Y_{t-1} से बढ़ कर अवधि t में Y_t हो जाती है तो आवश्यक पूँजी के स्टाक में वृद्धि K_{t-1} से बढ़कर K_t हो जायेगी जो कि क्रमश vY_{t-1} तथा vY_t के समान होगी। अत

$$K_t - K_{t-1} = vY_t - vY_{t-1}$$

$$K_t - K_{t-1} = v(Y_t - Y_{t-1}) \qquad \text{(ii)}$$

चूँकि पूँजी के स्टाक में वृद्धि $(K_t - K_{t-1})$ किसी वर्ष में हुए निवेश को व्यक्त करती है, इसलिए उपर्युक्त समीकरण (ii) को निम्न प्रकार लिखा जा सकता है —

$$I_t = v(Y_t - Y_{t-1}) \qquad \text{...(iii)}$$

यह समीकरण (iii) यह बात स्पष्ट करता है कि किसी वर्ष (t) में गत वर्ष ($t-1$) की तुलना में आय में वृद्धि $(Y_t - Y_{t-1})$ के फलस्वरूप I_t में v गुणा वृद्धि होगी। अत यह v अर्थात् पूँजी-उत्पादन अनुपात ही है जो त्वरक (accelerator) को दर्शाता है। यदि पूँजी-उत्पादन अनुपात 3 है तो आय अथवा उत्पादन में वृद्धि होने पर निवेश में तीन गुणा वृद्धि होगी अर्थात् त्वरक 3 के बराबर होगा। स्पष्ट है कि निवेश आय में परिवर्तन का फलन है (Investment is a function of change in income)। यदि आय (अथवा उत्पादन) में वृद्धि होती है अर्थात् $Y_t > Y_{t-1}$ है तो निवेश धनात्मक होगा ($I_t > 0$)। यदि आय घटती है अर्थात् $Y_t < Y_{t-1}$ है तो निर्निवेश (disinvestment) होगा अर्थात् $I_t < 0$ और यदि आय स्थिर रहती है अर्थात् $Y_t = Y_{t-1}$ तो निवेश भी शून्य होगा।

एक गणितीय उदाहरण से त्वरक के कार्यशील होने की क्रिया भली भाँति समझ आ जायेगी। निम्न सारणी में इसे प्रदर्शित किया गया है। इस सारणी के निर्माण अथवा त्वरक की व्याख्या के लिये हमने निम्नलिखित दो मान्यताएँ अपनायी हैं :—

1. पूँजी-उत्पादन अनुपात स्थिर है तथा यह 3 के समान है।

2. प्रतिवर्ष उत्पादन-कार्य में पूँजी के स्टाक का मूल्यह्रास (depreciation) होता है वह गत वर्ष (previous year) के स्टाक के स्तर का $\frac{1}{5}$ भाग है। अत गत वर्ष के पूँजी के स्टाक के $\frac{1}{5}$ भाग का पूँजी प्रतिस्थापन (capital replacement) आवश्यक है। होगा। चूँकि पिछली अवधि की तुलना में अवधि ($t-1$) में उत्पादन के स्तर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, निवल निवेश (net investment) शून्य होगा। परिणामस्वरूप अवधि $t-1$ में कुल निवेश (gross investment) 300 रुपये के समान होगा।

सारणी : त्वरक की व्याख्या

अवधि	उत्पादन (आय)	आवश्यक पूँजी स्टाक	निवेश		
			पूँजी प्रति-स्थापन	निवल निवेश	कुल निवेश
(1)	(2)	(3)	(4)	(5)	(6)
$t-1$	500	1,500	300	0	300
t	510	1,530	300	30	330
$t+1$	525	1,575	306	45	351
$t+2$	550	1,650	315	75	390
$t+3$	575	1,725	330	75	405
$t+4$	575	1,725	345	0	345
$t+5$	560	1,680	345	−45	300
$t+6$	550	1,650	336	−30	306
$t+7$	500	1,500	330	−150	180
$t+8$	400	1,200	300	−300	0
$t+9$	400	1,200	240	0	240

सारणी में हम यह कल्पना करते हैं कि किसी वर्ष अथवा अवधि ($t-1$) में तथा इसमें कई वर्ष पूर्व उत्पादन (अथवा आय) का स्तर 500 रुपये था। पूँजी उत्पादन अनुपात के 3 दिये हुए होने पर अवधि $t-1$ में 500 रुपये का उत्पादन करने के लिए 1500 रुपये के पूँजी स्टाक की आवश्यकता होगी [$K=vY$, $1500=3$ (500)] जिसे स्तम्भ 3 में लिखा गया है। चूँकि पूँजी का मूल्यह्रास पूर्व वर्ष के स्टाक (1500 रुपये) का $\frac{1}{5}$ भाग है इसलिए प्रतिस्थापन निवेश (Replacement Investment) अवधि $t-1$ में 300 रुपये के बराबर

अब यदि किसी कारणवश [सरकारी व्यय में वृद्धि अथवा स्वतन्त्र निवेश (autonomous investment)] के बढ़ने के कारण अवधि t में उत्पादन बढ़कर 510 रुपये हो जाता है। 510 रुपये का उत्पादन करने के लिए 1530 रुपये की पूँजी की आवश्यकता होगी [$K_t=vY_t$, $1530=3$ (510)] [जिसे स्तम्भ (3) में लिखा गया है]। अतः उत्पादन (आय) के 10 रुपये बढ़ने पर निवल प्रेरित निवेश में 30 रुपये वृद्धि होगी (1530−1500) अर्थात् त्वरक 3 के बराबर है। अवधि t में अवधि $t-1$ के पूँजी स्टाक, 1500 रुपये

के $\frac{1}{5}$ भाग (300 रुपये) के बराबर पूँजी का मूल्यह्रास होगा जिससे अवधि t में 300 रुपये का पूँजी प्रतिस्थापन होगा। अतः अवधि t में कुल निवेश 30+300=330 रुपये के बराबर होगा। इसी प्रकार अगली अवधियों $t+1$, $t+2$ $t-3$ आदि में उत्पादन अथवा आय बढ़ने पर निवल निवेश में उत्पादन में वृद्धि से 3 गुणा अधिक वृद्धि होगी।

सारणी के कालम 2 5 और 6 पर दृष्टि डालने से ज्ञात होगा कि उत्पादन (आय) में परिवर्तन होने पर निवल निवेश में कई गुणा अधिक वृद्धि होती है। निवल निवेश में अत्यधिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप कुल निवेश में भी परिवर्तन उत्पन्न होते हैं। चूँकि निवेश देश में आय, रोजगार तथा उत्पादन को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित करता है इसलिए त्वरक के कारण निवेश में अत्यधिक परिवर्तनों से अर्थव्यवस्था में अधिक अस्थिरता आ जाती है।

त्वरक सिद्धान्त की भी आलोचना की गई है। उदाहरणस्वरूप कैलडर (Kaldor) ने कहा है कि हम व्यापारिक चक्र में त्वरक को सदा स्थिर (Constant) नहीं रख सकते अर्थात् हम सदा यह नहीं कह सकते कि यदि माँग 100 रुपये बढ़ी है तो अवश्य ही सदा तीन सौ रुपये का नया निवेश करना पड़ेगा। यदि हम जानते हैं कि माँग में वृद्धि अस्थायी है तो इसे वर्तमान मशीनों को अधिक प्रयोग में लाकर पूरा किया जा सकता है, नई मशीनें नहीं लगाई जाएँगी। इसके अतिरिक्त, माँग की थोड़ी वृद्धि को कम वित्तीय साधनों द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। इस प्रकार व्यापारिक चक्र की विभिन्न स्टेजों या अवस्थाओं में त्वरक भिन्न-भिन्न होगा। फिर भी हम कहेंगे कि बुनियादी सिद्धान्त ठीक ही है। सिद्धान्त यह है कि यदि आय बढ़ जाए तो निवेश में भी उससे कहीं अधिक वृद्धि जरूर होगी।

गुणक तथा त्वरक की अंतर्क्रिया द्वारा व्यापारिक चक्रों की उत्पत्ति: सैम्युल्सन का मॉडल (Trade Cycles through Interaction between Multiplier and Accelerator Samuelson's Model)

हम व्यापारिक चक्र के बहुत से सिद्धान्त पढ़ चुके हैं। केन्ज का सिद्धान्त कुछ अंशों में आधुनिक सिद्धान्त के समीप है। उसमें एक ही त्रुटि है। वह यह है कि इसमें त्वरक के सिद्धान्त को कोई स्थान नहीं दिया गया। सैम्युलसन ने अपने प्रसिद्ध लेख[1] में व्यापारिक चक्रों को त्वरक तथा गुणक की अन्तर्क्रिया द्वारा घटना सिद्ध किया। सैम्युलसन के अनुसार गुणक अकेला व्यापारिक चक्र की पूर्ण व्याख्या नहीं कर सकता, जैसे कि हम पहले ही बता चुके हैं। अर्थव्यवस्था के सामयिक उतार-चढ़ाव तो गुणक और त्वरक की परस्पर क्रिया द्वारा होते हैं (It is the interaction between the multiplier and the accelerator which gives rise to *cyclical fluctuations* in economic activity)। गुणक के अनुसार निवेश में की गई वृद्धि आय में कई गुणा वृद्धि कर देती है। कुल आय में हुई वृद्धि के कारण और अधिक निवेश किया जाता है और यह त्वरक के सिद्धान्त के अनुसार होता है तथा इसमें इस प्रकार का एक चक्र बन जाता है निवेश आय को प्रभावित करता है तथा आय का घटना-बढ़ना निवेश को प्रभावित करता है।

निवेश में परिवर्तन अथवा उतार-चढ़ाव अर्थव्यवस्था में अस्थिरता का मुख्य कारण है। गुणक तथा त्वरक के क्रियाशील होने से यह अस्थिरता और भी अधिक बढ़ जाती है। समस्त माँग के किसी भाग में परिवर्तन होने से आय के स्तर पर गुणक प्रभाव पड़ता है। गुणक की मात्रा सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (*MPC*) पर निर्भर करती है। किन्तु जब आय में वृद्धि होती है तो त्वरक (accelerator) द्वारा जिसका आकार पूँजी-उत्पादन अनुपात (capital output ratio) अथवा v पर निर्भर करता है प्रेरित निवेश (induced investment) उत्पन्न करता है। इन दो सम्बन्धों अर्थात् गुणक तथा त्वरक की अन्तर्क्रिया (interaction) के परिणामस्वरूप अर्थव्यवस्था में अस्थिरता रहती है अर्थात् व्यापारिक चक्र आते रहते हैं।

---

1. P. A. Samuelson, Interaction Between the Multiplier Analysis and the Principle of Acceleration, *Review of Economics and Statistics*, May, 1937

इनकी अन्तर्क्रिया की प्रक्रिया को आसानी से समझा जा सकता है। कल्पना कीजिये कि स्वतन्त्र निवेश (autonomous investment) में वृद्धि होती है। इससे आय (Y) में कुछ गुणा वृद्धि होगी जो कि गुणक की मात्रा पर निर्भर है। आय (Y) में वृद्धि से प्रेरित निवेश (induced investment) बढ़ेगा जो कि त्वरक के आकार पर निर्भर करता है। अब प्रेरित निवेश में वृद्धि से आय (Y) में और वृद्धि होगी और जैसे आय (Y) में वृद्धि होती जायेगी उपभोग भी (C) बढ़ता जायेगा। उपभोग (C) में वृद्धि से और आगे आय (Y) में वृद्धि होगी जिसके फलस्वरूप आगे प्रेरित निवेश और बढ़ेगा और इस प्रकार प्रक्रिया आगे चलती रहेगी। गुणक तथा त्वरक की इस अन्तर्क्रिया द्वारा अर्थव्यवस्था में स्वयमेव किसी बाहरी शक्ति के बिना आय, उपभोग एवं निवेश में परिवर्तन होंगे (The interaction of multiplier and accelerator causes the economic system to feed on itself and brings about changes in income, consumption and investment)। क्या अर्थव्यवस्था में यह गति अन्तत रुक जाती है अथवा नयी सन्तुलन स्थिति प्राप्त हो जाती है यह उपभोग प्रवृत्ति (c) तथा पूँजी उत्पादन अनुपात अथवा त्वरक (v) की मात्राओं पर निर्भर करता है। गुणक तथा त्वरक की अन्तर्क्रिया मॉडल को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है।

$$Y_t = C_t + I_t \quad \text{(i)}$$
$$C_t = C_a + c\,(Y_{t-1}) \quad \text{(ii)}$$
$$I_t = I_a + v\,(Y_{t-1} - Y_{t-2}) \quad \text{(iii)}$$

जहाँ पर Y_t, C_t, I_t किसी वर्ष t में क्रमश आय, उपभोग तथा निवेश को व्यक्त करते हैं। C_a स्वतन्त्र निवेश तथा I_a स्वतन्त्र निवेश के सूचक है। c उपभोग प्रवृत्ति का द्योतक है और v पूँजी उत्पादन अनुपात अथवा त्वरक को दर्शाता है।

उपर्युक्त समीकरणों से स्पष्ट है कि उपभोग को गत वर्ष की आय (Y_{t-1}) का फलन माना गया है अर्थात् उपभोग में एक अवधि का अन्तर (one period lag) माना गया है। इसके विरुद्ध, प्रेरित निवेश में गत वर्ष ($t-1$) में आय में वृद्धि का फलन माना गया है अर्थात् प्रेरित निवेश में दो अवधि का अन्तर (two periods gap) माना गया है। दूसरे शब्दों में प्रेरित निवेश $v\,(Y_{t-1} - Y_{t-2})$ अर्थात् $v\,(\triangle Y_{t-1})$ के बराबर होगा। समीकरण (ii) और (iii) को समीकरण (i) में प्रतिस्थापित करने पर हमें राष्ट्रीय आय के स्तर का निम्न समीकरण प्राप्त होता है —

$$Y_t = C_a + c(Y_{t-1}) + I_a + v(Y_{t-1} - Y_{t-2}) \quad \text{(iv)}$$

स्थैतिक विश्लेषण (static analysis) में राष्ट्रीय आय का सन्तुलन स्तर निम्न होगा

$$Y = C_a + cY + I$$

ऐसा इसलिये है कि स्थैतिक सन्तुलन की दशा में निर्धारित राष्ट्रीय आय का सन्तुलन स्तर कालांतर में स्थिर रहता है यदि निर्धारक सामग्री (determining data) में कोई परिवर्तन नहीं होता है अर्थात स्थैतिक सन्तुलन में $Y_t = Y_{t-1} = Y_{t-2} = Y_{t-n}$ जिससे सभी अवधि अन्तर (period lags) समाप्त हो जाते हैं और त्वरक शून्य होता है। अत समीकरण (iv) एक असन्तुलित व्यवस्था के उस पथ को व्यक्त करता है जिस पर कि वह सन्तुलन स्तर की ओर अथवा उससे दूर गति करती है।

किन्तु क्या अर्थव्यवस्था नयी सन्तुलन स्थिति की ओर अथवा उससे दूर गति करती है यह सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति 'c' तथा पूँजी-उत्पादन अनुपात (अथवा त्वरक) 'v' के मूल्यों पर निर्भर करता है। प्रो० सेम्युलसन (Samuelson) ने c तथा v के मूल्यों के विभिन्न संयोगों को लेकर विभिन्न पथों (paths) को प्रदर्शित किया जिस पर कि अर्थव्यवस्था गति करेगी। रेखाकृति 55 1 में c तथा v के मूल्यों के विभिन्न संयोग दर्शाये गये हैं और उनसे प्राप्त अर्थव्यवस्था की गति के विभिन्न पथ रेखाकृति 55 2 में प्रदर्शित है। जब c और v के संयोग A तथा B के क्षेत्रों के मध्य स्थित होते हैं तो अर्थव्यवस्था गति करके नयी सन्तुलन स्थिति प्राप्त कर लेती है, जब c तथा v के संयोग A

त्र के भीतर होते है (अर्थात् ऊँची c और निम्न मूल्यो के v के सयोग होते हैं) तो अर्थव्यवस्था के नये सन्तुलन स्तर को प्राप्त करने के पश्चात् समान दर से गति
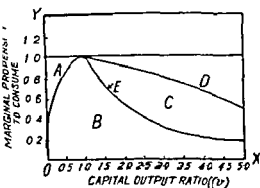
रेखाकृति 55 1

पूँजी-उत्पादन अनुपात (v)

करती है और जब c और v के सयोग B क्षेत्र म स्थित होते हैं (अर्थात् जब c तथा उच्चतर मूल्यो के v के सयोग होते हैं) तो अर्थव्यवस्था नयी सन्तुलन अवस्था की ओर अग्रसर होती है किन्तु घटत चक्रीय पथ (damped cyclical route) द्वारा जिसके चक्रीय आकार (cyclical amplitudes) कालान्तर मे घटते जाते है। c और v के उच्च मूल्यो के सयोग जो क्षेत्र O और D मे स्थित हात है वे घटने पर अर्थव्यवस्था मे विस्फोटित होने की प्रवृत्ति (The system tends to explode) होती है और अर्थ-व्यवस्था आय के सन्तुलन स्तर से दूर भागती है जैसा कि रेखाकृति 55 2 म C तथा D वक्रो द्वारा प्रदर्शित है। c और v के मूल्यो के क्षेत्र C म स्थित होने से अर्थव्यवस्था की गति चक्रीय (cyclical) होती है जिसके आकार (amplitudes) निरन्तर बढते जाते हैं किन्तु c तथा v के D क्षेत्र मे होने पर स्थिति एव दम विस्फोटक है। रेखाकृति 55 2 मे E वक्र पर c और v के मूल्यो के सयोग स्थित होने पर समान आकार (amplitudes) के निरन्तर चक्रीय उतार-चढाव उत्पन्न होंगे और आय का सतुलन स्तर कदाचित प्राप्त नही होगा।

गुणक और त्वरक की परस्पर क्रिया (interaction between multiplier and accelerator) अगले पृष्ठ की सारणी म दिखायी गई है।

इस सारणी मे हमने यह मान लिया है कि सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति $\frac{2}{3}$ है, त्वरक 2 तथा समय मे एक अवधि अतर (one period lag) है, जिसका तात्पर्य यह है कि एक अवधि की आय म वृद्धि के साथ, एक अगली अवधि के उपभोग मे वृद्धि होती है। हमने यह भी मान लिया है कि पहले 10 करोड रु० का निवेश किया जाता है तथा इसे अगली अवधि मे निरन्तर
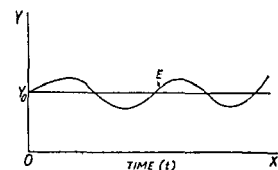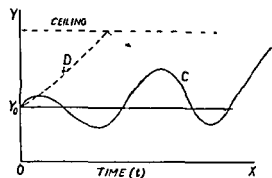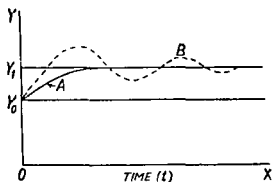
रेखाकृति 55 2

स्थिर रखा जाता है। इस सारणी मे यह देखा जा सकता है कि अवधि $t+1$ मे 10 करोड रु० का निवेश किया जाता है, तो इसमे केवल 10 करोड रु० की ही

गुणक तथा त्वरक की परस्पर क्रिया

अवधि	स्वतन्त्र निवेश, आधार अवधि से विचलन	प्रेरित उपभोग ($c=\frac{2}{3}$)	प्रेरित निवेश ($v=2$)	आधार अवधि का कुल आय से व्युत्पादन
1	2	3	4	5
तक	रु० ० करोड	रु० ० करोड	रु० ० करोड	रु० ० करोड
$t+1$	10 "	0 "	0 "	10 "
$t+2$	10 "	6 7 "	13 4 "	30 1 "
$t+3$	10 "	20 0 "	26 6 "	56 6 "
$t+4$	10 "	37 8 "	35 6 "	83 4 "
$t+5$	10 "	55 6 "	35 6 "	101 2 "
$t+6$	10 "	67 6 "	23 8 "	101 2 "
$t+7$	10 "	67 6 "	0 2 "	37 8 "
$t+8$	10 "	51 8 "	—10 0 "	51 8 "
$t+9$	10 "	34 6 "	—10 0 "	33 8 "
$t+10$	10 "	23 0 "	—10 0 "	23 0 "
$t+11$	10 "	15 4 "	—10 0 "	15 4 "
$t+12$	10 "	10 2 "	—10 0 "	10 2 "
$t+13$	10 "	6 8 "	—6 8 "	10 0 "
$t+14$	10 "	6 6 '	+0 2 "	16 8 "

वृद्धि होती है। इससे उपभोग व्यय मे कोई वृद्धि नही होती। किन्तु सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति के अनुसार यदि पहली अवधि मे आय मे 10 करोड रु० की वृद्धि हुई तो इससे दूसरी अवधि मे उपभोग-व्यय मे 6 7 करोड रु० की वृद्धि होगी। तथा जब त्वरक 2 है तो दूसरी अवधि मे इस कारण निवेश मे 13 4 करोड रु० की वृद्धि होगी। इस प्रकार दूसरी अवधि में पहली अवधि की अपेक्षा एक तो 10 करोड रु० की वृद्धि है ही जिसे कायम रखा जाता है, इसके अतिरिक्त 6 7 करोड रु० की वृद्धि उपभोग-व्यय मे तथा 13 4 करोड रु० की वृद्धि निवेश मे होगी, अर्थात् अवधि 2 मे आय मे कुल वृद्धि 30 1 करोड रु० होगी।

अब तीसरी अवधि मे उपभोग-व्यय होगा $30{\cdot}1\times\frac{2}{3}=20$ करोड। इस प्रकार तीसरी अवधि मे दूसरी अवधि की अपेक्षा उपभोग-व्यय में $20-6\,7$ $=13\,3$ करोड रु० की वृद्धि होगी। उपभोग-व्यय मे 13 3 करोड रु० की वृद्धि के साथ प्रेरित नया निवेश 26 6 करोड होगा। इस प्रकार, तीसरी अवधि मे आधार अवधि (base period) की अपेक्षा आय मे वृद्धि 56 6 करोड रु० हो गई। इसी प्रकार आगे की अवधियो मे आय मे कमी या वृद्धि निकाली जाएगी। पाँचवें कालम को देखने पर पता चलता है कि कुल आय मे बडा उतार चढाव होता रहता है। गुणक तथा त्वरक के प्रभाव के परिणामस्वरूप अवधि 1 से 6 तक आय बढती है, इसके पश्चात् घटने लग पडती है, अत अवधि 1 से 6 विस्तारकाल अथवा ऊपर चढने का काल (up-swing) है। अवधि $t+6$ मोड-बिन्दु (turning point) है तथा इसके पश्चात् व्यापारिक चक्र नीचे को चल पडता है। इस प्रकार, गुणक तथा त्वरक दोनो के प्रभाव को ग्रहण कर व्यापारिक चक्र की भिन्न-भिन्न स्टेजें या अवस्थाएँ बनती हैं। हमने

यहां पर सीमान्त उपभोग प्रवृत्ति (अत गुणक) तथा त्वरक के विशेष अंक माना है। यदि कोई भिन्न अंक हो तो व्यापार के उतार-चढाव भी भिन्न राशियो के होंगे। यहां हमने एक बात यह भी मानी है कि उत्पादन के साधन अनन्त सख्या मे प्राप्य हैं, अर्थात् इनका पूर्ण उपयोग (full employment) नही हो रहा है।

हिक्स का व्यापारिक चक्र सिद्धान्त (Hicks' Theory of Trade Cycles)

सेम्युलसन ने गुणक तथा त्वरक की अन्तर्क्रिया द्वारा अर्थव्यवस्था म व्यापारिक चक्रों का घटना सिद्ध किया किन्तु उसकी व्याख्या मे राष्ट्रीय आय मे कोई दीर्घकालीन प्रवृद्धि (long term trend) नही होती, अर्थात दीर्घकालीन राष्ट्रीय आय न तो बढती है और न घटती है। हिक्स (Hicks) ने भी गुणक तथा त्वरक की परस्पर क्रिया द्वारा व्यापारिक चक्रो की घटने की व्याख्या की है।[1] किन्तु हिक्स एक विकसमान अर्थ व्यवस्था (Growing Economy) मे अर्थात् ऐसी अर्थ-व्यवस्था म जिसमे राष्ट्रीय आय मे वर्धमान प्रवृत्ति (rising trend) पायी जाती है—गुणक तथा त्वरक की परस्पर क्रिया द्वारा व्यापारिक चक्रो के घटाने तथा उनकी विभिन्न अवस्थाओ (phases) तथा मोड-बिन्दुओं की व्याख्या करता है। हिक्स अपना विश्लेषण वहाँ से प्रारम्भ करता है जबकि पूर्ण रोजगार अथवा साधन का पूर्ण उपयोग हो रहा है। इसमे राष्ट्रीय आय एक सीमा तक ही बढ सकेगी। इस दशा मे हम हिक्स (Hicks) की आगे दी रेखाकृति द्वारा व्यापारिक चक्र की विभिन्न अवस्थाएँ (stages) दर्शा सकते हैं।

AA रेखा स्वतन्त्र निवेश (autonomous investment) को दर्शाती है। यह मान लिया गया है कि स्वतन्त्र निवेश मे समान गति से वृद्धि हो रही है। इस स्वतन्त्र निवेश की वृद्धि को रेखा AA के ऊपर की ओर ढाल द्वारा दिखाया गया है। गुणक और यह निवेश दोनो मिलकर आय के स्तर को निर्धारित करते हैं जो LL रेखा द्वारा दिखाया गया है। हिक्स (Hicks) इसे निम्नतम रेखा (floor line) कहता है। अभी हमने प्रेरित निवेश (induced investment) को नही लिया है। यह प्रेरित निवेश त्वरक (accelerator) के कारण होगा। चूंकि रेखा LL पर राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो रही है इससे वस्तुओ की माँग मे वृद्धि हो रही होगी। अत रेखा LL के अनुसार राष्ट्रीय आय मे हो रही वृद्धि त्वरक द्वारा प्रेरित निवेश उत्पन्न करेगी। इस प्रेरित निवेश का भी गुणक प्रभाव होगा जिससे राष्ट्रीय आय बढकर EE रेखा के स्तर पर पहुंच जाएगी। रेखा EE गुणक तथा त्वरक दोनो की परस्पर क्रिया द्वारा पैदा की गई आय की वृद्धि को दर्शाती है। FF पूर्ण रोजगार की उच्चतम सीमा (ceiling) है। चूंकि पूर्ण रोजगार पर सभी उपलब्ध मानवीय एव भौतिक साधनो का पूर्ण उपयोग हो रहा होता है, इसलिए FF से अधिक राष्ट्रीय उत्पादन नही हो सकता। अब देखिए प्रो० हिक्स व्यापारिक चक्र की किस प्रकार व्याख्या करता है। यदि स्वतन्त्र निवेश (autonomous investment) मे स्थिर गति से वृद्धि हो रही हो, जैसा कि रेखा AA द्वारा प्रकट होता है, तो उससे आय मे वृद्धि होगी। राष्ट्रीय आय मे हो रही यह वृद्धि प्रेरित निवेश (induced investment) को उत्पन्न करेगी। स्वतन्त्र निवेश तथा यह प्रेरित निवेश मिलकर राष्ट्रीय आय मे EE रेखा के अनुसार वृद्धि करेंगे। अत EE रेखा दी हुई परिस्थितियों मे राष्ट्रीय आय म सन्तुलन वृद्धि को प्रदर्शित करती है। अत राष्ट्रीय आय समय के साथ EE रेखा के अनुसार बढती चली जाएगी। अब मान लो कि जब राष्ट्रीय आय बिन्दु P_0 पर है तो किसी बाहरी कारण से स्वतन्त्र निवेश मे बडी आकस्मिक बहुत वृद्धि हो जाती है। स्वतन्त्र निवेश मे वृद्धि चाहे तो किसी नये आविष्कार के कारण हो सकती है अथवा सरकार युद्ध के कारण अपना व्यय बहुत बढा देती है। स्वतन्त्र निवेश मे इस बडी वृद्धि के तथा उसके गुणक प्रभाव के कारण राष्ट्रीय आय मे वृद्धि की दर पहले से बहुत बढ जाएगी, अर्थात् राष्ट्रीय आय अब P_0 के बाद रेखा

1 J R Hicks *Contribution to the Theory of Trade Cycles.*

EE से ऊपर चढने लगेगी। इस अधिक गति से बढती हुई राष्ट्रीय आय से प्रेरित निवेश मे भी अधिक वृद्धि होगी जिसके आगे और गुणक प्रभाव पडेंगे। परिणामस्वरूप गुणक व प्रेरित निवेश (जो त्वरक के कारण अधिक मात्रा मे बढता है) के कारण राष्ट्रीय आय P_0P_1 के पथ पर बढती जाएगी। परन्तु राष्ट्रीय आय मे यह वृद्धि पूर्ण रोजगार की रेखा FF के ऊपर नही जा सकती क्योकि देश मे उपलब्ध मानवीय तथा भौतिक उत्पादन के साधनो से FF के ऊपर राष्ट्रीय उत्पादन अथवा आय उत्पादित ही नही हो सकती। इसलिए जब राष्ट्रीय आय बिन्दु P_1 पर पहुँचती है तो इसका अधिक गति से बढना रुक जाता है। पूर्ण रोजगार के उच्चतम स्तर (full empolyment) मे भी वृद्धि हो रही होती है क्योकि सामान्य स्वतन्त्र
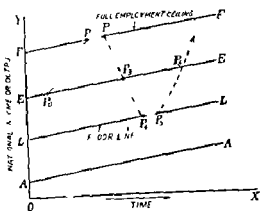
रेखाकृति 55 3

हिक्स के व्यापार चक्र सिद्धान्त का निरूपण

निवेश मे समान गति से वृद्धि होती (AA रेखा के अनुसार) मानी गई है (जब सामान्य स्वतन्त्र निवेश बढ़ता है तो इससे पूँजी पदार्थों अर्थात् भौतिक उत्पादक साधनो मे वृद्धि होती है और फलस्वरूप पूर्ण-रोजगार उत्पादन बढ़ता है)। प्रो० हिक्स ने यह पूर्वधारणा की है कि पूर्ण रोजगार स्तर की रेखा FF उस गति मे बढती है जिस गति से कि सामान्य स्वतन्त्र निवेश रेखा AA बढ रही है।

जब राष्ट्रीय आय बिन्दु P_1 पर पहुँच गई है और चूंकि पूर्ण रोजगार रेखा FF से ऊपर नही जा सकती तो यह, रेखा FF बडी धीमी गति से बढने लगेगी। परन्तु राष्ट्रीय आय FF पर अधिक समय के लिए नही बढेगी क्योकि अब निवेश इतना अधिक नही है कि वह FF पर की राष्ट्रीय आय को बनाए रख सके। ऐसा इसलिए है कि जब राष्ट्रीय आय P_1 पर पहुँच कर FF पर बढने लगती है तो अब प्रेरित निवेश उतना ही जाता है जितना कि AA रेखा पर सामान्य स्वतन्त्र निवेश के फलस्वरूप आय मे वृद्धि के कारण उत्पन्न होता है। परन्तु जैसा कि हमने ऊपर बताया कि AA रेखा का स्वतन्त्र निवेश तथा उसके कारण उत्पन्न प्रेरित निवेश से निर्धारित राष्ट्रीय आय तो EE रेखा पर होगी। अत स्पष्ट है कि जब राष्ट्रीय आय P_1 पर पहुँच कर FF पर बढने लगती है तो थोडे ही समय बाद निवेश की कमी के कारण घटना आरम्भ कर देगी। रेखाकृति 55 3 मे राष्ट्रीय आय P_2 बिन्दु पर पहुँच कर नीचे को गिरने लगती है। नीचे की ओर गिरती हुई यह EE रेखा तक पहुँच जाएगी परन्तु अब स्थिति ऐसी हो गई है कि इसका गिरना EE रेखा (अर्थात् बिन्दु P_3) तक ही बन्द नही हो जाएगा। कारण यह है कि P_3 से EE रेखा की ओर राष्ट्रीय आय के गिरने से प्रेरित निवेश तो बिल्कुल समाप्त हो जाएगा। अब तो केवल AA रेखा का सामान्य स्वतन्त्र निवेश और उसका गुणक प्रभाव ही रह जाएगा जिससे LL के अनुसार राष्ट्रीय आय निर्धारित होती है। स्पष्ट है कि राष्ट्रीय आय EE रेखा (अर्थात् बिन्दु P_3) से भी नीचे गिरती जाएगी परन्तु यह न्यूनतम रेखा (floor line) से नीचे नही गिरेगी। इसका कारण जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, यह है कि AA रेखा द्वारा प्रदर्शित स्वतन्त्र निवेश और उसका गुणक प्रभाव जो कि सदैव मौजूद हैं, LL के अनुसार राष्ट्रीय आय निर्धारित करते हैं। अत राष्ट्रीय आय LL पर बढने लगेगी। परन्तु LL पर चूंकि राष्ट्रीय आय मे वृद्धि हो रही है, इससे प्रेरित निवेश (induced investment) उत्पन्न होगा जो अपने गुणक प्रभाव से राष्ट्रीय आय को पहले से अधिक गति से बढ़ाएगा। इसलिए राष्ट्रीय आय कुछ समय LL

पर चलकर फिर P_3 से ऊपर को प्रेरित निवेश और उसके गुणक के कार्य करने के कारण EE की ओर बढ़ने लगेगी किन्तु राष्ट्रीय आय का बढ़ना EE रेखा तक ही समाप्त नही होगा क्योंकि P_3 से P_4 तक राष्ट्रीय आय मे वृद्धि की दर LL पर वृद्धि की दर से अधिक है जिसमे अधिक प्रेरित निवेश उत्पन्न होगा जो कि राष्ट्रीय आय को EE मे ऊपर ले जाएगा। अत राष्ट्रीय आय फिर पूर्ण रोजगार के उच्चतम स्तर की रेखा FF की ओर बढ़ेगी। परन्तु जैसा कि हमने ऊपर देखा, यह FF रेखा के ऊपर नही जा सकती और पुन वापस नीचे की ओर अवश्य बढ़ेगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय आय पूर्ण रोजगार के उच्चतम स्तर (full employment level) और न्यूनतम स्तर जो कि सामान्य स्वतन्त्र निवेश (normal autonomous investment) और उसके गुणक प्रभाव द्वारा निर्धारित है, के ऊपर-नीचे घूमती रहती है। राष्ट्रीय आय के इस ऊपर नीचे घूमने को व्यापारिक चक्र (Trade Cycles) कहते हैं। एक विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि राष्ट्रीय आय में इस घट-बढ के साथ सामान्य प्रवृत्ति (trend) ऊपर को जाने की है क्योंकि समय के साथ स्वतन्त्र निवेश मे वृद्धि हो रही है। इस प्रकार प्रो० हिक्स चक्रो (cycles) और विकास प्रवृत्ति (growth trend) की व्याख्या देते हैं।

56

अल्पविकसित देशों के लिए केन्ज के सिद्धान्त की प्रासंगिकता अथवा सार्थकता

(RELEVANCE OF KEYNESIAN THEORY TO UNDER-DEVELOPED COUNTRIES)

गत कुछ अध्यायो मे हमने केन्ज के आय तथा रोजगार सिद्धान्त की सविस्तार व्याख्या की है जो कि विशेषकर विकसित पूँजीवादी देशो के लिए प्रतिपादित किया गया है। परन्तु केन्ज का यह आय तथा रोजगार सिद्धान्त अल्पविकसित देशो पर बहुत सीमा तक लागू नही होता। इसका प्रमुख कारण यह है कि अल्पविकसित देशो मे जो बेरोजगारी होती है, उसका स्वरूप एव कारण विकसित देशो मे पाई जाने वाली बेरोजगारी से भिन्न होते हैं। केन्ज ने अपना सिद्धान्त चक्रीय बेरोजगारी (cyclical unemployment) को ही ध्यान मे रखते हुए प्रतिपादित किया है, जबकि हम जानते हैं कि अल्पविकसित देशो की बेरोजगारी चक्रीय बेरोजगारी नही है। अर्थात् इन देशो मे रोजगार के कम अवसरो के उपलब्ध होने का कारण व्यापार चक्रो की मन्दी अवस्था जबकि समस्त समय माँग (aggregate effective demand) घट जाती है के कारण नही। उनकी बेरोजगारी तो चिरकालीन बेरोजगारी (chronic unemployment) है। मानो बेरोजगारी उनके लिए एक पुरानी (chronic) बीमारी बन चुकी है जो उन्हे छोडने का नाम नही लेती।

दूसरा मुख्य अन्तर यह है कि केन्ज ने अपना सिद्धान्त विकसित देशो को सम्मुख रखकर प्रतिपादित किया। इन देशो मे मुख्य समस्या यह होती है कि इनमे सामयिक उतार-चढाव (cyclical fluctuations), अर्थात् व्यापार चक्रो को कैसे हटाया जाय और किस प्रकार अर्थव्यवस्था मे स्थिरता (stability) लाई जाय। अत सक्षेपत विकसित देशो की मुख्य समस्या उनकी आर्थिक अस्थिरता (economic instability) है। इसके विपरीत अल्प विकसित देशो की मुख्य समस्या यह नही। उनकी तो सबसे बडी समस्या यह है कि आर्थिक विकास (economic growth) कैसे किया जाय अर्थात् वे अपने आय तथा रोजगार स्तर को कैसे द्रुतगति से बढाएँ, न कि यह कि वे आय तथा रोजगार का स्थिरीकरण कैसे करें।

जब हम यह कहते हैं कि केन्ज का सिद्धान्त कम विकसित देशों पर लागू नहीं होता, तो इससे हमारा यह अभिप्राय नहीं कि केन्ज ने जो अनेक नई धारणाएँ प्रस्तुत की वे कम-विकसित देशों के सम्बन्ध में सत्य नहीं। उदाहरणतः केन्ज की उपभोग-प्रवृत्ति की धारणा, निवेश फलन (investment function) तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (marginal efficiency of capital) नकदी अधिमान (liquidity preference) की धारणाएँ तो आधारभूत धारणाएँ है जो सभी देशों पर चाहे वे विकसित हो अथवा वे कम विकसित, लागू होती है, क्योंकि ये धारणाएँ मानव की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों पर आधारित हैं। हमारी आपत्ति तो केन्ज के सम्पूर्ण सिद्धान्त अथवा मॉडल के विषय में है कि यह कम विकसित देशों पर लागू नहीं होता, न कि केन्ज की विभिन्न धारणाओं के सम्बन्ध में। वे धारणाएँ तो मानो आर्थिक विश्लेषण के उपकरण (tools of analysis) हैं, जिन्हें सभी प्रकार की अर्थव्यवस्थाओं के विषय में प्रयोग किया जा सकता है।

अल्पविकसित देशों में बेरोजगारी के कारण तथा स्वरूप भिन्न हैं

(Causes and Nature of Unemployment in Under-developed Countries are Quite Different)

जैसा कि हमने ऊपर बताया है, केन्ज का सिद्धांत अधिकतर चक्रीय बेरोजगारी (cyclical unemployment) के विषय में है। विकसित पूँजीवादी देशों में 1929—1933 के काल में व्यापक मन्दी आई। केन्ज के सिद्धान्त का जन्म उस मन्दी के कारण हुआ, क्योंकि उस मन्दी के कारण सभी उन्नत पूँजीवादी देशों में भारी मात्रा में भीषण बेरोजगारी उत्पन्न हो गई थी। केन्ज ने उस बेरोजगारी का विश्लेषण किया और यह बताया कि इसके होने के कारण तथा इसके दूर करने के प्रभावशाली उपाय क्या हैं। किन्तु अल्प-विकसित देशों की तो समस्या सर्वथा भिन्न है। इनकी बेरोजगारी तो चिरकाल (*long term*) से चली आ रही है और इन देशों में आर्थिक विकास का अभाव ही इस निरन्तर चली आ रही बेरोजगारी का मुख्य कारण है। जैसा कि हमने पूर्व अध्यायों में पढ़ा है, उन्नत देशों में चक्रीय बेरोजगारी समस्त माँग की कमी (deficiency of aggregate demand) के कारण होती है। परन्तु इसके विपरीत भारत जैसे अल्प विकसित देशों में बेरोजगारी इसलिए होती है कि इनमें **श्रमिकों की अधिक संख्या की तुलना में पूँजी बहुत कम है** (deficiency of the stock of capital in relation to the needs of the large labour force)।

आधुनिक काल में मनुष्य निहत्था अर्थात् बिना यन्त्रों के बहुत कुछ नहीं कर सकता। यदि उसे शिकार करके भोजन प्राप्त करना है तो उसे जाल, लाठी या बन्दूक आदि कोई न कोई यन्त्र चाहिएँ, यदि खेती करनी है तो उसे हल, बैल आदि चाहिएँ, यदि कपड़ा बुनना है तो चर्खा, करघा आदि यन्त्र चाहियें। भाव यह है कि कितना साधारण काम क्यों न हो, कोई न कोई *यन्त्र अवश्य* चाहिएँ और आज के युग में *तो उत्पादन-क्रिया इतनी जटिल हो गई है कि अनेक प्रकार की बड़ी-बड़ी मशीनों के बिना काम* नहीं चलता। इसका कारण यह है कि आज के युग में तक्नोलॉजी बड़ी उन्नत प्रकार की है। अतः आजकल श्रमिकों को रोजगार उपलब्ध कराने के लिये पूँजी-पदार्थों की आवश्यकता होती है।

परन्तु जब हम कम-विकसित देशों पर दृष्टि डालते हैं तो हम देखते हैं कि उनमें जहाँ एक ओर जनसंख्या न केवल बहुत अधिक है वरन् बड़ी विस्फोटक दर से बढ़ रही है, वहाँ दूसरी ओर पूँजी का विद्यमान स्टाक बहुत थोड़ा है और जनसंख्या में हो रही वृद्धि की तुलना में बहुत कम बढ़ रहा है। पूँजी-पदार्थों अर्थात् भूमि, यन्त्रों, कारखानों व उद्योग की इस कमी के कारण देश के सभी श्रमिकों को रोजगार नहीं मिल पाता। अतः कई व्यक्तियों को बेरोजगार रहना पड़ता है। भारत जैसे अल्प-विकसित देशों में गत कई वर्षों से जनसंख्या तो बड़ी तीव्र गति से

बढती रही है परन्तु पूँजी साधनों के स्टाक मे इतनी वृद्धि नही हुई है जिससे बेरोजगारी उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। पूँजी साधनो मे कम वृद्धि के कारण बढती हुई जनसख्या अथवा श्रम-शक्ति (labour force) के लिए पर्याप्त रोजगार के अवसर उत्पन्न नही हो सके हैं (In underdeveloped countries labour force has been growing faster than the stock absorbed in productive employment *because not enough capital resources are there to employ them*)। यही कारण है कि कम विकसित देशो मे बेरोजगारी अधिक समय से विद्यमान है। *उनकी बेरोजगारी ऐसी नही कि अर्थ-व्यवस्था* के उतार-चढाव की भाँति इसमे भी कमी-बेशी हो, बल्कि यह बेरोजगारी चिरकालीन (long-term) है तथा पुरानी बीमारी (chronic) की भाँति अधिक समय से विद्यमान है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियो ने इस प्रकार की ही बेरोजगारी का विवेचन किया था जो भारत जैसे अल्प-विकसित देशो मे पाई जाती है। यही कारण है कि उन्होने बेरोजगारी को हटाने के लिए बचत करने तथा पूँजी-निर्माण (saving and capital formation) पर बहुत बल दिया। बेरोजगारी को दूर करने के लिए उनका सुझाव यह था कि वर्तमान आय मे से अधिक बचत करके उसे पूँजी पदार्थों के निर्माण मे *लगाया जाये* ताकि उनकी सहायता से अनेक नये काम-धन्धे आरम्भ किए जायें और इस प्रकार बढती जनसख्या को रोजगार के अवसर उपलब्ध कराये जायें। परन्तु भारत तथा अन्य कम विकसित देशो मे जहाँ जनसख्या तो तेजी से बढ रही है, वहाँ पूँजी पदार्थों का स्टाक अपेक्षाकृत बहुत कम बढा है, जिसका परिणाम यह है *कि रोजगार के अवसर बहुत कम बढ पाए हैं जिससे* ये देश भीषण बेरोजगारी में ग्रस्त हैं।

इस बेरोजगारी ने दो रूप धारण किए हैं। एक तो है शहरो की बेरोजगारी और दूसरी ग्रामीण बेरोज-गारी। इन दोनों मे भारी अन्तर है। शहरों मे तो बडे पैमाने पर खुली या स्पष्ट बेरोजगारी (open unemployment) पाई जाती है। इसका अनुमान हम रोजगार के कार्यालयो (Employment Exchanges) के आंकडो से लगा सकते हैं। शहरो मे जो लोग बेरोजगार होते है वे प्राय अपना नाम इन कार्यालयो मे लिखा देते है ताकि जब कोई नौकरी खाली हो, कार्या-*लय उन्हें सूचित करता है और वे जाकर उस नौकरी* को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर सकते हैं। भारत जैसे कम विकसित देशो मे रोजगार के कार्यालयो के रजिस्टरो मे दर्ज हुए बेरोजगारो की सख्या दिन प्रति-दिन बढती जा रही है।

ग्रामीण बेरोजगारी का स्वरूप प्राय इससे भिन्न है। ग्रामो मे भी शहरो की भाँति बेरोजगारी है तो बहुत, परन्तु प्रतीत नही होती। इसको **प्रच्छन्न अथवा अदृश्य बेरोजगारी** (Disguised Unemployment) कहते हैं। यह बेरोजगारी प्राय कृषि मे पाई जाती है। भारत जैसे जनाधिक्य के देश मे इस समय कृषि मे इतने *व्यक्ति काम कर रहे हैं कि उन सभी की आवश्यकता* नही है, वास्तव मे वे या तो केवल नाम-मात्र काम कर रहे होते हैं या बहुत कम घण्टे अथवा दिन काम कर रहे होते हैं। कृषि मे प्रयुक्त बहुत से व्यक्तियो को यदि कृषि से निकाल लिया जाए तो कृषि उत्पादन मे कोई कमी नहीं आएगी। दूसरे शब्दो मे, कृषि मे लगे हुए बहुत से व्यक्तियो की सीमान्त उत्पादकता (marginal productivity) शून्य (zero) है। भारत का उदाहरण लें। इसकी जनसख्या का लगभग 70 प्रतिशत भाग कृषि में कार्यरत है। कृषि विशेषज्ञो का विचार है कि इसमे से लगभग 25 प्रतिशत सख्या मे लोगों को कृषि मे से यदि हटा लिया जाये तो भी देश का *कृषि उत्पादन कम नही होगा।*

प्रच्छन्न बेरोजगारी का कारण यह है कि जनसख्या बढने के साथ गैर-कृषि व्यवसायो (*non-agricultural* occupations) मे पूँजी पदार्थों की कमी के कारण रोजगार की सम्भावनाएँ नही बढ सकी हैं। अत जब लोगो को गैर-कृषि व्यवसायो मे रोजगार प्राप्त न हुआ तो वे कृषि मे ही लगे रहे चाहे कृषि मे उनकी कोई आवश्यकता नहीं थी और न ही इनके कृषि मे लगने से कृषि उत्पादन में कोई विशेष वृद्धि हुई।

अतः स्पष्ट है कि इन लोगों को उत्पादक रोजगार पर लगे हुए समझना सही नहीं है।

अल्पविकसित देशों में पायी जाने वाली बेरोजगारी का कारण न केवल पूंजी के स्टाक का अभाव है बल्कि आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं जिन्हें सामान्यतया मजदूरी वस्तुएं (wage goods) कहते हैं, का भी अभाव है। बम्बई विश्वविद्यालय के प्रमुख अर्थशास्त्री प्रो० पी० आर० ब्रह्मानन्द (P R Brahmanand) तथा सी० एन० वकील (C N Vakil) ने अल्पविकसित देशों में पायी जाने वाली बेरोजगारी का प्रमुख कारण मजदूरी वस्तुओं का अभाव (lack of wage goods) बतलाया है। उनके मतानुसार जब बेरोजगार श्रमिकों को किसी काम पर (उदाहरणतया सार्वजनिक निर्माण कार्यों) में लगाया जाता है तो उन्हें मुद्रा रूप में जो मजदूरियां दी जायेंगी, वे उन्हें अधिकांशत आवश्यक उपभोक्ता पदार्थों जैसे कि खाद्यान्नों पर व्यय करेंगे। यदि सभी बेरोजगार व्यक्तियों के लिए आवश्यक मजदूरी वस्तुएं उपलब्ध नहीं हैं तो उनमें से कई व्यक्तियों को रोजगार नहीं दिया जा सकता। वास्तविक मजदूरी की एक निश्चित दर पर देश में उपलब्ध कुल श्रमिकों के लिए आवश्यक कुल मजदूरी वस्तुओं की मात्रा तथा वास्तव में उपलब्ध मजदूरी वस्तुओं की मात्रा में अन्तर को ब्रह्मानन्द एव वकील मजदूरी-वस्तु अन्तर (wage goods gap) कहते हैं। अत उनके अनुसार अल्पविकसित देशों में पाई जाने वाली बेरोजगारी का प्रमुख कारण यह "मजदूरी-वस्तु अन्तर" ही है।[1]

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० ए० के० सेन (A K Sen) ने अपनी नवीन पुस्तक "रोजगार, तकनीकी तथा विकास" (*Employment, Technology and Development*) में भी यह स्पष्ट किया है कि अल्पविकसित देशों में मजदूरी पर रोजगार की मात्रा मजदूरी वस्तुओं की उपलब्ध पूर्ति तथा वास्तविक मजदूरी की दर पर निर्भर करती है। यदि E रोजगार की मात्रा को दर्शाये, M मजदूरी-वस्तुओं की उपलब्ध पूर्ति को, तथा w मजदूरी की दर को तो रोजगार की निर्धारित मात्रा निम्नलिखित समीकरण से ज्ञात की जा सकती है[1]

$$E = \frac{M}{w}$$

अत स्पष्ट है कि यदि मजदूरी-वस्तुओं की पूर्ति (M) पूर्ण रोजगार की स्थिति में आवश्यक मात्रा से कम होगी तो सभी बेरोजगार व्यक्तियों को रोजगार नहीं दिया जा सकेगा। देश में तीव्र गति में रोजगार की मात्रा बढ़ाने के लिए विकास प्रविधि (development strategy) में कृषि को सर्वोच्च प्राथमिकता देने का सुझाव दिया गया क्योंकि कृषि से ही महत्त्वपूर्ण मजदूरी वस्तुएँ अर्थात् खाद्यान्न उत्पादित किये जाते हैं।

केन्ज के सिद्धान्त में की गई मान्यतायें अल्पविकसित देशों की स्थिति में सत्य नहीं है (Assumptions made in Keynesian Theory are quite inapplicable to Under-developed Countries)

केन्ज का आय तथा रोजगार सम्बन्धी सिद्धान्त कई मान्यताओं पर आधारित है। कम विकसित देशों की स्थिति में ये मान्यताएँ यथार्थ (realistic) नहीं। यदि मान्यताएँ ही यथार्थ नहीं, तो इनके आधार पर प्रतिपादित सिद्धान्त कैसे सार्थक (relevant) या सही (valid) अथवा लागू हो सकता है।

केन्ज ने जो मान्यताएँ अपनाई वे दो प्रकार की हैं। एक तो वे जो गुणक (multiplier) के साथ सम्बन्धित है और दूसरी वे जो अल्पकालीन विश्लेषण के लिए ठीक हैं। पहले हम दूसरी श्रेणी की मान्यताओं को लें अर्थात् जो अल्पकालीन विश्लेषण में अवश्य अपनानी पड़ती हैं। केन्ज यह मानकर चलता है कि पूंजी साजसज्जा (capital equipment), उत्पादन

1. देखें उनके द्वारा लिखित पुस्तक "*Planning for an Expanding Economy*"

1 A K Sen, *Employment, Technology and Development*, Oxford University Press, 1975, p 85

की तकनीक (technology) उत्पादन का प्रबन्ध या संगठन (organisation) श्रमिकों की संख्या तथा उनकी कार्यकुशलता (size and efficiency of the labour force)—ये सभी बातें पूर्ववत ही रहती है अर्थात उनमें कोई परिवर्तन अथवा सुधार आदि नहीं होता। दूसरे शब्दों में केन्ज ने यह मान्यता ली कि ये सभी महत्त्वपूर्ण तत्त्व स्थिर (constant) रहते हैं और बेरोजगारी इन तत्त्वों में परिवर्तन होने के कारण नहीं वरन केवल समस्त मांग में कमी होने के कारण ही होती है।

इसके विपरीत हम देखते हैं कि अल्पविकसित देशों की मुख्य समस्या तो यह है कि आर्थिक विकास लाने के लिए पूंजी पदार्थों की मात्रा को बढ़ाया जाए उत्पादन की नई तथा श्रेष्ठ तकनीक अपनाई जाए श्रमिकों की कार्यकुशलता को बढ़ाया जाए। अतः ये देश तो निरंतर ऐसा करने में प्रयत्नशील रहने चाहिएं। इन्हीं उपायों से तो वे अपनी राष्ट्रीय आय तथा अपना रोजगार स्तर बढ़ा सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि केन्ज ने जो ये मान्यताएं अपनाईं कि उक्त तत्त्वों में कोई परिवर्तन नहीं आता ऐसा करना कम विकसित देशों के विषय में भारी भूल है। केन्ज ने यह मान्यता विकसित देशों का उदाहरण मन में रखते हुए अपनाई। उन देशों में मुख्य समस्या अपकाल की थी और वह यह कि चक्रीय उतार चढ़ाव (cyclical fluctuations) क्यों होता है और इसे किस प्रकार रोका जाय। परन्तु कम विकसित देशों की समस्या तो बिल्कुल भिन्न है और यह थोड़े समय की नहीं, वरन् दीर्घकाल की है और जिन तत्त्वों को केन्ज ने स्थिर मान लिया इन देशों को तो उन्हें ही बदलना आवश्यक है, उन्हें सुधारे बिना उन देशों में कोई उन्नति या विकास नहीं हो सकता। परन्तु केन्ज तो इन आवश्यक तत्त्वों में वृद्धि का नाम तक नहीं लेता। अतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि केन्ज का सिद्धान्त तथा रोजगार तथा आय में वृद्धि करने के लिए केन्ज द्वारा प्रस्तुत उपाय तथा नीतियां कम विकसित देशों के लिए उपयुक्त पथ प्रदर्शन नहीं करतीं।

केन्ज का गुणक सिद्धान्त अल्पविकसित देशों पर लागू नहीं होता

(Keynesian theory of Multiplier does not apply to Under developed Countries)

दूसरी प्रकार की मान्यताएं वे हैं जिनका सम्बन्ध इस बात से है कि गुणक कैसे काम करता है। उदाहरणतया केन्ज की एक अतीव महत्त्वपूर्ण मान्यता यह भी है कि औद्योगिक देशों में उत्पादन का पूर्तिवक्र सापेक्ष अथवा लोचपूर्ण होता है (The supply curve of output is elastic)। दूसरे शब्दों में, जब किसी वस्तु या सेवा की मांग बढ़ती है तो उसकी पूर्ति भी बिना विशेष कठिनाई के बढ़ाई जा सकती है। इससे सम्बन्धित एक और मान्यता यह है कि उपभोग पदार्थों के उद्योगों में अप्रयुक्त उत्पादन-क्षमता (excess capacity) विद्यमान है। ऐसा होने की अवस्था में समस्त मांग के बढ़ने पर पूर्ति आसानी से बढ़ाई जा सकती है और यही कारण है कि यदि किसी कारणवश मांग कम हो जाय तो उत्पादन-क्षमता (productive capacity) का कुछ भाग अप्रयुक्त हो जाता है जिससे बेरोजगारी उत्पन्न हो जाती है।

केन्ज द्वारा अपनायी गई अन्य मान्यता यह है कि कच्चे माल आदि जैसी चल पूंजी (working capital) की पूर्ति भी अधिक सापेक्ष (elastic) है और आवश्यकता पड़ने पर सुगमता से बढ़ाई जा सकती है। चौथी मान्यता यह है कि बेरोजगारी अनैच्छिक (involuntary unemployment) है, अर्थात् लोग मजदूरी की प्रचलित दर पर काम करना चाहते हैं पर उन्हें काम मिलता नहीं।

ये हैं कुछेक मान्यताएं जिनके सत्य होने पर ही केन्ज द्वारा प्रस्तुत गुणक (multiplier) कार्य करता है। इन्हीं बातों के होने पर ही गुणक आय तथा रोजगार को बढ़ाने में सफल होता है। दूसरे शब्दों में जब नई पूंजी विशेष कार्य में लगाई जायगी तो उत्पादन के साधनों की आय बढ़ेगी, और इस प्रकार कुल मांग बढ़ेगी क्योंकि केन्ज यह मान कर चलता है कि पदार्थों की पूर्ति मूल्यसापेक्ष है, उद्योगों में पर्याप्त

अप्रयुक्त क्षमता विद्यमान है और चल पूंजी भी बढाई जा सकती है इत्यादि। अत माँग बढने पर उत्पादन बढ जायगा और रोजगार म लगना चाहने वाले श्रमिको को काम मिल जायगा और आय तथा रोजगार गुणक की मात्रा के अनुसार बढ जायेंगे। उदाहरणतया यदि गुणक 4 हो तो 1 000 रुपय का नया प्रारम्भिक निवेश (initial investment) करने पर माँग उत्पादन तथा रोजगार इतने बढ जायेंगे कि अन्त म कुल वृद्धि 4 000 रु० हो जायगी।

परन्तु चूंकि उक्त मान्यताए भारत जैसे अल्प विकसित देशो के विषय म सही नही अत केन्ज का यह सिद्धान्त उन पर लागू नही होता। इगलैण्ड तथा सयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति ये देश उद्योग प्रधान नही अपितु कृषि प्रधान हैं। अत इनके उद्योगो म अधिक अप्रयुक्त उत्पादन क्षमता (excess productive capacity) न होने के कारण उपभोक्ता वस्तुओ की पूर्ति सापेक्ष (elastic) नही होती अर्थात उनके उत्पादन को अधिक मात्रा म बढाया नही जा सकता। इनम मशीनरी, सयत्र जैसे पूंजीगत पदार्थों का तो अभाव सा ही होता है। इन देशो म सबसे भारी कमी पूंजी की होती है जिसस इनम आवश्यकता पडने पर कच्चा माल आदि के लिए चल पूंजी नही बढाई जा सकती। इन देशो की एक अन्य अतीव महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इनम अधिकांश व्यक्ति स्वय रोजगार (self-employment) प्राप्त किए होते हैं अर्थात मजदूरी पर किसी कारखाने या व्यवसाय मे काम नही कर रहे होत अत इनम मजदूरी पर काम करने वालो की सख्या अपेक्षत बहुत कम होती है। इन देशो म उत्पादन का अधिकांश अपने उपभोग (self consumption) के लिए होता है न कि बाजार म बेचने के लिए। इनम अधिकाश बेरोजगारी अदृश्य (disguised) प्रकार की होती है।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि अल्पविकसित देशो के अनेक तथ्य विकसित देशो के विपरीत है। केन्ज का सिद्धान्त तो विकसित देशो पर ही लागू होता है क्योंकि उस सिद्धान्त की मान्यताएँ केवल उन्ही देशो के विषय म ही सत्य होती है। अल्प विकसित देशो म तो जैसा कि अभी हमने देखा स्थिति बिल्कुल भिन्न है। अत केन्ज का सिद्धान्त उन पर लागू नही होता। जो दशाएँ कम विकसित देशो म पाई जाती है उनम गुणक (multiplier) काम नही कर सकता। तथा क्या ? मान लीजिए कि किसी कम विकसित देश म एक करोड रुपय का निवेश किया जाता है और एक फक्टरी स्थापित की जाती है। इससे कुछ श्रमिको को रोजगार प्राप्त होगा उनकी आय बढेगी। परन्तु आय तथा रोजगार बढने का यह क्रम यही समाप्त हो जाता है आगे नही चलता। इसका कारण यह है कि नयी फक्टरिया के स्थापित होने पर जब आय बढती है तो उपभोक्ता पदार्थों की माँग बढती है परन्तु उनकी पूर्ति लोचदार न होने के कारण बढाई नही जा सकती। ऐसी दशा म माँग बढने का एक मात्र परिणाम यह होता है कि आवश्यक वस्तुओ की कीमत बढ जाती है। अत स्पष्ट है कि नया निवेश करने के फलस्वरूप होने वाली आय की वृद्धि केवल कीमतो की वृद्धि का रूप धारण कर लेती है और वास्तविक आय एव रोजगार म वृद्धि नही हो पाती।

अल्पविकसित देशो म प्राय लोगो का मुख्य व्यवसाय कृषि होता है और इनकी राष्ट्रीय आय का बहुत बडा भाग (प्राय लगभग दो तिहाई) कृषि पदार्थों जैसे खाद्यान्नो पर ही व्यय होता है परन्तु हम जानते हैं कि कृषि पदार्थों की पूर्ति बेलोचदार होती है क्योंकि इनका उत्पादन वर्षा आदि जैसे प्राकृतिक तत्त्वो (natural factors) पर ही अधिकतर निर्भर करता है। कृषको के पास उत्पादन बढाने के लिये आवश्यक साधन जैसे रासायनिक खाद सिंचाई की सुविधाएँ मशीनरी आदि पूंजी पदार्थों का अभाव होता है तथा उधार पर वित्त लेने की सुविधाएँ भी नही होती। अत उत्पादन बढाना बडा कठिन होता है। अत नया निवेश करने पर जब आय बढती है तो वह अधिकतर केवल खाद्य पदार्थों पर व्यय की जाती है जिसस उनकी माँग तो बढती है परन्तु पूर्ति लोचदार न होने के कारण इसका मुख्य परिणाम कीमतो म वृद्धि होता है न कि उत्पादन तथा

रोजगार मे वृद्धि जो कि गुणक नियम के अनुसार होनी चाहिए थी।

कम विकसित देशो मे एक और बात भी देखी जाती है। वह यह है कि इन देशो मे आय बढती है, तो यह आय म हुई वृद्धि लगभग सारी की सारी उपभोग पर ही व्यय हो जाती है। इसका कारण यह है कि इन लोगो की उपभोग प्रवृत्ति (propensity to consume) बहुत अधिक होती है। उनकी आय मे हुई वृद्धि का अधिकतर भाग खाद्य-पदार्थों पर ही व्यय हो जाता है जो व्यक्ति खाद्य पदार्थ स्वय उत्पादित करते है, वे आय बढने पर उनका पहले से अधिक भाग स्वय उपभोग कर लेते है। अत अल्पविकसित देशो मे खाद्यान्नो की माँग प्राय अत्यन्त आय सापेक्ष होती है (income elasticity of demand for food is generally very high)। अब चूँकि कृषक अपने उत्पादन का पहले से अधिक भाग स्वय उपभोग करने लग जाते है, अत खाद्यान्नो के विक्रय अतिरेक (marketable surplus of foodgrains) अब कम मात्रा मे आते है। कीमते बढ जाने का यह एक और कारण है।

यदि इन लोगो की आय मे हुई वृद्धि का कुछ भाग खाद्य-पदार्थों के क्रय से बच रहता है तो वह औद्योगिक पदार्थों पर व्यय किया जाता है। परन्तु जैसा कि हम पहले बता चुके है अल्प-विकसित देशो मे प्राय उनकी पूर्ति भी शीघ्रता से बढाई नही जा सकती। अत उनकी भी कीमते बहुत बढ जाती हैं, पूर्ति बहुत नहीं बढती। इसलिए न केवल कृषि-क्षेत्र मे वरन् औद्योगिक क्षेत्र मे भी कीमते बढने लग जाती है और एक दूसरे को प्रभावित करके और भी ऊँची चढने लग जाती हैं। इस प्रकार मुद्रास्फीति का चक्र (inflationary spiral) चलने लगता है। योजना काल मे हमारे देश मे जो कुछ हुआ है, वह इस प्रक्रिया की पुष्टि करता है। पचवर्षीय योजनाओ के अन्तर्गत विकास कार्यक्रमो पर घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficit financing) की रीति से अर्थात् नई मुद्रा जारी करके सैकडो करोड रुपये का निवेश किया गया है, परन्तु कृषि उत्पादन बहुत नही बढा, परिणामस्वरूप कीमतें बढी और बढती जा रही हैं। आप बताइये, यहाँ केन्ज का गुणक नियम कहाँ गया? कम-विकसित देशो से बेरोजगारी तथा अल्प रोजगारी को हटाने के लिये केन्ज द्वारा प्रस्तुत सुझावो पर अमल करना तो इन देशो को मानो मुद्रा स्फीति अर्थात् अत्यधिक मूल्य-वृद्धि के विकराल मुँह मे धकेलना ही है (Keynesian remedies to remove unemployment and underemployment in backward countries will plunge these countries into an inflationary spiral)।

जैसा कि हम बता चुके है अल्प-विकसित देशो की बेरोजगारी की समस्या सर्वथा भिन्न है। इनमे केन्ज के सिद्धान्त मे बताई गई अनैच्छिक बेरोजगारी (involuntary unemployment) नही होती अपितु इनकी बेरोजगारी तो अदृश्य प्रकार की होती है। इनमे लोग स्वय नही समझते कि वे बेरोजगार है। वे अपनी भूमि पर अपने परिवार के अन्य सदस्यो के साथ जितना थोडा-बहुत काम उनके हिस्से मे आता है, करते रहते है, चाहे वास्तविक रूप मे उस भूमि पर पहले ही इतने अधिक व्यक्ति काम कर रहे हो कि उनकी आवश्यकता ही न हो अर्थात् उनका सीमान्त उत्पादन शून्य होता है। परन्तु उत्पादन की दृष्टि से प्रच्छन्न रूप से ये बेरोजगार व्यक्ति प्राय मार्केट मे रोजगार की तलाश नहीं करते। अत हम यह तो नही कह सकते कि ये केन्ज के सिद्धान्त के भाव मे अनैच्छिक बेरोजगार (involuntary unemployed) है, परन्तु वास्तव मे आर्थिक दृष्टि से वे अदृश्य बेरोजगारी के अर्थ मे निश्चय ही बेरोजगार है (they are not really involuntarily unemployed in the Keynesian sense, and yet they are unemployed in the clearly economic sense of disguised unemployment)

जिस प्रकार की बेरोजगारी कम विकसित देशो मे पाई जाती है, अर्थात् प्रच्छन्न बेरोजगारी, उसके कारण ऐसे प्रतीत होता है कि इन देशो की अर्थ-

व्यवस्था एक प्रकार से केन्ज द्वारा बनाये गये अर्थ में पूर्ण रोजगार की अर्थव्यवस्था है। केन्ज के विचार में पूर्ण रोजगार की अर्थव्यवस्था तब होती है जब यदि देश की समस्त माँग को किसी प्रकार और बढ़ाया जाय तो उसके फलस्वरूप उत्पादन तथा रोजगार में कोई वास्तविक वृद्धि न हो क्योंकि पूर्ण रोजगार होने के कारण उत्पादन के सभी साधन जिनमें श्रमिक भी सम्मिलित हैं पहले ही काम पर लगे हुए होते हैं और अब कोई भी ऐसे उत्पादन साधन नहीं होते जो समस्त माँग में वृद्धि होने के कारण काम पर लगने के लिए उपलब्ध हों। ऐसी स्थिति में माँग और अधिक बढ़ने का एक मात्र परिणाम मुद्रास्फीति उत्पन्न करना होगा अर्थात् कीमतों को बढ़ाना होगा न कि उत्पादन तथा रोजगार को। कीमतें बढ़ जाने से आय जो मुद्रा में व्यक्त की जाती है अवश्य बढ़ जायगी परन्तु यह वास्तविक आय (real income) की वृद्धि नहीं कही जा सकती। यह स्थिति वास्तव में कम-विकसित देशों में घटित हुई है। इनमें विकास योजनाओं के अन्तर्गत निवेश व्यय में वृद्धि के फलस्वरूप समस्त माँग को और अधिक बढ़ाया जाय तो पदार्थों तथा सेवाओं की पूर्ति बेलोचदार होने के कारण न तो उत्पादन ही बढ़ता है और न ही रोजगार, केवल कीमतों में ही वृद्धि होती है। देश की आय को यदि मुद्रा में व्यक्त किया जाय, तो कीमतें बढ़ जाने के कारण राष्ट्रीय आय भी पहले से बढ़ी हुई प्रतीत होती है परन्तु वास्तविक आय में कोई वृद्धि नहीं होती अर्थात् यदि गुणक कार्य करता है तो वह मुद्रा आय को बढ़ाने में करता है न कि वास्तविक आय बढ़ाने में। ठीक यही बात पूर्ण रोजगार की स्थिति में केन्ज द्वारा प्रस्तुत समस्त माँग बढ़ाने के उपायों का परिणाम होती है। दूसरे शब्दों में, अल्प-विकसित देशों की अपनी विलक्षण परिस्थितियाँ (जिनकी व्याख्या हम अभी कर आये है) होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें मानो पूर्ण रोजगार की अवस्था विद्यमान है। किन्तु वास्तव में यह बात यथार्थता से दूर है। भारत के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० वी० के० आर० वी० राव के अनुसार 'The particular form which unemployment takes in the under-developed countries viz that of disguised unemployment makes the economy for Keynesian purposes practically analogous with one of full employment, and to that extent prevents the multiplier from working in the direction of an increase in either output or employment"[1]

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि कम विकसित देशों की अर्थव्यवस्था विकसित देशों की अर्थव्यवस्था से बहुत भिन्न होती है। केन्ज ने जो आय तथा रोजगार सिद्धान्त प्रतिपादित किया वह तो विकसित देशों की अर्थव्यवस्था को सम्मुख रखते हुए किया गया था। हमने ऊपर लगभग उन सभी बातों की व्याख्या की है जिनके कारण कम-विकसित देशों की अर्थव्यवस्था विकसित अर्थव्यवस्थाओं से भिन्न होती है। हमने यह भी देखा है कि इन्हीं के कारण केन्ज का सम्पूर्ण रूप से सिद्धान्त कम-विकसित देशों पर लागू नहीं होता। परन्तु यह कह देना आवश्यक है कि उनकी समस्याओं का समाधान करने के लिए केन्ज द्वारा प्रस्तुत विभिन्न आधारभूत धारणाएँ बड़ी उपयोगी हैं। ये धारणायें जैसे कि उपभोग प्रवृत्ति, निवेश माँग फलन, पूँजी की सीमान्त उत्पादकता, नकदी अधिमान कम विकसित देशों की आर्थिक समस्याओं के विश्लेषण के उपकरण (tools of analysis) के समान हैं।

---

1 V K R V. Rao, Keynesian Income Multiplier and Underdeveloped Countries

SECTION A MICRO-ECONOMIC THEORY Price Mechanism An Elementary Analysis • Demand and Law of Demand • Demand Marginal Utility Analysis • Demand Indifference Curve Analysis • Elasticity of Demand • Supply and Elasticity • Some Applications of Demand and Suply Analysis • Theory of Production Some Concepts • Returns to a Factor Law of Variable Proportions • Returns to Scale • Optimum Combination of Factors • Cost of Productoin and Cost Curves • Concepts of Revenue • Equilibrium of the Firm A General Analysis of Profit Maximising Behaviour • Equilibrium of the Firmunder Perfect Competition • Pricing Under Perfect Competition Demand and Supply Analysis Again • Price and Output under Imperfect Competition • Price and Output Under Monopoly • A Critique of the Principle of Profit Maximization • Pricing of Factors Some Fundamental Concepts • Analysis of Factor Pricing • Concept of Rent • Role of uncertainty • International Trade Comparative Cost Theory

08 016 6/e 1994 pp 460 Rs 75 00

H L Ahuja

PRINCIPLES OF MICROECONOMICS

This book is suitable for B A and B Com students and has become very popular The book contains thorough explanation discussion and critical examination of the various concepts and theories of micro economics including full cost pricing theory

CONTENTS PART I Scope and Methodology of Economics • What Economics is About • Micro and Macro-Economics • The Methodology and Mathematical Tools of Economics • Economic Statics and Dynamics • Basic Economic Problems • The Capitalist Economic System The Role of Price Mechanism • PART II Micro economics Demand and Law of Demand • Demand Marginal Utility Analysis • Indifference Curve Analysis of Demand • Marshallian Utility Analysis vs Indifference Curve Analysis • Applications and Uses of Indifference Curves • Revealed Preference Theory of Demand • Elasticity of Demand • Consumer s Surplus • Factors of Production • Theory of Production • Returns to Scale • The Theory of Production Optimum Factor Combination • Cost of Production and Cost Curves • Supply and its Elasticity • Main Market Forms and Concepts of Revenue • Equilibrium of the Firm—A General Analysis • Equilibrium of the Firm and Industry under Perfect Competition • Price Determination under Perfect Competition • Some Applications of Demand and Supply Analysis • Price and Output under Monopolistic and Imperfect Competition • Price and Output under Oligopoly • Full Cost Pricing Theory and Sales Maximization Model • Linear Programming and the Theory of the Firm • The Theory of Distribution A General View • Labour Supply and Wage Determination • Theory of Rent • The Theory of Interest • The Theory of Profits • General Equilibrium Analysis • Welfare Economics An Introduction • Pareto Criterion and pareto Optimality • Obstacles to Pareto Optimality • New Welfare Economics Compensation principle • Social Welfare Function

08 040 7/e 1995 pp 517 Rs 90 00

H L Ahuja

ADVANCED ECONOMIC THEORY (MICRO-ECONOMIC ANALYSIS)

This book is suitable for the Honours and M A students of Indian Universities In this book an effort has been made to discuss the various theories of micro economics without making use of advanced mathematics

CONTENTS PART I The Content and Nature of Economic Theory • PART II The Theory of Demand • PART III Theory Of Production and Cost • PART IV The Theory of The Firm • PART V The Theory of Product Pricing Perfect Competition • PART VI The Theory of Product Pricing Imperfect Competition • PART VII The Theory of Distribution • PART VIII Welfare Economics • PART IX Linear Programming and Input output Analysis

08 018 8/e 1995 pp 1012 Rs 160 00
08 019 3/e (Hindi) 1993 pp 926 Rs 110 00

K K Dewett

MICROECONOMICS OR PRICE THEORY (Value Distribution and Welfare Economics)

This book is suitable for students of B A (Pass and Hons) B Com and even Post graduate students and the candidates appearing in various competitive examinations

CONTENTS PART I Nature and Methodology of Economics • PART II Theory of Demand • PART III Theory of Production • PART IV Product Pricing • PART V Factor Pricing • PART VI Economics of Welfare

08 057 7/e 1993 pp 338 Rs 50 00

Ruddar Datt & K P M Sundharam

INDIAN ECONOMY

In this book the authors have presented a development oriented study of the Indian economy which is suitable for Indian students of the under graduate level

CONTENTS PART I – STRUCTURE OF THE INDIAN ECONOMY Underdevelopment and the Indian Economy • Economic Transition in India • National Income of India • Human Resources and Economic Development • Occupational Structure and Economic Development • Natural Resources Economic Development and Environmental Degradation • Infrastructure in the Indian Economy • PART II PLANNING AND ECONOMIC DEVELOPMENT Economic Planning in India • Strategy of Development in Indian Planning • Industrial Policy • Public Sector and Indian Planning • Private Sector in India • Joint Sector and Economic Development • Privatisation and New Economic Reforms • Review of the First Six Plans in India • Financial Resources and the Plans • Review of 40 Years of Planning • Seventh Five Year Plan (1985 90) The Problem of Capital Formation • Foreign Capital Foreign Aid and Economic Development • Poverty Inequality and the Planning Process in India • Unemployment in India • Self Reliance and Economic Growth in India • Large Industrial Houses and Concentration of Economic Power in India • Prices Price Policy and Economic Growth • Balanced Regional Development • PART III AGRICULTURE IN THE NATIONAL ECONOMY Agriculture Productivity Trends and Crop Pattern • Irrigation and Agricultural Inputs • Land Reforms • Size of Farms and Productive Efficiency • Organisation of Rural Credit in India • Agricultural Marketing and Warehousing • The Food Problem and the Green Revolution • Agricultural Taxation in India • Agriculture Under Five Year Plans • Agricultural Labour • PART IV INDIAN INDUSTRIES Industrial Pattern and the Plans • Some Large Scale Industries • Small Scale Enterprises • Sickness in Indian Industry • Industrial Finance • Labour Problems and Labour Policy • National Wage Policy • PART V THE TERTIARY SECTOR IN THE INDIAN ECONOMY The Foreign Trade of India • India s Balance of Payments • The Transport System • Indian Currency System • Indian Currency System • Indian Commercial Banking • The Reserve Bank of India and the Indian Money Market • The Reform of the Financial System in India • Indian Capital Market • Indian Capital Market •

Indian Public Finance • Financial Relations Between the Centre and the States • The Parallel Economy in India • Eighth Five-Year-Plan (1992 97) • Budget of the Central Government (1994 95) • Index.

08 011 32/e 1995 pp. 829 Rs. 135.00
08 013 25/e (Hindi) 1995 pp. 903 Rs. 125 00
08 182 Bound Edition Rs 195 00

K K Dewett, J D Varma & M L Sharma

INDIAN ECONOMICS (A Development Oriented Study)

This book furnishes a comprehensive and critical review of economic policies, and trends in important economic variables It will meet satisfactorily the requirements of students/candidates preparing for various university examinations—B.A (Pass & Hons), B.Com. (Pass & Hons), M.A., M Com., I C.W.A., Chartered Accoun tancy, C.A.I I B and Public service examinations

CONTENTS PART I Indian Economy Nature and Macro View • PART II Natural and Demographic Aspects • PART III Aspects of Agricultural Development • PART IV Aspects of Industrial Development • PART V • Structure and Problems of The Tertiary Sector • PART VI Income and Employment • PART VII Financial System and Fiscal Policy • PART VIII Planning and Development.

08 010 37/e 1995 pp 644 Rs 115 00

Suraj B Gupta

MONETARY ECONOMICS Institutions, Theory and Policy

This textbook combines a systematic discussion of institutions theory and policy concerning money and credit in India It is useful for teachers and students of monetary economics at master's and B.A./B Com. honours levels of Indian Universities

CONTENTS PART I Institution—Money and the Payments System • Credit and Financial System • Financial Markets • The Reserve Bank of India • Commercial Banks—I • Commercial Banks—II • Co-operative Banks • Development Banks • Non Bank Financial Intermediaries • Unregulated Credit Markets • PART II Theory—The Demand for Money • Money and Prices • Money Interest and Income • Inflation • Theory of Money Supply • The Supply of Credit and its Allocation • Interest Rates • PART III Policy—Goals Targets and Indicators • Instruments of Control • Credit Planning

08 048 3/e (reprint) 1995 pp 476 Rs. 60 00

T T Sethi

MONETARY ECONOMICS

This book is suitable for B.A., M.A. students and those appearing for C A I I B and other competitive examinations It is an exhaustive self sufficient volume with questions given at the end of each chapter

CONTENTS PART I Theory of Money The Nature and Functions of Money • Significance of Money • The Supply of and Demand for Money • The Value of Money • The Quantity Theory of Money • The Income Theory of Prices • Keynes s Theory of Money and Prices • Friedman s Quantity Theory of Money • Monetary Standards • PART II Theory of Income Determination Keynes s Theory of Employment • The Consumption Function • The Investment Function • The Multiplier and the Acceleration Principles • Savings and Investment • The Rate of Interest • PART III Instability and Stabilisation Policies • Inflation and Deflation • Business Cycles • Monetary Policy • Instruments of Credit Control • Fiscal Policy • PART IV Theory and Practices of Banking Commercial Banking • Credit Creation By Commercial Banks • Central Banking Nature and Functions • The Money Market • The Indian Money Market • The Reserve Bank of India—Functions and Working • The Reserve Bank of India and Monetary Management • Commercial Banking in India • PART V International Aspects of Money • Balance of Payments • Foreign Exchange Rates • The International Monetary Fund • The World Bank Group and Asian Development Bank.

08 067 3/e 1995 (In Press)

T T Sethi

MONEY, BANKING AND INTERNATIONAL TRADE

This book covers the syllabi prescribed for B.A. and B Com. (Pass and Hons courses) in several Indian Universities The latest available data have been used and the book is exhaustive, lucid and simple

CONTENTS : PART I - THEORY OF MONEY • The Nature and Functions of Money • Significance of Money • The Supply of and Demand for Money • The Value of Money • The Quantity Theory of Money • The Income Theory of Prices • Keyne s Theory of Money and Prices • Friedman s Quantity Theory of Money • Monetary Standards • Inflation and Deflation • PART II - THEORY AND PRACTICES OF BANKING • Commercial Banking • Credit Creation by Commercial Banks • Central Banking Nature and Functions • Instruments of Credit Control • The Money Market • The Indian Money Market • The Reserve Bank of India Functions and Working • The Reserve Bank of India and Monetary Management • Commercial Banking in India • PART III - INTERNATIONAL ASPECTS OF MONEY • Balance of Payments & Foreign Exchange Rates • The International Monetary Fund • The World Bank Group and Asian Development Bank • PART IV THEORY OF INTERNATIONAL TRADE • The Classical Theory of International Trade • Modern Theory of International Trade • Free Trade Versus Protection • Tariffs and Quotas

08 071 2/e 1995 (In Press)

S P Singh, Anil K Parashar & H P Singh

ECONOMETRICS AND MATHEMATICAL ECONOMICS

The basic object and approach with regard to the preparation of the book has been to simplify the econometric methods with comparatively less use of advanced mathematics

CONTENTS Econometrics Definition and Scope • Methodology Tools and Models • Elements of Matrix Algebra and Elementary Differential • Statistical Inference • Simple Regression • Multiple Regression • Analysis of Variance and Regression • Problems of Single Equation Model • Extension of General Linear Model • Simultaneous Equation Methods • The Theory of Consumer Behaviour • The Production Function • Input Output Analysis • Linear Programming • Professor Mahalanobis Model • Harrod-Domar s Growth Model

08 022 5/e 1991 pp 424 Rs 70 00

V Lokanathan

A HISTORY OF ECONOMIC THOUGHT

This text book has been revised for the B.A. degree course of the Madras University and other Indian Universities A list of questions have been given at the end of the book

CONTENTS Introduction • Ancient Economic Thought • Economic Thought in Ancient India • Medieval Economic Thought • Mercantilism • The Physiocrats • Adam Smith • Jeremy Bentham •

Thomas Robert Malthus • David Ricardo • J B Say • John Stuart Mill • The Historical School • The Nationalists • Sismondi • Utopian Socialism • Karl Marx • Fabian Socialism • The Marginal Revolution • Alfred Marshall • Indifference Curve Analysis Iso Product Curves • Neo Classicism • The Institutionalist School • The Keynesian Revolution • Welfare Economics • Recent Indian Economic Thought

08 045 6/e 1995 pp 383 Rs 60 00

S K Srivastava

A HISTORY OF ECONOMIC THOUGHT

This book presents the history of economic thought (including the Indian economic thought) in a simple language and lucid style bringing out clearly the economic ideas of each period of history

CONTENTS PART I Beginning of Economic Thought—Ancient Economic Thought • *Mercantilism* • *Physiocrats* • **PART II** Development of Classical ECONOMICS—Adam Smith • Thomas Robert Malthus • David Ricardo • Classical Traditionists • Early Critics • Socialistic Critics • Individualistic and Nationalistic Critics • *Historical Economics* • *Restatement of Classical Economics* • Subjective Economics • Other Schools of Economic Thought • **PART III** Development of Economic Systems Capitalism • Socialism • Ricardian Socialism • State Socialism and True Socialism • Marxism • Neo- Marxism • Democratic Socialism • Communism • Fascism • **PART IV** Modern Economic Thought—Neo-Classical Economics • Institutional Economics • Welfare Economics • New Economics Economic thought in 20th Century (U K) • Economic Thought in 20th Century (U S A) • Other Economic Thinkers • Development of Economic Theories • **PART V** Economic Thought in India—Economic Thought in Ancient and Medieval India • Beginning of Indian Economics • Economic Thought in Modern India (I) • Economic Thought in Modern India (II) • Economic Thought in Modern India (III) • Gandhian Economics

08 024 4/e 1994 pp 660 Rs 75 00

K V Sivayya & V B M Das

INDIAN INDUSTRIAL ECONOMY

This book covers the needs of students of M A M Com and other course who have Industrial Economy as a subject It highlights development that took place during the planning era

CONTENTS Economic Systems • Rationale of Industrialisation • Evolution of Industry in India • Industrial Development Under Plans • Size Optimum Unit • Cottage and Small Scale Industries • Industrial Location • Industrial Policy of the Government • Capital Market • Industrial Finance and Development Corporations • Foreign Capital and Foreign Collaboration • Industrial Combinations • Concentration of Economic Power • Public Enterprise • Scientific Management • Rationalisation • Industrial Productivity • Major Industries • Industrial Labour

08 025 9/e 1995 (In Press)

K K Dewett & J D Verma

REFRESHER COURSE IN ECONOMIC THEORY

In this revised and enlarged edition an attempt has been made to cover the latest syllabus in economic theory for the B A /B Com (Pass and Honours) examination and of the Central and Public Service Commissions Post graduate students can benefit by reading it

CONTENTS PART - I Nature and Methodology of Economics • **PART II** Price Theory or Micro Economics • **PART III** Macro Economics or Theory of Income and Employment • **PART IV** Money and Banking • **PART V** International Trade and Foreign Exchange • **PART VI** Public Finance • **PART VII** Economic Systems • **PART VIII** Planning and Economics of Development • **PART IX** Recent Developments in Economics Theory

08 027 18/e 1994 pp 718 Rs 75 00

SOME MORE BOOKS ON ECONOMICS

Code	Title	Price
	Dewett, K K	
08 058	Essentials of Macro Economics 2/e 1998	25 00
	Turnovsky S J	
08 047	Macro Economic Analysis and Stabilization	90 00
	P.N. Reddy & H.R. Appannaiah	
08 173	Principles of Business Economics 2/e 1993	55 00
	Sen, R.P	
06 175	Developmental Theory and Growth Models	(In Press)
	Mishra, M.N	
07 024	Money Banking & International Trade 2/e 1989	65 00
	Nagar, A.L. & Sharma, P.D	
08 163	Statistical Methods of Economic Analysis 1/e 1987	60 00
	Singh, S.K.	
08 172	Public Finance in Developed and Developing Countries 3/e 1995	(In Press)
	Seth, M.L.	
08 021	Theory and Practice of Economic Planning 8/e 1995	(In Press)
	Dewett, K.K. Verma, J.D. & Sharma, M.L.	
08 026	B A /B Com Indian Economic 40/e 1994	80 00
	Ahuja H.L.	
08 019	*Ucchatar Aarthik Sidhanta 3/e 1993*	110 00
	Singh, S.P.	
08 061	Micro - Arthasastra 5/e 1995	85 00
08 063	*Pozgaur evam Loka Vitta 11/e 1993*	50 00
08 127	*Arthasastra Ke Siddhanta 6/e 1992*	95 00
08 044	*Arthik Vikas evam Niyojana 14/e 1995*	110 00